1.1

दण्डि स्वामी विमलानन्द सरस्वती
अध्यक्ष,
राजगुरुमठ ; शिवालाघाट
वाराणसी
एवं
संस्थापक-अध्यक्ष
श्री स्वामी ब्रह्मानंद सरस्वती...
स्मारक न्यास.
बक्सर.

१ २०२२

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य्य-
श्रीसत्यानन्द सरस्वती स्वामिभिर्विरचितेन
भाषानुवादेन तैरेव स्वामिवर्य्यैर्विरचितया
सत्यानन्दी दीपिकया च
समलङ्कृतम्

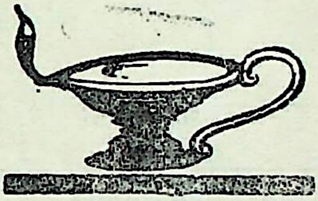

प्रकाशन स्थान—
गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी

प्रथमावृत्तिः
१०००

विजया दशमी
वि० संवत् २०२२

मूल्यम्
१६) रु०

प्रकाशक—

श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती,
वाराणसी

[अस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रणाद्यधिकारः स्वायत्तीकृतः]

प्राप्तिस्थान—(१) गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी
(२) स्वामी सूरतगिरि बंगला, कनखल (हरिद्वार)
(३) मन्दिर पञ्चवक्त्र जम्मू-तवी, जम्मू-काश्मीर

मुद्रक— श्री स्वामी मङ्गलानन्दजी महाराज
गीताधर्म प्रेस, मिश्रपोखरा,
वाराणसी ।

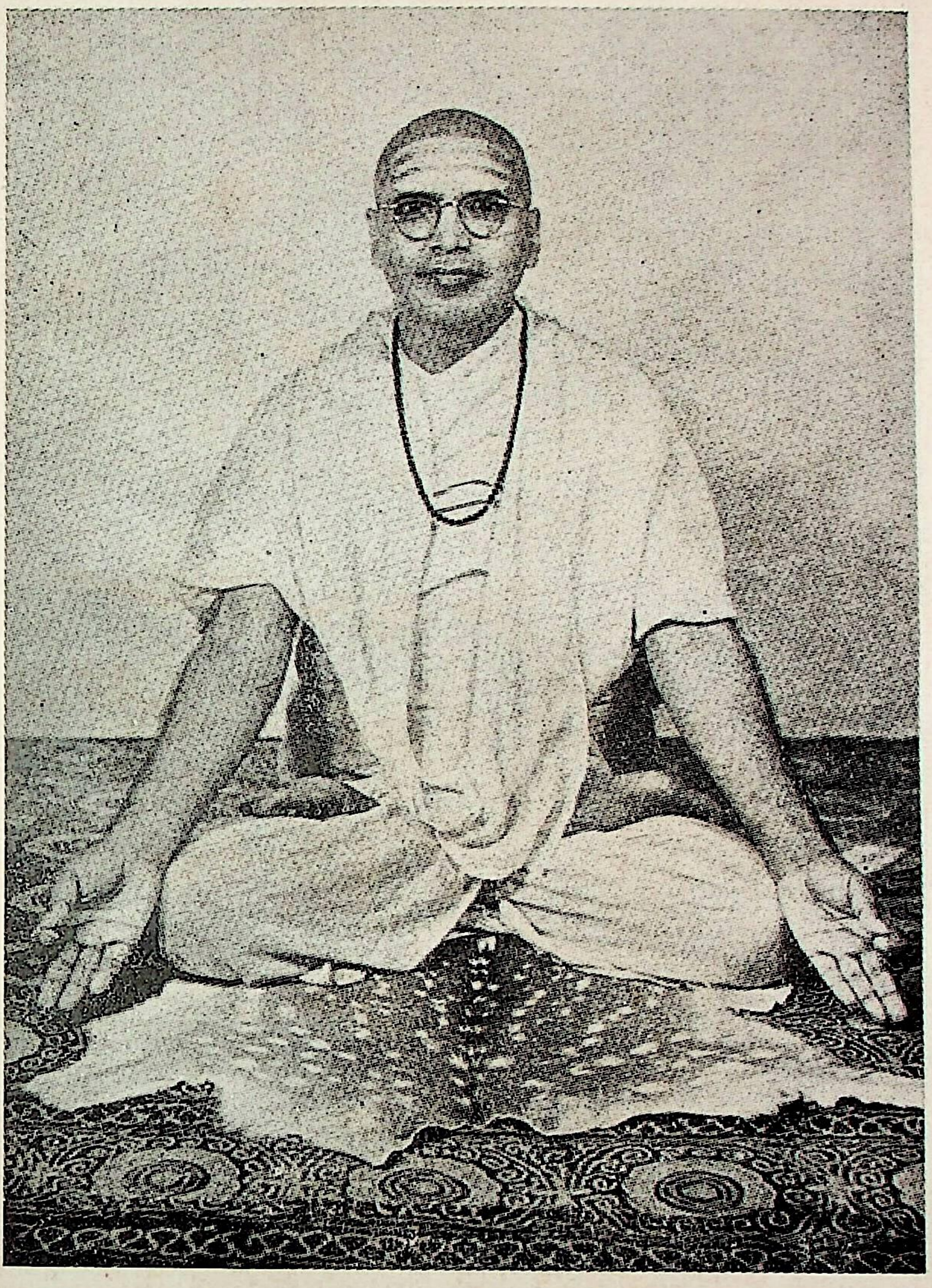

श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी महाराज

विद्वन्मूर्धन्यानां पद्मविभूषणानां महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथकविराज-महोदयानां सम्मतिः

श्रीमद्भिः शङ्करभगवत्पादैर्विरचितस्य ब्रह्मसूत्राणां शारीरकभाष्यस्य स्वामिश्रीसत्यानन्दसरस्वतीभिर्विप्रणीतः राष्ट्रभाषायामनुवादः सत्यानन्द्याख्यव्याख्यासहितः स्थालीपुलाकन्यायेन मयावलोकितः। भाष्यस्य व्याख्यानुव्याख्यादीनां बाहुल्ये सत्यपि तेषां देवभाषायां निबद्धतया प्रायस्तर्ककर्कशतया च राष्ट्रभाषाभाषिणां सुकुमारमतिजिज्ञासूनामनधिगम्यतया ग्रन्थस्यास्य समुपयोगः विद्यते एव। अनुवादकस्य वाक्सरणिः सरलापि गम्भीरार्थप्रकाशनार्हा। संक्षेपेण वेदान्ततत्त्वविविदिषूणां कृते महानयमुपकारो विहितः श्रीमद्भिः स्वामिमहोदयैः। अस्य भूयान् प्रचारो भवेदिति श्रीविश्वेश्वरचरणान्तिके प्रार्थना। [गोपीनाथकविराजस्य]

श्रीमद्भिः १०८ श्रीविभूषितैः स्वामिसत्यानन्दसरस्वतीमहोदयैरनुष्ठितः प्रसन्नपदगम्भीरस्य भगवत्पादोपज्ञस्य शारीरकभाष्यस्य राष्ट्रभाषानुवादः सत्यानन्दीदीपिकान्वितः समग्रोऽपि आचूलमूलं श्रुतः परिशीलितश्च। अस्मिन्ननुवादेऽनुवादकमहाभागैः 'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते।' इत्यभियुक्तवचनं सर्वथा परिपालितमित्यहं मन्ये। महता परिश्रमेण महान् दुरवगाहोऽयं ग्रन्थराशिरनूदितः। यद्यपि प्राचीनैर्बहुभिर्वेदान्तविचाररसिकैरनूदितमिदं भाष्यं न्यूनतादिदोषबहुलमलभ्यं च दृश्यते। तेषां दोषाणामस्मिन् ग्रन्थे मनागपि लेशो नास्तीति प्रमुदितं मे मानसम्। अनेन ग्रन्थेन प्रियपाठकानां राष्ट्रभाषाविज्ञानां भारतीयानां नृणां नारीणां च वेदान्तविद्यानुशीलनैकतानमानसानां तत्त्वज्ञानसाधने भूयानुपकारः स्यादिति विश्वसिमि। अन्ते च भगवन्तं करुणावरुणालयमन्नपूर्णाजानिमभ्यर्थयेऽस्य ग्रन्थस्य सर्वतः महत्तरः प्रचारः स्यात्, स्वतन्त्रे भारते सर्वे मानवा एतद्द्वारा आत्मविचारसमनुभवन्तु ग्रन्थकर्तुर्मनोरथतरुं फलेग्रहिं च कुर्वन्तु इति। भगवदनुकम्पया द्विगुणितोत्साहाः स्वामिमहोदया दीर्घमायुष्यमारोग्यं चोपलभ्य उपनिषदां गीतायाश्च शाङ्करभाष्यस्य राष्ट्रभाषानुवादं विधाय जनताया उपकारवारं वितन्वन्त्विति शम्।

सुब्रह्मण्यशास्त्री मीमांसावेदान्ताचार्यः, मीमांसादर्शन-प्राध्यापकः
संस्कृतमहाविद्यालयस्य, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीयस्य, वाराणसी।

भगवत्पाद शङ्कराचार्यजीके प्रसन्न गम्भीर शारीरकभाष्यपर परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीसत्यानन्दसरस्वतीजी कृत राष्ट्रभाषानुवाद तथा सत्यानन्दी दीपिका व्याख्याके यत्र तत्र कई स्थल देखनेका मुझे अवसर प्राप्त हुआ। भाष्यका प्राञ्जल और सुबोध भाषामें प्रत्यक्षर अनुवाद तथा दुरूह स्थलोंके स्पष्टीकरणके लिए स्वोपज्ञ दीपिकामें विस्तारसे विवेचन देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। सत्यानन्दी दीपिकामें स्वामीजीने परिश्रम-पूर्वक पञ्चपादिका, भामती, कल्पतरु, परिमल, न्यायनिर्णय आदि विविध सुप्रसिद्ध संस्कृतटीकाओंके तत्-तत् स्थलोंका सार एकत्र कर दिया है। टीका और अनुवाद दोनों ही सरल तथा सुबोध भाषामें इस प्रकार लिखे गए हैं कि वेदान्तविचाररसिक राष्ट्रभाषाभाषी साधारण जनता भी अनायास उन्हें हृदयंगम कर ब्रह्मात्मैक्यज्ञान लाभ कर सके। विद्यार्थिवर्गके लिए भी यह अनुवाद और टीका अधिक उपयोगी होगी, क्योंकि आधुनिक विद्यार्थी प्रायः संस्कृतटीकाओंकी अपेक्षा भाषाटीकाओंसे संस्कृतग्रंथोंके अवगमनमें विशेष रुचि लेते देखे जाते हैं। विस्तृत ग्रन्थ-वीक्षामें अलस विद्वद्वर्गका भी इससे उपकार होगा, इसलिए वेदान्तरसिक साधारण जनता, विद्यार्थिवर्ग तथा विशेष विद्वद्वर्गका भी समानरूपसे उपकारक ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यका विशुद्ध बहुविद्वत्प्रशंसित राष्ट्रभाषानुवाद और दीपिका टीका प्रस्तुत करनेके लिए श्रीस्वामीजी बधाईके पात्र हैं। मैं भगवान् श्रीविश्वनाथजीसे प्रार्थना करता हूँ कि स्वामीजीको दीर्घायुष्य तथा उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें जिससे वे उपनिषद् तथा भगवद्गीता आदिके भी सुन्दर सुबोध राष्ट्रभाषानुवाद एवं टीकाएं रचकर लोककल्याणार्थ ज्ञानप्रसार करते रहें।

श्रीकृष्णपन्त शास्त्री 'साहित्याचार्य'
अच्युत-ग्रन्थमालाध्यक्ष, वाराणसी।

॥ आमुख ॥

वेद भारतीय संस्कृति-धर्म तथा दर्शनके प्राण है। भारतीय संस्कृतिमें जो भी जीवनशक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद है। वेद ज्ञानका अक्षय महासागर है। जिससे ज्ञानरूपी मेघ उठ-उठकर प्रत्येक प्राणीके मानस भूमिको प्लावितकर अज्ञान जन्य तापको शान्तकर उसका जीवन सुखमय कर देते हैं। ये केवल भारतीय साहित्यके सर्व प्रथम ग्रन्थ नहीं प्रत्युत मानवमात्रके इतिहासमें सर्वप्रथम ग्रन्थरत्न है। पाश्चात्य विद्वानोंने भी स्वीकार किया है। वेदको पूर्व और उत्तर मीमांसा दर्शनकार अपौरुषेय कहते हैं। मानवधर्म तथा तत्त्वज्ञानका यही उद्गम स्थान है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्विध पुरुषार्थकी प्राप्तिका सही साधन वेदमें ही उपलब्ध होता है। इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ठ परिहारके अलौकिक उपायोंका केन्द्र वेद ही है। प्रत्येक दार्शनिकने स्वमतको प्रमाणित करनेके लिए येन केन प्रकारेण वेदका ही सहारा लिया है। 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' (आप० परि० ३१) (वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण) देवता विशेषकी स्तुतिमें प्रयुक्त होनेवाले अर्थ स्मारक वाक्यको मन्त्र तथा यज्ञानुष्ठानादिका विस्तारपूर्वक वर्णक ग्रन्थको ब्राह्मण कहते हैं। मन्त्र समुदायको संहिता भी कहते हैं। ऋक्, साम, यजु और अथर्व भेदसे संहिताएँ चार हैं। यह संहिता विभाग महर्षि वेदव्यासने यज्ञ आदि आवश्यकताओंको दृष्टिमें रखकर किया है। संहिता ब्राह्मणात्मक वेदके अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। जिनमें अध्यात्मविषयक गम्भीर विवेचन है। उपनिषद्को ही वेदान्त कहते हैं, क्योंकि वे वेदके अन्तिम भाग हैं। अतः वे (वेद + अन्त) कहलाते हैं। तथा इनमें वेदोंके निर्णीत प्रतिपाद्य सिद्धान्त होनेसे ये वेदान्त कहलाते हैं। उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्लृ' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। 'सद्' धातुके तीन अर्थ हैं—विशरण-नाश, गति-प्राप्ति और अवसादन-शिथिलीकरण। जिस ब्रह्मविद्यासे दृष्टानुश्रविक विषयोंसे वितृष्ण मुमुक्षु जनोंकी संसार बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, जो ब्रह्मविद्या प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति करा देती है तथा जिससे गर्भवासादि दुःख व्रातका शिथिलीकरण हो जाता है। भगवान् आद्य शङ्कराचार्यके इस व्याख्यानानुसार उपनिषद्का मुख्यार्थ ब्रह्मविद्या है, तत्प्रतिपादक होनेसे ग्रन्थमें भी उपनिषद् शब्दका गौण प्रयोग होता है। प्राचीनकालमें प्रत्येक वैदिक शाखाका अपना एक विशिष्ट उपनिषद् था। परन्तु दुर्दैववश उनकी पूर्णतः उपलब्धि नहीं होती।

विषयकी दृष्टिसे वेदके तीन भाग हैं–कर्म, उपासना और ज्ञान। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकों में प्रधानतया कर्मादिका प्रतिपादन होनेसे उनका कर्म और उपासनामें अन्तर्भाव है। प्रधानतया ज्ञान का विवेचन करनेके कारण उपनिषद् ज्ञानकाण्ड कहलाते हैं। भारतीय दर्शनके मूल सिद्धान्त उपनिषदोंमें ही प्रतिपादित हैं। कर्मादि प्रधान होनेपर भी संहिता आदिमें विपुल अध्यात्म रहस्य उपलब्ध होता है। उपनिषद् प्रस्थानत्रयीके अन्तर्गत प्रथम प्रस्थानके रूपमें गृहीत किए गए हैं। 'ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डं मुण्डं नाधीतेऽधीते वेदमाहुस्तमज्ञं शिरश्छित्त्वा कुरुते कबन्धम्।' जो ऋग्वेदके मूर्धा, यजुर्वेदके उत्तमाङ्ग, सामवेदके सिर और अथर्ववेदके मस्तकरूप उपनिषदोंका अध्ययन न कर शेष वेद-भागका अध्ययन करता है उसे श्रेष्ठ पुरुष अज्ञानकी कहते हैं वह वेदका शिरश्छेदन कर उन्हें विना सिरका धड़ (कबन्ध) बनाता है' इनमें ११ उपनिषदें बड़े महत्त्वकी हैं। इनपर आचार्य शङ्करका भाष्य तथा उनके अनुयायियोंकी व्याख्याएँ हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक तो एक ऐसी रणस्थली है जहाँ भाष्यकारकी लोह लेखनीने खुलकर अपनी अजेय शक्तिका परिचय दिया है—भर्तृप्रपञ्च जैसे जरठ वेदान्तियोंकी खूब खबर ली है। आचार्य शङ्करके इन दोनों उपनिषदोंके भाष्यका अध्ययन आवश्यक है। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता है। तृतीय प्रथान

महर्षि बादरायण-व्यास प्रणीत 'ब्रह्मसूत्र' है। जिसमें आपाततः विरोधी उपनिषद्-वाक्योंका समन्वय एकमात्र अद्वितीय ब्रह्ममें दिखलाया गया है, तथा अन्य तार्किक युक्तियोंका खण्डन भी है।

ब्रह्मसूत्रकी रचनाका हेतु—कालान्तरमें औपनिषद्-सिद्धान्तोंमें आपाततः विरोध प्रतीत होने लगा उसका परिहार करने तथा एकवाक्यता करनेके उद्देश्यसे भगवान् बादरायण मुनिने ब्रह्मसूत्रोंकी रचनाकी। यह स्वल्प कलेवर ग्रन्थ समस्त वेदान्त सिद्धान्तोंका आकर है। समस्त उपनिषदोंका सूत्रों द्वारा ब्रह्ममें तात्पर्यसे समन्वय होनेसे इस ग्रन्थका नाम ब्रह्मसूत्र है। इसीको वेदान्त दर्शन भी कहते हैं। वेदान्तदर्शन भारतीय अध्यात्मदर्शनका मुकुटमणि है। महर्षि पाणिनिने पाराशर्य भिक्षु सूत्रोंके नामसे उसका उल्लेख किया है और 'ब्रह्मसूत्रपदैश्च' (भ० गी० १३।४) यह गीता वचन भी इन ब्रह्मसूत्रोंका ही निर्देश करता है। इससे ब्रह्मसूत्रकी रचना प्राचीन सिद्ध होती है।

ब्रह्मसूत्रके प्रसिद्ध भाष्यकार

नाम	भाष्य नाम	मत	नाम	भाष्य नाम	मत
१. शङ्कर	शारीरक भाष्य	केवलाद्वैत	६. श्रीकण्ठ	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
२. भास्कर	भास्कर भाष्य	भेदाभेद	७. श्रीपति	श्रीकर भाष्य	वीरशैव विशिष्टाद्वैत
३. रामानुज	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत	८. वल्लभ	अणु भाष्य	शुद्धाद्वैत
४. मध्व	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत	९. विज्ञानभिक्षु	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
५. निम्बार्क	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत	१०. बलदेव	गोविन्द भाष्य	अचिन्त्य भेदाभेद

इन सभी भाष्योंमें भगवान् आद्य शङ्कराचार्य विरचित भाष्यकी कोई तुलना नहीं कर सकता विद्वत्ता पूर्ण इस भाष्य रचनासे प्राच्य-प्रतीच्य सभी विद्वान् समानरूपसे प्रभावित हैं और मुक्त कण्ठसे प्रशंसा करते हैं। जर्मनके विद्वान् मैक्समूलरने भी ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्यका आङ्गल भाषामें अनुवाद कर आङ्गल भाषा भाषियों पर उपकार किया है। आचार्य शङ्कर मतानुसार सूत्रों और अधिकरणोंकी संख्या क्रमशः ५५५ और १९१ है।

ब्रह्मसूत्रमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। प्रथमाध्यायका नाम समन्वयाध्याय है। जिसमें समग्र वेदान्त-वाक्योंका साक्षात् अथवा परम्परासे प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्यसे समन्वय दिखलाया गया है। इस अध्यायके प्रथम पादके प्रथम चारसूत्र विषयदृष्टिसे नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये चतुःसूत्री नामसे प्रसिद्ध हैं। द्वितीयाध्यायका नाम अविरोधाध्याय है। जिसमें स्मृति और तर्कादिसे संभावित विरोधोंका परिहारकर ब्रह्ममें अविरोध दिखलाया गया है। प्रथम दोनों पादोंमें भगवान् बादरायण मुनि और भगवान् आचार्य शङ्करने जिन व्यापक तथा अकाट्य युक्तियोंसे प्रतिपक्षियोंके सिद्धान्तकी जैसी मार्मिक समीक्षा की है, वह विद्वानोंके आदरका विषय है। तृतीयाध्यायका नाम साधनाध्याय है। जिसमें वेदान्त सम्मत सर्व साधनोंका विचार है। इसमें जीवके परलोक गमन द्वारा वैराग्यका निरूपण, तत्, त्वम्' पदार्थ परिशोधन, निर्गुण ब्रह्ममें भिन्न-भिन्न शाखाओंमें पठित पुनरुक्त पदोंका उपसंहार है, प्रसङ्गसे सगुण विद्यामें शाखान्तरीय गुणोंका उपसंहार और अनुपसंहार निरूपित है और निर्गुण ब्रह्मविद्यामें बहिरङ्ग शाधन—यज्ञ, दानादि आश्रम कर्म और अन्तरङ्ग शाधन-शम-दम, निदिध्यासन आदिका निरूपण है। चतुर्थाध्याय-फलाध्यायमें सगुण और निर्गुणविद्याके फल विशेषका साङ्गोपाङ्ग विचार किया गया है।

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य

आचार्य शङ्करके पूर्वकालीन अद्वैत वेदान्तियोंमें आचार्य गोड़पादका विशिष्ट स्थान था। इनकी उज्ज्वल कीर्तिका ज्वलन्त उदाहरण है उनकी माण्डूक्य-कारिका। आचार्य गोड़पादके समयमें बौद्ध सिद्धान्तोंका प्रचुर प्रचार था। इसमें सन्देह नहीं है। यदि आचार्य गोड़पादकी भाषा

महायानके ग्रंथोंकी भाषासे कुछ समता रखती है, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये आचार्य बौद्ध थे या बौद्धसाहित्यसे प्रभावित थे। इनके सभी सिद्धान्त औपनिषद् हैं। ब्रह्माद्वैतवादका परिष्कृतस्वरूप उन्होंने जिस सुन्दर शैलीसे प्रस्तुत किया है, वह विद्वत् समाजमें अतीव आदरका विषय बना हुआ है। इन कारिकाओं पर आचार्य शङ्करका मनोरम भाष्य है।

ब्रह्मसूत्रके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि बादरायण मुनिसे भी पूर्वकालमें अनेक आचार्योंने वेदान्ततत्त्वकी मीमांसा की है। परन्तु उन आचार्योंकी वे वृत्तियां अब उपलब्ध नहीं हैं। जैसे – (१) आत्रेय, इनका नाम एक वार (ब्र० सू० ३।४।४४) में निर्दिष्ट है। (२) आश्मरथ्य—इनका निर्देश दो वार (ब्र० सू० १।२।१९, १।४।२०) में मिलता है। इनके मतमें जीवात्मा तथा परमात्मामें भेदाभेद सम्बन्ध है। ये भेदाभेद वादी थे। (३) औडुलोमि—इनका निर्देश तीन वार (ब्र० सू० १।४।२ , ३।४।४५, ४।४।६) में है। इनके मतमें अवस्था भेदसे भेदाभेद है। संसार दशामें जीव और ब्रह्मका भेद और मोक्ष दशामें अभेद है। (४) कार्ष्णाजिनि– इनका नाम निर्देश (ब्र० सू० ३।१।९) में एक वार आया है। ब्रह्मसूत्रमें 'रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) के ऊपर इनका विशिष्ट मत है। (५) काशकृत्स्न—(ब्र० सू० १।४।२२) इसमें परमेश्वर ही संसारमें जीवरूपसे अवस्थित है। जीव परमात्माका विकार नहीं है। आचार्य शङ्करके शब्दोंमें इनका मत श्रुत्युनुसारी है, अतएव वह मान्य है। (६) जैमिनि—इनका नाम ब्रह्मसूत्रमें ११ वार आया है। ये बादरायण मुनिके साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। ये मीमांसा दर्शनके रचयिता हैं। (७) बादरि–पाराशर—इनका उल्लेख चार वार आता है (ब्र० सू० १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०) में

आचार्य शङ्कर का आविर्भाव

जिस समय वैदिक धर्म वेद-विरोधी सांप्रदायिक तत्त्वोंसे आक्रान्त हो गया, वैदिक मर्यादा छिन्नभिन्न होने लगी। उस समय देवी, देवगण तथा मनुष्योंने धर्म रक्षाके हेतु त्रिशूलपाणी भगवान् शंकर की हार्दिक आराधना की इन सबको सान्त्वना देकर आशुतोष भगवान् शंकर दक्षिण भारत-केरल प्रान्तके कालड़ी ग्राममें एक वेदज्ञ सम्पन्न ब्राह्मण शिवगुरु और विशिष्टाके यहां शङ्कर नामसे आविर्भूत हुए। इस विषयमें 'दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले। स एव शङ्कराचार्यः साक्षात्कैवल्यनायकः ॥' यह प्रमाण है। आचार्यका जन्मकाल यद्यपि विवादग्रस्त है, तथापि उनका जन्मकाल विक्रम सम्वत् ८४५ तथा निर्वाण काल ८७७ माना जाता है। ये सात वर्षकी आयुमें साङ्गोपाङ्ग वेदोंका अध्ययन कर आचार्य कुलसे घर लौट आये। वैदिक धर्मके पुनरुत्थानके लिए आठ वर्षकी अल्प आयुमें आचार्य गौड़पादके प्रसिद्ध शिष्य गोविन्द भगवत्पादसे संन्यासकी दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्षकी आयु तक वहां रहकर सरहस्य उपनिषद् ब्रह्मसूत्रादिका अध्ययन किया। कुछ काल वाराणसी वासके अनन्तर बद्रीकाश्रममें ४ वर्ष रहकर उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्रादि पर भाष्य रचना की और विवेकचूड़ामणि आदि अनेक नवीन ग्रन्थोंकी रचना भी की। अनन्तर उत्तरसे दक्षिण कन्याकुमारी तक पूर्वसे पश्चिम तक घूम-घूम नास्तिक मतका खण्डनकर वैदिक मतका पुनरुत्थान तथा प्रतिष्ठा की। उसके रक्षार्थ भारतमें शृंगेरी, गोवर्धन, शारदा और ज्योतिर्मठ इन चार मठोंकी स्थापना कर योग्य शिष्योंको नियुक्त किया। आचार्यका यह महनीय कार्य अद्वितीय है। आचार्यकी विद्वत्ता तथा भाष्यशैलीके सामने आलोचक भी नतमस्तक हुए विना नहीं रह सकते। आचार्यने समस्त वेदान्त-वाक्योंका अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वयकर जो ब्रह्मात्मैकत्वका उपदेश किया, वस्तुतः वह प्रत्येक प्राणीके लिए अन्धकारसे प्रकाशकी ओर जानेकी प्रबल प्रेरणा है इसका मानवमात्र ऋणि है। आज भी जो वैदिक संस्कृतिका अवशेष उपलब्ध होता है वह केवल आचार्य शंकरकी देन है। आचार्य यह दिव्य लीला ३२ वर्षकी आयुमें समाप्तकर अन्तर्धान हो गए। इस विषयमें प्रसिद्ध है—'अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे

सर्वशास्त्रवित् । षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥' अद्वैत वेदान्तका मूल सिद्धान्त है प्रत्यगभिन्न ब्रह्मकी पारमार्थिक सत्ता और अनेकात्मक जगत्की मायिकता । आत्मा अनुभूति स्वरूप होनेसे स्वयंसिद्ध है । इस विषयमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति प्रमाण है । जगत् जड़ होनेसे अनुभूति पर अवलम्बित है । ज्ञान दो प्रकारका है । एक वृत्त्यात्मक और दूसरा स्वरूपात्मक । नामरूपात्मक जगत्का ज्ञान अन्तःकरणका वृत्त्यात्मक ज्ञान है, वह अनित्य और जड़ है । परन्तु स्वरूपात्मक ज्ञान नित्य आत्मस्वरूप है । 'न द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' । द्रष्टाकी दृष्टिका-स्वरूपात्मक ज्ञानका लय नहीं होता । अतः वह किसी प्रमाणका विषय नहीं है किन्तु समस्त प्रमाणोंका आश्रय है ।

जीव ब्रह्मकी एकता—लोक प्रसिद्ध जीव ब्रह्मका भेद पारमार्थिक नहीं है प्रत्युत औपाधिक है । अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तका 'तत्त्वमसि' (छा० ६। ।७), 'यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्' (ऋ० ८।४४।२३) आदि वाक्यमें प्रतिपादन किया गया है । 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इस जीवरूपसे अनुप्रवेशकर मैं नाम-रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मका ही जीवरूपसे व्यपदेश है । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियाँ भेदका अपवाद करती हैं । अतः उपाधि रहित जीव ब्रह्म ही है । यही सिद्धान्त है । आचार्य शङ्करने अद्वैतवेदान्त सिद्धान्तके प्रतिपादन के लिए भगवती श्रुतिका आश्रय तो लिया ही है, परस्तु उन्हें पुष्ट करनेके लिए तथा अन्य मतोंके निराकरणके लिए श्रुति, स्मृति अनुकूल तर्कका भी उपयोग किया है । आचार्य शङ्करने कर्मका तथा कर्म और उपासनाके समुच्चयका तिरस्कार नहीं किया है, प्रत्युत चित्त शुद्धिके लिए इनके निष्काम भावसे अनुष्ठानपर बल दिया है । इसका आचार्यने 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३ ४। २६,२७) इन सूत्रोंमें स्पष्टीकरण किया है । यह नित्तांत मिथ्या धारणा है कि आचार्य कर्मादि करनेके विरुद्ध थे । इस प्रकार बौद्धोंको परास्त करने और वैदिक धर्मका पुनरुत्थान करनेमें कुमारिल भटने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । वर्तमान युग भयादिसे अतीव आक्रान्त व त्रस्त है । इसका कारण है अज्ञान मूलक भेद वाद । इसको 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' निस्सन्देह द्वैतसे भय होता है । इत्यादि श्रुति वाक्य स्पष्ट करते हैं । इससे मुक्त होनेके लिए 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि भगवती श्रुतिकी शरण लेनी चाहिए । ये श्रुति वाक्य भेदका निषेध करते हुए एकत्वका प्रतिपादन करते हैं । 'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (भूमा ही सुखरूप है, जो अल्प है वह नाशवान् है, ब्रह्मके आनन्दको जानकर विद्वान् किसीसे भयभीत नहीं होता) इत्यादि श्रुति वाक्य प्राणिमात्रके चरम लक्ष्यका उपदेश करते हैं । अतएव प्राणिमात्रका चरम लक्ष्य-दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति और नित्य निरतिशय सुखकी प्राप्ति ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसे होती है । इसका साक्षात् साधन है ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान, जिसका आचार्य शङ्करने ब्रह्मसूत्र भाष्यमें श्रुति स्मृति द्वारा विचार किया है ।

शाङ्करभाष्यकी भाषा सरल एवं अर्थ अत्यन्त गम्भीर है । यद्यपि अर्थको सरल और स्पष्ट करनेके लिए संस्कृत भाषामें अनेक टीकाएं लिखी गई हैं, तथापि कालक्रमसे वे भी व्याख्यासाध्य हो गई हैं । हिन्दीमें भी जो व्याख्याएं की गई हैं उनके भी अप्राप्य या दुर्बोध होनेसे वेदान्तप्रेमियोंकी कठिनाई दूर नहीं हो सकी । अतः जनताकी ओरसे किसी ऐसी व्याख्याकी मांग बढती ही गई जो उपर्युक्त सब कठिनाइयोंको दूरकर सके । उपर्युक्त परिस्थितिको दृष्टिगत रखते हुए तथा कतिपय विद्वानों और वेदान्तप्रेमियोंसे प्रेरित होकर सम्पूर्ण शाङ्करभाष्यपर सुन्दर सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद करनेके अनन्तर भाष्यके अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिए अनेक दर्शनों एवं पञ्चपादिका, भामती, रत्नप्रभा,

न्यायनिर्णय आदि अनेक टीका ग्रन्थोंके आधार पर यथामति विवेचनात्मक सुन्दर सरल हिन्दी भाषामें 'सत्यानन्दी दीपिका' व्याख्या प्रस्तुत की गई है। वाराणसी आदिके विशिष्ट विद्वानोंने इस नवीन रचनाको अत्यधिक पसन्द किया है। आशा है इससे दार्शनिक प्रेमियोंका अधिक उपकार होगा। विद्यार्थियोंके लिए तो यह विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। यदि कहीं किसी प्रकारकी त्रुटि पाठकोंके दृष्टिगोचर हो तो अवश्य सूचित करनेकी कृपा करें। जिससे अग्रिम संस्करणमें उन त्रुटियोंका परिमार्जन किया जा सके। जिन्होंने इस महान् पवित्र ज्ञानयज्ञमें जो भी सहयोग दिया है, उन सबको मैं हार्दिक धन्यवाद देते हुए उपरत होता हूं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

इतिशम्।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

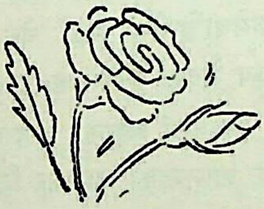

॥ ॐ तत्सत् ॥

प्रास्ताविक-वक्तव्यकी सूची

(१) मङ्गलाचरणम्
(२) ब्रह्मसूत्रम्
(३) शाङ्करभाष्यम्
(४) शाङ्करभाष्यकी अनेक व्याख्याएँ
(५) शाङ्कर-सिद्धान्त
(६) सत्य और मिथ्याकी परिभाषा
(७) जीवो ब्रह्मैव नापरः
(८) द्वैतवाद समालोचना
(९) विशिष्टाद्वैतवाद समालोचना
(१०) द्वैताद्वैतवाद समालोचना
(११) शुद्धाद्वैतवाद समालोचना
(१२) अभिनव-अद्वैतवादी मत समालोचना
(१३) मायावादी कौन हो सकता है।
(१४) उपसंहार

ॐ

प्रास्ताविकं-वक्तव्यम्

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-दार्शनिक सार्वभौम-विद्यावारिधि-न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज महामण्डलेश्वर)

(१) मंगलाचरणम्

यदज्ञातं जीवैर्बहुविधजगद्विभ्रमधरं, वियद्यद्बालैस्तलमलिनतायोगिकलितम् ।
तदुन्मुद्रज्ञानप्रततसुखसद्ब्रह्म परमं, नमस्यामः प्रत्यक् श्रुतिशतशिरोभिःप्रकटितम् ।
नमः श्रुतिशिरःपद्म-षण्डमार्तण्डमूर्तये । बादरायणसंज्ञाय मुनये शमवेश्मने ॥
उद्धृत्य वेदपयसः कमलामिवाब्धेः, आलिङ्गिताखिलजगत्प्रभवैकमूर्तिम् ।
विद्यामशेषजगतां सुखदामदाद् यः, तं शंकरं विमलभाष्यकृतं नमामि ॥

उसपर ब्रह्मको हम नमस्कार करते हैं, जिसको असंख्य उपनिषत्-श्रुतियोंने प्रकट किया है। वह प्रत्यगात्मासे अभिन्न है, सर्वत्र विकसित-ज्ञानरूप-विस्तृत-अनन्त सुखरूप एवं त्रिकालाबाधित-सद्रूप है। जिसने अपनी अनिर्वचनीय माया द्वारा अपनेमें ही बहु प्रकारके नामरूपात्मक-जगद्रूप-विभ्रमको धारण किया है। मायामोहित-जीव जिसको नहीं जानते हैं। जिस प्रकार अज्ञजन निराकार एवं रूप रहित आकाशको तलरूप आकारवाला एवं मलिन-श्याम रूप वाला देखते हैं, उस प्रकार मूढ़जन, विशुद्ध अधिष्ठान ब्रह्मको अशुद्ध-अध्यस्त-जगत्रूपसे देखते हैं। उपनिषत्-वेदान्त-श्रुतिरूपी कमल समूहको विकसित करनेवाले सूर्यमूर्तिरूप कृष्णद्वैपायन बादरायण नामक परम शान्तिके भण्डार वेदान्त-ब्रह्मसूत्रके प्रणेता व्यासमुनिको मैं नमस्कार करता हूँ।

क्षीरसागरसे लक्ष्मीके तुल्य वेदरूपी महासागरसे जिसने ब्रह्मविद्याका उद्धार किया है। जिस विद्याने समस्त जगत्के उत्पत्त्यादिकी हेतुभूत एक अद्वय-ब्रह्ममूर्तिका ही आलिङ्गन किया है। जो विद्या निखिल जगत्को पारमार्थिक शाश्वत सुखका प्रदान करती है। उस ब्रह्मविद्याके उद्धारक-विमल भाष्यकार आचार्य जगद्गुरु श्रीशंकरको मैं नमस्कार करता हूँ।

(२) ब्रह्मसूत्रम्

महर्षि कृष्णद्वैपायन बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र-वेदान्त दर्शन सांख्य, योग, न्यायादि सभी दर्शनोंमें बड़ा ही महत्त्वपूर्ण दर्शन है। जिसमें थोड़ेसे शब्दोंके द्वारा अतीव संक्षिप्तरूपसे परब्रह्मके स्वरूप, उसकी प्राप्तिके साधन उसकी उपासना एवं विज्ञानके फलका साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया

है। इसलिए इसका नाम ब्रह्मसूत्र है 'सूचनात् सूत्रमित्याहुः' इस आप्तवचन द्वारा वह परब्रह्मका सूचक है। यह ऋगादि वेदोंके अन्तिम सिद्धान्तका दर्शन कराता है, अतः इसे 'वेदान्त-दर्शन' भी कहते हैं। उपनिषदें इस वेदान्त दर्शनकी मूल-आधार हैं। अतः आचार्य श्रीशंकरने कहा है—'वेदान्त-वाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वाद् ब्रह्मसूत्राणाम्।' अर्थात् जैसे सूत्रसे पुष्पोंको गूंथकर सुन्दरमाला बनायी जाता है, वैसे ब्रह्मसूत्रोंके द्वारा वेदान्त-वाक्य रूपी कुसुमोंका ग्रथनकर सर्वोत्तम ब्रह्मसूत्र रूप मनोहर मालाका निर्माण किया गया है। तात्पर्य यह है ब्रह्मसूत्रोंके द्वारा उपनिषद् वाक्योंके ही यथार्थ अभिप्रायका प्रकाशन किया जाता है।

अतएव उपनिषत् प्रतिपाद्य अद्वैत ब्रह्म ही अनन्यलभ्य अबाधित, निर्दोष एवं सप्रयोजन होने से 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इस मीमांसान्यायसे यह सिद्ध होता है कि अद्वैतब्रह्म ही प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे विज्ञेय नहीं है। एकमात्र वेदान्त प्रमाण द्वारा ही विज्ञेय होने के कारण वह अनन्यलभ्य कहा जाता है। ऐसे अनन्यलभ्य, अद्वय, परब्रह्मरूप अर्थमें ही वेदान्तोंका तात्पर्य निश्चित होता है। द्वैत तो सभीको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे लभ्य है, अतः शास्त्र लोकसिद्ध अर्थ का कभी भी तात्पर्यरूपसे प्रतिपादन नहीं करता। उसका तो केवल अपवादके लिए ही आरोपमात्र करता है। इसके लिए—'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते।' यह न्याय कहा गया है। द्वैत-प्रपञ्चका अज्ञान द्वारा अधिष्ठान ब्रह्ममें अध्यारोप होता है अर्थात् अज्ञोंको निष्प्रपञ्च, विशुद्ध, ब्रह्म सप्रपञ्चरूप प्रतीत होता है, विज्ञोंको वही सप्रपञ्च ब्रह्म अपवाद द्वारा निष्प्रपञ्च-अद्वय-ब्रह्मरूप भासित होता है। एवं वह अद्वैत किसी भी प्रमाण द्वारा कदापि बाधित नहीं होता, ब्रह्म साक्षात्कार दशामें कोई भी बाधकारण अवशिष्ट नहीं रहते, अतः वह अबाधित ही है। स्वतः प्रमाणभूत-उपनिषदोंके द्वारा विदित होनेसे वह निर्दोष कहा गया है। उसके साक्षात्कारसे निखिल दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्तिरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है, अतः वह सप्रयोजन है। इसलिए न्याय रत्नावली में स्वामी ब्रह्मानन्दने कहा है—'वेदान्तदर्शनं दर्शनेषु सर्वेषु दर्शनीयतमं दर्शनम्।' अर्थात् सांख्य, योग, न्याय, मीमांसादि सभी दर्शनशास्त्रोंमें अद्वैतवेदान्तदर्शन ही अतीव दर्शन करनेयोग्य-समझने योग्य प्रशस्तम दर्शन है।

इस ब्रह्मसूत्रको उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। महर्षि जैमिनि प्रणीत पूर्वमीमांसा वेदके पूर्वभागमें प्रतिपादित कर्मकाण्डका प्रतिपादन करती है और वेदके उत्तर भागमें प्रतिपादित ज्ञानकाण्डका प्रतिपादक होनेसे ब्रह्मसूत्रको उत्तरमीमांसा कहते हैं। इस मीमांसामें उत्तरत्व-अन्तिमत्व यही है कि जिस अद्वय ब्रह्मका विचार द्वारा अनुभव प्राप्त कर लेनेपर अन्य कुछ भी ज्ञातव्य परिशिष्ट नहीं रहता। अतएव श्री भगवान्ने गीतामें यही कहा है—'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यद् ज्ञातव्यमवशिष्यते।' (गी० ७।२) 'जिसको जान लेनेपर अन्य कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, यानी ज्ञातव्यकी समाप्ति हो जाती है, साथमें कर्तव्यकी भी।' 'तस्य कार्यं न विद्यते।' (गी. ३।१७) 'अर्थात् वह ब्रह्मवित् कृतकृत्य एवं धन्य हो जाता है।' एवं वेदोंके उत्तर यानी अन्तिम भागकी उपनिषत्-श्रुतियोंकी मीमांसा करनेसे भी इसको 'उत्तरमीमांसा' कहते हैं। मीमांसा यानी पूजित विचार। श्रीमद्भगवद्गीताके 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्…' 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।' (गी० १३।४) इस श्लोकमें हेतुमत्-विशेषण सहित ब्रह्मसूत्रका नाम आया है, इससे भी इस ग्रन्थकी अति प्राचीनता सिद्ध होती है। 'बादरायण मुनि' यह नाम पुराण कालसे ही श्री वेदव्यासजीके लिए व्यवहृत होता आया है। अतएव 'ब्रह्मसूत्र' वेदव्यासजीकी ही रचना है। ब्रह्मसूत्रकारने अपने उस प्रशस्त ग्रन्थको चार अध्यायों और सोलह पादोंमें विभक्त किया है। पहले अध्यायमें बताया गया है कि सभी वेदान्त-वाक्योंका एकमात्र अद्वय प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके ही प्रतिपादनमें अन्वय है, इसलिए उसका नाम समन्वयाध्याय है। इस

अध्याय के प्रथमपादमें स्पष्ट ब्रह्मज्ञापक श्रुतियोंका. द्वितीय और तृतीय पादमें अस्पष्ट ब्रह्मभाव सूचक श्रुतियोंका विचार है अर्थात् द्वितीयमें उपास्य ब्रह्म और तृतीयमें ज्ञेय ब्रह्म विषयक विचार है और चतुर्थ पादमें संदिग्ध अज, अव्यक्त आदि शब्दार्थ. विषयक विचार है। द्वितीय-अध्यायमें सब प्रकारके विरोधाभासोंका निराकरण किया गया है, इसलिए उसका नाम 'अविरोधाध्याय है। इसके प्रथमपादमें स्वसिद्धान्त प्रतिष्ठापनके लिए स्मृति, तर्कादि विरोधोंका परिहार किया गया है, द्वितीय पादमें विरुद्ध मतोंमें दोषारोपण कर उनका खण्डन किया गया है, तृतीय पादमें एकमात्र ब्रह्मसे ही आकाशादि-विविध तत्त्वोंकी उत्पत्ति कही गयी है और जीव विषयक श्रुतियोंके विरोधका परिहार किया गया है। एवं चतुर्थपादमें इन्द्रियादि विषयक श्रुतियोंका विरोध परिहार किया गया है। फलतः इस अध्यायमें विरोधी न्यायादि दर्शनोंका खण्डन कर युक्ति और प्रमाणोंसे वेदान्त सिद्धान्तका अविरोध कहा गया है। तृतीय अध्यायका नाम साधनाध्याय है। इसमें 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ शोधन विचारकर जीव और ब्रह्मके स्वरूपका निर्देश कर ब्रह्मसाक्षात्कारके बहिरङ्ग-यज्ञादि और शम, दम, निदिध्यासनादि अन्तरङ्ग साधनोंका विचार किया गया है। ब्रह्मविद्या तथा चित्त-स्थैर्य सम्पादक अन्यान्य उपासनाओंके विषयमें भी विचार किया गया है। चतुर्थ अध्यायका नाम फलाध्याय है। इसमें जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, जीवकी उत्क्रान्ति, पितृयान, देवयानमार्ग, सगुण और निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके फलोंके तारतम्यपर भी विचार किया गया है। भाष्यकारने सूत्रोंके निगूढ़ अर्थोंको समझानेके लिए कई प्रकारकी संगतियाँ भी इसमें प्रदर्शित की हैं। प्रधानतया तीन प्रकारकी संगतियाँ हैं—शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति तथा पादसंगति। अधिकरणसंगति-आपेक्ष, प्रत्युदाहरण, दृष्टान्त, प्रसङ्ग, अपवाद आदि भेदसे भिन्न-भिन्न है। इन्हें अवान्तर संगति भी कहते हैं। प्रत्येक अधिकरणमें पांच अवयव होते हैं—विषय, संशय, संगति, पूर्वपक्ष, तथा सिद्धान्त।

(३) शाङ्करभाष्यम—शारीरकभाष्यम्—ब्रह्मसूत्रपर महेश्वर परावतार-भगवत्पादजगद्गुरु-आचार्य शंकर स्वामीने अतीव गौरवशाली प्रशस्त शारीरकभाष्यकी रचना की है। शारीरक यानी इस कुत्सित-दृश्य जड़ परिच्छिन्न शरीरमें अत्यन्त विशुद्ध अविकृत प्रकाशकरूपसे वर्तमान द्रष्टा चेतन महान् विभु परमात्मा। उसका विशदरूपसे वर्णन करनेवाला व्याख्यान शारीरकभाष्य माना जाता है। अतएव विद्वानोंने भाष्यका यही लक्षण किया है—

> 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥'

अर्थात् सूत्रानुसारी पदों द्वारा जिसमें संक्षिप्त सूत्रोंका विस्तृत वर्णन किया जाता है, और साथ ही सूत्रोंके जैसे अपने संक्षिप्त-पदोंका जिसमें वर्णन किया जाता है, वह भाष्य माना जाता है। षडदर्शन व्याख्यानकार महाविद्वान् वाचस्पति मिश्रने भी शाङ्करभाष्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। और इसके ऊपर 'भामती' नामक विद्वज्जन प्रशंसनीय सुप्रसिद्ध टीका की है। उसमें वे—

> 'नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम्। भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते॥'

आचार्य शङ्करकी दो विशेषणों द्वारा मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि आचार्य शङ्करका वेदान्त विज्ञान विशुद्ध एवं भ्रम, विप्रलिप्सा आदि दोषोंसे विनिर्मुक्त है, उन्होंने भाष्यकी रचना अपनी प्रसिद्धि एवं विद्वत्ता प्रदर्शनके लिए नहीं की है, किन्तु मुमुक्षुजनोंके समुद्धारकी प्रशस्त कामनासे प्रेरित करुणाके वशीभूत होकर ही की है। इसलिए आचार्य शङ्कर करुणाके निधान हैं। अतः वे नमस्करणीय हैं। भाष्यकी प्रशंसाके लिए वे दो विशेषण देते हैं—प्रसन्न एवं गम्भीर अर्थात् वह शब्दतः प्रसन्न है, सरल है, सुगम, है एवं अर्थतः गम्भीर है यानी पुनः पुनः श्रद्धा एवं एकाग्रता से चिन्तन और मननके योग्य है। भाष्यके प्रणेता विशुद्धविज्ञान, कृपानिधान उन आचार्य शङ्करको मैं वाचस्पतिमिश्र नमस्कार करता हूँ। आचार्य वाचस्पतिमिश्र दार्शनिक सार्वभौम-महाविद्वान् होने के कारण कुछ अपने वैदुष्यकी अहंता भी रखते हैं। उनकी यह अहंता न्यायदर्शनके वात्स्यायन

भाष्यके उद्योतकराचार्यके वार्तिकग्रन्थके ऊपर तात्पर्यटीका लिखते समय प्रकट हो जाती है। वे प्रारम्भमें कहते हैं–'उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणाद् अहं पुण्यमुपचिनोमि।' अर्थात् उद्योतकराचार्यका वार्तिक ग्रन्थ अतीव जीर्ण शीर्ण है, अनेक त्रुटियोंसे पूर्ण है, अतः मैं अपनी तात्पर्य टीका द्वारा इन सभी त्रुटियोंका निवारण कर उस ग्रन्थका उद्धार कर पुण्य संपादन कर रहा हूं अर्थात् मैं उस वार्तिक ग्रन्थपर बड़ा उपकार कर रहा हूँ। जैसे कि कोई कीचड़में फँसी हुई बूढ़ी गायका उद्धार कर यशस्वी बनता है, इसप्रकारकी अहंता प्रकट करनेवाला वह महाविद्वान् वाचस्पति मिश्र जब शाङ्करभाष्यके समक्ष जाता है, उसकी प्रसन्नता एवं गम्भीरताका अवलोकन कर मुग्ध हो जाता है, तब उसकी समग्र अहंता तेजरूपमें बरफके समान सर्वथा गल जाती है। और वह शाङ्कर भाष्यकी प्रशस्त गौरवशालिनी वाणीको गङ्गाजलके समान स्वच्छ, पवित्र एवं मधुर मानता हुआ उसके समक्ष अपनी भामती टीका रूपी वाणीका वर्षाकालसे बहनेवाले पनालेके अपवित्र जलको तुलना करता हुआ कहता है—

'आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्। रथ्योदकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति॥'

जैसे पनालेका अपवित्र जल पावन गङ्गाजलमें मिलकर उसके समान ही प्रशस्त हो जाता है, वैसे मेरी निकृष्ट वाणी भी सर्वोत्कृष्ट पावन शाङ्करभाष्य वाणीके साथ संयुक्त होकर उसके समान प्रशस्त गौरवशालिनी हो जायगी।

(४) शाङ्कर-भाष्यकी अनेक व्याख्याएँ—अद्वैत संप्रदायमें शांकरभाष्यके दो प्रस्थान माने जाते हैं–एक विवरण प्रस्थान तथा द्वितीय भामती प्रस्थान। शांकरभाष्य पर सर्वप्रथम आचार्य श्री शङ्कर स्वामीके प्रधान शिष्य श्री पद्मपादाचार्यने 'पञ्चपादिका' नामकी व्याख्या लिखी थी। इस नामसे ही विदित होता है कि पद्मपादाचार्यने समन्वयाध्यायके चारों पाद तथा अविरोधाध्यायके प्रथम पाद इन पांच पादोंपर ही व्याख्या लिखी थी। परन्तु बहुसमयसे हो प्रथम चार सूत्रोंपर ही उनकी व्याख्या उपलब्ध होती है, शेष सारी व्याख्या दुर्दैववश लुप्त हो गई है। पञ्चपादिकाकार श्री पद्मपादाचार्यने अपनी व्याख्याके प्रारम्भमें अपने पूज्य गुरुदेव भाष्यकार आचार्य श्री शङ्कर स्वामी का महत्त्व बतलाते हुए इसप्रकार नमस्कार किया है—

नमाम्यभोगिपरिवारसम्पदं निरस्तभूतिमनुमार्धविग्रहम्।
अनुग्रमुन्मृदितकाललाञ्छनं विना विनायकमपूर्वशंकरम्॥

इस प्रकार वेदान्त कल्पतरुकारने भी—

वेदान्तार्थ-तदाभास-क्षीरनीरविवेकिनम्। नमामि भगवत्पादं परमहंसधुरन्धरम्॥

इस मङ्गल श्लोक द्वारा आचार्य श्रीशङ्करको सर्वोत्तम परम पूज्य परमहंस मानकर नमस्कार किया है। भगवत्पाद आचार्य शङ्कर एक महान् वन्दनीय परमहंस हैं। जिस प्रकार हंस क्षीरसे नीरको पृथक् करता है, इस प्रकार इस परमहंसने वेदान्तोंके वास्तविक अर्थोंको उन प्रतिवादियोंके मिथ्या अर्थोंसे पृथक् कर प्रदर्शित किया है। विवरणाचार्य प्रकाशात्म श्रीचरण स्वामीने इन चार सूत्रोंकी पञ्चपादिका व्याख्या पर ही अपना प्रसन्न गम्भीर विवरण ग्रन्थ लिखा है। अद्वैत सम्प्रदायमें यह ग्रन्थ भी अतीव मान्य एवं अवश्य पठनीय माना गया है। इस विवरण ग्रन्थको ही आधार बनाकर संस्कृतके विद्वानोंमें विख्यात-अद्वैत सम्प्रदायके महारथी पञ्चदशी आदि अनेक वेदान्त ग्रन्थोंके प्रणेता आचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामी ने 'विवरण प्रमेय संग्रह' नामका ग्रन्थ लिखा है। विवरण ग्रन्थके ऊपर तत्त्वदीपन, विवरणोपन्यास आदि अनेक निबन्ध व्याख्यानरूपसे लिखे गए हैं। द्वितीय भामती प्रस्थानके प्रणेता हैं आचार्य वाचस्पतिमिश्र। वे सर्व दर्शनोंके बड़े धुरन्धर विद्वान् और अपने समयके अद्वैत सम्प्रदायके सर्व प्रधान आचार्य थे। शाङ्कर-भाष्यपर उन्होंने जो 'भामती' टीका लिखी है, उसका अध्ययन आचार्य शङ्करके सिद्धान्तोंको समझनेके लिए अनिवार्य एवं आवश्यक समझा जाता है।

आचार्य वाचस्पति मिश्रने शाङ्कर भाष्यपर 'भामती', सुरेश्वराचार्य कृत 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थपर 'ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा', ईश्वर कृष्ण प्रणीत सांख्यकारिका पर 'तत्त्वकौमुदी' पातञ्जल योगदर्शनपर 'तत्त्ववैशारदी', न्यायदर्शन पर 'वार्तिकतात्पर्य टीका' पूर्वमीमांसा दर्शन पर 'न्यायसूची निबन्ध' कुमारिल भट्टमत पर 'तत्त्वबिन्दु' तथा पूर्वमीमांसक मण्डन मिश्रके 'विधि विवेक' पर 'न्यायकणिका' नामकी टीकाओंकी रचना की है। इस प्रकार यद्यपि वाचस्पति मिश्रने छहों दर्शनोंकी व्याख्याएँ लिखी हैं, उनमें तत्तत्सिद्धान्तोंका निष्पक्ष भावसे समर्थन किया है, तथापि उनका प्रधान लक्ष्य आचार्य शङ्करका अद्वैत सिद्धान्त ही है, अतः भामती व्याख्या अद्वैतवादका एक प्रामाणिक ग्रन्थ कहा गया है। भामती व्याख्या पर आचार्य अमलानन्द स्वामीने 'वेदान्त-कल्पतरु' नामका प्रशस्त व्याख्यान लिखा है। इसकी भाषा प्राञ्जल एवं भाव प्रसन्न गम्भीर हैं। इन्होंने 'शास्त्र दर्पण' नामका एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है, जिसमें ब्रह्मसूत्रके अधिकरणोंका विवेचन किया गया है तथा 'पञ्चपादिका दर्पण' नामका एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है। जिसमें पद्मपादाचार्यकी पञ्चपादिकाकी अपने ढंगकी प्रशस्त व्याख्या की है। वेदान्त कल्पतरु पर आचार्य अप्पय्य दीक्षितने 'परिमल' नामका व्याख्या निबन्ध लिखा है। उन्होंने ब्रह्मसूत्रके ऊपर शांकर सिद्धान्तानुसारी 'न्याय रक्षामणि' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है जो केवल प्रथमाध्याय पर ही उपलब्ध है। संस्कृतके विद्वानोंमें प्रसिद्ध 'सिद्धान्तलेश' आदि अनेक ग्रन्थोंके वे प्रणेता थे। यद्यपि उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शैव सम्प्रदायके मतानुसार जो श्री कण्ठ भाष्य है उसपर 'शिवार्कमणि दीपिका' नामकी प्राञ्जल विस्तृत व्याख्या लिखकर शैवविशिष्टाद्वैतवादके पक्षका समर्थन किया है, तथापि परिमल, सिद्धान्तलेश, न्यायरक्षामणि आदि ग्रन्थ लिखकर केवलाद्वैतसिद्धान्तकी पूर्णतया रक्षा एवं श्री अभिवृद्धि की है। इसलिए वे अद्वैत सम्प्रदायके वाचस्पतिमिश्र, श्रीहर्ष एवं मधुसूदन सरस्वतीके समकक्ष महान् आचार्य माने गए हैं। इस प्रकार आचार्य अद्वैतानन्दबोधेन्द्र स्वामीने ब्रह्मसूत्रपर 'ब्रह्मविद्याभरण' नामका विशद पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान लिखा है। विद्वद्गण इसे शांङ्कर भाष्यकी विवृत्ति कहते हैं। आचार्य सर्वज्ञात्ममुनिने ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यके आधार पर 'संक्षेपशारीरक' नामका वेदान्त-काव्यके ढंगका पद्यरूपसे सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। आचार्य भारती तीर्थने शाङ्कर भाष्यानुसार ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य समझनेके लिए 'वैयासिक न्यायमाला' नामक एक उपयोगी ग्रन्थकी सरल एवं सुबोध भाषामें रचना की है। आचार्य आनन्दगिरि स्वामीने ब्रह्मसूत्रके शाङ्कर भाष्य पर 'न्यायनिर्णय' नामकी प्रशस्त व्याख्या लिखी है। आचार्य शङ्कर स्वामीके जितने भी उपनिषद्, गीता आदिके भाष्य हैं उन सभी पर इनकी विशद टीकाएँ हैं, भाष्यके यथार्थ भावको हृदयंगम करानेमें इनकी टीकाएँ बहुत ही सहायक हैं। आचार्य आनन्दगिरि एक सफल टीकाकार, दार्शनिक सार्वभौम एवं भाष्यरहस्यवित् विद्वान् थे इसमें सन्देह नहीं। आचार्य स्वामी गोविन्दानन्दजीने शारीरक भाष्य पर 'रत्नप्रभा' नामकी व्याख्या लिखी है। इसमें भाष्यके प्रायः प्रत्येक पदकी व्याख्या है। सर्व साधारणके लिए भाष्यको हृदयंगम करानेमें यह टीका बहुत ही उपयोगी है। जो लोग भामती, कल्पतरु आदि गम्भीर टीकाओंके समझनेमें असमर्थ हैं, उन्हींके लिए यह व्याख्या लिखी गयी है, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है —

'विस्तृतग्रन्थवीक्षायामलसं यस्य मानसम्। व्याख्या तदर्थमारब्धा भाष्यरत्नप्रभाभिधा ॥

ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्यको विशदरूपसे समझनेके लिए आचार्य रघुनाथ सूरिने 'शङ्करपाद भूषण' नामका बहुत ही प्राञ्जल उपयोगी एवं विस्तृत निबन्ध लिखा है। इसमें प्रतिवादियोंके द्वारा आरोपित अनेक कुतर्कोंका खण्डन किया गया है। ब्रह्मसूत्र पर स्वामी शङ्करानन्द, सदाशिवेन्द्र सरस्वती, स्वामी ब्रह्मानन्द आदि विद्वानोंकी अद्वैत सिद्धान्तानुसारिणी छोटी बड़ी अनेक वृत्तियाँ हैं। जो ब्रह्मसूत्रके भावार्थको समझनेके लिए बड़ी उपयोगी हैं।

(५) शांकर-सिद्धान्त—भगवत्पाद आचार्य-श्रीशंकरके संक्षिप्त-मुख्य सिद्धान्तको समझनेके लिए यह श्लोक सर्वत्र विख्यात है—

'श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥'

अर्थात् जो निर्णय विस्तारसे करोडों-ग्रन्थोंके द्वारा कहा गया है उसको मैं संक्षेपसे अर्ध-श्लोक द्वारा कहूँगा। एकमात्र सर्वात्मा-ब्रह्म ही त्रिकालाबाधित-सत्य है, नामरूपात्मक यह जगत् मिथ्या है, वस्तुतः अविद्यमान होते हुए भी प्रतीयमान है। और यह जीव परमार्थतः ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे अन्य नहीं है।

(६) सत्य और मिथ्याकी परिभाषा—परमार्थ सत्य वह है—'यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा' (चतुः श्लोकी भागवत) अर्थात् जो सभी कालोंमें विद्यमान हो, किसी भी कालमें जिसका बाध न हो एवं जो सर्वत्र अवस्थित हो, वह त्रिकालाबाधित सर्वानुगत सत्य है। जैसे ५+ =१० ही होता है, किसी भी समयमें एवं किसी भी देश-विशेषमें ५+५ न तो ६ होता है, न ११, वैसे वह सर्वात्मा परमार्थसत्य ब्रह्म भी भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालोंमें जगत्के आदि मध्य एवं अन्तमें, तथा सभी प्रदेशोंमें समस्त पदार्थोंमें अखण्ड-एकरस अविकृतरूपसे अवस्थित है। यदि उस परमार्थ सत्यको कोई भी व्यक्ति छोड़ना चाहे या उससे पृथक् या विमुख होना चाहे, तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसका सभीके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। भेद सहिष्णु अभेद सम्बन्धका नाम तादात्म्य है अर्थात् जिसमें वास्तविक अभेद एवं काल्पनिक भेद हो, जैसे सुवर्णके साथ आभूषणोंका। वह ब्रह्म सर्वदा कालपरिच्छेदसे रहित है, सर्वत्र होनेसे देशपरिच्छेदसे एवं सबका आत्मा होनेसे वस्तु-परिच्छेदसे रहित है। अतः वह श्रुति द्वारा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा गया है। मिथ्या वह है जो कभी रहे, या कभी न रहे, यहाँ रहनेका अभिप्राय केवल प्रतीतिसे है। कल्पित-पदार्थ मध्यमें भासित होनेपर भी वह वस्तुतः आदि एवं अन्तकी तरह मध्यमें भी अविद्यमान ही है। अतएव माण्डूक्योपनिषत्-कारिकाकार श्रीगौडापाचार्यजीने कहा है—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

'वेदान्त-डिण्डिम' नामके लघुग्रन्थमें आचार्य नृसिंह सरस्वतीने कहा है—

'यदस्त्यादौ यदस्त्यन्ते यन्मध्ये भाति तत्स्वयम्। ब्रह्मैवैकमिदं सत्यमिति वेदान्तडिण्डिमः॥
यन्नादौ यच्च नास्त्यन्ते तन्मध्ये भातमप्यसत्। अतो मिथ्या जगत् सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः॥

जो आदिमें है, अन्तमें है, एवं मध्यमें भी स्वयं भासित होता है, वह एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह वेदान्तका डिण्डिम-घोष है। जो आदिमें नहीं अन्तमें भी नहीं, वह मध्यमें भासित होनेपर भी असत्-मिथ्या ही माना गया है। अतः यह जगत् मिथ्या ही है, ऐसा वेदान्तका डिण्डिम-घोष है।

अतएव श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी सत् एवं असत्‌से विलक्षण जो अनिर्वचनीय है वही मिथ्या है, जगत् परमार्थ सत्य इसलिए नहीं है कि उसका ब्रह्म साक्षात्कार दशामें बाध होता है, असत इसलिए नहीं है कि उसकी व्यवहारदशामें प्रतीति होती है, अतः वह सत् एवं असत्‌से विलक्षण है, इसका निरूपण बड़े अच्छे ढंगसे किया है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।

सत्‌का कभी बाध नहीं होता एवं असत्‌की कभी भी वन्ध्या पुत्रके समान-प्रतीति नहीं होती। इस श्लोकमें भावका अर्थ सत्ता-अस्तित्व नहीं है, क्योंकि 'असत' शब्दसे ही सत्ताका निषेध सिद्ध होता है, अतः सत्ता रहित-असत्‌की सत्ता नहीं है, ऐसा कहना पुनरुक्त सा प्रतीत होता है। अतः भावका अर्थ 'भवति-प्रभवति-उत्पद्यते इति भावः' इस व्युत्पत्तिसे उत्पत्ति ही मानना चाहिए।

'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु।'

इस कोशके अनुसार भी भावशब्द उत्पत्तिका ही बोधक है। एवं उत्पत्ति-अर्थवाले भावके प्रतिद्वन्द्वीरूपसे अभावका अर्थ विनाश ही मानना उचित है। इससे यह ज्ञात होता है कि जो पदार्थ

शशश्रृङ्गादिके समान असत् है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती है, अभाव पटके संयोजनसे उसका विनाश भी नहीं होता। इस प्रकार जो परमार्थ सत् पदार्थ है, उसकी भी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं देखे गये। अतः 'यथा असतो भावोऽभावश्च न विद्येते, तथा सतोऽपि अभावो भावश्च न विद्येते।' ऐसा पदोंका अन्वय सिद्ध होता है। अतः जगत् यदि परमार्थ-ब्रह्मके समान सर्वथा सत् हो एवं वन्ध्यापुत्रके समान सर्वथा असत् हो तो उसकी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं हो सकते। परन्तु हमारे वेद-उपनिषत्-स्मृति-पुराण आदि समस्त-शास्त्रोंमें जगत्की उत्पत्ति कही गई है, एवं उसके विनाश-प्रलयका भी वर्णन किया गया है। अतः जगत् सत् एवं असत् नहीं किन्तु सत् एवं असत्से विलक्षण-अनिर्वचनीय-मिथ्या ही है। उसकी व्यावहारिकसत्ता माननेपर भी ब्रह्मके समान परमार्थ-सत्य नहीं है। इसप्रकार तत्त्वदर्शी-विद्वानों ने सत् एवं असत्का यथार्थ-निर्णय किया है। अतः संक्षेप शारीरकाचार्य सर्वज्ञात्म मुनिने कहा है—

'जगन्महिम्ना न जगत्प्रसिद्धिः, न चिन्महिम्नाऽपि जगत्प्रसिद्धिः।
न च प्रमाणाज्जगतः प्रसिद्धिः, स्वतोऽस्य मायामयत्ताप्रसिद्धिः॥'

जगत्की महिमासे जगत्की प्रसिद्धि नहीं है, चेतन ब्रह्मकी महिमासे भी जगत्की प्रसिद्धि नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी जगत्की प्रसिद्धि नहीं है, अतः इस जगत्की अनिर्वचनीय-मायामयतारूपसे ही प्रसिद्धि-प्रतीति माननी चाहिए।

'जडत्वहेतोर्नजगन्महिम्ना, न चिन्महिम्ना तदसङ्गभावात्।
न च प्रमाणात्तदकारकत्वात्, कृतस्य जाड्यादजडाजनेश्च॥

जड होनेके कारण जगत्की महिमासे जगत्की प्रसिद्धि नहीं हो सकती, जडपदार्थ अपने आपको प्रसिद्ध नहीं कर सकता, चेतनके द्वारा ही उसकी प्रसिद्धि होती है। परन्तु चेतनकी महिमासे भी जगत्की प्रसिद्धि नहीं होती, क्योंकि चेतन, असंग, निर्लेप एवं निर्विशेष है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी जगत्की प्रसिद्धि नहीं होती, क्योंकि प्रमाण कारक नहीं होते, प्रसिद्धिरूपी क्रियाके जनक नहीं होते। जन्य वस्तु जड़ होती है और अजड़, चेतन वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती है अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत्को प्रसिद्धिमें—प्रतीतिमें -जिज्ञासा होती है कि जगत्की प्रसिद्धि स्वतः ही होती है, या चेतन-आत्मासे, या प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ? जगत् स्वयं जड़ है, जड़से जड़की प्रसिद्धि होती ही नहीं। अतः प्रथम पक्ष तो सर्वथा अयुक्त है। द्वितीय-पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि चेतन आत्मा असंग है, उसका जगत्से कोई वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं, विना सम्बन्धके कोई प्रकाशक किसीकी प्रसिद्धि नहीं कर सकता। तीसरा पक्ष अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी जगत्की प्रसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी प्रमाण जड़ पदार्थविषयक संवित् प्रकाशकका कारण-उत्पादक नहीं हो सकता। आशय यह है कि जगत्की प्रकाशरूप संवित् नित्य-आत्मस्वरूप ही है, उसे प्रत्यक्षादि प्रमाण उत्पन्न नहीं कर सकते। और जो जन्य पदार्थ है, वह जड़ है, उसे प्रकाश या संवित् मानना उचित नहीं। इसलिए अनिर्वचनीय, मिथ्या, देह, गेह, कलत्र, पुत्रादि जगत्को कोई कितना भी परमार्थसत्य माने, तो भी वह सत्य नहीं हो सकता। अतः नाम-रूपात्मक जगत्को तो तत्त्वदर्शियोंने स्वप्नके समान केवल प्रतीति मात्र ही माना है। आचार्य भगवत्पादने भी कहा है—

'संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसङ्कुलः। स्वकाले सत्यवद्भाति, प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत्॥'

यह प्रतीयमान संसार स्वप्नके समान है। राग, द्वेषादि दोषोंसे सम्बद्ध है। जैसे स्वप्न निद्राकालमें भासित होता है और जाग्रत्कालमें बाधित हो जाता है, वैसे यह संसार भी अज्ञानकालमें प्रतीत होता है और बोध होनेपर बाधित हो जाता है। 'दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं ? भवतिरस्कारः।' (षट्पदी) हे भगवन्! अधिष्ठानरूप सर्वात्मा आप परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर क्या इस द्वैतप्रपञ्चका तिरस्कार नहीं होता ? अवश्य ही हो जाता है। अधिष्ठानके साक्षात्कारसे उसमें आरोपितका बाध हो ही जाता है, यह सर्वजनविदित न्याय है।

(७) जीवो ब्रह्मैव नापरः — यह जीवात्मा वस्तुतः देह नहीं है, किन्तु देव है, जड नहीं है, किन्तु चेतन है, दृश्य नहीं है, किन्तु द्रष्टा है, परिच्छिन्न नहीं है, किन्तु अपरिच्छिन्न (विभु) है। अतएव इसकी भी ब्रह्मके समान त्रिकालाबाधित पारमार्थिकी ही सत्ता है। यह स्वयं प्रकाश स्वतःसिद्ध ज्ञानस्वरूप है। अतएव कठोपनिषत् एवं गीतामें भी कहा है—

'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। (क० १।१।२२)
अविनाशि तु तद्विद्धि, येन सर्वमिदं ततम्।' (गी० २।१७)

अर्थात् उस महान् विभु आत्माका मनन एवं ध्यान करके धीर यानी अविकृत प्रज्ञावाला महापुरुष शोकसे रहित हो जाता है। हे अर्जुन! उस अपने स्वस्वरूपभूत आत्माको तू अविनाशी जान। वह सर्वव्यापक है, उससे यह समग्र जगत् अन्तर-बाहर व्याप्त है। आत्माको जो अणु परिमाण एवं मध्यम परिमाणवाला मानते हैं, उनका मत इन वचनोंसे खण्डित हो जाता है। एवं वह आत्मा आनंदस्वरूप है, उसकी आनन्दरूपता सुषुप्तिमें एवं समाधिमें अनुभूत होती है। दुःखमय आदि तो मनके धर्म हैं, मनके साथ तादात्म्याध्यास होनेसे वे धर्म विशुद्ध आत्मामें आरोपित हैं। जैसे जवाकुसुमकी लालिमा स्फटिकमें आरोपित होती है, जैसे लालिमाके आरोपसे उसकी स्वाभाविकी शुक्लता तिरोहित हो जाती है, वैसे ही मनके दुःखादि धर्मोंके आरोपसे उस अन्तरात्मा की स्वाभाविकी आनन्दरूपता अभिभूत हो जाती है। इसलिए मैं चिदात्मा वस्तुतः सद्रूप, चिद्रूप, आनन्दरूप, परिपूर्ण अविनाशी-भूमा-ब्रह्म ही हूँ, ऐसी दृढ़ भावना मुमुक्षु सदा करता रहे। अतः आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने अद्वैत सिद्धिमें कहा है—

'अनादिसुखरूपता निखिलदृश्यनिर्मुक्तता, निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः।
त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता, मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः॥'

अर्थात् मेरी अनादि-शाश्वत सुख पूर्णता, निखिल देहादि दृश्य द्वैतप्रपञ्चसे विमुक्तता, सर्वदा अनन्त-अपरिच्छिन्नता-व्यापकता, स्वयं स्फूर्तिरूप-चैतन्य ज्योतिरूपता, त्रिकालाबाधित परमार्थता, सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदशून्यता, स्वतः प्रमाण सैकड़ों-श्रुतियांके द्वारा प्रतिपादित है, अतः मैं पूर्ण हरि हूं।' आचार्य श्री नृसिंहसरस्वतीने 'वेदान्त डिण्डिम' में सरल सहज एवं सुगम भाषामें कहा है—

सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ब्रह्मैवात्मा न संशयः। श्रुतिप्रमानुसंधानादिति वेदान्तडिण्डिमः॥
न जीवब्रह्मणोर्भेदः सत्तारूपेण विद्यते। सत्ताभेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः॥
न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते। स्फूर्तिभेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः॥
न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते। प्रियभेदे न मानं स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः॥
न जीवब्रह्मणोर्भेदो नाम्ना रूपेण विद्यते। नाम्नो रूपस्य मिथ्यात्वादिति वेदान्तडिण्डिमः॥
न जीव ब्रह्मणोर्भेदः पिण्ड ब्रह्माण्ड भेदतः। व्यष्टेः समष्टेरेकत्वादिति वेदान्तडिण्डिमः॥
अभेददर्शनं मोक्षः संसारो भेददर्शनम्। सर्ववेदान्तसिद्धान्त इत्ति वेदान्तडिण्डिमः॥
जीवोब्रह्मात्मनाज्ञेयो ज्ञेयं जीवात्मना परम्। मुक्तिस्तदैक्यविज्ञानादिति वेदान्तडिण्डिमः॥

सत्, चित् एवं आनन्दरूप होनेके कारण यह जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है, इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है, यह सिद्धान्त श्रुति प्रमाणोंके श्रवण द्वारा एवं प्रत्यगभिन्न अद्वय ब्रह्मतत्त्वके सतत मनन एवं निदिध्यासन द्वारा स्पष्ट हो अनुभूत होता है। यही सर्वजन सुखाय सर्वजनहिताय वेदान्तका प्रामाणिक डिण्डिम-घोष है। सत्तारूपसे भी जीव एवं ब्रह्मका भेद नहीं हो सकता, क्योंकि सत्तापूर्ण एक अखण्डित व्यापक पदार्थ है, उसमें किसी भी प्रकारसे कोई भी भेद नहीं कर सकता। इस प्रकार स्फूर्ति चैतन्यरूपसे भी जीव ब्रह्मका भेद नहीं हो सकता, अतः जीव चैतन्य एवं ब्रह्म चैतन्यमें किसी भी प्रकारकी विभिन्नता नहीं है, क्योंकि चैतन्य स्फूर्ति भी पूर्ण एकरस निराकार अखण्ड एवं सर्वगत है और सत्तासे अभिन्न है। इस प्रकार परम प्रिय आनन्द रूपसे भी जीव ब्रह्मका भेद नहीं हो सकता,

क्योंकि आनन्द भी विभु-व्यापक है सर्वत्र विद्यमान है, सत्ता एवं स्फूर्तिसे अभिन्न है, अतः उसका भी कोई विभाजन नहीं कर सकता । यद्यपि वैषयिक आनन्द शब्दादि विषयोंके भेदसे भिन्न-सा प्रतीत होता है, तथापि विषयोपाधिसे रहित विशुद्ध निर्विषय निरतिशय निरवच्छिन्न शाश्वत आनन्दमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है, यह वेदान्तका स्वतः प्रमाण उपनिषदोंका डिण्डिम-घोष है । नामोंके भेदसे एवं औपाधिक रूपोंके भेदसे भी जीव ब्रह्मका भेद नहीं है, क्योंकि नाम एवं रूप मिथ्या है, कल्पित नाम रूप वास्तविक जीव ब्रह्मकी एकताका प्रतिरोध नहीं कर सकते । इस प्रकार पिण्ड एवं ब्रह्माण्डके भेदसे भी जीव ब्रह्मका भेद नहीं है, क्योंकि कार्य कारणकी अनन्यताके सिद्धान्तके अनुसार आभूषण एवं सुवर्णकी तरह पिण्ड एवं ब्रह्माण्डमें भी भेद नहीं है, अतः यह वेदान्तोंका यथार्थ अविचलित निश्चय है कि जीव एवं ब्रह्मके अभेदानुभवका ही नाम मोक्ष है । अविद्याकृत भेद दर्शन ही संसार-दुःखमय बन्धन है । जीव ब्रह्मस्वरूप ही है एवं जीवात्मरूपसे परब्रह्म ही भासित होता है, ऐसा दृढ़ श्रद्धासे समझना चाहिए । जीव ब्रह्मके अभेद विज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा वेदान्तोंका घोष है ।

(८) **द्वैतवाद-समालोचना**—वेदान्त-उपनिषद् आदि शास्त्र द्वैतका-जीवेश्वरादिके भेदका ही प्रतिपादन करते हैं, अद्वैतका नहीं ऐसा कहते हुए कुछ मतावलम्बी ऋग्वेद संहिताकी इस पसिद्ध श्रुतिको प्रस्तुत करते हैं—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥' (ऋ. १।१६४।२०) (मु.उ. ।१।१)

शरीररूपी एक ही वृक्षमें जीव एवं ईश्वररूपी परस्पर मिलकर एक दूसरेके हितकर सखा हुए दो हंस पक्षी रहते हैं । इन दोनोंमें जीवरूपी पक्षी शरीरवृक्षके स्वादु-भोगरूपी फलोंको भोगता और दूसरा ईश्वररूपी पक्षी भोगोंको भोगता तो नहीं है, किन्तु केवल देखता रहता है अर्थात् जीव भोक्ता है और ईश्वर द्रष्टा है । इस मन्त्रमें एकका भोक्तारूपसे एवं दूसरेका द्रष्टारूपसे भेद ही बतलाया है । इसप्रकारकी—'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति । (श्वे० १।६) इस श्वेताश्वतर श्रुतिने भी पृथक् पदसे जीवात्माका उसके प्रेरयिता ईश्वरसे भेदका ही वर्णन किया है । जीवात्मा जब उस परमेश्वरका श्रद्धा भक्तिसे सेवन करता है, तभी वह अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त होता है । एवं—'जीवेश्वरौ भिन्नौ विरुद्धधर्माक्रान्तत्वात् दहनतुहिनवत् ।' इत्यादि अनुमान प्रमाण भी जीव एवं ईश्वरके भेदको ही सिद्ध करते हैं. क्योंकि जीव अल्पज्ञत्व, अल्पशक्तित्वादि एवं ईश्वर सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्वादि परस्पर विरुद्ध धर्मोंसे बरफ एवं अग्निकी तरह आक्रान्त है. अतः उनका अभेद नहीं हो सकता । और सभी जीवोंको मैं महान् सुखपूर्ण ईश्वर नहीं हूँ, किन्तु सुखी दुःखी हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष होता है, अतः जीव एवं ईश्वरका भेद ही मानना चाहिए । अब यहाँ उक्त द्वैतवादी द्वारा प्रदर्शित इन श्रुत्यादि पर क्रमशः विचार किया जाता है । 'द्वा सुपर्णा' इस श्रुतिका पूर्वार्ध जीव एवं ईश्वरके भेदका प्रतिपादन नहीं करता । तब वह भेद पारमार्थिक है, औपाधिक नहीं. ऐसा वह द्वैतवादी कैसे कह सकता है ? क्योंकि किसी भी पद एवं वाक्यसे भेदका बोध ही नहीं होता ।

शंका—'द्वौ' इस पदके द्वारा श्रुति द्वित्वका प्रतिपादन करती है, और यह द्वित्व भेदमें ही होता है, अभेदमें नहीं । अतः यह द्वित्व ही जीव एवं ईश्वरके भेदका बोधक है । समाधान—किसीको कभी सदोष चक्षुसे दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, इसमें प्रतीयमान द्वित्व काल्पनिक भेदका ही बोधक है पारमार्थिक भेदका नहीं. इस प्रकार द्वित्व गम्य भेद प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध काल्पनिक-औपाधिक भेदका ही अनुवाद करता है । और 'तत्त्वमस्यादि महावाक्य-श्रुतियोंसे प्रतिपादित परमार्थ अभेदके साथ विरुद्ध होनेके कारण वह भेद पारमार्थिक नहीं है । पूर्वोक्त श्रुतिके पूर्वार्धमें निर्दिष्ट सुपर्णौ, सखायौ, एवं

सयुजौ' ये तीन विशेषण भी जीव एवं ईश्वरके अभेदके ही ज्ञापक हैं, भेदके नहीं । दोनों ही सुपर्ण हैं, हंस हैं, सजातीय हैं अथवा निरुक्तके मात्रादि विपर्ययादि नियमके अनुसार दोनों ही सुपूर्ण ही यहाँ सुपर्ण नामसे कहे गये हैं । 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' यह श्रुति भी 'अदः' यानी परोक्ष ईश्वरतत्त्व भी पूर्ण है, एवं इदं यानी अपरोक्ष सन्निकृष्ट जीव तत्त्व भी पूर्ण है । दोनों ही पूर्ण हैं, पूर्ण सत्ता, पूर्ण स्फुर्ति एवं पूर्ण आनन्दसे व्याप्त होनेके कारण उनकी पूर्णता में किसी प्रकारका भी तात्त्विक भेद नहीं है घटाकाश, महाकाशादिकी तरह केवल औपाधिक ही भेद है । अत एव वे दोनों सखा हैं, इन दोनोंका समान ही ख्यान है, ख्यान यानी इन दोनोंकी समानरूपसे-सच्चिदानन्दरूपसे प्रतीति है, ऐसा अभेद भाव यह सखापद बोधित करता है । वे दोनों बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावसे या घटाकाश-महाकाशरूपसे सदा अविनाभाव सम्बन्धसे संयुक्त हैं यह 'सयुजौ' पद बोधित करता है । इसलिए पूर्वार्ध श्रुति अभेद-भावकी ही ज्ञापक है, अतः उत्तरार्धमें वर्णित अन्यत्व औपाधिक अन्यत्वका ही बोधक है । परमार्थतः तो वे दोनों अनन्य हैं । 'पृथक् आत्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा' यह श्रुति भी पृथक् पदसे जीव एवं ईश्वरके पार्थक्यका प्रतिपादन नहीं करती, अपितु आत्मा देहादि जडवर्गसे पृथक है और चेतन साक्षी होनेके कारण जडवर्गका प्रेरक है ऐसा उसका वास्तविक अर्थ है । अतः आत्मा होनेने अनात्म देहादिसे तादात्म्याध्यास वश अपृथग्रूपसे प्रतीयमान होनेपर भी वह वस्तुतः पृथक् ही है, विरुद्ध धर्माक्रान्तत्व हेतु भी जीव एवं ईश्वरका पारमार्थिक भेद सिद्ध नहीं करता, क्योंकि अल्पज्ञत्व, सर्वज्ञत्वादि विरुद्ध धर्म पिण्ड, ब्रह्माण्डादि उपाधियोंके सम्बन्धसे प्रतीत हो रहे हैं. उपाधिविनिर्मुक्त विशुद्ध स्वरूपमें उनका भान नहीं होता । 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' यह प्रत्यक्ष भी काल्पनिक भेदका ही अनुवादक है, तात्त्विक भेदका साधक नहीं । ईश्वर अप्रत्यक्ष है अतः तत्प्रतियोगिक भेद भी प्रत्यक्ष नहीं है । इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाणसे जीव ईश्वरका भेद सिद्ध नहीं होता ।

इस प्रकार जीवोंका भी परस्पर तात्त्विक भेद सिद्ध नहीं होता । जैसे जलादि प्रतिबिम्बित चन्द्र उपाधियोंके भेदसे अनेक रूपसे प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः एक ही है 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' यह दर्शन शास्त्रोंका न्याय बिम्बसे अभिन्न एक प्रतिबिम्बका द्वितीय प्रतिबिम्बसे भी अभेद सिद्ध करता है, वैसे जीवात्मा भी अन्तःकरणादि उपाधियोंके भेदसे सुखी, दुःखी आदि विभिन्न रूपसे प्रतीत होने पर भी शुद्ध स्वरूपसे एक ही हैं श्रुति भी ऐसा ही कहती दै ।

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत ॥'

एक हो निखिल भूतोंका पिण्ड ब्रह्माण्डादि शरीरोंका आत्मा है । परन्तु पृथक्-पृथक भूत, भौतिकादि उपाधियोंके भेदसे वह बहुत प्रकारका प्रतीत होनेपर भी जलचन्द्रके समान वस्तुत. एक ही है । इस प्रकार 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (नृ० उ० ७) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१६) 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।' (ब्र० सू० २।३।१४) इत्यादि वचनोंके द्वारा जगत्का भी बाधसामानाधिकरण्य न्यायसे परमात्मासे अभेद भाव ही सिद्ध होता है 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।४।१) इस श्रुतिके द्वारा घट, शरावादि कार्य वर्गमें अनुगत एकमात्र मृत्तिका—उनका उपादान कारण—ही सत्य है । कार्य वर्ग तो वाणीसे कथन मात्र ही है, इस दृष्टान्त द्वारा परमात्मासे जगत्का अनन्यत्व सिद्ध होता है ।

(६) विशिष्टाद्वैतवादसमालोचना

कुछ प्रतिवादी लोग कहते हैं—उपनिषदादिका प्रतिपाद्य केवल अद्वैत नहीं है, किन्तु चेतन एवं अचेतनसे विशिष्ट ब्रह्म अद्वैत है । जैसे लोकमें शरीर एवं शरीरी आत्माका परस्पर अत्यन्त भेद होनेपर भी 'यह एक ही देवदत्त है' ऐसा जड़ एवं चेतन विशिष्ट एकत्वका व्यवहार होता है, वैसे जड़

पदार्थ एवं जीवोंका अनेकत्व होने पर भी एवं ब्रह्मसे उन सबका भेद होनेपर भी चित्-अचित्से विशिष्ट ब्रह्म एक है—अद्वैत है, ऐसा मानना अनुचित नहीं है। परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि विशेषण, विशेष्य एवं उनका सम्बन्ध इन तीनोंका नाम विशिष्ट है, यह विशिष्ट पद जब द्वैतको सिद्ध करता है, तब उसका ब्रह्मके साथ अद्वैत कहना वदतोव्याघात दोष है। जैसे कोई यह कहे कि 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' अर्थात् मेरे मुखमें जिह्वा नही है, वैसे ही विशिष्ट जब द्वेत है, तब वह अद्वैत हो ही नहीं सकता और 'यह एक देवदत्त है' यह दृष्टान्त भी विषम है, क्योंकि शरीरके साथ आत्माका एकत्व वस्तुत: हो नहीं सकता, अतः यह एकत्व व्यवहार भ्रममूलक है। अतएव बुद्धिमान् पक्षपात रहित विवेचकोंकी प्रशस्त दृष्टिमें विशिष्ट और अद्वैत इन दोनों पदोंका समन्वय ही नहीं हो सकता, क्योंकि–द्वैतके अभावका नाम ही अद्वैत है जिसमें परमार्थतः द्वैत न हो, वह अद्वैत है, अद्वैतमें द्वैतरूप विशेषण लगाकर उसको परमार्थत: कौन विशिष्ट कर सकता है? और वह अद्वैत विशिष्ट क्यों हो जायगा? यदि वह वस्तुतः विशिष्ट है तो उसे अद्वैत कहना ही व्यर्थ है। अत: श्रुति, स्मृति, पुराण आदि किसी भी शास्त्रमें 'विशिष्टाद्वैत' ऐसा आनुपूर्वी पद ही उपलब्ध नहीं है, इसलिए 'विशिष्टाद्वैत' यह मतवाद शास्त्रानुकूल एवं युक्ति संगत नहीं है। शंका—'यस्य पृथिवी शरीरं, यस्याप: शरीरं, यस्यात्मा शरीरम्, (बृ० ३।७।२-३) इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा चित् (चेतन जीव) एवं अचित् (जड़ प्रकृति पृथिव्यादि) रूप शरीरसे विशिष्ट आत्मा एक है, अद्वैत है, ऐसा निश्चित होता है। समाधान—चेतन जीव और जड़ पृथिव्यादि ये दोनों परमात्माके वास्तविक शरीर नहीं हो सकते। शुभाशुभ कर्मसे जन्य जो सुख दु:खादि रूप फल है—उसके भोग अनुभवके आश्रयका नाम शरीर है 'भोगायतनं हि शरीरम्' यह दार्शनिकोंकी परिभाषा है। विशुद्ध परमात्मामें कर्म बन्धन एवं फल भोगका सम्भव नहीं उसमें कर्म एवं भोग स्वीकार करने पर वह जीवके समान भोक्ता हो जायगा अर्थात् परमात्मा न होकर जीव हो जायगा। अत: 'पृथिवी, आपः, आत्मा, शरीरम्' का अर्थ है स्वरूप। परमात्मा ही अपनी अचिन्त्य अनिर्वचनीय माया शक्ति द्वारा पृथिव्यादि रूपसे प्रतीत होता है, अत: यह सब कुछ उसका ही स्वरूप है, उससे उनकी पृथक् सत्ता नहीं है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।.) 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा भी पूर्वोक्त ही अर्थ निश्चित होता है। लोकमें भी स्वरूप अर्थमें शरीर शब्दका प्रयोग देखा जाता है, जैसे 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' यह पत्थर पुतलेका शरीर है, यानी स्वरूप है। अतएव 'विश्वरूपो यतोऽव्ययः' (वि० पु० १।२२।६८) 'द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तं चामूर्तमेव च।' वि० पु० १।२२।५३) इत्यादि वचनोंमें भी रूप शब्दका प्रयोग पूर्वोक्त निर्णयकी पूर्ण पुष्टि करता है। अत: 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४४।१९) इस श्रुतिके द्वारा उस विश्वाधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्ममें वस्तुतः किसी भी प्रकारसे नाना द्वैत प्रपञ्च नहीं है यह सिद्ध होता है। व्यवहार दशामें जो नानात्वकी प्रतीति होती है, वह माया मात्र है। यह बात श्रीमद्भागवतमें भी स्पष्ट कही गई है–'मायामात्रमिदं राजन्! नानात्वं प्रत्यगात्मनि' (भा० १२।४।२५) 'प्रत्यगात्मा-ब्रह्ममें प्रतीयमान नानात्व मायामात्र है, अविद्यासे आरोपित है।

(१०) द्वैताद्वैतवादसमालोचना

कुछ मतवादी कहते हैं—दो प्रकारकी श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं, १—द्वैतप्रतिपादिका एवं २–अद्वैतप्रतिपादिका। 'तुल्यञ्च सांप्रदायिकम्' अर्थात् संप्रदाय यानी गुरुपरम्परासे समधीत सभी श्रुतियाँ समान हैं, इनमें गौण-मुख्य भाव नहीं हो सकता।' इस न्यायसे विनिगमकका अभाव होने के कारण द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही श्रुति तात्पर्यके विषय हैं, ऐसा मानना चाहिये। द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही श्रुति मूलक हैं, अतः जैसे अद्वैतवादी अद्वैतको पारमार्थिक मानते हैं, वैसे ही द्वैतवादियोंको भी अद्वैतको पार-

मार्थिक मानना चाहिए । इसी प्रकार जैसे द्वैतवादी द्वैतको पारमार्थिक मानते हैं, वैसे ही अद्वैतवादियों को भी द्वैतको पारमार्थिक मानना चाहिये । ऐसा मानने पर अद्वैतवादी एवं द्वैतवादी दोनोंके विवाद का शमन हो जायगा तथा द्वैत एवं अद्वैतका सामञ्जस्य समन्वय) हो जायगा । यहाँ विचारकोंको यह समझना चाहिये कि यद्यपि विषमसत्तावाले द्वैत एवं अद्वैत का विरोध नहीं । परन्तु समसत्तावाले—द्वैत एवं अद्वैतका प्रकाश एवं अन्धकारकी तरह परस्पर विरोध होने के कारण—दोनों ही श्रुति तात्पर्यके विषय हैं, ऐसा सहस्रवदन शेष भगवान् भी नहीं कह सकते । द्वैत प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अधिगत है, 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा बाधित है, दुःखनिवृत्ति एवं शाश्वत सुख लाभरूप प्रयोजनका समर्पक नहीं है, प्रत्युत अनर्थका प्रयोजक होने के कारण श्रुति तात्पर्यका विषय नहीं हैं । परिशेषात् अनधिगत, अबाधित एवं सप्रयोजन अद्वैत ही श्रुति तात्पर्यका विषय है । अतः अन्य गति न होनेके कारण प्रत्यक्षादिसे अधिगत द्वैतकी प्रतिपादक श्रुतियाँ अनुवादक होनेसे गौण हैं । द्वैतप्रपञ्च अविद्यासे उद्भासित होनेके कारण अनिर्वचनीय (मिथ्या) है अतः उसका शास्त्र प्रतिपादित परमार्थ सत्य अद्वैतके साथ विरोध नहीं है । इस प्रकार द्वैतप्रपञ्च बाधित होने पर भी व्यावहारिक सत्य है एवं सर्वात्मा अद्वैत ब्रह्म अबाधितत होनेसे परमार्थ सत्य है । ऐसा माननेमें कुछ भी विरोध नहीं है । द्वैतका प्रतिपादन तो श्रुतियाँ केवल अध्यारोप की दृष्टिसे अपवादके लिए ही अपवादाधिगम्य अधिष्ठान परब्रह्मके विज्ञापनके लिए ही करती हैं । अतः 'योग्यं योग्येन सम्बध्यते' इस न्यायके अनुसार 'तुल्यञ्च सांप्रदायिकम् इस न्यायका किसी भी प्रकारसे बाध नहीं होता । अतः अपनी कपोल कल्पना द्वारा बाधित द्वैतको परमार्थ सत्य एव श्रुति तात्पर्यका विषय मानना कदापि उचित नहीं है । द्वैतप्रपञ्च की अवास्तविकता यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति ।' (बृ० २।४।१४) इस श्रुतिमें वर्तमान इवकारके द्वारा स्पष्ट ही ज्ञात होता है अर्थात् जिस अविद्याऽवस्थामें द्वैतकी तरह होता है, वहाँ अन्य हुआ द्रष्टा अन्य दृश्यको देखता है । जैसे 'इदं सुवर्णमिव विभाति ।' यह पदार्थ सुवर्णकी तरह दीखता है, इसमें वर्तमान इवकार प्रतीयमान सुवर्णकी वास्तविकताका प्रतिषेध करता है । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् ।' बृ० ४ ५ १५। जिस ज्ञान कालमें इस तत्त्वदर्शीको यह सब अद्वय आत्मा ही हो गया, तब किस इन्द्रियसे, किस विषय को कौन देखे ? क्योंकि त्रिपुटी भेद—द्रष्टा. दृश्य एवं दर्शन—सबका विद्या द्वारा बाध हो जाता है ।

'एवमेवास्य परिद्रष्टुः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येव प्रोच्यते, स एषोऽकलोऽमृतो भवति । (प्र० उ० ६।५)

इस द्रष्टा आत्मा पुरुष की श्रद्धा आदि षोडश कलाएँ, पुरुषके ही आश्रित थीं, विद्यादशामें स्वाधिष्ठानभूत पुरुषमें ही वे विलीन हो जाती हैं, उनके कल्पित नाम एवं रूप की निवृत्ति हो जाती है, अन्तमें वह एकमात्र कला रहित निष्कल अमृत पुरुष परमात्मा ही परिशिष्ट रह जाता है । 'पूर्णमेवावशिष्यते ।' (बृ० ५।१।१) 'ब्रह्माद्वयं शिष्यते' (भा० १०।१४।१८) इत्यादि वचनोंसे स्पष्टतः पूर्ण अद्वय ब्रह्म ही परिशिष्ट रह जाता है । इस प्रकार द्वैत प्रपञ्च अविद्योद्भासित है, अतः मिथ्या है, इस श्रुतिके निर्णयका श्रीमद्भागवतमहापुराणके ये वचन भी समर्थन करते है –

'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं, स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते, मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥ (भा० १०।१४।२२)

इसलिये यह सम्पूर्ण द्वैत जगत् स्वप्नके समान असत्य है, प्रतीयमान होने पर भी वस्तुतः अविद्यमान है । अतः इसमें तात्त्विक ज्ञान की विषयता नहीं है और यह दुःखपर दुःख देता रहता है । शाश्वत परमानन्दरूप नित्यज्ञानरूप अनन्त अद्वयरूप आप ब्रह्ममें यह मायासे ही भासित हो रहा है, वस्तुतः यह सत्य नहीं है । तथापि सत्यके समान प्रतीत होता है ।

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनाद्, अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजाति विकल्पपथैः वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ (भा० १०।८७।३७)

वेदस्तुतिमें श्रुतियाँ कह रही हैं हे भगवन्! वास्तविक बात तो यह है कि यह द्वैत-जगत् उत्पत्तिसे प्रथम नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहता, यह मध्यमें एकरस-अद्वय आप परमात्मा में मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। इसीसे हम श्रुतियाँ इस जगत्का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टीमें घट शरावादि, लोहेमें शस्त्रादि और सुवर्णमें कुण्डलादि नाम मात्र हैं, वास्तवमें मिट्टी, लोहा और सोना ही सत्य हैं, वैसे ही परमात्मामें प्रतीत यह द्वैत जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मनकी कल्पना मात्र है, इसे दुराग्रही लोग ही परमार्थ सत्य मानते हैं।

इसलिए तात्त्विक-द्वैत माननेवालेके पक्षमें इन श्रुति पुराणादि वचनोंकी संगति लगाना सर्वथा अशक्य है। इस पक्षमें निरपवाद एवं निश्चितार्थ विज्ञानका लाभ नहीं हो सकता। अतः निष्पक्ष विद्वानोंको शास्त्रप्रतिपादित अपवादकी शून्यता एवं युक्ति-संभावित. सुनिश्चित अर्थका बोध द्वैताद्वैतवादमें नहीं मिल सकता।

यदि मोक्षदशामें भी अभेदके साथ भेद रहता है तो 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।' 'जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है' इस श्रुतिसे विरोध होता है। अतः जीवात्माका ब्रह्मके साथ सभी दशाओंमें नित्य सिद्ध-वास्तविक अभेद है, एवं अविद्या दशामें काल्पनिक-ज्ञाननिवर्त्य-भेद है, ऐसा मानना यथार्थ है, इसलिए द्वैताद्वैतमतवाद भी शास्त्र एवं युक्तिके अनुकूल नहीं है। विचारशीलोंको यह मतवाद भी रुचिकर एवं प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता।

(११) शुद्धाद्वैतवाद समालोचना

कुछ मतवादी कहते हैं कि—केवल अद्वैत नहीं है, किन्तु शुद्ध-अद्वैत है। जीव एवं जगत् अविकृत शुद्ध ब्रह्मका परिणाम-कार्य है। कारण शुद्ध ब्रह्म मायाके सम्बन्धसे रहित है, अतएव वह शुद्ध कहा जाता है। उसका अपने कार्यरूप जीव एवं जगत्से अद्वैत है। प्रमेय-रत्नार्णव ग्रंथमें ऐसा कहा भी है-मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः। कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥

मायाके सम्बन्धसे रहित ब्रह्म शुद्ध है, ऐसा विद्वान् कहते हैं। कार्य एवं कारणरूप हि शुद्ध ब्रह्म है, वह मायिक नहीं है। इस मतमें जीव ब्रह्मका वास्तविक अंशांशिभाव है, घटाकाश, महाकाश की तरह औपाधिक नहीं। अविकृत ब्रह्मका ही परिणाम भूत यह चराचर जगत् परमार्थ सत्य ही है, मिथ्या नहीं, इस मतवाले श्रीमद्भागवतको परम प्रमाण मानते हैं।

यहाँ यह विचार करना चाहिए—निर्विकार, निराकार ब्रह्मका परिणाम कैसे हो सकता है? परिणामका अर्थ है–विकार-अन्यथा-भाव। जैसे दूधका दही। 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) 'कूटस्थमचलं ध्रुवम्' (गी० १२।३) इत्यादि-श्रुतिस्मृति वचनोंसे परमात्माका स्वरूप, समस्त विकारोंसे रहित, अखण्ड, एकरस, अचल एवं ध्रुव निश्चित होता है। अतः मायाके सम्बन्धसे रहित, अविकृत, परिपूर्ण, निष्क्रिय शुद्ध, अद्वैत ब्रह्म. जीव एवं जगद्रूपसे कैसे एवं किस कारणसे परिणत होगा? अविकृत ब्रह्मका परिणाम माननेपर पुनः वह ब्रह्म अविकृत कैसे कहा जा सकता है? अतः अविकृत ब्रह्म परिणामवाद •वदतोव्याघात-दोषसे ग्रस्त है। ब्रह्ममें अविकृतत्व एवं विकृतत्व विरुद्ध धर्मद्वयका समावेश दोनोंकी विषमसत्ता माननेपर यानी वास्तविक अविकृतकी काल्पनिक विकृति तो मानी जा सकती है, परन्तु दोनोंकी सम सत्ता माननेपर यानी पारमार्थिक अविकृतकी पारमार्थिक विकृति कभी नहीं हो सकती है। शंका–'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७) 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्र० १।४।२६) इस श्रुति वचन एवं सूत्रके द्वारा उस ब्रह्मने माया-सम्बन्धके बिना स्वयं ही अपने आपको जीव एवं जगद्रूपसे परिणत किया, ऐसा अवगत होता है। समाधान—'मायी सृजते विश्वमे-

तत्' (श्वे० ४।६) 'मायिनन्तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ०६।४७) १८) 'आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ! सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे सञ्ज्ञां क्रियोचिताम् ॥' (भा० ४।७।५१) 'सम्भवाम्यात्ममायया ।' (गी० ४।६) 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।३) अर्थात् मायावाला परमात्मा इस विश्वका निर्माण करता है। मायावाला महेश्वर है जगत्का नियन्ता है, इन्द्र-परमात्मा मायाओंके द्वारा ही विश्वके बहु-असंख्यरूप हुआ प्रतीत होता है। अपनी सत्त्वादिगुणमयी मायाका आश्रय कर ही मैं इस विश्वका सर्जन, रक्षण एवं संहरण करता हुआ उत्पत्त्यादि क्रियाओंके अनुरूप ही उत्पादक ब्रह्मा, रक्षक विष्णु एवं संहारक महेश्वर ऐसे नामोंको धारण करता हूँ। मैं निराकार भगवान् अपनी मायाके द्वारा ही साकाररूपसे प्रकट होता हूँ। यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् मायामात्र है, क्योंकि मायाके द्वारा आच्छादित होनेसे इसका मूल अधिष्ठानस्वरूप संपूर्णरूपसे अभिव्यक्त नहीं होता है। इत्यादि श्रुति, स्मृति सूत्र एवं पुराण आदि सहस्रों वचनोंके द्वारा वह माया विशिष्ट ब्रह्म ही जीव-जगद्रूपसे परिणत होता है, ऐसा जाना जाता है। शंका—तब तो पूर्वोक्त-शास्त्र वचनोंका परस्पर विरोध होगा ? समाधान—'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक वचनोंके द्वारा परमात्मा विश्वका उपादान कारण प्रतिपादित है एवं कहीं 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् ।' (श्वे० ४।१०) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ' (श्वे ४।५) अर्थात् मायाको विश्वकी प्रकृति उपादान कारण समझो। वह माया अजन्मा, अनादि, रक्त-रजोगुण, शुक्ल-सत्त्वगुण एवं कृष्ण-तमोगुण युक्त है, अपने समान ही वह त्रिगुणात्मक जड़ चेतन, प्रजाओंका निर्माण करती है। इत्यादि वचनोंसे त्रिगुणमयी माया भी विश्वकी उपादान कारण ज्ञात होती है, सृष्टि प्रतिपादक पूर्वोक्त वाक्य स्थित, आत्मादिपद माया, अजा आदि पदोंसे प्रतिपादित दैवी शक्ति माया विशिष्ट परमात्माके बोधक हैं, इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों प्रकारके वचनोंका समन्वय कर विरोध परिहार किया जाता है, क्योंकि माया एवं परमात्मा दोनोंमें उपादान कारणताका श्रुत्यादिमें वर्णन है। परन्तु इसमें इतना भेद है परमात्मा अविकृत होनेसे विवर्तोपादान कारण है और माया परिणामी उपादान कारण है। केवलाद्वैतसिद्धान्तमें यह निर्णीत हुआ है अर्थात् यह जगत् ब्रह्मका विवर्त है एवं मायाका परिणाम है। उपादान कारणरूपसे अभिप्रेत पदार्थसे विभिन्नसत्तावाला होकर जो अन्यथा प्रतीत हो, वह विवर्त है। जैसे रज्जुमें प्रतीयमान सर्प रस्सीका विवर्त है। रस्सीकी व्यावहारिक सत्ता और प्रतीयमान सर्पकी प्रातिभासिक सत्ता है। इस प्रकार उपादान एवं उपादेयकी विवर्तवादमें विषमसत्ता है। उपादानकारणसे जिसकी समान-सत्ता हो वह परिणाम है। जैसे दूधसे परिणत दहीकी समान सत्ता है, अतः मायाविशिष्ट ब्रह्म जगत्का उपादान कारण है. ऐसे कथनमें अर्थात् मायामें परिणामी-उपादान कारणता एवं ब्रह्ममें विवर्तोपादान कारणता योग्यतानुसार मानना चाहिए।

शंका–तब 'आत्मकृतेः परिणामात्' श्रीबादरायण मुनिने ब्रह्मसूत्रमें ऐसा क्यों कहा है ? उसमें महर्षिकातात्पर्य हैकि जगत्की सत्यतामें अभिनिवेश रखनेवाले मनुष्योंकी मति सहसा विवर्तवादमें प्रविष्ट नहीं हो सकती है, इसलिए उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए अरुन्धती निदर्शन न्यायसे परिणामवाद पूर्वपक्षरूपसे कहा गया है। पश्चात् 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' (सू० २।१ २६) इस ब्रह्मसूत्रके अधिकरणमें यह विचारकर परिणामवादका खण्डन कर दिया है। यदि संपूर्ण-ब्रह्म जगद्रूपसे परिणत हो तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव-अद्वय ब्रह्मका अभाव हो जायगा, साथ ही मोक्षकी भी असिद्धि होगी। यदि एकदेशसे ब्रह्म जगद्रूपसे परिणत हो तो निरवयव प्रतिपादक श्रुतिका विरोध होगा। इस प्रकार परिणामवादमें विरोध प्रकट कर महर्षि व्यासने ब्रह्मसूत्रमें 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' (ब्र० सू० २।१।२८) इस सूत्र द्वारा विवर्तवादको सिद्धान्तरूपसे सिद्ध करनेके लिए स्वप्नदृष्टान्तसे

समाधान किया है। जैसे स्वप्नसृष्टि, कल्पित होनेके कारण स्वप्न द्रष्टाके स्वरूपको विकृत न कर मिथ्यारूपसे प्रतीत होती है, वैसे ब्रह्मके विशुद्ध स्वरूपको विकृत न कर माया द्वारा उस सर्वात्मा अद्वयब्रह्ममें जगत् सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार बादरायण मुनिने विवर्तवादको ही सिद्धान्तरूपसे माना है। अतएव सर्वज्ञात्ममुनिने संक्षेपशारीरकमें कहा है—'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम।' विवेकहीन अल्पमति वाला परिणामवाद मानता है तो निर्मलविशाल बुद्धिवाला विवर्तवाद मानता है।' इसलिए श्रीमद्भागवतमें भी जगत् मिथ्या कहा गया है 'ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टंविनष्टमतिलोलमलातचक्रम्। विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया स्वप्नस्त्रिधागुण विसर्गकृतो विकल्पः ॥' (भा० ११।१३।३४) 'नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्।' (भा० ११।७।७) यह नामरूपात्मक-जगत् मनकी कल्पनामात्र है। दिखनेपर भी नष्ट प्राय है, अलातचक्रके समान अविद्यमान ही दिख रहा है। अतः भ्रममात्र है। एक अद्वय ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनेक-सा हुआ द्वैतरूपसे प्रतीत हो रहा है। यह स्थूल शरीर, इद्रिय, और अन्तःकरणरूप तीन प्रकारका विकल्प मायाके गुणोंके परिणामकी रचना है और स्वप्नके समान मायामात्र है।

सपनेकी तरह मनकी कल्पना मात्र है, इसलिए मायामात्र मिथ्या है, ऐसा निश्चय करो। इसप्रकार श्रीमद्भागवतमें— ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे।' (भा० १।१३।५४) 'घटे भिन्ने यथाऽऽकाशः आकाशःस्याद् यथा पुरा। एवं देहे मृते जीवो ब्रह्मसंपद्यते पुनः ॥' (भा० १२।५।५) 'यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथामुखश्रीः।' (७।६ ११) 'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।' (भा० १०।३३।१७) अर्थात् महाकाशमें घटाकाशके समान अपने क्षेत्रज्ञ आत्माका ज्ञान ध्यान द्वारा आवरणनिवारण कर अद्वय-ब्रह्ममें विलीन कर दिया। जैसे घड़ा फूट जानेपर आकाश प्रथमकी ही तरह अखण्ड ही रहता है, परन्तु 'घटाकाश' की निवृत्ति हो जानेसे लोगोंको ऐसा प्रतीत होता है कि वह महाकाशसे मिल गया है वास्तवमें तो वह मिला हुआ था ही। वैसे ही देहपात हो जानेपर ऐसा ज्ञात होता है मानो यह ब्रह्मवित् जीव ब्रह्म हो गया, वास्तवमें तो वह ब्रह्म था ही। उसकी अब्रह्मता तो केवल भ्रममात्र थी, जैसे अपने मुखमें की हुई तिलकादि शोभा दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बमें स्वतः आ जाती है, वैसे ही भक्त अपने मूल बिम्बस्वरूप भगवान्के प्रति जो जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसके प्रतिबिम्बभूत-अपनेको स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे नन्हा सा शिशु निर्विकार भावसे अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, वैसे रमारमण भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ाकी। अध्यात्मपक्षमें बुद्धि वृत्तियाँ गोपिकाएँ हैं, उनके साथ प्रतिबिम्बरूप विहार समझना चाहिए। इत्यादि अनेक स्थलोंपर श्रीमद्भागवतमें जीवब्रह्मका घटाकाश महाकाशकी भाँति तथा बिम्ब-प्रतिबिम्बका तरह औपाधिक ही अंशांशिभाव माना है, वास्तविक अंशांशिभाव निर्विकार निराकार पूर्ण ब्रह्ममें कदापि संभव नहीं। अतः उसका वास्तविक अंशांशिभाव एवं अविकृत ब्रह्मपरिणाम श्रीमद्भागवतसे भी विरुद्ध हैं। इसलिए 'हमारे मतमें श्रीमद्भागवत परमप्रमाण है, ऐसा उनका कहना सर्वथा प्रवञ्चनामात्र है।

(१२) अभिनव अद्वैतवादीमत समालोचना

कुछ विद्वान् कहते हैं कि केवल ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती, किन्तु भक्ति सहित ज्ञानसे ही होती है। वे कहते हैं कि समष्टि और व्यष्टिके भेदसे दो प्रकारके बन्ध माने गए हैं। समष्टि बन्ध माया है और व्यष्टि बन्ध अविद्या है। माया और अविद्या दोनों पृथक् पृथक् हैं, अतएव अविद्याका ज्ञानसे नाश हो जानेपर भी मायाके निवारणके लिए भक्तिकी अपेक्षा होती है, भक्तिसे ही मायाकी निवृत्ति होती है, ज्ञानसे नहीं। इस विषयमें एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि प्राचीन समयमें नगरके चारों ओर दुर्ग रखनेकी प्रथा थी। रात्रिके समय राजाकी आज्ञासे उसके द्वार बन्द कर सैनिक वहाँ

पहरा देते रहते थे ताकि बाहरका शत्रु नगरमें प्रविष्ट न हो सके। अब इस दार्ष्टान्तसे तुलना कीजिए, नगर द्वार समष्टि है, जब कि गृहद्वारकी चाबी गृहपतिके हाथमें रहती है। वह जब चाहे तब दरवाजा खोलकर बाहर आ जा सकता है। किन्तु नगर द्वार बिना राजाकी आज्ञाके किसीके लिए खोला नहीं जा सकता। उसकी चाबी राजपुरुषके हाथमें रहती है। नगरद्वार समष्टि बन्धन माया है, वह राजाधिराज परमेश्वरकी कृपाके बिना कभी खुल नहीं सकता, उसके खोलनेका भक्तिप्रसूत भगवत्प्रसाद ही प्रधानतम साधन है। उपनिषत्, गीता, भागवत आदिके अवलोकनसे उपर्युक्त सिद्धान्तकी पुष्टि होती है। अब यहाँ यह विचार करना चाहिए कि उपनिषत्-गीता, भागवत आदिके वचनोंके द्वारा क्या भक्तिसे मायाकी निवृत्ति होती है? तथा माया एवं अज्ञानका क्या भेद भी सिद्ध होता है? निष्पक्ष विद्वान् कहेंगे कि कदापि नहीं। 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि।' (कैवल्योपनिषत् १।२) श्रद्धा, भक्ति एवं ध्यान योगसे उस परमेश्वरका ज्ञान प्राप्तकर—

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुने! ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परंतप!॥(गी० ११।५४)

श्रीभगवान् कहते हैं कि—हे अर्जुन! मैं परमेश्वर हूँ। अनन्य भक्तिके द्वारा ही मेरा साक्षात्कार, परमार्थतः ज्ञान तथा मुझमें अभेदभावसे प्रवेश किया जा सकता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ गी १८।५५)

पराभक्तिके द्वारा मुझको तत्त्वत, भलीप्रकार जानता है कि मैं कैसा और किस प्रकारके प्रभाव वाला हूं। तथा उस भक्तिसे मुझे तत्त्वतः जानकर तत्काल ही मुझमें अभेदभावरूप प्रवेश हो जाता है। फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता। 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।' (श्वे० २।१५) तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' (शु० य० ३१।१८)

ज्ञानसे ही समस्त बन्धोंकी निवृत्ति होती है, ज्ञानसे ही अविद्या मृत्युका अतिक्रमण होता है, मोक्ष लाभके लिए ज्ञानको छोड़कर और कोई मार्ग नहीं है।

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां, स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।' (भा० २।७ ४६)

'स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम्। ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये॥'(भा० ३।३३।·५।२६)

स्त्री, शूद्र हूण आदि पापी जीव भी भगवद्भक्तिसे भगवान्को जान लेते हैं और देवकी मायाका अतिक्रमणकर मोक्ष लाभ प्राप्त करते हैं। अपने स्वरूपकी अपरोक्षानुभूतिसे ही मायाके गुण आवरण एवं विक्षेपको दूर कर देता है। मायाकी निवृत्ति हो जानेपर जीवात्माकी बुद्धि अधिष्ठान भूत परब्रह्म भगवान्में स्थिर हो जाती है, अर्थात् वह भगवद्भाव (ब्रह्मभाव) प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। अतः 'अनन्य प्रेमरूपाभक्तिर्ज्ञानस्यैव साधनम्, ज्ञानमेव तु मुक्तिं प्रति साधनमिति गीताचार्यस्य भगवतोऽपि मतम्।' इसलिए अनन्य प्रेमरूपा भक्ति ज्ञानका ही साधन है, और ज्ञान ही मुक्तिका साधन है, ऐसा गीताचार्य भगवान्का भी सिद्धान्त है। यह बात स्वयं भगवान् कहते हैं –

'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'(गी० १०।१०)

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।' (गी० १३।१८)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और अनन्य प्रेम पूर्वक मेरा भजन करने वाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञान रूप योगका प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। मेरा भक्त मेरे स्वरूपका यथावत् ज्ञान प्राप्त कर मेरे अद्वय ब्रह्मभावको प्राप्तकर लेता है।' और अविद्या एवं मायाका समान लक्षण होनेके कारण गीता आदि शास्त्रोंमें दोनोंके एकत्वका ही वर्णन किया है, अतएव संक्षेप शारीरकाचार्य श्री सर्वज्ञात्म मुनिने कहा है—

'अज्ञानमावरणमावरणञ्च माया, सर्वेश्वरेण हरिणा दृढमभ्यधायि।
चैतन्यवस्तुन इति प्रतिपद्यमानाः, तत्त्वं तदेकमिति निश्चयतः प्रतीमः॥

सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने दृढ़ शब्दोंमें चैतन्य वस्तुके अज्ञानको आवरण और आवरणको माया कहा है, ऐसा जानकर हमलोग उन दोनों अज्ञान एवं मायाको एक रूपसे निश्चयत: मानते हैं। अतः 'आवरकत्व' लक्षण अज्ञान एवं मायामें समान होनेसे दोनों एक ही हैं,। और अत्र तत्त्वज्ञानैक-निवर्त्यत्वरूप लक्षण भी दोनोंमें समान होनेसे दोनों एक ही हैं, ऐसा श्रीसर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं—

'ज्ञानं निवर्तकमपि द्वितयस्य तस्य, गीतागत: करुणया भगवानुवाच।
तेनापि तत्त्वमिदमेकमिति प्रतीतिः, आनीयते कथितलक्षणतुल्यभावात् ॥

गीतामें श्रीभगवान्ने करुणासे प्रेरित होकर उन माया और अज्ञान दोनोंका भी विवर्तक एकमात्र ज्ञान ही कहा है, भक्ति आदि नहीं। इसलिए भी ये दोनों माया और अज्ञान एक ही स्वरूप हैं ऐसा निश्चय होता है क्योंकि ज्ञानैक निवर्त्यत्वरूप दोनोंमें समान है। उन वचनोंको श्रीसर्वज्ञात्म मुनि बतलाते हैं—'नाहं प्रकाश इति तावदनेन मायाज्ञानेन चावृतमितीतरदप्यभाणि।

मामेव ये तु परमं पुरुषं प्रपन्नाः, ज्ञानेन तु प्रभृतिना च धिया निवृत्तिः ॥
'नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत:।' (गी० ७।२५)

इस वचनसे श्रीभगवान्ने मायाका आवरकरूपसे वर्णन किया है, और 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव:।' (गी० ५।१५) रसवचनके द्वारा भगवान्ने अज्ञानको भी आवरक कहा है। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' (गी० ७।१४) रसवचनसे मायाको ज्ञान निवर्त्य कहा गया है, तथा 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मन:।' (गी० ५।१६) रसवचनसे अज्ञान भी ज्ञानैकनिवर्त्य कहा गया है। शंका—'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इस वचनके द्वारा तो प्रपत्ति-भगवच्छरणागति रूप भक्तिसे ही मायाका तरण-निवारण कहा गया है, तत्त्वज्ञानसे नहीं ? समाधान—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गी० ७।१८) इत्यादि वाक्यशेषमें ज्ञानकी ही प्रशंसाका वर्णन करनेसे 'प्रपद्यन्ते' पदसे ज्ञान ही लेना चाहिए, भक्ति नहीं। पद गतौ धातु ज्ञानार्थक भी है, ज्ञान, गमन एवं प्राप्ति ये तीन अर्थ गत्यर्थक धातुओंके माने जाते हैं। अत एव वेदान्तके चतुर्थ प्रस्थानरूप श्रीमद्भागवतमें भी माया ज्ञानैकनिवर्त्य है, ऐसा अनेक स्थलोंपर स्पष्टतः कहा है। जैसे—'मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि।' (भा० १।७ २) 'विधूय मायां वयुनोदयेन' (भा० ५।११।१५)

चित् यानी ज्ञान शक्तिसे मायाका विध्वंस करके वह स्वस्वरूपावस्थानरूप कैवल्य मोक्षमें अवस्थित हो गया। वयुन यानी ज्ञानके उदयसे उसने मायाका विधूनन-निवारण किया। इस प्रकार शास्त्रोंने एक ही आवरण विक्षेप शक्तिवाली मायाका, प्रकृति, अविद्या, अज्ञान, **अक्षर**, अव्यक्त, असत्, तम, अव्याकृत आदि अनेक नामोंसे वर्णन किया है। प्रवृत्तिके निमित्तोंके भेदसे एक ही पदार्थका अनेक नामोंके द्वारा वर्णन सर्वत्र किया जाता है। भक्तिरूप ज्ञान एवं ज्ञानरूपा भक्ति ऐसा दोनोंका समुच्चय नहीं, अभेद मानने पर ही आत्मा एवं ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है। यदि भक्ति एवं ज्ञानका भेद माना जाता है तो ज्ञानका विषय आत्मा कोई पृथक् पदार्थ है, एवं भक्तिका विषय ब्रह्म परमात्मा भी कोई पृथक् पदार्थ है, ऐसा सिद्ध होगा। क्योंकि ज्ञानके द्वारा आत्माके अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तथा आत्माका अपरोक्षानुभव होनेपर भी ब्रह्मका अनुभव नहीं होता, क्योंकि वह तो मायासे आवृत है। आत्मासे पृथक् है। यदि ब्रह्म आत्मासे अभिन्न माना जाता है, तो अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर जैसे आत्माका अपरोक्षानुभव हुआ, वैसे तदभिन्न ब्रह्मका भी अपरोक्षानुभव हो जाता है। अतः जो मतवादी अज्ञान एवं मायाको तथा भक्ति एवं ज्ञानको पृथक् मानते हैं—उनके मतमें बलात् आत्मा एवं ब्रह्मका वास्तविक भेद सिद्ध हो जाता है, और वे द्वैतवादी बन जाते हैं – अतः उनका यह कहना—'हम अद्वैतवादी हैं— जीव ब्रह्मका अभेद मानते है, मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

'तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा, सर्वेषामपि देहिनाम्। तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥

कृष्णमेनमवेहि त्वं आत्मानमखिलात्मनाम् ॥ (भा० १०।१४।५४–५५)

इससे यह बात सिद्ध होती है कि सभी प्राणी अपने आत्मासे ही सबसे बढ़कर अनन्य प्रेम करते हैं, इसलिये आत्मा ही परम प्रेमास्पद हैं। और उस आत्माके प्रेम के लिये ही यह समस्त चराचर जगत् उसे प्रिय लगता है। अतः तुम इन श्रीकृष्ण–परमात्माको समस्तजीवात्माओंका आत्मा यानी अभिन्नस्वरूप ही समझो। अतः अपने आत्मामें ही सबको स्वाभाविक अनन्य प्रेम है, आत्मासे परमेश्वरको पृथक् मानने पर उसमें अनन्य ' परा) भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। प्रजाका गृह एवं राजाका नगरवाला दृष्टान्त विषम है, उसमें प्रजा एवं राजा पृथक्–पृथक् हैं। उन दोनोंके गृहद्वार एवं नगरद्वार भी पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु दार्ष्टान्तमें राजा-परमेश्वर-एवं प्रजा-जीवात्माका वास्तविक अनन्यत्व है, और आवरण विक्षेप शक्तिवाला अज्ञान एवं मायाका द्वार भी एक ही है। इसलिये महाभारतमें 'एकःशत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुः. अज्ञानतुल्यो नह्यस्ति' इन जीवोंका एक ही दुःखादिप्रद शत्रु , उनका द्वितीय कोई शत्रु नहीं है और वह अज्ञान ही है। इस वचनसे भी अज्ञान मायाका अभेद ही सिद्ध होता है। इसलिये कुछ विद्वानोंका पूर्वोक्त मतवाद, उपनिषत् गीता, भागवत आदि शास्त्रोंके निर्णयोंसे सर्वथा प्रतिकूल है। गृहद्वारकी चावीके समान आत्मज्ञान सुलभ नहीं है। किन्तु भगवत्प्रसादसे ही उसका लाभ किसी विशेष अधिकारीको ही होता है। 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० ७।३)

'प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई विशेष पुरुष ही मुझ सर्वात्मा भगवान् को परमार्थतः जानता है।' उक्त इस चावीका दृष्टान्त दार्ष्टान्तके अनुकूल नहीं है. अतः श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'हृदि स्थिता यच्छति भक्तिपूते ज्ञानं सत्तत्त्वाधिगमं पुराणम्।' (भा० ३ २५।४)

सभी प्राणियों के हृदयमें साक्षीरूपसे स्थित भगवान् भक्ति द्वारा पवित्र हुए हृदयमें ही दुर्लभ ज्ञानको प्रदान करता है, जिससे उस पूर्ण–अद्वय ब्रह्मके स्वरूपका अपरोक्ष अनुभव हो जाता है। इसलिये पूर्वोक्त दृष्टान्त द्वारा दार्ष्टान्तका वर्णन करना उपहासास्पद ही प्रतीत होता है।

१३ मायावादी कौन हो सकते हैं ?

कुछ कुतर्कव्यसनी द्वैतवादी लोग अद्वैतब्रह्मवादियों की निन्दाके अभिप्रायसे 'ये मायावादी हैं'. ऐसा कह कर आक्षेप करते हुए–अद्वैत ब्रह्मवादके प्रति अपना विद्वेष प्रकट करते हैं। परन्तु यहाँ विद्वानोंको विचार करना चाहिये कि मायावादी कौन हो सकते हैं ? मायाशब्दके प्रयोगमात्रसे एवं उसके शास्त्र–तर्कानुकूल अर्थ–विशेषके माननेमात्रसे यदि कोई मायावादी कहा जा सकता है तो तुल्यन्यायसे हमारे श्रुति, स्मृति, पुराणादि समस्त शास्त्र भी मायावादी माने जायेंगे। क्योंकि उन शास्त्रोंने माया शब्दका एवं उसके अर्थविशेषका वर्णन प्रचुरमात्रामें किया है। जैसे —

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' (ऋ० ६।४७।१८) 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् , मायिनन्तु महेश्वरम्।' (श्वे० उ० ४।१०) 'विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे० १।१०) 'मम मायादुरत्यया' (गी० ।१७ 'संभवाम्यात्ममायया' (गी० ४।६) 'मायामेतां तरन्ति ते।' (गी० ७।१४) 'योगमायासमावृतः' (गी० ८।२५) एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।' (भा० ११।३।१६) 'मायामयुक्ता वस्तु चक्षते।' (भा० १०।७३।११) चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ' (भा० ४।७।२६)

अर्थात्—एक ही इन्द्र परमात्मा-मायाशक्तियोंके द्वारा ही अनेक रूपोंसे प्रतीत होता है। मायाको प्रकृति यानी विश्वका परिणामी उपादान कारण और मायाके अधिष्ठाता नियन्ताको महेश्वर समझो। विश्वमायाकी निवृत्ति होती है, मेरी माया दुस्तर है, अपनी माया द्वारा अजन्मा मैं जन्म लेता हूँ, इस मायाको तर जाते हैं, मैं अपनी योगमायासे समावृत हूँ, भगवान्की यह माया विश्वकी सृष्टि स्थिति एवं संहार करती है, संसारासक्त-अज्ञानी ही मायाको सत्य वस्तु समझते हैं, मायाका प्रतिषेध करके आप भगवान्ही चिन्मात्र अद्वय अभयरूपसे परिशिष्ट रह जाते हैं। इत्यादि शास्त्र

वचनोंमें स्पष्टतः माया शब्दका प्रयोग एवं उसके अर्थ विशेषका स्वीकार देखनेमें आता है। अपरिच्छिन्न-निष्क्रिय परमात्मा अचिन्त्य शक्तिवाली मायाके विना जगत्‌की रचना आदि नहीं कर सकता, इसलिए मायाद्वारा ही परमात्मामें जगत्कारणतावाद ही मायावाद है, यह पूर्व प्रदर्शित, श्रुति स्मृत्यादि वचनोंसे समुपलब्ध होता है। यहाँ यह समझना चाहिए कि जो लोग ब्रह्मको परमार्थ सत्य मानते हैं वे ही ब्रह्मवादी कहे जा सकते हैं। एवं जो बौद्धादि ब्रह्मको ही मानते शून्य मानते हैं, वे ब्रह्मवादी नहीं कहे जा सकते। वैसे जो मायाको एवं तत्कार्य द्वैतप्रपञ्चको परमार्थसत्य मानते हैं, वे ही माया एवं तत्कार्यके पक्षपाती होनेके कारण मायावादी कहे जा सकते हैं, अर्थात् मायाको मिथ्या-बाधित-कल्पना मात्र माननेवाले अद्वैत ब्रह्मवादी मायावादी नहीं कहे जा सकते। समस्त शास्त्रोंमें जगत्‌की परिणामी उपादान कारणता मायामें सुननेमें आती है, उस कारणताको कोई भी हठवादी इन शास्त्रोंसे निकाल नहीं सकता। जिन शास्त्रोंके वचनोंमें मायाका वैसा निरूपण किया गया है, उन वचनोंको प्रमाण न माननेपर नास्तिकत्वकी प्राप्ति होती है।

कुछ विद्वेषी जन इस कपोलकल्पित वचनके द्वारा कहते हैं—'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।' अर्थात् मायावाद सच्छास्त्र नहीं है, यानी सच्चे शास्त्रोंमें प्रतिपादित नहीं है, अतः यह छिपा हुआ एक प्रकारका बौद्धमत ही है। परन्तु यहाँ यह समझना चाहिए – मायाको परमार्थ सत्य मानना ही मायावाद है, मायाको मिथ्या मानना मायावाद नहीं है। अतः जो द्वैती लोग माया एवं तत्कार्य द्वैतप्रपञ्च-जो असंख्य-अनर्थोंसे पूर्ण है को परमार्थ सत्य मानकर-सर्वथा अनिवर्त्य मानते हैं और जो अद्वैत-ब्रह्मसे सदा विमुख रहते हैं-उससे विद्वेष करते रहते हैं वे ही वस्तुतः मायावादी हैं। जो अनन्त-अद्वय-पूर्ण ब्रह्मानन्दके दिव्य रसास्वादमें निमग्न रहते हैं वे निर्द्वन्द्व अलमस्त अद्‌वैतवादी—जो माया एवं तत्कार्य द्वैतप्रपञ्चके मिथ्यात्वके आपादन द्‌वारा माया तत्कार्यके परमार्थ सत्यत्वका निवारण करते हैं--वे अद्‌वैतब्रह्मवादी कदापि मायावादी नहीं हो सकते।

उपसंहार

ब्रह्मसूत्र एवं शाङ्करभाष्यके अध्ययन, श्रवण एवं मननसे जिज्ञासु-सज्जन, अद्वैत ब्रह्मवादको यथावत् समझकर अपने देवदुर्लभ मानव जीवनको धन्य एवं सफल बना सकते हैं। जो सज्जन मूल संस्कृतके भाष्यादिको समझ नहीं सकते हैं, उनके लिए हमारे **'वेदान्ताचार्य स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीजी'** ने बहुत ही परिश्रमकर सूत्र एवं भाष्यका राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अत्युत्तम अनुवाद किया है, और साथमें शाङ्करभाष्यकी रत्नप्रभा, भामती, विवरणादि अनेक संस्कृत व्याख्याओंके विशद भावोंको 'सत्यानन्दी दीपिका' में सरल एवं सुगम हिन्दी भाषा द्वारा प्रकट किया है, यह हिन्दी-प्रेमी तत्त्व-जिज्ञासुओंपर महान् उपकार हुआ है। इस 'सत्यानन्दी दीपिका'के पठन एवं मननद्वारा वे यथावत् अद्वैत सिद्धान्तके रहस्योंको हृदयंगम करके अपने बहुमूल्य जीवनमें परा-शान्ति प्राप्तकर पारमार्थिक ब्रह्मानन्दका सतत अनुभवकर अपनेको धन्य बना सकेंगे। इसलिए **'विद्वद्वर स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीजी'** को विशाल-अद्वैत संप्रदायकी तरफसे खूब खूब धन्यवाद दिया जाता है। और साथ ही इस पुस्तक-प्रकाशन रूप-शुभ कार्यमें धनद्वारा-सहयोग देनेवाले अनेक-उदार धनवान् सज्जनोंको भी खूब-खूब शुभाशीर्वाद दिया जाता है। इस पुस्तक द्वारा धार्मिक-जिज्ञासु जनतामें महनीय-प्रशस्त अद्वैत ज्ञानका प्रचार होगा। और यह निश्चित है कि विश्वमें इसी अद्वैत ज्ञानके प्रचार द्वारा ही विश्वके समझदार नेताओंके द्वारा अभिलषित सच्ची-शान्ति एवं अहिंसाका साम्राज्य स्थापित होगा, इसमें लेश भी संशय नहीं।

'हरिः ॐतत्सत्, शिवमस्तु, शिवोऽहं शिवः सर्वम्।

। श्रीः ।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्याधिकरणानुक्रमः ।

अधिकरणानि. पृष्ठं.

प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

१ जिज्ञासाधिकरणम् १९
२ जन्माद्यधिकरणम् ३४
३ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ४३
४ समन्वयाधिकरणम् ४९
५ ईक्षत्यधिकरणम् ७९
६ आनन्दमयाधिकरणम् ९९
७ अन्तरधिकरणम् ११५
८ आकाशाधिकरणम् ११९
९ प्राणाधिकरणम् १२३
१० ज्योतिश्चरणाधिकरणम् १२७
११ प्रतर्दनाधिकरणम् १३७

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

१ सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम् १४८
२ अत्त्रधिकरणम् १५९
३ गुहाप्रविष्टाधिकरणम् १६१
४ अन्तरधिकरणम १६७
५ अन्तर्याम्यधिकरणम् १७४
६ अदृश्यत्वाधिकरणम् १७८
७ वैश्वानराधिकरणम् १८६

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

१ द्युभ्वाद्यधिकरणम् १९८
२ भूमाधिकरणम् २०६
३ अक्षराधिकरणम् २१३
४ ईक्षतिकर्माधिकरणम् २१६
५ दहराधिकरणम् २१९
६ अनुकृत्यधिकरणम् २३६
७ प्रमिताधिकरणम् २३९
८ देवताधिकरणम् २४२
९ अपशूद्राधिकरणम् २६७
१० कम्पनाधिकरणम् २७२
११ ज्योतिरधिकरणम् २७५
१२ अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधि० २७७
१३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् २७८

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

१ आनुमानिकाधिकरणम् २८१
२ चमसाधिकरणम् २९६
३ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ३०१
४ कारणत्वाधिकरणम् ३०७
५ बालाक्यधिकरणम् ३१३
६ वाक्यान्वयाधिकरणम् ३१८
७ प्रकृत्यधिकरणम् ३२७
८ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ३३३

द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

१ स्मृत्यधिकरणम् ३३५
२ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ३४१
३ विलक्षणत्वाधिकरणम् ३४३
४ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ३५८
५ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ३६०
६ आरम्भणाधिकरणम् ३६२
७ इतरव्यपदेशाधिकरणम् ३८१
८ उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ३८४
९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ३८७
१० सर्वोपेताधिकरणम् ३९२
११ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ३९३
१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् ३९५
१३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् ३९८

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

१ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ३९९
२ महद्दीर्घाधिकरणम् ४१४
३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम् ४ ८
४ समुदायाधिकरणम् ४३१
५ अभावाधिकरणम् ४४५
६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम् ४५५

अधिकरणानि. पृष्ठं.
७ पत्यधिकरणम् ४६१
८ उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम् ४६६

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

१ वियदधिकरणम् ४७०
२ मातरिश्वाधिकरणम् ४८४
३ असंभवाधिकरणम् ४८५
४ तेजोऽधिकरणम् ४८६
५ अबधिकरणम् ४८८
६ पृथिव्यधिकाराधिकरणम् ४८९
७ तदभिध्यानाधिकरणम् ४९०
८ विपर्ययाधिकरणम् ४९१
९ अन्तराविज्ञानाधिकरणम् ४९३
१० चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् ४९४
११ आत्माधिकरणम् ४९५
१२ ज्ञाधिकरणम् ४९९
१३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् ५०१
१४ कर्त्रधिकरणम् ५१४
१५ तद्वाधिकरणम् ५१७
१६ परायत्ताधिकरणम् ५२२
१७ अंशाधिकरणम् ५२४

द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

१ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ५३६
२ सप्तगत्यधिकरणम् ५४२
३ प्राणाणुत्वाधिकरणम् ५४६
४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम् ५४७
५ वायुक्रियाधिकरणम् ५४८
६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ५५४
७ ज्योतिराद्यधिकरणम् ५५४
८ इन्द्रियाधिकरणम् ५५७
९ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ५६०

तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

१ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ५६५
२ कृतात्ययाधिकरणम् ५७५
३ अनिष्टादिकार्यधिकरणम् ५८३
४ साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ५८९
५ नातिचिराधिकरणम् ५९१
अधिकरणानि. पृष्ठं.
६ अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ५९२

तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

१ संध्याधिकरणम् ५९६
२ तदभावाधिकरणम् ६०४
३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ६१०
४ मुग्धाधिकरणम् ६१२
५ उभयलिङ्गाधिकरणम् ६१५
६ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् ६२८
७ पराधिकरणम् ६३६
८ फलाधिकरणम् ६४३

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

१ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ६४९
२ उपसंहाराधिकरणम् ६५४
३ अन्यथात्वाधिकरणम् ६५५
४ व्याप्त्यधिकरणम् ६५९
५ सर्वाभेदाधिकरणम् ६६२
६ आनन्दाद्यधिकरणम् ६६४
७ आध्यानाधिकरणम् ६६६
८ आत्मगृहीत्यधिकरणम् ६६८
९ कार्याख्यानाधिकरणम् ६७४
१० समानाधिकरणम् ६७७
११ संबन्धाधिकरणम् ६७९
१२ संभृत्यधिकरणम ६८२
१३ पुरुषविद्याधिकरणम् ६८३
१४ वेधाद्यधिकरणम् ६८५
१५ हान्यधिकरणम् ६८८
१६ सांपरायाधिकरणम् ६९३
१७ गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् ६९४
१८ अनियमाधिकरणम् ६९६
१९ यावदधिकाराधिकरणम ६९८
२० अक्षराध्यधिकरणम् ७०१
२१ इयदधिकरणम् ७०३
२२ अन्तरत्वाधिकरणम् ७०४
२३ व्यतिहाराधिकरणम् ७०६
२४ सत्याद्यधिकरणम् ७०८
२५ कामाद्यधिकरणम् ७१०

अधिकरणानि.	पृष्ठं.
२६ आदराधिकरणम्	७११
२७ तन्निर्धारणाधिकरणम्	७१४
२८ प्रदानाधिकरणम्	७१७
२९ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्	७२०
३० ऐकात्म्याधिकरणम्	७२८
३१ अङ्गावबद्धाधिकरणम्	७३२
३२ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्	७३५
३३ शब्दादिभेदाधिकरणम्	७३७
३४ विकल्पाधिकरणम्	७४०
३५ काम्याधिकरणम्	७४१
३६ यथाश्रयभावाधिकरणम्	७४२

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

१ पुरुषार्थाधिकरणम्	७४५
२ परामर्शाधिकरणम्	७५६
३ स्तुतिमात्राधिकरणम्	७६३
४ पारिप्लवाधिकरणम्	७६४
५ अग्नीन्धनाद्यधिकरणम्	७६६
६ सर्वापेक्षाधिकरणम्	७६७
७ सर्वान्नानुमित्यधिकरणम्	७७०
८ आश्रमकर्माधिकरणम	७७२
९ विधुराधिकरणम्	७७५
१० तद्भूताधिकरणम्	७७७
११ आधिकारिकाधिकरणम्	७७८
१२ बहिरधिकरणम्	७८०
१३ स्वाम्यधिकरणम्	७८१
१४ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम्	७८३
१५ अनाविष्काराधिकरणम्	७ ६
१६ ऐहिकाधिकरणम्	७८७
१७ मुक्तिफलाधिकरणम्	७८९

चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः ॥ १ ॥

१ आवृत्त्यधिकरणम्	७९१
२ आत्मत्वोपासनाधिकरणम्	७९७
३ प्रतीकाधिकरणम्	८००
४ ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम्	८०१
५ आदित्यादिमत्यधिकरणम्	८०४
६ आसीनाधिकरणम्	८०८
७ एकाग्रताधिकरणम्	८१०
८ आप्रायणाधिकरणम्	८११
९ तदधिगमाधिकरणम्	८१२
१० इतरासंश्लेषाधिकरणम्	८१५
११ अनारब्धाधिकरणम्	८१६
१२ अग्निहोत्राद्यधिकरणम्	८१८
१३ विद्याज्ञानसाधनत्वाधिकरणम्	८२०
१४ इतरक्षपणाधिकरणम्	८२२

चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

१ वागधिकरणम्	८२३
२ मनोधिकरणम्	८२५
३ अध्यक्षाधिकरणम्	८२६
४ आसृत्युपक्रमाधिकरणम्	८३०
५ संसारव्यपदेशाधिकरणम्	८३१
६ प्रतिषेधाधिकरणम्	८३४
७ वागादिलयाधिकरणम्	८३७
८ अविभागाधिकरणम्	८३८
९ तदोकोधिकरणम्	८३९
१० रश्म्यधिकरणम्	८४१
११ दक्षिणायनाधिकरणम्	८४३

चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

१ अर्चिराद्यधिकरणम्	८४५
२ वाय्वधिकरणम्	८४७
३ तडिदधिकरणम्	८४९
४ आतिवाहिकाधिकरणम्	८५०
५ कार्याधिकरणम्	८५३
६ अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्	८६५

चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

१ संपद्याविर्भावाधिकरणम्	८६७
२ अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्	८७०
३ ब्राह्माधिकरणम्	८७१
४ संकल्पाधिकरणम्	८७३
५ अभावाधिकरणम्	८७४
६ प्रदीपाधिकरणम्	८७६
७ जगद्व्यापाराधिकरणम्	८७९

ग्रन्थोपसंहारः ।

समाप्तोऽयं ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्थाधिकरणानुक्रमः ।

। ॐ तत्सत् ।

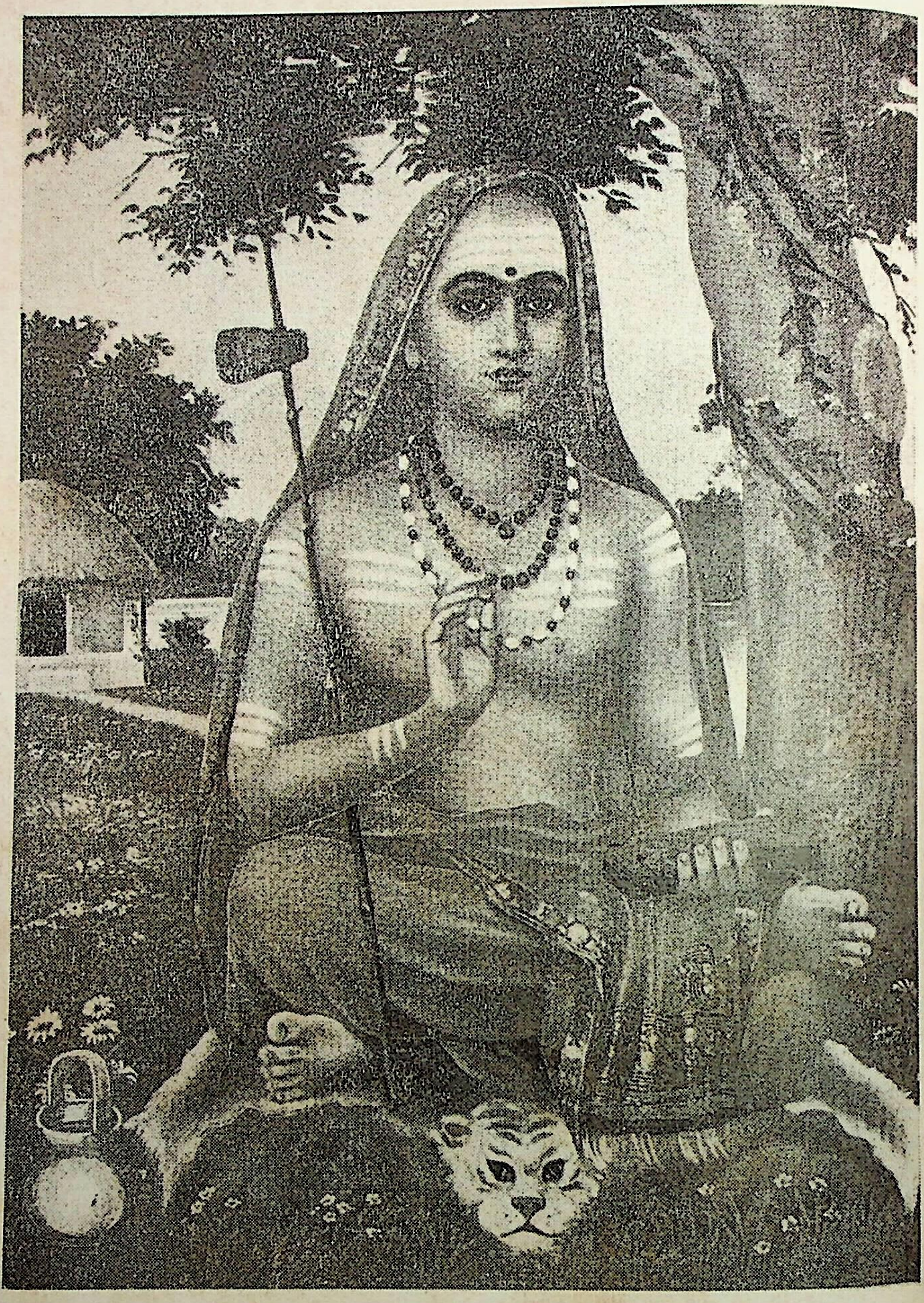

जगद्गुरु श्रीमदाद्य शङ्कराचार्य भगवत्पादाः

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्

भाषानुवाद-सत्यानन्दी-दीपिकासहितम्

यदाकारावृत्तिर्भवति मनसो दृश्यधुतये, जगत्सर्वं रज्जौ भुजग इव यत्रास्ति विदितम् ।
अवेद्यं यच्चास्ते सततमपरोक्षं शुभधियाम् , शिवं प्रत्यग्रूपं तदहममृतं नौमि परमम् ॥ १ ॥
शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् । सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥ २ ॥
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने । व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥ ३ ॥
ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम् , द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम् , भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥४॥
सद्ब्रह्मसूत्रवरशाङ्करभाष्यसिन्धोरन्तर्विगाहनसमुत्कजनाभितुष्ट्यै ।
तात्पर्यसङ्कलनभूषितशुद्धराष्ट्रभाषानुवादमहमातनवै नवीनम् ॥ ५ ॥
रथ्योदकं सुरनदीं समवाप्य सद्यः शुद्धिं यथर्च्छति वचः कलुषं मदीयम् ।
शारीरकं समधिगम्य तथैव भाष्यं, सम्पत्स्यते नियतमेव चिराय पूतम् ॥ ६ ॥

"अथ ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यप्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः"

इस ग्रन्थमें समन्वय, विरोध परिहार, साधन और फल इस भेदसे चार अध्याय वाली भगवान् बादरायणद्वारा प्रणीत यह शारीरक मीमांसा जीवब्रह्मैकत्व साक्षात्कार हेतुभूत श्रवणात्मक विचार प्रतिपादक न्यायोंको दिखलाती है। उसमें सम्पूर्ण वेदान्त वाक्योंका साक्षात्-परम्परया वा प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्य है। यह समन्वय इस प्रथम अध्यायसे प्रकाशित किया जाता है। इसमें

'सिद्धार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥'

महापुरुषोंकी इस उक्तिके अनुसार शास्त्रके आरम्भमें यदि विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्धका प्रतिपादन न किया जाय तो उसमें विज्ञपुरुषोंकी प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए शास्त्रके आरम्भमें उसका निरूपण करना आवश्यक है। इस सम्पूर्ण शास्त्रका जीवब्रह्मैक्य ज्ञान विषय है, उस ज्ञानके द्वारा अविद्या सहित संसाररूप बन्धकी आत्यन्तिक निवृत्ति प्रयोजन है, विवेक वैराग्यादि साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी है, प्राप्य प्रापक भाव, प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव आदि सम्बन्ध है। विचारात्मक शास्त्रके आरम्भमें प्रयोजक इन चार अनुबन्धोंका युक्तिसे निर्णय करनेके लिए भगवान् सूत्रकारने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रकी रचना की। यह तभी सार्थक हो सकती है जब बन्ध मिथ्या हो। यदि बन्ध पारमार्थिक हो तो उसकी उक्त ज्ञानसे कदापि आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मवेत्ता शोक पदसे ज्ञापित बन्धसे मुक्त हो जाता है), 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (मोक्ष केवल ज्ञानसे ही होता है) इत्यादि श्रुतियाँ भी तभी सार्थक हो सकती हैं जब बन्ध मिथ्या हो, मिथ्या भी तभी सिद्ध हो सकता है जब वह अध्यस्त हो, अतः उसकी सिद्धि के लिए भगवान् भाष्यकार उपोद्घात भाष्यमें 'युष्मद्' आदि द्वारा सर्वप्रथम अध्यासका निरूपण करते हैं—

*** युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे**

भाष्यानुवाद

शंका—अन्धकार और प्रकाशके समान विरुद्ध स्वभाव वाले युष्मत् (तुम) और अस्मत् (हम १) प्रतीतिके विषयभूत विषय और विषयीकी इतरेतरभाव (तादात्म्यकी) अनुपपत्ति सिद्ध होनेपर उनके धर्मोंकी भी सुतरां इतरेतरभावकी अनुपपत्ति है, इसलिए अस्मत् प्रतीतिके

सत्यानन्दी-दीपिका

* जैसे अन्धकारके स्वरूपमें 'यह प्रकाश है' ऐसा भ्रम और प्रकाशके स्वरूपमें 'यह अन्धकार है' ऐसा भ्रम किसीको नहीं होता, क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी स्वभावके हैं। यहां अन्धकार और प्रकाशके स्वरूपका उदाहरण इसलिए दिया गया है कि प्रकाशमें अन्धकारके विद्यमान होनेपर भी 'यह प्रकाश है' ऐसी बुद्धि होती है। प्रकाशके अधिक प्रदीप्त होनेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक प्रकाश प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रकाशके तारतम्यसे अन्धकारका भी तारतम्य होता है, इसलिए दोनोंका इतना विरोध नहीं है इससे यहां स्वरूपका ग्रहण किया गया है अर्थात् अन्धकारके स्वरूपमें प्रकाश बुद्धि और प्रकाशके स्वरूपमें अन्धकार बुद्धि कदापि किसीको नहीं होती। वैसे ही अत्यन्त विरोधी स्वभावके आत्मा और अनात्माका भी अन्योन्य अध्यास (भ्रम) नहीं होता। यहां अध्यास भ्रमका पर्यायवाची शब्द है। इसका आगे भाष्यमें विस्तृत वर्णन होगा।

यद्यपि नाम-रूपात्मक समस्त विषय 'इदम्' (यह) शब्द वाच्य है तुम शब्द वाच्य नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस श्रुति-वाक्यमें 'त्वम्' शब्द आत्मवाची है, इसलिए भगवान् भाष्यकारको आत्मा और अनात्माका ज्ञान करानेके लिए भाष्यस्थ 'युष्मद्' शब्दके स्थानमें 'अस्मद्' शब्दके साथ 'इदम्' शब्दका प्रयोग करना चाहिए था अर्थात् भाष्यस्थ 'युष्ममदस्मत्प्रत्यय' के स्थान में 'इदमस्मत्' ऐसा पाठ होना चाहिए, तो भी विषय और विषयीमें अत्यन्त विरोध दिखलानेके लिए 'इदम्' शब्दका प्रयोग न कर 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि 'इदम्' शब्दका 'अस्मद्' शब्दके साथ अत्यन्त विरोध नहीं है। जैसे कि 'अयमहमस्मि' (यह मैं हूँ) ऐसा लौकिक प्रयोग देखने में आता है, परन्तु 'त्वमहमस्मि' (तू मैं हूँ) ऐसा प्रयोग देखने में नहीं आता। इसलिए इन लौकिक प्रयोगोंसे सिद्ध होता है कि भगवान् भाष्यकारने विषय और विषयीमें अत्यन्त विरोध सूचित करनेके लिए भाष्यमें 'युष्मद्स्मद्' शब्दका प्रयोग किया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आत्मासे भिन्न सारा जगत् अर्थात् शरीर आदि जड़ समुदाय अनात्मा है, इसलिए वह 'तुम' शब्दसे गृहीत होता है। आत्मा विषयी है यह बात 'स वेत्तिवेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वेता० ३।१६) इत्यादि श्रुतिसे भी सिद्ध होती है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है) इत्यादि श्रुतिसे सबका प्रकाशक होनेसे भी आत्मा विषयी सिद्ध होता है। अनात्मा जड़ और प्रकाश्य होनेसे विषय है और आत्मा

टिप्पणी—१ लोक प्रसिद्ध 'अहम्' शब्द 'वस्तुतः शुद्ध चिन्मय आत्माको विषय नहीं करता, किन्तु चिद्-जड़ मिश्रितको विषय करता है, यदि वह शुद्ध चिन्मय आत्माको विषय करता तो मोक्ष शास्त्रकी रचना व्यर्थ सिद्ध होगी। परन्तु मोक्ष शास्त्रकी रचनासे यह सिद्ध होता है कि लोक प्रसिद्ध 'अहम्' प्रतीति शुद्ध चिन्मय आत्माको विषय नहीं करती। इस बातको स्वयं भगवान् भाष्यकार आगे स्पष्ट करेंगे।

विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्; * तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकता मन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, 'अहमिदं' 'ममेदम्' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

विषयभूत चैतन्य स्वरूप विषयीमें युष्मत् प्रतीतिके विषयभूत विषय और उसके धर्मोंका अध्यास और इसके विपरीत विषयमें विषयी और उसके धर्मोंका अध्यास नहीं हो सकता। **समाधान**—तो भी अत्यन्त भिन्न धर्म और धर्मीका परस्पर भेद ज्ञान न होनेके कारण एकका दूसरेमें परस्पर स्वरूप तथा एक दूसरेके धर्मोंका अध्यासकर सत्य और अनृतका मिथुनीकरणकर 'यह मैं' और 'यह मेरा' इस प्रकार मिथ्याज्ञान निमित्त स्वाभाविक यह लोक व्यवहार होता है। आक्षेप पूर्वक पूर्व पक्षी कहता है—यह

सत्यानन्दी-दीपिका

चैतन्यस्वरूप होनेसे विषयी है। इस प्रकार दोनों अत्यन्त विरोधी स्वभाव के हैं। इसलिए दोनोंका परस्पर तादात्म्याध्यास नहीं हो सकता। धर्मियोंका तादात्म्याध्यास होनेपर ही उनके आश्रित धर्मोंका भी तादात्म्याध्यास होता है, अन्यथा नहीं। जब दोनों धर्मियोंका तादात्म्याध्यास नहीं हो सकता तो सुतरां उनके आश्रित धर्मोंका भी तादात्म्याध्यास नहीं होगा। अनुमानसे भी यह सिद्ध होता है—

'आत्मानात्मानौ अध्यासरहितौ विरुद्धस्वभावत्वात् तमः प्रकाशवत्' विरोधी स्वभाव होनेसे जैसे अन्धकार और प्रकाश अध्यास रहित हैं, वैसे ही विरोधी स्वभाव होने के कारण आत्मा और अनात्मा भी अध्यास रहित हैं।

* आत्मा और अनात्मा (देह, इन्द्रिय आदि जड़ समुदाय) ये दोनों धर्मी तथा इनके धर्म परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं। जैसे कि चेतनत्व, नित्यत्व आदि आत्माके धर्म हैं और जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि अनात्माके धर्म हैं। परन्तु यहाँ यह प्रश्न होता है कि एक चिन्मय, निर्धर्मक आत्मामें चेतनत्व आदि धर्म कैसे हो सकते हैं, तो इसका उत्तर यह है—**"आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्तिधर्माः"** (**पञ्चपादिका पृ० ६७**)। आनन्द, विषयानुभव, नित्यत्व आदि चेतनात्माके स्वरूपभूत होते हुए भी अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिसे धर्म जैसे भासते हैं। इस प्रकार दोनों धर्मी और उनके धर्म यद्यपि परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। तथापि दोनोंका भेद गृहीत न होनेके कारण दोनों धर्मियोंका एक दूसरेमें अध्यास होता है अर्थात् आत्मरूपी धर्मीमें 'यह मैं हूँ' ऐसी अनात्मबुद्धि और देह, इन्द्रिय आदि अनात्मामें 'यह आत्मा है' ऐसी आत्मबुद्धि होती है। इस प्रकार दोनों धर्मियोंका परस्पर अध्यास होने पर उनके धर्मोंका भी परस्पर धर्मियोंमें अध्यास होता है। जैसे कि आत्माके चेतनत्व आदि धर्मोंका 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार अनात्मामें और अनात्माके जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि धर्मोंका 'मैं जड़, अज्ञानी, परिच्छिन्न हूं' आत्मामें अध्यास होता है। यद्यपि यह सामान्य नियम है कि धर्मी अध्यास पूर्वक धर्माध्यास होता है, तथापि यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता, कारण कि स्फटिक मणिमें जपाकुसुमकी लालिमाकी प्रतीति धर्मी अध्यासके बिना भी होती है। परन्तु प्रकृतमें तो धर्मी अध्यास पूर्वक धर्माध्यास होता है, इसलिए धर्मी अध्यास पूर्वक धर्माध्यासका वर्णन किया गया है। इस रीतिसे अध्यासके सिद्ध होने पर सत्य और अनृतका मिथुनीकरण होता है, क्योंकि मिथुनीकरणके बिना उक्त लोक प्रसिद्ध व्यवहार उपपन्न नहीं होता।

सत्य, अनृत और मिथुनीकरणका स्वरूप यह है—**'त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वम्'** जिसका तीनों कालोंमें बाध न हो वह सत्य है। वह ब्रह्म है, क्योंकि—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और

आह—कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते,—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। तं केचित्—अन्यत्रान्यधर्माध्यास—इति वदन्ति। केचित्तु—यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम–इति। अन्ये तु–यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते–इति। सर्वथापि

अध्यास क्या है ? इसपर कहते हैं—स्मृतिरूप पूर्वदृष्टका अन्यमें (अधिष्ठानमें) अवभास (प्रतीति) वही अध्यास है। कोई लोग एकमें दूसरेके धर्मके आरोपको अध्यास कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जिसमें जिसका अध्यास है उसका भेदाग्रह निमित्तक भ्रम अध्यास है। अन्य लोग तो जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विरुद्ध धर्मत्वकी कल्पनाको अध्यास कहते हैं। परन्तु सर्वथापि सभी

सत्यानन्दी दीपिका

अनन्त है) इत्यादि श्रुति ब्रह्मकी ही सत्य कहती हैं। 'अतोऽन्यदार्तम्' (उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मसे जो भिन्न है वह सब आर्त–अनृत अर्थात् मिथ्या है। 'अनृतं नाम मिथ्या' 'ज्ञानबाध्यत्वं मिथ्यात्वम्' (जो ज्ञानसे बाधित है वह सब मिथ्या है) इसी प्रकार अध्यास पूर्वक सत्य और अनृतका मिथुनीकरण होता है। व्याकरणानुसार ऐसे स्थलमें 'अभूततद्भावेच्विः' जो वस्तु जैसी नहीं है बलात् उसे वैसा मान लेनेके अर्थमें 'च्वि' प्रत्यय होता है। यथा अनात्मत्व रहित आत्मामें अनात्मभाव अथवा आत्मत्व रहित अनात्मामें आत्मभाव, इसे मिथुनीकरण या युगलीकरण कहा जाता है, इस अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय होता है। तदनन्तर 'यह शरीर आदि मैं हूं' 'यह पुत्र आदि मेरे हैं' अनादि कालसे इस नैसर्गिक लोक प्रसिद्ध व्यवहारका कारण मिथ्या-ज्ञान-अध्यास ही है। यह मिथ्याज्ञान भावात्मक है।

शंका—लोक प्रसिद्ध यह अनात्म देह आदि सत् हैं अथवा असत् ? यदि सत् हैं तो द्वैतापत्ति होगी, जब कि वह 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (एक ही अद्वितीय ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिसे विरुद्ध और बाधित है, इससे देह आदि सत् नहीं हैं। यदि असत् हों तो गगनकुसुम आदिके समान उनकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, किन्तु इनकी प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है। ऐसी परिस्थितिमें सत्य और अनृतका मिथुनीकरण कैसे होगा, मिथुनीकरणका अभाव होने पर किसका किसमें भेदाग्रह, उसके न होनेपर अध्यास कैसे ? इस प्रकार अध्यासकी असिद्धि होनेके कारण ग्रन्थका आरम्भ सिद्ध नहीं होगा इत्यादि आशय मनमें रखकर पूर्व पक्षी 'आह' इत्यादिसे अध्यासपर आक्षेप करता है और उसका लक्षण भी पूछता है।

* "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" इस अध्यास लक्षणमें 'परत्र अवभासः' इतना ही अध्यासका लक्षण है, 'स्मृतिरूप और पूर्वदृष्टावभास' ये दोनों पद अध्यासके साधक हैं। इनका पदकृत्य इस प्रकार है—'परत्र' पदमें सप्तमी विभक्ति अधिकरणार्थक है। अतः 'परत्र' परमें-अन्यमें अर्थात् अधिष्ठानमें, अवभास–प्रतीति अर्थात् अन्यमें [अन्यकी] प्रतीति। शंका-अन्यमें किसकी प्रतीति ? समाधान-स्मृतिरूप पूर्वदृष्टकी। स्मृतिरूपका अर्थ स्मर्यमाणके सदृश है, पूर्वदृष्टका अर्थ पूर्वानुभूत है। स्मर्यमाणके सदृश पूर्वानुभूतकी अन्यमें-अधिष्ठानमें प्रतीति। इस प्रकार पदकृत्यसे यह समुचितार्थ निष्पन्न हुआ। अब इस अध्यास लक्षणका उदाहरणसे स्पष्टीकरण किया जाता है—जैसे कि 'शुक्ताविदं रजतम्' (शुक्तिमें यह रजत है) परत्र-अन्यमें अर्थात् रजत भिन्न शुक्ति (सीप) में जो रजत (चाँदी) है, वह पूर्वानुभूत और स्मर्यमाणके सदृश–स्मृतिके विषय हट्टस्थित रजतके सदृश भी है, इस प्रकार इस दृष्टान्तमें अध्यास लक्षणका समन्वय है, क्योंकि रजतसे भिन्न शुक्तिरूप अधिष्ठानमें रजतकी प्रतीति अथवा कथन अध्यास है अर्थात् मिथ्यारूप है। 'भ्रमोपादानाज्ञानविषयत्वमधिष्ठानत्वम्' (भ्रमके उपादान कारण भूत अज्ञानका विषय अधि-

सत्यानन्दीदीपिका

ष्ठान है) उस अधिष्ठानमें अज्ञानसे कल्पितको अध्यस्त कहते हैं। जैसे शुक्तिरूप अधिष्ठानमें अज्ञानसे कल्पित होनेके कारण रजत अध्यस्त है अथवा रज्जुरूप अधिष्ठानमें अज्ञान कल्पित सर्प अध्यस्त है। इस अध्यास लक्षणमें पूर्वदृष्ट पदसे सूचित किया गया है कि भ्रमकालसे पूर्व अध्यस्त वस्तु अनुभूत होनी चाहिए, अन्यथा अध्यास नहीं होगा। वस्तु व्यावहारिक हो अथवा काल्पनिक इस विषयमें कोई आग्रह नहीं, क्योंकि जिस व्यक्तिने व्यावहारिक सर्प कभी नहीं देखा है किन्तु खड़ आदि निर्मित सर्प देखा है उसे भी संस्कार बलसे रज्जु आदिमें सर्प भ्रम हो जाता है, इसलिए शुक्ति आदिमें रजत आदिका 'नेदं रजतम्' 'यह रजत नहीं है' 'नायं सर्पः' 'यह सर्प नहीं है' इस बाध ज्ञानसे बाध होता है, अतः शुक्ति आदिमें अज्ञानसे कल्पित रजत आदि और उनका ज्ञान बाधित होनेसे कल्पित है।

अध्यास दो प्रकारका है—'स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास'। जैसे कि 'शुक्ताविदं रजतम्' (शुक्तिमें यह रजत है) यहां रजत शुक्तिमें स्वरूपसे ही अध्यस्त है, क्योंकि भ्रम कालसे पहले वहां रजत नहीं था, केवल भ्रमकालमें नूतन अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है और उसका 'यह रजत नहीं है' इस ज्ञानसे बाध होता है, अतः वह स्वरूपसे ही अध्यस्त है। इस प्रकार शुक्तिका अध्यस्त रजतके साथ संसर्गाध्यास है अर्थात् कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है, इसलिए 'नेदं रजतम्' इस ज्ञानसे शुक्तिका केवल संसर्गमात्र ही बाधित होता है।

अब अध्यासकी उत्पत्तिमें कारण सामग्रीका प्रतिपादन किया जाता है—प्रत्येक वस्तुके दो अंश होते हैं एक सामान्य और दूसरा विशेष। अधिष्ठानके सामान्य अंशका ज्ञान और विशेष अंशका अज्ञान, सादृश्य, भेदाग्रह आदि भी भ्रममें अपेक्षित हैं। जैसे कि 'इयं शुक्तिः' इसमें 'इदम्-यह' शुक्तिका सामान्य अंश है, क्योंकि वह 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार सब वस्तुओंमें उपलब्ध होता है, और शुक्तित्व विशेष अंश है, क्योंकि वह केवल शुक्तिमें ही सीमित है। सामने रजतके सदृश चमकीला पदार्थ देखकर उसमें व्यक्तिको 'यह रजत है' ऐसा भ्रम होता है। कारणकि दोष आदिके बलसे समीपस्थ चमकीले पदार्थके विशेष शुक्तित्व अंशका ज्ञान उस व्यक्तिको नहीं होता। परन्तु जब वह भ्रान्त पुरुष प्रतीयमान रजतको लेने जाता है तब अतिशीघ्र उसे अधिष्ठानके विशेष अंश शुक्तित्वका ज्ञान हो जाता है, वह स्वयं अनुभव करता है कि मुझे इसमें रजतका भ्रम हो गया था। वस्तुतः 'यह शुक्ति है रजत नहीं' यह ज्ञान होते ही अध्यस्त रजत और रजत ज्ञान दोनों बाधित हो जाते हैं। सहस्र यत्न करने पर भी पुनः उनकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वे दोनों स्वरूपसे ही अध्यस्त थे, इसलिए वहां केवल शुक्ति ही प्रतीत होती है। शुक्तिका अध्यस्त रजतके साथ जो संसर्गाध्यास था, वह भी उसी समय बाधित हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'इदम्' में रजत, रजतज्ञान और संसर्गाध्यास ये तीनों कल्पित थे, अन्यथा उनका बाध नहीं होता, जैसे 'इदम्' अंशका बाध नहीं होता। अतः ये तीनों बाधित होनेसे मिथ्या सिद्ध होते हैं, क्योंकि मिथ्या वस्तुका ही बाध होता है। इससे मिथ्यावस्तुमें अस्ति, भाति और प्रियताकी प्रतीति भी अधिष्ठानकी ही होती है। 'शुक्तिमें यह रजत है' 'गवय (नील गाय) में यह गौ है' इत्यादि भ्रम स्थलोंमें अध्यस्त रजत आदि पूर्व दृष्ट और स्मर्यमाण रजत आदि के सदृश हैं तथा अपनेसे भिन्न शुक्ति आदिमें प्रतीत भी होते हैं। इस प्रकार दोनों धर्मियोंका भेद गृहीत न होनेके कारण भ्रम उत्पन्न होता है। पूर्व-पूर्व अध्यास संस्कार द्वारा उत्तरोत्तर अध्यासमें हेतु है। अध्यास, भ्रम, मिथ्या ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।

सत्यानन्दीदीपिका

वेदान्त सिद्धान्तानुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—'सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम्' (सत, असत्से विलक्षण मिथ्या है) जैसे कि शुक्ति में अध्यस्त रजत न सत् है और न असत्, किन्तु इन दोनोंसे विलक्षण है। इसलिए अध्यस्त रजत सत् नहीं, क्योंकि उसका 'नेदंरजतम्' इस ज्ञानसे बाध होता है, असत् भी नहीं, क्योंकि भ्रमकालमें उसकी प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है, जब कि असत्की प्रतीति कदापि नहीं होती, जैसे असत् गगन कुसुम बन्ध्या पुत्र, शशशृङ्ग आदिकी प्रतीति नहीं होती, योगदर्शनमें इसे विकल्पवृत्ति कहा गया है–"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो० सू० १।६) (जिसका शब्द श्रवणसे ज्ञान हो किन्तु वस्तु न हो वह विकल्प है) अध्यस्त वस्तु सत् असत् उभयात्मक भी नहीं, क्योंकि दोनोंका परस्पर विरोध है, अतः अध्यस्त वस्तु सत् असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय उत्पन्न होती है अर्थात् जिस अध्यस्त वस्तुका सत्, असत् और उभयरूपसे निर्वचन न हो वह अनिर्वचनीय है।

'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावमासोऽध्यासः' अब इस अध्यास लक्षणको प्रकृतमें घटाया जाता है, परत्र अन्यमें अर्थात् चिदात्मरूप अधिष्ठानमें यह सारा कार्यकारणात्मक प्रपञ्च स्वरूपसे ही अध्यस्त है। यद्यपि प्रतीयमान यह प्रपञ्च नूतन है तथापि पूर्वदृष्ट और स्मर्यमाणके सदृश है, क्योंकि यह प्रपञ्च अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चला आ रहा है, इससे यह अनादि कालसे अविद्या द्वारा चिदात्मामें अध्यस्त है। पूर्वपूर्व अध्यासके अनुभव जन्य संस्कार स्मृतिरूप होकर अन्तःकरणमें नूतन अनुभवको उत्पन्न करते हैं, जैसे पूर्व-पूर्व बीज उत्तरोत्तर अङ्कुरोत्पन्न करता है, वैसे ही पूर्व-पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यासमें हेतु है।

चिदात्माका अध्यस्त प्रपञ्चके साथ संसर्गाध्यास है। इसका 'नेह नानास्ति किञ्चन' (इस ब्रह्म में किञ्चदपि द्वैत नहीं है) इत्यादि श्रुति प्रतिपादन करती हैं। यह श्रुति प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें प्रतीयमान द्वैतका मिथ्यात्व बोधित करती है। यदि यह दृश्यमान प्रपञ्च मिथ्या न होता तो श्रुति द्वैतका निषेध न करती। भागवत में भी प्रपञ्चके मिथ्यात्वका स्पष्ट वर्णन है—'मायामात्रमिदं राजन्! नानात्वं प्रत्यगात्मनि' (१२।४।२५) (हे राजन्! यह समस्त दृश्यमान नानात्व–प्रपञ्च प्रत्यगात्मामें मायामात्र–मिथ्या–कल्पित है) स्वामी मधुसूदन सरस्वतीने अपने अद्वैतसिद्धि ग्रन्थमें यह स्पष्ट वर्णन किया है कि–'अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धि-पूर्वकत्वाद् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्' (पृ० ८) (अद्वैतकी सिद्धि द्वैतमें मिथ्यात्व सिद्धि पूर्वक है, इसलिए द्वैतमें मिथ्यात्वका प्रथम उपपादन करना चाहिए अर्थात् प्रपञ्चमें मिथ्यात्व सिद्ध किये विना प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती) और 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुतियाँ भी सार्थक नहीं हो सकतीं, अतः द्वैतप्रपञ्चमें मिथ्यात्व युक्त है। इस विषय में–'विमतं–जगत् मिथ्या दृश्यत्वात्, जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात् शुक्तिरूप्यवत्' (अद्वैत सिद्धि० पृ० ३०) (यह प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि दृश्य, जड़ तथा परिच्छिन्न है, जैसे शुक्तिरूप्य) यह अनुमान भी है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि यह दृश्यमान जगत् सत् नहीं, क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे बाधित है, असत् भी नहीं, कारण कि उसकी प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है, सत्, असत् उभयात्मक भी नहीं, क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं, इसलिए यह दृश्यमान समस्त जगत् सत् असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है। यद्यपि 'स्मृतिरूपः पूर्वदृष्टः परत्रावभासः' अध्यासका यह सामान्य लक्षण सर्वसम्मत है, तो भी वादियोंका इस लक्षणके स्वरूपमें जो यत्किञ्चित् विरोध है, उसे भगवान् भाष्यकार आगे भाष्यसे स्पष्ट करते हैं—

सत्यानन्दी-दीपिका

* यद्यपि भ्रमस्थलमें अधिष्ठान और आरोप्यके स्वरूपमें वादियोंका मतभेद है, तो भी 'अन्य में अन्यका अवभास ही अध्यास है, इस सामान्य लक्षण में वे सब एक मत ही हैं। अन्यमें अन्यका अवभास कैसे होता है, इस विषयमें भगवान् भाष्यकार वादियोंकी भिन्न-भिन्न युक्तियोंके आधार पर उनके सिद्धान्तों के अनुसार 'तं केचित्' इत्यादि भाष्यसे लक्षण कहते हैं। प्रथम उन वादियोंके विषयमें स्पष्ट किया जाता है—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा। तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरेतत्तु ख्यातिपञ्चकम्।
विज्ञानशून्यमीमांसातर्काद्वैतविदां मतम्॥

'आत्मख्याति, असत् ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीयख्याति ये पाँच ख्यातियाँ क्रमसे विज्ञानवादी, शून्यवादी, मीमांसक, नैयायिक और अद्वैतवादियोंकी सम्मत हैं' भगवान् भाष्यकारने प्रथम लक्षणमें 'तं केचित्' इत्यादि भाष्यसे आत्मख्यातिवादी योगाचार और अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकोंका मत प्रदर्शित किया है। आत्मख्यातिवादी योगाचार १ क्षणिक विज्ञान (बुद्धि) को आत्मा मानता है। उसके मतमें क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य कुछ भी नहीं है, तो भी अनादि अविद्या वश विज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपसे जो पृथक्-पृथक् अवभासित होता है वही भ्रम है। इस मतमें 'अन्यत्रान्यधर्मावभासः' यह अध्यासका लक्षण है। 'अन्यधर्मका अन्यमें अवभास अध्यास है' अन्यथा धर्मका—विज्ञानरूपआत्माका धर्म—आकार विशेष जो रजत आदि उसकी अन्यमें—बाह्य असत् शुक्ति आदिमें प्रतीति ही अध्यास है। यद्यपि योगाचार मतमें बाह्य कोई भी पदार्थ नहीं है अर्थात् बाह्य शून्य है, इसलिए वह बाह्यार्थ शून्यवादी भी कहा जाता है, तथापि अनादि अविद्यावश क्षणिक विज्ञान ही रजत आदि अनेक आकारोंसे असत् बाह्यमें अवभासित होता है। 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान से बाह्य रजतका बाध होने पर भी वह आन्तर विज्ञान रूपसे है, क्योंकि उसके मतमें प्रतीयमान रजत आदि आकार विशेष आन्तर विज्ञानरूप ही हैं अर्थात् वे सब आत्माके ही आकार विशेष हैं। आत्मा ही अनेक आकारोंमें प्रतीत होता है, इसलिए इसे आत्मख्याति कहा जाता है।

नैयायिकोंकी दृष्टिमें यह समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रतीयमान रजत आदि आकार विशेष बुद्धिरूप हैं, ऐसा अनुभव किसीको भी नहीं होता। भ्रमस्थल तथा व्यवहारमें रजत आदिकी आन्तरता किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। किन्तु सुख, दुःख आदि आन्तर हैं और रजत आदि बाह्य यह तो सर्वानुभव सिद्ध है। रजत आदिको आन्तर माननेसे अनुभवसे भी विरोध है। रजत आदि पदार्थ स्वप्न के अतिरिक्त जाग्रत्में आन्तर अप्रसिद्ध हैं। इससे बाह्य प्रतीयमान पदार्थको भ्रम आदि स्थलमें आन्तर-

---

१ टिप्पणी—बौद्धोंमें चारमत हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक! माध्यमिकमतमें बाह्य और आन्तर सब शून्य है, अतः वह सर्वशून्यवादी कहा जाता है। योगाचार मतमें बाह्यार्थ शून्य है, किन्तु आन्तर विज्ञान सत्य है। वह क्षणिक विज्ञानको ही आत्मा कहते हैं। प्रतिक्षणमें नष्ट होनेवाला विज्ञान ही बाह्यकारसे प्रतीत होता है, अतः वह क्षणिक विज्ञानवादी अथवा बाह्यार्थ शून्यवादी कहा जाता है। सौत्रान्तिक मतमें बाह्यार्थ तो है, परन्तु क्षणिक होनेसे उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए वह उसे अनुमेय मानते हैं। वैभाषिकमतमें बाह्यार्थ है और वह प्रत्यक्ष भी होता है, सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनों बाह्य और आन्तर उभयात्मक पदार्थ मानते हैं, अतः ये दोनों सर्वास्तित्ववादी कहे जाते हैं। इसका विशेष विचार द्वितीय अध्यायके द्वितीयपादमें किया जायगा।

सत्यानन्दी-दीपिका

रूपसे कल्पना करना अप्रसिद्ध है। यदि आन्तर हो तो 'मयिरजतम्' (मेरेमें रजत है) अथवा बुद्धिका धर्म रजत आदि बुद्धि रूप होनेसे 'अहं रजतम्' (मैं रजत हूं) ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, 'इदं रजतम्' ऐसी सन्मुख प्रदेशमें प्रतीति कदापि नहीं होनी चाहिए, किन्तु 'इदं रजतम्' इस प्रकार बाह्य प्रतीति और प्रवृत्ति दोनों होती हैं, अतः आन्तर रजत आदि असम्भव हैं, क्योंकि ऐसी परिस्थितिमें उसकी बाह्य प्रतीति सम्भव नहीं है। किन्तु बाह्य भ्रमस्थलमें अन्यदेशस्थ रजत आदिकी अन्य (शुक्ति आदि) में प्रतीति होती है, अतः यह आत्मख्याति न होकर अन्यथाख्याति है।

इसी प्रकार 'तं केचित्' इस प्रथम अध्यास लक्षणसे अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक तथा वैशेषिक मतोंका भी उल्लेख किया गया है। उनके मतमें भ्रमस्थलसे भिन्न हट्ट आदि देशस्थ अनुभूत रजत आदिकी नेत्रके दोषसे अन्यत्र-शुक्ति आदिमें प्रतीति अथवा कथन अध्यास है अर्थात् भ्रमसे पूर्व हट्ट आदिमें देखा गया रजत आदि नेत्रके दोषसे संस्कारद्वारा भ्रमस्थलमें प्रतीत होता है। यह प्राचीन नैयायिकोंका मत है। नव्य नैयायिक चिन्तामणिकार इसका खण्डन कहते हैं—यदि नेत्र दोषसे ही दूरस्थ रजत आदिकी सन्मुख शुक्ति आदिमें प्रतीति होती है तो भ्रमस्थल और हट्टके मध्यमें वर्तमान वृक्ष आदि अन्य पदर्थोंकी प्रतीति क्यों नहीं होती, उनकी भी प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु देखा यह जाता है कि मध्यमें वर्तमान पदार्थोंकी प्रतीति नहीं होती, तो इससे यह मानना पड़ेगा कि नेत्र दोषसे हट्ट आदि स्थित रजत आदिकी भी शुक्ति आदिमें प्रतीति नहीं होती, क्योंकि भ्रमकालमें अथवा बाध कालमें ऐसा अनुभव तो किसीको भी नहीं होता कि हट्ट आदि देशस्थित रजत यहां प्रतीत हुआ अथवा उसका बाध हुआ। किन्तु नेत्र आदिके दोषसे शुक्ति आदि ही रजत आदिके रूपसे प्रतीत होते हैं।

परन्तु शाङ्कर मतानुसार यह अन्यथा ख्याति वादी मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि वेदान्त सिद्धान्तमें अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास इस भेदसे अध्यास दो प्रकारका माना गया है। किन्तु इसके विपरीत नैयायिक और क्षणिकविज्ञानवादी मतमें केवल ज्ञानाध्यास स्वीकृत है अर्थाध्यास नहीं, क्योंकि नैयायिक भ्रम ज्ञानका विषय देशान्तरस्थ रजत अथवा रजतत्वको मानते हैं और क्षणिक विज्ञानवादी विज्ञानका परिणाम-आकार विशेष आन्तर सत्य रजतको भ्रम ज्ञानका विषय मानते हैं, अतः इन दोनोंके मतमें विषय मिथ्या नहीं है, किन्तु शुक्तिमें रजतत्वका सम्बन्ध प्रतीत होता है, इसलिए 'इदं रजतम्' यह ज्ञान मिथ्या है। बाध भी केवल रजतत्वके संसर्गमात्रका होता है।

अत्र 'केचित्तु' इस द्वितीय लक्षणसे अख्यातिवादी सांख्य तथा मीमांसक मतोंका उल्लेख है। जैसे—"यत्र यदध्यास तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः" जिस शुक्ति आदिमें जिस रजत आदिका अध्यास लोक प्रसिद्ध है वहां उन दोनों विषयों और विषयी ज्ञानोंका भेद गृहीत न होनेके कारण भ्रम 'यह रजत है' ऐसा विशिष्ट व्यवहार होता है, तात्पर्य यह है कि उनके मतसे 'इदं रजतम्' 'अयं सर्पः' इत्यादि भ्रम स्थलोंमें शुक्ति तथा रज्जुसे सदोष नेत्रका सम्बन्ध होनेपर शुक्ति तथा रज्जुका शुक्तित्व आदि विशेष अंश प्रतीत नहीं होता, किन्तु सामान्य 'इदम्' अंश प्रतीत होता है। सदोष नेत्रका शुक्ति आदिके साथ सम्बन्ध होने पर सादृश्य आदिसे झटिति रजत आदिके संस्कार उद्भूत होकर रजत, सर्प आदिकी स्मृतिको उत्पन्न करते हैं। यद्यपि स्मृतिज्ञानमें तत्ता अंशकी प्रतीति होती है, परन्तु दोषवश वह लुप्त हो जाता है। इसलिए 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम स्थलोंमें दो ज्ञान होते हैं। 'इदम्' अशंका नेत्रोंसे प्रत्यक्ष ज्ञान और रजत आदिका स्मृतिज्ञान। इससे ये दोनों ज्ञान सत्य हैं और इनके विषय इदम् और रजत भी सत्य हैं। किन्तु दोषवश दोनों

त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति। *कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ?

मतांमें 'अन्यमें अन्यके धर्मकी प्रतीति' इस लक्षणका व्यभिचार नहीं है। इसी प्रकार लोक व्यवहारमें भी अनुभव है कि शुक्ति ही रजतके समान अवभासित होती है; एक ही चन्द्रमा दो चन्द्रमाओंके समान प्रतीत होता है। अविषय प्रत्यगात्मा—चिदात्मामें विषय और उसके धर्मोंका अध्यास कैसे होगा ?

सत्यानन्दी-दीपिका

ज्ञानों और दोनों विषयोंका भेद गृहीत न होने के कारण 'इदं रजतम्' 'अयं सर्पः' इत्यादि विशिष्ट व्यवहार होता है। जिससे प्रवृत्ति भी होती है। परन्तु 'नेदं रजतम्' इस ज्ञानसे भेदाग्रह निमित्तक भ्रान्ति कालमें दोनों ज्ञानों तथा दोनों विषयोंका जो अभेद व्यवहार होता था वह बाधित हो जाता है और इससे 'इदं रजतम्' यह पूर्व ज्ञान भ्रमरूप कहा जाता है। सांख्य और मीमांसक मतमें वह विशिष्ट व्यवहार ही भ्रमरूप है वही बाधित होता है। उनके मतमें कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं प्रत्युत ज्ञानमात्र सत्य है।

तत्त्वतः उनका यह अभिमत भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुक्तिमें रजत भ्रमसे रजतार्थी पुरुषकी निष्फल प्रवृत्ति होती है। इससे भ्रमज्ञान अनुभव सिद्ध है। किञ्च अख्यातिवादी मतसे तो बाधज्ञान के अनन्तर रजतकी स्मृति और शुक्ति ज्ञानका भेद गृहीत न होने के कारण मेरी शुक्तिमें प्रवृत्ति हुई थी, ऐसा बाधज्ञान होना चाहिए ? और स्मृतिमें तत्तांशका लोप आदि अनेक विरुद्ध कल्पनाओं की अपेक्षा एक भ्रम ज्ञान मानना युक्ति युक्त है। किञ्च भ्रमस्थलमें अङ्गुली निर्देश पूर्वक रजताथ की नियम से प्रवृत्ति हुआ करती है। जहाँ नियमसे प्रवृत्ति होती है वहां रजत और रजतज्ञान दोनोंकी उत्पत्ति मानना युक्त है। अतः भ्रमस्थलमें एक ही विशिष्ट ज्ञान होता है।

अब 'अन्ये तु' इस तृतीय लक्षणसे शून्यवादी माध्यमिक मतका उल्लेख करते हैं—'यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते'' 'जिसमें—शुक्तिमें जिस रजत आदिका अध्यास है, तस्यैव—उसी शुक्तिमें विपरीतधर्म—अत्यन्त असत् रजतकी रजतरूपसे प्रतीति अथवा शुक्तिमें अत्यन्त असत् रजतकी कल्पनाको अध्यास कहते हैं' अर्थात् वे अत्यन्त असत् रजतकी प्रतीतिको असत्ख्याति कहते हैं। परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि यदि अत्यन्त असत् रजतकी प्रतीति हो सकती है तो असत् गगनकुसुम, वन्ध्यापुत्र आदिकी भी प्रतीति होनी चाहिए ? परन्तु होती नहीं, इससे अत्यन्त असत् रजत आदिकी भी भ्रम स्थलमें प्रतीति असंभव है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि 'अन्यमें अन्यका अवभास' यह अध्यासका लक्षण सर्ववादीसम्मत है। इस बातको भगवान् भाष्यकारने 'सर्वथाऽपि' इत्यादिसे दिखलाया है। यद्यपि सभी पक्षोंमें अधिष्ठान और आरोप्यका किस प्रकार अध्यास होता है, इस विषयमें विवाद है, तो भी 'अन्यमें अन्यधर्मकी प्रतीति अध्यास है, इस लक्षणमें किसीको विवाद नहीं और इस लक्षणका कहीं व्यभिचार भी नहीं है। यहां तक आत्मख्याति, अन्यथाख्याति, अख्याति और असत्ख्याति इन चारोंका संक्षेपसे वर्णन किया गया। अब क्रमसे प्राप्त शाङ्कर वेदान्त अभिमत अनिर्वचनीयख्यातिका भी विचार किया जाता है—'सत् असत्से विलक्षण प्रतीतिको अनिर्वचनीयख्याति कहते हैं'। यथा 'शुक्ताविदं रजतम्' इस प्रतीतिका विषय रजत अनिर्वचनीय है, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस बाध ज्ञानसे बाधित होनेके कारण वह सत् नहीं, प्रतीतिका विषय होनेसे गगनकुसुम आदिके समान असत्—अलीक भी नहीं, सत्, असत् उभयात्मक भी नहीं,

सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविष-

जब कि सब लोग पुरोवर्ती (इन्द्रियसंयुक्त) विषयमें अन्य (इन्द्रियासंयुक्त) विषयका अध्यास करते हैं और तुम युष्मत् (तुम) ऐसी प्रतीतिसे रहित प्रत्यगात्माको अविषय कहते हो। कहते हैं—यह

सत्यानन्दीदीपिका

क्योंकि दोनोंका परस्पर विरोध है, अतः भ्रमस्थलमें सत्, असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय रजतकी प्रतीति होती है, इससे इसे अनिर्वचनीयख्याति कहते हैं।

अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति और प्रतीति इस प्रकार होती है—अन्तःकरणकी वृत्ति नेत्र द्वारा बाहर निकल कर विषयके समान आकारको प्राप्त कर विषयस्थ आवरणका नाश करती है और वृत्तिस्थ आभास विषयको प्रकाशित करता है, वैसे तो चाक्षुष ज्ञानमें प्रकाश आदि बाह्य सामग्री भी अपेक्षित है। बाह्य पदार्थोंका 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार चाक्षुष प्रमाज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु जहां शुक्ति आदिमें रजत आदिका भ्रम होता है वहां अन्तःकरणकी वृत्ति शुक्तिके साथ सम्बन्धित होनेपर तिमिर आदि दोष वश शुक्तिके आकारको धारण नहीं कर सकती, इससे शुक्तिस्थ आवरणकी भी निवृत्ति नहीं हो पाती, तो वहाँ शुक्तिके विशेष अंशका ज्ञान न होनेके कारण पूर्वानुभूत रजतके संस्कार जाग्रत हो जाते हैं, जिससे शुक्ति चेतनस्थ अविद्या क्षुब्ध होकर तमोगुणसे रजताकार परिणामको प्राप्त होती है। जिस समय जिस निमित्तसे शुक्ति चेतनस्थ अविद्याका रजताकार परिणाम होता है, उसी समय उसी निमित्तसे साक्षी चेतनस्थ अविद्याका सत्त्वगुण भी ज्ञानाकारसे परिणत हो जाता है। इस प्रकार भ्रम स्थलमें रजत आदि विषय और उसका ज्ञान एक ही समय अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं। किसी सत्ख्याति वादीके मतमें शुक्तिमें रजतके सत्य अवयव विद्यमान हैं, उन्हींमें सत्य रजत उत्पन्न होता है। इस प्रकार यदि रजत सत् मानें तो उसका बाध कदापि नहीं होगा, जब कि 'नेदं रजतम्' ऐसा बाध सर्वानुभव सिद्ध है, अतः यह मत भी युक्त नहीं है। इसलिए भ्रमस्थलमें अध्यस्त वस्तु सत् असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार मिथ्याप्रतीतिमें विद्वान् तथा साधारण लोग सब एक मत हैं।

अब भगवान् भाष्यकार 'तथा च' इत्यादिसे सिद्धान्तको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं। शङ्का—अन्यमें अन्यकी मिथ्या प्रतीति तो सर्वानुभव सिद्ध है, जैसे शुक्ति आदिमें रजत आदिकी। परन्तु अभिन्न वस्तुमें भेद भ्रम तो अनुभव विरुद्ध है, अतः वेदान्तमतमें चिदात्मासे अभिन्न जीवोंका भेद कैसे ? समाधान—अङ्गुली आदि व्यवधानके कारण नेत्रसे जैसे एक चन्द्रमा भी दोके समान प्रतीत होता है, वैसे ही अविद्या उपाधिके कारण ब्रह्म और जीव दो माने जाते हैं, इस प्रकार औपाधिक भेद सिद्ध होने पर अध्यास भी सिद्ध है। परन्तु

"विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति"

(ब्रह्म तथा जीवके भेदजनक अज्ञानका आत्मसाक्षात्कारसे अत्यन्त बाध होने पर जीव ब्रह्मका असत् भेद कौन करेगा)। इस प्रकार अध्यासके सामान्य लक्षणका निरूपण कर अब चिदात्मामें अनात्म अध्यासका निरूपण करते हैं। इसलिए इसे संभावना अध्यास भी कहा जाता है। अब 'कथं पुनः' इत्यादिसे चिदात्मामें अध्यास पर आक्षेप करते हैं।

---

* शुक्ति, रज्जु आदि जो जो प्रत्यक्ष अध्यासके अधिष्ठान हैं वे सब इन्द्रिय संयुक्त होनेसे विषय हैं, अतः उनमें रजत, सर्प आदिका अध्यास संभव है। परन्तु रूप आदि रहित आत्मा चक्षु आदि

यत्वं ब्रवीषि ? उच्यते,—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्; अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसि-

---

आत्मा अत्यन्त—सर्वथा अविषय नहीं है, क्योंकि वह अस्मत् (अहम्) प्रत्ययका विषय है, अपरोक्ष है और प्रत्यगात्मरूपसे प्रसिद्ध है। किञ्च यह भी कोई नियम नहीं है कि पुरोवर्ती विषयमें ही विषयान्तर का अध्यास होना चाहिए, क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाशमें भी अविवेकी लोग तलमलिनता आदिका

सत्यानन्दी-दीपिका

इन्द्रियोंसे अग्राह्य होनेके कारण अविषय है, इसलिए अविषय आत्मामें अहंकार आदि विषय और उनके जड़त्व आदि धर्मोंका अध्यास कैसे हो सकता है। यदि अध्यासके लोभसे आत्माको विषय कहें तो 'न चक्षुषा गृह्यते' (मु० ३। १। ८) (यह आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होता) 'यच्चक्षुषा न पश्यति' (केन० १।६) (जिसे कोई अन्तःकरणवृत्ति युक्त नेत्रसे नहीं देखता) 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' (केन० १।३) (उस ब्रह्म तक नेत्र आदि इन्द्रियाँ नहीं जातीं) इत्यादि श्रुति-वाक्य बाधित होंगे ? समाधान—भगवान् भाष्यकार 'उच्यते' इत्यादिसे आत्मामें अध्यास होने की प्रतिज्ञा करते हैं—आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है, किन्तु लोक प्रसिद्ध अहं प्रतीतिका विषय है। यह आत्मा बाल, वृद्ध, मूर्ख, पण्डित आदि सबका अन्तरात्मा है, स्वप्रकाश होनेसे सबको प्रत्यक्ष है, इसलिए सब दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि 'मैं हूं' अपने अस्तित्वके विषयमें कदापि किसीको सन्देह आदि नहीं हुआ करता। आत्मा स्वप्रकाश है, इसमें 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (क० ५।१५ श्वेता० ६।१४, मुण्ड० २।१०) (उस आत्मा के प्रकाशित होनेसे ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी के प्रकाशसे प्रकाशमान है) और 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गीता० १५।६) (उस स्वयं प्रकाशमय परम पदको न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि प्रकाशित कर सकता है)

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥'

(गीता० १५।१२) (हे अर्जुन ! जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसे तू मेरा ही तेज जान) इत्यादि श्रुति, स्मृति भी प्रमाण हैं। इस प्रकार आत्मा जब स्वप्रकाशरूपसे प्रतीत हो रहा है, तो उसमें अध्यास भी सम्भव है।

अब 'न चायमस्ति नियमः' इत्यादिसे न्याय मतानुसार समाधान करते हैं—ऐसा कोई ऐकान्तिक—अव्यभिचरित नियम नहीं है कि इन्द्रिय संयुक्त पुरोवर्ती विषयमें ही भिन्न विषयका अध्यास हो। उद्भूतरूप और स्पर्श युक्त द्रव्य ही नेत्र तथा त्वक् इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षके योग्य होता है, परन्तु आकाश दोनों गुणोंसे रहित होनेके कारण दोनों इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं है और मनसे भी अप्रत्यक्ष है, क्योंकि बाह्य नेत्र आदि इन्द्रिय सहयोगके बिना बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें वह अस्वतन्त्र है, तो भी अप्रत्यक्ष आकाशमें अविवेकी पुरुष पृथिवी आदिकी छायारूप मलिनता अथवा इन्द्रनीलमणिके कटाह (कड़ाही) के समान तलसदृशताका अध्यास करते हैं अर्थात् आकाश नीला है और कटाहके समान है। इस प्रकार जब अप्रत्यक्ष आकाशमें अध्यास हो सकता है तो अप्रत्यक्ष आत्मामें भी अनात्मा-अहंकार आदि और उनके सुख दुःख आदि धर्मोंके अध्यास होनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

शंका—अधिष्ठान और अध्यस्त दोनोंका सादृश्य भी तो अध्यासमें हेतु है, जैसे कि शुक्ति और रजत, रज्जु और सर्प आदिका सादृश्य इनके परस्पर अध्यासमें हेतु है, तो ऐसे ही आत्मा और

तव्यमिति; अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति । एवमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः । तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते; तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः । ❀ तत्रैवं सति यत्र यदध्यासः, तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणु-

---

अध्यास करते हैं । इस प्रकार प्रत्यगात्मामें अनात्माका अध्यास भी अविरुद्ध है । उक्त लक्षणवाले इस अध्यासको विद्वान् लोग 'अविद्या' ऐसा मानते हैं और इसके विवेक द्वारा वस्तु स्वरूपके निश्चयको 'विद्या' कहते हैं । ऐसा होनेपर—अध्यासके अविद्यात्मक होनेपर अथवा वस्तु स्वरूपका निश्चय होनेपर जिसमें जिसका अध्यास होता है, तत्कृत दोष अथवा गुणके साथ अणुमात्र भी वह सम्बन्धित नहीं होता ।

सत्यानन्दी-दीपिका

अनात्माका भी परस्पर कोई सादृश्य होना चाहिए, जिससे इन दोनों का परस्पर अध्यास हो ? परन्तु इनका परस्पर सादृश्य किसी प्रकार भी संभव नहीं, तो अध्यास कैसे ? समाधान—जैसे आकाश और नीलगुण दोनोंमें परस्पर कोई सादृश्य न होने पर भी 'आकाश नीला है' ऐसा अध्यास सर्वानुभव सिद्ध है, वैसे ही आत्मा और अनात्माके अध्यासके विषयमें समझना चाहिए । यह समाधान न्याय मतानुसार किया गया है । [वेदान्तसिद्धान्तमें तो आकाश साक्षीभास्य होनेसे प्रत्यक्ष ही है] अतः आत्मा और अहंकार आदि और उनके धर्मोंका अध्यास हो सकता है । अन्य अध्यासोंको छोड़कर किसलिए आत्मा और अनात्मा और उनके धर्मोंके अध्यासका शङ्का समाधान द्वारा निरूपण किया गया है ? किञ्च प्रत्यगभिन्न ब्रह्मके ज्ञानसे निवृत्त होनेवाली तथा संसारकी मूलभूत अविद्याको छोड़कर अध्यासके निरूपणका प्रयोजन क्या है ? भगवान् भाष्यकार इन शङ्काओंका 'तमेतम' इत्यादिसे समाधान करते हैं । इस प्रकार अध्यासकी संभावना दिखलाकर अब उसमें प्रमाण कहते हैं—अन्यमें अन्यके अवभासात्मक अध्यासको पण्डित लोग अविद्या और अध्यासके बाधात्मक तथा चिदात्मारूप अधिष्ठानके स्वरूपके निश्चयको विद्या कहते हैं ।

यद्यपि—अविद्या ही सर्व अनर्थका बीज रूपसे श्रुति, स्मृति इतिहास पुराण आदिमें प्रसिद्ध है और उसकी निवृत्तिके लिए सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र प्रवृत्त हैं, तो भी उसे छोड़कर कार्यात्मक अध्यासका वर्णन करनेका प्रयोजन यह है कि कारणात्मक अविद्या सुषुप्ति तथा प्रलयमें स्वरूपसे विद्यमान होनेपर भी अनर्थमय नहीं है, किन्तु जाग्रत् आदि अवस्थामें कार्य रूपसे—कर्तृत्व भोक्तृत्वरूपसे अनर्थकी हेतु है, आत्मामें अनात्मबुद्धि आदिका अध्यास ही अनर्थका साक्षात् हेतु है अन्य अध्यास नहीं, अतः यहाँ अन्य अध्यासोंका वर्णन नहीं किया गया है ।

आगे आत्मामें अनात्मप्रतीतिको अध्यास माननेका प्रयोजन कहते हैं ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि अध्यास अविद्याका कार्य होनेसे अविद्यात्मक है । अतः जिस अधिष्ठानमें जिस वस्तुका अध्यास होता है, उसके गुण अथवा दोषसे वह अणुमात्र भी सम्बन्धित नहीं होता । जैसे बुद्धि आदि आत्मामें स्वरूपसे अध्यस्त हैं, इसलिए उनके राग-द्वेष आदि दोषोंसे आत्मा अणुमात्र भी लिप्त नहीं होता और आत्माका बुद्धि आदिके साथ केवल संसर्गाध्यास है तो आत्माके चैतन्य, आनन्द आदिसे बुद्धि आदि भी कभी सम्बन्धित नहीं होते ।

"आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्कदापि मूढैर्मतिदोषदूषितैः ।
नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं मरीचिकावारिमहाप्रवाहः ॥"

(बुद्धि दोषसे दूषित अज्ञानियों द्वारा आरोपितकी हुई वस्तु अपने आश्रय—अधिष्ठान को कदापि दूषित नहीं कर सकती । जैसे मृगतृष्णाका महान् जल प्रवाह अपने आश्रय ऊसर भूमि खण्डको

मात्रेणापि स न संबध्यते, तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। ❀ कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति ? उच्यते,–देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न हीन्द्रियाण्य-

पूर्वोक्त इस अविद्या संज्ञक आत्मा और अनात्माके परस्पर अध्यासको आगे रखकर सब लौकिक और वैदिक प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय व्यवहार प्रवृत्त हुए हैं और विधि, निषेध बोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं तो फिर अविद्यावाला प्रमाता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्रका आश्रय कैसे हो सकता है ? कहते हैं—देह, इन्द्रिय आदिमें अहं, मम अभिमान रहित आत्माका प्रमातृत्व अनुपपन्न होनेसे उसमें प्रमाणकी प्रवृत्तिकी भी अनुपपत्ति होती है, क्योंकि इन्द्रियोंका ग्रहण किए विना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार संभव नहीं होते और अधिष्ठान (इन्द्रियोंका आश्रयभूत शरीर) के विना इन्द्रियोंका व्यवहार संभव

सत्यानन्दी-दीपिका

किञ्चित् भी गीला नहीं करता)। इससे यह सिद्ध होता है कि अधिष्ठान अध्यस्त वस्तुके गुण, दोषसे किञ्चिन्मात्र भी लिप्त नहीं होता। किञ्च अध्यस्त वस्तु अविद्यात्मक होनेके कारण अधिष्ठानके अपरोक्षज्ञानसे निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार साक्षीभास्य अपरोक्षअविद्या-अध्यास प्रमाता आदिका, विधि (यजेत) प्रतिषेध (सुरापान आदिका निषेध) बोधक ऋग्वेद आदि कर्मशास्त्रका, विधि, प्रतिषेध से रहित मोक्ष-जीव ब्रह्मैक्य-बोधक उपनिषद् आदि शास्त्रका हेतु है। इस तरह तीन प्रकारके व्यवहारका कारण होनेसे अध्यास यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध है, तो भी अज्ञानापन्न आत्माको विषय करनेवाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्रोंके प्रामाण्यके विषयमें पूर्वपक्षीकी शङ्काका 'कथं पुनः' इत्यादिसे उल्लेख करते हैं—

❀ यहाँ अभिप्राय यह है कि देहमें 'मैं देह हूँ' इस अभिमानसे तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों और शरीरावयवोंमें 'ये मेरे हैं' इस ममाभिमानसे रहित सुप्त पुरुष प्रमाता नहीं हो सकता, प्रमाताके अनुपपन्न होनेपर श्रोत्र आदि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए देह में 'अहम्' अभिमानके समान श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें भी 'मम' अभिमान होना चाहिए। शंका—जबकि देहमें 'मैं देह हूँ' इस अभिमान मात्रसे लोक प्रसिद्ध व्यवहार हो सकता है, तो श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें 'मम' अभिमान माननेका प्रयोजन ? समाधान—श्रवण आदि इन्द्रियोंमें 'मम' अभिमानसे रहित पुरुषका 'मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ' इत्यादि लोक प्रसिद्ध व्यवहार नहीं होगा। जैसे अन्ध पुरुषका 'मैं देखता हूँ' ऐसा व्यवहार नहीं होता, इसलिए इन्द्रियोंमें 'मम' अभिमान मानना युक्त है। परन्तु इन्द्रियोंके आश्रयभूत देहके विना इन्द्रियोंका व्यवहार असम्भव है। अतः देहका ग्रहण भी आवश्यक है। परन्तु जब तक देहमें आत्मभाव अध्यस्त नहीं है तब तक इस देहसे कोई व्यापार भी नहीं होता। यदि अध्यस्त आत्मभावके विना देहसे लोक प्रसिद्ध व्यवहार मानें तो सुषुप्तिमें भी देहसे पूर्ववत् व्यापार होना चाहिए, किन्तु वहाँ किसी प्रकारका भी व्यापार नहीं होता, अतः लोक प्रसिद्ध व्यवहारकी सिद्धिके लिए देहमें आत्मभावरूप अध्यास मानना पड़ेगा, क्योंकि 'असङ्गोह्यं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५) (यह पुरुष असङ्ग ही है) इत्यादि श्रुति सिद्ध असङ्ग आत्माके साथ शरीर आदिका आध्यासिक सम्बन्धके विना अन्य संयोग आदि सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता इसलिए आत्मामें आध्यासिक सम्बन्धसे ही प्रमातृत्व है वास्तवमें नहीं। प्रमाका आश्रय अथवा कर्ता प्रमाता कहा जाता है, अबाधित अन्तःकरणकी वृत्तिको प्रमाण कहते हैं, परन्तु वृत्ति जड़ होनेसे घट, पट आदि पदार्थोंको प्रकाशित नहीं कर सकती, इसलिए

नुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। न चैतस्मिन्सर्वस्मिन्नसति असङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। ❀पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयःशब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते; यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरित-

---

नहीं होता। अनध्यस्त आत्मभाववाले शरीरसे कोई व्यापार नहीं कर सकता। और उपर्युक्त इन सब अध्यासोंके न होनेपर असङ्ग आत्मामें प्रमातृत्व उपपन्न नहीं होता, प्रमाताके विना प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्वानोंका ही आश्रय करते हैं।

और पशु आदिके व्यवहारसे विद्वान्के व्यवहारमें विशेषता नहीं है, जैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका शब्द आदि विषयोंके साथ सम्बन्ध होने पर पशु आदि भी उन शब्द आदिका ज्ञान प्रतिकूल होनेपर उधरसे निवृत्त होते हैं और अनुकूल होने पर उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं। हाथमें दण्ड उठाए हुए किसी पुरुषको सन्मुख आते देखकर 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझ कर पशु वहांसे भागने लगते हैं और यदि हाथमें हरी घास पकड़ी हो तो उस व्यक्तिके प्रति अभिमुख होते हैं। वैसे ही लोक व्यवहारमें हम प्रायः देखते हैं कि खड्ग हाथमें उठाए क्रूरदृष्टिसे ललकारते हुए बलशाली

सत्यानन्दी-दीपिका

अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही घट आदि पदार्थोंका प्रकाशक है और उसीको प्रमा कहते हैं। "प्रमाकरणं प्रमाणम्" 'प्रमाका करण प्रमाण है' न्यायमतमें 'यह घट है' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाके प्रति नेत्र आदि इन्द्रियां प्रमाण मानी जाती हैं, अनुमितिज्ञानके प्रति लिङ्गज्ञान अथवा व्याप्तिज्ञान प्रमाण है, शाब्दी प्रमाके प्रति पदज्ञान प्रमाण है, इस प्रकार अन्य प्रमाणोंके विषयमें भी समझना चाहिए।

'मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं' इत्यादि व्यवहार आत्मामें तब सिद्ध हो सकता है जब व्यापार विशिष्ट अन्तःकरणका आत्मामें स्वरूपसे अध्यास हो और आत्माका अन्तःकरणमें संसर्गाध्यास हो। इस प्रकार दोनों धर्मियों और उनके धर्मोंका परस्परमें अध्यास मानने पर ही प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हो सकता है, अन्यथा नहीं। अन्वय-व्यतिरेकसे भी यही सिद्ध होता है कि उक्त व्यवहार अध्यास मूलक है। शंका—अध्यासके विना भी तो विद्वानोंमें उपर्युक्त व्यवहार देखनेमें आता है। कोई भी विद्वान् यह नहीं कहता कि हमारा व्यवहार अध्यास मूलक है। तो यह नियम कैसे सिद्ध हो सकता है? समाधान-आपको कौन-सा विद्वान् अभीष्ट है, 'मैं प्रत्यगभिन्न ब्रह्म हूं' इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान सम्पन्न विद्वान् अथवा शास्त्रोंसे—'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके श्रवण मात्रसे आत्मा और देह, बुद्धि आदि अनात्माके भेदको जानने वाला परोक्ष ज्ञान सम्पन्न विद्वान्? प्रथम विकल्पका उत्तर तो ब्रह्मसूत्र ४ में कहा जायगा। जहाँ बाधित अध्यासकी अनुवृत्तिको लेकर उक्त व्यवहार सिद्ध किया गया है। तथा द्वितीय विकल्प तो अभीष्ट है, क्योंकि आत्माके परोक्ष ज्ञानसे आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अपरोक्ष भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता। यथा रज्जुमें 'यह सर्प है' इस प्रत्यक्ष भ्रमकी निवृत्ति रज्जुके 'वह रज्जु है' इस परोक्ष ज्ञानसे नहीं होती। इस आशयसे भगवान् भाष्यकारने अविद्वान्को अध्यास मूलक प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार तथा शास्त्रका आश्रय कहा है। आगे इसीको 'पशु' आदिके उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—

तृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति; एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान्बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान्प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते। * शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोकसंबन्धमधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम्, अशनायाद्यतीतम्, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम्, असंसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगादधिकारविरोधाच्च। प्राक् च तथाभूतात्म-

पुरुषको देखकर विद्वान् लोग भी वहां से हट जाते हैं, तथैव उसके विपरीत स्निग्ध दृष्टिवाले मधुरभाषी सौम्य पुरुषके प्रति प्रवृत्त होते हैं। अतः पुरुषोंका प्रमाण, प्रमेय व्यवहार पशु आदिके समान है अर्थात् दोनोंके व्यवहारमें भेद नहीं है। और यह तो प्रसिद्ध है कि पशु आदिका प्रत्यक्ष आदि व्यवहार अविवेक पूर्वक होता है। किञ्च उनके साथ समानता देखनेसे विवेकी पुरुषोंका भी प्रत्यक्ष आदि व्यवहार, व्यवहारकालमें पशु आदिके समान ही है, ऐसा निश्चित होता है।

शास्त्रीय व्यवहारमें तो यद्यपि देहसे भिन्न आत्माका स्वर्ग आदि लोकोंके साथ सम्बन्ध जाने बिना विवेक पूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष अधिकृत नहीं होता, तथापि उपनिषद्वेद्य क्षुधा आदिसे अतीत, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद शून्य असंसारी आत्मतत्त्वकी कर्मके अधिकारमें अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसमें आत्मतत्त्वका उपयोग नहीं है और अधिकारका विरोध है। इस प्रकारके आत्मज्ञानसे

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि यह ठीक है कि पशु आदिको इदंरूपसे आत्मा तथा अनात्माका ज्ञान नहीं है, तो भी 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इत्यादि ज्ञान उनमें भी पाया जाता है, यह ठीक है कि उनको मनुष्यके समान विशेष विवेक नहीं है। यदि वे भी मनुष्यके समान आत्मोपदेश श्रवण तथा ग्रहण करनेमें समर्थ हों तो उनको भी विवेक ज्ञान हो सकता है, जैसे कि काकभुशुण्ड आदिको हुआ है। हां! मनुष्यको भी यदि इस प्रकारका उपदेश न किया जाय तो उसे भी पशु आदिके समान विवेक नहीं हो सकेगा। निष्कर्ष यह है कि जैसे आत्म-अनात्म विवेक शून्य पशु आदिका खान-पान आदि व्यवहार अध्यास मूलक है, वैसे ही अविद्वान्का भी यह खान-पान आदि व्यवहार अध्यास मूलक है। इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यास होनेपर ही यह प्रसिद्ध लोक व्यवहार होता है अन्यथा नहीं। किञ्च जाग्रत् आदि अवस्थामें अध्यासके होनेपर 'मैं, मेरा, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि व्यवहार होता है, किन्तु सुषुप्ति अवस्थामें अध्यासके न होनेपर नहीं होता, तो इस अन्वय-व्यतिरेकसे भी यह व्यवहार अध्यास मूलक ही सिद्ध होता है। इस प्रकार व्यवहाररूप हेतुसे विवेकी पुरुषका देह आदिमें 'अहं, मम' अभिमान अध्याससे ही है।

शंका—यह लोक प्रसिद्ध व्यवहार भले ही अध्यास मूलक हो, परन्तु शास्त्रीय व्यवहार तो अध्यास मूलक नहीं है, क्योंकि उसमें देह आदिसे भिन्न आत्माका ज्ञान अपेक्षित है, अन्यथा शास्त्रीय कर्म आदि कोई भी व्यवहार सिद्ध न होगा? इसका समाधान 'शास्त्रिये' इत्यादिसे करते हैं।

* भाष्यस्थ 'तु' शब्द प्रत्यक्ष आदि व्यवहारसे शास्त्रीय व्यवहारकी भिन्नता सूचित करता है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि शास्त्रीय यज्ञ आदि कर्मोंके अधिकारमें देहसे भिन्न आत्मा है, केवल ऐसा ज्ञान अपेक्षित है अथवा आत्माका तत्त्वज्ञान (साक्षात्कार)? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि उससे प्रत्यक्ष अध्यासकी निवृत्ति नहीं होती, कारण, इस प्रकारके ज्ञानका अध्याससे विरोध नहीं है,

विज्ञानात्प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा हि–'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते। अध्यासो नाम अतस्मिं-

---

पूर्व प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् पुरुषके आश्रयत्वका उल्लंघन नहीं करता अर्थात् शास्त्र अविद्वान्का ही आश्रय करता है, जैसे कि 'ब्राह्मणो यजेत' (ब्राह्मण याग करे) इत्यादि शास्त्र आत्मामें वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि विशेष अध्यासका आश्रय कर प्रवृत्त होते हैं।

अतद्में तद्बुद्धि ही अध्यास है अर्थात् उससे भिन्नमें उसकी बुद्धि ही अध्यास है, ऐसा

सत्यानन्दी-दीपिका

प्रत्युत उससे अध्यास अधिक दृढ होता है, क्योंकि यज्ञ आदि कर्मका फल कर्ता तभी भोग सकता है जब इस देहसे कर्ता, भोक्ता आत्माको (अपनेको) भिन्न समझे, अन्यथा-स्वर्ग आदि फल बोधक शास्त्र निरर्थक सिद्ध होगा। सुतरां कर्म शास्त्र अपनी सार्थकताके लिए देहसे भिन्न कर्ता, भोक्ता आत्माकी अपेक्षा रखता है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूं, मैं कर्ता भोक्ता संसारी हूं' ऐसा ज्ञान ही कर्मोंमें अपेक्षित है। इसलिए अनादि अविद्या जन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्राह्मणत्व आदि अभिमान युक्त पुरुषको लेकर ही विधि, निषेध शास्त्र प्रवृत्त होते हैं। दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि इससे विपरीत उपनिषद्–गम्य क्षुधा, पिपासा आदि द्वन्द्वोंसे तथा ब्राह्मणत्व आदि मिथ्या अनात्म-अभिमान रहित आत्मसाक्षात्कार विधि, निषेध शास्त्रमें अधिकृत नहीं है, कारण कि उसका उसमें उपयोग नहीं है और साथ-साथ अधिकारका विरोध भी है। इसलिए ब्रह्माभिन्न आत्मसाक्षात्कारके पूर्व प्रवर्तमान विधि, निषेध शास्त्र अविद्वान्का ही आश्रय करते हैं। जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति अध्यासमें प्रमाण हैं वैसे ही शास्त्र भी प्रमाण है। यथा **'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत'** (ब्राह्मणत्व अभिमान वाला ब्राह्मण बृहस्पतिसव नामक याग करे) **'राजा राजसूयेन यजेत'** (क्षत्रियत्व अभिमानवाला राजा राजसूय नामक याग करे) यह श्रुति वाक्य आत्मामें ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व वर्णका, **'न ह वै स्नात्वा भिक्षेत'** (ब्रह्मचारी स्नानकर-समावर्तनके अनन्तर गृहस्थाश्रममें आकर भिक्षा न करे) **'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत'** (गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाला ब्रह्मचारी अपने समान धर्मपत्नीको प्राप्त करे) इत्यादि वेद वाक्योंसे आत्मामें ब्रह्मचारी आदि आश्रमोंका, **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'** (ब्राह्मण बालकका आठवें वर्षमें उपनय संस्कार करे) यह वेद वाक्य आत्मामें वर्ण और आयुका, **'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत'** (नव जात पुत्र वाला तथा कृष्ण केशों वाला व्यक्ति श्रौताग्निका आधान करे) यह श्रुति वाक्य आत्मामें यौवन आदि अवस्था विशेषका अध्यास प्रतिपादित करता है।

अथवा अवस्था अध्यास **'अप्रतिसमाधेयव्याधीनां जलादिप्रवेशेन प्राणत्यागः'** (प्रतिकार रहित व्याधि ग्रस्त व्यक्ति जल आदिमें प्रवेश कर प्राण त्याग करे)। **'वर्णाश्रमवयोवस्थादि'** इस भाष्य वाक्यमें प्राप्त आदि पदसे ब्रह्महत्यादि महापातक और गोवध आदि उपपातकोंका अध्यास भी ग्रहण करना चाहिए। पातकोंके विषयमें विशेष विवरण मनुस्मृतिके अध्याय ११, श्लोक ६८ आदिमें द्रष्टव्य है। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमें ब्राह्मण आदि वर्ण, आश्रम आदिमें अभिमान रखनेवाले व्यक्तिका अनुवाद पूर्वक अध्यासका समर्थन प्राप्त होता है।

यद्यपि आक्षेप तथा समाधान द्वारा आत्मा और अनात्माका अध्यास प्रमाण सिद्ध है, तो भी यह अनर्थका हेतु कैसे है तथा किसका किसमें अध्यास है? इन शङ्काओंका प्रथम अध्यासके लक्षणका स्मरण कराते हुए भगवान् भाष्यकार **'अध्यासो नाम'** इत्यादिसे समाधान करते हैं—

* **'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः अध्यासः'** (रजत भिन्न शुक्तिमें रजत बुद्धि ही अध्यास है) यह अध्यास

स्तद्बुद्धिरित्यवोचाम। तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति; तथा देहधर्मान्—स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान्—मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान्—कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्। एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य, तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्य-

---

पहले हम कह चुके हैं। जैसे कि कोई पुत्र, स्त्री आदिके अपूर्ण और पूर्ण होनेपर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, इस प्रकार बाह्य पदार्थोंके धर्मोंका अपनेमें अध्यास करता है। तथा 'मैं स्थूल हूँ' मैं कृश हूँ, मैं गौर हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं जाता हूँ, मैं लाँघता हूँ, इस प्रकार देहके धर्मोंका अध्यास करता है। और 'मैं मूक हूँ, काना हूं, नपुंसक हूँ, बधिर हूं, अन्धा हूं' इस प्रकार इन्द्रियोंके धर्मोंका अध्यास करता है। इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरणके धर्मोंका अपनेमें अध्यास करता है। इसी प्रकार अहं प्रत्यय (वृत्ति) वाले अन्तःकरणका अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके

सत्यानन्दी-दीपिका

लक्षण '**स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः**' इस पूर्वोक्त लक्षणका संक्षेपमात्र है। यहाँ 'अहम्' यह धर्मीका तादात्म्याध्यास है और 'मम' यह धर्माध्यास है। धर्माध्यासके विना केवल धर्मी अध्यास अनर्थका हेतु नहीं है। धर्माध्यास ही साक्षात् अनर्थमय संसारका हेतु है। इसलिए भगवान् भाष्यकार पहले 'तद्यथा' इत्यादिसे धर्माध्यासका ही उदाहरण द्वारा विस्तार पूर्वक उल्लेख करते हैं।

"**कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव** (बृ० १।५।३)" (इच्छा, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, ज्ञान, भय यह सब मन ही है) इत्यादि श्रुतिसे काम आदि सब अन्तःकरणके ही धर्म कहे गए हैं। इस प्रकार धर्मोंका अध्यास कहकर 'एवमहम्' इत्यादिसे धर्मियोंका अध्यास कहते हैं। अन्तःकरणकी सुख दुःख आदि वृत्तियोंके प्रकाशक अन्तरात्मामें पहले तो 'मैं' ऐसी अहंवृत्तिरूप ज्ञानके आश्रयभूत अन्तःकरणका स्वरूप अध्यास होता है, तदनन्तर अन्तःकरणके सुख दुःख आदि धर्मोंका अध्यास होता है। इसी प्रकार धर्मी अध्यास पूर्वक धर्माध्यास होने पर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि लोक प्रसिद्ध व्यवहार होता है। इस प्रकार अन्तःकरण आदिका आत्मामें स्वरूपाध्यास दिखलाकर अब आत्माका अनात्म-अन्तःकरणमें 'तं च' इत्यादिसे संसर्गाध्यास दिखलाते हैं। आत्मा अहंकार आदि प्रपञ्चसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिए उसके साथ आत्माका स्वरूपाध्यास न होकर संसर्गाध्यास-कल्पिततादात्म्य सम्बन्ध है। बुद्धि आदिका आत्मामें स्वरूपाध्यास होनेसे उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिकी मिथ्या प्रतीति होती है। यदि आत्माका बुद्धि आदिके साथ संसर्गाध्यास न मानें तो उसमें चैतन्य आदिकी प्रतीति कदापि नहीं होगी, अतः दोनोंका परस्पर अध्यास मानना ही युक्त है।

अब 'एवमयम्' इत्यादि भाष्यसे उक्त अध्यासका उपसंहार करते हैं। "**विस्तरेण निरूपितस्य पदार्थस्य सारांशकथनेन तन्निरूपणसमापनमुपसंहारः**" (विस्तारसे निरूपित पदार्थका सारांश कथनसे उसके निरूपणकी समाप्ति उपसंहार है) यह इसका लक्षण है। अविद्या अनादि है, उसका कार्य होनेसे अध्यास भी अनादि है। जैसे बीजसे अङ्कुर और अङ्कुरसे पुनः बीज, इस प्रकार प्रवाहरूप होने से इसे नैसर्गिक कहा गया है। इस अध्यासका उपादान कारण अनादि अविद्या है और निमित्तकारण पूर्व-पूर्व अध्यासके संस्कार। ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानके विना निवृत्त न होनेके कारण यह अनन्त कहा गया है। इसमें '**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा**' (भ० गी० १५।३) (संसार

स्यति । एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः । अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते । यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः ।

साक्षीभूत प्रत्यगात्मामें अध्यास-आरोपकर और इसके विपरीत उस सर्व साक्षी प्रत्यगात्माका अन्तःकरण आदिमें अध्यास करता है, तो इस प्रकार अनादि अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानरूप और [आत्मामें] कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका प्रवर्तक अध्यास सर्वजन प्रत्यक्ष है ।

इस अनर्थके हेतुभूत अध्यासकी समूल निवृत्तिके लिए तथा ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान प्राप्तिके लिए सब वेदान्तोंका आरम्भ होता है । जिस प्रकार सब वेदान्तोंका यह ब्रह्मात्मैकत्व प्रयोजन है, उसे उसी प्रकार हम यहां शारीरक मीमांसामें दिखलाएगे ।

सत्यानन्दी दीपिका

वृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचार कालमें उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि न तो इसका आदि और न अन्त है, न स्थिति तथा मायामय होनेसे मिथ्या प्रतीत होता है) यह स्मृति प्रमाण भी है । अतः यह कार्याध्यास मिथ्या प्रत्यय रूप है ।

आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक अनर्थोंका हेतु अध्यास है । इसकी कारण भूत अनादि अविद्याकी अत्यन्त निवृत्तिके लिए 'ब्रह्म और आत्मा एक है' इस प्रकारके ज्ञान सिद्धिके लिए वेदान्तों-उपनिषदोंका आरम्भ आचार्योंने माना है । तात्पर्य यह है कि वेदान्तोंका विषय जीव ब्रह्मकी एकता है तथा अनर्थकी अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति रूप मोक्ष इनका प्रयोजन है यहां निवृत्ति शब्द मिथ्यारूप प्रतीति समझना चाहिए ! वेदान्त विचारका जो विषय और प्रयोजन है वही विषय और प्रयोजन वेदान्तके विचारात्मक शारीरक मीमांसा शास्त्रका भी है ।

इस ग्रन्थको शारीरक मीमांसा इसलिए कहा जाता है कि **'शीर्यत इति शरीरम्'** (नाशको प्राप्त होता है, अतः इस स्थूल देहको शरीर कहते हैं) अथवा **'कुत्सितं शरीरं शरीरकं तत्र भव शारीरकम्'** (घृणित होनेसे यह शरीर ही शरीरक है और शरीरकमें रहनेवाले जीवको शारीरक कहते हैं) जीवका ब्रह्म रूपसे जो विचार वह शारीरक मीमांसा है । जीव-ब्रह्मका ऐक्य विचार प्रशंसनीय होनेसे पूजित है, क्योंकि इसी विचारसे जीव का परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है अन्यथा नहीं, इस हेतुसे इस प्रकृत ग्रन्थको शारीरक मीमांसा कहा जाता है । उपनिषदोंमें जो प्राण आदि उपासनाओंका वर्णन है वह चित्तकी एकाग्रता और शुद्धि द्वारा जीव ब्रह्मके अभेद ज्ञान होनेमें सहायक है, इस प्रकार उपासनाओंका भी जीव-ब्रह्मकी एकतामें ही तात्पर्य है । उपर्युक्त रीतिसे विषय और प्रयोजन सिद्ध होनेसे यह शास्त्र आरम्भणीय है, यह सिद्ध हुआ ।

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः

[अत्र पादे स्पष्टलिङ्गयुक्तानां वाक्यानां विचारः]

“इस पादमें स्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग युक्त वाक्योंका विचार है”

[१ जिज्ञासाधिकरणम् । सू० १]

❀ वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

व्याख्यानके विषयीभूत वेदान्तमीमांसा शास्त्रका यह आदि सूत्र है अर्थात् जिसकी हम व्याख्या करना चाहते हैं उस वेदान्त मीमांसा शास्त्रका यह प्रथम सूत्र है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥ १ ॥

पदच्छेद—अथ, अतः, ब्रह्मजिज्ञासा।

सूत्रार्थ—विवेक आदि साधन चतुष्टय रूप सम्पत्ति सिद्धिके अनन्तर कर्म फलके अनित्य और ज्ञान फल मोक्षके नित्य होनेसे मुमुक्षुको ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि अध्यासकी सिद्धिके अनन्तर विषय और प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर प्रस्तुत ग्रन्थका आरम्भ करना युक्त है, तथापि इस विचारका विषय वेदान्त पूर्व मीमांसा (यज्ञ आदि कर्म समुदायका प्रतिपादक वेदके पूर्व भागका विचारात्मक) से गतार्थ है कि नहीं ? इस प्रकार प्रश्नके उपस्थित होनेपर प्रस्तुत शास्त्रके आरम्भमें सन्देह हो जाता है कि क्या यह ग्रन्थ आरम्भणीय है कि नहीं ? मीमांसक मतमें समस्त वेदका तात्पर्य विधिमें है। **“आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्”** (वेद क्रियार्थक है अक्रियार्थक वेद अनर्थक है)। जैसे कि ‘यजेत’ (याग करे) ‘जुहुयात’ (अग्निहोत्र करे) इत्यादि विधियाँ हैं। वेदमें यज्ञ आदि अनुष्ठानकी आज्ञा विधि कही जाती है। प्रवृत्ति निवृत्ति रहित सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद वाक्य-मन्त्र, नामधेय तथा अर्थवादका विधि वाक्यके साथ एकवाक्यता कर धर्ममें प्रामाण्य माना गया है। **“अथातो धर्मजिज्ञासा”** (जै० सू० १।१।१) इत्यादि जैमिनि मुनि प्रणीत सूत्रों द्वारा विधि आदिका विचार किया गया है। इस प्रकार विधिका विचार किए जानेपर वेदान्त गतार्थ है अर्थात् धर्म आदिसे पृथक् जीव ब्रह्मका ऐक्य रूप विषय वेदका अर्थ-प्रयोजन नहीं है, अतः जीव-ब्रह्मकी एकता रूप विषयके स्थिर न होनेसे इस शास्त्रका आरम्भ निष्फल है ? समाधान—तात्पर्य यह है कि यदि ‘यजेत’ इत्यादि विधियोंको ही वेदका अर्थ मानें तो ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण सिद्ध न होगा, परन्तु सर्वज्ञकल्प भगवान् बादरायण (वेदव्यास) द्वारा ब्रह्मसूत्रकी रचना यह सिद्ध करती है कि वेदान्तसे अतिरिक्त अन्य शास्त्रसे ब्रह्म अवगत नहीं है। इसलिए अन्य शास्त्रसे अप्रतिपाद्य ब्रह्म बोधक वेदान्त विचारात्मक प्रस्तुत शास्त्रका आरम्भ युक्त है। इस प्रकार विषय और प्रयोजन दोनों सिद्ध हुए। **“अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः”** (जो अल्प अक्षरोंवाला, असंदिग्ध अर्थवाला, सारयुक्त बहुमुखी, आकारमें छोटा और निर्दोष हो, उसे सूत्रवेत्ता सूत्ररूपसे जानते हैं) यह सूत्रका लक्षण है।

शंका—ब्रह्म विषयक जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए ? **समाधान**—

“विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। निर्णय (संगति) श्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्”

“विषयः सन्देहः संगतिः पूर्वपक्षः सिद्धान्त इत्येकैकमधिकरणं पञ्चावयवं ज्ञेयम्”

“विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और निर्णय इस प्रकार शास्त्रमें प्रत्येक अधिकरण पञ्चावयव विशिष्ट कहा गया है।”

सत्यानन्दी-दीपिका

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ । दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ (सां०का०१)

जिनसे प्रत्येक संसारी महान् दुःखका अनुभव करता रहता है, तथा जिनकी अत्यन्त निवृत्ति चाहता है वे अनुभूयमान दुःख आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक भेदसे शास्त्रोंमें तीन प्रकारके कहे गए हैं। उनमेंसे मनुष्य, पशु, पक्षी जल-थल, अग्नि आदि भूतोंके निमित्तसे उत्पन्न दुःख आधिभौतिक, ग्रह, पिशाच, राक्षस आदिसे उत्पन्न दुःख आधिदैविक कहा जाता है। शारीरिक तथा मानसिक इस भेदसे आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारका है। वात, पित तथा कफ इन तीनसे अथवा भुक्त अन्न, जल आदिसे परिणत रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य इन सात धातुओंसे इस स्थूल शरीरकी रचना होती है। इनके सम रहनेसे शरीर स्वस्थ रहता है और विषमतासे शरीरमें कोई न कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है, जिससे दुःखका अनुभव होता है। विषय सम्बन्धी काम, क्रोध आदिसे उत्पन्न दुःख मानसिक कहा जाता है। इन दुःखोंसे आक्रान्त पुरुषको इनसे मुक्त होनेके लिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।

शंका—लौकिक उपाय बहुत हैं, जिनसे उक्त दुःख हटाए जा सकते हैं। जैसे औषधि आदिके सेवनसे शारीरिक रोग निवृत्त हो सकता है तथा सुन्दर स्त्री आदिकी प्राप्ति द्वारा काम आदि जन्य मानसिक दुःखोंकी निवृत्ति संभव है। मणि, मन्त्र आदिके अनुष्ठानसे आधिदैविक दुःख निवृत्त हो सकते हैं। नीति शास्त्र आदिकी कुशलतासे आधिभौतिक दुःखोंका भी जब प्रतिकार हो सकता है, तो फिर अतिपरिश्रम साध्य ब्रह्मकी जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए? **समाधान**—यद्यपि समुचित लौकिक उपायोंसे उक्त दुःखोंकी यत्किञ्चित् निवृत्ति हो सकती है, तो भी दुःख मात्रकी अत्यन्त निवृत्ति तो ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानके बिना नहीं हो सकती, अतः ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है। **शंका**—यदि लौकिक उपायोंसे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती तो यज्ञ आदि वैदिक उपायोंसे हो जाएगी? **समाधान**—**'दृष्टवदानुश्रविकः'** (यज्ञ आदि वैदिक कर्म कलाप भी लौकिक उपायोंके समान ही हैं) क्योंकि **"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते"** (छा० ८।१।६) (जैसे यहाँ लौकिक कर्मोंसे सम्पादित अन्नादि फल नष्ट हो जाता है, वैसे ही वैदिक पुण्य कर्मोंका स्वर्ग आदि फल भी क्षीण हो जाता है) इत्यादि श्रुति प्रमाण है। जैसे साधनोंके तारतम्यसे लौलिक फलोंमें सातिशय-तारतम्य होता है; वैसे ही ज्योतिष्टोम, वाजपेय आदि वैदिक साधनोंके तारतम्यसे स्वर्ग आदि फलोंमें भी तारतम्य होता है। सातिशय फल अनित्य है। इसमें **"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥"** (गी० ९।२१) (वे पुण्यशाली उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं) यह स्मृति प्रमाण है। इसलिए **"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥"** (गी०८।१६) 'परन्तु हे कौन्तेय! मुझ आत्माको अभिन्नरूपसे प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि मैं नित्य, व्यापक, सबका अभिन्न अन्तरात्मा हूँ।' **"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे ॥"** (मु० २।२।४) (उस प्रत्यगभिन्न परब्रह्मके साक्षात्कार होनेसे हृदय ग्रन्थि (चित् जड़ ग्रन्थि) टूट जाती है आत्मविषयक सब सन्देह नष्ट हो जाते हैं तथा सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं) इत्यादि श्रुति, स्मृतिसे यह सिद्ध होता है कि वेदान् शास्त्रसे भिन्न अन्य शास्त्रोंके श्रवण आदिसे संशय और विपर्यय निवृत्त नहीं होते, क्योंकि कोई इ स्थूल शरीर, कोई श्रोत्र आदि इन्द्रिय, कोई मन, बुद्धि आदिको आत्मा मानते हैं। तथा कोई आत्माका अणु परिमाण कोई मध्यम परिमाण मानते हैं। कोई आत्माको कर्ता, भोक्ता तथा व्यापक कहते

❀ तत्र अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः; ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्। मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्। ❀ सति चान-

---

सूत्रस्थ अथ शब्द आनन्तर्यार्थक परिगृहीत है, आरम्भार्थक नहीं, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ नहीं किया जा सकता और मङ्गलका वाक्यार्थमें समन्वय नहीं होता, इसलिए अन्य अर्थमें (आनन्तर्यार्थमें) प्रयुक्त हुआ ही अथ शब्द श्रवण द्वारा मङ्गलरूप प्रयोजन वाला होता है। फल (विचार) की कारण भूत पूर्व प्रकृत (पूर्ववर्तमानके) साथ जो अपेक्षा है उसका आनन्तर्यसे भेद नहीं है।

सत्यानन्दी दीपिका

हैं, कोई केवल भोक्ता मानते हैं। कोई आत्माको जड़, कोई चेतन, कोई जड़ चेतन उभयात्मक मानते हैं। इस प्रकार अनेक मतोंके श्रवणसे अव्युत्पन्न श्रोताको आत्मविषयक सन्देह आदि होना स्वाभाविक है। इनमेंसे किसी एक मतमें आस्थाको भ्रान्ति ही समझना चाहिए उससे अनर्थमय संसारकी निवृत्ति नहीं होगी। जहाँ सन्देह और प्रयोजन होता है वहाँ ही जिज्ञासा होती है। उस सन्देह की निवृत्ति और प्रयोजनकी सिद्धि वेदान्त शास्त्रके विचारसे ही हो सकती है अन्यथा नहीं, अतः सुतरां ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है। इस प्रकार प्रत्यगभिन्न ब्रह्मतत्त्वके जिज्ञासुको यहाँ अधिकारी १ समझना चाहिए। इसी आशयको सूत्रकारने सूत्रस्थ 'अथ' शब्दसे सूचित किया है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस 'अथ' शब्दका अर्थ यहाँ आनन्तर्य है। आनन्तर्यसे अभिप्राय यहाँ उन्हीं साधनोंसे है जिनकी सिद्धिके अनन्तर मुमुक्षुको ब्रह्मजिज्ञासा स्वयमेव होती है। यद्यपि **"मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथोऽथेति"** अमरकोशके इस वचनसे अथ शब्दके 'मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, कार्त्स्न्य (पूर्ण) इत्यादि अनेक अर्थ बताए गए हैं। और इन्हीं अर्थोंमें आचार्योंने अथ शब्दका प्रयोग भी किया है। जैसे 'अथ योगानुशासनम्' योग दर्शनके इस प्रथम सूत्रमें 'अथ' शब्द 'आरम्भ' अर्थमें प्रयुक्त है। और "अथातो धर्मजिज्ञासा" "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसाके इन प्रथम सूत्रोंमें अथ शब्द 'अनन्तर' अर्थमें प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि आचार्योंको यहाँ आनन्तर्य अर्थ ही अभिप्रेत है।

❀ यहाँ 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य है आरम्भ नहीं, क्योंकि इस सूत्रमें जिज्ञासा पद भी है।

---

[१] टि०—अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध ये चारों अनुबन्ध चतुष्टयनामसे शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। "ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्" (ग्रन्थमें प्रवृत्तिके प्रयोजक ज्ञान "मदिष्टसाधनम्"का विषय अनुबन्ध है) यहां साधन चतुष्टय सम्पन्नता ही अधिकारीका लक्षण है। विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता ये साधन चतुष्टय हैं। आत्मा सत् है और अनात्म-जगत् असत् (मिथ्या), इस भेद ज्ञानका नाम विवेक है। विवेक वैराग्यमें हेतु है, इस लोक तथा परलोकके भोगोंमें नितान्त अरुचि वैराग्य है। अनन्तर षट्सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती है। शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा, ये छः षट् सम्पत्ति कहे जाते हैं। विषयोंसे मनका निग्रह शम और इन्द्रियोंका निग्रह दम है। वेद तथा गुरुवाक्योंमें विश्वास श्रद्धा है। संयत्त मनको विषयोंकी ओर न जाने देनेका नाम समाधान है, त्यक्त पदार्थोंकी पुनः इच्छा न हो वह उपरति है। भूख, प्यास आदि द्वन्द्वोंका सहन तितिक्षा है। प्रत्यगभिन्न ब्रह्मकी प्राप्ति तथा अनर्थकी अत्यन्त निवृत्ति मोक्षका स्वरूप है, उसकी प्राप्तिकी इच्छाका नाम मुमुक्षुता है। उक्त साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी कहा जाता है। विषय और प्रयोजनका पहले वर्णन हो चुका है। विषय और ग्रन्थका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, अधिकारी और विषयका प्राप्य-प्रापकभाव सम्बन्ध है, इसप्रकार यह अनुबन्ध चतुष्टय है।

र्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते, एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं वि-

---

तो अथ शब्दके आनन्तर्यार्थक होने पर जैसे धर्मजिज्ञासा पहले नियमसे होनेवाले कारण भूत वेदाध्ययनकी अपेक्षा रखती है, वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा भी पहले नियमसे रहनेवाली जिस वस्तुकी अपेक्षा रखती हो उसे कहना चाहिए। [यदि स्वाध्यायका आनन्तर्य माना जाय तो वह ठीक नहीं, क्योंकि]

सत्यानन्दी-दीपिका

क्या जिज्ञासा पदका अर्थ ज्ञानकी इच्छा है अथवा लक्षणासे विचार ? प्रथम पक्षमें 'अथ' शब्दके आरम्भार्थक होनेसे ब्रह्मज्ञानकी इच्छा आरम्भकी जाती है, ऐसा सूत्रका अर्थ होगा, परन्तु यह अर्थ असङ्गत है, क्योंकि इच्छा आरम्भ करने योग्य नहीं है। प्रत्येक अधिकरणमें इच्छाका आरम्भ नहीं होता, किन्तु उसके द्वारा विचार किया जाता है। दूसरे पक्षमें कर्तव्य पदका अध्याहार किए विना यह अर्थ सिद्ध नहीं होता, सूत्रमें कर्तव्य पदके अध्याहार करनेपर उससे ही आरम्भ अर्थ हो जाता है तो इसका ब्रह्मबिचार करना चाहिए अर्थात् ब्रह्मविचारका आरम्भ करना चाहिए यह अर्थ होता है। इस प्रकार 'कर्तव्य' पदसे 'अथ' शब्दके अर्थके निकल आनेसे 'अथ' शब्द व्यर्थ होगा, इसलिए दूसरा पक्षभी युक्त नहीं है। अतः अधिकारीकी सिद्धिके लिए 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य ही संगत है। अपिच जैसे 'अथ' शब्दका अर्थ यहाँ आरम्भ अभिप्रेत नहीं है, वैसे मङ्गल भी अभिप्रेत नहीं, क्योंकि मङ्गल वाक्यार्थमें समन्वित नहीं होता, पदार्थ ही वाक्यार्थमें समन्वित होता है। वह पदार्थ चाहे वाच्य हो अथवा लक्ष्य। यहाँ मङ्गल न तो 'अथ' शब्दका वाच्यार्थ है और न लक्ष्यार्थ ही। इसलिए सूत्रस्थ 'अथ' शब्दका मङ्गल अर्थ भी नहीं है। 'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥' (सृष्टिके आदिकालमें 'ओंकार और अथ' ये दोनों शब्द ब्रह्माके कण्ठसे निकले हैं, इसलिए दोनों माङ्गलिक हैं) यद्यपि स्मृति वाक्यसे 'अथ' मङ्गलार्थक मात्र ही सिद्ध होता है, फिरभी भगवान् सूत्रकारने 'अथ' शब्दको मुख्यतः मङ्गलार्थक न कहकर आनन्तर्य वाची कहा है, क्योंकि आनन्तर्यार्थमें प्रयुक्त होनेपर भी यह 'अथ' शब्द श्रवणमात्रसे मङ्गलरूप अर्थ तो सिद्ध कर ही देता है। जलपूर्ण कलश अथवा शंखध्वनि आदि अपने-अपते अर्थमें प्रयुक्त होनेपर भी जैसे दर्शक अथवा श्रोताको मङ्गलरूप सिद्ध होते हैं। ऐसे ही 'अथ' शब्द भी श्रवणमात्रसे मङ्गल सिद्ध करता हुआ आचार्यके अभिप्रेत अनन्तर अर्थको भी स्पष्ट करता है। इसलिए कार्यको अपनी उत्पत्तिमें कारण सामग्रीकी अपेक्षा होती है, 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं यदभावे यदभावः' (जिसके होनेपर जिसका अस्तित्व हो और जिसके न होनेपर अभाव हो) वहीं कार्य कारणभाव होता है, अतः यहाँ जिस कारणके होनेपर जिज्ञासारूप कार्य हो और जिस कारणके न होनेपर जिज्ञासारूप कार्य न हो, वही जिज्ञासारूप कार्यके प्रति पूर्व वृत्त होता है अर्थात् असाधारण कारण होता है। यदि यहाँ जिज्ञासा पदके द्वारा उक्त कर्तव्य विचारको फल मानें तो उनके हेतुरूपसे जो पूर्ववृत्त है उसकी अपेक्षा होगी। उसके बलसे प्रकृत हेतुका आक्षेपकर उससे अर्थान्तर कहें तो वह अर्थान्तर आनन्तर्यके ही अन्तर्भूत होता है, क्योंकि हेतु और फलभावके ज्ञानके लिए आनन्तर्य अवश्य मानना चाहिए। अतः यहां 'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य ही युक्ति युक्त है।

* 'अथातो धर्मजिज्ञासा' जैसे यहां धर्मकी जिज्ञासा तभी हो सकती है जब वेदाध्ययन किया हो, इसलिए धर्मजिज्ञासा नियमसे अपनेसे पूर्व विद्यमान कारण वेदाध्ययनकी अपेक्षा रखती है, वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासा भी नियमतः अपनेसे पूर्व जिस कारणकी अपेक्षा रखती है उसे कहना चाहिए। यदि

शेषः । न; धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः । ॐ यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः; क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च । अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं,

स्वाध्यायका आनन्तर्य तो दोनों (धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा) में समान है । यदि कहो कि ब्रह्मजिज्ञासामें धर्मजिज्ञासासे कर्म ज्ञानका आनन्तर्य विशेष है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अधीत वेदान्त पुरुषको भी धर्मजिज्ञासासे पहले ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है ।

और जैसे हृदय आदिके अवदानों (छेदन) में आनन्तर्य क्रमका नियम है, क्योंकि वहाँ क्रम विवक्षित है, वैसे यहाँ (ब्रह्म जिज्ञासामें) क्रम विपक्षित नहीं है । धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें अङ्गाङ्गिभाव अथवा अधिकृताधिकार माननेमें कोई प्रमाण नहीं है, एवं दोनोंके फल और जिज्ञास्यमें

सत्यानन्दी-दीपिका

स्वाध्याय (पितृ आदि परम्परासे प्राप्त वेद शाखाका अध्ययन) के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा स्वीकार करें तो यह अर्थ **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** इस सूत्रसे ही सिद्ध हो जाएगा, फिर **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इस नूतन सूत्रकी रचना व्यर्थ सिद्ध होगी । इसलिए वेदाध्ययनके आनन्तर्यसे भिन्न आनन्तर्य यहां अपेक्षित है, वादीका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी आचार्य कुलमें विधिवत् वेदका अध्ययन करता है और जिज्ञास्य धर्म (यज्ञादि) का केवल ज्ञान प्राप्त कर सकता है । परन्तु वह उनका अनुष्ठान नहीं कर सकता, क्योंकि अनुष्ठेय यज्ञ आदि कर्म गृहस्थ (सपत्नीक) होकर किए जाते हैं, इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा वेदाध्ययनके अनन्तर केवल कर्मका ज्ञान होनेपर होती है । जैसे **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ।** (बृ० ४।४।२२) (उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मको वेदाध्ययनसे ब्रह्मजिज्ञासु जाननेकी इच्छा करें) यह श्रुति प्रमाण है । अतः धर्मजिज्ञासासे ब्रह्मजिज्ञासामें कर्मज्ञानका आनन्तर्य विशेष है ।

समाधान—कर्मके ज्ञानसे तथा अनुष्ठेय यज्ञादि रूप धर्मकी जिज्ञासासे पूर्व भी वेदान्त-उपनिषद्का अध्ययन करनेवाले पुरुषको ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है । यह कोई नियम नहीं है कि जब कर्मज्ञान तथा धर्म जिज्ञासा हो तभी ब्रह्म जिज्ञासा हो अन्यथा नहीं, इन दोनोंका परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं है । इसी आशयका **'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'** अथवा **'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्'** इसके विपरीत यदि वैराग्य हो तो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यास ग्रहण करे) **'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्'** (जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ग्रहण करे) इत्यादि जाबाल श्रुति प्रतिपादन करती है । अतः यह स्पष्ट है कि कर्म ज्ञानकी अथवा धर्मजिज्ञासाकी ब्रह्मजिज्ञासामें अपेक्षा नहीं है । **'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते'** (जाबाल) (उत्पन्न हुआ द्विज तीन ऋण वाला होता है) इससे जबतक अनुष्ठेय यज्ञ आदि कर्मकर देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋण इन तीन ऋणोंसे मुक्त न हो तब तक ब्रह्मचर्यसे संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता । यद्यपि इस श्रुतिवाक्यमें **'जायमानः'** इस पदका यथाश्रुत अर्थ ऐसा ही प्रतीत होता है, तो भी टीकाकारोंने इस पदका अर्थ ऐसा किया है कि **'जायमानः'** गार्हस्थ्य संपद्यमान अर्थात् विधिवत् भार्याका पाणिग्रहण रूप गार्हस्थ्यको प्राप्त होनेवाला द्विज तीन ऋणवाला होता है । ऐसा अर्थ करनेसे **'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'** इस श्रुतिवाक्यके साथ कोई विरोध नहीं है । इसलिए ब्रह्मजिज्ञासामें कर्म ज्ञानके आनन्तर्यकी अपेक्षा नहीं है ।

* वादी अब प्रकारान्तरसे आनन्तर्यका प्रतिपादन करता है कि सूत्रस्थ **'अथ'** शब्दका अर्थ क्रम हो । जैसे **'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः'** (तै० सं०) 'प्रथम उस अग्नीषोमीय पशुके हृदयका, अनन्तर जिह्वाका, अनन्तर वक्षःस्थलका छेदन करना चाहिए' यह वाक्य अग्नीषोमीय

तच्चानुष्ठानापेक्षम् । निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं, न चानुष्ठानान्तरापेक्षम् । ❀ भव्यश्च धर्मो

भी भेद है । धर्म ज्ञान अभ्युदय फलवाला है तथा वह अनुष्ठानकी अपेक्षा रखता है । ब्रह्मज्ञान तो मोक्ष रूप फलवाला है और वह अन्य अनुष्ठानोंकी अपेक्षा नहीं रखता ।

सत्यानन्दी-दीपिका

पशु यागमें श्रुत है । यहाँ 'अथ' शब्दसे अवदानका क्रम अभिप्रेत है । अथवा "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् (जावा० ४) (ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थ हो, गृहस्थ होकर पश्चात् वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करे, वानप्रस्थाश्रमी होकर संन्यास ग्रहण करे) जैसे यहाँ पर क्रम विवक्षित है, वैसे धर्मजिज्ञासाके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए । इस प्रकार 'अथ' शब्दका अर्थ क्रम हो सकता है, परन्तु यहाँ धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें क्रमका नियम नहीं है, क्योंकि हृदय आदिका अवदान तो युगपत् एक कर्तासे होना संभव नहीं है, इसलिए उनमें क्रमकी विवक्षा की गई है । 'गृही भूत्वा वनीभवेत्' । अथवा

'अधित्यविधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः । इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्' ॥

(विधिवत् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंका पालन करता हुआ आचार्य कुलमें विधिवत् वेदोंका अध्ययन कर गार्हस्थ्य होकर धर्मानुसार पुत्रोंकी उत्पत्तिके अनन्तर यथाशक्ति यज्ञों द्वारा देवोंकी प्रसन्नता संपादित कर मन मोक्षमें लगाना चाहिए) इस प्रकार श्रुति और स्मृतिमें क्रम और अधिकृत अधिकारका विशद वर्णन उपलब्ध होता है । जिसका धर्ममें अधिकार हो उसीका मोक्षमें अधिकार है इसे अधिकृत अधिकार कहा जाता है । परन्तु क्रम अथवा अधिकृत अधिकार तो उस व्यक्तिके लिए है जिसका अन्तःकरण संसारी भोग वासनाओंसे मलिन है । जिसका अन्तःकरण इस जन्म अथवा जन्मान्तर कृत निष्काम यज्ञ आदि कर्म तथा देवोपासना आदिसे शुद्ध है तथा जो विवेक आदि साधन चतुष्टय सम्पन्न है, उसके लिए तो क्रमका 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वावनाद्वा' 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जावा० ४) इत्यादि श्रुति स्वयं खण्डन करती है ।

जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' (स्वर्गकी कामना वाला पुरुष दर्श, पूर्णमास याग कर सोम याग करे) यहाँ दर्श, पूर्णमास याग अङ्गी है और जिन प्रयाज आदि क्रियाओं द्वारा वह निष्पन्न होता है वे क्रियाएँ यागके अङ्ग हैं । इसलिए दर्श, पूर्णमास याग अङ्गी प्रधान हैं और प्रयाज आदि क्रियाएँ उनके अङ्ग-(अप्रधान) हैं । इस प्रकार दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव है । वैसे इन जिज्ञासाओंमें अङ्गाङ्गिभाव भी नहीं है । क्योंकि दोनोंमें, प्रधान और अप्रधानभाव नहीं है । अधिकृताधिकार से अभिप्राय यह है कि एक विषयमें अधिकार पानेवाला व्यक्ति अन्य विषयोंमें भी अधिकार सम्पन्न होता है । (क) जैसे दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' जो दर्श पूर्णमास यागमें अधिकृत है उसका ही सोम यागमें अधिकार है अर्थात् जो प्रधान यागमें नियत अधिकृत होता है वही अङ्गों अथवा भिन्न यागमें अधिकारी होता है । (ख) दर्श पूर्णमास यागमें चमससे जल आनयनका विधान है । परन्तु यदि पशु कामनावाला हो तो 'गोदोहनेन पशुकामस्य' (पशु की कामना वाला गोदहन नामक पात्र से जल लावे' यहाँ जो पुरुष दर्श पूर्णमास यागमें अधिकृत है उसका गोदोहन पात्रसे जल ले आनेमें अधिकार है । परन्तु प्रकरणमें ऐसा नहीं है । जो धर्मजिज्ञासामें अधिकृत हो यदि वही ब्रह्मजिज्ञासामें भी अधिकारी हो तो अधिकृताधिकार हो सकता है । परन्तु ऐसा यहाँ नहीं है, क्योंकि दोनोंके अधिकारी आदि भिन्न-भिन्न हैं । जैसे अधिकारीके भेदसे अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रका क्रम नहीं है, वैसे यहाँ भी है । किञ्च दोनों जिज्ञासाओंके फल और विषयमें भी भेद है । यथा धर्मज्ञानका फल अभ्युदय और ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष है, इससे दोनों प्रकारके क्रम नहीं हैं । अतः अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है ।

जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्। तस्मात्किमपि वक्तव्यम्-यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। * उच्यते-नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहा-

---

धर्मजिज्ञासाका विषय धर्म भव्य (साध्य) है और ज्ञानकालमें नहीं है, क्योंकि वह पुरुष व्यापारके अधीन है। यहां-ब्रह्ममीमांसामें तो सिद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है, क्योंकि वह नित्य है, इसलिए पुरुषव्यापारके अधीन नहीं है। किञ्च बोधक प्रमाणकी प्रवृत्तिके भेदसे भी जिज्ञास्य-भेद है। जो विधि धर्मका लक्षण (ज्ञापक) है वह पुरुषको स्वविषयमें नियुक्त करती हुई बोधकराती है। ब्रह्मबोधक प्रमाण तो पुरुषको केवल बोधही कराता है अवबोध ब्रह्मप्रमाणसे जन्य है। इसलिए ब्रह्मप्रमाण (अयमात्मा ब्रह्म) पुरुषको ज्ञानमें नियुक्त नहीं करता। जैसे इन्द्रिय विषयके सन्निकर्षसे उत्पन्न ज्ञानमें नियुक्ति नहीं होती। इसलिए जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश किया जाता है ऐसा कोई असाधारण हेतु कहना चाहिए। कहते हैं—नित्य और अनित्य वस्तुका विवेक, इसलोक तथा

सत्यानन्दीदीपिका

* यदि धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासामें क्रमरूप आनन्तर्य नहीं है, तो कर्म और ज्ञान दोनोंसे ही मोक्ष मानना चाहिए, क्योंकि हमारे (समुच्चय वादियोंके) मतमें ज्ञान कर्म समुच्चयसे मोक्ष प्राप्ति मानी जाती है। परन्तु यह समुच्चयवाद भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि धर्म और ब्रह्मज्ञानका स्वरूप, फल और हेतु भिन्न-भिन्न हैं। धर्मजिज्ञासाका विषय धर्म है, वह जन्य होनेसे अनित्य है और ज्ञानकालमें नहीं है अर्थात् प्रत्येक कर्मकी उत्पत्तिसे पूर्व उसका ज्ञान होता है, पश्चात् उसके संपादन करनेकी इच्छा, अनन्तर पुरुष-प्रयत्नसे उसकी निष्पत्ति होती है, इससे धर्म साध्य है। परन्तु ब्रह्म तो नित्य सिद्ध वस्तु है, अतः वह पुरुषकी किसी भी क्रियासे उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) 'ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्' (सृष्टिके पहले यह सब एक अद्वितीय ब्रह्म ही था) 'एष महानज आत्मा' (यह आत्मा महान् अज है) 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (भ० गी० २।२०) (यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है) इत्यादि श्रुति-स्मृति भी ब्रह्मको नित्य सिद्ध कहती हैं, तो इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म नित्य सिद्ध और धर्म नित्य साध्य है। इसप्रकार अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे दोनोंका स्वरूप भिन्न भिन्न है। अब 'चोदना' आदि भाष्यसे धर्म और ब्रह्ममें प्रमाणसे भी भेद दिखलाया जाता है—'अज्ञातज्ञापकं वाक्यमत्र चोदना' 'अज्ञात वस्तुका ज्ञापक (लोट्, लेट्, लिङ् आदि युक्त) वेदवाक्य अथवा शब्द यहां चोदना कहा जाता है' इन चोदनाओंके भेदसे भी जिज्ञास्य धर्म और ब्रह्ममें भेद है। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' यह विधिवाक्य अपने विषय धर्मके साधन भूत याग आदिमें प्रवृत्त करता हुआ ज्ञान कराता है और 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) (यह प्रत्यगात्मा ब्रह्म है) इत्यादि ब्रह्मचोदना 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ' इसप्रकार उत्पन्न ज्ञानमें नियुक्त नहीं करती केवल स्वरूपभूत ब्रह्मका अभेद ज्ञान कराती है जो संसारके बीजभूत अनादि अविद्यासे आवृत्त-सा है।

धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासामें जब 'अथ' शब्दका अर्थ क्रम नहीं है, तो अन्ततोगत्वा 'अथ' शब्दका अर्थ अनन्तर ही सिद्ध होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्मजिज्ञासा किसके अनन्तर कर्तव्य है ? क्योंकि अनन्तर शब्द अपनेसे पूर्वकी निश्चित अपेक्षा करता है।

मुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत् , मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते। * अतःशब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति–'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छान्दो० ८।१।६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति–ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्'

परलोकस्थ विषय भोगोंसे विराग, शम-दम आदि साधन सम्पत्ति और मुमुक्षुता (मोक्ष इच्छा)। उन साधनोंके होनेपर ही धर्मजिज्ञासासे पूर्व तथा पश्चात् भी ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिये 'अथ' शब्दसे पूर्वोक्त साधन सम्पत्तिके आनन्तर्यका उपदेश किया जाता है। अतः शब्द हेतु अर्थक है। 'तद्यथेह०' (जैसे यहां कर्मोंसे उपार्जित अन्न आदि भोग्य पदार्थ क्षीण हो जाते हैं, वैसेहो परलोकमें पुण्य कर्मोंसे सम्पादित स्वर्ग आदि भोग भी नष्ट हो जाते हैं) इत्यादि श्रुति ही श्रेयके साधनभूत अग्निहोत्र आदिका अनित्य फल दिखलाती है। इसीप्रकार 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'

सत्यानन्दी दीपिका

* 'तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति' (बृह० ४।४।२३) (अतः इसप्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें (विशुद्ध अन्तःकरणमें) ही आत्माको देखता है, सभीको आत्मा देखता है) इत्यादि श्रुति भी ब्रह्मजिज्ञासाके लिए साधन चतुष्टयसम्पन्न अधिकारीका प्रतिपादन करती है। 'तद्विजिज्ञासस्व' 'उसके जानने की इच्छा कर' क्योंकि 'ज्ञानदेव तु कैवल्यम्' (मोक्ष केवल ज्ञानसे ही होता है) अतः ब्रह्मजिज्ञासा धर्मजिज्ञासासे पूर्व तथा पश्चात् भी संभव है। इसलिए साधन चतुष्टयके होनेपरही ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेकसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञान दोनोंके प्रति साधन चतुष्टय असाधारण कारण है। साधन चतुष्ट सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मज्ञानमें अधिकारी है। परन्तु सर्वप्रथम तो साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारीका ही अभाव है, क्योंकि उन साधनोंमें से वैराग्यका संभव नहीं है। यद्यपि क्षणिक ऐहिक विषय सुखसे वैराग्यका संभव है, तो भी 'अपाम सोमममृता अभूम' (यागमें सोम पानकर हम अमर होते हैं)।

स्वर्गलोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ (कठ० १।१२)

(हे मृत्यु देव ! स्वर्ग लोकमें रोग आदि जन्य किञ्चिद् भी भय नहीं है, वहां आपका भी वश नहीं चलता, वहां कोई वृद्धावस्थासे भयभीत नहीं होता अर्थात् वहां वृद्धावस्था नहीं होती, स्वर्गलोकमें पुरुष भूख और प्यासका अतिक्रमणकर शोक रहित होकर आनन्दित होता है) इत्यादि श्रुति स्वर्गमें दुःखाभावका प्रतिपादन करती है। अतएव निरन्तर सुख होने तथा दुःखका अभाव होनेसे स्वर्गस्थ व्यक्तिको कदापि वैराग्य नहीं हो सकता। वैराग्यका अभाव होनेसे शेष साधनोंका अभाव तो स्वभावसिद्ध है, अतः इस ग्रन्थका आरम्भ व्यर्थ है। इसप्रकारकी शङ्काकी निवृत्तिके लिए भगवान् सूत्रकारने सूत्रमें 'अतः' शब्दका प्रयोग किया है।

* वादीने पहले जो यह कहा था कि अग्निहोत्र आदि कर्मोंसे सम्पादित स्वर्ग आदि फल नित्य है, अतः उसे प्राप्तकर साधक कदापि वैराग्यशील नहीं हो सकता, वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि 'तद्यथेह' तथा "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। (भ० गी० ८।१६)

(तैत्ति० २।१) इत्यादिः । तस्माद्यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या । ❀ ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं ‘जन्माद्यस्ययतः’ इति । अत एव न ‘ब्रह्म’ शब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम् । ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, न शेषे; जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च । ❀ ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं

(ब्रह्मज्ञानी मोक्षस्वरूप पर ब्रह्मको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति वाक्य ब्रह्मज्ञानसे ही परमपुरुषार्थ (मोक्ष) को दिखलाता है । इसलिए यथोक्त साधन सम्पत्तिके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए । ब्रह्मकी जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है । ‘जन्माद्यस्य यतः’ इस सूत्रमें वक्ष्यमाण लक्षणवाला ब्रह्म है । अतएव ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि ‘ब्रह्म’ शब्दका जाति आदि अन्य अर्थ है । ‘ब्रह्मणः’ यह कर्ममें षष्ठी है शेषमें नहीं, क्योंकि जिज्ञासाको जिज्ञास्यकी अपेक्षा होती है, और यहां (ब्रह्मके सिवा) अन्य

सत्यानन्दीदीपिका

“ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥” (गी० ९।२१) (हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक पुनरावर्ति स्वभाववाले हैं । वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं) इत्यादि श्रुति, स्मृति वाक्य पुण्य कर्मोंसे संपादित स्वर्ग आदि फलको अनित्य कहते हैं । और ‘यत्कृतकं तदनित्यम्’ (जो जन्य है वह अनित्य है) यह व्याप्ति भी है । ‘अपाम सोममसृता अभूम’ इत्यादि श्रुतिमें जो स्वर्ग आदि लोकोंका अमृतत्व प्रतिपादित है; उसका अभिप्राय यह है कि पृथिवी आदि लोकोंकी अपेक्षा स्वर्ग आदि लोक अधिक काल स्थायी हैं, अतः उनमें अपेक्षाकृत अमृतत्व है स्वरूपसे नहीं । किञ्च ‘आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते’ (विष्णुपुराण) (प्रलयपर्यन्त स्थायी ये स्वर्ग आदि लोक अमृत शब्दसे कहे जाते हैं) परन्तु वास्तवमें ‘अतोऽन्यदार्तम्’ (ब्रह्मसे भिन्न सब दुःखरूप मिथ्या है) इससे स्वर्ग आदि लोकस्थ भोग्य पदार्थोंसे भी विवेकीको अवश्य वैराग्य होता है । इसप्रकार साधन संपत्ति सिद्ध होनेपर अधिकारी भी सिद्ध है, उसके सिद्ध होनेसे उसके द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए यह सिद्ध हुआ । इस तरह इस ग्रन्थके आरम्भ करनेमें विप्रतिपत्तिको कोई स्थान नहीं है ।

❀ शंका—‘धर्मायजिज्ञासा’ धर्मजिज्ञासा अर्थात् धर्मके लिए जिज्ञासा, क्या इसके समान ‘ब्रह्मजिज्ञासा’ इस समस्त पदमें भी ‘ब्रह्मणे जिज्ञासा’ ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मके लिए जिज्ञासा इसप्रकार चतुर्थी तत्पुरुष समास है ? समाधान—‘जिज्ञासा’ पद ‘ज्ञा’ धातुसे इच्छा अर्थमें ‘सन्’ प्रत्ययसे निष्पन्न हुआ है इच्छाकी उत्पत्ति ज्ञानसे होती है । ज्ञान ज्ञेयके विना नहीं होता । एवं जिज्ञासा भी ज्ञानके विना नहीं होती । इसलिए इच्छा पहले अपने ज्ञानरूप कर्मकी अपेक्षा करती है पश्चात् फलकी । ज्ञानका कर्म ज्ञेय ब्रह्म है । इससे प्रथम इच्छाके कर्मरूप ज्ञानके लिए ‘ब्रह्मणो-जिज्ञासा-ब्रह्मजिज्ञासा-ब्रह्मकी जिज्ञासा’ यहां षष्ठी तत्पुरुष समास ही युक्त है । यह षष्ठी विभक्ति कर्म अर्थमें है अन्य अर्थमें नहीं, क्योंकि कर्मका ग्रहण होनेपर फल भी अपने आप अर्थतः सिद्ध हो जाता है । इच्छाका जो कर्म है वही फल है । धर्मजिज्ञासामें स्वर्ग आदि फलको मुख्य रखकर चतुर्थी तत्पुरुष समास किया गया है, परन्तु प्रकृतमें ऐसा नहीं है । यद्यपि ‘ब्राह्मणो न हन्तव्य’ (ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करनी चाहिए) ‘यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्’ (जो ब्रह्माको प्रथम उत्पन्न करता अथवा धारण करता है) ‘कर्म ब्रह्मोद्भवंविद्धि’ (कर्म ब्रह्म-वेदसे उत्पन्न हुआ जानो) ‘ब्रह्मवेदब्रह्मैव भवति’ (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है) इसप्रकार ब्रह्म शब्द ब्राह्मणत्व जाति, ब्रह्मा, वेद, परमात्मा आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता देख सन्देह होता है, तथापि प्रकृत ब्रह्म शब्द परमात्माका ही बोधक है अन्यका नहीं । जिस ब्रह्मविषयक जिज्ञासाका उल्लेख किया गया है उस ब्रह्मका लक्षण अग्रिम सूत्र दोमें कहा जायगा । यहां जिज्ञासाका जिज्ञास्य (विषय) केवल ब्रह्म ही है ।

न विरुध्यते, सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्। एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य, सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। ❀ न व्यर्थः, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न; प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्। तस्मिन्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्मजिज्ञासितं न भवति, तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि। यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्। ❀ श्रुत्यनुगमाच्च। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' (तैत्ति० ३।१) इति प्रत्यक्षमेव

जिज्ञास्यका निर्देश नहीं है। यदि कहोकि शेषमें षष्ठीके स्वीकार करनेपर भी ब्रह्ममें जिज्ञासा-कर्मत्व विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध सामान्य विशेषमें भी रहता है। इसप्रकार भी ब्रह्ममें प्रत्यक्ष कर्मत्वको छोड़कर सामान्य-सम्बन्ध द्वारा परोक्ष कर्मत्वकी कल्पना करनेवाले तुमको व्यर्थही प्रयास होगा। यदि ऐसा कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्मके आश्रित सब पदार्थोंके विचारकी प्रतिज्ञाके लिए है? तो यह युक्त नहीं है, कारणकि प्रधानका परिग्रहण होनेपर तदपेक्षित सब पदार्थोंका अर्थतः आक्षेप (ग्रहण) हो जाता है। ब्रह्म ही ज्ञानसे प्राप्त करनेके लिए इष्टतम होनेसे प्रधान है। जिज्ञासाके कर्म उस प्रधानका परिग्रह होनेपर जिन जिज्ञासितोंके विना ब्रह्म जिज्ञासित नहीं होता वे तो अर्थतः आक्षिप्त (ग्रहण) किये जाते हैं, अतः उनको पृथक् सूत्रित नहीं करना चाहिए अर्थात् सूत्रमें उनके पृथक् ग्रहणकी अपेक्षा नहीं है। जैसे कि 'यह राजा जाता है' ऐसा कहनेसे सपरिवार राजाके गमनका कथन हो जाता है, वैसे ही। और श्रुतिके अनुगमसे भी कर्ममें षष्ठी है, 'यतो वा० (जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ 'तद्विजिज्ञासस्व' (उसकी जिज्ञासा कर

सत्यानन्दी-दीपिका

* यद्यपि यह हो सकता है कि वेदान्तवाक्य जिज्ञासाके कर्म हों, ब्रह्म और जिज्ञासाका शेषशेषिभाव सम्बन्ध हो, तथापि इच्छाके कर्मरूपसे श्रुत ब्रह्मको छोड़कर अश्रुतकी कल्पना करना 'करस्थं पायसं त्यक्त्वा कूर्परं लेढि मूढधीः (मूर्खका हाथपर रखी खीरको छोड़कर कुहुनीके चाटनेके समान होगा) निष्कर्ष यह है कि कर्ममें षष्ठी स्वीकार करनेपर सूत्रद्वारा जिज्ञासाका ब्रह्मही श्रुत कर्म है। शंका—'षष्ठीशेषे' (पा० सू० २।३।५०) इस व्याकरण सूत्रके अनुसार सम्बन्ध सामान्य प्रतीत होता है। सामान्य सम्बन्धके ज्ञात होनेपर विशेष सम्बन्धकी आकांक्षा होती है? समाधान—इसप्रकारसे कर्मका लाभ होनेपर भी प्रत्यक्षतः 'कर्तृकर्मणोःकृति' (पा० सू० २।३।५) (कृदन्तके योगमें कर्तृवाचक और कर्मवाचक पदसे षष्ठी विभक्ति होती है) इस सूत्रके अनुसार ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, इस पदसे कृदन्त 'तुमुन्' प्रत्यय प्रथम प्रत्यक्ष कर्मका ज्ञान कराता है। इसलिए ब्रह्ममें प्रत्यक्ष कर्मको छोड़कर 'षष्ठीशेषे' इस सूत्रसे अश्रुत कर्मकी कल्पना करना व्यर्थ प्रयास मात्र ही तो है। शेषमें षष्ठी माननेवाले पूर्वपक्षीके अभिप्राय को 'न व्यर्थः' इत्यादिसे अभिव्यक्त करते हैं।

* पूर्वपक्षी—'षष्ठीशेषे' इस व्याकरण सूत्रके अनुसार शेषमें षष्ठी माननेसे 'ब्रह्मणोजिज्ञासा' इसका 'ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासा' ऐसा अर्थ सिद्ध होगा, इससे ब्रह्म और ब्रह्म सम्बन्धी लक्षण, प्रमाण, युक्ति, ज्ञान, साधन और फल इन सबके विचारकी भी प्रतिज्ञा हो जाएगी, क्योंकि इनकी जिज्ञासासे ही ब्रह्मज्ञान होता है। कर्ममें षष्ठी माननेसे जिज्ञासाके कर्मभूत ब्रह्मका ही केवल विचार होता है, ब्रह्मसम्बन्धी लक्षण आदिका नहीं, इस आशयसे यहां 'शेषमें षष्ठी' का ग्रहण किया गया है, अतः तत्सम्बन्धी प्रयास व्यर्थ नहीं है। सिद्धान्ती 'न' इत्यादि से इसका समाधान करते हैं, 'तद्विजिज्ञासस्व'

ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति। तस्माद्ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी। * ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म; फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिबर्हणात्। तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्। *तत्पु-

---

वह ब्रह्म है) इस वाक्यके द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे ब्रह्मको ही जिज्ञासाका कर्म दिखलाती हैं। वह कर्ममें षष्ठी माननेसे ही सूत्रसे अनुगत होता है अर्थात् सूत्रके साथ श्रुतिकी एकवाक्यता होती है, इसलिए 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी है। जाननेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है। ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान सन् प्रत्ययवाच्य इच्छाका कर्म है, क्योंकि इच्छा फल विषयक होती है। ब्रह्म ज्ञानरूप प्रमाणसे जाननेके योग्य है। ब्रह्मका साक्षात्कार ही पुरुषार्थ है, क्योंकि उससे निःशेष संसारके बीजभूत अविद्या आदि अनर्थोंकी निवृत्ति होती है। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए। वह ब्रह्म प्रसिद्ध है

सत्यानन्दी-दीपिका

(उस-ब्रह्मकी जिज्ञासा कर) यह श्रुति वाक्यभी ब्रह्मजिज्ञासाका ही प्रतिपादन करता है। सारांश यह है कि 'कर्ममें षष्ठी' माननेसे श्रुति और सूत्रकी एकवाक्यता भी होती है।

* 'श्रुत्यनुगमाच्च' यह संग्रह वाक्य है। 'विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः। निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः'॥ "सूत्र तथा भाष्यमें विस्तारसे उपदिष्ट अर्थोंका जो संक्षेपसे निबन्ध उसे विद्वान् लोग संग्रहरूपसे जानते हैं अर्थात् उसे संग्रहवाक्य कहते हैं।" यह संग्रहवाक्यका लक्षण है। भगवान् भाष्यकार इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रके साथ 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्यकी एक वाक्यता एकार्थप्रतिपादकता है अर्थात् ब्रह्मही जिज्ञासाका कर्म है इसप्रकार दोनोंका एक ही अर्थ है। परन्तु श्रुति और सूत्रका यह अर्थ तभी सिद्ध हो सकता है जब कर्ममें षष्ठी स्वीकार की जाय, अतः उक्तार्थकी सिद्धिके लिए 'ब्रह्मणः जिज्ञासा' यह कर्ममें षष्ठी है।

* यद्यपि अन्तःकरणका वृत्त्यात्मक ज्ञान इच्छाका कारण है, क्योंकि 'जानाति इच्छति ततो यतते' पहले किसी वस्तुका ज्ञान होता है, अनन्तर उसके पानेकी इच्छा, तदनन्तर उस वस्तुकी प्राप्तिके लिए यत्न, इसप्रकार ज्ञान इच्छाका कारण है, तथापि 'मैं प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप हूँ' ऐसी अखण्ड ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्ति अनावृत प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कारमें हेतु है, अतः ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त वृत्त्यात्मक ज्ञान इच्छाका कर्म है। क्योंकि जिज्ञासाके विना वेदान्त-वाक्योंके श्रवण आदिसे यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उक्त ज्ञान इच्छाका कर्म है और आवरण रहित ब्रह्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति ही फल है और वही मोक्ष है। इस तरह आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त ज्ञान सन् प्रत्यय वाच्य इच्छाका कर्म है। इसी ज्ञानको विद्या शब्दसे कहा जाता है। उससे 'मैं प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप नहीं हूँ' इस अज्ञान तथा उसके कार्य भूत अनर्थमय संसारकी भी निवृत्ति हो जाती है, परन्तु रज्जुमें कल्पित सर्प आदिकी रज्जुके ज्ञानसे जैसे अत्यन्त निवृत्ति होती है, वैसे यहां संसारकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती, अपितु बाधितानुवृत्तिरूप निवृत्ति होती है अर्थात् जैसे अज्ञानावस्थामें यह जगत् सत्य प्रतीत होता है, वैसे ज्ञानावस्थामें प्रतीत नहीं होता प्रत्युत मिथ्या प्रतीत होता है, अतः अनर्थमय जगत्की निवृत्तिके लिए ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। इस प्रकार 'अथ' तथा 'अतः' शब्दसे साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी सिद्ध होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अधिकारीके लिए ब्रह्म जिज्ञासितव्य है। इति तृतीय वर्णक।

तद्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं, न जिज्ञासितव्यम्। अथाऽप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। * उच्यते—अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिसमन्वितम्; ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते; बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। * यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति, ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं

अथवा अप्रसिद्ध ? यदि प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नहीं होनी चाहिए, यदि अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा ही नहीं हो सकती। इसपर कहते हैं—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म तो प्रसिद्ध है। 'बृह' धातुके अर्थके अनुगम होनेसे व्युत्पत्ति सिद्ध ब्रह्म शब्दके नित्यत्व शुद्धत्व आदि अर्थ प्रतीत होते हैं। और सबका आत्मा होनेसे ब्रह्मका अस्तित्व प्रसिद्ध है। आत्माके अस्तित्वका अनुभव सबको होता है। 'मैं नहीं हूं' ऐसा ज्ञान किसीको नहीं होता। यदि आत्माका अस्तित्व प्रसिद्ध न होता तो सब लोग 'मैं नहीं हूं' ऐसा अनुभव करते। आत्मा ही ब्रह्म है।

सत्यानन्दी-दीपिका

* ब्रह्मज्ञानके प्रति साधनरूपसे इस ग्रन्थका आरम्भ युक्त नहीं है; क्योंकि जो ब्रह्मजिज्ञास्य कहा जाता है, क्या वह वेदान्त विचारसे पूर्व ज्ञात है अथवा अज्ञात ? यदि ज्ञात है तो शास्त्रसे अप्रतिपाद्य होनेके कारण इस ग्रन्थका विषय नहीं हो सकेगा। किञ्च ब्रह्मके अज्ञानका अभाव होनेसे अज्ञानकी निवृत्तिरूप फल भी नहीं हो सकेगा, तब शास्त्रका विचार करना अयुक्त है। यदि अज्ञात है, तो उसके विषयमें कोई भी विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अज्ञात पदार्थ विचारका विषय नहीं होता। बुद्धि-विचारके क्षेत्रमें न आ सकनेवाले पदार्थका विचारात्मक शास्त्र अथवा वेदान्तसे प्रतिपादन नहीं हो सकता। विषय और शास्त्रका प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव न होनेसे ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता, ज्ञानके न होनेसे अज्ञानकी निवृत्तिरूप फल भी नहीं हो सकेगा। इस प्रकार प्रयोजन आदिका अभाव होनेके कारण यह शास्त्र आरम्भणीय नहीं है अथवा ब्रह्म जिज्ञासितव्य नहीं है। ऐसा पूर्व पक्षीका आशय है। इस शंकाका 'उच्यते' इत्यादिसे समाधान करते हैं।

* भाष्यमें नित्य शुद्ध आदि शब्दोंसे उपाधि रहित निर्गुण ब्रह्मका तथा सर्वज्ञ आदि शब्दोंसे सोपाधिक सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको व्यापक कहती हैं। तथा 'बृहि वृद्धौ' इसप्रकार व्याकरणके अनुसार निरतिशयमहत्त्व अर्थमें 'बृहि' धातुसे ब्रह्म शब्द निष्पन्न हुआ है और 'बृहत्वाद्बृहत्त्वादात्माब्रह्मेतिगीयते' (वृद्धिकाकारण और बृहत् होनेसे आत्मा ब्रह्म कहा जाता है) इस व्युत्पत्तिसे भी ब्रह्म शब्दका अर्थ व्यापक है। इससे देश, काल तथा वस्तु परिच्छेद-इयता से रहित ब्रह्म नित्य सिद्ध है। इस तरह 'तत्त्वमसि' इस वाक्यस्थ 'तत्' पदसे ब्रह्मका सामान्यरूप ज्ञात होनेपर भी उसके विशेषरूपकी जिज्ञासा होती है, प्रत्येक वस्तुका सामान्य ज्ञान ही उसके विशेष ज्ञानके प्रति हेतु माना गया है। किञ्च 'त्वम्' पदार्थ—आत्मासे भी ब्रह्म प्रसिद्ध है। जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म', अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए। यह सब 'सर्वस्य' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं। 'सर्वं शून्यं शून्यम्' (सब शून्य ही है) शून्यवादी बौद्धके अनुसार शून्यके अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व अप्रसिद्ध है, शून्य ही आत्मा है। शून्यका अर्थ है अस्तित्व रहित अर्थात् कुछ नहीं। यदि आत्मा शून्य है तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ही सब लोगोंको ज्ञान हो, परन्तु इसके विपरीत नव जात शिशुसे लेकर वृद्ध पर्यन्त सबको 'मैं हूं' ऐसा ज्ञान होता है। इसलिए आत्माका अस्तित्व सर्वलोक

पुनरापन्नम् । न; तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः । देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः । इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे । मन इत्यन्ये । विज्ञानमात्रं

यदि लोकमें ब्रह्म आत्मरूपसे प्रसिद्ध है तो वह ज्ञात ही है, इस प्रकार पुनः ब्रह्ममें अजिज्ञास्यत्व प्राप्त हुआ ? ऐसी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उसके विशेष ज्ञानमें विप्रतिपत्ति (विवाद) है। जैसे कि चैतन्यविशिष्ट देहमात्र आत्मा है, ऐसा प्राकृत जन तथा लोकायतिक (चार्वाक) मानते हैं। परन्तु दूसरे चेतन इन्द्रियोंको ही आत्मा कहते हैं। और कुछ मनको ही आत्मा मानते हैं। कोई क्षणिक प्रसिद्ध है। 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति भाष्यते" ॥ (लिङ्ग० पु० १।७०।९६) ('आप्लृव्याप्तौ' इस धातु अर्थके अनुसार यह सबको व्याप्त करता है। सबका अपनेमें संहार करता है, स्वचैतन्यावभाससे सब विषयोंका उपलब्धा है, कल्पित पदार्थोंका अधिष्ठान होकर निरन्तर सत्ता स्फूर्ति प्रदान करता है, इसलिए इसे आत्मा कहते हैं)। इत्यादि श्रुति वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि आत्मा ही ब्रह्म है।

सत्यानन्दी दीपिका

* शंका—'मैं हूँ' इस प्रकार जब आत्मरूपसे ब्रह्म सर्वलोक प्रसिद्ध है, तो आत्माके ज्ञात होनेपर ब्रह्म भी स्वभावतः ज्ञात हुआ। इस तरह ब्रह्म ज्ञात होनेपर जिज्ञासाका विषय नहीं हो सकता। अज्ञात वस्तु ही जिज्ञासाका विषय होती है। अज्ञात ब्रह्म ग्रन्थका विषय है; वेदान्त-वाक्योंके विचारसे ज्ञात होनेपर वह प्रयोजन है। यह ठीक है, परन्तु प्रसङ्गमें तो इसके विपरीत आत्मरूपसे ब्रह्म सदा सबको ज्ञात है, अतः वह जिज्ञास्य न होनेके कारण ग्रन्थसे प्रतिपाद्य भी नहीं होगा; इससे उसका ज्ञान भी नहीं होगा, उसके न होनेसे ज्ञान निवर्त्य अज्ञानकी निवृत्तिरूप प्रयोजन भी सिद्ध न होगा। इस प्रकार विषय और प्रयोजनका अभाव होनेपर यह ग्रन्थ आरंभणीय नहीं है। सि० समाधान—'मैं हूँ' आत्माके इस सत् चैतन्यरूप सामान्य धर्मसे यद्यपि ब्रह्म ज्ञात है, तो भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि विशेष धर्मोंसे ब्रह्म ज्ञात नहीं है। यदि ब्रह्म विशेषरूपसे ज्ञात होता तो वादियोंका आत्मविषयक परस्पर मतभेद नहीं होता ? उनकी विप्रतिपत्तिसे यह सिद्ध होता है कि आत्माके सामान्यरूपसे ब्रह्म ज्ञात होनेपर भी विशेषरूपसे अज्ञात है। यद्यपि ब्रह्ममें सामान्य और विशेष दोनों रूप कल्पित हैं, तथापि यह सब जिज्ञासुओंको समझानके लिए कहा गया है। ब्रह्म विशेषरूपसे अज्ञात होनेपर 'देहमात्रम्' इत्यादि भाष्यसे स्थूल और सूक्ष्म क्रमसे वादियोंका मतभेद दिखलाया जाता है। शास्त्र विचार रहित जन प्राकृत कहे जाते हैं। इनके मतमें स्वतन्त्र अथवा अस्वतन्त्ररूपसे चैतन्य नहीं है, किन्तु पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतोंकी देहाकारमें परिणति ही चैतन्य है। इस विषयमें इन्हीं लोगोंकी यह "अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः। चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते" ॥ उक्ति भी है। 'मैं मनुष्य हूँ' तथा 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं' (कठ० ३।४) 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै० आ० २।१।१) (यह पुरुष अन्नरस मय है) इस प्रकार देहके आत्मत्वमें लोक प्रतीति और श्रुति प्रमाण भी है। यह देहात्मवादियोंका मत है। वे केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं, क्योंकि इनके मतमें अतीन्द्रिय कोई पदार्थ नहीं है, इसलिए इन्हें अनुमान आदि प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। मरणको ही वे अपवर्ग कहते हैं। 'इन्द्रियाण्येव' इत्यादि भाष्यसे इन्द्रिय आत्मवादी मतका उल्लेख है—जाग्रत् अवस्थामें रूप आदिका ज्ञान नेत्र आदि इन्द्रियोंसे होता है, अन्धादिको रूपादिका ज्ञान नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेकसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानका आश्रय इन्द्रियाँ हैं देह नहीं, देह तो केवल नेत्र आदि इन्द्रियोंका आधारभूत व जड़ है चैतन्य नहीं। सुषुप्तिमें सर्वलोक प्रसिद्ध इस स्थूल शरीरके विद्यमान

क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्।

विज्ञान मात्र (बुद्धि) को ही आत्मा कहते हैं। किन्हींके मतमें शून्य आत्मा है। अन्य कहते हैं कि देह आदिसे भिन्न संसारी कर्ता भोक्ता आत्मा है। कोई ऐसा मानते हैं कि आत्मा केवल भोक्ता है कर्ता नहीं। कोई कहते हैं कि जीवसे भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्ति सम्पन्न है। वह ईश्वर भोक्ता

सत्यानन्दीदीपिका

और इन्द्रियोंके अविद्यमान होनेसे ज्ञान नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेकसे भी ज्ञानका आश्रय इन्द्रियां ही हैं। 'पश्यामि, शृणोमि, जिघ्रामि' (देखता हूँ, सुनता हूँ, सूँघता हूँ) इत्यादि प्रत्यक्ष लौकिक प्रतीतिसे तथा इन्द्रिय संवादमें **'ते ह वाचमुचुः'** (बृह० १।३।२) (उन चक्षु आदिने वाणीसे कहा) इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता कि इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

'मन इत्यन्ये' इस भाष्यसे मनको आत्मा माननेवालोंका मत दिखाया गया है। यदि इन्द्रियाँ आत्मा हों तो स्वप्नमें नेत्र आदि इन्द्रियोंके न होनेसे किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होना चाहिए, किन्तु **'जानामि'** इत्यादि ज्ञान तो वहां भी सर्वानुभव सिद्ध है, वह ज्ञान मनसे होता है। जाग्रत्में भी ज्ञान मनसे होता है, इन्द्रियाँ तो केवल साधन मात्र हैं। यदि इन्द्रियोंको आत्मा मानें तो सब इन्द्रियोंके आत्मा होनेसे कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि उन सबका ऐकमत्य होना सम्भव नहीं है। यदि उनका कोई एक नियामक मानें तो वही आत्मा होगा तब उनमें आत्मत्व प्रतिज्ञा बाधित हो जायगी। इसलिए **'मैं जानता हूं'** इस प्रतीति तथा **'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः** (तै० २।३) (प्राणमयके भीतर और उससे भिन्न आत्मा मनोमय है) इत्यादि श्रुति प्रमाणसे भी मन ही आत्मा सिद्ध होता है।

'विज्ञानमात्रं क्षणिकम्' इस भाष्यसे क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार मतका उल्लेख है। विज्ञानवादी–बुद्धि मनको जानती है, अतः बुद्धि ही आत्मा है मन नहीं। बुद्धिसे भिन्न बाह्य कोई भी पदार्थ नहीं है, मन भी बुद्धिका ही आकार (परिणाम) विशेष है। बुद्धि (विज्ञान) अपने उत्पत्ति क्षणसे द्वितीय क्षणमें नष्ट हो जाती है, अतः क्षणिक कही जाती है। इस विषयमें **'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'** (तै० २।४) (मनसे अन्तर और भिन्न आत्मा विज्ञानमय है) इत्यादि श्रुति प्रमाण भी है। **'शून्यमित्यपरे'** इस भाष्यसे शून्यवादी माध्यमिक मतका उल्लेख है—क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि सुषुप्तिमें वस्तुतः विज्ञानका भी अभाव है अर्थात् अन्तर बाह्य शून्य है, अकस्मात् 'अहं प्रत्यय' उदय होता है और वह असत्‌को विषय करता है। इस प्रत्यक्ष प्रतीतिसे तथा **'असदेवेमदग्र आसीत् असतः सज्जायत'** (छां० ६।२।१) (आरम्भमें यह एक मात्र अद्वितीय असत् ही था, असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति हुई) इत्यादि श्रुतिसे यह सिद्ध होता है कि शून्य ही आत्मा है। **'अस्ति'** इत्यादि भाष्यसे नैयायिक आदिका मत दिखाया गया है। जब 'अस्त्यात्मा' (आत्मा है) **'अहमस्मि'** (मैं हूँ) 'अहं जानामि' (मैं जानता हूँ) इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतिसे तथा **'मन्ता बोद्धा कर्ता'** (प्रश्न ४।६) इत्यादि श्रुतिसे कर्ता, भोक्ता आत्मा उपलब्ध होता है तो 'शून्य आत्मा है' यह शून्यवादीका कथन केवल उपहास मात्र है। **'भोक्तैव केवलम्'** इस भाष्यसे सांख्य मतका उल्लेख है। सांख्य—'मैं कर्ता हूँ' इस प्रतीतिसे आत्मामें कर्तृत्व मानना युक्त नहीं है, क्योंकि यह प्रतीति अहंकारमें कर्तृत्वको विषय करती है, कारण कि **'असङ्गो नहि सज्जते'** इत्यादि श्रुति प्रमाण है। किञ्च **'मैं सुखी, मैं दुःखी'** इस प्रत्यक्ष प्रतीतिसे तथा **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य'** (श्वेता० ४।६) (ईश्वर और जीव इन दोनोंमेंसे अन्य (जीव) कर्म फल भोक्ता है) आदि श्रुतिसे भी सिद्ध होता है

आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः। तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्। तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते ॥१॥

(जीव) का आत्मा (स्वरूप) है कोई ऐसा मानते हैं। इस प्रकार युक्ति, वाक्य तथा उनके आभासोंका आश्रयकर अनेक मतभेद हैं। उन सबका वास्तविक विचार किए विना जिस किसी मतको प्राप्त करनेवाला मोक्षसे वञ्चित रहेगा और साथ ही अनर्थको प्राप्त होगा। इसलिए ब्रह्म जिज्ञासाके कथनद्वारा जिसमें अविरोधी तर्क साधन रूप हैं ऐसी मोक्ष प्रयोजनवाली वेदान्त वाक्योंकी मीमांसा प्रस्तुतकी जाती है ॥१

सत्यानन्दी दीपिका

कि आत्मा केवल भोक्ता है। इस प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, क्षणिक-विज्ञान, शून्य, कर्ता भोक्ता, केवल भोक्ता आदि 'त्वम्' पद वाच्य आत्मामें वादियोंका संक्षेपसे मतभेद दिखलाया गया है। अब 'तत्' पद वाच्य ईश्वरमें भी **'अस्ति तद्व्यतिरिक्तः'** इत्यादि भाष्यसे मतभेद दिखलाते हैं। वेद प्रामाण्यको माननेवाले मीमांसक आदि कई लोग 'तत्' पद वाच्य ईश्वरको नहीं मानते, अतः उनके मतमें ईश्वर विषयक चर्चाका अवकाश ही नहीं है। परन्तु ईश्वरवादी मतको लेकर यह विप्रतिपत्ति दिखाई जाती है। उपर्युक्त विवेचनसे जो देह आदिसे भिन्न कर्ता, भोक्ता आदि रूप जीव सिद्ध हुआ है, वह ईश्वरसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? इस विषयमें योग मतवाले **'यः सर्वज्ञ सर्ववित्'** इत्यादि श्रुति और **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** (यो० सू० १।४) (अविद्या आदि क्लेश, शुभाशुभ आदि कर्म, जन्म, आयु और भोगरूप फल और उनसे उत्पन्न वासनाओंसे असम्बन्धित पुरुष विशेष ईश्वर है) इस सूत्रके आधारपर सर्वज्ञ, सर्ववित्, सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर 'तत्' पद वाच्य है और वह जीवसे भिन्न है।

परन्तु लक्षणावृत्तिसे वेदान्तमतावलम्बीतो अविद्या उपाधि विशिष्ट 'त्वम्' पदवाच्य कर्ता, भोक्ता जीवात्माको 'तत्' पदवाच्य ईश्वर स्वरूप सिद्ध करते हैं, क्योंकि **'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'** इत्यादि श्रुतिवाक्य जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है अपितु तत्स्वरूप ही है, ऐसा कहते हैं। इसमें **'जीवो ब्रह्मैव आत्मत्वात् ब्रह्मवत्'** आत्मा होनेसे जीव ब्रह्म ही है जैसे ब्रह्म, इत्यादि युक्ति भी है। शेष मत तो युक्त्याभास और वाक्याभासोंका अवलम्बन कर केवल विवाद करते हैं। जो युक्ति न होकर युक्तिके सदृश तथा प्रमाण न होकर प्रमाणके सदृश प्रतीत हों वे युक्त्याभास तथा प्रमाणाभास कहे जाते हैं। 'देहोऽनात्मा भवितुमर्हति ज्ञेयत्वात्, जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात् घटादिवत्' देह अनात्मा होने योग्य है, क्योंकि ज्ञेय, जड़ और परिच्छिन्न है जैसे घट आदि, इत्यादि युक्तियां तथा **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यादि सूत्रोंसे अन्योंके मत किसप्रकार युक्त्याभास और प्रमाणाभासरूप हैं यह सब आगे दिखलाया जायगा। शंका—वादियों द्वारा एकवस्तु विषयक मतभेद दिखलाए जानेपर तो सन्देह होगा अथवा जिसकी जिस मतपर श्रद्धा होगी उसका अवलम्बनकर वह अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेगा, तो पुनः ब्रह्मविषयक विचार करनेका क्या प्रयोजन ? **समाधान—** **'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'तत्त्वज्ञानादेव निःश्रेयसमधिगमः'** (जीवब्रह्मैक्य ज्ञानसे ही मोक्ष होता है) यह वेदोंका सारभूत सिद्धान्त है। यदि इस श्रुति सम्मत सिद्धान्तको छोड़कर मुमुक्षु अन्य मतको अपनाएगा तो वह कदापि मोक्षको प्राप्त नहीं होगा, अपितु अनर्थमय संसारको प्राप्त होगा, क्योंकि

"असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः॥"

(ईश० ३) 'सत्, चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ' जो ऐसा ज्ञान न प्राप्तकर आत्माको कर्ता,

(२ जन्माद्यधिकरणम् सू० २)

❀ ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्। किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत आह भगवान्सूत्रकारः—

प्रथम अधिकरणमें कहा गया है कि ब्रह्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए। अब यहां यह प्रश्न उठता है कि उस ब्रह्मका लक्षण (स्वरूप) क्या है ? इसपर भगवान् सूत्र कार कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

पदच्छेद—जन्मादि, अस्य, यतः।

सूत्रार्थ—(अस्य) इस जगत् की (जन्मादि) उत्पत्ति, स्थिति तथा लय (यतः) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है।

❀ जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभङ्गं समा-

---

जन्म-उत्पत्ति है आदि में जिनके वे जन्मादि, यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। उत्पत्ति, स्थिति

सत्यानन्दी दीपिका

भोक्ता, संसारी आदि समझते हैं, वे आत्मघाती अज्ञानसे आवृत असुर योनियोंको प्राप्त होते हैं।

“योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥”

(जो पुरुष आत्माका जैसा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है वैसा न समझकर उसे कर्ता भोक्ता आदि समझता है, उस आत्मापहारी चौरने कौन-सा पाप नहीं किया) इत्यादि श्रुतिप्रमाण है। सारांश यह है कि बन्ध अध्यासमूलक है और उसकी निवृत्ति ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे होती है, एतावता इस ग्रन्थके विषय और प्रयोजन सिद्ध ही हैं। वेदान्त विचार पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रोंसे सिद्ध नहीं है, इसलिए वेदान्त विचारार्थ इस ग्रन्थका आरम्भ आवश्यक है। विषय और ग्रन्थका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव और अधिकारींका प्राप्य-प्रापकभाव आदि सम्बन्ध है, इस प्रकार विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारीके सिद्ध होनेपर परम निःश्रेयसकी साधन भूत एवं तत्त्वज्ञान (जीवब्रह्मैक्य ज्ञान) की प्रयोजक यह ब्रह्ममीमांसा आरम्भ की जाती है ॥ १ ॥

❀ प्रथम सूत्रसे शास्त्रके आरम्भकी उपपत्ति दिखलाकर शास्त्रका आरम्भ करते हुए भगवान् भाष्यकार पूर्व और उत्तर अधिकरणकी संगति सूचित करनेके लिए उक्तका पुनः ‘ब्रह्म’ इत्यादिसे उल्लेख करते हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि मुमुक्षुको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए वेदान्त वाक्योंका विचार करना चाहिए। इस कथनसे यद्यपि प्रधानरूपसे ब्रह्म प्रतिज्ञात होनेपर तदङ्गभूत प्रमाण आदि भी प्रतिज्ञात हो जाते हैं, तो भी ब्रह्म विषयक प्रमाण तथा युक्ति (साधक-बाधक प्रमाणोंके सहकारी तर्क) आदिका विचार ब्रह्मके विशेष ज्ञानके विना नहीं हो सकता, अतः ब्रह्मके यथार्थ ज्ञानके लिए प्रथम ब्रह्मका लक्षण कहना चाहिए। शंका—परन्तु अनुभूत वस्तु निश्चय ही परिमित, जड़, मलिन तथा विनाशी होती है। इस अनुभूयमान दृश्य रूपसे तथा तदतिरिक्त नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुन स्वभाव ब्रह्मका स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता। प्रसिद्धका ही लक्षण होता है अत्यन्त अप्रसिद्धका नहीं। सि०-समाधान—प्रसिद्ध और अप्रसिद्धके विषयमें यह बात है कि जो इतर प्रमाणसे अप्रसिद्ध है व शब्द प्रमाणसे प्रसिद्ध ही है। परन्तु यहाँ तो शब्दसे भी प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि लक्षणीय ब्रह्म अत्य अप्रसिद्ध है इस आशयसे ‘किं लक्षणकं ब्रह्म’ ऐसा कहा है अर्थात् ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सक अतः उसकी जिज्ञासा भी नहीं हो सकती। पूर्व पक्षीके इसप्रकारके आक्षेपसे इस अधिकरण आरम्भ है, इसलिए पूर्व अधिकरणकी इस अधिकरणके साथ आक्षेप संगति है।

❀ जो पहले आक्षेप किया गया है कि अत्यन्त अप्रसिद्ध ब्रह्मका लक्षण नहीं हो सकता

सार्थः। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत्—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात्। अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसंबन्धार्था। यत इति कारणनिर्देशः। ❀ अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्व-

और नाश यह समासका अर्थ है। श्रुति निर्देशसे तथा वस्तु स्थितिकी अपेक्षा जन्म आदि है। श्रुति निर्देश है 'यतो वा इमानि० (जिससे ये आकाश आदि सारे भूत उत्पन्न होते हैं) इस वाक्यमें उत्पत्ति, स्थिति और नाशका क्रम दिखाई देता है। वस्तु स्थिति भी ऐसी है कि जन्मसे सत्ताको प्राप्त धर्मीकी ही स्थिति और लयका संभव है। 'अस्य' प्रत्यक्ष आदिसे सिद्ध धर्मीका 'इदम्' शब्दसे निर्देश है। और 'अस्य' इसमें षष्ठीविभक्ति जन्म आदि धर्मोंका धर्मी (जगत्) के साथ सम्बन्ध द्योतनके लिए है। 'यतः' यह शब्द कारणका निर्देशक है। जो नाम रूपसे अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ता और भोक्ताओंसे संयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्तसे क्रिया और फलका आश्रय है एवं मनसे भी अचिन्त्य रचनारूपवाले इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय

सत्यानन्दी दीपिका

अब इसका सूत्र और भाष्य द्वारा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिवाक्य की पृष्ठभूमिमें समाधान किया जाता है। इस नाम रूपात्मक प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे होते हैं वह ब्रह्म है, इसप्रकार ब्रह्मका लक्षण उपपन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि कल्पित जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-उभयात्मक कारण ब्रह्म है। उत्पत्ति आदिमें है जिनके ऐसे स्थिति और प्रलय जन्मादि कहे जाते हैं, यहां बहुब्रीहि समास है। वह दो प्रकारका है, एक तद्गुणसंविज्ञान और दूसरा अतद्गुणसंविज्ञान। जहां विशेषण पदार्थोंका क्रियामें अन्वय हो वहां तद्गुणसंविज्ञान समझना चाहिए। अथवा सब पदार्थ विशेषण तथा गौण हों और अन्य पदार्थ विशेष्य तथा प्रधान हो तो वह तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि समास है। यथा 'लम्बकर्णकमानय' 'लम्बे कान वाले (गर्दभ) को ले आओ' यहां 'लम्बे कान' यह विशेषण है और 'आनय' क्रियामें अन्वित होता है। अथवा 'पीताम्बरो हरिः' 'पीतानि अम्बराणि यस्य सः पीताम्बरो हरिः' यहां 'पीतवस्त्र' विशेषण है और 'हरि' विशेष्य है। यहां विशेषण गौण है और विशेष्य प्रधान है अर्थात् जहां समासके घटकी भूत विशेषण पदार्थ गौणरूपसे ज्ञात हों वह तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि समास है। जहां समासके घटकी भूत विशेषण पदार्थोंका क्रियामें अन्वय न हो वह अतद्गुणसंविज्ञान कहा जाता है। यथा 'दृष्टसागरमानय' 'दृष्टसागरको ले आओ' अर्थात् जिसने सागर देखा है उसे ले आओ' यहां व्यक्तिके साथ सागरका क्रियामें अन्वय नहीं है, अतः यह अतद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि समास है। प्रकृतमें तो तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि समास है, क्योंकि यहां 'जन्मादि' सूत्रमें स्थिति और लय विशेष्योंके साथ उत्पत्ति रूप विशेषणका भी ग्रहण है। किञ्च 'अस्य' इस 'इदम्' पदसे कार्य मात्रका ग्रहण किया गया है अर्थात् सूत्रमें प्रत्यक्ष (इदं सर्वमसृजत), अनुमान आदिसे सिद्ध कार्यमात्रका निर्देश किया गया है। और 'अस्य' इस इदम् पदमें षष्ठी विभक्ति आकाश आदि सम्पूर्ण प्रपञ्चका जन्म आदि धर्मोंके साथ सम्बन्ध सूचित करती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण जगत्के जन्म आदि ब्रह्मसे होते हैं।

❀ जैसे कुम्हार 'घट' नामकी वस्तुके नाम और रूपका पहले अपने अन्तःकरणमें विचारकर

शक्तेः कारणाद्भवति, तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः । ❀ अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम् । यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थितिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते । ❀ न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानाद-

---

जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं 'वह ब्रह्म है' यह वाक्यशेष है । अन्य भावविकारोंका भी इन तीनोंमें ही अन्तर्भाव है, इसलिए उत्पत्ति, स्थिति और नाशका यहां (सूत्रमें) ग्रहण है। यास्कमुनिसे पठित 'जायते' (उत्पन्न होता है) 'अस्ति' (है) इत्यादि छः भावविकारोंका ग्रहण किए जाने पर जगत्की स्थिति कालमें उनकी संभावना होनेसे मूल कारणसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाश गृहीत नहीं होंगे, संभव है कोई यह आशङ्का करे ऐसी शंका न करे, इसलिए ब्रह्मसे इस जगत्की जो उत्पत्ति, उसीमें जो स्थिति और लय श्रुतिमें प्रतिपादित हैं वे ही जन्म स्थिति और लय यहां गृहीत होते हैं । पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त जगत्की यथोक्त विशेषण विशिष्ट ईश्वरको छोड़कर

सत्यानन्दी दीपिका

अनन्तर उसे बाहर बनाता है, वैसे ही परम कारण ब्रह्म भी अपने प्रत्यक्ष किए हुए जगत्को नाम रूपसे अभिव्यक्त करता है। इसमें 'विवादास्पदं जगत् चेतनकर्तृकं कार्यत्वात् नामरूपात्मकत्वाच्च घटवत्' 'जैसे नामरूपात्मक तथा कार्य होनेसे घट चेतनकर्तृक है, वैसे ही विवादका विषयभूत यह जगत् भी नामरूपात्मक तथा कार्य होनेसे चेतनकर्तृक है' यह अनुमान भी है । इससे सांख्यसम्मत जड़ प्रधान कर्तृत्व तथा बौद्ध सम्मत स्वरूप रहित शून्य कर्तृत्वका निषेध होता है। यह जगत् अनेकविध कर्ता तथा भोक्ताओंसे युक्त है। यहां कोई केवल कर्ता है और कोई केवल भोक्ता । ऋत्विज् यज्ञ आदिका केवल कर्ता है और यजमान कर्मफल भोक्ता है, श्राद्ध आदिमें पितृगण केवल भोक्ता और पुत्र आदि केवल कर्ता हैं । वैश्वानरेष्टिमें पिता कर्ता और पुत्रफल भोक्ता है । हां, क्वचित् भोजनादिमें कर्ता भी भोक्ता होता है । इससे यहां कर्ता और भोक्ताका पृथक् पृथक् ग्रहण किया गया है । व्याकरणानुसार परस्मै पदसे भी यही सिद्ध होता है कि याज्ञिकोंसे फल भोक्ता यजमान पृथक् है, अन्यथा परस्मैपदका प्रतिपादन व्यर्थ हो जायगा अथवा उसका सर्वथा लोप हो जायगा । किञ्च सम्पूर्ण क्रियाके फलका आश्रयभूत इस जगत्में देश काल और निमित्त आदिकी पूर्णरूपसे व्यवस्था है । कोई प्रतिनियत देशमें उत्पन्न होते हैं, जैसे कृष्णमृग, केसर आदि। कोई प्रतिनियत कालमें होते हैं, यथा कोकिलका आलाप आदि वसन्त ऋतुमें होते हैं । इसप्रकार कोई प्रतिनियत निमित्तसे होते हैं, जैसे बलाकाके गर्भ धारणका नियमित निमित्त नवघन ध्वनि है। कोई नियत क्रियावाले होते हैं, यथा ब्राह्मण ही याजक होते हैं अन्य नहीं । कोई नियत फलवाले होते हैं, जैसे कोई सुखी, कोई दुःखी और कोई दोनों । इसप्रकार इस विचित्र जगत्की रचना परमेश्वरसे ही होती है ।

❀ शंका—"जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यति" (निरुक्त १।१।३ (शरीर उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर अस्तित्वको प्राप्त होता है, परिणामको प्राप्त होता है, बढ़त है अर्थात् बाल, युवा आदि अवस्थाओंको प्राप्त होता है, क्षीण होता है, नाशको प्राप्त होता है यह यास्कमुनिका वचन है । इसके अनुसार जब प्रत्येक भाव पदार्थ छः विकारों वाला है, तो जन्मा सूत्रमें वृद्धि आदिका ग्रहण क्यों नहीं किया गया है ? समाधान—वृद्धि अवयवोंका बढ़ना, यथ

चेतनात्, अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। ❀ नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न; वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता।

अन्यसे–अचेतन प्रधानसे, परमाणुओंसे, अभाव-शून्यसे अथवा संसारी (हिरण्यगर्भ) से उत्पत्ति आदिकी संभावना नहीं की जा सकती, और इसीप्रकार स्वभावसे भी उत्पत्ति आदिकी संभावना नहीं हो सकती, क्योंकि यहां कार्यार्थीद्वारा विशिष्ट देश, काल और निमित्तका ग्रहण है। ईश्वरको जगत्का कारण मानने वाले (नैयायिक) इसी अनुमानको संसारी (जीव) से व्यतिरिक्त ईश्वरके अस्तित्व आदिमें साधन मानते हैं। तो इस जन्मादि सूत्रमें भी उसी अनुमानका उपन्यास किया गया है ? नहीं, क्योंकि सूत्र वेदान्त वाक्यरूपी पुष्पोंको गूंथनेके लिए हैं। सूत्रों द्वारा वेदान्त वाक्योंका उदाहरण देकर विचार किया जाता है। वाक्यार्थ विचार द्वारा निश्चित तात्पर्यसे ब्रह्मावगति (ब्रह्मज्ञान) निष्पन्न होती है अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंसे निष्पन्न नहीं होती। जगत्के जन्म-

सत्यानन्दी दीपिका

महान् पटोजायते' (महान् पट उत्पन्न होता है) यह उत्पत्तिरूप है। धर्म, लक्षण और अवस्था भेदसे परिणाम तीन प्रकारका है, वह उत्पत्तिरूप है। जैसे मृत्तिका, सुवर्ण आदि धर्मीका घट, कटक आदि धर्म परिणाम उत्पत्ति रूप है, एवं घट आदि उत्पन्न होते हैं यह लक्षणरूप परिणाम उत्पत्तिरूप है। घट आदिमें नवीनत्व व पुरातनत्व भेद अवस्थापरिणाम है वह भी उत्पत्तिरूप है। अपक्षय-अवयवोंका ह्रास नाश है। इसप्रकार इन छः भाव विकारोंका जन्म, स्थिति तथा लय इन तीनोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु इसको सूत्रका मूल माननेसे जगत्की कारणता ब्रह्ममें सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि उत्पन्न हुए महाभूतोंके स्थिति कालमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे भौतिक पदार्थोंमें जन्म आदि छः विकारोंको देखकर यास्कमुनिने उपर्युक्त निरुक्त वाक्यकी रचना की है। इससे केवल छः भावविकारोंवाले भूतोंकी सिद्धि हो सकती है। इसलिए 'जन्मादि' सूत्र ब्रह्मका लक्षणरूप है और 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' श्रुति मूलक है। अतः जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण ब्रह्म है।

❀ 'अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्त' इत्यादि पूर्वोक्त चार विशेषणोंसे युक्त इस जगत्के उत्पत्ति आदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वरसे होते हैं अन्यसे नहीं। इसपर भगवान् भाष्यकार 'प्रधानादचेतनात्' इत्यादिसे कुछ मतोंका संक्षेपसे उल्लेख करते हैं—सांख्यमतमें जगत्के उत्पत्ति आदिका कारण प्रधान है। परन्तु प्रधान जड़ है, अतः उससे इस विचित्र जगत्के उत्पत्ति आदि असंभव हैं। शून्यवादी इस जगत्के उत्पत्ति आदिका कारण शून्य मानते हैं। परन्तु शून्य अभावरूप है और यह विचित्र रचनात्मक जगत् भावरूप है, अतः अभावसे भावके उत्पत्ति आदि कदापि नहीं हो सकते। यदि मानें तो अतिप्रसङ्ग हो जायगा अर्थात् वालूसे भी तेलकी उत्पत्ति हो जायगी। और 'नासतो विद्यते भावः' (भ० गी० २।१६) (असत्का अस्तित्व नहीं होता) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) (हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) 'कथमसतः सज्जायेतेति' (छा० ६।२।२) (भला असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है) इस प्रकार श्रुति आदि प्रमाणसे शून्यसे जगत्के उत्पत्ति आदि बाधित हैं। नैयायिक—इस विचित्र जगत्के उत्पत्ति आदिका कारण अनेक और विचित्र परमाणु हैं। परन्तु जड़ परमाणु इस विचित्र जगत्की रचनामें स्वयं प्रवृत्त नहीं

❀ सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्यायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्। ❀ तथा हि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृह० २।४।५) इति श्रुतिः 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोप-

---

आदिके कारणका प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्यों [यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते] के विद्यमान होनेपर उनके अर्थ ग्रहणकी दृढ़ताके लिए वेदान्त वाक्योंका अविरोधी अनुमान भी यदि प्रमाण होता हो तो उसका निवारण नहीं किया जाता, क्योंकि श्रुतिने ही सहायकरूपसे तर्क-अनुमानको स्वीकार किया है। जैसे 'श्रोतव्यः०' (आत्मा श्रोतव्य व मन्तव्य है) यह श्रुति है। और

सत्यानन्दी दीपिका

हो सकते, अतः वे कारण नहीं हैं। इसीप्रकार हिरण्यगर्भ भी इस विचित्र जगत्के उत्पत्ति आदि करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्' (श्वेता ६।१२) इत्यादि श्रुति ब्रह्माके भी अन्य जीवोंके समान उत्पत्ति आदि कहती हैं।

चार्वाक अभिमत स्वभाव भी जगत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह जड़ है। फलार्थी पुरुष देश, काल और निमित्तकी अपेक्षा करता है, जैसे धान्यार्थी विशेष देश, वर्षा आदि काल और विशेष बीज आदिकी अपेक्षा करता है, वैसे ही सर्वज्ञ ईश्वर भी जीवोंको तत् तत् कर्मका फल देनेके लिए विशेष देश, काल और निमित्तकी अपेक्षा करता है, परन्तु ऐसा जड़ समुदायमें संभव नहीं है। अतः इस विलक्षण जगत्के उत्पत्ति आदिका कारण परमेश्वर ही है। जगत्के उत्पत्ति आदिके कारणरूपसे श्रुति सिद्ध ईश्वरको नैयायिक अनुमान प्रमाणसे सिद्ध करते हैं—'जगत् चेतनकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' 'जैसे घट कार्य है और वह चेतन कुम्हार कर्तासे निर्मित है, वैसे ही यह जगत् भी कार्य है, अतः वह भी चेतन कर्ता द्वारा निर्मित होना चाहिए, वह चेतन कर्ता जीव आदिसे भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर है। वैशेषिक मतमें प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं, शब्द प्रमाणको वे अनुमानरूपसे अर्थका बोधक मानते हैं। इसी आशयको 'एतदेवानुमानं' इत्यादिसे कहा गया है।

* परन्तु 'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिका अनुमानमें अन्तर्भाव कर सूत्रकारने 'जन्मादि' सूत्रमें भी अनुमानका ही उपन्यास किया है, यथा 'जगज्जन्मादि सर्वज्ञईश्वरकर्तृकं कार्यत्वात्' जगत् कार्य है, अतः उसके जन्मादिका कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर है। परन्तु नैयायिकका यह अनुमान तभी सिद्ध हो सकता है जब हेतु और साध्यका व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्षसे सिद्ध हो। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अतीन्द्रिय पदार्थके ज्ञानमें असमर्थ हैं, अतः अतीन्द्रिय पदार्थका ज्ञान श्रुतिसे ही होता है, इसलिए भगवान् सूत्रकारने 'तत्तुसमन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यादि सूत्रोंसे उनके तात्पर्यका विचार किया है, इसलिए यहां 'जन्मादि' सूत्रमें भी 'यतो वा इमनि भूतानि' इत्यादि श्रुतियोंका स्वतन्त्ररूपसे विचार किया गया है अनुमानका नहीं। ब्रह्मज्ञान भी 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।९।२६) (उस उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुषको मैं पूछता हूँ) इत्यादि वेदान्त वाक्योंसे गम्य है अनुमानादिसे नहीं, इसलिए 'अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्यार्थके विचारसे तात्पर्यका निश्चय होनेपर ही ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है।

* 'यतो वा इमानि' इत्यादि वेदान्त वाक्यार्थकी दृढ़ताके लिए सहायकरूपसे अनुमान प्रमाण भी स्वीकृत है, जैसे "जगत् अभिन्ननिमित्तोपादानकं कार्यत्वात् ऊर्णनाभ्यारब्धतन्त्वादिवत् अथवा ईश्वरघटसंयोगवत्" जैसे मकड़ीसे उत्पन्न तन्तु आदि कार्य है और उसके प्रति अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मकड़ी है, वैसे जगत् भी कार्य होनेसे अभिन्ननिमित्तोपादान कारण वाला है, वह

संपद्येतैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद' (छान्दो० ६।१४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति। ✻ न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्, किंतु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्; अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्म-

---

'पण्डितो०' (जैसे पण्डित और मेधावी (बुद्धिमान्) गन्धार (कन्धार) देशको ही प्राप्त करता है, वैसे ही यहां आचार्यवान् पुरुष सत्को जानता है) यह श्रुति भी अपने प्रति पुरुष बुद्धिको सहायक दिखलाती है। धर्मजिज्ञासाके समान ब्रह्मजिज्ञासामें केवल श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु

सत्यानन्दी दीपिका

कारण ईश्वर है अथवा जैसे ईश्वर घटका संयोग कार्य है उसके प्रति अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ईश्वर है। प्रथम दृष्टान्त वेदान्तमें प्रसिद्ध है, दूसरा उदाहरण नैयायिकोंके लिए है, क्योंकि वे ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानते हैं। जिससे वस्तु उत्पन्न हो उसमें ही लीन हो वह उपादान कारण है। उपादान कारणसे भिन्न कारण निमित्त कहे जाते हैं। यथा मृत्तिकासे उत्पन्न हुआ घट उसीमें लीन होता है, अतः मृत्तिका घटके प्रति उपादान कारण है और कुम्हार आदि निमित्त कारण हैं। परन्तु जगत्‌रूप कार्यके प्रति उपादान और निमित्तकारण एक ही है। इसमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाःप्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २।१।१) (हे सोम्य! उसी प्रकार अक्षरसे विविध भाव उत्पन्न होते हैं तथा उसमें ही लीन होते हैं, वह सत्स्वरूप ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। संसारके प्रति ईश्वरको केवल निमित्त कारण माननेवाले नैयायिकोंका मत उक्त अनुमान तथा श्रुतिसे खण्डित हुआ समझना चाहिए। 'सः कर्ता सर्वज्ञः जगत्कारणत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा कुलालः' जगत्‌का कारण होनेसे वह कर्ता सर्वज्ञ है, जो जगत्‌का कारण नहीं है वह सर्वज्ञ भी नहीं, यथा कुलाल। यह अनुमान 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः' इस श्रुत्यर्थकी दृढ़ता (संशय तथा विपर्ययकी निवृत्ति) के लिए है। श्रुतार्थमें यदि संशय अथवा विपर्यय उत्पन्न हो तो वे तर्कसे निवृत्त करने चाहिएँ, इस विषयमें "श्रोतव्यं श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥" (श्रुति वाक्योंका श्रवण करना चाहिए और श्रुतार्थका तर्कोंसे मनन करना चाहिए मननकर उसका ध्यान करना चाहिए, क्योंकि ये ज्ञानोत्पत्तिमें हेतु हैं) यह श्रुति प्रमाण है।

✻ जैसे डाकू किसी पुरुषको, आँखोंपर पट्टी बाँधकर गन्धार देशसे दूर किसी अरण्यमें छोड़ दें, तब कोई कृपालु पुरुष उसके आर्तनादको सुनकर वहां आ पहुँचे। उसकी पट्टी खोलकर उसे स्वदेश जानेका मार्ग बतादे, तो वह देश भ्रष्ट पण्डित-बताए मार्गके समझनेमें चतुर तथा मेधावी (तर्क कुशल) पुरुष स्वदेशको ही पहुञ्च जाता है, वैसे ही अविद्याने अपने विलासद्वारा जिस पुरुषको आनन्दस्वरूप स्वात्मासे दूर हटाकर इस संसाररूप भयावह वनमें फेंक दिया है। दुःखोंसे घबड़ाए उस आर्तपुरुषको कोई दयालु ब्रह्मनिष्ठ आचार्य 'तू संसारी नहीं है' अपितु 'तत्त्वमसि' (वह तू है) अर्थात् 'तू ब्रह्म है' इसप्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञानोपदेश करता है। यदि वह श्रोता उपदेश ग्रहण करनेमें समर्थ तथा तर्क कुशल है तो झटिति आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर संसारदुःखोंसे मुक्त हो जाता है, इसतरह 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यः' इत्यादि श्रुति अपने अर्थ समझाने के लिए पुरुषके बुद्धिरूप तर्ककी सहायकरूपसे अपेक्षा दिखलाती है। शंका—वेद प्रतिपादित होनेसे जैसे धर्ममें मनन आदिकी अपेक्षा नहीं है, वैसे ब्रह्ममें भी नहीं होनी चाहिए, किन्तु युक्त तो यह है कि धर्मके समान ब्रह्मको भी श्रुति, लिङ्ग आदिकी अपेक्षा हो? इसका समाधान—'न' इत्यादि भाष्यसे किया जाता है।

ज्ञानस्य । कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य । कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म, यथाश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छतीति । * तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च । न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते । विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः । न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम् । किं तर्हि ?

श्रुति आदि तथा अनुभव आदि यथासंभव उसमें प्रमाण हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्ध वस्तु विषयक और ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त अवधिवाला है। कर्तव्य-धर्मके विषयमें अनुभवकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु उसमें तो श्रुति आदि ही प्रमाण हैं। इससे अंतिरिक्त धर्मकी उत्पत्ति पुरुषके अधीन है। इसलिए लौकिक तथा वैदिक कर्म करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें पुरुष समर्थ-स्वतन्त्र हैं। जैसेकि अश्वसे जाता है, पैदल जाता है अथवा अन्य प्रकारसे जाता है अथवा नहीं ही जाता। वैसे ही 'अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण करे' 'अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण न करे' ऋग्वेदी 'सूर्य उदय होनेपर अग्निहोत्र करे' यजुर्वेदी 'सूर्योदयसे पहले अग्निहोत्र करे' इसप्रकार विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग तथा अपवाद यहां धर्ममें सार्थक होते हैं। परन्तु सिद्ध वस्तु इसप्रकार है अथवा इसप्रकार नहीं है, अथवा नहीं है, ऐसे विकल्प नहीं किये जा सकते हैं, विकल्प तो पुरुष बुद्धिकी अपेक्षासे होते हैं। सिद्ध वस्तुका यथार्थ ज्ञान पुरुष बुद्धिकी अपेक्षा नहीं करता, किन्तु वह तो सिद्ध वस्तुके अधीन है। एक

सत्यानन्दी-दीपिका

* वेद प्रतिपादकता यद्यपि ब्रह्म और धर्म दोनोंमें समान है, तथापि जिज्ञास्य धर्म और जिज्ञास्य ब्रह्ममें महान् अन्तर है। ब्रह्ममें श्रुति प्रमाणसे अतिरिक्त ब्रह्मवेत्ताओंका ब्रह्म साक्षात्कार रूप अनुभव भी प्रमाण है। किञ्च भाष्यस्थ आदि पदसे मनन निदिध्यासनका भी प्रमाणरूपसे ग्रहण है। मोक्षके लिए श्रुति प्रतिपादित ब्रह्मज्ञानका पर्यवसान ब्रह्म साक्षात्कार है। ब्रह्मज्ञानका प्रत्यगभिन्न सिद्ध ब्रह्म विषय है और ब्रह्म साक्षात्कार फल है। 'मन्तव्यः' इसप्रकार श्रुति प्रतिपादित मनन ज्ञानकी दृढ़ताके लिए अत्यन्त अपेक्षित है। परन्तु धर्ममें श्रुति आदि प्रमाणसे अतिरिक्त मनन आदिकी अपेक्षा बिल्कुल नहीं है, क्योंकि धर्म अतीन्द्रिय होनेसे नित्य परोक्ष है। वेद आदि विहित शुभ क्रियाओंसे उत्पन्न अदृष्टविशेष पुण्य (धर्म) है और निषिध क्रियाओंसे उत्पन्न अदृष्ट विशेष पाप (अधर्म) है। भट्ट प्रस्थान तथा प्रभाकर प्रस्थान, इस भेदसे पूर्वमीमांसादर्शनमें दो प्रस्थान (मत) हैं। कुमारिलभट्टके मतमें याग, दान आदि क्रिया धर्माधर्म है और पुण्य, पापको लक्षणा द्वारा गौणरूपसे धर्माधर्म कहा गया है। प्रभाकर मतमें पुण्य, पापको ही धर्माधर्म कहा गया है, इनका साधन होनेसे याग, दान आदि क्रियाओंको भी गौणरूपसे धर्माधर्म कहा गया है। 'व्यवहारे भट्टन्यायः' (व्यवहारमें भट्टन्याय मान्य है। इस न्यायके अनुसार भगवान् भाष्यकारने याग आदिको धर्म मानकर 'कर्तुमकर्तुम्' इत्यादि कहा है।

* अब धर्ममें विधि आदिको दिखाया जाता है—'यजेत' (याग करे) यह विधि है। 'न सुरां पिबेत्' (सुरा न पीवे) यह प्रतिषेध है। 'व्रीहिभिर्यवैर्वायजेत' (धान्यसे अथवा यवोंसे होम करे) यह सम्भावित विकल्प है। 'अतिरात्र नामक यागमें षोडशी नामक पात्र का ग्रहण करे' 'अतिरात्रमें षोडशीपात्रका ग्रहण न करे' यह इच्छा अधीन विकल्प है। 'मा हिंस्यात्' (हिंसा न करे) यह उत्सर्ग है। सामान्य वाक्यको उत्सर्ग कहा जाता है, क्योंकि वह विशेष वाक्यसे बाधित होता है।

वस्तुतन्त्रमेव तत्। नहि स्थाणावेकस्मिन्स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषोऽन्यो वेति मिथ्याज्ञानम्, स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं, वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्। ❀ ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता। न; इन्द्रियाविषयत्वेन संबन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि; न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्यत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्। किं तर्हि ? वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्।

स्थाणुमें स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य है, ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उसमें पुरुष है अथवा अन्य कुछ है, यह मिथ्या ज्ञान है। स्थाणु ही है यह यथार्थ ज्ञान है, क्योंकि वह वस्तुके अधीन है; उसीप्रकार सिद्ध वस्तु विषयक ज्ञानोंका प्रामाण्य वस्तुके अधीन है। ऐसा होनेपर ब्रह्मज्ञान भी वस्तुके अधीन है, क्योंकि वह भी सिद्ध वस्तु विषयक है। यदि यह शंका हो कि सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्म अन्य प्रमाणका विषय ही है, इससे तो वेदान्तवाक्योंके विचारकी निष्फलता प्राप्त होती है ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय नहीं है, अतः अन्य प्रमाणोंसे उसका जगद्रूप कार्यके साथ सम्बन्धका ग्रहण नहीं होता। इन्द्रियाँ स्वभावसे विषयविषयक हैं, ब्रह्मविषयक नहीं हैं। ब्रह्म इन्द्रियोंका विषय होता तो यह जगत् रूप कार्य ब्रह्मके साथ सम्बद्ध है, ऐसा गृहीत होता। परन्तु कार्यमात्र अर्थात् यह जगत् रूप कार्य ही इन्द्रियोंसे गृहीत होता है, तो क्या वह ब्रह्मके साथ सम्बद्ध है अथवा किसी अन्यके साथ सम्बद्ध है, ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए 'जन्मादि' सूत्र अनुमान उपन्यासके लिए नहीं है, किन्तु वेदान्तवाक्योंके प्रदर्शन के लिए है।

सत्यानन्दी-दीपिका

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नीषोमीय पशुका आलभन करे) यह अपवाद हैं, क्योंकि यह विशेष वाक्य है। इसप्रकार विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग तथा अपवाद धर्ममें सार्थक होते हैं। शास्त्रके अनुसार पुरुष बुद्धिकी अपेक्षा न करने वाले सब विकल्प प्रमारूप होते हैं। परन्तु लोकमें पुरुष बुद्धिकी अपेक्षा रखने वाले सब विकल्प अप्रमारूप होते हैं।

❀ सिद्ध ब्रह्म केवल श्रुति प्रतिपाद्य है। इसपर पूर्व पक्षी आक्षेप करता है—'ब्रह्म प्रत्यक्षादिगोचरं धर्मविलक्षणत्वात् घटादिवत्' "धर्मसे विलक्षण होनेके कारण ब्रह्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय है जैसे घटादि।" अतः 'जगज्जन्मादि ब्रह्मकारणकं कार्यत्वात्' 'जगत्का जन्मादि ब्रह्मकारणक है, क्योंकि वह कार्य है' यह अनुमान 'जन्मादि' सूत्रमें विचार करने योग्य है। श्रुति नहीं, इसलिए 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति-वाक्योंका विचार निष्फल है, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणसे ग्राह्य है। सिद्धान्ती-क्या 'यत्कार्यं तद्ब्रह्मजम्' 'जो कार्य है वह ब्रह्मसे जन्य है' यह अनुमान ब्रह्मका साधक है अथवा 'यत्कार्यं तत्सकारणकम्' 'जो कार्य है वह सकारणक है' यह ब्रह्मका साधक है ? प्रथम अनुमान तो नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्ति असिद्ध है। परन्तु ब्रह्म तो घट आदिके समान इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इस विषयमें 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः' (कठ० २।१।१) 'न च क्षुषा गृह्यते' (जो ब्रह्म चक्षुसे गृहीत नहीं होता) 'यन्मनसा न मनुते' (केन० १।५) (जो मनसे मनन नहीं किया जाता) इत्यादि श्रुति प्रमाण है, अतः उसका प्रत्यक्ष प्रमाणसे व्याप्ति ज्ञान भी नहीं हो सकता। शंका—ब्रह्म भले ही इन्द्रियोंका विषय न हो, परन्तु व्याप्तिज्ञान तो होगा

* किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् ? 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति' इत्युपक्रम्याह–'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । (तैत्ति० ३।१)। तस्य च निर्णयवाक्यम्-'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तैत्ति० ३।६)। अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥ २ ॥

भाष्य अनुवाद

वे कौन से वेदान्तवाक्य हैं, जिनका सूत्र द्वारा ब्रह्मके लक्षणरूपसे यहां विचार करना इष्ट है? 'भृगुर्वै वारुणिः' (वारुणि भृगु अपने पिता वरुणके पास गया और कहा हे भगवन् ! ब्रह्मका उपदेश कीजिए) ऐसा उपक्रमकर कहते हैं—'यतो वा इमानि० जिससे ये समस्त भूत-भौतिक उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित रहते हैं, लय होते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसकी जिज्ञासाकर वह ब्रह्म है) इस सामान्य कारण विषयक श्रुति वाक्यका निर्णय वाक्य यह है—'आनन्दाद्ध्येव' (निस्सन्देह आनन्दसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दसे ही जीवित रहते हैं और लय होते हुए आनन्दमें ही प्रविष्ट होते हैं)। नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव सर्वज्ञ स्वरूप कारण (ब्रह्म) विषयक इसप्रकारके [स्वरूप तथा तटस्थ लक्षणके निर्देशक] अन्य उपनिषद्-वाक्य भी उदाहरणरूपसे देने चाहिएँ ॥ २ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

ही ? **समाधान**—यदि इन्द्रियोंसे ब्रह्मका ज्ञान होता तो जगत्‌रूप कार्य ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता । जैसे मृत्तिकाका ज्ञान इन्द्रियोंसे होता है तो घट मृत्तिका जन्य है, यह भी सर्वानुभव सिद्ध है । किन्तु यहां तो केवल जगत् रूप कार्य ही इन्द्रियोंसे उपलब्ध होता है ब्रह्म नहीं, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है, अतः सुतरां उसमें व्याप्तिज्ञान असिद्ध है । 'यत्कार्यं तत्सकारणकम्' इससे केवल सामान्यरूपसे कार्य कारणवाला है यह सिद्ध होता है, किन्तु यह जगत्‌रूप कार्य ब्रह्मसे जन्य है अथवा किसी अन्य कारणसे, यह निश्चय नहीं होता । वह कारण विषयक निश्चय तो केवल श्रुतिसे ही हो सकता है । इसलिए 'जन्मादि' सूत्र अनुमान उपन्यासके लिए नहीं है, अपितु वेदान्त वाक्योंके दिखलानेके लिए है । अतः इस सूत्रमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' यह श्रुति वाक्य विचारका विषय है । श्रुत्यर्थकी दृढ़ताके लिए गौणरूपसे अनुमान भी विचारणीय है ।

* यहां प्रथम सूत्रमें विशिष्ट अधिकारीके लिए ब्रह्म विचारकी प्रतिज्ञा की गई है, और द्वितीय सूत्रमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वालेके लिए ब्रह्मका लक्षण कहा गया है । परन्तु 'जन्मादि' सूत्रमें तथा 'यतो वा इमानि' इस श्रुति वाक्यमें केवल सामान्य कारणका ज्ञान होता है कि इस द्वैतप्रपञ्चका कोई कारण है, क्या वह प्रधान, परमाणु अथवा अन्य है ? ऐसी कारण विषयक जिज्ञासा बनी रहती है, उसकी निवृत्तिके लिए विशेष कारण विषयक 'आनन्दाद्ध्येव' यह निर्णय वाक्य उद्धृत किया गया है। इससे यह निर्णय हो जाता है कि सारे जगत्‌का कारण आनन्द है, और वह ब्रह्मस्वरूप है, जड़ प्रधान आदि नहीं । इन श्रुतिवाक्योंसे ब्रह्मके दो लक्षण प्रतीत होते हैं–एक स्वरूप और दूसरा तटस्थ । 'स्वरूपं सत् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्' "जो लक्षण स्वलक्ष्यका स्वरूप होता हुआ स्वलक्ष्यको अन्य अलक्ष्योंसे पृथक् ज्ञापित करे वह स्वरूप लक्षण है ।" जैसे—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' सत्य, ज्ञान और अनन्त ये ब्रह्मके स्वरूप भूत होते हुए लक्ष्य ब्रह्मका अलक्ष्य-असत्, जड़ और दुःख रूप प्रपञ्चसे पृथक् ज्ञान कराते हैं, अतः सत्य आदि ब्रह्मके स्वरूप लक्षण हैं । ‡ 'कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थ

(शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् सू० ३)

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपत्तिप्तं, तदेव द्रढयन्नाह—

जगत्की कारणता दिखलानेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है अर्थतः प्राप्त हुआ है, अब उसे दृढ़ करते हुए कहते हैं—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—ऋग्वेद आदि शास्त्रका कारण होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है। अथवा ब्रह्म केवल ऋग्वेद आदि शास्त्र प्रमाणक है अर्थात् ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानमें ऋग्वेदादि शास्त्र ही प्रमाण है।

*महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। *न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्व-

अनेक विद्या स्थानोंसे उपकृत दीपकके समान सब अर्थोंका प्रकाशन करनेमें समर्थ और सर्वज्ञके समान महान् ऋग्वेदादि शास्त्रका योनि (कारण) ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादि रूप सर्वगुण-

सत्यानन्दी दीपिका

लक्षणम्' "जो लक्षण स्वलक्ष्यमें कभी रहकर अपने लक्ष्यका अन्य अलक्ष्योंसे पृथक् बोध कराता है वह तटस्थ लक्षण है।" जन्म, स्थिति और लयकी कारणता ब्रह्ममें सदा नहीं रहती, केवल मायाकी अधिष्ठानता कालमें रहती है, अतः इनकी कारणता ब्रह्ममें कदाचित् है और सांख्य, नैयायिक आदिके मतमें प्रधान, परमाणु आदि जो अलक्ष्य हैं उनसे भी ब्रह्मका पृथक् रूपसे ज्ञान कराता है। इसलिए कदाचित् ही व्यावर्तक होनेसे जन्म, स्थिति तथा लयकी कारणता ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है। अतः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुति वाक्य तथा 'जन्मादि' सूत्र ब्रह्मके तटस्थ लक्षण हैं। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें 'यतः' शब्द 'आनन्दाद्ध्येव' इस श्रुतिके अनुसार है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३।६।२८) (ब्रह्म विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप हैं) इत्यादि अन्य शाखाओंमें स्थित वाक्य भी इस अधिकरणके विषय हैं। इसप्रकार सब शाखाओंमें तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण घटित वाक्य जिज्ञास्य ब्रह्ममें समन्वित हैं। 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' (ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती) 'ज्ञानादेवतु कैवल्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानसे ही मोक्ष होता है और वह वेदान्तवाक्योंके विचार करनेसे होता है, इसलिए ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके लिए वेदान्त-वाक्योंका विचार करना चाहिए। पूर्व पक्षमें ब्रह्मस्वरूपकी असिद्धिसे मुक्ति असिद्ध है, सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि है ॥ २ ॥

---

‡ 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें भगवान् सूत्रकारने तटस्थ लक्षणका निर्देश किया है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी तटस्थ लक्षणकेप्रतिपादक ही हैं। इसी अर्थाभिप्रायको रामानुजादि अर्वाचीन भाष्यकारोंने भी स्वीकार किया है। परन्तु भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य तटस्थ लक्षणको बतलाते हुए तटस्थ लक्षण प्रतिपादक सूत्रका भी स्वरूप लक्षणमें तात्पर्य बतला रहे हैं और 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुति-वाक्योंका स्वरूप लक्षणमें पर्यसान करते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि तटस्थ लक्षणसे लक्ष्यका सामान्य परिचय होता है, परन्तु उसका इदम्, इत्थं रूपसे ज्ञान स्वरूप लक्षणके अधीन है, इसलिए जहां तक इदम्, इत्थं रूपसे निश्चय नहीं होता वहां तक वाक्यका तात्पर्य होना चाहिए। इस अभिप्रायसे भगवान् भाष्यकारने तटस्थ लक्षण वाक्योंका उपलक्षणरूपसे स्वरूप लक्षण परक तात्पर्य वर्णन किया है। इससे वैदेशिक विद्वानों तथा तदनुयायी भारतीय विद्वानोंने भाष्यकारपर जो कुछ आक्षेप किया है, वह संप्रदाय तथा भाष्यका भली-भांति परिशीलन न होनेके कारण है।

ज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके । किमु वक्तव्य-

---

सम्पन्न शास्त्रकी उत्पत्ति सर्वज्ञको छोड़कर किसी अन्यसे नहीं है । जो जो विस्तारार्थ शास्त्र जिस पुरुष-विशेषसे विरचित है, जैसे पाणिनि आदिके ज्ञेयका एक अंशरूप अर्थसे युक्त व्याकरण आदि शास्त्र है, वह (पुरुषविशेष) उस स्वविरचित शास्त्रसे अधिकतर ज्ञानवान् होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध है,

सत्यानन्दी दीपिका

* जिसप्रकार अध्येता वेदोंके पूर्वक्रम (आनुपूर्वी आदि) का स्मरणकर मन्त्रोंका उच्चारण करते हैं । इसीप्रकार मायाकी सहायतासे आवरण रहित अनन्त, सर्वज्ञ परमेश्वर पूर्वकल्पके क्रमानुसार वेदों तथा उनके अर्थोंका एक साथ ही ज्ञानकर उनकी अभिव्यक्ति करता है, इसलिए वेद पौरुषेय (पुरुष प्रणीत) नहीं है । जहां अर्थ ज्ञान पूर्वक वाक्य ज्ञान वाक्य रचनामें कारण हो वहां पौरुषेयत्व माना जाता है, जैसे महाभारत आदि ग्रन्थ पौरुषेय (पुरुष प्रणीत) माने जाते हैं । ईश्वरको युगपत् अर्थज्ञान और वाक्यज्ञान होता है, इसलिए वेद पौरुषेय नहीं हैं । वेद अपौरुषेय हैं और उनका तथा सबका कर्ता ब्रह्म सर्वज्ञ है । यह प्रतिपादन करना पूर्व सूत्र तथा इस सूत्र (अधिकरण) का विषय है । वेदोंका कारण ब्रह्म सर्वज्ञ है, यह सिद्ध करनेके लिए वेदोंमें 'महान्' आदि विशेषण दिये गए हैं । जिन वेदोंमें चारों वर्णों, चारों आश्रमोंकी यथा योग्य गर्भाधानसे लेकर श्मशान पर्यन्त समस्त क्रियाओंका, ब्रह्ममुहूर्तसे लेकर प्रदोष पर्यन्त कर्तव्य क्रियाओंका, नित्य, नैमित्तक, काम्य तथा प्रायश्चित्त कर्मोंका प्रतिपादन है और जिन वेदोंके अन्तिम भाग (उपनिषदों) में निःश्रेयसरूप ब्रह्म-तत्त्वकी प्राप्तिके लिए शिष्योंके कल्याणका शासन (उपदेश) है, इसलिए ऋग्वेद आदि मुख्य-वृत्तिसे शास्त्र कहे गए हैं । वेद मूलक होनेके कारण न्याय, मीमांसा आदि दर्शन ग्रंथोंमें भी गौण-वृत्तिसे शास्त्र शब्दका प्रयोग होता है । वेद चार, † पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प,

---

† पुराण—वेदोंमें संक्षेपसे सृष्टि आदिका जो वर्णन है, उसका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए वेदार्थ निर्णयमें पुराण उपकारक होते हैं । 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च । वंशानु-चरितश्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥' "सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित ये पाँच जिसमें वर्णित हों वह पुराण कहलाता है । न्याय—प्रमाण, प्रमेय आदिके परिज्ञानार्थ न्यायशास्त्रकी अपेक्षा रहती है । प्रमाण, प्रमेयादिका निरूपण करते हुए न्याय वेदार्थ निर्णयमें सहायक है। मीमांसा—स्वतः प्रमाण होते हुए भी जहां जहां वेदार्थमें सन्देह होता है, उसका निर्णय करते हुए यह शास्त्र वेदार्थका उपकारक है । इसके समर्थनमें वार्तिककारकी उक्ति भी है—"धर्मे प्रतीयमाने वेदेन करणात्मना । इति कर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यतीति ॥" धर्मशास्त्र—वेदमें संक्षेपसे धर्म और ब्रह्मतत्त्वका जो विवेचन है, उसका विस्तृत वर्णन करते हुए धर्मशास्त्र उपकारक है ।

शिक्षा—इसके द्वारा वर्ण, स्वर, मात्रा, साम सन्तानका संस्कार होता है, अतः संस्कार द्वारा शिक्षा वेदार्थमें सहायक है । कल्पसूत्र—इसे श्रौतसूत्र भी कहा जाता है । इसमें संक्षेपसे वेदमें आधान आदिसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त कर्मोंका वर्णन है । उनका क्रम वेदान्तरों तथा शाखान्तरोंमें कहा गया है । इसमें अङ्गोंका क्रमबद्ध निरूपण किया गया है, इसलिए क्रमानुष्ठानोंमें श्रौत सूत्रकी अपेक्षा रहती है । व्याकरण—पाणिनीय तथा अत्रिव्याकरण प्रकृति, प्रत्यय विभागको कहते हुए साधु, असाधु विवेचन द्वारा पदका संस्कारक होकर व्याकरण वेदार्थमें उपकारक है । निरुक्त—जैसे लौकिक शब्दोंका अर्थज्ञान करानेके लिए अर्णव, नानार्थरत्नमाला, अमरकोश आदि प्रसिद्ध हैं

मनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृह० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः। तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति। इति प्रथमवर्णकम् ॥ * अथवा यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादि-

---

तो अनेक शाखा भेदसे भिन्न देव, मनुष्य, पशु, वर्ण, आश्रम आदि विभागका जो हेतु हैं और सर्वज्ञानके भण्डार हैं ऐसे ऋग्वेद आदि नामक वेदोंकी अनायास ही लीलान्यायसे पुरुष निःश्वासकी तरह जिस महान् (अपरिच्छिन्न) सद्रूप कारणसे उत्पत्ति होती है, क्योंकि 'अस्य महतो० (इस अपरिच्छिन्न सद्रूप ब्रह्मका जो निःश्वास है वह ऋग्वेद है) इत्यादि श्रुति है। उस महान् सद्रूप ब्रह्मके निरतिशय सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्त्वके विषयमें तो कहना ही क्या है। अथवा पूर्वोक्त ऋग्वेद

सत्यानन्दी दीपिका

व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये चौदह विद्यास्थान कहे जाते हैं। पुराण आदिसे वेदोंकी व्याख्या होती है और उनका गम्भीर अर्थ स्पष्ट होता है, अतः ये वेदार्थ ज्ञान करानेमें सहायक कारण माने जाते हैं। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (वेदार्थको न जाननेवाला वेद प्रतिपादित उस महान् तत्त्वको नहीं जानता)। इससे यह सिद्ध होता है कि मनु आदिने वेदोंकी स्वतः प्रमाणता स्वीकार की है। जैसे प्रदीप अपनी प्रकाशात्मक शक्तिसे बाह्य पदार्थोंका प्रकाशक है, वैसे ही वेद भी गुप्त तथा प्रकट सब पदार्थोंका बोध करानेमें समर्थ है, इसलिए वेद स्वतः प्रमाण है अर्थात् वेद अपनी प्रमाणतामें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रखता है, जैसे सूर्य अपनी सिद्धिमें अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता। वेद अचेतन होनेपर भी सर्वार्थ प्रकाशक होनेसे सर्वज्ञ कल्प है। सर्वज्ञकल्प वेदोंका कारण ब्रह्म है।

* वेद काण्व, आश्वालयन, माध्यंदिन, कौथुम, पिप्पलाद, शौनक, ऐतरेय, तैत्तिरेय आदि अनेक शाखाओंमें विभक्त है। देव, मनुष्य, पशु तथा वर्ण आश्रम आदिकी व्यवस्था एवं कर्म आदिके यथावत् स्वरूपका प्रतिपादन, इन सबका विशद वर्णन वेदोंमें है, क्योंकि वेद ज्ञानकी राशि है। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः' (बृह० २।४।१०) (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महान् सद्रूप ब्रह्मके निःश्वास हैं) इस श्रुतिसे सिद्ध होता है कि जैसे निःश्वास पुरुषकी स्वाभाविक क्रिया है, वैसे ही वेदोंकी रचना भी ईश्वरकी निःश्वासकी भान्ति स्वाभाविक क्रिया है अर्थात् ईश्वरको वेदोंकी अभिव्यक्तिमें किञ्चिदपि प्रयास नहीं होता। सर्वज्ञ परमेश्वर अपने सत्य संकल्पसे सृष्टिके आरम्भमें पहले ब्रह्मा आदिके अन्तःकरणमें वेदोंका आविर्भाव (अभिव्यक्ति) करता है। अनन्तर वे ही वेद हमें आचार्य परम्परासे उपलब्ध होते हैं। इससे सुतरां वेदोंका कर्ता ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा पूर्व कल्पके अनुसार वेदोंका स्मरण करना ही वेदोंकी मानो नई रचना है, यह प्रथम वर्णक है।

वैसे ही वैदिक पदार्थोंका कोश निघन्टु है। उसमें तीन काण्ड हैं, नैघन्टुक ३ अध्याय, नैगमिक १ अध्याय और देवता काण्ड १ अध्याय। उसपर यास्कमुनिका भाष्य है, जो निरुक्त नामसे प्रसिद्ध है। इसमें १२ अध्याय हैं। इसके आगे परिशिष्ट दो और अध्याय हैं। छन्द—चारों वेदोंमें गायत्री आदि छन्दोबद्ध मन्त्र होते हैं। वे पिङ्गलनाग विरचित छन्दोविधि शास्त्रद्वारा जाने जाते हैं। ज्योतिष—याग आदि कर्मोंमें समयका निर्धारण करते हुए ज्योतिष शास्त्र वेदका उपकार है।

कारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः। शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। किमर्थं तर्हीदं सूत्रम्? यावता पूर्वसूत्र एवैवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्। *उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वादिति ॥३॥

(४ समन्वयाधिकरणम् सू० ४)

❀ कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते, यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्। अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्; अक्रियार्थत्वात्। कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिशेषत्वम्; उपास-

आदि शास्त्र इस ब्रह्मके यथार्थस्वरूपके ज्ञानमें योनि-कारण प्रमाण हैं। शास्त्र प्रमाणसे ही यह अधिगत होता है कि जगत्के जन्मादिका कारण ब्रह्म है, यह अभिप्राय है। पूर्व सूत्रमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि शास्त्र उदाहृत है। जब पूर्व सूत्र (जन्मादि) में ही (यतो वा) इसप्रकार शास्त्रका उदाहरण देते हुए सूत्रकारने ब्रह्म शास्त्र योनि (प्रमाणक) है, ऐसा दिखलाया है, तो फिर इस सूत्रका प्रयोजन ही क्या है? कहते हैं—वहां पूर्व सूत्रके अक्षरों (अर्थों) से शास्त्रका स्पष्ट ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिए जगत्के जन्मादिका केवल अनुमान रूपसे उपन्यास किया है, कोई ऐसी शङ्का करे तो उस शङ्काकी निवृत्तिके लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है ॥३॥

ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है, पुनः यह कैसे कहते हो? क्योंकि 'आम्नायस्य०' (वेद क्रियार्थक है, क्रियासे भिन्न सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद वाक्य अनर्थक हैं अर्थात् प्रयोजन रहित हैं) इसप्रकार शास्त्र क्रियापरक दिखलाया गया है, इससे अक्रियार्थक होनेके कारण वेदान्त वाक्य प्रयोजन रहित हैं। अथवा कर्ता तथा देवता आदिका प्रकाशनरूप प्रयोजन वाले होनेसे वेदान्त-वाक्य क्रिया विधिके

सत्यानन्दी दीपिका

* भगवान् भाष्यकारने 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्रकी दो व्याख्याएँ की हैं। प्रथम वर्णक (प्रथम व्याख्या) से ब्रह्मका लक्षण कहा गया है कि जगत् तथा ऋग्वेद आदि वेदोंका कारण ब्रह्म है और वह सर्वज्ञ है। इसमें क्या प्रमाण है? क्योंकि 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्नतु प्रतिज्ञामात्रेण' (वस्तुकी सिद्धि लक्षण और प्रमाणसे होती है केवल प्रतिज्ञासे नहीं) इसलिए दूसरी व्याख्यासे ब्रह्ममें 'यतो वा इमानि' 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुति प्रमाण दिखलाकर जिज्ञासाको पूर्ण किया है। शङ्का—जब (जन्मादि) इस पूर्व सूत्रमें 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुति वाक्योंका उदाहरण देकर ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक कहा गया है, तो फिर 'शास्त्रयोनित्वात्' इस नवीन सूत्रकी रचना क्यों की गई? इसका समाधान 'उच्यते' इत्यादिसे कहते हैं।

* 'जन्माद्यस्य यतः' इस पूर्व सूत्रमें शास्त्र पदका ग्रहण न होनेसे ऐसी शंका हो सकती है कि 'जन्मादि' सूत्रमें जगत्के जन्मादि 'जगत् सकर्तृकं कार्यत्वात् घटादिवत्'' इस अनुमानसे सकर्तृक सिद्ध होते हैं। परन्तु उसका कर्ता कौन है? ऐसा प्रश्न पुनः उठता है, तो इसके समाधानमें 'जगत् सर्वज्ञ ईश्वरकर्तृकं कार्यत्वात् भूम्यादिवत्' 'जैसे भूमि आदि कार्य है, अतः वह सर्वज्ञ ईश्वर कर्तृक है, वैसे ही जगत्रूप कार्य भी सर्वज्ञ ईश्वर कर्तृक है'' यह दूसरा अनुमान ही स्वतन्त्ररूपसे विचार करने योग्य है वेदान्त-वाक्य नहीं। इसप्रकारकी शंका निवृत्त्यर्थ भगवान् सूत्रकारने 'शास्त्रयोनित्वात्' इस नवीन सूत्रकी रचना की है अर्थात् यहां वेदान्त-वाक्य ही विचारके विषय हैं अनुमान नहीं। पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व अनिश्चित है, सिद्धान्तमें वह निश्चित है ॥ ३ ॥

नादिक्रियान्तविधानार्थत्वं वा। नहि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति; प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठिवस्तुनः; तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात्। * अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्यं मा भूदिति 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च 'इषे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधि-

अंग हैं, अथवा उपासना आदि अन्य क्रियाओंके विधानके लिए हैं। किन्तु सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन तो [वेदान्तोंका प्रयोजन] संभव नहीं है, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय है और हेयोपादेयसे रहित उसके प्रतिपादन करनेमें पुरुषार्थ भी नहीं है। इसी कारणसे 'सोऽरोदित्' (वह रोया) इत्यादि वाक्य अनर्थक न हों, इसलिए 'विधिना० (विधि वाक्योंके साथ अर्थवाद आदि वाक्योंकी एक वाक्यता है, क्योंकि अर्थवाद वाक्य विधेयकी स्तुतिके लिए होते हैं) इसप्रकार स्तुति परक होनेसे सार्थक कहे गए हैं। और 'इषे त्वा' (हे इषे (शाखाओ)। तुझे अन्नके लिए काटता हूं) इत्यादि मन्त्र क्रिया तथा उसके साधनोंका अभिधायी होनेसे कर्म सम्बन्धी कहे गए हैं। किसी भी प्रकरणमें विधि वाक्योंके साथ सम्बन्ध प्राप्त किए विना वेद-वाक्योंकी अर्थवत्ता न देखी गई है और न उपपन्न ही है। सिद्ध वस्तुके स्वरूपमें विधि नहीं हो सकती, क्योंकि विधि क्रिया विषयक

सत्यानन्दीदीपिका

* 'आम्नायस्य' इस पूर्वपक्ष सूत्रसे यह अभिव्यक्त किया जाता है कि विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेयात्मक समस्त वेद साक्षात् या परम्परासे यज्ञ आदि क्रियाओं तथा उनके उपकरण अङ्गोंका प्रतिपादक है, जैसे—'स्वर्गकामो यजेत' 'दध्ना जुहोति' इत्यादि। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वेद भाग-वेदान्त वाक्य याग आदि क्रियापरक नहीं हैं, किन्तु सिद्ध वस्तु ब्रह्मपरक हैं, अतः वे निष्फल हैं अर्थात् अप्रमाणरूप हैं, ऐसी स्थितिमें ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक कैसे हो सकता है ?

* 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (अङ्गों सहित स्ववेदका अध्ययन करना चाहिए) इस अध्ययन विधिसे गृहीत वेदान्त-वाक्योंको निष्फल मानना युक्त नहीं है। पू०—यदि वेदान्त-वाक्य साक्षात् क्रिया परक नहीं हैं तो क्रियाके अंगभूत कर्ता तथा देवताका ज्ञान कराते हुए क्रियाके अंग हो सकते हैं। जैसे 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें ईश्वर वाचक 'तत्' पद क्रियाके अंग भूत देवताका और जीव वाचक 'त्वम्' पद याग कर्ताका बोधक है। इसप्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पद देवता और कर्ताकी स्तुतिके लिये हैं और ''विविदिषन्ति' (जाननेकी इच्छा करे) आदि श्रुतिवाक्य फलकी स्तुति करते हैं। इसतरह वेदान्तवाक्य कर्ता, देवता तथा फल आदिकी स्तुतिद्वारा क्रियाके अंग होकर सफल होते हैं। सि०—परन्तु कर्मके प्रकरणमें अपठित वेदान्तवाक्य कर्मके अंग कैसे होंगे ? पू०—वे उपासना विधिके अंग होंगे। यद्यपि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' श्रुति प्रतिपादित यह अभेद असत् है, तो भी असत् अभेदका अपनेमें आरोपकर अभेदरूपसे उपासना करनी चाहिए। सि०—वेदान्त वाक्योंको श्रुति प्रतिपादित सिद्ध वस्तु ब्रह्म परक न मानकर क्रियापरक माननेमें क्या प्रयोजन है ? पू०—प्रयोजन यह है कि सिद्ध वस्तु वेद द्वारा जानने योग्य नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका विषय है। वेद तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अविषय स्वर्ग आदि फल और उनके साधन भूत यज्ञ आदि कर्मोंका प्रतिपादक है। 'अज्ञातज्ञापकत्वं (हि) वेदानां प्रामाण्यम्' (प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अज्ञात वस्तुका ज्ञापकत्व ही वेदोंका वेदत्व-प्रामाण्य है) यदि वेद ज्ञात (सिद्ध) वस्तुका वर्णन करे तो वह अनुवादक

संस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा। * न च परिनिष्ठिते वस्तुत्स्वरूपे विधिः संभवति; क्रियाविषयत्वाद्विधेः। तस्मात्कर्मापेक्षितकर्तृस्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयान्नैतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम्। तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—

होती है, इसलिए कर्ममें अपेक्षित कर्ता तथा देवता आदिके स्वरूपका प्रकाशन करनेसे वेदान्त क्रिया विधिके अङ्ग हैं। यदि अन्य प्रकरणके भयसे यह स्वीकार न किया जाय तो भी स्व (वेदान्त) वाक्योंमें उपलब्ध उपासना आदि कर्म परक हैं। इसलिए ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण नहीं है। ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

मात्र होगा, इससे वेदोंमें प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। इसलिए वेदान्त-वाक्योंको सिद्ध वस्तु परक न मानकर कर्म अथवा उपासनाके लिए मानना युक्त है। तात्पर्य यह है कि हेय तथा उपादेयसे रहित सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन अथवा उसका ज्ञान निष्फल है। क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है कि दुःख हेय है, अतः उसकी निवृत्तिके लिए प्रवृत्ति होती है और सुख उपादेय है तो उसकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्ति होती है। परन्तु सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्म न हेय है और न उपादेय ही, अतः उसका प्रतिपादन निष्फल है। किन्तु याग और उपासना दुःखकी निवृत्ति तथा सुखकी प्राप्तिके साधन हैं, अतः उनका प्रतिपादन सफल है, इसलिए वेदान्तोंको भी उनका ही अंग मानना युक्त है।

* यज्ञ आदि अनुष्ठानों में अनुपयोगी वेदान्त वाक्य निष्फल तथा अप्रमाण रूप हैं, इसलिए अप्रमाण रूप वेदान्त वाक्योंसे प्रतिपादित सिद्ध वस्तुका ज्ञान भी निष्फल है। मीमांसा दर्शनमें पूर्व पक्ष सूत्रका यदि यही अभिप्राय है तो 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) यह वेद वाक्य भी कर्म न होनेसे निष्फल होगा? मीमांसा दर्शनमें सिद्धान्ती—जैसे † 'देवैर्निरुद्धः सोऽग्निररोदीत्' (देवोंसे निरुद्ध हुआ अग्नि रोया) यह वाक्य अश्रुसे उत्पन्न रजतकी निन्दा द्वारा 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (पुनराधान प्रकरणमें पठित बर्हियागमें यजमान द्वारा ऋत्विजोंके लिए दक्षिणारूपसे रजत नहीं देना चाहिए) इस सफल निषेध वाक्यका अंग है। वेदोंमें याग आदि क्रियाके अप्रतिपादक तथा सिद्ध वस्तुके प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद कहे जाते हैं। वे वेद विहित विधेयार्थकी स्तुतिद्वारा अथवा निषिद्धार्थकी निन्दाद्वारा विधि तथा निषिद्ध क्रियाके अङ्ग होकर सफल होते हैं। अर्थवादके अनन्तर मन्त्रोका विचार है—'इषे त्वा' इस मन्त्रमें क्रिया पदके अश्रुत होनेसे 'छिनद्मि' क्रिया पदका अध्याहार किया गया है जिससे शाखाके छेदनकी प्रतीति होती है और 'इषे त्वा छिनद्मि' ऐसा मंत्रका स्वरूप सिद्ध होता है। 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि मन्त्रोंमें क्रियाके साधन भूत देवताकी प्रतीति होती है। इस प्रकार श्रुति द्वारा मन्त्रोंका क्रतुमें विनियोग होता है। अब यहां सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या वे मन्त्र उच्चारण मात्रसे अदृष्ट फलको उत्पन्नकर यागके उपकारक होते हैं अथवा दृष्टार्थके स्मरणसे उपकारक होते हैं? यदि मन्त्र दृष्ट अर्थके स्मरण मात्रसे उपकारक हों तो अध्ययन कालमें अवगत मन्त्रके

---

† किसी समय देवासुरसंग्राम होनेपर देवोंने बहुमूल्य वस्तुएँ अग्निको सौंपकर कहा—हे अग्ने! युद्धमें यदि हम लोगोंका विजय हुआ तो ठीक, नहीं तो ये सब वस्तुएँ उपयोगी सिद्ध होंगी, ऐसा कहकर सब देव युद्धार्थ चले गये। दूसरी ओर अग्नि लोभ वश सब वस्तुएँ लेकर चम्पत हो गया, दैववश देवगण विजय पाकर उस स्थानमें अग्निको न देख उसकी खोजकी उससे सब वस्तुएं छीन लीं, तो अग्निरोया तब उसकी अश्रुधारासे रजत उत्पन्न हुआ।

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

पदच्छेद—तत्, तु, समन्वयात्।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्व पक्षकी व्यावृत्तिके लिए है। (तत्) वह ब्रह्म स्वतन्त्र रूपसे वेदान्त वाक्योंद्वारा ही अवगत होता है, (समन्वयात्) क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्त वाक्य उसके प्रतिपादनमें तात्पर्यसे समन्वित हैं।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तत् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं

'तु' शब्द पूर्व पक्षके निराकरणके लिए है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, तथा जगत्की उत्पत्ति,

सत्यानन्दी दीपिका

अर्थकी स्मृति तो चिन्तन आदिसे भी सम्भव है। इसलिए मन्त्रोंका उच्चारण अदृष्ट फलको उत्पन्नकर उपकारक होता है, यह पूर्व पक्ष है। मीमांसासिद्धान्तमें—'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० सू० १।२।४०) (लौकिक तथा वैदिक वाक्यार्थ समान है अर्थात् जैसे लोकमें वाक्य दृष्ट फलरूप अर्थवाला होता है वैसे ही वेदमें भी वाक्यत्व समान होनेसे मन्त्रोंका दृष्टार्थ रूप फल होना चाहिए, इसलिये मन्त्र दृष्टार्थक हैं अर्थात् उच्चारणसे प्रत्यक्ष फलवाले अर्थोंका ज्ञान कराकर यज्ञके उपकारक होते हैं) क्योंकि जब दृष्ट फलका सम्भव हो तो अदृष्टार्थकी कल्पना गौरव मात्र ही है। इसलिए फल विशिष्ट यज्ञ आदि अनुष्ठानोंको जिन क्रियाओं और उनके साधनोंकी अपेक्षा होती है उनका स्मरण मन्त्रोंसे होता है। इस प्रकार मन्त्र कर्मके अङ्ग होते हैं। 'मन्त्रैरेवार्थः स्मर्तव्यः' (मन्त्रोंसे ही अर्थ (देवता आदि) का स्मरण करना चाहिए) इस नियमके अनुसार मन्त्रोंका अदृष्ट फल भी होता है।

अब प्रसङ्ग वश पदैकवाक्यता तथा वाक्यैकवाक्यताका विचार किया जाता है—अर्थवाद वाक्यमें अनेक पद होनेपर भी उन सबका स्तुति अथवा निन्दा एक ही अर्थ है, इससे अर्थवाद-वाक्योंको एक पद कहा गया है, इसलिए स्तुति आदि द्वारा अर्थवादकी विधिके साथ पदैकवाक्यता है। मन्त्र और अङ्गवाक्य स्वार्थका बोध कराके विधि वाक्यमें अन्वित होते हैं, इसलिए विधि वाक्योंके साथ वाक्यार्थ ज्ञानद्वारा मन्त्र और अङ्गवाक्योंकी वाक्यैकवाक्यता है। सारांश यह है कि जैसे अर्थवाद वाक्य सिद्ध अर्थका ज्ञान कराते हुए विधेयकी स्तुति द्वारा विधि वाक्योंके अङ्ग होकर सार्थक होते हैं, वैसे ही वेदान्त वाक्य भी सिद्ध ब्रह्म रूप अर्थका बोध कराते हुए विधिके अङ्ग होकर ही सार्थक हो सकते हैं अन्यथा नहीं, इसलिए वेदान्त वाक्योंको भी विधिका अङ्ग मानना चाहिए।

✻ सि०—वेदान्त वाक्योंको अन्य विधिका अङ्ग माननेकी अपेक्षा ब्रह्ममें ही विधि क्यों न मानी जाय? पू०—'न च' इत्यादिसे कहते हैं—सिद्ध वस्तुमें विधि नहीं हो सकती, क्योंकि विधि क्रिया विषयक होती है। सि०—'दध्ना जुहोति' (दधिसे होम करे) यहां सिद्ध वस्तु दधिमें विधि क्यों मानी गई है? पू०—यह विधि यागरूप क्रियाके लिए है, क्योंकि यागरूप क्रिया द्रव्य और देवताके विना सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिए दधि द्रव्य यागरूप क्रिया सिद्ध्यर्थ होनेसे क्रिया ही है। किन्तु ब्रह्म तो निष्क्रिय होनेसे साध्य नहीं है, अतः वेदान्त-वाक्य कर्ममें अपेक्षित कर्ता, देवता आदिके स्वरूपका स्मरण कराते हुए विधिके अङ्ग हो सकते हैं, यह भट्टमत है। अब 'अथ' इत्यादिसे दूसरे पक्षका उल्लेख करते हैं। इसलिए 'शास्त्रयोनित्वात्' इस तृतीय सूत्रसे ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्व पक्ष प्राप्त होनेपर भगवान् भाष्यकार 'उच्यते' से सिद्धान्त पक्ष उपस्थित करते हैं।

✻ इस चतुर्थ सूत्रकी विशेषता यह है कि इसमें एक ऐसा हेतु दिया गया है जो कि वेदान्त-

वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम्? * समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।' 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत० २।१।१।१) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० २।५।१९) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२

स्थिति तथा लयका कारण भूत, वह ब्रह्म वेदान्त-वाक्योंसे अवगत होता है। कैसे? समन्वयसे। क्योंकि 'सदेव सोम्य० (हे प्रिय दर्शन! यह सब उत्पत्तिके पहले एक मात्र अद्वितीय सत् ही था) 'आत्मा वा० (यह सब उत्पत्तिके पहले एक मात्र आत्मा ही था) 'तदेतद्' (तत्—वह माय ारूप उपाधिसे बहुत रूपोंको प्राप्त हुआ जो ब्रह्म है, एतद्—यह अपूर्व, (कारण रहित), अनपर (कार्य रहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्यसे रहित), अबाह्य (अद्वितीय) है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है) 'ब्रह्मैवेदम्' (यह अमृत (अविनाशी) ब्रह्म ही आगे है) इत्यादि वाक्य सब वेदान्तोंमें तात्पर्यसे इसी अर्थमें प्रतिपादक रूपसे समनुगत अर्थात् समन्वित हैं। वेदान्त-वाक्योंमें प्राप्त

सत्यानन्दी-दीपिका

वाक्योंकी सार्थकताको स्पष्ट करता हैं। वह हेतु है 'समन्वय'। सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्य समन्वित तात्पर्यसे सिद्ध परन्तु ब्रह्मका ज्ञान कराते हैं। अतः वे न तो कर्मके अङ्ग हैं और न उपासनाके ही, वेदान्त-वाक्योंका मुख्य तात्पर्य ब्रह्ममें है। जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' सत्य, ज्ञान तथा अनन्त इन पदोंसे एक अखण्ड ब्रह्म ही अवगत होता है। किञ्च उपक्रमादि लिङ्गोंसे भी वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें ही सिद्ध होता है। यथा—"उपक्रमोपसंहारवभ्यासोऽपूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥" उपक्रम (आरम्भ), उपसंहार (समाप्ति) इन दोनोंकी एक वाक्यता, अभ्यास (पुनः पुनः कथन), अपूर्वता (अन्य प्रमाणकी अविषयता), फल (मोक्ष), अर्थवाद (अद्वैतकी स्तुति या द्वैतकी निन्दा द्योतक वाक्य), उपपत्ति (युक्ति) ये तात्पर्यके निर्णायक लिङ्ग हैं। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत' (छान्दो० ६।२।१) (उद्दालक—हे सोम्य! यह सारा जगत् सृष्टिके पूर्व सत् ही था) इस श्रुति-वाक्यमें 'एव' शब्द नियमका वाचक है, यह ब्रह्मसे जगत्‌की भिन्न सत्ताका निषेध करता है अर्थात् ब्रह्मसे जगत्‌की भिन्न सत्ता नहीं है। 'एकमेवाद्वितीयम्' इस वाक्यमें 'एकम्, एव, अद्वितीयम्' ये तीन पद क्रमशः, सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदका ब्रह्ममें निषेध करते हैं। इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्मका उपक्रमकर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छान्दो० ६।८।७) (यह सब आत्मस्वरूप ही है) इस तरह उपसंहार किया है अर्थात् प्रकरणके आरम्भमें तथा अन्तमें एक अद्वितीय ब्रह्मका ही प्रतिपादन है। अभ्यास—'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) (वह तू ही है) इस वाक्यका उपदेश उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति नौ वार किया है। यह पुनरुक्ति भी तात्पर्य निर्णयमें सहायक है। अपूर्वता—'अत्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति' (छन्दो० ६।१३।२) (हे सोम्य! जैसे नमक जलमें रहता हुआ भी तुमको नहीं दिखाई देता, निश्चित इसी जलमें है, वैसे ही इस शरीरमें विद्यमान सद्ब्रह्मका प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अनुभव नहीं होता, किन्तु वेदान्त वाक्योंसे इसी शरीरमें उसका अपरोक्ष हो सकेगा) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह० ३।९।२६) "नावेदविन्मनोते तं बृहन्तम्" इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्ममें अपूर्वता कही गई है अर्थात् ब्रह्म वेदान्तातिरि प्रमाणका विषय नहीं है।

फल—'आचार्यवान् पुरुषो वेद' तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६।१४।२) (आचार्यवान् पुरुष ही उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्मतत्त्वको जानता है, उसके लिए मोक्ष होनेमें

११) इत्यादीनि । न च तद्‍गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते, 'तत्केन कं पश्येत्' (बृह० २।४।१३) इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः । न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्वं ब्रह्मणः; 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७)

पदोंका ब्रह्मस्वरूपके विषयमें निश्चित समन्वय जान लेनेपर अन्यार्थ (कार्यरूप अर्थ) की कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे श्रुत (श्रुति प्रतिपादितब्रह्म अर्थकी हानि और अश्रुत (श्रुति अप्रतिपादित यागादि क्रिया) अर्थकी कल्पना करनी पड़ेगी । और इन वाक्योंका कर्ताके स्वरूप प्रतिपादन में तात्पर्य निश्चित नहीं हो सकता । क्योंकि 'तत्केन० (ब्रह्म विद्या कालमें कौन कर्ता, किस करणसे किस विषयको देखे) इत्यादि श्रुति क्रिया, कारक और फलका निषेध करती है । सिद्ध वस्तु स्वरूप होनेपर भी ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस वेदान्त शास्त्रके विना ब्रह्मात्मभाव अवगत नहीं होता । हेयोपादेय रहित होनेसे ब्रह्मका उपदेश निष्फल है, यह जो कहा

सत्यानन्दी दीपिका

उतना ही विलम्ब है जब तक उसका शरीर-लिङ्गशरीर पात नहीं होता) इसमें ब्रह्मज्ञानका फल कहा गया है । अर्थवाद—श्वेतकेतुके अभिमान निवृत्तिके लिए पिता उद्दालक ने पूछा क्या तुम उसे जानते हो 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति' (छान्दो० ६।१।३) (जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत, अमत मत, अविज्ञात विशेष रूपसे ज्ञात हो जाता है) इत्यादि श्रुति वचन प्रशंसा रूप अर्थवाद है । 'मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ० २।१०) (जो मनुष्य इस अद्वैत ब्रह्ममें नानात्व (भेद-सा) देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति वचन निन्दारूप अर्थवाद है । उपपत्ति—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४,७) (हे सोम्य ! जिस प्रकार मृत्तिकाके पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृण्मय घटादि पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, क्योंकि मृत्तिकामें घटादि नाम और घटादि आकार कल्पित है, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है) क्योंकि घटादिकी अपने कारण भूत मृत्तिकासे भिन्न सत्ता नहीं है, वैसे ही आकाश आदि प्रपञ्चभी कारण ब्रह्मसे भिन्न नहीं है अर्थात् ब्रह्म ही है, यह उपपत्ति है । इस प्रकार प्रत्येक वेदान्तमें कहीं तात्पर्यके बोधक सब लिङ्ग और कहीं अलग अलग देखनेमें आते हैं । भाष्यस्थ 'आदि' पदसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों का ग्रहण करना चाहिए । वेदान्त-वाक्योंके तात्पर्यका विषय भले ही ब्रह्म हो, परन्तु उनका अर्थ यागादि रूप कार्य क्यों न हो ? इस शङ्काका 'नच' इत्यादि भाष्यसे समाधान करते हैं ।

* यहां अर्थवाद न्याय भी ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थवाद वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं होता । इसलिए वे यागादि क्रियाके अङ्ग भूत द्रव्य, देवता आदिके स्तुत्यर्थक होते हैं । परन्तु 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः (जो शब्द जिस अर्थका प्रतिपादक होता है या जिस अर्थमें उसका तात्पर्य होता है, वही उस शब्दका अर्थ होता है) इस न्यायसे भी विरोध होता है । इसलिए 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इन पदोंका तात्पर्य ब्रह्ममें है और उनका अर्थ ब्रह्म ही है । मीमांसकने जो पहले कहा था कि 'जैसे घटादि सिद्ध पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणके विषय होनेसे वेदार्थ नहीं हैं, वैसे सिद्ध ब्रह्म भी प्रत्यक्षादि प्रमाणका विषय होनेसे वेदका अर्थ नहीं हो सकता अर्थात् ब्रह्ममें वेदप्रमाण नहीं है । इसपर 'न च' इत्यादिसे कहते हैं ।

* जो यह कहा गया है कि वेदान्त उपासना परक हैं, क्या उनमें देवता आदिके प्रतिपादक

इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात्। यत्तु–हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः; हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतोपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति; एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। नह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां न विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं दृष्टम्; तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्ष्येत। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्। अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते--यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि

गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि हेयोपादेय रहित ब्रह्मात्मभावके अवगत होनेसे ही सब क्लेशोंकी निवृत्ति और परमपुरुषार्थकी सिद्धि होती है। यदि देवतादिके प्रतिपादक (प्राण, पञ्चाग्नि आदि) वाक्य वेदान्त वाक्यगत उपासना परक हों तो भी कोई विरोध नहीं है। परन्तु उसी प्रकार ब्रह्म उपासना विधिका अङ्ग नहीं हो सकता। एकत्व ज्ञान हो जानेपर ब्रह्म हेयोपादेय न होनेसे क्रिया, कारक आदि द्वैतकविज्ञानका बाध हो सकता है। एकत्व विज्ञानसे निवृत्त हुआ मिथ्या द्वैतज्ञानका फिर सम्भव नहीं है। जिससे कि ब्रह्म उपासना विधिका अंग प्राप्त हो। यद्यपि वेदान्तसे भिन्न स्थलोंमें अर्थवाद आदि वेद वाक्योंकी विधिके साथ सम्बन्धके विना प्रमाणता देखनेमें नहीं आती, तो भी आत्मज्ञानको आत्मसाक्षात्कार फल पर्यन्त होनेसे ब्रह्म विषयक शास्त्रकी प्रमाणताका खण्डन नहीं किया जा सकता। शास्त्र प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है जिससे कि वह अन्य स्थलोंमें देखे हुए दृष्टान्तोंकी अपेक्षा करे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मशास्त्र प्रमाणक है। इस विषयमें दूसरे (वृत्तिकार)

सत्यानन्दी-दीपिका

प्राण, पञ्चाग्नि आदि वाक्य उपासना परक हैं अथवा सब वेदान्त? प्रथम पक्ष तो 'देवतादि' से अंगीकार करते हैं। परन्तु दूसरा पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि विधि शून्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वेदान्त वाक्य अपने अर्थ प्रतिपादन करनेमें सफल हैं, अतः वे उपासना परक नहीं हो सकते। किञ्च उन वेदान्त वाक्योंके अर्थरूप ब्रह्मको उपासनाका अंग ज्ञानसे पूर्व मानते हो अथवा पश्चात्? ज्ञानसे पहले अध्यस्त गुणयुक्त ब्रह्म उपासनाका अंग भले हो, परन्तु तत्त्वज्ञानके अनन्तर नहीं, इसीको 'न तु तथा' इत्यादिसे कहते हैं। 'तथा' अर्थात् प्राणादि देवताके समान।

* 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्रगामी देवता है) 'सोऽरोदीत्' (वह अग्नि रोया) इत्यादि अर्थवाद वाक्य स्तुति या निन्दा द्वारा ही कर्म काण्डमें विधिसे सम्बद्ध होकर प्रमाणताको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं। परन्तु ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपके प्रतिपादक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति वाक्योंका प्रामाण्य तो किसी प्रकार भी हटाया नहीं जा सकता। 'वेदान्तः स्वतः प्रमाणं वेदत्वात् स्वर्गकामो यजेत इतिवत्' वेदान्त वेद होनेसे स्वतः प्रमाण है, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वे वाक्य वेद होनेसे स्वतः प्रमाण हैं। इसलिए वेदान्त वाक्योंका प्रामाण्य अनुमानके अधीन नहीं है अतएव उनको अपने प्रामाण्यमें किसी दृष्टान्तकी भी अपेक्षा नहीं है। जैसे 'यजेत' इत्यादि विधि वाक्य फलवाले अज्ञात याग और स्वर्गादि प्रयोजनके ज्ञापक होनेसे प्रमाणरूप हैं, वैसे ही वेदा वाक्य भी पूर्व किसी अन्य प्रमाणसे अज्ञात जीव ब्रह्मैक्य अर्थका ज्ञान करानेसे प्रमाणरूप हैं। इ प्रकार सम्पूर्ण वेदान्त वाक्य एक अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वित हैं, अतः ब्रह्ममें वेदान्त शास्त्र ही प्रमा है। इसका विशेष विवेचन 'गतिसामान्यात्' (ब्र० सू० १।१।१०) इस सूत्रमें किया जायगा।

प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूपाहवनीयादीन्यलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते, तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य। तथा हि-शास्त्रतात्पर्यविद आहुः- 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्'-(जै० सू० १।१।१) इति। 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्'। 'तस्य ज्ञानमुपदेशः-' जै० सू० १।१।५) 'तद्भूतानां क्रियार्थेन

पूर्व पक्ष करते हैं। यद्यपि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक ही है, तथापि प्रतिपत्ति (उपासना) विधिके विषयरूपसे ही शास्त्र ब्रह्मका बोध कराता है। जैसे कि यूप, आहवनीय आदि अलौकिक पदार्थोंका भी विधिके अङ्ग रूपसे शास्त्र बोध कराता है। ऐसा क्यों? शास्त्र प्रवृत्ति तथा निवृत्ति प्रयोजन वाला है। इस अर्थमें शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवाले कहते हैं—'दृष्टो हि० (कर्मोंका ज्ञान कराना ही शास्त्रका दृष्ट फल है) और 'चोदनेति० (क्रियाका प्रवर्तक वचन चोदना है) 'तस्य० (धर्मका ज्ञापक अपौरुषेय विधि-वाक्य—स्वर्गकामो यजेत आदि उपदेश है) 'तद्भूतानां० (वेदमें सिद्ध अर्थके वाचक पदोंका

सत्यानन्दीदीपिका

* ब्रह्म केवल वेदान्त शास्त्र वेद्य है। यह जानकर वृत्तिकार (उपवर्षाचार्य) शंका करते हैं पूर्वपक्षमें उपासनासे मुक्तिरूप फल होता है, वेदान्त सिद्धान्तमें तत्त्व ज्ञानसे ही मुक्ति होती है। यद्यपि ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है, तथापि 'आत्मेत्येवोपासीत' यह उपासना विधि है। इस उपासना विधिका विषय ब्रह्म है। उपास्य विना उपासना नहीं हो सकती, का इसलिए उपासना विधिके विषयभूत ब्रह्ममें भी अवान्तर तात्पर्य है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य उस उपास्य ब्रह्म स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं। इसका दृष्टान्तसे स्पष्टीकरण कहते हैं—जैसे 'यूपे पशुं बध्नाति' (यज्ञ स्तम्भमें पशुको बांधे) 'आहवनीये जुहोति' † आहवनीय अग्निमें हवन करे) 'इन्द्रं यजेत' (इन्द्रका यजन करे) इन विधियोंमें यूप आदि क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर 'यूपं तक्षति' (लकड़ीको तक्षण करता है) अर्थात् लकड़ीको छीलकर आठ कोणवाली बनाता है इस प्रकार संस्कृत लकड़ी यूप कही जाती है। 'अग्निमादधीत' (अग्निका आधान करे) इस प्रकार आधानसे संस्कृत अग्नि आहवनीय है। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः (जिसके हाथमें वज्र है वह इन्द्र है। इत्यादि वाक्य विधिके शेष भूत अलौकिक यूप आहवनीय, इन्द्र आदिका प्रतिपादनकर प्रमाणरूप होते हैं अन्यथा नहीं। इसी प्रकार 'आत्मेत्येवोपासीत' आदि विधि शेष आत्माके 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्य प्रतिपादक हैं, वे भी अलौकिक ब्रह्मात्माका विधिके अङ्ग रूपसे वर्णनकर प्रमाण भूत होते हैं। परन्तु उपक्रम-उपसंहादि लिङ्गोंसे वेदान्त शास्त्रका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है तो फिर ब्रह्मको उपासना विधिका अङ्ग क्यों माना जाय? पू०—शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय आप्त वक्ताओंके परम्परा व्यवहारसे होता है। वृद्ध व्यवहारसे यह प्रतीत होता है कि आप्त पुरुष श्रोताकी प्रवृत्ति और निवृत्तिके उद्देश्यसे शब्दका व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार शास्त्रके भी प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप प्रयोजन हैं। वह भी विधिज्ञान (कार्य ज्ञान) से उत्पन्न होता है, अतः वेदान्त शास्त्रका भी विधिमें ही तात्पर्य है ब्रह्ममें नहीं, इसलिए ब्रह्मको भी विधिका अङ्ग मानना चाहिए। इस विषयमें वृद्धोंकी भी सम्मति है।

* 'दृष्टो हि तस्यार्थः' यह शबर स्वामीकी सम्मत्ति है। 'यजेत, जुहोति इत्यादि वाक्य चोदना

---

† 'पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणःस्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी'। (मनु० २।२३१) (पिता गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिण अग्नि है, गुरु आहवनीय अग्नि है ये तीन अग्नि सर्व श्रेष्ठ हैं)। गृहस्थके घरमें जो हवन आदिके लिए नित्य अग्नि रहता है वह गार्हपत्य है। इससे अन्य अग्नि ग्रहण किये जाते हैं। 'गार्हपत्यादाहवनीयं ज्वलन्तमुद्धरेत्' (आश्व० श्रौ० २।२) गार्हपत्यसे आहवनीयको जलता हुआ लावे।)

समाम्नायः–' (जै०सू० १।१।२५) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्–' (जै० सू० १।२।१) इति च। अतः पुरुषं कचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुतश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयच्चार्थवच्छास्त्रम्। तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम्। तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात्। ❀ सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधनं विधीयत एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयत इति युक्तम्। नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तं कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः; इह तु भूतं नित्यनिवृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति; तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्; कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह० २।४।५) इति। 'य

क्रिया वाचक पदोंके साथ उच्चारण करना चाहिए) 'आम्नायस्य० (वेद क्रियार्थक है, अतः क्रियासे भिन्न सिद्ध अर्थ प्रतिपादक वेद-वाक्य निष्फल हैं) इसलिए पुरुषको किसी एक विषयमें प्रवृत्त करता हुआ और किसी एक विषय विशेषसे निवृत्त करता हुआ शास्त्र सार्थक होता है और दूसरे वाक्य इसके अंग भूत होकर उपयुक्त होते हैं। उनके साथ समानता होनेसे वेदान्त वाक्य भी उसी प्रकार सार्थक होते हैं। यदि [वेदान्त-वाक्य] विधि परक हों तो जैसे स्वर्ग आदि कामना वाले पुरुषके लिए अग्निहोत्र आदि साधनोंका विधान है, वैसे ही अमृतत्वकी कामना करने वालेके लिए भी ब्रह्म ज्ञानका विधान किया जाता है, ऐसा मानना युक्त है। यदि कहो कि यहां जिज्ञास्यका वैलक्षण्य (भेद) कहा गया है, कर्म काण्डमें साध्य धर्म जिज्ञास्य है और ज्ञानकाण्डमें तो नित्य निवृत्त सिद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है। उनमें अनुष्ठानकी अपेक्षा रखने वाले धर्मज्ञानके फलसे ब्रह्मज्ञानका फल विलक्षण होना चाहिए।

सत्यानन्दी दीपिका

कहलाते हैं। क्रिया, कार्य, कर्म, नियोग, विधि, धर्म और अपूर्व इन सबका एक ही अर्थ है। कहीं तो शास्त्र पुरुषको सुखके साधनमें प्रवृत्त करता हुआ सफल होता है, जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो-यजेत' और कहीं दुःखके साधन सुरापान, हिंसा आदिसे पुरुषको निवृत्त करता हुआ सार्थक होता है, जैसे 'सुरां न पिबेत्' इसलिए विधि, निषेधात्मक वाक्य ही शास्त्र है। उससे भिन्न अर्थवाद आदि वाक्य विधि तथा निषेध वाक्योंके अङ्ग होकर सार्थक होते हैं। अतः कर्म शास्त्रके समान वेदान्त-शास्त्र भी शास्त्र है, इस कारण वेदान्त भी क्रियार्थक होकर सार्थक हो सकता है। परन्तु यज्ञादि क्रियाओंके समान वेदान्तमें अधिकारी और विधेय देखनेमें नहीं आते तो वेदान्तसे कार्यका ज्ञान कैसे होगा? 'सति च' आदिसे समाधान करते हैं।

* पूर्वपक्षी–'सति विधिपरत्वे' इस भाष्यसे अधिकारी और विधेय सिद्ध करता है, जैसे 'स्वर्गकामोयजेत' यहां स्वर्गकी कामना वाला पुरुष अधिकारी है और उनके लिए अग्निहोत्रादि विधेय हैं। इसी प्रकार 'ब्रह्मभावकामो ब्रह्मवेदनं कुर्यात्' (ब्रह्मभावकी कामना वाला ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे) 'मोक्षकाम आत्मानमुपासीत' (प्रभाकर-मोक्षकी कामनावाला आत्माकी उपासना करे) अर्थात् 'आत्मोपासनेन मोक्षजनकं अदृष्टं सम्पादयेत्' अथवा 'आत्मोपासनजन्यादृष्टेन मोक्षं भावयेत्' (आत्मोपासनासे मोक्ष जनक अदृष्ट संपादन करे अथवा आत्मोपसनजन्य अदृष्टसे मोक्षकी भावना करे) अर्थात् यहां अमृतत्वकी कामना करनेवाला पुरुष अधिकारी है और उस फलकी प्राप्तिका साधन ब्रह्मज्ञान विधेय है। परन्तु 'अथातो धर्मजिज्ञासा' तथा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इन दोनों सूत्रोंकी आचार्यों द्वारा पृथक् रचनासे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञान नित्य फलवाला होनेसे कर्मकी तरह विधय नहीं है।

ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म विधि से प्रयुक्त होकर ही ब्रह्म प्रतिपाद्यमान है। 'आत्मा० (याज्ञ

आत्माऽपहतपाप्मा', 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छान्दो० ८।७।१) 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० १।४।७) आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० १।४।१५)। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० २।२।६) इत्यादिविधानेषु सत्सु–'कोऽसावात्मा, किं तद्ब्रह्म ?' इत्याकाङ्क्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः–'नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्येवमादयः । * तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति । कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात् 'सप्तद्वीपा वसुमती', 'राजासौ गच्छति' इत्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात् । ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टं, तथेहाप्यसंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात् । स्यादेतदेवम् , यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत, नतु निवर्तते; श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात् , 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० २।४।५) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात । तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्र-

---

वल्क्य—हे मैत्रेयी ! आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) 'य आत्मा० (आत्मा पापरहित है वह खोज करने योग्य है उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए) 'आत्मेत्ये० (आत्मा है ऐसी उपासना करे) 'आत्मानमेव० (ज्ञानस्वरूप आत्माकी उपासना करे) 'ब्रह्मवेद० (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है) इत्यादि विधानोंके होनेपर 'वह आत्मा कौन है ? वह ब्रह्म क्या है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर ब्रह्मके स्वरूपका बोध करानेके लिए 'नित्यः सर्वगतः० (नित्य और सर्वगत है) 'नित्यशुद्ध० (ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है) 'विज्ञानं० (ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है) इत्यादि वेदान्त वाक्य उपयुक्त होते हैं । उस ब्रह्मकी उपासनासे शास्त्र अवगत अदृष्ट मोक्षरूप फल होगा । यदि वेदान्तवाक्य कर्तव्य विधिके साथ असम्बद्ध होकर वस्तुमात्रका कथन करनेवाले हों तो हानोपादानका असंभव होनेसे 'सप्तद्वीपा वसुमती' (सात द्वीपावली पृथ्वी है) 'यह राजा जाता है' इत्यादि वाक्योंके समान वेदान्त-वाक्य प्रयोजन रहित हो जायंगे । परन्तु 'यह रज्जु है सर्प नहीं है' इत्यादि वस्तु मात्रके कथनमें भी भ्रान्तिसे जनित भयकी निवृत्ति द्वारा अर्थवत्ता (सार्थकता) देखी गई है । उसी प्रकार यहाँ प्रसंगमें भी असंसारी आत्मवस्तुके कथनसे संसारित्व भ्रान्तिकी निवृत्ति द्वारा सार्थकता होगी । ऐसा तभी हो सकता है जब कि रज्जु रूप वस्तुके श्रवणसे जैसे सर्प भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मस्वरूपके श्रवणमात्रसे श्रोताकी संसारित्व भ्रान्ति निवृत्त हो । परन्तु वह निवृत्त नहीं होती, क्योंकि ब्रह्मका श्रवण करनेवाले व्यक्तिमें भी पूर्वके समान सुख-दुःखादि संसारिधर्म देखनेमें आते हैं । अतएव 'श्रोतव्यो० (आत्मा श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है) इस प्रकार श्रवणके उत्तरकालके मनन और निदिध्यासनकी विधि देखनेमें आती है । इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि उपासना

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि ज्ञानसे मुक्ति होती तो श्रवणसे उत्पन्न ज्ञानके अनन्तर मनन और निदिध्यासनका विधान न होता । प्रत्यक्ष अनुभव और मननादिके विधानसे यह सिद्ध होता है कि वेदान्तोंके श्रवण मात्रसे मोक्ष नहीं होता, किन्तु ब्रह्मकी उपासनासे होता है । प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप फलके प्रतिपादक वाक्य ही शास्त्र कहलाते हैं । परन्तु सिद्ध अर्थ ब्रह्मके प्रतिपादक वेदान्त वाक्य प्रवृत्ति निवृत्ति रहित होनेसे तथा श्रवणानन्तर मननादिकी विधि होनेसे उपासना विधिके अङ्ग हैं । उपासना भी एक प्रकारसे कर्म है, अतः कर्म रूपसे ही शास्त्र ब्रह्ममें प्रमाण है । यह पूर्वपक्षीका अभिप्राय है ।

प्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति। अत्राभिधीयते—न; कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' (जै० सू० १।१।१) इति सूत्रिता; अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वाज्जि-ज्ञास्यः परिहाराय। तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीर-वाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। मनुष्य-त्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्। प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम्। तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथा गमनं, केवलैरिष्टापूर्तदत्त-साधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात्

विधिका विषय होनेसे ही ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है। इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं ऐसा नहीं है, क्योंकि कर्म और ब्रह्मविद्याके फलमें वैलक्षण्य है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म श्रुति और स्मृतिमें धर्म नामसे प्रसिद्ध हैं। जिस विषयक जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (वेदाध्ययनके अनन्तर धर्मकी जिज्ञासा करनी चाहिए) इस सूत्रमें प्रतिपादित है। इसके साथ ही परिहारके उद्देश्यसे वर्णित प्रतिषेध चोदनात्मक होनेसे हिंसा आदि रूप अधर्म भी जिज्ञास्य है। और इस चोदनात्मक अर्थ और अनर्थ रूप धर्माधर्मका शरीर, वाणी और मन द्वारा उपभुज्यमान तथा विषयेन्द्रिय संयोगसे जन्य प्रत्यक्ष सुख दुःख रूप फल ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर पर्यन्त सबमें प्रसिद्ध ही है। मनुष्यसे लेकर ब्रह्म पर्यन्त सभी शरीर धारियोंमें सुखका तारतम्य श्रुति कहती है। उससे सुखके साधनभूत धर्मका तारत ज्ञात होता है। धर्मके तारतम्यसे अधिकारीका तारतम्य अवगत होता है। किञ्च फल कामना एवं द्र रूप सामर्थ्य आदि कारणोंसे तो अधिकारीका तारतम्य प्रसिद्ध है। और इस प्रकार यागादि अनुष्ठा करनेवाले लोग ही उपासना रूप समाधि विशेषके बलसे उत्तर मार्ग से जाते हैं, तथा केवल इष्ट, पू और दत्त रूप साधनोंसे सम्पन्न पुरुष धूमादि क्रमसे दक्षिण मार्गके द्वारा जाते हैं। वहाँ भी सुख तारतम्य और इसके साधनोंका तारम्य यह सब 'यावत्संपातमुषित्वा० (वहाँ कर्मोंका क्षय होने त

सत्यानन्दी दीपिका

* 'मोक्षकामो ब्रह्मवेदनं कुर्यात्' इस प्रकार जो मुमुक्षु अधिकारीके लिए ब्रह्म ज्ञान विधे कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप नित्य मोक्ष उपासना आदि किसी विधिसे जन्य नहीं है। कर्मोपासनादिका फल जन्य होनेसे अनित्य है। इस प्रकार दोनोंमें वैलक्षण्य है। किञ्च 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधि वाक्योंसे जैसे धर्म जिज्ञास्य है, वैसे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि निषेधात्मक वाक्योंसे अधर्म भी जिज्ञास्य है। इस प्रकार विधि तथा निषिद्ध वाक्योंसे धर्म और अधर्म का समानरूपसे ज्ञान होता है। धर्मका फल सुख और अधर्मका फल दुःख ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सब प्राणियोंमें प्रसिद्ध है।

* धर्म तथा उपासना जन्य सुखका तारतम्य इस प्रकार है। सर्व प्रथम मानवीय स्तरके पूर्णआनंदको श्रुति दिखलाती है—'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवास्यात्साधु युवाध्यायक आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः' (तै० २।८।१ अब यह [ब्रह्मके] आनन्दकी मीमांसा है—साधु स्वभाव वाला नवयुवक, वेद पढ़ा हुआ, अत्यन्त आशावान्, अत्यन्त दृढ और बलिष्ठ हो, एवं उसकी यह धन धान्यसे पूर्ण पृथिवी भी हो अर्थात् वह सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डलका एकमात्र छत्रपति हो उसका जो आनंद है वह एक मानुष आनन्द है वह आनन्द मनुष्यलोकमें मानवीय स्तरका पूर्ण आनन्द कहा जाता है।' मनुष्य, मनुष्य गन्धर्व, देव गन्धर्व

'यावत्संपातमुषित्वा' (छान्दो० ५।१०।५) इत्यस्माद्गम्यते । तथा *मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः । तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते । एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं

रहकर वे फिर इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं) इस शास्त्रसे स्पष्ट अवगत होता है । इस प्रकार मनुष्य आदिसे लेकर नारकीय एवं स्थावर पर्यन्त जीवोंमें तारतम्यसे वर्तमान सुखलव चोदनात्मक धर्मसे ही जन्य ज्ञात होता है । इसी प्रकार ऊर्ध्वगत तथा अधोगत देहधारी जीवोंमें दुःखका तारतम्य देखनेसे उसके हेतु भूत प्रतिषेध चोदनात्मक (प्रतिषेध प्रवर्तक वाक्योंसे बोधित) अधर्मका और उसके अनुष्ठान करनेवालोंका तारतम्य ज्ञात होता है । एवं अविद्या आदि दोष विशिष्ट जीवोंके धर्म और अधर्मके तारतम्यसे शरीर ग्रहण पूर्वक सुख

सत्यानन्दी दीपिका

अग्निस्वात् आदि पितर, आजानदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति प्रजापति, पर्यन्त पूर्व पूर्वसे उत्तरोत्तर सौ गुना आनन्द प्राप्त होता है । 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' (तै० २।८।४) (प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्माका एक आनन्द है और वह अकामहत ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियको भी प्राप्त है) इस प्रकार मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त आनन्दका तारतम्य श्रुतिमें कहा गया है । मोक्ष फल तो नित्य निरतिशय आनन्द स्वरूप एक है । और मोक्षका साधन तत्त्वज्ञान भी एक ही है । इस प्रकार कर्म और विद्याके फलोंमें महान् अन्तर है । मोक्षका साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी भी एक ही प्रकारका है । किन्तु कर्म अनेक, उनके फल अनेक तो स्वभावतः उसके अधिकारी भी अनेक हैं । किञ्च याग तथा पञ्चाग्नि विद्याके उपासक अर्चि मार्गद्वारा ब्रह्मलोकको जाते हैं । कल्पपर्यन्त फिर इस मानव लोकको प्राप्त नहीं होते ।

'अग्निहोत्रं तपस्सत्यं वेदानां चानुपालनम् । आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥१॥
वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥२॥
शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् । बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥३॥

(अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदोंका संरक्षण, अतिथि सत्कार और वैश्वदेव 'इष्ट' कहलाता है । बावड़ी, कुआँ, तालाब, देवालय और बाग बनवाना तथा अन्नदान करना 'पूर्त' कहलाता है । शरणागतकी रक्षा करना, प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाना और वेदीके बाहर दान देना 'दत्त' कहलाता है ।) इत्यादि कर्मोंका कर्ता देह त्यागके अनन्तर "धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते" (गी० ८।२५) 'धूम आदि मार्ग द्वारा धूमसे रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, षण्मास, पितृलोक, आकाशसे चन्द्रलोकको प्राप्त होता है ।' इस प्रकार मनुष्य लोकसे ऊपर-ऊपर लोकोंमें गये जीवोंमें सुखका उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखलाकर अब इससे निम्नतर लोकोंमें गये जीवोंमें सुखका तारतम्य 'तथा' इत्यादिसे कहते हैं ।

* जैसे मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त तारतम्यसे वर्तमान सुख धर्मके तारतम्यसे है, वैसे मनुष्यसे लेकर नरक पर्यन्त तारतम्यसे वर्तमान सुख भी धर्मसे ही है । विषयेन्द्रिय जन्य सुख तो नारकीय जीवोंको भी उपलब्ध है । अब 'तथोर्ध्वम्' इत्यादि भाष्यसे दुःख, उसका हेतु और उसके अनुष्ठान करनेवालोंका भेद कहते हैं । अब द्विविध कर्म फलोंका उपसंहार करते हैं—अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) आदि दोष युक्त जीव धर्म और अधर्मके

सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः—'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' (छान्दो० ८।१२।१) इति यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। * 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० ८।१२।१) इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न; तस्य स्वाभाविकत्वात्। 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (काठ० १।२।२१) 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृह० ४।३।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्। ॐ तत्र किंचित्परिणामिनित्यं यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते; यथा पृथिव्यादिजगन्नित्यत्ववादिनाम्। यथा च सांख्यानां गुणाः ॐ इदं तु

दुःखका तारतम्य अनित्य संसार रूप है, ऐसा श्रुति, स्मृति और न्यायमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'न ह वै सशरीरस्य० (निस्सन्देह उस सशरीर आत्माके सुख दुःखका विनाश नहीं होता) यह श्रुति यथावर्णित संसार रूपका अनुवाद करती है। 'अशरीरं वाव० (देहादि अभिमान रहित आत्माको मिथ्या देह सम्बन्धी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते) इस श्रुतिसे प्रिय और अप्रिय सम्बन्धके प्रतिषेधसे मोक्ष नामक शरीर रहित अवस्था चोदनात्मक धर्मका कार्य है इसका प्रतिषेध किया गया है, ऐसा अवगत होता है। मोक्षको धर्मका कार्य मानें तो उसमें प्रियाप्रिय स्पर्शका प्रतिषेध अनुपपन्न है। यदि कहो कि अशरीरत्व ही धर्मका कार्य हो तो यह युक्त नहीं है' क्योंकि 'अशरीरं० (जो देवादि शरीरोंमें शरी रहित तथा अनित्योंमें नित्य स्वरूप है, उस महान् और सर्व व्यापक आत्माको [मैं ब्रह्म हूँ।] जानकर विद्वान् शोक नहीं करता) 'अप्राणो० (प्राण रहित, मन रहित, शुद्ध है) 'असङ्गो० (यह पुरु असङ्ग है) इत्यादि श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि अशरीरत्व उसका स्वभाव है। अतएव अनुष्ठेय कर्म फलसे विलक्षण मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यह सिद्ध हुआ। [नित्य भी दो प्रकारका होता है परिणामी नित्य तथा पारमार्थिक नित्य] इन दोनोंमें परिणामी नित्य वह है जिसके विकृत होनेपर भी 'वही यह है' ऐसी प्रतिज्ञा रूप बुद्धिका नाश नहीं होता। जगत्को नित्य माननेवालोंके मतमें जैसे पृथ्वी आदि परिणामी नित्य हैं। और सांख्योंके मतमें जैसे गुण परिणामी नित्य हैं। परन्तु यह (ब्रह्म)

सत्यानन्दी दीपिका

तारतम्यसे शरीर ग्रहण द्वारा अनित्य संसारको प्राप्त कर सुख दुःखका अनुभव करता है। 'तस्मिन्यावत्संपातं' इत्याति श्रुति, "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इत्यादि स्मृति और कारण के नाशसे कार्यका नाश होता है, जैसे वृक्षके नाशसे फल, छायादिका नाश होता है, वैसे धर्माधर्मके नाश होनेसे तज्जन्य शरीर और शरीरद्वारा भोग्य सुख दुःख आदिका भी नाश हो जाता है, इत्यादि न्याय प्रसिद्ध है। किन्तु मोक्ष नित्य, निरतिशय, अतीन्द्रिय और शोकादिसे रहित है, अतः वह कर्मका फल नहीं है। * 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं यदभावे यदभावः' यह अन्वय व्यतिरेक है अर्थात् शरीर आदि अनात्माभिमानहो तो सुख-दुःखादि हों, शरीर आदि अनात्माभिमान न हो तो सुख दुःखादि भी न हों, यह अभिप्राय श्रुतिमें प्रति-पादित है। आत्मरूप मोक्ष नित्य होनेपर भी परिणामी होनेके कारण धर्मकार्य हो सकता है, ऐसी शङ्काके होनेपर 'तत्र' इत्यादिसे नित्यका भेद दिखलाते हैं।

ॐ जो परिणामी और नित्य हो वह परिणामी नित्य कहलाता है। पूर्व रूपका परित्याग कर दूसरे रूपको प्राप्त करनेका नाम परिणाम है। जैसे पृथ्वी किसी समय घास, वृक्षादि अवस्थाको प्रा

पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' (कठ० २।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः। अपि च

तो पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाशके समान सर्व व्यापक, सभी विक्रियाओंसे रहित, नित्य तृप्त, निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वरूप है। जिस परमात्मामें धर्माधर्म, सुख दुःख रूप कार्यके साथ तीनों कालोंमें भी सम्बन्ध नहीं रख सकते। 'अन्यत्र धर्माद्० (जो धर्माधर्म, कार्य कारण, भूत भविष्यत्से भिन्न है) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध मोक्ष नामक अशरीरत्व है। इसलिए कर्म फलसे विलक्षण होनेके कारण वह अशरीर मोक्ष ब्रह्म है जिसकी यह जिज्ञासा प्रस्तुत है। यदि वह (ब्रह्म) कार्यके अंग रूपसे उपदिष्ट हो और उस कार्यसे मोक्ष साध्य स्वीकृत किया जाय तो वह अनित्य ही होगा। मोक्षके अनित्य सिद्ध होनेपर तारतम्य (न्यूनाधिक) से वर्तमान यथोक्त अनित्य कर्मफलोंमेंसे कोई अतिशय मोक्ष है ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु सब मोक्ष वादी यह स्वीकार करते हैं कि मोक्ष नित्य है। इस कारण कार्यके अंग रूपसे ब्रह्मका उपदेश युक्त नहीं है। और 'ब्रह्म वेद० (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म

सत्यानन्दी दीपिका

होकर पुनः उनके विनाश होनेपर मृत्तिका आदिकी अवस्था प्राप्त करती है। उत्पत्ति और विनाश दोनों अवस्थाओंमें 'पृथ्वी है' ऐसी बुद्धि बनी रहती है। इसलिए पृथ्वी परिणामी नित्य है। इसी प्रकार प्रायः सब द्रव्य पदार्थ परिणामी नित्य समझने चाहिएं। क्या उस वस्तुका सर्वात्मना परिणाम है अथवा एक देशका ? यदि सर्वात्मना परिणाम मानें तो मूल वस्तुका ही नाश हो जायगा। यदि एक देश रूपसे मानें तो वह मूल वस्तुसे भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उसका परिणाम कैसे होगा ? क्योंकि अन्यके परिणामसे अन्यका परिणाम नहीं होता। यदि मानें तो अति प्रसङ्ग होगा। यदि अभिन्न है तो मूल वस्तुका ही नाश हो जायगा। इसलिए परिणामी नित्यता वास्तवक नहीं है। सांख्यमतमें सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रलयमें साम्यावस्थामें रहकर प्रधान कहलाते हैं, सृष्टिकालमें गुणोंकी विषमता तथा स्वप्रधानताके अनुसार सुख-दुःख मोहादि प्रपञ्च रूपसे परिणाम भावको प्राप्त होते हैं। इसलिए दोनों अवस्थाओंमें गुण अनुस्यूत हैं अर्थात् सत्त्व गुण स्वप्रधानतासे सुखाकार, रजोगुण स्वप्रधानतासे दुःखाकार और तमोगुण स्वप्रधानतासे मोहाकार परिणामको प्राप्त होते हैं।

* आत्माको कूटस्थ, नित्य, व्यापक आदि कहकर उत्पत्ति आदि सब विक्रियाओं (विकारों) का निषेध किया गया है। उत्पाद्य, प्राप्य, विकार्य तथा संस्कार्य ये क्रियाके फल हैं। कूटस्थ शब्दसे उत्पाद्यका, सर्वव्यापी शब्दसे आप्यका सर्व विक्रिया रहित शब्दसे विकार्यका तथा निरवयव शब्दसे संस्कार्यका क्रमशः निषेध किया गया है। क्योंकि यह सब परिच्छिन्न सावयवमें होते हैं। 'व्योमवत्० यह दृष्टान्त परमत (न्यायमत) को लेकर कहा गया है, वेदान्त सिद्धान्तमें तो आकाश भी कार्य होनेसे अनित्य है। मोक्षावस्थामें आत्माको जड़ माननेवालेके मतका 'स्वयं ज्योतिः' शब्दसे खण्डन किया गया है। क्योंकि 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको स्वप्रकाश स्वरूप कहती हैं। इस प्रकार कर्मके अनित्य फलसे भिन्न मोक्षरूप फल नित्य ब्रह्मस्वरूप है जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

'ब्रह्म देव ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।६) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८)। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चन' (तैत्ति० २।६) 'अभयं वै जनक प्राप्तो ऽसि' (बृह० ४।२।४)। 'तदात्मानमेवावेदद् ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (वाजसनेयि ब्राह्मणोप० १।४।१०) 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। *तथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वा मदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृह० १।४।१०) इति ब्रह्मदर्शनसर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्त व्यान्तरवारणायोदाहार्यम्। यथा तिष्ठन्गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते। 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' (प्रश्न० ६।८) 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' (छान्दो० ७।१।३) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' (छान्दो० ७।२६।२) इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं

ही होता है) 'क्षीयन्ते चास्य० (उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेपर इसके कर्म क्षीण जाते हैं) 'आनन्दं० (ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला विद्वान् किसीसे भयभीत नहीं होता) 'अभयं (याज्ञवल्क्य—हे जनक! तू निश्चय अभयको प्राप्त हो गया है) 'तदात्मन० (अज्ञानके निवृ होनेके कारण जीव संज्ञक ब्रह्मने गुरुके उपदेशसे अपनेको ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाना, अतः सर्व हो गया) 'तत्र को मोहः० (उस समय एकत्वका अनुभव करनेवाले उस विद्वान्को क्या शो और क्या मोह हो सकता है) इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म ज्ञानके अनन्तर मोक्ष दिखलाती हुई ब्रह्म ज्ञा और मोक्षके मध्यमें कार्यान्तरका निषेध करती हैं। इसी प्रकार 'तद्धैतत० (वह ब्रह्म मैं—प्रत्यगात्मा ऐसा ज्ञान प्राप्तकर मुनीन्द्र वामदेव शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हुए अर्थात् उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋ वामदेवने जाना—मैं मनु हुआ और सूर्य भी) इस श्रुति को ब्रह्मदर्शन तथा सर्वात्मभावके मध्य अन्य कर्तव्यका निषेध करनेके लिए उदाहरणरूपसे समझना चाहिए। जैसे 'खड़ा होकर गायन कर है' इसमें खड़े होने और गायन क्रियाके मध्यमें तत्कर्तृक अन्य कार्य नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है [सुकेश भारद्वाज आदि छः ऋषियोंने पिप्पलाद गुरुसे कहा—] 'त्वंहि० (तुम ही तो हमारे पि हो जो हमें अविद्याके परपार पहुँचा दिया है) 'श्रुतं ह्येव० (मैंने भगवत् तुल्य आप जैसोंसे सुना कि आत्मवित् शोकको पार कर लेता है अर्थात् शोकसे मुक्त हो जाता है, और हे भगवन्! मैं शो करता हूँ, ऐसे मुझको आप शोकसे पार-मुक्त कर दीजिए ऐसा नारदने कहा) 'तस्मै० (भगवा सनत्कुमारने उस दग्ध पाप नारदको अज्ञान रूपी अन्धकारसे पार (ब्रह्म) दिखलाया) इत्या श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि मोक्षके प्रतिबन्ध (अज्ञान) की निवृत्ति मात्र आत्मज्ञानका फल है।

सत्यानन्दी दीपिका

ब्रह्म ज्ञान और कर्म ज्ञानमें अन्तर यह है कि केवल कर्मज्ञानसे स्वर्ग आदि फलकी प्राप्ति न होती, किन्तु कर्म ज्ञान और उसके फलके मध्यमें अनुष्ठेय याग आदि कर्म करने पड़ते हैं। उन फल कालान्तर वा जन्मान्तरमें होता है। परन्तु यहां तो इसके विपरीत है, जैसे प्रदीपसे अन्धकार निवृत्तिरूप दृष्ट फलमें अन्य कर्तव्य अवशेष नहीं है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान और मोक्ष रूपी दृष्ट फल मध्यमें भी कुछ अन्य कर्तव्य नहीं है। ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष यदि कालान्तरमें माना जाय तो 'ब्र विद् ब्रह्मैव भवति' 'अत्र ब्रह्मसमश्नुते' इत्यादि श्रुतियोंका बाध होगा, जो सर्वथा असंगत है 'एतद्योवेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरती सोम्य० (मुण्ड २।१।१०) (जो इस गुह

दर्शयन्ति । ❀ तथाचाचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम्-'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (न्या० सू० १।१।२)। इति । मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति । ❀ न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्, यथा 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृह० ३।१।९) इति । न चाध्यासरूपम्, यथा 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छान्दो० ३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छान्दो० ३।१९।१) इति च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः । ❀नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तं 'वायुर्वाव संवर्गः' (छान्दो०

उसी प्रकार 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, धर्म, अधर्म, दोष एवं मिथ्याज्ञान इनमें कारण रूप उत्तर-उत्तरका नाश होनेसे उसके पूर्व-पूर्व कार्यका नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है) इस प्रकार युक्तियोंसे पुष्ट आचार्य गौतम प्रणीत यह सूत्र है । यह ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान संपद्रूप नहीं है, जैसे 'अनन्तंवै० (मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं) इसलिए मनमें अनन्त विश्वेदेवोंकी दृष्टि करनेके कारण वह अनन्तलोकको जीतता-प्राप्त करता है), यह ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान अध्यास रूप भी नहीं है, जैसे 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' (मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे) 'आदित्यो ब्रह्म० (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा आदेश है) इस प्रकार मन और आदित्यादिमें ब्रह्म दृष्टि अध्यास रूप है । 'वायुर्वाव० (वायु ही

सत्यानन्दी दीपिका

स्थित गुप्त ब्रह्मको जानता है, हे सोम्य ! वह अविद्याकी गाँठ (चिद् जड़ ग्रन्थि) को तोड़ता है)। मोक्षका प्रतिबन्धक अज्ञान है, वह तत्त्वज्ञानसे ही निवृत्त होता है । अतः मोक्षके प्रतिबन्धक अज्ञानकी निवृत्ति करना ही आत्मज्ञानका प्रयोजन है अन्य नहीं, क्योंकि आत्मा तो स्वयं प्रकाश रूप है । इस विषयमें मुनि गौतमके सूत्रको उद्धृत करते हैं ।

❀ इस गौतम सूत्रमें जन्म ही साक्षात् दुःखका कारण कहा गया है, क्योंकि जन्म होनेसे ही सुख दुःखका अनुभव होता है । विषय जन्य सुख भी परिणाममें दुःखका कारण है । ['ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते' (गी० ५।२२) (जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे दुःखके ही हेतु हैं] अतः सुखको भी दुःख शब्दसे वर्णित किया है । जन्मका कारण धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति है । धर्माधर्मकी प्रवृत्ति राग द्वेषादि दोषोंसे होती है, दोष मिथ्याज्ञानसे होते हैं । मिथ्याज्ञान ही राग द्वेषादि दोषों द्वारा संसारका मूल कारण है । मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है । 'तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः' (गौ० सू० १।१।२) (तत्त्व ज्ञानसे ही मोक्ष होता है अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता) इतने अंशमें ही सूत्रकी सम्मत्ति दी गई है । गौतम अभिमत तत्त्वज्ञान और मोक्ष वेदान्त सिद्धांतमें स्वीकृत नहीं है, क्योंकि वे प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थोंके ज्ञानको तत्त्वज्ञान मानते हैं ।

❀ पूर्वपक्षी—जैसे 'मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इस श्रुतिमें भेद ज्ञान मृत्युका कारण प्रतिपादित होनेसे प्रमा नहीं है, वैसे ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान प्रमा न होकर संपदादि (उपासना) रूप है, अतः वह भ्रान्ति रूप है । 'आरोप्य प्रधाना संपत्' (आलम्बनको अविद्यमान-सा मानकर आरोप्य प्रधान संपत् उपासना कहलाती है) जैसे कि काम, संकल्प आदि अनन्त वृत्तिवाला होनेसे मन अनन्त कहा जाता है, वैसे विश्वेदेवता भी अनन्त हैं । इस प्रकार दोनोंमें आनन्त्य समान है । इससे विश्वेदेवता ही मन है । मनकी विश्वेदेवता रूपसे उपासना करनेसे उपासकको अनन्त लोककी प्राप्ति होती है । वैसे चैतन्य धर्म जीव और ब्रह्ममें समान है, इसलिए अल्प जीवको महान् ब्रह्म रूप संपादन कर जीव रूप आलम्बनको अविद्यमानकर प्रधानरूपसे ब्रह्मका 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुचिन्तन करनेसे अमृतत्व फल प्राप्त होता है, अतः जीव ब्रह्मका एकत्व ज्ञान भी संपद्रूप है । सम्पत्

'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः', 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृह० ३।४।२) इति चैवमादि । अतोऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः । *यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम् । तथा विकार्यत्वे च; तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । नहि दध्यादि विकार्यं उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं

निश्चय है कि ब्रह्म ज्ञात नहीं है उसे ब्रह्मज्ञात है अर्थात् उसने ब्रह्मस्वरूपको जाना है और जो ऐसा समझता है कि 'मुझे ब्रह्म ज्ञात है' उसने ब्रह्मको जाना ही नहीं, क्योंकि जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसके लिए ब्रह्म अविज्ञात-विषयरूपसे अज्ञात है, कारण कि ब्रह्म ज्ञानका विषय नहीं है और जो अज्ञानी हैं, उनके लिए ब्रह्म विषय रूपसे ज्ञात है, क्योंकि ब्रह्मको ज्ञानका विषय समझकर, मैंने ब्रह्मको जाना है, ऐसा कहते हैं अर्थात् अज्ञानियोंके मतमें ब्रह्म विषय है) और 'न दृष्टेः० (दृष्टि-इन्द्रिय वृत्तिके साक्षीभूत आत्माको तुम चक्षु आदि इन्द्रियोंसे देख नहीं सकते और बुद्धि वृत्तिके साक्षीको तुम बुद्धिवृत्तिसे नहीं जान सकते) इत्यादि श्रुतियां हैं । अतः शास्त्र तत्त्वज्ञानसे अविद्यासे कल्पित संसारित्वका निवर्तनकर नित्य मुक्त आत्माका यथार्थ स्वरूप समर्पण होनेके कारण मोक्षमें अनित्यत्व दोष नहीं है । जिसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य है, उसके मतमें मोक्ष मानसिक या वाचिक अथवा कायिक क्रियाओंकी अपेक्षा रखता है, यह ठीक है । इसी प्रकार विकार्यत्व पक्षमें भी, इन दोनों पक्षोंमें मोक्षका अनित्यत्व निश्चित है । लोकमें विकार्य दधि आदि एवं उत्पाद्य घटादिमें नित्यत्व नहीं

सत्यानन्दी दीपिका

* शंका—यदि ब्रह्मको इन्द्रियोंका विषय नहीं मानें तो तृतीय सूत्रद्वारा ब्रह्ममें शास्त्र प्रामाण्य की प्रतिज्ञा बाधित हो जायगी ? समाधान—जीव ब्रह्म एक है, परन्तु उनका अविद्यासे कल्पित भेद प्रतीत होता है । 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इसप्रकार वेदान्त और आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न हुई ब्रह्माकार वृत्ति, जिसे विद्या कहा जाता है उसीसे अविद्याकी निवृत्ति होती है । अविद्या निवृत्त्यात्मक फलवाला होनेसे ब्रह्मकी शास्त्रप्रामाणिकता निर्विवाद है । वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यकी विषयताका नाम इदन्ता है, इदन्ता माने यह ब्रह्म है । इसप्रकार "इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् । तथापि न तदाख्यातुं सर्वशक्त्याऽपि शक्यते" (काव्यदर्श-दण्डी) (साधारण ईख, दूध, गुड़ आदि पदार्थोंके माधुर्य आदि रसोंमें महान् अन्तर है । उनका भी इन्दतारूपसे वर्णन करनेकी सामर्थ्य शब्दमें नहीं है) 'यतो वाचोनिवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) (मनके साथ वाणी भी जिसे न प्राप्तकर लौट आती है) 'अतद्व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' (शिव० म०) (अतद्की व्यावृत्तिकर यह श्रुति जिसका चकित होकर अभिधान करती है) 'नेति नेति' इत्यादि शास्त्र भी जो ब्रह्म नहीं है, जैसे जड़त्व दुःखत्व, अनित्यत्वादि उसका 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि कहकर वारण करते हैं । शंका—यद्यपि अविद्याकी निवृत्ति करनेसे शास्त्रमें प्रामाणिकता सिद्ध होती है तो भी अविद्याकी निवृत्ति जन्य होनेके कारण मोक्ष अनित्य हो जायगा ? समाधान—तत्त्वज्ञानसे जो अविद्याका ध्वंस (नाश) होता है वह नित्य है, नैयायिक ध्वंसका ध्वंस नहीं मानते, क्योंकि उनके मतमें ध्वंसका ध्वंस भाव रू है । वेदान्त सिद्धान्तमें कल्पितकी निवृत्ति अधिष्ठान स्वरूप मानी जाती है, इसलिए अविद्याका ध्वंस नित्य आत्मस्वरूप है । जैसे रज्जुके ज्ञानसे मिथ्याज्ञानसे कल्पित सर्पकी निवृत्ति रज्जुसे अतिरिक्त नहीं है । शास्त्रसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे अविद्या तथा अविद्यासे कल्पित संसारित्वादिकी निवृत्ति रूप नित्य मुक्त आत्मस्वरूपका आविर्भाव ही तो मोक्ष है, अतः मोक्षमें अनित्यत्व दोष असम्भव है ।

दृष्टं लोके। नचाप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा; स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वंगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणः, आकाशस्येव। *नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा? न तावद्गुणाधानेन संभवति; अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन; नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्—न; क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेत, अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (भ.

देखा गया है। ब्रह्म ज्ञानसे प्राप्य होनेपर भी उसको कार्यकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह स्व आत्मस्वरूप होनेके कारण प्राप्य ही नहीं है। यदि ब्रह्मको स्वरूप (आत्मा) से भिन्न मानें तो भी वह प्राप्य नहीं है। कारण, आकाशके समान सर्व व्यापक होनेके कारण ब्रह्म सबको नित्य प्राप्त स्वरूप ही है। और मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है, जिससे वह व्यापारकी अपेक्षा करे। संस्कार्य पदार्थमें विशेष गुण लाने अथवा दोष हटानेसे संस्कार होता है। मोक्षमें गुणाधान (विशेष गुणका लाना) से संस्कारका संभव नहीं है, क्योंकि मोक्ष तो आधेयातिशय (अतिशयको लाना) से रहित ब्रह्म स्वरूप है। दोषापनयनसे भी उसका संस्कृत होना संभव नहीं है, क्योंकि मोक्ष नित्य शुद्ध ब्रह्मस्वरूप है। यदि ऐसा कहो कि जैसे घर्षण क्रियासे दर्पण संस्कृत होनेपर अपने भास्वरत्व धर्मसे अभिव्यक्त होता है, वैसे उपासनादि क्रियासे आत्माके संस्कृत होनेपर उसका अविद्यादि मलसे तिरोहित हुआ अपना मोक्ष रूप धर्म अभिव्यक्त होता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें क्रियाका आश्रयत्व अनुपपन्न है। जिस आश्रयमें क्रिया रहती है उसको विकृत किये विना वह अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकती। यदि आत्मा क्रियासे विकृत हो तो आत्मामें अनित्यत्व प्रसक्त होगा। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (यह आत्मा

सत्यानन्दी दीपिका

ॐ उत्पत्ति, आप्ति, विकृति तथा संस्कृति इस भेदसे क्रिया चार प्रकारकी है, इसके अनुसार क्रिया जन्य उत्पाद्य, आप्य, विकार्य तथा संस्कार्य इन चतुर्विध प्रकारोंसे भिन्न होनेके कारण मोक्ष उपासना साध्य नहीं है, इसलिए वह अनित्य भी नहीं है। बौद्ध मतमें क्षणिक विज्ञान आत्मा है। उसकी विशुद्ध विज्ञान रूपसे उत्पत्तिको वे मोक्ष मानते हैं, इससे उसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य है। जैन मतावलम्बी संसार रूप अवस्थाका त्यागकर कैवल्य अवस्थाकी प्राप्तिको मोक्ष मानते हैं, अतः वह विकाररूप है। घटादिके समान क्रिया द्वारा उत्पन्न होनेसे दोनों प्रकारके मोक्ष अनित्य हैं। मोक्ष प्राप्य भी नहीं है, क्योंकि वह स्व आत्मस्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त है। इसके अतिरिक्त मोक्षको उत्पाद्य आदि माननेवालोंसे हम पूछते हैं कि ब्रह्म जीवसे अभिन्न है कि भिन्न? इसको **'स्वात्मस्वरूपत्वे'** आदिसे कहते हैं।

* जिनके मतमें मोक्ष संस्कार्य है, उनके लिए कहते हैं—संस्कार दो प्रकार से होता है। एक गुणाधानसे और दूसरा दोषापनयनसे जैसे यागमें 'व्रीहीन्प्रोक्षति' (धानका प्रोक्षण करे अर्थात् जलका छींटा दे) प्रोक्षण करनेसे व्रीहिमें गुणाधान रूप संस्कार होता है और मलिन वस्त्र, दर्पणादिका जलादिसे मलकी निवृत्ति रूप संस्कार होता है। इन दोनोंका 'न तावत्' इत्यादिसे निषेध करते हैं। यदि कहो कि ब्रह्मात्मस्वरूप मोक्ष अनादि अविद्या मलसे आवृत है उपासनासे निवृत्त होनेपर ब्रह्मस्वरूप मोक्ष अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है किन्तु उत्पन्न नहीं होता। तो आत्मामें मल सत्य

गी. २।२५) इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम्। तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तयाऽऽत्मा संस्क्रियते। * ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः। न; देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेर्देहसमवायित्वम्। तथा देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदविद्ययात्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम्, यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभिमानिन आरोग्यफलम्, अहमरोग इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृत इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव ह्यहंकर्त्राऽहंप्रत्ययविषयेण

अविकार्य कहा जाता है) इत्यादि वाक्य बाधित होंगे, वह युक्त नहीं है। इसलिए आत्मामें स्वाश्रय क्रियाका संभव नहीं है। अन्य पदार्थ आश्रय क्रियाका आत्मा विषय-सम्बन्धी नहीं है। अतः उससे भी आत्मा संस्कृत नहीं हो सकता। परन्तु देहाश्रय स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि क्रियाओंसे जीवात्मा संस्कृत होता देखा गया है? ऐसा नहीं, क्योंकि देहादि संघात युक्त अविद्यामें प्रतिबिम्बित आत्माका संस्कार होता है। स्नान, आचमन आदि क्रियाओंका सम्बन्ध देहके साथ तो प्रत्यक्ष ही है। जो कोई अविद्यासे देहादि संघातको आत्मरूपसे गृहीत करता है, उसका उस देहाश्रित क्रियासे संस्कृत होना युक्त है। जैसे देहके आश्रित चिकित्सा निमित्तक धातुओंकी समताद्वारा जिस देहाभिमानी आत्मामें 'मैं अरोग हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, देहादिके साथ सम्बन्ध और उसमें 'मैं, मेरा' अभिमान रखनेवाला आरोग्य फल पाता है, वैसे ही स्नान, आचमन, यज्ञोपवीतादिसे 'मैं शुद्ध हूँ, संस्कृत हूँ' ऐसी बुद्धि जिसमें उत्पन्न हो वही संस्कृत होता है। वह तो देहके साथ सम्बद्ध ही है। 'तयोरन्यः०' (उसमें एक तो स्वादिष्ट कर्म फलको भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ साक्षी रूपसे रहता है अर्थात् प्रकाशित करता है) 'आत्मेन्द्रिय० (शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको विद्वान् भोक्ता कहते हैं) इत्यादि श्रुति वाक्योंसे यह स्पष्ट होता है कि 'अहं' प्रतीतिके विषयभूत प्रत्ययी अहंकर्तासे ही सम्पूर्ण क्रियाएं सिद्ध होती हैं और उनका फल वही भोगता है।

सत्यानन्दी दीपिका

है अथवा कल्पित? यदि कल्पित है तो उसकी निवृत्ति अधिष्ठानके ज्ञानसे होती है, जैसे कल्पित सर्प निवृत्ति अधिष्ठान रज्जुके ज्ञानसे होती है, किसी अन्य क्रियासे नहीं, इसी प्रकार कल्पित अविद्या निवृत्ति भी अधिष्ठान ब्रह्मात्मज्ञानसे होगी उपासनादि क्रियासे नहीं। यदि अविद्या मल सत्य है तो व तत्त्वज्ञानसे निवृत्त नहीं होगा अपितु उपासना रूप क्रियासे, तो वह उपासना रूप क्रिया आत्मामें रहत है अथवा आत्मासे भिन्न अन्य वस्तुमें? पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि निष्क्रिय आत्मामें क्रिया संभव नहीं। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थके आश्रित क्रियासे आत्माका सम्ब न होनेसे उसका संस्कार संभव नहीं है। 'असङ्गो न हिसज्जते' 'असङ्गोह्यं पुरुषः' इत्यादि श्रुति वाक् आत्मामें क्रियादि सम्बन्धका निषेध करते हैं, अतः मोक्ष संस्कार्य नहीं है।

* **शंका**—अन्याश्रित क्रियासे भी अन्यका संस्कार देखनेमें आता है। जैसे देहाश्रित स्नाना क्रियाओंसे आत्मामें 'मैं शुद्ध हुआ हूँ' ऐसा संस्कार देखा गया है। **समाधान**—देहादिसंघा तादात्म्याध्याससे आत्मबुद्धि करनेसे ऐसा व्यवहार होता है वस्तुतः यह भ्रान्ति है। किञ्च अविद्य मलको जो सत्य माना गया है वह तो उपासनादि क्रियाओंसे कदापि निवृत्त नहीं होगा, उस निवृत्तिके विना मोक्ष भी सिद्ध नहीं होगा। यदि उसकी उपासनादिसे निवृत्ति मानें तो वह सत्य न होगा, यह अन्य दोष भी है।

प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते तत्फलं च स एवाश्नाति; 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मुण्ड० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णात् । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (काठ० १।३।४) इति च । ❀ तथा च 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६।११) इति 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्' (ईशा० ८) इति चैतौ मन्त्रावनाधेयातिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः । ब्रह्मभावश्च मोक्षः । तस्मान्न संस्कार्योऽपि मोक्षः । अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम् । तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते । ❀ ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया । न; वैलक्षण्यात् । क्रिया हि नाम सा, यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च । यथा—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' इति, 'संध्यां मनसा ध्यायेत' (ऐ०

इसीप्रकार 'एको देवः० (सब भूतोंमें एक, स्वप्रकाश, गूढ, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनता प्रदान करनेवाला निर्गुण और शुद्ध आत्मा है) 'सपर्यगात्० (वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु रहित-स्थूल शरीर रहित और अपापहत है) ये दोनों मन्त्र ब्रह्ममें अनाधेयातिशयता और नित्य-शुद्धता दिखलाते हैं । ब्रह्मभाव ही तो मोक्ष है । इसलिए मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है । इस कारण मोक्षके प्रति उत्पत्ति, विकृति, आप्ति और संस्कृतिसे भिन्न क्रिया सम्बन्धका द्वार कोई नहीं दिखा सकता । इसलिए मोक्षमें केवल ज्ञानके सिवा क्रियाके लेशमात्रका भी सम्बन्ध उपपन्न नहीं है । परन्तु ज्ञान तो मानसी क्रिया का नाम है ? ऐसा नहीं, क्योंकि ज्ञान उससे विलक्षण है । वस्तु स्वरूपकी अपेक्षाके विना जहां जिसका विधान किया जाता है वह क्रिया है, और वह पुरुष संकल्पके अधीन है, जैसे 'यस्यै देवतायै० (जिस देवताके लिए अध्वर्युने हविका ग्रहण किया हो उस समय होता 'वषट्' शब्दका उच्चारण करता हुआ उसका मनसे ध्यान करे) और 'सन्ध्यां० (सन्ध्याका

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'एको देवः सर्वभूतेषु' और 'सपर्यगात्' इन मन्त्रोंमें निर्गुण पदसे ब्रह्ममें गुणाधान रूप संस्कारका और शुद्ध पदसे दोषापनयन रूप संस्कारका निषेध किया गया है । इसलिए उत्पत्ति, विकृति, आप्ति और संस्कृति इन चारों क्रियाओंके क्रमशः उत्पाद्य विकार्य, आप्य और संस्कार्य ये चार फल हैं । इनसे भिन्न पाँचवां कोई क्रियाका फल नहीं है जो मोक्षको क्रिया साध्य सिद्ध करनेमें सहायक हो । अतः मोक्ष क्रियाका फल नहीं है । परन्तु मोक्ष असाध्य होनेसे शास्त्रका आरम्भ व्यर्थ हो जायगा ? नहीं, क्योंकि शास्त्रका अवान्तर प्रयोजन तत्त्वज्ञान कराना है । वह अधिकारी पुरुषोंकी प्रवृत्ति साध्य है । अतः शास्त्रका आरम्भ व्यर्थ नहीं है ।

❀ शंका—जो यह कहा गया है कि मोक्षमें ज्ञानके विना अन्य क्रियाका सम्बन्ध नहीं है, यह कथन असंगत है अर्थात् व्याघात दोष ग्रस्त है, क्योंकि जब मोक्षमें ज्ञानका प्रवेश है तो ज्ञान मानसिक क्रिया होनेसे मोक्षमें उसका प्रवेश हो चुका । इसप्रकार जब मानसी क्रियारूप ज्ञानसे मोक्ष साध्य है तो क्रिया साध्य-उत्पाद्य आदि चार फलोंमें से किसी एकको मोक्ष फल मानना पड़ेगा ? सिद्धान्ती इसका समाधान 'न' आदि भाष्यसे करते हैं । 'स्वाहा देव हर्विदाने श्रौषट्, वौषट्, वषट्, स्वधा' देवताको आहुति देते समय 'स्वाहा, श्रौषट् वौषट्, वषट्, स्वधा' इनमेंसे किसी एक शब्दका मन्त्रके साथ प्रयोग किया जाता है ।

ब्रा० ३।८।१) इति चैवमादिषु। ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं; पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्, अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यम, केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्। नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। * यथा च 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः', 'योषा वाव गौतमाग्निः' (छान्दो० ५।७।१,८।१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति। केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धेऽग्नावग्निबुद्धिः, न सा चोदनातन्त्रा। नापि पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। एवं सर्वप्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। * तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठीभवन्ति, उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्; अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात्। किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यादीनि विधिच्छायानि

मनसे ध्यान करे) इत्यादि श्रुतिमें ध्यान-चिन्तन यद्यपि मानसी क्रिया है, तो भी पुरुषके अधीन होनेके कारण वह पुरुष द्वारा करने न करने अथवा अन्य प्रकारसे करनेके योग्य है। ज्ञान तो प्रमाण जन्य है और प्रमाण यथार्थ वस्तु विषयक होता है, इसलिए ज्ञान करने न करने अथवा अन्य प्रकारसे करनेके योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह केवल वस्तुके ही अधीन है, विधिके अधीन नहीं है और पुरुषके अधीन भी नहीं है। अतः मानसिक होनेपर भी ज्ञानका ध्यानसे महान् अन्तर है। जैसे 'पुरुषो०' (हे गौतम ! पुरुप अग्नि है) 'योपा०' (हे गौतम ! स्त्री अग्नि है) यहां स्त्री और पुरुषमें अग्नि बुद्धि मानसिक है और वह केवल विधि जन्य होनेके कारण क्रिया ही है और पुरुषके अधीन है। लोक प्रसिद्ध अग्निमें जो अग्नि बुद्धि है वह न विधिके अधीन है और न पुरुषके ही अधीन, किन्तु प्रत्यक्ष विषय वस्तु (अग्नि) के अधीन है, अतः वह ज्ञान ही है क्रिया नहीं। इसीप्रकार समस्त प्रमाण विषयक वस्तुमें भी समझना चाहिए। लोकमें ज्ञानके अविधेय होनेपर ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान भी विधिके अधीन नहीं है। यद्यपि ज्ञानके विषयमें लिङ्, लोट् आदि विधि प्रत्यय श्रूयमाण हैं, तो भी अनियोज्य विषयक होनेके कारण पत्थरादिमें प्रयुक्त उस्तरेकी तीक्ष्णधारके समान कुण्ठित हो जाते हैं अर्थात् उक्त विधि प्रत्यय भी अनियोज्य विषयक होनेसे पुरुषको प्रवृत्त करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि अहेयानुपादेय (हेयोपादेयरहित) वस्तु विषयक हैं। तब 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

सत्यानन्दी दीपिका

*अत्र भगवान् भाष्यकार ज्ञान और ध्यानके भेदको 'पुरुषो वाव गौतमाग्निः' आदि उदाहरणों स्पष्ट करते हैं। परन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'आत्मानं पश्येत्' (आत्माको देखे) 'तदेव ब्रह्म तं विद्धि०' (उसीको तू ब्रह्म जान) इत्यादि स्थलोंमें लिङ्, लोट्, तव्य आदि विधिप्रत्यय श्रूयमा हैं, अतः ब्रह्मज्ञान विधेय प्रतीत होता है। जैसे 'यजेत' इस विधिसे विधेय याग क्रियारूप है, वैं 'द्रष्टव्यः' 'पश्येत्' इत्यादि विधियोंसे विधेय ब्रह्म ज्ञान भी क्रिया रूप है ?

* विधि हेय तथा उपादेय विषयक है। पुरुष जिसके करने आदिमें स्वतन्त्र है वह हेय तथ उपादेय है, वहीं पर पुरुष नियोज्य होता है। किन्तु ब्रह्म तो अनियोज्य है। सुरापान हेय है औ यागादि उपादेय हैं। ब्रह्म तो अपना स्वरूप है और नित्य प्राप्त है, अतः वह हेयोपादेय भी नहीं है किञ्च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि विधियां परम पुरुषार्थके साधन ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानकी प्रतिबन्ध जो स्वभावसे मनुष्योंकी सुखके लिए विषयोंकी ओर प्रवृत्ति है उस क्षणिक विषय सुखमें प्रवृत्त मनुष को आत्मज्ञानकी स्तुति श्रवणकराकर वहांसे हटाती हुई प्रयोजन वाली होती हैं।

वचनानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः। यो हि वहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूत्' इति, नच तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यकरणसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि। * तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृह० २।४।६) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं विजानीयात्', 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृह० ४।५।१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१६) इत्यादिभिः। यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति, तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते। अलंकारो ह्ययमस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति। तथा च श्रुतिः—(बृह० ४।४।१२) 'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥' इति। 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च

श्रोतव्यः' इत्यादि विधि तुल्य वाक्य किस लिए हैं अर्थात् इनका क्या प्रयोजन है ? हम कहते हैं कि विषयमें पुरुषकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उससे उसको वे पराङ्मुख करनेके लिए हैं। जो पुरुष बाह्य विषयोंमें 'इष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो अनिष्ट प्राप्त न हो' इस प्रकार बर्हिमुख होकर प्रवृत्त होता है, वह उन विषयोंसे आत्यन्तिक पुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकता। उस आत्यन्तिक पुरुषार्थके अभिलाषीको 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्य कार्य (शरीर) करण (इन्द्रिय) समुदायकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके विषय शब्दादिसे हटाकर उसकी चित्तवृत्तिको अन्तरात्माकी ओर प्रवाहरूपसे प्रवृत्त करते हैं। आत्मस्वरूपकी खोजमें प्रवृत्त हुए उस पुरुषको 'इदं सर्वं० (यह जो कुछ भी है सब आत्मा है) 'यत्र त्वस्य० (किन्तु जिस तत्त्वज्ञानावस्थामें इसके लिए सब आत्मा ही हो गया वहां किससे किसे देखे, किससे किसे जाने, अरे उस विज्ञाताको किससे जाने) 'अयमात्मा० (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियोंसे हेय तथा उपादेयसे रहित आत्मतत्त्वका उपदेश किया जाता है। यद्यपि अकर्तव्य प्रधान आत्मज्ञान किसीके त्याग अथवा ग्रहणके लिए नहीं होता, तथापि हम उसको उसीप्रकार स्वीकार करते हैं। हम वेदान्तियोंके लिए यह अलङ्कार है कि जो प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका ऐक्य ज्ञान होनेपर सर्व कर्तव्यताकी हानि और कृतकृत्यता होती है। इस विषयमें 'आत्मानं० (यदि पुरुष स्वयं प्रकाश आत्माको 'यह मैं हूं' इसप्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर किस फलकी इच्छा करता हुआ किस कामनासे शरीरके पीछे स्वयं संतप्त हो) यह श्रुति और 'एतद्बुद्ध्वा० (हे अर्जुन! इस

सत्यानन्दी दीपिका

* 'निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इति कल्पनादूरं। नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम्।' (वि० चू० ४।६४) (जो उपमा रहित अनादितत्त्व 'तू, मैं, यह, वह आदि कल्पनासे अत्यन्त दूर है, वह नित्यानन्दैकरस स्वरूप, सत्य और अद्वितीय ब्रह्म ही मैं हूँ) इसप्रकार जीव ब्रह्मका ऐक्य ज्ञान होनेपर आत्मवित्के लिए न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय, न कुछ कर्तव्य है और न कुछ अकर्तव्य। जब वेदान्त शास्त्रद्वारा स्वतन्त्ररूपसे ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानसे अनर्थकी अत्यन्त निवृत्ति परमानंदस्वरूप ब्रह्मका आविर्भावात्मक मोक्ष और कृतकृत्यता अनुभव सिद्ध है, तब क्रिया रूप उपासनासे अविद्याकी निवृत्ति रूप संस्कार सहित प्रत्यगभिन्नब्रह्मका आविर्भावात्मक मोक्ष होता है तथा 'उपासीत' इस उपासना रूप क्रियाका अङ्ग होकर सम्पूर्ण वेदान्त वाक्य ब्रह्मका उपदेश करते हैं, इसप्रकार वृत्तिकारके मतका उपर्युक्त रीतिसे खण्डन समझना चाहिए अब 'यदपि' आदिसे प्रभाकरके मतका उल्लेख करते हैं।

भारत' (भ० गी० १५।२०) इति स्मृतिः । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्। *यदपि केचिदाहुः—'प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्ति' इति,—तन्न; औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्। योऽसावुपनिषत्स्वेवाधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म, उत्पाद्यादिचतुर्विधद्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थोऽनन्यशेषः, नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्, 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह० ३।९।२६) इत्यात्मशब्दात् आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात्। * नन्वात्माऽहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्। न; तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। नह्यहंप्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषो विधिकाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधिगतः सर्वस्थात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्वं वा नेतुम्। * आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः। सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं

गुह्यतम तत्त्वको जानकर पुरुष ज्ञानी और कृतकृत्य हो जाता है) यह स्मृति है। इस कारण वेदांत वाक्य उपासना विधिके विषयरूपसे ब्रह्मका ज्ञान नहीं कराते। कोई कहते हैं कि प्रवृत्ति विधि, निवृत्ति विधि और उनके अङ्गोंसे भिन्न केवल सिद्ध वस्तुका प्रतिपादक वेद भाग नहीं है। यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुष अन्यका शेष (अङ्ग) नहीं है। जो केवल उपनिषदोंसे ही अधिगत असंसारी पुरुष ब्रह्म है, वह तो उत्पाद्य आदि चार प्रकारके द्रव्योंसे विलक्षण, स्वप्रकरणमें स्थित, अनन्यशेष है, यह नहीं है अथवा नहीं जाना जाता ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'स एष० (यह नहीं, यह नहीं, इसप्रकार जो आत्मा उपादिष्ट है वह यह है) इस श्रुतिमें 'आत्मशब्द' है, अतः आत्माका निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो निषेध कर्ता है उसका वही तो आत्मा (स्वरूप) है। यदि कहो कि आत्मा 'मैं' इस प्रसिद्ध लोक प्रतीतिका विषय होनेसे केवल उपनिषदोंसे ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है, ऐसा नहीं, क्योंकि आत्मा तो 'मैं' इस लोक प्रसिद्ध प्रतीतिका साक्षी है विषय नहीं, ऐसा कहा जा चुका है। 'मैं' इस लोक प्रतीतिका विषय लोक प्रसिद्ध कर्तासे भिन्न उसका साक्षी, सब भूतोंमें स्थित, सम, एक, कूटस्थ, नित्य सबका आत्मा पुरुष है। वह विधिकाण्ड अथवा तर्कशास्त्रमें किसीसे भी अधिगत नहीं है। इसलिए उसका न कोई निषेधकर सकता है और न कोई उसे किसी विधिके अङ्गरूपसे ग्रहणकर सकता है। वह सबका आत्मा है, इसलिए न हेय है और न उपादेय ही। नष्ट होता हुआ सब विकार समुदाय पुरुष पर्यन्त न

सत्यानन्दी दीपिका

* प्रवृत्ति (यागादि), निवृत्ति (सुरापानादिका निषेध) रूप कार्य तथा उनके अङ्गोंका ही वेद प्रतिपादन करता है। इससे भिन्न केवल सिद्ध वस्तु (ब्रह्म) का प्रतिपादन नहीं करता। अतः वेदान्त वाक्य भी क्रियाके अङ्ग होकर ही ब्रह्मका ज्ञान कराते हैं। क्योंकि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (वेद क्रियार्थक है, क्रियासे भिन्न अक्रियार्थक निष्फल है) इसका समाधान 'तन्न' आदि से करते हैं।

* 'मैं' इस प्रतीतिका विषय लोक प्रसिद्ध कर्ता भोक्ता संसारी है। उसीको प्रायः सब लोग आत्मा मानते हैं। परन्तु आत्मातो अहंकारादिका साक्षी मात्र है। स्वयं साक्षी आत्मा अहंकारादिका विषय भला कैसे हो सकता है? किञ्च आत्मा भ्रमात्मक द्वैतका अधिष्ठान है उसका निषेध करने पर जगत्की अस्ति, भाति, प्रियता कदापि सिद्ध नहीं होगी। इसलिए वेदान्तवेद्य आत्माका कोई निषेध नहीं कर सकता और न वह किसीका अङ्ग ही हो सकता है।

पुरुषान्तं विनश्यति। पुरुषो विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। तस्मात् 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (काठ० १।३।११) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृह० ३।६।२६) इति चौपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्योपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्व उपपद्यते। अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्। ❀ यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इत्येवमादि, तद्धर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः? नहि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति। ❀ अक्रियात्वेऽपि भूतस्य

होता है। विनाश हेतुके अभावसे पुरुष अविनाशी है। विक्रिया हेतुके अभावसे कूटस्थनित्य है, अतएव नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। इस कारण 'पुरुषान्न० (पुरुषसे पर और कुछ नहीं है वह सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा (अवधि) है और वही परा गति है) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिमें पुरुषका 'औपनिषदं' यह विशेषण उपनिषदोंमें मुख्य रूपसे ज्ञान गम्य होनेपर उपपन्न होता है। इसलिए सिद्ध वस्तु विषयक वेद भाग नहीं है यह वादीका कथन साहस मात्र है। यदपि शास्त्रका तात्पर्य जाननेवालोंका 'दृष्टो हि० (कर्म का ज्ञान कराना ही उनका दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रयोजन है) इत्यादि कथन है। उन्हें धर्मजिज्ञासाका विषय होनेसे विधि प्रतिषेध शास्त्रके प्रकरणमें सिद्ध अर्थके प्रतिपादक वाक्योंके अभिप्रायके लिए समझना चाहिए। और 'आम्नायस्य० (वेद क्रियार्थक है, अक्रियार्थक वेद वाक्य निष्फल हैं) इस अव्यभिचारी नियमको माननेवाले मीमांसकोंके मतमें सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद वाक्य भी निष्फल होंगे। यदि कहो कि शास्त्र प्रवृत्ति विधि, निवृत्ति विधि और उनके अङ्गोंसे अतिरिक्त सिद्ध वस्तुका उपदेश धर्मके लिए करता है, तो कुटस्थ नित्य सिद्ध वस्तुका उपदेश नहीं करता इसमें क्या कारण है? उपदिश्यमान सिद्ध वस्तु केवल उपदेशसे ही क्रिया नहीं हो जाती। यदि कहो कि सिद्ध वस्तु भले ही क्रिया न हो किन्तु क्रियाकी निष्पत्तिके साधन होनेके

सत्यानन्दी दीपिका

❀ यदि कहो कि आत्मा अनित्य होनेके कारण हेय है, तो इसका समाधान 'सर्वं हि' आदिसे कहते हैं। आत्मा तो सब भूतोंमें पूर्ण होनेसे पुरुष कहा गया है। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गी० २।२०) (क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता) यह स्मृति प्रमाण है। परन्तु आत्मा परिणामी होनेसे अनित्य होगा? यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि धर्म, लक्षण, अवस्था भेदसे परिणाम तीन प्रकारका होता है। उससे रहित होनेके कारण आत्मा कूटस्थ नित्य है। आत्मासे उत्कृष्ट वस्तु प्राप्य होनेके कारण आत्मा हेय है? ऐसा भी नहीं, क्योंकि आत्मा ही सबकी पराकाष्ठा, परागति है। याज्ञवल्क्य—हे शाकल्य! 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि वेदान्त वाक्य अबाध्य, नित्य सिद्ध, अनन्यशेष ब्रह्मात्मतत्त्वका प्रतिपादन करते हैं। अतः वेद भाग सिद्ध वस्तु ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करता यह कथन केवल साहस मात्र है।

❀ यदि अक्रियार्थक वेद वाक्य निष्फल है तो मीमांसकके मतमें 'सोमेन यजेत' (सोम नामक याग करे) 'दध्ना जुहोति' (दधिसे हवन करे) इस प्रकार सोम, दधि आदि सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेद अनर्थक ही होगा। जो शब्द क्रियार्थक नहीं हैं उनकी अनर्थकता क्या है? क्या उनका कुछ

क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत्,—नैष दोषः; क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तन-शक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति। ❀ यदि नामोपदिष्टं, किं तव तेन स्यादिति। उच्यते,—अनवगतात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थ-वत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन। ❀ अपि च 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैवमाद्या निवृत्ति-रुपदिश्यते। नच सा क्रिया। नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम्। तच्चानिष्टम्। नच स्वभाव-

---

कारण सिद्ध वस्तुका उपदेश क्रियाके लिए ही होता है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि सिद्ध वस्तु क्रियाके लिए होनेपर भी क्रियोत्पादन शक्ति विशिष्ट वस्तु उपदिष्ट है, क्रियार्थत्व ही उसका प्रयोजन है अर्थात् क्रियाको निष्पन्न करना ही सिद्ध वस्तुका प्रयोजन है। क्रियार्थक होनेपर भी सिद्ध वस्तु अनुपदिष्ट नहीं होती। पूर्व पक्षी—यदि सिद्ध वस्तुका उपदेश होता भी तो उससे तुमको क्या लाभ होगा? सि०—कहते हैं–दधि आदि पदार्थोंके समन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अज्ञात ब्रह्मात्म वस्तुका भी शास्त्रसे उपदेश होना ही युक्त है। उसके ज्ञानसे संसारके हेतु भूत मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति प्रयोजन होता है। इसकारण क्रियाके साधन भूत सिद्ध वस्तुके उपदेशके समान आत्माका उपदेश भी सार्थक है। और 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' (ब्राह्मणकी हिंसा नहीं करनी चाहिए) इत्यादि श्रुतियां निवृत्तिका उपदेश करती हैं। वह निवृत्ति न तो क्रिया है और न क्रियाका साधन ही। यदि क्रियाको न कहने वाले वाक्य अनर्थक हैं तो 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निवृत्ति परक उपदेश व्यर्थ होंगे। परन्तु वह इष्ट नहीं है।

अर्थ नहीं है अथवा वे फल रहित हैं? 'आम्नायस्य' इस नियमसे यदि अक्रियार्थक शब्द अनर्थक हैं तो सोम, दधि आदि अर्थ शून्य होंगे। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उनका याग आदिकी सिद्धिके लिए वर्णन मिलता है। यदि कहो कि वे 'स्वर्गकामो यजेत' सुरां न पिबेत्' इस प्रकार प्रवृत्ति निवृत्ति विधिसे भिन्न प्रतिपादित सोम दधि आदि सिद्ध पदार्थ धर्मके लिए कथित होनेके कारण सार्थक हैं, तो प्रश्न होता है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वाक्य सार्थक क्यों नहीं हैं? इसमें यह कारण है कि सोम आदि क्रिया सम्बन्धी होनेसे कार्य हैं, अतः उनका उपदेश युक्त है, किन्तु सिद्ध ब्रह्म किसी क्रियाका सम्बन्धी न होनेसे कार्य नहीं है, इसलिए उसके प्रतिपादक वाक्य अनर्थक हैं।

❀ यद्यपि 'सोमेन यजेत' 'दध्ना जुहोति' आदि उपदेशोंसे दधि, सोमादि यागादि क्रिया नहीं हो जाते, फिर भी सोमादि सिद्ध वस्तु यागादि क्रियाकी निष्पत्तिमें साधन हैं, अतः वे सार्थक हैं। सि०—सिद्ध पदार्थ क्रियाके अङ्ग भले हों फिर भी यह नहीं हो सकता कि सोमादि पदार्थ नहीं रहे या उन पदोंका कुछ अर्थ नहीं है।

❀ वादीका यह मत ठीक नहीं है कि सिद्ध वस्तुकी सफलतामें क्रिया ही द्वार है, क्योंकि जैसे रज्जु ज्ञानसे सर्पादि भ्रान्ति और उससे उत्पन्न भयादिकी निवृत्ति होती है, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार प्रपञ्चके कारण भूत मिथ्याज्ञान और उससे उत्पन्न प्रपञ्चमें सत्यत्व बुद्धिकी निवृत्ति हो जाती है दधि, सोमादि यागादि क्रिया द्वारा सफल होते हैं, किन्तु ब्रह्म तो स्वयं फलस्वरूप है। यद्यपि दोनों इतना अन्तर है, तथापि दधि सोमादि शब्द जैसे सफल सिद्ध दधि आदि वस्तुका बोध कराते हैं उसीप्रकार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्य भी सफल सिद्ध वस्तु ब्रह्मका बोध कराते हैं। जैसे विधि वाक्य सिद्ध पदार्थ परक हैं, वैसे ही वेदान्त वाक्य भी सिद्ध वस्तु परक हैं।

प्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हननक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण। नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति। * अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्। सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति। तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात्पु-

नञ्का रागतः प्राप्त हनन क्रियाके साथ सम्बन्ध होनेसे हनन क्रियासे निवृत्त होकर औदासीन्यसे अतिरिक्त अप्राप्त क्रियाकी कल्पना नहीं की जा सकती। नञ्का यह स्वभाव है कि जो अपने सम्बन्धी पदार्थके अभावका ज्ञान कराता है। अभावज्ञान उदासीनताका कारण है। वह दग्धेन्धन अग्निके समान स्वयं ही शान्त हो जाता है। इस कारण प्रजापति व्रतादिके अतिरिक्त 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि स्थलोंमें रागसे प्राप्त हनन क्रियासे निवृत्त होकर औदासीन्य ही 'नञ्' प्रतिषेधका

सत्यानन्दी दीपिका

* विधि वाक्यगत सिद्ध पदार्थोंका विचारकर अब निषिद्ध वाक्यगत सिद्ध पदार्थोंका विचार करते हैं—जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस वाक्यके मध्यमें जो 'न' है, वह निवृत्तिका उपदेश करता है। निवृत्ति अभाव रूप है, अतः वह न क्रिया है और न क्रियाका साधन ही, क्योंकि क्रिया और क्रियाके साधन भावरूप होते हैं। अक्रियार्थक वेदवाक्य यदि अनर्थक हों तो 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निवृत्ति परक वेद वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। और 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्वाध्याय विधिसे प्राप्त होनेके कारण उनमें व्यर्थत्वकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, इसलिए स्वाभाविक रागसे प्राप्त हनन क्रियासे 'नञ्' हनन कर्ताको निवृत्तकर उदासीन भावमें लाता है। इस अर्थसे भिन्न लक्षणाद्वारा हनन विरोधी संकल्पादि क्रिया, 'अहननं कुर्यात्' (हनन न करे) इस प्रकार 'नञ्' के अर्थकी कल्पना करना ठीक नहीं है। किन्तु अपने सम्बन्धीके अभावका ज्ञान करना ही 'नञ्' का स्वभाव है।

"तत्सादृश्यमभावश्चतदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

"नञ्के छः अर्थ कहे गये हैं—† तत्सादृश्य (उसके समान), अभाव, उससे भिन्न, उससे अल्प, अप्राशस्त्य (अयोग्य) तथा विरोध।" यदि विधिके समान निषेधका अर्थ भी कार्य किया गया तो फिर विधि और निषेधमें अन्तर न रहेगा।

---

† टि० -- तत्सादृश्यम्—अनिक्षु अर्थात् ईखसे भिन्न ईखके सदृश शर, अभावः—यथा नास्ति अर्थात् अस्तित्वका अभाव, तदन्यत्व—अब्राह्मण—ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रियादि, तदल्पता-अनुदरा कन्या—कृशोदरी, अप्राशस्त्य—अपशवः—अन्ये गोऽश्वेभ्यः, अर्थात् गौ, अश्वसे भिन्न पशु हैं, विरोधः—अमित्रः, अविद्या आदि अर्थात् मित्रसे विरुद्ध शत्रु, विद्यासे भिन्न अविद्या आदि।

(क) 'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता। प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥' जिस वाक्यमें विधि अप्रधान और प्रतिषेध प्रधान हो और जहाँ नञ्का क्रियाके साथ सम्बन्ध हो, वहाँ नञ्का प्रसज्यप्रतिषेध अर्थ है। यथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' (कलञ्जका भक्षण न करे) इसमें बलवत् अनिष्टके असाधनत्वसे विशिष्ट इष्ट साधनरूप विधि वाचक प्रत्ययके अर्थके अभावका भक्षणक्रियामें बोध नञ् कराता है, इसलिए विधि अप्रधान है और नञ्का अर्थ अभाव प्रधान है, अतः क्रिया पदके साथ जिसका अन्वय है, ऐसा नञ् प्रसज्यप्रतिषेध कहलाता है, प्रसज्य—प्रसक्त, प्रतिषेध निषेध—अर्थात् प्रसक्तका निषेध।

(ख) 'प्राधान्यं हि विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता। पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्'॥ जिसमें विधि प्रधान और प्रतिषेध अप्रधान हो तथा जिसमें उत्तर पदके साथ नञ्का अन्वय हो वहाँ नञ्का पर्युदास अर्थ है।

दृष्टव्यम् । ❀ यदप्युक्तम्—
रुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम् । ❀ यदप्युक्तम्—
कर्तव्यविध्यनुप्रवेशमन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात्, 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यादि
वदिति, तत्परिहृतम्; 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्
ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनान्न रज्जुस्वरूपकथनवदर्थवत्त्वमित्युक्तम्; अत्रो
च्यते,—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्म
भावविरोधात् । नहि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाण

अर्थ हम मानते हैं । इस कारण पुरुषार्थके अनुपयोगी उपाख्यानादि भूतार्थवाद विषयक आनर्थक्य
अभिधान है, ऐसा समझना चाहिए । जो पहले कहा गया है कि कर्तव्य विधिके साथ सम्बन्धके
विना कही हुई वस्तुमात्र 'सात द्वीप वाली पृथ्वी है' इत्यादिके समान अनर्थक है । 'यह रज्जु है सां
नहीं है' इस प्रकार वस्तु मात्रके कथनसे भी भयादिकी निवृत्ति रूप प्रयोजन देखा गया है, इस तरहसे
कहकर उसका परिहार किया गया है । परन्तु श्रुत ब्रह्म पुरुषमें भी पूर्वके समान संसारित्व देखनेमें
आता है, अतः रज्जु स्वरूप (यह रज्जु है) कथनके समान ब्रह्मस्वरूपका कथन सार्थक नहीं है
सकता, ऐसा पहले कहा गया है । सि०—इसपर कहते हैं—'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अवगत ब्रह्मात्म
भाव वाले विद्वान्में पूर्वके समान संसारित्व नहीं दिखलाया जा सकता, क्योंकि वेद प्रमाणसे जनित

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'नञ्' से प्राप्त जो निवृत्त्यात्मक अभाव ज्ञान है वह ब्राह्मण हिंसाके प्रवर्तक रागका नाश
करता हुआ हनन कर्ताको हनन क्रियासे हटाकर उदासीन भावमें लाता हुआ स्वयं भी शान्त हो जाता
है । 'तस्य वटोर्व्रतम्' (उस ब्रह्मचारीका यह व्रत है) इस वाक्यमें अनुष्ठेय क्रियाका वाचक व्रत
शब्द है, उससे उपक्रमकर 'नेक्षेतोद्यन्तमादीत्यम्' (उदय होते हुए सूर्यको ब्रह्मचारी न देखे अर्थ
दर्शन विरोधी संकल्प रूप क्रिया करे) यह उपसंहार वाक्य है । इससे ब्रह्मचारीके लिए प्रजापति व्रत
विधान किया गया है । जैसे यहाँ लक्षणासे प्रजापति व्रतमें सूर्यदर्शन विरोधी संकल्प रूप क्रि
मानी गई है, वैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' में नहीं है । किन्तु यहाँ तो रागसे प्राप्त हनन क्रिया
अभाव 'नञ्' पदका अर्थ है । हनन विरुद्ध संकल्प रूप क्रिया नहीं । जैमिनि मुनिके 'आम्नाय
क्रियार्थत्वात्' इस पूर्व पक्ष सूत्रसे क्रियासे भिन्न सिद्ध वस्तु प्रतिपादक वेदवाक्य अनर्थक कहे गये
उनका भी तात्पर्य यह है कि जिन वाक्योंका श्रवणादि करनेसे भी कुछ फल सिद्ध नहीं होता
पुरुषार्थके अनुपयोगी उपाख्यान, यथा 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि †† भूतार्थवाद (कथामात्र)
हैं । शेष वेदान्त वाक्य तो सफल होनेसे सर्वथा सार्थक हैं ।

❀ सि०—क्या केवल श्रुत ब्रह्म तत्त्वज्ञानके अनन्तर श्रोतामें पूर्वकी भांति संसारित्व है अथवा
ब्रह्म साक्षात्कारके अनन्तर ? प्रथमपक्ष तो हमें इष्ट ही है, क्योंकि केवल परोक्ष ज्ञानमात्रसे अपने
संसारित्व भ्रान्ति निवृत्त नहीं होती । द्वितीय पक्ष तो युक्त नहीं है, कारण कि मिथ्याज्ञानसे ही कर्तृत्व
भोक्तृत्व संसारित्व अपनेमें माना हुआ है । वह 'स आत्मा तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि
वेदान्त वाक्योंके श्रवणसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानद्वारा निवृत्त हो जाता है ।

---

†† टि०—'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः'
जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरोध उपस्थित हो वहाँ गुणवाद, जहाँ वाक्यसे प्रतिपादित
प्रत्यक्षादिसे अवधारित हो वहाँ अनुवाद और जहाँ वाक्यसे प्रतिपादित अर्थका प्रमाणान्तरसे
न हो और अनुवाद भी न हो वह भूतार्थवाद कहा जाता है । इसका विस्तृत वर्णन देवताधिकरण
(ब्र० सू० १।३।२६) में द्रष्टव्य है ।

जनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। नहि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति। नच कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डलवियुक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छान्दो० ८।१२।१) इति। शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात्, न जीवत इति चेत,—न; सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वान्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यमशरीरत्वमकर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम। तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेन्न; शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः। शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना। ❀ क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेन्न; धनदानाद्युपार्जितभृत्यसंबन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसंवन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः। एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम्।

ब्रह्मात्मभावके साथ उसका विरोध है। [इस अर्थको स्पष्ट करनेके लिए भगवान् भाष्यकार तीन उदाहरण देते हैं, उनमेंसे प्रथम] अनात्म शरीरादिमें आत्मबुद्धि रखनेवाले पुरुषमें दुःख भयादि देखे गये हैं, परन्तु वेदसे जनित ब्रह्मात्मभाव अवगम (ज्ञान) होनेपर देहात्मबुद्धिके निवृत्त हो जानेपर मिथ्याज्ञान निमित्तक वही दुःख भयादि पहलेके समान उस आत्मवित्में होते हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। [द्वितीय उदाहरण] धनाभिमानी धनी गृहस्थको धनापहारसे दुःख होता देखा गया है। संन्यास ग्रहण किए हुए धनाभिमान रहित उसी पुरुषको धनापहार निमित्तक वही दुःख नहीं होता। [तृतीय उदाहरण] कुण्डल पहनने वालेको कुण्डलित्वाभिमान निमित्तक सुख होता देखा गया है, कुण्डलवियुक्त कुण्डलित्वाभिमान रहित उसी पुरुषको कुण्डलित्वाभिमान निमित्तक वही सुख नहीं होता। यही बात 'अशरीरं० (शरीर रहित हुए आत्माको सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते) इस श्रुतिसे भी कही गई है। यदि कहो कि शरीरपात होनेपर अशरीरत्व हो जायगा जीवित होनेपर नहीं ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सशरीरत्व मिथ्याज्ञान निमित्तक है। 'शरीर ही आत्मा है' इस अभिमान रूप मिथ्याज्ञानको छोड़कर अन्य किसी कारणसे आत्मामें सशरीरत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती। कर्मसे उत्पन्न न होनेके कारण अशरीरत्व नित्य है, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। यदि कहो कि आत्मकृत धर्माधर्म निमित्तक उसमें सशरीरत्व है, तो ऐसा नहीं, क्योंकि आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध ही असिद्ध है, इससे धर्माधर्ममें आत्मकृतत्व भी असिद्ध है। आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध हो तो धर्माधर्मकी उत्पत्ति हो, आत्मकृत धर्माधर्म हों तो आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध हो, ऐसा अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। इन दोनोंका कार्यकारणभाव अनादि है, यह अनादित्व कल्पना भी अन्धपरम्परा है। क्रिया सम्बन्धके अभाव होनेसे आत्मा कर्ता भी नहीं हो सकता। यदि कहो कि सेवकोंके साथ सान्निध्यमात्रसे राजादिमें कर्तृत्व देखा गया है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि धनदानादि उपायोंसे सम्पादित सेवकोंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण उसमें कर्तृत्वकी उपपत्ति होती है। परन्तु आत्मामें शरीरादिके साथ धनदानादिके समान स्वस्वामिभाव सम्बन्धके कारणकी किञ्चित् कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु मिथ्याभिमान तो सम्बन्धका हेतु प्रत्यक्ष है। इस कथनसे आत्मामें

अत्राहुः—देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न; प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेदः, यथा केसरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः संपन्नः प्रसिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा शुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसंघातेऽहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्माविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्? आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्माद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव, न गौणः। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। ❋तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः (बृह० ४।४।७) 'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते, अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृह० ४।४।७) इति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽक

यजमानत्वादिका प्रतिपादन हो गया अर्थात् जब तक मिथ्याभिमान है तभी तक आत्मामें यजमानत्वादि भी हैं। इस विषयमें प्रभाकर कहते हैं—देहादिसे भिन्न आत्माका अपने देहादिमें 'मैं, मेरा' अभिमान गौण है मिथ्या नहीं, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि जिसको वस्तुका भेद ज्ञात है उसीको गौण मुख्य ज्ञान होता है यह प्रसिद्ध है। जिसको दो वस्तुओंका भेद ज्ञात है, जैसे अन्वय-व्यतिरेकसे सिंह शब्द सिंह ज्ञानका विषय केसर आदिसे युक्त, विशेष आकृति वाला, पुरुषसे भिन्न सिं प्रसिद्ध है और उससे भिन्न प्रायः क्रूरता एवं शूरता आदि सिंहके गुणोंसे सम्पन्न पुरुष भी ज्ञात है उसको सिंह गुण सम्पन्न पुरुषमें सिंह शब्द प्रयोग और सिंह ज्ञान गौण होते हैं। परन्तु जिसको वस्तुका भेद ज्ञात नहीं है उसको नहीं होते। उसको तो दूसरे अर्थमें अन्य शब्द और ज्ञान भ्रान्ति ही होते हैं गौण नहीं। जैसे मन्द अन्धकारमें 'यह स्थाणु है' ऐसे विशेष ज्ञानके गृहीत न होनेसे 'पुरुष' यह शब्द और ज्ञान स्थाणुमें होते हैं, जैसे शुक्तिमें अकस्मात् 'यह रजत है' यह शब्द और ज्ञान निश्चित होते हैं, वैसे देहादि संघातमें मुख्य रूपसे होनेवाले 'मैं' ऐसा शब्द और ज्ञान आत्मा अनात्माके विवेक न होने कारण उत्पन्न होते हैं, वे गौण कैसे कहे जा सकते हैं? आत्मा, अनात्माके भेद जाननेवाले पण्डितोंको भी भेड़ बकरी पालनेवाले प्राकृत पुरुषोंके समान देहादिमें अपृथक् रू शब्द प्रयोग और ज्ञान भ्रान्तिसे उत्पन्न होते हैं। इस कारण आत्माको देहादिसे भिन्न माननेवालोंके देहादिमें अहं प्रत्यय (मैं) मिथ्या ही है गौण नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीर मिथ्याज्ञानसे होता है और ज्ञान होनेपर जीवितावस्थामें आत्मवित्को ही अशरीरत्व प्राप्त होता है और उसी प्रकार 'तद्यथा० (जिस प्रकार सर्पकी काँचुली बाँबीके ऊपर मृत और सर्प द्वारा परि हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार विद्वान्, जिसने अभिमान त्याग दिया है उसका शरीर पड़ा रहता और शरीरमें स्थित यह आत्मा अशरीर है, अमृत, प्राण, ब्रह्म है स्वयं प्रकाश ही है) और 'सचरचक्षु० (वस्तुतः वह नेत्र रहित भी सनेत्रके समान, श्रोत्र रहित भी श्रोत्र सहित-सा, वाणी रहित

सत्यानन्दी दीपिका

❋ जैसे साँप अपनी काँचुलीमें अपनापन छोड़कर जहाँ चाहे उसे उत्तार फैंक देता है उ फिर अहंता ममता नहीं करता, वैसे ही आत्मवित् अपने स्थूल शरीरादिमें अहंता, ममता त्याग

इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च । स्मृतिरपि च—'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (भग० गी० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्याचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबन्धं दर्शयति । तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम् । यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम् । *यत्पुनरुक्तं श्रवणात्पराचीनयोर्मनननिदिध्यासनयोर्दर्शनाद्विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति । न; अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयोः । यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनियुज्येत भवेत्तदा विधिशेषत्वम् । नतु तदस्ति; मनननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात् । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयादिति

वाणी सहित-सा, मन रहित भी मन सहित-सा, प्राण रहित भी प्राण सहित-सा है) यह श्रुति ब्रह्मवित्के सम्बन्धमें है । 'स्थितप्रज्ञस्य० (जिसकी प्रज्ञा स्थित है उसकी भाषा (लक्षण) क्या है) इत्यादि स्मृति भी स्थित प्रज्ञका लक्षण कहती हुई यह दिखलाती है कि विद्वान्का सर्व प्रवृत्तिके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है । इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मभाव साक्षात्कार करनेवाला विद्वान् पूर्वके समान संसारी नहीं रहता । जो पूर्वके समान संसारी है मानो उसने ब्रह्मात्मभावका साक्षात्कार ही नहीं किया है । इस कारण वेदान्त शास्त्र निर्दोष है । पहिले जो यह कहा गया है कि श्रवणानन्तर मनन और निदिध्यासन देखनेमें आते हैं, इसलिए ब्रह्म विधिका अङ्ग है स्वरूप पर्यवसायी नहीं, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि श्रवणके समान मनन, निदिध्यासन भी ब्रह्मके साक्षात् ज्ञानके लिए हैं । यदि ज्ञात ब्रह्मका कहीं कर्मादिमें विनियोग होता तो विधिका अङ्ग भी होता, परन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् वेदान्त श्रवणके विना ब्रह्म अज्ञात है । श्रवणके समान मनन निदिध्यासन भी ज्ञानके लिए हैं । इसलिए उपासना विधिकी विषयता रूपसे ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है यह संभव नहीं है । अतः वेदान्त वाक्योंके समन्वयसे ब्रह्म स्वतन्त्र शास्त्र प्रमाणक है, यह सिद्ध हुआ । ऐसा होनेसे ही 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

सत्यानन्दी दीपिका

उसमें रहता हुआ भी न रहेके समान होता है अर्थात् देहादिमें मिथ्याज्ञान मूलक आत्माभिमान निवृत्त होनेपर विद्वान् शरीरमें रहते भी अशरीर है, क्योंकि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुति ब्रह्मवित्को ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित करती है । ब्रह्म अशरीर है, अतः ब्रह्मवित् भी अशरीर है । परन्तु व्यवहारमें वह 'सचक्षुरचक्षुरिव' चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रहित होता हुआ भी चक्षु आदि इन्द्रियों सहित-सा प्रतीत होता है । जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है उसके लिए ही शास्त्र आरोपित संसारित्वका निषेध करता है; अन्यके लिए नहीं, इसलिए शास्त्र सर्वथा दोष रहित है ।

* 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह० २।४।५) इस श्रुतिमें श्रवणके अनन्तर मनन और निदिध्यासनकी विधि देखनेमें आती है । इसलिए ब्रह्म विधिका अङ्ग है, क्योंकि श्रवणमात्रसे अपने स्वरूपमें निश्चित तात्पर्य वाला नहीं होता । परन्तु यह ठीक नहीं है, कारण कि श्रवणके समान मनन निदिध्यासन भी ब्रह्मज्ञानके लिए हैं । इनका श्रवणसे पृथक प्रयोजन नहीं है । ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति हो सबका एकमात्र प्रयोजन है । ब्रह्मज्ञानका ब्रह्मसाक्षात्कार ही फल है । जब वह सोम यागादिके समान विधेय ही नहीं तो विधिका अङ्ग कैसे ? विधिका अङ्ग वह होता है जो प्रथम ज्ञात हो और स्वयं फल न हो । परन्तु ब्रह्म तो वेदान्त श्रवणके पूर्व अज्ञात है और ब्रह्मात्मज्ञान होनेपर स्वयं फलरूप है । इसलिए ब्रह्म किसी भी विधिका अङ्ग नहीं है । तो उपासना विधिका विषयरूपसे शास्त्र प्रमाणक हो यह कथन भी असंगत है । अतः ब्रह्ममें स्वतन्त्र

इति तद्विषयः पृथक्शास्त्रारम्भ उपपद्यते।
सिद्धम्। * एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्येवारब्धत्वान्न पृथक्शास्त्रमारभ्येत्।
प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति, 'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा' इति, 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयो-
आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत—* अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा'इति,'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयो-
र्जिज्ञासा' (जै० ४।१।१) इतिवत्। ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रतिज्ञातेति तदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः-
'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति। तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेत-
राणि प्रमाणानि। नह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि
भवितुमर्हन्तीति। अपि चाहुः—गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्। सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं

इसप्रकार ब्रह्म विषयक पृथक् शास्त्रका आरम्भ युक्त है। वेदान्त यदि उपासना विधि परक होते तो
'अथातो धर्मजिज्ञासा' इसीसे आरब्ध हो जानेके कारण 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस पृथक् शास्त्रका
आरम्भ न होता। यदि कदाचित् आरम्भ भी किया जाता तो 'अथातः क्रत्वर्थः०' (अब अवशिष्ट
धर्मकी जिज्ञासा) इसप्रकार प्रारम्भ होता। ब्रह्म आत्माके एकत्व ज्ञानकी प्रतिज्ञा पूर्व मीमांसामें
नहीं है, इस कारण उसके लिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस अपूर्व शास्त्रका आरम्भ युक्त है। इससे
'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकारके ज्ञान पर्यन्त सब विधियां और अन्य सब प्रमाण हैं, क्योंकि हेयोपादेयसे
रहित अद्वैत आत्मावगति होनेपर निर्विषयक प्रमाता रहित प्रमाण नहीं हो सकते। ब्रह्मवेत्ता
लोग कहते हैं—'गौणमिथ्यात्मनो० (अबाधित सत्, चित्, आनन्दस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा ज्ञान
होनेपर पुत्र देहादिका बाध होता है अर्थात् यह सब माया मात्र है वास्तविक नहीं, ऐसा निश्चय हो
जाता है। उसमें गौणमिथ्यात्मा-पुत्र, दार, देहादिमें आत्माभिमान निवृत्त हो जानेपर विधि निषेधादि
सब व्यवहार कैसे हो सकता है? गौण और मिथ्याभेदसे आत्माभिमान दो प्रकारका है। पुत्र दारा
आदिमें 'मैं पुत्र हूं, यह मेरा है' इत्यादि आत्माभिमान गौण है, क्योंकि दोनोंका भेद ज्ञात है।
उनके सुख दुःखसे अपनेको सुखी दुःखी अनुभव करता है। अपने देहादिमें 'मैं मनुष्य हूँ, कर्ता

सत्यानन्दी दीपिका

रूपसे शास्त्र प्रमाण है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेदन्त वाक्योंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है।

* यदि वेदान्त भी उपासना विधिका अङ्ग होता तो 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस शास्त्रके
प्रथम आरब्ध हो जानेके कारण इससे पृथक् शास्त्रका आरम्भ न होता, क्योंकि दोनोंका विषय ए
ही होता। यदि पूर्व आरब्ध विषयका आरम्भ करते हो ऐसा वर्णन करते कि जो धर्म पूर्व मीमांसामें
प्रतिपादित है उस शेष धर्मके लिए जिज्ञासा करनी चाहिए तब तो इस शास्त्रके आरम्भमें ही भगवान्
सूत्रकार भी ऐसी प्रतिज्ञा करते। किन्तु 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे पूर्वोक्त मीमांसा सूत्रसे
विलक्षण ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म और वेदान्त किसी भी विधिका
अङ्ग नहीं है, अपितु स्वतन्त्र ही हैं। जैमिनि आचार्यने अपने पूर्वमीमांसा शास्त्रमें कर्म, कर्मका फल
इतिकर्तव्यताका वर्णन किया है। उनके सिद्धान्तमें ब्रह्मको नहीं माना गया है इससे वहां जीव ब्रह्म
एकताके विचारका अवकाश ही नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार जब तक नहीं होता त
तक 'यजेत, जुहोति, दद्यात्, उपासीत' इत्यादि विधियां तथा प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय इत्यादि
उपपन्न होते हैं अर्थात् व्यावहारिक सत्यरूपसे उपयुक्त होते हैं। 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्
ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्तवाक्योंके श्रवणादिसे जब ब्रह्मरूपसे आत्माका साक्षात्कार
जाता है तब प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयरूप सब द्वैत बाधित हो जाता है, जैसे जागने पर स्वप्न पदार्थों
बाध हो जाता है ॥ ४ ॥

चतुः सूत्री समाप्ता।

बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥ अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः । अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥ देहात्मप्रत्ययोयद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः । लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात्' इति ॥ ४ ॥

इति भाष्ये चतुःसूत्री समाप्ता ।

(५ ईक्षत्यधिकरणम् सू० ५–११)

* एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेशं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम् । ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमित्युक्तम् । सांख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति । सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषितम् । प्रधान-

भोक्ता हूं' यह मिथ्याभिमान है । ये दोनों प्रकारके अभिमान बाधित हो जानेपर विधि निषेध आदि सब व्यवहार कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥

'अन्वेष्टव्यः० (जो आत्मा सर्वपापरहित, जरा, मृत्यु, शोक आदिसे रहित है उसकी खोज करनी चाहिए । इस आत्मज्ञानसे पूर्व ही चिद्रूप आत्मामें प्रमातृत्व रहता है । प्रमाताके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेपर पाप पुण्य, रागद्वेष, जन्मादिसे रहित परमात्मस्वरूप हो जाता है । यहां शंका होती है कि यदि प्रमाता कल्पित है तो प्रमाताके आश्रित प्रमाणमें प्रमाणता कैसे सिद्ध होगी ? समाधान— 'देहात्म० (जिसप्रकार 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान कल्पित होनेपर भी प्रमाण माना जाता है, उसीप्रकार प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण भी आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त प्रमाण हैं) वेदान्त तीनों कालमें बाधरहित ब्रह्मात्मैकत्वका बोध करता है, अतः इसको तत्त्वका बोध करानेवाला प्रमाण कहा जाता है । पूर्व पक्षमें मुमुक्षुकी वेदान्तोंमें प्रवृत्तिकी अनुपपत्ति है, सिद्धान्तमें प्रवृत्तिकी सिद्धि है, इसप्रकार दोनोंमें अन्तर है ॥ ४ ॥ चतुः सूत्री समाप्ता

इस प्रकार यह कहा गया कि वेदान्त वाक्योंका कार्यके साथ सम्बन्धके विना भी एक अद्वितीय ब्रह्ममें पर्यवसान होता है, इन वाक्योंका प्रयोजन "यह आत्मा ब्रह्म है" ऐसा अपरोक्ष ज्ञान कराना है और वे ब्रह्मात्मामें तात्पर्यसे समन्वित हैं । और श्रुतिमें यह भी कहा गया है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशका कारण है । परन्तु सांख्य आदि तो ऐसा मानते हैं कि सिद्ध वस्तु अन्य प्रमाणसे ही अवगत होती है । और प्रधान आदि अन्य कारणोंका अनुमान करके तत्परत्व (प्रधानादि परत्व) से ही वेदान्त वाक्योंकी योजना करते हैं । सृष्टि विषयक सम्पूर्ण वेदान्त वाक्योंमें अनुमान द्वारा ही कार्यसे कारणके लक्षण बतानेकी चेष्टा की गई है । और सांख्य ऐसा मानते हैं कि प्रधान, पुरुष और उनका संयोग नित्य अनुमेय हैं । कणादके अनुयायी तो

सत्यानन्दी दीपिका

* किञ्च सूत्रकारने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्रसे जो ब्रह्मविषयक जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की है । वह ब्रह्म क्या वस्तु है ? इस शंकाके समाधानमें सूत्रकारने "जन्माद्यस्य यतः" इस द्वितीय सूत्रसे लेकर "तत्तु समन्वयात्" इस चतुर्थ सूत्र तक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् तथा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशका जो कारण है वही ब्रह्म है, यद्यपि ऐसा सूचित किया है, तथापि सूत्रकारने अभी तक यह स्पष्ट नहीं किया कि ब्रह्म चेतन ही इस जगत्का उपादान कारण है अथवा अचेतन ? इसलिए तो यहाँ सन्देह होता है कि क्या जगत्का उपादानकारण चेतन है अथवा अचेतन ? इस विषयमें सांख्य कहते हैं—ब्रह्म, कूटस्थ और विकाररहित है, उसका परिणाम होना तो असम्भव है, क्योंकि यह

पुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते। *काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम्। एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभास-युक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते। तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदान्त-वाक्यानां ब्रह्मवगतिपरत्वदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासविप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य

उन्हीं वाक्योंसे ऐसा अनुमान करते हैं कि ईश्वर सृष्टिका निमित्त कारण है, और अणु समवायिकारण हैं। इसी प्रकार अन्य तार्किक भी वाक्याभास और युक्त्याभासका अवलम्बन लेते हुए अद्वैतमतमें पूर्वपक्षी बनकर उपस्थित होते हैं। उक्त विवाद उपस्थित होनेपर वेदान्त वाक्योंका प्रयोजन ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान कराना है, यह दिखलानेके लिए वाक्याभास और युक्त्याभासके आधारपर उपस्थित विरोधोंको पूर्वपक्ष बनाकर पद, वाक्य और प्रमाणके ज्ञाता आचार्य (व्यास) उनका निराकरण करते हैं।

सत्यानन्दी दीपिका

अनुभव सिद्ध भी है कि कार्यकारणमें विकार लाए विना उत्पन्न ही नहीं होता अर्थात् अपने अस्तित्वको सिद्ध नहीं कर पाता। इसलिए "सर्गाद्यं कार्यं जड़प्रकृतिकं कार्यत्वात् घटवत्" सृष्टि आदि कार्य कार्य (जन्य) होनेके कारण जड़ प्रकृति वाला है, जैसे घट। इस अनुमानसे प्रधान आदि जड़ कारणोंकी सिद्धि होती है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि जगत्के उत्पत्ति आदिके प्रतिपादक वेदान्त वाक्य भी अनुमान द्वारा कार्यसे कारणका ज्ञान कराते हुए प्रधान आदि जड़ कारणोंका प्रतिपादन करते हैं। प्रलयकालमें सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाको वे प्रधान कहते हैं। वही प्रधान, पुरुष और इनका संयोग नित्य अनुमेय हैं। यथा "यज्जडं तच्चेतनसंयु यथा रथादि" जो जड़ होता है वह चेतनसे युक्त होता है, जैसे रथ सारथिसे युक्त होता है, वैसे जड़ प्रधान भी चेतन पुरुषसे युक्त होना चाहिए। इस प्रकार पुरुष, प्रधान और इनका संयोग नि अनुमेय ही हैं।

* वेदान्तमतमें सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान करण है और सां मतमें प्रधान कर्तृकारण है। अब भगवान् भाष्यकार इस उक्त मतके विरोधी अन्य मतका 'काणादास्तु' इत्यादिसे उल्लेख करते हैं। कणादके अनुयायी ऐसा मानते हैं कि "यत्कार्यं तत्बुद्धिमत्कर्तृकम्" जो कार्य है वह बुद्धिमान् कर्तासे जन्य है, जैसे घट। क्योंकि चेतन कर्तामें कार्यानुकूल ज्ञान, इच्छा त प्रयत्न होते हैं, किन्तु जड़ प्रधान आदिमें कार्यानुकूल ज्ञान आदि नहीं होते, अतः जड़ प्रधान जगत्का कर्तृकारण मानना अयुक्त है, किन्तु चेतनको ही इस जड़ जगत्का कर्तृकारण मानना चाहिए यद्यपि बुद्धि आदि गुणोंसे युक्त जीव चेतन है और घट आदि कार्यका कर्ता भी है, फिर भी अल्प और अल्प शक्ति आदि युक्त होनेसे इस विचित्र, विशाल संसारके निर्माण आदि करनेमें वह अस है। अतः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवाक्योंके आधार जगत्के उत्पत्ति आदिका निमित्तकारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। वायु, अग्नि, जल और पृ इनके परमाणु इस कार्य जगत्के प्रति उपादान कारण हैं।

शून्यवादी बौद्ध—"असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) (आरम्भमें एकमात्र अद्वितीय असत् ही था) इत्यादि श्रुति वाक्योंके आधारपर इस जगत्का उपादान का शून्यको मानते हैं। और "यत् वस्तु तत् शून्यावसानं यथा दीपः" जो वस्तु है वह अन्तमें शू लीन होती है, जैसे दीपक।

इस प्रकार वाक्याभास और युक्त्याभासका अवलम्बनकर वादी भिन्न-भिन्न मतोंके द्वारा वि

निराक्रियन्ते। ❀तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः —यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रदर्शयन्तीत्यवोचंस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषय-मुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते। ❀कथम्? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः, 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' (गी० १४।१७) इति स्मृतेः। तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकरणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्। न

उनमें त्रिगुणात्मक अचेतन प्रधान जगत्का कारण है, यह माननेवाले सांख्यमतावलम्बी कहते हैं— तुमने कहा है कि जो वेदान्त वाक्य सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् ब्रह्ममें जगत्की कारणताको दिखलाते हैं, वे प्रधान कारण पक्षमें ही लगाए जा सकते हैं। स्वकार्यकी अपेक्षा प्रधानमें भी सर्वशक्तित्व उपपन्न है, एवं सर्वज्ञत्व भी उपपन्न है। प्रधान सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? जिसे तुम ज्ञान मानते हो वह सत्त्व-गुणका धर्म है, क्योंकि 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' (सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है) यह स्मृति है। उस सत्त्वगुणके धर्मरूप ज्ञानसे कार्य (देह) करण (इन्द्रिय) वाले पुरुष योगी सर्वज्ञ प्रसिद्ध हैं।

सत्यानन्दी दीपिका

प्रदर्शित करते हैं। तत्र पद (व्याकरण) वाक्य (मीमांसा) प्रमाण (न्याय) आदि शास्त्रोंमें पारंगत भगवान् विष्णुके ज्ञानशक्ति अवतार † आचार्य भगवान् व्यास वेदान्त वाक्य ब्रह्म परक हैं, यह दिखलानेके लिए उन विरोधोंका उल्लेख करते हैं। अत्र भगवान् भाष्यकार उनमेंसे प्रथम 'तत्र' आदिसे सांख्य मतका उल्लेख करते हैं।

❀'मूलप्रकृतिरविकृतिमहदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' (सां० का० ३) मूल प्रकृति-प्रधान सबका मूलकारण है वह किसीका कार्य नहीं है अर्थात् इसका कोई कारण नहीं है। सृष्टिकालमें सर्वप्रथम प्रकृतिसे महद् उत्पन्न होता है, महद्से अहंकार, अहंकारसे मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। महद्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ ये सात कार्य और कारण उभयात्मक हैं, अर्थात् महद् प्रधानका कार्य है और अहंकारका कारण भी है, अहंकार महद्का कार्य है और एकादश इन्द्रियां और पाँच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) का कारण भी है। शब्द आदि पाँच तन्मात्राओंसे आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये उक्त तन्मात्राएँ आकाश आदि पाँच भूतोंके कारण हैं। एकादश इन्द्रियाँ और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच स्थूलभूत, ये सोलह केवल कार्य हैं अर्थात् ये तत्त्वान्तरको उत्पन्न नहीं करते, अतः कारण नहीं हैं और चेतन पुरुष तो न कार्य है और न कारण। इस प्रकार सांख्यमतमें पच्चीस तत्त्व हैं। प्रधान चेतन पुरुषके संयोगसे महद्से लेकर इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको उत्पन्न करता है, इससे स्वकार्यकी अपेक्षा प्रधानमें सर्वशक्तिमत्त्व है इसी प्रकार सर्वज्ञत्व भी, अतः वेदान्त वाक्योंकी 'प्रधान जगत्का कारण है' इस पक्षमें योजना हो सकती है।

❀ जितना जितना सत्त्वगुणका उत्कर्ष होता है अर्थात् रजो और तमोगुणसे जितना जितना अनभिभूत-शुद्ध सत्त्व होता है उतना उतना ज्ञानका भी उत्कर्ष होता है। इस आधार पर योगदर्शनमें भी कहा गया है कि 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (योग० १।२५) उसमें सत्त्वगुणकी निरतिशयता-अत्यन्तशुद्धता-रजो और तमोगुणसे अनभिभूतता ही सर्वज्ञताका कारण है) 'सत्त्वं लघुप्रकाशकम्' (सां० का० १३) (सत्त्व गुण लाघव युक्त और प्रकाशक है) और यह लोकप्रसिद्ध भी है कि सत्त्व-

---

टि० :—† आचिनोति च शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः स उदाहृतः।

केवलस्याकार्यकरणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किंचिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम्। *त्रिगुणत्वात्तु प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते वेदान्तवाक्येषु। अवश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमुपगन्तव्यम्। नहि सर्वदा सर्वविषयं ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते। *तथाहि-ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति। अपि च प्रागुत्पत्तेः सर्वकारकशून्यं ब्रह्मेष्यते त्वया। नच ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादी-

---

सत्त्वका निरतिशय उत्कर्ष होनेपर सर्वज्ञत्व प्रसिद्ध है। देह और इन्द्रिय रहित केवल ज्ञानस्वरूप-पुरुषमें सर्वज्ञत्व अथवा अल्पज्ञत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती। प्रधान त्रिगुणात्मक है, इसलिए तो सब ज्ञानोंका कारणभूत सत्त्वगुण प्रधान-अवस्थामें विद्यमान है। इस कारण अचेतन होनेपर भी प्रधानका ही वेदान्त वाक्योंमें सर्वज्ञत्व उपचरित है अर्थात् गौणवृत्तिसे प्रतिपादित है। सर्वज्ञ ब्रह्म है, ऐसा स्वीकार करनेवाले तुमको भी अवश्य सर्वज्ञानशक्तिमत् होनेसे ही ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व मानना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सदा ही सर्व विषयक ज्ञान करता हुआ नहीं रहता। यदि ज्ञान नित्य है तो ज्ञान क्रियाके प्रति ब्रह्मकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी, यदि वह अनित्य है तो ज्ञानक्रियाके न रहनेपर कदाचित् ब्रह्म उससे उपरत भी हो जायगा। इससे तो यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञान शक्तिमत्त्वसे ही ब्रह्ममें भी सर्वज्ञत्व प्राप्त होगा। किञ्च उत्पत्तिके पूर्व तुम ब्रह्मको सर्वकारकोंसे रहित मानते हो, तो ज्ञानके साधन शरीर, इन्द्रियादिके अभावमें ज्ञानकी उत्पत्ति किसीके मतमें भी युक्त नहीं है। सत्त्व, रज

सत्यानन्दी दीपिका

गुणके अत्यन्त उत्कर्ष होनेपर देह और इन्द्रिययुक्तपुरुष योगी सर्वज्ञ होते हैं। उस सत्त्वगुणका अत्यन्त उत्कर्ष प्रधानमें तो है, अतः उसमें सर्वज्ञता मानना युक्त है।

* सि०—अब यहाँ शंका होती है कि जब सांख्यमतमें प्रलयकालमें तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रधान है तो उस अवस्थामें रज और तम दोनों गुणोंकी समानरूपसे विद्यमानता होनेपर सत्त्वगुणका अत्यन्त उत्कर्ष कैसे हो सकता है और तदाश्रित प्रधानमें सर्वज्ञता किस प्रकार हो सकती है! पू०—उस अवस्थामें प्रधान त्रिगुणात्मक है इस कारण उसमें सम्पूर्ण ज्ञानका कारणभूत सत्त्वगुण भी है, अतः अचेतन प्रधानमें वेदान्त वाक्योंद्वारा गौणवृत्तिसे सर्वज्ञता कही जा सकती है। किञ्च वेदान्त प्रतिपाद्य सर्वज्ञ ब्रह्मको अङ्गीकार करनेवाले तुमको भी ब्रह्मको सर्वज्ञ इसकारण स्वीकार करना होगा कि उसमें सर्वविषयक ज्ञान करनेकी शक्ति हो, क्योंकि ब्रह्म सदा ही सब विषयोंका ज्ञान करता हुआ नहीं रहता। प्रलयकालमें अनित्य ज्ञानका तो नाश हो जाता है। किन्तु सत्त्वगुणमें सर्वज्ञताकी स्वरूप योग्यता रहती है, अतः उसका उत्कर्ष होनेपर ईश्वर सर्वज्ञता प्राप्त कर लेगा। इसलिए सत्त्वगुणमें सर्वज्ञताकी शक्ति अवश्य माननी चाहिए।

* सांख्य मतमें जड़ प्रधान ही जगत्का कर्तृकारण है और पुरुष पुष्करपलाशवत् निर्ले है। पुरुषके भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) के लिए प्रधान सृष्टि करनेमें प्रवृत्त होता है। प्रधान ज है, अतः एकाकी कुछ करनेमें समर्थ नहीं है और पुरुष असंग है, वह भी ऐकाकी कारण नहीं सकता। इसलिए प्रधान पुरुषके संयोगसे सृष्टि करनेमें प्रवृत्त होता है। जैसे सभामें नर्तकी अप नृत्य दिखाकर हट जाती है, वैसे प्रधान भी पुरुषको अपना प्रपञ्च दिखाकर अर्थात् भोग और अ वर्ग संपादन कर निवृत्त हो जाता है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' वस्तुतः पुरुष असंग होनेसे बन्ध औ

नामभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिदुपपन्ना। अपि च प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणामसंभवात्कारणत्वोपपत्तिर्मृदादिवत्, नासंहतस्यैकात्मकस्य ब्रह्मण इत्येवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—ईक्षतेः, न, अशब्दम्।

सूत्रार्थ—(अशब्दम्) श्रुति अप्रतिपादित होनेके कारण प्रधान जगत्का कारण (न) नहीं है, (ईक्षतेः) क्योंकि 'तदैक्षत' श्रुतिमें जगत्का कारण ईक्षण कर्ता कहा गया है, जड़ प्रधानमें ईक्षणकर्तृत्व नहीं है।

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्। अशब्दं हि तत्। कथमशब्दत्वम्? ईक्षतेः—ईक्षितृत्वश्रवणात्कारणस्य। कथम्? एवं हि श्रूयते—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो० ६।२।१) इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।३) इति। तत्रेदंशब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत्प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्य तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजः प्रभृतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति। * तथान्यत्र—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १।१।१) इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे।

और तम इस भेदसे अनेकात्मक प्रधानका परिणाम सम्भव है, अतः वह मृत्तिकादिके समान कारण हो सकता है। परन्तु संघात रहित, असङ्ग अद्वितीय ब्रह्म नहीं। इसप्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर इस सूत्रका आरम्भ किया जाता है—

सांख्य परिकल्पित अचेतन प्रधान जगत्का कारण वेदान्तोंमें नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह श्रुति सिद्ध नहीं है। यदि कहो कि श्रुति सिद्ध क्यों नहीं है? इससे कि कारणमें ईक्षणकर्तृत्व सुना जाता है। कैसे? 'सदेव सोम्य० (हे प्रिय दर्शन! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) ऐसा आरम्भ कर आगे कहा है—'तदैक्षत० (उसने ईक्षण किया कि मैं अनेक हो जाऊँ अर्थात् अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ, इसप्रकार ईक्षणकर उसने तेज उत्पन्न किया) यह श्रुति 'इदम्' शब्द वाच्य नाम-रूपसे अभिव्यक्त जगत्का उत्पत्तिके पूर्व सद्रूपसे निश्चयकर उसी प्रकृत सत् शब्द वाच्य (ब्रह्म) में ईक्षण पूर्वक तेज आदिका स्रष्टृत्व दिखलाती है। इसीप्रकार अन्य स्थलपर 'आत्मा वा० (आरम्भमें एकमात्र आत्मा ही था, उसके सिवा अन्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं थी, उसने ईक्षण किया कि लोकोंकी रचना करूँ, उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप इन लोकोंकी रचना की) इसप्रकार यह श्रुति ईक्षण पूर्वक सृष्टिको कहती है। कहीं पर षोडशकल पुरुषको प्रस्तुत कर 'स

सत्यानन्दी दीपिका

मोक्षसे रहित है। धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इन स्वभाव सिद्ध भावोंसे युक्त प्रधानका ही बन्ध और मोक्ष है। केवल पुरुषमें उनका व्यवहार मात्र होता है। जैसे सेवकके जय, पराजयका स्वामीमें गौण व्यवहार होता है, वैसे ही प्रधानके बन्ध और मोक्षका पुरुषमें केवल गौण व्यवहार होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत्का कारण प्रधान है। गत-अधिकरणमें सर्ववेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्मको ही जगत्का कारण कहा गया है, परन्तु वह कूटस्थ होनेके कारण जगत्का कारण नहीं हो सकता, अपितु ज्ञान क्रिया शक्ति युक्त त्रिगुणात्मक प्रधान ही जगत्का कारण है, इसप्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष होनेपर इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है।

* कलाओंसे रहित वह निष्कल पुरुष मायारूप उपाधिसे कलावान्की तरह प्रतीत होता है। 'स ईक्षांचक्रे' उपाधियुक्त उस षोडशकल पुरुषने ईक्षण किया कि किस कर्ता विशेषके देहसे उत्क्रमण

कचिच्च षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्याह–'स ईक्षांचक्रे। स प्राणमसृजत' (प्रश्न० ६।३) इति। ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरितिवत्। न धातुनिर्देशः। तेन 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' (मुण्ड० १।१।९) इत्येवमादीन्यपि सर्वज्ञेश्वरकारणपराणि वाक्यान्युदाहर्तव्यानि। * यत्तूक्तं सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञं प्रधानं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते। नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्सत्त्वधर्मो ज्ञानं संभवति। ननूक्तं सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञं भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते। यदि गुणसाम्ये सति सत्त्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत, कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किंचिज्ज्ञमुच्येत। अपि च नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते। न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति। तस्मादनुपपन्नं प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम्। योगिनां तु चेतनत्वात्सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदा-

ईक्षांचक्रे० (उसने ईक्षण किया अर्थात् नाम रूपात्मक जगत्की उत्पत्तिका संकल्प किया, उसने प्राणको उत्पन्न किया) ऐसा कहा है। 'यजति' के समान यहां 'ईक्षति' से धातुके अर्थका निर्देश अभिप्रेत है, धातु मात्रका निर्देश नहीं। इससे 'यः सर्वज्ञः० (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है जिसका ज्ञानमय ही तप है, उससे यह हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है) इत्यादि सर्वज्ञ ईश्वर कारण परक वाक्य भी उदाहरणरूपसे देने चाहिएं। जो यह कहा गया है कि सत्त्वगुणके धर्मरूप ज्ञानसे प्रधान सर्वज्ञ होगा, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि प्रधानावस्थामें गुणोंका साम्य होनेसे सत्त्वगुणका धर्मरूप ज्ञान हो ही नहीं सकता। परन्तु जो यह कहा गया कि सर्वज्ञानके शक्तिमत्त्वसे प्रधान सर्वज्ञ होगा ? वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि गुणोंके साम्य होनेपर भी यदि सत्त्वगुणके व्यपाश्रय ज्ञानशक्तिका आश्रयणकर प्रधानको सर्वज्ञ कहो तो रजो और तमोगुण व्यपाश्रय ज्ञान प्रतिबन्धक शक्तिका आश्रयणकर (प्रधानको) अल्पज्ञ भी कहना होगा। और साक्षी रहित सत्त्वगुणकी वृत्तिका 'ज्ञा' धातुसे विधान नहीं किया जा सकता। अचेतन प्रधान साक्षी नहीं है, इस कारण प्रधानमें सर्वज्ञत्व अनुपपन्न है। योगी तो चेतन हैं, अतः उनमें सत्त्वगुणके उत्कर्षके कारण सर्वज्ञत्व युक्त है, इसलिए इस स्थलमें यह उदाहरण ठीक नहीं है। जैसे अयःपिण्डादिमें दग्धृत्व अग्निनिमित्तक है,

सत्यानन्दी दीपिका

करने पर मैं भी देहसे उत्क्रमण कर जाऊँगा और जिसके देहमें स्थित रहनेपर मैं भी देहमें स्थि रहूँगा। इसप्रकार पुरुषने ईक्षणकर 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रि मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपोमन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च' (प्रश्न० ६।८) (उस पुरुषने प्रा (हिरण्यगर्भ) की सृष्टिकी, फिर प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, म और अन्नको तथा अन्नसे वीर्य, तप, मन्त्र (ऋग्वेदादि), कर्म (अग्निहोत्रादि) और लोकोंको ए लोकोंमें (देवदत्तादि) नामको उत्पन्न किया) यह षोडश कलाविषयक श्रुति है। यद्यपि 'इक्शि पौ धातुनिर्देशे' (इक् और शितप् प्रत्यय धातुके निर्देशमें होते हैं) इस कात्यायन वचनके अनु 'शितप्' प्रत्ययान्त 'ईक्षति' शब्द 'ईक्ष' धातुका वाचक है, तथापि 'इति कर्तव्यताविधेः यजतेः पू वत्त्वम्' (७।४।१) जैमिनिसूत्रमें जैसे 'यजति' पद 'यज' धातुको न कहकर लक्षणासे धात्वर्थ याग बोधक है, वैसे यहां भी 'ईक्षति' पद 'ईक्ष' धातुको न कहकर धात्वर्थ ईक्षणका बोधक है।

* प्रधानमें सत्त्वगुणका उत्कर्ष तब होता जब उसके प्रतिबन्धक रजो और तमोगुण सम रूपसे विद्यमान न होते। इतना होनेपर भी यदि अभिनिवेशसे प्रधानको सर्वज्ञ कहो तो अल

हरणम्। * अथ पुनः साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत, यथाग्निनिमित्तमयःपिण्डादेर्दग्धृत्वम्; तथा सति यन्निमित्तमीक्षितृत्वं प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञं मुख्यं ब्रह्म जगतः कारणमिति युक्तम्। यत्पुनरुक्तं-ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वमुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातत्र्यासंभवादिति। अत्रोच्यते-इदं तावद्भवान्प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति। यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्। अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात्। नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति। * ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातत्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेन्न, प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेश-

वैसे ही प्रधानमें ईक्षितृत्व साक्षी निमित्तक है ऐसी यदि कल्पना करो तो प्रधानमें ईक्षितृत्वका जो निमित्त है वही सर्वज्ञ मुख्य ब्रह्म जगत्का कारण है, यह युक्त है। और यह जो कहा गया है कि ब्रह्ममें भी मुख्य सर्वज्ञत्व उपपन्न नहीं है, क्योंकि ब्रह्मकी नित्य ज्ञान क्रिया होनेके कारण ज्ञान क्रियाके प्रति उसकी स्वतन्त्रता असम्भव है। इस विषयमें कहते हैं—परन्तु पहले तो आप यह बताइए कि नित्य ज्ञान क्रियाके होनेपर सर्वज्ञताकी हानि किसप्रकार होगी? सब पदार्थोंके प्रकाश करनेकी सामर्थ्य रखने वाला जिसका ज्ञान नित्य है और वह स्वयं असर्वज्ञ है, यह कथन विरुद्ध है। यदि ज्ञानको ही अनित्य मानें तो कभी जानता है और कभी नहीं जानता है इसप्रकार ब्रह्म असर्वज्ञ भी होगा? परन्तु ज्ञानके नित्यत्व पक्षमें यह दोष नहीं है। यदि कहो कि ज्ञानको नित्य माननेपर ज्ञानविषयक (ब्रह्ममें) स्वातन्त्र्य व्यपदेश अनुपपन्न है; तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि निरन्तर-स्थायी

सत्यानन्दी दीपिका

अल्पज्ञ भी कहना होगा, क्योंकि प्रलयमें प्रवर्तक रजोगुण और आवरक तमोगुणका भी तो समान उत्कर्ष है। ऐसी परिस्थितिमें अल्पज्ञता और सर्वज्ञता परस्पर विरुद्ध दोनों धर्म युगपत् प्रधानमें कैसे रहेंगे? यदि कहो कि प्रधानावस्थामें केवल सत्त्वगुणका ही उत्कर्ष होता है अन्य गुणोंका नहीं, तो यह कथन केवल साहसमात्र है, क्योंकि इसमें कोई नियामक नहीं। साक्षीके विना केवल सत्त्वगुणकी वृत्ति भी ज्ञान नहीं होती, कारण कि वह जड़ है। साक्षी चेतनसे प्रतिबिम्बित चित्तवृत्तिको ज्ञान कहा जाता है और उसीसे वस्तुका ज्ञान होता है। अचेतन प्रधान भी साक्षी नहीं है, इस कारण प्रधानमें सर्वज्ञत्व भी असंभव है। योगी पुरुष तो चेतन हैं, अतः उनमें सत्त्वगुणके उत्कर्ष और अन्य गुणोंके अपकर्षके कारण सर्वज्ञता हो सकती है। इसलिए प्रधानके विषयमें सत्त्व उत्कर्ष युक्त योगी पुरुष सर्वज्ञ होते हैं, यह उदाहरण ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधान अचेतन है और योगी पुरुष चेतन हैं।

* अब ईश्वरवादी पातञ्जलमतका 'अथ पुनः' इत्यादिसे दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् भाष्यकार निराकरण करते हैं।

* सर्वज्ञत्वका अर्थ सर्वविषयक ज्ञान है ज्ञानकर्तृत्व नहीं अर्थात् सभी पदार्थोंको जानना ही सर्वज्ञता है। क्योंकि ईश्वर ज्ञानको किसी करण (प्रयत्न) द्वारा उत्पन्न नहीं करता प्रत्युत वह तो नित्य है। नित्यत्वके साथ व्यापकत्वका अविनाभाव सम्बन्ध है। ज्ञान नित्य होनेके कारण ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वकी हानि कदापि नहीं हो सकती। यदि ज्ञानको अनित्य मानें तो ब्रह्ममें असर्वज्ञता आ सकती है जैसे संसारी जीवोंमें देखी जाती है। परन्तु ज्ञानके नित्य होनेसे ब्रह्ममें अल्पज्ञता दोष भी नहीं है।

* शंका—यदि ज्ञानको नित्य मानें तो नित्य ज्ञानके प्रति ब्रह्म स्वतन्त्र नहीं होगा, इसके साथ 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' (जो सभीको जानता है वह सर्वज्ञ है) यह सर्वज्ञताकी सर्वमान्य

दर्शनात्। ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्, ननु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्मसंयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः। ❀ न; असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्। एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षत' (छान्दो० ६।२।३) इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति? तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति। यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादि-

उष्णता और प्रकाशसें युक्त सूर्यमें भी जलाता है प्रकाश करता है इसप्रकार स्वतन्त्र शब्द व्यवहार देखा जाता है। यदि कहो कि सूर्यका दाह्य तथा प्रकाश्य पदार्थोंके साथ संयोग होनेपर जलाता है प्रकाश करता है ऐसा व्यपदेश होता है, तो यहां जगत्‌की उत्पत्तिके पहले ब्रह्मके ज्ञानका कर्मके साथ संयोग (सम्बन्ध) ही नहीं है। इससे यह दृष्टान्त विषम है। यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि कर्मके न होनेपर अर्थात् कर्मके अविवक्षित होनेपर भी 'सूर्य प्रकाश करता है' जैसे सूर्यमें कर्तृत्व व्यपदेश हो सकता है, वैसे ही ज्ञानका कर्म न होनेपर भी 'तदैक्षत' इसप्रकार ब्रह्ममें कर्तृत्व व्यपदेश हो सकता है। इसलिए सूर्यके दृष्टान्तसे कोई वैषम्य नहीं है। कर्मकी अपेक्षामें तो ब्रह्ममें ईक्षण-कर्तृत्व प्रतिपादक श्रुतियां सुतरां उपपन्न हैं। यदि पूछो कि वह कर्म क्या है जो कि उत्पत्तिके पहले ईश्वरके ज्ञानका विषय होता है? हम कहते हैं—जो सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है और है तो अव्याकृत (अव्यक्त) परन्तु व्याकृत (अभिव्यक्त) करनेके लिए इष्ट है वह नाम, रू ही तो कर्म है। योग शास्त्रवेत्ता भी यही कहते हैं कि जिस ईश्वरके प्रसादसे ही योगी पुरुषोंको भं जब भूत और भविष्यत् विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो उस नित्य स्वयं सिद्ध ईश्वरका जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार विषयक ज्ञान नित्य हो, इस विषयमें तो फिर कहना ही क्या है। जो क

सत्यानन्दी दीपिका

व्युत्पत्ति है। यदि ब्रह्ममें ज्ञानकर्तृत्व मानें तो यह व्युत्पत्ति कैसे सिद्ध होगी? समाधान—यद्यपि शुद्ध प्रकाशस्वरूप ज्ञान नित्य है, तथापि जैसे नैयायिक आकाशको नित्य मानते हुए भी अनित्य घटादि उपाधिसे अनित्य मानते हैं, क्योंकि 'घटाकाशो जातः' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे तत्, तत् विषयक उपाधियोंसे युक्त होनेके कारण ब्रह्मस्वरूपसे उसमें भेदकी कल्पनाकर अनित्यत्वका गौण व्यवहार होता है। इसप्रकार अनित्यज्ञानके प्रति ब्रह्ममें कर्तृत्व व्यवहार हो सकता है। जैसे सदा ही उष्ण और प्रकाशरूप होनेपर भी सूर्यमें दाह और प्रकाशरूप क्रियाके प्रति कर्तृत्व व्यवहार होता है, ठीक वैसे ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्ममें भी 'तदैक्षत' यह ईक्षणरूप ज्ञानकर्तृत्व व्यवहार माना जाता है।

* इसप्रकार निरीश्वरवादी सांख्यके प्रति ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व सिद्धकर अत्र ईश्वरवादी पातञ्जल मतावलम्बियोंके प्रति ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व सिद्ध किया जाता है। पातञ्जल मतानुसार 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० सू० १।२४) (अविद्या, अस्मिता (अहंकार) राग-द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं, ये क्लेश-दुःख देते हैं, अतः क्लेश कहे जाते हैं, शुभ, अशुभ और मिश्रित भेदसे कर्म तीन प्रकारके हैं, विपाक-कर्मफल (जन्म, आयु और भोग), कर्म फलोंसे चित्त उत्पन्न वासना-संस्कार-आशय हैं, इन सभीसे असम्बधित संसारी पुरुषोंसे विलक्षण ईश्वर है) यह ईश्वरका लक्षण है। 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (यो० सू० १।२९) (ईश्वरके प्रणि

संबन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति; सवितृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः। अपि चाऽविद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य। मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वेता० ६।८) इति। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्' (श्वेता० ३।१९) इति च। ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणवानीश्वरादन्यः संसारी; 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति श्रुतेः। तत्र किमिदमुच्यते संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति ? अत्रोच्यते—सत्यम्; नेश्वरादन्यः संसारी, तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसंबन्ध इव व्योम्नः। तत्कृतश्च शब्दप्रत्ययव्यवहारो लोकस्य दृष्टो घटच्छिद्रं करकादि

काहा गया है कि उत्पत्तिके पहले शरीरादिके साथ सम्बन्धके विना ब्रह्ममें ईक्षणकर्तृत्व अनुपपन्न है। इस आक्षेपका अवकाश नहीं है, क्योंकि ब्रह्मका ज्ञानस्वरूप सूर्य प्रकाशके समान नित्य है, अतः उसे ज्ञानके लिए साधनोंकी अपेक्षा नहीं हो सकती, और अविद्यादि युक्त संसारी जीवको ज्ञानोत्पत्तिमें भले ही शरीरादिकी अपेक्षा हो, परन्तु ज्ञान प्रतिबंधक कारणोंसे रहित ईश्वरको ज्ञान होनेमें शरीरादिकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि 'न तस्य० (उस परमात्माके कार्य (शरीर), करण (नेत्रादि इन्द्रिय) नहीं है, उसके समान और उससे अधिक कोई देखनेमें नहीं आता। उस ईश्वरकी मायारूप पराशक्ति स्वभावसे ही ज्ञान, बल तथा क्रिया भेदसे विविध रूपसे श्रुतियोंमें प्रतिपादित है) तथा 'अपाणिपादो० (वह हाथ, पैरसे रहित होकर भी अतिवेगवान् और ग्रहण करनेवाला है, नेत्र रहित होकर भी देखता है और श्रोत्र रहित होकर भी सुनता है, वह सम्पूर्ण वेद्यवर्गको जानता है, किन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं उसको प्रथम पुरुष-पूर्ण और महान् कहते हैं) ये दो मन्त्र ईश्वरको शरीरादिकी अनपेक्षता और अनावरण ज्ञानता दिखलाते हैं। परन्तु तुम्हारे मतमें तो ईश्वरसे भिन्न ज्ञान प्रतिबन्धक कारणवाला कोई संसारी है ही नहीं, क्योंकि 'नान्यो० (उससे अन्य द्रष्टा नहीं है उससे अन्य विज्ञाता नहीं है) ऐसी श्रुति है। तो यह कैसे कहते हो कि जीवको ज्ञानोत्पत्तिमें शरीरादिकी अपेक्षा है और ईश्वरको नहीं ? इसपर कहा जाता है—यद्यपि यह सत्य है कि ईश्वरसे अन्य संसारी नहीं है, तो भी जैसे घट, करक (कमण्डलु), गिरि गुफा आदि उपाधियोंके साथ आकाशका सम्बन्ध है, वैसे ही देहादि संघात रूप उपाधिके साथ (ईश्वरका) सम्बन्ध इष्ट ही है। जैसे आकाशसे अभिन्न होनेपर भी उपाधि सम्बन्ध कृत घटाकाश, करकाकाश आदि शब्द व्यवहार और ज्ञान व्यवहार लोकमें देखा गया है और उपाधि सम्बन्ध कृत घटाकाशादि भेद रूप मिथ्या बुद्धि आकाशमें देखी गई है, वैसे ही यहाँ भी देहादि संघात रूप

सत्यानन्दी दीपिका

धानसे व्याधि आदि विघ्न निवृत्त हो जाते हैं और योगीको अन्तरात्माका दर्शन होता है) यह ईश्वर उपासनाका फल है। 'भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति ज्ञानवैराग्यादिना' (उपासना विशेषसे प्रसन्न हुआ ईश्वर उस योगीपर ज्ञान और वैराग्य आदिसे अनुग्रह करता है) इसप्रकार जब ईश्वर अनुग्रहसे योगीको इतना ज्ञान प्राप्त होता है तो ईश्वरके नित्यज्ञानमें शंकाका अवकाश ही कहाँ है ?

* शंका—प्रकाशमें अन्धकारके समान अखण्ड चिद्रूप आत्मामें जब अविद्यारूप अविवेक ही सिद्ध नहीं हो सकता, तो फिर अविद्याके अधीन संसारित्वकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? समाधान-

च्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि; तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्याबुद्धिर्दृष्टा। तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः। ❀ दृश्यते चात्मन एव सतो देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्याबुद्धिमात्रेण पूर्वेण। सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः। यदप्युक्तं प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम्। यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते, न प्रधानादीनां; तथा प्रपञ्चयिष्यति—'न विलक्षणत्वादस्य–' (ब्र० २।१।४) इत्येवमादिना ॥५॥

अत्राह—यदुक्तं नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणम्, ईक्षितृत्वश्रवणादिति, तदन्यथाप्युपपद्यते; अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात्। यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वदचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति। यथा लोके कश्चिच्चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा चापराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामीतीक्षित्वानन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि महदाद्यांकारेण नियमेन प्रवर्तते; यस्माच्चेतनवदुपचर्यते। कस्मात्पुनः कारणाद्विहाय मुख्य

उपाधिके साथ सम्बन्धके अविवेकसे उत्पन्न हुई ईश्वर और संसारीकी भेद रूप मिथ्या बुद्धि है। संघातसे अतिरिक्त आत्माका देहादि संघात रूप अनात्मपदार्थोंमें आत्मत्वका अभिनिवेश पूर्व पू मिथ्या बुद्धिसे ही देखा जाता है। और इस प्रकार संसारित्वके सिद्ध होनेपर संसारीमें देहादिकी अपेक्षा करनेवाला ईक्षितृत्व युक्त है। यह जो कहा गया है कि मृत्तिकादिके समान अनेकात्मक होनेसे प्रधान जगत्का कारण हो सकता है, परन्तु अकेला ब्रह्म नहीं, वह तो 'प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है' इस ही निराकृत हो गया। जिस प्रकार युक्तिसे ब्रह्म ही जगत्का कारण हो सकता है प्रधानादि नहीं, व सब 'न विलक्षणत्वादस्य' इत्यादि सूत्रोंद्वारा विस्तारपूर्वक कहेंगे ॥ ५ ॥

इसपर पूर्वपक्षी कहता है जो यह कहा गया है कि कारणमें ईक्षितृत्वका श्रवण होनेसे अचेत प्रधान जगत्का कारण नहीं है, वह अन्य प्रकारसे भी उपपन्न होता है, क्योंकि अचेतनमें भी गौ वृत्तिसे चेतनका-सा व्यवहार देखा जाता है। जैसे नदीका तट नीचेसे [मिट्टीके बह जानेके कारण टूटकर जल्दी गिरता देखकर [कोई कहे] तट गिरना चाहता है, तो यहाँ अचेतन तटमें जैसे चेतनक सा व्यवहार देखनेमें आता है, वैसे ही सृष्टि समीप होनेपर अचेतन प्रधानमें भी 'उसने ईक्षण कि इस प्रकार चेतनका-सा व्यवहार हो जायगा। अथवा लोकमें जैसे कोई पुरुष स्नानानन्तर भोजन अपराह्णमें रथसे ग्राम जाऊँगा, इस प्रकारका ईक्षणकर अनन्तर नियमसे वैसे ही प्रवृत्त होता है। वै ही प्रधान भी महद् आदिके आकारसे नियमतः प्रवृत्त (परिणत) होता है। इसलिए उसमें चेतनक सा उपचार किया जाता है। परन्तु प्रधानमें मुख्य ईक्षितृत्व (ईक्षण कर्तृत्व) का त्यागकर गौण

सत्यानन्दी दीपिका

पूर्व पूर्व अनुभव जन्य संस्कारोंद्वारा भ्रान्तिरूप मिथ्याबुद्धिसे देहादि अनात्मपदार्थोंमें 'मैं मनुष्य इत्यादि जो आत्मत्व अभिमान है वह अविद्यासे कल्पित है। सामान्य चेतनात्मा अविद्याका विरो नहीं, अपितु उसका पोषक है। जैसे सामान्य अग्नि वृक्षादिका पोषक है। विशेषरूपसे अभिव्यक्त अग्नि वृक्षादिका दाहक है, वैसे ही 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्तवाक्योंसे उत्पन्न चे प्रतिबिम्बित ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्ति (विद्या) अविद्याकी निवर्तिका है, इसलिए आत्मामें अवि रूप अविवेक सिद्ध है। इससे अविद्यामें प्रतिबिम्बत चेतन रूप जीव भी सिद्ध है। इस प्रकार ई अन्य संसारी सिद्ध होनेसे उसे ईक्षणके लिए देहादि साधनोंकी अपेक्षा है किन्तु ईश्वरको नहीं ॥ ५

मीक्षितृत्वमौपचारिकं कल्प्यते ? 'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' (छान्दो० ६।२।३,४) इति चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात्। तस्मात्सकर्तृकमपीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते, 'उपचारप्राये वचनात्' इति। एवं प्राप्त इदं सूत्रमारभ्यते—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

पदच्छेद—गौणः, चेत्, न, आत्मशब्दात्।

सूत्रार्थ—(गौणः) प्रधानमें ईक्षितृशब्द गौण है, (चेन्न) यदि ऐसा कहो तो यह युक्त नहीं है, (आत्मशब्दात्) क्योंकि 'एतदात्म्यम्' श्रुतिसे जगत् कारणमें आत्मशब्दका प्रयोग किया गया है। इसलिए चेतन ही जगत्का कारण है।

यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं, तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसोरिवेति। तदसत्; कस्मात् ? आत्मशब्दात्। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।१, ३) इति च तेजोऽबन्नानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितृ, तानि च तेजोऽबन्नानि, देवताशब्देन परामृश्याह—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छान्दो० ६।३।२) इति। तत्र यदि प्रधान-

कल्पना क्यों की जाती है ? यदि कहो कि 'तत्तेजो० (उस तेजने ईक्षण किया) 'ता आप० (उस जलने ईक्षण किया) इस प्रकार जैसे अचेतन तेज और जलमें चेतनके समान उपचार देखनेमें आता है, अतः सत्कर्तृक ईक्षण भी औपचारिक है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि उपचार प्रचुर प्रकरणमें उसका कथन है अर्थात् जिस प्रकरणमें बहुत स्थलोंमें गौण अर्थ माना जाता है उसी प्रकरणमें पठित होनेसे इसमें भी गौणईक्षण होना चाहिए। इसप्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर इस सूत्रका आरंभ किया जाता है—

जो यह कहा गया है कि अचेतन प्रधान सत् शब्द वाच्य है, उसमें जल और तेजके समान 'ईक्ष' धातुका प्रयोग औपचारिक है। वह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें आत्मशब्द है। जैसे 'सदेव सोम्य० (हे सोम्य ! आरम्भमें यह केवल सत् ही था) ऐसा आरम्भ कर 'तदैक्षत० (उसने ईक्षण किया, उसने तेज उत्पन्न किया) इसप्रकार तेज, जल और अन्नकी सृष्टि कहकर उस ईक्षिता प्रकृत सत्का तथा इन तेज, जल और अन्नका देवता शब्दसे परामर्श कर पुनः 'सेयं देवता० (उस सत् नाम वाले देवताने ईक्षण किया कि अब मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेशकर

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे अचेतन तेज और जलमें ईक्षण गौण है, वैसे ही अचेतन प्रधानमें भी ईक्षण गौण है। इस सांख्य मतका भगवान् सूत्रकार और भाष्यकार खण्डन करते हैं—'सेयं देवतैक्षत' इस श्रुतिमें ईक्षण कर्ताको 'अनेन जीवेनात्मना' इसप्रकार आत्मशब्दसे निर्देश किया गया है। और इसी श्रुतिमें जगत्की उत्पत्तिका ईक्षण करनेवाले सद्रूप ब्रह्मका तथा तेज, जल और अन्न (पृथिवी) का देवता शब्दसे ग्रहण किया गया है। 'सेयं देवतैक्षत०' इस श्रुतिमें देवता पदका दोबार निर्देश पाया जाता है 'सेयं देवता' और 'तिस्रो देवता' इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम देवता शब्दसे सद्रूप चैतन्य ब्रह्मका और दूसरे देवता शब्दसे अपंचीकृत तेज, जल और अन्नका ग्रहण है। सृष्टिके पहले अव्याकृत होनेके कारण ये तीनों अस्मदादिसे प्रत्यक्षके अयोग्य थे, अतः जगत्के कारणभूत सद्रूप चेतन देवताने संकल्प किया कि 'अनेन जीवेनात्मना० पूर्व सृष्टिका अनुभव करनेवाला स्वरूपभूत जीवात्मरूपसे मैं अव्याकृत तेज, जल और अन्न तीनोंमें अनुप्रवेशकर इनको अभिव्यक्त करूं। इन तीनोंमें जीवात्मरूपसे ब्रह्म देवताका वास होनेके कारण देवता शब्दका गौण प्रयोग किया गया है अथवा भोगके साधन होनेसे इनका देवताशब्दसे गौण निर्देश किया गया है।

मचेतनं गुणवृत्त्येक्षितृ कल्प्येत, तदेव प्रकृतत्वात्सेयं देवतेति परामृश्येत । न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात् । जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता; तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च । स कथमचेतनस्य प्रधानस्यात्मा भवेत् ? आत्मा हि नाम स्वरूपम् । नाचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति । अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते, तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते । तथा 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो० ६।१४।३) इत्यत्र 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति । अप्तेजसोस्तु विषयत्वादचेतनत्वं; नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव

नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) ऐसा कहा है । यदि इस ईक्षण वाक्यमें अचेतन प्रधानको गौण-वृत्तिसे ईक्षणकर्ता माना जाय तो प्रकृत होनेसे 'सेयं देवता' इस श्रुतिमें उसीका परामर्श होगा। ऐसा मानें तो 'सेयं देवता, अनेन जीवेनात्मना' वह देवता जीवका आत्मशब्दसे अभिधान नहीं करेगा । क्योंकि जीव चेतन शरीरका स्वामी और प्राणोंका धारण करने वाला है, यह अर्थ लोक प्रसिद्धि और व्युत्पत्तिके अनुसार है । वह चेतन जीव अचेतन प्रधानका आत्मा किस प्रकार होगा? आत्माका अर्थ स्वरूप है, अतः सुतरां चेतन जीव अचेतन प्रधानका स्वरूप नहीं हो सकता। यदि चेतन ब्रह्म मुख्य ईक्षिता ग्रहण किया जाय तो वहां उस (पर देवता) का जीवविषयक आत्मशब्द प्रयोग युक्त है । इसी प्रकार 'स य एषो० (जो यह सद्रूप है वह अतिसूक्ष्म है, एतद्रूप ही यह है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वह तू है) इस श्रुतिमें 'वह आत्मा है' इस प्रकृ सत्संज्ञक अतिसूक्ष्म आत्माका आत्मशब्दसे उपदेशकर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो० (हे श्वेतकेतु ! तू है) इसप्रकार श्रुति चेतन श्वेतकेतुको आत्मशब्दसे उपदेश करती है । जल और तेजमें विषय होनेसे अचेतनत्व है । नाम रूपकी सृष्टि आदि करनेमें [जल और तेजका] प्रयोज्यरूपसे निर्देश है

सत्यानन्दी दीपिका

* 'जीव प्राणधारणे' 'जीवति प्राणान्धारयतीति जीवः' (जीता है और प्राणोंको धार करता है वह जीव है) इस व्युत्पत्ति और लोक प्रसिद्धिके अनुसार जीव चेतन सिद्ध होता है । आत्म शब्दका अर्थ स्वरूप है, अतः यह स्पष्ट है कि चेतन जीव अचेतन प्रधानका स्वरूप नहीं हो सकता

* वेदान्त सिद्धान्तमें बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेद औपाधिक होनेसे कल्पित है । जैसे दर्प मुखका प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्बरूप मुखसे भिन्न नहीं है, क्योंकि उसकी पृथक् प्रतीति केवल दर्पण उपाधिकी विद्यमानतासे है, अतः औपाधिक होनेसे दोनोंका भेद कल्पित है, वैसे ही बिम्बरूप ब्रह्म अविद्या उपाधिमें प्रतिबिम्ब जीव है और माया उपाधिमें प्रतिबिम्ब ईश्वर है । इसलिए जीव ब्रह्म भेद औपाधिक होनेसे कल्पित है वास्तविक नहीं, अतः जीव सद्रूप ब्रह्मका आत्मा (स्वरूप) है कथन सर्वथा युक्त है । 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस श्रुतिमें 'स' शब्दके द्वारा उपक्रममें 'सदेव सो इस श्रुति वाक्यमें ईक्षण कर्ता सत्का परामर्श किया गया है और उसके लिए यह आत्मशब्द प्रयोग है, इस कारण सत् शब्दका अर्थ अचेतन प्रधान नहीं है प्रत्युत चेतन है । अतः 'तत्त्वम श्वेतकेतो' यह श्रुति चेतन श्वेतकेतुको सत् आत्मरूपसे उपदेश करती है । यदि यहां 'सत्' श प्रधानका ग्रहण किया जाय तो चेतन श्वेतकेतुको तू अचेतन प्रधानरूप है, ऐसा कहना होगा । यह युक्त नहीं है ।

* चेतन कर्तृक ईक्षणमें मुख्यत्वका साधक जैसे आत्मशब्द है, वैसे तेज और जल ईक्षणमें नहीं है, अतः दोनोंका ईक्षितृत्व गौण है । अथवा दोनोंका भी ईक्षितृत्व लक्षणा

निर्देशात् । नचात्मशब्दवत्किंचिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद्गौणत्वमीक्षितृत्वस्य । तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम् । सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥६॥

* अथोच्येत-अचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः; आत्मनः सर्वार्थकारित्वात्, यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति । प्रधानं हि पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वदुपकरोति, राज्ञ इव भृत्यः संधिविग्रहादिषु वर्तमानः । अथवैक एवात्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति; भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात् । यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलनविषयः । तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमिति—अत उत्तरं पठति—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—तन्निष्ठस्य, मोक्षोपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(तन्निष्ठस्य) सत्में निष्ठा रखनेवाले चेतन पुरुषके लिए ही 'अथ संपत्स्ये' श्रुतिने (मोक्षोपदेशात्) मोक्षका उपदेश किया है ।

* न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो० ६।८।७) चेतनस्य श्वेतकेतोर्मोक्षयितव्यस्य

आत्मशब्दके समान उन (जल और तेज) का मुख्य ईक्षितृत्व माननेमें कोई कारण नहीं है । जल और तेजका ईक्षितृत्व तो नदीतटके गिरनेकी इच्छाके समान गौण होना युक्त है । दोनोंका ईक्षितृत्व भी लक्षणावृत्तिसे सद्रूप अधिष्ठानकी अपेक्षासे ही है, और यह कहा गया है कि आत्मशब्दके प्रयोगके कारण सत्का ईक्षितृत्व गौण नहीं है ॥ ६ ॥

यदि कहो कि जैसे राजाके सब प्रयोजन सिद्ध करनेवाले सेवकमें 'भद्रसेन मेरा आत्मा है' इसप्रकार आत्मशब्दका प्रयोग होता है, वैसे अचेतन प्रधानमें भी आत्मशब्दका प्रयोग होता है, क्योंकि वह आत्माके सब प्रयोजन सिद्ध करता है । जैसे सन्धि (मेल), विग्रह (युद्ध) आदि कार्योंमें नियुक्त सेवक राजाका उपकार करता है, वैसे ही पुरुष-आत्माके लिए भोग और मोक्षका संपादन करता हुआ प्रधान भी आत्माका उपकार करता है । अथवा जैसे एक ही 'ज्योतिः' शब्द यज्ञ और अग्निमें प्रयुक्त होता है, वैसे एक ही आत्मशब्द चेतन और अचेतनमें प्रयुक्त होगा, क्योंकि 'भूतात्मा, इन्द्रियात्मा' ऐसे प्रयोग देखनेमें आते हैं । तो केवल आत्मशब्दके प्रयोगसे ईक्षति (ईक्ष् धातु) मुख्य है यह कैसे माना जाय ? इसका उत्तर कहते हैं—

अचेतन प्रधान आत्मशब्दका आलम्बन नहीं हो सकता, क्योंकि 'स आत्मा' (वह आत्मा है) इस प्रकार प्रकृत सूक्ष्म सत्को लेकर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' मोक्ष प्राप्त कराने योग्य चेतन श्वेतकेतुको

सत्यानन्दी दीपिका

सद्रूप अधिष्ठानकी अपेक्षासे है । इस कारण 'तदैक्षत' इत्यादि श्रुतियोंका मुख्य ईक्षणकर्तृ चेतन ब्रह्ममें ही तात्पर्य है, अतः चेतन ब्रह्म ही जगत्का कारण है अचेतन प्रधान नहीं, ॥ ६ ॥

* पूर्व पक्षीने राजा और सेवकका उदाहरण देकर प्रधानमें आत्मशब्द और तत्प्रयुक्त ईक्षण भी गौण सिद्ध किया है । परन्तु अब 'अथवा' इत्यादिसे प्रधानमें आत्मशब्द और ईक्षितृत्व दोनों मुख्य सिद्ध करता है ।

* पहले पूर्व पक्षीद्वारा अचेतन प्रधानमें गौण अथवा मुख्यरूपसे आत्मशब्दका प्रयोग सिद्ध करनेके लिए किया गया सारा प्रयास व्यर्थ है, इसे 'न' आदि भाष्यसे कहते हैं ।

तन्निष्ठामुपदिश्य ‘आचार्यवान्पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये’ (छान्दो०
६।१४।२) इति मोक्षोपदेशात् । यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राहयेन्मुमुक्षुं
चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति, तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्यप्रमाणं स्यात् । ननु
निर्दोषं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम् । यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्यु-
पदिशेत्प्रमाणभूतं शास्त्रं, स श्रद्दधानतयान्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्,
तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत् ।
❀ तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनोऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुपदिशति, तथा मुमुक्षोरपि ‘स आत्मा
तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ इति यथाभूतमेवात्मानमुपदिशतीति युक्तम । एवं च सति तप्तपरशुग्रहण-

‘तू सत्स्वरूप है’ इस प्रकार उपदेशकर ‘आचार्यवान्० (आचार्यवान् पुरुष ही सद्रूप ब्रह्मको जानता
है, उस आत्मनिष्ठ पुरुषके मुक्त होनेमें उतना ही विलम्ब है जब तक वह देह (सूक्ष्म देह) बन्धनसे
मुक्त नहीं होता उसके अनन्तर तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है) ऐसा मोक्षका उपदेश
किया है । यदि अचेतन प्रधान ही सत् शब्द वाच्य हो तो शास्त्र चेतन मुमुक्षुको ‘तदसि’ (वह तू है)
अर्थात् ‘तू अचेतन है’ यदि ऐसा ग्रहण करावे तो इस प्रकार विपरीत वादी शास्त्र पुरुषके अनर्थके
लिए होगा, इससे शास्त्र अप्रमाण हो जायगा । परन्तु इस तरह इस निर्दोष शास्त्रमें अप्रमाणत्व
कल्पना युक्त नहीं है । यदि प्रमाणभूत शास्त्र अज्ञ मुमुक्षुको ‘अचेतन अनात्म पदार्थको आत्मा है
ऐसा उपदेशकरे तो अन्धगोलाङ्गूलन्यायसे [शास्त्रोंमें] श्रद्धा रखनेवाला वह पुरुष इस उपदेश
अनात्म पदार्थोंमें हुई आत्मदृष्टिका कभी त्याग नहीं करेगा और अनात्मपदार्थोंसे भिन्न [शा
सिद्ध] आत्माको भी प्राप्त नहीं करेगा, इस तरहसे वह पुरुष अपने परम पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाय
और अनर्थको प्राप्त होगा । इस कारण स्वर्ग आदिकी कामना करनेवाले पुरुषको जैसे अग्निहोत्र आ
उपयुक्त साधनोंका शास्त्र उपदेश करता है, वैसे मुमुक्षुके लिए भी ‘स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतके
इस प्रकार यथार्थ आत्माका ही शास्त्र उपदेश करता है यह युक्त है । ऐसा होनेसे तपाये हुए फरसे

सत्यानन्दी दीपिका

❀ अब भगवान् भाष्यकार एक ऐसा स्पष्टीकरण उपस्थित करते हैं जिससे सुतरां यह निर्
किया जा सकता है कि आत्मशब्दसे प्रधानका कभी ग्रहण संभव नहीं । यह तो मानी हुई बात है
सांख्यमतमें प्रधान अचेतन है और आत्मशब्दका मुख्यार्थ चेतन है । फिर भी यदि सत् शब्द
वाच्यार्थ प्रधानको मानें तो ‘तत्त्वमसि’ इसमें ‘तत् पदसे अचेतन प्रधानका ही ग्रहण होगा, तब
चेतन मुमुक्षुको ‘त्वमचेतनोऽसि’ अर्थात् ‘अचेतन प्रधान तू है’ इस प्रकार विपरीत उपदेश करनेवा
शास्त्र अप्रमाण हो जायगा । और इस प्रकारके उपदेशसे अन्धगोलाङ्गूल न्यायके समान वह मुमु
अनर्थको ही प्राप्त होगा । ‘अन्धगोलाङ्गूलन्याय’ इस प्रकार है—बड़े जंगलमें मार्गके निकट अ
बन्धुके नगरमें जानेकी कामना करनेवाले एक अन्धेसे किसी दुष्टात्माने पूछा कि तुम यहाँ क्यों
हो ? तब उसने नगरमें जानेकी असामर्थ्य प्रकट की । उसे अधिक कष्ट देनेकी भावनासे उस दुष्टा
एक मस्त साँढ लाकर उसकी पूँछ हाथमें पकड़ाकर अन्धेको कहा कि यह बैल तुमको नगरमें पहुँ
देगा परन्तु तुम इसकी पूँछ छोड़ना नहीं । अन्धेने वैसा ही किया और महान् कष्टका अनुभव किया

* श्वेतकेतुको विशेष समझानेके लिए उद्दालकने ‘स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति’ (छा
६।१६।१) (इसने चोरीकी है, अतः इसके लिए फरसा तपाओ) यह दृष्टान्त कहा है । इसका ता
यह है—राजपुरुष किसी व्यक्तिको चोरीके सन्देहमें पकड़कर राजाके पास लाये । राजाने कहा

मोक्षदृष्टान्तेन सत्याभिसंधस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते। अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' (ऐ० आर० २।१।२।६) इतिवत्संपन्मात्रमिदमनित्यफलं स्यात्। तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत। तस्मान्न सदणिमन्यात्मशव्दस्य गौणत्वम्। भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशव्दो ममात्मा भद्रसेन इति। अपि च क्वचिद्गौणः शव्दो दृष्ट इति नैतावता शव्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या; सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। यत्तूक्तं–चेतनाचेतनयोः साधारण आत्मशव्दः क्रतु-ज्वलनयोरिव ज्योतिःशव्द इति,–तन्न; अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात्। तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशव्दश्चेतनत्वोपचाराद्भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च। साधारणत्वेऽप्यात्मशव्दस्य न प्रकरणमुपपदं वा किंचिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते। ॐ नचात्राचेतनस्य निश्चायकं किंचित्कारणमस्ति। प्रकृतं तु सदीक्षितृ, संनिहितश्चेतनः श्वेतकेतुः। नहि चेतनस्य श्वेतकेतोरचेतन आत्मा संभवतीत्यवोचाम। तस्माच्चेतनविषय इहात्मशव्द इति निश्चीयते।

पकड़नेसे [चोरीसे] मुक्त हुए पुरुषकी तरह सत्यमें निष्ठा रखनेवाले मुमुक्षुके लिए शास्त्रका मोक्षोपदेश भी उपपन्न है अन्यथा 'सदात्मतत्त्वोपदेशको गौण मानें तो 'अहमुक्थम० (मैं प्राण हूँ ऐसा जाने) इसके समान यह केवल संपद्रूप और अनित्य फल वाला होगा। और उससे मोक्षोपदेश उपपन्न नहीं होगा। इसलिए परम सूक्ष्म सत्में आत्मशब्द गौण नहीं है। 'भद्रसेन मेरा आत्मा है' यहाँ तो सेवकके लिए आत्मशब्द गौण है, यह युक्त है, क्योंकि यहाँ स्वामी और सेवकका भेद प्रत्यक्ष है। और यदि कहीं पर गौण शब्द देखा गया हो तो इतने मात्रसे शब्दके प्रामाणिक अर्थमें भी गौणत्वकी कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि इस तरहसे तो सर्वत्र शब्दार्थके सम्बन्धमें अविश्वास प्रसंग होगा। जो यह कहा गया है कि जैसे ज्योतिः शब्द याग और अग्निमें साधारण है, वैसे ही आत्मशब्द भी चेतन और अचेतनमें साधारण है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि एक शब्दके अनेक अर्थ मानना अनुचित है। इससे चेतन विषयक ही आत्मशब्द मुख्य है और जो भूतादिमें भूतात्मा, इन्द्रियात्मा इस प्रकार आत्मशब्दका प्रयोग होता है यह तो चेतनत्वके उपचारसे होता है। यदि आत्मशब्द चेतन और अचेतनमें साधारण मानें तो प्रकरण अथवा उपपद किसी एक निश्चायकके विना दोनोंमें से किस अर्थमें आत्मशब्द प्रयुक्त है, इसका निश्चय नहीं हो सकता। और यहाँ अचेतनका निश्चायक कोई हेतु नहीं है, प्रत्युत यहाँ प्रकृत ईक्षणकर्तृ सत्के सन्निकट चेतन श्वेतकेतु [पठित] है। अचेतन पदार्थ चेतन श्वेतकेतुका आत्मा (स्वरूप) नहीं हो सकता, ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए ऐसा निश्चय किया जाता है कि यहाँ आत्मशब्द चेतन विषयक ही है। ज्योतिः शब्द भी लौकिक प्रयोगसे प्रसिद्ध

सत्यानन्दी दीपिका

इसके हाथमें तप्त फरसा पकड़ा दो। यदि अचोर होगा तो इसका हाथ न जलेगा और मुक्त कर दिया जायगा अन्यथा दण्डित किया जायगा। वह व्यक्ति चोर नहीं था, अतः हाथमें तप्त फरसा पकड़ने पर हाथके न जलनेसे वह मुक्त कर दिया गया। इस प्रकार हे वत्स! इस सद्रूप ब्रह्ममें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जो सत्यवादी है वह संसार बन्धनसे मुक्त हो जाता है, अन्यथा नहीं। जीवका प्रधानके साथ यदि अभेद मानें तो वह संपद्रूप उपासना होनेसे निश्चित अनित्य फलवाला होगा, तब तो 'तस्य तावदेवचिरं' यह मोक्ष प्रतिपादक श्रुति बाधित होगी।

ॐ 'सदेव सोम्य' इस श्रुति वाक्यस्थ 'सत्' पदका तथा 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस श्रुतिस्थ 'तत्' पदका अर्थ जगत् कारण ईक्षण कर्ता चेतन है। जैसे उसमें आत्मत्वका निश्चायक 'सदेव सोम्य'

ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव रूढः, अर्थवादकल्पितेन तु ज्वलनसादृश्येन क्रतौ प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः। अथवा-पूर्वसूत्र एवात्मशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वशङ्कतया व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः-'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति। तस्मान्नाचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ७ ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ?

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

पदच्छेद—हेयत्वावचनात्, च।

सूत्रार्थ—प्रधानमें निष्ठा रखनेवाला न हो जाय, इससे निषेध वचन भी नहीं कहा गया है, अतः स्थूलारुन्धती न्यायसे भी प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है। (च) शब्द विरोध संग्रहार्थ है।

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छान्दो० ६।८।७) इतीहोपदिष्टं स्यात्, स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात्। यथाऽरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराममुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति, तद्वन्नायमात्मेति ब्रूयात्।

अग्निमें ही मुख्य है, परन्तु अर्थवादसे कल्पित अग्निके सादृश्यसे यागमें प्रवृत्त होता है, अतः य दृष्टान्त ठीक नहीं है। अथवा [गौणश्चेन्नात्मशब्दात्] इस पूर्व सूत्रमें ही आत्मशब्दका गौणत्व, साधारणत्व विषयक सब शङ्काओंका निराकरण कर व्याख्यान किया गया है। इसलिए 'तन्निष्ठस्य यह सूत्र प्रधान कारणवादके निराकरणार्थ स्वतन्त्र ही हेतु है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। इस अचेतन प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ७ ॥

प्रधान सत् शब्दका वाच्यार्थ क्यों नहीं है ?

यदि अनात्मा प्रधान ही सत् शब्द वाच्य हो तो 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस श्रुतिमें भी क उपदिष्ट होता, तब उस उपदेशको सुनकर अनात्मज्ञ होनेसे वह श्वेतकेतु कहीं अनात्मनिष्ठ न हो जाय इसलिए मुख्य आत्माके उपदेशकी इच्छा करनेवाले आचार्यको अनात्माकी हेयता कहनी चाहिए जैसे अरुन्धती ताराको दिखलानेकी इच्छा करनेवाला उसके समीपस्थ किसी एक अमुख्य स्थू ताराको 'यह अरुन्धती है' पहले ऐसा ग्रहण कराकर पश्चात् उसका निषेधकर मुख्य अरुन्धतीको दिखलाता है, वैसे ही यह (प्रधान) आत्मा नहीं है, ऐसा कहना चाहिए, परन्तु उसने ऐसा क नहीं, केवल सद्रूप आत्माकी ज्ञाननिष्ठा करानेमें ही छान्दोग्यके छठे अध्यायकी समाप्ति देखी जाती है

सत्यानन्दी दीपिका

यह प्रकरण और 'श्वेतकेतु' यह संनिहित पद है, वैसे आत्मशब्द प्रधानका वाचक है इसका निश्चा न प्रकरण है और न संनिहित पद ही, अतः अचेतन प्रधान चेतन श्वेतकेतुका स्वरूप कदापि नहीं सकता, इसलिए आत्मशब्द चेतन ब्रह्म विषयक है। आत्मशब्द प्रधानमें गौण है अथवा अनेका होनेसे ज्योतिः शब्दकी तरह चेतन और अचेतन दोनोंमें मुख्य है ? इस शंकाके समाधानमें सूत्रका आरम्भ ठीक नहीं है। क्योंकि 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इस पूर्व सूत्रमें ही आत्मशब्दमें गौ तथा अनेकार्थकत्व विषयक सभी शङ्काओंका निराकरण करना उचित था। इस अरुचिसे भग भाष्यकारने 'अथवा' इत्यादिसे पक्षान्तरका उल्लेख किया है ॥ ७ ॥

* "नामधेयं विकारोऽयं वाचा केवलमुच्यते। वस्तुतः कारणाद्भिन्नो नास्ति तस्मान्मृषैव सः ॥" (नाम मात्र विकार है, केवल वाणीसे कहा जाता है, वस्तुतः कारणसे भिन्न नहीं है, इससे

नचैवमवोचत्। सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि षष्ठप्रपाठकपरिसमाप्तिर्दृश्यते। ❀ चशब्दः प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थः। सत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोधः प्रसज्येत। कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्। 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। 'एवं सोम्य स आदेशो भवति' (छा० ६।१।१,२) इति वाक्योपक्रमे श्रवणात्। नच सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति; अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य। तस्मान्न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ८ ॥

कुतश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ?

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—श्रुति कहती है कि सुषुप्तिमें जीव सत् शब्द वाच्य ब्रह्ममें ही लीन होता है, अतः सत् शब्द वाच्य चेतन ब्रह्म है, अचेतन प्रधान नहीं।

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६।८।१)

च शब्द प्रतिज्ञामें विरोधका संग्रह दिखलानेके लिए है। यदि प्रधानको हेय भी कहा होता तो भी प्रतिज्ञाका विरोध प्रसक्त होता, क्योंकि कारणके विज्ञानसे ही सबका ज्ञान होता है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। कारण कि 'उत तमादेशम० (उद्दालक—हे श्वेतकेतु! क्या तुमने आचार्यसे आदेश पूछा है? जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूपसे ज्ञात हो जाता है। [यह सुनकर श्वेतकेतुने बीचमें पूछा] 'कथं० हे भगवन्! वह आदेश कैसा होता है? उद्दालक—हे सोम्य! जिस प्रकार घटादिके कारण भूत एक ही मृत्पिण्ड (मृत्तिकाके स्वरूप) के ज्ञानसे सारे मृन्मय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, विकार केवल वाणीके आश्रय भूत नाममात्र हैं सत्य तो केवल मृत्तिका ही है, 'एवं सोम्य०—हे सोम्य! इसका आदेश भी है) इस प्रकार वाक्यके उपक्रममें श्रुति है। सम्पूर्ण भोग्य पदार्थोंके कारण भूत सत् शब्द वाच्य प्रधानका हेयत्व अथवा अहेयत्वसे ज्ञान होनेपर भी भोक्तृवर्गका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि भोक्तृवर्ग प्रधानका विकार नहीं है, इसलिए प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ८ ॥

प्रधान सत् शब्द वाच्य क्यों नहीं है?

उसी सत् शब्द वाच्य कारणको प्रस्तुतकर श्रुति कहती है—'यत्रैतत्पुरुषः० (जिस सुषुप्ति अवस्थामें यह पुरुष स्वपिति—सोता है, ऐसा कहा जाता है उस समय हे सोम्य! वह सद्रूपके साथ

सत्यानन्दी दीपिका

मिथ्या है) कारणसे कार्यकी भिन्न सत्ता न होनेसे कारणके ज्ञानसे कार्यमात्रका ज्ञान होता है, अतः सबका अधिष्ठानत्वेन कारण होनेसे ब्रह्म ही सत्य है। मृत्तिकामें घटादिके समान यह दृश्यमान आकाशादि सारा प्रपञ्च ब्रह्ममें कल्पित है। सर्वाधिष्ठान ब्रह्मके ज्ञानसे कार्यमात्रका ज्ञान हो जाता है प्रधानके ज्ञानसे भोक्तृवर्गका ज्ञान न होनेसे प्रतिज्ञा बाधित होती है। ब्रह्मके ज्ञानसे भोक्तृवर्ग तथा भोग्यवर्ग सबका ज्ञान हो जाता है। क्योंकि यह सम्पूर्ण भोक्तृवर्ग, भोग्यवर्ग सद्रूप ब्रह्मसे अभिन्न है। इस प्रकार वेदान्तमें उक्त प्रतिज्ञा सर्वथा निर्दोष है, अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है ॥ ८ ॥

इति । एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति। स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः। अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं; प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात् । * मनःप्रचारोपाधिविशेषसंबन्धा दिन्द्रियार्थान्गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति। तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान्पश्यन्मनःशब्द वाच्यो भवति। स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति 'स्वं ह्यपीतो भवति' इत्युच्यते। * यथा हृदयशब्दनिर्वचनं श्रुत्या दर्शितम्—'स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमिति' (छा० ८।३।३) इति। यथा वाऽशनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूलं दर्शयति श्रुतिः 'आप एव तदशितं नयन्ते, तेज एव तत्पीतं नयते' (छा० ६।८।३,५) इति च, एवं स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवतीतीममर्थं

एक रूप हुआ रहता है अर्थात् वह अपने स्वरूपको ही प्राप्त हो जाता है। इसीसे उसे उस अवस्थामें 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं, क्योंकि वह अपनेमें ही लीन होता है) यह श्रुति भी पुरुषके स्वपिति (सो है) इस लोक प्रसिद्ध नामका निर्वचन करती है। श्रुतिमें स्वशब्दसे आत्मा कहा जाता है, जो प्र और सत् शब्द वाच्य है। उसमें जीव अपीत होता है अर्थात् लीन होता है ऐसा अर्थ है। अ पूर्वक 'इण्' गत्यर्थक धातुका लय अर्थ [व्याकरणमें] प्रसिद्ध है, क्योंकि प्रभव और अप्य दो शब्द उत्पत्ति और प्रलय अर्थमें प्रयुक्त हुए देखनेमें आते हैं। मनके प्रचार इन्द्रियों द्वारा अन्त करणका परिणाम वृत्तिरूप उपाधिविशेषके सम्बन्धसे विषयोंको ग्रहण करता हुआ उनके सा ऐक्यकी भ्रान्तिको प्राप्त हुआ [विश्वसंज्ञक] जीव जागता है। जाग्रत् अवस्थामें अनुभूत विषयों वासनासे युक्त होकर स्वप्नोंको देखता हुआ मन शब्दसे वाच्य होता है। दोनों उपाधियोंके लय हो पर सुषुप्ति अवस्थामें उपाधि जन्य विशेषके अभावसे वह स्व स्वरूपमें विलीन-सा होता है, अ अपने को ही प्राप्त हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। 'स वा एष० (वह यह आत्मा हृदयमें 'हृदि अयम्-हृदयम्' यह हृदय है। यही इसका निरुक्त (व्युत्पत्ति) है। इसीसे यह (आत्मा हृदय कहलाता है) इसप्रकार हृदय शब्दका निर्वचन जैसे श्रुतिसे दिखलाया गया है। तथा 'अ एव० 'तेज एव० (उस समय जल ही उस पुरुषके द्वारा भुक्त अन्नको द्रवीभूतकर ले जाता है अर्थ रसादि रूपमें परिणत कर देता है, उसके पीये हुए जलको तेज ही ले जाता है अर्थात् तेज ज शोषणकर उसे रक्त और प्राण रूपमें परिणत कर देता है) इसप्रकार जैसे 'अशनाया और उदन् शब्दोंकी प्रवृत्तिका मूल श्रुति दिखलाती है। वैसे ही सत् शब्द वाच्य स्वस्वरूपमें लीन होता है

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि 'स्वं ह्यपितो भवति' (अपनेमें ही लीन होता है) इस छान्दोग्य श्रुतिमें जी विलय कथन अयुक्त है, क्योंकि विलय तो उत्पत्तिमद्वस्तुका होता है नित्यका नहीं। जीव तो नि है। तो भी श्रुतिमें साक्षात् नित्य जीवका विलय नहीं कहा गया है, किन्तु अनित्य उपाधि कारणमें विलय होनेसे तदुपहित जीवका भी गौणरूपसे विलय कहा गया है। इसका स्पष्टीक करनेके लिए भगवान् भाष्यकार 'मनः प्रचार' इत्यादिसे जाग्रत् और स्वप्नावस्थाओंका वर्णन क हैं। नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा घट आदि आकारमें परिणत अन्तःकरणकी वृत्तिका नाम मनः प्रचार उन वृत्तिरूप उपाधियोंद्वारा स्थूल घट आदि विशेष पदार्थोंका आत्माके साथ कल्पित सम्ब होता है, इससे नेत्रादि इन्द्रियोंसे रूप आदि अर्थोंका अनुभव करता हुआ स्थूल देह रूप उपाधि साथ 'मैं मनुष्य हूँ' इसप्रकार ऐक्यरूप भ्रान्तिको प्राप्त हुआ आत्मा 'विश्व' नामक होकर जा

स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्शयति। नच चेतन आत्माऽचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत। यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात्स्वशब्देनैवोच्येत, एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत। श्रुत्यन्तरं च—'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृह० ४।३।२१) इति सुषुप्तावस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति। अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम् ॥ ९ ॥

कुतश्च न प्रधानं जगतः कारणम् ?

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—सभी वेदान्तोंमें कारण ज्ञान समान है। अतः चेतन ही जगत्का कारण है, प्रधान नहीं।

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत्क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं, क्वचिदचेतनं प्रधानं, क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत। नत्वेतदस्ति; समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः।' यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथाय-

इसी अर्थको श्रुति 'स्वपिति' शब्दके निर्वचनसे दिखलाती है। और इसप्रकार चेतन आत्मा अचेतन प्रधानको अभेदरूपसे प्राप्त नहीं होगा। यदि आत्मीय होनेके कारण प्रधानको ही स्वशब्दसे कहा जाय तो भी चेतन अचेतनमें लीन होता है, यह कथन विरुद्ध ही होगा। 'प्राज्ञेनात्मना० (प्राज्ञ आत्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हुआ यह पुरुष न किसी बाह्य वस्तुको और न किसी आन्तर वस्तुको ही जानता है, यह दूसरी श्रुति भी सुषुप्ति अवस्थामें चेतनमें जीवका लय दिखलाती है। अतः जिसमें सभी चेतनोंका लय होता है वही चेतन सत् शब्द वाच्य और जगत्का कारण है प्रधान नहीं ॥ ९ ॥

और किस कारणसे प्रधान जगत्का कारण नहीं है ?

तार्किक सिद्धान्तके समान यदि वेदान्तोंमें भी भिन्न-भिन्न कारण ज्ञान होता, कहीं चेतन ब्रह्म, कहीं अचेतन प्रधान और कहीं अन्य (परमाणु आदि) ही जगत्का कारण होता, तो कदाचित् प्रधान कारणवादके अनुरोधसे प्रधानके विषयमें 'ईक्षति' आदि श्रुतियोंकी कल्पना की जा सकती, परंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि सभी वेदान्तोंमें कारण ज्ञान समान ही है। 'यथाऽग्नेर्ज्वलतः० (जैसे प्रज्वलित अग्निसे निकली हुई चिनगारियाँ सभी दिशाओंमें फैलती हैं, वैसे ही इस आत्मासे सभी प्राण

सत्यानन्दी दीपिका

है। जाग्रत् अवस्थामें अनुभूत पदार्थोंके अनुरूप संस्कारों सहित मनसे युक्त होकर जीव अविद्याके परिणामात्मक स्वप्न पदार्थोंको देखता हुआ 'सोम्य तन्मनः' (हे सोम्य ! वह मन है) इसप्रकार श्रुति प्रतिपादित मन शब्दसे वाच्य होता है अर्थात् 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इसप्रकार मन रूप उपाधिके साथ ऐक्यरूप भ्रान्तिको प्राप्त हुआ आत्मा स्वप्नावस्थामें 'तैजस' नाम वाला होता है। सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल और सूक्ष्म दोनों उपाधियोंका कारणमें विलय होनेसे 'मैं मनुष्य हूँ, कर्ता भोक्ता हूँ' इत्यादि विशेष अभिमानके अभाव होनेके कारण केवल अविद्योपाधिक होकर जीव अपनेमें लीनकी तरह कहा जाता है। 'स्वंह्यपितो भवति' इसप्रकार लय गुणके योगसे प्राज्ञ आत्माका नाम 'स्वपिति' है।

* जैसे ये उक्त सारी व्युत्पत्तियां यथार्थ हैं, वैसे ही 'स्वमात्मानमपीतो भवतीति स्वपिति' यह व्युत्पत्ति भी यथार्थ है। यहां श्रुति स्व शब्दसे अचेतन प्रधानका ग्रहण नहीं करती अपितु आत्माका ही ग्रहण करती है ॥ ९ ॥

तनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ० ३।३) इति । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति । 'आत्मन एवेदं सर्वम्' (छा० ७।२६।१) इति । 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्र० ३।३) इति चात्मनः कारणत्वं दर्शयन्ति सर्वे वेदान्ताः । आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम । महच्च प्रामाण्यकारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं, चक्षुरादीनामिव रूपादिषु । अतो गतिसामान्यात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ॥ १०॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम् ?

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

पदच्छेद—श्रुतत्वात्, च ।

सूत्रार्थ—और 'स कारणम्' इसप्रकार श्रुतिमें स्व शब्दसे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्‌का कारण कहा गया है । अतः सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्‌का कारण है ।

❀ स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां—मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य—'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति । तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

(इन्द्रियाँ) यथा स्थान (गोलक) में प्रादुर्भूत होते हैं, प्राणोंसे तदुपकारक सूर्य आदि देवता प्र होते हैं, तदनन्तर देवोंसे लोक (इन्द्रियोंके रूप आदि विषय) उत्पन्न होते हैं) और 'तस्माद्वा (इस सद्रूप आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) 'आत्मत० (आत्मासे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ 'आत्मन० (आत्मासे प्राण उत्पन्न होता है) इस प्रकार सभी वेदान्त 'आत्मा कारण है' दिखलाते हैं । आत्मशब्द चेतन वाचक है यह हम कह चुके हैं । जैसे चक्षु आदि इन्द्रियोंमें आदि विषयक ज्ञान समान है, वैसे ही वेदान्त वाक्योंका चेतन कारणत्वमें जो समान ज्ञान है प्रामाण्य होनेमें महान् कारण है । इस कारण—वेदान्त वाक्योंसे चेतन कारणत्व अवगति सम होने कारण सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्‌का कारण है ॥ १०॥ ॥

और किस कारण सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्‌का कारण है ?

सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्‌का कारण है ऐसा स्वशब्द (ईश्वर वाचक शब्द) से ही श्रुति कहती क्योंकि श्वेताश्वेतरोंके मन्त्रोपनिषद्‌में सर्वज्ञ ईश्वरको प्रस्तुतकर 'स कारण० (वह सर्वज्ञ परमे सभी का कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता जीवका स्वामी है । उसका न कोई उत्पत्ति कर्ता है और कोई स्वामी है) ऐसा कहा गया है । इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्‌का कारण अचेतन प्रधान अथवा अन्य कोई नहीं ॥ ११ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि 'तदैक्षत' (उसने ईक्षण किया) इत्यादि श्रुतिसे कारणमें केवल ईक्षण मात्र प्र पादित है । सर्वज्ञत्व नहीं, तो भी ईक्षण कर्तामें अपना चेतन वाचक 'सर्ववित्' शब्द भी स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः । (वह विश्वका कर्ता, आत्मयोनि (स्व ज्ञाता, कालका प्रेरक, अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् और सभी विद्याओंका आश्रय और जो सर्ववित् 'यः सर्वज्ञःसर्ववित्' 'अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः' (मु २।१।९) (उस परमेश्वरसे ही सभी समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसीसे गङ्गा, सिन्धु विविध नदियाँ बहती हैं) इसप्रकार सभी उपनिषदोंमें यही सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ही जगत्‌का कारण है, जड़ प्रधान अथवा परमाणु आदि नहीं ; पूर्व पक्षमें जीवका प्रधानके अभेद मानकर उपासना करना फल है और सिद्धान्तमें ब्रह्म तथा प्रत्यगात्माका अभेद साक्षात्कार फल है ॥ ११ ॥

(६ आनन्दमयाधिकरणम् । सू० १२-१९)

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम्। गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम्—अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति। ❀ उच्यते,—द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृह० ४।५।१५) 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छान्दो० ७।२४।१) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' (श्वे० ६।१९) 'नेति नेति' (बृ०

'जन्माद्यस्ययतः' सूत्रसे लेकर 'श्रुतत्वाच्च' पर्यन्त सूत्रोंसे जो वेदान्त वाक्य उदाहृत किए गए हैं वे सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर जगत्के जन्म स्थिति और लयका कारण है इसी अर्थके प्रतिपादक हैं, यह बात युक्ति पूर्वक कही गई है। सभी वेदान्त वाक्योंमें कारण विषयक अवगति समान है, इस कथनसे सारे वेदान्त वाक्य चेतनवादी हैं, ऐसा व्याख्यान किया गया है, तो अग्रिम ग्रंथका आरम्भ क्यों किया जाता है? इसपर कहते हैं—नाम रूपात्मक विकार विशेष उपाधिसे युक्त और उससे विपरीत सभी उपाधियोंसे रहित, इसप्रकार ब्रह्मके दो रूप अवगत होते हैं। जैसे कि 'यत्र हि० (जहां-अविद्यावस्थामें द्वैत-सा होता है वहीं अन्य अन्यको देखता है किन्तु जहां-विद्यावस्थामें उस विद्वान्के लिए सब आत्मा ही हो गया तो उस समय किस करणसे किस विषयको कौन देखे) और 'यत्र० (सनत्कुमार—जहां व्यापक आनन्दस्वरूप आत्मामें स्थित हुआ विद्वान् अपनेसे भिन्न कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता वह भूमा-व्यापक ब्रह्म है और जहां अपनेसे भिन्न कुछ और देखता है कुछ और सुनता है, कुछ और जानता है वह अल्प-परिच्छिन्न है, जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य-मरणशील है) 'सर्वाणि० (जो परमेश्वर सब देव, मनुष्यादि शरीरोंको उत्पन्नकर यह देव है, यह मनुष्य है, इत्यादि नाम रखकर उन नामोंसे स्वयं व्यवहार करता है) 'निष्कलं० (कला रहित-अवयवरहित, निष्क्रिय, शान्त, रागादि दोष रहित, निर्लेप—पापादि रहित, अमृतत्वका उत्कृष्ट सेतु और जिसका ईन्धन जल चुका है उस धूम रहित

सत्यानन्दी दीपिका

❀ वेदान्त शास्त्रमें सगुण तथा निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक अनेक वाक्य देखनेमें आते हैं, उनमें कौन-से सगुणकी उपासना द्वारा निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित होते हैं और कौन-से साक्षात् निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित होते हैं। इस प्रकारकी जिज्ञासा अग्रिम ग्रन्थके आरम्भमें हेतु है। भगवान् भाष्यकारने सगुण और निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादक 'यत्रहि द्वैतमिव' 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं। माया उपाधि विशिष्ट सगुण ब्रह्म और दूसरा माया उपाधिसे रहित निर्गुण ब्रह्म इस प्रकार ब्रह्मके दो रूप हैं। यद्यपि ब्रह्म एक ही है फिर भी उपाधिके भाव और अभावके कारण ब्रह्मके दो रूप श्रुतियोंमें कहे गये हैं। इसलिए उपाधि सहित सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न परिच्छिन्न तथा मिथ्या है। क्योंकि उसकी उपाधि परिच्छिन्न तथा मिथ्या है, इससे उसे भी ऐसा ही कहा जाता है। इस प्रकार ब्रह्मके दो रूप माननेमें कोई विरोध नहीं है। 'निष्कलं' इस श्रुतिमें सेतु शब्द लौकिक सेतुके समान 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्योंसे उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्तिमें स्वयं स्थित या प्रतिबिम्बित ब्रह्म संसार सागरसे पार ले जाने (मोक्ष प्राप्ति) में एक मात्र साधन है।

२।३।६) इति 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) 'न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत्' इति चैवं
सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि। ❀ तत्राविद्या-
वस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद्ब्रह्मण उपासनान्य-
भ्युदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्ध्यर्थानि। तेषां गुणविशेषोपा-
धिभेदेन भेदः। एक एव तु परमात्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति,
तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः,
'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' (छा० ३।१४।१) इति च। स्मृतेश्च—'यं
यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥' (गी० ८।६)

अग्निके समान (देदीप्यमान) देवकी मैं शरण लेता हूँ)। 'नेति० (यह नहीं, यह नहीं, ऐसा)
'अस्थूलम० (जो न स्थूल है और न सूक्ष्म है) 'न्यून० (एक न्यून-अल्प स्थान है और दूसरा
सम्पूर्ण स्थान है अर्थात् सोपाधिक सगुण ब्रह्म अल्प और उपाधिरहित निर्गुण ब्रह्म पूर्ण-व्यापक है)
ऐसे सहस्र वाक्य विद्या और अविद्याके विषय भेदसे ब्रह्मके दो रूप दिखलाते हैं। उसमें अविद्या-
वस्थामें उपास्य उपासक आदि लक्षण सभी व्यवहार ब्रह्ममें होते हैं। उपासनाओंमें ब्रह्मकी कई ए
उपासनाएँ अभ्युदयके लिए हैं, कई एक (दहरादि) उपासनाएँ क्रममुक्तिके लिए हैं और कई ए
कर्मसमृद्धिके लिए हैं। गुणविशेषसे तथा उपाधिभेदसे उनका परस्पर भेद है। यद्यपि उन उ
गुण विशेषोंसे विशिष्ट एक ही ईश्वर परमात्मा उपास्य है, तथापि जिस गुणकी उपासना होती
तदनुसार भिन्न-भिन्न फल होते हैं, क्योंकि 'तं तथा० (उसकी जिस-जिस रूपसे उपासना करता
वैसे ही रूपको प्राप्त होता है) और 'यथा क्रतु० (इसलोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसे
यहाँसे मर कर जानेपर होता है) इस प्रकारकी श्रुति और 'यंयं० (हे कुन्ती पुत्र ! मनुष्य जिस-जि
भी भावका स्मरण करता हुआ अन्तकालमें शरीर छोड़ता है, उस भावकी भावनावाला वह पु
उस-उस भावको ही प्राप्त होता है) ऐसी स्मृति है। यद्यपि एक ही आत्मा जड़ और चेतन ध

सत्यानन्दी दीपिका

❀ अत्र भगवान् भाष्यकार 'तत्र' इत्यादिसे अविद्या विषयक विचार करते हैं—निर्गुण ब्रह्मके
ज्ञानके लिए कल्पित प्रपञ्चका आश्रयकर उसके बाध होनेसे पहले 'गुड़जिह्वान्याय'से तत् तत् फलके
लिए उपासनाओंका विधान किया गया है। उनका भी चित्तकी एकाग्रता द्वारा ब्रह्मज्ञान ही मुख
फल है, इसलिए इनका भी महातात्पर्य ब्रह्ममें ही है। उपासनाओंका अवान्तर फल इस प्रकार है—
'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।१।५) (जो कोई उपासक 'नाम' ब्रह्म है, ऐसी उपासना कर
है, उसको जहाँ तक नामका विषय है वहाँ तक यथेष्ट कामाचार रूप फल प्राप्त करता है) इस प्रकार
प्रतीकोपासनाओंका फल अभ्युदय है। दहरादि उपासनाओंका फल क्रममुक्ति है अर्थात् दहर उपासना
बलसे ब्रह्मलोकमें पहुंच कर वहाँ ब्रह्माद्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर मुक्त हो जाता है। इस उपासनाका वि
विवरण (ब्र० सू० १।३।१४) में द्रष्टव्य है। 'उद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) (उद्गीथके अव
भूत वर्णात्मक ॐ (ओंकार) की उपासना करे) इस प्रकार उद्गीथादि उपासनाओंका फल क
समृद्धि है। विधेय होनेसे इन उपासनाओंका विधान यद्यपि कर्मकाण्डमें ही उपयुक्त था, फिर
उपासना (ध्यान) मानसिक है और ज्ञानका अन्तरङ्ग साधन है, इसलिए उनका ज्ञानकाण्ड
विधान किया गया है। यद्यपि परमेश्वर एक है तथापि सत्यकामादि गुण अनेक हैं, ध्यान करने यो
हृदय, आदित्य आदि उपाधियाँ-स्थान अनेक हैं। इस तरह उपाधियोंके भेदसे उपहित भी भिन्न-भि
होता है, अतः जिस जिस गुण सहित परमेश्वरका जिस जिस उपाधिरूप स्थानमें ध्यान किया ज
है, उस उस गुण तथा उस उस उपाधिके भेदसे उपास्यका भेद, उपास्यभेदसे उपासनाका भे

इति। ❀ यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढः, तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते - 'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' (ऐ० आ० २।३।२।१) इत्यत्र। स्मृतावपि—'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥' (गी० १०।४१) इति यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते। एवमिहाप्यादित्यमण्डले हिरण्मयः पुरुषः सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति वक्ष्यति। एवं 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यादिषु द्रष्टव्यम्। एवं सद्योमुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिसंबन्धविशेषं परापरविषयत्वेन संदिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति। तथेहैव तावत् 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति। एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते। यच्च 'गतिसामान्यात्' इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तं, तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्मविषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

भूतोंमें गूढ (छिपा हुआ) है, तथापि चित्तरूपी उपाधिविशेषके तारतम्यसे उत्तरोत्तर अभिव्यक्त, कूटस्थ नित्य एकरूप आत्माका ऐश्वर्य शक्तिविशेषसे तारतम्य 'तस्य० (उस उक्थरूप पुरुषके शरीरमें वर्तमान चिद्रूप आत्माको जो पुरुष अतिशय जानता है—उपासना करता है) इस श्रुतिमें सुना जाता है। और 'यद्यद्० (इसलिए हे अर्जुन! जो जो ऐश्वर्य शाली कान्तियुक्त एवं उत्कृष्ट वस्तु है उस उसको तुम मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान) इस प्रकार स्मृतिमें भी है। जहाँ जहाँ विभूति आदिका अतिशय है वह वह ईश्वर है, इस प्रकार उसका उपास्यरूपसे विधान किया जाता है। इस प्रकार यहाँ (सूत्रमें) भी आदित्यमण्डलमें हिरण्मय पुरुष है वह सब पापोंसे रहित होनेके कारण परमात्मा ही है, ऐसा (ब्र० सू० १।१।२०) सूत्रमें कहेंगे। इस प्रकार (ब्र० सू० १।१।२२) इत्यादि सूत्रोंमें भी समझना चाहिए। इस प्रकार विदेह मुक्तिका कारण आत्मज्ञान भी उपाधि विशेष द्वारा उपदिश्यमान होनेपर भी और उपाधि सम्बन्ध विशेष विवक्षित न होनेसे पर विषयक है अथवा अपर विषयक है ऐसा संदेह होता है, अतः तात्पर्यका पर्यालोचनकर उसका निर्णय करना चाहिए। जैसे कि यहीं 'आनन्दमयोऽभ्यासात' सूत्रमें किया है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म उपाधि सम्बन्धकी अपेक्षा उपास्यरूपसे और उपाधि सम्बन्ध रहित ज्ञेयरूपसे वेदान्त वाक्योंमें उपदिष्ट है, यह दिखलानेके लिए अग्रिम ग्रन्थका आरम्भ किया जाता है। 'गतिसामान्यात' वेदान्त वाक्योंसे ब्रह्म कारणविषयक ज्ञान समान होनेसे अचेतन कारणका जो निराकरण कहा गया है, उसका भी ब्रह्म विषयक अन्य वाक्योंका व्याख्यान करनेकी इच्छावाले सूत्रकार ब्रह्मसे भिन्न कारणके निषेधसे विस्तार करेंगे—

सत्यानन्दी दीपिका

उपासना भेदसे फलका भेद होता है। इस विषयमें श्रुति और स्मृति भी उद्धृत किये गये हैं। लोग राजाकी उपासनाकी तरह परमात्माकी जिस जिस रूपसे उपासना करते हैं उस उस रूपको प्राप्त करना ही उनके लिए फल होता है।

❀ बुद्धि आदि उपाधिकी शुद्धिके तारतम्यसे ऐश्वर्य, ज्ञान आदिका तारतम्य विशेष होता है। इस भेदसे एक रूप आत्माका मनुष्य आदिसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त उत्तरोत्तर ऐश्वर्यादिके उत्कर्षका आविर्भाव सुना जाता है। उपास्य उपासक भावमें भी अल्प उपाधिवाला-आत्मा उपासक और उत्कृष्ट उपाधिवाला आत्मा उपास्य है। इस तरह उपाधिको लेकर यह सारा तारतम्य है। 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत' यहाँ आदित्य आदि भी जीवरूपसे उपास्य नहीं हैं किन्तु ईश्वररूपसे उपास्य हैं, इसमें भगवान् भाष्यकार 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादिसे भगवान् सूत्रकारकी सम्मत्ति देते हैं कि इस सूत्रमें आकाश शब्दसे भी परमेश्वरका ही ग्रहण किया गया है।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—आनन्दमयः, अभ्यासात् ।

सूत्रार्थ—(आनन्दमयः) 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इस श्रुतिमें आनन्दमय परमा ही है जीव नहीं, (अभ्यासात्) क्योंकि आनंद शब्दका ब्रह्मके लिए अनेक वार अभ्यास देखा गया है

❀ तैत्तिरीयकेऽन्नमयं, प्राणमयं, मनोमयं, विज्ञानमयं, चानुक्रम्याम्नायते—'तस्मा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) इति । तत्र संशयः–किमिहा नन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते यत्प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति किंवाऽन्नमयादिवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति । किं तावत्प्राप्तं ? ❀ ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुख्य आत्मानन्दमयः स्यात् । कस्मात् ? अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वात् । अथापि स्यात्स र्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवात्मेति; न स्यात्प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च मुख्यश्चेदात्मानन्दमयः स्यात्, न प्रियादिसंस्पर्शः स्यात् । इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते । शारीरत्वं च श्रूयते—'तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य' इति । तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शारीर आत्मा य एष आनन्दमय इत्यर्थः । नच सशरीरस्य सतः प्रिया प्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः । तस्मात्संसार्येवानन्दमय आत्मेत्येवं प्राप्ते ❀ इदमुच्यते—

तैत्तिरीयक उपनिषद्में क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमयका आत्मरू उपक्रमकर 'तस्माद्वा० (उस 'विज्ञानमयसे भिन्न उसके अन्तर आत्मा आनन्दमय है) ऐसा श्रु कहती है । इससे सन्देह होता है कि क्या यहाँ आनन्दमय शब्दसे परब्रह्म ही कहा जाता है, जो 'स ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार प्रकृत है अथवा अन्नमयादिके समान ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ ? तब क्या प्रा होता है ? पूर्वपक्षी-आनन्दमय ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ अमुख्य आत्मा होना चाहिए, क्योंकि अन्नमया अमुख्य आत्माके प्रवाह (परम्परा) में पठित है । परन्तु सर्वान्तर होनेसे आनन्दमय मुख्य आत्मा होना चाहिए ? ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि उसमें प्रिय आदि अवयवोंका योग तथा शारीरत्व श्रवण है । आनन्दमय यदि मुख्य आत्मा होता तो उससे प्रियादिका सम्बन्ध न होता । परन्तु यहाँ 'तस्य० (उसका प्रिय ही शिर है) इत्यादि श्रुति है । और 'तस्यैष० (यह जो आनन्दमय है व उस पूर्वका शारीर आत्मा है) यह शारीरत्वकी श्रुति है । उस पूर्व विज्ञानमयका यही शारीर आत्मा जो यह आनन्दमय है, ऐसा अर्थ है । सशरीर होनेपर प्रिय और अप्रियके सम्बन्धका निवारण न किया जा सकता, इसलिए आनन्दमय संसारी जीवात्मा है । इस प्रकार प्राप्त होनेपर उसके लि

सत्यानन्दी दीपिका

✱ 'तस्माद्वा' यह तैत्तिरीयक वाक्य इस अधिकरणका विषय है । इस उपनिषद्में प्रतिपा विज्ञानमयसे भिन्न उसके अन्तर आनन्दमय आत्मा है अर्थात् अज्ञानी पुरुषोंकी अन्नमयादि को जो आत्मबुद्धि है उसे पूर्व पूर्व कोशोंसे हटाती हुई अन्तमें विज्ञानमय कोशमें से आत्मबुद्धिका नि करण करती हुई श्रुति आनन्दमयमें आत्मबुद्धि कराती है । यहाँ अन्नका विकार प्रसिद्ध यह स्थूल श अन्नमय है । समष्टि प्राण, मन और बुद्धि हिरण्यगर्भ रूप हैं व्यष्टि प्राण, मन तथा बुद्धि क प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कहे जाते हैं । जो विम्ब चैतन्य आनन्द रूप ईश्वर है उ प्रतिविम्ब जीव आनन्दमय है । इस प्रकार क्रमसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आनन्दमय पाँच कोश कहे जाते हैं । अब यहाँ 'किमिह' से संशय उपस्थित करते हैं ।

✱ यहाँ वृत्तिकारके मतानुसार आनन्दमय ही ब्रह्म है, पहले इसपर विचार किया जाता आनन्दशब्दसे 'मयट्' प्रत्यय होकर आनन्दमय शब्द सिद्ध हुआ है । 'मयट्' प्रत्ययका अर्थ वि

'आनन्दमयोऽभ्यासात् ।' पर एवात्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति । कुतः ? अभ्यासात् । परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते । आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' (तै० २।६) इति तस्यैव रसत्वमुक्त्वोच्यते—'रसँ् ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति' (तै० २।७) 'सैषानन्दस्य मीमाँ्सा भवति', 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' (तैत्ति० २।८,९) इति । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तैत्ति० ३।६) इति च । श्रुत्यन्तरे च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः । एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते । ❀ यत्तूक्तमन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति, नासौ दोषः; आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् ।

करणार्थ 'आनन्दमयो० यह सूत्र कहा जाता है। परमात्मा ही आनन्दमय हो सकता है। क्योंकि उसमें उसका अभ्यास है। परमात्मामें ही आनन्द शब्दका वार-वार अभ्यास है। आनन्दमयको प्रस्तुत कर 'रसोवै० (निश्चय वह आनन्द है) इस प्रकार उसीका रसत्व कहकर 'रसँ् ह्येवायं० (यह पुरुष रसको प्राप्त कर ही आनन्द युक्त होता है) 'को ह्येवान्यात्कः० (यदि आकाश-हृदयाकाशमें स्थित यह आनन्दरूप आत्मा न होता तो कौन व्यक्ति अपान व्यापार (निःश्वास) करता और कौन प्राण व्यापार (उच्छ्वास) करता, अतः यह आत्मा ही सबको आनन्दित करता है) 'सैषा० (यह आनन्दका विचार होता है) 'एतम० (विद्वान् उस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है) 'आनन्दं ब्रह्मणो० (ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भयभीत नहीं होता) 'आनन्दो० (आनन्द ब्रह्म है, ऐसा भृगुने जाना) ऐसा श्रुति कहती है। 'विज्ञानम० (विज्ञान आनन्द ब्रह्म है) इसप्रकार अन्य श्रुतिमें भी ब्रह्ममें ही आनन्द शब्द देखा गया है। इस तरह आनन्द शब्दका ब्रह्ममें बहुत वार अभ्यास होनेसे आनन्दमय आत्मा ब्रह्म है ऐसा ज्ञात होता है। जो यह कहा गया है कि अन्नमयादि अमुख्य आत्माके प्रवाहमें पठित होनेसे आनन्दमय भी अमुख्य आत्मा है। यह दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमय सबके आन्तर है। मुख्य आत्माका ही उपदेश

सत्यानन्दी दीपिका

तथा प्राचुर्य (बहुत) है। गत ईक्षिति अधिकरणमें गौण और मुख्य ईक्षण दोनोंके तुल्य न होनेसे संशय नहीं होता, क्योंकि गौण प्राय पाठ निश्चायक नहीं होता। परन्तु यहाँ 'आनन्दमय' में तो मयट् प्रत्यय विकार और प्राचुर्य दोनोंमें मुख्य होनेसे संशय होनेपर अन्नमयादि विकारोंके प्रवाहमें आनन्दमयका पाठ होनेसे यह निश्चय होता है कि आनन्दका विकार जीव आनन्दमय है। इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे 'किं तावत्' से पूर्वपक्ष करते हैं। अब पूर्वपक्षी पर कोई शङ्का करते हैं—सर्वान्तर होनेसे आनन्दमय मुख्य आत्मा ही है। पूर्वपक्षी 'न स्यात्' आदिसे कहता है।

* यहां आनन्दमय शब्दसे परमात्माका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसमें अनेक वार आनन्द शब्दका प्रयोग किया गया है। यद्यपि आनन्दशब्द वार वार ब्रह्ममें प्रयुक्त है तो इससे आनन्दमय शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं हो सकता है तो भी 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' जैसे यहां ज्योतिष्टोमके प्रकरणमें पठित 'ज्योतिः' शब्दका अर्थ ज्योतिष्टोम है, वैसे ही आनन्दमयके प्रकरणमें पठित आनन्दपद भी आनन्दमयका वाचक है, इसलिए आनन्दशब्दका अभ्यास आनन्दमयमें ब्रह्मत्वका साधक है।

❀ 'आनन्दमयः मुख्यात्माभवितुमर्हति सर्वान्तरत्वात यन्नैवं तन्नैवं यथा अन्नमयादि' 'आनन्दमय मुख्य आत्मा हो सकता है, क्योंकि वह सर्वान्तर है, जो सर्वान्तर नहीं है वह आत्मा नहीं हो सकता जैसे अन्नमयादि।' इस अनुमान से भी आनन्दमय मुख्य आत्मा सिद्ध होता है ॥२१॥

मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत्, अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्त-
मूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं
पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत्, प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरं
मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम्। यथारुन्धतीनिदर्शने बह्वीष्वपि तारास्व-
मुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु याऽन्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धती भवति, एवमिहाप्यानन्द-
मयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम्। यत्तु ब्रूषे, प्रियादीनां शिरस्त्वादिकल्पनाऽनुपपन्ना
मुख्यस्यात्मन इति, अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा, न स्वाभाविकीत्यदोषः। शारीरत्वमप्या-
नन्दमयस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुनः साक्षादेव शारीरत्वं संसारि-
वत्, तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १२ ॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

पदच्छेद—विकारशब्दात्, न, इति, चेत्, न, प्राचुर्यात्।

सूत्रार्थ—(विकारशब्दात्, मयट् प्रत्यय विकारार्थका वाचक है, अतः (न) ब्रह्म आनन्दमय शब्दका अर्थ नहीं है। (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो यह ठीक नहीं है, (प्राचुर्यात्) कारण कि प्राचुर्यार्थमें मयट् प्रत्ययका विधान है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

* अत्राह—नानन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति। कस्मात्? विकारशब्दात्। प्रकृतिवचनादयमन्यः शब्दो विकारवचनः समधिगतः, आनन्दमय इति मयटो विकारार्थ-त्वात्। तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवानन्दमयशब्द इति चेत्, न; प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः स्मरणात्। 'तत्प्रकृतवचनेमयट्' (पा० ५।४।२१) इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते।

करनेकी इच्छावाले शास्त्रने, लोकबुद्धिका अनुसरण कर अत्यन्त मूढ पुरुषोंमें आत्मरूपसे प्रसि
अनात्मा अन्नमय शरीरका अनुवादकर सांचेमें ढाले हुए द्रवीभूत ताम्बे आदिकी प्रतिमाके समा
उसके अभ्यन्तर, उसके अभ्यन्तर इसप्रकार पूर्व पूर्वके समान उत्तर, उत्तर अनात्माका आत्म-
रूपसे ग्रहण कराके अनन्तर ज्ञान सौकर्यकी अपेक्षा सबके अन्तर मुख्य आनन्दमय आत्माका उपदे
किया है, यह सर्वथा युक्त है। जैसे अरुन्धती दृष्टान्तमें बहुत अमुख्य ताराओं (नक्षत्रों) को अरुन्ध
रूपसे दिखलाए जानेपर जो अन्तका तारा दिखलाया जाता है वह मुख्य अरुन्धती ही होता है, वै
ही यहां आनन्दमय सबके अन्तर होनेके कारण मुख्य आत्मा ही है। किन्तु यह जो कहते हो कि
मुख्य आत्माके प्रियादिमें शिरस्त्वादिकी कल्पना अयुक्त है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमय
पूर्व एवं मनोमयके पश्चात् विज्ञानमय उपाधिसे वह कल्पना उत्पन्न हुई है स्वाभाविक नहीं है
आनन्दमयका शारीरत्व भी अन्नमयादि शरीर परम्परासे दिखलाया गया है। संसारीके समा
साक्षात् शारीरत्व नहीं है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १२ ॥

यहां पूर्वपक्षी कहता है कि आनन्दमय परमात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि यहां विकार वाच 'मयट्' प्रत्ययका प्रयोग किया गया है, इसलिए प्रकृति वचन आनन्दसे भिन्न यह शब्द विकार वाच जाना गया है, कारण कि 'आनन्दमय' इसमें मयट् विकारार्थक है। अतः अन्नमयादि शब्दके समा आनन्दमय शब्द भी विकारार्थक ही है। ऐसा यदि कहो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचुर्या भी 'मयट्' का प्रयोग होता है। 'तत्प्रकृत० (प्राचुर्यसे प्रस्तुत जो प्रकृत तद्वाचक शब्दसे मयट् प्र

सत्यानन्दी-दीपिका

* 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याऽऽच्छादनयोः' (पा० ४।३।१४३) इस सूत्रसे प्रकृति मा विकार और अवयवके अर्थमें मयट् प्रत्ययका विकल्पसे विधान किया गया है। अतः इस सू

यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्नप्रचुर उच्यते, एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमय उच्यते। आनन्दप्रचुरत्वं च ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयत्वावधारणात्। तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट्॥ १३॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पदच्छेद—तद्धेतुव्यपदेशात्, च।

सूत्रार्थ—'एष ह्येवानन्दयाति' इस श्रुतिमें सब जीवोंके आनन्दके प्रति ब्रह्म ही कारण कहा गया है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

इतश्च प्राचुर्यार्थे मयट्। यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—'एष ह्येवानन्दयाति' इति। आनन्दयतीत्यर्थः। यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धं भवति। यथा लोके योऽन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुरधन इति गम्यते, तद्वत्। तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः संभवादानंदमयः पर एवात्मा ॥ १४ ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

पदच्छेद—मान्त्रवर्णिकम्, एव, च, गीयते।

सूत्रार्थ—(मान्त्रवर्णिकमेव च) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्रमें निर्धारित ब्रह्मका ही (गीयते) 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इस ब्राह्मण वाक्यमें कथन है, क्योंकि वही प्रकृत है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

❀ इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। यस्मात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युपक्रम्य 'सत्यं

होता है) इस सूत्रसे प्राचुर्यार्थमें भी मयट् प्रत्यय होता है। जैसे अन्न प्रचुर याग अन्नमय यज्ञ कहलाता है, वैसे ही आनन्द प्रचुर होनेसे ब्रह्म आनन्दमय कहा जाता है। मनुष्यसे लेकर उत्तरोत्तर स्थानमें सौ सौगुना आनन्द है यह कहकर ब्रह्मानन्द निरतिशय है ऐसा निश्चय होनेसे ब्रह्म आनन्दप्रचुर है। इस कारण प्राचुर्यार्थमें मयट् प्रत्यय है ॥ १३ ॥

और इसकारण भी मयट् प्रचुर अर्थमें है, क्योंकि 'एष ह्येवानन्दयाति' (निश्चय यही आनन्द देता है) यह श्रुति ब्रह्मको आनन्दका हेतु कहती है। आनन्दयाति अर्थात् आनन्दयति-आनन्द देता है ऐसा अर्थ है। जो अन्योंको आनन्द देता है वह प्रचुर आनन्द है यह प्रसिद्ध है। जैसे लोकमें जो अन्य निर्धन पुरुषोंको धनी बना देता है वह प्रचुरधन युक्त है, ऐसा ज्ञात होता है। इसकारण प्राचुर्यार्थमें भी मयट्का प्रयोग संभव है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १४ ॥

और इस कारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है, क्योंकि 'ब्रह्मविदा० (ब्रह्मवित् परब्रह्मको

सत्यानन्दी दीपिका

अभिप्रायसे पूर्वपक्षी 'आनन्दस्य विकारः' ऐसा विग्रहकर कहता है कि यह मयट् प्रत्यय विकारार्थक है। इसलिए आनन्दके विकार जीवात्माका यहां ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्प्रकृत' इस पाणिनीय सूत्रसे प्राचुर्य अर्थमें भी मयट्का विधान है। अतः आनन्द प्रचुर होनेसे ब्रह्म आनन्द प्रचुर कहा जाता है। परन्तु यहां दुःख लवको लेकर आनन्द प्राचुर्य नहीं कहा गया है, किन्तु सुख लवको लेकर, क्योंकि 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' (तैत्ति० २।८।१) 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दः' (तैत्ति० २।८।४) (पूर्वोक्त आनन्दसे प्रजापतिके जो सौ आनन्द है, वह ब्रह्माका एक आनन्द है) इसप्रकार तैत्तिरीय श्रुतिने मनुष्यसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त क्रमशः सौ सौगुना उत्तरोत्तर आनन्दको कहकर ब्रह्म निरतिशय आनन्द हैं ऐसा कहा है, इसलिए यहां प्रचुर अर्थमें ही मयट् प्रत्ययका प्रयोग है ॥ १३ ॥

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे यत्प्रकृतं ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारितम्, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थितं सर्वान्तरं, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्माऽन्योऽन्तर आत्मा' इति प्रक्रांतं, तन्मान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० २।५) इति। मन्त्र ब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तम्; अविरोधात्। अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम्। न चान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माऽभिधीयते। एतन्निष्ठैव च 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या' (तै० ३।६) तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १५ ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

पदच्छेद—न, इतरः, अनुपपत्तेः।

सूत्रार्थ—(इतरः) जीव (न) आनन्दमय नहीं है, (अनुपपत्तेः) क्योंकि 'सोऽकामयत' इसप्रकार सृष्टिसे पहले श्रूयमाण कामयितृत्व आदि धर्मोंकी उसमें उपपत्ति नहीं है। अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते– 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदँ सर्वमसृजत। यदि किञ्च' (तै० २।६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं, सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥ १६ ॥

प्राप्त होता है) ऐसा आरम्भकर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्रमें सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषणोंसे जो प्रकृत ब्रह्म निर्धारित है, जिससे आकाशदि क्रमसे स्थावर और जंगम भूत उत्पन्न हु हैं तथा जो भूतोंको उत्पन्नकर उनमें प्रवेशकर बुद्धिरूप गुहामें अवस्थित और सबके अन्तर है औ जिसके ज्ञानके लिए 'दूसरा अन्तर आत्मा है, दूसरा अन्तर आत्मा है' ऐसा वर्णन किया है। पू मन्त्रमें वर्णित वह ब्रह्म ही यहां 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इस श्रुतिमें कहा गया है। मन्त्र औ ब्राह्मणका एकार्थत्व होना युक्त है, क्योंकि उनमें विरोध नहीं है। अन्यथा—दोनोंको एकार्थक मानें तो प्रकृत हान और अप्रकृत प्रक्रियाकी कल्पना (प्रकृत अर्थको छोड़कर अप्रकृत अर्थ कल्पना) प्रसक्त होगी। जैसे अन्नमयादिसे अन्य आत्माका अभिधान है, वैसे आनन्दमयसे अ आत्माका अभिधान नहीं किया गया है। 'सैषा० (यह जो भृगुको वरुणद्वारा प्राप्त विद्या है वह आनन्दमयमें ही पर्यवसित है) अतः आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १५ ॥

और इसकारण भी आनन्दमय परमात्मा ही है इतर नहीं। इतर अर्थात् ईश्वरसे अ संसारी जीव, ऐसा अर्थ है। आनन्दमय शब्दसे जीवका अभिधान नहीं है, क्योंकि उसमें आन मयत्वकी उपपत्ति नहीं है। आनन्दमयको प्रस्तुतकर 'सोऽकामयत० (उसने कामना की कि मैं ब हो जाऊँ उत्पन्न होऊँ उसने तप किया, उसने तप कर यह जो कुछ है वह सब उत्पन्न किया) ऐ श्रुति है। इस श्रुतिमें प्रतिपादित शरीरादिकी उत्पत्तिके पहले कामना, सृज्यमान विकारोंका स्र अभेद एवं सब विकारोंकी सृष्टि यह सब परमात्मासे अन्यमें उपपन्न नहीं होता ॥ १६ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* प्रथम सूत्रोंसे लिङ्गरूप वेदान्त वाक्योंको लेकर आनन्दमय ब्रह्म कहा गया है। प्रकरणको लेकर कहा जाता है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यो वेदनिहितं गुहायां परमेव्योम इत्यादि मन्त्रोंमें प्रतिपादित ब्रह्म ही 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इस ब्राह्मण वाक्यमें कहा है। इसप्रकार मन्त्र और ब्राह्मण वाक्य एकार्थक हैं, क्योंकि दोनोंमें विरोध नहीं है। इस आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १५ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

पदच्छेद—भेदव्यपदेशात्, च।

सूत्रार्थ—और 'रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह श्रुति जीव और आनन्दमयका भेदसे व्यपदेश करती है, अतः आनन्दमय परमात्मा ही है।

* इतश्च नानन्दमयः संसारी। यस्मादानन्दमयाधिकारे—'रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति' (तै० २।७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति। कथं तर्हि 'आत्माऽन्वेष्टव्यः', 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतिस्मृती? यावता न लब्धैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तम्। बाढम्; तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सतस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो मिथ्यैव देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः। तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्माऽनन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते। * प्रतिषिध्यत एव तु परमार्थः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिना। परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः। यथा मायाविनश्चर्मखड्ग-

इस कारण भी आनन्दमय संसारी नहीं है, क्योंकि आनन्दमयके प्रकरणमें 'रसोवै० (निश्चय, वह रस है, इसको पाकर ही यह जीव आनन्दी होता है) यह श्रुति जीव और आनन्दमयका भेदसे व्यपदेश करती है। जब लब्धा ही लब्धव्य नहीं होता, तब 'आत्माऽन्वेष्टव्यः० (आत्माकी खोज करनी चाहिए) 'आत्मलाभान्न० (आत्मलाभसे बढ़कर कुछ नहीं है) यह श्रुति और स्मृति कैसे उपपन्न होगी? जब कि लब्धा ही लब्धव्य नहीं होता, ऐसा कहा गया है। यद्यपि यह ठीक है, तथापि (अभेद होनेपर भी) जिस आत्माका आत्मभाव नष्ट नहीं हुआ है अर्थात् अखण्ड एकरस आत्माके यथार्थ स्वरूपके अज्ञानके कारण देहादि अनात्मपदार्थोंमें भ्रमरूप आत्मत्व निश्चय लोकमें देखा गया है। उस (मिथ्याज्ञान) से देहादिरूप आत्माका भी आत्मा अनन्विष्ट होता हुआ अन्वेष्टव्य, अलब्धा होता हुआ लब्धव्य, अश्रुत होता हुआ श्रोतव्य, अमत होता हुआ मन्तव्य, अविज्ञात होता हुआ विज्ञातव्य है इत्यादि भेद व्यपदेश युक्त ही है। परमार्थसे तो सर्वज्ञ परमेश्वरसे अन्य द्रष्टा, श्रोताका 'नान्योऽतो० (उस परमेश्वरसे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतिसे प्रतिषेध किया जाता है। परमेश्वर तो अविद्यासे कल्पित शारीर कर्ता, भोक्ता विज्ञानात्मासे अन्य है। जैसे ढाल और खड्ग

सत्यानन्दी दीपिका

* 'रसोवै सः' आदि श्रुतिमें प्रकृत आनन्दमयको सः (वह) शब्दसे कहा गया है और इस रसरूप आनन्दमयको प्राप्त करने वाला जीव है। इसलिए लब्धा जीव लब्धव्य आनन्दमय परमात्मा कदापि नहीं हो सकता। यदि लब्धा और लब्धव्यमें भेद मानें तो 'आत्मान्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्नपरं विद्यते' इत्यादि श्रुति, स्मृतिका बाध होगा अर्थात् लब्धा और लब्धव्य दोनोंके अभेदमें ही ये संगत होती हैं अन्यथा नहीं। यह ठीक है, परन्तु आत्मा ही आत्मासे लभ्य है यह कथन तो अभेदमें ठीक नहीं है, अतः मानना होगा कि यह सब कथन कल्पित भेदको लेकर है। अखण्ड एक रस चिद्रूप आत्माका 'मैं आत्मा हूँ' इसप्रकार यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण अनात्मदेहादिमें 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा अज्ञानसे भ्रमरूप आत्मत्व निश्चय होनेपर अपनेको परमात्मासे भिन्न समझता है। इसप्रकार अभिन्न सद्रूप आत्मामें जीव और ईश्वरके कल्पित भेदको लेकर लब्धा और लब्धव्यादि श्रुति, स्मृतिमें कहा गया है। अतः जीव और आनन्दमयका पारमार्थिक अभेद होनेपर भी कोई दोष नहीं है।

* शंका—'नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा' इत्यादि श्रुतिके आधारपर यदि परमेश्वरसे जीव भिन्न नहीं है तो मिथ्या जीवके साथ अभेद होनेके कारण परमेश्वर भी मिथ्या हो जायगा? समाधान—जैसे

धरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः । यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः । ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य 'नेतरोऽनुपपत्तेः', 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

पदच्छेद—कामात्, च, न, अनुमानापेक्षा ।

सूत्रार्थ—(कामात्) 'सोऽकामयत' इसप्रकार कामयितृत्वका श्रवण है, अतः (नानुमानापेक्षा) अनुमानगम्य प्रधानकी आनन्दमय शब्दसे अपेक्षा नहीं हो सकती ।

आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वाऽपेक्षितव्यम् । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥ १८ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

पदच्छेद—अस्मिन्, अस्य, च, तद्योगम्, शास्ति ।

सूत्रार्थ—'यदा ह्येवैष' इत्यादि श्रुति (अस्मिन्) इस प्रकृत आनन्दमय आत्मामें (अस्य) प्रतिबुद्ध जीवकी (तद्योगम्) तद्भावापत्ति-मुक्तिका (शास्ति) उपदेश करती है, इसलिए जी अथवा प्रधान आनन्दमय नहीं है, किन्तु परमात्मा ही है ।

इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः । यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्म प्रतिबुद्धस्याऽस्य जीवस्य तद्योगं शास्ति । तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः । मुक्ति रित्यर्थः । तद्योगं शास्ति शास्त्रम 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रति

धारणकर सूत्रद्वारा आकाशमें आरुढ मायावी नटसे भूमिस्थ परमार्थरूप वही मायावी भिन्न है। अथ जैसे घटरूप उपाधिसे परिच्छिन्न आकाशसे उपाधि रहित महाकाश भिन्न है, वैसे ही विज्ञानात्मा औ परमात्माके कल्पित भेदका आश्रयणकर 'नेतरोऽनुपपत्तेः' 'भेदव्यपदेशाच्च' ये सूत्र कहे गये हैं ॥ १७

और आनन्दमयके प्रकरणमें 'सोऽकामयत० (उसने कामनाकी बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ इसप्रकार कामयितृत्वका निर्देश होनेसे अनुमानगम्य सांख्य परिकल्पित अचेतन प्रधान भी आनन् मयरूपसे अथवा कारणरूपसे अपेक्षितव्य-ग्राह्य नहीं है। 'ईक्षते० इस सूत्रसे यद्यपि प्रधान निराकरण किया गया है, तो भी सब वेदान्त वाक्योंसे अवगति (कारण ज्ञान) समान है ऐसा विस्त दिखलानेके लिए पूर्व सूत्र (ईक्षतेर्नाशब्दम्) में उदाहृत कामयितृत्व श्रुतिको लेकर प्रसंगसे निराकरण किया जाता है ॥ १८ ॥

इस कारण भी प्रधानमें अथवा जीवमें आनन्दमय प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र प्रतिबुद्ध जीवका इस प्रकृत आनन्दमय आत्मामें तद्योग-अभेद बतलाता है। तद्रूपसे योग तद् तद्भावापत्ति अर्थात् मुक्ति ऐसा अर्थ है। 'यद्वा ह्येवैष० (जब यह साधक इस अदृश्य, अश अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्ममें अभयस्थिति प्राप्त करता है तब वह अभयको प्राप्त हो जाता है,

सत्यानन्दी दीपिका

शुक्तिमें आरोपित रजत शुक्तिसे भिन्न नहीं है तथा आरोपित रजतसे अभिन्न होनेपर भी शुक्ति नहीं है, क्योंकि शुक्ति आरोपित रजतका अधिष्ठान होनेसे उससे भिन्न है, वैसे ही अविद्यामें बिम्बरूपसे कल्पित जीवसे परमेश्वर भिन्न है, इससे वह मिथ्या नहीं है। यद्यपि कल्पित वस्तु ष्ठानसे भिन्न नहीं होती, फिर भी अधिष्ठानका उससे भेद है ॥ १७ ॥

विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति' (तै० २।७) इति। एतदुक्तं भवति—यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति तदा संसारभयान्न निवर्तते। यदा त्वेतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतितिष्ठति तदा संसारभयान्निवर्तत इति। तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा। तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम्। इदं त्विह वक्तव्यम्—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'। 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २।१,२,३,४) इति च विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रीयत इति? मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत्—न; अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः। अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वात्, आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्य आन्तर आत्मोच्यते, तेनानदमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति। ❀ अत्रोच्यते—यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते, तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा।

यह उस ब्रह्ममें थोड़ी सी भी भेददृष्टि करता है तब इसे भय प्राप्त होता है) यह शास्त्र तद्योग (अभेद) का उपदेश करता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब इस आनन्दमय परमात्मामें किञ्चित् भी भेद अतादात्म्यरूप देखता है तब संसार भयसे निवृत्त (मुक्त) नहीं होता, जब इस आनन्दमयमें निरन्तर तादात्म्यरूपसे प्रतिष्ठित होता है तब संसार भयसे निवृत्त हो जाता है। श्रुतिका यह तात्पर्य आनन्दमय शब्दसे परमात्माका ग्रहण करनेपर ही घटता है। प्रधानका परिग्रह अथवा जीवका परिग्रह करनेमें नहीं घटता। इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दमय परमात्मा है। परन्तु यहाँ यह कहना चाहिए कि 'स वा एष० (वह पुरुष अन्न रसमय है) 'तस्माद्वा० (उस अन्न रसमय स्थूल शरीरसे अन्य अन्तर आत्मा प्राणमय है) 'तस्मादन्यो० (उससे अन्य अन्तर आत्मा मनोमय है) 'तस्मादन्यो० (उससे अन्य अन्तर आत्मा विज्ञानमय है) इस प्रकार विकारार्थक मयट् प्रवाहमें विना किसी कारण अर्धजरतीय न्यायसे † आनन्दमयमें मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थक है और आनन्दमय ब्रह्म विषयक है यह कैसे आश्रय लेते हो? यदि कहो कि मन्त्रमें वर्णित ब्रह्मके प्रकरण होनेसे ऐसा लिया गया है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो अन्नमयादिमें भी ब्रह्मत्व प्रसङ्ग होगा। वृत्तिकार इसपर कहते हैं—अन्नमयादि ब्रह्म नहीं है यह युक्त है, क्योंकि उससे अन्तर अन्य, उससे अन्तर अन्य, इस प्रकार आत्मा कहा गया है, किन्तु आनन्दमयके अन्तर अन्य कोई आत्मा नहीं कहा गया है, इससे आनन्दमय ब्रह्म है, अन्यथा प्रकृतकी हानि और अप्रकृत-प्रक्रियाकी प्रसक्ति होगी। सिद्धान्ती-इसपर कहते हैं—यद्यपि अन्नमयादिके समान आनन्दमयसे अन्य अन्तर आत्मा, ऐसा श्रुति नहीं कहती, तो भी आनन्दमय ब्रह्म नहीं है, क्योंकि आनन्दमयको प्रस्तुतकर 'तस्य प्रियमेव शिरः० (प्रिय ही उसका शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है ब्रह्म पुच्छ

सत्यानन्दी दीपिका

❀ अब भगवान् भाष्यकार 'इदं त्विह वक्तव्यम्' आदि भाष्यसे वृत्तिकारके मतका खण्डन करते हैं।

---

† टि०—जैसे एक ही स्त्रीका कुछ भाग युवती और कुछ भाग वृद्धा होना अयुक्त है, वैसे ही प्रकरणमें भी एक ही मयट् प्रत्ययका कहीं विकार और कहीं प्रचुर अर्थ मानना अयुक्त है।

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति। तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति, तदिह 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते। तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्च कोशाः कल्प्यन्ते। तत्र कुतः प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गः? ❋ नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युच्यते, अन्नमयादीनामिव 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यादि। तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम्? प्रकृतत्वादिति ब्रूमः। नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति। अत्रोच्यते—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्माऽवयवी, तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात्। अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं, ब्रह्मशब्दसंयोगात्; नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति। अपिच 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्युक्त्वेदमुच्यते—'तदप्येष श्लोको भवति। असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।

प्रतिष्ठा है) ऐसा श्रुति कहती है। जो ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' उस मन्त्रमें प्रकृत है, वही यहां 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा कहा जाता है। उसे जाननेकी इच्छासे ही अन्नमयादि आनन्दमय पर्यन्त पाँच कोशोंकी कल्पना की गई है, तो ऐसी स्थितिमें प्रकृतकी हानि और अप्रकृत प्रक्रियाका प्रसङ्ग कैसे होगा? परन्तु जैसे अन्नमयादिके अवयवरूपसे 'इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' (यह पुच्छ प्रतिष्ठा है) कहा गया है, वैसे ही आनंदमयके अवयवरूपसे 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है) कहा जाता है, तो उसमें ब्रह्म स्वप्रधान है यह कैसे जाना जा सकता है? ब्रह्म प्रकृत है, अतः हम ऐसा कहते हैं। परंतु आनंदमयके अवयवरूपसे ब्रह्मके जान लेनेपर भी उसका प्रकृतत्व नष्ट नहीं होता, क्योंकि आनं मय ब्रह्म ही है। सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—यदि ऐसा माना जाय तो वही ब्रह्म आनंदमय आत्म अवयवी और वही ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा रूप अवयव होगा, इससे यह कथन अयुक्त होगा। दोनोंमें एक ग्रहण करें तो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इसमें ही ब्रह्मनिर्देश आश्रयण करना युक्त है, क्योंकि इस वाक्य ब्रह्मशब्दका सम्बन्ध है। आनन्दमय वाक्यमें ब्रह्म निर्देश ग्रहण करना युक्त नहीं, है, कारण कि उस ब्रह्म शब्दका सम्बन्ध नहीं है। किञ्च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा कहकर 'तदप्येष० (उसमें और य श्लोक है, ब्रह्म असत् है ऐसा जो जानता है स्वयं भी वह असत् ही हो जाता है, यदि ऐसा जानता है कि ब्रह्म है तो ब्रह्मवेत्ता लोग उसे सत् समझते हैं) यह कहा जाता है। इस मन्त्रमें आनन्दमय अनुवृत्ति किये विना ब्रह्मके ही भाव और अभावके ज्ञानसे गुण और दोषका अभिधान है, अतः 'ब्र

सत्यानन्दी दीपिका

❋ वृत्तिकार मतमें 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रका यथा श्रुत अर्थ किया गया है, इसलि आनन्दमयमें मयट् प्रत्ययको प्राचुर्यार्थक मानकर आनन्दमयको ब्रह्म सिद्ध किया गया है। यद्य आनन्दमयका अभ्यास किसी श्रुतिमें नहीं है, किन्तु 'आनन्दं ब्रह्मणो' (तै० २।६) 'आनन्द ब्रह्मे व्यजानात्' (तै० ३।६) आदि श्रुतियोंमें आनन्दका ही अभ्यास है, तो भी सूत्रके अनुसार आनन्द को आनन्दमय परक मानकर आनन्दमय ब्रह्म है ऐसा कहा गया है। भगवान् भाष्यकारने इस सूत्र यथाश्रुत अर्थ न कर लाक्षणिक किया है, अतः आनन्दमयको ब्रह्म न मानकर आनन्दमयकी 'ब्रह्म पु प्रतिष्ठा' में लक्षणाकी है कि आनन्दमयके पुच्छ प्रतिष्ठा रूपसे जो प्रकृत है वही ब्रह्म है, कि आनन्दमय ब्रह्म नहीं है। इस आशयका स्पष्टीकरण करनेके लिए भगवान् भाष्यकार 'अत्रोच्यते' इत्यादिसे इस सूत्रकी व्याख्या करते हैं।

❋ वृत्तिकारके मतमें इस अधिकरणका विषय वाक्य 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' है, प उसके अनुसार इस अधिकरणकी व्याख्या की गई है। भगवान् भाष्यकारके मतमें इस अधिकरण विषयवाक्य 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' है। इसपर पूर्व पक्षी 'ननु' आदिसे शंका करते हैं।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति' (तै० २।६) अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं, ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता; प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् । कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म, आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति ? नैष दोषः; पुच्छवत्पुच्छं, प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वम्; 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० ४।३।३२) इति श्रुत्यन्तरात् । अपि च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्, निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते; वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्—'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २।९)। ❀ अपि च आनन्दप्रचुर इत्युक्तेऽपि दुःखास्तित्वमपि गम्यते; प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात्। तथा च सति 'यत्र नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (७।२४।१) इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत । प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम्, ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१) इत्यानन्त्यश्रुतेः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व-

---

पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमें ब्रह्मका ही स्वप्रधानत्व ज्ञात होता है । आनन्दमय आत्माके भाव और अभाव विषयक शंका युक्त नहीं है, क्योंकि प्रिय मोद आदि विशेष युक्त आनंदमय सर्वलोक प्रसिद्ध है । तो फिर स्वप्रधान होते हुए ब्रह्मका 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस प्रकार आनन्दमयके पुच्छरूपसे निर्देश कैसे किया गया है ? यह दोष नहीं है । पुच्छ-पुच्छसदृश, प्रतिष्ठा—वासस्थान अर्थात् लौकिक आनन्द समूहका ब्रह्मानन्द परस्थान—एक अधिष्ठान है इससे यह अर्थ विवक्षित है, किन्तु अवयवरूप अर्थ नहीं; क्योंकि 'एतस्यैव० (इसी आनन्दके अंशको लेकर अन्य प्राणी जीवित रहते हैं अर्थात् अविद्या द्वारा प्रस्तुत इंद्रिय और विषयके सम्बन्धसे उत्पन्न आनंदकी मात्राको लेकर अन्य प्राणी आनन्दित होते हैं) यह दूसरी श्रुति है । और यदि आनन्दमयको ब्रह्म मानें तो उसके प्रियादि अवयवोंके होनेसे सगुण ब्रह्मको स्वीकार करना होगा, परन्तु वाक्यशेषमें निर्गुण ब्रह्म सुना जाता है, क्योंकि 'यतो वाचो० (जहाँसे मनके साथ वाणी उसे प्राप्त न कर लौट आती है, ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भयभीत नहीं होता) इस प्रकार वाणी और मनका अविषय कहा गया है । और 'आनन्द प्रचुर' ऐसा कहनेपर दुःखका अस्तित्व भी ज्ञात होता है, क्योंकि लोकमें प्राचुर्यको अपने प्रतियोगी अल्पत्वकी अपेक्षा रहती है, ऐसा होनेपर 'यत्र नान्यत्प० (सनत्कुमार—हे नारद ! जहाँ अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, अन्य कुछ नहीं जानता वह भूमा-ब्रह्म है) इस प्रकार भूमा ब्रह्ममें उससे अन्य वस्तुके अभावकी प्रतिपादक श्रुति बाधित होगी । प्रत्येक शरीरमें प्रियादिके भेदसे आनन्दमय भी भिन्न है, परंतु ब्रह्म प्रतिशरीरमें भिन्न नहीं है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह आनन्त्य श्रुति है, और 'एको देवः० (सभी प्राणियोंमें गूढ सर्वव्यापक और सभी भूतोंका अन्तरात्मा एक देव है) यह

सत्यानन्दी दीपिका

'विप्रमयो ग्रामः' (यह ग्राम विप्रप्रचुर है) जैसे यहाँ ब्राह्मणोंका बाहुल्य अन्यकी अल्पता प्रयुक्त है, वैसे आनन्द प्रचुर ब्रह्म है, इस कथनसे ब्रह्ममें आनन्द बहुत और दुःख अल्प सिद्ध होगा । इस तरह यदि ब्रह्ममें अल्प दुःख मानें तो 'यत्र नान्यत्पश्यति' यह श्रुति बाधित होगी, क्योंकि यह श्रुति आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें दुःखादि द्वैतका निषेध करती है, अतः आनन्दमयका अर्थ आनन्द प्रचुर नहीं, किन्तु अन्नमयादिके समान यहाँ भी मयट्का अर्थ विकार है । अतः आनन्दमय ब्रह्म नहीं है अपितु जीव है । इसलिए प्रियादि वृत्तिभेदसे प्रतिशरीरमें आनन्दमय भिन्न-भिन्न है ।

भूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इति च श्रुत्यन्तरात्। नचानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयते, प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते—'रसो वै सः, रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'। 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमाँसा भवति'। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति' (तै० २।७,८,९) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ६।६) इति च। यदि च आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत। न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम। तस्माच्छ्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८) इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात्। 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम्। यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः—'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' (तै० २।८) इति, न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति, विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पतितत्वात्। ❀ नन्वानन्दमयस्योपसंक्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः फलं निर्दिष्टं भवेत्। नैष दोषः; आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात्। 'तदप्येष श्लोको भवति। यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपंच्यमानत्वात्। या त्वानन्दमयसंनिधाने 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' इयं श्रुतिरुदाहृता, सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'

दूसरी श्रुति भी है। और आनन्दमयके अभ्यासकी श्रुति नहीं है; क्योंकि सर्वत्र प्रातिपदिकार्थ मात्र अभ्यास है, जैसे कि 'रसो वै सः० (निश्चय वह रस-सार है रसको पाकर ही यह आनन्दी होता है, यदि हृदयाकाशमें स्थित आनन्द रूप आत्मा न होता तो कौन व्यक्ति अपान क्रिया करता और कौन प्राण क्रिया करता यही तो उन्हें आनन्द देता है, अत्र इस ब्रह्मके आनन्दकी मीमांसा है, ब्रह्मके आनन्द अनुभव करनेवाला विद्वान् किसीसे भयभीत नहीं होता) 'आनन्द ब्रह्म है ऐसा जाने' इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट है। यदि आनन्दमय शब्द ब्रह्म विषयक निश्चित हो तो आगे आनन्दमात्र प्रयोगवाले वाक्यों भी लक्षणासे आनन्दमयके अभ्यासकी कल्पना होती। परन्तु प्रिय शिरस्त्वादि हेतुओंसे आनन्दमय ब्र नहीं है ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए 'विज्ञानं० (ब्रह्म विज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप है इस दूसरी श्रुतिमें प्रातिपदिक आनन्दशब्दका ब्रह्ममें प्रयोग देखा जाता है, इससे 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्म विषयक आनन्दशब्दका प्रयोग है किन्तु आनन्दमयका अभ्या नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। 'एतमानन्दमय० (इस आनन्दमय आत्माका बाध करता है इसमें यह जो मयट् प्रत्ययान्त आनन्द शब्दका अभ्यास है वह ब्रह्म विषयक नहीं है, क्योंकि बाधं योग्य विकारात्मक अन्नमयादि अनात्मवस्तुओंकी परम्परामें पठित है। परन्तु अन्नमयादिके समा यदि प्राप्तव्य आनन्दमयको ब्रह्म न मानें तो ब्रह्मवित् विद्वान्को ब्रह्मप्राप्ति रूप निर्दिष्ट फल न होगा सि०—यह दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमयके बाधके निर्देशसे ही पुच्छ एवं प्रतिष्ठा भूत ब्रह्मकी प्राप्ति रूप फलका निर्देश है। 'तदप्येष० (उसमें यह भी मन्त्र है) 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिसे उनका विस्तार किया गया है। आनंदमयके संनिधानमें 'सोऽकामयत' यह जो श्रुति उदाहृत है, वह 'ब्रह्म पु प्रतिष्ठा' इस अत्यन्त संनिहित ब्रह्मके साथ सम्बद्ध होती हुई आनन्दमयमें ब्रह्मत्वका बोध नहीं करा

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' यहाँ संक्रमणका अर्थ बाध है प्राप्ति नहीं, क्योंकि 'एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति' इस तरह अन्नमयादिमें भी संक्रमणका अर्थ बाध किया गया है। इत्यर्थ 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति वाक्य आनंदमयको विषय नहीं करते, किन्तु 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुतिको प्रतिपादित ब्रह्मको विषय करते हैं, क्योंकि वह संनिहित है, अतः आनन्दमय ब्रह्म नहीं है।

इत्यनेन संनिहिततरेण ब्रह्मणा संबध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति। तदपेक्षत्वाच्चोत्तरस्य ग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता। ❀ ननु, 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते। नायं दोषः; 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र पुंलिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। या तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति, तस्यां मयडश्रवणात्, प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम्। तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते। नचेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः। तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयड्विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः। सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति। पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आनन्दमय आत्मेत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते; अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात्। * 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'। विकारशब्देनावयव-

और 'रसो वै सः' इत्यादि उत्तरग्रन्थको उसकी अपेक्षा है, इससे यह आनन्दमय विषयक नहीं है। परन्तु—'सोऽकामयत' (उसने कामना की) इस प्रकार ब्रह्ममें पुंलिङ्ग (सः) शब्दका निर्देश युक्त नहीं है ? सिद्धान्ती—यह दोष नहीं है, क्योंकि 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुतिमें पुंलिङ्ग आत्मशब्दसे भी ब्रह्म प्रकृत है। 'आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात्' यह जो भार्गवी वारुणी विद्या है उसमें मयट् प्रत्ययका श्रवण नहीं है और प्रियशिरस्त्वादि अवयवोंका भी श्रवण नहीं है, इसलिए आनन्द ब्रह्म है यह कथन युक्त है, अतः अणुमात्र भी विशेषका आश्रय किये विना अपने आप ही प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्ममें युक्त नहीं है। यहाँ सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन इष्ट नहीं है, क्योंकि इसी प्रकरणमें ब्रह्म वाणी और मनका अविषय है ऐसी श्रुति है, इसलिए अन्नमयादिके समान आनन्दमयमें भी मयट् प्रत्यय विकारार्थक ही समझना चाहिए प्राचुर्यार्थक नहीं। सूत्रोंका व्याख्यान तो इस प्रकार करना चाहिए कि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इसमें क्या आनन्दमयके अवयवरूपसे ब्रह्म विवक्षित है अथवा स्वप्रधानरूपसे ? पुच्छशब्दके प्रयोगके कारण ब्रह्म अवयवरूपसे विवक्षित है, ऐसा प्राप्त होनेपर सूत्रकार कहते हैं—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आनन्दमय आत्मा है, इसमें 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस तरह स्वप्रधानरूपसे ही ब्रह्म उपदिष्ट है, क्योंकि उसका अभ्यास है। कारण कि 'असन्नेव स भवति' (वह असत् ही होता है) इस उपसंहार श्लोकमें केवल ब्रह्म ही अभ्यस्यमान है। 'विकारशब्दान्नेति०' (सू० १३) इसमें विकारशब्दसे अवयव शब्द अभिप्रेत है। 'पुच्छं' इस अवयवशब्दसे ब्रह्म स्वप्रधान नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है,

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि 'सोऽकायमत' इस श्रुतिमें ब्रह्मवाची 'सः' शब्द पुंलिङ्ग है, जब कि ब्रह्म वाचक 'ब्रह्मन्' शब्द नपुंसक है, अतः उसमें पुलिङ्ग 'सः' शब्दका प्रयोग युक्त नहीं है, तथापि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन' इत्यादि श्रुतिमें प्रकृत ब्रह्मका ही पुंलिङ्ग आत्मशब्दसे निर्देश किया गया है, वैसे ही 'सोऽकायमत' में भी समझना चाहिए। 'आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात्' यहाँ भी पुलिङ्ग आनन्दशब्दसे ब्रह्मका निर्देश है। अतः आनन्द ब्रह्म है, 'वेदसूत्रयोर्विरोधे गुणत्वन्न्याय कल्पनेति' (वेद और सूत्रमें विरोध होतो गुणे [जहाँ प्रधान और अप्रधान दो विषयोंमें विरोध हो, यदि अप्रधान विषयके अनुसार प्रधान विषयका समन्वय करें तो वहाँ इस न्यायकी प्रवृत्ति होती है] इस न्यायसे सूत्रोंका अर्थ वेदार्थानुसार करना चाहिए न कि सूत्रार्थके अनुसार वेदार्थकी कल्पना करनी चाहिए, इस आशयको लेकर भगवान् भाष्यकार अब वेदार्थ अनुसार 'सूत्राणि' इससे सूत्रोंकी व्याख्या करते हैं।

शब्दोऽभिप्रेतः। पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तं, तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते—नायं दोषः; प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः। प्राचुर्यं प्रायापत्तिः अवयवप्राये वचनमित्यर्थः। अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्द मयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वाऽवयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्याह नावयवविवक्षया। यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम। 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' सर्वस्य हि विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते—'इदँ सर्वमसृजत यदिदं किंच' (तै० २।६) इति। नच कारणं सत् ब्रह्म स्वविकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्याऽवयव उपपद्यते। अपराण्यपि सूत्राणि यथासंभवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि ॥१६॥

क्योंकि प्राचुर्यसे भी [ब्रह्ममें] अवयव शब्दकी उपपत्ति हो सकती है। प्राचुर्य–प्रायः आपत्ति–अवयव क्रमकी बुद्धिमें प्राप्ति, अवयव प्रायमें वचन अधिकतासे अवयवोंके प्रतिपादक प्रकरणमें कहा हुआ वचन, ऐसा अर्थ है, क्योंकि अन्नमयादिके शिर आदिसे लेकर पुच्छ पर्यन्त अवयव कथनके अनन्त आनन्दमयके भी शिरादि अन्य अवयव कहकर अवयव क्रमकी प्राप्ति होनेसे 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा कहा है। अवयवकी विवक्षासे नहीं, इस कारण 'अभ्यासात्' अभ्याससे ब्रह्ममें स्वप्रधानत्वका समर्थन किया है। 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' आनन्दमय सहित सब कार्य समुदायके कारणरूपसे 'इदं सर्वम०' (उसने यह सब उत्पन्न किया जो यह कुछ है) इस प्रकार ब्रह्मका कथन किया है। कारण होकर ब्रह्म मुख्य वृत्तिसे अपने कार्य आनन्दमयका अवयव हो यह युक्त नहीं है। † दूसरे सूत्र भी यथासम्भव पुच्छ वाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मके ही उपपादक समझने चाहिए ॥१६॥

सत्यानन्दी दीपिका

*'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रकृत ब्रह्मके ज्ञानके लिए यहाँ अन्नमयादि पाँच कोशोंकी पक्षी रूपसे कल्पना की गई है। परन्तु उनके पक्षीरूपमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। 'तस्य प्रियमेव शिरः' (तै० २।५) (प्रिय ही उसका शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है) इस प्रकार ज आनन्दमयके अन्य अवयव कहे गए हैं तो अवशिष्ट पुच्छ स्थानीय अवयवकी जिज्ञासाको पूर्ण कर हुए प्रकृत ब्रह्मको ही पुच्छरूपसे कहा गया है। क्योंकि जैसे पक्षीका आधार पुच्छ है, वैसे ह आनन्दमयका अधिष्ठान ब्रह्म है, इसलिए ब्रह्मका प्रधानरूपसे प्रतिपादन है। किञ्च 'विज्ञानमानन ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात्' इत्यादि श्रुतियोंमें भी केवल आनन्दका ही अभ्यास उपलब्ध हो है आनन्दमयका नहीं। इसलिए 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियां और 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इत्या सूत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुति वाक्यसे निर्दिष्ट ब्रह्मके ही उपपादक हैं। अतएव 'आनन्दमयोऽ भ्यासात्' इस सूत्रस्थ आनन्दमय शब्दसे लक्षणा द्वारा निर्गुण ब्रह्मका ही बोध कराया गया है पूर्वपक्षमें सगुण ब्रह्मकी उपासना है और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान है ॥ १६ ॥

---

† टि०—अन्य सूत्र भी यथा सम्भव 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुति वाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्म उपपादक हैं। यथा 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' (ब्र० सू० १।१।१४) 'इदँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (२।६) इस श्रुति वाक्यसे जब यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म कार्यमात्रका हेतु है तब वह प्रिय शिरस्त्वा विशिष्ट आनन्दमय कार्यका मुख्यवृत्तिसे अवयव कदापि नहीं हो सकता। 'मान्त्रवर्णिकमेव गीयते' (ब्र० सू० १।१।१५) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' जिस ब्रह्मके ज्ञानसे कैवल्य मुक्ति कही है और जो ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्रमें निर्दिष्ट है, वही 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्र वाक्यमें प्रतिपादित है। क्योंकि ब्रह्मपद संनिहित है। 'नेतरोऽनुपपत्तेः' (ब्र० सू० १।१।१

(७ अन्तराधिकरणम् । २०–२१)

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

पदच्छेद—अन्तः, तद्धर्मोपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(अन्तः) ‘य एषोऽन्तरादित्ये’ य एषोऽन्तरक्षिणि’ इस श्रुतिमें आदित्यमण्डलादिके अन्तर श्रूयमाण पुरुष संसारी नहीं है किन्तु परमेश्वर है, (तद्धर्मोपदेशात्) क्योंकि पापशून्यत्वादि उसके धर्मोंका उपदेश है ।

❀ इदमाम्नायते—‘अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ प्रणखात्सर्व एव सुवर्णः’ ‘तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद’ ‘इत्यधिदैवतम्’ (छा० १।६।६,७,८) ।

श्रुति यह कहती है—‘अथ य एषो० (आदित्यमण्डलके अन्तर्गत सुवर्ण-सा ज्योतिर्मय-सा जो यह पुरुष दिखाई देता है जो सुवर्णके समान डाढी, मूछों वाला और सुवर्णके सदृश केशों वाला तथा जो नख पर्यन्त साराका सारा सुवर्ण-सा ही है) ‘तस्य यथा० (वानरके बैठनेके स्थानके सदृश विकसित अरुण वर्ण वाले पुण्डरीक-कमलके समान उस पुरुषके दोनों नेत्र हैं, उसका ‘उत्’ ऐसा नाम है, क्योंकि वह सब पापोंसे ऊपर गया हुआ है अर्थात् सब पापोंसे मुक्त है जो ऐसे गुणोंसे सम्पन्न ‘उत्’ नामक देवकी यथोक्त प्रकारसे उपासना करता है वह निश्चय ही सब पापोंसे मुक्त हो

सत्यानन्दी दीपिका

❀ पहले अधिकरणमें ‘अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः’ (तै० २।५) ‘आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्’ (तै० ३।६) ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ (तै० २।५) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में आनन्दमय, आनन्द और ब्रह्म शब्दोंसे जो निर्गुण ब्रह्म निर्दिष्ट है, वही उपाधि विशिष्ट होकर उपास्य है । अब इस अधिकरणमें अधिकारीके भेदसे उपासना तथा उसके अनुरूप देवताका निरूपण किया जाता है । यद्यपि ब्रह्म व्यापक है, तो भी उपासनाके लिए स्थान विशेषकी अपेक्षा होती है, इसलिए उपासना द्वारा फल

इतर-आनन्दमय जीव यहां प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि उसमें सर्वसृष्टिकर्तृत्व अनुपपन्न है । ‘भेदव्यपदेशाच्च’ (ब्र० सू० १।१।१७) ‘रसो वै सः रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति’ इसप्रकार ब्रह्म और आनन्दमयमें भेद है । ‘आनन्दमयो ब्रह्म तैत्तिरीयकपञ्चमस्थानस्थत्वात् भृगुवल्लीस्थानन्दवत्’ (आनन्दमय ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्मवल्लीके पाँचवें स्थानमें है, भृगुवल्लीमें स्थित आनन्दके समान) ऐसी अनुमानकी शंकाकर कहते हैं–‘कामाच्च नानुमानापेक्षा’ (ब्र० सू० १।१।१८) ‘काम्यत इति काम आनन्दः’ सबके द्वारा आनन्दकी ही कामना की जाती है, अतः काम आनन्द है । इसलिए जैसे भृगुवल्लीमें आनन्द ब्रह्म है वैसे ब्रह्मवल्लीमें स्थित आनन्दमय भी ब्रह्म है ऐसी अनुमानकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहां आनन्दमयके साथ विकारार्थक मयट् होनेसे विरोध है । विकाररूप आनन्दमयमें निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः आनन्दमय ब्रह्म नहीं है । यहां यदि भेदका उपदेश है तो सगुण ब्रह्म ही भेदरूपसे प्रतिपादित हुआ ? यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि ‘अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति’ (ब्र० सू० १।१।१९) गुहानिहित है, अतः प्रत्यक् और पुच्छ वाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्म वह एक ही है, ऐसा उपसंहार होनेपर ‘मैं ही पर ब्रह्म हूँ’ इस प्रकार प्रबोध विशिष्ट आनन्दमय जीवका ‘यदा ह्येवैष’ (तै० २।७) इस श्रुतिमें ब्रह्मभावरूपसे उपदेश किया गया है । इसकारण निर्गुण ब्रह्मैक्य ज्ञानके लिए जीवभेदका अनुवाद मात्र है, अतः आनन्द ब्रह्म है ।

अथाध्यात्ममपि 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते (छा० १।७।१,५) इत्यादि। ❀ त संशयः—किं विद्याकर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्यत्वे श्रूयते, किंवा नित्यसिद्धः परमेश्वर इति। किं तावत्प्राप्तम्? संसारीति। कुतः? रूपवत्त्व श्रवणात्। आदित्यपुरुषे तावत् 'हिरण्यश्मश्रुः' इत्यादि रूपमुदाहृतम्। अक्षिपुरुषेऽपि तदेवा तिदेशेन प्राप्यते—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' इति। नच परमेश्वरस्य रूपवत्त्व युक्तम्, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (का० १।३।१५) इति श्रुतेः, आधारश्रवणाच्च—'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति। नह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्वरस्याधार उपदिश्येत। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति च श्रुति भवतः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च। 'स एष ये चामुष्मात् राञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १।६।८) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा। 'स ए

जाता है) यह अधिदैवत है। अत्र 'अथ य० (जो यह नेत्रके भीतर पुरुष दिखाई देता है) इत्या श्रुतिसे अध्यात्म कहा जाता है। यहाँ संशय होता है कि क्या अतिशय विद्या और कर्मके प्रभाव उत्कर्ष प्राप्त करनेवाला कोई संसारी सूर्य मण्डलमें तथा चक्षुमें उपास्यरूपसे श्रुत है अथवा नि सिद्ध परमेश्वर? तब क्या प्राप्त होता है? पू०—यहाँ संसारी उपास्यरूपसे निर्दिष्ट है, क्योंकि रूपवत्त्व श्रवण है। आदित्यपुरुषमें 'हिरण्य (सुवर्ण) सी मूछें हैं' इत्यादि रूपका उदाहरण है। औ 'तस्यैतस्य० (इस अक्षिपुरुषका वही रूप है जो कि आदित्य पुरुषका है) इस श्रुतिसे अक्षिपुरु भी अतिदेशसे वही रूप प्राप्त होता है। परन्तु परमेश्वरका रूपवत्त्व होना युक्त नहीं है, क्यों 'अशब्दस० (वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूपरहित और अविनाशी है) ऐसी श्रुति है। क्यों 'य एषोऽन्तरादित्ये' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' (जो यह आदित्य मण्डलमें है, जो यह अक्षिके अन्त है) इस प्रकार आधारका श्रवण है। किन्तु आधार रहित स्वमहिमामें प्रतिष्ठित सर्वव्यापी परमेश्वर आधार उपदेश नहीं किया जाता, कारण कि 'स भगवः० (नारद—हे भगवन्! वह भूमा कि प्रतिष्ठित है? सनत्कुमार—वह अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है) और 'आकाशवत्० (आकाशके समा सर्वव्यापक और नित्य है) ऐसी श्रुतियाँ हैं। क्योंकि आदित्यपुरुष और अक्षिपुरुषकी ऐश्व मर्यादाकी श्रुति है। 'स एष० (वह यह उत् नामक देव, जो इस-आदित्यलोकसे ऊपरके लोक

सत्यानन्दी-दीपिका

सिद्धयर्थ शास्त्रोंमें आदित्यमण्डलादिका विधान किया गया है। देवोंका आश्रय कर किया गया विधा अधिदैवत है और देहादिका आश्रय कर किया गया विधान अध्यात्म है। आदित्यमण्डलमें उपास्य है वही देहसे सम्बन्धित होकर अध्यात्मरूपसे भी कहा गया है।

* पूर्व अधिकरणमें ब्रह्मपद, आनन्दमय पद और आनन्दका अभ्यास इन तीनों प्रमाणों त अन्य प्रमाणोंसे जैसे निर्गुण ब्रह्मका निर्णय किया गया है वैसे रूपवत्त्वादि अनेक प्रमाणोंसे हिरण्मय है, इस प्रकार पूर्व अधिकरण सिद्धान्तसे दृष्टान्त संगति द्वारा पहले सामान्यतः सिद्ध निर्गु ब्रह्मसमन्वयके अपवादार्थ 'संसारी' इत्यादिसे पूर्व पक्ष करते हैं। 'हिरण्यश्मश्रुः' इस श्रुतिसे आदि पुरुषमें तथा 'तदेव रूपं' इस † अतिदेश श्रुतिसे अक्षिपुरुषमें रूपका श्रवण होता है। इ आदित्यमण्डलस्थ एवं अक्षिस्थ संसारी पुरुष उपास्य सिद्ध होता है रूपादि रहित परमेश्वर नहीं।

---

† टि०—एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धोऽतिदेशः' (एकत्र श्रुतका अन्य स्थलमें श्रवण सम्बन्ध अतिदेश है, जैसे यहाँ आदित्य पुरुषके रूपका अक्षिपुरुषमें श्रवण है। अथवा 'तद्व कर्तव्यमतिदेशः' उसके समान यह करना चाहिए वह अतिदेश है।

ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।६) इत्यक्षिपुरुषस्य। नच परमेश्वरस्य मर्यादावदैश्वर्यं युक्तम्, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) इत्यविशेषश्रुतेः। तस्मान्नाक्ष्यादित्ययोरन्तः परमेश्वर * इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति, 'य एषोऽन्तरादित्ये', 'य एषोऽन्तरक्षिणि' इति च श्रूयमाणः पुरुषः पमेश्वर एव, न संसारी। कुतः ? तद्धर्मोपदेशात्। तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः। तद्यथा—'तस्योदिति नाम' इति श्रावयित्वा तस्यादित्यपुरुषस्य नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वक्ति। तदेव च कृतनिर्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति—'यन्नाम तन्नाम' इति। सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादौ। तथा चाक्षुषे पुरुषे 'सैवक्तंत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म' इत्यृक्सामाद्यात्मकतां निर्धारयति। सा च परमेश्वरस्योपपद्यते; सर्वकारणत्वात्सर्वात्मकत्वोपपत्तेः। पृथिव्यग्न्याद्यात्मके चाधिदैवतं ऋक्सामे, वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्यात्ममनु-

और जो देवताओंके भोग हैं उनपर शासन करता है) इस प्रकार आदित्यपुरुषकी मर्यादाकी श्रुति है और 'स ए२० (अक्षिस्थ वह यह उत्-अक्षिपुरुष नामक देव जो इस अध्यात्म आत्मासे नीचेके लोक हैं उनका तथा मानवीय कामनाओंका शासन करता है) इस प्रकार अक्षिपुरुषकी मर्यादाकी श्रुति है। परन्तु परमेश्वरका ऐश्वर्य सीमित होना युक्त नहीं है, क्योंकि 'एष सर्वेश्वर० (यह सर्वेश्वर है, यह सब भूतोंका अधिपति है, यह भूतोंका पालक है, लोकोंकी मर्यादा छिन्न-भिन्न न हो, इसलिए यह सारी व्यवस्था करनेवाला सेतु है अर्थात् सेतुके समान नियामक है) ऐसी अविशेष श्रुति है। इससे सिद्ध होता है कि नेत्र और आदित्यके अन्तर पुरुष परमेश्वर नहीं है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अंतस्तद्धर्मोपदेशात्' 'य एषो० (यह जो आदित्यके भीतर है) य एषो० (जो यह चक्षुके अन्तर है) इस प्रकार श्रूयमाण परमेश्वर ही है संसारी नहीं, क्यों ? 'तद्धर्मो० उस परमेश्वरके धर्मोंका ही यहाँ उपदेश किया गया है। जैसे कि 'तस्यो० (उसका 'उद्' यह नाम है) इस प्रकार इस आदित्य पुरुषके नामका श्रवण कराके 'स एष० (वह यह सब पापोंसे मुक्त है) इस तरह सभी पापोंके अपगमसे 'उत्' नामका श्रुति निर्वचन करती है। और निर्वचन किये हुए उसी नामका अक्षि पुरुषमें 'यन्नाम तन्नाम' (जो आदित्य पुरुषका नाम है वही अक्षि पुरुषका नाम है) यह श्रुति अतिदेश करती है। 'य आत्मा० (जो आत्मा पाप रहित है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें परमात्मा ही सर्वपापरहित सुना जाता है। इसीप्रकार 'सैव ऋक्० (वही अक्षिपुरुष ऋक्, वही साम, वही उक्थ, वही यजु और वही ब्रह्म है) यह श्रुति अक्षिपुरुषमें ऋक् सामादिकी आत्मकताका निर्धारण करती है। वह सर्वात्मकता परमेश्वरसें ही उपपन्न है, क्योंकि वह सबका कारण होनेसे सर्वात्मक हो सकता है। ऋक् पृथिवी और साम

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि 'न ह वै देवान्पापं गच्छति' (बृह० १।५।२०) (देवोंको कोई पाप नहीं लगता) इस श्रुतिके आधार पर आदित्य पुरुष आदि भी पाप रहित होनेसे उपास्य हो सकते हैं, तो भी इस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि देवत्वकालमें कर्मके अनधिकारी देवोंका क्रियमाण पाप अथवा उसके फलके साथ सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु उनके पूर्व जन्म संचित पापोंके होनेसे वे सर्वपाप रहित नहीं हो सकते। यदि वे बिल्कुल पाप रहित हों तो 'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' (छा० ५।१०।५) (वहां कर्मोंके क्षय होने तक रहकर वे पुनः इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसीप्रकार लौटते हैं) इत्यादि श्रुति और 'क्षीणे पुण्येमर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता० ९।२१) (पुण्य कर्म क्षीण होनेपर वे पुनः लौटकर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं) स्मृति वचन बाधित हो जाएँगे। अतः 'आत्माऽपहतपाप्मा' यह ठीक ही कहा गया है कि परमात्मा सर्वपाप रहित है और वही उपास्य है।

क्रम्याह—'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ' इत्यधिदैवतम्। तथाऽध्यात्ममपि—'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ' इति। तच्च सर्वात्मन एवोपपद्यते। 'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः' (छा० १।७।६) इति च लौकिकेष्वपि गानेष्वस्यैव गीयमानत्वं दर्शयति। तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते; 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश-संभवम्' (१०।४१) इति भगवद्गीतादर्शनात्। लोककामेशितृत्वमपि निरङ्कुशं श्रूयमाणं परमेश्वरं गमयति। ✽ यदुक्तं हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे नोपपद्यत इति, अत्र ब्रूमः—स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्। 'माया ह्येषा मया सृ यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति स्मरणात्। अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि। सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिना। यथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति। यदप्याधारश्रवणान्न परमेश्वर इति, अत्रोच्यते—स्वमहिम-

---

अग्नि है यह अधिदैवत और वाक् प्राणादि आत्मक ऋक्, साम है अर्थात् वाक् ऋक् और प्राण साम है इस तरह अध्यात्मका आरम्भकर श्रुति कहती है—'तस्य ऋक् च० (उस आदित्यपुरुषके ऋक् और साम पर्व-अङ्गोंकी संधियां हैं) यह अधिदैवत है। इसीप्रकार 'यावमुष्य० (जो आदित्य-पुरुषके पादपर्व हैं वे अक्षिपुरुषके पादपर्व हैं) यह अध्यात्म भी है। यह सब सर्वात्मक परमेश्वरमें घट सकता है। 'तद्ये इमे० (अतः जो ये लोग वीणामें गायन (स्तुति) करते हैं वे उस परमेश्वरका ही गायन करते हैं, इसीसे वे धन लाभ करते हैं) इसप्रकार श्रुति लौकिक गानोंमें भी उसका गा दिखलाती है। यह सब परमेश्वरके परिग्रहसे घट सकता है, क्योंकि 'यद्यद्विभूति० (हे कौन्तेय जो जो भी ऐश्वर्यशाली, श्रीयुक्त-कान्तियुक्त, शक्तियुक्त वस्तु है उस उसीको तूँ मेरे तेजके अंश उत्पन्न हुई जान) ऐसा भगवद्गीतामें देखा जाता है। तथा लोक और भोगपर स्वतन्त्ररूपसे श्रूयमा स्वामित्व भी परमेश्वरका ही ज्ञान कराता है। जो यह कहा गया है कि हिरण्यश्मश्रुत्वादि रूप श्रवण परमेश्वरमें उपपन्न नहीं है। इस विषयमें हम कहते हैं—साधकोंपर अनुग्रह करनेके लि इच्छावश परमेश्वरका मायामय रूप हो सकता है, क्योंकि 'माया ह्येषा० (हे नारद ! सब भूतों गुणोंसे युक्त जो मुझे देखता है यह मायाका कार्य होनेसे विचित्र मूर्ति रूप माया मेरी उत्पन्न की हु है, अतः इस प्रकार मुझे जाननेके लिए तूं योग्य नहीं है) ऐसी स्मृति है। और जहाँ सभी उपा धियोंसे रहित निर्विशेष परमेश्वरके स्वरूपका उपदेश किया जाता है, वहाँ अशब्दम० (वह शब्द रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अविनाशी है) इत्यादि शास्त्र है। सबका कारण होनेसे कु विकारोंके धर्मोंसे युक्त परमेश्वरका भी उपास्यरूपसे 'सर्व कर्मा० (सम्पूर्ण रचनात्मक कर्मवाल सर्वकामना वाला, सर्व गन्ध युक्त और सर्व रसयुक्त है) इत्यादि श्रुतिसे निर्देश किया जाता है। इ प्रकार हिरण्यश्मश्रुत्वादिका निर्देश भी हो जायगा। आधारका श्रवण होनेसे आदित्य पुरुष त अक्षिपुरुष परमेश्वर नहीं है, ऐसा जो कहा गया है। उसपर कहते हैं—स्वमहिमामें प्रतिष्ठित परमेश्व

सत्यानन्दी दीपिका

✽ पूर्वपक्षीने पहले 'रूपवत्त्वश्रवणात्' इस हेतुसे आदित्य पुरुष और अक्षि पुरुषका ग्रह किया है, अब उसका 'स्यात्परमेश्वरस्यापि० इत्यादि भाष्यसे खण्डन करते हैं। भक्तोंपर अनु करनेके लिए मायोपाधिसे परमेश्वर अनेक रूप धारण करते हैं जैसे कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरु ईयते' (परमेश्वर ज्ञान, बल और क्रिया रूप मायासे अनेक रूपोंको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

प्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद्ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरत्वोपपत्तेः। ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव। तस्मात्परमेश्वर एवाक्ष्यादित्ययोरन्तरुपदिश्यते ॥२०॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥२१॥

पदच्छेद—भेदव्यपदेशात्, च, अन्यः।

सूत्रार्थ—(अन्यः) अक्षि और आदित्यके अन्तर श्रूयमाण अन्तर्यामी पुरुष आदित्य आदि शरीराभिमानी जीवोंसे अन्य है, (भेदव्यपदेशात्) क्योंकि 'य आदित्ये तिष्ठन्' इस श्रुतिमें जीव नियम्य और परमेश्वर नियामक इस प्रकार दोनोंके भेदका व्यपदेश है।

❀ अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी; 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।९) इति श्रुत्यन्तरे भेदव्यपदेशात्। तत्र हि आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद' इति वेदितुरादित्याद्विज्ञानात्मनोऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते; स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति; श्रुतिसामान्यात्। तस्मात्परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

(८ आकाशाधिकरणम्। सू० २२)

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

पदच्छेद—आकाशः, तल्लिङ्गात्।

सूत्रार्थ—(आकाशः) 'आकाश इति होवाच' यहाँ आकाश शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण है, (तल्लिङ्गात्) क्योंकि 'सर्वाणि ह वा' इस प्रकार सभी भूतोंके उत्पत्ति आदि परब्रह्मका ही लिङ्ग है।

❀ इदमामनन्ति—'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि

का भी आधार विशेष उपदेश उपासनाके लिए हो जायगा, क्योंकि आकाशके समान सर्वव्यापक होनेसे ब्रह्म सर्वान्तर हो सकता है। ऐश्वर्यमर्यादाका श्रवण भी अध्यात्म और अधिदैवत विभागकी अपेक्षा रखता हुआ केवल उपासनाके लिए है। इसलिए अक्षि और आदित्यके भीतर परमेश्वरका ही उपदेश है ॥ २० ॥

और आदित्यादि शरीरोंके अभिमानी जीवोंसे अन्य ईश्वर अन्तर्यामी है, क्योंकि 'य आदित्ये० (जो आदित्यमें रहता हुआ आदित्यके भीतर है, जिसे आदित्य नहीं जानता, जिसका आदित्य शरीर है, जो आदित्यके अन्तर रहकर आदित्यका नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है) इस प्रकार अन्य श्रुतिमें भेदका व्यपदेश है। वहीं 'आदित्यके भीतर है जिसे आदित्य नहीं जानता' इस प्रकार वेदिता (प्रमाता) आदित्य जीवात्मासे अन्य अन्तर्यामी है ऐसा स्पष्ट निर्देश किया जाता है। यहाँ भी वही आदित्यके अन्तर पुरुष होना युक्त है, क्योंकि दोनों स्थलोंमें श्रुतियाँ समान (एक प्रकारकी) हैं। इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वरका ही यहाँ उपदेश है ॥ २१ ॥

छान्दोग कहते हैं—[शालवत्य–हे जैवलि !] 'अस्य लोकस्य० (इस पृथिवी लोकका आधार क्या है ? राजा प्रवाहण—आकाश, क्योंकि ये सारे भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाश-

सत्यानन्दी दीपिका

* 'य एषो ऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरोषो दृश्यते' (छा० १।६।६) और 'य आदित्ये तिष्ठन्' (बृह० ३।७।९) 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' (बृह० ३।७।१८) (जो नेत्रमें रहता हुआ) इस प्रकार दोनों श्रुतियाँ एक प्रकारकी हैं और दोनोंका अर्थ एक ही है कि आदित्य और अक्षिस्थ उपास्य पुरुष परमेश्वर ही है। पूर्वपक्षमें जीव उपास्य है और सिद्धान्तमें परमेश्वर उपास्य है ॥ २१ ॥

भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छान्दो० १।९।१) इति। तत्र संशयः—किमाकाशशब्देन परं ब्रह्माभिधीयत उत भूताकाशमिति। कुतः संशयः? उभयत्र प्रयोगदर्शनात्। भूतविशेषे तावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्दः ब्रह्मण्यपि क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते। यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद्वा निर्धारितं ब्रह्म भवति, यथा—'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० २।७) इति, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति चैवमादौ। अतः संशयः किं पुनरत्र युक्तं? * भूताकाशमिति। कुतः? तद्धि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शीघ्रं बुद्धिमारोहति। नचायमाकाशशब्द उभयोः साधारणः शक्यो विज्ञातुम्, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात्। तस्माद्ब्रह्मणि गौण एवाकाशशब्दो भवितुमर्हति। विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति। नच मुख्यसंभवे गौणोऽर्थो ग्रहणमर्हति। संभवति चेह मुख्यस्यैवाकाशस्य ग्रहणम्। ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्यशेषो नोपपद्यते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादिः। नैष दोषः; भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः। विज्ञायते हि—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' (तै० २।१) इत्यादि। ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षयोपपद्येते भूताकाशस्यापि। तस्मादाकाश-

---

को ही लय होते हुए प्राप्त होते हैं, आकाश ही इस सभीसे महान् और आकाश ही आश्रय है) यहां संशय होता है कि क्या आकाश शब्दसे परब्रह्मका अभिधान किया जाता है अथवा भूताकाशका? संशय क्यों होता है? इससे कि दोनोंमें आकाश शब्दका प्रयोग दिखाई देता है। लोक और वेदमें आकाश शब्द भूताकाशमें तो सुप्रसिद्ध है। कहीं ब्रह्ममें भी प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। जहां वाक्यशेषके बलसे अथवा असाधारण गुणके श्रवणसे ब्रह्म निर्धारित होता है, जैसे कि 'यदेष आकाश०' (यदि यह आनन्दरूप आकाश न हो) और 'आकाशो वै० (आकाश ही इस प्रसिद्ध नाम औ रूपको प्रकट करने वाला है, वे जिसके अन्तर हैं वह ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियोंमें है। अतः संशय होता है, तो यहां युक्त क्या है? पूर्वपक्षी—यहां आकाशशब्दसे भूताकाशका ग्रहण है, क्यों, भूताकाश ही अतिप्रसिद्ध प्रयोग होनेसे बुद्धिमें शीघ्र आरुढ होता है। और यह आकाश शब्द दोनोंमें साधार है ऐसा नहीं जाना जा सकता। क्योंकि ऐसा माननेसे एक शब्दके अनेक अर्थ होनेका प्रसङ्ग हो जायगा। इससे ब्रह्ममें आकाश शब्द गौण होना युक्त है, कारण कि विभुत्वादि अनेक धर्मोंसे यु होनेके कारण ब्रह्म आकाशके सदृश है। मुख्य अर्थका संभव हो तो गौण अर्थका ग्रहण युक्त न है। अतः यहां मुख्य भूताकाशका ही ग्रहण संभव है। भूताकाशका ग्रहण करें तो 'सर्वाणि ह वा (निश्चय ये सारे भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) इत्यादि वाक्य शेष उपपन्न नहीं होगा? दोष नहीं है, क्योंकि भूताकाश भी वायु आदि क्रमसे कारण हो सकता है, और 'तस्माद्वा० (शा प्रसिद्ध परोक्ष आत्मा यही माया विशिष्ट आत्मा है उससे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अ उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशकी कारणता ज्ञात होती है) अन्य वायु आदि भूतों

सत्यानन्दी दीपिका

* गत अधिकरणमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतियोंके आधारपर पापरहितत्वा अव्यभिचारी ब्रह्मके लिंगोंसे रूपवत्त्वादि दुर्बल लिङ्गोंकी व्यवस्था उपाधि द्वारा की गई है। परन्तु 'अस्य लोकस्य का गति' यह छान्दोग्य श्रुति लिंगसे बलवती है, अतः यहां श्रुतिस्थ आकाश श अन्य व्यवस्था नहीं की जा सकती अर्थात् यह आकाश शब्द ब्रह्मपरक न होकर भूताकाश परक है इसप्रकार प्रत्युदाहरणसंगतिसे पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर उसके उत्तरमें 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' सूत्रका आरम्भ है। 'अस्य लोकस्य' यह छान्दोग्य श्रुति इस अधिकरणका विषय वाक्य है।

शब्देन भूताकाशस्य ग्रहणमित्येवं ❀ प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम् । कुतः ? तल्लिङ्गात् । परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति । परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा । ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम् । सत्यं, दर्शितम् । तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेवेत्यवधारणं, सर्वाणीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात् । ❀ तथा 'आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इति ब्रह्मलिङ्गं 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे । ज्यायस्त्वं ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नातम्—'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) इति । तथा परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येवोपपन्नतरम् । श्रुतिश्च—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्'

अपेक्षा भूताकाशमें श्रेष्ठत्व और आश्रयत्व भी उपपन्न है, इसलिए आकाश शब्दसे भूताकाशका ग्रहण युक्त है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाश शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि उसका लिङ्ग है । परब्रह्मके ग्रहण करनेमें 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' यह लिंग प्रमाण है । वेदान्त वाक्योंमें यह मर्यादा है कि परब्रह्मसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है । परन्तु भूताकाश भी वायु आदि क्रमसे कारण दिखलाया गया है ? ठीक, दिखलाया गया है, तो भी मूल कारण ब्रह्मके अपरिग्रहसे 'आकाशादेव' (आकाश से ही) 'एवं' अवधारण और 'सर्वाणि' (सब) यह भूतोंका विशेषण अनुकूल (संगत) न होगा । उसी प्रकार 'आकाशं० (आकाशमें लीन होते हैं) यह ब्रह्मका लिङ्ग है । 'आकाशो० (आकाश इनसे महान् है और आकाश परमाश्रय है) इसप्रकार ज्यायस्त्व और परमाश्रयत्व भी ब्रह्मके लिङ्ग हैं । ज्यायान्पृथिव्या० (यह मेरा आत्मा पृथिवीसे बड़ा अन्तरिक्षसे बड़ा द्युलोकसे बड़ा इन सब लोकोंसे बड़ा है) यह श्रुति केवल एक परमात्मामें ही अपेक्षा रहित ज्यायस्त्व कहती है । तथा परमाश्रयत्व भी परम कारण होनेसे परमात्मामें ही युक्त है । 'विज्ञानमानन्दं० (ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है, बह धन देने वाले (कर्म करने

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वपक्षी—'अस्य लोकस्य' इस छान्दोग्य श्रुतिमें पठित आकाश शब्दसे भूताकाशका ग्रहण करना चाहिए ब्रह्मका नहीं, यदि 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतिके आधार पर आकाश शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण करें तो एक आकाश शब्दके भूताकाश और ब्रह्म दो अर्थ मानने पड़ेंगे, ऐसा माननेसे सर्वत्र एक शब्दके अनेक अर्थ माननेका प्रसंग उपस्थित होगा जो सर्वथा अयुक्त है । यदि ऐसा है तो 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मके लिए आकाश शब्दका प्रयोग क्यों किया गया है ? इसलिए कि 'आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः' (ब्रह्म आकाशके समान सर्वगत और नित्य है) इसप्रकार आकाशके समान विभूत्वादि अनेक धर्म ब्रह्ममें श्रुति प्रतिपादित हैं, इस समानताके कारण ब्रह्ममें आकाश शब्दका गौण प्रयोग किया गया है ।

* 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि श्रुतियोंके आधारपर आकाश शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना ठीक है, भूताकाशका नहीं, क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि० इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्म ही सब भूतोंका कारण कहा गया है । यदि भूताकाशको कारण मानें तो तेज आदिकी उत्पत्तिमें वायु आदिको भी कारण मानना पड़ेगा । यदि आकाश शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण न करें तो 'आकाशादेव' इस श्रुतिमें अवधारणार्थक 'एव' का बाध होगा । 'सर्वाणि ह वा इमानि' इस श्रुतिमें 'सर्व' पद आकाश (ब्रह्म) से भिन्न सब भूतोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही कहता है । यदि 'सर्व' पदसे आकाशको छोड़कर वायु आदि शेष भूतोंका ग्रहण करें तो सर्वपदमें अर्थका संकोच करना पड़ेगा जो सर्वथा अयुक्त है, अतः 'सर्व' पदसे आकाशका भी ग्रहण है ।

(बृ० ३।९।२८) इति। अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वा, अनन्तं किंचि द्वक्तुकामेन जैवलिना आकाशः परिगृहीतः, तं चाकाशमुद्गीथे संपाद्योपसंहरति 'स ए परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।९।२) इति। तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम्। यत्पुनरु भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं प्रतीयत इति, अत्र ब्रूमः—प्रथमतरं प्रतीतमपि सत् वाक्य शेषगतान्ब्रह्मगुणान्दृष्ट्वा न परिगृह्यते। दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दः—'आकाशो वै ना नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ। तथाकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' (ऋ० सं० १।१६४।३९) 'सैषा भार्गवी वारु

वाले यजमान) की परमगति है अर्थात् कर्म फलका दाता है) ऐसी श्रुति भी है। और उसीप्रका अन्तवत्त्वदोषसे शालावत्यके पक्षकी निन्दाकर किसी अविनाशी वस्तुको कहनेकी इच्छा करनेवा राजा जैवलिने आकाशका ग्रहण किया है। उस आकाशका उद्गीथमें संपादनकर 'स एष० (वह उ उद्गीथ परसे पर परम उत्कृष्ट है और यह अनन्त है) ऐसा उपसंहार किया है। वह आनन्त्य ब्रह्म लिङ्ग है। और जो पुनः यह कहा गया है कि प्रसिद्धिके बलसे आकाश शब्दसे प्रथम भूताका प्रतीत होता है। इस विषयमें हम कहते हैं—आकाश पदसे प्रथम भूताकाश प्रतीत होता हुआ भ वाक्यशेषगत ब्रह्म गुणोंको देखकर उसका ग्रहण नहीं किया जाता। और 'आकाशो० (आका ही नाम और रूपको प्रकट करने वाला है) इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्ममें भी आकाश शब्दका प्रयो दिखलाया गया है। तथा आकाशके पर्यायवाची शब्दोंका भी ब्रह्ममें प्रयोग 'ऋचोऽक्षरे० (उत्कृ कूटस्थ इस आकाश (ब्रह्म) में सब वेद प्रमाण है और उसीमें देव अधिष्ठित हैं) सैषा भार्गवी

सत्यानन्दी दीपिका

* छान्दोग्योपनिषद् अध्याय १, खण्ड ८—दालभ्य, शालावत्य ब्राह्मण और राजा जैवलि तीनों उद्गीथविद्यामें कुशल थे, परस्पर विचार आरम्भ किया कि उद्गीथकी प्रतिष्ठा क्या है? दालभ्य ओंकाररूप उद्गीथका कारण स्वर (ध्वनि) है, उसका कारण? प्राण (बल) है, उसका कारण अन्न है, अन्नका कारण? जल-वर्षा है, उसका कारण? स्वर्ग (अन्तरिक्ष) है, उसका कारण? नहीं, स्वर्गस्थ देवगण प्रसन्न होकर यथा समय वृष्टि करते हैं, उससे अन्न, अन्नसे प्राण (बल प्राणसे ध्वनि (बोलनेकी शक्ति) और ध्वनिसे ओंकार रूप उद्गीथ। इस प्रकार परम्परासे ओंका रूप उद्गीथकी प्रतिष्ठा स्वर्ग है। यह सुनकर शालावत्यने कहा—हे दालभ्य! स्वर्गकी प्रतिष्ठा रथान्तर साम (पृथ्वी) है, क्योंकि यहाँ यज्ञादि कर्म होते हैं, जिससे स्वर्गस्थ देवगण जीवित रहते अथवा सन्तुष्ट होते हैं। इसलिए उद्गीथकी प्रतिष्ठा रथान्तर साम है अर्थात् पृथ्वी लोक है, उस कारण कोई नहीं। राजा जैवलि—**'अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम'** (छा० १।८।८) (हे शालाव निश्चय, यह तेरा साम अन्तवाला है अर्थात् यह पृथ्वी लोक परिच्छिन्न और नाशवान् है) तुमने मिथ्या कहा कि उद्गीथकी प्रतिष्ठा पृथ्वी लोक है, इस अपराधके कारण यदि कोई ऐसा कह देता तेरा मस्तक गिर जाय तो तेरा मस्तक गिर जाता। तब भयभीत होकर शालावत्य बोला—हे जैवलि **'अस्य लोकस्य का गतिः'** (इस पृथ्वी लोककी प्रतिष्ठा क्या है?) जैवलि—**'आकाश इति होवा** (यह आकाश है ऐसा कहा) इस प्रकार जैवलिने विनाशित्व और परिच्छिन्नत्व दोष देकर शालाव पक्षकी निन्दाकी और उद्गीथकी प्रतिष्ठा आकाश कहा, अतः यहाँ अनन्त आकाश-ब्रह्मका ग्रहण **'उद्गीथ आकाश ही है'** इस प्रकार उद्गीथमें आकाशका संपादन करनेसे आकाशके अनन्त गुणोंसे युक्त उद्गीथमें आकाशदृष्टिकर उपासना करनी चाहिए। यद्यपि आकाश शब्दसे भूताकाश ही प्रतीत होता है तो भी **'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता'** इस वाक्यशेषके आकाश शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना युक्त है।

विद्या परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता' (तै० ३।६) 'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'खं पुराणम्' (बृ० ५।१) इति चैवमादौ । वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा । 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽप्यग्निशब्दो माणवकविषयो दृश्यते । तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥२२॥

(६ प्राणाधिकरणम् । सू० २३)

अत एव प्राणः ॥२३॥

पदच्छेद—अतः, एव, प्राणः ।

सूत्रार्थ—(अतएव) पूर्व सूत्रोक्त उत्पत्ति आदि लिङ्गोंसे (प्राणः) 'प्राण इति होवाच' इस श्रुतिस्थ प्राण परमात्मा ही है ।

※ उद्गीथे—'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छा० १।१०।६) इत्युपक्रम्य श्रूयते—'कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता' (छा० १।११।४,५) इति । तत्र संशयनिर्णयौ पूर्ववदेव द्रष्टव्यौ । 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छां० ६।८।२) 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति

(यह भार्गवी वारुणी विद्या परब्रह्ममें प्रतिष्ठित है) 'ॐ कं ब्रह्म० (ॐ क-सुख ब्रह्म है, ख—आकाश-व्यापक-ब्रह्म है) और 'खं पुराणम्० (ख पुराण है) इत्यादि श्रुतियोंमें देखा जाता है । वाक्यके आरम्भमें भी वर्तमान आकाश शब्दका वाक्यशेषके बलसे ब्रह्मविषयक निश्चय करना युक्त है । [इसमें उदाहरण देते हैं] 'अग्निरधीते' (अग्नि अनुवाक-वेदभाग का अध्ययन करता है) इस वाक्यके आरम्भमें प्राप्त अग्नि शब्द भी माणवक विषयक देखा जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाश शब्द ब्रह्मविषयक है ॥ २२ ॥

सामवेदीय उद्गीथ प्रकरणमें 'प्रस्तोतर्या देवता० (हे प्रस्तोता ! जो देवता प्रस्तावमें अनुगत है) ऐसा आरम्भकर 'कतमा सा० (वह प्रस्ताव अधिष्ठातृ देवता कौन है ? चाक्रायण—प्राण है, ऐसा कहा, क्योंकि ये सभी भूत प्राणमें ही प्रवेश कर जाते हैं अर्थात् लीन हो जाते हैं, प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं, वह यह प्राण देवता ही प्रस्तावमें अनुगत है) ऐसा श्रुति कहती है । उसमें संशय और निर्णय पहलेके समान ही समझने चाहिए । 'प्राणबन्धनं० (हे प्रिय ! मन उपाधिसे उपलक्षित जीव प्राण बन्धन वाला है अर्थात् प्राणोपलक्षित ब्रह्मके साथ सुषुप्तिमें एक होता है) और 'प्राणस्य० (जो उसे प्राणका प्राण जानते हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें प्राण शब्द ब्रह्मविषयक देखा

सत्यानन्दी दीपिका

* छान्दोग्यादि उपनिषदोंमें 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' 'खं ब्रह्म, खं पुराणम्' 'परमे व्योमन्' इसप्रकार आकाशके पर्यायवाची 'ख, व्योम' आदि शब्दोंका प्रयोग ब्रह्ममें देखा जाता है । और आनन्दके पर्यायवाची कं शब्दका प्रयोग ब्रह्ममें किया गया है, किन्तु लोक प्रसिद्ध भूताकाशमें नहीं, क्योंकि वह जड़ है । और उत्पद्यमान होनेसे 'खं पुराणम्' वह अनादि भी नहीं है, इसलिए 'आकाश इति होवाच' इस श्रुतिमें आकाश शब्द ब्रह्मपरक ही है । पूर्वपक्षमें भूताकाश दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना है, सिद्धान्तमें ब्रह्मदृष्टिसे ॥ २२ ॥

* भगवान् सूत्रकार आकाश वाक्यमें उक्त न्यायका 'प्राण इति होवाच' इस वाक्यमें अतिदेश करते हैं अर्थात् 'आकाश इति होवाच' जैसे यहां आकाश शब्द ब्रह्मपरक है, वैसे ही 'प्राण इति होवाच' इस वाक्यगत प्राणशब्द भी ब्रह्मपरक है । इसप्रकार अतिदेश संगतिसे 'अत एव प्राणः' इस सूत्रका उल्लेख करते हैं । एक समय दुर्भिक्षसे पीड़ित उषस्ति नाम चक्रका पुत्र चाक्रायण धनकामनासे राजाके यज्ञमें गया, वहां ऋत्विजोंमें से पहले प्रस्तोतासे प्रश्न किया—(हे प्रस्तोता ! जो

चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, वायुविकारे तु प्रसिद्धतरो लोकवेदयोः, अत इ प्राणशब्देन कतरस्योपादानं युक्तमिति भवति संशयः। किं पुनरत्र युक्तम्? वायुविकारस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्योपादानं युक्तम्। तत्र हि प्रसिद्धतरः प्राणशब्द इत्यवोचाम। ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गाद्ब्रह्मण एव ग्रहणं युक्तम्। इहापि वाक्यशेषे भूतानां संवेशनोद्गमनं पारमेश्वरं कर्म प्रतीयते। न; मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेशनोद्गमनस्य दर्शनात्। एवं ह्याम्नायते—'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः', 'स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते' (श० ब्रा० १०।३।३।६) इति। प्रत्यक्षं चैतत्, स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्यमानायामिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च पुनः प्रादुर्भवन्तीति। इन्द्रियसारत्वाच्च भूतानामविरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेशनोद्गमनवादी वाक्यशेषः। अपि चादित्योऽन्न

जाता है। देहमें चलने वाले वायुके विकार प्राणमें तो लोक और वेदमें प्राण शब्द अतिप्रसिद्ध है। इसलिए यहां प्राण शब्दसे किसका ग्रहण करना युक्त है, ऐसा संशय होता है। तो यहां किसका ग्रहण युक्त है? वायुके विकार पाँच वृत्तिवाले प्राणका ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि उसमें ही प्राणश विशेषरूपसे प्रसिद्ध है, ऐसा हम कह चुके हैं। यदि कहो कि पूर्व अधिकरणके समान इस अधि- करणमें भी ब्रह्मके लिङ्गोंसे ब्रह्मका ही ग्रहण युक्त है। क्योंकि यहां भी वाक्य शेष [सर्वाणि ह वा इमानि] में भूतोंका लय और उद्गम परमेश्वरका कर्म प्रतीत होता है। तो यह ठीक नहीं है, कारण कि मुख्यप्राणमें भी भूतोंके लय और उद्गम देखे जाते हैं। श्रुति ऐसा कहती है कि 'यदा वै (निश्चय जब पुरुष सोता है तब वाणी प्राणमें ही लीन होती है, चक्षु प्राणमें, श्रोत्र प्राणमें और मन प्राणमें लीन होता है)। और यह प्रत्यक्ष है कि सुषुप्ति कालमें प्राणव्यापारके अलुप्त होने भी इन्द्रियोंके व्यापार लुप्त हो जाते हैं और जाग्रत् कालमें प्रकट होते हैं। और इन्द्रियां भूतोंके साररूप हैं, इसलिए भूतोंके लय और उद्गमका प्रतिपादक वाक्यशेष मुख्य प्राणमें भी विरुद्ध न है। किञ्च प्रस्तावदेवता प्राणके कथनानन्तर उद्गीथ और प्रतिहारके देवता आदित्य और अन्न निर्देश हैं। जैसे ये दोनों (आदित्य और अन्न) ब्रह्म नहीं है वैसे ही उनके साहश्यसे प्राण भी ब्र

सत्यानन्दी दीपिका

देवता प्रस्ताव-भक्तिमें अनुगत है, यदि तू उसे विना जाने प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गि जायगा) इसीप्रकार उद्गाता और प्रतिहर्तासे भी कहा। यहां विशेष ज्ञातव्य यह है कि 'पञ्च भक्ति साम सप्त भक्तिकं सामेति' 'पाँच भक्ति साम और सात भक्ति साम इसप्रकार सामके दो भेद हैं। यहां भक्तिशब्द अवयव वाचक है अर्थात् सामवेदके भागको भक्ति कहते हैं। हिंकार, ओंकार प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इनमेंसे प्रस्तावका गायन करने वाला प्रस्तोता, उद्गी का गायन करनेवाला उद्गाता और प्रतिहारका गायन करनेवाला प्रतिहर्ता कहलाता है। उपद्रव औ निधन दोनोंको तीनों मिलकर गायन करते हैं। और ओंकारको यहां पृथक् नहीं कहा गया है। प्रस्तोताने चक्रायणसे कहा कि 'प्रस्तावमें अनुगत वह देवता कौन है? उषस्ति—'प्राण इति होवाच' (प्राण है, ऐसा कहा)। इसमें प्राणको ही सभी भूतोंकी उत्पत्ति और लयका कारण कहा गया है। कारण प्राणशब्दसे ब्रह्मका ग्रहण हो सकता है और वायुके विकार प्राणमें भी लोक और वेदमें प्रा शब्द प्रसिद्ध है, तो इससे सन्देह होता है कि यहां प्राण शब्दसे किसका ग्रहण करना युक्त है?

※ **समाधान—'इंद्रियसारत्वाच्च' 'त्यस्य ह्येष रसः'** (बृह० २।३।५) (इन्द्रियां त्यत्-आ शादिका सार हैं) इससे यह स्पष्ट होता है कि इन्द्रियां अपञ्चीकृत भूतोंकी साररूप हैं) उनके लयादि कथनसे भूतोंके भी लयादि प्राणमें सिद्ध होते हैं, इसप्रकार 'सर्वाणि ह वा' यह वाक्यशेष भी सं है। उसी प्रसंगमें उद्गाताने चाक्रायणसे पूछा—'कतमा सा देवता' (छा० १।११।६) (उद्गी

चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्येते। नच तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमित्येवं प्राप्ते सूत्रकार आह—'अत एव प्राणः' इति। 'तल्लिङ्गात्' इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम्। अत एव तल्लिङ्गात्प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति। प्राणस्यापि हि ब्रह्मलिङ्गसंबन्धः श्रूयते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते (छा० १।११।५) इति। प्राणनिमित्तौ सर्वेषां भूतानामुत्पत्तिप्रलयावुच्यमानौ प्राणस्य ब्रह्मतां गमयतः। ननूक्तं मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेशनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं; स्वापप्रबोधयोर्दर्शनादिति। अत्रोच्यते,—स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रयं संवेशनोद्गमनं दृश्यते, न सर्वेषां भूतानाम्। इह तु सेन्द्रियाणां सशरीराणां च जीवाविष्टानां भूतानां; 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' (छा० १।११।५) इति श्रुतेः। यदापि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिगृह्यते, तदापि ब्रह्मलिङ्गत्वमविरुद्धम्। ❀ ननु सहापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयोः प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्य-

---

नहीं है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर भगवान् सूत्रकार कहते हैं—'अत एव प्राणः तल्लिङ्गात्' ऐसा पूर्व सूत्रमें निर्देश किया गया है, इससे उसके लिङ्गोंसे प्राणशब्द वाच्य परब्रह्म होना चाहिए, क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि' यह श्रुति प्राणका भी ब्रह्मलिङ्गके साथ सम्बन्ध कहती है। इसमें प्राण निमित्तक सभी भूतोंके कहे हुए उत्पत्ति और प्रलय प्राणमें ब्रह्मत्वका बोध कराते हैं। परन्तु जो यह कहा गया है कि मुख्य प्राणका परिग्रह होनेपर भी लय और उत्पत्तिका दर्शन विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति और जाग्रत्में ऐसा देखनेमें आता है। इसपर कहते हैं—सुषुप्ति और प्रबोध कालमें केवल इन्द्रियोंका ही प्राणाश्रय लय और उद्गम देखा जाता है सब भूतोंका नहीं, परन्तु यहां तो इन्द्रिय सहित, शरीर सहित और जीवसे सम्बद्ध भूतोंका प्राणाश्रय लय और उद्गम है, क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि' ऐसी श्रुति है। यदि यह भूतश्रुति महाभूत विषयक गृहीत हो तो भी ब्रह्मलिङ्गत्वमें कोई विरोध नहीं है। परन्तु इसप्रकार हम सुनते हैं कि सुषुप्ति और जाग्रत् कालमें विषयों सहित इन्द्रियोंका प्राणमें लय और प्राणसे उद्भव होता है, क्योंकि 'यदा सुप्तः० (जब सोता हुआ पुरुष कुछ स्वप्न नहीं

सत्यानन्दी दीपिका

कौन देवता अनुगत है ?) चाक्रायण—'आदित्य इति होवाच' (छा० १।११।७) (आदित्य है, ऐसा कहा) प्रतिहर्ता—'कतमा सा देवता' (प्रतिहारमें कौन देवता अनुगत है ?) 'अन्नमिति होवाच' (छा० १।११।९) (वह देवता अन्न है, ऐसा कहा) इसप्रकार प्रस्ताव देवताके कथनानन्तर उद्गीथके देवता आदित्य और प्रतिहारके देवता अन्नका कथन किया गया है। इस प्रश्नोत्तरमें जैसे आदित्य और अन्न ब्रह्म नहीं है, वैसे ही यहां आदित्य और अन्नके सन्निहित पठित होनेसे प्राण भी ब्रह्म नहीं है। इसलिए 'प्राण इति होवाच' यहां प्राण शब्दसे वायुके विकार पाँच वृत्तिवाले प्राणका ग्रहण करना युक्त है।

* 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छा० १।९।१) (ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) इस श्रुतिमें जैसे भूतोंका विशेषण 'सर्व' पद आकाशमें ब्रह्मत्वका बोधक लिङ्ग है, वैसे ही 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' (छा० १।११।५) इस श्रुतिमें भी भूतोंका विशेषण 'सर्व' पद प्राणमें ब्रह्मत्वका बोधक लिङ्ग है। इससे 'प्राण इति होवाच' यहाँ प्राण शब्द ब्रह्मपरक है। किञ्च 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' यह श्रुति सब भूतोंके साथ वायुकी भी उत्पत्ति कहती है, और 'आकाशाद्वायुः' (आकाशसे वायु उत्पन्न होता है) इस अन्य श्रुतिमें भी वायुकी उत्पत्ति कही गई है। इससे जब प्राणका कारण भूत वायु भी सब भूतोंके लय और उद्गमका कारण नहीं तो वायुका विकार प्राण सब भूतोंके लय और उद्गमका कारण हो यह कथन केवल साहस मात्र है।

सहाप्येति' (कौ० ३।३) इति। तत्रापि
थास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति' (कौ० ३।३) इति। तत्रापि
तल्लिङ्गात्प्राणशब्दं ब्रह्मैव। यत्पुनरुक्तम्—अन्नादित्यसंनिधानात्प्राणस्याब्रह्मत्वमिति,—तद
युक्तम्; वाक्यशेषबलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानस्याकिंचित्क
रत्वात्। यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्धतरत्वं, तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम्।
तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम्। अत्र केचिदुदाहरन्ति—'प्राणस्य प्राणम्'
(बृ० ४।४।१८), 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इति च,—तदयुक्तम्; शब्द
भेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तेः। यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽन्यः पिता षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्यः
प्रथमानिर्दिष्टः पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् 'प्राणस्य प्राणम्' इति शब्दभेदात्प्रसिद्धात्प्राणा
दन्यः प्राणस्य प्राण इति निश्चीयते। नहि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति। * यस्य
च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र प्रकरणी निर्दिष्ट इति गम्यते। यथा

देखता तब यह प्राणमें ही एक होता है और उसी समय उसमें सभी नामोंके साथ वाणी लीन होती
है) यह श्रुति है। इसमें भी ब्रह्मके लिंगोंसे प्राणशब्द वाच्य ब्रह्म ही है। और जो यह कहा गया है
कि अन्न और आदित्यकी संनिधिसे प्राण ब्रह्म नहीं है, वह अयुक्त है, क्योंकि वाक्यशेषके बलसे प्राण
शब्द ब्रह्मविषयक प्रतीत होनेपर सन्निधान प्रयोजन रहित है। पुनः यह भी कहा गया है कि प्राणश
पाँच वृत्तिवाले मुख्य प्राणमें अतिप्रसिद्ध है, उस आक्षेपका परिहार आकाश शब्दके समान समझना
चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रस्तावका देवता प्राण ब्रह्म है। यहां वृत्तिकार 'प्राणस्य प्राणम्'
'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (हे सोम्य! मन उपहित जीव प्राण-ब्रह्मके साथ सुषुप्तिमें एक हो
है) इसप्रकार श्रुतिका उदाहरण देते हैं। वह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द भेदसे और प्रकरणसे संश
नहीं हो सकता। यथा 'पितुः पिता' (पिताका पिता) इस प्रयोगमें षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट पि
अन्य है और प्रथमानिर्दिष्ट पिता अन्य है, इससे 'पितुः पिता' ऐसा अवगत होता है। वैसे ही 'प्राणस्य
प्राणम्' (प्राणका प्राण) इसमें शब्दभेदसे प्रसिद्ध मुख्य प्राणसे भिन्न प्राणका प्राण है ऐसा निश्च
होता है, क्योंकि एक ही पदार्थ 'तत्' से कहा हुआ 'तस्य' (उसका) इसप्रकार भेद निर्देशके यो
नहीं होता अर्थात् प्रथमासे कहे हुए पदार्थको भेदरूप षष्ठीसे कहना युक्त नहीं है। जिसके प्रकरण
जो निर्दिष्ट होता है उस प्रकरणमें अन्य नामसे भी वही प्रकरणी (प्रकृत) निर्दिष्ट होता है, ऐ
ज्ञात होता है। जैसे ज्योतिष्टोमके प्रकरणमें 'वसन्ते वसन्ते० (प्रति वसन्त ऋतुमें ज्योतिः याग क

सत्यानन्दी दीपिका

* किञ्च अन्न और आदित्यकी संनिधिमें पठित होनेसे भी प्राण ब्रह्म नहीं है, क्योंकि वाक्यान्त
संनिधिकी अपेक्षा स्ववाक्यावगत लिंग बलवान् होता है 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः।' (हृदयमें प्राण, गुदामें अपान, नाभिमें समान, क
देशमें उदान और व्यान सारे शरीरमें है) इसप्रकार पाँच वृत्तिवाला शरीरान्तः संचारी वा
विकार प्राण यहां प्राणशब्दसे ग्राह्य नहीं है। आकाशशब्द लोक प्रसिद्ध भूताकाशमें अतिप्र
होनेपर भी जैसे 'आकाश इति होवाच' यहां ब्रह्मपरक है, वैसे ही प्राण शब्द अध्यात्म मुख्य प्रा
अतिप्रसिद्ध होनेपर भी 'प्राण इति होवाच' यहां ब्रह्मपरक ही है। वृत्तिकार 'प्राणस्य प्राणम्'
इस अधिकरणका विषय वाक्य मानते हैं, परन्तु भगवान् भाष्यकारने शब्दभेद और प्रकरण इन
हेतुओंसे उसका खण्डन किया है। परन्तु 'पुरुषस्य चैतन्यम्' 'राहोः शिरः' जैसे यहां अभेदमें
षष्ठी और प्रथमा विभक्तिका निर्देश है, वैसे 'प्राणस्य प्राणम्' यहां भी होना चाहिए? परन्तु
तो दोनों शब्दोंसे निर्दिष्ट पदार्थोंमें भेद है।

ज्योतिष्टोमाधिकारे—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इति श्रुतः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत् ? अतः संशयाविषयत्वान्नैतदुदाहरणं युक्तम्। प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संशयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः ॥२३॥

(१० ज्योतिश्चरणाधिकरणम् । सू० २४-२७)

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

पदच्छेद—ज्योतिः, चरणाभिधानात्।

सूत्रार्थ—(ज्योतिः) 'यदतः परो दिवो' यहां ज्योतिः शब्दसे ब्रह्म ही ग्राह्य है, (चरणाभिधानात्) क्योंकि 'पादोऽस्य' इस पूर्ववाक्यमें पादका अभिधान है।

❀ इदमामनन्ति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतःपृष्ठेषु सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति। तत्र संशयः—किमिह ज्योतिःशब्देनादित्यादिकं ज्योतिरभिधीयते किंवा परमात्मेति। अर्थान्तरविषयस्यापि शब्दस्य तल्लिङ्गाद्ब्रह्मविषयत्वमुक्तम्, इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते। किं तावत्प्राप्तम् ? ❀ आदित्यादिकमेव ज्योतिःशब्देन परिगृह्यत इति। कुतः ? प्रसिद्धेः। तमो

यहां ज्योतिः शब्द ज्योतिष्टोम विषयक है, वैसे ही परब्रह्मके प्रकरणमें 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इसमें श्रुत प्राणशब्द केवल वायुके विकारमात्रका कैसे बोध करायेगा ? अतः संशयका विषय न होनेसे यह उदाहरण ठीक नहीं है। प्रस्तावके देवता प्राणमें तो संशय, पूर्वपक्ष और निर्णयका उपपादन किया गया है ॥ २३ ॥

छान्दोग कहते हैं—'अथ यदतः० (तथा इस द्युलोकसे परे जो परम ज्योति विश्वके पृष्ठ पर अर्थात् सबके ऊपर, जिससे उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकोंमें प्रकाशित हो रही है वह निश्चय यही है जो कि इस पुरुष (देह) के भीतर ज्योति है) यहाँ संशय होता है कि इस श्रुतिमें ज्योतिः शब्दसे आदित्यादि ज्योतिका अभिधान है अथवा परमात्मा का ? अन्य अर्थ विषयक शब्द भी ब्रह्मलिङ्गसे ब्रह्मविषयक कहा गया है। परन्तु यहाँ ब्रह्मका लिङ्ग है अथवा नहीं, ऐसा विचार किया जाता है, तो क्या प्राप्त होता है ? पूर्व पक्षी—ज्योतिः शब्दसे आदित्यादिका ही परिग्रह होता है, क्यों ? उनमें ज्योतिः शब्दकी प्रसिद्धि है। अन्धकार और ज्योति ये दो शब्द परस्पर विरोधी अर्थोंमें प्रसिद्ध हैं।

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि 'प्राण इति होवाच' यहां एक प्राणशब्द मुख्यप्राणका वाचक है अथवा परब्रह्मका ? ऐसा संशय हो सकता है, तथापि 'प्राणस्य प्राणम्' इस श्रुति वाक्यमें भिन्न भिन्न अर्थोंके प्रतिपादक दो प्राण शब्द हैं। इनमें प्रथमाविभक्ति निर्दिष्ट द्वितीय प्राणशब्द ब्रह्मपरक है, इसलिए इस वाक्यसे संशयके असंभवसे पूर्वपक्षका भी अभाव है। इसकारण 'प्राणबन्धनं' इत्यादि श्रुति वाक्योंका उदाहरणरूपसे उल्लेख करना वृत्तिकारको युक्त नहीं है। अतः यहां आकाशशब्दके समान प्राणशब्द भी ब्रह्मपरक है। पूर्वपक्षमें प्रस्तावमें लोक प्रसिद्ध मुख्यप्राणदृष्टिसे उपासना है और सिद्धान्तमें ब्रह्मदृष्टिसे उपासना है ॥ २३ ॥

* 'आकाश इति होवाच' 'प्राण इति होवाच' इन दोनों श्रुति वाक्योंमें जैसे आकाश शब्द और प्राणशब्द ब्रह्मवाचक हैं, वैसे 'यदतः परो दिवो' इस श्रुतिमें पठित ज्योतिः शब्द भी ब्रह्मवाचक है, इसे दिखलानेके लिए यह अधिकरण आरम्भ किया जाता है। यथा आकाशशब्द और प्राणशब्द ब्रह्मबोधक लिङ्गसे ब्रह्म विषयक हैं, वैसे इस ज्योति वाक्यमें ब्रह्म बोधक लिङ्ग दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे यह 'ज्योतिः' शब्द ब्रह्म परक नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है।

ज्योतिरिति हीमौ शब्दौ परस्परप्रतिद्वन्द्विविषयौ प्रसिद्धौ । चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्यते । तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिकं ज्योतिः । तथा 'दीप्यते' इतीयमपि श्रुतिरादित्यादि विषया प्रसिद्धा । नहि रूपादिहीनं ब्रह्म 'दीप्यते' इतिं मुख्यां श्रुतिमर्हति । द्युमर्यादत्वश्रुतेश्च । नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता, कार्यस्य तु ज्योतिषः परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात् । 'परो दिवो ज्योतिः' इति च ब्राह्मणम् । ❀ ननु कार्यस्यापि ज्योतिषः सर्वत्र गम्यमानत्वाद्युमर्यादावत्त्वमसमञ्जसम । अस्तु तर्ह्यत्रिवृत्कृतं तेजः प्रथमजम् । न; अत्रिवृत्कृतस्य तेजसः प्रयोजनाभावादिति । इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत्,—न; प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात् । 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० ६।३।३) इति चाविशेषश्रुतेः । नचात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादत्वं प्रसिद्धम् । अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योतिःशब्दम् । ❀ ननूक्तमर्वागपि दिवोऽवगम्यतेऽग्न्यादिकं ज्योतिरिति । नैष दोषः; सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिषः 'परो दिवः' इत्युपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते । नतु निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी । 'सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषू

चक्षुवृत्तिका निरोधक रात्रि आदिका अन्धकार तम कहलाता है और उसी व्यापारका सहायक आदित्यादि ज्योति कहलाता है। उसी प्रकार 'दीप्यते' (प्रकाशित होता है) यह श्रुति भी आदित्यादि विषयक प्रसिद्ध है, और रूपादि रहित ब्रह्ममें 'दीप्यते' यह श्रुति मुख्य रूपसे नहीं घटती, क्योंकि द्युलोक ज्योतिकी सीमा है, ऐसी श्रुति है। चर और अचर सृष्टिके बीज भूत सर्वात्मक ब्रह्मकी द्युलोक मर्या युक्त नहीं है, परन्तु कार्य रूप परिच्छिन्न ज्योतिमें द्युलोक मर्यादा युक्त है, कारण कि 'परोदिवोज्योति इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ भी है। यदि कहो कि [ब्रह्मके समान] कार्य रूप ज्योति भी सर्वत्र गम्यमा (विद्यमान) है, अतः द्युलोक उसकी मर्यादा है यह कथन असंगत है, तो प्रथम उत्पन्न हुए के अत्रिवृत्कृत (तीनों भागोंमें अविभक्त, अन्न, जलसे असम्बद्ध) तेजको ज्योति मानों, ऐसा न क्योंकि अत्रिवृत्कृत तेजका प्रयोजन नहीं है। यदि कहो कि यही प्रयोजन है जो वह (अत्रिवृत्कृत तेज उपास्य है, तो यह ठीक नहीं है, कारण कि अन्य प्रयोजनमें (अन्धकारकी निवृत्तिमें) प्रयुक्त आदि आदि उपास्य देखनेमें आते हैं। और 'तासां त्रिवृतं० (उनमें एक एकको त्रिवृत त्रिवृत करूँ) अविशेष श्रुति है। अत्रिवृत्कृत तेजकी द्युमर्यादा प्रसिद्ध नहीं है, तब तो त्रिवृत्कृत वह तेज ही ज्यो शब्द वाच्य होगा। परन्तु जो यह कहा गया है कि द्युलोकसे नीचे भी अग्नि आदि ज्योति अवगत हो है, यह दोष नहीं है, सर्वत्र गम्यमान ज्योतिका भी 'परोदिवः' (द्युसेपर) इसप्रकार उपासनाके लि प्रदेश विदेशका ग्रहण विरुद्ध नहीं है। परन्तु प्रदेशरहित ब्रह्ममें प्रदेश विशेषकी कल्पना युक्त

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि कहो कि अज्ञान रूपी अन्धकारका विरोधी ज्ञान स्वरूप ब्रह्म भी ज्योति शब्द वा हो सकता है, तो ऐसा नहीं, क्योंकि चक्षु वृत्तिका निरोधक नीला और पदार्थोंका आवर्तक अन्ध ही तम है, उसका ब्रह्म विरोधी (निवारक) नहीं है, क्योंकि दोनोंका परस्पर विरोध ही नहीं इसलिए ज्योतिः शब्दसे आदित्यादिका ग्रहण युक्त है।

* 'तासां त्रिवृतं' त्रिवृत इसप्रकार है—तेज, जल और पृथिवी इन तीनोंमें से एक एक दो भाग, एक आधा आधा भाग अलगकर दूसरे आधे आधे भागके फिर दो दो भाग। आधा अपना और दो भाग दूसरेके अर्थात् तेजको आधा भाग अपना और चतुर्थांश चतुर्थांश जल पृथ्वीके, इसीप्रकार तेज आदि त्रिवृत्कृत होते हैं, जिस प्रकार रस्सी तीनगुण वाली होती है, प्रकार हिरण्यगर्भने त्रिवृत्कृत स्थूलसृष्टिका आरम्भ किया। इस त्रिवृत्करणके विना तेज और सीमा प्रसिद्ध नहीं है तो त्रिवृत्कृत तेजको ही ज्योति शब्द वाच्य मानना चाहिए।

मेषु लोकेषु' इति चाधारबहुत्वश्रुतिः कार्ये ज्योतिष्युपपद्यतेतराम्। 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः-पुरुषे ज्योतिः' (छा० ३।१३।७) इति च कौक्षेये ज्योतिषि परं ज्योतिरध्यस्यमानं दृश्यते। सारूप्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति। यथा—तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्' (बृ० ५।५।३) इति। कौक्षेयस्य तु ज्योतिषः प्रसिद्धमब्रह्मत्वम्; 'तस्यैषा दृष्टिः' 'तस्यैषा श्रुतिः' (छा० ३।१३।८) इति चौष्ण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात्। *'तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति च श्रुतेः। 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद' (छा० ३।१३।८) इति चाल्पफलश्रवणादब्रह्मत्वम्। महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते। नचान्यदपि किंचित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मलिङ्गम्। नच पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति; 'गायत्री वा इदँ सर्वं भूतम्' इति छन्दोनिर्देशात्। अथापि कथंचित्पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यात्, एवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति। तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।१,६) इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते, अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन। तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्य-

है। 'सर्वतः पृष्ठेष्वनु० (भू आदि सभी लोकोंसे ऊपर जिससे ऊपर उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकोंमें) इस तरह बहुतसे आधारोंकी प्रतिपादिक यह श्रुति कार्य ज्योतिमें अधिक संगत होगी। 'इदं वाव० (वह निश्चय यही है जो कि इस पुरुष (देह) के भीतर ज्योति है) इससे कुक्षिस्थ ज्योतिमें परज्योतिका आरोप किया हुआ देखा जाता है और सादृश्यनिमित्तक अध्यास होते हैं। जैसे 'तस्य भूरिति शिर एकं० (उस पुरुषका भूः यह शिर है, क्योंकि शिर एक है और यह भूः अक्षर भी एक है) परन्तु यह प्रसिद्ध है कि कुक्षिस्थ ज्योति (जठराग्नि) ब्रह्म नहीं है, क्योंकि 'तस्यैषा दृष्टिः० (यह उस हृदयस्थ पुरुषकी दृष्टि-दर्शनोपाय है और यह उसकी श्रुति-श्रवणोपाय है अर्थात् देहको स्पर्श करनेसे उष्णताका ज्ञान जठराग्निका दर्शनोपाय है और श्रोत्रको बन्द करनेसे शब्द विशेषका श्रवण जठराग्निका श्रवणोपाय है) इसप्रकार उष्णता और घोषविशिष्टत्वकी यह श्रुति है। 'तदेतद्दृष्टं च० (वह ज्योति दृष्ट और श्रुत है इसप्रकार उपासना करे) इस श्रुतिसे और 'चक्षुष्य श्रुतो० (जो उपासक ऐसा जानता है, वह दर्शनीय और विख्यात होता है) इस अल्पफलके श्रवण (श्रुति) से ज्योति ब्रह्म नहीं है। निश्चय ब्रह्मकी उपासना महान् फलके लिए अभीष्ट है। प्राण एवं आकाशके समान ज्योति ब्रह्म है, ऐसा दिखलाने वाले स्ववाक्यमें ब्रह्मका बोधक अन्य कोई भी लिङ्ग नहीं है। पूर्ववाक्यमें भी चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्ट नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा इदं० (यह सब भूत गायत्री ही हैं) इसप्रकार छन्दका निर्देश है। यदि पूर्व वाक्यमें किसी प्रकार ब्रह्म-निर्दिष्ट है ऐसा मान भी लें तो भी यहां उसका प्रत्यभिज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसमें 'त्रिपादस्य० (इसके तीन पाद अमृत प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित हैं) इसप्रकार द्युलोक आधार रूपसे श्रुत है। और यहां तो 'परो दिवो० (ज्योति द्युलोकसे परे है) द्युलोक मर्यादारूपसे सुना जाता है। इसलिए

सत्यानन्दी दीपिका

* उपासना प्रायः अध्यारोप मूलक होती है और अध्यारोपका हेतु सादृश्य है। जैसे भूः इस व्याहृतिमें प्रजापतिके शिरकी दृष्टिका विधान है, वैसे कुक्षिस्थ ज्योति (जठराग्नि) में आदित्यादि परज्योतिका अध्यारोप कर उसकी उपासनाका विधान है अर्थात् जठराग्नि आदित्यादि ज्योति है, ऐसा मानकर जठराग्निकी आदित्यरूपसे उपासना करनी चाहिए, क्योंकि दोनोंमें जड़त्व, तेजस्त्व समान है। ब्रह्म तो शब्दादि रहित है, अतः जठराग्नि ब्रह्म नहीं है।

* पूर्वपक्षी—'तदेतद्दृष्टं च' आदिसे दूसरेका उल्लेख करते हैं। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस प्रकार ब्रह्मोपासनाका तो मोक्षरूप महान् फल कहा गया है। अल्प और महान् फलके भेदसे भी

मित्येवं ❀ प्राप्ते ब्रूमः—ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम् । कुतः ? चरणाभिधानात् । पादाभिधाना
दित्यर्थः । पूर्वस्मिन्हि वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्यनेन मन्त्रेण । तत्र यच्चतुष्पदो
ब्रह्मणस्त्रिपादमृतं द्युसंबन्धिरूपं निर्दिष्टं, तदेवेह द्युसंबन्धान्निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते
तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम् । न केवलं ज्यो
तिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म । तस्मादि
ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । ❀ यत्तूक्तम्—'ज्योतिर्दीप्यते' इति चैतौ शब्दौ कार्ये ज्योति

प्राकृत (कार्य) ज्योतिका यहाँ ग्रहण करना चाहिए । ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—इस श्रुति
'ज्योतिः' शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए, क्यों ? चरणका अभिधान है—पादका अभिधान है
ऐसा अर्थ है । 'तावानस्य० (उतनी इस-गायत्र्याख्य ब्रह्मकी महिमा है अर्थात् सारा जगत् इस
विभूति है, तथा निर्विकार पुरुष इससे भी उत्कृष्ट है, सभी भूत इसका एकपाद (एक अंश)
और इसका (पुरुष संज्ञक) त्रिपाद् अमृत प्रकाशरूप स्वात्मामें स्थित हैं) इस मन्त्रसे पूर्ववाक्य
चतुष्पाद् ब्रह्म निर्दिष्ट है । उसमें चतुष्पाद् ब्रह्मके जो त्रिपाद् अमृत द्युसम्बन्धिरूप निर्दिष्ट है व
द्युलोकके सम्बन्धसे यहां निर्दिष्ट है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । उसका परित्यागकर प्राकृत ज्योति
कल्पना करनेवालेको प्रकृतकी हानि और अप्रकृत प्रक्रिया प्रसक्त होगी । ज्योति वाक्यमें केवल पू
वाक्यसे ही ब्रह्मकी अनुवृत्ति हो यह बात नहीं है, किन्तु आगे कही जानेवाली शाण्डिल्य विद्यामें
ब्रह्मकी अनुवृत्ति है, इसकारण यहां (मध्यमें) भी ज्योति ब्रह्म ही है ऐसा समझना चाहिए।

सत्यानन्दी दीपिका

ज्योति ब्रह्म नहीं है । 'परो दिवो ज्योतिः' इस ज्योति वाक्यमें 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्या
दिवि' (छा० ३।१२।६) (सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद है और इसका त्रिपाद् अमृत प्रकाश
स्वात्मामें स्थित है) इस पूर्व वाक्यमें भी चतुष्पाद् ब्रह्मका निर्देश नहीं है, किन्तु 'गायत्री व
(छा० ३।१२।१) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें सर्वात्मकरूपसे गायत्री छन्दका निर्देश है । तथा
चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' (वह यह गायत्री चार पादवाली और छः प्रकारकी है) चतुष्पाद्
गायत्री छन्द ही कहा गया है । यदि छन्दद्वारा ब्रह्मका ग्रहण करें तो भी 'त्रिपादस्यामृतं दि
यहां अधिकरणार्थक सप्तमी है और 'परो दिवो ज्योतिः' इस अन्य श्रुतिमें अवधि अर्थमें पञ्चमी
इसप्रकार विभक्ति भेदसे भी ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञामें समान विभक्ति
अपेक्षा होती है । जैसे 'तदेवेदम्' 'सोऽयम्' इत्यादि, वह यहां नहीं है । इसलिए ज्योतिः श
आदित्यादि कार्य ज्योतिका ग्रहण करना युक्त है ।

* यहाँ ज्योतिः शब्दसे ब्रह्म ही ग्राह्य है, क्योंकि ब्रह्मको चतुष्पाद् कहा गया है । इस वि
'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनस्थितो जगत्' (भ० गी० १०।४२) (मैं इस सम्पूर्ण जगत्को
अंशसे व्याप्तकर स्थित हूँ) यह स्मृति प्रमाण भी है । इस बातको स्पष्ट करनेके लिए भगवान् भा
कार 'न केवलम्' इत्यादिसे संदंश न्यायका आश्रयण करते हैं । संदंश (संडसी) से किसी व
दो भाग गृहीत होते हैं, मध्यभाग उसके साथ सम्बधित न होनेपर भी अन्य भागोंके साथ गृहीत
जाता है । इसीप्रकार किसी पदार्थके पूर्वोत्तर भागका ग्रहण करनेसे मध्यभागके ग्रहणकी जहां वि
हो वहां यह न्याय प्रवृत्त होता है । जब 'तावानस्य महिमा' इस पूर्व वाक्य और शाण्डिल्य वि
पठित 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस उत्तर वाक्यमें ब्रह्मकी अनुवृत्ति है तो 'यदतः परो दिवो' इस
वाक्यमें भी ज्योतिः शब्दसे अनुवृत्त ब्रह्मका ग्रहण ही युक्त है, अन्यथा उक्त दोषकी प्रसक्ति हो
इसलिए यहां ज्योति ब्रह्म ही है ।

प्रसिद्धाविति । नायं दोषः; प्रकरणाद्ब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेषकत्वात् । दीप्यमानकार्यज्योतिरुपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसंभवात् । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।६।७) इति च मन्त्रवर्णात् । यद्वा—नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते; अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात् । 'वाचैवायं ज्योतिषास्ते' (बृ० ४।३।५), 'मनो ज्योतिर्जुषताम्' (तै० ब्रा० १।६।३।३) इति च । तस्माद्यद्यत्कस्यचिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते । तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कौ० २।५।१५) 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । यदप्युक्तं—द्युमर्यादत्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत इति । अत्रोच्यते—सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपासनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते । ननूक्तं निष्प्रदेशस्य ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत इति । नायं दोषः; निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसंबन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनोपपत्तेः । तथा हि—आदित्ये, चक्षुषि, हृदये, इति प्रदेशविशेषसंबन्धीनि ब्रह्मण उपासनानि श्रूयन्ते । एतेन 'विश्वतःपृष्ठेषु'

यह कहा गया है कि 'ज्योतिः और दीप्यते' ये शब्द कार्य ज्योतिमें प्रसिद्ध हैं, यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रकरणसे ब्रह्मका ज्ञान होनेपर ये दोनों शब्द ब्रह्मके व्यावर्तक न होनेके कारण प्रकाश्यमान कार्य ज्योतिसे उपलक्षित ब्रह्ममें भी उन दोनों शब्दोंका प्रयोग संभव है, कारण कि इसमें 'येन सूर्यस्तपति० (जिस तेजोमय चैतन्य आत्मासे दीप्त-प्रकाशित सूर्य तपता-जगत्को प्रकाश करता है) यह मन्त्र है। अथवा यह ज्योतिः शब्द चक्षु वृत्तिके अनुग्राहक तेजमें रूढ नहीं है, क्योंकि 'वाचैवायं० (वाणीरूप ज्योतिसे ही यह पुरुष गाढ अन्धकारमें स्वव्यापार करता है) 'मनो ज्योति० (घी सेवन करनेवालोंका मन प्रकाशक होता है) इसप्रकार अन्य अर्थोंमें भी ज्योतिः शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है । इसलिए जो जो किसी वस्तुका प्रकाशक है उस उसका ज्योतिः शब्दसे अभिधान होता है । ऐसा होनेपर सम्पूर्ण जगत्के प्रकाशका हेतु होनेसे चैतन्यरूप ब्रह्ममें भी 'तमेव भान्तम० (उस ब्रह्मके प्रकाशमान होनेपर ही सभी प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाशसे ये सब आदित्यादि प्रकाशित होते हैं) और 'तद्देवा० (चन्द्रादि देवगण उस पूर्ण ब्रह्मकी ज्योतियोंके ज्योतिरूपसे, आयुरूपसे एवं अमृतरूपसे उपासना करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे ज्योतिः शब्दका प्रयोग युक्त है । जो यह कहा गया है कि सर्वगत ब्रह्मको द्युलोक तक सीमित करना युक्त नहीं है । इसपर कहते हैं—उपासनाके लिए सर्वगत ब्रह्ममें भी प्रदेश विशेषका परिग्रह विरुद्ध नहीं है । परन्तु जो यह कहा गया है कि प्रदेश रहित ब्रह्ममें प्रदेश विशेषकी कल्पना युक्त नहीं है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रदेश रहित ब्रह्ममें भी उपाधि विशेषके सम्बन्धसे प्रदेश विशेषकी कल्पना हो सकती है । जैसे कि 'आदित्यमें, नेत्रमें, हृदयमें, इस प्रकार प्रदेश विशेष सम्बन्धी ब्रह्मकी उपासनाएँ सुनी जाती हैं । इससे 'विश्वतः पृष्ठेषु'

सत्यानन्दी दीपिका

* ज्योतिः शब्द ब्रह्म विषयक है, इसको 'प्रकरणाद्' इत्यादिसे सिद्ध करते हैं कि ज्योतिः शब्दका मुख्य अर्थ आदित्यादि कार्य ज्योति है, ब्रह्म तो लाक्षणिक अर्थ है । अब 'यद्वा' इत्यादिसे मुख्यार्थ कहते हैं—ज्योतिः शब्दका मुख्यार्थ ब्रह्म ही है, क्योंकि 'तमेव भान्तम' 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' (भ० गी० १३।१७) (यह तो आदित्यादि ज्योतियोंकी भी ज्योति और तमसे-अज्ञानान्धकारसे पर है ऐसा कहा जाता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें ज्योतिः शब्दसे ब्रह्म ही प्रतिपादित है । इसलिए ज्योतिः शब्दका मुख्यार्थ ब्रह्म ही है ।

* तं यथा यथोपासते तथा तथा फलं भवति' जिस-जिस गुण विशिष्ट उस परमेश्वरकी उपासना करता है उस उस रूप द्वारा ब्रह्म ही उपासनाके अनुसार फल देता है) यह श्रुति ब्रह्मको भी

इत्याधारबहुत्वमुपपादितम् । यदप्येतदुक्तं—औष्ण्यघोषाभ्यामनुमिते कौक्षेये कार्ये ज्योतिष्यध्यस्यमानत्वात्परमपि दिवः कार्यं ज्योतिरेव—इति,—तदप्ययुक्तम्; परस्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत्कौक्षेयज्योतिष्प्रतीकत्वोपपत्तेः । 'दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत' इति तु प्रतीकद्वारकं दृष्टत्वं च भविष्यति । ❀ यदप्युक्तमल्पफलश्रवणान्न ब्रह्मेति,—तदनुपपन्नम् । नहि इयते फलाय ब्रह्माश्रयणीयं, इयते नेति नियमहेतुरस्ति । यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसंबन्धं प ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते, तत्र संसारगोचराण्येवोच्चाव चानि फलानि दृश्यन्ते—'अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद' (बृ० ४।४।२४) इत्याद्यासु श्रुतिषु । यद्यपि न स्ववाक्ये किंचिज्ज्योतिषो ब्रह्मलिङ्गमस्ति, तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमानं ग्रहीतव्यं भवति । तदुक्तं सूत्रकारेण—'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति, ❀ कथं पुनर्वा क्यान्तरगतेन ब्रह्मसंनिधानेन ज्योतिःश्रुतिः स्वविषयाच्छक्या प्रच्यावयितुम् ? नैष दोषः

(विश्व-प्राणिवर्गके ऊपर) बहुत आधारोंका उपपादन हुआ समझना चाहिए । जो यह कहा गया है कि उष्णता और घोष (अन्तर्नाद) से अनुमित कुक्षिस्थ कार्य ज्योतिमें अध्यस्यमान होनेके कार द्युलोकसे पर कार्य ज्योति ही है) वह भी अयुक्त है, क्योंकि नामादि प्रतीकोंके समान कुक्षिस्थ का ज्योति भी परब्रह्मका प्रतीक हो सकता है । 'दृष्टं च श्रुतं० (वह दृष्ट और श्रुत है ऐसी उपासना करे) इस प्रकार प्रतीकद्वारा ब्रह्म दृष्ट और श्रुत हो जायेगा । जो यह कहा गया है कि अल्पफलके श्रव (श्रुति) से ज्योति ब्रह्म नहीं है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इतने फलके लिए ब्रह्मका आश्रय करना चाहिए इतने फलके लिए नहीं, इस नियममें कोई हेतु नहीं है । जहाँ सम्पूर्ण विशेषों सम्बन्धसे रहित परब्रह्मका आत्मरूपसे उपदेश किया जाता है, वहाँ एकरूप-तारतम्यसे रहित निरति मोक्ष ही फल है, ऐसा अवगत होता है । और जहाँ गुणविशेषके सम्बन्धसे अथवा प्रतीकविशेषों सम्बन्धसे ब्रह्मका उपदेश किया जाता है वहाँ नाना प्रकारके उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ संसार विषय फल 'अन्नादो० (परमेश्वर जीवरूपसे अन्न खाता है अथवा देता है, अतः 'अन्नाद है, कर्म फल अथ धन देता है, अतः 'वसुदान' है । इन दोनों गुणोंसे जो परमेश्वरकी उपासना करता है वह पुरुष अ खानेवाला और धनवान् होता है) इत्यादि श्रुतियोंमें देखे जाते हैं । यद्यपि [यदतः परो] स्ववाक्य ज्योति विषयक कुछ भी ब्रह्मलिङ्ग नहीं है, तो भी पूर्ववाक्यमें दृश्यमान ब्रह्मलिङ्गका ग्रहण कर चाहिए । इसलिए सूत्रकारने 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' ऐसा कहा है । परन्तु अन्य वाक्योंमें प्राप्त ब्रह्म

सत्यानन्दी दीपिका

अल्पफलका हेतु कहती है । ज्ञेय और उपास्य भेदसे ब्रह्मके दो रूप शास्त्रोंमें कहे गये हैं, निरुपाधि ब्रह्म ज्ञेय है और सोपाधिक ब्रह्म उपास्य । ज्ञेय ब्रह्म एक है, अतः उसके ज्ञान (ब्रह्मात्मैक्यज्ञान) मोक्ष फल भी एक ही है, उसमें अन्य फलोंके समान तारतम्य नहीं है । उपाधिके सम्बन्धसे निर्गुण ब्रह्म नानाकी तरह-सगुण सर्वज्ञ-सा होता है । 'अन्नादः, वसुदानः, सत्यकामः, सत्यसंकल इत्यादि गुणोंके सम्बन्ध से उसकी उपासना होती है । 'स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।१ (वह जो वाणीकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है) इत्यादि श्रुतियाँ प्रतीकोपासनाके उदाह इन श्रुतियोंमें प्रतीकोपासनाओंके तारतम्यसे भिन्न-भिन्न फल कहे गये हैं । इसलिए उपाधि ब्रह्ममें अल्पफलकी श्रुति सर्वथा युक्त है । यद्यपि 'अथ यदतःपरो' इस स्ववाक्यमें ज्योति ब्रह्म है, कोई लिङ्ग नहीं है, तथापि 'तावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पूरुषः' (छा० ३।१२।६) इस पूर्ववा 'उसका एक पाद सम्पूर्ण भूत हैं और तीन पाद अमृतरूप द्युमें हैं, इस प्रकार ब्रह्मका लिङ्ग उप होता है । उसका ही यहाँ ग्रहण करना युक्त है । इसलिए सूत्रकारने 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' सूत्रका उल्लेख किया है ।

'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे सत्यर्थाज्ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥२४॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥२५॥

पदच्छेद—छन्दोऽभिधानात्, न, इति, चेत्, न, तथा, चेतोर्पणनिगदात्, तथा, हि, दर्शनम् ।

सूत्रार्थ—(छन्दोऽभिधानात्) 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इस श्रुतिमें छन्द—गायत्रीका अभिधान है; अतः गायत्री ही चतुष्पाद् है, (न) ब्रह्म नहीं, (इति चेन्न) तो यह ठीक नहीं, क्योंकि (तथा) श्रुतिमें गायत्री छन्द द्वारा गायत्रीमें अनुगत ब्रह्ममें (चेतोर्पणनिगदात्) चित्तकी एकाग्रताका अभिधान है, अतः ब्रह्म ही चतुष्पाद् कहा गया है । और (तथा हि दर्शनम्) उसी प्रकार 'एतं ह्येव' आदि स्थलोंमें भी विकारद्वारा ब्रह्मकी ही उपासना देखी गई है ।

अथ यदुक्तं—पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच' (छा० ३।१२।१) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिहितत्वादिति, तत्परिहर्तव्यम् । कथं पुनश्छन्दोभिधानान्न ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुं ?, यावता 'तावानस्य महिमा' इत्येतस्यामृचि चतुष्पाद्ब्रह्म दर्शितम् । नैतदस्ति; 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेत-

---

सान्निध्यसे ज्योतिः श्रुति स्वविषय (अपने अर्थ) से कैसे दूरकी जा सकती है ? यह दोष नहीं है । 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इस श्रुतिमें सबसे पहले पठित सर्वनाम 'यत्' शब्द अपनी सामर्थ्यसे ब्रह्मका परामर्श करता है, इसीसे द्युसम्बन्धसे पूर्ववाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मके प्रत्यभिज्ञायमान होनेपर ज्योतिः शब्द भी अर्थतः ब्रह्म विषयक हो सकता है । इसलिए यहाँ ज्योति ब्रह्म है ऐसा समझना चाहिए ॥ २४ ॥

परंतु जो यह कहा गया है कि पूर्ववाक्यमें भी ब्रह्मका अभिधान नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा० (यह सब-प्राणिवर्ग और यह जो कुछ भी है, वह सब गायत्री ही है) इसमें गायत्री नामक छन्दका अभिधान है, तो इसका परिहार करना चाहिए । जब कि 'तावानस्य महिमा' (इतनी इसकी महिमा है) इस ऋचामें चतुष्पाद् ब्रह्म दिखलाया गया है, तो छन्दके अभिधानसे ब्रह्म अभिहित नहीं है, यह कैसे कह सकते हो ? पू०—यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस प्रकार गायत्रीका उपक्रम कर उसीका भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय, वाणी और प्राणके भेदोंसे व्याख्यान कर उसी व्याख्यात रूप गायत्रीके विषयमें 'सैषा चतुष्पदा० (वह यह गायत्री छः छः अक्षरोंसे चतुष्पाद् और भूत, पृथ्वी आदि भेदसे छः प्रकारकी है, वह यह (गायत्र्याख्य ब्रह्म) इस ऋचासे प्रकाशित किया गया है कि

सत्यानन्दी दीपिका

* प्रकरणसे ज्योतिः शब्द ब्रह्मपरक दिखलाकर अब सन्निधिसे भी दिखलाते हैं । परन्तु इससे पहले 'कथं पुनः' से पूर्व पक्षका अनुवाद करते हैं । सन्निधिसे श्रुति बलवती होती है, अतः 'यदतः परो' यहाँ ज्योतिः शब्दसे सूर्यादि कार्य ज्योतिका ग्रहण करना युक्त है । सि०—सर्वनाममें यह सामर्थ्य होती है कि वह अपनेसे पूर्वका परामर्श करे । इसलिए 'यदतः परो' इसमें पठित सर्वनाम 'यत्' पद अपनी सामर्थ्यसे ज्योतिः शब्दसे 'तावानस्य महिमा' इस पूर्व वाक्यमें निर्दिष्ट ब्रह्मका परामर्श करता है । इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट और सन्निहित ब्रह्मका ग्रहण होनेपर द्युलोकका सम्बन्ध तथा पूर्व वाक्यमें ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा आदि ब्रह्मके लिङ्ग सिद्ध होते हैं, इसलिए यहाँ ज्योतिः शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिए । पूर्वपक्षमें जठराग्निकी आदित्यादि कार्य ज्योतिरूपसे उपासना है और सिद्धान्तमें ब्रह्मदृष्टिसे, यह दोनोंमें अन्तर है ॥ २४ ॥

दृचाभ्यनूक्तं तावानस्य महिमा' इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथम-
कस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात् ? योऽपि तत्र 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३।१२।५,६) इति ब्रह्मशब्दः
सोऽपि छन्दसः प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३।११।३)
इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्माच्छन्दोभिधानान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्वमिति चेत्,
नैष दोषः; 'तथा चेतोर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चेतसोऽ
र्पणं चित्तसमाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते—'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति। नह्यक्षर
संनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं संभवति। तस्माद्यद्गायत्र्याख्यविकारेऽनुगतं जगत्का-
रणं ब्रह्म, तदिह सर्वमित्युच्यते। यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति। कार्यं
कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० २।१।१४) इत्यत्र।
तथान्यत्रापि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यते—'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त
एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' (ऐ० आ० ३।२।३।१२) इति। तस्मादस्ति छन्दोभिधा-
नेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम्। तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यत उपासना-
न्तरविधानाय। * अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते; संख्यासामा-
न्यात्। यथा गायत्री चतुष्पदा षडक्षरैः पादैः, तथा ब्रह्म चतुष्पात्। तथान्यत्रापि छन्दोभि-

---

इसकी इतनी महिमा है) उदाहरण रूपसे दिया गया यह मन्त्र विना किसी कारणके चतुष्पाद् ब्रह्म
किस प्रकार अभिधान करेगा ? उसी प्रकरणमें यद्वैतद्ब्रह्म० इस श्रुतिमें जो ब्रह्म शब्द है, वह
छन्दके प्रकरणमें पठित होनेसे छन्द विषयक ही है, क्योंकि य एतामेवं० (जो इस प्रकार इस ब्रह्मो
पनिषद्—वेदरहस्यमय मधु विद्याको जानता है) इस श्रुति में ब्रह्मोपनिषद्को वेदोपनिषद् कहते हैं
इसलिए छन्दके अभिधानसे ब्रह्म प्रकृत नहीं है, सिद्धान्ती—ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है
क्योंकि 'तथा चेतोर्पणनिगदात्' गायत्री नामक छन्द द्वारा उसमें अनुगत ब्रह्ममें चेतसोऽर्पणं—चित्त
एकाग्रता 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस ब्राह्मण वाक्यसे कही गई है। वस्तुतः अक्षर मिलनात्मक गायत्री
सर्वात्मक नहीं हो सकती। इसलिए गायत्री नामक विकारमें अनुगत जगत्का कारण जो ब्रह्म है वह
यहाँ सर्व शब्दसे कहा जाता है, जैसे कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म ही है) इस श्रुतिमें है
कार्य कारणसे अनन्य है, यह 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रमें कहेंगे। इसी प्रकार 'ए
ह्येव० (ऋग्वेदी उस महान् उक्थ (शस्त्र) रूप उपाधिमें अनुगत उसी परमात्माकी उपासना कर
हैं अर्थात् उक्थकी परमात्मदृष्टिसे उपासना करते हैं, यजुर्वेदी-अध्वर्यु अग्निरूप उपाधिमें उसी
उपासना करते हैं, सामवेदी महाव्रतरूप यागमें उसीकी उपासना करते हैं) इत्यादि अन्य स्थलोंमें
कार्य द्वारा ब्रह्मकी उपासना देखी जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्ववाक्य (पादोऽस्य)
छन्दका अभिधान होनेपर भी उसके द्वारा चतुष्पाद् ब्रह्म ही निर्दिष्ट है। अन्य उपासनाका विध
करनेके लिए ज्योति वाक्यमें भी उसीका परामर्श है। दूसरे एकदेशी कहते हैं—गायत्री शब्द
साक्षात् ही ब्रह्म प्रतिपादित है, क्योंकि संख्याकी समानता है। जैसे गायत्री छः अक्षरोंवाले पादों
चतुष्पदा है, वैसे ही ब्रह्म भी चतुष्पाद् है। इसी प्रकार अन्य स्थलोंमें भी छन्दका अभिधान करनेवा

सत्यानन्दी दीपिका

* अभी तक गायत्रीशब्द अजहल्लक्षणा द्वारा ब्रह्मरूप अर्थका प्रतिपादक कहा गया है।
भगवान् भाष्यकार 'अपर आह' से वृत्तिकारकी व्याख्याका अनुसरणकर गौणरूपसे गायत्री
वाच्यार्थके ग्रहण किए विना ही गायत्रीशब्द ब्रह्मका प्रतिपादक कहते हैं। संख्याकी समानतामें
श्रौत उदाहरण है 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छान्दो० ४।३।४) (वे
ही संवर्ग है—देवोंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण) 'संग्रहण अथवा संग्रसन करनेसे वायु और मुख्य

धायी शब्दोऽर्थान्तरे संख्यासामान्यात्प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद्यथा—'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' इत्युपक्रम्याह 'सैषा विराडन्नादी' (छा० ४।३।८) इति। अस्मिन्पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न छन्दोभिधानम्। सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म ॥२५॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

पदच्छेद—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः, च, एवम्।

सूत्रार्थ—(भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः) 'गायत्री वा इदं सर्वम्, इस श्रुतिमें भूत आदि पादोंका व्यपदेश ब्रह्ममें उपपन्न होता है, अतः गायत्रीशब्दसे गायत्रीमें अनुगत ब्रह्मका ही बोध होता है। (च) और (एवम्) 'विष्टभ्याऽहमिदम्' यह स्मृति भी ब्रह्ममें सर्वात्मता दिखलाती है।

❀ इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति, पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्मेति। यतो भूतादीन्पादा-

---

शब्द संख्याकी समानतासे अन्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ देखा जाता है, जैसे कि 'ते वा एते पञ्चान्ये० (वे ये [अग्नि आदि और वायु] पाँच [वागादिसे] अन्य हैं, तथा इनसे [वागादि और प्राण] ये पाँच अन्य हैं; इस प्रकार ये सब दस होते हैं ये दश कृत-कृतात्मक पासेसे उपलक्षित द्यूत हैं) ऐसा आरम्भ कर 'सैषा विराडन्नादी० (वह यह अन्न भक्षक विराड् ही है) इस तरह कहा है। इस पक्षमें ब्रह्मका ही अभिधान है छन्दका अभिधान नहीं है। पूर्व वाक्यमें भी सर्वथा ब्रह्म ही प्रकृत है ॥ २५ ॥

इस कारणसे भी पूर्ववाक्यमें ब्रह्म ही प्रकृत है यह स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि श्रुति भूत आदि पादोंका व्यपदेश करती है। भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदयका निर्देशकर श्रुति 'सैषा चतुष्पदा०

सत्यानन्दी दीपिका

प्राणको संवर्ग कहा गया है। देवताओंमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और जल ये वायुमें लीन होते हैं, अतः यह अधिदैव संवर्ग है। और शरीरमें वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन मुख्य प्राणमें लीन होते हैं। यह अध्यात्म संवर्ग है! 'ते वा एते पञ्चान्ये' वे ये अन्य पाँच आधिदैविक और अन्य पाँच आध्यात्मिक ये सब मिलकर 'दश' कृत कहलाते हैं। वस्तुतः द्यूत क्रीड़ामें कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नामके चार पासे होते हैं, वे क्रमशः चार, तीन, दो और एक अंकके होते हैं। कृत–४, त्रेता–३, द्वापर–२ और कलि–१। इस चार संख्यासे युक्त कृत दश संख्याका होता है; क्योंकि चारमें तीनका, तीनमें दोका और दोमें एकका अन्तर्भाव होनेसे दस होते हैं। वायु आदि भी दस हैं। इसप्रकार संख्याकी समानतासे कृतत्वका उपचार है। इसप्रकार वायु आदिके कृतत्वका उपक्रमकर कहते हैं 'सैषा' इत्यादि। यह विराड् शब्द छन्दका वाचक है, क्योंकि 'दशाक्षरा विराड्' (दस अक्षरों वाला छन्द विराड् होता है) ऐसी श्रुति है। दशत्वकी समानतासे वायु आदि विराड् कहलाते हैं। इसप्रकार दशत्वद्वारा वायु आदिमें कृतत्व और विराड्त्वका ध्यान करना चाहिए। उनमें विराड्के ध्यानसे उपासकके लिए सब अन्न होते हैं, क्योंकि 'अन्नं विराड्' यह श्रुति है। और 'वायु आदिमें कृतत्वके ध्यानसे अन्न भक्षक होता है, कारण कि कृत-द्यूत अन्नभक्षक है। कृत अपने चार अङ्कोंमें शेष तीन अङ्कोंका अपनेमें अन्तर्भाव करता है, अतः अन्नभक्षक-सा ज्ञात होता है। इसी कारण श्रुतिमें कृत-पासेकी जीतसे शेष अन्य पासे जीते जाते हैं। इससे कृतद्यूतको भक्षक कहा गया है। इस तरह वायु आदि दशात्मक होकर कृतनामक विराड् अन्न है और कृतत्वके कारण अन्नभक्षक कहलाता है। इसी प्रकार इस पक्षमें भी चतुष्पाद् संख्याकी समानताको लेकर ब्रह्मका ही प्रतिपादन है छन्दका नहीं। सर्वप्रकारसे लक्षक अथवा गौणरूपसे 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इस पूर्ववाक्यमें ब्रह्म ही प्रकृत है, छन्द नहीं। वस्तुतः यह वृत्तिकारका मत ठीक नहीं है, क्योंकि 'चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपदा भवति' अर्थात् गायत्री २४ अक्षर और तीन पाद वाली होती है, अतः इसका चतुष्पाद् ब्रह्मके साथ साक्षात् संख्याके द्वारा सादृश्य नहीं है ॥ २५ ॥

न्यपदिशति। भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निर्दिश्याह—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इति। नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा उपपद्यन्ते। अपि च ब्रह्माना-श्रयणे नेयमृक् संबध्येत—'तावानस्य महिमा' इति। अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभि-धीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।५) इति सर्वात्मत्वोपपत्तेः। पुरुषसूक्तेऽपीयमृग्ब्रह्मपरतयैव समाम्नायते। स्मृतिश्च ब्रह्मण एवंरूपतां दर्शयति—'विष्टभ्याह-मिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गी० १०।४२) इति। * 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३।१२।७) इ च निर्देशः। एवं सति मुख्यार्थ उपपद्यते। 'पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६) इति च हृद सुषिषु ब्रह्मपुरुषश्रुतिर्ब्रह्मसंबन्धितायां विवक्षितायां संभवति। तस्मादस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये ब्र प्रकृतम्। तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्ये द्युसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम् ॥२६

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

पदच्छेद—उपदेशभेदात्, न, इति, चेत्, न, उभयस्मिन्, अपि, अविरोधात्।

सूत्रार्थ—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' और 'यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते' इसप्रकार (उपदेशभेदात् उपदेशके भेदसे (न) प्रकृत ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती, (इतिचेन्न) ऐसा यदि कहो तो यह यु नहीं है, क्योंकि (उभयस्मिन्नपि) दोनों वाक्योंमें भी (अविरोधात्) प्रत्यभिज्ञाका विरोध नहीं है।

(वह यह गायत्री चार पादवाली और छः प्रकार की है) ऐसा कहती है। यदि ब्रह्मका ग्रहण न क तो भूत आदि केवल छन्दके पाद उपपन्न नहीं होते। किञ्च ब्रह्मका ग्रहण न करें तो 'तावान महिमा० (उतनी ही इस [गायत्र्याख्य ब्रह्म] की महिमा है) यह ऋचा समन्वित नहीं हो सकती वस्तुतः इस ऋचा द्वारा मुख्यरूपसे ब्रह्मका ही अभिधान होता है, क्योंकि 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि० इ प्रकार सर्वात्मता उपपन्न होती है। पुरुष सूक्तमें भी यह ऋचा ब्रह्मपरत्वसे ही अभिहित है। 'विष्टभ्या मिदं० (एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके मैं स्थित हूँ) यह स्मृति भी ब्रह्ममें सर्वात्म दिखलाती है। पूर्ववाक्यमें ब्रह्मके स्वीकार करनेसे ही 'यद्वैतद्ब्रह्म' (जो भी वह [त्रिपाद् अमृतत ब्रह्म है वह यही है) यह श्रुतिनिर्देश मुख्यार्थमें उपपन्न होता है। 'ते वा एते० (वे ये पाँच ब्रह्मपु [स्वर्गलोकके द्वारपाल] हैं) और इसप्रकार हृदयके छिद्रोंमें ब्रह्मपुरुष प्रतिपादक यह श्रुति भी ब्र साथ सम्बन्धित है ऐसा विवक्षित होनेपर ही संगत होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्ववाक ब्रह्म प्रकृत है, और द्युसम्बन्धसे प्रत्यभिज्ञायमान उसी ब्रह्मका ज्योतिर्वाक्यमें परामर्श होता है ॥ २६

सत्यानन्दी दीपिका

* 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इस वाक्यशेषमें सर्वात्मत्वका श्रवण अक्षरोंकी आनपूर्वीमिलना गायत्री छन्दमें कथंचिदपि संभव नहीं है, इसलिए गायत्रीमें अनुगत ब्रह्ममें लक्षणा अवश्य मा चाहिए, इसी अर्थको भगवान् सूत्रकार भी 'भूतादिपाद' इस सूत्रसे दिखलाते हैं।

* ब्रह्मपद गायत्री छन्द वाची है यह जो पहले कहा गया है उसका 'यद्वैतद्ब्रह्म' इससे निरा करते हैं। गायत्री उपाधिवाले ब्रह्मके हृदयरूपी नगरमें प्राण आदि देवताओंसे सुरक्षित पाँच छिद्र स्वर्गप्राप्तिके द्वार होनेसे इन्हें देवसुषि कहते हैं अर्थात् हृदयरूपी नगरमें पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ऊर्ध्व इन पाँच छिद्ररूपी द्वारोंमें प्राण, व्यान, अपान, समान और उदान अथवा चक्षु, श्रोत्र, मन और प्राण इन पाँच द्वारपालोंकी श्रुति द्वारा कल्पना की गई है। किञ्च हृदयरूपी नगरमें गा उपाधिवाले ब्रह्मकी उपासनाके लिए ब्रह्मके द्वारपाल होनेसे प्राण आदि अथवा चक्षु आदि ब्रह्म कहलाते हैं, इससे 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' यह श्रुति भी संगत होती है। वर्णोंकी मिलना छन्दरूप गायत्रीमें हृदयस्थ प्राण आदि पाँच ब्रह्मपुरुषोंका सम्बन्ध नहीं घट सकता है। इन पाँच पुरुषोंकी उपासना तथा फल (छा० ३।१३।१, २, ३, ४, ५) में द्रष्टव्य है ॥ २६ ॥

* यदप्येतदुक्तं पूर्वत्र—'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा; इह पुनः 'अथ यदतः परो दिवः, इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—नायं दोषः; उभयस्मिन्नप्यविरोधात्। उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशे न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते। यथा लोके वृक्षाग्रसंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च। एवं दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते। अपर आह—यथा लोके वृक्षाग्रेणासंबद्धोऽपि श्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इति च। एवं च दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते। तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम्। अतः परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दमिति सिद्धम् ॥२७॥

(११ प्रतर्दनाधिकरणम् । सू० २८-३१)

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

पदच्छेद—प्राणः, तथा, अनुगमात्।

सूत्रार्थ—(प्राणः) 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इस श्रुतिमें पठित प्राण परमात्मा ही है, वायु नहीं, क्योंकि (तथा) पूर्वापर वाक्योंका पर्यालोचन करनेपर (अनुगमात्) उक्त श्रुतिवाक्यमें आनन्द आदि पदोंका समन्वय ब्रह्मपरक ही उपलब्ध होता है।

यह जो कहा गया है कि 'त्रिपादस्या० इस श्रुति वाक्यमें सप्तमी विभक्ति द्वारा 'द्यु' आधाररूपसे उपदिष्ट है और 'अथ यदतः परो०' इस श्रुतिवाक्यमें पंचमी विभक्ति द्वारा 'द्यु' मर्यादारूपसे उपदिष्ट है, अतः उपदेशके भेदसे उसका (ब्रह्मका) यहां प्रत्यभिज्ञान नहीं है, उसका परिहार करना चाहिए। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है। क्योंकि दोनों वाक्योंमें विरोध नहीं है। दोनोंमें भी सप्तम्यन्त और पंचम्यन्त उपदेशमें भी प्रत्यभिज्ञानका विरोध नहीं है। जैसे लोकमें वृक्षके अग्रभागसे सम्बद्ध श्येन (बाजपक्षी) 'वृक्षके अग्रभागमें श्येन है' 'वृक्षके अग्रभागसे परे श्येन है' इस तरह दोनों प्रकारसे उपदेश किया हुआ देखा जाता है। वैसे ही 'द्यु' में ही होता हुआ ब्रह्म द्युसेपरे है, ऐसा उपदेश किया जाता है। दूसरे कहते हैं—जैसे लोकमें वृक्षके अग्रभागसे श्येनका सम्बन्ध न होनेपर भी 'वृक्षके अग्रभागपर श्येन है' 'वृक्षके अग्रभागसे परे श्येन है' इसतरह दोनों प्रकारसे उपदेश किया हुआ देखा जाता है। इसीप्रकार द्युसेपरे भी होता हुआ ब्रह्म 'द्युमें' ऐसा उपदेश किया जाता है। इसलिए पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मका यहां प्रत्यभिज्ञान है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्योतिः शब्द परब्रह्मका ही वाचक है ॥ २७ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* विभक्तिके भेदसे कथित अर्थ भेद युक्त नहीं है, क्योंकि जो आधार होता है वह कथंचित् मर्यादा भी हो सकता है। जैसे वृक्षके अग्रभागमें श्येनके पाद आदि जितने अवयव संयुक्त रहते हैं उतने अवयवोंका वह आधार होता हुआ ही उससे-पक्ष आदि से असंयुक्त अवयवोंको लेकर श्येनकी मर्यादा होता है। उसीप्रकार द्यु, सूर्य अथवा हृदयाकाशरूप मुख्य आधारमें ब्रह्म है, उस आधारसे भिन्न आकाशावच्छिन्न ब्रह्मका वह आधार (मर्यादा) होता है, इसप्रकारकी कल्पनाकर 'ब्रह्म द्युसे परे है' ऐसा कहा गया है। अत्र 'अपर आह' इत्यादि भाष्यसे मर्यादाको मुख्य मानकर कहते हैं अर्थात् निरुपाधिक ब्रह्मको लेकर पंचमीका मुख्यार्थ कहें तो यहां 'दिवि' में सप्तमीका अर्थ लक्षणासे सामीप्य होगा। 'गङ्गायां घोषः' जैसे यहां गंगापदसे संयुक्त सप्तमीका अर्थ लक्षणासे सामीप्य होता है, उसीप्रकार 'दिवि' यहां लक्षणासे सामीप्य अर्थको लेकर आधार कहना होगा और पंचमीका अर्थ

❀ अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासि न्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता। तस्यां श्रूयते—'स होवा प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति। तथोत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञा शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।१,२,३) इति। तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विधा इति। अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' (कौ० ३।८) इत्यादि। ❀ त संशयः—किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयते, उत देवतात्मा, उत जीवः, अथवा ब्रह्मेति। ननु 'अत एव प्राणः' इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम्। इहापि च ब्रह्मलि मस्ति—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि। कथमिह पुनः संशयः संभवति ? अनेकलिङ्गदर्शन

'प्रतर्दनो ह वै० (दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन युद्ध और पराक्रमसे इन्द्रके प्रियधाम-स्वर्गको ग इसप्रकार आरम्भकर कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद्में इन्द्र और प्रतर्दनकी आख्यायिका कही गई है उसमें 'स होवाच प्राणोऽस्मि० (उस इन्द्रने कहा—मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ, उस मेरी आयु त अमृतरूपसे उपासनाकर) ऐसा श्रुति कहती है। उसीप्रकार आगे भी 'अथ खलु प्राण एव' (वा आदि इन्द्रियोंकी शरीर धारण करनेमें सामर्थ्य नहीं है ऐसा निश्चय होनेके अनन्तर निश्चय प्रज्ञा प्राण ही इस देहको अहंता-ममतासे स्वीकारकर शयन, आसन आदिसे उठाता है) उसीप्रकार आ भी 'न वाचं० (वाणीको जाननेकी इच्छा न करे वक्ताको जाने) इत्यादि श्रुति है। और अ 'स एष प्राण एव' (वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है) इत्यादि श्रुति है यहां यह संशय होता है क्या यहां प्राणशब्दसे वायु मात्र अभीहित है अथवा देवतात्मा अथवा अथवा परब्रह्म ? परन्तु 'अत एव प्राणः' इस सूत्रमें तो प्राणशब्द ब्रह्मपरक है, ऐसा वर्णन कि जा चुका है और यहां भी 'आनन्द, अजर और अमृत है' इत्यादि ब्रह्मके लिङ्ग हैं, तो फिर संशय ही कैसे हो सकता है ? अनेक लिङ्गोंके दर्शनसे यहां संशय हो सकता है, ऐसा हम

सत्यानन्दी दीपिका

मर्यादा, इस तरहसे दोनों वाक्य ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि आधार और मर्यादा औपाधिक होनेसे ब्रह्ममें कल्पित हैं, अतः ज्योति वाक्यमें ज्योतिः शब्द भी ब्रह्मका ही वाचक है ॥

* राजा प्रतर्दन बुद्धिकौशल आदिसे स्वर्गमें पहुँचा। प्रतर्दनका युद्धकौशल और कौशल देखकर इन्द्रने कहा, हे प्रतर्दन ! मैं तुमपर अतिप्रसन्न हूँ तुम मुझसे अभीष्ट वर माँ प्रतर्दन बोला—हे देवराज इन्द्र ! मनुष्यके लिए सबसे अधिक हितकारक जो वर हो वही दीजि इसपर इन्द्रने 'प्राणोऽस्मि' 'मैं प्राण हूँ' इत्यादि कहा। इन्द्रके इस कथनपर अत्र विचारणी है कि इस श्रुतिवाक्यमें पठित प्राणशब्दसे कहीं मुख्य प्राणका ग्रहण न हो, अतः यहां 'प्रज्ञा कहा गया है। सर्व विशेष रहित चेतन ब्रह्मका ग्रहण न हो इसलिए 'तं मां' पद कहे गए हैं। पदोंसे यहां प्राणशब्दसे इन्द्र देवताका ही ग्रहण होता है। परन्तु आगे 'अथ खलु प्राण एव' प्रकार मुख्यप्राणका लिङ्ग भी है। इसीप्रकार 'न वाचं' इस वाक्यमें प्राणशब्दसे जीवका ग्रहण है। क्योंकि उसमें वक्तृत्वलिङ्ग विद्यमान है। और आगे 'स एष प्राण एव' इस श्रुतिवाक्यसे आनन्द आदि ब्रह्म बोधक लिङ्ग उपलब्ध होते हैं। इससे प्राणशब्दसे ब्रह्मका भी ग्रहण हो सकता इसप्रकार मुख्यप्राण, जीव, देवता और ब्रह्म बोधक लिङ्गोंके विद्यमान होनेपर निश्चय करनेके सूत्रकारने इस अधिकरणका आरम्भ किया है।

* 'प्राणोऽस्मि' इससे लेकर 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' यहां तक वाक्य समुदाय इस अधि सूत्रके विषय हैं अर्थात् इन वाक्योंको लेकर ही यहां विचार किया गया है। गत अधिकरणमें ब्रह्मवाचक 'यत्' शब्दके बलसे ज्योतिः श्रुति ब्रह्मपरक कही गई, परन्तु यहां प्राण श्रुतिके भङ्ग

दिति ब्रूमः । न केवलमिह ब्रह्मलिङ्गमेवोपलभ्यते, सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि । 'मामेव विजानीहि' (कौ० ३।१) इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम् । इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम् । 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गम् । अत उपपन्नः संशयः । तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण इति प्राप्त उच्यते—प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम् । कुतः ? तथाऽनुगमात् । तथा हि—पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते । उपक्रमे तावत् 'वरं वृणीष्व' इतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनः परमं पुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप—'त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति । तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात् ? नह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्धिततमप्राप्तिरस्ति । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया' (कौ० ३।१) इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे घटते । ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मु० २।२।८) इत्याद्यासु श्रुतिषु । प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते । नह्यचेतनस्य वायोः प्रज्ञात्मत्वं संभवति । तथोपसंहारेऽपि—'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्यक् संभवन्ति । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीया-

---

हैं । यहां केवल ब्रह्मका लिङ्ग ही उपलब्ध नहीं होता, अपितु अन्यके लिङ्ग भी हैं । जैसे कि 'मामेव विजानीहि' (मुझको ही जान) यह इन्द्रका वचन देवतात्माका लिङ्ग है । 'इदं शरीरं० (इस शरीरको पकड़कर उठाता है) यह मुख्य प्राणका लिङ्ग है । 'न वाचं० (वाणीके जाननेकी इच्छा न करे वक्ताको जाने) इत्यादि जीवका लिङ्ग है । अतः संशय होना युक्त है । संशय होनेपर प्राणशब्दकी वायु विकार रूप मुख्य प्राणमें प्रसिद्धि होनेके कारण यहाँ प्राणशब्दसे मुख्य प्राणका ही ग्रहण करना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर कहते हैं—प्राणशब्द ब्रह्मका वाचक समझना चाहिए। क्योंकि श्रुतिसे ऐसा ही अनुगम-अवगम होता है । जैसे कि पूर्वापर वाक्यका पर्यालोचन करनेपर पदार्थोंका समन्वय ब्रह्म प्रतिपादन विषयक उपलब्ध होता है । आरम्भमें तो 'वरं वृणीष्व० (वर मांग) इस प्रकार इन्द्रके कहनेपर प्रतर्दनने परम पुरुषार्थरूप वर मांगा 'त्वमेव मे वृणीष्व' (आप स्वयं ही विचारकर मुझे वह वर दें, जिसे आप मनुष्यके लिए सबसे बढ़कर हितकर समझते हों) उस (प्रतर्दन) के लिए सबसे बढ़कर हिततमरूपसे उपदिष्ट हुआ प्राण परमात्मा क्यों न हो ! परमात्माके ज्ञानके सिवा अन्य साधनोंसे हिततमकी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि 'तमेव० (उस-परमात्मा को ही जानकर पुरुष जन्म मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है, उसको प्राप्त करनेके लिए परमात्माके ज्ञानसे भिन्न दूसरा और कोई उपाय नहीं है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं । इसी प्रकार 'स यो मां वेद० (वह जो कोई विद्वान् मुझ (ब्रह्म) को साक्षात् अनुभव करता है उसका मोक्ष रूप लोक किसी भी कर्मसे, स्तेय (चोरी) अथवा भ्रूणहत्यासे नष्ट नहीं होता) इत्यादि श्रुति वाक्य ब्रह्मका ग्रहण करनेसे ही संगत होते हैं । क्योंकि 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (उस परात् पर ब्रह्मका ज्ञान होनेपर इस विद्वान्के सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं) इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मविज्ञानसे ही सब कर्मोंका क्षय प्रसिद्ध है । और प्रज्ञात्मत्व (जीवत्व) भी ब्रह्मपक्षमें ही उपपन्न होता है अचेतन वायु प्रज्ञात्मा नहीं हो सकता है । उसी प्रकार उपसंहारमें भी 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' ऐसे आनन्दत्व आदि ब्रह्मसे भिन्न अन्यमें अच्छी तरह संभव नहीं हैं । 'स न साधुना० (वह पुण्य कर्मोंसे महान् नहीं होता और पाप कर्मोंसे घटता

सत्यानन्दी दीपिका

बल नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अनेक लिङ्ग कुछ निश्चय करनेमें समर्थ नहीं हैं, अतः प्रत्युदाहरण-संगतिसे 'तत्र' आदिसे पूर्व पक्षका उत्थान करते हैं ।

लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमे
नेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमे
लोकेभ्योऽधो निनीषते' इति, 'एष लोकाधिपतिरेष लोकपाल एष लोकेशः' (कौ० ३।८) इति
सर्वमेतत्परस्मिन्ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्ये प्राणे। तस्मात्प्राणो ब्रह्म ॥ २

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—न, वक्तुः, आत्मोपदेशात्, इति, चेत्, अध्यात्मसम्बन्धभूमा, हि, अस्मिन्।

सूत्रार्थ—ऐसा यदि कहो कि (वक्तुः) वक्ता इंद्रने (आत्मोपदेशात्) 'मामेव विजानी
इससे अपने आत्माका उपदेश किया है, अतः 'प्राणोऽस्मि' यहाँ प्राणशब्द परब्रह्मवाचक नहीं
(इति चेत्) ऐसा यदि कहो तो (अस्मिन्) इस अध्यायमें (अध्यात्मसम्बन्धभूमा) 'प्राण
प्रज्ञात्मा:' इस प्रकार प्रत्यगात्मसम्बन्धका बाहुल्य उपलब्ध होता है। (हि) इसलिए यह ब्रह्मका
उपदेश है, देवताविशेषका नहीं।

यदुक्तं—प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते। न परं ब्रह्म प्राणशब्दम्। कस्मात्? वक्तुरात्मो
पदेशात्। वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान्देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायाचचक्षे
'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहंकारवादेन। स एष वक्तुरात्मत्वे
पदिश्यमानः प्राणः कथं ब्रह्म स्यात्? नहि ब्रह्मणो वक्तृत्वं संभवति, 'अवागमनाः' (
३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा विग्रहसंबन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसंभवद्भिर्धर्मैरात्मानं तुष्टाव
'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीञ्शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इत्येवमादिभिः। प्राणत्वं चेन्द्र
बलवत्त्वादुपपद्यते। 'प्राणो वै बलम्' इति हि विज्ञायते। बलस्य चेन्द्रो देवता प्रसिद्धा।
च काचिद्बलप्रकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति हि वदन्ति। प्रज्ञात्मत्वमप्यप्रतिहतज्ञानत्वाद्देवतात्म

नहीं) यही जिसको इस लोकोंसे ऊँचा ले जाना चाहता है उस पुरुषसे पुण्य कर्म कराता है और
जिसको इन लोकोंसे नीचे ले जाना चाहता है उस पुरुषसे पापकर्म कराता है) और 'एष लोकाधिप
(यह लोकाधिपति है यह लोकपाल, यह लोकेश है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। ये सब [धर्म-अधर्मका क
सर्वेश्वरत्व आदि धर्म] पर ब्रह्मका आश्रयण करनेसे ही ठीक-ठीक अनुगत हो सकते हैं, वायुके
मुख्य प्राणका आश्रयण करनेसे नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राण ब्रह्म है अर्थात् प्राण श
ब्रह्मका ही ग्रहण सर्वथा युक्त है ॥ २८ ॥

प्राण ब्रह्म है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है। प्राणशब्द परब्र
वाचक नहीं है, क्योंकि वक्ता अपने आत्माका उपदेश करता है। और यहाँ वक्ता इन्द्र नामका
देहधारी एक देवताविशेष है, उसने 'मामेव० (मुझको ही जानो) ऐसा आरम्भ कर 'प्राणोऽ
(मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ) इस प्रकार अपने आत्माका ही अहङ्कार पूर्वक शब्दोंमें प्रतर्दनके
उपदेश किया है। वक्ताद्वारा आत्मरूपसे उपदेश किया हुआ वही प्राण ब्रह्म किस प्रकार हो
है। क्योंकि 'अवागमनाः' (वह वाणी और मनसे रहित है) इत्यादि श्रुतियोंसे भी यह दिख
गया है कि ब्रह्ममें वक्तृत्वका सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्ममें संभव न होनेवाले शरीर स
धर्मोंद्वारा इन्द्रने 'त्रिशीर्षाणं० (त्वष्टाके तीन शिरवाले विश्वनामक पुत्रको मैंने मारा, वे
विमुख यतियोंको जंगलके कुत्तोंको खिला दिया) इत्यादि वचनोंसे अपनी स्तुतिकी है। बलवान्
इन्द्रमें प्राणत्व उपपन्न होता है, क्योंकि 'प्राणो वै बलम्' (प्राण ही बल है) ऐसा ज्ञात हो
और इन्द्र बलका प्रसिद्ध देवता है। (जो कोई भी बलका काम है वह इन्द्रका ही कर्म है)

सत्यानन्दी दीपिका

पूर्व पक्षमें प्राण, देवता अथवा जीवकी उपासना है और सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपास
इतना दोनों पक्षोंमें अन्तर है ॥ २८ ॥

संभवति। अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति। निश्चिते चैवं देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासंभवं तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि। तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेत्याक्षिप्य प्रतिसमाधीयते—'अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्' इति। अध्यात्मसंबन्धः प्रत्यगात्मसंबन्धः, तस्य भूमा बाहुल्यम्, अस्मिन्नध्याय उपलभ्यते। 'यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातत्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य पराचीनस्य। तथाऽस्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति। तथा 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' (कौ० ३।३) इति, 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इति चोपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इति विषयेन्द्रियव्यवहारारनाभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति। 'स म आत्मेति विद्यात्' इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न पराचीनपरिग्रहे। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभुः' (बृह. २।५।१९) इति च श्रुत्यन्तरम्। तस्मादध्यात्मसंबंधबाहुल्याद्ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः ॥२९॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेशः ?

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

पदच्छेद—शास्त्रदृष्ट्या, तु, उपदेशः, वामदेववत्।

सूत्रार्थ—(वामदेववत्) वामदेवके समान (शास्त्रदृष्ट्या) मैं परब्रह्म हूँ, इस शास्त्रदृष्टिसे (उपदेशः) 'मामेव विजानीहि' वक्ता इन्द्रका यह उपदेश प्रतर्दनके प्रति युक्त है, इसलिए 'प्राणोऽस्मि' यह प्राणशब्द ब्रह्मपरक है।

लोग कहते हैं। अप्रतिहत (अकुण्ठित) ज्ञानवाला होनेसे देवतात्मा भी प्रज्ञात्मा हो सकता है। देवता अप्रतिहत ज्ञानवाले होते हैं ऐसा [वेद और लोकमें] कहते हैं। इस प्रकार देवतात्माका उपदेश निश्चित होनेपर हिततमत्व आदि वचनोंकी यथासंभव उसीमें ही योजना करनी चाहिए। अतः वक्ता इन्द्रका आत्मोपदेश होनेसे प्राण ब्रह्म नहीं है, ऐसा आक्षेप कर 'अध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन्' इस सूत्र भागसे उसका समाधान करते हैं। अध्यात्मसम्बन्ध अर्थात् प्रत्यगात्मसम्बन्ध उसका बाहुल्य (अधिकता) इस अध्यायमें उपलब्ध होता है। 'यावद्ध्यस्मिन्० (जब तक इस शरीरमें प्राण रहता है तब तक आयु है) यह श्रुति वाक्य प्रज्ञात्मा प्रत्यग्भूत प्राणमें ही आयु देने और हरनेकी स्वतन्त्रता दिखलाता है, बाह्यदेवताविशेषमें नहीं। उसी प्रकार 'अस्तित्वे० (प्राणका अस्तित्व होनेसे ही इन्द्रियोंका निःश्रेयस है अर्थात् इस शरीरमें प्राणके विद्यमान होनेपर इन्द्रियोंकी स्थिति होती है) यह श्रुति वाक्य इंद्रियोंका आश्रय अध्यात्म—प्रज्ञात्मा प्राणको ही दिखलाता है। तथा 'प्राण एव' प्राण ही प्रज्ञात्मा इस शरीरको ग्रहणकर उठाता है, इसप्रकार और 'न वाचं० (वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, वक्ताको जाने) ऐसा आरम्भकर 'तद्यथा० (जैसे रथके अरोंमें नेमि लगी रहती है और नाभिमें अर लगे रहते हैं, उसीप्रकार ये भूत और विषय ज्ञान और इन्द्रियोंसे जुड़े हुए हैं, ज्ञान और इन्द्रियां प्राणसे जुड़ी हुई हैं वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर और अमृत है) इसप्रकार [यह श्रुति] विषय और इन्द्रियोंके व्यवहाररूप अरेके नाभिभूत प्रत्यगात्माका ही उपसंहार करती है। और 'स म आत्मेति० (वह मेरा आत्मा-स्वरूप-है ऐसा जाने यह उपसंहार प्रत्यगात्माका ग्रहण करनेपर ही संगत होता है, बाह्य देवताके ग्रहण करनेपर नहीं 'अयमात्मा० (यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है) इसप्रकार यह दूसरी श्रुति है। इससे यहां प्रत्यगात्माके सम्बन्धका बाहुल्य होनेके कारण ब्रह्मका ही यह उपदेश है न कि देवतात्माका उपदेश है ॥ २९ ॥

तब वक्ताने अपने आत्माका उपदेश किसप्रकार किया है ?

इन्द्रो नाम देवतात्मानं स्वमात्मानं परमात्मत्वेनाहमेव परं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शने यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म—'मामेव विजानीहि' इति। यथा 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदे प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' इति, तद्वत्। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' (बृ० १।४।१०) इति श्रुतेः। यत्पुनरुक्तं 'मामेव विजानीहि' इत्युक्त्वा विग्रहधर्मैरिन्द्र आत्मा तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—न तावत् त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेये स्तुत्यर्थत्वेनोपन्यासः, यस्मादेवंकर्माहं तस्मान्मां विजानीहीति। कथं तर्हि ? विज्ञानस्तु र्थत्वेन यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनि साहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसंदधाति—'त मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते' इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—यस्मादीदृशान्यपि क्रूराणि कर्माणि कृतवतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि हिंस्यते, स योऽन्योऽपि मां वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति। विज्ञेयं ब्रह्मैव प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति वक्ष्यमाणम्। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतत् ॥ ३० ॥

इन्द्र नामके देवताने आर्षदर्शनसे अपने आत्माको परमात्मरूपसे 'मैं ही परब्रह्म हूं' इस तर यथाशास्त्र जानकर, तदनुसार उसने 'मामेव विजानीहि' (मुझको ही जान) ऐसा उपदेश कि है। जैसे 'तद्धैतत्० (उसे (ब्रह्मको) आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—मैं मनु हु और सूर्य भी) क्योंकि 'तद्यो यो० (उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया) ऐ श्रुति है। और 'मामेव० (मुझको ही जान) ऐसा कहकर इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके ह आदि देहधर्मोंसे अपनी स्तुतिकी ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार (समाधान) करना चाहिए इस विषयमें कहते हैं कि त्वष्टाके पुत्रके बध आदिका उपन्यास 'मैं ऐसा पराक्रमी हूँ, अतः मेरा ज्ञा प्राप्त करो' यह विज्ञेय देहधारी इन्द्रकी स्तुतिके लिए नहीं है, तो किसके लिए है ? विज्ञान स्तुतिके लिए है। क्योंकि त्वष्टापुत्रके बध आदिके साहसका उल्लेख कर विज्ञानकी स्तुतिका 'त मे तत्र० (वहाँ मुझ पराक्रमशालीका बाल भी बांका नहीं होता, जो मुझे जानता है उसका किसी भी कर्मसे नष्ट नहीं होता) इत्यादि उत्तरवाक्यसे अनुसन्धान करता है। तात्पर्य यह है कि प्रकार हिंसात्मक क्रूर कर्म करनेपर भी ब्रह्मरूप होनेसे मेरा एक बाल भी नष्ट नहीं हुआ अर्थ मेरी ब्रह्मरूपतामें बाल भर भी हानि नहीं हुई। वह जो कोई दूसरा भी इसी प्रकार मुझे ब्रह्मरू जानता है अर्थात् अपनेको 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा अनुभव करता है उसका मोक्षरूप लोक किसी कर्मद्वारा नष्ट नहीं होता। अतः 'प्राणोऽस्मि० (मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूं) इस प्रकारसे वर्णित कि तो वक्ष्यमाण ब्रह्म है। इस कारण यह वाक्य ब्रह्म विषयक है ॥ ३० ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* गर्भस्थ ऋषि वामदेवने ज्ञान प्राप्त किया कि 'मैं ही मनु और सूर्य हुआ' यह आर्ष कहलाता है। पूर्व जन्ममें श्रुत वेदान्त-महावाक्यार्थकी इस जन्ममें स्वतः सिद्ध आत्मज्ञानरूपसे अ व्यक्ति ही आर्षदर्शन है।

* 'तस्य मे तत्र' इत्यादि स्तुति परक सब वाक्य ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं। साथ-सा उनमें ब्रह्मज्ञानकी महिमा भी बताई गई है कि ब्रह्मज्ञान पाकर वह विद्वान् किसी भी पुण्य-पा लिप्त नहीं होता। 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय' (गीता० ४।४१) (हे धनंज आत्मज्ञानीको शुभाशुभ कर्म नहीं बाँधते अर्थात् शुभाशुभ फल नहीं देते) क्योंकि 'ज्ञानाग्निः स कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (गी० ४।३७) (उसी प्रकार ज्ञान अग्नि सब कर्मों को भस्म कर दे है) 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मवित् ब्रह्म ही है) अतः उसका नाश कर्म आदिसे नहीं हो सक इसलिए 'प्राणोऽस्मि' इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म ही विज्ञेय है इन्द्र आदि देवता नहीं ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३१॥

पदच्छेद—जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्, न, इति, चेत्, न, उपासात्रैविध्यात्, आश्रितत्वात्, इह, तद्योगात्।

सूत्रार्थ—(जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्) 'वक्तारं विद्यात्' इस श्रुतिमें जीवलिङ्ग और 'इदं शरीरं' इसमें मुख्यप्राणलिङ्गके होनेसे (न) 'प्राणोऽस्मि' इस वाक्यमें प्राणशब्दसे केवल ब्रह्मका ही बोध नहीं होता, अपितु जीव और मुख्यप्राणका भी बोध होता है। (इति चेत्) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (उपासात्रैविध्यात्) क्योंकि ऐसा होनेसे तीन उपासनाएँ माननी पड़ेंगी। उपक्रम और उपसंहारसे एकवाक्यता अवगत होती है, (आश्रितत्वात्) और 'प्राण इति होवाच' इत्यादि स्थलोंमें ब्रह्मलिंग होनेके कारण प्राणशब्दका अर्थ ब्रह्म ही स्वीकार किया गया है। (इह) इस श्रुतिमें भी (तद्योगात्) हिततमत्व आदि ब्रह्मलिंगका योग है। इनसे भी प्राणशब्दसे यहाँ ब्रह्मका ही उपदेश ज्ञात होता है।

❀ यद्यप्यध्यात्मसंबन्धभूमदर्शनान्न पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति। कुतः ? जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च। जीवस्य तावदस्मिन्वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि। अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते। तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति। शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य धर्मः, प्राणसंवादे वागादीन्प्राणान्प्रकृत्य—'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' (प्र० २।३) इति श्रवणात्। ये तु 'इमं शरीरं परिगृह्य' इति पठन्ति, 'तेषामिमं जीवमिन्द्रियग्रामं वा परिगृह्य' शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम्।

यद्यपि अध्यात्मसम्बन्धकी अधिकता दिखाई देनेसे बाह्य देवतात्माका उपदेश नहीं है, तो भी यह प्राणवाक्य केवल ब्रह्मविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि यहां जीवलिंग और मुख्यप्राणके लिंग उपलब्ध होते हैं। 'न वाचं० (वाणीको जाननेकी इच्छा न करे वक्ताको जाने) इत्यादि वाक्यमें जीवका लिंग तो स्पष्ट उपलब्ध होता है; क्योंकि यहां वाणी आदि इन्द्रियोंसे व्यापार करने वाला, शरीर और इन्द्रियोंका अध्यक्ष-स्वामी जीव विज्ञेयरूपसे अभीहित है। इसीप्रकार 'अथ खलु प्राण एव० (निश्चय प्राण ही प्रज्ञात्मा इस शरीरको ग्रहणकर उठाता है) इस वाक्यमें मुख्य प्राणका भी लिंग (ज्ञापन) है। क्योंकि शरीर धारण करना मुख्य प्राणका धर्म है, प्राणसंवादमें वाणी आदि प्राणों-इन्द्रियोंको प्रस्तुतकर 'तान्वरिष्ठ प्राण उवाच० (उनमेंसे अत्यन्त श्रेष्ठ प्राणने उन इन्द्रियोंसे कहा तुम मोह-अभिमानको मत प्राप्त हो, क्योंकि मैं ही अपनेको पाँच प्रकारसे विभक्तकर इस शरीरको आलम्बन देकर धारण करता हूँ)ऐसी श्रुति है। और जो कोई 'इदं शरीरं' इस 'इदं' के स्थान में 'इमं शरीरं' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं, उनके मतमें इस जीव, अथवा इन्द्रिय समूहका ग्रहणकर शरीरको उठाता है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। चेतन होनेके कारण जीवमें प्रज्ञात्मत्व भी युक्त है।

सत्यानन्दी दीपिका

प्रश्नोपनिषद्में मुख्य प्राण और चक्षु आदि इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंका संवाद है—एक समय वे सब अपनी-अपनी महिमाको प्रकट करते हुए कहने लगे कि हम ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करते हैं, तब उनसे सर्वश्रेष्ठ मुख्यप्राणनें कहा—अविवेकके कारण तुम मिथ्या अभिमान मत करो, क्योंकि अपने प्राण, अपान आदि पाँचवृत्ति भेदकर मैं ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करता हूँ। प्राणके इस कथनपर उन सबने विश्वास नहीं किया। तब प्राण उनके अभिमान निवृत्त्यर्थ ऊपरको निकलने लगा, उसके ऊपर उठनेके साथ शेष सभी खिंचने लगे, तथा उसके

प्रज्ञात्मत्वमपि जीवे तावच्चेतनत्वादुपपन्नम् । मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादु
पपन्नमेव । जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनोः सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देशः, स्वरूपेण
भेदनिर्देश इत्युभयथापि निर्देश उपपद्यते—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः स
ह्येतावस्मिन्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति । ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्भिद्येत ? तस्मादि
जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा प्रतीयेयातां न ब्रह्मेति चेत्—❀ नैतदेवम्; उपासात्रैवि
ध्यात् । एवं सति त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत—जीवोपासनं, मुख्यप्राणोपासनं, ब्रह्मोपास
चेति । नचैतदेकस्मिन्वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम् । उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमव
गम्यते । 'मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व'
इत्युक्त्वा, अन्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येकरूपावुपक्रमोपसंहारौ दृश्येते ।
तत्राथैकत्वं युक्तमाश्रयितुम् । नच ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्यम् । दशानां भूतमा
त्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानुपपत्तेः । आश्रितत्वाच्चान्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात्प्राणशब्दस्
ब्रह्मणि प्रवृत्तेः । इहापि च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगाद्ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते ।
यत्तु मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्—'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति—तदसत्; प्राणव्यापार

प्रज्ञा (ज्ञान) के साधनभूत अन्य इन्द्रियोंका आश्रय होनेसे मुख्यप्राणमें भी प्रज्ञात्मत्व उप
ही है । यदि प्राणशब्दका अर्थ जीव और मुख्यप्राण दोनों मानें तो प्राण और प्रज्ञात्माका एक
शरीरमें साथ रहनेसे अभेद निर्देश और स्वरूपसे भेद निर्देश इस तरह दोनों प्रकारसे निर्देश उप
होता है, क्योंकि 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा० (जो प्राण है वह प्रज्ञा है जो प्रज्ञा है वह प्राण है, निश्च
ही ये दोनों इस शरीरमें साथ ही साथ रहते हैं और साथ ही साथ उत्क्रमण करते हैं) ऐसी श्रु
है । यदि प्राणशब्दका अर्थ ब्रह्म स्वीकार करें, तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि कौन किससे भि
होगा ? अतः यहां जीव और मुख्यप्राण इन दोनोंमें से कोई एक अथवा दोनों ही प्राणशब्दसे प्र
होते हैं, ब्रह्म नहीं । यह पूर्वपक्षका अभिप्राय है । यह ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि उपासना तीन प्र
की होंगी । यदि ऐसा माना जाय तो जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना इस तर
तीन प्रकारकी उपासनाएँ प्रसक्त होंगी । किन्तु एक वाक्यमें यह सब स्वीकार करना युक्त नहीं है
कारण कि उपक्रम और उपसंहारसे एकवाक्यता अवगत होती है । 'मामेव विजानीहि' ऐसा आर
करके 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा० (मैं प्राण हूं, प्रज्ञात्मा हूँ उस मेरी आयु और अमृतरूपसे उपा
करे) ऐसा कहकर अन्तमें 'स एष प्राण एव० (वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर औ
अमृत है) तो इसप्रकार उपक्रम और उपसंहार एकरूप दृष्ट होते हैं । अतः यहां (ब्रह्मरूप) ए
अर्थका आश्रय करना ही युक्त है । और ब्रह्मलिंगको अन्यमें (जीव तथा मुख्यप्राणमें) परि
समन्वित नहीं कर सकता, क्योंकि दस भूतमात्राओं और दस प्रज्ञामात्राओंका ब्रह्मसे भिन्न अ
अर्पण (अधिष्ठान रूप लिङ्गका समन्वय) करना युक्त नहीं है कारण कि ये [ब्रह्मके] आश्रित है
दूसरे स्थलोंमें भी ब्रह्मलिङ्गके बलसे प्राण शब्दकी ब्रह्ममें प्रवृत्ति है अर्थात् प्राणशब्द ब्रह्मके आ
है । और यहाँ भी हिततमत्वका उपन्यास आदि ब्रह्मलिङ्गके योगसे यह ब्रह्मका ही उपदेश है, ऐ
ज्ञात होता है । 'इदं शरीरं० (इस शरीरको ग्रहण कर उठाता है) यह जो मुख्य प्राणका लि

सत्यानन्दी दीपिका

स्थित होनेपर सब स्थित होने लगे । तब सभी ने मिथ्या अभिमानको छोड़कर मुख्यप्राणकी स्तुति
इसप्रकार यह संवाद मुख्यप्राणका स्पष्ट लिंग है ।

❀ किञ्च दस भूतमात्राओं (आकाश आदि पाँच महाभूत और शब्द आदि पाँच वि
और दस प्रज्ञामात्राओं (शब्द आदि विषयक पाँच ज्ञान और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) का ब्रह्मसे भिन्न

स्यापि परमात्मायत्तत्वात्परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्, 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' (काठ० २।५।५) इति श्रुतेः । यदपि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्गं दर्शितं तदपि न ब्रह्मपक्षं निवारयति । नहि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः, 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । बुद्ध्याद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सञ्जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते । तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुं 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थ उपदेशो न विरुध्यते । 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥' (के० १।४) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवात्मनो ब्रह्मत्वं दर्शयति । * यत्पुनरेतदुक्तम्—'सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे नोपपद्यत इति—नैष दोषः; ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रययोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः उपाधिद्वयोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद

दिखलाया गया है, वह ठीक नहीं है । क्योंकि प्राणका व्यापार भी परमात्माके अधीन है । अतः परमात्मामें उसका उपचार (गौण प्रयोग) हो सकता है, कारण कि 'न प्राणेन० (कोई भी प्राणी न तो प्राणसे ही जीवित रहता है और न अपानसे ही, किन्तु वे तो जिसमें ये दोनों आश्रित (अध्यस्त) हैं, ऐसे किसी अन्यसे ही जीवित रहते हैं) ऐसी श्रुति है । और 'न वाचं० (वाणीके जाननेकी इच्छा न करे किन्तु वक्ताको जाने) इत्यादिसे जो जीवके लिंग दिखलाए गए हैं वे भी ब्रह्म पक्षका निवारण नहीं करते, क्योंकि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतियोंसे यह स्पष्ट होता है कि जीव ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न नहीं है । ब्रह्म ही बुद्धि आदि उपाधिकृत विशेष (परिच्छिन्नत्वादि) का आश्रय कर जीव होता हुआ कर्ता और भोक्ता है, ऐसा कहा जाता है । उपाधिकृत विशेषके त्यागसे उसके यथार्थ स्वरूप ब्रह्मका ज्ञान करानेके लिए, 'न वाचं० इत्यादि श्रुतियों द्वारा उसको प्रत्यगात्माकी ओर अभिमुख करनेके लिए [यह वक्तृत्व] उपदेश विरुद्ध नहीं है । 'यद्वाचा० (जो वाणीसे प्रकाशित नहीं होता किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है अर्थात् जिसकी सत्तासे वाणी अपना वदन-शब्द व्यापार करती हैं, उसको ही तुम ब्रह्म जानो । जिस इस [देश कालावच्छिन्नवस्तु] की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है) इत्यादि दूसरी श्रुति वचन आदि क्रियाओंमें व्यापृत आत्मा ब्रह्म है ऐसा दिखलाती है । 'सह ह्येतावस्मिन्० (निश्चय ये दोनों—प्राण और प्रज्ञात्मा इस शरीरमें साथ ही साथ रहते हैं और साथ ही साथ निकलते हैं) इसप्रकार प्राण और प्रज्ञात्माका भेद दर्शन ब्रह्मवादमें उपपन्न नहीं होता, ऐसा जो कहा गया है, यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रत्यगात्माके उपाधिरूप ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्तिके आश्रय बुद्धि और प्राणका तो भिन्नरूपसे निर्देश युक्त है । परन्तु दोनों उपाधियोंसे उपहित प्रत्यगात्माका तो स्वरूपसे अभेद है । इसलिए 'प्राण एव प्रज्ञात्मा' (प्राण

सत्यानन्दी दीपिका

कोई अधिष्ठान नहीं हो सकता है । 'अतएव प्राणः' 'प्राण इति होवाच' इत्यादि स्थलोंमें भी ब्रह्मके बहुत लिङ्ग हैं । और निरतिशय आनन्द ही सबके लिए हिततम है, 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० ३।६) (आनन्द ब्रह्म है ऐसा भृगुने जाना) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (विज्ञान आनन्द ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मको ही आनन्द स्वरूप कहती हैं । इसलिए प्राण आदि शब्दसे यहाँ ब्रह्मका ही उपदेश है । जीव तथा मुख्य प्राणका नहीं है ।

---

* औपाधिक भेद और स्वरूपतः अभेदको लेकर उक्तदोषका निराकरण किया जाता है । प्रत्यगात्माकी उपाधिरूप जो ज्ञान शक्तिवाली बुद्धि और क्रिया शक्तिवाला प्राण, इन दोनोंका परस्पर भेद है । इससे तो 'सह ह्येतावस्मिन्' इस मन्त्रमें उनका औपाधिक भेद कहा गया है । परन्तु दोनों

इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम् । * अथवा—'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वा तद्योगात्' इत्यस्यायमन्योऽर्थः—न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते । कथम् उपासात्रैविध्यात् । त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितम्—प्राणधर्मेण, प्रज्ञाधर्मेण, स्वधर्मे च । तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' इति, 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदे क्थमुपासीत' इति च प्राणधर्मः । 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्या इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञया वाचं समा वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः । * ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधि दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम् । यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः । यद्धि प्रज्ञामात्रा स्युर्न भूतमात्राः स्युः । नह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्ध्येत् । नो एतन्नाना । 'तद्यथा रथस्य नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स

ही प्रज्ञात्मा है) ऐसा एकीकरण अविरुद्ध है । अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योग इस सूत्र भागका यह दूसरा अर्थ है । ब्रह्मवाक्यमें भी जीव लिङ्ग तथा मुख्यप्राण लिङ्गका विरोध नहीं क्यों ? इसलिए कि उपासनाएँ तीन प्रकार की हैं । यहां प्राणधर्म, प्रज्ञाधर्म और स्वधर्मसे पासनाएं तीन प्रकारकी विवक्षित हैं । उनमें 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः प्राणः' (आयुरूपसे, अमृत मेरी उपासना करो आयु प्राण है) 'इदं शरीरं०(इस शरीरको ग्रहणकर उठाता है) और 'तस्मा (इसलिए उसकी उक्थरूपसे उपासना करे) यह प्राण धर्म है । 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै० (जिसप्रकार इस प्रज्ञा-जीवमें सब भूत एक होते हैं उसका व्याख्यान करेंगे) ऐसा उपक्रमकर वास्या० (वाणीने ही इस प्रज्ञाके एक अंगको–देहार्ध भागको पूर्ण किया, उसकी [चक्षु आदि ज्ञापित भूतमात्रा दूसरे देहार्ध भागकी कारण होती है, बुद्धिद्वारा चिदात्मा वाणीपर आरूढ अर्थात् वाणीका प्रेरक होकर सब नामोंको प्राप्त करता है) इत्यादि प्रज्ञा-जीव धर्म हैं । 'ता वा वे ये दस ही भूतमात्राएँ अधिप्रज्ञ-प्रज्ञाके अधीन हैं, और दस प्रज्ञमात्राएँ अधिभूत-भूतके हैं । यदि भूतमात्राएँ न हों, तो प्रज्ञामात्राएं भी न हों और यदि प्रज्ञामात्राएं न हों, तो भूतमा भी न हों, क्योंकि दोनोंमें से किसी एकके न होनेपर केवल एकसे कोई भी रूप सिद्ध न होगा। नाना नहीं हैं । 'जैसे रथके अरोंमें नेमि लगी रहती है और नेमिमें अर जुड़े रहते हैं, इसीप्रका

सत्यानन्दी दीपिका

उपाधियोंसे उपहित प्रत्यगात्माका तो स्वरूपसे अभेद है । इससे 'प्राण एव प्रज्ञात्मा' यह श्रुति प्राण और प्रज्ञात्माका अभेद निर्देश करता है । सुतरां सिद्धान्तमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

* भगवान् भाष्यकार 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' सूत्रके इस उत्तरभा स्वाभिमत व्याख्यानकर अब वृत्तिकारके मतानुसार व्याख्यान करते हैं । 'उत्थापयति इति उ 'शरीरको ग्रहणकर उठाता है इससे प्राण उक्थ है' तो ये सब प्राणके धर्म हैं । प्रज्ञा पद आभास सहित बुद्धिरूप जीवका ग्रहण है । जिसमें यह निवास करता है इस शरीरके दो भाग हैं, नाम और दूसरा रूप, चिदात्मा बुद्धि द्वारा वागिन्द्रियपर आरूढ होकर अर्थात् उसका प्रेरक वागिन्द्रिय द्वारा सम्पूर्ण नाम प्रपञ्चको वक्तव्यरूपसे प्राप्त करता है अर्थात् वक्ता होता है । और सभी रूपोंको देखता है, इसप्रकार द्रष्टा होता है, इसीप्रकार सभी पदार्थोंका द्रष्टृत्व और चिद द्रष्टृत्वके अध्यासका कारण होना यह सब बुद्धिका धर्म है ।

* भूतमात्राएं ग्राह्य-विषय कहलाती हैं और प्रज्ञामात्राएं ग्राहक । ग्राह्य भूतमात्राएं मात्राओं-ज्ञानेन्द्रियोंसे सिद्ध होती हैं, इसलिए प्रज्ञामात्राओंके अधीन हैं, और प्रज्ञामात्राएं (न्द्रियां और चाक्षुषआदि ज्ञान) ग्राह्य भूतमात्राओंके अधीन हैं । इसप्रकार ग्राह्य और ग्राहक

प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः। तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम्। अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्यादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्। इहापि तद्युज्यते; वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात् प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिङ्गावगमाच्च। तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

भूतमात्राएं प्रज्ञामात्राओंमें अर्पित हैं और प्रज्ञामात्राएं प्राणमें अर्पित हैं वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है, इत्यादि (स्व) ब्रह्मधर्म हैं। इस कारण ब्रह्मकी ही एक उपासना दोनों [प्राण तथा प्रज्ञा] उपाधियोंके धर्मसे तथा स्व-धर्मसे तीन प्रकारकी विवक्षित है। अन्य स्थलोंमें भी 'मनोमयः प्राणशरीरः' (प्राण जिसका शरीर है ऐसा मनोमय है) इत्यादिमें उपाधिके धर्मसे ब्रह्मकी उपासनाका आश्रय किया गया है। यहां भी अन्यके धर्मसे अन्यकी उपासना युक्त है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे वाक्यकी एकार्थता प्रतीत होती है, तथा प्राण, प्रज्ञा और ब्रह्मलिङ्गोंकी अवगति होती है। इस तरहसे यह सिद्ध हुआ कि यह ब्रह्मवाक्य ही है ॥ ३१ ॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्कर भाष्य-भाषानुवादके प्रथम अध्यायका प्रथम पाद समाप्त

सत्यानन्दी दीपिका

अपनी सिद्धिमें एक दूसरेकी अपेक्षा करते हैं। ग्राह्य और ग्राहक परस्पर साक्षेप होनेसे वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, किन्तु चिदात्मामें आरोपित हैं। इस तरह सबका अधिष्ठान और 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि ये सब ब्रह्मके धर्म प्रतीत होते हैं। इसलिए 'मनोमयः पाणशरीरः' इत्यादि स्थलोंमें प्राण और प्रज्ञाके धर्मोंसे भी ब्रह्मकी उपासना हो सकती है। ऐसा माननेसे वाक्यभेद † भी नहीं होगा। यदि वाक्यभेद नहीं है तो फिर उपासनाका भेद क्यों? वह इसलिए कि यहां प्राण, प्रज्ञा तथा ब्रह्मके भिन्न भिन्न लिंगोंका दर्शन होता है। इस से ब्रह्मविषयक उपासना तीन प्रकारकी हो सकती है,

परन्तु वृत्तिकार द्वारा इसप्रकार की गई सूत्रकी व्याख्याको टीकाकारोंने स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि ऐसा माननेपर भिन्नभिन्न रूपसे तीन उपासनाएं माननी पड़ेगी। एकवाक्यमें ऐसा माननेसे वाक्यभेद प्रसक्त होगा अर्थात् 'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' 'तंमामायुरमृतमित्युपास्स्व' (कौ० ३।२) इस एक वाक्यमें 'माम्' अर्थात् प्रज्ञात्मा-जीवरूपसे 'आयुः' अर्थात् प्राणरूपसे और 'अमृतम्' अर्थात् ब्रह्मरूपसे अपने-अपने धर्मसे युक्त तीन उपासनाओंका प्रसंग उपस्थित होगा, एकार्थ प्रतिपादक वाक्यको अनेकार्थ प्रतिपादक मानना ही तो वाक्यभेद रूप दोष है, इससे 'प्राणोऽस्मि' इस उपक्रम वाक्य और 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इस उपसंहार वाक्यसे जो एक अर्थकी सिद्धि होती है उसका भङ्ग होगा। यदि भगवान् भाष्यकारका अनुसरण करें तो उपक्रम और उपसंहारसे एक ब्रह्मरूप अर्थकी हो सिद्धि होती है प्राण और प्रज्ञात्माकी नहीं। अतः 'प्राणोऽस्मि' 'मामेव विजानीहि' 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य ब्रह्मके ही प्रतिपादक सिद्ध होते हैं। पूर्वपक्षमें तीन उपासनाएँ मानी गई हैं, सिद्धान्तमें एक ब्रह्मकी ही उपासना है, यह दोनोंमें अन्तर है ॥ ३१ ॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका'के प्रथम अध्यायका प्रथम पाद समाप्त

---

† टि०—मीमांसाशास्त्रको वाक्य शास्त्र भी कहते हैं। वाक्यसे वाक्यार्थ बोध कैसे होता है? इस विषयमें मीमांसकोंकी विचारपद्धतिको सभी भारतीय विद्वानोंने अपनाया है। वाक्यसे वाक्यार्थ बोध उद्देश्य विधेय भावावगाही होता है अर्थात् वाक्य जन्य बोधमें एक पदार्थ उद्देश्यतया भासता है और दूसरा विधेयतया, यह साधारण नियम है। परन्तु उद्देश्यका भेद होनेसे अथवा विधेयका भेद होनेसे अर्थात् दो उद्देश्य और दो विधेय होनेसे वाक्यस्वरूपका भंग हो जाता है। उद्देश्य–विधेय भावावगाही एकार्थोपस्थितिजनकता भावनाकी एककर्मवत्ता है अर्थात् भावनामें एक ही कर्म होता है

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तवाक्यानामुपास्यब्रह्मविषयाणां विचारः]

'इस पादमें उपास्य ब्रह्म विषयक अस्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग युक्त वाक्योंका विचार है'

(१ सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम् सू० १-८)

❀ प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकार ब्रह्मेत्युक्तम् । तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं, नित्यत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्ति सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति । अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषांचि ब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यमानानि ब परतया निर्णीतानि । पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यन्ते—किं परं प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किंचिदिति । तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते ।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

पदच्छेद—सर्वत्र, प्रसिद्धोपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(सर्वत्र) सब वेदान्तोंमें (प्रसिद्धोपदेशात्) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक् जगत्कारणरूपसे प्रसिद्ध ब्रह्मका ही 'मनोमयः' मनोमयत्व आदि धर्मोंसे उपदेश है, अतः मनो ब्रह्म ही है जीव नहीं ।

प्रथम पादमें 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रसे आकाश आदि सम्पूर्ण प्रपञ्चके जन्म आदि एकमात्र कारण ब्रह्म है ऐसा कहा जा चुका है । किञ्च समस्त प्रपञ्चके कारणरूप उस ब्रह्मके व्यापकत्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, सर्वात्मकत्व इस प्रकारके धर्म भी अर्थतः कहे गये ही तथा ब्रह्मसे भिन्न दूसरे [आकाश, प्राण, ज्योतिः आदि] अर्थोंमें प्रसिद्ध [आकाश, प्राण ज्यो आदि] कुछ शब्दोंका ब्रह्मविषयत्व हेतु प्रतिपादनके द्वारा एवं कुछ ऐसे वाक्य हैं जिनमें ब्रह्म तो स्पष्ट हैं, परन्तु आपाततः सन्देह होता है कि वे ब्रह्म विषयक हैं अथवा नहीं ? वे भी वस्तुतः ब विषयक ही हैं ऐसा स्पष्ट निर्णय किया गया है । अत्र पुनः जिन अन्य वाक्योंमें ब्रह्मलिङ्ग स्पष्ट नहीं है वाक्योंके विषयमें सन्देह होता है कि क्या वे भी परब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं अथवा किसी दू अर्थका उसके निर्णयके लिए इस द्वितीय और तृतीय पादका आरम्भ किया जाता है—

सत्यानन्दी दीपिका

❀ प्रथमपादमें ब्रह्म तटस्थ लक्षणके द्वारा प्रपञ्च के उत्पत्ति आदिका कारण कहा गया है उसमें कारणत्वसे ही व्यापकत्व आदि धर्म भी स्वतः सिद्ध हुए कहे गये हैं । इस प्रथम पादमें प्र पादित विषयको अगले दो पादोंके आरम्भका आधार समझना चाहिए; क्योंकि प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय पादमें परस्पर कार्यकारण भाव संगति स्पष्ट हैं । प्रथमपादमें आकाश; प्राण आदि ब्रह्मके लिङ्ग हैं, अतः उनका ब्रह्ममें समन्वय दिखलाया गया है । परन्तु 'तज्जलान् , सत्यसङ्कल्पः' इत्या जिन वाक्योंमें ब्रह्मके स्पष्ट लिङ्ग नहीं है उन वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय करनेके लिए द्वितीय एवं तृ पादका आरम्भ किया जाता है । द्वितीय पादमें मुख्यरूपसे उपास्य ब्रह्मका निरूपण है और तृ पादमें निर्विशेष ज्ञेय ब्रह्मका वर्णन है । यही दोनों पादोंमें अन्तर है । जैसे गत अधिकरणमें आदि लिङ्गोंका बाधकर उनको परब्रह्म परक माना गया है, वैसे 'मनोमयत्व' आदि वाक्योंमें ब्रह्मलि नहीं है, इसलिए गतअधिकरण और इस अधिकरणकी प्रत्युदाहरण संगति है ।

और एक ही करण होता है । भेद होनेसे एककर्मवत्ता नष्ट हो जाती है । इसलिए वाक्यभे हटानेके लिए कहीं लक्षणा, कहीं गौणी, कहीं अनुषङ्ग, कहीं अध्याहार, विपरिणाम, व्यवधा आदिका आश्रय लेना पड़ता है ।

❀ इदमाम्नायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत', 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।१,२) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शारीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित्परं ब्रह्मेति। किं तावत्प्राप्तम् ? शारीर इति। कुतः ? तस्य हि कार्यकरणाधिपतेः प्रसिद्धो मनआदिभिः संबन्धो न परस्य ब्रह्मणः, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तं, कथमिह शारीर आत्मोपास्य आशङ्क्यते ? नैष दोषः; नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनाविधिपरं। किं तर्हि ? शमविधिपरम्। यत्कारणं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्याह। एतदुक्तं भवति—यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मैव, तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च। नच सर्वस्यैकात्मत्वेन रागादयः संभवन्ति, तस्माच्छान्त उपासीतेति। नच शमविधिपरत्वे सत्यनेन

'सर्वं खल्विदं० (निःसंदेह यह सारा जगत् ब्रह्म ही है) क्योंकि उस ब्रह्मसे ही यह (जगत्) उत्पन्न हुआ है, उसीमें लय होता है, उसीमें स्थितिकालमें चेष्टा करता है, अतः शान्त होकर उसीकी उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही निश्चयात्मक है, इसलोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है मरणोपरान्त वैसे ही होता है। इसलिए पुरुषको निश्चय करना चाहिए। और [वह ब्रह्म] मनोमय, प्राण शरीर और प्रकाश स्वरूप है) इत्यादि श्रुति है। यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ मनोमयत्व आदि धर्मोंसे जीवात्माका उपास्यरूपसे उपदेश किया जाता है अथवा परब्रह्मका ? तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—यहाँ जीवात्माका ही उपास्यरूपसे उपदेश है, क्योंकि, शरीर और इन्द्रियोंके स्वामी उस जीवात्माका ही मन आदिके साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है। परब्रह्मका नहीं। 'अप्राणो० (प्राण रहित. मनरहित शुद्ध है) इत्यादि श्रुतियोंसे मन आदिके साथ परब्रह्मके सम्बन्धका निषेध किया गया है। परन्तु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (निश्चय यह सब ब्रह्म ही है) इस श्रुतिमें स्व (ब्रह्म) शब्दसे ही ब्रह्मका [उपास्यरूपसे] ग्रहण किया गया है। तो फिर यहाँ जीवात्माकी उपास्यरूपसे आशंका क्यों की जाती है ? यह दोष नहीं है। क्योंकि यह वाक्य ब्रह्मकी उपासनाविधि परक नहीं है, किन्तु शमविधिपरक है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं० (निश्चय यह सब ब्रह्म ही है, यह जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है, उसीमें चेष्टा करता है। इस कारण उपासक उस ब्रह्मका ही रागद्वेषसे रहित होकर ध्यान करके शान्त हो) यह श्रुति ऐसा कहती है। तात्पर्य यह है कि यह सम्पूर्ण विकारात्मक जगत् भी वस्तुतः ब्रह्म ही है, क्योंकि उससे उत्पन्न होता है, उसमें लीन होता है और उसमें चेष्टा करता है। जब सारा जगत् एकात्मक-एकब्रह्मरूप ही है तो राग-द्वेष आदिका संभव नहीं है' अतः ब्रह्मोपासकको शान्त होकर उपासना करनी चाहिए। परन्तु शम विधि परक होनेपर [शान्त उपासीत] यह वाक्य

सत्यानन्दी दीपिका

* 'तस्मात् जायते इति तज्जम्। तस्मिन् लीयते इति तल्लम्, तस्मिन्ननिति स्थितिकाले चेष्टते इति तदनम्। तज्जम्, तल्लम्, तदनञ्चेति तज्जलान्। 'यह जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है, स्थिति कालमें उसीमें चेष्टा करता है' इसलिए श्रुतियोंमें जगत् को 'तज्जलान्' कहा गया है। यह सारा जगत् ब्रह्मरूप है, क्योंकि ब्रह्मका विवर्त है। 'अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः' यह विवर्तका लक्षण है। ब्रह्म सत्य है, परन्तु अविद्यासे मिथ्या जगत्के रूपमें पतीत होता है। जैसे रज्जु सर्परूपसे प्रतीत होती है। मन और प्राणब्रह्मकी उपाधि हैं। उपाधि (मनोमयः प्राणशरीरः) का वर्णन कर चेतनस्वरूप आत्माकी उपासना कही गई है, पूर्वपक्षी—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ऐसा उपक्रम होनेपर भी शम विधानके लिए ही है, अतः वह गौण है। वस्तुतः यहाँ पर जीवलिङ्ग प्रधान है। इस लिङ्ग-प्रमाणके बलसे मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट जीव ही उपास्य है, ब्रह्म नहीं।

वाक्येन ब्रह्मोपासनं नियन्तुं शक्यते। उपासनं तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यनेन विधीयते। क्र संकल्पो ध्यानमित्यर्थः। तस्य च विषयत्वेन श्रूयते—'मनोमयः प्राणशरीरः' इति जीवलिङ्गम्। अतो ब्रूमो जीवविषयमेतदुपासनमिति। 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्याये जीवविषयमुपपद्यते। 'एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इति च हृदयायतनत्वमणी यस्त्वं चाराग्रमात्रस्य जीवस्यावकल्पते, नापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः। ननु 'ज्यायान्पृथिव्या इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेऽवकल्पत इति। अत्र ब्रूमः—न तावदणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं चोभयं कस्मिन्समाश्रयितुं शक्यं; विरोधात्। अन्यतराश्रयणे च प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वं युक्तमाश्र यितुं, ज्यायस्त्वं तु ब्रह्मभावापेक्षया भविष्यतीति। निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्म संकीर्तनं—'एतद्ब्रह्म' (छा० ३।१४।४) इति, तदपि प्रकृतपरामर्शार्थत्वाज्जीवविषयमेव तस्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीव उपास्य इत्येवं ❀ प्राप्ते ब्रूमः। परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादि भिर्धर्मैरुपास्यम्। कुतः? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दस्या लम्बनं जगत्कारणम्, इह च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतं, तदेव मनोमयत्वा दिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यत इति युक्तम्। एवं च सति प्रकृतहानाप्रकृतक्रिये न भविष्यतः। न

ब्रह्मोपासनाका विधायक नहीं हो सकता। उपासनाका तो 'स क्रतुं० (वह ध्यान करे) इस वाक्य विधान किया जाता है। क्रतु-संकल्प अर्थात् ध्यान यह अर्थ है। उस ध्यानका विषयरूपसे 'मनोमय प्राणशरीरः' (मनोमय, प्राण शरीर) यह जीवलिङ्गकी श्रुति है। इस कारण हम ऐसा कहते कि यह उपासना जीव विषयक है। 'सर्वकर्मा सर्वकामः' (सर्वकर्मवाला तथा सर्वकामना वाला इत्यादि श्रूयमाण विशेषण भी अनेक जन्म परम्परासे जीवविषयक हो सकता है। 'एष म आत्मा (यह मेरा आत्मा हृदयके भीतर धान अथवा यवसे भी सूक्ष्म है) इसप्रकार हृदय स्थान त अणीयस्त्व आरके अग्रभागके समान जीवमें युक्त है, अपरिच्छिन्न (सर्वगत) ब्रह्ममें नहीं। पर 'ज्यायान्पृथिव्याः' (पृथिवीसे महान् है) इत्यादि भी तो परिच्छिन्न जीवमें सम्भव नहीं हैं। इस हम कहते हैं—अणुत्व और महत्त्व दोनों एक वस्तुमें नहीं रह सकते, क्योंकि दोनोंका आपसमें वि है, यदि दोनोंमें से एकका ही ग्रहण करना हो तो प्रथम श्रुत होनेसे अणीयस्त्वका ही आश्रयण क ठीक है। [यद्यपि संसारदशामें जीवमें महत्त्वपरिमाण नहीं है तो भी] मोक्ष दशामें जीवमें ब्र भाव (जीव ब्रह्म है) की अपेक्षा महत्त्व हो ही जायगा और [सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि वाक्यों जीव विषयत्वका निश्चय होनेपर अन्तमें 'एतद् ब्रह्म' (यह ब्रह्म है) इसप्रकार जो ब्रह्मका संकी है वह भी प्रकृत परामर्शके लिए होनेसे जीवविषयक है। इस कारण मनोमयत्व आदि धर्मोंसे उपास्य है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां मनोमयत्वादि धर्मोंसे परब्रह्म उपास्य है। क्योंकि यहां सर्वत्र-वेदान्त वाक्योंमें प्रसिद्ध (ब्रह्म) का ही उपदेश है। ब्रह्मश आलम्बन, जगत्का कारणरूपसे सम्पूर्ण वेदान्त वाक्योंमें जो प्रसिद्ध है और यहां 'सर्वं खल्वि ब्रह्म' इस वाक्यके आरम्भमें श्रुत है वही ब्रह्म मनोमयत्वादि धर्मोंसे विशिष्ट इस श्रुतिमें उप है, यह युक्त है। ऐसा होनेपर प्रकृतकी हानि (प्रकरणसे प्राप्त ब्रह्ममें सम्भव होनेवाले मनो त्वादि धर्मोंका स्वीकार न करना) एवं अप्रकृत (जीवमें उन धर्मोंकी कल्पना करना) की प्र

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्योंमें प्रसिद्ध ब्रह्मका ही उपास्यरूपसे उपदेश यद्यपि ब्रह्म निराकांक्ष है, तथापि 'मनः प्रचुरमुपाधि अस्य, प्राणः शरीरमस्य' (मन प्रचुर है उप जिसकी, प्राण है शरीर जिसका) इस तरह समासके अन्तर्गत सर्वनामको सन्निहित विशेष्यकी आ होनेसे ब्रह्मका सम्बन्ध होता है। इसलिए मनोमयत्वादि धर्मोंसे विशिष्ट-उपलक्षित ब्रह्म ही स

वाक्योपक्रमे शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं न स्वविवक्षयेत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यद्यपि शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं तथापि मनोमयत्वादिषूपदिश्यमानेषु तदेव ब्रह्म संनिहितं भवति। जीवस्तु न संनिहितो नच स्वशब्देनोपात्त इति वैषम्यम् ॥१॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

पदच्छेद—विवक्षितगुणोपपत्तेः, च।

सूत्रार्थ—उपासनाके लिए विवक्षित (उपदिष्ट) सत्यसंकल्पत्व, भारूपत्वादि गुणोंकी ब्रह्ममें उपपत्ति (समन्वय) हो सकती है, अतः मनोमय ब्रह्म ही है, जीव नहीं।

* वक्तुमिष्टा विवक्षिताः। यद्यप्यपौरुषेये वेदे वक्तुरभावान्नेच्छार्थः संभवति, तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते। लोके हि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति। तद्वद्वेदेऽप्युपादेयत्वेनाभिहितं विवक्षितं भवति, इतरदविवक्षितम्। उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते। तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसंकल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते। परमात्मगुण-

---

भी न होगी। परन्तु वाक्यके आरम्भमें तो शमविधिकी विवक्षा से ही ब्रह्मका निर्देश किया गया है, स्वविवक्षासे नहीं अर्थात् ब्रह्मका विधान करनेकी विवक्षासे ब्रह्मका निर्देश नहीं किया गया है। ऐसा जो [पूर्वपक्षी द्वारा] कहा गया है, इसपर कहते हैं—यद्यपि शम विधिकी विवक्षासे ब्रह्मका निर्देश किया गया है, तो भी उपदिश्यमान मनोमयत्वादिमें तो वह ब्रह्म ही सन्निहित है। जीव तो न सन्निहित है और न स्व-शब्दसे गृहीत ही। यही जीव और ब्रह्मके निर्देशमें अन्तर है ॥ १ ॥

जिनका कथन अभीष्ट हो वे विवक्षित कहलाते हैं। यद्यपि अपौरुषेय वेदमें वक्ता न होनेके कारण इच्छा रूप सन् प्रत्ययके अर्थका सम्भव नहीं है, तो भी उपादान (ग्रहण) रूप फलसे विवक्षाका उपचार किया जाता है। [क्योंकि इच्छाका फल उपादान है] जैसे लोकमें भी जिस शब्दसे अभिहित जो पदार्थ उपादेय होता है वह विवक्षित कहलाता है और जो अनुपादेय होता है वह अविवक्षित कहलाता है। इसी प्रकार वेदमें भी उपादेयरूपसे अभिहित पदार्थ विवक्षित और उससे भिन्न अविवक्षित होता है। उपादान और अनुपादान तो वेदवाक्यके तात्पर्य और अतात्पर्यसे अवगत होते हैं। इसलिए यहाँ सत्यसंकल्पत्वादि जो विवक्षित गुण उपासनामें उपादेयरूपसे उपदिष्ट हैं वे परब्रह्ममें उपपन्न होते हैं। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयमें अप्रतिहत शक्ति होनेके कारण परमात्मा ही

सत्यानन्दी दीपिका

है और उसका ही सर्वनामसे परामर्श होता है। यद्यपि मनोमयत्वादि लिङ्गोंसे जीव भी सन्निहित है तो भी उनसे लोकप्रसिद्ध जीवका सान्निध्यरूपसे ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रकृत नहीं है। और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जैसे इस मन्त्रमें ब्रह्मशब्दसे प्रत्यक्ष ब्रह्मका निर्देश है, वैसे यहां जीववाचक किसी शब्दसे प्रत्यक्ष जीवका निर्देश नहीं है। इसप्रकारकी विषमता यहां स्पष्ट ही है। पूर्वपक्षमें जीव उपास्य है और सिद्धान्तमें ब्रह्म उपास्य है ॥ १ ॥

* 'सजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणविषयत्वम्' यही वेदमें अपौरुषेयत्व है अर्थात् ईशावास्यादि मन्त्रोंकी जैसी आनुपूर्वी इस समय है ठीक वैसी आनुपूर्वी पहिले सृष्टिमें थी और वैसे ही भविष्यमें भी रहेगी। इस विषयमें 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ब्रह्माने सूर्य और चन्द्रमाकी पूर्वकल्पके समान रचनाकी है) यह श्रुति भी प्रमाण है। सृष्टिके आदिमें पूर्वकल्पीय आनुपूर्वी विशिष्ट वेदका स्मरणकर ईश्वर वेदको रचता है। अतएव ईश्वर वेदका कर्ता नहीं है। इसीलिए वेदमें वक्ता न होनेके कारण विवक्षाका अर्थ इच्छा नहीं हो सकता। तो भी उपादानरूप

त्वेन च 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति श्रुत
आकाशात्मेत्यादिनाकाशवदात्माऽस्येत्यर्थः। सर्वगतत्वादिभिर्धर्मैः संभवत्याकाशेन सा
ब्रह्मणः। 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादिना चैतदेव दर्शयति। यदाप्याकाश आत्मा यस्ये
व्याख्यायते, तदापि संभवति सर्वजगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम्। अ
एव 'सर्वकर्मा' इत्यादि। एवमिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। यत्तूक्तं 'म
मयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इति जीवलिङ्गं न तद्ब्रह्मण्युपपद्यत इति, तदपि ब्रह्मण्यु
पद्यत इति ब्रूमः। सर्वात्मत्वाद्धि ब्रह्मणो जीवसंबन्धीनि मनोमयत्वादीनि ब्रह्मसंबन्धी
भवन्ति। तथा च ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवतः—त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमा
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (श्वे० ४।३) इति, 'सर्वतः पाणि
तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' (गी० १३।१३) इति
'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) इति श्रुतिः शुद्धब्रह्मविषया, इयं तु 'मनोमयः प्रा
शरीरः' इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः। अतो विवक्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्मेहोपास्यत्वे
पदिष्टमिति गम्यते ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

पदच्छेद—अनुपपत्तेः, तु, न, शारीरः।

सूत्रार्थ—(अनुपपत्तेः) उपासनाके लिए विवक्षित सत्यसङ्कल्पत्व आदि गुणोंकी [जीवमें
उपपत्ति (समन्वय) न होनेसे (न शारीरः) जीव उपास्य नहीं है, किन्तु ब्रह्म (तु) ही उपास्य

सत्यसङ्कल्प हो सकता है। 'य आत्मा० (जो आत्मा पापरहित है) इस मंत्रमें सत्यकाम और
संकल्प परमात्माके गुणरूपसे सुने जाते हैं। 'आकाशात्मा' इत्यादि श्रुतिका आकाशके समा
आत्मा (स्वरूप) जिसका, ऐसा अर्थ है। सर्वगतत्वादि धर्मोंसे आकाशके साथ ब्रह्मका सा
सम्भव है और 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादि मंत्र भी इसी अर्थको दिखलाते हैं। और जब आका
आत्मा जिसका ऐसी व्युत्पत्ति करें तो भी सब जगत्का कारण सर्वात्मस्वरूप ब्रह्ममें आकाशात्म
सकता है। इसलिए ब्रह्मके लिए 'सर्वकर्मा' इत्यादिका वर्णन है। इस प्रकार यहाँ उपास
विवक्षित गुण ब्रह्ममें ही घटते हैं। 'मनोमयः' यह जीवका लिङ्ग है, वह ब्रह्ममें युक्त नहीं है। ज
कहा गया है, वह (जीवलिङ्ग) भी ब्रह्ममें उपपन्न होता है, ऐसा हम कहते हैं; क्योंकि ब्रह्म सर्व
ही है, अतः जीव सम्बन्धी मनोमयत्व आदि धर्म ब्रह्म सम्बन्धी होते हैं। उसी प्रकार 'त्वं स्त्री० (
है, तू पुरुष है, तू ही कुमार अथवा कुमारी है, और तू ही वृद्ध होकर दण्डके सहारे चलता है
तू ही [प्रपञ्चरूपसे] उत्पन्न होकर अनेक रूप हो जाता है) 'सर्वतः पाणिपादं० (परन्तु
ब्रह्महो उपाधिसे सब ओर हाथ पैर वाला एवं सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा स
श्रोत्रवाला है, क्योंकि वह सबका कारण है, अतः संसारमें सबको व्याप्तकर स्थित है) यह श्रुति
स्मृति ब्रह्म विषयक हैं। 'अप्राणो० (प्राण रहित, मन रहित और पवित्र है) यह श्रुति शुद्ध
विषयक है और 'मनोमयः प्राणशरीरः' यह श्रुति तो सगुण ब्रह्म विषयक है, इतना विशेष (भेद
इससे यह अवगत होता है कि विवक्षित गुणोंकी उपपत्तिसे परब्रह्म ही यहाँ उपास्यरूपसे उपदिष्ट है

सत्यानन्दी दीपिका

फलसे इच्छाका उपचार किया जाता है। विवक्षाके फलका नाम ही उपादान (ग्रहण, स्वीकार
इसलिए प्रकृत सत्यसंकल्पत्वादि गुणोंमें विवक्षाका उपचार हो सकता है। अतः उपासनामें जो
सत्यसंकल्पत्वादि गुण हैं वे परब्रह्ममें ही घट सकते हैं जीवमें नहीं ॥ २ ॥

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता । अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते । तुशब्दोऽवधारणार्थः । ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वादिगुणं, नतु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः । यत्कारणं 'सत्यसंकल्पः, आकाशात्मा, अवाकी, अनादरः, ज्यायान्पृथिव्याः' इति चैवंजातीयका गुणा न शारीर आञ्जस्येनोपपद्यन्ते । शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः । नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति । सत्यम्; शरीरे भवति, नतु शरीर एव भवति; 'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' (छा० ३।१४।३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (गौड० ३।३) इति च व्यापित्वश्रवणात् । जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

पदच्छेद—कर्मकर्तृव्यपदेशात् , च ।

सूत्रार्थ—'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' इस श्रुतिमें 'एतं' पदसे प्रकृत ब्रह्मका कर्मरूपसे व्यपदेश है, और 'अभिसम्भवितास्मि' इस पदसे जीवका कर्तृरूपसे उपदेश है । इस कारण भी जीव उपास्य नहीं है, किन्तु मनोमयत्व आदि गुणोंसे ब्रह्म ही उपास्य है ।

इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः, यस्मात्कर्मकर्तृव्यपदेशो भवति 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' (छा० ३।१४।४) इति । एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं

पूर्व सूत्रसे विवक्षित गुणों [सत्यकामत्व आदि] की ब्रह्ममें उपपत्ति दिखलाई गई है, अब इस सूत्रसे शारीर-जीवमें उन गुणोंकी अनुपपत्ति कही जाती है । सूत्रस्थ 'तु' शब्दका अर्थ निश्चय है । पूर्वोक्त सर्वात्मत्व न्यायसे ब्रह्म ही मनोमयत्व आदि गुण विशिष्ट है । शारीर-जीव तो मनोमयत्व आदि गुण युक्त नहीं है, क्योंकि सत्यसङ्कल्प, आकाशात्मा, इन्द्रिय रहित, नित्यतृप्त, पृथ्वीसे महान् इस प्रकारके गुण जीवमें मुख्यरूपसे उपपन्न नहीं होते । 'शारीर' अर्थात् शरीरमें रहनेवाला ऐसा अर्थ है । परन्तु ईश्वर भी तो शरीरमें रहता है ? ठीक, शरीरमें रहता है, न कि शरीरमें ही रहता है, क्योंकि 'ज्यायान्पृथिव्याः० (वह परब्रह्म पृथ्वीसे भी महान्, अन्तरिक्षसे भी महान् है) 'आकाशवत्० (आकाशके समान सर्वगत और नित्य है) इसप्रकार ब्रह्ममें व्यापकत्वका श्रवण होता है । जीव तो शरीर में ही रहता है, क्योंकि भोगके आश्रयभूत शरीरको छोड़कर अन्य स्थलमें उसकी स्थिति नहीं होती ॥३॥

'एतमितः प्रेत्या० (इस देहसे छुटकारा पाकर उस परमात्माको प्राप्त करूंगा) । इस प्रकार श्रुतिमें कर्म और कर्तारूपसे दो का उपदेश है । इससे भी जीव मनोमयत्वादि गुणोंसे युक्त नहीं है ।

सत्यानन्दी दीपिका

* शंका—ब्रह्म सर्वात्मक है, इसलिए जीवगत मनोमयत्व आदि धर्म उसके हो सकते हैं, तो जीव और ब्रह्मके अभेद होनेसे ब्रह्मगत सत्यकामत्व आदि धर्म भी जीवमें माने जा सकते हैं, इससे सत्यकामत्व आदि गुणसे जीव भी ब्रह्मके समान उपास्य हो सकता है ?

समाधान—जीव ब्रह्ममें कल्पित है, इसलिए कल्पितके धर्म अधिष्ठानमें माने जाते हैं किन्तु अधिष्ठानके धर्म कल्पित वस्तुमें नहीं । किञ्च ब्रह्मके सर्वगतत्व आदि धर्म परिच्छिन्न जीवमें घट भी नहीं सकते, अपितु परिच्छिन्नके धर्म व्यापकमें घट सकते हैं । जीव केवल शरीरमें ही रहकर सुख-दुःख आदिका अनुभव कर सकता है शरीरको छोड़कर नहीं, इसलिए इसे शारीर कहा गया है । ईश्वर तो व्यापक और सबका कारण होनेसे सर्वात्मक है, अतः वह शारीर नहीं हो सकता है, इसलिए मनोमयत्व आदि धर्म भी ब्रह्मके ही हैं जीवके नहीं ॥ ३ ॥

* "मामहं जानामि" यहाँ पर अन्य गतिके न होनेसे एकमें ही कर्म और कर्ताका उपदेश हो सकता है । परन्तु जहाँ ब्रह्ममें कल्पित भेदको लेकर उपास्य-उपासक भाव रूप गति (व्यवस्था)

कर्मत्वेन-प्राप्यत्वेन व्यपदिशति । अभिसंभवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन प्रापकत्वे अभिसंभवि ास्मीति, प्राप्तास्मीत्यर्थः । नच सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः । तथो पास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव । तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादिविशिष्टः॥ ४

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—शब्द (विभक्ति) के भेद होनेसे भी ब्रह्म ही उपास्य है ।

इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः, यस्माच्छब्दविशेषो भवति समानप्रक श्रुत्यन्तरे-'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मय (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति । शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति, तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते ॥ ५ ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

पदच्छेद—स्मृतेः, च ।

सूत्रार्थ—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति०' इस स्मृतिसे भी जीव और ब्रह्मका दिखलाया गया है । अतः ब्रह्म ही उपास्य है ।

❀ स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठ भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (गी० १८।६१) इत्याद्या । अत्राह—कः पुनः शारीरो नाम परमात्मनोऽन्यः, यः प्रतिषिध्यते 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादिना ? श्रुति

'एतं' यह पद प्रकृत मनोमयत्वादि गुणोंसे युक्त उपास्य आत्माका कर्मरूपसे-प्राप्यरूपसे व्यप करता है । 'अभिसम्भवितास्मि' यह पद उपासक जीवात्माका कर्तारूपसे-प्रापकरूपसे उपदेश क है । अभिसम्भवितास्मि [उपास्यको] प्राप्त करूँगा । अन्य गति (व्यवस्था) के विद्यमान होने एकमें ही कर्म कर्तृव्यपदेश युक्त नहीं है । उसी प्रकार उपास्य-उपासक भाव भी भेदाश्रित ही इससे भी जीव मनोमयत्वादि गुणोंसे युक्त नहीं है ॥ ४ ॥

और इस कारणसे भी मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट (ब्रह्म) जीवसे भिन्न है, क्योंकि 'यथा व्रीहि (जैसे धान, यव, श्यामाक वा श्यामाक तण्डुल है, इसप्रकार अन्तरात्मामें यह हिरण्मय पुरुष इस समान-प्रकरणमें-समान अर्थकी प्रतिपादिक अन्य शतपथ श्रुतिमें शब्दका भेद है 'अन्तरात्म यह सप्तम्यन्त शब्द शारीर (जीवात्मा) का प्रतिपादन करता है और उससे भिन्न 'पुरुषः' यह प्रथम शब्द मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट परमात्माका अभिधान करता है अतः दोनोंमें भेद प्रतीत होता है॥

'ईश्वरः सर्वं भूतानां० (हे अर्जुन ! शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणि अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियोंके हृ स्थित है) इत्यादि स्मृति भी जीव और परमात्मामें भेद दिखलाती है । यहां पूर्वपक्षी कहता है

सत्यानन्दी दीपिका

हो सकती है, वहाँ कर्म और कर्ताके भेदका ही उपदेश मानना चाहिए । क्योंकि 'एतमितः' यह तो साक्षात् कर्म तथा कर्ताके भेदका प्रतिपादन करती है । अतः मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट उपास्य नहीं है ॥ ४ ॥

❀ 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुति परमात्मासे भिन्न आत्माका निषेध करती है, मनोमयत्वादिके निषेधसे जीवोपासनाका निषेध कैसे हो सकता है ? अतः परमात्माके समान जीव मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट उपास्य होना चाहिए ॥ ६ ॥

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' (बृह० ३।७।२३) इत्येवंजातीयका परमात्मनोऽन्यमात्मानं वारयति । तथा स्मृतिरपि—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३।२) इत्येवंजातीयकेति । अत्रोच्यते—सत्यमेवैतत्; पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत् । तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते; प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात् । गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् ॥६॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

पदच्छेद—अर्भकौकस्त्वात्, तद्व्यपदेशात्, च, इति, चेत्, न, निचाय्यत्वात्, एवम्, व्योमवत्, च ।

सूत्रार्थ—(अर्भकौकस्त्वात्) 'एष म आत्मान्तर्हृदये' इस श्रुतिमें अर्भकौकः-अल्पस्थान (हृदय) में स्थिति और (तद्व्यपदेशात्) 'अणीयान्' इस शब्दसे परम सूक्ष्मत्व उपदिष्ट है । इससे जीव ही उपास्य है (न) परमात्मा नहीं । (इति चेन्न) यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि (एवम्) अर्भकौकस्त्व, अणीयस्त्व आदि धर्मोंसे (निचाय्यत्वात्) परमात्मा ही उपास्य है । (व्योमवत्) सर्वगत होनेपर भी जैसे आकाश सुईके छिद्रसे परिच्छिन्न होकर अल्पस्थान तथा परमसूक्ष्म कहा जाता है, इसीप्रकार उपाधिके सम्बन्धसे ब्रह्म भी अर्भकौक और अतिसूक्ष्म कहा जाता है, अतः ब्रह्म ही उपास्य है ।

अर्भकमल्पम्, ओको नीडम्, 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' (छा० ३।१४।३) इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदेशात्, शारीर एवाराग्रमात्रो जीव इहोपदिश्यते, न सर्वगतः परमात्मेति यदुक्तं तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः; न तावत्परिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते, सर्वगतस्य तु सर्व-

---

परमात्मासे भिन्न यह शारीर नामवाला कौन है जिसका कि 'अनुपपत्तेस्तु० इत्यादि सूत्रसे प्रतिषेध किया जाता है ? 'नान्योऽतोऽस्ति० (इस-परमात्मासे अन्य द्रष्टा नहीं, और इससे अन्य श्रोता नहीं) इसप्रकारकी श्रुति तथा 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि० (हे अर्जुन ! तुम सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा भी मुझे ही जानो) इसप्रकारकी स्मृति भी परमात्मासे अन्य आत्माका निषेध करती है । सिद्धान्ती—इस विषयमें कहते हैं—यह कथन सत्य है । जैसे अपरिच्छिन्न आकाश भी घट, कमण्डलु आदि उपाधियोंकी आधीनताके वश परिच्छिन्न-सा भासता है, उसीप्रकार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिरूपी उपाधियोंसे परिच्छिन्न हुए परमात्माको ही अज्ञानी लोग जीव ऐसा उपचार करते हैं । उपाधि तथा अज्ञानीकी अपेक्षासे 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इसप्रकार आत्माके एकत्वके उपदेशके ग्रहणसे पहले कर्मत्व, कर्तृत्व आदि भेद व्यवहार विरुद्ध नहीं है । आत्मैकत्व (मैं ब्रह्म हूँ) ज्ञान होनेपर तो बन्ध मोक्ष आदि सब व्यवहारोंकी परिसमाप्ति ही हो जाती है ॥ ६ ॥

'एष म आत्मा० (यह आत्मा मेरे हृदयके भीतर है) इसप्रकार हृदयरूप परिच्छिन्न स्थान होनेके कारण अर्भक (छोटा) ओक (स्थान) अर्थात् छोटे स्थान वाला होनेसे और 'अणीयान्० (धानसे अथवा यवसे भी सूक्ष्म है) इसप्रकार [अल्पवाचक] स्वशब्दसे अणीयस्त्वका उपदेश होनेसे आरके अग्रभागके समान शारीर-जीवात्माका ही यहां उपदेश किया जाता है, सर्वव्यापक परमात्माका नहीं । ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए । यहां पर कहते हैं—यह दोष नहीं है । जिसका देश (स्थान) परिच्छिन्न है उसमें सर्वगतत्व उपदेश किसी प्रकार भी उपपन्न

देशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि कयाचिदपेक्षया संभवति । यथा समस्तव धाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते । कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरो र्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यत इति । ❀ निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः । एवमणीयस्त्वा गुणगणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते । यथा शालग्रामे हरि तत्रास्य बुद्धिविज्ञानं ग्राहकम । सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमानः प्रसीदति । व्योमवच्चैतद्द्र व्यम् । यथा सर्वगतमपि सद्व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयार्भकौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते, ब्रह्मापि । तदेवं निचाय्यत्वापेक्षं ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च न पारमार्थिकम् । यदाशङ्क्यते—हृदयायतनत्वाद्ब्रह्मणो हृदयायतनानां च प्रतिशरीरं भिन्नत्वाद्भिन्नायतना च शुकादीनामनेकत्वसावयवत्वानित्यत्वादिदोषदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति, तद परिहृतं भवति ॥७॥

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—सम्भोगप्राप्तिः, इति, चेत्, न, वैशेष्यात् ।

नहीं हो सकता । परन्तु सब जगह विद्यमान होनेसे सर्व-व्यापकमें किसीकी अपेक्षा परिच्छिन्न देश उपदेश भी संभव है । जैसे समस्त पृथ्वीका अधिपति हुआ भी यह अयोध्याका अधिपति है व्यदेश होता है । परन्तु सर्वगत हुआ भी ईश्वर पुनः किसकी अपेक्षा 'अर्भकौका' और 'अणीया कहा जाता है ? ध्येय होनेके कारण वह 'अर्भकौका' और 'अणीयान्' कहलाता है, ऐसा हम हैं । जैसे शालग्राममें यह विष्णु है ऐसा उपदेश किया जाता है, वैसे ही अणीयस्त्वादि-गुणोंसे वि ईश्वर उस हृदय कमलमें द्रष्टव्य है, ऐसा उपदेश किया जाता है । वहां (हृदय) में उस (परमात को ग्रहण करनेवाला बुद्धि विज्ञान (वृत्ति) है । ईश्वर सर्वव्यापक होनेपर भी हृदयमें उपास्य होनेसे प्रसन्न होता है । और उसको आकाशके समान समझना चाहिए । सर्वव्यानक होते हुए जैसे आकाश सूची छिद्र आदिकी अपेक्षा अर्भकौका और अणीयान् व्यपदिष्ट होता है, एवं ब्रह्म भी इसप्रकार ध्यान करनेकी योग्यताकी अपेक्षा ब्रह्ममें अर्भकौकस्त्व और अणीयस्त्व है, परमार्थसे नहीं यहांपर जो यह आशंका की जाती है कि ब्रह्मका स्थान हृदय है, और हृदयस्थान प्रत्येक शरीरमें भिन्न है; जैसे भिन्न भिन्न स्थानमें रहनेवाले शुकादिमें अनेकत्व, सावयत्व, तथा अनित्यत्वादि देखनेमें आते हैं, वैसे ही ब्रह्ममें भी अनेकत्व, सावयवत्व, तथा अनित्यत्वादि दोषों की प्रसक्ति हो स है । परन्तु यह शंका भी उपर्युक्त आकाशके दृष्टान्तसे दूर हो जाती है ॥ ७ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ मनोब्रह्मेत्युपास्ते । आकाशोब्रह्मेत्युपास्ते । आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते । इसप्रकार वेदोंमें अध्या अधिभूत और अधिदैव भेदसे अनेक उपासनाएँ अनेक स्थान और अनेक फल कहे गए हैं । सब स्थानोंमें से हृदय ही उत्तम स्थान है, क्योंकि हृदयमें परमात्माकी अभिव्यक्ति होती है । परमात्मा सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त है, फिर भी उसका साक्षात्कार महावाक्योंके उपदेश द्वारा वि अन्तःकरणसे ही होता है अन्यथा नहीं, क्योंकि 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' कठ श्रुति भी इसका समर्थन करती है । बुद्धिका विशेष स्थान हृदय है । उसमें बुद्धिसे परमात्म अभिव्यक्ति होती है । अतः हृदयको ध्येयका स्थान कहा गया है । यद्यपि वेदान्त सिद्धान्तमें 'आ आकाशःसम्भूतः' इत्यादि श्रुतिसे वायु आदिके समान आकाशकी भी ब्रह्मसे उत्पत्ति मानी गई तथापि नैय्यायिक आदिके मतानुसार अथवा सापेक्षिक नित्यत्वको लेकर यहां आकाशका दिया गया है ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—(सम्भोगप्राप्तिः) सर्वव्यापक परमात्मा में चेतन होनेके कारण जीवके समान सुख दुःखके सम्भोगकी प्राप्ति हो, (इति चेन्न) तो यह कथन युक्त नहीं है, (वैशेष्यात्) क्योंकि दोनोंमें वैशेष्य है, अर्थात् जीव भोक्ता और परमात्मा अभोक्ता है, इत्यादि भेदके कारण जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं। अतः जीवके भोगसे ब्रह्ममें भोगका प्रसंग नहीं है। इसलिए मनोमयत्वादि गुणोंसे युक्त ब्रह्म ही उपास्य है।

❀ व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसंबन्धात्, चिद्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात्, सुखदुःखादिसंभोगोऽप्यविशिष्टः प्रसज्येत। एकत्वाच्च। 'नहि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परस्यैव ब्रह्मणः संसारसंभोगप्राप्तिरिति चेत्—न; वैशेष्यात्। न तावत्सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाच्चिद्रूपतया च शारीरवद्ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः; वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मादिसाधनः सुखदुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य। ❀ यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसंबन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः। सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ। यदप्येकत्वाद्ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग इति। अत्र वदामः—इदं तावद्देवानांप्रियः प्रष्टव्यः।

आकाशके समान सर्वव्यापक ब्रह्मका सब प्राणियोंके हृदयके साथ सम्बन्ध होने तथा चैतन्यरूप होनेके कारण ब्रह्म और जीवमें भेद नहीं है, इससे जीवके समान ब्रह्ममें भी सुखदुःखादि संभोग प्रसक्त होगा। और श्रुति प्रतिपादित एकत्वसे भी 'नान्योऽतो० (इस—परमात्मासे भिन्न विज्ञाता नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंसे यह निश्चय होता है कि परमात्मासे भिन्न कोई संसारी जीवात्मा नहीं है। अतः (जीव और ब्रह्मके एक होनेसे) परब्रह्मको ही संसार संभोगकी प्राप्ति होगी, ऐसा यदि कहो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्ममें विशेष है। सब प्राणियोंके हृदयके साथ सम्बन्ध होने तथा चैतन्यरूप होनेसे जीवके समान ब्रह्ममें संभोगका प्रसंग नहीं है, क्योंकि वैशेष्य है। जीव और ब्रह्ममें विशेष ही है। एक—जीव कर्ता, भोक्ता, धर्म और अधर्म साधनवाला तथा सुख दुःख आदि वाला है। दूसरा-ब्रह्म जीवसे विपरीत पापरहितत्वादि गुणोंसे युक्त है। इस प्रकार इन दोनोंमें विशेष होनेके कारण एक जीवको सुख दुःखादिका भोग प्राप्त होता है दूसरे को नहीं। और यदि वस्तुकी सामर्थ्यका आश्रय किये विना केवल सान्निध्य मात्रसे कार्यके साथ सम्बन्ध माना जाय तो आकाश आदिमें भी दाह आदिका प्रसङ्ग उपस्थित होगा। और जिन वादियोंके मतमें जीव सर्वव्यापक तथा अनेक हैं उनके मतमें भी इस प्रकारकी शङ्का और उसका समाधान समान ही होगा। और यह जो कहा कि ब्रह्मके एकत्वसे अन्य आत्माका अभाव है, अतः जीवके भोगसे ब्रह्ममें भोगकी प्रसक्ति होगी। इस विषयमें हम कहते हैं, उस अनभिज्ञसे यह पूछना चाहिए कि परमात्मासे अन्य आत्माके अभावका

सत्यानन्दी दीपिका

* 'नान्योऽतोऽस्ति' इत्यादि श्रुति उपाधिसे रहित शुद्ध आत्माको लेकर ही अभेदका प्रतिपादन करती हैं, उपाधिको लेकर नहीं। उपाधिको लेकर तो दोनोंमें कल्पित भेदही है। इसलिए जीव कर्ता भोक्तादि धर्मोंसे युक्त है। ब्रह्म अकर्ता अभोक्ता आदि है, अतः ब्रह्ममें जीवके समान सुख दुःख आदि भोगका प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकता।

* एक ही हृदयमें जीव और ब्रह्म साथ-साथ रहते हैं, इस सान्निध्यसे जीवका भोग ब्रह्ममें होना चाहिए, यह आक्षेप असंगत है, क्योंकि यदि वस्तुकी असंगता आदि शक्तिके विचार किये विना सान्निध्य मात्रसे दोषका उपपादन करोगे तो अग्नि आदिके सान्निध्यसे आकाशमें भी दाह आदि

कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽध्यवसीयत इति। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिशास्त्रेभ्य इति चेत्, यथाशास्त्रं तर्हि शास्त्रीयोऽर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्धजरतीयं लभ्यम्। शास्त्रं च 'तत्त्वमसि' इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्यात्मत्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति। कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः? ❀ अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं, तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्योपभोगः, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मणः संस्पर्शः। नहि बालैस्तलमलिनतादिभिर्व्योम्नि विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति। तदाह—न, वैशेष्यादिति। नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः। मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः, सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम्। नच मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते। तस्मान्नोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम् ॥ ८ ॥

निश्चय तुमने किस प्रमाणसे किया? यदि कहो कि 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्माऽस्मि, नान्यतोऽस्ति' इत्यादि शास्त्रोंसे किया है तो (हम कहते हैं कि) शास्त्रके अनुसार ही शास्त्रीय अर्थ समझना चाहिए। उसमें अर्धजरतीय युक्त नहीं है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्र तो पापरहितत्वादि विशेषणोंसे उपलक्षित ब्रह्मका जीवको (तू ब्रह्म है) आत्मरूपसे उपदेश करता हुआ जीवके ही भोक्तृत्वका निषेध करता है। ऐसी स्थितिमें जीवके उपभोगसे ब्रह्ममें उपभोगका प्रसंग कैसे हो सकता है? यदि जीवका ब्रह्मके साथ अभेद ज्ञान गृहीत नहीं हुआ तो मिथ्याज्ञानसे ही जीवमें उपभोग उपपन्न होगा। परमार्थरूप ब्रह्मका उस उपभोगके साथ संस्पर्श-सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी लोग आकाशमें तल और मलिनता आदिकी कल्पना करते हैं, परन्तु इतनेसे ही परमार्थतः आकाश तल, मलिनता आदि वाला नहीं हो जाता, इसलिए सूत्रकार कहते हैं—'न वैशेष्यात्'। (जीव ब्रह्मके) एकत्व होनेपर भी जीवके उपभोगसे ब्रह्ममें उपभोगकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वैशेष्य है। वस्तुतः मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानमें विशेष है। उपभोग मिथ्याज्ञानसे कल्पित है और एकत्व सम्यक् ज्ञानसे दृष्ट है। सम्यग्ज्ञानसे अनुभूत वस्तु मिथ्याज्ञान कल्पित उपभोगसे सम्बन्ध नहीं रखती, अतः ईश्वरमें लेशमात्र भी उपभोगकी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ८ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

मानना पड़ेगा। और दूसरी बात यह भी है कि जिनके मतमें अनेक जीवात्मा हैं और एक ही साथ सब एक ही देहमें विद्यमान हैं उनके मतमें सब आत्माओंको परस्परके दुःख सुखसे दुःखी सुखी होना पड़ेगा। यदि इस दोषके निवारणार्थ पूर्वपक्षी यह कहे कि जिस जीवसे जो कर्म किये गये हैं वही उस कर्मफलका भागी होगा अन्य नहीं, तो सिद्धान्तमें भी जिस जीवने जो कर्म किया है उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है वह फल ब्रह्मको प्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार हमारे मतमें भी कोई दोष नहीं है। और 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुति वाक्योंमें ब्रह्मसे आत्मान्तरका अभाव कहकर फिर ब्रह्ममें भोग प्राप्तिका आक्षेप करते हो यह अर्धजरतीय अयुक्त है। क्योंकि उक्त श्रुतिवाक्य तो जीवको 'तू ही ब्रह्म है' ऐसा आत्मरूपसे उपदेश करते हुए जीवमें अनादि अविद्याकृत कर्तृत्व भोक्तृत्व आदिका निषेध करते हैं। तब किस कारण जीवका उपभोग ब्रह्ममें प्रसक्त होगा? 'आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्म तो पाप आदिसे रहित शुद्ध मुक्त स्वभाव प्रतिपादित है। ऐसे ब्रह्ममें जीवके उपभोगका अवकाश ही कहाँ?

* सम्बन्ध द्विष्ट (दोका) होता है। जब दो पदार्थ सत्य होते हैं तो उनका सम्बन्ध भी सत्य होता है। परन्तु वेदान्त सिद्धान्तमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंके आधारपर एक

(२ अत्त्रधिकरणम् । सू० ९-१०)

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥९॥

पदच्छेद—अत्ता, चराचरग्रहणात् ।

सूत्रार्थ—(चराचरग्रहणात्) चराचर (स्थावर और जंगम) के ग्रहण होनेसे यहां (अत्ता) भक्षक परमात्मा ही है अग्नि आदि नहीं ।

* कठवल्लीषु पठ्यते—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' (१।२।२४) इति । अत्र कश्चिदोदनोपसेचनसूचितोऽत्ता प्रतीयते । तत्र

'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च० (जिस परमेश्वरका ब्राह्मण तथा क्षत्रियसे उपलक्षित सम्पूर्ण चराचर जगत् 'ओदनः' भक्षण करने योग्य भात है और सर्व प्राणिनाशक मृत्यु जिसका उपसेचन (घी आदि) है वह जहां है उसे कौन [अज्ञ पुरुष] इस प्रकार (उपर्युक्त साधन सम्पन्न अधिकारीके समान)

सत्यानन्दी दीपिका

ब्रह्म ही सत्य है 'अतोन्यदार्तम्' तदतिरिक्त सब मिथ्या है, अतः सत्य और मिथ्याका सम्बन्ध भी मिथ्या ही होता है । इसलिए कल्पित पदार्थके साथ अधिष्ठानका सत्य सम्बन्ध नहीं होता किन्तु कल्पित होता है । यदि कल्पित पदार्थके साथ अधिष्ठानका सम्बन्ध सत्य मानेंगे तो भ्रान्तिमय जलसे मरुस्थल भी गीला होना चाहिए, परन्तु होता नहीं है, क्योंकि 'यत्र यदध्यासस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि न सम्बध्यते' 'जिसका जहां अध्यास होता है तत्कृत दोष या गुणसे वह अणुमात्र भी सम्बन्धित नहीं होता !' ऐसा प्रकरणमें भी समझना चाहिए, अर्थात् ब्रह्ममें जीव अविद्यासे कल्पित है । अतः कल्पित वस्तुके कल्पित सम्बन्धसे सत्य अधिष्ठानमें किंचित् भी वैलक्षण्य नहीं आता । इससे यह सिद्ध होता है कि हृदयमें ब्रह्मकी स्थितिका कोई बाधक नहीं है । और मनोमयत्वादि गुणोंसे उपलक्षित परमात्मा ही यहां उपास्य है जीव नहीं ॥ ८ ॥

* नचिकेता और यमका संवाद कठोपनिषद्में प्रसिद्ध है । उसमें इस प्रकार प्रश्नोत्तर देखनेमें आते हैं । 'स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि० (कठ० १।१३) (हे मृत्यु ! तुम स्वर्गके साधनभूत अग्निको जानते हो उसका वर्णन मुझ श्रद्धालुके प्रति करो ।) 'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै० (क० १।१५) (तब यमराजने नचिकेताके लिए लोकोंके आदि कारणभूत उस अग्निका उपदेश किया) यह अग्नि विषयक प्रश्नोत्तर है । 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' (कठ० १।२०) (मरणानन्तर मनुष्यके विषयमें यह सन्देह है; कि परलोकमें शरीरेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे भिन्न देहान्तर सम्बन्धी आत्मा है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं, और कुछ लोग मानते हैं कि इनसे भिन्न आत्मा नहीं है) यह जीव विषयक प्रश्न है । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद० (कठ० १।२।१४) (जो धर्मसे पृथक्, अधर्मसे पृथक् तथा इस कार्य कारणरूप प्रपञ्चसे भी पृथक् है) यह ब्रह्म विषयक प्रश्न है । 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् । यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम' (क० २।२।६) हे गौतम ! अब मैं तुम्हारे प्रति उस गुह्य और सनातन ब्रह्मका वर्णन करूँगा तथा [ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा जैसा हो जाता है [वह भी बतलाऊँगा] यहांसे जीव और ब्रह्म विषयक उत्तर आरम्भ होता है । इस प्रकरणमें 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च' यह मन्त्र उत्तररूपसे आया हुआ है । इसलिए यहां सन्देह होता है कि इन तीनोंमें कौन अत्ता है । जैसे गत अधिकरणमें ब्रह्ममें भोक्तृत्वका अभाव कहा गया है, वैसे उसमें कर्तृत्वका भी अभाव है, इस प्रकार यहां दृष्टान्त संगतिसे 'अग्नेरत्तेति' आदिसे पूर्वपक्ष है । इसमें पूर्वपक्षी अन्य श्रुतियोंके बलसे अग्नि अथवा जीवको ही यहांपर अत्ता सिद्ध करता है । पूर्वपक्षमें अग्नि अथवा जीवकी उपासना है, सिद्धान्तमें निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान, इस प्रकार दोनोंमें अन्तर है ।

किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः। विशेषानवधारणात्, त्रयाणां चाग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासोपलब्धेः। किं तावत् प्राप्तम्? अग्निरत्तेति। कुतः? 'अग्निरन्नादः' (बृ० १।४।६) इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम्। जीवो वाऽत्ता स्यात्, 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति दर्शनात्। न परमात्मा; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मुण्ड० ३।१।१) इति दर्शनादित्येवं ❀ प्राप्ते ब्रूमः—अत्ताऽत्र परमात्मा भवितुमर्हति। कुतः? चराचर-ग्रहणात्। चराचरं हि स्थावरजङ्गमं मृत्यूपसेचनमिहाद्यत्वेन प्रतीयते, तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्यः कार्त्स्न्येनात्ता संभवति। परमात्मा तु विकारजातं संहरन् सर्वमत्तीत्यु-पपद्यते। नन्विह चराचरग्रहणं नोपलभ्यते, कथं सिद्धवच्चराचरग्रहणं हेतुत्वेनोपादीयते? नैष दोषः; मृत्यूपसेचनत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात्, ब्रह्मक्षत्रयोश्च प्राधा-न्यात्प्रदर्शनार्थत्वोपपत्तेः। यत्तु परमात्मनोऽपि नात्तृत्वं संभवति; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति दर्शनादिति। अत्रोच्यते—कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद्दर्शनं; तस्य संनिहितत्वात्। न विकारसंहारस्य प्रतिषेधकं; सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। तस्मात्परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हतीति ॥ ९ ॥

जान सकता है ?) ऐसा कठोपनिषद्‌में कहा गया है। यहां ओदन और उपसेचनसे सूचित कोई ए भक्षक प्रतीत होता है। यहां क्या वह भक्षक अग्नि है या जीव अथवा परमात्मा ? ऐसा संशय होत है। इस ग्रन्थमें अग्नि, जीव और परमात्मा इन तीनोंके प्रश्नोंका उपन्यास उपलब्ध होता है। तब क्या प्राप्त होता है ? 'पूर्वपक्षी—अग्नि ही अत्ता (भक्षक) है। क्यों ? 'अग्निरन्नादः' (अग्नि अन्नको भक्षण करता है।) इस श्रुति और लोक प्रसिद्धिसे यही प्राप्त होता है। अथवा जीव भक्ष होना चाहिए, क्योंकि 'तयोरन्यः पिप्पलं० (उन दोनोंमें एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्मफल) का उपभोग करता है) ऐसी श्रुति देखी जाती है। परन्तु परमात्मा भक्षक नहीं हो सकता, क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो० (दूसरा न भोगता हुआ देखता रहता है) ऐसी श्रुति देखनेमें आती है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहां परमात्मा ही अत्ता होना युक्त है। क्यों ? क्योंकि श्रुतिमें चराचरका ग्रहण है। चर और अचर-जंगम और स्थावर जगत्-तथा मृत्यु उपसेचन यहां भक्ष्यरूपसे प्रतीत होता है। ऐसे भक्ष्यका पूर्णरूपसे भक्षक परमात्मासे अन्य नहीं हो सकता। परमात्मा तो सम्पूर्ण विकारका संहार करता हुआ सबको भक्षण करता है, ऐसा उपपन्न होता है। परन्तु श्रुतिमें चर और अचरका ग्रहण तो उपलब्ध नहीं होता, तो फिर सूत्रकारने निश्चित् सा मानकर चराचरका हेतुरूपसे कैसे ग्रहण किया है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि मृत्युरूपी उपसेचनके कथनसे सब प्राणि-समूहकी भक्ष्यरूपसे श्रुतिमें प्रतीति होती है। ब्राह्मण और क्षत्रियको मुख्य होनेके कारण उनका श्रुतिमें प्रदर्शन होना ठीक है। [क्योंकि जगत्‌में ये दोनों प्रधान है अतः उनका ग्रहण ठीक है] 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति० (दूसरा कर्मफल भोगे विना साक्षी रूपसे देखता रहता है) इस श्रुतिसे भी परमात्मा भक्षक नहीं हो सकता। [ऐसा जो कहा गया है] इसपर कहते हैं—यह श्रुति वाक्य कर्मफलके उपभोगका प्रतिषेध करता है, क्योंकि उसके सन्निहित (समीप) है, किन्तु विकारके संहारका प्रतिषेध नहीं करता, कारण कि ब्रह्म सब वेदान्त वाक्योंमें सृष्टि, स्थिति और संहारका कारण रूपसे प्रसिद्ध है। इसलिए यहां परमात्मा ही भक्षक होने योग्य हैं ॥ ९ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ पूर्वपक्षी ओदनशब्दसे भोग्य वस्तुका ग्रहण करता है। परन्तु सिद्धान्तमें तो ओदनीय ब्रह्म एवं क्षत्र शब्दोंसे उपलक्षित कार्य मात्रका ग्रहण किया जाता है। इसलिए सम्पूर्ण प्रपञ्चका संहारक ईश्वर ही हो सकता है दूसरा नहीं ॥ ९ ॥

प्रकरणाच्च ॥१०॥

पदच्छेद—प्रकरणात्, च।

सूत्रार्थ—'न जायते' इस प्रकरणसे और 'क इत्था वेद यत्र सः' इस दुर्विज्ञेयरूप लिंगसे अत्तृवाक्यमें उक्त अत्ता परमात्मा ही है।

इतश्च परमात्मैवेहाऽत्ता भवितुमर्हति, यत्कारणं प्रकरणमिदं परमात्मनः, 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (काठ० १।२।१८) इत्यादि। प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम्। 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥१०॥

(३ गुहाधिकरणम् सू० ११-१२)

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥

पदच्छेद—गुहाम्, प्रविष्टौ, आत्मानौ, हि, तद्दर्शनात्।

सूत्रार्थ—(गुहांप्रविष्टावात्मानौ एव) 'ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' इस मन्त्रमें जीव और परमात्मा ही गुहामें प्रवेश किए हुए हैं बुद्धि और जीव नहीं, (तद्दर्शनात्) क्योंकि श्रुतिमें ऐसा ही देखा जाता है।

* कठवल्लीष्वेव पठ्यते—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (काठ० १।३।१) इति। तत्र संशयः—किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टौ, उत जीवपरमात्मानाविति। यदि बुद्धिजीवौ, ततो बुद्धिप्रधानात्कार्यकरणसंघाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो भवति। तदपीह प्रतिपादयितव्यं, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥'

इससे भी परमात्मा ही यहां अत्ता-भक्षक होना चाहिए, क्योंकि 'न जायते म्रियते' (मेधावी-आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है) इत्यादि प्रकरण परमात्माका ही है। प्रकृतका ग्रहण करना युक्त है। 'क इत्था० (वह जहांपर है इस प्रकार उसको [अधिकारीके विना] कौन जान सकता है। ऐसा दुर्विज्ञानत्व परमात्माका ही लिङ्ग है ॥१०॥

'ऋतं पिबन्तौ० (ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि शरीरमें बुद्धिरूप गुहाके भीतर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थानमें प्रविष्ट हुए अपने कर्मफलको भोगनेवाले छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण दो [तत्त्व] हैं। यही बात जिन्होंने तीन बार नाचिकेताग्निका चयन किया है वे पञ्चाग्नि उपासना करने वाले भी कहते हैं) ऐसा कठवली में कहा जाता है। इसमें संशय होता है कि क्या यहां बुद्धि और जीव निर्दिष्ट हैं अथवा जीव और परमात्मा। यदि बुद्धि और जीव हैं तो बुद्धि जिसमें प्रधान है, ऐसे शरीर इन्द्रिय आदि संघातसे विलक्षण जीव प्रतिपादित होगा। वह भी यहां प्रतिपादन करने योग्य है, क्योंकि 'येयं प्रेते० (मनुष्यके मरनेके अनन्तर कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा है और कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा नहीं है, ऐसा संशय होता है, अतः इस विषयमें तुमसे निश्चित निर्णय पाकर मैं इस आत्मविद्याको जान सकूं) वरोंमें यह मेरा तीसरा वर है। ऐसा प्रश्न किया गया है। यदि जीव और परमात्मा

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्व अधिकरणमें मृत्युपदके सान्निध्यसे जैसे ब्रह्म-क्षत्रपद अनित्य वस्तु परक हैं, वैसे गुहाप्रवेशके सान्निध्यसे 'ऋतं पिबन्तौ' यह पिबत् शब्द भी बुद्धि-क्षेत्रज्ञ परक होना चाहिए, इसप्रकार दृष्टान्त संगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है। 'ऋतं पिबन्तौ'० यह इस अधिकरणका विषय वाक्य है। इस श्रुति प्रतिपादित 'ऋत' को सेवन करनेवाले इन दोनों (तत्त्वों) को ब्रह्मवित् तथा स्वर्ग, मेघ, पृथ्वी, पुरुष और स्त्रीमें अग्नि दृष्टि रखनेवाले पञ्चाग्निके उपासक (पञ्चाग्निवेत्ता) यमके द्वारा

(काठ० १।१।२०) इति पृष्टत्वात् । अथ जीवपरमात्मानौ ततो जीवाद्विलक्षणः परमात्मा प्रतिपादितो भवति । तदपीह प्रतिपादयितव्यम् ; 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' (काठ० १।२।१४) इति पृष्टत्वात् । ❀ अत्राहा-क्षेप्ता—उभावप्येतौ पक्षौ न संभवतः । कस्मात् ? ऋतपानं कर्मफलोपभोगः; 'सुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात् । तच्चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य संभवति, नाचेतनाया बुद्धेः । 'पिबन्तौ' इति च द्विव-चनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः । अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न संभवति । ❀ अत एव क्षेत्रज्ञ-परमात्मपक्षोऽपि न संभवति; चेतनेऽपि परमात्मनि ऋतपानासंभवात् । 'अनश्नन्नन्योऽभि-चाकशीति' (मु० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णादिति । अत्रोच्यते—नैष दोषः; छत्रिणो गच्छन्ती-त्येकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारदर्शनात् । एवमेकेनापि पिबता द्वौ पिबन्तावुच्यते। यद्वा—जीवस्तावत्पिबति, ईश्वरस्तु पाययति । पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते; पाचयितर्यपि

हां तो जीवसे विलक्षण परमात्मा प्रतिपादित होता है । यह भी यहां प्रतिपादन करने योग्य है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्माद० (जो धर्मसे पृथक्, अधर्मसे पृथक् तथा इस कार्य कारणरूप प्रपञ्चसे भी पृथक् और जो भूत और भविष्यत्से भी अन्य है इस तरह जिसको आप जानते हैं वही मुझसे कहिए) ऐसा प्रश्न किया गया है । यहां शका करनेवाला यह कहता है कि ये दोनों पक्ष संभव नहीं हैं। क्योंकि 'ऋतपान' का अर्थ कर्मफलका उपभोग है । 'सुकृतस्य लोके' (सुकृतके कार्य देहमें) यह लिङ्ग है । यह चेतन क्षेत्रज्ञमें सम्भव है, अचेतन बुद्धिमें नहीं । 'पिबन्तौ' (दो पीनेवाले) इस द्विवचनसे श्रुति दोनोंमें कर्मफलका उपभोग दिखलाती है । अतः बुद्धि और जीवका पक्ष तो सम्भव नहीं है । इस कारणसे जीव और परमात्माका पक्ष भी सम्भव नहीं है, कारण कि चेतन परमात्मामें कर्मफलका सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो० (अन्य खाए विना साक्षीरूपसे देखता रहता है) ऐसी श्रुति है । इसपर कहते हैं कि यह दोष नहीं है । क्योंकि 'छत्रिणो गच्छन्ति' (छत्रीवाले जाते हैं) इसप्रकार एक छत्रीवाला हो तो भी बहुत छत्रीवाले ऐसा उपचार देखनेमें आता है । इसीप्रकार एक पान करता हो तो दो पान करते हैं, ऐसा कहा जाता है । अथवा जीव पान करता है (कर्मफल भोगता है) और ईश्वर पान (कर्मफलका उपभोग) कराता है । पान कराते (उपभोग कराते

सत्यानन्दी दीपिका

उपदिष्ट विराटरूप अग्निका तीन वार अध्ययन, ज्ञान तथा अनुष्ठान करनेवाले कर्मी लोग भी जानते हैं । ऋतको सेवन करनेवाले इन दोनोंके सम्बन्धमें संशय होता है कि ये दोनों जीव और बुद्धि हैं अथवा जीव और परमात्मा हैं ।

❀ 'ऋतं पिबन्तौ० इस श्रुतिमें कर्मफलका उपभोग दोमें सुना जाता है, क्योंकि श्रुतिमें 'पिबन्तौ' यह द्विवचन है । यदि बुद्धि और जीवका ग्रहण किया जाय तो बुद्धि जड़ है उसमें कर्मफलका भोक्तृत्व सम्भव नहीं है । केवल जीवका भी ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि दो कर्मफल भोक्ताओंका श्रवण है । इसलिए प्रथम पक्ष युक्त नहीं है ।

❀ 'छत्रिणो यान्ति' यहां जैसे छत्री पदसे अजहल्लक्षणाके द्वारा छत्री युक्त और छत्री रहित दोनोंका साथ साथ ग्रहण होता है, वैसे ही 'पिबन्तौ' इस पदसे भोग करनेवाले और भोग न करने-वाले हृदयाकाशमें स्थित दोनोंका ग्रहण होता है । इस पक्षमें गौण रूपसे ईश्वरमें भोक्तृत्व माना गया है । अब अन्य पक्षमें 'यद्वा' इत्यादि भाष्यसे मुख्यरूपसे ईश्वरमें भोगकर्तृत्व दिखलाते हैं । जीव कर्म-फल भोगता है और ईश्वर भोग करवाता है । जैसे जीव कर्मफल भोगनेके लिए कृतिवाला होनेसे कर्ता है ऐसे ही ईश्वर कर्मफलोंका भोग करानेके लिए कृतिवाला होनेसे कर्ता है । जो कराता है, वह कर्ता होता है यह न्याय लोक प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

पक्तृत्वप्रसिद्धिदर्शनात्। बुद्धिक्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि संभवति; करणे कर्तृत्वोपचारात्। एधांसि पचन्तीति प्रयोगदर्शनात्। नचाध्यात्माधिकारेऽन्यौ कौचिद्वावृतं पिबन्तौ संभवतः। तस्माद्बुद्धिजीवौ स्यातां, जीवपरमात्मानौ वेति संशयः। किं तावत्प्राप्तं ? बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति। कुतः ? 'गुहां प्रविष्टौ' इति विशेषणात्। यदि शरीरं गुहा, यदि वा हृदयं, उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहां प्रविष्टावुपपद्येते। नच सति संभवे सर्वगतस्य ब्रह्मणो विशिष्टदेशत्वं युक्तं कल्पयितुम्। 'सुकृतस्य लोके' इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति। परमात्मा तु न सुकृतस्य वा दुष्कृतस्य वा गोचरे वर्तते; 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' इति श्रुतेः। 'छायातपौ' इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते; छायातपवत्परस्पर विलक्षणत्वात्। तस्माद्बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयातामित्येवं प्राप्ते ब्रूम—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम्। कस्मात् ? आत्मानौ हि तावुभावपि चेतनौ समानस्वभावौ। संख्याश्रवणे च समानस्वभावेष्वेव लोके प्रतीतिर्दृश्यते। अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वः पुरुषो वा। तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्वितीयान्वेषणायां समानस्वभावश्चेतनः परमात्मैव प्रतीयते। ननूक्तं गुहाहितत्वदर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य इति गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्येतव्य इति वदामः। गुहाहितत्वं तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव दृश्यते—'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' (काठ० १।२।१२) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'

हुए (ईश्वर) में भी पान (उपभोग) करता है ऐसा कहा जाता है, क्योंकि पकवाने वालेमें भी पाककर्तृत्व प्रसिद्धि देखी जाती है। बुद्धि और जीवका भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि करणमें कर्तृत्वका उपचार है। जैसे 'एधांसि पचन्ति' (लकड़ियां पकाती हैं) ऐसा प्रयोग देखनेमें आता है। और अध्यात्म प्रकरणमें दूसरे कोई दो पान करते हैं (कर्मफल भोगते हैं) यह सम्भव नहीं है। इसलिए बुद्धि और जीवका उपदेश है अथवा जीव तथा परमात्माका, ऐसा संशय होता है। तत्र क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—बुद्धि और क्षेत्रज्ञका निर्देश प्राप्त होता है। क्यों ? 'गुहां प्रविष्टौ' यह विशेषण कहा गया है। चाहे शरीररूपी गुहा हो अथवा हृदय गुहा हो, दोनों प्रकारसे बुद्धि तथा जीव गुहामें प्रविष्ट हुए उपपन्न होते हैं। और सम्भव हो अर्थात् गुहामें प्रविष्टरूपसे बुद्धि और जीवका ग्रहण सम्भव हो तो सर्वगत परमात्मामें विशिष्ट देशकी कल्पना करना युक्त नहीं है। 'सुकृतस्य लोके' यह श्रुति वाक्य कर्मफलका अनतिक्रम दिखलाता है। परमात्मा तो सुकृत और दुष्कृत विषयक फलमें नहीं रहता। क्योंकि 'न कर्मणा' (न कर्मसे बढ़ता है और न घटता है) यह श्रुति है। 'छायातपौ० (छाया और आतपके समान परस्पर विलक्षण हैं) यह भी चेतन, अचेतनमें निर्देश उपपन्न होता है, क्योंकि छाया और घामके समान परस्पर विलक्षण हैं। इस कारण बुद्धि और जीवको ही यहां कहना चाहिए। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं। 'गुहां प्रविष्टौ' इस प्रसगमें जीव और परमात्मा कहने चाहिएं, क्योंकि दोनों आत्मा चेतन और समान स्वभाव वाले हैं। संख्याके श्रवण होनेपर लोकमें समान स्वभाववालोंकी ही प्रतीति देखी जाती है। जैसे 'अस्य गोः' (इस बैलका दूसरा साथी खोजना चाहिए) ऐसा कहने पर बैलका सजातीय दूसरे बैलको ही खोजा जाता है उसके विजातीय अश्व अथवा पुरुष नहीं खोजा जाता। इसलिए यहां कर्मफल-भोगरूप लिङ्गसे जीवात्माका निश्चय होनेपर दूसरेकी खोजमें समान स्वभाव वाले चेतन परमात्माकी ही प्रतीति होती है। परन्तु ऐसा जो कहा गया है कि गुहामें प्रविष्टत्व देखनेसे सर्वव्यापक परमात्माकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, तो इसपर हम कहते हैं कि गुहामें प्रविष्टत्व दर्शनसे ही परमात्माकी प्रतीति होनी चाहिए। क्योंकि गुहामें प्रविष्टत्व तो श्रुति, स्मृतिमें अनेक वार परमात्माका ही देखा गया है, जैसे 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं० (बुद्धिरूप

(तै० २।१) 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्' इत्याद्यासु। सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं देशविशेषोपदेशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सुकृतलोकवर्तित्वं तु छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि वर्तमानमुभयोरविरुद्धम्। छायातपावित्यप्यविरुद्धम्। छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्संसारित्वासंसारित्वयोः। अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य, पारमार्थिकत्वाच्चासंसारित्वस्य। तस्माद्विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते ॥११॥

कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानौ गृह्येते—

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

पदच्छेद—विशेषणात्, च।

सूत्रार्थ—'और 'आत्मानं रथिनं विद्धि' 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति' इस प्रकार गन्ता और गन्तव्यादि विशेषणसे भी हृदय रूपी गुहामें जीव और परमात्माका ही ग्रहण होता है।

* विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (का० १।३।३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (का० १।३।९) इति च परमात्मानं गन्तव्यम्। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (का० १।२।१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे

गुहामें स्थित, अनेक प्रकारके अनर्थोंसे पूर्ण देहमें स्थित है अनादि पुरुष परमात्माको जानकर अधिकारी पुरुष हर्ष और शोकका त्यागकर देता है) 'यो वेद निहितं०(श्रेष्ठ हृदय आकाशमें स्थित, बुद्धिरूपी गुहामें प्रविष्ट ब्रह्मको जो जानता है वह सब कामोंको प्राप्त करता है) 'आत्मानं० (बुद्धिरू गुहामें स्थित, आत्माका विचार करो) इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंमें है। सर्वव्यापक ब्रह्मका भी साक्षात्कार करनेके लिए हृदयादि देश विशेषका उपदेश विरुद्ध नहीं होता, ऐसा पहले कहा गया है। सुकृते कार्य देहमें रहना तो छत्रित्वके समान एकमें (जीवमें) कर्मफल भोक्तृत्वादि होनेपर भी दोनें (जीव, परमात्मा) में अविरुद्ध है। छाया और आतपके समान यह कथन भी अविरुद्ध है क्योंकि संसारित्व और असंसारित्व ये छाया और आतपके समान परस्पर विलक्षण हैं। संसारित्व अविद्याकृत है और असंसारित्व पारमार्थिक है। अतः गुहामें प्रविष्ट जीवात्मा तथा परमात्माका ही यहां ग्रहण किया जाता ॥ ११ ॥

और किस कारणसे विज्ञानात्मा और परमात्माका ग्रहण किया जाता है?

गन्ता और गन्तव्य आदि विशेषण भी जीव और परमात्मामें ही सम्भव है। 'आत्मानं रथिनं (तू आत्माको रथी जान और शरीरको रथ समझ) इत्यादि उत्तर वाक्य सन्दर्भसे रथी, रथ आदि रूपककी कल्पनाकर यम विज्ञानात्मा (जीवात्मा) रथी की संसार और मोक्षके प्रति गन्तारूप कल्पना करते हैं। और 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति० (वह संसार मार्गसे पार—उस व्यापक परमात्मा परम पदको प्राप्त कर लेता है) इससे परमात्माकी गन्तव्यरूपसे कल्पना करते हैं। इसी प्र 'तं दुर्दर्शं गूढमनु० (दुर्विज्ञेय, गूढ़-मायामें प्रविष्ट, गुहा—बुद्धिमें स्थित, गह्वर-अनेक अनर्थोंसे व्या देहमें स्थित, चिरन्तन, अध्यात्मयोग—विषयोंमेंसे चित्तको हटाकर आत्मामें संलग्न करना, उ

सत्यानन्दी दीपिका

* 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रसे पूर्व 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं' इस मन्त्रसे परमात्माका और 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस अन्तिम मन्त्रसे जीवका ग्रहण किया गया है। इस प्रकार दोनों मंत्र जी और परमात्मा का मन्ता और मन्तव्य रूपसे ज्ञापन करते हैं। इसलिए दोनोंका ग्रहण करना चाहिए

मन्तृमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ । ※ प्रकरणं चेदं परमात्मनः । 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते । तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम् । एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्ड० ३।१।१) इत्येवमादिष्वपि । तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णावुच्येते । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्विज्ञानात्मा भवति । 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यनशनचेतनत्वाभ्यां परमात्मा । अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (मुण्ड० ३।१।२) इति । ※ अपर आह—'द्वा सुपर्णा' इति नेयमृगस्याधिकरणस्य सिद्धान्तं भजते; पैङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात् । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति । सत्त्वशब्दो जीवः, क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मेति यदुच्यते—

प्राप्तिसे आत्माका मनन कर धीर पुरुष हर्ष और शोकका त्याग कर देता है) इस प्रकार पूर्व ग्रन्थमें भी मन्ता और मन्तव्यरूपसे दोनों ही विशेषित किये गये हैं । यह प्रकरण भी परमात्माका है । 'ब्रह्मविदो वदन्ति' (ब्रह्मवेत्ता कहते हैं) इस प्रकार वक्ता विशेषका ग्रहण परमात्माके स्वीकार करनेपर ही संगत होता है । इसलिए यहाँ जीव और परमात्मा ही कहने चाहिएं । 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (दो सुन्दर पक्षवाले अर्थात् समान धर्मवाले, सदा एक तरह रहनेवाले सहचर, एक ही वृक्ष (शरीर) को आश्रयकर रहते हैं) इत्यादिमें भी यही (कठ वल्लीका) न्याय है ['ऋतं पिबन्तौ' इस कठ-श्रुतिमें जिन दो का ग्रहण किया गया है उन दोनों (जीव और परमात्माको ही) 'द्वा सुपर्णा' इस मुण्डक श्रुतिमें भी ग्रहण किया गया समझना चाहिए] वहाँ भी अध्यात्म प्रकरणके कारण लौकिक पक्षियोंका वर्णन नहीं किया गया है । इसमें 'तयोरन्यः पिप्पलं० (दोनोंमें एक मधुर [कर्म] फलोंका भोग करता है) इस प्रकार अदन (भक्षण) लिङ्गसे जीवात्मा अवगत होता है । और 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (दूसरा न भोगता हुआ प्रकाश करता है) इन अभक्षण और चेतनत्वरूप लिङ्गोंसे परमात्मा अवगत होता है । उसके आगेके मन्त्रमें 'समाने वृक्षे पुरुषो० (एक ही शरीररूपी वृक्षमें मुह्यमान-यह देह मैं हूँ, इस प्रकार देहसे तादात्म्य अभिमानको प्राप्त हुआ दीनभावसे मोहको प्राप्त होकर शोक करता है । जब अनेक योगमार्गोंसे चित्त शुद्धकर उस परमात्माकी महिमाको जानता है, तब शोक रहित होता है) इन दोनों को ही द्रष्टा और द्रष्टव्यभावसे विशेषित करते हैं । दूसरे कहते हैं—'द्वा सुपर्णा' यह मन्त्र इस अधिकरणके सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणमें उसका अन्य प्रकारसे व्याख्यान किया गया है । तयोरन्यः पिप्पलं' (उनमेंसे एक मधुर कर्मफल भोगता है वह सत्त्व (बुद्धि) है और दूसरा खाये विना देखता रहता है अर्थात् कर्मफलका उपभोग किये विना देखता रहता है वह ज्ञ—क्षेत्रज्ञ है, ये दो सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं) सत्त्वशब्द जीव वाचक है और क्षेत्रज्ञशब्द परमात्मा वाचक है ऐसा जो कहा जाता है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि

सत्यानन्दी दीपिका

※ भाष्यमें 'द्वा सुपर्णा' यहाँ से लेकर 'वीतशोकः' तक जो अभिप्राय लिखा गया है वह वृत्तिकारका मत है । भाष्यकारके मतमें तो 'द्वा सुपर्णा' यह वाक्य इस अधिकरणका विषय वाक्य नहीं है । आगे 'अपर आह' से लेकर इसको स्पष्ट करते हैं ।

※ भाष्यमें 'अपर' शब्दका अर्थ—'न पर अपरः' इस विग्रहके अनुसार स्वयं भाष्यकारका ग्रहण है अर्थात् अपरसे भाष्यकार स्वयं अपना अभिमत उपस्थित करते हैं । यह अधिकरण जीव और ईश्वरको सिद्ध करता है, परन्तु 'द्वा सुपर्णा' यह मन्त्र जीव और ईश्वरका प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणसे विरोध है, इस ब्राह्मणमें तो बुद्धि और क्षेत्रज्ञका ग्रहण किया गया है ।

तन्न; सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्धत्वात्। तत्रैव च व्याख्यातत्वात्—'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति, अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति। नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्षं भजते। नह्यत्र शारीरः क्षेत्रज्ञः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिना संसारधर्मेणोपेतो विवक्ष्यते। कथं तर्हि? सर्वसंसारधर्मातीतो ब्रह्मस्वभावश्चैतन्यमात्रस्वरूपः; 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' 'अनश्नन्न्योऽभिपश्यति ज्ञः' इति वचनात्। 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी० १३।२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च। तावता च विद्योपसंहारदर्शनमेवमेवावकल्पते, 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवंविदि किंचन रज आध्वंसते' इत्यादि। कथं पुनरस्मिन्पक्षे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्ववचनमिति? उच्यते—नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता। किं तर्हि? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति। तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति। इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते। परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि संभवति; अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य। अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न संभवति। * तथा च श्रुति—'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' इत्यादिना स्वप्नदृष्टहस्त्यादिव्यवहारवदविद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्य-

---

सत्त्व और क्षेत्रज्ञ शब्द अन्तःकरण तथा जोव परक प्रसिद्ध हैं। और उसीमें (पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणमें) 'तदेतत्सत्त्वं० (जिससे स्वप्न देखता है वह यह सत्त्व है और जो यह शारीर उपद्रष्टा है वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसे ये दो सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं) ऐसा ही व्याख्यान किया गया है। इस प्रकार यह ऋक् (द्वा सुपर्णा) इस अधिकरणके पूर्वपक्ष भाव (सत्त्व शब्दसे बुद्धि और क्षेत्रज्ञ शब्दसे जीवके ग्रहण) का प्रतिपादन नहीं करती। वस्तुतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि संसारी धर्मोंसे युक्त शारीर क्षेत्रज्ञ यहाँ विवक्षित नहीं है। किन्तु सब संसार धर्मोंसे अतीत ब्रह्म स्वभाव चैतन्य मात्र स्वरूप यहाँ विवक्षित है, क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो' 'अनश्नन्नन्यो० (अन्य परमात्मा न भोगता हुआ देखता रहता है) 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि (क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान) इत्यादि श्रुति स्मृतियोंसे भी यही अर्थ युक्त है। केवल मन्त्र व्याख्यानमें ही 'तावेतौ' (वे दो सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं, इस प्रकार जाननेवाले विद्वान्में अविद्या कुछ भी सम्बन्ध नहीं करती) इत्यादि ब्रह्म विद्याका उपसंहारदर्शन 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत्' जीवके ब्रह्म भाव कथनसे ही संगत होता है। परन्तु इस पक्षमें 'तयोरन्यः' (उन दोनोंमें से एक मधुर कर्म फल भोगता है वह सत्त्व है) इस प्रकार अचेतन सत्त्वमें भोक्तृत्व वचन कैसे संगत होगा? कहते हैं—अचेतन सत्त्वमें भोक्तृत्व कहूँगी, इसलिए [द्वा सुपर्णा] यह श्रुति प्रवृत्त नहीं हुई है, किन्तु चेतन क्षेत्रज्ञमें अभोक्तृत्व और ब्रह्म स्वभावत्व कहूँगी, इसके लिए सुख आदि विक्रिया - विकारवाले सत्त्वमें भोक्तृत्वका अध्यारोप करती है। वस्तुतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व तो सत्त्व और क्षेत्रज्ञके परस्पर स्वभावके अविवेकसे कल्पित हैं। परमार्थसे तो दोनोंमें से एकमें भी कर्तृत्व आदि सम्भव नहीं है, क्योंकि बुद्धि अचेतन है और क्षेत्रज्ञ कूटस्थ विकार रहित है। अविद्यासे प्रत्युपस्थापित स्वभाव वाला होनेसे सत्त्वमें कर्तृत्व भोक्तृत्व सुतरां संभव नहीं है। इस प्रकार 'यत्र वा अन्यदिव० (जहाँ—अविद्या अवस्थामें द्वैत-सा होता है वहाँ एक दूसरेको देखता है) इत्यादिसे श्रुति स्वप्नमें देखे हुए हस्ती आदि व्यवहारके

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे स्वप्न पदार्थ मिथ्या होनेपर भी अविद्यासे सत्य प्रतीत होते हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण प्रपञ्च भी मिथ्या होते हुए अविद्यासे सत्य प्रतीत होता है अर्थात् दोनों अविद्या कल्पित होनेसे मिथ्या ही हैं। वस्तुतः एक परमात्मा ही सत्य है। किञ्च पैङ्गिरहस्य ब्राह्मणके व्याख्यानके अनुसार 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि मुण्डक वाक्य इस अधिकरणका विषय नहीं हो सकता। किन्तु 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि कठ

वहारं दर्शयति । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च विवेकिनः कर्तृत्वादिव्यवहाराभावं दर्शयति ॥१२॥

(४ अन्तराधिकरणम् सू० १३-१७)

अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

पदच्छेद—अन्तरः, उपपत्तेः ।

सूत्रार्थ—(अन्तरः) 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुतिसे प्रतिपाद्यमान नेत्राभ्यन्तर्गत पुरुष परमात्मा ही है । छायात्मा आदि नहीं, (उपपत्तेः) क्योंकि उक्त श्रुति प्रतिपादित आत्मत्व, अमृतत्व आदि धर्मोंकी परमात्मामें ही उपपत्ति होती है ।

* 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति । तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' (छा० ४।१५।१) इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः—किमयं प्रतिबिम्बात्माऽक्ष्यधिकरणो निर्दिश्यते, अथवा विज्ञानात्मा, उत देवतात्मेन्द्रियस्याधिष्ठाता, अथवेश्वर इति । किं तावत्प्राप्तम् ? छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति । कुतः ? तस्य दृश्यमानत्वप्रसिद्धेः । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति च प्रसिद्धवदुपदेशात् । विज्ञानात्मनो वाऽयं निर्देश इति युक्तम । स हि चक्षुषा रूपं पश्यंश्चक्षुषि संनिहितो भवति । आत्मशब्दश्चास्मिन्पक्षेऽनुकूलो भवति । आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीयते; 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' (बृ० ५।५।२) इति श्रुतेः, अमृतत्वादीनां च देवतात्मन्यपि कथंचित्संभवात् ।

समान अविद्या विषयक ही कर्तृत्वादि व्यवहार दिखलाती है । और 'यत्र त्वस्य० (परन्तु जहाँ इसके लिए सब आत्मा हो गया है वहाँ किससे किसको देखे) इत्यादिसे यह श्रुति ब्रह्मवित्में कर्तृत्वादि व्यवहारका अभाव दिखलाती है ॥ १२ ॥

'य एषोऽक्षिणि० (यह जो नेत्रमें पुरुष दिखाई देता है यह आत्मा है ऐसा कहा है यह अमृत, अभय और ब्रह्मस्वरूप है । उस-पुरुषके स्थानरूपनेत्रमें यदि घृत वा जल डाले तो वह पलकोंमें ही चला जाता है) इत्यादि श्रुति है । यहां संशय होता है कि नेत्र अधिकरणवाला यह क्या छायात्मा अथवा जीव या इन्द्रियके अधिष्ठाता देवता वा ईश्वरका निर्देश है । तो यहां क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी-पुरुषके प्रतिबिम्ब छायात्माका निर्देश है,क्योंकि उसका दृश्यमानत्व प्रसिद्ध है । और 'य एषोऽक्षिणि' (नेत्रमें यह जो पुरुष दिखाई देता है) इसप्रकार प्रसिद्धके समान उपदेश भी है । अथवा जीवात्मा विषयक यह निर्देश युक्त है, क्योंकि वह चक्षुसे रूपको देखता हुआ नेत्रमें सन्निहित (सम्बन्धित) होता है । इस पक्षमें श्रुति निर्दिष्ट आत्मशब्द भी अनुकूल-संगत होता है । अथवा नेत्रेन्द्रियका अनुग्राहक आदित्य पुरुष प्रतीत होता है, क्योंकि 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्० (किरणोंके द्वारा यह सूर्य नेत्रमें प्रतिष्ठित है) ऐसी श्रुति है । और अमृतत्व आदिका देवतात्मामें यथा कथंचित् संभव भी है । परन्तु

सत्यानन्दी दीपिका

वल्ली वाक्य ही इस अधिकरणका विषय है । ऐसा सिद्ध होता है । इसलिए जीव और परमेश्वर इन दोनोंका यहाँ ग्रहण करना युक्त है, जीव और जड़ बुद्धिका नहीं है ॥ १२ ॥

* छान्दोग्योपनिषद्के चतुर्थ अध्यायमें उपकोसल विद्याका प्रकरण है । उसमें सत्यकाम जाबालने कमलके पुत्र उपकोसलको 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुतिसे चाक्षुषपुरुषका उपदेश दिया है । इस चाक्षुष पुरुषको लेकर संशय होता है कि चाक्षुष पुरुषसे किसका ग्रहण करना युक्त है । क्योंकि छाया, जीव, देवता तथा परमेश्वरके लिङ्ग यहां उपलब्ध होते हैं । जैसे गत अधिकरणमें 'ऋतं पिबन्तौ' इसमें प्रथम श्रुत चेतनत्वके अनुसार चरमश्रुत गुहाप्रवेश आदि लिए गए हैं; वैसे

नेश्वरः; स्थानविशेषनिर्देशादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः। परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति। कस्मात्? उपपत्तेः। उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम्। आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वर पपद्यते; 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः। अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रुतौ श्रूयेते। तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम्। यथा हि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः; अपहतपाप्मत्वादिश्रवणात्; तथाऽक्षिस्थानं सर्वलेपरहितमुपदिष्टं, 'तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' इति श्रुतेः। संयद्वामत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते। 'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते, एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति'। 'एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति'। 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।२,३,४) इति च। अत उपपत्तेरन्तरः परमेश्वरः ॥१३॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

पदच्छेद—स्थानादिव्यपदेशात्, च।

सूत्रार्थ—और 'यच्चक्षुषि तिष्ठन्' ध्यानके लिए इसप्रकार स्थान आदिके कथनसे सर्वग परमेश्वरका अक्षिस्थान भी हो सकता है। अतः 'य एषोऽक्षिणि' यहां अक्षिपुरुष परमेश्वर ही है।

कथं पुनराकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽक्ष्यल्पं स्थानमुपपद्यत इति? अत्रोच्यते—भवेदेषाऽनवक्लृप्तिः, यद्येतदेवैकं स्थानमस्य निर्दिष्टं भवेत्। सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निर्दिष्टानि—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृ० ३।७।३) इत्यादिना। तेषु हि चक्षुरि

स्थान विशेषके निर्देशसे सर्वगत ईश्वरका ग्रहण सम्भव नहीं है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर ह कहते हैं—चक्षुके अभ्यन्तर पुरुष शब्दसे यहां परमेश्वर ही उपदिष्ट है, क्योंकि श्रुति प्रतिपादित गुणों उसमें उपपत्ति होती है। श्रुतिमें उपदिश्यमान गुण समूह परमेश्वरमें ही घटते हैं। 'स आत्मा तत्व मसि' (वह आत्मा है वही तू है) इस श्रुतिसे उपदिष्ट आत्मत्व मुख्यवृत्तिसे परमेश्वरमें उपप होता है। अमृतत्व और अभयत्व श्रुतिमें परमेश्वरके लिए वार वार सुने जाते हैं। इसीप्रकार क अक्षिस्थान परमेश्वरके अनुरूप है। अपहतपाप्मत्व-पापरहितत्व आदिके श्रवणसे जैसे परमेश्वर स दोषोंसे अलिप्त है, वैसे अक्षिस्थान भी सब लेपोंसे रहित उपदिष्ट है, क्योंकि 'तद्यद्यप्य० (यदि नेत्र घृत या जल डाले तो वह पलकोंमें ही चला जाता है) ऐसी श्रुति है। एतं संयद्वाम० (इसको 'सं द्वाम' ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओरसे इसे ही प्राप्त होती हैं) 'एष उ ए (निश्चय यही वामनी है, क्योंकि यही सब प्राणियोंके पुण्य फलोंको वहन करता है) और 'एष उ ए (निश्चय यही अक्षिपुरुषभामनी है, क्योंकि आदित्य, चन्द्र आदिरूपसे यही सब लोकोंमें प्रकाशि होता है) इसप्रकार संयद्वामत्व आदि गुणोंका उपदेश भी उस परमेश्वरमें ही उपपन्न होता है, इ उपपत्तिसे अक्षिअन्तर पुरुष परमेश्वर ही है ॥ १३ ॥

आकाशके समान सर्वगत ब्रह्मका नेत्ररूप अल्पस्थान किस प्रकार हो सकता है? इसपर क हैं। यदि उस ब्रह्मका यही एक स्थान निर्दिष्ट होता तो यह अनुपपत्ति होती। परन्तु 'यः पृथि तिष्ठन्' (जो पृथ्वीमें रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, जिसको पृथ्वी भी नहीं जानती) इत्यादि पृथ्वी आदि अन्य स्थान भी उसके लिए निर्दिष्ट हैं। उन स्थानोंमें 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्० (जो चक्षु

सत्यानन्दी दीपिका

ही यहां भी 'दृश्यते' इस लौकिक दर्शनसे छायापुरुषकी अवगतिके अनुसार चरमश्रुत अमृतत्व आदि ध्यानके लिए लेने चाहिएं। इसप्रकार दृष्टान्त संगतिसे पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षमें छायात्मा उपास्य और सिद्धान्तमें ब्रह्म उपास्य है ॥ १३ ॥

निर्दिष्टम्—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति । 'स्थानादिव्यपदेशात्' इत्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति—न केवलं स्थानमेवैकमनुचितं ब्रह्मणो निर्दिश्यमानं दृश्यते, किं तर्हि ? नामरूपमित्येवंजातीयकमप्यनामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचितं निर्दिश्यमानं दृश्यते—'तस्योदिति नाम', 'हिरण्यश्मश्रुः' (छा० १।६।७,६) इत्यादि । निर्गुणमपि सद्ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव ॥१४॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

पदच्छेद—सुखविशिष्टाभिधानात्, एव, च ।

सूत्रार्थ—और 'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इस श्रुतिमें सुख विशिष्ट ब्रह्मका अभिधान है, इससे भी 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यह नेत्रके अभ्यन्तर पुरुष परमात्मा ही है ।

* अपि च नैवात्र विवदितव्यं—किं ब्रह्मास्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति । सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम् । सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तं 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाभिहितं; प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात् । 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छा० ४।१४।१) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात् । कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विज्ञायत इति ? उच्यते—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्येतदग्नीनां वचनं श्रुत्वोपकोसल

रहता हुआ) इसप्रकार चक्षुका भी निर्देश है । 'स्थानादिव्यपदेशात्० इस सूत्रमें 'आदि' पदके ग्रहणसे सूत्रकार यह दिखलाते हैं कि ब्रह्मका निर्दिश्यमान केवल एक ही अनुचित स्थान नहीं दिखाई देता, किन्तु 'तस्योदिति नाम' (उसका 'उत्' ऐसा नाम है अर्थात् सर्वपापोंसे रहित होनेसे परमात्माको 'उत्' कहा गया है) और 'हिरण्यश्मश्रुः' (सुवर्णके समान दाढ़ी मूंछवाला) इत्यादिसे नाम और रूपसे रहित ब्रह्मका इस प्रकारका निर्दिश्यमान अनुचित नाम, रूप आदि भी दिखाई देता है । ब्रह्म निर्गुण है तो भी नाम तथा रूपगत गुणोंसे सगुणका उपासनाके लिए स्थल स्थलपर उपदेश किया जाता है, यह कहा जा चुका है । जैसे उपासनाके लिए विष्णुका शालग्राममें उपदेश विरुद्ध नहीं है, वैसे सर्वव्यापक ब्रह्मका भी उपलब्धिके लिए विशेष स्थानमें उपदेश विरुद्ध नहीं है । यह भी पीछे कहा जा चुका है ॥ १४ ॥

और 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस वाक्यमें ब्रह्मका अभिधान है अथवा नहीं, इस विषयमें विवाद नहीं करना चाहिए क्योंकि सुख विशिष्टके अभिधानसे ही ब्रह्मत्व सिद्ध है । 'प्राणो ब्रह्म' (प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है) इस प्रकार वाक्यके उपक्रममें जो सुखविशिष्ट ब्रह्म प्रस्तुत है उसका ही 'य एषोऽक्षिणि' यहाँ अभिधान है, क्योंकि प्रकृतका ग्रहण करना ही उचित है अर्थात् श्रुत्युक्त प्रकृतवाचक 'यः' शब्दसे प्रकृत ब्रह्मका ही ग्रहण करना उचित है । 'आचार्यस्तु०' (आचार्य तुझे [इनके फलकी प्राप्तिका] मार्ग बतलायेंगे) इस प्रकार गतिमात्रके अभिधानकी अग्नियोंने प्रतिज्ञाकी है । तो फिर वाक्यके आरम्भमें सुख विशिष्ट ब्रह्मका विज्ञान कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म० (प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है) इस प्रकार अग्नियोंका यह वचन सुनकर उपकोसलने कहा—'विजानाम्यहं० (सूत्रात्मा-प्राण बृहत् होनेसे ब्रह्म है, यह मैं जानता

सत्यानन्दी दीपिका

* सिद्धान्ती प्रकरणको लेकर विवादका निराकरण करते हैं—सुखविशिष्ट ब्रह्म ही 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुतिस्थ सर्वनाम 'यः' पदसे प्रतिपादित है । अतः नेत्रस्थ पुरुष ब्रह्म ही है । परन्तु प्रकरणसे प्रबल दृश्यत्व लिङ्गसे एवं 'य एष' इस सर्वनाम पदसे नेत्रस्थ पुरुषशब्दसे छायात्माका ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए ? ऐसा नहीं, क्योंकि उपकोसलके प्रति अग्नियोंके उपदेशसे छायात्मा-

उवाच—'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म, कं च खं च तु न विजानामि' इति। तत्रेदं प्रतिवचनम्—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४।१०।५) इति। तत्र खंशब्दो भूताकाशे निरूढो लोके। यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः सुखवाची नोपादीयेत। तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्मशब्दो नामादिष्विव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः स्यात्। तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रियसंपर्कजनिते सामये सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपादीयेत, लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात्। इतरेतरविशेषितौ तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः। तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने कं खं ब्रह्मेत्येवोच्यमाने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वात्सुखस्य गुणस्याध्येयत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशब्दशिरस्त्वं 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति। ❀ इष्टं हि सुखस्यापि गुणस्य गुणिवद्ध्येयत्वम्। तदेवं वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्मोपदिष्टम्। प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽग्नयः स्वं स्वं महि-

---

हूं, किन्तु कं और खं को नहीं जानता अर्थात् विषय और इन्द्रियके संयोग जन्य सुख और खं—भूताकाश ये दोनों अनित्य और जड़ होनेसे किस प्रकार ब्रह्म रूप हैं यह मैं नहीं जानता) अब इसका यह उत्तर है—'यद्वाव कं०' (निश्चय जो 'कं'–सुख है वही 'ख'–आकाश है। और जो 'खं' है वही 'कं' है। इस श्रुतिमें निर्दिष्ट 'खं' शब्द भूताकाशमें रूढ़ है, यह लोक प्रसिद्ध है। यदि उसके विशेषणरूपसे सुखवाची 'कं' शब्दका ग्रहण न करें तो नाम आदि प्रतीकोंमें जैसे ब्रह्मका प्रयोग है, वैसे ही प्रतीकके अभिप्रायसे केवल भूताकाशमें ब्रह्म शब्द प्रयुक्त है, ऐसी प्रतीति होगी। इसी प्रकार विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जन्य सदोष सुखमें 'कं' शब्दकी प्रसिद्धि होनेके कारण यदि उसके विशेषणरूपसे 'खं' शब्दका ग्रहण न करें तो लौकिक सुख ब्रह्म है, ऐसी प्रतीति होगी। परन्तु परस्पर एक दूसरेसे विशेषित हुए 'कं' और 'खं' शब्द सुखात्मक ब्रह्मकी ही प्रतीति कराते हैं। उसमें यदि 'कं' शब्दके उत्तर द्वितीय ब्रह्म शब्दका ग्रहण न करें केवल 'कं खं ब्रह्म' इतना ही कहें तो 'कं' शब्दका विशेषणरूपसे ही उपयोग (खं निष्ठ भूतत्वकी व्यावृत्ति करके चरितार्थ) होनेके कारण गुणभूत सुख ध्येय नहीं होगा। ऐसा न हो, इसलिए दोनों 'कं' और 'खं' शब्दोंके उत्तर 'ब्रह्म' शब्दका 'कं ब्रह्म' 'खं ब्रह्म' इस प्रकार प्रयोग किया गया है। गुण रूप सुखका भी गुणी ब्रह्मके समान ध्यान करना अभीष्ट है। इसलिए वाक्यके आरम्भमें वही सुख विशिष्ट ब्रह्म उपदिष्ट है। और गार्हपत्य आदि अग्नियोंमें से प्रत्येक अपनी-अपनी महिमाका उपदेश कर 'एष सोम्य० (हे सोम्य ! यह अपनी विद्या और आत्मविद्या हमने तुमसे कही) इस प्रकार उपसंहार करती हुई पहले ब्रह्मका निर्देश है ऐसा

सत्यानन्दी दीपिका

की प्रतीति नहीं होती है। उन्होंने तो नित्य सुखरूप ब्रह्मका ही उपदेश किया है। छाया तो जड़ और अनित्यादि दोषोंसे युक्त है, इसलिए चक्षुस्थ पुरुषसे परमेश्वरका ही ग्रहण करना युक्त है।

❀ उपकोसलका उपाख्यान इस प्रकार है 'उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास' (छा० ४।१०।१) (कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहणकर रहता था) उसने बारह वर्षतक आचार्य द्वारा स्थापित अग्नियोंकी सेवाकी। आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंका दे समावर्तन संस्कार कर दिया, किन्तु केवल इसीका नहीं किया। विना उपदेश किये आचार्य बाह चले गये। उपकोसलने मानसिक खेदसे अनशन व्रत किया। उसकी सेवासे प्रसन्न हुई अग्नियों मिलकर उसे उपदेश किया 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है खं ब्रह्म है। तब उपकोसलने कहा 'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म०' तब वे बोले—जो कं है वही खं है और जो खं है वही कं है। फिर गार्हपत्यने उपदेश किया—पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य ये मेरे चा शरीर-विभूतियाँ हैं, आदित्यके भीतर जो यह पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ। अन्वाहार्यवचन-दक्षि

मानमुपदिश्य 'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या च' इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति ज्ञापयन्ति। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानमर्थान्तरविवक्षां वारयति। 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१४।३) इति चाक्षिस्थानं पुरुषं विजानतः पापेनानुपघातं ब्रुवन्नक्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्वं दर्शयति। तस्मात्प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्षिस्थानतां संयद्वामत्वादिगुणतां चोक्त्वाऽर्चिरादिकां तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ४।१५।१) इति ॥१५॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

पदच्छेद—श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात्, च।

सूत्रार्थ—और 'अथोत्तरेण तपसा' इस प्रकार श्रुति और स्मृतिमें सगुण ब्रह्मकी उपासनाका अनुष्ठान करनेवालेकी जो गति अभिहित है वही गति-मार्ग नेत्रस्थ पुरुषको जाननेवालेकी है। अतः अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है।

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतरहस्यविज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या प्रसिद्धा श्रुतौ—'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान-

---

ज्ञापन कराती हैं। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (आचार्य तो तुझे गति कहेंगे) गति मात्र अभिधानकी प्रतिज्ञा अन्यार्थकी विवक्षाका निवारण करती है अर्थात् आत्मविद्याके फलमात्र अभिधानकी प्रतिज्ञा परमात्मासे भिन्न छायात्माकी विवक्षाका निषेध करती है। 'यथा पुष्करपलाश०. (जैसे कमलपत्र जलसे सम्बन्धित नहीं होता उसी प्रकार जैसे ब्रह्मका मैं उपदेश करूगा उसे जाननेवालेमें पाप कर्मका सम्बन्ध नहीं होता) इस प्रकार श्रुति अक्षिस्थ पुरुषको जाननेवालेमें पाप सम्बन्धका निषेध करती हुई अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्व दिखलाती है। 'य एषोऽक्षिण० (यह जो नेत्रमें पुरुष दिखाई देता है वह आत्मा है ऐसा कहा) इससे आचार्य प्रकृत ब्रह्मके ही अक्षि स्थानत्व और संयद्वामत्व आदि गुणोंको कहकर उसको जाननेवालेके लिए अर्चि आदि गतिको कहूंगा, ऐसा उपक्रम करते हैं ॥ १५ ॥

इस हेतुसे भी नेत्रस्थ पुरुष परमेश्वर ही है, क्योंकि जिसने उपनिषद् सुना है अर्थात् जिसने सगुण ब्रह्मको उपासनाकी है, उस सगुण ब्रह्म उपासककी जो देवयान नामक गति–'अथोत्तरेण० (शरीर पातानन्तर स्वधर्मरूप तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्यासे आत्माकी खोज करते हुए [ध्यान कर वे] उत्तर मार्गके द्वारा आदित्य लोकको प्राप्त होते हैं। यही प्राणोंका आश्रय है, यही अमृत है,

सत्यानन्दी दीपिका

णाग्निने उपदेश दिया—जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा ये मेरे चार शरीर हैं, चन्द्रमामें जो यह पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूं। अनन्तर आहवनीय अग्निने उपदेश किया—प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् ये मेरे चार शरीर हैं। यह जो विद्युत्में पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूं' इस प्रकार तीनों अग्नियोंने अपनी-अपनी विद्याका उपदेश कर कहा—हे उपकोसल! यह तुझे हमने अपनी-अपनी विद्याका उपदेश किया और हम तीनोंने मिलकर 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस आत्मविद्याका उपदेश किया है। और आगे उन्होंने कहा कि आचार्य तुझे गतिका उपदेश करेंगे। उपकोसलसे सारा समाचार ज्ञात होनेपर आचार्य बोले—हे उपकोसल! 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' इस प्रकार आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश किया। इस परिस्थितिमें अग्नियाँ ब्रह्मका उपदेश करें और आचार्य छायात्माका उपदेश करे यह सर्वथा असंगत है। क्योंकि अग्नियों और आचार्यके उपदेशमें एक वाक्यता प्रतीत होती है। वक्ताके भेदसे अर्थका भेद नहीं होता, अतः अक्षिस्थ पुरुष परमात्मा ही है ॥ १५ ॥

मन्विष्यादित्यमभिजयन्तो । एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' (प्रश्न० १।१०) इति । स्मृतावपि—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' (गी० ८।२४) इति । सैवेहाक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते। 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' इत्युपक्रम्य, ✱ 'आदित्याच्चन्द्रम चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना मानवमावर्तं नावर्तन्ते (छा० ४।१५।५) इति । तदिह ब्रह्मविद्विषयया प्रसिद्धया गत्याऽक्षि स्थानस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते ॥१६॥

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

पदच्छेद—अनवस्थितेः, असम्भवात् , च, न, इतरः ।

सूत्रार्थ—(अनवस्थितेः) सर्वदा स्थिति न होनेसे (च) और (असम्भवात्) अमृतत्वादि गुणोंके असम्भव होनेसे (इतरः) ब्रह्म भिन्न छायात्मा आदि अक्षिस्थ पुरुष (न) नहीं हो सकते।

यत्पुनरुक्तं छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा वा स्यादक्षिस्थान इति । अत्रोच्यते- न छायात्मादिरितर इह ग्रहणमर्हति । कस्मात् ? अनवस्थितेः । न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि

यही अभय है और यही परमगति है, इसको पाकर फिर नहीं लौटते) इस श्रुतिमें तथा 'अग्निर्ज्यो तिरहः० (अग्नि, दिन, शुक्ल पक्ष, षट्मास उत्तरायण नामक ये देवता हैं। मरणानन्तर इन दे ताओंके मार्गसे जानेवाले ब्रह्मोपासक पुरुष ब्रह्मको प्राप्त होते हैं) इस स्मृतिमें भी प्रसिद्ध है। 'अथ यदु० (उपासकके देहपातानन्तर उसके पुत्र बान्धवादि और्ध्वदैहिक [शव-संस्कार] करें अथवा न करें, दोनों दशाओंमें यह उपासक उपासनाकी महिमासे अर्चिअभिमानी देवताको ही प्राप्त होता है इसप्रकार उपक्रम कर 'आदित्याच्चन्द्रमसं० (आदित्यसे चन्द्रमाको, चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होत है। वहांसे अमानव पुरुष इन उपासकोंको कार्य ब्रह्मके पास पहुँचाता है, यह देव पथ ही ब्रह्म प है। इस मार्गसे जानेवाले उपासक इस मानव मण्डलमें नहीं लौटते) इसप्रकार यहां नेत्रस्थ पुरुषको जानने वालोंकी भी वही कही गई गति देखी जाती है जो ब्रह्मोपासकके लिए निर्दिष्ट गति है। इस यहां ऐसा निश्चय होता है कि ब्रह्मविषयक प्रसिद्ध गतिसे अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है ॥ १६ ॥

अक्षिस्थ पुरुष छायात्मा, विज्ञानात्मा अथवा देवतात्मा है, ऐसा जो कहा गया है। उस कहते हैं—परमेश्वरसे भिन्न छायात्मादिका यहां ग्रहण करना युक्त नहीं है। क्योंकि उनकी अन स्थिति है। प्रतिबिम्बरूप छायाका चक्षुमें नित्य अवस्थान सम्भव नहीं है। जब कोई पुरुष नेत्रके पा आ जाता है तब नेत्रमें पुरुषकी छाया दिखाई देती है। उसके हट जानेपर नहीं दिखाई देती

सत्यानन्दी दीपिका

✱ अर्चि (अग्नि) देवतासे अहर् (दिन) देवताको, अहर्से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्षसे उत्तराय उत्तरायणसे संवत्सर, संवत्सरसे देवलोक, पश्चात् वायु, आदित्य, चन्द्र, विद्युत् लोकमें उपासकों पहुँचने पर ब्रह्मलोकसे अमानव पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोकमें पहुँचाता है। अर्चिरादि देवोंकी प म्परासे विशिष्ट यह मार्ग देवपथ कहलाता है। गन्तव्य ब्रह्मके साथ यह मार्ग सम्बन्ध रखता है, इ लिए यह ब्रह्मपथ भी कहलाता है। इस कार्य ब्रह्मको प्राप्त करनेवाले उपासक मनु सृष्टिमें पुनः लौ कर नहीं आते, क्योंकि वहां पर हिरण्यगर्भके द्वारा उन्हें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्रह्म-आत्मैक्य ज्ञान प्रा होता है। ब्रह्माके साथ वहां रहकर महाप्रलयमें उसके साथ वे भी मुक्त हो जाते हैं। इसलिए स ब्रह्मोपासकोंके लिए प्रसिद्ध अर्चिरादि मार्गकी जो प्राप्ति कही गई है, वही गति नेत्रस्थ पुरुषको जा वालोंके लिए कही गई है ॥ १६ ॥

नित्यमवस्थानं संभवति । यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरासीदति तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते, अपगते तस्मिन्न दृश्यते । 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इति च श्रुतिः संनिधानात्स्वचक्षुषि दृश्यमानं पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति । नचोपासनाकाले छायाकरं कंचित्पुरुषं चक्षुःसमीपे संनिधाप्योपास्त इति युक्तं कल्पयितुम् । 'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति' (छा० ८।९।१) इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्वं दर्शयति । ❀ असंभवाच्च तस्मिन्नमृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः । तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रियसंबन्धे सति चक्षुष्येवावस्थित्वं वक्तुं न शक्यम् । ब्रह्मणस्तु व्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदयादिदेशविशेषसंबन्धः । समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां गुणानामसंबन्धः । यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते । संयद्वामत्वादयश्चैतस्मिन्ननैश्वर्यादनुपपन्ना एव । * देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' इति श्रुतेर्यद्यपि चक्षुष्यवस्थानं स्यात्तथाप्यात्मत्वं तावन्न संभवति; पराग्रूपत्वात् । अमृतत्वादयोऽपि न संभवन्ति; उत्पत्तिप्रलयश्रवणात् । अमरत्वमपि देवानां चिरकालावस्थानापेक्षम् । ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं न स्वाभाविकम्; 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषो-

---

'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' यह श्रुति सन्निहित होनेपर अपने नेत्रमें दिखाई देनेवाले पुरुषका उपास्यरूपसे उपदेश करती है । उपासनाके समय प्रतिबिम्बके कारणीभूत किसी पुरुषको नेत्रके पास बैठाकर उपासना करे ऐसी कल्पना करना युक्त नहीं है । 'अस्यैव शरीरस्य० (इसी शरीरके नाशानन्तर यह नष्ट हो जाती है) इसप्रकार यह श्रुति छायात्माकी अनवस्थिति दिखलाती है । 'असम्भवात्०' अमृतत्वादि गुणोंके असम्भव होनेसे अक्षिस्थपुरुष छायात्मा नहीं है, क्योंकि अमृतत्वादि गुणोंकी उस छायात्मामें प्रतीति नहीं होती । उसीप्रकार सम्पूर्ण शरीरेन्द्रियके साथ समान सम्बन्ध होनेपर भी विज्ञानात्माकी केवल चक्षुमें ही अवस्थिति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । ब्रह्म सर्वव्यापी है, तो भी उसमें उपलब्ध्यर्थ हृदयादि देश विशेषका सम्बन्ध देखा गया है । और अमृत्वादि गुणोंका असम्भव विज्ञानात्मामें भी समान है । यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मासे अनन्य ही है तो भी अविद्या काम कर्मसे उसमें मरण और भय अध्यारोपित है, इसलिए उसमें अमृतत्व और अभयत्व उपपन्न नहीं होते । संयत् वामत्वादि गुण भी ऐश्वर्यके अभावसे उसमें अनुपपन्न हैं । 'रश्मिभिरेषो० (किरणों द्वारा यह उसमें प्रतिष्ठित है) इस श्रुतिसे यद्यपि देवात्माकी नेत्रमें अवस्थिति हो सकती है, तो भी उसमें आत्मत्व संभव नहीं है, क्योंकि पराग्रूप-बाह्य-अनात्मरूप है । उसमें अमृतत्व आदिका भी संभव नहीं है, कारण कि उसके उदय और प्रलय श्रुतिमें कहे गए हैं । देवताओंमें अमृतत्व भी उनके चिरकाल अवस्थितिकी अपेक्षासे है । उनका ऐश्वर्य भी परमेश्वरके अधीन है स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि 'भीषास्माद्वातः पवते० (इस परमेश्वरके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य उदित होता है

सत्यानन्दी दीपिका

* प्रथम विकल्पका प्रतिषेधकर अब द्वितीय विकल्प-जीवका 'तथा' आदिसे प्रतिषेध करते हैं । जैसे नेत्रवाले पुरुषको 'मैं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होता है, वैसे जन्मान्ध पुरुषको भी होता है । यदि जीवात्माका नेत्र ही स्थान माना जाता तो जन्मान्ध पुरुषको 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान कदापि नहीं होता, अतः नेत्रको जीवात्माका स्थान मानना युक्त नहीं है । इसप्रकार छायात्मा और जीवात्मा अक्षिस्थ पुरुष नहीं है ।

❀ 'चक्षोः सूर्योऽजायत' 'सूर्योऽस्तमेति' (चक्षुसे सूर्य उत्पन्न होता है, सूर्य अस्त होता है) इत्यादि श्रुति देवात्मा सूर्यके उदय और अस्तको कहती है, और वह अनात्मा है । अतः अक्षिस्थ पुरुष देवता नहीं हो सकता, किन्तु परमेश्वर ही है । शंका—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यह श्रुति

देति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (तै० २।८) इति मन्त्रवर्णात् । तस्मा-त्परमेश्वर एवायमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः । अस्मिंश्च पक्षे दृश्यत इति प्रसिद्धवदुपादानं शास्त्रा-द्यपेक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थमिति व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

(५ अन्तर्याम्यधिकरणम् सू० १८–२०)

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—अन्तर्यामी, अधिदैवादिषु, तद्धर्मव्यपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(अधिदैवादिषु) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इस प्रकार अधिदैवादिमें प्रतिपादित (अन्तर्यामी नियामक परमेश्वर ही है, (तद्धर्मोपदेशात्) क्योंकि अमृतत्व आदि उसके धर्मोंका व्यपदेश है।

* 'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' इत्युपक्रम्य श्रूयते-'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्ये-त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृह० ३।७।१,२) इत्यादि । अत्राधिदैवतमधिलोकमधिवेदमधियज्ञम-धिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयिताऽन्तर्यामीति श्रूयते । स किमधिदैवाद्यभि-मानी देवतात्मा कश्चित्, किंवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी, किंवा परमात्मा, किंवाऽ-र्थान्तरं किंचिदित्यपूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः । किं तावन्नः प्रतिभाति ? संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात्सं-

---

तथा इसीके भयसे अग्नि और इन्द्र अपना अपना कार्य करते हैं और पाँचवा मृत्यु भी इसके भयसे गतायु लोगोंके पास दौड़ता है) ऐसा मन्त्र है। अतः यह समझना चाहिए कि अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है। इस पक्षमें 'दृश्यते० (दिखाई देता है) यह लौकिक प्रसिद्धकी तरह ग्रहण शास्त्र अपेक्षासे है। विद्वद्विषयक है अथवा प्ररोचनार्थक है ऐसी व्याख्या करनी चाहिए ॥ १७ ॥

'य इमं च लोकं० (जो इस लोकका और परलोकका और सब प्राणियोंका भीतर रहकर नियमन करता है) इस प्रकार उपक्रम कर 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्० (जो पृथ्वीमें रहकर पृथ्वीके भीतर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथ्वी है जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है) इत्यादि श्रुति कहती है। यहाँ अधिदैव, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत और अध्यात्मके अन्तर रहकर इन सबका नियमन करनेवाला कोई अन्तर्यामी है ऐसा श्रुति कहती है। वह क्या अधिदैवादिका अभिमानी कोई देवतात्मा है, अथवा अणिमादि ऐश्वर्यको प्राप्त किया हुआ कोई योगी है, अथवा परमात्मा है, अथवा कोई दूसरा ही पदार्थ है 'अंतर्यामी' इस अपूर्व नामके श्रवणसे ऐसा संशय होता है। अतः यहाँ हमें क्या प्रतीत होना चाहिए

सत्यानन्दी दीपिका

ईश्वरमें 'दृश्यते' इस पदसे 'घटो दृश्यते' आदिके समान दृश्यत्वका प्रतिपादन करती है जो सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि वह अदृश्य है ? समाधान—प्रसिद्ध घट आदि लौकिक दर्शनोंकी तरह 'दृश्यते' यह पद ईश्वरका ज्ञान नहीं कराता, अपितु शास्त्रीय तथा विद्वानोंकी अनुभवकी अपेक्षा करके कहा है अर्थात् उपलब्धिका नाम यहां दर्शन है। शास्त्रीय दर्शनका कारण शास्त्र ही होता है। अ अज्ञानी पुरुषोंकी अभिरुचिके लिए विद्वानोंमें प्रसिद्ध शास्त्रीय दर्शनको 'दृश्यते' यह पद प्रसिद्ध लौकिक दर्शनकी तरह अनुवाद करता है, इसलिए विरोध नहीं है। अतः अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' इसप्रकार यह उपकोसल विद्यावाक्य उ ब्रह्ममें समन्वित होता है ॥ १७ ॥

* पूर्व अधिकरणमें ईश्वरका चक्षु स्थान है इस बातको सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्तरूप ईश्वरके पृथिव्यादि स्थान भी निर्दिष्ट किये गये हैं—वे दृष्टान्त वाक्य ईश्वर परक कैसे हैं ? ऐसा आक्षेप कर समाधान किया जाता है। इसलिए पूर्व अधिकरणसे इस अधिकरणकी आक्षेप संगति है

मिनाप्यप्रसिद्धेनार्थान्तरेण केनचिद्भवितव्यमिति। अथवा नानिरूपितरूपमर्थान्तरं शक्यमस्तीत्यभ्युपगन्तुम्। अन्तर्यामिशब्दश्चान्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तो नात्यन्तमप्रसिद्धः। तस्मात्पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्तर्यामी स्यात्। तथा च श्रूयते—'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः' (बृ० ३।६।१०) इत्यादि। स च कार्यकारणवत्त्वात्पृथिव्यादीनन्तस्तिष्ठन्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृत्वम्। योगिनो वा कस्यचित्सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात्, नतु परमात्मा प्रतीयते, अकार्यकरणत्वादित्येवं प्राप्त इदमुच्यते—योऽन्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते, स परमात्मैव स्यान्नान्य इति। कुतः? तद्धर्मव्यपदेशात्। तस्य हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते। पृथिव्यादि तावदधिदैवादिभेदभिन्नं समस्तं विकारजातमन्तस्तिष्ठन्यमयतीति परमात्मनो यमयितृत्वं धर्म उपपद्यते; सर्वविकारकारणत्वे सति सर्वशक्त्युपपत्तेः। 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इति चात्मत्वामृतत्वे मुख्ये परमात्मन उपपद्येते। 'यं पृथिवी न वेद' इति च पृथिवीदेवताया अविज्ञेयमन्तर्यामिणं ब्रुवन्देवतात्मनोऽन्यमन्तर्यामिणं दर्शयति। 'पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मानं विजानीयात्'। तथा 'अदृष्टोऽश्रुतः' इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात्परमात्मन उपपद्यत इति। यत्त्वकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्वं नोपपद्यत इति। ❀ नैष दोषः; यन्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव; तस्य

'अन्तर्यामी' नामके अप्रसिद्ध होनेसे अन्तर्यामी नामी भी कोई एक अप्रसिद्ध अन्य पदार्थ होना चाहिए। अथवा जिसका निरूपण नहीं किया गया है ऐसा कोई दूसरा पदार्थ है यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'अन्तर्यामी' शब्द तो 'अन्तर्नियमन' इस व्युत्पत्तिसे प्रवृत्त है, इसलिए अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है। इसलिए पृथ्वी आदिका अभिमानी कोई एक देवता अन्तर्यामी होना चाहिए। और इसी प्रकार 'पृथिव्येव यस्यायतन' (पृथ्वी जिसका आश्रय है और अग्नि नेत्र है, मन-संकल्प ज्योतिः है) इत्यादि श्रुति है। वह कार्य करणवाला होनेसे पृथिव्यादिके अन्दर स्थित होकर उनका नियमन करता है, इसलिए देवतात्मा यमयिता हो यह युक्त है। अथवा कोई सिद्ध योगी सर्वानुप्रवेशके द्वारा यमयिता होना चाहिए। परन्तु कार्य (शरीर) करण (इन्द्रिय) रहित होनेसे 'अन्तर्यामी' पदसे परमात्मा प्रतीत नहीं होता। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—अधिदैव आदिमें जो अन्तर्यामीरूपसे सुना जाता है वह परमात्मा ही है दूसरा नहीं, क्योंकि उसके धर्मोंका व्यपदेश है। निश्चय ही यहाँ उस परमात्माके ही निर्दिश्यमान धर्म देखे जाते हैं। अधिदैवादि भेदसे भिन्न पृथिव्यादि समस्त विकार समुदायके भीतर रहकर उनका नियमन करता है, यह नियमनकर्तृत्व धर्म परमात्मामें ही उपपन्न होता है, क्योंकि वह सब विकारोंका कारण है, इसलिए उसमें सम्पूर्ण शक्तियाँ उपपन्न होती हैं। 'एष त आत्मा' (यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है) इस श्रुतिमें निर्दिष्ट मुख्य आत्मत्व और अमृतत्व परमात्मामें ही युक्त हैं। 'यं पृथ्वी न वेद' (जिसको पृथ्वी अभिमानी देवता नहीं जानता) यह श्रुति पृथ्वी अभिमानी देवतासे अविज्ञेय अन्तर्यामीको कहकर देवतासे भिन्न अन्तर्यामीको दिखलाती है। यदि पृथ्वीका अधिष्ठातृ देवता ही 'अन्तर्यामी' हो तो 'मैं पृथ्वी हूं' इस प्रकार अपनेको जानता। उसी प्रकार 'अदृष्टोऽश्रुतः' (वह अदृष्ट और अश्रुत है) इत्यादि व्यपदेश रूपादि रहित होनेसे परमात्मामें ही युक्त है। शरीर और इन्द्रिय रहित परमात्मामें

सत्यानन्दी दीपिका

'अन्तर् यमयतीति अन्तर्यामी' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह 'अन्तर्यामी' शब्द अनेकोंमें प्रयुक्त होता है। इसलिए संशय होता है कि 'अन्तर्यामी' शब्दसे किसका ग्रहण किया जाना युक्त है।

❀ नियन्ता शरीर आदिवाला होता है, यह लोक दृष्टिसे कहा गया है। वास्तवमें तो चेतनकी सत्ता मात्रसे जो जड़का व्यापार है वही नियमन है। नियमन शक्तिवाला होनेसे नियन्ता है। यह

कार्यकरणत्वोपपत्तेः। तस्याप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न संभवति; भेदाभावात्। भे हि सत्यनवस्थादोषोपपत्तिः। तस्मात्परमात्मैवान्तर्यामी ॥१८॥

नच स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१९॥

पदच्छेद—न, च, स्मार्तम्, अतद्धर्माभिलापात्।

सूत्रार्थ—(स्मार्तम्) सांख्य स्मृति कल्पित प्रधान, (न) अन्तर्यामी नहीं हो सकता, (अतद् र्माभिलापात्) क्योंकि श्रुतिमें प्रधानसे भिन्न चेतननिष्ठ द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व आदि धर्मोंका अभिधान है।

स्यादेतत्। अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युपपद्यन्ते; रूपादि हीनतया तस्य तैरभ्युपगमात्। 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' (मनु० १।५) इति हि स्मरन्ति, तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकारणत्वादुपपद्यते। तस्मात्प्रधानमन्तर्यामिशब्दं स्यात्। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इत्यत्र निराकृतमपि सत्प्रधानमिहादृष्टत्वादिव्यपदेशसंभवेन पुनराशङ्क्यते। अत उत्तरमुच्यते—नच स्मार्तं प्रधानमन्तर्यामिशब्दं भवितुमर्हति। कस्मात्? अतद्धर्माभिलापात्। यद्यप्यदृष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्य संभवति, तथापि न द्रष्टृत्वादिव्यपदेशः संभवति; प्रधानस्याचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात्। 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति हि वाक्यशेष इह भवति। आत्मत्वमपि न प्रधानस्योपपद्यते ॥१९॥

यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसंभवान्नान्तर्याम्यभ्युपगम्यते, शारीरस्तर्ह्यन्तर्यामी भवतु। शारीरो हि चेतनत्वाद्द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति; आत्मा च प्रत्यक्त्वात्

नियामकत्व नहीं हो सकता है ऐसा जो कहा गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि जिनका वह निय करता है उनके शरीर और इन्द्रियोंसे ही वह शरीर और इन्द्रियोंवाला हो सकता है। उसका दूसरा नियन्ता हो, इस प्रकार अनवस्था दोष यहाँ सम्भव नहीं है। क्योंकि वस्तुतः भेदका अभाव है भेद होनेपर ही अनवस्था दोषकी उपपत्ति होती है। इसलिए परमात्मा ही अन्तर्यामी है ॥ १ ॥

यह ठीक है। परन्तु सांख्य शास्त्रसे कल्पित प्रधानमें भी अदृष्टत्व आदि धर्म उपपन्न होने क्योंकि सांख्यवादियोंने प्रधानको रूपादि रहित स्वीकार किया है। 'अतर्क्यम० (जो तर्कका वि नहीं है, रूप आदि रहित होनेसे नेत्र आदि इन्द्रियोंका विषय नहीं है और जड़ होनेसे चा दिशाओंमें व्याप्त है) ऐसा स्मृतिकार भी कहते हैं। सब विकारोंका कारण होनेसे उसमें भी नि न्तृत्व युक्त होता है। इसलिए प्रधान 'अन्तर्यामी' शब्द वाच्य है। 'ईक्षते० इस सूत्रसे य प्रधानका निराकरण किया गया है, तो भी यहां (अन्तर्यामी ब्राह्मणमें) अदृष्टत्व आदि व्यपदेश संभव होनेसे पुनः आशंकाकी जाती है। सिद्धान्ती—इसका उत्तर कहते हैं—सांख्यस्मृति प्रतिपादि प्रधान 'अन्तर्यामी' शब्द वाच्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें न रहने वाले धर्मोंका कथन है यद्यपि अदृष्टत्व आदि धर्मोंका व्यपदेश-कथन प्रधानमें संभव है, तो भी द्रष्टृत्व आदि व्यपदेश सं नहीं है, क्योंकि उन्होंने प्रधानको अचेतनरूपसे स्वीकार किया है। 'अदृष्टो द्रष्टा० (वह अदृ परन्तु द्रष्टा है, वह अश्रुत है परन्तु श्रोता है, अमत है परन्तु मन्ता है, अविज्ञाता है परन्तु विज्ञाता है ऐसा यहां वाक्यशेष है। प्रधानमें आत्मत्व भी उपपन्न नहीं है ॥ १९ ॥

यदि आत्मत्व और द्रष्टत्व आदि धर्मोंके असंभवसे अन्तर्यामी शब्दसे प्रधानको स्वीकार-अ नहीं किया जाता तो शारीर अन्तर्यामी हो, क्योंकि जीव चेतन होनेसे द्रष्टा श्रोता, मन्ता और वि

सत्यानन्दी दीपिका

नियामकत्व अचिन्त्य मायाशक्ति विशिष्ट चिदात्मामें शरीरादिके विना ही उपपन्न है। यहाँ पूर्व प देवता या योगी पुरुष उपास्य है और सिद्धान्तमें परमात्मा ॥ १८ ॥

अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः। अदृष्टत्वादयश्च धर्माः शारीरे प्रसिद्धाः; दर्शनादिक्रियायाः कर्तरि प्रवृत्तिविरोधात्। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (बृ० ३।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च। तस्य च कार्यकारणसंघातमन्तर्यमयितुं शीलं; भोक्तृत्वात्। तस्माच्छारीरोऽन्तर्यामीत्यत उत्तरं पठति—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

पदच्छेद—शारीरः, च, उभये, अपि, हि, भेदेन, एनम्, अधीयते।

सूत्रार्थ—(शारीरः) जीव भी अन्तर्यामी नहीं है, (हि) यतः-क्योंकि (उभयेऽपि) काण्व और माध्यन्दिन शाखावाले भी अन्तर्यामीसे नियम्य होनेके कारण (एनम्) जीवको (भेदेनं) अन्तर्यामीसे भिन्न (अधीयते) कहते हैं। इसलिए अधिदैवादि श्रुतियोंमें प्रतीयमान अन्तर्यामी परमात्मा ही है।

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते। शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते। कस्मात्? यद्यपि द्रष्टृत्वादयो धर्मास्तस्य संभवन्ति, तथापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वान्न कार्त्स्न्येन पृथिव्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति। अपि चोभयेऽपि हि शाखिनः काण्वा माध्यंदिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते—'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (बृ० ३।७।२२) इति काण्वाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति माध्यंदिनाः। 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यस्मिंस्तावत्पाठे भवत्यात्मशब्दः शारीरस्य वाचकः। 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर उच्यते। विज्ञानमयो हि शारीरः। तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम्। कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते? यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी, यश्चायमितरः शारीरः। का पुनरिहानुपपत्तिः? 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत।

है, और प्रत्यक्-अभ्यन्तर होनेसे वह आत्मा भी है, और धर्म और अधर्मके फलोपभोगकी उपपत्तिसे वह अमृत है अर्थात् नाश रहित होनेसे कर्मफलका उपभोग हो सकता है, अदृष्टत्व आदि धर्म भी जीवमें सुप्रसिद्ध हैं। क्योंकि 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (बुद्धि परिणामरूप दृष्टिके द्रष्टाको तुम उस दृष्टिसे नहीं देख सकोगे) इत्यादि श्रुतियोंसे दर्शन आदि क्रियाकी प्रवृत्तिका कर्तामें विरोध प्रतिपादित है अर्थात् दर्शनकर्ता दर्शनक्रियाका विषय नहीं होता है। शरीर और इन्द्रिय समूहका नियमन करना उसका स्वभाव है, क्योंकि वह भोक्ता है, इससे जीवात्मा ही अन्तर्यामी है। इसके उत्तरमें कहते हैं—

इस सूत्रमें 'न' की पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति (अध्याहार) है। शारीर (जीव) का अन्तर्यामी होना इष्ट नहीं है, क्योंकि यद्यपि द्रष्टृत्वादि धर्म उसमें सम्भव हैं तो भी घटाकाशके समान उसमें उपाधि-शरीरादिसे परिच्छिन्न होनेके कारण सब प्रकारसे पृथिवी आदिके भीतर रहनेकी अथवा उनका नियमन करनेकी सामर्थ्य नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखा वाले अन्तर्यामीसे भिन्नरूपसे जीवका पृथिवी आदिके समान अधिष्ठान (आश्रय) रूपसे एवं नियम्यरूपसे अध्ययन करते हैं। काण्व 'यो विज्ञाने तिष्ठन्० (जो विज्ञानमें रहकर) और माध्यन्दिन 'य आत्मनि तिष्ठन्० (जो आत्मामें रहकर) इसप्रकार अध्ययन करते हैं। 'य आत्मनि तिष्ठन्० इस पाठमें तो आत्मशब्द जीवका वाचक है। 'यो विज्ञाने तिष्ठन्० इस पाठमें भी विज्ञानशब्दसे शारीर (जीव) का कथन है, कारण कि शारीर विज्ञानमय है। इससे यह सिद्ध होता है कि शारीरसे भिन्न अंतर्यामी ईश्वर है। परन्तु जो यह ईश्वर अन्तर्यामी और दूसरा जो यह शरीरादि संघातका स्वामी जीव ये दोनों द्रष्टा एक शरीरमें कैसे रह सकते हैं? यदि सिद्धान्ती कहे कि दोनों द्रष्टाओंके एक शरीरमें रहनेमें क्या अनुपपत्ति है। पूर्वपक्षी—अनुपपत्ति यह है कि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुति वचनोंसे विरोध होगा, क्योंकि श्रुति प्रकृत अन्तर्यामीसे भिन्न द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता

अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति। नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्—न; नियन्त्रन्तराप्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च। अत्रो- च्यते—अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। एकस्यैव तु भेद- व्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्य- क्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथा च श्रुति—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वं व्यवहारं वारयति ॥२०॥

(६ अदृश्यत्वाधिकरणम् सू० २१-२३)

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

पदच्छेद—अदृश्यत्वादिगुणकः, धर्मोक्तेः।

सूत्रार्थ—(अदृश्यत्वादिगुणकः) 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम' इत्यादि श्रुतिमें उक्त अदृश्यत्व आदि गुणवाला भूतयोनि परमात्मा ही है, प्रधानादि नहीं, (धर्मोक्तेः) क्योंकि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिमें उसके धर्मोंका ही कथन है।

* 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि- पादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मुण्ड० १।१।५,६) इति श्रूयते। तत्र संशयः—किमयमद्रेश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यात्, उत शारीर,

---

आत्माका निषेध करती है। ईश्वरसे भिन्न दूसरे नियन्ताके प्रतिषेधके लिए यह वचन है। ऐसा यदि कहो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि यहां दूसरे नियन्ताका प्रसंग नहीं है और किसी विशेष नियन्ताका श्रवण भी नहीं है अर्थात् 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इस श्रुतिमें साधारणरूपसे अन्य द्रष्टाका निषेध किया गया है, किन्तु अन्य नियन्ताका निषेध नहीं किया गया है। सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं, जीव और अन्तर्यामीका यह भेद व्यपदेश अविद्यासे उपस्थापित शरीर, इन्द्रियरूप उपाधिकी अपेक्षासे है परमार्थतः नहीं है। वस्तुतः प्रत्यगात्मा एक ही है, दो प्रत्यगात्माओंका सम्भव नहीं है। एकमें ही भेद व्यवहार उपाधिकृत है। यथा घटकाश और महाकाशमें उपाधिकृत भेद व्यवहार होता है। इस कल्पित उपाधिसे ज्ञाता, ज्ञेयकी भेद प्रतिपादिक श्रुतियां, प्रत्यक्षादि प्रमाण, संसारानुभव, विधि प्रतिषेध शास्त्र यह सब उपपन्न होते हैं। उसीप्रकार 'यत्रहि द्वैतमिव० (जहां द्वैत-सा होता है वहां स्वयं अन्य होकर अन्यको देखता है) यह श्रुति अविद्या विषयमें सब व्यवहारोंको दिखलाती है। और 'यत्र त्वस्य सर्वं० (जिस ज्ञानकालमें आत्मज्ञानीको सब आत्मा ही हो गया वहां कौन द्रष्टा किस करणसे किस विषयको देखे) यह श्रुति विद्याविषयमें सब व्यवहारोंका निषेध करती है ॥ २० ॥

'अथ परा यया० (अपर विद्याके कथनानन्तर अब परा विद्या कही जाती है जिससे वक्ष्य- माण विशेषण विशिष्ट उस अक्षरका ज्ञान प्राप्त होता है) 'यत्तदद्रेश्यम्० (वह जो अदृश्य-ज्ञाने- न्द्रियका अविषय, अग्राह्य-कर्मेन्द्रियका अविषय, अगोत्र, अवर्ण-ब्राह्मणत्वादि जातिरहित अथवा शुक्ल आदि वर्णरहित, चक्षु और श्रोत्ररहित, अपाणिपाद-कर्मेन्द्रियरहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म, दुर्विज्ञेय अविनाशी है, विद्वान् लोग भूतोंके कारणरूपसे उसे देखते हैं) यह श्रुति है। यहां संशय होता है कि

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वअधिकरणमें प्रधान विरोधी द्रष्टृत्व आदि धर्मोंसे प्रधानमें अन्तर्यामित्वका निषेध किया गया है। परन्तु इस अधिकरणमें विरोधी धर्मोंके न होने और अदृश्यत्व आदि अनुकूल धर्म होनेसे प्रधान भी भूतयोनि हो सकता है, इससे यहां प्रत्युदाहरण संगति है।

आहोस्वित्परमेश्वर इति । तत्र प्रधानमचेतनं भूतयोनिरिति युक्तं; अचेतनानामेव तद्दृष्टान्तत्वेनोपादानात् । 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' (मुण्ड० १।१।७) इति । ननूर्णनाभिः पुरुषश्च चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ । नेति ब्रूमः । नहि केवलस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं केशलोमयोनित्वं वास्ति । चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिशरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोमानामिति प्रसिद्धम् । अपि च पूर्वत्रादृष्टत्वाद्यभिलापसंभवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलापासंभवान्न प्रधानमभ्युपगतम् । इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने संभवन्ति । नचात्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिदभिलप्यते । ननु 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न संभवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायत इति । * अत्रोच्यते—'यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यक्षरशब्देनादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा पुनरन्ते श्रावयिष्यति—'अक्षरात्परतः परः' (मुण्ड० २।१।२) इति । तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः, स सर्वज्ञः सर्ववित्संभविष्यति । प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं भूतयोनिः । यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची,

अदृश्यत्व आदि गुणवाला भूतयोनि क्या प्रधान है, या जीव है अथवा परमेश्वर ? पूर्वपक्षी—इन तीनोंमें से अचेतन प्रधान भूतयोनि हो यह युक्त है, क्योंकि जगत्के कारण भूतयोनिमें अचेतनोंका ही दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया गया है । 'यथोर्णनाभिः०' (जिस प्रकार मकड़ी जालेको बनाती और निगल जाती है, जैसे पृथिवीमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे जीवित पुरुषसे केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार उस अक्षरसे यह सारा विश्व प्रकट होता है) परन्तु मकड़ी और पुरुष इन दो चेतनोंका यहां दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया गया है । पू०—यह नहीं, ऐसा हम कहते हैं । केवल चेतन ही यहां तन्तुका अथवा केश लोमका कारण नहीं है, किन्तु चेतनसे अधिष्ठित अचेतन मकड़ीका शरीर ही तन्तुका कारण है और पुरुष-शरीर केश लोमोंका कारण है यह प्रसिद्ध है । किञ्च पूर्वाधिकरणमें अदृष्टत्व आदि धर्मोंका कथन प्रधानमें सम्भव होनेपर भी द्रष्टृत्व आदि धर्मोंका कथन असम्भव होनेके कारण प्रधान स्वीकार नहीं किया गया, परन्तु यहां तो अदृश्यत्व आदि धर्म प्रधानमें सम्भव हैं और किसी भी विरुद्ध धर्मका अभिधान नहीं है । यदि कहो कि 'य सर्वज्ञः सर्ववित्' यह वाक्यशेष अचेतन प्रधानमें सम्भव नहीं है, तो प्रधान भूतयोनि (सम्पूर्ण भूतोंका कारण) है यह प्रतिज्ञा कैसे हो सकती है । उत्तरमें पूर्वपक्षी कहता है—'यया तदक्षरमधिगम्यते' (जिससे वह अक्षर अधिगत-ज्ञात होता है) 'यत्तदद्रेश्यम्' (जो वह अदृश्य है) इसप्रकार 'अक्षर' शब्दसे अदृश्यत्वादि गुण विशिष्ट भूतयोनिका श्रवण कराके अन्तमें पुनः श्रुति 'अक्षरात्परतः परः' (सबसे उत्कृष्ट उस अक्षरसे भी जो उत्कृष्ट है) इसप्रकार श्रवण कराएगी । इस मन्त्रमें जो अक्षरसे पर श्रुत है वह सर्वज्ञ सर्ववित् हो सकेगा । 'अक्षर' शब्दसे निर्दिष्ट भूतयोनि तो प्रधान ही है । यदि 'योनि' शब्द निमित्तवाचक मानें तो शारीर (जीवात्मा) भी भूतयोनि हो सकता है, क्योंकि उसके धर्म अधर्मसे

सत्यानन्दी दीपिका

* 'अक्षरात्परतः परः' इस श्रुतिमें अपने कार्यकी अपेक्षा प्रधान पर (श्रेष्ठ) है और नष्ट न होनेसे वह अक्षर है और प्रधानसे भी पर (उत्कृष्ट) परमेश्वर है, ऐसा प्रतिपादित है । वही सर्वज्ञ और सर्ववित् है । सर्वज्ञत्वादि धर्म अचेतन प्रधानमें सम्भव नहीं है, किन्तु चेतन परमेश्वरमें ही सम्भव है, अतः प्रधानको भूतयोनि कहनेमें कोई दोष नहीं है । और योनि (कारण) शब्दको यदि निमित्तकारण वाची मानें तो जीव ही धर्माधर्मरूप अदृष्टके द्वारा शरीर आदि कार्योंके प्रति निमित्तकारण हो सकता है, क्योंकि अदृष्टको भी कार्यमात्रके प्रति मिमित्त कारण माना गया है । अतः योनि शब्दसे जीवका भी ग्रहण हो सकता है । इससे यहां भूतयोनि परमेश्वर नहीं है ।

तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति। ❋ एवं प्राप्ते ऽभिधीयते—योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स परमेश्वर एव स्यान्नान्य इति। कथमेतदवगम्यते? धर्मोक्तेः। परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति। नहि प्रधानस्याचेतनस्य शारीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं वा संभवति। नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद्भूतयोनेः परस्यैवैतत्सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च न भूतयोनिविषयमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नैवं संभवति। यत्कारणं 'अक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति प्रकृतं भूतयोनिमिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्यानन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' इति। तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च धर्म उच्यत इति गम्यते। *'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद्भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते। कथमेतदवगम्यते? 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मुण्ड० १।२।१३) इति

भूत समूहकी सृष्टि होती है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—अदृश्यत्वादि गुणवाला जो भूतोंका कारण है वह परमेश्वर ही है अन्य नहीं। यह कैसे जाना जाय? धर्मोक्ति से। यहां 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेषसे परमेश्वरके ही धर्म (सर्वज्ञत्वादि धर्म) कहे हुए देखे जाते हैं। अचेतन प्रधानमें अथवा उपाधिसे परिच्छिन्न दृष्टिवाले जीवमें सर्वज्ञत्व तथा सर्ववेत्तृत्व सम्भव नहीं हैं! परन्तु अक्षर शब्दसे निर्दिष्ट भूतोंके भूतयोनिसे पर (परमेश्वर) में ही वह सर्वज्ञत्व, सर्ववेत्तृत्व है भूतयोनिमें नहीं अर्थात् सर्वज्ञत्व और सर्ववेत्तृत्व भूतयोनि विषयक नहीं हैं, ऐसा पीछे कहा गया है। इसपर कहते हैं—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'अक्षरसे यह विश्व उत्पन्न होता है' इसप्रकार यहां प्रकृत भूतयोनिका उत्पद्यमान प्रपञ्चके प्रति कारणरूपसे निर्देशकर उसके आगे भी 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे यह कार्य ब्रह्म [हिरण्यगर्भ] और यज्ञदत्त देवदत्तादि नाम, शुक्ल नीलादिरूप और व्रीहि यव आदि अन्न उत्पन्न होता है) इसप्रकार श्रुति उत्पद्यमान प्रपञ्चके प्रति कारणरूपसे ही सर्वज्ञका निर्देश करती है। इससे प्रतीत होता है कि समान निर्देशसे प्रत्यभिज्ञाका विषय होनेके कारण प्रकृत अक्षर भूतयोनिके ही सर्वज्ञत्व और सर्ववेत्तृत्व धर्म कहे गए हैं। यहाँपर भी प्रकृत भूतयोनि अक्षरसे पर कोई अभिहित नहीं है। यह कैसे जानते हो? 'येनाक्षरं०' (जिस विद्यासे शिष्य सत्य और अक्षर पुरुषको जाने उस ब्रह्मविद्याको आचार्य यथार्थ

सत्यानन्दी दीपिका

❋ 'संदिग्धेतु वाक्यशेषात्' (जिस अर्थमें सन्देह हो उसका निर्णय वाक्यशेषसे करना चाहिए) इस न्यायसे सिद्धान्त कहते हैं—भूत योनि परमेश्वर ही है प्रधानादि नहीं, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेषसे सर्वज्ञत्वादि धर्म वस्तुतः परमेश्वरमें ही घटते हैं, जड़ प्रधान अथवा अविद्या उपाधि विशिष्ट परिच्छिन्न अल्पज्ञ जीवमें नहीं। तथा 'अक्षरात् संभवतीह विश्वम्' इस मुण्डक वाक्यमें शौनकके प्रति अंगिराने जायमान प्रपञ्चके प्रति कारणरूप भूतयोनिको कहकर आगे भी उत्पद्यमान प्रपञ्चका कारण रूप भूतयोनि शब्दसे ही 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे सर्वज्ञ तथा सर्ववित्का वर्णन किया है। 'तथा अक्षरात्' यहाँ जैसे अक्षर रूप भूत योनिमें जगत्की कारणता प्रतिपादित है, वैसे ही 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस मंत्रमें भी सर्वज्ञत्वादि विशिष्टमें जगत्की कारणता निर्दिष्ट है। इन दोनों वाक्योंमें समान निर्देश होनेसे भूतयोनिकी प्रत्यभिज्ञा होनेके कारण यह निश्चय होता है कि अक्षर रूप भूतयोनिमें सर्वज्ञत्वादि धर्म निर्दिष्ट हैं। अतः सर्वज्ञ परमात्मा ही अक्षररूप भूतयोनि है।

❋ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते (मु० १।१।५) (उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,

प्रकृत्य तस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात्। कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यते ? इति; उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः। अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवापरा च' इति। तत्रापरामृग्वेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि। तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम्। यदि पुनः परमेश्वरादन्यददृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत, नेयं परा विद्या स्यात्। परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते। नच प्रधानविद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते। *तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्; त्वत्पक्षेऽक्षराद्भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात्। द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्प्यते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि। अपि च 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (मुण्ड० १।१।१) इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयंस्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति।

रूपसे कहे) इसप्रकार प्रकृत भूतयोनि अदृश्यत्वादि गुणोंसे सम्पन्न अक्षरके वक्तव्यरूपसे प्रतिज्ञाकी है अर्थात् इससे ज्ञात होता है कि भूतयोनि अक्षरसे पर कोई नहीं है। तब 'अक्षरात्परतः परः' यह व्यपदेश कैसे किया जाता है ? इसको अगले सूत्रमें कहेंगे। किंच यहाँ दो विद्याएँ जानने योग्य कही गई हैं—परा और अपरा। इनमें ऋग्वेदादिको अपराविद्या कहकर 'अथ परा यया०' (अपराके निरूपणानन्तर परा विद्या कहते हैं, जिससे वह अक्षर अधिगत होता है) इत्यादि कहते हैं। वहाँ पराविद्या के विषयरूपसे अक्षर सुना जाता है। यहाँ यदि परमेश्वरसे भिन्न अदृश्यत्वादि गुण विशिष्ट अक्षरकी कल्पना करें तो यह पराविद्या न होगी। निश्चय अभ्युदय और निःश्रेयसके फलकी अपेक्षा विद्याओंमें यह परा और अपरा विभागकी कल्पनाकी गई है। प्रधान विद्या मोक्ष फलवाली है ऐसा किसीने भी स्वीकार नहीं किया है और तुम्हारे मतमें भूतयोनि अक्षरसे पर परमात्माका प्रतिपादन किया जाता है, इससे तुम्हें तीन विद्याओंकी प्रतिज्ञा करनी चाहिए। परंतु यहाँ जानने योग्य दो ही विद्याएँ निर्दिष्ट हैं। 'कस्मिन्नु भगवो०' (शौनक—हे भगवान्! किसको जाननेसे यह सब जाना जाता है ?) इस प्रकार एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी अपेक्षा सर्वात्मक ब्रह्मकी विवक्षा करने पर सम्भव हो सकती है, अचेतन मात्रके एक आश्रय प्रधान अथवा भोग्यसे भिन्न भोक्ताकी विवक्षा होनेपर सम्भव नहीं है। और 'स ब्रह्मविद्यां०' (उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको समस्त विद्याओंकी आश्रयभूत ब्रह्मविद्याका उपदेश किया) इस प्रकार ब्रह्मविद्याका प्रधानरूपसे आरम्भ कर पर और अपरका विभागकर पराविद्याको अक्षरका ज्ञान करानेवाली दिखलाते हुए वह ब्रह्मविद्या है ऐसा [श्रुति] 'दिखलाती है।

सत्यानन्दी दीपिका

अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह अपरा है तथा जिससे उस अक्षर परमात्माका ज्ञान होता है वह परा है) कर्म प्रतिपादक ऋग्वेदादि रूप अपरा विद्याका अभ्युदय (स्वर्गादि) फल अनित्य है, इसलिए उसकी निन्दाकर आचार्यने मोक्ष अभिलाषी योग्य शिष्यको ब्रह्म विषयक परा विद्याका उपदेश किया। ब्रह्मरूप नित्य मोक्ष फलको कहनेवाली विद्या परा विद्या और अनित्य स्वर्गादि फल प्रतिपादक विद्या अपरा विद्या है। इस प्रकार फल भेदसे परा और अपरा विद्याका विभाग किया गया है।

* एक ऋग्वेदादि रूप अपरा विद्या, दूसरी प्रधान विषयक विद्या, तीसरी अक्षर भूतयोनिसे पर परमात्मविषयक विद्या, इस प्रकार तुम (पूर्वपक्षी) को तीन विद्याएँ माननी पड़ेंगी, जब कि श्रुतिमें दो का ही निर्देश है। जैसे 'कस्मिन्नु भगवो' इस श्रुतिमें एकके विज्ञानसे जो सर्व विषयक

तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति । ❀ एवं प्राप्तेऽभिधीयते—योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स परमेश्वर एव स्यान्नान्य इति । कथमेतदवगम्यते ? धर्मोक्तेः । परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति । नहि प्रधानस्याचेतनस्य शारीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं वा संभवति । नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद्भूतयोनेः परस्यैवैतत्सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च न भूतयोनिविषयमित्युक्तम् । अत्रोच्यते—नैवं संभवति । यत्कारणं 'अक्षरात्संभवतीह विश्वम्' इति प्रकृतं भूतयोनिमिह जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्यानन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञं निर्दिशति—'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' इति । तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च धर्म उच्यत इति गम्यते । *'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद्भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते । कथमेतदवगम्यते ? 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मुण्ड० १।२।१३) इति

भूत समूहकी सृष्टि होती है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—अदृश्यत्वादि गुणवाला जो भूतोंका कारण है वह परमेश्वर ही है अन्य नहीं । यह कैसे जाना जाय ? धर्मोक्ति से । यहां 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेषसे परमेश्वरके ही धर्म (सर्वज्ञत्वादि धर्म) कहे हुए देखे जाते हैं । अचेतन प्रधानमें अथवा उपाधिसे परिच्छिन्न दृष्टिवाले जीवमें सर्वज्ञत्व तथा सर्ववेत्तृत्व सम्भव नहीं हैं ! परन्तु अक्षर शब्दसे निर्दिष्ट भूतोंके भूतयोनिसे पर (परमेश्वर) में ही वह सर्वज्ञत्व, सर्ववेत्तृत्व है भूतयोनि नहीं अर्थात् सर्वज्ञत्व और सर्ववेत्तृत्व भूतयोनि विषयक नहीं हैं, ऐसा पीछे कहा गया है । इस कहते हैं—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'अक्षरसे यह विश्व उत्पन्न होता है' इसप्रकार यहां प्रकृ भूतयोनिका उत्पद्यमान प्रपञ्चके प्रति कारणरूपसे निर्देशकर उसके आगे भी 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे यह कार्य ब्रह्म [हिरण्यगर्भ] और यज्ञदत्त देवदत्तादि नाम, शुक्ल नीलादिरूप और व्रीहि यव आदि अन्न उत्पन्न होता है) इसप्रकार श्रु उत्पद्यमान प्रपञ्चके प्रति कारणरूपसे ही सर्वज्ञका निर्देश करती है । इससे प्रतीत होता है कि समान निर्देशसे प्रत्यभिज्ञाका विषय होनेके कारण प्रकृत अक्षर भूतयोनिके ही सर्वज्ञत्व और सर्ववेत्तृत्व ध कहे गए हैं । यहाँपर भी प्रकृत भूतयोनि अक्षरसे पर कोई अभिहित नहीं है । यह कैसे जानते हो 'येनाक्षरं०' (जिस विद्यासे शिष्य सत्य और अक्षर पुरुषको जाने उस ब्रह्मविद्याको आचार्य यथा

सत्यानन्दी दीपिका

* 'संदिग्धेतु वाक्यशेषात्' (जिस अर्थमें सन्देह हो उसका निर्णय वाक्यशेषसे कर चाहिए) इस न्यायसे सिद्धान्त कहते हैं—भूत योनि परमेश्वर ही है प्रधानादि नहीं, क्योंकि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेषसे सर्वज्ञत्वादि धर्म वस्तुतः परमेश्वरमें ही घटते हैं, जड़ प्रधान अथवा अवि उपाधि विशिष्ट परिच्छिन्न अल्पज्ञ जीवमें नहीं । तथा 'अक्षरात् संभवतीह विश्वम्' इस मुण्डक वाक्य शौनकके प्रति अंगिराने जायमान प्रपञ्चके प्रति कारणरूप भूतयोनिको कहकर आगे भी उत्पद्यमा प्रपञ्चका कारण रूप भूतयोनि शब्दसे ही 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे सर्वज्ञ तथा स वित्का वर्णन किया है । 'तथा अक्षरात्' यहाँ जैसे अक्षर रूप भूत योनिमें जगत्की कारणता प्र पादित है, वैसे ही 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस मंत्रमें भी सर्वज्ञत्वादि विशिष्टमें जगत्की कारणता नि है । इन दोनों वाक्योंमें समान निर्देश होनेसे भूतयोनिकी प्रत्यभिज्ञा होनेके कारण यह निश्चय होता कि अक्षर रूप भूतयोनिमें सर्वज्ञत्वादि धर्म निर्दिष्ट हैं । अतः सर्वज्ञ परमात्मा ही अक्षररूप भूतयोनि है

❀ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यो षमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते (मु० १।१।५) (उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम

प्रकृत्य तस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात्। कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यते ? इति; उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः। अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवापरा च' इति। तत्रापरामृग्वेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि। तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम्। यदि पुनः परमेश्वरादन्यददृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत, नेयं परा विद्या स्यात्। परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते। नच प्रधानविद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते। *तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्; त्वत्पक्षेऽक्षराद्भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात्। द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्प्यते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि। अपि च 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (मुण्ड० १।१।१) इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयंस्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति।

रूपसे कहे) इसप्रकार प्रकृत भूतयोनि अदृश्यत्वादि गुणोंसे सम्पन्न अक्षरके वक्तव्यरूपसे प्रतिज्ञाकी है अर्थात् इससे ज्ञात होता है कि भूतयोनि अक्षरसे पर कोई नहीं है। तब 'अक्षरात्परतः परः' यह व्यपदेश कैसे किया जाता है ? इसको अगले सूत्रमें कहेंगे। किंच यहाँ दो विद्याएँ जानने योग्य कही गई हैं—परा और अपरा। इनमें ऋग्वेदादिको अपराविद्या कहकर 'अथ परा यया०' (अपराके निरूपणानन्तर परा विद्या कहते हैं, जिससे वह अक्षर अधिगत होता है) इत्यादि कहते हैं। वहाँ पराविद्याके विषयरूपसे अक्षर सुना जाता है। यहाँ यदि परमेश्वरसे भिन्न अदृश्यत्वादि गुण विशिष्ट अक्षरकी कल्पना करें तो यह पराविद्या न होगी। निश्चय अभ्युदय और निःश्रेयसके फलकी अपेक्षा विद्याओंमें यह परा और अपरा विभागकी कल्पनाकी गई है। प्रधान विद्या मोक्ष फलवाली है ऐसा किसीने भी स्वीकार नहीं किया है और तुम्हारे मतमें भूतयोनि अक्षरसे पर परमात्माका प्रतिपादन किया जाता है, इससे तुम्हें तीन विद्याओंकी प्रतिज्ञा करनी चाहिए। परंतु यहाँ जानने योग्य दो ही विद्याएँ निर्दिष्ट हैं। 'कस्मिन्नु भगवो०' (शौनक—हे भगवान्! किसको जाननेसे यह सब जाना जाता है ?) इस प्रकार एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी अपेक्षा सर्वात्मक ब्रह्मकी विवक्षा करने पर सम्भव हो सकती है, अचेतन मात्रके एक आश्रय प्रधान अथवा भोग्यसे भिन्न भोक्ताकी विवक्षा होनेपर सम्भव नहीं है। और 'स ब्रह्मविद्यां०' (उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाको समस्त विद्याओंकी आश्रयभूत ब्रह्मविद्याका उपदेश किया) इस प्रकार ब्रह्मविद्याका प्रधानरूपसे आरम्भ कर पर और अपरका विभागकर पराविद्याको अक्षरका ज्ञान करानेवाली दिखलाते हुए वह ब्रह्मविद्या है ऐसा [श्रुति] दिखलाती है।

सत्यानन्दी दीपिका

अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह अपरा है तथा जिससे उस अक्षर परमात्माका ज्ञान होता है वह परा है) कर्म प्रतिपादक ऋग्वेदादि रूप अपरा विद्याका अभ्युदय (स्वर्गादि) फल अनित्य है, इसलिए उसकी निन्दाकर आचार्यने मोक्ष अभिलाषी योग्य शिष्यको ब्रह्म विषयक परा विद्याका उपदेश किया। ब्रह्मरूप नित्य मोक्ष फलको कहनेवाली विद्या परा विद्या और अनित्य स्वर्गादि फल प्रतिपादक विद्या अपरा विद्या है। इस प्रकार फल भेदसे परा और अपरा विद्याका विभाग किया गया है।

* एक ऋग्वेदादि रूप अपरा विद्या, दूसरी प्रधान विषयक विद्या, तीसरी अक्षर भूतयोनिसे पर परमात्मविषयक विद्या, इस प्रकार तुम (पूर्वपक्षी) को तीन विद्याएँ माननी पड़ेंगी, जब कि श्रुतिमें दो का ही निर्देश है। जैसे 'कस्मिन्नु भगवो' इस श्रुतिमें एकके विज्ञानसे जो सर्व विषयक

सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्याक्षरस्याब्रह्मत्वे बाधिता स्यात् । *अपरर्ग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रम उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसायै । 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति' (मुण्ड० १।२।७) इत्येवमादिनिन्दावचनात् । निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति-'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड० १।२।१२) इति । *यत्तूक्तम्—अचेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानाद्दार्ष्टान्तिकेनाप्यचेतनेन भूतयोनिना भवितव्यमिति—तदयुक्तम्; नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति । अपि च स्थूलाः पृथिव्या-

और उस विद्यासे अधिगम्य अक्षरको यदि ब्रह्म स्वीकार न करें तो उसका 'ब्रह्मविद्या' यह नाम बाधित हो जायगा । ऋग्वेदादि अपरा कर्म विद्याका ब्रह्मविद्याके उपक्रममें ब्रह्मविद्याकी प्रशंसाके लिए उपन्यास किया गया है, क्योंकि 'प्लवा ह्येते अदृढा०' (जिनमें [ज्ञान बाह्य होनेसे] अवर-निकृष्ट कर्म आश्रित कहा गया है वे [सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमान पत्नी] ये अठारह यज्ञरूप (यज्ञके साधन) अस्थिर एवं नाशवान् बतलाये गये हैं । जो मूढ 'यही श्रेय है' इस प्रकार इनका अभिनन्दन करते हैं, वे फिर भी जरा-मरणको प्राप्त होते रहते हैं) इत्यादि निन्दाका कथन है । और 'परीक्ष्य लोकान्०' (कर्मसे संपादित लोकोंकी परीक्षा कर ब्राह्मण निर्वेद [वैराग्य] को प्राप्त हो; क्योंकि संसारमें नित्य पदार्थ नहीं है और कृत-अनित्यसे प्रयोजन क्या है ? अतः उस नित्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए वह मुमुक्षु पुरुष हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाये) यह श्रुति इस प्रकार अपरा विद्याकी निन्दा कर उससे विरक्त पुरुषका पराविद्यामें अधिकार दिखलाती है । जो यह कहा गया है कि पृथ्वी आदि अचेतन पदार्थोंका दृष्टान्त रूपसे ग्रहण करने पर दार्ष्टान्तिकमें भी अचेतन भूत योनि होना चाहिए, वह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी सर्वांशमें पूर्ण रूपसे समानता हो, ऐसा नियम नहीं है । स्थूल पृथ्वी आदि दृष्टान्त रूपसे ग्रहण किये गये हैं ।

सत्यानन्दी दीपिका

विज्ञानका प्रश्न किया गया है वह तो सर्वात्मक ब्रह्मके ग्रहण करनेसे ही संगत हो सकता है अचेतन प्रधान आदिके ग्रहण करनेसे नहीं, क्योंकि प्रधानके ज्ञानसे उसके कार्यमात्रका ज्ञान भले हो किन्तु उसके अकार्यभूत भोक्ता जीवोंका ज्ञान नहीं होगा, तथा जीवके ज्ञान होने पर भी उसके अकार्य भोग्य वर्गका ज्ञान नहीं होगा, इस प्रकार प्रधान तथा जीवके ज्ञान होनेपर सर्व विषयक ज्ञान न होनेके कारण एकके ज्ञानसे सर्व विषयक ज्ञानकी प्रतिज्ञा बाधित हो जायगी । इससे भूत योनि ब्रह्म ही है।

* उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य ये उद्गातृगण हैं । अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता ये अध्वर्युगण हैं । होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक और ग्रावस्तुत् ये होतृगण हैं । ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसि, आग्निधर और पोता ये ब्रह्मगण हैं । ये १६ ऋतुमें यज्ञ करानेसे ऋत्विज कहलाते हैं । यज्ञ करनेवाला यजमान व उनकी पत्नी ये सब मिलकर १८ होते हैं । यज्ञके द्वारा निष्पादित होनेसे अथवा यज्ञका उनके द्वारा सम्पादन होनेसे इनको यज्ञ रूप कहा गया है । ये यज्ञरूप कर्म और उसके अनित्य फलको पाकर प्रसन्न होते हैं । परन्तु श्रुति कर्म और कर्मफलकी निन्दा कर मोक्षके साधनभूत पराविद्याका उपदेश करती है । इसलिए परब्रह्मविषयक विद्या पराविद्या है ।

* 'कार्य अपने उपादान कारणसे भिन्न नहीं, किन्तु अभिन्न ही होता है' केवल इतने अंशको दिखलानेके लिए यहाँ पृथ्वी आदिका दृष्टान्तरूपसे ग्रहण किया गया है । किञ्चिद् समान अंशको लेकर दृष्टान्त दिये जाते हैं । कार्य जगत् अपने उपादान कारण भूतयोनि अक्षर ब्रह्मसे भिन्न नहीं

दयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टान्तिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते। तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वर एव ॥ २१ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

पदच्छेद—विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्, च, न, इतरौ।

सूत्रार्थ—(विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्) विशेषण और भेदके व्यपदेश-कथनसे भूतयोनि परमात्मा है, (नेतरौ) इतर-जीव और प्रधान नहीं।

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतरौ—शारीरः प्रधानं वा। कस्मात्? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्। विशिनष्टि हि प्रकृतं भूतयोनिं शारीराद्विलक्षणत्वेन—'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मुण्ड० २।१।२) इति। नह्येतद्दिव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मान्स्वात्मनि कल्पयतः शारीरस्योपपद्यते। तस्मात्साक्षादौपनिषदः पुरुष इहोच्यते। *तथा प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति—'अक्षरात्परतः परः' इति। अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतं सर्वस्माद्विकारात्परो योऽविकारस्तस्मात्परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति। नात्र प्रधानं नाम किंचित्स्वतन्त्रं तत्त्वमभ्युपगम्य तस्माद्भेदव्यपदेश उच्यते। किं तर्हि? यदि प्रधानमपि कल्प्यमानं श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादि-

---

इसलिए दार्ष्टान्तिक भूतयोनि भी स्थूल ही हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। इस पूर्वोक्त रीतिसे अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि परमेश्वर ही है ॥ २१ ॥

और इस हेतुसे भी परमेश्वर ही भूतयोनि है, अन्य दो-जीव तथा प्रधान नहीं हैं, क्योंकि विशेषण और भेदका व्यपदेश (कथन) है। 'दिव्यो ह्यमूर्तः० (वह अक्षर ब्रह्म निश्चय ही दिव्य, अमूर्त, पुरुष, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनरहित, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षरसे भी उत्कृष्ट है) यह श्रुति प्रकृत भूतयोनिको जीवसे विलक्षणरूपसे विशेषित करती है। निश्चय ये दिव्यत्वादि विशेषण अविद्यासे उपस्थापित नाम-रूप परिच्छिन्नमें अभिमान करनेवाले और उनके जड़त्वादि धर्मोंकी अपनेमें कल्पना करनेवाले जीवमें उपपन्न नहीं होते, इसलिए साक्षात् उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुष ही यहां कहा जाता है। इसीप्रकार 'अक्षरात्परतः परः' यह श्रुति प्रधानसे भी प्रकृतभूतयोनिका भिन्नरूपसे व्यपदेश करती है। जो अव्याकृत नामरूप (जगत) के कारण भूत ईश्वरकी शक्तिरूप है, जिसमें भूतोंके संस्कार विद्यमान हैं, चिन्मात्र ईश्वर जिसका आश्रय है, उसीका उपाधिभूत, सर्व विकारसे परे जो अविकार-अक्षर है, उस परसे पर ईश्वर है। इसप्रकार श्रुति भेदसे व्यपदेश होनेके कारण परमात्माको ही यहां विवक्षितरूपसे दिखलाती है। यहां प्रधान नामवाला कोई स्वतन्त्र पदार्थ मानकर उससे पृथक् ईश्वरका व्यपदेश है, ऐसा नहीं कहा गया है। तब क्या कहा गया है? यदि कल्प्यमान प्रधानकी श्रुतिके अविरोधसे अव्याकृत आदि शब्द वाच्यभूत सूक्ष्मरूपसे कल्पनाकी जाती

सत्यानन्दी दीपिका

किन्तु अभिन्न है। ऐसा मानने पर एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है, यह प्रतिज्ञा भी सिद्ध हो सकती है, अतः अदृश्यत्व आदि गुणवाला परमेश्वर ही है ॥ २१ ॥

* जीव पक्षका खण्डनकर अब प्रधान पक्षका खण्डन करते हैं—'कार्यात्मना प्रधीयते इति प्रधानम्' कार्यरूपसे जो परिणामको प्राप्त हो वह प्रधान अर्थात् अज्ञान है। यदि इस प्रकारकी कल्पनाकी जाय तो सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि इस अज्ञानसे भिन्न प्रधानमें कोई प्रमाण नहीं है। 'अश्नोति व्याप्नोति स्वविकारजातं इति अक्षरम्' 'अपने विकार समूहको जो व्याप्त करे उसका नाम अक्षर है'। इससे अक्षर शब्दका अर्थ अविनाशी नहीं है किन्तु इस व्युत्पत्तिसे अनादि

शब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत, परिकल्प्यताम् । तस्माद्भेदव्यपदेशात्परमेश्वरो भूतयोनिरि
त्येतदिह प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनिः—

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

पदच्छेद—रूपोपन्यासात्, च ।

सूत्रार्थ—'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि श्रुतिसे सर्वात्मकत्वके उपन्याससे भी भूतयोनि परमेश्वर ही है

*अपि च 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्यानन्तरम् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति प्राणप्रभृती
पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमा
पश्यामः—'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं वि
मस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (मुण्ड० २।१।४) इति । तच्च परमेश्वरस्यैवोचि
सर्वविकारकारणत्वात् । न शारीरस्य तनुमहिम्नः । नापि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः संभव
सर्वभूतान्तरात्मत्वासंभवात् । तस्मात्परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतराविति गम्यते । * कथं पु
भूतयोनेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते ? प्रकरणात्, 'एष' इति च प्रकृतानुकर्षणात् । भूतयो
हि प्रकृत्य 'एतस्माज्जायते प्राणः', 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं भूतयोनिविषयमेव भवति
यथोपाध्यायं प्रकृत्यैतस्मादधीष्वैष वेदवेदाङ्गपारग इति वचनमुपाध्यायविषयं भवति, तद्व

है तो ऐसी कल्पना करो। इस भेदव्यपदेशसे भूतयोनि परमेश्वर ही है ऐसा यहां श्रुति और सू
प्रतिपादन किया गया है ॥ २२ ॥

और परमेश्वर भूतयोनि कैसे है ?

और 'अक्षरात्परतः परः' इसके अनन्तर 'एतस्माज्जायते प्राणः' (इस-अक्षरपुरुषसे
उत्पन्न होता है) इसप्रकार प्राणसे लेकर पृथिवी पर्यन्त सब तत्त्वोंकी सृष्टि कहकर उसी भूतयो
सर्वविकारात्मक उपन्यस्यमान (कथनका विषय) रूपको 'अग्निर्मूर्धा० (अग्नि-द्युलोक जिसका
है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृद
और जिसके चरणोंसे पृथिवी प्रकट हुई है अर्थात् पाद पृथिवी है, वह देव सब भूतोंका अन्तरात्मा
इसप्रकार हम देखते हैं। यह कथन परमेश्वरमें ही युक्त है, क्योंकि वह सब विकारोंका कारण
अल्पमहिमावाले जीवात्मामें यह रूपोपन्यास संभव नहीं है। प्रधानमें भी यह रूपोपन्यास
नहीं है, क्योंकि इन दोनोंमें सर्वभूतान्तरात्मत्व संभव नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पर
ही भूतयोनि है अन्य दो-शारीर और प्रधान भूतयोनि नहीं हैं। परन्तु यह कैसे प्रतीत हो कि
भूतयोनिका रूपोपन्यास है ? प्रकरणसे, क्योंकि 'एषः' इसप्रकार प्रकृतका अनुकर्षण-ग्रहण है।
योनिको प्रस्तुतकर 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' यह श्रुति वचन भूतयोनि विषयक
है। जैसे उपाध्यायको प्रस्तुत (उद्देश्य) कर कहा गया 'एतस्मादधीष्व' 'एष वेदवेदाङ्गपारगः' (

सत्यानन्दी दीपिका

अव्याकृतको यहां अक्षर कहा गया है। अक्षर शब्द वाच्य यह अव्याकृत माया (अज्ञान) परमा
शक्ति ही जगत्का परिणामी उपादान है। यह माया शक्ति भी शक्तिमान् परमात्मामें आ
होनेसे मिथ्या है, इसलिए वस्तुतः सबका अधिष्ठान होकर परमात्मा ही भूतयोनि सिद्ध होता है ॥

* वृत्तिकारके मतानुसार यह प्रश्न और प्रतिवचन है अर्थात् वृत्तिकार मतके अनुसार
सूत्रकी व्याख्या है।

* जैसे कोई ब्रह्मवित् सर्वात्मत्वकी विवक्षासे 'अहमन्नमहमन्नादः' इसप्रकार साम गायन
है, अपनेमें अन्नकी विवक्षासे नहीं, वैसे प्रकरणमें भी समझना चाहिए।

कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं संभवति ? सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते, नतु विग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः । 'अहमन्नमहमन्नादः' (तै० ३।१०।६) इत्यादिवत् । ❀ अन्ये पुनर्मन्यन्ते—नायं भूतयोने रूपोपन्यासः; जायमानत्वेनोपन्यासात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' इति हि पूर्वत्र प्राणादि पृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जायमानत्वेन निरदिक्षत् । उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः' इत्येवमादि 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' इत्येवमन्तं जायमानत्वेनैव निर्देक्ष्यति । इहैव कथमकस्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यसेत् ? सर्वात्मत्वमपि सृष्टिं परिसमाप्योपदेक्ष्याति—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' (मुण्ड० २।१।१०) इत्यादिना । ❀ श्रुतिस्मृत्योश्च त्रैलोक्यशरीरस्य प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमानमुपलभामहे—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋ० सं० १०।१२१।१) इति ।

पास अध्ययन करो, यह वेद और वेदाङ्गका पारंगत विद्वान् है) यह वचन उपाध्याय विषयक होता है, वैसे ही। परन्तु अदृश्यत्व आदि गुणवाले भूतयोनिका मूर्तिमान् रूप कैसे संभव है ? सर्वात्मत्वकी विवक्षासे यह कहा गया है विग्रहवत्त्व (शरीर वाला) की विवक्षासे नहीं, इसलिए दोष नहीं है। 'अहमन्नम० (मैं अन्न हूँ, मैं अन्न भक्षक हूँ) इत्यादिके समान। पुनः दूसरे ऐसा मानते हैं कि—यह भूतयोनिका रूपोपन्यास नहीं है, क्योंकि इसका जायमानरूपसे उपन्यास है। 'एतस्माज्जायते प्राणः० (इस-अक्षर पुरुषसे प्राण, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है) इसप्रकार पूर्वमन्त्रमें प्राणसे लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्व समूहका जायमानरूपसे श्रुतिने निर्देश किया है। और आगे भी 'तस्मादग्निः० (सूर्य जिसकी समिधा है वह अग्नि-द्युलोक उस पुरुषसे उत्पन्न हुआ है) यहांसे लेकर 'अतश्च० (और इसीसे सम्पूर्ण औषधियां और रस उत्पन्न हुए) यहां तक जायमानरूपसे निर्देश करेगी। तो यहीं मध्यमें अकस्मात्-विना कारण भूतयोनिका रूपोपन्यास कैसे किया ? 'पुरुष एवेदं० (यह सारा प्रपञ्च और कर्म पुरुष ही है) इत्यादिसे श्रुति सृष्टिकी परिसमाप्तिकर सर्वात्मत्वका उपदेश करेगी। हम श्रुति और स्मृतिमें त्रिभुवन शरीरवाले प्रजापतिके निर्दिश्यमान जन्मादिको 'हिरण्यगर्भः० (पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होकर वह भूतसमूहका एकमात्र अधिष्ठाता हुआ। उसने द्युलोक और पृथिवीको धारण किया उस एक प्रजापतिदेवकी हविसे परिचर्या करें) इसप्रकार उपलब्ध करते हैं। इस श्रुतिस्थ 'समवर्तत'

सत्यानन्दी दीपिका

❀ सिद्धान्ती—वृत्तिकारका मत दिखाकर अब स्वाभिमतको 'अन्ये पुनर्मन्यन्ते' आदि से अभिव्यक्त करते हैं—'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि पूर्वमन्त्र तथा 'तस्मादग्निः' इत्यादि उत्तर मन्त्र भी भूतयोनिसे सृष्टिका प्रतिपादन करते हैं। परन्तु मध्यमें 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि मन्त्र अकस्मात् भूतयोनिका रूपोपन्यास कैसे करेगा ? अर्थात् यह मन्त्र भी पूर्वोत्तर मन्त्रोंके समान भूतयोनिसे ही सृष्टिको कहता है।

❀पूर्वकल्पमें उत्कृष्ट उपासना और कर्मोंके समुच्चय अनुष्ठानसे इस कल्पमें सब प्राणियोंके व्यष्टि लिङ्गोंमें व्यापक, सब प्राणियोंके अन्तर्गत, एवं ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और प्राणात्मक समष्टिरूप लिङ्ग शरीर उत्पन्न होता है। लिङ्ग शरीर सतरहतत्त्वोंका होता है, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि होते हैं। व्यष्टि और समष्टि भेदसे लिङ्ग शरीर दो प्रकारका है। व्यष्टि लिंग शरीरके अभिमानीको तैजस् और समष्टि लिंग शरीराभिमानीको हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा कहते हैं। सूत्रात्मा सम्पूर्ण व्यष्टि लिंगोंका अधिष्ठाता है, इसलिए हिरण्यगर्भ सर्वान्तर होनेसे सब भूतोंका अन्तरात्मा है। यदि इस पक्षको स्वीकार किया जाय तो 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इस मन्त्रसे प्रतिपाद्य परमेश्वरके रूप (सर्वात्मकत्व) का उपन्यास केवल परमात्माकी प्रतिपत्तिके लिए है अर्थात् श्रुति, स्मृति प्रति-

समवर्ततेत्यजायतेत्यर्थः। तथा 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूता ब्रह्माग्रे समवर्तते' इति च। विकारपुरुषस्यापि सर्वभूतान्तरात्मत्वं संभवति; प्राणात्मना सर्वभूतानामध्यात्ममवस्थानात्। अस्मिन्पक्षे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इत्यादिसर्वरूपोपन्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम् ॥ २३ ॥

(७ वैश्वानराधिकरणम् । सू० २४–३२)

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

पदच्छेद—वैश्वानरः, साधारणशब्दविशेषात्।

सूत्रार्थ—(वैश्वानरः) 'यस्त्वेतमेवं' इत्यादि श्रुतिमें प्रतीयमान वैश्वानर परमात्मा ही (साधारणशब्दविशेषात्) क्योंकि यद्यपि यह साधारण वैश्वानर शब्द जठराग्नि, भूताग्नि और प्रतिपादक है एवं आत्मशब्द जीव तथा परमात्माका प्रतिपादक है, तो भी 'मूर्धैव सुतेजाः' यह परमात्मामें ही सम्भव है।

* 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति, 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' (५।११।१,६) इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोगमेकै पासननिन्दया च वैश्वानरं प्रत्येषां मूर्धादिभावमुपदिश्याम्नायते—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रम विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्

पदका उत्पन्न हुआ ऐसा अर्थ है। तथा 'स वै शरीरी० (निश्चय ही वह सृष्टिके आदिकालमें होनेके कारण प्रथम शरीरी एवं प्रथम पुरुष कहलाता है। भूतोंका आदि कर्ता वह ब्रह्मा पहले उत्पन्न हुआ)। विकार पुरुष (हिरण्यगर्भ) ही सब भूतोंका अन्तरात्मा हो सकता है, क्योंकि प्राणरूपसे सब भूतोंके शरीरमें स्थित है। इस पक्षमें 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' (पुरुष ही यह प्रपञ्च, कर्म, तप [ज्ञान] और इसका फलरूप है) इत्यादि सर्वात्मकत्वका उपन्यास परमेश्व प्रतिपत्तिके लिए है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए ॥ २३ ॥

'को न आत्मा० (हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है) ऐसा और 'आत्मानमेवे (इस समय आप वैश्वानर आत्माको जानते हैं। उसीका आप हमारे प्रति वर्णन कीजिए) उपक्रमकर द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवीमें से सुतेजस्त्वादिगुण विशिष्ट एक एक सनाकी निन्दाकर और वैश्वानरके प्रति इनके मूर्धादिभावका उपदेशकर श्रुति 'यस्त्वेतमेवं० कोई 'यही मैं हूँ' इसप्रकार अभिमानका विषय होनेवाले इस प्रादेशमात्र वैश्वानर आत्माको उपा करता है वह समस्त लोकोंमें समस्त प्राणियोंमें और समस्त आत्माओंमें अन्न भक्षण करता

सत्यानन्दी दीपिका

पाद्य फलसहित सब कर्म, तप और समस्त विश्व पुरुष ही है, इस सर्वात्मकत्वके उपन्याससे पर ही भूतयोनि है। अतः भूतयोनिरूप ज्ञेय ब्रह्ममें ही 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्योंका समन्व पूर्वपक्षमें प्रधानादिकी उपासना है, सिद्धान्तमें निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान, इस प्रकार दोनोंमें अन्तर है ॥

* 'प्राचीनशाल औपमन्यवः० (छा० ५।११) (उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पु पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लविके पुत्रका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि 'को न आत्मा किं ब्रह्म' जब स्वयं निश्चय न क तो निश्चय करनेके लिए सब अरुण पुत्र उद्दालकके पास आये, किन्तु वह स्वयं भी ठीक ठी जानता था, अतः उद्दालकके साथ औपमन्यव आदि पाँचों मुनि राजा अश्वपतिके पास गए उससे वैश्वानर आत्माकी जिज्ञासा व्यक्त की। तब दूसरे दिन प्रातःकाल सबको सन्मुख बैठाक पतिने उनमेंसे प्रत्येकसे अलग-अलग यह प्रश्न किया, तुम किस आत्माकी उपासना करते

त्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५।१८।२) इत्यादि । ❀ तत्र संशयः—किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यते, उत भूताग्निः, अथ तदभिमानिनी देवता, अथवा शारीरः, आहोस्वित् परमेश्वर इति । किं पुनरत्र संशयकारणम् ? वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवतानां साधारणशब्दप्रयोगादात्मेति च शारीरपरमेश्वरयोः । तत्र कस्योपादानं न्याय्यं, कस्य वा हानमिति भवति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? जाठरोऽग्निरिति । कुतः ? तत्र हि विशेषेण क्वचित्प्रयोगो दृश्यते—'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' (बृह० ५।६) इत्यादौ । अग्निमात्रं वा स्यात्; सामान्येनापि प्रयोगदर्शनात्; 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' (ऋ० सं० १०।८८।१२) इत्यादौ । अग्निशरीरा वा देवता स्यात्; तस्यामपि प्रयोगदर्शनात् ।

उस इस वैश्वानर आत्माका मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है, चक्षु विश्वरूप (सूर्य) है, प्राण पृथग्वर्त्मा (वायु) है, देहका मध्यभाग बहुल (आकाश) है, बस्ति मूत्रस्थान ही रयि (जल) है, पृथिवी दोनों चरण हैं, वक्षस्थल वेदी है, लोम दर्भ है, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है और मुख आहवनीय है) इत्यादि कहती है । यहां संशय होता है कि क्या वैश्वानरशब्दसे जठराग्निका उपदेश किया जाता है अथवा भूताग्निका अथवा तदभिमानी देवताका अथवा जीवका अथवा परमेश्वरका ? परन्तु यहाँ संशय होनेका कारण क्या है ? [संशय होनेका कारण विषय वाक्यमें वैश्वानर और आत्मशब्द हैं] जठराग्नि, भूताग्नि और देवतामें समानरूपसे वैश्वानर शब्दका प्रयोग है एवं जीव और परमेश्वरमें साधारणरूपसे आत्मशब्दका प्रयोग है । उनमेंसे किसका ग्रहण करना उचित है और किसका त्याग, ऐसा संशय होता है । तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—उन तीनोंमें से जठराग्निका निश्चय होता है । क्योंकि उसमें ही कहीं-कहीं 'अयमग्निर्वैश्वानरो० (यह अग्नि वैश्वानर है, जो यह पुरुषके भीतर है जिससे कि यह अन्न जो भक्षण किया जाता है वह पकाया जाता है) इत्यादि श्रुतिमें विशेषरूपसे वैश्वानर शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है, अथवा केवल भूताग्नि हो, क्योंकि उनमें भी 'विश्वस्या अग्निं' (सब भुवनोंके लिए देवताओंने वैश्वानर अग्नि-सूर्यको दिनका चिह्न बनाया, क्योंकि सूर्योदय होनेपर ही दिन व्यवहार होता है) इत्यादि श्रुतिमें वैश्वानर शब्दका सामान्यरूपसे प्रयोग देखनेमें आता है । अथवा अग्नि शरीरवाला देवता हो सकता है, क्योंकि उसमें भी वैश्वानर शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है, 'वैश्वानरस्य सुमितौ० (हम वैश्वानरकी सुमितमें रहें, क्योंकि वह

सत्यानन्दी दीपिका

उपमन्युकुमार—मैं द्युलोककी उपासना करता हूं । राजा—यदि मेरे पास नहीं आते तो इस अन्यथाग्रहणके दोषसे तुम्हारा मस्तक गिर जाता । सत्ययज्ञ—मैं आदित्यको वैश्वानर समझकर उपासना करता हूं । अश्वपति—यदि तुम मेरे पास न आते तो इस अन्यथाग्रहण दोषसे अन्धे हो जाते । इसीप्रकार अन्य मुनियोंसे भी पूछा गया और यह देखकर कि उनमेंसे प्रत्येक ही वैश्वानर आत्माके किसी न किसी अङ्गकी ही उपासना करता है, उसने उनकी व्यस्तोपासनाके परिणाममें उनके उस अङ्गके भंग होनेका भय दिखलाते हुए अन्तमें अठारहवें खण्डमें वैश्वानरके स्वरूपका उपदेश किया है ।

* जैसे पूर्व अधिकरणमें वाक्यके आरम्भमें ज्ञायमान अदृश्यत्व आदि साधारण (ब्रह्म और प्रधानमें रहनेवाले) धर्म 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेषमें स्थित सर्वज्ञत्व आदि लिङ्गोंसे ब्रह्मपरक कहे गये हैं, वैसे यहाँ भी उपक्रममें स्थित साधारण वैश्वानर शब्द 'उर एव वेदि' (छा० ५।१८।२) वाक्यशेषमें स्थित होमाधारत्व लिङ्गसे जठराग्नि परक है, इस प्रकार दृष्टान्त संगतिसे 'किं तावत्' इत्यादिसे पूर्वपक्ष करते हैं ।

‘वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः’ (ऋ० सं० १।९८।१) इत्येवमाद्या
श्रुतेर्दैवतायामैश्वर्याद्युपेतायां संभवात्। अथात्मशब्दसामानाधिकरण्यादुपक्रमे च ‘को
आत्मा किं ब्रह्म’ इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन च वैश्वानरशब्दः परिणेय इत्युच्ये
तथापि शारीर आत्मा स्यात्; तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानरसंनिकर्षात्। प्रादेशमात्रमिति
विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्ने संभवात्। तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इत्येवं * प्राप्ते तत इ
मुच्यते—वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति। कुतः? साधारणशब्दविशेषात्। साधार
शब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः। यद्यप्येतावुभावप्यात्मवैश्वानरशब्दौ साधारणश
वैश्वानरशब्दस्तु त्रयस्य साधारणः, आत्मशब्दश्च द्वयस्य, तथापि विशेषो दृश्यते, येन प
मेश्वरपरत्वं तयोरभ्युपगम्यते. तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः’ इत्या
अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टोऽवस्थांतरगतः प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आध्यानायो
गम्यते; कारणत्वात्। कारणस्य हि सर्वाभिः कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वाद्द्युलोका
वयवत्वमुपपद्यते। ‘स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति’ इति च सर्वलोकाद्या
फलं श्रूयमाणं परमकारणपरिग्रहे संभवति। ‘एवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते’ (छा० ५।२४।

सुख देनेवाला भुवनोंका राजा है और श्री उसके अभिमुख है) इत्यादि श्रुतिसे ऐश्वर्य आदि
देवताके लिए वैश्वानर शब्दका प्रयोग सम्भव है। यदि [आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते] आत्मश
सामानाधिकरण्यसे और ‘को न आत्मा किं ब्रह्म’ इस प्रकार उपक्रममें केवल आत्मशब्दका प्रयोग हो
कारण और आत्मशब्दके बलसे वैश्वानर शब्द अग्नि आदिको छोड़कर आत्माके लिए है ऐसा
तो भी जीवात्मा आत्मा हो सकता है, क्योंकि भोक्ता होनेके कारण वह वैश्वानरके समीप है।
दूसरी बात यह है कि ‘प्रादेशमात्रम्’ इस विशेषणका उस उपाधि परिच्छिन्न जीवमें संभव है, इस
वैश्वानर परमेश्वर नहीं है, सिद्धान्ती—ऐसा पूर्व पक्ष प्राप्त होनेपर यह कहते हैं कि वैश्वा
परमात्मा ही हो सकता है। क्योंकि साधारण शब्दोंका विशेष है। [अग्नि आदि अ
समान प्रयोग दिखाई देने पर परमात्माके अर्थमें] साधारण-समान शब्दोंका विशेष साधा
शब्द विशेष कहलाता है। यद्यपि ‘आत्मा’ और ‘वैश्वानर’ ये दोनों शब्द साधारण शब्द
वैश्वानरशब्द तो जठराग्नि, भूताग्नि और देवता इन तीनोंमें समान है और आत्मशब्द जीवा
परमात्मा इन दो अर्थोंमें समान है, तो भी ‘तस्य ह वा०’ (उस आत्मा रूपी वैश्वानरका मूर्धा
तेजस्वी है) इत्यादि विशेष देखनेमें आता है, जिससे कि आत्मशब्द और वैश्वानरशब्द पर
परक स्वीकार किये जाते हैं। सबका कारण होनेसे द्युमूर्धत्वादि गुण विशिष्ट (अधिदैव-त्रिभुवन
-विराट् अवस्थाको प्राप्त हुआ परमेश्वर ही ध्यान (उपासना) के लिए प्रत्यगात्मरूपसे यहाँ उप
है ऐसा अवगत होता है, क्योंकि वह कारण है। कारण ही कार्यगत सब अवस्थाओंसे अवस्था
होता है, इसलिए परमेश्वरके द्युलोकादि अवयव हो सकते हैं। ‘स सर्वेषु’ (जो कोई इस प्रादेश
वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह समस्त लोकोंमें, सब भूतोंमें और समस्त आत्माओंमें
भक्षण करता है अर्थात् इनके आश्रित सब फलोंको प्राप्त करता है) इस प्रकार सब लोक आदि
श्रूयमाण फल परम कारण परमेश्वरके परिग्रहसे ही संभव है। ‘एवं हास्य सर्वे० (उसी प्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

* ‘यस्त्वेतमेवं०’ (जो भी ‘यही मैं हूँ’ इस प्रकार अभिमानका विषय होनेवाले इस
मात्र वैश्वानरकी उपासना करता है उसे सब भोग प्राप्त होते हैं) इस विषयवाक्यमें पूर्वश्रुत ‘त्रि
रूप शरीरवाला’ यह विशेष लिङ्ग है। इससे ‘आत्मा’ और ‘वैश्वानर’ ये दोनों शब्द परमेश्वरके
हैं जठराग्नि आदिके लिए नहीं, क्योंकि त्रिभुवन रूप शरीर तो जठराग्नि, भूताग्नि अथवा दे

इति च तद्विदः सर्वपाप्मप्रदाहश्रवणम्। 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चात्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम इत्येवमेतानि लिङ्गानि परमेश्वरमेवावगमयन्ति। तस्मात्परमेश्वर एव वैश्वानरः॥ २४॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

पदच्छेद—स्मर्यमाणम्, अनुमानम्, स्यात्, इति।

सूत्रार्थ—(स्मर्यमाणम्) 'यस्याग्निरास्यं' इत्यादि स्मृति प्रतिपादित त्रैलोक्यात्मक रूप अपनी अपनी मूलभूत श्रुतिका अनुमान कराता हुआ परमात्माका (अनुमानम्) ज्ञापक (स्यात्) है, (इति) अतः वैश्वानर परमात्मा ही है।

*इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैवाग्निरास्यं द्यौर्मूर्धेतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते—'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥' इति। एतत्स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः। इतिशब्दो हेत्वर्थः। यस्मादिदं गमकं तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः। यद्यपि स्तुतिरियं 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति। स्तुतित्वमपि नासति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यगीदृशेन रूपेण संभवति। 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता॥' इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या॥ २५॥

प्रकार जाननेवाला होकर अग्निहोत्र करता है उसके सब पाप भस्म हो जाते हैं) इस प्रकार उस वैश्वानर ज्ञाताके समस्त पाप नाशका श्रवण (श्रुति) और 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म शब्दोंसे उपक्रम ये सब लिङ्ग परमेश्वरका ही ज्ञान कराते हैं। इसलिए परमेश्वर ही वैश्वानर है ॥२४॥

और इससे भी परमेश्वर ही वैश्वानर है, क्योंकि 'उसका अग्निमुख है द्युलोक मूर्धा है' इस प्रकार यह स्मृति भी परमेश्वरके ही त्रैलोक्यात्मक रूपका प्रतिपादन करती है। 'यस्याग्निरास्यं० (जिसका अग्नि मुख है, द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि, पृथ्वी चरण, सूर्य नेत्र और दिशाएँ श्रोत्र हैं, उस त्रैलोक्यात्माको नमस्कार है) इस प्रकार यह स्मर्यमाण रूप भी अपनी मूल भूत श्रुतिका अनुमान कराता हुआ उस वैश्वानर शब्दके परमेश्वर परक होनेमें अनुमान-लिङ्ग-ज्ञापक है ऐसा अर्थ है। और सूत्रमें 'इति' शब्द हेतु अर्थक है, जिससे वैश्वानर शब्द त्रैलोक्यात्मक रूप परमेश्वरका ज्ञापक है, इससे भी वैश्वानर परमेश्वर ही है, यह अर्थ है। यद्यपि 'तस्मै लोकात्मने नमः' यह स्तुति है, तथापि मूल भूत वेदवाक्यके अभावमें इस प्रकार सम्यक्रूपसे स्तुति भी नहीं हो सकती। 'द्यां मूर्धानं० (विद्वान् लोग द्युलोक जिसका मस्तक, आकाश नाभि, चन्द्र सूर्य नेत्र, दिशाएँ श्रोत्र, पृथ्वी पाद कहते हैं, वह अचिन्त्यात्मा सम्पूर्ण भूतोंका प्रणेता है ऐसा जानो) इस प्रकारकी स्मृति भी यहाँ उदाहरण रूपसे देनी चाहिए ॥ २५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

नहीं हो सकता, कारण कि ये तीनों त्रिभुवन रूप शरीरके तो छोटे-छोटे अंगभूत हैं। अंग कभी पूर्ण अङ्गी नहीं हो सकता है, जैसे एक नेत्र या मस्तक शरीर नहीं हो सकता। इसलिए त्रिभुवन रूप शरीर परमात्माका ही हो सकता है, क्योंकि वह सबका कारण है, अतः 'आत्मा' और 'वैश्वानर' शब्द परमात्मा परक ही हैं ॥ २४ ॥

* 'अग्निमूर्धा चक्षुषि चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ (मु० २।१।४)

(अग्नि-द्युलोक जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी है, वायु प्राण है, सम्पूर्ण विश्व हृदय है और जिसके चरणोंसे पृथ्वी प्रकट हुई है अथवा

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

पदच्छेद—शब्दादिभ्यः, अन्तःप्रतिष्ठानात्, च, न, इति, चेत्, न, तथा, दृष्ट्युपदेशात्, असंभवात्, पुरुषम्, अपि, च, एनम्, अधीयते ।

सूत्रार्थ—(शब्दादिभ्यः) 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' 'हृदयं गार्हपत्यः' इस प्रकार वैश्वा आदि शब्दसे जठराग्नि आदि तीन अग्नियोंकी कल्पनाकी गई है। वह प्राण आहुतिका आधार क गया है। (च) और (अन्तःप्रतिष्ठानात्) 'पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' इस प्रकार श्रुतिसे वैश्वानरकी शरी अन्तर स्थिति कही गई है, अतः (न) वैश्वानरशब्दसे परमात्माका ग्रहण युक्त नहीं है, (इति चे ऐसा यदि कहो तो यह कथन युक्त नहीं है, (दृष्ट्युपदेशात्) क्योंकि जठराग्निमें ब्रह्मदृष्टिका उपदेश तथा (असम्भवात्) 'उसका द्युलोक मस्तक सूर्य नेत्र है' यह भी उसमें सम्भव नहीं है, इससे अग्नि वाजसनेयी (एनम्) वैश्वानरको (पुरुषमपि) पुरुषरूपसे भी (अधीयते) वर्णन करते हैं। इसलि यहाँ वैश्वानरशब्दसे परमेश्वरका ही ग्रहण है ।

अत्राह—न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति। कुतः ? शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठाना शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमेश्वरे संभवति; अर्थान्तरे रूढत्वात्। तथाऽग्निशब्दः एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इति। आदिशब्दात् 'हृदयं गार्हपत्यः' (छा० ५।१८।२) इत्याद्यग्नित्रे प्रकल्पनम्। 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१९।१) इत्यादिना च प्राणाहु धिकरणतासंकीर्तनम्। एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानरः प्रत्येतव्यः। तथाऽन्तःप्रतिष्ठानम् श्रूयते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। तच्च जाठरे संभवति। ❀ यदप्युक्तं—मूर्धैव सुते

पूर्वपक्षी कहता है कि वैश्वानर परमेश्वर नहीं हो सकता, किससे ? इससेकि शब्दादि और अ प्रतिष्ठान है। प्रथम तो शब्द-वैश्वानर शब्दका परमेश्वरमें प्रयोग ही सम्भव नहीं है, कारण कि अन्य अर्थोंमें रूढ है। तथा 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' (वह यह अग्नि वैश्वानर है) इस श्रुतिमें अ शब्दके साथ वैश्वानर शब्दका प्रयोग होनेसे अग्निशब्दका प्रयोग परमेश्वरमें सम्भव नहीं है। [भागस्थ 'शब्दादिभ्योः' इसमें] आदि शब्दसे 'हृदयं गार्हपत्यः' (हृदय गार्हपत्य है) इत्यादि अग्नियोंकी कल्पनाकी गई है। और 'तद्यद्भक्तं० (भोजनकालमें जो अन्न पहले प्राप्त हो उसका ह करना चाहिए।) इत्यादिसे प्राणाहुतिकी (वैश्वानरमें) अधिकरणता कही गई है। इन हेतु वैश्वानर शब्दसे जठराग्नि समझनी चाहिए। उसी प्रकार 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष भीतर स्थितको वह जानता है) यह भीतर स्थितिकी श्रुति भी है। वह जठराग्निमें संभव है। '

सत्यानन्दी दीपिका

पृथ्वी पाद हैं वह देव सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा है) यह मुण्डक श्रुति भी 'अन्यार्थदर्शन' वैश्वानरके स्वरूपके वर्णनमें उपयुक्त समझनी चाहिए।

'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥' (गी० १५।

(प्राणियोंके देहका आश्रयणकर अर्थात् देहमें स्थित होकर तथा प्राण और अपा सम्मिलित करता हुआ मैं ही वैश्वानर अग्नि होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ) इस प्रका गीता वचन भी परमेश्वरमें ही वैश्वानर शब्दका प्रयोग करता है। इसलिए परमेश्वर ही वैश्वा शब्दसे ग्राह्य है ॥ २५ ॥

❀ यद्यपि द्यु मूर्धत्वादि विशेष ईश्वर परक है और होमाधारत्वादि विशेष जठराग्नि विषयक इस प्रकार दोनों पक्षोंका समान रूपसे भान होता है, तो भी परमेश्वर विषयक विशेषका ही

इत्यादेर्विशेषात्कारणात्परमात्मा वैश्वानर इति, अत्र ब्रूमः—कुतो ह्येष निर्णयः ? यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति परमेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति। अथवा भूताग्नेरन्तर्बहिश्चावतिष्ठमानस्यैष निर्देशो भविष्यति। तस्यापि हि द्युलोकादिसंबन्धो मन्त्रवर्णादवगम्यते—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १०।८८।३) इत्यादौ। अथवा तच्छरीराया देवताया ऐश्वर्ययोगाद्द्युलोकाद्यवयवत्वं भविष्यति। तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर इति। ❀ अत्रोच्यते—न तथादृष्ट्युपदेशादिति। न शब्दादिभ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम्। कुतः ? तथा जाठरापरित्यागेन दृष्ट्युपदेशात्। परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यादिवत्। अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इह द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः (छा० ३।१४।२) इत्यादिवत्। यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत, केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत, ततो मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्विशेषस्यासंभव एव स्यात्। यथा तु देवताभूताग्निव्यपाश्रयेणाप्ययं विशेष उपपादयितुं न शक्यते, तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः। यदि च केवल एव

सुतेजा० (जिसकी मूर्धा अति तेजस्वी है) इत्यादि विशेष रूप कारणसे वैश्वानर परमात्मा है ऐसा जो कहा गया है, इस पर हम (पूर्वपक्षी) कहते हैं कि परमात्माका विशेष (द्यु मूर्धादि) तथा जठराग्निका विशेष (होमाधारत्वादि) इन दोनों प्रकारके विशेषोंका यहाँ प्रतिभान होनेसे परमेश्वर विषयक विशेषका ही ग्रहण करना चाहिए और जठराग्नि विषयक विशेषका ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा निर्णय कैसे किया ? अथवा भीतर बाहर रहे हुए भूताग्निका भी यह निर्देश हो सकता है, क्योंकि उसका भी द्युलोक आदिके साथ सम्बन्ध 'यो भानुना पृथिवीं० (जिसने—भूताग्निने इस पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्षको व्याप्त किया है) इत्यादि मन्त्रसे अवगत होता है। अथवा भूताग्नि जिसका शरीर है उस देवताके ऐश्वर्य योगसे द्युलोकादि अवयव हो सकते हैं। इसलिए वैश्वानर परमेश्वर नहीं है। सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं कि यह उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस प्रकारकी दृष्टिका उपदेश है। श्रुति स्थित वैश्वानर शब्द आदि कारणोंसे परमेश्वरका निराकरण करना ठीक नहीं है, क्योंकि उस प्रकारकी अर्थात् जठराग्निका त्याग न करनेवाली दृष्टिका उपदेश है। 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे) इत्यादिके समान यहाँ परमेश्वरकी दृष्टिका जाठर वैश्वानरमें उपदेश किया गया है। अथवा 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (वह मनोमय प्राणशरीर भारूप है) इत्यादिके समान जाठर वैश्वानर उपाधिवाला परमेश्वर यहाँ द्रष्टव्यरूपसे उपदिष्ट है। यदि यहाँ परमेश्वर विवक्षित न हो केवल जठराग्नि विवक्षित हो तो 'मूर्धैव सुतेजा' इत्यादि विशेषोंका असम्भव ही हो जायगा। किञ्च देवता और भूताग्निका आश्रयण-ग्रहण करनेसे भी 'द्यु मूर्धादि' इस विशेषका उपपादन जिस तरहसे नहीं हो सकता, वह सब अगले सूत्रमें कहेंगे। और यदि केवल

सत्यानन्दी दीपिका

किया गया है, क्योंकि वह पक्ष बलवान् है। इस अरुचिसे 'अथवा' से दूसरा पक्ष स्थापन करते हैं। जठराग्निमें द्युलोक मस्तकका सम्भव न होनेके कारण भूताग्नि (द्वितीय विकल्प) का ग्रहण किया गया है। परन्तु वह जड़ है, उसकी उपासना कैसे हो, अतः इस पक्षको भी छोड़कर उसके अभिमानी देवताका ग्रहण किया गया है, क्योंकि ऐश्वर्यके योगसे उसके द्युलोकादि अवयव हो सकते हैं। और चेतन होनेसे वह उपासना जन्य फल दाता भी है, अतः देवता वैश्वानर है, परमेश्वर नहीं।

* परमेश्वर दृष्टिसे उपास्य जठराग्नि रूप प्रतीकके वाचक अग्नि और वैश्वानर शब्दोंसे लक्षणा द्वारा द्युमूर्धत्वादि विशिष्ट ईश्वर ही लक्ष्य है। और जठराग्नि आदि उपाधि रूप पक्षमें प्रधानरूपसे ईश्वर उपास्य है। इन दोनोंमें से प्रतीक पक्षमें ईश्वर गौणरूपसे उपास्य है और उपाधि पक्षमें

जाठरो विवक्ष्येत, * पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न न् पुरुषत्वम् । पुरुषमपि चैनम घीयते वाजसनेयिनः–'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषेऽ प्रतिष्ठितं वेद' (श० ब्रा० १०।६।१।११) इति । परमेश्वरस्य तु सर्वात्मत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन् प्रतिष्ठितत्वं चोभयमुपपद्यते । ये तु 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रावयवं पठन्ति, ते मेषोऽर्थः—केवलजाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यान्न पुरुषविधत्वम् । पुरु विधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' इति । पुरुषविध च प्रकरणाद्यदधिदैवतं द्युमूर्धत्वादि पृथिवीप्रतिष्ठितत्वान्तं, यच्चाध्यात्मं प्रसिद्धं मूर्धत्वा चुबुकप्रतिष्ठितत्वान्तं तत्परिगृह्यते ॥ २६ ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, न, देवता, भूतम्, च ।

सूत्रार्थ—(अतएव) द्यु मूर्धत्व आदि धर्मोंके असंभव होनेसे ही (देवता) देवता (च अथवा (भूतम्) भूताग्नि (न) वैश्वानर शब्द वाच्य नहीं हो सकते ।

*यत्पुनरुक्तं भूताग्नेरपि मन्त्रवर्णे द्युलोकादिसंबन्धदर्शनान्मूर्धैव सुतेजा इत्याद्यव कल्पनं तस्यैव भविष्यतीति, तच्छारीराया देवताया वैश्वर्ययोगादिति, तत्परिहर्तव्यम् । अ

जठराग्नि ही विवक्षित हो, तो उसमें पुरुष (शरीर) के भीतर स्थिति मात्र संभव हो सकेगी पुरु नहीं। और 'स एषोऽग्निः० (जो पुरुष है वह यह वैश्वानर अग्नि है जो इस वैश्वानर अग्निको इ प्रकार पुरुष सदृश और पुरुषके भीतर रहनेवाला जानता है वह सर्वत्र भोग करता है) इस प्र वाजसनेयी शाखावाले वैश्वानरका पुरुषरूपसे भी अध्ययन करते हैं । सर्वात्मक होनेसे परमेश्व पुरुषत्व और पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठित (स्थिति) ये दोनों उपपन्न होते हैं । और जो लोग 'पु विधमपि, इस प्रकार सूत्रके अन्तिम भागका पाठ स्वीकार करते हैं उनके मतमें यह अर्थ है—के जठराग्निका ग्रहण करें तो उसमें पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठितत्व मात्र संभव होगा पुरुष सदृशत्व नहीं किन्तु 'पुरुषविधं० (जो इसे पुरुष सदृश और पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठित जानता है) इस प्रकार वाज नेयी शाखावाले इसका पुरुष सदृशरूपसे भी अध्ययन करते हैं। द्युमूर्धत्वादिसे लेकर पृथ्वी प्रतिष्ठि पर्यन्त यह अधिदैव और द्युमूर्धत्वादिसे लेकर चुबुक प्रतिष्ठितत्व पर्यन्त जो प्रसिद्ध अध्यात्म पु सदृशत्व है वह प्रकरणसे ग्रहण किया जाता है ॥ २६ ॥

मन्त्रमें भूताग्निका भी द्युलोक आदिके साथ सम्बन्ध देखनेमें आता है, इसलिये 'मू सुतेजाः' इत्यादि अवयव कल्पना उसीमें होगी अथवा उस शरीर वाले देवतामें ऐश्वर्य योगसे उ अवयव कल्पना होगी ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए । इस पर कहते हैं

सत्यानन्दी दीपिका

मुख्यरूपसे, इतना दोनों पक्षोंमें अन्तर है । इस प्रकार यहाँ वैश्वानर शब्दसे परमेश्वर ही ग्राह्य है

* पहले ईश्वरका प्रतीक रूपसे और जठराग्निका उपाधि रूपसे ग्रहण किया गया है । अब उसका दोनों रूपसे स्वीकार न कर केवल जठराग्निको यदि वैश्वानर रूपसे स्वीकार करें तो उ पुरुषत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि वह जड़ है । अब जठराग्निमें उक्त पुरुष सदृशत्वका भी 'पुरुषत्व आदिसे निषेध करते हैं । यद्यपि जठराग्निमें देहव्यापित्व पुरुष सदृशत्व है, तो भी प्रकरणके देहव्यापित्व-पुरुषसदृशत्व यहाँ विवक्षित नहीं है, किन्तु द्युमूर्धत्वादिसे लेकर पृथ्वी प्रतिष्ठितत्व प विराट् देहव्यापित्वरूप अधिदैव पुरुष सदृशत्व है तथा उपासकके मस्तकसे लेकर चुबुक-ठोड़ी प अङ्गोंमें ईश्वर संपत्ति अध्यात्म पुरुष सदृशत्व है, वह यहाँ विवक्षित है । अङ्गोंमें ईश्वर संपत्ति होती है यह आगे कहेंगे ॥ २६ ॥

च्यते—अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वानरः। तथा भूताग्निरपि न वैश्वानरः। नहि भूताग्नेरौष्ण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते; विकारस्य विकारान्तरात्मत्वासंभवात्। तथा देवतायाः सत्यप्यैश्वर्ययोगे न द्युमूर्धत्वादिकल्पना संभवति। अकारणत्वात्परमेश्वराधीनैश्वर्यत्वाच्च। आत्मशब्दासंभवश्च सर्वेष्वेषु पक्षेषु स्थित एव ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पदच्छेद—साक्षाद्, अपि, अविरोधम्, जैमिनिः।

सूत्रार्थ—(जैमिनिः) जैमिनि मुनिका मत है कि ब्रह्ममें (साक्षादपि) जठराग्नि रूप उपाधिके विना भी वैश्वानर शब्दका (अविरोधः) विरोध नहीं है अर्थात् वैश्वानर शब्द साक्षात् परमेश्वरका ही वाचक है।

*पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर उपास्य इत्युक्तमन्तःप्रतिष्ठितत्वाद्यनुरोधेन, इदानीं तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च कारणानि विरुध्येरन्निति। अत्रोच्यते—अन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं तावन्न विरुध्यते। नहीह पुरुषविधं 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति जाठराग्न्यभिप्रायेणेदमुच्यते; तस्याप्रकृतत्वादसंशब्दितत्वाच्च। कथं तर्हि? यत्प्रकृतं मूर्धादिचुबुकान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं

अतएव-उक्त हेतुओंसे ही वैश्वानर देवता नहीं है। तथा भूताग्नि भी वैश्वानर नहीं है, क्योंकि औष्ण्य प्रकाशमात्रात्मक भूताग्निमें द्युमूर्धत्वादि कल्पना युक्त नहीं है। किञ्च विकार अन्य विकारका आत्मा (स्वरूप) भी नहीं हो सकता। तथा ऐश्वर्य योग होनेपर भी देवतामें द्युमूर्धत्वादि कल्पना संभव नहीं है, कारण कि वह किसीका उपादान कारण नहीं है और उसका ऐश्वर्य परमेश्वरके अधीन है। इन उक्त सभी पक्षोंमें आत्मशब्दका प्रयोग भी तो असम्भव है ऐसा सिद्ध है ॥ २७ ॥

पहले 'अन्तः प्रतिष्ठितत्व' आदि वचनके बलसे कहा गया है कि जठराग्नि जिसका प्रतीक है अथवा जठराग्नि जिसकी उपाधि है ऐसा परमेश्वर उपास्य है। किन्तु यहाँ आचार्य जैमिनिका अभिमत है कि वैश्वानर शब्दसे प्रतीक और उपाधिकी कल्पनाको त्याग कर साक्षात्-सीधे ही परमेश्वरकी उपासना स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है। यदि जठराग्निको स्वीकार नहीं करें तो [परमेश्वरमें] अन्तःप्रतिष्ठितत्व वचन और शब्द आदि कारण बाधित हो जायेंगे ? तो इसके उत्तरमें कहा जाता है कि अन्तःप्रतिष्ठितत्व वचन तो विरुद्ध नहीं है, क्योंकि 'पुरुषविधं० (पुरुषके सदृश और पुरुषके अन्तःप्रतिष्ठितको जो जानता है) यह कथन जठराग्निके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है, क्योंकि यहाँ जठराग्निका प्रकरण नहीं है और अग्नि आदि शब्दोंका वाच्य नहीं है। तब किस अभिप्रायसे कहा गया है? मस्तकसे लेकर ठोड़ी तक पुरुषके अवयवोंमें जो प्रकृत पुरुषसदृश्यत्व कल्पित है उसके अभिप्रायसे

सत्यानन्दी दीपिका

* 'द्युमूर्धा' इत्यादि अवयवोंका प्रतिपादन, उपासकको सर्व फल प्राप्ति और उसके सर्वपापका नाश 'को न आत्मा किं ब्रह्म' (हमारा आत्मा कौन है ब्रह्म क्या है) इस प्रकारका उपक्रम इत्यादि हेतु (लिङ्ग) भूताग्नि अथवा देवतामें सम्भव नहीं हैं, इसलिए भूताग्नि अथवा देवता 'वैश्वानर' शब्दका वाच्यार्थ नहीं है। अतएव 'वैश्वानर' शब्दसे परमेश्वरका ग्रहण करना ही सर्वथा युक्त है ॥२७॥

* पहले अग्नि और वैश्वानर शब्द ईश्वरके लक्षक कहे गये हैं। अब प्रतीक और उपाधिके त्यागसे विराट् पुरुष स्वरूप भगवान् वैश्वानरका मस्तकसे लेकर ठोड़ी पर्यन्त अङ्गोंमें आरोप कर ध्यान (संपदुपासना) करना चाहिए, ऐसा स्वीकार करनेपर भी शब्द आदिका विरोध नहीं है, क्योंकि अग्नि और वैश्वानर शब्द योगवृत्तिसे ईश्वर वाचक हैं और 'अन्तःस्थित्व' आदि धर्म परमेश्वरमें

कल्पितं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। यथा वृक्षे शा प्रतिष्ठितां पश्यतीति तद्वत्। *अथवा यः प्रकृतः परमात्माऽध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषवि पाधिस्तस्य यत्केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। नि च पूर्वापरालोचनवशेन परमात्मपरिग्रहे तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केनचिद्योगेन वर्ति विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वाऽयं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमा सर्वात्मत्वात्। विश्वानर एव वैश्वानरः। तद्धितोऽनन्यार्थः, राक्षसवायसादिवत्। अ शब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्मविषय एव भविष्यति। गार्हपत्यादिकल्पनं प्रा हुत्यधिकरणत्वं च परमात्मनोऽपि सर्वात्मत्वादुपपद्यते ॥ २८ ॥

कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरुपपद्यत इति तां व्याख्यातुमारभते—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

पदच्छेद—अभिव्यक्तेः, इति, आश्मरथ्यः।

सूत्रार्थ—(आश्मरथ्य) आश्मरथ्य का मत है कि इति (यह) प्रादेशमात्र श्रुति (अ व्यक्तेः) अभिव्यंक्तिके लिए है अर्थात् अभिव्यक्तिके अभिप्रायसे है।

अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात्। अभिव्य

'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' ऐसा कहा गया है। जैसे 'वृक्षमें शाखाको अन्तःप्रतिष्ठित देखता है' यह व्यवहार होता है, वैसे प्रकृतमें है, अथवा जिस प्रकृत परमात्माकी अधिदैव और अ पुरुष सदृश्यत्व उपाधि है उसका उपाधिसे रहित जो केवल साक्षीरूप है उसके अभिप्रायसे 'पु ऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' ऐसा कहा गया है। पूर्वापर पर्यालोचनके बलसे परमात्माका ग्रहण निश्चित है वैश्वानर शब्द भी किसी योगवृत्तिसे परमेश्वर परक ही होगा। 'विश्वश्चायं नरः च' (सकल रूप यह नर-पुरुष) अथवा 'विश्वेषां वाऽयं नरः' (सब कार्यका कर्ता) 'विश्वे नराः' सब इसके 'विश्वानरः' अर्थात् परमात्मा, क्योंकि वह परमात्मा सर्वात्मक है। किञ्च विश्वानर ही वैश्व कहलाता है। यहाँ पर तद्धित प्रत्यय स्वार्थमें है। राक्षस, वायस आदिके समान अग्नि श अग्रणीत्व (कर्म फल प्राप्ति कराना) आदिके योगका आश्रयण करनेसे परमात्मा विषयक ही है सर्वात्मक होनेसे परमात्मामें भी गार्हपत्य आदि कल्पना और प्राणाहुतिका अधिकरणत्व युक्त है ॥

वैश्वानर आदि शब्दोंसे परमेश्वरका परिग्रह करें तो पुनः प्रादेशमात्र श्रुति कैसे उपपन्न है ऐसी आशङ्काके होनेपर उस श्रुतिका व्याख्यान करनेके लिए सूत्र आरम्भ करते हैं—

निःसीम सर्वगत परमेश्वरमें प्रादेशमात्रत्व कथन अभिव्यक्तिके लिए है। उपासकोंके

सत्यानन्दी दीपिका

संभावित हैं। इसलिए यहाँ 'अन्तःस्थित्व' शब्दका अर्थ उदर स्थित्व नहीं है, किन्तु नखसे शिखा पर्यन्त अवयव समूह रूप पुरुष शरीरमें मस्तकसे लेकर ठोड़ी पर्यन्त अंग वृक्षमें शाखा स्थित हैं, उन अंगोंमें सम्पन्न वैश्वानर पुरुषमें अन्तः प्रतिष्ठित कहलाता है।

* रक्ष एव राक्षसः' जैसे यहाँ स्वार्थमें तद्धित प्रत्यय है, वैसे 'विश्वानर एव वैश्वानरः' समझना चाहिए। 'नी' प्रत्ययान्त गमन अर्थमें अगि धातुसे अग्नि शब्द निष्पन्न हुआ है। ' गमयत्यग्रं कर्मफलं जगतो जन्म वा प्रापयतीत्यग्निरग्रणीरुक्तः' (कर्मफलको अथवा जगत्के जो प्राप्त कराता है वह अग्रणी या अग्नि कहा जाता है) इस व्युत्पत्तिके आधार पर कर्मफलको जगत्को जन्म देनेवाला तो परमात्मा ही है, अतः श्रुति आदिमें वैश्वानर अग्नि आदि शब्दसे पर का ही ग्रहण करना चाहिए भूताग्नि आदिका नहीं। सर्वात्मक होनेसे परमात्मामें गार्हपत्य आदि अग्नियोंकी कल्पना और 'प्राणाय स्वाहा' इस प्रकार प्राणाहुतिकी अधिकरणता सर्वथा युक्त है ॥

किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते । *प्रदेशेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते । अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभिव्यक्तेरुपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

पदच्छेद—अनुस्मृतेः, बादरिः ।

सूत्रार्थ—(अनुस्मृतेः) प्रादेश मात्र परिमाण वाले हृदयमें स्थित मनसे ध्येय होनेके कारण परमेश्वर प्रादेशमात्र कहा जाता है, (बादरिः) यह आचार्य बादरिका मत है ।

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठेन वाऽयं मनसाऽनुस्मर्यते तेन प्रादेशमात्र इत्युच्यते । यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते, तद्वत् । यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परिमाणं प्रस्थसंबन्धाद्व्यज्यते । नचेह परमेश्वरगतं किंचित्परिमाणमस्ति यद्धृदयसंबंधाद्व्यज्यते । तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः संभवति यथाकथंचिदनुस्मरणमालम्बनमित्युच्यते । प्रादेशमात्रत्वेन वायमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुत्यर्थवत्तायै । एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिरिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥ ३० ॥

परमेश्वर प्रादेशमात्रपरिणामरूपसे ही अभिव्यक्त होता है । अथवा प्रदेशविशेषोंमें-हृदयादि उपलब्धि स्थानोंमें विशेषरूपसे अभिव्यक्त होता है, इसलिए परमेश्वरमें भी प्रादेशमात्र श्रुति अभिव्यक्तिके कारण उपपन्न होती है । ऐसा आचार्य आश्मरथ्य मानते हैं ॥ २९ ॥

अथवा प्रादेशमात्र हृदयस्थित मनसे इस परमेश्वर का स्मरण किया जाता है । इसलिए वह परमेश्वर प्रादेशमात्र कहलाता है । जैसे प्रस्थसे नापे हुए जौ प्रस्थ† कहलाते हैं । यद्यपि यवोंका अपना परिमाण ही प्रस्थके सम्बन्धसे अभिव्यक्त होता है, परन्तु यहां परमेश्वरगत कुछ भी परिमाण नहीं है जो हृदयके सम्बन्धसे व्यक्त हो, तथापि परमेश्वरके ध्यानमें प्रयुक्त हुई 'प्रादेशमात्र' श्रुतिका किसी प्रकार आलम्बन हो सकता है, इसलिए ऐसा कहा है । अथवा [सूत्रका दूसरा अर्थ] प्रादेशमात्र श्रुतिकी सार्थकताके लिए प्रादेशमात्र न होनेपर भी उस परमेश्वरका प्रादेशमात्ररूपसे हृदयमें स्मरण करना चाहिए । इसप्रकार प्रादेशमात्र श्रुति परमेश्वरके ध्यानके लिए है ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं ॥३०॥

सत्यानन्दी दीपिका

* 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' (कठ० २।१।१२) (जो अंगुष्ठमात्र पुरुष शरीरके मध्यमें रहता है) 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः' (कठ० २।२।१२) (अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्मदेवको जो धीर विवेकी पुरुष देखते हैं) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता० १८।६१) (हे अर्जुन ! ईश्वर सर्व प्राणियोंके हृदयरूपी देशमें रहता है) इसप्रकार श्रुति और स्मृतिमें परमेश्वरकी अभिव्यक्तिका स्थान हृदय ही कहा गया है, वह हृदय प्रादेश परिमाण वाला है । अंगुष्ठ और तर्जनीके फैलानेमें जितना स्थान आता हो वह प्रादेश कहलाता है । इसप्रकार परमेश्वरमें प्रादेश उपाधिके कारण प्रादेश परिमाणका व्यवहार होनेमें कोई विरोध नहीं है ॥ २९ ॥

---

† 'अष्टमुष्टिर्भवेत् कुञ्चिः कुञ्चयोऽष्टौ तु पुष्कलम् । पुष्कलानि च चत्वारि आढ़कः परिकीर्तितः ।' इस मतके अनुसार २५६ मुष्टिका एक आढ़क होता है, उसका चतुर्थांश पुष्कल प्रस्थ कहलाता है । किसीके मतमें १०२४ मुष्टिका एक आढ़क होता है, उसका चतुर्थांश २५६ मुष्टिका एक प्रस्थ होता है ।

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥३१॥

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।

पदच्छेद—सम्पत्तेः, इति, जैमिनिः, तथा हि, दर्शयति ।

सूत्रार्थ—(सम्पत्तेः) मस्तकसे लेकर ठोड़ी पर्यन्त प्रादेश मात्र स्थानमें सम्पत्तिसे वैश्वान उपास्य प्रतिपादित करनेसे परमेश्वरमें भी प्रादेशमात्रत्व युक्त है । ऐसा (जैमिनिः) जैमिनी आ मानते हैं । (तथाहि दर्शयति) वैसे ही वाजसनेयी ब्राह्मण भी मस्तकादिसे लेकर ठोड़ी प स्थानमें वैश्वानरका सम्पादन करते हुए प्रादेशमात्र सम्पत्तिको परमात्मामें दिखलाता है ।

* संपत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुतिः । कुतः ? तथा हि—समानप्रकरणं वा सनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तांस्त्रैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवानध्यात्ममूर्धप्रभृ चुबुकपर्यन्तेषु देहावयवेषु संपादयत्प्रादेशमात्रसंपत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति-'प्रादेशमात्रमि वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नास्तथा नु व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपादयिष्यामी स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति । चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैप वै सु वैश्वानर इति । नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुपदि वाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति । चुबुकमु शन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति' । चुबुकमित्यधरं मुखफलकमुच्यते । यद्यपि वाजसने द्यौरतिष्ठात्वगुणा समाम्नायत आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुणः । छान्दोग्ये पुनर्द्यौः सुतेजस्त्व

अथवा प्रादेशमात्र श्रुति सम्पत्ति निमित्तक हो सकती है, क्योंकि इसी प्रकार समान प्र वाला वाजसेनयिब्राह्मण द्यु आदि लोकसे लेकर पृथिवी पर्यन्त त्रैलोक्यस्वरूप वैश्वानरके अव अध्यात्म मस्तक आदिसे लेकर चुबुक पर्यन्त दैहिक अवयवोंमें सम्पन्न करता हुआ परमेश्वरकी प्रा मात्र सम्पत्ति दिखलाता है । 'प्रादेशमात्रमिव वै देवाः० (पूर्वकालमें देवताओंने अपरि ईश्वरको भी सम्पत्ति [उपासना] से प्रादेशमात्रके समान जानकर प्राप्त किया । जैसे मैं वैश्वा प्रादेशमात्र सम्पन्नकर सकूँ वैसे उनको [द्युलोकादि अवयवोंको] कहूँगा, ऐसा उसने कहा, मस्त उपदेशकर उसने कहा निश्चय यह मेरा मस्तक भू आदि लोकोंसे ऊपर स्थित है, अतः द्युलोक वै नर है । नेत्रोंका उपदेशकर कहा, निश्चय यह अत्यन्त तेज वाला वैश्वानर है । नासिकाका उपदे कहा, निश्चय यह भिन्न-भिन्न गति वाला वायु वैश्वानर है । मुखस्थ आकाशका उपदेशक निश्चय यह व्यापक वैश्वानर है । मुखस्थ जलका उपदेशकर कहा, निश्चय यह रयिरूप जल वैश् है । चिबुकका उपदेशकर कहा, निश्चय यह प्रतिष्ठारूप वैश्वानर है) मुखके नीचेके भागको अर्थात् मुखफलक कहते हैं । यद्यपि वाजसनेयकमें द्युलोकको अतिष्ठात्व (ऊपर स्थित) गुणवाला

सत्यानन्दी दीपिका

* इसप्रकार राजा अश्वपतिने प्राचीनशाल आदि ऋषियोंसे प्रतिज्ञाकर अपने मस्तकको नरका मस्तक कहा है । अभिप्राय यह है कि अध्यात्ममस्तकके साथ सम्पदुपासनासे अभेदक करना चाहिए । इसीप्रकार नेत्रादिमें भी समझना चाहिए अर्थात् अपने नेत्रपर संकेतकर अति तेजस्वी सूर्य वैश्वानरका नेत्र है । यहां नासिका शब्दसे नासिकामें रहनेवाला प्राण अध्यात्म प्राणमें वैश्वानरके अधिदेव प्राण वायुकी दृष्टि करनी चाहिए । मुखस्थ आकाश (आकाश) में अधिदैव आकाशकी दृष्टि करनी चाहिए । मुखस्थ लार (अध्यात्म जल) में बस्तिमें स्थित अधिदैव सरित्समुद्रादिरूप जलकी दृष्टि करनी चाहिए । अध्यात्म चुबुकमें (वैश्वानरके पादरूप पृथिवी) की दृष्टि करनी चाहिए । इसप्रकार प्रत्येक अध्यात्म अंगोंमें अधिदेव अंगोंकी स्थितिरूप सम्पत्ति करके पुनः अधिदैव अंगोंसे अभिन्न अध्यात्म अंगोंमें अभे समष्टि वैश्वानर परमात्माको स्थापनकर उपासना करे ।

समाम्नायत आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुणः। तथापि नैतावता विशेषेण किंचिद्धीयते; प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात्। सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च। संपत्तिनिमित्तां प्रादेशमात्रश्रुतिं युक्ततरां जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥३१॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

पदच्छेद—आमनन्ति, च, एनम्, अस्मिन्।

सूत्रार्थ—(च) और (आमनन्ति) जाबालशाखा वाले कहते हैं कि (अस्मिन्) प्रादेश परिमाणमें मस्तक और ठोड़ीके मध्यमें (एनम्) परमेश्वरकी उपासना करनी चाहिए।

* आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन् मूर्धचुबुकान्तराले जाबाला—'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति' (जाबाल० १) तत्र चेमामेव नासिकां या सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति सा नासीति वरणा नासीति निरुच्य। पुनरप्यामनन्ति—'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्युलोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति' (जाबा० १) तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः। * अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया। प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः। अभिगतो वाऽयं प्रत्यगात्मत्वाद्विमानश्च मानवियोगा-

---

आदित्यको सुतेजस्त्व गुण वाला कहा गया है। तथा छान्दोग्यमें द्युलोकको सुतेजस्त्व गुणवाला और आदित्यको विश्वरूपत्व गुणवाला कहा है, तथापि इतने विशेषसे कुछ हानि नहीं होती, क्योंकि प्रादेशमात्र श्रुति समान ही है और सब शाखाओंमें प्रतीयमान वैश्वानर उपासना समान (एक) है, इसलिए प्रादेशमात्र श्रुतिको संपत्ति निमित्तक मानना ही विशेष युक्त है, यह जैमिनि आचार्यका मत है ॥३१॥

जाबाल शाखावाले इस मस्तक और चिबुकके बीचमें परमेश्वरका स्थान कहते हैं। 'य एषो०' (जो यह अनन्त, अपरिच्छिन्न, अव्यक्त आत्मा है वह जीवमें प्रतिष्ठित है। वह जीव किसमें प्रतिष्ठित है? वरणा और नासिके बीचमें प्रतिष्ठित है। वरणा और नासि क्या है?) और वहाँ इस भ्रुव सहित नासिकाका ही वरणा नासि ऐसा निर्वचन कर. जो इन्द्रिय कृत सब पापोंका वारण करती है वह वरणा (भ्रुव) है। और जो इन्द्रिय कृत सब पापोंका नाश करती है वह नासि (नासिका) है, ऐसा निर्वचन कर कहते हैं 'कतमच्चास्य०' (इसका कौन सा स्थान है, भ्रू और नासिकाकी जो संधि है वह इस द्युलोक और परलोककी सन्धि है) इसलिए परमेश्वरमें प्रादेशमात्र श्रुति उपपन्न है। अभिविमान श्रुति प्रत्यगात्माके अभिप्रायसे है। प्रत्यगात्मरूपसे सब प्राणी जिसको जानें वह अभिविमान है। अथवा प्रत्यगात्मरूपसे अभिगत और विमान (परिमाण रहित) होनेके कारण वह अभिविमान

सत्यानन्दी दीपिका

* परमेश्वरमें सम्पत्तिसे प्रादेशमात्र श्रुतिकी उपपन्नता दिखलाकर अब इस विषयमें दूसरी श्रुतिकी सम्मति 'आमनन्ति' आदि भाष्यसे दिखलाते हैं। अत्रिने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया कि जीवका स्थान क्या है? याज्ञवल्क्य—भ्रू तथा घ्राणकी जो सन्धि है अर्थात् दो भोंहोंका जो मध्य स्थान है वह स्वर्गलोक और ब्रह्मलोककी सन्धिरूपसे ध्यान करने योग्य है। दोनों लोकोंकी सन्धिका स्थान ही जीवका स्थान है। उसमें स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोककी दृष्टि करनी चाहिए। जीव स्थानमें प्रत्यक्‌रूपसे परमात्मा उपास्य है, अतः परमेश्वरमें प्रादेशमात्र श्रुति सर्वथा उपपन्न है।

* अधिदैव द्युमूर्धादिको अध्यात्म मूर्धादिमें सम्पादनकर अवयवोंके अभेदसे अवयवीका अभेद होनेपर द्युमूर्धादि विशिष्ट वैश्वानरकी आत्मरूपसे उपासना करना, यह प्रथम पक्ष है। और वैश्वानरके द्युमूर्धादिको अपने मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त छः अंगोंमें सम्पादनकर सर्वात्मा वैश्वानर ध्येय है, यह

दित्यभिविमानः । अभिविमिमीते वा सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमानः । तस्मात्परमेश्वरो वैश्वानर इति सिद्धम् ॥३२॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गानां प्रायो ज्ञेयब्रह्मविषयाणां विचारः]

इस पादमें ज्ञेय ब्रह्मविषयक अस्पष्ट ब्रह्म लिङ्गोंका प्रायः विचार है ।

(१ द्युभ्वाद्यधिकरणम् सू० १-७)

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ ॥

पदच्छेद—द्युभ्वाद्यायतनम्, स्वशब्दात् ।

सूत्रार्थ—(द्युभ्वाद्यायतनम्) 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' इत्यादि श्रुतिमें क गया है कि द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्ष आदि लोक जिसमें कल्पित हैं, वह प्रतीयमान आश्रय ब्र ही है, (स्वशब्दात्) क्योंकि ब्रह्मका वाचक आत्मशब्द श्रुतिमें है ।

* इदं श्रूयते—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जान आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मुण्ड० २।२।५) इति अत्र यदेतद्द्युप्रभृतीनामो तत्ववचनादायतनं किंचिदवगम्यते, तत्किं परं ब्रह्म स्यात्, आहोस्विदर्थान्तरमिति संदिह्यते तत्रार्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति प्राप्तम् । कस्मात् ? 'अमृतस्यैष सेतुः' इति श्रवणात्

है । अथवा जगत्का कारण होनेसे वह सबका निर्माता है, अतः अभिविमान है । इससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही वैश्वानर है ॥ ३२ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्कर भाष्य-भाषानुवादके प्रथम अध्यायका द्वितीय पाद समाप्त

'यस्मिन् द्यौः पृथिवी० (जिसमें द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष, और सम्पूर्ण प्रा (इन्द्रियों) सहित मन गुंथा हुआ है, उस एक आत्माको ही जानो, और सब बातोंको छोड़ दो यही अमृत—मोक्ष प्राप्तिका सेतु—साधन है) ऐसी श्रुति है । इस श्रुतिमें द्युलोक आदि 'ओतप्रोत' इस वचनसे जो यह कोई एक आश्रय प्रतीत होता है । क्या वह परब्रह्म है अथवा कोई अन्य पदार्थ । इसप्रकार सन्देह होता है । पूर्वपक्षी—यहां कोई अन्य पदार्थ ही आश्रय है, ऐसा प्र होता है, क्योंकि 'अमृतस्यैष सेतुः (यह अमृतका सेतु है) ऐसी श्रुति है । यह लोकमें प्रसिद्ध है

सत्यानन्दी दीपिका

द्वितीय पक्ष है । और द्युमूर्धादि उपलक्षित अनन्त अव्यक्त चिदात्माकी चिदाभासरूप जीवमें स्थिति सम्पादनकर चिदाभासरूप जीवको नासिका और भ्रूके मध्यमें सम्पादन करे अर्थात् नासिकाके स्थान दो भ्रुवोंके मध्यमें स्थित जीवरूप चिदाभासमें बिम्बरूपसे साक्षी व अधिष्ठानरूपसे स्थित चिदा विश्वेश्वररूप वैश्वानरका प्रत्यगात्मरूपसे ध्यान करना चाहिए, यह तृतीय पक्ष है । इन सब पक्षोंका प लोचन करनेपर यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही वैश्वानर है जठराग्नि आदि नहीं । अतः वैश्वानर वा उपास्य ब्रह्ममें ही संगत होता है । पूर्वपक्षमें जठराग्नि आदिकी उपासना है, सिद्धान्तमें ब्रह्मकी ॥३

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के प्रथम अध्यायका द्वितीय पाद समाप्त

* * *

* द्वितीय पादमें 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो' (उस वैश्वानर आत्माका सुदीप्त मूर्धा है औ विश्वरूप सूर्य चक्षु है) इत्यादि सविशेष वस्तुके प्रतिपादक वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय दिखलाया ग है । अब निर्विशेष वस्तुके प्रतिपादक वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय दिखलानेके लिए तृतीय पाद आर

पारवान्हि लोके सेतुः प्रख्यातः। नच परस्य ब्रह्मणः पारवत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुं, 'अनन्तमपारम्' (बृह० २।४।१२) इति श्रवणात्। अर्थान्तरे चायतने परिगृह्यमाणे स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं परिग्रहीतव्यं; तस्य कारणत्वादायतनत्वोपपत्तेः। श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्, 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' (बृह० ३।७।२) इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणात्। शारीरो वा स्यात्। तस्यापि भोक्तृत्वाद्भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेरित्येवं * प्राप्त इदमाह—द्युभ्वाद्यायतनमिति। द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ, द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि। यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति। कुतः? स्वशब्दात्, आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति। आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते, नार्थान्तरपरिग्रहे। क्वचिच्च स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते—'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा०

सेतु पर तीरसे सम्बद्ध होता है। किन्तु परब्रह्ममें पारवत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'अनन्तमपारं' (वह अनन्त और अपार है) ऐसी श्रुति है। अन्य पदार्थको आश्रय मानना स्वीकृत हो तो [सांख्य] स्मृति प्रसिद्ध प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वह कारण होनेसे सबका आश्रय हो सकता है। अथवा श्रुति प्रसिद्ध वायु आश्रय हो सकता है, कारण कि 'वायुर्वै गौतम० (हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है; वायु रूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूत समुदाय गुँथे हुए हैं) इसप्रकार श्रुति वायुको भी विधारक कहती है। अथवा जीवात्मा आश्रय हो सकता है, क्योंकि भोक्ता होनेसे वह भी भोग्य प्रपञ्चके प्रति आश्रय हो सकता है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—'द्युभ्वाद्यायतनम्' इत्यादि। द्यौश्च भूश्च-द्यु और भू-द्युभुवौ हैं, वे द्यु और भू हैं आदि जिसके वह यह द्युभ्वादि है। इस वाक्यमें [अस्मिन्द्यौ-श्रुति वाक्यमें] द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, मन, प्राण आदि स्वरूप जो यह जगत् ओत-प्रोत भावसे (गुँथा) निर्दिष्ट है, उसका आश्रय परब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि स्वशब्द है अर्थात् आत्मशब्द है, ऐसा अर्थ है। यहां 'तमेवैकं जानथ० (उस एक आत्माको ही जानो) इस श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग है और आत्मशब्द परमात्माके ग्रहण करनेमें ही ठीक-ठीक उपपन्न होता है। अन्य पदार्थ (जीव, प्रधानादि) के ग्रहण करनेमें नहीं। और कहीं-कहीं 'सन्मूलाः सोम्येमाः० (हे सोम्य! इसप्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा

सत्यानन्दी दीपिका

होता है। पूर्व वैश्वानर अधिकरणमें 'तीन लोक-स्वरूप' वैश्वानर ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा वर्णन किया गया है। अब तीनों लोकोंका आयतन ब्रह्मसे भिन्न प्रधान आदिको कहनेके लिए पूर्वपक्षी दृष्टान्त संगतिसे अपने पक्षका स्थापन करता है। ब्रह्म 'अनन्त-अपार' है इससे वह किसीका आश्रय नहीं हो सकता, आश्रय तो मर्यादित होता है। इसलिए प्रधान ही को आश्रय मानना चाहिए। प्रधान, वायु और जीवात्मा इन तीनोंमें से प्रधान आयतनरूपसे स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह श्रुतिसे प्रतिपाद्य नहीं है, इसलिए यहां वायुको ग्रहण किया गया है, क्योंकि 'वायुर्वै गौतम' इत्यादि श्रुतिसे प्रसिद्ध है। किन्तु प्रधान और वायु इन दोनोंमें श्रुति प्रतिपादित आत्मशब्दकी उपपत्ति न होनेसे जीवात्माका ग्रहण किया गया है, क्योंकि वह भोक्ता होनेसे भोग्य प्रपञ्चके प्रति आश्रय हो सकता है और उसमें श्रुति प्रतिपाद्य आत्मशब्दका प्रयोग भी होता है, इसलिए जीवका आश्रयरूपसे ग्रहण करना ही युक्त है।

* 'द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ' द्युलोक और भूलोक ये दोनों 'द्यु भू' कहे जाते हैं, यह द्वन्द्व समास है, इसके अनन्तर 'द्यु और भू आदि जिसके हैं वह द्युभ्वादि है' यह बहुव्रीहि समास है। द्यु, भू

६।८।४) इति । ❀ स्वशब्देनैव चेह पुरस्तादुपरिष्टाच्च ब्रह्म संकीर्त्यते—'पुरुष एवेदं विश्वं क
तपो ब्रह्म परामृतम्' इति । 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण (मुण्ड० २।२।११) इति
च । तत्र त्वायतनायतनवद्भावश्रवणात् । सर्वं ब्रह्मेति च सामानाधिकरण्यात् । यथानेकात्म-
को वृक्षः शाखा स्कन्धो मूलं चेत्येवं नानारसो विचित्र आत्मेत्याशङ्का संभवति, तां निवर्त-
यितुं सावधारणमाह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति । एतदुक्तं भवति—न कार्यप्रपञ्चवि-
शिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः । किं तर्हि ? अविद्याकृतं कार्यप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयन्त-
स्तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानथैकरसमिति । यथा यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानयेत्युक्त
आसनमेवानयति न देवदत्तम्, तद्वदायतनभूतस्यैवैकरसस्यात्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते ।
❀ विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति
(का० २।४।११) इति । सर्वं ब्रह्मेति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चविलापनार्थं, नानेकरसता-

---

सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है अर्थात् सत् ही प्रजाकी उत्पत्तिमें कारण है, स्थिति
आश्रय है और लयमें प्रतिष्ठा है) इसप्रकार श्रुति स्वशब्दसे ही ब्रह्मको आयतन कहती है। 'पु
एवेदं० (पुरुष ही यह सब कर्म और तप है, पर और अमृतरूप ब्रह्म है) 'ब्रह्मैवेदम० (यह अमृत
ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, दक्षिण और उत्तर-दायीं, बाँयी ब्रह्म है) इन श्रुतियोंमें आ
और पीछे स्वशब्दसे ही ब्रह्मका संकीर्तन है। और इन श्रुतियोंमें आधार आधेयभावसे ब्रह्म
श्रवण होता है, किञ्च 'सर्वं ब्रह्म' (सब ब्रह्म है) ऐसा सामानाधिकरण्य है, इसलिए जैसे शा
स्कन्ध और मूलके भेदसे वृक्ष अनेकात्मक है, वैसे नानारस (भिन्न-भिन्न स्वरूप) वाला वि
आत्मा है, ऐसी आशङ्का हो सकती है, उसका निवारण करनेके लिए 'तमेवैकं जानथ आत्मान
इस प्रकार सावधारण श्रुति कहती है। तात्पर्य यह है कि कार्य प्रपञ्च विशिष्ट विचित्र आत्मा वि
नहीं है, किन्तु अविद्या कृत कार्य प्रपञ्चका विद्यासे बाध करते हुए आयतनभूत एकरस उसी
आत्माको जानो। जैसे 'जिसपर देवदत्त बैठा है उसे ले आओ' ऐसा कहने पर [श्रोता] आसनको
ले आता है देवदत्तको नहीं, वैसे ही आश्रयभूत एकरस आत्मा ही विज्ञेयरूपसे उपदिष्ट है। मि
शरीरादि विकारोंमें आत्माभिमान करनेवालेकी 'मृत्योः स मृत्युम०' (जो अद्वितीय ब्रह्ममें भेद
देखता है वह जन्म मरण परम्पराको प्राप्त होता है) इस प्रकार निन्दा सुनी जाती है। 'सर्वं ब्र
(सब ब्रह्म है) यह सामानाधिकरण्य तो प्रपञ्चके बाधके लिए है, ब्रह्मकी अनेकरसता प्रतिपा

सत्यानन्दी दीपिका

आदिमें है जिसके ऐसे अन्तरिक्ष, मन, प्राण आदिरूप जगत्का आश्रय पर ब्रह्म ही हो सकता
क्योंकि 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इत्यादि श्रुतियोंमें आयतनके लिए आत्मशब्दका प्रयोग कि
गया है। यद्यपि आत्मशब्दसे जीव प्रसिद्ध है, तथापि उपाधिसे परिच्छिन्न जीव कार्य कारणात्मक स
जगत्का आयतन नहीं हो सकता है, इसलिए आत्मशब्द ठीक ठीक ब्रह्ममें ही उपपन्न होता है।

* 'यस्मिन्द्यौ पृथिवी' इस विषय वाक्यसे पूर्व 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इस पूर्व और '
वेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म' इस उत्तर वाक्यमें पुरुष अथवा ब्रह्म शब्द भी ब्रह्मका ही स्पष्ट वर्णन क
है, अत· ये दोनों मन्त्र ब्रह्म परक हैं, 'यस्मिन्द्यौ पृथिवी' यह मध्यवर्ती मन्त्र भी अवश्य ब्रह्म
प्रतिपादक है। इस प्रकार ब्रह्म ही स्वर्गादि प्रपञ्चका आयतन सिद्ध होता है 'तमेवैकं०' इस
'एव' अवधारणार्थक (निश्चयार्थक) है। और 'श्रुति एक' शब्दसे अनेककी व्यावृत्ति कर आत्मा
ज्ञेयरूपसे निर्देश करती है। इस प्रकार निर्विशेष (निर्गुण) ब्रह्म ही ज्ञेय है सविशेष (सगुण)

❀ 'मृत्योः स मृत्यमाप्नोति' यह श्रुति भेदकी निन्दा करती है, और 'सर्वं ब्रह्म' (
ब्रह्म है) यह सामानाधिकरण्य श्रुति वाक्य ब्रह्ममें एकरूपता-एकत्वका प्रतिपादन करता है।

प्रतिपादनार्थम् । 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृह० ४।५।१३) इत्येकरसताश्रवणात् । तस्माद्द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म। यत्तूक्तं—सेतुश्रुतेः सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यमिति । अत्रोच्यते—विधारणत्वमात्रमत्र सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते, न पारवत्त्वादि । नहि मृदारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृदारुमय एव सेतुरभ्युपगम्यते । सेतुशब्दार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव न पारवत्त्वादि; षिञो बन्धनकर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः । *अपर आह—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति यदेतत्संकीर्तितमात्मज्ञानं, यच्चैतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विमोचनं, तदत्रामृतत्वसाधनत्वात् 'अमृतस्यैष सेतुः' इति सेतुश्रुत्या संकीर्त्यते, न तु द्युभ्वाद्यायतनम् । तत्र तदुक्तं सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भाव्यमित्येतदयुक्तम् ॥१॥

करनेके लिए नहीं है, क्योंकि 'स यथा सैन्धवघनो० (जिस प्रकार नमकका डला अन्तर और बाह्यसे रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, हे मैत्रेयी ! उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर बाह्य भेदसे शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ज्ञानैकरस ही है) इस प्रकार आत्मा एक रस (एक रूप) सुना जाता है । अतएव द्युलोक, भूलोक आदिका आयतन पर ब्रह्म है । और जो यह कहा गया है कि श्रुतिमें सेतु शब्द है और सेतु पारवान् होता है, अतः द्यु भू लोकका आश्रय ब्रह्मसे अन्य पदार्थ होना चाहिए । उसके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ सेतुश्रुतिसे उसमें केवल विधारणत्व ही विवक्षित है पारवत्त्व आदि नहीं । लोकमें मृत्तिका और लकड़ीका बना हुआ सेतु (पुल) देखनेमें आता है, परन्तु यहाँ (प्रकरणमें) मृत्तिका और दारुमय ही सेतु स्वीकृत नहीं है, इसलिए सेतुशब्दका अर्थ भी विधारणत्व ही है पारवत्त्व आदि नहीं, कारण कि बन्धनार्थक 'षिञ्' धातुसे सेतु शब्द निष्पन्न होता है । दूसरा कहता है—'तमेवैकं' (उसी एक आत्माको जानो) इसप्रकार जो आत्मज्ञानका संकीर्तन किया गया है । किञ्च 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' आत्मज्ञानातिरिक्त अनात्मपदार्थ प्रतिपादक जो अन्य वाणियोंके त्यागका वर्णन किया है, वह यहां अमृतरूपमोक्षका साधन होनेसे 'अमृतस्यैष सेतुः' इसप्रकार सेतु श्रुतिसे स्पष्ट होता है, द्यु भू आदिके आश्रयका कथन नहीं होता । इसके अतिरिक्त जो यह कहा गया है कि सेतु श्रुतिसे द्यु-भू आदिका आयतनरूपसे ब्रह्मसे अन्य पदार्थ होना चाहिए, यह भी ठीक नहीं है ॥ १ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

स्थाणुमें अविद्यासे आरोपित चौर स्थाणु रूप है उससे भिन्न नहीं, वैसे अविद्यासे आरोपित यह सारा प्रपञ्च परमार्थतः ब्रह्म है, यह प्रपञ्चके बाधके लिए है, 'जो ब्रह्म है वह प्रपञ्च है' इस प्रकार ब्रह्मके भिन्न-भिन्न स्वरूपके प्रतिपादनके लिए नहीं है । इसमें 'स यथा सैन्धवघनो' यह नियामक श्रुति है, इसलिए सम्पूर्ण प्रपञ्चका आश्रय-अधिष्ठान ब्रह्म ही है । यद्यपि स्वयं ब्रह्म ही अमृत स्वरूप है, तथापि भेदकी कल्पना कर 'अमृतस्यैष सेतुः' ऐसा कहा गया है । 'सेतु' शब्दका अर्थ पारवत्त्व इसलिए भी नहीं हो सकता कि बन्धनार्थक 'षिञ्' धातुसे 'तुन्' प्रत्यय होकर सेतु शब्द निष्पन्न हुआ है 'सिनोति बध्नाति इति सेतुः' इस व्युत्पत्तिसे भी यहाँ सेतु शब्दका अर्थ विधारण है ।

* द्यु-भू आदिका आश्रयरूप ब्रह्म सेतु शब्दका अर्थ कहकर सेतु श्रुतिकी सार्थकता दिखलाई गई, अब 'अपर आह' इत्यादिसे अन्य प्रकार से सेतु श्रुतिका अर्थ करते हैं । इससे पारवत्त्वकी शङ्का और आयतनरूपसे प्रधानादिकी कल्पना नहीं हो सकती । 'अमृतस्यैष सेतुः' श्रुतिस्थ इस सेतु शब्दका अर्थ ब्रह्म नहीं किन्तु ब्रह्मज्ञान है, क्योंकि वह अमृतरूप मोक्षका हेतु है । यदि द्यु, भू आदिके आश्रयरूपसे प्रधानको स्वीकार भी किया जाय, तो भी ब्रह्मज्ञानसे उपदिष्ट अमृतरूप फल जड़ प्रधानके ज्ञानसे असम्भव है, इसलिए यहां प्रधान आदिके ग्रहणका प्रसंग ही नहीं है ॥ १ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥२॥

सूत्रार्थ—'तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः' इत्यादि श्रुतियोंसे 'मुक्त पुरुषोंसे ब्रह्मप्राप्य है,' वर्णन किया गया है, अतः द्यु भू आदिका अधिष्ठान ब्रह्म ही है।

* इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। यस्मान्मुक्तोपसृप्यताऽस्य व्यपदिश्य दृश्यते। मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम्। देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, तत जनादौ रागस्तत्परिभवादौ द्वेषस्तदुच्छेददर्शनाद्भयं मोहश्चेत्येवमयमनन्तभेदोऽनर्थ संततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः। तद्विपर्ययेणाविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यं गम्यमे द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य व्यपदेशो भवति। कथम्? 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंश क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८) इत्युक्त्वा ब्रवीति—'तथा वि मरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्ड० ३।२।८) इति। ब्रह्मणश्च मुक्तोप प्रसिद्धं शास्त्रे—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्य समश्नुते' (बृह० ४।४।७) इत्येवमादौ। प्रधानादीनां तु न कचिन्मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसि

* अपि च 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' इति वाग्विमोक विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते। तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दृष्टम्—'तमेव धीरो वि

और इससे द्यु, भु आदिका आयतन परब्रह्म ही है, क्योंकि उसमें मुक्तोंसे प्राप्यताका दृष्ट है अर्थात् वह मुक्त पुरुषोंसे प्राप्य कहा गया है। मुक्तोंसे प्राप्यको मुक्तोपसृप्य कहते हैं। अनात्मपदार्थोंमें 'मैं हूँ' ऐसी आत्मबुद्धि अविद्या है। उससे उन देहादिमें सन्मान आदि उनके अपमान आदिमें द्वेष, उनके नाश दर्शनसे भय और मोह आदि अनेक प्रकारका वर्तमान सर्वत्र फैला हुआ अनर्थ समुदाय हम सबको प्रत्यक्ष है। परन्तु इसके विपरीत अविद्या, द्वेष आदि दोषोंसे मुक्त हुए पुरुषोंसे यह ब्रह्म उपसृप्य-प्राप्य है। द्यु भु आदिके आयतन (को प्रकृतकर व्यपदेश है। कैसे? 'भिद्यते हृदयग्रन्थि० (उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार करने इस जीवकी हृदय ग्रंथि टूट जाती है; सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते इसप्रकार कहकर श्रुति पुनः कहती है 'तथा विद्वान्० (उसी प्रकार विद्वान्, नाम-रूपसे मुक्त परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है) और 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते० (जिस समय इसके हृ आश्रित ऐहिक एवं पारलौकिक भोगकी सम्पूर्ण वासनाएं समूल नष्ट हो जाती हैं उस समय धर्मा यह मनुष्य अमृत हो जाता है, इसी शरीरमें उसे ब्रह्म प्राप्ति हो जाती है) इत्यादि ब्रह्म मुक्तपुरुषोंसे प्राप्य है यह प्रसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त 'तमेवैकं जानथ० (उस एक आ ही जानो और सब बातोंको छोड़ दो। यही अमृत [मोक्ष प्राप्ति] का सेतु [साधन] है) प्रकार वाणीके त्याग पूर्वक भू आदिका आश्रय (ब्रह्म) ही यहां विज्ञेयरूपसे कहा गया है। धीरो विज्ञाय० (उसे ही जानकर बुद्धिमान् ब्राह्मण उसमें प्रज्ञा करे अर्थात् वाक्यार्थ

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि ब्रह्म सबका अपना स्वरूप होनेसे नित्य प्राप्त है, तो भी अविद्यासे स्वभिन्न-सा होता है। जब 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों द्वारा इसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाता है, तब जैसे गङ्गा आदि नदियाँ नाम और रूपको छोड़कर समुद्ररूप हो जाती हैं यह विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर ज्योतिः स्वरूप आत्माको प्रत्यक्रूपसे प्राप्त होता है। कण्ठ समान अविद्याकी निवृत्तिसे ब्रह्म प्राप्त-सा प्रतीत होता है, बस इसे ही मुक्त पुरुषोंद्वारा प्राप्य कहा गया

*'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु (पा० शि० १३) (हृदय, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दांत, नासिका, ओठ, तालु ये आठ

प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' । (बृह० ४।४।२१) इति । तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥२॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥३॥

पदच्छेद—न, अनुमानम् , अतच्छब्दात् ।

सूत्रार्थ—(अनुमानम्) सांख्य शास्त्रमें कल्पित प्रधान (न) द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं हो सकता, (अतच्छब्दात्) क्योंकि श्रुतिमें प्रधान प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है ।

* यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह । नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम् । कस्मात् ? अतच्छब्दात् । तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः । न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वाऽवगम्येत । तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽत्रास्ति—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) इत्यादिः । अत एव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतनत्वे नाश्रीयते॥३॥

प्राणभृच्च ॥४॥

पदच्छेद—प्राणभृत्, च ।

सूत्रार्थ—प्राणभृत्–जीव भी द्यु-भू आदिका आश्रय नहीं है, क्योंकि उसका प्रतिपादक शब्द नहीं है ।

* यदपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च संभवति तथाप्युपाधिपरि-

---

म्पादन करे—बहुत शब्दोंका चिन्तन न करे । वह तो वाणीके लिए श्रम है) इस अन्य श्रुतिमें ही विज्ञेय ब्रह्म है, यह देखा गया है । इससे भी द्यु, भू आदिका आयतन परब्रह्म ही है ॥ २ ॥

उक्त प्रसंगमें जैसे ब्रह्मका प्रतिपादक विशेष-असाधारण हेतु (आत्मशब्द आदि) कहा गया, वैसे अन्य पदार्थका प्रतिपादक कोई विशेष हेतु नहीं है, इसलिए कहते हैं कि 'नानुमानिकम्' ख्य स्मृतिमें कल्पित प्रधानको यहां द्यु, भू आदिके आश्रयरूपसे स्वीकार करना युक्त नहीं है, ोंकि वह अतत् शब्द है । उस अचेतन प्रधानका प्रतिपादक शब्द 'तत् शब्द' और 'तत् शब्द' से न 'अतत् शब्द' हुआ । यहां अचेतन प्रधानका प्रतिपादक ऐसा कोई शब्द नहीं है कि जिससे चेतन प्रधान कारणरूपसे अथवा आश्रयरूपसे अवगत होता हो, किन्तु यहां तो इसके विपरीत ः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि चेतन प्रतिपादक शब्द हैं । इन्हीं कारणोंसे वायुको भी यहां द्यु, भू आदिका आश्रयरूपसे स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥ ३ ॥

यद्यपि प्राणधारी जीवमें आत्मत्व और चेतनत्व सम्भव है, तो भी उपाधिसे परिच्छिन्न ज्ञानवाले

सत्यानन्दी दीपिका

यके स्थान हैं इनसे वर्ण आदिका उच्चारण होता है, अतः इन्हें वाक् शब्दसे कहा जाता । इसलिए आत्मस्वरूपके प्रतिपादक वेदान्त वाक्योंका चिन्तन और कथन करो ऐसा श्रुतिका पर्य है । सुतरां यह सिद्ध होता है कि भू आदिका आयतन परब्रह्म है प्रधान आदि नहीं ॥ २ ॥

* 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि श्रुतियोंमें जैसे ब्रह्मके प्रतिपादक त्मा और चेतन आदि अनेक असाधारण शब्द हैं, वैसे प्रधान वाचक कोई असाधारण शब्द नहीं जिसके बलसे वह द्यु, भू आदिका आश्रय हो, अतः श्रुति प्रतिपादित न होनेसे प्रधान और वायु भू आदिका आश्रय नहीं हो सकते, किन्तु ब्रह्म ही आश्रय है ॥ ३ ॥

* शंका—"नानुमानप्राणभृतावतच्छब्दात्" (प्रधान और जीव द्यु, भू आदिके आश्रय नहीं हैं, कि श्रुतिमें इसके विपरीत ब्रह्म प्रतिपादक शब्द हैं, और दोनोंका प्रतिपादक शब्द श्रुतिमें नहीं है,

च्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसंभवे सत्यस्मादेवातच्छब्दात्प्राणभृदपि न द्युभ्वाद्यायतनत्वेना-श्रयितव्यः। नचोपाधिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युभ्वाद्यायतनत्वमपि सम्यक्संभवति। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥४॥

कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

भेदव्यपदेशात् ॥५॥

सूत्रार्थ—'तमेवैकं विजानथ' (उसी एक आत्माको जानो) इस प्रकार श्रुतिमें ज्ञाता औ ज्ञेयरूपसे जीव और परमात्माके भेदका कथन है, अतः जीव द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं है।

भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन। त प्राणभृत्तावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत् ॥५॥

कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्या—

प्रकरणात् ॥६॥

सूत्रार्थ—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते०' इस प्रकार ब्रह्मका प्रकरण होनेसे जीव द्यु, भू-आदि आश्रय नहीं है।

प्रकरणं चेदं परमात्मनः; 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात्। परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञात स्यान्न केवले प्राणभृति ॥६॥

कुतश्च न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्य—

जीवमें सर्वज्ञत्व आदिका संभव न होनेके कारण इस अतत् शब्दसे ही जीवात्माका भी द्यु भू आदि आयतनरूपसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है। किञ्च उपाधि परिच्छिन्न अविभू-अव्यापक जीवा द्यु-भू आदिका आश्रय भी तो भली-भाँति नहीं हो सकता। अग्रिम सूत्रमें केवल जीवका ही ग्रहण इस आवृत्तिके लिए ही इस सूत्रकी पृथक् रचनाकी गई है ॥ ४ ॥

और किस कारणसे जीवका द्यु भू आदिके आश्रयरूपसे ग्रहण नहीं करना चाहिए?

'तमेवैकं जानथ' (उसी एक आत्माको, जानो) इस प्रकार यहाँ ज्ञेय और ज्ञातृभावसे भेद कथन है। उसमें जीव मुमुक्षु होनेसे ज्ञाता है, और परिशेषसे-अवशिष्ट होनेसे आत्मशब्दवाच्य ज्ञेय द्यु, भू आदिका आश्रय है, ऐसा ज्ञात होता है, जीव आश्रय नहीं है ॥ ५ ॥

और किस कारणसे जीवका द्यु भू आदिके आश्रयरूपसे नहीं ग्रहण करना चाहिए?

और यह प्रकरण भी परमात्माका है, क्योंकि 'कस्मिन्नु भगवो० (हे भगवन्! किसके वि होनेपर यह सब ज्ञात हो जाता है) इस प्रकार एकके ज्ञानसे सबके विज्ञानकी अपेक्षा (जिज्ञासा) गई है। निश्चय ही सर्वात्मक परमात्माके विज्ञात होनेपर यह सब विज्ञात हो जाता है, केवल जी विज्ञात होनेपर यह सब विकार मात्र ज्ञात नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

और द्यु भू आदिके आश्रयरूपसे जीवका ग्रहण क्यों नहीं करना चाहिए?

सत्यानन्दी दीपिका

इसलिए दोनों अतत् शब्द हैं) इन दोनोंके निराकरण करनेके लिए ऐसे एक ही सूत्रकी रचना नहींकी गई है? समाधान—'भेदव्यपदेशात्' इस अगले सूत्रसे जीव और प्रधान दोनोंके ग्रहण सम्भव है, परन्तु इस सूत्रसे प्रधानका भी ग्रहण हो यह सूत्रकारको अभीष्ट नहीं है, सूत्रकारको केवल जीवका ग्रहण अभीष्ट है, इसलिए सूत्रकारने 'प्राणभृच्च' इस सूत्रकी पृथक् रचनाकी है ॥ ४ ॥

स्थित्यदनाभ्यां च ॥७॥

पदच्छेद—स्थित्यदनाभ्याम्, च।

सूत्रार्थ—'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रमें परमेश्वरकी उदासीनभावसे स्थिति और दूसरे-जीवको कर्मफलके भक्षणका निर्देश है, इस तरह स्थिति और भक्षणरूप हेतुसे भी द्यु भू आदिका आश्रय जीव नहीं है, किन्तु ब्रह्म है।

❀ द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम्, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते। अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसंबद्धं स्यात्। ❀ ननु तवापि क्षेत्रज्ञस्येश्वरात्पृथग्वचनमाकस्मिकमेव प्रसज्येत। न; तस्याविवक्षितत्वात्। क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां

और द्यु भू आदिके आश्रयको प्रस्तुतकर 'द्वा सुपर्णा० (साथ-साथ रहनेवाले तथा समान आख्यानवाले दो पक्षी शरीररूपी एक वृक्षका आश्रय कर रहते हैं) इस मन्त्रमें स्थिति और भक्षणका निर्देश किया गया है। 'तयोरन्यः० (उनमेंसे एक [जीव] तो स्वादिष्ट-मधुर कर्मफलका भोग करता है) इस मन्त्रांश वाक्यमें कर्मफलका उपभोग और 'अनशनन्नन्यो० (दूसरा-ईश्वर भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है) इसमें उदासीनतापूर्वक स्थिति निर्दिष्ट है। इस स्थिति और भक्षणसे इस मन्त्रमें ईश्वर और जीवका ग्रहण किया जाता है। और यदि ईश्वर द्यु भू आदिके आश्रयरूपसे विवक्षित हो तो उस प्रकृत ईश्वरका क्षेत्रज्ञसे पृथक् वचन [अनश्नन्नन्यो०] उपपन्न होता है, अन्यथा यह अप्रकृत वचन, आकस्मिक और असम्बद्ध हो जायगा। परंन्तु तुम्हारा भी क्षेत्रज्ञ—जीवका ईश्वरसे पृथक् कथन आकस्मिक ही प्रसक्त होगा। नहीं, क्योंकि जीव अविवक्षित है। क्षेत्रज्ञ तो कर्ता और भोक्तारूपसे प्रतिशरीरमें बुद्धि आदि उपाधियोंसे युक्त है और लोकमें प्रसिद्ध है, इसलिए वह श्रुतिके तात्पर्यसे विवक्षित नहीं है अर्थात् उसकी विवक्षामें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। ईश्वर तो लोकमें अप्रसिद्ध होनेसे श्रुतिके तात्पर्यसे विवक्षित है अर्थात् उसके प्रतिपादनमें श्रुतिका तात्पर्य है, इसलिए उसे आकस्मिक कहना युक्त नहीं है। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १।२।११) इस सूत्रमें भी

सत्यानन्दी दीपिका

*'द्वा सुपर्णा०' इस मंत्रमें स्थिति (रहना) से ईश्वर और भक्षणसे जीवका निर्देश है। यहाँ ईश्वर पदसे उपाधि रहित शुद्ध ब्रह्मका ग्रहण युक्त है सर्वज्ञत्व आदि गुण विशिष्टका नहीं; क्योंकि वह यहाँ प्रतिपाद्य नहीं है। प्रतिपाद्य इसलिए नहीं है कि ईश्वरकी उदासीनतापूर्वक स्थिति सम्भव नहीं है। किञ्च अप्रतिपाद्य अर्थका अकस्मात् मध्यमें कथन अप्रकृत, आकस्मिक असम्बद्ध होता है। इससे उसका प्रतिपादक होनेसे 'अनशनन्नन्यो' यह श्रुति वाक्य भी अप्रकृत, आकस्मिक और असम्बद्ध हो जायगा। जब ईश्वरपदसे शुद्ध ब्रह्मका ग्रहण करते हैं तो ब्रह्मका जीवसे 'अनशनन्नन्यो' यह पृथक् वचन संगत होता है। इसलिए 'अनशनन्नन्यो०' यह श्रुति वाक्य शुद्ध ब्रह्मका ही प्रतिपादक है। इस प्रकार इस मंत्रमें स्थिति और भक्षण पदके निर्देशसे जीव और ब्रह्मका भेद पूर्वक वर्णन है। इसलिए जीव नियम्य है और ईश्वर नियामक। ग्रंथकारके आशयको न समझकर पूर्वपक्षी 'ननु' से शंका करता है।

* यदि आयतनरूपसे जीवको विवक्षित न मानें तो तुम्हारे सिद्धान्त में भी ईश्वरके बोधक वचनोंसे भिन्न जीव बोधक 'तयोरन्यः' इत्यादि वचन आकस्मिक ही होंगे। सिद्धान्ती इस शंकाका

प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० १।२।११।१२) इत्यत्राप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति। ❀ यद्यपि पैङ्ग्युपनिषत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामृचि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते तथापि न विरोधः कश्चित्। कथम्? प्राणभृद्धीह घटादिच्छिद्रवत्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं गृह्यमाणो द्युभ्वाद्यायतनं न भवतीति निषिध्यते। यस्तु सर्वशरीरेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते, परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरुपाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति, तद्वत् प्राणभृतः परस्मादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते। तस्मात्सत्त्वाद्युपाध्यभिमानिन एव द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः। तस्मात्परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम्। तदेतत् 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' (ब्र० १।२।६।२१) इत्यनेनैव सिद्धम्। तस्यैव हि भूतयोनिवाक्यस्य मध्य इदं पठितम् 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्' इति। प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम् ॥७॥

(२ भूमाधिकरणम् सू० ८-९)

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥८॥

पदच्छेद—भूमा, सम्प्रसादाद्, अधि, उपदेशात्।

सूत्रार्थ—(भूमा) 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' यह श्रुत्युक्त भूमा परमात्मा ही है। (संप्रसादादधि) क्योंकि संप्रसाद संज्ञक प्राणके उपदेशके अनन्तर (उपदेशात्) उसका उपदेश है।

❀ इदं समामनन्ति—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।

यह (जीव और परमात्मा) दिखलाया गया है कि यहाँ 'द्वा सुपर्णा०' इस ऋचामें भी ईश्वर और क्षेत्रज्ञ प्रतिपादित हैं। यद्यपि पैङ्गी उपनिषद् कृत व्याख्यानके अनुसार इस ऋचामें बुद्धि और क्षेत्रज्ञ कहे गये हैं तो भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि यहां घटादिच्छिद्रके समान सत्त्व आदि उपाधियोंके अभिमानिरूपसे प्रतिशरीरमें गृह्यमाण जीवात्मा द्यु, भू आदिका आश्रय नहीं है, इसप्रकार निषेध किया गया है। परन्तु जो सब शरीरोंमें उपाधियोंके विना उपलक्षित होता है वह परमात्मा ही है। जैसे घटादि उपाधिके विना उपलक्षित होनेवाले घटादि छिद्र (आकाश) वस्तुतः महाकाश ही हैं, वैसे परमात्मासे अन्यत्व अनुपपत्ति होनेसे जीवात्माका द्यु, भू आदिके आश्रयरूपसे प्रतिषेध करना युक्त नहीं है। प्रत्युत बुद्धि आदिके अभिमानीका ही द्यु, भू आदिके आश्रयरूपसे प्रतिषेध है। इससे परब्रह्म ही द्यु, भू आदिका आयतन है। यही बात 'अदृश्यत्वादि० (ब्र० सू० १।२।२१) इस सूत्रसे ही सिद्ध हो चुकी है। उसी भूतयोनि वाक्यके मध्यमें 'यस्मिन्द्यौः' यह मन्त्र भी पठित है। यहां तो विस्तारके लिए पुनः इसका उपन्यास किया गया है ॥ ७ ॥

छान्दोग्य उपनिषदमें 'भूमा त्वेव० (सनत्कुमार—हे नारद ! भूमाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा

सत्यानन्दी दीपिका

'न' आदिसे समाधान करते हैं कि यहां आयतनरूपसे जीव विवक्षित नहीं है, इसलिए उसके प्रतिपादनमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है।

* पैङ्गी उपनिषद्के व्याख्यानमें जीव और ईश्वरके स्थानमें बुद्धि और क्षेत्रज्ञका ग्रहण किया गया है, ऐसा मानने पर भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि यहां बुद्धि शब्दसे बुद्धि उपाधि युक्त जीवको समझना चाहिए और क्षेत्रज्ञ शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए। दुर्विज्ञेय ब्रह्मके सम्यग्ज्ञानके लिए सूत्रकार ने 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस सूत्रकी रचना की है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परब्रह्म ही द्यु, भू आदिका आश्रय-अधिष्ठान है उपाधि युक्त परिच्छिन्न जीव नहीं है ॥ ७ ॥

* पूर्वमें आत्मशब्दके बलसे द्यु, भू आदिका अधिष्ठान ब्रह्म कहा गया है। वह युक्त नहीं है,

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' (छा० ७।२३, २४) इत्यादि। तत्र संशय—किं प्राणो भूमा स्यात्, आहोस्वित्परमात्मेति। कुतः संशयः ? भूमेति तावद्बहुत्वमभिधीयते; 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा० ६।४।१५८) इति भूमशब्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात्। किमात्मकं पुनस्तद्बहुत्वमिति विशेषाकाङ्क्षायां 'प्राणो वा आशाया भूयान्' (छा० ७।१५।१) इति संनिधानात्प्राणो भूमेति प्रतिभाति। तथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७।१।३) इति, प्रकरणोत्थानात्परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति। तत्र कस्योपादानं न्याय्यं, कस्य वा हानमिति भवति संशयः। किं तावत्प्राप्तम् ? *प्राणो भूमेति। कस्मात् ? भूयःप्रश्नप्रतिवचनपरम्पराऽदर्शनात्। यथा हि 'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति, 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति। तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति, 'मनो वाव वाचो भूयः' इति च नामादिभ्यो ह्या प्राणाद्भूयःप्रश्नप्रतिवचनप्रवाहः प्रवृत्तः। नैवं प्राणात्परं भूयः

करनी चाहिए। नारद—हे भगवन्! मैं भूमाकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूं) [तव सनत्कुमारने भूमाके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा] 'यत्र नान्यत्पश्यति० (जिसमें स्थित पुरुष दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता वह भूमा है, किन्तु जहां कुछ अन्य देखता है, कुछ अन्य सुनता है एवं कुछ अन्य जानता है वह अल्प है) इत्यादि कहते हैं। यहां संशय होता है कि प्राण भूमा है अथवा परमात्मा ? संशय क्यों होता है अर्थात् संशयका कारण क्या है ? क्योंकि भूमा बहुतको कहते हैं। 'बहोर्लोपो०' इस पाणिनीय सूत्रसे 'भूमा' शब्दको भावप्रत्ययान्त कहा गया है। तो उसका बहुत्व किमात्मक है ? इसप्रकार आशासे अधिककी विशेष आकांक्षाके क्रमसें 'प्राणो वाव० (प्राण ही आशासे अधिक है) इस तरह सान्निध्यसे प्राण ही भूमा है ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु प्रकरणानुसार तो 'श्रुतं ह्येव० (नारद—मैंने आप जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पारकर लेता है अर्थात् शोकसे मुक्त हो जाता है, और हे भगवन्! मैं शोक युक्त हूँ, मुझको शोकसे पारकर दीजिए—शोकसे मुक्तकर दीजिए) परमात्मा ही भूमा है, ऐसा भी प्रतीत होता है। अब इन दोनोंमें किसका ग्रहण और किसका त्याग करना युक्त है। ऐसा संशय प्राप्त होता है। तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी–प्राण भूमा है, क्योंकि इसके आगे, भूय-आधिक्य विषयक प्रश्न और उत्तरकी परंपराका दर्शन नहीं होता है। जैसे कि 'अस्ति भगव० (नारद—हे भगवन्! क्या नामसे भी कुछ अधिक है ?) 'वाग्वाव० (सनत्कुमार–वाणी ही नामसे अधिक है) और 'अस्ति भगवो० (नारद—हे भगवन्! वाणीसे कोई अधिक है ?) 'मनो वाव०' (सनत्कुमार—मन ही वाणीसे अधिक (बढ़कर है) इस प्रकार नाम आदिसे लेकर प्राणतक क्रमशः अधिकता विषयक प्रश्न और उत्तरका प्रवाह प्रवृत्त है,

सत्यानन्दी दीपिका

क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' यहां पर अब्रह्म प्राणमें आत्मशब्दका प्रयोग है। इस आक्षेप संगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है। यहां भूमा शब्दका मुख्य अर्थ तो बहुत है, क्योंकि 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इस पाणिनीय सूत्रसे 'बहु' के स्थानमें 'भू' आदेश हुआ है, और 'भू' शब्दके उत्तर 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इस सूत्रसे भाव अर्थमें 'इमनिच्' प्रत्यय होकर 'भूमन्' (भूमा) शब्द निष्पन्न हुआ है। 'भूमन्' शब्दका अर्थ बहुत है। यहां श्रुतिमें प्राण और परमात्मा दोनोंमें भूमा शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है, अतएव सन्देह होता है कि भूमा शब्दसे किसका ग्रहण करना चाहिए।

*नारद—हे भगवन्! नामसे अधिक क्या है ? सनत्कुमार—वाणी ही नामसे अधिक है। वाणीसे अधिक ? मन, मनसे अधिक ? चित्त, चित्तसे अधिक ? ध्यान, ध्यानसे अधिक ? विज्ञान-शास्त्रीय ज्ञान, विज्ञानसे अधिक ? बल-शास्त्रके अर्थका प्रतिभास, बलसे अन्न, अन्नसे जल, जलसे तेज, तेजसे

प्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते—अस्ति भगवः प्राणाद्भूय इति, अदो वाव प्राणाद्भूय इति। प्राणमे
तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयांसं 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा
प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वम्—'अतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत' इत्यभ्यनुज्ञाय '
तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति प्राणव्रतमतिवादित्वमनुकृष्यापरित्यज्यैव प्रा
सत्यादिपरम्परया भूमानमवतारयन्प्राणमेव भूमानं मन्यत इति गम्यते। ❀ कथं पु
प्राणे भूमनि व्याख्यायमाने 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतद्भूम्नो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति
उच्यते—सुषुप्त्यवस्थायां प्राणग्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात्संभवति प्रा
स्यापि 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्येतल्लक्षणम्। तथा च श्रुतिः 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादि
सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' (प्र०
२।३) इति तस्यामेवावस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं ब्रुवती प्राणप्रधानां सुषुप्त्यवस्थां
दर्शयति। यच्चैतद्भूम्नः सुखत्वं श्रुतम्—'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७।२३) इति, तदप्य
विरुद्धम्; 'अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ यदेतस्मिञ्शरीरे सुखं भवति' (प्र० ४।६) इति सुषु

किन्तु प्राणके आगे 'हे भगवन्! प्राणसे अधिक कुछ है? निश्चय, यह प्राणसे अधिक है; इस प्र
और आगे अधिकका प्रश्न और प्रतिवचन क्रम नहीं दिखाई देता। परन्तु 'प्राणो वा०' (प्राण
आशासे अधिक है), इत्यादिसे विस्तारपूर्वक प्राणको ही नाम आदिसे लेकर आशा पर्यन्त स
पदार्थोंसे अधिक कहकर 'अतिवाद्यसी०' (तुम अतिवादी हो) किसीके ऐसा प्रश्न करनेपर 'मैं
वादी हूँ' ऐसा कहे, अपने अतिवादी होनेका निषेध न करे। इस प्रकार प्राणदर्शीमें अतिवा
स्वीकार कर 'एष तु वा०' (निश्चय यह अतिवादी होता है जो सत्यसे अतिवादी होता है) इस प्र
अतिवादित्व प्राण व्रतकी अनुवृत्ति करके प्राणका परित्याग किये विना ही सत्य आदि परम्
भूमाका अवतरण करते हुए सनत्कुमार प्राणको ही भूमा मानते हैं, ऐसा ज्ञात होता है। यदि प्रा
ही भूमारूपसे व्याख्यान करें तो 'यत्र नान्य त्पश्यति०' भूमाके लक्षण परक इस वाक्यका
प्रकार व्याख्यान करोगे? तो इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहता है कि सुषुप्ति अवस्थामें प्राणमें लीन
इन्द्रियोंका दर्शनादि व्यवहार निवृत्त हुआ देखा जाता है। इसलिए 'यत्र नान्यत्पश्यति०' (
अन्यको नहीं देखता) इस प्रकार भूमाका स्वरूप प्रतिपादक यह लक्षण प्राणमें भी सम्भव है। क
'न शृणोति न पश्यति' (सुषुप्त पुरुष देखता नहीं सुनता नहीं) इत्यादिसे श्रुति जिसमें सब इन्द्रि
व्यापार अस्त हो जाते हैं उस अस्तमय रूप सुषुप्ति अवस्थाको कहकर 'प्राणाग्नयः' (प्राण
अग्नियाँ ही इस शरीरमें जागती हैं—स्व व्यापार करती हैं) इस प्रकार उसी अवस्थामें पाँच वृत्ति
प्राणकी जागरण कहती हुई प्राण प्रधान सुषुप्ति अवस्थाको दिखलाती है। और 'यो वै भू
(निश्चय जो भूमा है वह सुख है) इस प्रकार श्रुति भूमाको सुख रूप कहती है वह भी विरुद्ध
है, क्योंकि 'अत्रैष देवः०' (उस समय यह देव-जीव स्वप्न नहीं देखता, उस समय शरीरमें यह

सत्यानन्दी दीपिका

आकाश, आकाशसे स्मृति, क्योंकि स्मृति होनेपर ही ईश्वरसे आकाश आदिकी उत्पत्ति होती
स्मृतिसे अधिक आशा है; आशाके होनेपर ही स्मृति बनी रहती है। 'प्राणो वा आशाया भू
(प्राण ही आशासे महान् है) प्राणके होनेपर ही आशा रहती है। इस प्रकार नारद
सनत्कुमारका आधिक्य विषयक प्रश्नोत्तर प्राण पर्यन्त ही हुआ है आगे नहीं। प्राणवेत्ताको ही
वादी कहा गया है। इसलिए सबसे महान् होनेसे प्राण भूमा है।

* 'गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचन आहवनीयः प्राणः' (यह अपान गार्ह
व्यान अन्वाहार्यपचन और प्राण आहवनीय है) इस श्रुतिमें प्राण आदिका अग्निरूपसे प्रति

वस्थायामेव सुखश्रवणात्। यच्च 'यो वै भूमा तदमृतम्' (छा० ७।२४।१) इति, तदपि प्राणस्याविरुद्धं; 'प्राणो वा अमृतम्' (कौ० ३।२) इति श्रुतेः। कथं पुनः प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपद्यते? प्राण एवेहात्मा विवक्षित इति ब्रूमः। तथा हि—'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः' (छा० ७।१५।१) इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति। 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च सर्वात्मत्वारनाभिनिदर्शनाभ्यां च संभवति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य। तस्मात्प्राणो भूमेत्येवं प्राप्तम्। ❀ तत इदमुच्यते—परमात्मैवेह भूमा भवितुमर्हति, न प्राणः। कस्मात्? संप्रसादादध्युपदेशात्। संप्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते; सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति निर्वचनात्। बृहदारण्यके च स्वप्नजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात्, तस्यां च संप्रसादावस्थायां प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र संप्रसादोऽभिप्रेयते। प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः प्राण एव चेद्भूमा स्यात्स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येतेत्यश्लिष्टमेवैतत्स्यात्। नहि नामैव नाम्नो भूय इति नाम्न ऊर्ध्वमुपदिष्टम्। किं तर्हि? नाम्नोऽन्यदर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम्—'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति।

सम्पन्न होता है) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें सुखका श्रवण होता है। और 'यो वै भूमा०' (निश्चय जो भूमा है वह अमृत है) वह अमृतत्व भी प्राणमें विरुद्ध नहीं है, क्योंकि 'प्राणो वा०' (प्राण ही अमृत है) ऐसी श्रुति है। सि०—परन्तु प्राणको भूमा माननेवालेके पक्षमें 'तरति शोक० (आत्मवेत्ता शोकसे मुक्त हो जाता है) इस आत्मविज्ञानकी इच्छासे प्रकरणका आरम्भ कैसे उपपन्न होगा? पू०—ऐसा हम कहते हैं कि यहाँ प्राण ही आत्मरूपसे विवक्षित है, क्योंकि 'प्राणो ह पिता० (प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है) यह श्रुति प्राणको ही सर्वस्वरूप (सबका आत्मा) कहती है। और 'यथा वा अरा० (जैसे नाभिमें अरा अर्पित हैं, वैसे प्राणमें सब समर्पित है) इस प्रकार सर्वात्मकता और अर-नाभिके दृष्टान्तसे प्राणमें विपुलस्वरूपता-भूमरूपता सम्भव है। इसलिए प्राण भूमा है ऐसा प्राप्त होता है। सिद्धान्ती—इसपर यह कहते हैं कि परमात्मा ही यहाँ भूमा होना युक्त है प्राण नहीं, क्योंकि संप्रसादके अनन्तर भूमाका उपदेश है। जिसमें अच्छी तरहसे प्रसन्न होता है वह संप्रसाद है, इस व्युत्पत्तिसे संप्रसाद सुषुप्ति स्थानको कह जाता है। बृहदारण्यकमें स्वप्न और जाग्रत्स्थानोंके साथ इसका भी पाठ है। और उस संप्रसाद अवस्थामें प्राण जागता-स्वव्यापार करता है, इसलिए यहाँ संप्रसाद शब्दसे [लक्षणावृत्तिसे] प्राण अभिप्रेत है। प्राणके अनन्तर भूमाका उपदेश किये जानेसे भूमा परमात्मा है, ऐसा अर्थ है। यदि प्राण ही भूमा हो तो वहीं प्राणके अनन्तर उपदिष्ट हो वह असंगत हो जायगा, क्योंकि नाम ही नामसे अधिक है इस प्रकार नामके अनन्तर नामका उपदेश नहीं है, किन्तु 'वाग्वाव' (वाणी ही नामसे अधिक है) इस प्रकार नामसे भिन्न वाग्नामक अर्थान्तर

सत्यानन्दी दीपिका

किया गया है, इसलिए सुषुप्ति अवस्थामें मन आदि सब इन्द्रियोंका दर्शन आदि व्यापार न रहनेपर भी प्राण रूप अग्नियाँ शरीरमें अपना व्यापार करती रहती हैं। इस प्रकार 'यत्र नान्यत्पश्यति' इस श्रुति प्रतिपादित भूमाके लक्षणका प्राणमें समन्वय होता है। और जो 'ह वै भूमा तदमृतं प्राणो वा अमृतम्०' इत्यादि श्रुतियाँ प्राणको अमृतरूप कहती हैं, इसलिए प्राणमें भूमा शब्द विरुद्ध नहीं है।

❀ "ब्रह्म भूमा भवितुमर्हति संप्रसादादध्युपदेशात्" यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः। 'ब्रह्म भूमा होना युक्त है, क्योंकि संप्रसाद-प्राणके अनन्तर उसका उपदेश है, जहाँ हेतु नहीं है वहाँ साध्य भी नहीं है, जैसे घट, यह व्यतिरेक दृष्टान्त है। इस प्रकार इस अनुमानसे भी ब्रह्म भूमा सिद्ध होता है।

तथा वागादिभ्योऽप्या प्राणादर्थान्तरमेव तत्र तत्रोर्ध्वमुपदिष्टम्, तद्वत्प्राणादूर्ध्वमुपदिश्यमा
भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति। नन्विह नास्ति प्रश्न—'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इ
नापि प्रतिवचनमस्ति प्राणाद्वाव भूयोऽस्तीति, कथं प्राणादधि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते
प्राणविषयमेव चातिवादित्वमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं पश्याम—'एष तु वा अतिवदति यः सत्ये
तिवदति' इति। तस्मान्नास्ति प्राणादध्युपदेश इति। अत्रोच्यते—न तावत्प्राणविषयस्यैवा
वादित्वस्यैतदनुकर्षणमिति शक्यं वक्तुं; विशेषवादात् 'यः सत्येनातिवदति' इति।
विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति। कथम्? यथैषोऽग्निहोत्री यः सत्यं वदतीत्यु
न सत्यवदनेनाग्निहोत्रित्वं, केन तर्हि? अग्निहोत्रेणैव, तत्सत्यवदनं त्वग्निहोत्रिणो वि
उच्यते। तथा 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इत्युक्ते, न सत्यवदनेनातिवादित्वम्
केन तर्हि? प्रकृतेन प्राणविज्ञानेनैव। सत्यवदनं तु प्राणविदो विशेषो विवक्ष्यत इति
❀ नेति ब्रूमः; श्रुत्यर्थपरित्यागप्रसङ्गात्। श्रुत्या ह्यत्र सत्यवदनेनातिवादित्वं प्रतीयते—'
सत्येनातिवदति सोऽतिवदति' इति। नात्र प्राणविज्ञानस्य संकीर्तनमस्ति। प्रकरणात्तु प्रा
विज्ञानं संबध्येत। तत्र प्रकरणानुरोधेन श्रुतिः परित्यक्ता स्यात्। प्रकृतव्यावृत्त्यर्थश्च तुश
न संगच्छेत 'एष तु वा अतिवदति' इति। 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ७।१६) इ
च प्रयत्नान्तरकरणमर्थान्तरविवक्षां सूचयति। तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायामेष तु म

उपदिष्ट है। तथा वाणी आदिसे लेकर प्राण पर्यन्त तत् तत् स्थल पर आगे-आगे अन्यान्य पदा
ही उपदेश किया गया है। उसीके समान प्राणके अनन्तर उपदिश्यमान भूमा प्राणसे अन्य प
होना युक्त है। पू०—परन्तु यहाँ 'हे भगवन्! प्राणसे अधिक क्या है?' ऐसा प्रश्न नहीं है
'प्राणसे यह अधिक है' इस प्रकारका कोई उत्तर भी नहीं है, तो प्राणके अनन्तर भूमाका उपदे
यह कैसे कहते हो? और 'एष तु वा० (जो सत्यसे अतिवादी है वही अतिवादी है) इस प्रकार प्रा
विषयक अतिवादित्वकी ही आगे अनुवृत्ति हम देखते हैं, इसलिए प्राणके अनन्तर किसी अ
पदार्थका उपदेश नहीं है। सि०—इस विषयमें कहते हैं—प्राण विषयक अतिवादित्वका ही
अनुकर्षण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'यः सत्येन० (जो सत्यसे अतिवादी है) इस त
विशेष वाद है। पू०—परन्तु यह विशेष वाद भी प्राण विषयक ही होगा। कैसे? जैसे कि
अग्निहोत्री है जो सत्य बोलता है' ऐसा कहनेसे सत्यवदनसे अग्निहोत्रित्व नहीं होता, किन्तु अग्निहो
ही होता है, सत्यवाद तो अग्निहोत्रीकी विशेषता कही जाती है। उसी प्रकार 'एष तु वा०'
सत्यवादी है वह निश्चित अतिवादी है) ऐसा कहनेसे सत्यभाषणसे कोई अतिवादी नहीं होता कि
प्रकृत प्राण विज्ञानसे ही अतिवादी होता है। सत्यवाद तो प्राणवेत्ताका विशेषरूप विवक्षित
सिद्धान्ती—हम कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे तो श्रुतिके अर्थके परित्या
प्रसंग उपस्थित होगा। 'यः सत्येन० (जो सत्यसे अतिवादी है वह अतिवादी है) इसप्रकार
श्रुति द्वारा सत्यवादसे ही अतिवादित्व प्रतीत होता है। यहां प्राणविज्ञानका संकीर्तन भी नहीं
यदि प्रकरणसे प्राणविज्ञानका सम्बन्ध करें तो प्रकरणके बलसे श्रुतिका परित्याग हो जायगा।
'एष तु वा अतिवदति' (यह तो अतिवादी है) इसमें प्रकृतकी व्यावृत्तिके लिए 'तु' शब्द
नहीं होगा। 'सत्यं त्वेव० (सनत्कुमार—सत्यकी ही तो विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिए)
तरहसे अन्य प्रयत्न (विचार) का विधान अन्य अर्थकी विवक्षाको सूचित करता है, जैसे एक

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'सत्येन अतिवदति' यहां सत्यशब्दसे सत्यब्रह्मको लेकर ही अतिवादित्व कहा गया
किञ्च सत्यके जिज्ञासारूप लिंगसे भी प्राणके प्रकरणका बाध होता है। जो यह कहा गया है

ब्राह्मणो यश्चतुरो वेदानधीत इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभूतश्चतुर्वेदः प्रशस्यते, तादृगेतद्द्रष्टव्यम्। नच प्रश्नप्रतिवचनरूपयैवार्थान्तरविवक्षया भवितव्यमिति नियमोऽस्ति; प्रकृतसंबन्धासंभवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः। तत्र प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णींभूतं नारदं स्वयमेव सनत्कुमारो व्युत्पादयति। यत्प्राणविज्ञानेन विकारानृतविषयेणातिवादित्वमनतिवादित्वमेव तत् 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते; परमार्थरूपत्वात्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा व्युत्पादिताय नारदाय 'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि' इत्येवं प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपरम्परया भूमानमुपदिशति। तत्र यत्प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातम्, तदेवेह भूमेत्युच्यत इति गम्यते। तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न उपदेश इत्यतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा भवितुमर्हति। एवं चेहात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपन्नं भविष्यति। * प्राण एवेहात्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते। नहि प्राणस्य मुख्यया वृत्त्याऽऽत्मत्वमस्ति। नचान्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति; 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।१५) इति श्रुत्यन्तरात्। 'तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७।१।३) इति चोपक्रम्योपसंहरति—'तस्मै मृदितकषायाय तमसः

प्रशंसा प्रस्तुत होनेपर जो चार वेदोंका अध्ययन करता है 'यह तो महाब्राह्मण है' इसमें एक वेदके अध्ययन करने वाले ब्राह्मणोंसे अर्थान्तर चतुर्वेदवेत्ताकी प्रशंसा होती है। उसीप्रकार प्रकरणमें सत्यकी जिज्ञासा भी प्राणसे भिन्न भूमाकी ही समझनी चाहिए। प्रश्न और उत्तरके रूपमें अन्य अर्थकी विवक्षा होनी चाहिए यह नियम नहीं है, क्योंकि अन्य अर्थकी विवक्षा तो प्रकृत पदार्थका सम्बन्ध न होनेसे होती है। अर्थान्तरकी विवक्षा रहनेपर भी नामादिसे लेकर प्राणपर्यन्त उपदेश सुनकर तूष्णीभूत नारदको स्वयं ही सनत्कुमार समझाते हैं कि 'एष तु वा० (जो सत्यसे अतिवादी है वही अतिवादी है) जो विकार और अनृत विषयक प्राणविज्ञानसे अतिवादित्व है वह अतिवादित्व नहीं है, इस श्रुतिमें 'सत्यं' इससे परब्रह्म कहा जाता है, क्योंकि वह परमार्थरूप है। कारणकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है) इसप्रकार यह दूसरी श्रुति भी है। [सत्य ब्रह्म है] यह जानकर सावधान हुए और 'सोऽहं भगव० (हे भगवन्! मैं सत्यसे अतिवादी होऊँ) इसप्रकार प्रवृत्त हुए व्युत्पादित (समझाए गए) नारदके प्रति विज्ञानादि (निदिध्यासनादि) साधन परम्परासे [सनत्कुमार] भूमाका उपदेश करते हैं। भूमाका उपदेश प्रस्तुत होनेपर प्राणके अनन्तर जिस सत्य वक्तव्य [सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्] की प्रतिज्ञाकी गई है वही यहां विषयवाक्यमें भूमा कहा गया है, ऐसा ज्ञात होता है, अतः प्राणके अनन्तर भूमाका उपदेश है। इसलिए प्राणसे भिन्न परमात्मा ही भूमा होना युक्त है। इसप्रकार यहां आत्माका विज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रकरणका आरम्भ भी संगत ही होगा। प्राण ही यहां आत्मरूपसे विवक्षित है यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि मुख्यवृत्तिसे प्राण आत्मा नहीं है। परमात्माके ज्ञानके विना अन्य किसी प्रकारसे शोककी निवृत्ति नहीं होती, कारण कि 'नान्यः० (इससे भिन्न मोक्ष प्राप्तिके लिए कोई अन्य मार्ग-साधन नहीं है) ऐसी दूसरी श्रुति है। 'तं मा भगवान्० (ऐसे शोक युक्त मुझे आप शोकसे पारकर दीजिए) ऐसा आरम्भकर 'तस्मै मृदितकषायाय० (राग, द्वेष आदि दोषोंसे रहित नारदको भगवन् सनत्कुमारने

सत्यानन्दी दीपिका

भके भेदसे अर्थका भेद होता है यह नियम नहीं है, क्योंकि एक ही आत्माके विषयमें मैत्रयीने हुत वार प्रश्न किया है। इसके अतिरिक्त भगवान् भाष्यकार द्वारा उदाहृत चतुर्वेदवित् प्रकृत एक दवित्से भिन्न है यह प्रश्नके विना भी सिद्ध होता है।

* 'आत्मतः प्राणः' इत्यादि श्रुतिमें प्राणकी उत्पत्ति कही गई है, इसलिए वह मुख्यवृत्तिसे

पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः’ (छा० ७।२६।२) इति । तम इति शोकादिकारणमविद्योच्य
प्राणान्ते चानुशासने न प्राणस्यान्यायत्ततोच्येत । ‘आत्मतः प्राणः’ (छा० ७।२६।१) इति
ब्राह्मणम् । प्रकरणान्ते परमात्मविवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एवेति चेत्—न; ‘स भग
कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि’ (छा० ७।२४।१) इत्यादिना भूम्न एवा प्रकरणसमा
कर्षणात् । वैपुल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात्परमात्मनः सुतरामुपपद्यते ॥८॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥९॥

पदच्छेद—धर्मोपपत्तेः, च ।

सूत्रार्थ—‘यत्र नान्यत्पश्यति’ इत्यादि श्रुति प्रतिपादित दर्शन आदि व्यवहारका अभा
भूमाके धर्मोंकी परमात्मामें उपपत्ति होनेसे भूमा परमात्मा ही है ।

❀ अपि च ये भूम्नि श्रूयन्ते धर्मास्ते परमात्मन्युपपद्यन्ते । ‘यत्र नान्यत्पश्यति ना
च्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा’ इति दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमन्यवगमयति । परमात्म
चायं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽवगतः; ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्’ (बृ० ४।५।
इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । योऽप्यसौ सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः सोऽप्या
एवासङ्गत्वविवक्षयोक्तो न प्राणस्वभावविवक्षया; परमात्मप्रकरणात् । यदपि तस्यामवस्था

अविद्यारूप तमसे पार परमार्थ तत्त्वको दिखलाया) इसप्रकार उपसंहार करते हैं । तमः इस शु
शोकादिकी कारण भूत अविद्या कही जाती है । यदि प्राण पर्यन्त ही उपदेश होता तो प्राणमें अ
की अधीनता न कही होती, और ‘आत्मतः प्राणः’ (आत्मासे प्राण उत्पन्न हुआ) यह ब्रा
वाक्य है । प्रकरणके अन्तमें परमात्माकी विवक्षा होगी । भूमा तो प्राण ही है, यदि ऐसा कहो
यह युक्त नहीं है, क्योंकि ‘स भगवः० (नारद—हे भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ? सनत्कु
अपनी महिमामें) इत्यादिसे प्रकरणकी समाप्ति पर्यन्त भूमाकी ही अनुवृत्ति है । विपुलात्मका
भूमरूपता भी सबका कारण होनेसे परमात्मामें ही सुतरां उपपन्न होती है ॥ ८ ॥

और दूसरी बात यह है कि भूमाके जो धर्म श्रुतिमें प्रतिपादित हैं वे परमात्मामें उपपन्न
हैं । ‘यत्र नान्यत्पश्यति० (जहां दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता और दूसरे को
जानता वह भूमा है) यह श्रुति भूमामें दर्शन आदि व्यवहारके अभावको अवगत कराती है ।
त्वस्य० (जहां इस विद्वान्के लिए सब आत्मा ही हो गया वहां किस करणसे किस विषयको दे
इस दूसरी श्रुतिसे परमात्मामें दर्शन आदि व्यवहारका अभाव प्रतीत होता है । सुषुप्त अवस्थामें
वह दर्शनादि व्यवहारका अभाव कहा गया है वह भी आत्माकी असंगताकी विवक्षासे कहा ग

सत्यानन्दी दीपिका

आत्मा नहीं है । इसप्रकार श्रुति और लिंगके बलसे अर्थात् महाप्रकरणसे प्राणका अवान्तर प्र
बाधित है । अतः प्राण भूमा नहीं है किन्तु वस्तुतः परमात्मा ही भूमा है । पूर्वपक्षमें प्राणकी उ
सना फल है और सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञान फल है ॥ ८ ॥

❀ वादीने सुषुप्त अवस्थाको लेकर सुख आदि प्राणके धर्म माने हैं वह भी अयुक्त है,
बुद्धि आदि उपाधिके रहनेपर आत्मामें द्रष्टृत्व आदि व्यवहार होता है । सुषुप्तिमें उपाधिके
होनेपर आत्मामें द्रष्टृत्व आदि व्यवहार नहीं होता । इसप्रकार आत्माको असंग सिद्ध करनेके
प्रश्नोपनिषद्में परमात्माको लक्ष्यकर ‘न शृणोति’ इत्यादि वर्णन किया गया है एवं आत्मा
सुखरूप कहा गया है प्राणको नहीं । इस बातको स्पष्ट करनेके लिए भगवान् भाष्यकार ‘यत्र
आदिसे अन्य श्रुतियोंको भी उद्धृत करते हैं ।

सुखमुक्तं, तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम्। * यत आह—'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृ० ४।३।३२) इति। इहापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्' इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति। 'यो वै भुमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति। विकाराणाममृतत्वस्यापेक्षिकत्वात्, 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च श्रुत्यन्तरात्। तथा च सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते, नान्यत्र। तस्माद्भूमा परमात्मेति सिद्धम् ॥९॥

(३ अक्षराधिकरणम् सू० १०-१२)

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

पदच्छेद—अक्षरम्, अम्बरान्तधृतेः।

सूत्रार्थ—(अक्षरम्) 'एतद्वैतदक्षरं गार्गि' इस श्रुतिमें प्रतिपादित अक्षर ब्रह्म ही है, (अम्बरान्तधृतेः) क्योंकि पृथ्वीसे लेकर आकाश पर्यन्त सब विकारोंको वही धारण करता है।

* 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।७,८) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः—किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते,

न कि प्राण स्वभावकी विवक्षासे, क्योंकि परमात्माका प्रकरण है। उस अवस्थामें जो भी सुख कहा गया है वह भी आत्मा सुख स्वरूप है इस विवक्षासे ही कहा गया है। क्योंकि कहते हैं–'एषोऽस्य० (यह इसका परम आनन्द है, इस आनन्दके अंशके आश्रित अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं) यहां भी 'यो वै भूमा० (निश्चय जो भूभा है वह सुख है, अल्पमें सुख नहीं है, भूमा ही सुखरूप है) इसप्रकार सामय सुख (नाश आदि दोष युक्त सामयसुख) के निराकरणसे सुखरूप भूमा ब्रह्मको ही दिखलाती है। 'यो वै भूमा० (निश्चय जो भूमा है वह अमृत है) इस श्रुतिमें श्रूयमाण अमृतत्व भी परमकारणका ज्ञान कराता है, क्योंकि [प्राण आदि] विकारोंका अमृतत्व आपेक्षिक है। जैसे 'अतोन्यदार्तम्' (इस आत्मासे भिन्न सब विनाशी-मिथ्या है) यह दूसरी श्रुति है। इसप्रकार सत्यत्व, अपनी महिमामें प्रतिष्ठा, सर्वगतत्व और सर्वात्मत्व ये श्रूयमाण धर्म परमात्मामें ही उपपन्न होते हैं, दूसरेमें नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि भूमा परमात्मा ही है ॥ ९ ॥

'कस्मिन्नु खल्वाकाश० (गार्गी—किन्तु आकाश किसमें ओत प्रोत है? उस याज्ञवल्क्यने कहा—हे गार्गि! जिसे तुम पूछती हो, उस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं, वह न स्थूल है न सूक्ष्म) इत्यादि श्रुति है। यहाँ पर संशय होता है कि अक्षर शब्दसे वर्णका कथन है अथवा

सत्यानन्दी दीपिका

* 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' इस श्रुतिमें सत्यत्व, 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वमहिम्नि' इस मन्त्रमें श्रूयमाण स्वमहिमामें प्रतिष्ठितत्व, 'स एवाधस्तात् स उपरिष्ठात्' (छा० ७।२५।१) (वही नीचे और वही ऊपर है) इत्यादि में सर्वगतत्व, 'स एवेदं सर्वम्' (छा० ७।.५।१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि मन्त्रमें श्रूयमाण सर्वात्मत्व, ये सब धर्म मुख्यवृत्तिसे परमात्मामें युक्त हैं, प्राणादिमें नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि भूमा परमात्मा ही है ॥ ९ ॥

* लोक प्रसिद्धिके अनुसार वर्ण, और 'न क्षरतीति अक्षरः' अर्थात् अविनाशी, इस विग्रहके अनुसार परमात्मा इन दो अर्थोंमें अक्षर शब्दका प्रयोग किया जाता है। अतः अक्षर शब्दसे वर्णका ग्रहण करना चाहिए अथवा परमात्माका? पूर्वपक्षी—अक्षर शब्दसे वर्णका ही ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि 'न क्षरतीति अक्षरः' इस विग्रहके अनुसार नित्य पदार्थका भी ग्रहण किया जा सकता है,

किंवा परमेश्वर इति। 'तत्राक्षरसमाम्नाय' इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वात्, प्रसिद्ध्यतिक्रमस्य चायुक्तत्वात्, 'ॐकार एवेदं सर्वम्' (छा० २।२३।३) इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वावधारणात्, वर्ण एवाक्षरशब्द इति, ❀ एवं प्राप्त उच्यते—प एवात्माऽक्षरशब्दवाच्यः। कस्मात्? अम्बरान्तधृतेः—पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात्। तत्र हि पृथिव्यादेः समस्तविकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्ने मक्षरमवतारितम्। तथा चोपसंहृतम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति। न चेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति। यदपि 'ॐकार एवेदं सर्वम्' इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात्स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम्। तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म ॥१०॥

परमेश्वरका ? पूर्वपक्षी—'अक्षरसमाम्नाय' इत्यादिमें अक्षर शब्द वर्णमें प्रसिद्ध है; प्रसिद्धिका अतिक्रमण करना युक्त नहीं है, और 'ॐकार एवेदं० (यह सब ओंकार ही है) इत्यादि अन्य श्रुतिमें उपास्यरूपसे वर्णमें भी सर्वात्मकत्वका अवधारण है। इसलिए अक्षरशब्द वर्णवाचक ही है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—परमात्मा ही अक्षर शब्द वाच्य है, क्योंकि वह आकाश पर्यन्तको धारण करता है अर्थात् पृथ्वी आदिसे लेकर आकाशपर्यन्त विकार समूहको धारण करता है। भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीन कालोंमें विभक्त हुए पृथ्वी आदि समस्त विकार समूहको 'आकाश ए (आकाशमें ही वह ओत प्रोत है) इस प्रकार आकाशमें प्रतिष्ठितत्वको कहकर 'कस्मिन्नु खल्वाकाशः (आकाश किसमें ओत प्रोत है ?) इस प्रश्नसे इस अक्षरका उपनिषद्में अवतरण किया गया है। औ 'एतस्मिन्नु०' (हे गार्गि ! इस अक्षरमें आकाश ओत प्रोत है) इस प्रकार उपसंहार किया है इस आकाश पर्यन्तको धारण करना ब्रह्मको छोड़कर अन्यमें सम्भव नहीं। 'ॐकार एवेदं०' (ओं यह सब है) वह कथन भी ब्रह्मज्ञानका साधन होनेसे स्तुतिके लिए समझना चाहिए। इसलि 'न क्षरत्यश्नुते०' (नष्ट नहीं होता और सर्वव्यापक है) इस व्युत्पत्तिसे सिद्ध होता है कि नित्य औ व्यापक होनेके कारण अक्षर पर ब्रह्म ही है ॥ १० ॥

सत्यानन्दी दीपिका

तो भी योगसे रूढ़ि बलवती होनेसे वर्णका ही ग्रहण करना ठीक है। 'ओंकार एव इदं सर्वम्' इ श्रुतिके आधार पर अक्षर सर्वात्मक सिद्ध होता है। दूसरी बात यह भी है कि लोकमें वर्णोंमें अक्षर शब्द प्रसिद्ध है। संशयका कारण यह है कि अक्षर शब्द वेदोंमें ब्रह्म और ओंकार में प्रसिद्ध और लोकमें वर्णोंमें। अतः इस आधार पर भाष्यकारने ओंकारका अक्षर शब्दसे ग्रहणकर अ निराकरण भी किया है। पूर्व अधिकरणमें सत्य शब्द ब्रह्ममें रूढ होनेसे भूमा ब्रह्म है, यह कहा गया है उसी प्रकार यहाँ अक्षर शब्द वर्णमें रूढ होनेसे वर्ण ही अक्षर होना चाहिए, इस प्रकार दृष्टांत संगति पूर्वपक्ष करते हैं। पूर्वपक्षमें ओंकारकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है।

❀ सिद्धान्ती—गार्गी और याज्ञवल्क्य इन दोनोंके प्रश्न और प्रतिवचनके विचार करनेसे निश्चय होता है कि रूढ़िको बाधकर यौगिक अक्षर शब्दसे परमात्मा ही सिद्ध होता है, क्यों परमात्मा ही आकाश आदि सर्व प्रपञ्चको धारण कर सकता है, अन्य सामान्य अक्षर शब्द वा वर्ण नहीं। 'ॐकार एवेदं सर्वं' इस मंत्रमें जो ॐकारको सर्वात्मक कहा गया है वह भी परमात्म वाचक होनेके कारण नाम और नामीमें अभेद मानकर कहा गया है। समस्त मिथ्याप्रपञ्चान्त वर्णात्मक स्वयं ॐकार भी ब्रह्ममें अध्यस्त है, अतः अक्षर शब्दसे परब्रह्मका ही ग्रहण करना चा वर्णात्मक ओंकारका नहीं ॥ १० ॥

स्यादेतत्—कार्यस्य चेत्कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधानकारणवादिनोऽपीयमुपपद्यते। कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति ? अत उत्तरं पठति—

सा च प्रशासनात् ॥११॥

पदच्छेद—सा, च, प्रशासनात्।

सूत्रार्थ—(साच) और वह अम्बरान्तधृति परमेश्वरका ही कर्म है, (प्रशासनात्) क्योंकि 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि॰' इस श्रुतिमें प्रशासनका कथन है।

❀ सा चाम्बरान्तधृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म। कस्मात् ? प्रशासनात्। प्रशासनं हीह श्रूयते –'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृ० ३।८।९) इत्यादि। प्रशासनं च पारमेश्वरं कर्म, नाचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासनं भवति। न ह्यचेतनानां घटादिकारणानां मृदादीनां घटादिविषयं प्रशासनमस्ति ॥११॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

पदच्छेद—अन्यभावव्यावृत्तेः, च।

सूत्रार्थ—प्रधानादिके धर्म-अचेतनत्वादि रहित होनेसे भी अक्षर परब्रह्म ही है प्रधान नहीं।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद्ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम्। तस्यैवाम्बरान्तधृतिः कर्म नान्यस्य कस्यचित्। किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति ? अन्यस्य भावोऽन्यभावः, तस्माद्व्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरितितस्याः। एतदुक्तं भवति–यदन्यद्ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षरं व्यावर्तयति श्रुतिः–'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं

यह शंका होती है कि आकाश पर्यन्त कार्यको कारणके अधीन रहना ही यदि अम्बरांतधृतिका अर्थ है यह स्वीकार किया जाय तो प्रधान कारणवादीके प्रधानमें भी अम्बरान्तधृति उपपन्न हो सकती है। आकाश पर्यन्त धारण करनेसे अक्षर ब्रह्म ही है यह प्रतिपत्ति कैसे होती है ? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं—

और यह आकाश पर्यन्तका धारण करना परमेश्वरका ही कर्म है, क्योंकि श्रुतिमें प्रशासनका कथन है। 'एतस्य वा अक्षरस्य॰' (हे गार्गि ! इस अक्षरके अनुशासनमें सूर्य चन्द्रमा विशेष रूपसे धारित हुए स्थित रहते हैं) इत्यादि यहाँ प्रशासनकी ही श्रुति है। प्रशासन परमेश्वरका कर्म है। अचेतन प्रधानमें प्रशासनका सम्भव नहीं है, क्योंकि घटादिके कारणभूत अचेतन मृदादिमें घटादि विषयक अनुशासन नहीं है ॥ ११ ॥

अन्यभाव व्यावृत्तिरूप कारणसे भी ब्रह्म ही अक्षर शब्द वाच्य है। आकाश पर्यन्त धारण करना उसका ही कर्म है किसी अन्यका नहीं। यह अन्यभावव्यावृत्ति क्या है ? अन्यका भाव अन्यभाव अर्थात् दूसरेका धर्म, उससे जो भेद, उसे अन्यभाव व्यावृत्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मसे भिन्न दूसरा अर्थ अक्षर शब्द वाच्य है ऐसी जो यहाँ आशंकाकी जाती है, परन्तु 'तद्वा एतदक्षरं॰' (हे गार्गि ! वह यह अक्षर स्वयं दृष्टिका विषय नहीं है किन्तु द्रष्टा है, श्रवणका विषय नहीं किन्तु

सत्यानन्दी दीपिका

❀ गार्गीके प्रथम प्रश्नके उत्तरमें सम्पूर्ण कार्य प्रपञ्चका आश्रय आकाश बतलाया गया है। परन्तु आकाश तो स्वयं भी कार्य होनेसे यावत्कार्यका आश्रय नहीं हो सकता और आत्माश्रय दोष भी होता है, अतः यहाँ आकाशशब्दसे जगत्के मूल कारण अज्ञानका ग्रहण करना चाहिए, उस अज्ञानको एक प्रकारसे सांख्य लोग प्रधान कहते हैं। अतः इस प्रकरणमें अक्षरको प्रधानका भी आश्रय कहा गया है, इसलिए परमात्मा ही उसका अधिष्ठान है ॥ ११ ॥

विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११) इति । तत्राद्दष्टत्वादिव्यपदेशः प्रधानस्यापि संभवति, द्रष्टृत्वादि पदेशस्तु न संभवति; अचेतनत्वात् । तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्य स्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात् न शारीरस्याप्युपाधिमतोऽक्षरश वाच्यत्वम्; 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३।८।८) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात् । निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति । तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति निश्चयः ॥१२॥

(४ ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरणम्. सू० १३)

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥१३॥

पदच्छेद—ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्, सः ।

सूत्रार्थ—(सः) 'यः पुनरेतं' इस श्रुतिमें वह ध्यातव्य परब्रह्म ही है, (ईक्षतिकर्मव्यपदेशा क्योंकि 'परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस वाक्यशेषमें ध्येयका दर्शन-विषयरूपसे उपदेश है।

※ 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५।२, इति । किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यते आहोस्विदपरमिति । एतेनैवायत परमपरं वैकतरमन्वेतीति प्रकृत्वात्संशयः । तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम् । कस्मात् ? 'स ते सूर्ये संपन्नः', 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य फलस्योच्यमा

श्रोता है, मननका विषय नहीं किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरोंका विज्ञाता है।) अ अन्यके स्वरूपसे उस आकाश पर्यन्त धारण करनेवाले अक्षरकी व्यावृत्ति करती है। इसमें अ व्यपदेश प्रधानमें भी सम्भव है। परन्तु द्रष्टृत्वादि व्यपदेश इसमें सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अ है। इसी प्रकार 'नान्यदतोऽस्ति०' (इस प्रकृत अक्षरसे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं) य आत्मासे भिन्न वस्तुका प्रतिषेध करती है। इसलिए उपाधियुक्त जीव भी अक्षर शब्द नहीं है। क्योंकि 'अचक्षुष्कं०' (वह चक्षु रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित तथा मन रहि इस प्रकार श्रुतिने अक्षरमें उपाधिमत्त्वका प्रतिषेध किया है। उपाधिके विना जीवभाव सम्भव इससे निश्चित होता है कि अक्षर शब्द वाच्य परब्रह्म ही है॥ १२ ॥

'एतद्वै सत्यकाम० (पिप्पलाद—हे सत्यकाम ! यह जो ओंकार है वही निश्चय पर अपर ब्रह्म है, अतः विद्वान् इसी ओंकार ध्यानरूप प्राप्ति साधनसे उनमेंसे एकको प्र जाता है) इसप्रकार प्रस्तुतकर 'यः पुनरेतं० (किन्तु जो उपासक त्रिमात्राविशिष्ट 'ॐ अक्षर द्वारा इस परमपुरुषका ध्यान करता है) ऐसा श्रुति कहती है। क्या इस ध्यातव्यरूपसे परब्रह्मका उपदेश है अथवा अपर ब्रह्मका ? इसी ॐ रूप प्राप्तिके साधन और अपर दोनोंमेंसे एक ब्रह्मको प्राप्त होता है, इसप्रकार प्रकृत होनेसे संशय होता है। पू ऐसा संशय होनेपर ऐसा प्राप्त होता है कि यह ओंकार अपर ब्रह्म है, क्योंकि 'स तेजसि० तेजोमय सूर्य लोकको प्राप्त होता है) 'स सामभि० (वहांसे वह सामश्रुतियों द्वारा ब्र

सत्यानन्दी दीपिका

※ गत अधिकरणमें वर्णमें रूढ. अक्षर शब्दको जगद्को धारण करना इस लिंगसे 'न इस योगवृत्तिका आश्रयण कर ब्रह्मविषयक स्वीकार किया गया है। इसप्रकार यहां भी देशपरि श्रुति लिंगसे परशब्दकी किसीकी अपेक्षा परत्व विशिष्ट हिरण्यगर्भमें वृत्ति हो, इस दृष्टान्त पूर्वपक्ष है। यहां अक्षरात्मक ओंकार विषयक विचार है कि ओंकारसे किसकी उपासना करनी

त्वात्। नहि परब्रह्मविद्देशपरिच्छिन्नं फलमश्नुवीतेति युक्तम्; सर्वगतत्वात्परस्य ब्रह्मणः। नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे परं पुरुषमिति विशेषणं नोपपद्यते। नैष दोषः; पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः। इत्येवं ❀ प्राप्तेऽभिधीयते—परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते। कस्मात्? ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्। ईक्षतिर्दर्शनम्। दर्शनव्याप्यमीक्षतिकर्म। ईक्षतिकर्मत्वेनास्याभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यशेषे व्यपदेशो भवति—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति। तत्राभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति; मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायतिकर्मत्वात्। ईक्षतेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमित्यतः परमात्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते। स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते। ❀ नन्वभिज्ञाने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिज्ञायत इति। अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ। नचात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात्परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात्। कस्तर्हि? जीवघन इति। उच्यते—घनो मूर्तिः। जीवलक्षणो घनो जीवघनः। सैन्धवखिल्यवद्यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभाव उपाधिकृतः परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः सोऽत्र

ले जाया जाता है) इसप्रकार ॐकारको जानने वालेके लिए देशपरिच्छिन्न (सूर्यलोक और ब्रह्मलोक गमनरूप सीमित) फल कहा जाता है, परब्रह्मवेत्ता देशपरिच्छिन्न फलका भोग करे यह युक्त नहीं है, क्योंकि परब्रह्म सर्वगत है। परन्तु अपर ब्रह्मका ग्रहण करनेपर तो 'परं पुरुषम्' यह विशेषण संगत नहीं होगा ? यह दोष नहीं है, क्योंकि पिण्ड (विराट) की अपेक्षा प्राणमें भी परत्व हो सकता है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं–[यः पुनरेतं] इस वाक्यमें परब्रह्मका ही अभिध्यातव्य (ध्यान करने योग्य) रूपसे उपदेश है, क्योंकि ईक्षतिका कर्म कहा गया। ईक्षति अर्थात् दर्शन, ईक्षतिकर्म अर्थात् दर्शनविषय। इस अभिध्यातव्यपुरुषका वाक्यशेषमें दर्शनविषयरूपसे व्यपदेश है—'स एतस्माज्जीवघनात्० (ओंकारका उपासक जीवघन-हिरण्यगर्भरूप परसे पर शरीरमें प्रविष्ट हुए पुरुष-परमात्माको 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार देखता है) यहांपर अतथाभूत-मिथ्यावस्तु भी अभिध्यानका विषय होता है, क्योंकि मनोरथसे कल्पित वस्तु भी अभिध्यानका विषय होती है। परन्तु ईक्षतिका कर्म तो सत्य वस्तु ही लोकमें देखी गई है, इसलिए यथार्थ ज्ञानका विषयरूप यह परमात्मा ही ईक्षति कर्मरूपसे उपदिष्ट है ऐसा ज्ञात होता है। और वही पर और पुरुष शब्दोंसे अभिध्यातव्यरूपसे प्रत्यभिज्ञात होता है। परन्तु अभिध्यानमें परपुरुष कहा गया है और दर्शनमें परसे पर, ऐसी परिस्थितिमें एककी इतरत्र (दूसरेमें) प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—पर और पुरुष शब्द तो ['अक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'] इन दोनों वाक्योंमें समान है। यहां जीवघन शब्दसे प्रकृत अभिध्यातव्य पर पुरुषका परामर्श नहीं होता, जिससे कि उस परसे पर–यह दर्शनीय पुरुष भिन्न हो। तो जीवघन कौन है ? कहते हैं। घन माने मूर्ति। जीवरूप घन वह जीवघन। लवणपिण्डके समान परमात्माका उपाधिकृत जीवरूप अल्पभाव जो

सत्यानन्दी दीपिका

* 'यः पुनरेतं' इस वाक्यमें ऊँकाररूपसे अभिध्यानका विषय परमात्मा ही है, हिरण्यगर्भरूप अपर ब्रह्म नहीं, क्योंकि 'स एतस्माज्जीवघनात्' इस वाक्यशेषमें जीवघन अर्थात् जीव समूहरूप हिरण्यगर्भसे भिन्न पर पुरुष ही साक्षात् करने योग्य है। इस श्रुतिमें 'स' शब्दसे पूर्व श्रुतिमें कथित परब्रह्मकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए परमात्मा ही यहां अभिध्यातव्य है।

* यद्यपि ब्रह्मलोक जीवघन नहीं है, तो भी जीव समुदायका समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ब्रह्मलोकका स्वामी है, इसलिए परम्परा सम्बन्धरूप लक्षणावृत्तिसे ब्रह्मलोकको भी जीवघन कहा जाता है।

जीवघन इति। अपर आह—'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते। जीवानां हि सर्वेषां करणा वृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलो जीवघनः। तस्मात्परो यः परमात्मेक्षणकर्मभूतः स एवाभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्य *परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रह एवावकल्पते। परो हि पुरुषः परमात्मैव भव यस्मात्परं किंचिदन्यन्नास्ति; 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इति च श्रुत्यन्तरा 'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इति च विभज्य, अनन्तरमोंकारेण परं पुरुषमभिध्या ब्रुवन्परमेव ब्रह्म परं पुरुषं गमयति। 'यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पा विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानमिहाभिध्यातव्यं सूचयति। अ यदुक्तं—परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्नफलं युज्यत इति, अत्रोच्यते—त्रिमात्रे कारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः, क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्प रिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्भविष्यतीत्यदोषः ॥१३॥

विषय और इन्द्रियोंसे पर है वही यहां जीवघन कहलाता है। दूसरा इस विषयपर कहता है— सामभिः' (वह उपासक साम अभिमानी देवता द्वारा ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है) इस अ पूर्व वाक्यसे निर्दिष्ट ब्रह्मलोक जो अन्य लोकोंसे पर है वही यहां जीवघन कहा जाता है। ब्रह्म निवासी सर्वेन्द्रियात्मक हिरण्यगर्भ इन्द्रियोंसे घिरे हुए सभी जीवोंका समष्टिरूप है, इसलिए ब्रह्म जीवघन है, इससे ऐसा ज्ञात होता है कि पर पुरुष जो परमात्मा दर्शनका विषयभूत है वही अ ध्यानमें भी कर्मभूत है। और 'परं पुरुषं' यह विशेषण परमात्माका ग्रहण करनेसे ही संगत होता क्योंकि परपुरुष परमात्मा ही है जिससे पर और कुछ नहीं है, 'पुरुषान्न परं० (पुरुषसे पर नहीं है वह परम अवधि और परम गति है) यह दूसरी श्रुति है। 'परं चापरं० (जो ओंकार है पर और अपर ब्रह्म है) ऐसा विभाग करके अनन्तर ओंकार द्वारा परपुरुषको अभिध्यातव्य क हुई परब्रह्मको ही परपुरुषरूपसे ज्ञान कराती है। 'यथा पादोरस्त्वचा० (जैसे सर्प काँचुलीसे विनि होता है वैसे वह उपासक पापसे मुक्त हो जाता है) इसप्रकार पापसे विनिर्मुक्तिरूपी फलका यहां परमात्माको अभिध्यातव्यरूपसे सूचित करता है। जो यह कहा गया है कि परमात्माका अ ध्यान करने वालेके लिए देश परिच्छिन्न फल युक्त नहीं है, तो इसपर कहते हैं कि तीन मात्रा ओंकाररूप आलम्बनसे परमात्माका अभिध्यान करनेवाले उपासकको ब्रह्मलोकको प्राप्ति और त तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिरूप फल प्राप्त होता है। यहां क्रम मुक्तिके अभिप्रायसे यह हो जायगा। इ [देशपरिच्छिन्न फल प्राप्ति] कोई दोष नहीं है ॥ १३ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* ओङ्काररूपसे परमात्माका अभिध्यान करनेवाले उपासक स्वर्गलोकसे होकर ब्रह्मलो प्राप्त होते हैं। वहां ब्रह्माकी अवस्थिति पर्यन्त ऐश्वर्य सुखका अनुभव करते हैं। साथ-साथ जिज्ञासुओंको ब्रह्मा द्वारा 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्योंसे आत्मैकत्वरूप ज्ञा प्राप्त होता है। जिससे आत्मसाक्षात्कारकर महाप्रलयमें ब्रह्माके साथ कैवल्य मुक्तिको प्राप्त क इस विषयमें 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इसप्रकार ओङ्काररूपसे परमा अभिध्यान करनेवाले उपासकोंके लिए क्रम मुक्तिके अभिप्रायसे ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप परिच्छि श्रुतियोंमें कहा गया है। इसलिए ओङ्कारसे परमेश्वरका ही अभिध्यान करना चाहिए हिरण्य नहीं। पूर्वपक्षमें ओङ्कारसे अपर ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) की उपासना फल है, सिद्धान्तमें परब्रह्म की उपासना फल है ॥ १३ ॥

(५ दहराधिकरणम् सू० १४-२१)

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

पदच्छेद—दहरः, उत्तरेभ्यः ।

सूत्रार्थ—(दहरः) 'अथ यदिदमस्मिन्' इत्यादि श्रुतिमें पठित दहराकाश परमात्मा ही है, (उत्तरेभ्यः) क्योंकि 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय' इत्यादि वाक्यशेषगत आकाशोपमानत्वादि हेतुओंका प्रतिपादन है ।

❀'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ८।१।१) इत्यादिवाक्यं समाम्नायते । तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः स किं भूताकाशः, अथवा परमात्मेति संशय्यते । कुतः संशयः ? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम् । आकाशब्दो ह्ययं भूताकाशे परस्मिंश्च प्रयुज्यमानो दृश्यते । तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्, किंवा पर इति संशयः । तथा ब्रह्मपुरमिति—किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा तस्येदं पुरं शरीरं ब्रह्मपुरम्, अथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति । तत्र जीवस्य परस्य वाऽन्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः । ❀ तत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वाद्भूताकाश एव च दहरशब्द इति प्राप्तम् । तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम् । 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति च बाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः, द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितम्; अवकाशात्मनाका-

---

'अथ यदिदमस्मिन्० (अत्र इस ब्रह्मपुर—शरीरमें जो यह सूक्ष्म कमलाकार गृह है उसमें जो सूक्ष्म आकाश है उसके भीतर जो वस्तु है उसका अन्वेषण करना चाहिए उसकी विशेष जिज्ञासा करनी चाहिए) इत्यादि श्रुति वाक्य हैं । यहां सूक्ष्म हृदय कमलमें जो यह दहर-अल्प आकाश सुना जाता है । क्या वह भूताकाश है वा विज्ञानात्मा है अथवा परमात्मा है, ऐसा संशय होता है । संशय क्यों होता है ? इससे कि श्रुतिमें आकाश और ब्रह्मपुर शब्द हैं । यह आकाश शब्द ही भूताकाश और परब्रह्ममें प्रयुक्त हुआ देखा जाता है । इससे संशय होता है कि क्या यहां दहर भूताकाश ही है अथवा परब्रह्म ? उसीप्रकार 'ब्रह्मपुरम्' क्या यहां जीवका ही नाम ब्रह्म है, उसका पुर होनेसे यह शरीर ब्रह्मपुर है, अथवा परब्रह्मका ही पुर होनेसे ब्रह्मपुर है ? यहां संशय होता है कि जीव और परब्रह्म इन दोनोंमें से कौन पुरस्वामी दहराकाश है ? पूर्वपक्षी—यहाँ आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ है, इससे दहर शब्द भूताकाशका वाचक है ऐसा प्राप्त होता है । अल्प आयतनकी अपेक्षा उसमें दहरत्व-अल्पत्व है । 'यावान्वा० (जितना यह भूताकाश है उतना ही हृदयके भीतर यह दहराकाश है) इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर भाव भेदको लेकर अर्थात् कल्पित भेदको लेकर उपमानोपमेयभाव है और द्यु, पृथ्वी आदि उसके भीतर स्थित हैं, क्योंकि अवकाश

सत्यानन्दी दीपिका

* 'अथ यदिदमस्मिन्' इस श्रुतिस्थ 'अथ' शब्द भूमा विद्याके अनन्तर दहरविद्याको सूचित करता है । ब्रह्मकी अभिव्यक्तिका स्थान होनेसे इस शरीरको ब्रह्मपुर कहा जाता है । जैसे पूर्वाधिकरणमें 'पर पुरुष' शब्द ब्रह्ममें रूढ़ होनेसे परब्रह्म उपास्य कहा गया है, वैसे 'अथ यदिदमस्मिन्' यहाँ आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ होनेसे भूताकाश उपास्य होना चाहिए । इसप्रकार दृष्टान्त संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं ।

* भूताकाश दहराकाश है, ऐसा पूर्वपक्षीके द्वारा माननेपर शंका होती है—भूताकाश अल्प कैसे हो सकता है ? एक होनेसे उसमें उपमान-उपमेय भाव कैसे ? और 'उभेस्मिन् द्यावापृथिवी

शरयैकत्वात्, अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्; ब्रह्मपुरशब्दात्। जीवस्य हीदं पुरं सत् ब्रह्मपुरमित्युच्यते; तस्य स्वकर्मणोपार्जितत्वात्। भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम्। न परस्य ब्रह्मणः शरीरेण स्वस्वामिभावः संबन्धोऽस्ति। तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्था दृष्टं, यथा राज्ञः। मनउपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यै हृदयेऽन्तरावस्थानं स्यात्। दहरत्वमपि तस्यैव आराग्रोपमितत्वादवकल्पते। आकाशोप तत्वादि च ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यति। न चात्र दहरस्याकाशस्यान्वेष्यत्वं विजिज्ञासि व्यत्वं च श्रूयते। 'तस्मिन्यदन्तः' इति परविशेषणत्वेनोपादानादिति। अत उत्तरं ब्रू परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति, न भूताकाशो जीवो वा। कस्मात्? उत्तरे वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः। तथाहि—अन्वेष्टव्यतयाभिहितस्य दहरस्याकाशस्य 'तं चेद्ब्रू इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमा धानवचनं भवति—'स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्या पृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्यादि। तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्या काशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन्भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयति

रूपसे आकाश एक है। अथवा जीव दहर शब्द वाच्य है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्म शब्द है। जीवका ही पुर होता हुआ यह शरीर ब्रह्मपुर है, ऐसा कहा जाता है, कारण जीव उसे अपने कर्मोंसे उपार्जित करता है। और गौणवृत्तिसे जीव ब्रह्म शब्द वाच्य है। ब्रह्मका तो शरीरके साथ स्व स्वामिभाव सम्बन्ध भी नहीं है। लोकमें भी देखा जाता है कि न का स्वामी नगरके एक भागमें रहता है, जैसे राजा राजधानीके एक भाग राजगृहमें रहता है। उपाधिक जीव है, मन प्रायः हृदयमें रहता है, इससे जीवका ही हृदयके भीतर अवस्थान हो सकता आराग्र भागसे उपमित होनेसे उसमें ही दहरत्व भी उपपन्न होता है। आकाशके साथ उसकी उ आदि तो ब्रह्मके साथ अभेद विवक्षासे होगी। और 'तस्मिन्यदन्तः' यहाँ दहर आकाशमें अन्वे तथा विजिज्ञासितव्यत्व भी नहीं सुना जाता। किन्तु परवस्तु विषयरूपसे उसका ग्रहण है अ आभ्यन्तर वस्तुके आधार रूपसे दहराकाशका ग्रहण किया गया है। सिद्धान्ती—इसके उत्तरमें कहते हैं - यहाँ परमेश्वर ही दहराकाश होने योग्य है, भूताकाश अथवा जीव नहीं, क्योंकि वाक्य गत इस प्रकारके हेतु हैं। जैसे कि अन्वेष्टव्यरूपसे अभिहित दहराकाशका 'तं चेद्ब्रूयुः' (उस आ यदि शिष्य गण कहें) ऐसा उपक्रमकर 'किं तदत्र विद्यते० (यहाँ वह क्या है जो अन्वेष्टव्य विशेष रूपसे जिज्ञासितव्य है) इस प्रकार आक्षेपपूर्वक उसका (वह कहे कि हे शिष्य ! जितना बाह्य आकाश है उतना ही हृदयके अभ्यन्तर यह आकाश है द्यु लोक और पृथ्वी दोनों उसके स्थित हैं) इत्यादि प्रतिसमाधान वचन है । इस वाक्यसे यह ज्ञात होता है कि हृदय क अल्पत्वसे जिसको अल्पत्व प्राप्त हुआ है उस आकाशमें प्रसिद्ध आकाशके सादृश्यसे अल्पत्वकी नि करते हुए आचार्य दहराकाशमें भूताकाशत्वकी भी निवृत्ति करते हैं। यद्यपि आकाश शब्द भूता

सत्यानन्दी दीपिका

अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च' (छा० ८।१।३) (इसमें द्यु और पृथ्वी दोनों अन्तर रह हैं एवं अग्नि और वायु दोनों अभ्यन्तर रहते हैं) इस प्रकार आकाश सबका आश्रय किस प्रकार इन तीन शंकाओंका समाधान 'तस्य' इत्यादि भाष्यसे पूर्वपक्षीने किया है। जैसे हृदय रू आश्रयकी अपेक्षा भूतआकाशमें दहरत्व-अल्पत्व है, ध्यानके लिए कल्पित भेदको लेकर उ उपमेयभाव है, और स्वयं एक होनेसे सबका आश्रय भी है। परन्तु 'एष आत्मा' (यह आत्मा आत्मशब्द भूताकाशमें नहीं है, इस अरुचिसे 'अथवा' से पूर्वपक्षीने जीव पक्षका ग्रहण किया है।

गम्यते। यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढः, तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निवर्तिता भवति। *नन्वेकस्याप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेयभावः संभवतीत्युक्तम्। नैवं संभवति, अगतिका हीयं गतिः; यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम्। अपि च कल्पयित्वापि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत। ननु परमेश्वरस्यापि 'ज्यायानाकाशात्' (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति श्रुत्यन्तरान्नैवाकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते। नैष दोषः; पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहरत्व निवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न तावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम्। उभयप्रतिपादने हि वाक्यं भिद्येत। नच कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टित आकाशैकदेशे द्यावापृथिव्यादीनामन्तःसमाधानमुपपद्यते। 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इति चात्मत्वापहतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे संभवन्ति। *यद्यप्यात्मशब्दो जीवे संभवति, तथापीतरेभ्यः कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निवर्तिता भवति। न ह्युपाधिपरिच्छिन्नस्याराग्रोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृतं दहरत्वं शक्यं निवर्तयितुम्। ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येतेति चेत्—यदात्मतया जीवस्य सर्वगतत्वादि विवक्ष्येत, तस्यैव ब्रह्मणः

रूढ है, तो भी उसीके साथ उसकी उपमा उपपन्न नहीं होती अर्थात् किसी भी वस्तुकी अपने ही साथ उपमा नहीं हो सकती। दहर आकाश भूताकाश है यह शंका भी निवृत्त होती है। पूर्वपक्षीने यह कहा है कि एक आकाशमें भी बाह्य और आभ्यन्तर कल्पित भेदसे उपमान-उपमेयभाव हो सकता है, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि जो काल्पनिक भेदका आश्रय है यह तो अगतिका गति है। और दूसरी बात यह भी है कि भेदकी कल्पना करके उपमान-उपमेयभावका वर्णन करनेवालेके मतमें अभ्यन्तर आकाश परिच्छिन्न होनेसे बाह्याकाशके समान परिमाण वाला नहीं हो सकता। परन्तु 'ज्यायानाकाशात्०' (आकाशसे भी अधिक) इस दूसरी श्रुतिसे परमेश्वरमें भी आकाशके समान परिमाणत्व युक्त नहीं है। सि०—यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वाक्य पुण्डरीकके वेष्टनसे प्राप्त अल्पत्वकी निवृत्तिके लिए है भूताकाशमें समान परिमाणका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है। दोनोंके प्रतिपादनमें वाक्यभेद हो जाएगा। और पुण्डरीकसे वेष्टित कल्पित भेदवाले आकाशके एक देशमें द्युलोक और पृथ्वी आदिका अन्तरवस्थान उपपन्न नहीं होगा। 'एष आत्मापहतपाप्मा० (यह आत्मा पापसे रहित है, जरा, मरण और शोकसे रहित, भूख और प्याससे मुक्त, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है) इस प्रकार आत्मत्व, पापरहितत्व आदि गुण भूताकाशमें सम्भव नहीं हैं। यद्यपि आत्मशब्दका जीवमें प्रयोग सम्भव है, तो भी अन्य कारणोंसे जीव विषयक आशंका निवृत्त हो जाती है। उपाधिसे परिच्छिन्न और आराके अग्रभागसे उपमित जीवमें कमलवेष्टनकृत अल्पत्वका निवारण नहीं किया जा सकता। यदि ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षासे जीवमें सर्वगतत्वादिकी विवक्षा करो तो

सत्यानन्दी दीपिका

* दहराकाशके अल्पत्वकी निवृत्ति और भूताकाशके समान परिमाण, इस प्रकार एक वाक्यके दो अर्थ माननेसे वाक्यभेद रूपी दोष होता है। यह दोष यहाँ पर नहीं है, क्योंकि 'ज्यायानाकाशात्०' यह वाक्य कमलवेष्टनसे प्राप्त अल्पत्वकी निवृत्ति परक है, आकाशके समान परिमाण प्रतिपादन परक नहीं है, इसलिए दहराकाश परमेश्वर ही है भूताकाश नहीं।

* अब सिद्धान्ती जीव विषयक शंकाको निवृत्त करते हैं। यद्यपि आत्मत्व धर्म जीवमें है, तो भी सत्यकामत्व पापरहितत्व आदि धर्म उसमें नहीं हैं। इसलिए दहर शब्दसे जीवका ग्रहण सम्भव नहीं है अपितु ब्रह्मका ग्रहण ही सम्भव है। यद्यपि जीवमें हृदय रूप उपाधिसे दहरत्व है तो भी 'ज्यायानाकाशात्' यह वाक्यार्थ उसमें संगत नहीं हो सकता, क्योंकि जीव परिच्छिन्न है।

साक्षात्सर्वगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्। यदप्युक्तं—ब्रह्मपुरमिति जीवेन परस्योपल तत्वाद्राज्ञ इव जीवस्यैवेदं पुरस्वामिनः पुरैकदेशवर्तित्वमस्त्विति। अत्र ब्रूमः—परस्यैवे ब्रह्मणः पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, ब्रह्मशब्दस्य तस्मिन्मुख्यत्वात्। तस्याप्यस्ति पुरेणाने संबन्धः; उपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्र० ५। 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' (बृ० २।५।१८) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा—जीवपु एवास्मिन्ब्रह्म संनिहितमुपलक्ष्यते। यथा शालग्रामे विष्णुः संनिहित इति, तद्वत्। 'तद्यथे कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।६) इति च कर्मणा मन्तवत्फलत्वमुक्त्वा 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु काम चारो भवति' इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्यानन्तफलत्वं वदन् परमात्मत्वमस्य सूचयति। यदप्येतदुक्तं-न दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञासितव्यत्वं च श्रुतं; परविशेषणत्वेनो पादानादिति, अत्र ब्रूमः—यद्याकाशो नान्वेष्टव्यत्वेनोक्तः स्यात्, 'यावान्वा अयमाकाशस्ताव नेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याद्याकाशस्वरूपप्रदर्शनं नोपयुज्येत। *नन्वेतदप्यन्तर्वर्तिवस्तुसद्भाव प्रदर्शनायैव प्रदर्श्यते। 'तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराका

आत्मरूपसे अर्थात् ब्रह्मके साथ अभेद मानकर जीवमें सर्वगतत्वादि धर्मोंकी विवक्षा करनेकी अपेक्षा यही अधिक युक्त है कि उस ब्रह्मके ही साक्षात् सर्वगतत्वादि धर्मोंकी विवक्षा करो। जो यह कहा है कि 'ब्रह्मपुरम्' में जीवसे शरीर रूपी पुरका सम्बन्ध होनेसे राजाके समान पुरके स्वामी जीवका पुरके एक भागमें रहना सम्भव है। इस विषय पर हम कहते हैं कि परब्रह्मका ही पुर होता हुआ शरीर ब्रह्म पुर है, ऐसा कहा जाता है, क्योंकि परब्रह्ममें ब्रह्म शब्द मुख्य है। उसका भी इस पु साथ (कल्पित) सम्बन्ध है, कारण कि वह उसके उपलब्धिका स्थान है। 'स एतस्माज्जीवघना (वह उपासक इस पर-जीवघन [हिरण्यगर्भ] से भी पर-उत्कृष्ट-और शरीरमें प्रविष्ट परमात्मा दर्शन करता है) और 'स वा अयं पुरुषः० (वह पुरुष सब शरीरोंमें वर्तमान हृदयमें रहनेके का पुरिशय कहलाता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। अथवा जैसे शालग्राममें विष्णु संनिहित है, वैसे जीवपुरमें ही ब्रह्म संनिहित उपलक्षित होता है। 'तद्यथेह० (जिस प्रकार यहां कर्मसे सम्पादित क्षीण हो जाता है उसी प्रकार परलोकमें अग्निहोत्र आदि पुण्यसे उपार्जित स्वर्गलोक आदि फल हो जाता है) इसप्रकार कर्मोंका फल नश्वर कहकर 'अथ य इह० (जो यहां आत्मा-दहरका तथा उ आश्रित सत्यकाम, सत्यसंकल्प आदि गुणोंका शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनुसार ध्या अनुभवकर परलोकमें जाते हैं वे सार्वभौम राजाके समान सब लोकोंमें यथेच्छ विहार करने और अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करनेवाले होते हैं) इसप्रकार प्रकृत दहराकाशके विज्ञानका फल अ कहकर श्रुति दहाराकश परमात्मा है, सूचित करती है। दहराकाशका अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासित रूपसे श्रवण नहीं है, क्योंकि परके विशेषणरूपसे उसका ग्रहण है. ऐसा जो पूर्वपक्षीने कहा है, पर हम कहते हैं कि यदि दहराकाश अन्वेष्टव्यरूपसे न कहा गया होता, तो 'यावान्वा० (जितना बाह्य आकाश है उतना ही हृदयन्तर्गत यह आकाश है) इत्यादि आकाश स्वरूपका प्रदर्शन उप नहीं होता। परन्तु यह भी अन्तर्वर्ती वस्तुके सद्भाव प्रदर्शनके लिए दिखलाया जाता है, 'तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्० (उस आचार्यसे यदि शिष्यगण पूछें कि इस ब्रह्मपुरमें जो सूक्ष्म

सत्यानन्दी दीपिका

* यहां दहर आकाश शब्दसे परमेश्वरका ही ग्रहण करनाचाहिए। पूर्वपक्षमें भूताकाश आ उपासना फल है और सिद्धांतमें सगुण ब्रह्मकी उपासना द्वारा निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार फल है॥

किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्याक्षिप्य परिहारावसर आकाशौपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्तः समाहितत्वदर्शनात्। नैतदेवम्; एवं हि सति यदन्तःसमाहितं द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं चोक्तं स्यात्, तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत। 'अस्मिन्कामाः समाहिताः', 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृतं द्यावापृथिव्यादिसमाधानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' इति समुच्चयार्थेन चशब्देनात्मानं कामाधारमाश्रितांश्च कामान्विज्ञेयान्वाक्यशेषो दर्शयति। तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठानः सहान्तःस्थैः समाहितैः पृथिव्यादिभिः सत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते। स चोक्तेभ्यो हेतुभ्यः परमेश्वर इति ॥१४॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

पदच्छेद—गतिशब्दाभ्याम्, तथाहि, दृष्टम्, लिङ्गम्, च।

सूत्रार्थ—(गतिशब्दाभ्याम्) 'इमाः सर्वाः प्रजाः' इस श्रुतिमें गमन और ब्रह्मलोक शब्दोंसे ज्ञात होता है कि दहर ब्रह्म ही है। (तथाहि दृष्टम्) इसीप्रकार 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' इस अन्य श्रुतिसे भी जीवगम्य ब्रह्म प्रतिपादित होता है। (लिङ्ग च) एवं श्रुति प्रतिपादित जीवोंका प्रतिदिन ब्रह्मलोकमें गमन असम्भव है, इसलिए ब्रह्मैवलोकः ब्रह्मलोक; इस कर्मधारय समाससे सामानाधिकरण्य ग्रहणमें प्रतिदिन गमन ही लिंग है, अर्थात् ब्रह्मका ज्ञापक हेतु है। और सूत्रस्थ च शब्दसेनिषादस्थस्पति न्याय भी सामानाधिकरण्य के ग्रहणमें सूचित होता है।

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम्। तु एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्चयन्ते। इतश्च परमेश्वर एव दहरः, यस्माद्दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादकौ गतिशब्दौ भवतः—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८।३।२) इति। इत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्देनाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधीयमाना

कार गृह है, उसमें जो अल्प अन्तराकाश है उसके भीतर वह क्या वस्तु है जो अन्वेषण करने योग्य और विशेषरूपसे जिज्ञासा करने योग्य है) ऐसा आक्षेपकर परिहार करते समय ['यावान्वा' इस मन्त्रसे] आकाश सादृश्यके उपक्रमसे द्युलोक, पृथिवी आदिका अन्तरवस्थान दिखलाया है। सिद्धान्ती—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेपर तो उसके अन्तरवस्थित जो द्युलोक पृथिवी आदि हैं वे अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासितव्यरूपसे उक्त होंगे, ऐसी स्थितिमें वाक्यशेष उपपन्न नहीं होगा। 'अस्मिन्कामाः० (उसमें अभिलाषाएं-कामनाएं अवस्थित हैं) 'एष आत्मा० (यह आत्मा पाप मुक्त है) इसप्रकार प्रकृत द्युलोक, पृथिवी आदि जिसमें स्थित हैं उस आकाशकी अनुवृत्ति करके 'अथ य इह० (यहां जो आत्माका और इन सत्यकामोंका आचार्यके उपदेशानुसार ध्यान पूर्वक अनुभव कर परलोकमें जाते हैं) इस तरहसे यह वाक्यशेष समुच्चयवाचक 'च' शब्दसे कामोंके आधार आत्माको और उसके आश्रित कामोंको विज्ञेयरूपसे दिखलाता है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि वाक्यके उपक्रममें भी हृदयकमल जिसका आधार है वह दहराकाश ही अन्तः स्थित हुए पृथिवी आदिके साथ तथा सत्य कामोंके साथ विज्ञेय कहा गया है। अतः इन उक्त हेतुओंसे सिद्ध होता है वह दहराकाश परमेश्वर ही है ॥१४॥

वाक्यशेष गत हेतुओंसे दहर परमेश्वर ही है, ऐसा पूर्व कहा गया है। अब उन्हीं आगे जानेवाले हेतुओंका विस्तारसे वर्णन किया जाता है। इससे भी परमेश्वर ही दहर है, क्योंकि 'इमाः सर्वाः प्रजा० (ये सब जीव हृदयान्तर्गत दहराकाश नामक ब्रह्मलोकको सुषुप्तिमें प्रतिदिन प्राप्त होते हैं किन्तु अनादि अज्ञानसे आवृत्त उसको नहीं जानते) इसप्रकार दहर वाक्यशेषमें गति और शब्द परमेश्वरके प्रतिपादक हैं। इसमें प्रकृत दहरका ब्रह्मलोक शब्दसे अभिधान कर उसमें प्रजा शब्द वाच्य जीवोंकी कही हुई गति दहरमें ब्रह्मत्वका ज्ञान कराती है अर्थात् यह अवगत होता है कि

दहरस्य ब्रह्मतां गमयति। तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्त 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इत्येवमादौ। लोकेऽपि किल गाढं सुषुप्त चक्षते-'ब्रह्मीभूतो ब्रह्मतां गतः' इति। तथा ब्रह्मलोकशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमा जीवभूताकाशशङ्कां निवर्तयन्ब्रह्मतामस्य गमयति। ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकश गमयेत्। गययेद्यदि ब्रह्मणो लोक इति षष्ठीसमासवृत्त्या व्युत्पाद्येत, सामानाधिकर वृत्त्या तु व्युत्पाद्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति। एत चाहरहर्ब्रह्मलोकगमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम्। ह्यहरहरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति शक्यं कल्पयितुम् ॥१५॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

पदच्छेद—धृतेः, च, महिम्नः, अस्य, अस्मिन्, उपलब्धेः।

सूत्रार्थ—(धृतेः) 'अथ य आत्मा०' इस श्रुतिमें उक्त धृति, (च) और 'एष भूता (अस्य महिम्नः) सब लोकोंको धारण करनेकी महिमा (अस्मिन्) परमात्मामें (उपलब्धेः) उप होनेसे दहराकाश परमेश्वर ही है।

* धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः। कथम्? 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति प्रकृत्याकाशौपम्यपूर्वकं तस्मिन्सर्वसमाधानमुक्त्वातस्मिन्नेव चात्मशब्दं प्रयुज्यापहतपा त्वादिगुणयोगं चोपदिश्य तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति—'अथ य आत्मा स सेतुर्वि रेषां लोकानामसंभेदाय' (छा० ८।४।१) इति। तत्र विधृतिरित्यात्मशब्दसामानाधिकर

दहराकाश ब्रह्म है। इसी प्रकार 'सता सोम्य० (हे सोम्य! जब जीव सोता है तब सत्के साथ होता है) इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें सुषुप्ति अवस्थामें प्रतिदिन जीवोंका ब्रह्म विषयक गमन देखा है। लोकमें भी गाढ़ सुषुप्त पुरुषको 'ब्रह्मीभूत' ब्रह्मत्वको प्राप्त हुआ कहा जाता है। इसी प्रकार दहरमें प्रयुक्त हुआ ब्रह्मलोक शब्द भी दहरमें जीव और भूताकाशकी आशंकाको निवृत्त करता दहराकाश ब्रह्म है बोध (ज्ञान) करता है। परन्तु ब्रह्मलोक शब्द तो हिरण्यगर्भ—ब्रह्माके लो भी ज्ञान करता है? हां, अवश्य ज्ञान कराए यदि ब्रह्मका लोक (ब्रह्मलोक) इस षष्ठी समास ब्रह्मलोक शब्दकी व्युत्पत्ति की जाय। किन्तु यहां तो (कर्मधारय समास) से 'ब्रह्मैव लोकः' 'ब्र लोक ब्रह्मलोक है' इस सामानाधिकरण्यवृत्तिसे व्युत्पन्न हुआ कि ब्रह्मलोक शब्द परब्रह्मका ही कराएगा। परन्तु प्रतिदिन देखा गया यह ब्रह्मलोक गमन ही ब्रह्मलोक शब्दकी सामानाधि वृत्तिके ग्रहण करनेमें लिङ्ग-हेतु है। प्रतिदिन ये जीव सत्यलोक नामक कार्य-ब्रह्मलोकमें जाते हैं कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १५ ॥

और धृति रूप हेतुसे भी यह दहर परमेश्वर ही है। क्योंकि 'दहरोऽस्मिन्० (इसमें अन्तराकाश है) इस प्रकार प्रस्तुतकर, आकाशके साथ सादृश्यपूर्वक उसमें सब वस्तुओंकी कहकर, उसमें आत्मशब्दका प्रयोग कर, और अपहतपाप्मत्वादिगुणोंके सम्बन्धका उपदे असमाप्त हुए उस प्रकरणका 'अथ य आत्मा० (जो आत्मा है वह सेतु है इन लोकोंकी म साङ्कर्य न हो इसलिए सबका विधारक है) यह श्रुति निर्देश करती है। इसमें विधृति शब्दका शब्दके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे विधारयिता कहा जाता है, क्योंकि 'क्तिच' प्रत्ययका

सत्यानन्दी दीपिका

* 'अथ य आत्मा' इस श्रुतिमें जो अथ शब्द है वह पूर्व दहराकाश रूप प्रकरणकी तथा दहराकाशमें धृति आदि गुणोंके प्रारम्भवाचक है। यहाँ धृति शब्दका अर्थ धारण करनेवा

द्विधारयितोच्यते; क्तिचः कर्तरि स्मरणात्। यथोदक—संतानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसंपदामसंभेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसंभेदायासंकरायेति। एवमिह प्रकृते दहरे विधारणलक्षणं महिमानं दर्शयति। अयं च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादेः। तथान्यत्रापि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंसेदाय' इति। एवं धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवायं दहरः ॥१६॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

पदच्छेद—प्रसिद्धेः, च।

सूत्रार्थ—'आकाशो वै नाम' इत्यादि श्रुतिमें आकाश शब्द परमात्मामें ही प्रसिद्ध है, इससे भी दहराकाश परमेश्वर ही है।

* इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते। यत्कारणमाकाशशब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः। 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८।१४), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छा० १।९।१) इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। जीवे तु न क्वचिदाकाशशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धावुपमानोपमेयभावाद्यसंभवान्न ग्रहीतव्य इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

अर्थमें विधान है। जैसे जलके अविच्छिन्न प्रवाहका विधारक सेतु लोकमें क्षेत्र सम्पत्तिका मिश्रण न होनेके लिए है, वैसे यह आत्मा अध्यात्म आदि भेदसे भिन्न लोकोंका और वर्णाश्रमादिका असंभेदके लिए-संकर न होनेके लिए विधारक सेतु है। इस प्रकार यहाँ प्रकृत दहराकाशमें विधारण रूप महिमा को श्रुति दिखलाती है। और यह महिमा 'एतस्य वा अक्षरस्य०(हे गार्गी! इसी अक्षरकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा विधारित हुए रहते हैं) इत्यादि दूसरी श्रुतिसे परमेश्वरमें उपलब्ध होती है और इस प्रकार दूसरे स्थलमें भी 'एष सर्वेश्वरः० (यही सर्वेश्वर है, भूतोंका पालक है, इन लोकोंकी मर्यादाका संकर न हो इसलिए विधारक सेतु है) इस प्रकार निश्चित परमेश्वर वाक्यमें सुना जाता है। इस प्रकार धृति रूप हेतुसे यह दहर परमेश्वर ही है ॥ १६ ॥

इस हेतु से भी 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस वाक्यमें परमेश्वर ही कहा जाता है। क्योंकि 'आकाशो वै नाम० (आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम रूपात्मक प्रपञ्चका निर्वाहक है) 'सर्वाणि ह वा० (ये सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) इत्यादि प्रयोगोंके देखनेसे आकाश शब्द परमेश्वरमें प्रसिद्ध है। और जीवके लिए तो प्रयुक्त किया हुआ आकाश शब्द कहीं पर भी देखनेमें नहीं आता। यद्यपि भूताकाशमें आकाश शब्दकी प्रसिद्धि है तो भी उपमान उपमेयभावादिके असम्भव होनेसे उसका ग्रहण करना ठीक नहीं है, ऐसा (१४ वें सूत्रमें) कहा गया है ॥ १७ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

और उस दहर रूप विधारकको श्रुतिमें आत्मा कहा गया है। अतः धृति आदि हेतुओंसे दहराकाश परमेश्वर ही है ॥ १६ ॥

* 'आ समन्तात् काशते दीप्यते इति आकाशः' इससे चारों ओर प्रकाशित तथा विभुत्वादि गुण युक्त स्वयं ज्योति ब्रह्ममें आकाश शब्द प्रसिद्ध है। इस प्रकार आकाश शब्दके व्युत्पत्ति लभ्य अर्थसे भी परमात्मा ही सिद्ध होता है। यद्यपि आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ है, तथापि यहाँ उसका ग्रहण करना युक्त नहीं है, क्योंकि 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' इस श्रुतिसे उपमान-उपमेयभावका निर्देश है। वह एक आकाशमें सम्भव नहीं है, इसलिए दहराकाश परमेश्वर ही है ॥१७॥

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—इतरपरामर्शात्, सः, इति, चेत्, न, असम्भवात्।

सूत्रार्थ—'एष सम्प्रसादः' इस प्रकार इस प्रकरणमें सम्प्रसाद शब्दसे (इतरपराम जीवका परामर्श होता है। इसलिए (सः) जीव दहराकाश है, (इति चेन्न) यह कथन यु है, (असम्भवात्) क्योंकि आकाशके उपमेयत्व, पापरहितत्वादि धर्म जीवमें सम्भव नहीं हैं।

* यदि वाक्यशेषबलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येतास्तीतरस्यापि जीवस्य वा शेषे परामर्शः—'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रू निष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ८।३।४) इति। अत्र हि संप्रसादशब्दः श्रु सुषुप्तावस्थायां दृष्टत्वात्तदवस्थावन्तं जीवं शक्नोत्युपस्थापयितुं नार्थान्तरम्। तथा श व्यपाश्रयस्यैव जीवस्य शरीरात्समुत्थानं संभवति। यथाकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीना काशात्समुत्थानं, तद्वत्। यथा चादृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्दः परमेश्व समभिव्याहारात् 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयो पगतः, एवं जीवविषयोऽपि भविष्यति। तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तरा इत्यत्र स एव जीव उच्यत इति चेत्,—नैतदेवं स्यात्, कस्मात्? असंभवात्। नहि बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी सन्नाकाशेनोपमीयेत। नचोपाधिधर्मानभिमन्यमान

वाक्यशेषके बलसे यदि यह स्वीकृत हो कि दहर परमेश्वर है, तो 'अथ य एष सम्प्र (प्रजापतिने कहा कि जो यह सम्प्रसाद-जीव इस देहेन्द्रिय समूहमें आत्मबुद्धिका त्यागकर ज्ञान द्वारा प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कारकर परं ज्योति स्वरूपको प्राप्त करता है और अपने अभिव्यक्त होता है वह आत्मा है) इस वाक्यशेषमें इतरका-जीवका भी परामर्श होता है। हो अन्य श्रुतिमें सम्प्रसाद शब्द सुषुप्ति अवस्थामें प्रयुक्त हुआ देखा जाता है, इसलिए यह शब्द उस अवस्थावाले जीवका उपस्थापन कर सकता है अन्यका नहीं। जैसे आकाश व्यपाश्र आदिका आकाशसे समुत्थान होता है, वैसे शरीर व्यपाश्रय जीवका शरीरसे समुत्थान सम्भ जैसे लोक व्यवहारमें परमेश्वर विषयक आकाशशब्द अदृष्ट-अप्रसिद्ध होनेपर भी 'आकाशो वै (आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्माण करनेवाला है) इत्यादि श्रुतिमें धर्मके समभिव्यहार-समीप निर्देश होनेसे परमेश्वर विषयक स्वीकृत किया गया है, वैसे जीव भी हो जायगा। इसलिए इतर-जीवके परामर्श होनेसे 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस वाक्यमें कहा जाता है। ऐसा कहो तो, सिद्धान्ती—तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि असम्भव है। आदि उपाधियोंसे परिच्छिन्नत्वाभिमानी हुआ जीव [यावान्वा अयमाकाशः] आकाशसे उपमि हो सकता। और उपाधिके धर्मोंका अभिमान करनेवाले जीवमें पापरहितत्व आदि धर्म भी नहीं हैं। इस अधिकरणके प्रथम (१४) सूत्रमें इसका विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है।

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे 'आकाश परमेश्वर है' ऐसा लोक व्यवहारमें परमेश्वरके लिए आकाशशब्द अप्रसिद्ध है तो भी 'एष आत्मापहतपाप्मा' इस वाक्यशेषमें परमेश्वरके अपहतपाप्मत्वादि आकाश श्रुतिके समीप निर्देश होनेसे 'आकाशो वै नाम' इत्यादि स्थलोंमें परमेश्वरके लिए शब्दका प्रयोग स्वीकार किया गया है, वैसे 'अथ य एष सम्प्रसादो' इत्यादि वाक्यशेष गत आकाश शब्दका जीवके लिए प्रयोग हो सकता है, अतः संप्रसाद और उत्थानरूप लिङ्गोंसे भिन्न जीवका भी परामर्श होता है। इससे 'दहरोऽस्मिन्' यहाँ जिसका शरीरसे समुत्थान हो सक उसका ही दहराकाश शब्दसे ग्रहण करना युक्त है, ब्रह्मका नहीं, इसलिए दहराकाश जीव है॥

पहतपाप्मत्वादयो धर्माः संभवन्ति । प्रपञ्चितं चैतत्प्रथमसूत्रे । अतिरेकाशङ्कापरिहारायात्र तु पुनरुपन्यस्तम् । पठिष्यति चोपरिष्टात् 'अन्यार्थश्च परामर्शः' (ब्र० १।३।२०) इति ॥ १८ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

पदच्छेद—उत्तराद्, चेत्, आविर्भूतस्वरूपः, तु ।

सूत्रार्थ—(उत्तराद्) 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि प्रजापति वाक्यसे जाग्रत् आदि अवस्थापन्न जीवमें पापरहितत्व आदि धर्मोंका संभव होनेसे जीव दहराकाश है, (चेत्) यदि ऐसा कहो तो (आविर्भूतस्वरूपः) परमार्थरूपसे जीव विवक्षित है जीवरूपसे नहीं, इसलिए जीव दहराकाश नहीं है, अपितु ब्रह्म है । (तु) शब्द पूर्वपक्ष व्यावृत्त्यर्थक है ।

*इतरपरामर्शाद्या जीवाशङ्का जाता साऽसंभवान्निराकृता । अथेदानीं मृतस्येवामृतसेकात्पुनः समुत्थानं जीवाशङ्कायाः क्रियते—उत्तरस्मात्प्राजापत्याद्वाक्यात् । तत्र हि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' (छा० ८।७।४) इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति । 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति च तमेव पुनः पुनः परामृश्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' (छा० ८।१०।१) इति 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा' (छा० ८।११।१) इति च जीवमेवावस्थान्तरगतं

तो वक्ष्यमाण अधिक आशङ्काके परिहारके लिए इसका पुनः उपन्यास किया गया है । और आगे 'अन्यार्थश्च परामर्शः' इस सूत्रमें जीवपरामर्शका प्रयोजन कहेंगे ॥ १८ ॥

अन्यके परामर्शसे जो जीव विषयक आशङ्का उत्पन्न हुई थी, उसका परिहार जीवमें पापरहितत्व आदि धर्मोंके असम्भव होनेसे किया जा चुका है । अब अमृतसेक (छिड़कने) से जैसे मृतक पुनः जी उठता है, वैसे ही अनन्तरोक्त प्रजापति वाक्यसे जीव विषयक आशङ्काका पुनः उत्थान करते हैं, क्योंकि वहाँ 'य आत्मापहतपाप्मा० (जो आत्मा है वह पापरहित है) इस श्रुतिवाक्यसे पापरहितत्व आदि धर्मोंवाले आत्माका अन्वेषण करना चाहिए, विशेष रूपसे जिज्ञासा करनी चाहिए, इस तरहकी प्रतिज्ञा कर 'य एषोऽक्षिणि० (जो यह अक्षिमें पुरुष दिखाई देता है वह आत्मा है) इस प्रकार कहते हुए प्रजापति अक्षिस्थ द्रष्टा जीवका आत्मरूपसे निर्देश करते हैं । 'एतं त्वेव० (इस आत्माको ही मैं तुमसे पुनः कहता हूँ) उसका ही पुनः पुनः परामर्श कर 'य एष स्वप्ने० (जो यह स्वप्नमें महीयान-स्त्री आदिसे पूजित हुआ विचरता है अर्थात् भोगोंका अनुभव करता है वह आत्मा है) 'तद्यत्रैतत्सुप्तः० (जिस सुषुप्ति अवस्थामें यह सोया हुआ दर्शन आदि वृत्तिसे रहित और सम्यक्रूपसे आनन्दित हो स्वप्नका अनुभव नहीं करता वह

सत्यानन्दी दीपिका

* 'य आत्मापहतपाप्मा० (छा० ८।७।१) (प्रजापतिने कहा कि जो [धर्माधर्मादि रूप] पापशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, विशोक, क्षुधा रहित, पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है, उसे खोजना चाहिए, उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिए । जो उस आत्माको शास्त्र और गुरुके उपदेशानुसार खोजकर प्रत्यगभिन्नरूपसे अनुभव कर लेता है वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामों-भोगोंको प्राप्त कर लेता है) इस प्रकार प्रजापतिकी सभामें आत्माकी महिमा सुनकर देवों और असुरोंने विचार किया कि हम उस आत्माको जानना चाहते हैं, जिसके जाननेसे सम्पूर्ण लोक और समस्त भोग उपलब्ध हो जाते हैं । तब देवोंकी ओरसे देवराज इन्द्र और असुरोंकी ओरसे

व्याचष्टे। ❀तस्यैव चापहतपाप्मत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इति। नाह ख
यमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' (छा० ८।११।१,२)
च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्'
चोपक्रम्य, शरीरसंबंधनिन्दापूर्वकं 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुप
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इति जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमपुरुषं दर्श
तस्मादस्ति संभवो जीवे पारमेश्वराणां धर्माणाम्। अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति
एवोक्त इति चेत्कश्चिद्ब्रूयात, ❀ तं प्रति ब्रूयात्-'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इति। तुशब्दः पू

आत्मा है) इस प्रकार अवस्थान्तरगत जीवका ही व्याख्यान करते हैं। 'एतदमृ
(यह अमृत, अभय और ब्रह्म है) इसप्रकार उसीको पापरहितत्वादिरूपसे दिखलाते
'नाह खल्वयमेव० (निश्चय यह सुषुप्ति अवस्थामें यह मैं हूँ इसप्रकार न आत्मा-
जानता है और न यह इन अन्य प्राणियोंको ही जानता है) इसप्रकार सुषुप्ति अवस्थामें दोष दे
'एतं त्वेव ते० (इसीको ही मैं तुमसे पुनः कहता हूँ, इससे अन्यको नहीं) ऐसा उपक्रम कर
सम्बन्धकी निन्दा पूर्वक 'एष सम्प्रसादो० (यह सम्प्रसाद-जीव इस शरीरसे उठकर [अभिमा
त्यागकर] पर ज्योतिको प्राप्तकर पुनः अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है) इसप्रकार
समुत्थित जीवको ही उत्तम पुरुषरूपसे दिखलाता है। इसलिए परमेश्वरके धर्मोंका जीवमें सम्भ
अतः 'दहरोस्मिन्नन्तराकाशः' इस वाक्यसे दहराकाश जीव ही कहा गया है। यदि कोई ऐसा
तो उसके प्रति सिद्धान्ती कहे कि 'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इस सूत्रमें 'तु' शब्द पूर्वपक्षकी व्या

सत्यानन्दी दीपिका

असुरराट् विरोचन ये दोनों परस्पर ईर्ष्या करते हुए हाथोंमें समिधाएं लेकर प्रजापतिके पास
'तौ हं द्वात्रिं शतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच' 'उन्होंने बत्तीस वर्ष तक ब्रह्म
किया, तब उनसे प्रजापतिने कहा—तुम यहाँ किस इच्छासे ठहरे हो? उन्होंने कहा कि आ
जाननेके लिए हम यहाँ ठहरे हुए हैं। 'तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आ
(तब उनसे प्रजापतिने कहा—यह जो पुरुष नेत्रोंमें दिखाई देता है यह आत्मा है, यह
अभय और ब्रह्म है) इत्यादि प्रजापति वाक्योंके आधार पर इस जीव विषयक शङ्काका पुनः
हुआ है कि पापरहितत्व आदि धर्मोंका जीवमें असम्भव नहीं है, इसलिए जीव दहराकाश हो
है। परमेश्वरके अन्य धर्मोंका भी जीवमें 'तस्यैव' आदि भाष्यसे उल्लेख करते हैं।

❀ इसप्रकार इन्द्र और प्रजापतिके उपाख्यानसे यह प्रतीत होता है कि दहर वाक्यके
नन्तर इन्द्रके प्रश्नके उत्तरमें प्रजापतिने 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा' यह प्रथम
और 'य एष स्वप्ने महीयानश्चरत्येष आत्मा' यह द्वितीय वार और 'तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः स
स्वप्नं न व्यजानात्येष आत्मा' यह तृतीय वार और 'अथ य एष सम्प्रसादो अस्माच्छरीरात्समु
यह चतुर्थ वार पापरहितत्व आदि स्वरूप जीवका उपदेश किया है, क्योंकि सर्वगत ब्रह्ममें प
नेत्रस्थान, स्वप्न अवस्थाका सम्बन्ध और शरीरसे उत्थान आदि सम्भव नहीं है। इसलिए
स्थिति, स्वप्न अवस्थाका सम्बन्ध, सुषुप्ति अवस्थामें शरीरसे समुत्थान इत्यादि लिंग जिसमें
हैं उसीका प्रजापतिने पापरहितत्व आदि रूपसे वर्णन किया है। नेत्रमें स्थिति आदि सम्ब
सम्भव है। इसप्रकार पूर्वोक्तरीतिसे ब्रह्माने जीवका ही वर्णन किया है, और 'एतदमृतमभ
ब्रह्म० (यह अमृत, अभय और ब्रह्म है) इस प्रजापति वाक्यसे परमेश्वरके पापरहितत्व, अ
अभयत्व आदि धर्म जीवमें सम्भव हैं। अतः 'दहरोस्मिन्नन्तराकाशः' इस वाक्य घटित पापरहि
धर्म जीवमें सम्भव होनेसे दहराकाश शब्दसे जीवका ग्रहण किया जा सकता है, ब्रह्मका नहीं।

व्यावृत्त्यर्थः। नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याशङ्का संभवतीत्यर्थः कस्मात्? यतस्तत्राप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते। आविर्भूतं स्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूपः। भूतपूर्वगत्या जीववचनम्। एतदुक्तं भवति—'य एषोऽक्षिणि' इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरावब्राह्मणेनैनं शरीरात्मताया व्युत्थाप्य 'एतं त्वेव ते' इति पुनःपुनस्तमेव व्याख्येयत्वेनाकृष्य स्वप्नसुषुप्तोपन्यासक्रमेण 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति यदस्य पारमार्थिकं स्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे, न जैवेन रूपेण। यत्परं ज्योतिरुपसंपत्तव्यं श्रुतं तत्परं ब्रह्म। तच्चापहतपाप्मत्वादिधर्मकं, तदेव च जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपं 'तत्त्वमसि' इत्यादिशास्त्रेभ्यः, नेतरदुपाधिकल्पितम्। यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते, तावज्जीवस्य जीवत्वम्। यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद्व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते, नासि त्वं देहेन्द्रि-

लिए है। उत्तरवाक्यसे भी यहां जीवकी आशंका सम्भव नहीं है, ऐसा अर्थ है—क्योंकि उसमें भी आविर्भूतस्वरूप जीव विवक्षित है। जाग्रतादि अवस्थाओंसे शोधनकर अभिव्यक्त हुआ है निज प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप जिसको वह आविर्भूतस्वरूप है। भूत पूर्व अज्ञान अवस्थाकी अपेक्षा यह जीववचन है। अभिप्राय यह है कि 'य एषोऽक्षिणि' इसप्रकार नेत्रसे उपलक्षित [विश्वरूप] द्रष्टाका निर्देश कर उदशरावब्राह्मण द्वारा शरीरमें आत्मत्वसे इस जीवको अलगकर 'एतं त्वेव ते०' (इसीको ही मैं तुमसे फिर कहता हूं) इसप्रकार पुनः पुनः उसीका व्याख्येयरूपसे ग्रहणकर स्वप्न और सुषुप्तिके उपन्यासके क्रमसे 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य०' (परं ज्योतिः स्वरूपको प्राप्तकर अपनेरूपसे अभिनिष्पन्न होता है) इस तरहसे इस-जीवका यथार्थ-पारमार्थिकरूप परब्रह्म है उस रूपसे जीवका व्याख्यान करते हैं जीवके रूपसे नहीं। प्राप्तव्य जो परज्योतिः श्रुति प्रतिपादित है वह परब्रह्म है, और वह पापरहितत्व आदि धर्म वाला है। वही जीवका 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्रोंसे ज्ञातव्य पारमार्थिक स्वरूप है, इससे भिन्न उपाधि कल्पित स्वरूप पारमार्थिक नहीं है। जब तक स्थाणुमें पुरुष बुद्धिके समान द्वैतलक्षण अविद्याकी निवृत्तिकर कूटस्थ, नित्य, ज्ञानस्वरूप आत्माको 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार नहीं जान लेता तब तक जीवमें जीवत्व है। परन्तु जब देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके संघातसे पृथक् कर तू

सत्यानन्दी दीपिका

* 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' इसप्रकार प्रजापतिने इन्द्र और विरोचनको उपदेश देकर कहा कि जलसे पूर्ण शराव [कुल्हड़] में अपनेको देखो, विरोचन छायाको शरीरके अधीन देखकर अन्वय-व्यतिरेकसे शरीर आत्मा है ऐसा निश्चयकर लौट गया। किन्तु इंद्र शरीरको विनाशी निश्चितकर प्रजापतिके पास आया। इसप्रकार ब्रह्माने इन्द्रकी शरीरादिमें आत्मबुद्धिको हटाकर जीवका यथार्थस्वरूप [ब्रह्म] बतलानेके लिए कहा कि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्०' (इसीको ही मैं तुमसे फिर कहता हूँ, इससे अन्यको नहीं) इत्यादि वाक्योंसे यहां प्रजापति औपाधिक जीवरूपसे जीवका व्याख्यान नहीं करते, क्योंकि वह तो लोक प्रसिद्ध है। अपितु उसका अनुवाद कर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन परस्पर विलक्षण अवस्थाओंसे विवेचन कर ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान कराते हैं। उपाधि रहित जीवका स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा०' (इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतियां अभेदका प्रतिपादन करती हैं। इस आधार पर परमेश्वरके पापरहितत्वादि धर्मोंका जीवमें निर्देश किया है। इसप्रकार जाग्रतादि अवस्थाओंका कथन भी ब्रह्म स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए है, जीवके प्रतिपादनके लिए नहीं। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुति वाक्य भी जीवके पारमार्थिकस्वरूप (ब्रह्म) का ही प्रतिपादन करते हैं। अविद्यादि उपाधिक जीवका नहीं।

यमनोबुद्धिसंघातः; नासि संसारी, किं तर्हि ? तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूप त्वमसीति, तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्यास्माच्छरीराद्यभिमानात्समुत्थि एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति, 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु ३।२।९) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तदेव चास्य पारमार्थिकं स्वरूपं येन शरीरात्समुत्थाय स्वे रूपेणाभिनिष्पद्यते । * कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति संभवति कूट नित्यस्य ? सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसंपर्कादभिभूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषा क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । तथा नक्षत्रादीनामहन्यभि भूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । न तु तथात्मचैत ज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः संभवत्यसंसर्गित्वाद्व्योम्न इव, दृष्टविरोधाच्च । दृष्टिश्रु मतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम् । तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा निष्पन्नं दृश्यते । सर्वो हि जीवः पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्व्यवहरति; अन्यथा व्यवहारा पपत्तेः । तच्चेच्छरीरात्समुत्थितस्य निष्पद्येत, प्राक्समुत्थानाद् दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत । अ किमात्मकमिदं शरीरात्समुत्थानं, किमात्मिका वा स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति ? अत्रोच्य

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप संघात नहीं है, तू संसारी भी नहीं है, किन्तु जो सत्य है वह चै स्वरूप आत्मा है 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इसप्रकार श्रुति द्वारा प्रतिबोधित होता है । तब कूटस्थ, नि ज्ञानस्वरूप आत्माको जानकर इस शरीर आदि अभिमानका परित्यागकर वही कूटस्थ, नित्य, ज्ञा स्वरूप आत्मा होता है, क्योंकि 'स यो ह वै० (जो उस परम ब्रह्मको जानता है निस्सन्देह वह ब्र होता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं । शरीरसे आत्माभिमानको त्यागकर जो परम ज्योतिस्वरूपको प्र करता है वही उसका पारमार्थिक स्वरूप है । परन्तु अपने ही रूपको आप ही निष्पन्न होता है नित्य कूटस्थमें किस प्रकार सम्भव है ? अन्य द्रव्यके संसर्गसे जिनका स्वरूप अभिभूत हो ग तथा असाधारण विशेषगुण अभिव्यक्त नहीं है, क्षारादिसे शोधन किए हुए उन सुवर्णादिकों स्वरूपसे अभिव्यक्ति होती है । तथा दिनमें जिनके प्रकाशका अभिभव हो जाता है, उन न आदिकी रात्रिमें अभिभव करने वालेके अभावमें स्वरूपसे अभिव्यक्ति होती है यह संभव है । प आत्मा चैतन्यरूप नित्य ज्योतिका इसप्रकार किसीसे अभिभव संभव नहीं है, क्योंकि आकाशके स वह संसर्ग रहित है और प्रत्यक्ष विरोध भी है । कारण कि दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान जीवका स्वरूप है । वह शरीरसे अभिमानको न त्याग करने वाले जीवमें भी सदा रहते हैं । जीव देखते, सुनते, विचार करते और समझते हुए व्यवहार करते हैं, अन्यथा व्यवहारकी उ नहीं होगी । वह स्वरूप यदि शरीरसे अभिमान त्याग करनेसे निष्पन्न होता हो तो समुत्थानसे देखा गया व्यवहार बाधित हो जायगा, अतः शरीरसे समुत्थानका स्वरूप क्या है और स्व अभिव्यक्तिका स्वरूप क्या है ? सिद्धान्ती इसके उत्तरमें कहते हैं—जैसे शुद्ध स्फटिककी स्व

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वपक्षी—'शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (श आत्माभिमानका त्यागकर परं ज्योतिको प्राप्तकर स्वरूपसे-आत्मरूपसे अभिव्यक्त होता है) यह क ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा तो नित्य ज्ञानस्वरूप है और वह आकाशके समान असंग है तो उ स्वरूपका किसीसे भी अभिभव संभव नहीं है और जीवके प्रत्यक्ष दर्शन आदि व्यवहारसे भी प्रतीत होता है, अज्ञपुरुषका चैतन्यस्वरूप भी वृत्तिमें अभिव्यक्त होता है, अन्यथा केवल वृत्तिके होनेसे कोई भी व्यवहार नहीं होगा । अस्तु, परन्तु शरीरसे समुत्थान और अपनेसे अपनी व्यक्तिका स्वरूप क्या है ?

—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिः स्वरूपं भवति। यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छ्यं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति। प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु पराचीनः स्फटिकः स्वाच्छ्येन शौक्ल्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन्। तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव सतो जीवस्य श्रुतिकृतं विवेकविज्ञानं शरीरात्समुत्थानम्, विवेकविज्ञानफलं स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः केवलात्मस्वरूपावगतिः। तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीत्वं च, मन्त्रवर्णात् 'अशरीरं शरीरेषु' (का० १।२।२२) इति, 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३।३१) इति च सशरीरत्वाशरीरत्वविशेषाभावस्मरणात्। तस्माद्विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूपः सन्विवेकविज्ञानादाविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते। नत्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावौ स्वरूपस्य संभवतः स्वरूपत्वादेव। एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः; व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्। *कुतश्चैतदेवं प्रतिपत्तव्यम्? यतो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युपदिशति। योऽक्षिणि प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयलक्षणाद्ब्रह्मणोऽन्यश्चेत्स्यात्, ततोऽमृताभयब्रह्मसामानाधिकरण्यं न स्यात्। नापि प्रतिच्छायात्माऽयमक्षिलक्षितो निर्दिश्यते; प्रजापतेर्मृषावादित्वप्रसङ्गात्। तथा द्वितीयेऽपि पर्याये 'य एष

और शुक्लरूप विवेक ज्ञान होनेसे पूर्व रक्त, नील आदि उपाधियोंसे अविविक्त-सा होता है, वैसे विवेक ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे पूर्व शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदनारूप उपाधियोंसे जीवकी दृष्टि आदि ज्योतिः स्वरूप अविवक्त-सा होता है। यद्यपि विवेक ज्ञानके पूर्वमें भी स्फटिक वैसा शुक्ल और स्वच्छ था, तो भी प्रमाण जनित विवेक ज्ञानके अनन्तर तो स्फटिक अपने स्वच्छ और शुक्लरूपसे अभिव्यक्त हुआ कहा जाता है। उसी प्रकार देह आदि उपाधियोंसे अविविक्त हुए जीवका श्रुतियोंसे उत्पन्न हुआ विवेक-विज्ञान ही मानो शरीरसे समुत्थान है और इस विवेक विज्ञानका फल केवल आत्मस्वरूपका साक्षात्कार ही स्वरूपाभिव्यक्ति है। इसी प्रकार 'अशरीरं शरीरेषु' (जो शरीरोंमें अशरीर है) इस मन्त्रसे विवेक और अविवेकमात्रसे ही आत्मा अशरीर और सशरीर है। और 'शरीरस्थोऽपि' (हे कौन्तेय! वह शरीरमें स्थित हुआ भी वास्तवमें न करता है और न किसी कर्मसे लिप्त होता है) इस प्रकार सशरीरत्व और अशरीरत्व विषयक विशेषाभाव–भावाभावकी स्मृति है। इसलिए विवेकज्ञानके अभावसे अनभिव्यक्त स्वरूप होता हुआ भी जीव विवेक विज्ञानसे अभिव्यक्त स्वरूप होता है ऐसा कहा जाता है। अन्य प्रकारसे अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति स्वरूपमें संभव नहीं है, क्योंकि वह स्वरूप है। उसी प्रकार जीव और ईश्वरका भेद मिथ्याज्ञानसे जन्य है वास्तविक नहीं है, क्योंकि आत्मामें आकाशके समान असंगत्व अविशेष है। परन्तु यह कैसे जाना जाय? इससे कि 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते०' (नेत्रमें जो यह पुरुष दिखाई देता है) ऐसा उपदेश कर 'एतदमृतम्०' (यह अमृत और अभय है यह ब्रह्म है) ऐसा उपदेश किया है। नेत्रमें जो प्रसिद्ध विश्वरूप द्रष्टा रूपसे ज्ञात होता है यदि वह अमृत और अभय स्वरूप ब्रह्मसे अन्य हो तो अमृत और अभयरूप ब्रह्मके साथ उस [अक्षिस्थ पुरुषका] सामानाधिकरण्य नहीं होगा। अक्षि लक्षित यह प्रतिबिम्बात्मा भी निर्दिष्ट नहीं है, क्योंकि प्रजापति मिथ्यावादी हो जायगा। इसी प्रकार 'य एष स्वप्ने महीयानश्चरति०' (स्वप्नमें जो यह

सत्यानन्दी दीपिका

* जिस आत्माके ज्ञानसे कृतकृत्यता और समस्त भोगोंकी उपलब्धि होती है, उस आत्माको जाननेके लिए इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापतिके पास आये थे। ब्रह्मा उनके प्रति 'य एषोऽक्षिणि

स्वप्ने महीयमानश्चरति’ इति न प्रथमपर्यायनिर्दिष्टादक्षिपुरुषाद्द्रष्टुरन्यो निर्दिष्टः; ‘एतं त्वेव
भूयोऽनुव्याख्यास्यामि’ इत्युपक्रमात्। किंचाहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं, नेदानीं तं पश्यामि
दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे; द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति ‘य एवाहं स्वप्नमद्राक्षं स
जागरितं पश्यामि’ इति। तथा तृतीयेऽपि पर्याये ‘नहि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययम
मस्मीति नो एवेमानि भूतानि।’ इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति
विज्ञातारं प्रतिषेधति। यत्तु तत्र ‘विनाशमेवापीतो भवति’ इति तदपि विशेषविज्ञानविनाशा
प्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्; ‘नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वा
(बृ० ४।३।३०) इति श्रुत्यन्तरात्। तथा चतुर्थेऽपि पर्याये ‘एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्या
नो एवान्यत्रैतस्मात्’ इत्युपक्रम्य ‘मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्’ इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्यु
धिसंबन्धप्रत्याख्यानेन संप्रसादशब्दोदितं जीवं ‘स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’ इति ब्रह्मस्वरूपा
दर्शयन्न परस्माद्ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति। *केचित्तु—परमात्मविवक्षा
‘एतं त्वेव ते’ इति जीवाकर्षणमन्याय्यं मन्यमाना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहतपाप्मत्व

भोगोंको भोगता हुआ विचारता है वही आत्मा है) दूसरी वार भी प्रथम वार निर्दिष्ट अक्षि पु
रूप द्रष्टासे भिन्न द्रष्टाका निर्देश नहीं है। क्योंकि ‘एतं त्वेत ते०’ (इसीको मैं तुमसे पुनः कहता
ऐसा उपक्रम है। किञ्च आज मैंने स्वप्नमें हाथी देखा था, किन्तु अब उसको नहीं देख रहा हूँ
प्रकार द्रष्टका ही जागकर निषेध करता है। ‘य एवाऽहं स्वप्नमद्राक्षं०’ (जिस मैंने स्वप्न अवस्
अनुभव किया था वही मैं अब जाग्रत अवस्थाका अनुभव कर रहा हूँ) इस प्रकार उसी द्र
प्रत्यभिज्ञा करता है। इसी प्रकार तृतीयवारमें ‘नाह खल्व० (इस अवस्थामें तो निश्चय ही
हूँ’ इस प्रकार न यह आत्मा-अपनेको जानता है और न इन प्राणियोंको ही जानता है) इस
श्रुति सुषुप्ति अवस्थामें विशेष विज्ञानका अभाव ही दिखलाती है विज्ञाताका प्रतिषेध नहीं
उसमें ‘विनाशमेवा० (वह विनाशको ही प्राप्त होता है) यह भी विशेष विज्ञानके विना
अभिप्रायसे कहा गया है विज्ञाताके विनाशके अभिप्रायसे नहीं, क्योंकि ‘नहि विज्ञातुर्वि
(विज्ञाताकी विज्ञप्ति-विज्ञानशक्तिका कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है) यह
श्रुति है। इस तरह चौथी वारमें भी ‘एतं त्वेव ते० (इसीको मैं तुमसे फिर कहता हूँ इससे अ
नहीं) ऐसा उपक्रम कर ‘मघवन्मर्त्यं वा० (हे इन्द्र! निस्सन्देह यह शरीर मरणशील
इत्यादिसे विस्तार पूर्वक शरीर आदि उपाधियोंके सम्बन्धका निषेध कर ‘सम्प्रसाद’ शब्दसे
जीवकी ‘स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’ (अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है) इससे ब्रह्मस्वरूप
दिखलाकर प्रजापति अमृत, अभय स्वरूप परब्रह्मसे जीवको अन्य नहीं दिखलाते। कुछ
आचार्य तो परमात्माकी विवक्षामें ‘एतं त्वेव ते’ इससे जीवकी अनुवृत्ति अनुचित समझते
[य आत्मापहतपाप्मा] इस वाक्योपक्रममें सूचित पापरहितत्व आदि गुण विशिष्ट इसी आ

सत्यानन्दी दीपिका

पुरुषो दृश्यत एष आत्मा’ इससे अपहतपाप्मत्व आदि विशिष्ट आत्माके उपदेशकी उपेक्षाकर अ
रूप छायाका यदि उपदेश करें तो निश्चित मिथ्यावादी सिद्ध होंगे। परन्तु ब्रह्माने ‘य एषोऽ
इस श्रुति वाक्यसे छायात्माका उपदेश नहीं किया है, अपितु पापरहितत्वादि विशिष्ट आत्मा
नेत्रस्थ विश्व रूप द्रष्टाका द्रष्टारूपसे उपदेश किया है। उसीको ही दूसरी वार स्वप्न अवस्थाको
उपदेश किया है। क्योंकि ‘एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि’ इस प्रकारकी ब्रह्माने प्रतिज्ञाकी है

* सिद्धान्ती अपने अभिमतको अधिक स्पष्ट करनेके लिए किसी अन्य आचार्यके
उल्लेख करते हैं—इस मतमें जीव और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं और अपहतपाप्मत्व आदि धर्म

गुणकमात्मानं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति–कल्पयन्ति। तेषामेतमिति संनिहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुतिर्विप्रकृष्येत। भूयःश्रुतिश्चोपरुध्येत, पर्यायान्तराभिहितस्य पर्यायान्तरेऽनभिधीयमानत्वात्। 'एतं त्वेव ते' इति च प्रतिज्ञाय प्राक्चतुर्थात्पर्यायादन्यमन्यं व्याचक्षाणस्य प्रजापतेः प्रतारकत्वं प्रसज्येत। तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृभोक्तृरागद्वेषादिदोषकलुषितमनेकानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपद्यते, सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादीन्। ❀ अपरे तु वादिनः

तुम्हारे प्रति पुनः पुनः कहूँगा ऐसे अर्थकी कल्पना करते हैं। उनके मतमें संनिहित ज्ञान करानेवाली 'एतम्' यह सर्वनाम श्रुति दूरान्वित हो जायगी अर्थात् जीवका प्रतिपादन न करके अब परमात्माका प्रतिपादन करने लगेगी। और 'भूयः' इस श्रुतिका बाध भी हो जायगा, क्योंकि ['य एषोऽक्षिणि'] एक पर्यायमें अभिहितका द्वितीय पर्यायमें अभिधान नहीं है। किञ्च 'एतं त्वेव ते' इसप्रकारकी प्रतिज्ञाकर चतुर्थ पर्यायके पूर्व तक अन्यान्य पदार्थोंका व्याख्यान करने वाले प्रजापतिको प्रतारकत्व—मिथ्यावादित्व दोष प्रसक्त हो जायगा। अतः जैसे सर्पादिके बाध होनेसे रज्जु आदिके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन होता है, वैसे अविद्यासे उपस्थापित कर्तृत्व भोक्तृत्व, राग द्वेष आदि दोषोंसे दूषित अनेक अनर्थोंसे युक्त जीवके अपारमार्थिक स्वरूपका बाधकर विद्या उसके विपरीत पापरहितत्व आदि गुण विशिष्ट परमेश्वरके स्वरूपका प्रतिपादन करती है। परन्तु दूसरे वादी और कुछ हमारे सिद्धान्त पक्षके

सत्यानन्दी दीपिका

सम्भव नहीं है, इसलिए 'एतं त्वेव ते' इस श्रुतिस्थ 'एतम्' पदसे जीवकी अनुवृत्ति करना उचित नहीं है, किन्तु पापरहितत्व आदि गुण विशिष्ट परमात्माका ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि प्रजापतिने 'य आत्माऽपहतपाप्मा' ऐसा आरम्भ किया है। इन्द्र और विरोचनके आनेपर उनके प्रति प्रथम वार प्रजापतिने जाग्रत् अवस्थाके अभिमानी नेत्रस्थ विश्वपुरुषका 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा' इस प्रकार उपदेश किया। दूसरी वार इन्द्रके प्रति स्वप्न अवस्थाके अभिमानी तैजस पुरुषका 'य एष स्वप्ने महीयानश्चरति एष आत्मा' इसप्रकार उपदेश किया है। तृतीय वार सुषुप्ति अवस्थाके अभिमानी प्राज्ञका 'तद्यत्रैतत् सुप्तः सम्प्रसन्न स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाच' (छा० ८।११।१) (जिस अवस्थामें यह सोया हुआ दर्शनादि वृत्तिसे रहित और सम्यक्रूपसे आनन्दित हो स्वप्नका अनुभव नहीं करता वह आत्मा है ऐसा प्रजापतिने कहा, यह अमृत, अभय है और यह ब्रह्म है) ऐसा उपदेश किया है। परन्तु इन्द्रने प्रत्येक अवस्थाका दोष वर्णन किया। किन्तु 'एतं त्वेव ते० (जिसको तुमसे पहले कहा है उसीको मैं अब फिर कहूँगा) ऐसा प्रजापतिकी प्रतिज्ञा रही है। जिस पापरहितत्वादि विशिष्ट आत्माको प्रजापतिने इन्द्रके प्रति पहले कहा है उसको अन्त तक कहते रहे हैं। चतुर्थ वारमें 'एवमेव एष सम्प्रसादो० (छा० ८।१२।३) (उसीप्रकार यह सम्प्रसाद इसी शरीरसे समुत्थानकर परमज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है, वह उत्तम पुरुष है) यहां पर उसी आत्माका सम्प्रसादरूपसे उपदेश किया है। इसलिए अवस्थाके भेदसे आत्माका भेद नहीं है। उसी जीवका 'एतम्' पदसे प्रजापतिने उपदेश किया है। यदि 'एतम्' पदसे परमात्माका ग्रहण होता तो चतुर्थवारमें इसका ग्रहण होता, परंतु ब्रह्माने 'एतंत्वेव ते' इसका वार-वार उपदेश किया है, वह युक्त न होता। क्योंकि जब पूर्वोक्तिका पुनः कथन होता है तभी 'भूयः' पदका प्रयोग किया जाता है। परमेश्वरका स्वरूप तो चतुर्थवारमें कहा है। इससे 'भूयः' पदका भी बाध होगा। इसलिए 'एतम्' पदसे सन्निहित जीवका ग्रहण करना युक्त है ईश्वरका नहीं।

❀ जो लोग संसार तथा जीव और ईश्वरके भेदको सत्य मानते हैं अर्थात् जीवका कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिरूप और परमेश्वरका पापरहितत्व, अकर्तृत्व, सत्यकामत्व आदिरूप सत्य मानकर जीव-

पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्। तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्द नप्रतिपक्षभूतानां प्रतिबोधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञा धातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति। यत्ति परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः—'नासंभवात् (ब्र० १।३।१८) इत्यादि तत्रायमभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विप जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम्। तदात्मैकत्वप्रतिपादनपरैर्वाक्यैर्न्यायोपेतै वादप्रतिषेधैश्चापनेष्यामीति परमात्मनो जीवादन्यत्वं द्रढयति। जीवस्य तु न परस्माद प्रतिपिपादयिषति किंत्वनुवदत्येवाविद्याकल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम्। एवं हि स्वा विककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ताः कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते। प्रतिपाद्यं शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० १।१।३०) इत्या दिना। वर्णितश्चास्माभिर्विद्वदविद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः ॥ १६ ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

पदच्छेद—अन्यार्थः, च, परामर्शः।

सूत्रार्थ—(परामर्शश्च) 'अथ य एष सम्प्रसादः' इस श्रुतिमें सम्प्रसाद शब्दसे जो परामर्श किया गया है, वह (अन्यार्थः) अन्यके लिए (परमात्माका प्रतिपादन करनेके लिए) है

* अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शितः—'अथ य एष संप्रसादः' (

आचार्य भी जीवका रूप पारमार्थिक है, ऐसा मानते हैं। आत्मैकत्व सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षी सभी वादियोंके निराकरणके लिए यह शारीरक शास्त्र आरम्भ किया गया है। एक ही पर कूटस्थ, नित्य, विज्ञानस्वरूप अविद्यारूपी मायासे मायावीके समान अनेक हुआ जैसा प्रतीत हो उससे अन्य विज्ञानस्वरूप कोई वस्तु नहीं है। [य आत्माऽपहतपाप्मा] इस परमेश्वर वाक्यमें आशंकाकर 'नासम्भवात्' इत्यादिसे सूत्रकार उसका प्रतिषेध करते हैं। उसका अभिप्राय यह है नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव कूटस्थ नित्य एक असंग परमात्मामें उससे विपरीत जीवरूप आ मलिनतादिके समान परिकल्पित है। न्यायसे युक्त द्वैतवादके प्रतिषेधक एवं आत्मैकत्व प्रतिपाद वाक्योंसे उसका अपनयन करूँगा, इस आशयसे परमात्माका जीवात्मासे भेद दृढ़ करते हैं। परमात्मासे भेद प्रतिपादन करना नहीं चाहते किन्तु अविद्यासे कल्पित लोक प्रसिद्ध जीव भेदका अनुवाद करते हैं। इसप्रकार स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्वका अनुवाद करनेसे प्रवृत्त हुई कर्म वि विरुद्ध (बाधित) नहीं होती, ऐसा मानते हैं। 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इत्यादिसे यह दिखलाते हैं कि वेदांत शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय आत्मैकत्व है। हमने तो विद्वान् और अवि भेदसे कर्म विधिके विरोधके परिहारका वर्णन किया है ॥ १६ ॥

अब जो दहर वाक्यशेषमें 'अथ य एष सम्प्रसादः' इत्यादिसे जीवका परामर्श दिखला

सत्यानन्दी दीपिका

ब्रह्मकी एकताका प्रतिषेध करते हैं उनके मतका परिहार करने और यथार्थ आत्मैकत्वका ज्ञान के लिए इस शारीरक शास्त्रका आरम्भ किया गया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि अद्वैतपरक वाक्य और 'नेति नेत्यात्मा' इत्यादि द्वैतनिषेध परक वाक्यों लोक प्रसिद्ध अविद्या कल्पित भेदका इस ग्रंथमें निराकरण किया जाता है। ब्रह्म ही अ संसारी जीव है, अतः वह उससे अन्य कोई वस्तु नहीं। यह शारीरक शास्त्रका प्रतिपाद्य वि कल्पित वस्तुकी अधिष्ठान ज्ञानसे निवृत्ति होती है। जीव तथा ब्रह्मका भेद भी अविद्यासे कल्पित ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है ॥ १६ ॥

८।३।२) इत्यादिः, स दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने न जीवोपासनोपदेशो न प्रकृतविशेषोपदेश इत्यनर्थकत्वं प्राप्नोतीति। अत आह—अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी। किं तर्हि ? परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी। कथम् ? संप्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मितांश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्तः शरणं प्रेप्सुरुभयरूपादपि शरीराभिमानात्समुत्थाय सुषुप्तावस्थायां परं ज्योतिराकाशशब्दितं परं ब्रह्मोपसंपद्य विशेषविज्ञानवत्त्वं च परित्यज्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। यदस्योपसंपत्तव्यं परं ज्योतिर्येन स्वेन रूपेणायमभिनिष्पद्यते स एव आत्माऽपहतपाप्मत्वादिगुण उपास्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते ॥ २० ॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

पदच्छेद—अल्पश्रुतेः, इति, चेत्, तत्, उक्तम्।

सूत्रार्थ—(अल्पश्रुतेः) 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इससे आकाशमें अल्पत्वका श्रवण है, अतः दहराकाश परमेश्वर नहीं है, किन्तु जीव है, (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो (तदुक्तम्) इसका 'अर्भकौकस्त्वात्' (ब्र० सू० १।२।७) इस सूत्रमें समाधान कहा गया है, इसलिए दहराकाश परमेश्वर ही है।

* यदप्युक्तम्,—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याल्पत्वमवकल्पत इति, तस्य परिहारो वक्तव्यः। उक्तो ह्यस्य परिहारः परमेश्वरस्यापेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत इति 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न

है यदि ऐसा व्याख्यान करें कि वह दहर परमेश्वर है तो जीवकी उपासनाका उपदेश न करने और प्रकृत दहराकाशके विशेषके उपदेश न करनेके कारण अनर्थक हो जायेगा। इसलिए कहते हैं कि जीवका परामर्श अन्यार्थक है। यह जीवका परामर्श जीवके स्वरूपमें पर्यवसायी नहीं है किन्तु परमेश्वरके स्वरूपमें पर्यवसायी है। क्यों ? सम्प्रसाद शब्दसे उक्त जीव जाग्रत् अवस्थामें देह, इन्द्रियके पञ्जरका अध्यक्ष होकर नाड़ीमें जाकर जाग्रत् अवस्था अनुभव जन्य वासनाओंसे उत्पन्न हुए स्वप्न पदार्थोंका अनुभवकर जब श्रांत हो जाता है तब विश्राम स्थान प्राप्त करनेकी इच्छासे दोनों प्रकारके शरीर अभिमानोंसे उठकर सुषुप्ति अवस्थामें आकाशशब्दसे प्रतिपाद्य परं ज्योति स्वरूप परब्रह्मको प्राप्तकर, विशेष विज्ञानवत्त्वका परित्यागकर, अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है। जो इसके प्राप्त करने योग्य परम ज्योति है वह जिस अपने परमार्थ स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है वह यह आत्मा पापरहितत्वादिगुण विशिष्ट उपास्य है, इस अभिप्रायसे किया हुआ यह जीवका परामर्श परमेश्वरवादीके मतमें भी उपपन्न होता है ॥२०॥

'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस प्रकार आकाशमें श्रूयमाण अल्पत्व परमेश्वरमें उपपन्न नहीं होता, किन्तु आरके अग्रभागके सदृश जीवमें अल्पत्व उपपन्न होता है, ऐसा जो कहा गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसका परिहार तो 'अर्भकौकस्त्वात्' इस सूत्रमें कहा गया कि परमेश्वरका अल्पत्व आपेक्षिक हो सकता है। उसी परिहारका अनुसन्धान यहाँ भी करना चाहिए। इस प्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

* प्रजापति वाक्यमें जीवके अनुवादसे ब्रह्मके ही धर्म कहे गये हैं वे कर्म भोगी जीवमें सम्भव नहीं है, इसलिए जीव दहराकाश नहीं है। दहर वाक्यमें जीवका परामर्श इसलिए किया गया है कि उसके परामर्शके विना ब्रह्मभावका उपदेश सम्भव नहीं है, अतः इन तीनों अवस्थाओंमें जीवका ग्रहण किया गया है। वस्तुतः नित्य आनन्द स्वरूप संप्रसाद तो परमेश्वर ही है, उस स्वरूपको सुषुप्ति अवस्थामें प्राप्त करनेसे जीवका भी सम्प्रसाद शब्दसे श्रुतियोंमें प्रतिपादन है ॥ २० ॥

* इस उक्त हेतुसे भी दहराकाश जीव नहीं है किन्तु परमेश्वर ही है। 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस दहर वाक्य और 'आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इस प्रजापति वाक्यका क्रमशः सगुण

निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र० १।२।७) इत्यत्र। स एवेह परिहारोऽनुसंधातव्य इति सू यति। श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रत्युक्तं प्रसिद्धेनाकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्ताव षोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति ॥ २१ ॥

(६ अनुकृत्यधिकरणम् सू० २२–२३)

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

पदच्छेद—अनुकृतेः, तस्य, च।

सूत्रार्थ—(अनुकृतेः) 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि श्रुतिमें प्रतिपादित वस्तु कोई तेज नहीं है किन्तु निर्विशेष ब्रह्म ही है, क्योंकि 'अनुभाति' उसके प्रकाशका ही सब अनुकरण क (च) और (तस्य) उसके प्रकाशसे ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है।

⁂ 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्त भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २।२।१०) इति समामनन्ति। यत्र यं भा मनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति स किं तेजोधातुः कश्चिदुत प्राज्ञ आ विचिकित्सायां तेजोधातुरिति तावत्प्राप्तम्। कुतः? तेजोधातूनामेव सूर्यादीनां भान षेधात्। तेजःस्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजःस्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽहनि न भा इति प्रसिद्धम्। तथा सह सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन्न भासते, सोऽपि ते

सूत्रकार सूचित करते हैं। और 'यावान्वा० (जितना यह बाह्याकाश है उतना हृदयान्त आकाश है) प्रसिद्ध आकाशके साथ उपमा देनेवाली इस श्रुतिसे दहराकाशमें इस अ निरास किया गया है ॥ २१ ॥

'न तत्र सूर्यो भाति' (वहाँ-उस आत्मस्वरूप ब्रह्ममें न सूर्य प्रकाशित होता है और न च तथा तारे। वहाँ यह बिजली भी प्रकाशित नहीं होती फिर यह निरन्तर दृष्टिमें आने वाली किस गिनतीमें है? उसके प्रकाशित होनेसे ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ प्रकाशसे प्रकाशमान है) ऐसी श्रुति है। इस श्रुति वाक्यमें जिसके प्रकाशित होनेसे ये चन्द्रमा आदि प्रकाशित होते हैं और जिसके प्रकाशसे यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है। विषयमें सन्देह होता है कि क्या यह कोई तेजस्वी पदार्थ है अथवा परमात्मा? पूर्वपक्षी—यह ते पदार्थ है ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थोंके ही भानका प्रतिषेध किया है। प्रसिद्ध है कि दिनमें स्वाभाविक तेजस्वी सूर्यके प्रकाशित होनेपर तेजःस्वभाव चन्द्रमा, तारा प्रकाशित नहीं होते। तथा ऐसा ज्ञात होता है कि सूर्यके साथ यह सब चन्द्र, तारा आदि

सत्यानन्दी दीपिका

और निर्गुण ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध होता है। नाभिसे एक वितस्ती ऊपर और कण्ठसे चार नीचे वाम भागमें स्थित हृदय सर्वलोक प्रसिद्ध है। उसके अन्तर स्थित आकाशको दहर कहा जाता है ॥ २१ ॥

'न तत्र सूर्यो भाति' यह मुण्डक श्रुति इस अधिकरणका विषय वाक्य है, इस श्रुतिमें 'अनु (अनु-अनन्तर, भाति-प्रकाश करना) यह पद तभी संगत होगा जब तेजः स्वभाववाला कोई विशेष पदार्थ माना जाय, अन्यथा नहीं। समान स्वभाववालोंमें ही 'अनुकरण' देखनेमें 'जैसे गौ गौके पीछे दौड़ते हैं' पक्षी समान जातीय पक्षीके पीछे उड़ता है। परन्तु अतुल्य वालोंमें 'अनुकरण' नहीं देखा जाता, अतः सूर्य आदिके समान वह भी तेजो स्वभाव पदार्थ चाहिए। यद्यपि 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' (जिसमें द्यु, पृथ्वी और अन्तरिक्ष व्याप्त हैं) यहाँ ब्रह्म प्रकृत है, तो भी अभिभव और अनुकारात्मक लिङ्गसे प्रकरणका बाध हो

स्वभाव एव कश्चिदित्यवगम्यते। अनुभानमपि तेजःस्वभावक एवोपपद्यते; समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्, गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत्। तस्मात्तेजोधातुः कश्चिदित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—प्राज्ञ एवात्मा भवितुमर्हति। कस्मात्? अनुकृतेः। अनुकरणमनुकृतिः। यदेतत् 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इत्यनुभानं, तत्प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते। 'भारूपः सत्यसंकल्पः' (छा० ३।१४।२) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति। न तु तेजोधातुं कंचित्सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम्। समत्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षास्ति, यं भान्तमनुभायुः, नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति। यदप्युक्तं,–समानस्वभावकेष्वनुकारो दृश्यत इति। नायमेकान्तो नियमः, भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो दृश्यते। यथा सुतप्तोऽयःपिण्डोऽग्न्यनुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भौमं वा रजो वायुं वहन्तमनुवहतीति। 'अनुकृतेः' इत्यनुभानमसूसुचत्। 'तस्य च' इति चतुर्थं पादमस्य श्लोकस्य सूचयति। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति, तद्धेतुकं भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति। 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' (बृ० ४।४।१६) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति; तेजोन्तरेण सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं विरुद्धं च; तेजोन्तरेण तेजोन्तरस्य प्रतिघातात्। अथवा,– न सूर्यादीना-

प्रकाशित नहीं होते वह भी कोई तेजःस्वभाव पदार्थ है। 'अनुभान' भी तेजः स्वभाव पदार्थके होनेसे ही उपपन्न होता है, क्योंकि समान स्वभाववालोंमें ही अनुकार-अनुकरण देखा जाता है। जैसे जाते हुएके पीछे जाता है। इससे ज्ञात होता है कि यह कोई एक तेजस्वी पदार्थ है। सिद्धान्ती—ऐसा होनेपर हम कहते हैं कि यह प्रकाशक परमात्मा ही होना युक्त है। क्योंकि अनुकृतिका श्रवण है। अनुकृति अर्थात् अनुकरण। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्०' इस प्रकार यह जो अनुभान है, वह परमात्माके ग्रहण करनेसे ही संगत हो सकता है। 'भारूपः सत्यसङ्कल्पः' (वह प्रकाश रूप और सत्य सङ्कल्प है) यह श्रुति स्वयं प्रकाश रूप परमात्माको ही कहती है और किसी तेजस्वी पदार्थके अनन्तर सूर्यादि प्रकाशित होते हैं ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंको दूसरेके प्रकाशसे प्रकाशित होनेके लिए दूसरे तेजस्वी पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि दोनों समान तेजस्वी हैं। प्रदीप किसी दूसरे प्रदीपके अनन्तर प्रकाशित नहीं होता। जो यह कहा गया है कि समान स्वभाववालोंमें ही अनुकरण देखा जाता है तो यह कोई अव्यभिचरित नियम नहीं है, क्योंकि भिन्न स्वभाववालोंमें भी अनुकरण देखा जाता है। जैसे अच्छी तरह तपा हुआ लोहेका गोला अग्निका अनुकरण करता है जलती हुई अग्निके पीछे जलता है अथवा पार्थिव रज अपनेसे विलक्षण बहती हुई वायुके पीछे चलती है। 'अनुकृतेः' यह सूत्र भाग अनुभानको सूचित करता है। 'तस्य च' यह सूत्र भाग उक्त श्रुति 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' के चौथे पादको सूचित करता है। 'तस्य भासा' (उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित होता है) इस प्रकार सूर्यादिमें कहा हुआ तद्हेतुक प्रकाश परमात्माका ज्ञान कराता है। 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योति' (उस आदित्यादि ज्योतियोंके ज्योतिः स्वरूप अमृतकी देवगण आयुरूपसे उपासना करते हैं) इस प्रकार श्रुति परमात्माको कहती है। सूर्यादि तेज अन्य तेजसे प्रकाशित होते हैं—यह अप्रसिद्ध और विरुद्ध भी है, क्योंकि एक तेजका दूसरे तेजसे प्रतिघात होता है। अथवा श्रुतिमें परिपठित सूर्यादिमें ही तद्हेतुक (ब्रह्म हेतुक) प्रकाश नहीं कहा जाता। किन्तु जैसे सूर्यादि ज्योतिकी सत्तासे समस्त रूप समुदायकी अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही 'सर्वमिदम्'

सत्यानन्दी दीपिका

तेजोविशेष पदार्थ प्रतीत होता है, ब्रह्म नहीं। पूर्व 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इस श्रुति वाक्यार्थविचारके प्रसंगसे 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि वाक्यार्थका विचार करते हैं। इस प्रकार प्रसंगसंगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है।

मेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्धेतुकं विभानमुच्यते। किं तर्हि ? 'सर्वमिदम्' इत्यवि
श्रुतेः सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याऽभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिः सत्ता
मित्ता। यथा सूर्यादिज्योतिःसत्तानिमित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिस्तद्वत्। 'न तत्र
भाति' इति च 'तत्र' शब्दमाहरन्प्रकृतग्रहणं दर्शयति। प्रकृतं च ब्रह्म 'यस्मिन्द्यौः पृ
चान्तरिक्षमोतम्' (मु० २।२।५) इत्यादिना। अनन्तरं च 'हिरण्मये परे कोशे विरजं
निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः' इति। कथं तज्ज्योतिषां ज्योतिरि
इदमुत्थितम्—'न तत्र सूर्यो भाति' इति। ❀ यदप्युक्तं,—सूर्यादीनां तेजसां भानप्रतिषे
जोधातावेवान्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषामिति। तत्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न सं
वतीत्युपपादितम्। ब्रह्मण्यपि चैषां भानप्रतिषेधोऽवकल्पते। यतः—यदुपलभ्यते त
ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नान्येन ज्योतिषोपलभ्यते, स्वयंज्योतिः स्वरूपत्वा
येन सूर्यादयस्तस्मिन्भायुः। ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति, न तु ब्रह्मान्येन व्यज्यते; 'आत्मनै
ज्योतिषाऽऽस्ते' (बृ० ४।३।६), 'अगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ४।२।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥२

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते।

इस सामान्य श्रुतिसे इस समस्त नाम, रूप, क्रिया, कारक और फल समुदायकी जो अभिव्यक्ति है
ब्रह्म ज्योतिकी सत्तासे ही होती है। 'न तत्र सूर्यो भाति०' इसमें 'तत्र' शब्दका कथन करती हुई
प्रकृतका ग्रहण दिखलाती है। और 'यस्मिन् द्यौः० (जिसमें द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष
प्रोत हैं) इत्यादिसे ब्रह्म ही प्रकृत है। और अनन्तर 'हिरण्मये परे कोशे०' (वह निर्मल और
हीन ब्रह्म हिरण्मय-ज्योतिर्मय परमकोशमें विद्यमान है। वह शुद्ध और सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदा
ज्योति है, और वह है जिसे आत्मज्ञानी पुरुष जानते हैं) यह श्रुति प्रकृत ब्रह्मको ही कहती
वह ज्योतियोंका ज्योति किस प्रकार है, इस शंकाके उत्तरमें 'न तत्र सूर्यो भाति' यह मंत्र उ
हुआ। सूर्यमें दूसरे तेजोंके प्रतिषेधके समान सूर्य आदि तेजोंके प्रकाशका प्रतिषेध तभी सं
सकता है जब कि कोई दूसरा तेजस्वी पदार्थ हो, ऐसा जो कहा गया है। उसके उत्तरमें—वह
तेजोमय पदार्थ है, उससे अन्य तेजका संभव नहीं है, ऐसा उपपादन किया जा चुका है। ब्रह्म
इन सूर्यादि तेजोंके प्रकाशका प्रतिषेध हो सकता है, क्योंकि जो उपलब्ध होता है वह सब
ज्योतिसे ही उपलब्ध होता है। [यदि ब्रह्म किसी दूसरे प्रकाशसे प्रकाशित होता तो सूर्य आदि
प्रकाशक होते] किन्तु ब्रह्म तो अन्य ज्योतिसे उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं ज्योतिः स्व
जिससे सूर्य आदि उसमें प्रकाशमान हों। 'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते०' (आत्मरूप ज्योतिसे
प्रकाशित है) 'अगृह्यो नहि गृह्यते०' (वह अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता)
श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि ब्रह्म अन्य पदार्थको व्यक्त करता है। परंतु ब्रह्म अन्यसे व्यक्त नहीं होता।

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे घटादि पदार्थ सूर्यादि प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं, अतः वह प्रकाश घटादिका
है। घटादि स्वयं अप्रकाशित होनेसे अपनी उपलब्धिमें दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा रखते हैं।
तो स्वयं ज्योतिस्वरूप है। वह किसी बाह्य प्रकाशकी अपनी सिद्धिमें अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि
पुरुषः स्वयं ज्योतिः' यह श्रुति ब्रह्मको स्वयं ज्योतिरूपसे प्रतिपादित करती है। तेजोमय सूर्यादि
की अभिव्यक्ति भी ब्रह्मसे ही होती है, क्योंकि वे जड़ हैं। स्वप्नावस्थामें सूर्यादि प्रकाशके
होनेपर भी उस आत्मज्योतिसे सबकी प्रतीति होती है, अतः आत्मा स्वयं ज्योतिः स्वरूप है॥

सूत्रार्थ—(स्मर्यते) 'न तद्भासयते सूर्यो' 'यदादित्यगतं तेजो' इसप्रकार यह स्मृति (अपि) भी प्रकृत ब्रह्मका ज्योतिरूपसे प्रतिपादन करती है।

अपि चेदृग्रूपत्वं प्राज्ञस्यैवात्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गी० १५।६) इति, 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकाम्' (गी० १५।१२) इति च ॥ २३॥

(७ प्रमिताधिकरणम् सू० २४–२५)

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

पदच्छेद—शब्दाद्, एव, प्रमितः।

सूत्रार्थ—(प्रमितः) 'अंकुष्ठगात्रः पुरुषो' इस प्रमितवाक्य प्रतिपाद्य पुरुष परमात्मा ही है, (शब्दादेव) क्योंकि 'ईशानो भूतभव्यस्य' इस श्रुतिमें ईशान शब्द है।

❀ 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते। तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' (का० २।१।१३) इति च। तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते, स किं विज्ञानात्मा, किंवा परमात्मेति संशयः। तत्र परिमाणोपदेशात्तावद्विज्ञानात्मेति प्राप्तम्। न ह्यनन्तायामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणमुपपद्यते। विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात्संभवति कयाचित्कल्पनयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वम्। स्मृतेश्च—'अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥' (म० भा० ३।२९७।१७) इति। नहि परमेश्वरो बलाद्यमेन निष्क्रष्टुं शक्यः। तेन तत्र संसार्य-

और भगवद्गीतामें भी 'न तद् भासयते० (उस परं ज्योतिस्वरूपको न सूर्य प्रकाशितकर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है, वही मेरा परम धाम है जिसको प्राप्त होकर मनुष्य फिर संसारमें नहीं आता) और 'यदादित्यगतं०' (जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है उसे तू मेरा ही तेज समझ) ऐसा स्वरूप परमात्माका ही कहा गया है ॥ २३ ॥

'अंगुष्ठमात्रः० (जो अंगुष्ठ परिमाण पुरुष शरीरके मध्यमें स्थित है) और 'अंगुष्ठमात्रः० (यह अंगुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है। यह भूत भविष्यत्का शासक है। यही आज (वर्तमानकालमें) है और यही कल (भविष्यत्में) भी रहेगा। और निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है) ऐसी श्रुतियां हैं। इनमें जो यह अंगुष्ठमात्र पुरुष सुना जाता है वह क्या जीवात्मा है अथवा क्या वह परमात्मा है ? ऐसा संशय होता है। पूर्वपक्षी—इन श्रुतियोंमें परिमाणके उपदेशसे ऐसा प्राप्त होता है कि वह जीवात्मा है, क्योंकि अनन्त आयाम और विस्तार वाला परमात्मा अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला हो यह युक्त नहीं है। किन्तु विज्ञानात्मा तो उपाधि युक्त होनेसे किसी कल्पनासे अंगुष्ठपरिमाणवाला हो सकता है। और 'अथ सत्यवतः० (इसके बाद यमने सत्यवान्के शरीरसे अपने पाशोंसे बँधे हुए और कर्मवशीभूत अंगुष्ठमात्र पुरुषको बलपूर्वक खींच लिया) यह स्मृति भी है। परमेश्वर यमसे बलपूर्वक कदापि नहीं खींचा जा सकता, इससे स्मृतिमें जीव ही अंगुष्ठमात्र परिमाण

सत्यानन्दी दीपिका

❀ पूर्व अधिकरणमें परमात्मा ज्योतिः स्वरूप प्रतिपादित किया गया है और इस अधिकरणमें 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः' इस विषयवाक्यमें ज्योतिः द्वारा उपमीयमान जो पुरुष प्रतीत होता है, वह परमात्मासे भिन्न है। ऐसी आशङ्काकी उपस्थितिमें सूत्रकारने इस अधिकरणका आरम्भ किया है। अंगुष्ठमात्र हृदयके साथ विज्ञान शब्द वाच्य बुद्धिके साथ तादात्म्याध्यासकी कल्पनासे किसी

ङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः, स एवेहापीत्येवं * प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरु भवितुमर्हति। कस्मात्? शब्दात्, 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति। नह्यन्यः परमेश्वराद्भूतभव्य निरङ्कुशमीशिता। 'एतद्वै तत्' इति च प्रकृतं पृष्टमिहानुसंदधाति। एतद्वै तद्यत्पृष्टं ब्रह्मेत्यर्थः। पृष्टं चेह ब्रह्म 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्य तद्वद' (का० १।२।१४) इति शब्दादेवेति, अभिधानश्रुतेरेवेशान इति परमेश्वरो गम्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ब्रूमः—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

पदच्छेद—हृदि, अपेक्षया, तु, मनुष्याधिकारत्वात्।

सूत्रार्थ—(मनुष्याधिकारत्वात्) शास्त्रमें मनुष्य अधिकृत है, मनुष्योंका हृदय स्व स्व अं मात्र होता है। (तु) शब्द शंका निवृत्त्यर्थ है। (हृद्यपेक्षया) उस हृदयकी अपेक्षा परमेश्वर अंगुष्ठमात्र कहा गया है।

* सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृदयेऽवस्थानमपेक्ष्याङ्गुष्ठमात्रत्वमिदमुच्यते। आका शस्येव वंशपर्वापेक्षमरत्निमात्रत्वम्। नह्यञ्जसाऽतिमात्रस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम्। ननु प्रतिप्राणिभेदं हृद नामनवस्थितत्वात्तदपेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकार

वाला निश्चित होता है वही यहां भी निश्चित होता है। सिद्धान्ती—इसप्रकार प्राप्त होनेपर हम क हैं—यहां यह अंगुष्ठमात्र परिमित पुरुष परमात्मा ही हो सकता है, क्योंकि 'ईशानो भूतभव्य इस श्रुतिमें ईशान शब्द है। भूत और भव्यका निरङ्कुश ईशिता परमेश्वरसे अन्य नहीं है। 'एतद्वै (यह वही है) इसप्रकार यहां 'एतद्' शब्दसे प्रकृत पृष्टका यमराज अनुसंधान करते हैं। नचिके ने जिस ब्रह्मके विषयमें पूछा था यह वही है, ऐसा अर्थ है। 'अन्यत्र धर्माद०' (धर्मसे अ अधर्मसे अन्य तथा इस कार्य कारणसे अन्य एवं भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानसे भिन्न जिसको आ देखते हैं—अनुभव करते हैं उसे कहिए) इसप्रकार यहां ब्रह्मविषयक प्रश्न है। शब्दसे ही अ [ईशानो भूतभव्यस्य] इस अभिधान श्रुतिसे ही यह परमेश्वर ज्ञात होता है, यह अर्थ है ॥ २४

फिर सर्वत्र व्यापक परमात्मामें अंगुष्ठमात्रका उपदेश कैसे है? इस विषयमें हम कहते हैं

जैसे बांसके पर्वमें अवस्थित होनेके कारण आकाश अरत्नि-हाथ भर कहलाता है, वैसे हृ अवस्थित होनेकी अपेक्षा सर्वगत परमात्मा भी अंगुष्ठमात्र कहा जाता है, क्योंकि परिमाणातीत प मेश्वरका मुख्यरूपसे अंगुष्ठमात्र होना युक्त नहीं है, और ऐसा कहा जा चुका है कि ईशान श आदि हेतुओंके होनेसे परमेश्वरसे अन्यका यहां ग्रहण भी नहीं किया जा सकता। परन्तु प्र प्राणोका हृदय भिन्न-भिन्न परिमाण वाला होता है एक-सा नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षासे परमात्माका अंगुष्ठ परिमाण होना युक्त नहीं है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'मनुष्याधिकारत्व

सत्यानन्दी दीपिका

प्रकार बुद्धिरूप उपाधि युक्त जीवात्मा अंगुष्ठमात्र हो सकता है, किन्तु सर्वगत परमेश्वर नहीं। पूर्वपक्षीका अभिप्राय है।

* उद्धृत श्रुतियोंमें अंगुष्ठमात्र पुरुषको जगत्का नियामक कहा गया है। सबका कारण है परमेश्वर ही सभीका नियामक हो सकता है, इसलिए अंगुष्ठमात्र पुरुष परमेश्वर ही है। पूर्व ब्रह्म दृष्टिसे जीवकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें जीव ब्रह्मका अभेद ज्ञान है ॥ २४ ॥

* यद्यपि परमात्मा व्यापक है तो भी उसकी उपासनामें मनुष्यको अधिकारी मानकर

दिति। शास्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति, शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्चेति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे (जै० ६।१)। मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः। औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः। *यदप्युक्तं, परिमाणोपदेशात्स्मृतेश्च संसार्येवायमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य इति, तत्प्रत्युच्यते—'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादिवत्संसारिण एव सतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत इति। द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः, क्वचित्परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा, क्वचिद्विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोप-

शास्त्र सामन्य रीतिसे प्रवृत्त हुआ भी (त्रैवर्णिक) मनुष्योंको ही अधिकृत करता है, क्योंकि वे समर्थ हैं, कामना विशेषसे युक्त हैं, श्रुत्युक्त कर्मानुष्ठानमें अनिराकृत हैं और शास्त्र उनके उपनयन आदिका विधान करता है, ऐसा अधिकार लक्षणमें जैमिनि मुनिने वर्णन किया है। मनुष्योंका शरीर निश्चित परिमाण (अपना-अपना सात वितस्ति परिमाण) वाला होता है, इसलिए उनके हृदयका परिमाण भी उचितरूपसे नियत अंगुष्ठमात्र होना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रमें मनुष्योंका अधिकार होनेसे मनुष्यके हृदयमें अवस्थित होनेके कारण परमात्माका अंगुष्ठ परिमाण होना युक्त है। जो यह कहा गया है कि परिमाणके उपदेशसे और [सत्यवतः कायात्] इस पूर्वोक्त स्मृतिसे संसारी पुरुषको ही अंगुष्ठमात्र पुरुष समझना चाहिए, उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा है वह तू है) इत्यादिके समान इस अंगुष्ठमात्र संसारीको ही ब्रह्मरूपसे यह उपदेश किया जाता है, क्योंकि वेदान्त वाक्योंको दो प्रकारकी प्रवृत्ति है। कहीं परमात्मस्वरूप

सत्यानन्दी दीपिका

उसके हृदयको उपासनाका स्थान मानकर अंगुष्ठमात्र हृदयके परिमाणको परमात्माका परिमाण स्वीकार किया गया है। मनुष्योंमें भी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनोंका वैदिक कर्म करनेमें अधिकार है, ये तीनों ही समर्थ, अर्थी, अनिराकृत और उपनयन आदि शास्त्र वाले हैं। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि सामर्थ्यका प्रतिपादन है। इससे यह सूचित होता है कि पशु, देव और ऋषि आदिका अधिकार निषिद्ध है। कारण कि शास्त्रज्ञान रहित होनेसे पशु अधिकारी नहीं हो सकता। देव आदिके उद्देश्यसे होम आदि किए जाते हैं, इन्द्र आदि देव अपनेको उद्देश्यकर होम आदि नहीं कर सकते, इससे वे वैदिक यज्ञादि कर्म करनेमें असमर्थ हैं। इसप्रकार आर्षेयवरण-ऋषियोंके वरणमें अन्य ऋषिके अभावसे ऋषि भी असमर्थ होते हैं। अर्थित्व कहनेसे यह सूचित होता है कि कामना रहित मुमुक्षु और पशु, स्थावर आदिका कर्मानुष्ठानमें अधिकार निराकृत है। मुमुक्षु चित्तशुद्धिके लिए निष्काम भावसे नित्य और नैमित्तक कर्म कर सकता है किन्तु काम्यकर्म नहीं। जिसका चित्त शुद्ध है उसका कर्म करनेमें अधिकार नहीं है किन्तु मोक्षके साधन वेदान्त श्रवण आदिमें अधिकार है। अपर्युदस्तत्व शब्दसे शूद्रका वैदिक कर्मानुष्ठानमें निषेध सूचित किया गया है, 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७।१।१।६) (शूद्र यज्ञके योग्य नहीं है) क्योंकि वह द्विज नहीं है, इसलिए वेदाध्ययनके आरम्भमें उपनयन-यज्ञोपवीत आदि संस्कार उसके नहीं होते। 'उपनयीत तमध्यापयीत' (द्विज उपनयन करे, वेदाध्यापन करे) 'वसन्ते वसन्ते ब्राह्मणो अग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः' (प्रत्येक वसन्त ऋतुमें ब्रह्मण अग्निका अधान करे, ग्रीष्ममें क्षत्रिय और शरदमें वैश्य) इसप्रकार तीनों वर्णोंका वैदिक कर्ममें अधिकार है। यहां 'पर्युदस्त' शब्द शूद्रका निराकरण करता है, अतः उससे भिन्न शेष तीन वर्ण अपर्युदस्त कहलाते हैं, इसलिए इन तीनोंका वैदिक कर्ममें अधिकार है।

---

* इस पूर्वोक्त रीतिसे 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इत्यादि मन्त्र जीव और ब्रह्ममें अभेद कहकर

देशपरा । तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते, नाङ्गुष्ठमात्रत्वं कस्यचित् ।
मेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनि
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतम्' (का० २।६।१७) इति ॥

(८ देवताधिकरणम् सू० २६–३३)

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—तदुपरि, अपि, बादरायणः, सम्भवात् ।

सूत्रार्थ—(तदुपर्यपि) मनुष्यसे श्रेष्ठ देवादिमें (सम्भवात्) अर्थित्व आदि अधिकारके का
सम्भव होनेसे वे भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारी हैं, (बादरायणः) ऐसा बादरायण आचार्य मानते

* अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षा मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तं, तत्प्रसङ्गे
मुच्यते । बाढम्, मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्; नतु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽ
तेषां मनुष्याणामुपरिष्टाद्ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति बादरायण आचार्यो म
कस्मात्? संभवात् । संभवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम् । तत्रार्थित्वं ताव
विषयं देवादीनामपि संभवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालोचनादिनिमित्तम् ।
सामर्थ्यमपि तेषां संभवति; मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्योविग्रहवत्त्वाद्यवगमा
नच तेषां कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति । नचोपनयनशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत; उपन

निरूपण परक है और कहीं पर जीवात्मामें परमात्मैकत्वपरक उपदेश है । यहां पर जीवात्मा
मात्माके साथ एकत्वका उपदेश है, किसीका भी अंगुष्ठ परिमाणके उपदेशमें तात्पर्य नहीं है ।
अर्थको 'अङ्गुष्ठमात्रः' (अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जो अन्तरात्मा है सर्वदा जीवके हृदय देशमें स्थित है
सींकके समान उसे धैर्यपूर्वक अपने शरीरसे बाहर निकाले अर्थात् शरीरसे पृथक्कर अनुभव
उसे शुक्र (शुद्ध) और अमृतरूप समझे) इस उत्तर वाक्यसे यमराज स्पष्ट करेंगे ॥ २५ ॥

जो यह कहा गया है कि अंगुष्ठमात्र श्रुति मनुष्यके हृदयकी अपेक्षा रखती है, क्योंकि
मनुष्यका अधिकार है उस प्रसंगसे यह कहा जाता है । यह ठीक है कि शास्त्र मनुष्योंको
करता है, परन्तु वह केवल मनुष्योंको ही अधिकृत करता है ऐसा यहां ब्रह्मज्ञानमें नियम न
किन्तु बादरायण आचार्यका मत है कि उन मनुष्योंसे श्रेष्ठ जो देवादि हैं उनको भी शास्त्र
करता है । क्योंकि ऐसा सम्भव है । कारण कि उनमें भी अर्थित्वादि अधिकारका कारण सम्भ
क्योंकि विकार विषय विभूति (ऐश्वर्यसूख) में अनित्यत्व आलोचन आदि निमित्तक मोक्ष
अर्थित्व देवादिमें भी हो सकता है । उसी प्रकार उनमें सामर्थ्य भी संभव है । क्योंकि मन्त्र,
इतिहास, पुराण और लोक अनुभवसे यह अवगत होता है कि वे शरीरधारी हैं । उनके लि
प्रतिषेध नहीं है । और उपनयन आदि शास्त्रसे उनका (ब्रह्मविद्यामें) अधिकार निवृत्त न

सत्यानन्दी दीपिका

अंगुष्ठमात्र शब्दसे सर्वव्यापक परमेश्वरका ही ग्रहण करते हैं सांसारिक जीवका नहीं । पूर्वप
दृष्टिसे जीवकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें अन्तरात्मा और ब्रह्मका अभेद ज्ञानफल है ॥ २५ ॥

* गत अधिकरणके अनुसार शास्त्रमें यदि मनुष्योंका ही अधिकार है. तो देवादि
विद्यामें अधिकार नहीं होगा । इस आक्षेप संगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है । वैदि
नुष्ठानमें मनुष्यका अधिकार है यह युक्त है । परन्तु ब्रह्मज्ञानमें भी केवल मनुष्योंका ही
अन्यका नहीं, यह नियम नहीं है । क्योंकि शास्त्रमें अधिकारके कारण सामर्थ्य, अर्थित्वादि तो
भी सम्भव हैं । यद्यपि ऐश्वर्य सुखमें आसक्त होनेके कारण उनमें वैराग्यादिका होना कठि
भी भोगोंको परिणामी, नश्वर, समझने वाले और निरतिशय सुखको चाहनेवाले विवेकी देव

वेदाध्ययनार्थत्वात्। तेषां च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्। ❀ अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास' (छा० ८।११।३), 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० ३।१) इत्यादि। यदपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—'न देवानां देवतान्तराभावात्' (जै० ६।१।६) इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जै० ६।१।७) इति। न तद्विद्यास्वस्ति। न हीन्द्रादीनां विद्यास्वधिक्रियमाणानामिन्द्राद्युद्देशेन किंचित्कृत्यमस्ति। न च भृग्वादीनां भृग्वादिसगोत्रतया। तस्माद्देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते? देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते ॥ २६ ॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

पदच्छेद—विरोधः, कर्मणि, इति, चेत्, न, अनेकप्रतिपत्तेः, दर्शनात्।

सूत्रार्थ—इन्द्र आदि देवोंका यदि शरीर माना जाय तो (कर्मणि विरोधः) कर्ममें विरोध हो जायगा। (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं, (अनेकप्रतिपत्तेः) क्योंकि युगपत् एकको ही अनेक शरीरों की प्राप्ति होती है, ऐसा (दर्शनात्) 'स एकधा भवति' (वह एक प्रकारका होता है तीन प्रकारका होता है) इत्यादि श्रुतियोंमें देखा जाता है। अथवा अनेक कर्मोंमें एकका ही अङ्ग होना लोकमें देखा जाता है, अतः इन्द्र आदिका भी अनेक स्थलोंमें हवि ग्रहण करना युक्त है।

❀ स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत। विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत। तदा

कारण कि उपनयन वेद अध्ययनके लिए होता है, उनको वेदका प्रकाश स्वयं ही होता है। और 'एकशतं ह वै०' (इन्द्रने प्रजापतिके यहां एकसौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास किया) 'भृगुर्वै वारुणिः' (वरुणका सुप्रसिद्ध पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया, और बोला—भगवन् मुझे ब्रह्मज्ञानका उपदेश कीजिए) इत्यादि श्रुति उन देवादिमें विद्या ग्रहणके लिए ब्रह्मचर्य आदि दिखलाती है। 'न देवानां०' (देवताओंको कर्ममें अधिकार नहीं है, क्योंकि अन्य देवताओंका अभाव है अर्थात् इन्द्रसे पृथक् अन्य इन्द्रका अभाव है) और 'न ऋषीणाम्०' (ऋषियोंका कर्ममें अधिकार नहीं है, क्योंकि दूसरे ऋषिका अभाव है अर्थात् तद्नाम और तद्रूपवाला अन्य ऋषि नहीं है जिसके उद्देश्यसे कर्म करे) इसप्रकार जो उनका कर्ममें अनधिकारका कारण कहा गया है वह विद्यामें नहीं है। क्योंकि विद्यामें अधिकारी हुए इन्द्रादिका इन्द्रादिके उद्देश्यसे कोई भी कृत्य नहीं है। और भृगु आदि ऋषियोंका भी भृगु आदिके सगोत्रके उद्देश्यसे कोई भी कृत्य नहीं है। इससे देवादिका भी विद्याओंमें अधिकार कौन निवारण कर सकता है। देवादिके अधिकारमें भी अंगुष्ठमात्र श्रुति अपने अंगुष्ठकी अपेक्षासे विरुद्ध नहीं है ॥ २६ ॥

ऐसा हो, यदि शरीरधारी स्वीकारकर देव आदिका विद्याओंमें अधिकार कहा जाय तो शरीरवाला होनेसे ऋत्विक् आदिके समान इन्द्र आदिका भी स्वरूप संनिधानसे कर्ममें अङ्ग भाव स्वीकार करना पड़ेगा तब तो कर्ममें विरोध होगा, क्योंकि यागमें स्वरूप सान्निध्यसे इन्द्र आदिका अङ्ग भाव

सत्यानन्दी दीपिका

हो सकते हैं। इसप्रकारके अनेक उदाहरण शास्त्र आदिमें उपलब्ध होते हैं।

* तद्यो यो देवानां प्रत्युबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणाम्' (देव ऋषि और मनुष्योंमें से जिस जिसने यह जान लिया कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह ब्रह्म ही हो गया) इससे देवोंका ब्रह्म विद्यामें अधिकारका कोई प्रतिषेध नहीं कर सकता। यहाँ पूर्वपक्षमें क्रममुक्तिकी इच्छा वाले पुरुषोंकी दहर आदि उपासनाओंमें अप्रवृत्ति फल है, क्योंकि पूर्वपक्षमें जब देवोंका ज्ञानमें अधिकार नहीं है तब

च विरोधः कर्मणि स्यात्। नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। संभवति; बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानतानुपपत्तेरिति चेत्, नायमं विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः। एकस्यापि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रति संभवति। कथमेतदवगम्यते? दर्शनात्। तथा हि—'कति देवाः' इत्युपक्रम्य 'त्रयश्च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' इति निरुच्य 'कतमे ते' इत्यस्यां पृच्छायाम् 'महिमान एवैषा त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः' (बृ० ३।६।१,२) इति ब्रुवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो युगपद रूपतां दर्शयति। ❀ तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षडाद्यन्तर्भावक्रमेण 'कतम एको देव इति

देखनेमें नहीं आता और सम्भव भी नहीं है, क्योंकि बहुत यागोंमें एक ही समय एक ही स्वरूपसे उपस्थिति अनुपपन्न है, ऐसा यदि कहो तो यह विरोध नहीं है, क्योंकि अनेक प्रतिपत्ति एक ही समयमें एक ही देवतात्मामें अनेक शरीरोंकी प्राप्ति सम्भव है। यह कैसे समझा जाय? होनेसे अर्थात् श्रुतिमें ऐसा देखा जाता है, क्योंकि 'कतिः देवाः' (देवता कितने हैं) ऐसा उप 'त्रयश्च त्रीच' (तीन सौ तीन और तीन हजार तीन अर्थात् तीन सहस्र तीन सौ छः है) निर्वचनकर 'कतमे' (वे कौन हैं) ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर 'महिमान एवैषा० (याज्ञवल्क्य इनकी महिमाएँ ही हैं। देवता तो आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजा प्रकार तैंतीस ही हैं) इस प्रकार कहती हुई श्रुति एक एक देवतात्माकी एक ही समयमें अनेक दिखलाती हैं। उसीप्रकार उन तैंतीस देवोंका क्रमशः छः तीन, दो और एकमें अन्तर्भाव दिख

सत्यानन्दी दीपिका

दहर आदि उपासनासे देव भावको प्राप्त होनेपर भी वे उपासक क्रम मुक्तिको प्राप्त नहीं क क्योंकि कैवल्य मुक्ति ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानसे ही होती है, उनको इस प्रकारका ज्ञान नहीं होता सिद्धान्तमें क्रम मुक्तिकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंकी दहरादि उपासनाओंमें प्रवृत्ति फल है। देवादिको ज्ञानमें अधिकार है। इस कारण दहरादि उपासना द्वारा क्रमसे मोक्षार्थी पुरुष प्राप्तकर ब्रह्मादि लोगोंमें आत्मैकत्व ज्ञान प्राप्तकर मोक्षको प्राप्त हो सकते हैं ॥ २६ ॥

* यदि देवताको देहधारी मानें तो याग आदिमें ऋत्विक्के समान उसका भी वहाँ दर्शन होना चाहिए, परन्तु होता नहीं है, अतः अर्थ युक्त शब्दको ही देवता मानना शब्दात्मक देवता तो जड़ है, इसलिए उसकी विद्यामें अधिकारकी चर्चा ही असम्भव है। देवता माननेसे कर्ममें विरोध भी नहीं होगा। सिद्धान्ती—यह युक्त नहीं है, क्योंकि युगपद् अनेक शरीर धारण करनेमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, लोक अनुभव आदि अनेक प्रमाण हैं। जैसे योगी लोग योगबलसे एक ही समयमें अनेक स्वरूपोंको धारण कर करते हैं, वैसे देवता भी ऐश्वर्य आदि बलसे अनेक स्वरूप धारण करते हैं, इसमें कोई अवकाश नहीं है। इस विषयमें शाकल्य और याज्ञवल्क्यका प्रश्नोत्तर है—शाकल्य—'कतमे कितने हैं ?) याज्ञवल्क्य—'त्रयस्त्रिंशत्त्वेव' (वे तैंतीस हैं) अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदि चन्द्रमा और नक्षत्र, ये आठ वसु हैं, क्योंकि यही प्राणियोंके कर्मफलके आश्रय देहादि संघात रूपसे परिणत होकर सर्व जगत्को बसाते हैं, इसलिए ये वसु कहे जाते हैं। पाँच पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन ये एकादश रुद्र हैं, क्योंकि मृत्युके समयमें इनके देहसे निक कुटम्बियोंको रुलाने-रुदन करानेसे ये रुद्र कहलाते हैं। वर्षमें द्वादश मास होनेसे द्वादश आ ये पुनः पुनः परिभ्रमण करते हुए आयु और कर्मफल भोगको हरण करते हैं, अतः ये आदि जाते हैं। इन्द्र और प्रजापति ये ही देवता अपनी-अपनी सामर्थ्यसे अनेक रूप हो जाते हैं।

❀ वे तैंतीस देवता, अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक इन

इति प्राणैकरूपतां देवानां दर्शयन्ती तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपतां दर्शयति। तथा स्मृतिरपि—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ॥ योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ॥ संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥' इत्येवंजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति। किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम्। अनेकरूपप्रतिपत्तिसंभवाच्चैकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभावं गच्छतीति। परैश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिक्रियायोगादित्युपपद्यते। अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि कर्माङ्गभावचोदनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते। क्वचिदेकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं न गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद्भोज्यते। क्वचिच्चैकोऽपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो युगपन्नमस्क्रियते। तद्वदिहोद्देश-

'कतम एको देवः' (वह एक देव कौन है ? प्राण है) इसप्रकार देवोंका प्राणरूप एक स्वरूप दिखलाती हुई श्रुति उसी एक प्राणकी युगपत् अनेक रूपता दिखलाती है। तथा 'आत्मनो वै० (हे भरतकुलमें श्रेष्ठ ! योगी योग महिमासे अपने अनेक शरीर धारण करता है उन सब शरीरोंसे पृथिवीमें विचरण करता है, उनमेंसे कुछ शरीरोंसे विषयभोग प्राप्त करता है और कुछ शरीरोंसे उग्रतप करता है, और फिर जैसे सूर्य रश्मि समूहको अपनेमें समेट लेता है, वैसे योगी पुरुष उन शरीरोंको अपनेमें समेट लेता है) इसप्रकारकी स्मृति भी प्राप्त अणिमा आदि ऐश्वर्य वाले योगियोंका भी युगपत् अनेक शरीरोंसे सम्बन्ध दिखलाती है। जन्म सिद्ध देवोंके विषयमें तो फिर कहना ही क्या है। अनेकस्वरूप धारणकर सकनेके कारण एक एक देवता बहुत रूपों-शरीरोंसे अपनेको विभक्तकर युगपत् बहुत यागोंमें अङ्गभावको प्राप्त हो सकता है। अन्तर्धान आदि योग क्रियाकी सामर्थ्यसे दूसरे पुरुष उन्हें देख नहीं सकते, इसप्रकार शरीरधारी सिद्ध होनेपर देवोंका ब्रह्मविद्यामें अधिकार युक्त है। 'अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' अत्र यह इसकी दूसरी व्याख्या है—देहधारियोंकी भी कर्मके अङ्गभावको विधान करनेवाले विधि वाक्योंमें अनेक प्रतिपत्ति देखी जाती है। कहीं पर एक ही शरीरधारी अनेक स्थलोंमें युगपत् अङ्गभावको प्राप्त नहीं हो सकता, जैसे भोजन करानेवाले बहुत यजमानों द्वारा युगपत् (अनेक स्थलोंमें) एक ही ब्राह्मणको भोजन नहीं कराया जा सकता। इसीप्रकार कहीं पर युगपत् अनेक स्थलोंमें एक भी अङ्गभावको प्राप्त होता है, जैसे बहुत नमस्कार करनेवालोंसे युगपत् एक ब्राह्मण नमस्कृत भी होता है। तो इसी तरहसे यहां भी उद्देश्य द्रव्य परित्यागात्मक यागमें देवताके उद्देश्यसे

सत्यानन्दी दीपिका

विभूतियां हैं, अतः इनका इन छः में ही अन्तर्भाव है। इनका पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु इन तीनमें अन्तर्भाव है। ये तीन, अन्न और प्राण इन दोमें अन्तर्भूत हैं, और ये दोनों एक प्राणरूप हिरण्यगर्भमें अन्तर्भूत हैं। इसप्रकार श्रुतिमें अनेकरूपता दिखाई गई है। इसमें 'अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरीशिता। प्राकाम्यं च वशित्वं च यत्र कामावसायिता ॥' (मार्कण्डेय पुराण) (अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, ईशित्व, प्राकाम्य, वशित्व और यत्र कामावसायिता) ये आठ ऐश्वर्य हैं। योगी- योगबलसे क्षणभरमें सूक्ष्म, महान्, भारी और हलका हो जाता है। प्राप्ति-अंगुलीसे चन्द्रमा आदिका स्पर्श करना, ईशिता-सृष्टि करनेकी सामर्थ्य, प्राकाम्य-इच्छा शक्तिका नाश न होना, वशित्व-नियमन करनेकी शक्ति, यत्रकामावसायिता-संकल्पमात्रसे इष्टकी प्राप्ति। 'जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः' (यो० सू० ४।१) (जन्म, औषधसेवन, मन्त्रानुष्ठान, तप और समाधिसे सिद्धि उत्पन्न होती है) स्मृति प्रमाण भी है। साधनोंसे शरीर, इन्द्रिय और चित्तका मल नष्ट होकर विशेष परिवर्तन होनेसे उनमें अलौकिक शक्तियोंके प्रादुर्भावको सिद्धि कहते हैं। योगबलसे जब योगी एकसे

परित्यागात्मकत्वाद्यागस्य विग्रहवतीमप्येकां देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत्सं त्यद्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवतानां न किंचित्कर्मणि विरुध्यते ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

पदच्छेद—शब्दे, इति, चेत्, न, अतः, प्रभवात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

सूत्रार्थ—(शब्दे) वेद वाक्यमें विरोध उपस्थित होगा, (इतिचेन्न) ऐसा यदि कहो युक्त नहीं है, क्योंकि (अतः) वैदिक शब्दोंसे (प्रभवात्) देव आदि जगत्का प्रभव होता यह बात (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) प्रत्यक्ष-श्रुति, अनुमान-स्मृतिसे सिद्ध होती है।

* मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोधः प्रसि शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत। कथम्? औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन संबन्धमाश्रित्य 'अने त्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम्। इदानीं तु विग्रहवती देवताऽभ्युपगम्यमाना प्यैश्वर्ययोगाद्युगपदनेककर्मसंबन्धीनि हवींषि भुञ्जीत, तथापि विग्रहयोगादस्मदादिव ननमरणवती सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्ये संबन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके श प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत्,–नायमप्यस्ति विरोधः। कस्मात्? अ प्रभवात्। अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत्प्रभवति। ननु 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।२) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितं, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते? अपि यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृत

बहुत याज्ञिक लोग अपने-अपने हविष्यरूप द्रव्यका युगपत् त्यागकर सकते हैं। इसलिए देवोंके श धारी होनेपर भी कर्ममें कुछ विरोध नहीं है ॥ २७ ॥

देवादिको शरीरधारी स्वीकार करनेसे कर्ममें भले कुछ विरोध प्रसक्त न हो, परन्तु श तो विरोध प्रसक्त होगा, क्योंकि अर्थके साथ शब्दका औत्पत्तिक-स्वाभाविक-नित्य सम्बन्ध मा 'अनपेक्षत्वात' (प्रमाणान्तरकी अपेक्षा न होनेसे) इसप्रकार वेदमें प्रामाण्यका स्थापन किया देवता शरीरधारी स्वीकार किए जानेपर यद्यपि ऐश्वर्यके योगसे युगपत् अनेक कर्म सम्बन्धी हवि को ग्रहणकर सकते हैं, तो भी शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे हम लोगोंके समान वे जन्म मरण हो जायेंगे। इसलिए नित्य शब्दका नित्य अर्थके साथ नित्य सम्बन्ध प्रतीयमान होनेसे वैदिक श प्रमाणान्तर अनपेक्ष्यत्वरूप प्रामाण्य स्थापन किया था उसका विरोध हो जाएगा। यदि ऐसा तो यह विरोध भी नहीं है, क्योंकि उससे देवादिका प्रभव है। उससे ही अर्थात् वैदिक शब्दों देवादि जगत् उत्पन्न होता है। परन्तु 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें यह निश्चय किया गया है जगत्की ब्रह्मसे उत्पत्ति होती है, तो यहां यह कैसे कहते हो कि शब्दसे जगत् उत्पन्न होता है! अ वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुद्गण ये अर्थ उत्पत्तिवाले होनेसे अनित्य ही हैं, यदि स्वीकार भी कर लिया जाय कि वैदिक शब्दसे जगत्की उत्पत्ति होती है, तो इतने ही से श विरोधका परिहार कैसे हुआ? वसु आदिके अनित्य होनेसे उनके वाचक वैदिक 'वसु' आदि श

सत्यानन्दी दीपिका

अनेक शरीर धारणकर सकता है, तो जन्म सिद्ध देवताओंका तो इस विषयमें कहना ही क्या इसलिए देवता शरीरधारी होते हैं ॥२ ॥

* पूर्वपक्षी प्रश्न करते हैं कि शब्द और अर्थके सम्बन्धमें अनित्यता शब्दके अनित्य ह होती है अथवा अर्थके अनित्य होनेसे? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि देवादि व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, अतः सृष्टिके पहले उनकी स्थिति रहनेसे शब्द अनित्य नहीं हैं। द्वितीय विक 'न' आदिसे कहते हैं।

? यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्थां अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात्। तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते ? प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति। तस्माद्विरोध एव शब्द इति चेत्,-❀ न; गवादिशब्दार्थसंबन्धनित्यत्वदर्शनात्। न हि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते, नाकृतयः। आकृतिभिश्च शब्दानां संबन्धः, न व्यक्तिभिः; व्यक्तीनामानन्त्यात्संबन्धग्रहणानुपपत्तेः। व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते। तथा देवादिव्यक्तिप्रभावाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम्। आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः। स्थानविशेषसंबन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत्। ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधि-

अनित्यत्व कौन निवारण कर सकता है। लोकमें यह प्रसिद्ध ही है कि देवदत्तके पुत्र होनेपर ही उसका नाम यज्ञदत्त रखा जाता है। इसलिए शब्दमें विरोध ही है।

यदि ऐसा कहो तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि गो आदि शब्दों और अर्थोंका सम्बन्ध नित्य दिखाई देता है। गो आदि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होनेपर उनके आकृतियों (जाति) की उत्पत्ति नहीं होती। द्रव्य गुण और कर्म ये व्यक्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं आकृतियाँ नहीं। शब्दोंका सम्बन्ध आकृतियोंके साथ होता है व्यक्तियोंके साथ नहीं, क्योंकि व्यक्ति अनंत हैं, अतः उसके साथ शब्दोंका सम्बन्ध ग्रहण नहीं हो सकता। व्यक्तियोंके उत्पद्यमान होनेपर भी आकृतियोंके नित्य होनेके कारण गो आदि शब्दोंमें कोई विरोध नहीं देखा जाता। उसी प्रकार देवादि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर भी आकृतिके नित्य होनेसे वसु आदि शब्दोंमें कोई विरोध नहीं है ऐसा समझना चाहिए। मन्त्र अर्थवाद आदिसे देवोंके शरीर धारण आदिकी अवगति होनेसे उनकी आकृति विशेष भी है। ऐसा समझना चाहिए। सेनापति आदि शब्दोंके समान स्थान विशेषके सम्बन्धसे इन्द्र आदि शब्द

सत्यानन्दी दीपिका

❀ मीमांसक लोग गो आदि शब्दोंको गोत्व आदिका वाचक मानते हैं। नैयायिक लोग गो आदि शब्दोंको व्यक्ति वाचक मानते हैं। यहां दो विकल्प हैं—एक व्यक्तिमें एक शक्ति है अथवा अनन्त व्यक्तियोंमें अनन्त शक्तियाँ हैं ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि शुक्ल व्यक्तिका शक्तिग्रह (शक्तिज्ञान) होनेपर कृष्ण व्यक्तिका शक्तिग्रह न होगा किन्तु होता है, अतः प्रथम पक्षमें व्यतिरेक व्यभिचार है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि अतीत, अनागत और वर्तमान भेदसे अनन्त व्यक्तियोंमें अनन्त शक्तियाँ माननेसे अनन्त शक्ति कल्पना गौरव है। और व्यक्तिकी उत्पत्ति और नाशसे शक्तियोंकी भी उत्पत्ति और विनाश मानना पड़ेगा, इत्यादि दोषोंकी प्रसक्ति है। इसलिए गो आदि पदोंकी गोत्व आदि जातिमें शक्ति माननेसे लाघव है। इस शब्द बोध प्रणालीके अनुसार जैसे गो आदि शब्दोंका अर्थ गोत्व आदि जाति है, वैसे वसु आदि शब्दोंका अर्थ वसुत्व आदि जाति है व्यक्ति नहीं। यद्यपि शुक्ल पीत नीलादि भेदसे व्यक्ति नाना और अनित्य हैं तो भी गोत्व अर्थ नित्य है, इसलिए शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य ही सिद्ध होता है। कहीं व्यक्तिमें शब्दकी प्रवृत्तिका कारण जाति होती है। जैसे गो आदि व्यक्तिमें गो आदि शब्दकी प्रवृत्तिका कारण गोत्व आदि जाति है। कहीं प्रवृत्तिमें उपाधि कारण होती है, जैसे स्थान विशेष सम्बन्ध रूप उपाधिको लेकर सेनापति आदि शब्दकी प्रवृत्ति होती है, वैसे इन्द्रादि भी स्थान विशेष है जो उस पदपर आरूढ़ होता है, वह इन्द्रादि कहलाता है, अतः व्यक्तिके न रहने पर भी जाती रहती है, वह नित्य है इसलिए शब्द अर्थका सम्बन्ध भी नित्य है। इसलिए शब्द प्रामाण्यमें कोई विरोध नहीं है।

रोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति। ❀ न चेदं शब्दप्रभवत्वं
प्रभवत्ववदुपादानकारणाभिप्रायेणोच्यते। कथं तर्हि? स्थिते वाचकात्मना नित्ये
नित्यार्थसंबन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिः। 'अतः प्रभवः' इत्युच्यते।
पुनरवगम्यते शब्दात्प्रभवति जगदिति? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं श्रुतिः; प्रामा
प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः; प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्दपूर्वां
दर्शयतः। 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄँस्तिरःपवित्रं
ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिः। तथाऽन्यत्रापि
मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (बृ० १।२।४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते।
❀ स्मृतिरपि—'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः
प्रवृत्तयः ॥' इति। उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः; अनादिनिधना

प्रवृत्त होते हैं। इसलिए जो जो उस उस स्थान पर आरुढ़ होता है वह वह इन्द्र आदि शब्दोंसे
जाता है, अतः कोई दोष नहीं है। और यह शब्द प्रभवत्व ब्रह्म प्रभवत्वके समान उपादान कारण
अभिप्रायसे नहीं कहा जाता। तब कैसे? नित्य अर्थके साथ सम्बन्ध रखनेवाला जब नित्य शब्द वा
रूपसे स्थित रहता है तभी शब्द व्यवहार योग्य अर्थ व्यक्तिकी निष्पत्ति होती है, इस अभि
शब्दसे प्रभव-उत्पत्ति होती है ऐसा कहा जाता है। परन्तु यह कैसे अवगत हो कि शब्दसे जगत्
होता है? प्रत्यक्ष और अनुमानसे। प्रत्यक्ष-श्रुति, क्योंकि अपने प्रामाण्यके प्रति उसे किसी
प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती। अनुमान-स्मृति, क्योंकि उसे अपनी प्रमाणताके लिए मूल भूत
अपेक्षा होती है। ये दोनों ही शब्दपूर्वक सृष्टिको दिखलाते हैं, 'एत इति वै प्रजापति० ('एते' इस
देवोंका स्मरण कर प्रजापतिने देवोंकी, 'असृग्रम्' इस पदसे मनुष्योंका स्मरण कर मनुष्योंकी,
से पितरोंका स्मरणकर पितरोंकी 'तिरः पवित्रम्' से ग्रहोंका स्मरणकर ग्रहोंकी, 'आशव' पदसे
स्मरण कर स्तोत्रकी, 'विश्वानि' पदसे शस्त्रका स्मरणकर शस्त्रकी, 'अभिसौभगा' इससे अन्य प्रजा
स्मरणकर अन्य प्रजाओंकी सृष्टिकी) यह श्रुति है। इस प्रकार अन्य स्थलमें भी 'स मनसा०
प्रजापतिने वेद त्रयीरूपा वाणीकी द्वन्द्वभावसे भावनाकी अर्थात् मनके द्वारा वेद त्रयीकी आलोचना
इत्यादिसे स्थल-स्थलपर शब्द पूर्वक सृष्टिका श्रवण कराती है—प्रतिपादन करती है। 'अनादि नि
(सृष्टिके आरम्भमें स्वयंभूने अनादि, अनन्त, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणीको उत्सर्ग-अभिव्यक्त
जिससे अन्य सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ हुईं) यह स्मृति भी है। वाणीका यह उत्सर्ग (उत्पत्ति)
शिष्य परम्परासे अध्ययन रूप संप्रदायका प्रवर्तन रूप ही समझना चाहिए। क्योंकि अनादि

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे ब्रह्म जगत्की उत्पत्तिमें उपादान कारण है, वैसे शब्द जगत्की उत्पत्तिमें उ
कारण नहीं है, किन्तु निमित्त कारण है। इसप्रकार पूर्वापरका पर्यालोचन करनेसे कारण
कोई विरोध नहीं है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं जातिः' (नित्य और देव, मनुष्य,
आदि अनेक व्यक्तियोंमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला धर्म जाति कहलाता है) जैसे मनु
मनुष्य आदि शब्दोंका सम्बन्ध मनुष्यत्व आदि जातिसे है हाथ पैर आदि संघातसे नहीं। इस
शब्द नित्य है, और उससे जगत्की उत्पत्ति होती है। इस विषयमें यह श्रुति प्रमाण भी है।
इति वै प्रजापति०' इस श्रुतिस्थ 'एते' पद देवताओंका स्मारक है। 'असृग्रम्' पद 'असृ
रम-रमण, अर्थात् रुधर प्रधान देहमें रमण करनेवाले मनुष्योंका स्मारक है। चन्द्रमण्डलमें
पितरोंका स्मारक 'इन्दु' शब्द है।

अन्यादृशस्योत्सर्गस्यासंभवात्। तथा—नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥' (मनु० १।२१) इति 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥' इति च। अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान्ससर्जेति गम्यते। तथा च श्रुतिः—'स भूरिति व्याहरत्स भूमिमसृजत' (तै० ब्रा० २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान्सृष्टान्दर्शयति। किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वमुच्यते ? स्फोटमित्याह। वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यनुपपन्नं स्यात्। उत्पन्नध्वंसिनश्च वर्णाः; प्रत्युच्चारणमन्यथा चान्यथा च प्रतीयमानत्वात्। तथाहि—अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते-देवदत्तोऽयमधीते यज्ञदत्तोऽयमधीते इति। न चायं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञानं; बाधकप्रत्ययाभावात्। न च वर्णेभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता। न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत्; व्यभिचारात्। न च वर्णसमुदायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वा-

अनन्त वाणीका अन्य प्रकारसे उत्सर्ग सम्भव नहीं है। तथा 'नामरूपे० (उस महेश्वरने सृष्टिके आरम्भमें वैदिक शब्दोंसे ही भूतोंके नाम, रूप और सत्कर्मोंके अनुष्ठानकी प्रवृत्ति निर्माण-उत्पन्नकी) और 'सर्वेषां तु० (उसने आरम्भमें सम्पूर्ण भूतोंके पृथक् पृथक् नाम, रूप, कर्म एवं अवस्थाओंका वेदशब्दोंसे निर्माण किया) ये स्मृतियाँ भी वेद शब्दसे ही सृष्टि दिखलाती हैं। और हम सबका यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि जब कोई पुरुष किसी अभीष्ट वस्तुको बनाना चाहता है तो प्रथम उस वस्तुके वाचक शब्दको स्मरण कर पश्चात् उस वस्तुका अनुष्ठान करता है अर्थात् उसे बनाता है। उसी प्रकार स्रष्टा प्रजापतिके मनमें भी सृष्टिसे पहले वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुए, अनन्तर शब्दके अनुगत अर्थोंकी उसने रचनाकी, ऐसा ज्ञात होता है। तथा 'स भूरिति० (उसने भू ऐसा उच्चारणकर पृथ्वीकी सृष्टिकी) इत्यादि श्रुति मनमें प्रादुर्भूत हुए भू आदि शब्दोंसे उत्पन्न हुए भू आदि लोकोंको दिखलाती है। पुनः किमात्मक शब्दको अभिप्रेत कर यह शब्द प्रभवत्व कहते हो ? स्फोटात्मक, ऐसा कहा है, अर्थात् शब्द वर्णात्मक है अथवा स्फोटात्मक ? वैयाकरणमतमें स्फोटात्मक है, यदि वर्णात्मक शब्दसे सृष्टि मानें तो उनके उत्पन्न और नष्ट होनेके कारण नित्य शब्दोंसे देव आदि व्यक्ति उत्पन्न होते हैं यह कथन अनुपपन्न होगा। वर्ण उत्पन्न और विनष्ट होते हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसे कि अध्ययन ध्वनिके श्रवणसे अदृश्यमान पुरुष विशेष भी विशेष रूपसे निर्धारित हो जाता है कि यह देवदत्त अध्ययन करता है, यह यज्ञदत्त अध्ययन करता है। और वर्ण विषयक यह अन्यथात्व (भिन्न) प्रतीति मिथ्या ज्ञान नहीं है, क्योंकि उसका कोई बाधक ज्ञान नहीं है। किञ्च वर्णोंसे अर्थज्ञान युक्त नहीं है, कारण कि एक-एक वर्ण अर्थका प्रत्यायक-बोधक नहीं होता, क्योंकि व्यभिचार है। तथा वर्ण समुदाय भी अर्थ प्रत्यायक नहीं होता, कारण कि वर्ण क्रम

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे महाभारत आदि वाक्य समुदाय किसी महापुरुष द्वारा निर्मित है, वैसे वैदिक शब्दोंकी उत्पत्ति नहीं है, किन्तु आचार्य शिष्य परम्परासे प्रवृत्त हुआ अध्ययन है, यही संप्रदाय है। इस प्रकारकी वेद वाणीकी उत्पत्ति समझनी चाहिए। जैसे कुम्हार घट आदिके बनानेसे पहले उस वस्तुके नामका मनमें स्मरण कर तथा आकारको मनमें विचार कर पश्चात् उस अभीष्ट वस्तुको बनाता है, वैसे प्रजापति भी पूर्व कल्पोंके संस्कारोंसे उस वस्तुके नामका मनमें स्मरण कर उस वस्तुका उस शब्दसे निर्माण करता है। इस तरहसे वैदिक शब्दोंसे जगत् उत्पन्न होता है।

द्वर्णानाम् । * पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्यायिष्य यद्युच्येत । तन्न । संबन्धग्रहणापेक्षो हि शब्दः स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेत्, धूम वत् । न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहिततस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति; अप्रत्य त्संस्काराणाम् । कार्यप्रत्यायितैः संस्कारैः सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्यायिष्यतीति न; संस्कारकार्यस्यापि स्मरणस्य क्रमवर्तित्वात् । तस्मात्स्फोट एव शब्दः । स चैकैकवर्ण याहितसंस्कारबीजेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति भासते । * न चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः; वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषय पपत्तेः । तस्य च प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम ; भेदप्रत्ययस्य वर्णविषयत्वा तस्मान्नित्याच्छब्दात्स्फोटरूपादभिधायकात्क्रियाकारकफललक्षणं जगदभिधेयभूतं प्रभव 'वर्णा एव तु शब्दः' इति भगवानुपवर्षः । ननूत्पन्नप्रध्वंसित्वं वर्णानामुक्तं, तन्न; त

वाले हैं । यदि ऐसा कहो कि पूर्व पूर्व वर्णोंके अनुभवसे जन्य संस्कार सहित अन्त्य वर्ण अर्थका करायेगा तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द सम्बन्ध ग्रहणकी अपेक्षा रखता हुआ वह शब्द धूम समान स्वयं प्रतीयमान होकर अर्थका बोध करा सकता है । पूर्व पूर्व वर्णके अनुभव जन्य संस्कार अन्तिम वर्णकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि संस्कार अप्रत्यक्ष हैं । यदि कहो कि शाब्दबोध रूप ज्ञापित संस्कारोंसे युक्त अन्त्य वर्ण अर्थकी प्रतीति करायेगा तो यह युक्त नहीं, क्योंकि संस्कारका स्मरण भी क्रमवाला है । इस प्रकार वर्णोंमें अर्थ प्रतीतिका अभाव होनेसे स्फोट ही शब्द है । एक वर्णकी प्रतीतिने जिसमें संस्कार रूप बीज डाला है और अंतिम वर्णकी प्रतीतिने जिसमें परिपाक संस्कार उत्पन्न किया है, ऐसे चित्तमें एक प्रतीतिके विषयरूपसे यह स्फोट झट अवभासित होता है । [एकं पदम्] यह एक प्रत्यय वर्ण विषयक स्मृति नहीं है, क्योंकि वर्ण अनेक होने प्रत्ययके विषय नहीं हो सकते । उसका प्रत्येक उच्चारण प्रत्यभिज्ञाका विषय होनेसे नित्य है । भेद तो वर्ण विषयक है, इसलिए स्फोटरूप नित्य वाचक शब्दसे क्रिया, कारक और फलरूप अभि जगत् उत्पन्न होता है । भगवान् उपवर्ष कहते हैं कि वर्ण ही शब्द है । परन्तु यह जो कहा

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि पूर्वोक्तरीतिसे वर्णोंका समुदाय नहीं हो सकता, फिर भी जैसे 'आग्नेय' आदि अपूर्व (पुण्य-पाप) द्वारा समुदाय होता है, वैसे संस्कार रूप अपूर्व द्वारा वर्णोंका समुदाय क्या वह संस्कार वर्णोंसे उत्पन्न अपूर्व संज्ञक संस्कार है अथवा वर्णानुभवसे जन्य भावना संस्कार है ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है । क्या वह संस्कार होकर अर्थका ज्ञान कराता है अथवा ज्ञात होकर ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि संस्कार शब्द ज्ञात होकर ही अर्थकी प्रतीति कराता है, कारण कि वह धूम आदिके समान सम्बन्ध अपेक्षा रखकर ही बोधक होता है । द्वितीय-पक्ष (ज्ञात होकर) तो क्या वह प्रत्यक्षसे होता है कार्यरूप लिङ्गसे ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि संस्कार अप्रत्यक्ष हैं । यदि दूसरा पक्ष अर्थ ज्ञान होनेपर संस्कार ज्ञान होता है और संस्कार ज्ञान होनेपर अर्थज्ञान होता है इस अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है, अतः यह भी युक्त नहीं है । पदार्थ स्मरण पद ज्ञानके होता है, अतः संस्कार सहित अन्त्य वर्णात्मक पदका ज्ञान स्मरणसे नहीं होता, इससे भावना संस्कारका भी निवारण हो गया, क्योंकि उससे केवल वर्णस्मृति होती है । इसलिए वह अर्थ प्र हेतु नहीं हो सकता । इस तरहसे वर्ण अर्थके बोधक नहीं हैं किन्तु स्फोट है ।

* 'राम' यह एक पद है, यह एक प्रतीति वर्णोंको विषय नहीं करती, क्योंकि वर्ण वे एक प्रत्ययके विषय नहीं हो सकते, इसलिए इस एक प्रत्ययका विषय स्फोट है वह

प्रत्यभिज्ञानात्। सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विवेति चेत्,—न; प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः। प्रत्यभिज्ञानमाकृतिनिमित्तमिति चेत्,—न; व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात्। यदि हि प्रत्युच्चारणं गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तयः प्रतीयेरंस्तत आकृतिनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानं स्यात्, नत्वेतदस्ति; वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते। द्विर्गोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दाविति। * ननु वर्णा अप्युच्चारणभेदेन भिन्नाः प्रतीयन्ते देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम्। अत्राभिधीयते,—सति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने संयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद्वर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्रः प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्तः। अपि च वर्णव्यक्तिभेदवादिनापि प्रत्यभिज्ञानसिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः। तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तद्वरं वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्ययः स्वरूपनिमित्तं च प्रत्यभिज्ञानमिति कल्पनालाघवम्। एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधकः प्रत्ययो

कि वर्ण उत्पत्ति और विनाशशील हैं, यह युक्त नहीं है, क्योंकि वे ही वर्ण हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि ऐसा कहो कि जैसे काटे जानेके पश्चात् उत्पन्न हुए केशादिमें सादृश्यसे 'वे ही केश हैं' ऐसी [भ्रमात्मक] प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही वर्णोंमें भी प्रत्यभिज्ञा होती है, तो यह ठीक नहीं है, कारण कि यहां प्रत्यभिज्ञाका प्रमाणान्तरसे बाध अनुपपन्न है। यदि कहो कि यहां प्रत्यभिज्ञा आकृति-जाति निमित्तक है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि व्यक्तिकी प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि प्रत्येक उच्चारणमें गो आदि व्यक्तिके समान अन्य-अन्य वर्ण व्यक्ति प्रतीत होते तो आकृति निमित्तक प्रत्यभिज्ञा होती, परन्तु यह ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वर्ण व्यक्ति ही प्रत्यभिज्ञात होते हैं। दोवार 'गो' शब्दका उच्चारण किया ऐसी प्रतीति होती है न कि दो गो शब्दोंका उच्चारण। परन्तु जो कहा गया है कि उच्चारणके भेदसे वर्ण भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि देवदत्त और यज्ञदत्तकी अध्ययन ध्वनिके श्रवणसे भेद प्रतीत होता है। इसपर कहते हैं—वर्ण विषयक प्रत्याभिज्ञान निश्चित होनेपर यह प्रतीत होता कि [कण्ठ तालू आदि स्थानोंके साथ कोष्ठस्थ वायुके] संयोग और विभागसे अभिव्यङ्ग्य होनेके कारण वर्णोंमें अभिव्यञ्जक वैचित्र्य निमित्तक ही यह वर्ण विषयक विचित्र प्रत्यय है स्वरूपसे नहीं। और वर्ण व्यक्तियोंको भिन्न मानने वालोंको भी प्रत्यभिज्ञा सिद्धिके लिए वर्णोंकी आकृति-जातिकी कल्पना करनी पड़ेगी और उनमें (उदात्त आदि) भेद प्रत्यय अन्य उपाधिसे हैं, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इससे तो यही मानना अच्छा है कि वर्ण व्यक्तियोंमें भेद प्रतीति अन्य उपाधिसे है और प्रत्यभिज्ञा स्वरूपसे है, इसमें कल्पना लाघव है। यह जो वर्ण विषयक प्रत्यभिज्ञा है वही वर्ण विषयक भेद प्रत्ययका बाधक प्रत्यय है। एक ही समयमें बहुत लोगोंसे उच्चारित एक

सत्यानन्दी दीपिका

स्फुटयते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटः' वर्णोंसे व्यक्त होनेवाला और अर्थकी अभिव्यक्ति करनेवाला जो गो आदि शब्द है वही स्फोट है वह एक और नित्य है। पद और वाक्य भेदसे स्फोट दो प्रकारका है। इनमें भी वाक्य स्फोट प्रधान है और पद स्फोट गौण। इस स्फोट वादका 'वर्ण एव तु शब्दः' आदिसे खण्डन करते हैं।

* उच्चारण भेदसे वर्णोंको भिन्न-भिन्न माननेमें कल्पना गौरव है, एक तो 'ग' वर्णविषयक प्रत्यभिज्ञाको 'गोत्व' जाति विषयक मानना, वर्ण भेद प्रतीतिके लिए उपाधिकी कल्पना करना, उत्पत्ति और विनष्ट होनेसे अनन्त वर्णोंकी कल्पना करना, इत्यादि कल्पना गौरव है। उच्चारण भेदसे वर्णोंमें भेद स्वीकार करनेकी अपेक्षा उनमें भेद औपाधिक है और प्रत्यभिज्ञा स्वरूपसे है, ऐसा माननेमें कल्पना लाघव है।

यत्प्रत्यभिज्ञानम्। कथं ह्येकस्मिन्काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन्गकारो युगपदने
स्यात्? उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च सानुनासिकश्च निरनुनासिकश्चेति। अथवा
ध्वनिकृतोऽयं प्रत्ययभेदो न वर्णकृत इत्यदोषः। कः पुनरयं ध्वनिर्नाम? यो दूरादाक
वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति। प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष
ञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः; वर्णानां प्रत्युच्चा
प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। एवं च सति सालम्बना उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति। इतरथा
वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात्संयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषाः कल्पे
संयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसातुं शक्यन्त इत्यतो नि
लम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्ययाः स्युः। * अपि च नैवैतदभिनिवेष्टव्यमुदात्तादिभेदेन व
प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेदिति। न ह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवि
र्हति। नहि व्यक्तिभेदेन जातिं भिन्नां मन्यन्ते। वर्णेभ्यश्चार्थप्रतीतेः संभवात्स्फोटकल्प
नर्थिका। न कल्पयाम्यहं स्फोटम्, प्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि; एकैकवर्णग्रहणाहितसं
रायां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादिति चेत्,-न; अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात्। एकैक

होता हुआ ही 'गकार-'ग' युगपत् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और अननुनासिक
अनेकरूप किस प्रकार हो सकेगा? अथवा यह भेद प्रत्यय ध्वनिकृत है वर्णकृत नहीं। इसलिए
दोष नहीं है। तो यह ध्वनि नामकी वस्तु क्या है? दूरसे सुनने वाले और अलग-अलग वर्णों
जानने वाले पुरुषके कानमें जो प्रवेश करती है और समीपसे सुनने वालेके लिए पटुत्व मृदुत्व
भेदोंका वर्णोंमें आरोप करती है वह ध्वनि है। उदात्त आदि विशेष उससे होते हैं वर्णस्वरूप
होते, क्योंकि प्रत्येक उच्चारणमें वर्ण प्रत्याभिज्ञाके विषय होते हैं। ऐसा होनेपर ये उदात्त आदि
अवलम्बन सहित होते हैं। अन्यथा प्रत्यभिज्ञाके विषयभूत वर्णोंमें भेदके न होनेसे उदात्त आदि
संयोग विभागसे होते हैं ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। संयोग विभाग अप्रत्यक्ष हैं, अतः तदाश्रय
आदि विशेष वर्णोंमें आरोपित नहीं किए जा सकते, इससे ये उदात्तादि प्रत्यय निराधार ही हो जा
किञ्च स्फोटवादीको ऐसा आग्रह भी नहीं करना चाहिए कि उदात्त आदि भेदसे प्रत्यभिज्ञा
वर्णोंका भेद होगा, क्योंकि किसी एकके भेदसे अन्य अभिद्यमान पदार्थका भेद नहीं हो स
व्यक्तिके भेदसे जातिका भेद कोई भी नहीं मानते। और वर्णोंसे अर्थकी प्रतीतिका संभव
[विवादग्रस्त] स्फोटकी कल्पना व्यर्थ है। पूर्वपक्षी—मैं केवल स्फोटकी कल्पना ही नहीं करता
उसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, क्योंकि एक एक वर्णके ग्रहणसे अनुभव जन्य संस्कार
बुद्धिमें शीघ्र स्फोटका प्रत्यवभास होता है। ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है। क्योंकि यह बु
वर्ण विषयक है। एक एक वर्णका ग्रहण होनेके अनन्तर 'गो' यह जो एक बुद्धि होती है वह

सत्यानन्दी दीपिका

* वायुके संयोग आदि अप्रत्यक्ष होनेसे उसमें रहनेवाली उदात्त आदि विचित्रता
प्रत्यक्ष आरोप असंभव है, इस अरुचिसे 'अथवा' इत्यादि भाष्यसे स्वमतको उपस्थित करते
वर्णोंमें ध्वनिका अभेदाध्यास होनेसे ध्वनिके उदात्त आदि धर्म वर्णोंमें प्रतीत होते हैं। श्रोताके
दूरसे आनेवाला मृदु, कठित शब्द ध्वनि है। वह वर्णोंसे भिन्न है। वर्णोंकी प्रत्येक उच्चा
अनुवृत्ति होती है किन्तु ध्वनिकी अनुवृत्ति नहीं होती। ध्वनिके उदात्त आदि धर्म वर्णोंमें आ
किए जाते हैं।

* जैसे परस्पर भिन्न अनेक गो व्यक्तियोंमें गोत्व जाति अभिन्न है अर्थात् व्यक्तिके
जातिका भेद नहीं होता, वैसे ध्वनिके भेदसे वर्ण भी भिन्न नहीं होते। जिस ज्ञानमें जो अर्थ

ग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया, नार्थान्तरविषया। कथमेतदवगम्यते ? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते, नतु दकारादयः। यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरं स्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय इव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन्; नतु तथास्ति। तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः। ❀ नन्वनेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तं,—तत्र प्रतिब्रूमः—संभवत्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वम्; पङ्क्तिर्वनं सेना शतं सहस्रमित्यादिदर्शनात्। या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थावच्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिबुद्धिवदेव। अत्राह– यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात्। त एव हि वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति; एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोद्यन्ति। तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रतिपत्तिर्न विरुध्यते। ❀ वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृही-

---

वर्ण विषयक है अर्थान्तर (स्फोट) विषयक नहीं है। भला यह कैसे ज्ञात हो ? तो ऐसे ज्ञात होगा कि इस बुद्धिमें भी गकारादि वर्णोंकी ही अनुवृत्ति होती है दकारादिकी नहीं। यदि इस बुद्धिका गकारादिसे भिन्न स्फोटरूप अर्थ विषय होगा तो दकारादिके समान गकारादि भी उस बुद्धिसे व्यावृत हो जायँगे अर्थात् जैसे पूर्व गकार विषयक बुद्धिमें दकारादि विषयक अनुवृत्ति नहीं होती, वैसे स्फोट विषयक बुद्धिमें गकारादिकी भी अनुवृत्ति नहीं होगी। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए यह एक बुद्धि वर्ण विषयक ही स्मृति है। किञ्च यह जो कहा गया है कि वर्णोंके अनेक होनेसे उनमें एक बुद्धिकी विषयता उपपन्न नहीं होती, तो इसके विषयमें हम कहते हैं—अनेक भी एक बुद्धिके विषय हो सकते हैं, जैसे पंक्ति, वन, सेना, दश, शत, सहस्र इत्यादि स्थलोंमें एक बुद्धि विषयता देखी जाती है। 'गौ' यह एक शब्द, ऐसी जो बुद्धि है वह वन, सेना आदि बुद्धिके समान बहुत वर्णोंमें एकार्थ बोधक सम्बन्धसे औपचारिकरूपसे प्रयुक्त होती है। स्फोटवादी यहां कहते हैं कि यदि वर्ण ही सब मिलकर एक बुद्धिकी विषयताको प्राप्त होकर पद बनते हों तो जारा, राजा, कपि, पिक इत्यादिमें पद विशेषकी प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि वे ही वर्ण इधर उधर प्रत्यवभासित होते हैं। इसपर हम कहते हैं—शब्दमें सब वर्णोंका प्रत्यवमर्श—स्मृति होनेपर भी जैसे क्रमके अनुसार ही पिपीलिकाओंमें (चींटियोंमें) पंक्ति बुद्धि होती है, वैसे ही क्रमके अनुसार वर्ण भी पद बुद्धिमें आरूढ होते हैं। वर्णोंके अभिन्न होनेपर भी क्रम विशेष कृत पद विशेषकी प्रतीति विरुद्ध नहीं होती। क्रम आदिके अनुसार गृहीत उन वर्णोंका वृद्ध व्यवहारमें (शक्तिग्रह दशामें) भिन्न-भिन्न अर्थोंके साथ सम्बन्ध

सत्यानन्दी दीपिका

है वह ज्ञान उसमें प्रमाण होता है। यह 'गो' है, इस एक बुद्धिमें वर्ण ही प्रतीत होते हैं स्फोट नहीं। इसलिए स्फोट माननेमें कोई प्रमाण नहीं। अतः पद वर्णरूप है, स्फोट रूप नहीं।

❀ अनेक वर्ण एक बुद्धिके विषय होते हैं, अब इसको स्पष्ट करते हैं—जिसकी एक अर्थमें शक्ति हो वह एक पद कहा जाता है, जैसे राम। एक प्रधानार्थमें जिसका तात्पर्य हो वह एक वाक्य होता है। जैसे 'रामम् आनय' (रामको ले आओ)। इसप्रकार अनेक वर्णों तथा अनेक पदोंका एक अर्थके साथ सम्बन्ध होनेसे अनेकमें एकत्वका उपचार होता है अर्थात् यद्यपि वर्ण अनेक हैं तो भी एकार्थ बोधकत्वरूप उपाधिको लेकर उनमें एक पदत्व व्यवहार उपचारसे होता है। यथा गौ, वन, सेना, आदि ऐसे लोकमें अनेक उदाहरण मिलते हैं।

❀ क्रमशः संमिलित वर्ण इस प्रकार एकार्थकी प्रतीति कराते हैं—व्युत्पत्ति दशामें बालक

तार्थविशेषसंबन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां
तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो
यसी कल्पना; स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च, वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः
व्यञ्जयन्ति स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात्, अथापि नाम प्रत्युच्चा
मन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिज्ञालम्बनभावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्त
बाधा वर्णेष्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता सा सामान्येषु संचारयितव्या। ततश्च नित्ये
शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, नित्यत्वम्।

सूत्रार्थ—(अतएव च) और देव आदि समस्त जगत् वेद शब्दोंसे उत्पन्न होनेके
(नित्यत्वम्) वेदमें नित्यत्व है अर्थात् वेद नित्य है।

❀ स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभिः स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपग
तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अतः प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्वं स्थितं द्रढयति

ग्रहण किया जाता है, अतः अपने मध्यम व्यवहारमें भी एक एक वर्णका ग्रहण होनेपर
वर्णोंको विषय करनेवाली बुद्धिमें वैसे ही अवभासित हुए उस उस अर्थको अव्यभिचाररूपसे ज्ञान
हैं, वर्णवादीकी कल्पनामें लाघव है। स्फोटवादीको तो दृष्ट हानि और अदृष्ट कल्पना होगी।
ग्रहण किए हुए ये वर्ण स्फोटको व्यक्त करते हैं, वह स्फोट अर्थको व्यक्त करता है, इसप्रकार
गौरव है। यदि यह मान लें कि प्रत्येक उच्चारणमें भिन्न-भिन्न वर्ण होते हैं तो भी प्रत्यभि
आधाररूपसे वर्णगत जातियोंको अवश्य स्वीकार्य होनेसे वर्णोंमें जो अर्थ प्रतिपादन प्रक्रिया
है, उसका वर्णगत जातियोंमें संचार करना चाहिए। इस कारण नित्य शब्दोंसे देव आदि व्यक्ति
उत्पत्ति होती है, अतः कोई विरोध नहीं है ॥ २८ ॥

[वेदापौरुषेयत्वाधिकरणमें] वेदके स्वतन्त्र कर्ताका स्मरण आदि न होनेसे वेदमें नि
सिद्ध होनेपर देव आदि व्यक्तिका प्रभव स्वीकार करनेसे [देव आदिके वाचक इन्द्र आदि श
भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी] वेदमें नित्यत्व अयुक्त है, इस विरोधकी आशङ्काको 'अतः प्रभवात्'

सत्यानन्दी दीपिका

'गामानय' (गौ ले आओ) इस वृद्ध व्यवहारको देखकर 'गाम्' इस उच्चारण क्रमसे
क्रमका वर्णोंमें आरोपकर ये वर्ण जब इस क्रमसे 'गा, म्, आ, न, य' इस प्रकार ही हों,
अर्थके वाचक हो सकते हैं। इस प्रकार अर्थ सम्बन्ध आदि रूपसे ज्ञात हुए वर्ण श्रोताकी प्रवृत्ति
और इस प्रकार स्मृतिमें आरूढ़ होकर अपने-अपने अर्थका बोध कराते हैं। इस प्रकार वर्ण
मतमें महान् लाघव है। और स्फोट वादीके मतमें दृष्टहानि-वर्ण अर्थके बोधक हैं, इसका त्याग
अदृष्ट-स्फोट अर्थका बोधक हैं यह अदृष्ट कल्पना है। अभी तक तो वर्णोंको नित्य स्वीकार कर
खण्डन किया गया, अब वर्णोंको अनित्य स्वीकार कर तर्कसे स्फोटका खण्डन 'अथापि'
भाष्यसे करते हैं। नित्य तथा क्रम विशेष वाले तथा गृहीत संगतिवाले अर्थके बोधक जो निश्चित
आदि सामान्य हैं, उन सामान्योंमें भी वर्णगत प्रक्रियाका संचार करना चाहिए। किन्तु अर्थ
स्फोटकी कल्पना युक्त नहीं है। इस प्रकार वर्ण नित्य और वाचक सिद्ध होनेपर नित्य शब्दोंसे
व्यक्तियोंकी उत्पत्ति सर्वथा अविरुद्ध है ॥ २८ ॥

❀ 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः
विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि' (बृ० २।४।१०) (याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयि! ये जो

अतएव च नित्यत्वमिति । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद्वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् । तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्' (ऋ० सं० १०।७१।३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति । वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा' इति ॥ २९ ॥

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥३०॥

पदच्छेद—समाननामरूपत्वात् , च, आवृत्तौ, अपि, अविरोधः, दर्शनात् , स्मृतेः, च ।

सूत्रार्थ—(आवृत्तावपि) सृष्टि और प्रलयकी आवृत्ति होनेपर भी (अविरोध) शब्द और अर्थ सम्बन्धमें अनित्यतारूप विरोध नहीं है, (समाननामरूपत्वाच) क्योंकि उत्तर-कल्प प्रपञ्च पूर्वकल्प प्रपञ्चके समान नाम रूप वाला है । कैसे ? (दर्शनात्) 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुति और (स्मृतेः) 'यथार्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये' इत्यादि स्मृति हैं ।

अथापि स्यात्—यदि पश्वादिव्यक्तिवद्देवादिव्यक्तयोऽपि संतत्यैवोत्पद्येरन्निरुध्येरंश्च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्संबन्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत । यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते, प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति, तदा कथमविरोध इति ? तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति । तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम् । प्रतिपादयिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्—'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' (ब्र० २।१।३६) इति । अनादौ च संसारे यथा स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणेऽपि पूर्वप्रबोधवदुत्तरप्रबोधेऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः,

---

सूत्रसे परिहारकर अब पूर्व सिद्ध उसी वेद नित्यत्वको 'अतएव च नित्यत्वम्' इससे दृढ़ करते हैं। इसीसे नियत आकृति विशिष्ट देव आदि जगत्की वेदशब्दसे उत्पत्ति होनेके कारण वेद शब्दमें नित्यत्व समझना चाहिए । तथा 'यज्ञेन वाचः०' (पूर्व सुकृत पुण्य कर्मसे वेदके लाभकी योग्यताको प्राप्त हुए याज्ञिक पुरुषोंने ऋषियोंमें स्थित उस वेदमयी वाणीको प्राप्त किया) यह मन्त्र पूर्व कल्प सिद्ध वेदमयी वाणीकी उपलब्धि दिखलाता है । भगवान् वेदव्यास भी ऐसा ही कहते हैं—'युगान्ते०' (अवान्तर प्रलयके अनन्तर महर्षियोंने ब्रह्माकी अनुज्ञा पाकर युगके अन्तमें तिरोभूत इतिहास सहित वेदोंको तपसे प्राप्त किया) यह स्मृति भी है ॥ २९ ॥

किञ्च ऐसा होता हुआ भी यदि पशु आदि व्यक्तियोंके समान देवादि व्यक्तियोंके भी सन्तत जन्म और विनाश होते तो नाम, विषय, वक्ताके व्यवहारका विच्छेद न होनेके कारण सम्बन्ध नित्य रहनेसे शब्दमें विरोधका परिहार हो जाता, परन्तु जब श्रुतियाँ और स्मृतियाँ उद्घोषित करती हैं कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य नाम रूपका परित्याग कर समूल नष्ट हो जाता है और फिर नवीन उत्पन्न होता है, तब अविरोध कैसे ? इसके उत्तरमें यह कहते हैं कि तो भी संसारको अनादि मानना चाहिए, क्योंकि 'समाननामरूपत्वात्' इत्यादि कहा है । और आचार्य—'उपपद्यते' इस सूत्रसे संसारमें अनादित्वका प्रतिपादन करेंगे । संसारको अनादि माननेपर सुषुप्ति और जाग्रत्में उत्पत्ति और प्रलयके श्रवण होनेपर भी जैसे पूर्व प्रबोधके समान उत्तर जाग्रत् अवस्थामें व्यवहार होनेसे कोई विरोध नहीं होता, वैसे पूर्व कल्पके लय और उत्तर कल्पके उत्पत्तिमें भी वैदिक नित्यतामें कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना

सत्यानन्दी दीपिका

यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् , श्लोक-ब्राह्मणमंत्र सब इसी परमात्माके निःश्वास हैं) इत्यादि श्रुतिके पर्यालोचनसे यह स्पष्ट होता है कि आकाश आदिके समान वेदको परमेश्वर सृष्ट मानने पर भी वेदके नित्यत्वमें कोई विरोध नहीं है ॥ २९ ॥

एवं कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम्। स्वापप्रबोधयोश्च प्रलयप्रभवौ श्रूयेते—
सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति
सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबु
यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठ
प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः (कौ० ३।३) इति। स्यादेतत्—स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छे
दात्स्वयं च सुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुसंधानसंभवादविरुद्धम्। महाप्रलये तु
व्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुसंधातुमशक्यत्वाद्वैषम्यमि
नैष दोषः; सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यग
दीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तेः। * यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तरव्यव
मनुसंदधाना दृश्यन्त इति, तथापि न प्राकृतवदीश्वराणां भवितव्यम्। यथा हि प्राणित्व
विशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रतिबन्धः परेण परेण भूयान्भवन्
तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भू

चाहिए। 'यदा सुप्तः०' (जब वह सुप्त पुरुष किसी भी स्वप्नको नहीं देखता तब वह उस प्राण
परमात्मामें एक हो जाता है अर्थात् अभिन्नरूपसे प्राप्त हो जाता है। तब सब नामोंके साथ वाणी
उसमें लीन हो जाती है, नेत्र सब रूपोंके साथ उसमें लीन हो जाता है, श्रोत्र सब शब्दोंके
उसमें लीन हो जाता है, मन सब संकल्पोंके साथ उसमें लीन हो जाता है, जब वह जागता है
जलती हुई अग्निसे जैसे चिनगारियां सब दिशाओंमें फैलती हैं, वैसे इस आत्मासे सब इन्द्रियां
अपने-अपने गोलकरूप स्थानोंको प्राप्त होते हैं। इन्द्रियोंके अनन्तर सूर्यादि देवता और देवता
अनंतर विषयरूप लोक प्रकट होते हैं) इसप्रकार श्रुतिमें सुषुप्ति और जाग्रत् अवस्थामें जगत्के प्रलय
उत्पत्ति कहे गए हैं। यह ठीक है, परन्तु सुषुप्तिमें अन्य पुरुषोंका व्यवहार विच्छिन्न न होनेके
सुषुप्तिसे प्रबुद्ध पुरुषको स्वयं पूर्व जाग्रत् अवस्थाके व्यवहारका अनुसन्धान हो सकता है, इसलिए
विरोध नहीं है। किन्तु महाप्रलयमें तो सब व्यवहारोंका उच्छेद हो जानेसे जन्मान्तर व्यवहारके
कल्पान्तर व्यवहारका अनुसन्धान नहीं हो सकता, इसलिए (दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें) विष
है। यह दोष नहीं है। सर्वव्यवहारके उच्छेद करनेवाले महाप्रलयके होनेपर भी परमेश्वरके अनु
हिरण्यगर्भादि ईश्वरोंको कल्पान्तरके व्यवहारका अनुसन्धान (स्मरण) हो सकता है। यद्यपि प्रा
प्राणी जन्मान्तरके व्यवहारोंका अनुसन्धान करते हुए नहीं देखे जाते, तो भी ईश्वरोंको उन
प्राणियोंके समान नहीं समझ लेना चाहिए। जैसे प्राणित्व समान होनेपर भी मनुष्यत्वादिसे
स्तम्भ (वृक्षादि) पर्यन्त प्राणियोंमें ज्ञान ऐश्वर्यादिका प्रतिबन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ देखा
है, वैसे मनुष्यादिसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त ज्ञान, ऐश्वर्य आदिकी अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि महाप्रलयमें अन्तःकरणादि स्थूलरूपसे विद्यमान नहीं होते, तो भी सूक्ष्म वासना
अविद्यामें तो विद्यमान रहते ही हैं, अतः पूर्व वासनाके बलसे ईश्वरेच्छासे सम्पूर्ण जगत् पूर्व
सदृश नाम रूपात्मक ही उत्पन्न होता है। अतएव शब्दादिमें अनित्यत्व संभव नहीं। अभिव्यक्त
पूर्वकल्पके समान नामरूपात्मक होते हैं। इसलिए किसी पुरुषके सकेतकी अपेक्षा नहीं। यद्यपि
सृष्टिमें संकेतकी आवश्यकता होती है, तो भी समान सृष्टिमें उसकी कोई अपेक्षा नहीं। महाप्र
महाप्रलय स्वीकार करनेपर भी संसार प्रवाहरूपसे अनादि ही स्वीकार्य है। जैसे जाग्रत्के
सुषुप्तिके अनन्तर स्मरणको उत्पन्न करते हैं, वैसे पूर्वकल्पके संस्कार महाप्रलयके अनन्तर भी
उत्पन्न करते हैं। तदनुसार सृष्टिका आरम्भ होता है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

भवतीत्येतच्छ्रुतिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम्। ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तिः। तथा च श्रुति—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वे० ६।१८) इति। स्मरन्ति च शौनकादयः 'मधुच्छन्दःप्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः' इति। प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते। ❀ श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' (सर्वानु० परि०) इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति। प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते। दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते। दृष्टानुश्रविकसुखदुःखविषयौ च रागद्वेषौ भवतः, न विलक्षणविषयावित्यतो धर्माधर्मफलभूतोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिसदृश्येव निष्पद्यते। स्मृतिश्च भवति—'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥ हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्मा-

---

होती है। ऐसा श्रुति और स्मृतिके वचनोंसे वार वार सुना हुआ है। वह नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते। इसलिए अतीत कल्पमें जिन्होंने सर्वोत्तम ज्ञान और [आधानसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त] कर्मोंका अनुष्ठान किया है और वर्तमान कल्पके प्रारम्भमें जो प्रादुर्भूत हुए हैं तथा परमेश्वरसे अनुग्रहीत हुए हिरण्यगर्भादि ईश्वरोंको सुषुप्तिसे जागे पुरुषके समान पूर्वकल्पके व्यवहारोंका अनुसन्धान होना युक्त है। क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्० (जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव करता है अपनी बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले उस देवका मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ) ऐसी श्रुति है। और 'मधुच्छन्दः प्रभृतिभि० (मधुच्छन्द आदि ऋषियोंने †दस मण्डलवाले ऋग्वेदकी ऋचाएँ देखीं) इसप्रकार शौनकादि ऋषि भी कहते हैं। तथा बोधायन आदि ऋषियोंने भी प्रत्येक वेदमें काण्ड आदिके द्रष्टा ऋषियोंका स्मरण किया है। 'यो ह वा अविदिता० (जिस मंत्रके छन्द, ऋषि, देवता तथा विनियोगका ज्ञान नहीं है उससे जो यज्ञ कराता है या अध्यापन करता है वह स्थाणु हो जाता है अथवा नरकको प्राप्त होता है) ऐसा उपक्रम कर 'तस्मादेतानि० (इसलिए प्रत्येक मंत्रमें ऋषि आदिको जाने) इस प्रकार श्रुति भी ऋषिज्ञानपूर्वक ही मंत्रसे अनुष्ठान दिखलाती है। प्राणियोंके सुखकी प्राप्तिके लिए धर्मका विधान है और दुःख परिहारके लिए अधर्मका प्रतिषेध है। ऐहिक और पारलौकिक सुख दुःखमें राग और द्वेष होते हैं, अन्य विषयोंमें नहीं होते। इसलिए धर्म और अधर्मके फल भूत उत्तरोत्तर सृष्टि उत्पन्न हुई पूर्व सृष्टिके सदृश ही निष्पन्न होती है। 'तेषां ये०' (प्राणियोंमें से जिन प्राणियोंने जो-जो कर्म प्रथम

सत्यानन्दी दीपिका

❀ पूर्व कल्पमें उत्तम ज्ञान और उत्तम कर्मोंके अनुष्ठानके आधार पर जिस-जिस पर परमेश्वर का अनुग्रह होता है उस उसको उतना उतना अधिक ज्ञान और ऐश्वर्य आदि प्राप्त होता है इसमें किसी प्रकारके सन्देहका अवकाश नहीं है। इसमें उद्धृत श्रुति स्मृति भी प्रमाण हैं। सृष्टिके आदिमें हिरण्यगर्भमें पूर्व कल्पके समस्त संस्कार जाग्रत् होते हैं जिससे वह उत्तर कल्पकी सृष्टि करनेमें समर्थ होता है।

---

† ऋक् संहिता शाकल और बाष्कल भेदसे दो प्रकार की है। उसमें दस मण्डल हैं। इसलिए उसको दाशतय्य कहते हैं। इसमें पठित ऋचाओंको दाशतय्य कहा जाता है। ऋक् संहिताका दूसरा नाम अष्टक भी है, क्योंकि इसमें मण्डल दस हैं और अष्टक आठ हैं।

धर्मावृतानृते । तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥' इति । प्रलीयमानमपि चेदं जग क्त्यवशेषमेव प्रलीयते । शक्तिमूलमेव च प्रभवति; इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात् चानेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम् । ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवतां भू लोकप्रवाहाणां, देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवाहाणां, वर्णाश्रमधर्मफल स्थानां चानादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसंबन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम् । न ही विषयसंबन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम् । सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात्कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननाम एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयल जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः । समाननामरूपतां च श्रुति दर्शयतः—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (सं० १०।१९०।३) इति । यथा पूर्वस्मिन्कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्कॢप्तं तथा कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः । ❀ तथा 'अग्निर्वा अकामयत । अन्नादो देवानां स्याम

सृष्टिमें किये उन कर्मोंको वे पुनः पुनः उत्पन्न होकर प्राप्त करते हैं) हिंस्राहिंस्र० (हिंसा मृदु क्रूर, धर्म अधर्म, सत्य असत्य इत्यादि धर्मोंसे भावित हुए उत्पन्न होकर उन्हींको प्राप्त और वे ही उनको रुचिकर होते हैं) ऐसी स्मृति भी है । प्रलीयमान होता हुआ भी यह जगत् अवशिष्ट प्रलीन होता है, फिर शक्ति से ही उत्पन्न होता है अन्यथा जगत् में अकारण उपस्थित होगा । अविद्यारूप उपादान कारणमें लीन, कार्यरूप संस्कारसे भिन्न अनेक प्रकारकी की कल्पना नहीं कर सकते [क्योंकि ऐसी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है] इसलिए पृथक्-पृथक् होनेवाले भू आदि लोकप्रवाह और देव, पशु, मनुष्यरूप प्राणी समूहका प्रवाह, वर्ण, आश्र और फलकी व्यवस्थाओंका नियतत्व अनादि संसारमें विषयेन्द्रिय सम्बन्धके नियतत्वके समा झना चाहिए । छठी इन्द्रिय (मन) के विषयके समान प्रत्येक सृष्टिमें इन्द्रिय विषय सम्बन्ध व्यवहारके भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती । इस कारण सब कल्पोंमें तुल्य व्यवहार होने हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंके अन्य कल्पके व्यवहारका अनुसन्धान करनेमें समर्थ होनेसे प्रत्ये समान नाम रूप वाले भिन्न-भिन्न व्यक्तियां प्रादुर्भूत होती हैं । नाम और रूपके समान होने महासृष्टि और महाप्रलयरूप आवृत्ति स्वीकार करने पर भी शब्द प्रामाण्यादिमें कोई विरोध श्रुति और स्मृति भी सब कल्पोंमें नामरूपकी समानता दिखलाती हैं—'सूर्याचन्द्रमसौ० (पूर्व कल्पके समान ही सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गकी रचना की) पूर्व सूर्य चन्द्रमा आदि जगत्की जैसी कल्पनाकी थी, वैसी इस कल्पमें भी परमेश्वरने उनकी कल्प ऐसा अर्थ है । इसप्रकार 'अग्निर्वा अकामयत० (यजमानने कामनाकी कि मैं देवोंके मध्य

सत्यानन्दी दीपिका

* यहां विलयका अर्थ नाश नहीं है, किन्तु कारणरूपसे विद्यमानता और कार्यरूप होना है, इसलिए संस्कारके बलसे ही पुरुषको पुण्य पाप रुचिकर होता है । यदि संस्कारका मानें तो जगत्में सुख दुःख आदिकी जो विचित्रता प्रतीत होती है वह विना कारणके ही होगी कृतहान अकृतभ्यागम दोष भी प्रसक्त होगा ।

* ब्रह्माकी सुषुप्ति अवस्थाको अवान्तर प्रलय कहते हैं । ब्रह्माकी पूर्ण आयुकी समाप्ति महाप्रलय कहा जाता है । महाप्रलयके अनन्तर जो नवीन सृष्टि उत्पन्न होती है वह महा इसप्रकार जगत्की वारम्वार आवृत्ति होनेपर भी वेद निष्ठ स्वतः प्रामाण्यका विरोध नहीं है ।

* इस पूर्वोक्त रीतिसे पूर्व सृष्टिके समान यह नवीन सृष्टि भी उत्पन्न होती है । इससे सि

एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद्यस्मै वाऽग्नये निरवपत्तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका श्रुतिरिहोदाहर्तव्या । स्मृतिरपि—'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः । शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह । देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥' इत्येवंजातीयका द्रष्टव्या ॥३०॥

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

पदच्छेद—मध्वादिषु, असंभवात्, अनधिकारम्, जैमिनिः ।

सूत्रार्थ—(मध्वादिषु) 'असौ वा आदित्यो देवमधु' इत्यादि मनुष्याधिकारक मध्वादि उपासनाओंमें (असंभवात्) देवादिके अधिकारका असंभव होनेसे (अनधिकारम्) ब्रह्मविद्यामें भी देवादिका आधिकार नहीं है, (जैमिनिः) ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं ।

❀ इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते । देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? मध्वादिष्वसंभवात् । ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत । न चैवं संभवति । कथम् ? 'असौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन् । देवादिषु ह्युपासकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वादित्यः कमन्यमादित्यमुपासीत ?

भक्षक अग्निरूप होऊँ । उसने कृत्तिका नक्षत्रोंके अभिमानी अग्निके लिए आठ कपालोंमें बनाया गया पुरोडाश (हविष्य) अर्पण किया) यह श्रुति नक्षत्रेष्टि विधिमें जिस यजमानरूप अग्निने जिस अग्निके लिए हविष्य अर्पण किया उन दोनोंके नामरूपकी समानताको दिखलाती है और यहां इस प्रकारकी श्रुतियोंको उदाहरणरूपसे समझना चाहिए । 'ऋषीणां० (पूर्वकल्पमें जो जो ऋषियोंके नाम थे और जो जो वेद विषयक दृष्टि थी प्रलयके अन्तमें पुनः उनके उत्पन्न होनेपर ब्रह्माने उन्हीं नामों और शक्तियोंको उन ऋषियोंको दिया । जैसे वसन्त आदि भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें भिन्न-भिन्न उनके नवपल्लवादि चिह्न होते हैं और वे उन ऋतुओंके आनेपर फिर दिखाई देते हैं, वैसे ही सृष्टिके आदिमें पदार्थ दिखाई देते हैं । चक्षु आदि इन्द्रियोंके अभिमानी जो अतीत कल्पमें देवता थे उनके समान इसी कल्पमें भी वही सूर्य आदि देवता हैं । और अतीत देवताओंके नामरूपके समान ही उनके नामरूप भी हैं) इसप्रकारकी स्मृति भी नामरूपकी समानतामें प्रमाणरूपसे समझनी चाहिए ॥ ३० ॥

यह जो प्रतिज्ञाकी गई है कि यहाँ ब्रह्मविद्यामें देवादिका भी अधिकार है, उस पर आक्षेप करते हैं । जैमिनि आचार्यका मत है कि देव आदिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि मधु आदिमें उनके अधिकारका संभव नहीं है । ब्रह्म विद्यामें उनका अधिकार स्वीकार करनेपर विद्यात्व दोनोंमें समान होनेके कारण मधु आदि विद्यामें भी उनका अधिकार मानना पड़ेगा । परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि 'असौ वा आदित्यो० (निश्चय यह आदित्य देवोंका मधु है) इसमें मधुके अध्याससे आदित्यकी मनुष्य उपासना करें । परन्तु देव आदिको उपासकरूपसे स्वीकार किये जानेपर आदित्य किस अन्य आदित्यकी उपासना करे । और आदित्यके आश्रित रोहित आदि पाँच किरण

सत्यानन्दी दीपिका

कि जन्म और मरणवाले शरीरके अंगीकार करनेपर भी देवादिका कर्म और शब्दमें विरोध नहीं है । अर्थात् नित्य वेदसे अनित्य देवादि व्यक्तियोंकी उत्पत्ति माननेपर भी वेदमें नित्यत्वका विरोध नहीं है ३० ।

❀ सूर्यको मधुका रूपक बतलाते हैं— चारों वेदोंमें प्रतिपादित चार प्रकारके कर्म और प्रणव ये पाँच पुष्प हैं । इन पुष्पोंसे होम मंत्र रूप मधुमक्खियाँ हवन किये गये सोम, घृत आदि पदार्थ रूप

पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य वसवो रुद्रा आदित्या साध्याश्च पञ्च देवगणाः क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्तीत्युपदिश्य 'स य एतदेवममृतं वेद मेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति' इत्यादिना वस्वाद्युपजीव्यान्यमृतानि विजा वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति । ❀ वस्वादयस्तु कानन्यान्वस्वादीनमृतोपजीविनो विजानी कं वाऽन्यं वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः ? तथा अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो पादः' (छा० ३।१८।२), 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१) 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (३।११।१) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकारः संभवति । 'इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः' (बृ० २।२।४) इत्यादिष्वप्यृषिसंबन्धो सनेषु न तेषामेवर्षीणामधिकारः संभवति ॥३१॥

कुतश्च देवादीनामनधिकारः—

ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

पदच्छेद—ज्योतिषि, भावात्, च ।

सूत्रार्थ—(ज्योतिषि) दृश्यमान ज्योतिर्मण्डलमें (भावाच्च) आदित्य शब्दका प्रयो आदित्य प्रत्यय होता है। वे मण्डल अचेतन हैं। उनसे भिन्न शरीरादि युक्त चेतन प्रत्यक्षादि प्र अज्ञात है, इसलिए शरीर रहित होनेके कारण देवतादि ब्रह्मविद्याके अधिकारी नहीं हैं।

अमृत हैं ऐसा उपक्रम कर वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य ये पाँच देव गण क्रमसे उ अमृतका उपभोग करते हैं ऐसा उपदेश कर 'स य एतदेवममृतं० (वह जो इस प्रकार इस अ जानता है वह वसुओंमें से ही कोई एक होकर अग्नि रूप मुखसे इसे देखकर तृप्त हो इस प्रकार श्रुति वसु आदिके उपजीव्य अमृतोंको जाननेवालेके लिए वसु आदिकी महिमा दिखलाती है। यदि वसु आदिको उपासक मानें तो वसु आदि अमृतोपजीवी किन अन्य वसु जानेंगे ? अथवा किन अन्य वसु आदिकी महिमाको प्राप्त करना चाहेंगे ? तथा 'अग्निः पादो० (पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है और दिशाएँ पाद है), 'वायुर्वाव संवर्गः० (निश्च संवर्ग है), 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः० (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा आदेश है) इत्यादि देवतात्म सनाओंमें उन्हीं देवताओंका अधिकार सम्भव नहीं है। इसी प्रकार 'इमावेव' (ये दोनों [ही गौतम और भरद्वाज हैं। यह ही गौतम है और दूसरा भरद्वाज है) इत्यादि ऋषि उपासनामें उन्हीं ऋषियोंका अधिकार सम्भव नहीं है ॥ ३१ ॥

और किस हेतु से देवतादिका अनधिकार है ?

सत्यानन्दी दीपिका

लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अतिकृष्ण, गोप्य नामके ये पाँच अमृतोंको होम मंत्रों द्वारा पूर्व, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व इन पाँचों दिशाओंमें स्थित मधु मक्खियोंके छत्तेके छिद्र रश्मियोंद्वारा सूर्य मण्डलमें ले जाती हैं; और वहाँ वे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्न रूपमें होकर पाँच दिशाओंमें स्थित वसु आदि देवताओंसे उपजीव्य होते हैं। इस तरहसे सूर्यकी उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार ध्यान करनेवाले मनुष्यके लिए वसु आदिकी प्राप्ति कही

❀ इस आकाश रूप ब्रह्मके अग्नि आदि चार पाद हैं। इसलिए वायु आदि उपासक सकते, क्योंकि ब्रह्मके पादरूपसे इनकी उपासनाका विधान किया गया है। दो श्रोत्र, दो नासिका, एक वाणि रूप सात इन्द्रियोंमें सप्त ऋषियोंका ध्यान करे। यह दक्षिण श्रोत्र गोतम वाम श्रोत्र भरद्वाज है, दक्षिण नेत्र विश्वामित्र है, दक्षिण नासिका वशिष्ट है, वाम नेत्र

❀ यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां बम्भ्रमज्जगदवभासयति, तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते। लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च। न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयाऽर्थित्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते; मृदादिवदचेतनत्वावगमात्। एतेनाग्न्यादयो व्याख्याताः। स्यादेतत्—मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमादयमदोष इति, नेत्युच्यते; नहि तावल्लोको नाम किंचित्स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति। प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध्यन्नर्थो लोकात्प्रसिध्यतीत्युच्यते। न चात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतमं प्रमाणमस्ति। इतिहासपुराणमपि पौरुषेयत्वात्प्रमाणान्तरं मूलमाकाङ्क्षति। ❀ अर्थवादा अपि विधिनैकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थाः सन्तो न पार्थगर्थ्येन देवादीनां विग्रहादिसद्भावे कारणभावं प्रतिपद्यन्ते। मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ताः प्रयोगसमवायिनोऽभिधानार्था न कस्यचिदर्थस्य प्रमाणमित्याचक्षते। तस्मादभावो देवादीनामधिकारस्य ॥३२॥

द्युलोकमें स्थित यह जो ज्योतिर्मण्डल दिन रात पुनः पुनः भ्रमण करता हुआ जगत्को प्रकाशित करता है उसमें आदित्य आदि देवतावाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि यह लोक प्रसिद्धि और वाक्यशेष प्रसिद्धि है। ज्योतिर्मण्डलका हृदयादि शरीरके साथ अथवा चेतनता और अर्थित्वादिके साथ सम्बन्ध नहीं जाना जा सकता, क्योंकि मृद् आदिके समान वे अचेतन ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार अग्नि आदि भी समझ लेने चाहिए। ऐसा ही हो, परन्तु यदि ऐसा कहो कि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोक व्यवहारसे भी यह प्रतीत होता है कि देवादिमें विग्रहवत्त्वादिका ज्ञान होनेसे यह अनधिकार रूप दोष नहीं है, तो इस पर कहते हैं कि यह युक्त नहीं है, क्योंकि लोक कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। जिसके विशेष विषयमें विचार नहीं किया गया है ऐसे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हुआ अर्थ ही लोकसे प्रसिद्ध होता है ऐसा कहा जाता है। देवताका शरीर होता है इस विषयमें प्रत्यक्ष आदिमें से कोई भी प्रमाण नहीं है। इतिहास, पुराण भी पुरुष प्रणीत होनेसे मूलभूत अन्य प्रमाणकी अपेक्षा रखते हैं। अर्थवाद वाक्य भी विधिके साथ एक वाक्यता [एकार्थ प्रतिपादकता] के कारण स्तुति अर्थक होकर विधिवाक्यके अर्थसे भिन्न स्वतंत्र रूपसे देवतादिके शरीरके सद्भावमें कारणत्वको प्राप्त नहीं हो सकते। श्रुति आदि द्वारा विनियोगको प्राप्त हुए वे मन्त्र भी प्रयोगके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अर्थका अभिधान करते हैं। स्वतंत्र रूपसे किसी अर्थमें प्रमाण नहीं हैं, ऐसा मीमांसक कहते हैं। इसलिए शरीर आदिके अभाव होनेसे ब्रह्म विद्यामें देवता आदिका अधिकार नहीं है ॥ ३२ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

और वाम नासिका कश्यप है, वाणी अत्रि है, इस प्रकार अध्यात्मोपासनाओंमें ऋषियोंको ध्येय कहा गया है अर्थात् तत् तत् स्थानमें तत् तत् ऋषिकी उपासना करनेका विधान है। अतः इन उपास्य देवता और ऋषियोंका उक्त उपासनाओंमें अधिकार नहीं है ॥ ३१ ॥

* मीमांसक लोग देवताको मन्त्रात्मक मानते हैं। इसलिए शरीर न होनेसे देवतादिका ब्रह्म विद्यामें अधिकार नहीं। 'आदित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता' [छा० ३।४।६] (आदित्य पूर्व दिशामें उदय होता है और पश्चिममें अस्त होता है) इस मधु विद्या वाक्यशेषमें आदित्य शब्दका प्रयोग जड़ ज्योतिर्मण्डलमें प्रसिद्ध है। अतः 'शरीर रहित होनेसे शब्दात्मक देवताका विद्यामें अधिकार नहीं।

'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (हाथमें वज्र लिया हुआ इन्द्र) इत्यादि मंत्र हैं। 'सोऽरोदीत्' (वह अग्नि रोया) इत्यादि अर्थवाद हैं। 'इष्टान् भोगान् हि वो देवाः दास्यन्ते यज्ञ भाविताः। ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ॥' (यज्ञसे प्रसन्न हुए देवता तुम्हें इष्ट भोग देंगे। तृप्त हुए देवता सब

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

पदच्छेद—भावम्, तु, बादरायणः, अस्ति, हि ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्व पक्षकी व्यावृत्तिके लिए है, (बादरायणः) बादरायण आचा मत है कि (भावम्) शरीरधारी होनेसे देवादिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, (हि) यतः क्यों (अस्ति) उनमें अर्थित्व आदि अधिकारका कारण है ।

❀ तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । बादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनाम मन्यते । यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसंभवोऽधिकारस्य; तथाप्यस्ति शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां संभवः । अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य । न च क्वचि संभव इत्येतावता यत्र संभवस्तत्राप्यधिकारोऽपोद्येत । मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणानां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः संभवति । तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति । ब्रह्मविद्यां प्रकृत्य भवति दर्शनं श्रौतं देवाद्यधिकारस्य सूचकम्—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इति । 'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छा यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्' इति । 'इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रव विरोचनोऽसुराणाम्' (छा० ८।७।२) इत्यादि च । स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादा

सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है । बादरायणाचार्य तो ऐसा मानते हैं कि दे आदिका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है । यद्यपि देवता आदिसे सम्बन्धित मध्वादि विद्याओंमें अधिकारका असम्भव है, तो भी शुद्ध ब्रह्मविद्यामें अर्थित्व, सामर्थ्य, अप्रतिषेध आदिकी अपे अधिकारका सम्भव है । यदि कहीं (मध्वादि विद्यामें) अधिकारका असंभव है तो इतने मात्रसे (ब्रह्म विद्यामें) सम्भव है वहाँ भी अधिकारका निषेध नहीं हो सकता । मनुष्योंमें भी सब ब्राह्मण आ सम्पूर्ण राजसूय आदिमें अधिकार सम्भव नहीं है, वहाँ जो न्याय है वह यहाँ भी लागू होगा । विद्याको प्रस्तुतकर देवता आदिके अधिकारका सूचक 'तद्यो यो० (उसे देवोंमेंसे जिस जिसने (आत्म जाना वही तद्रूप हो गया । इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी जिस-जिसने जाना वह तद्रू रूप हो गया) और 'ते होचु हन्त० (वे कहने लगे—हम उस आत्माको जानना चाहते हैं जानने पर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है, ऐसा निश्चय कर देवता राजा इन्द्र और असुरोंका राजा विरोचन ये दोनों परस्पर ईर्ष्या करते हुए हाथमें समिधाएं लेकर पतिके पास आये) इत्यादि श्रौत लिंग दर्शन भी है । तथा गन्धर्व और याज्ञवल्क्यका संवाद

सत्यानन्दी दीपिका

कामनाओंके शुभ फलोंसे इसको तृप्त करेंगे) इत्यादि इतिहास और पुराण वाक्य हैं । देवताओंका शरीर सिद्ध होता है । परन्तु इन मंत्र अर्थवाद आदिका स्वतंत्र अर्थ नहीं है, क्योंकि सब अर्थवाद आदि वाक्य विधि वाक्योंके अङ्ग होकर प्रशंसा आदि परक हैं, अतः शरीर न देवतादिका ब्रह्म विद्यामें अधिकार नहीं है ॥ ३२ ॥

❀ पूर्वपक्षीने जो यह कहा है कि 'ब्रह्म विद्या, देवादीन् नाधिकरोति, विद्यात्वात्, मध् विद्यावत्' "ब्रह्म विद्या देवादिको अधिकृत नहीं करती, विद्या होनेसे मध्वादि विद्याके समान" अप्रयोजक है अर्थात् यह कोई अव्यभिचरित नियम नहीं है कि जिसका कहीं पर अधिकारका अ हो तो सर्वत्र उसका असंभव हो, जैसे कि राजसूय आदि यागोंमें सब ब्राह्मण आदिका अधिक है । 'दर्शादिकं न ब्राह्मणमधिकरोति कर्मत्वात् राजसूयादिवत्' (दर्शादि कर्म ब्राह्मणको नहीं करते, कर्म होनेसे, राजसूय आदि कर्मके समान), जैसे राजसूय आदि कर्ममें ब्राह्मणका

※ यदप्युक्तं—ज्योतिषि भावाच्चेति। अत्र ब्रूमः—ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं तं तं देवतात्मानं समर्पयन्ति; मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात्। अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्चावस्थातुं, यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे—मेधातिथेर्मेषेति। 'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंश० ब्रा० १।१) इति। स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते; 'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' इत्यादिदर्शनात्। ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते। चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिव्यवहारादित्युक्तम्। यदप्युक्तं-मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनसामर्थ्यमिति। अत्र ब्रूमः—प्रत्ययाप्रत्ययौ हि

स्मृति लिङ्ग भी है। किञ्च 'ज्योतिषि भावाच्च' इस सूत्रमें जो कहा गया है, अब उसपर हम कहते हैं—ज्योतिर्मंडल आदि विषयक होनेपर भी देवता वाचक आदित्य आदि शब्द चेतनावाले, ऐश्वर्य आदि युक्त उस उस देवताका बोध कराते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद आदिमें ऐसा व्यवहार है। ऐश्वर्यके योगसे देवताओंका ज्योति आदिरूपसे अवस्थान हो सकता है और यथेष्ट उस-उस विग्रहके धारण करनेकी भी उनमें सामर्थ्य हैं। उसी प्रकार सुब्रह्मण्यार्थवादमें 'मेधातिथि० (इन्द्रने भेड़ बनकर कण्वके पुत्र मेधातिथिका अपहरण किया) इस श्रुतिमें इन्द्रके प्रति 'मेधातिथिका मेष' ऐसा सम्बोधन है। 'आदित्यः० (आदित्य पुरुष बनकर कुन्तिके पास गया) ऐसी स्मृति भी है। मृत्तिका आदिमें भी चेतन अधिष्ठाता स्वीकार किए गए हैं, क्योंकि 'मृदब्रवीत्० (मृत्तिका बोली, जल बोला) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। आदित्य आदिमें ज्योतिर्मण्डल आदि भौतिक वस्तुका अचेतन स्वीकार किया जाता है। मन्त्र अर्थवाद आदिके व्यवहारसे ज्योतिर्मण्डलादिका अधिष्ठाता देवता चेतन हैं ऐसा कहा गया है। जो यह कहा गया है कि मन्त्र और अर्थवादमें अन्यार्थकत्व होनेसे देवताके विग्रह प्रकाशनकी सामर्थ्य नहीं है। उसपर हम कहते हैं—वस्तुके सद्भाव और असद्भावमें उसका प्रत्यय एवं अप्रत्यय ही

सत्यानन्दी दीपिका

नहीं है, वैसे दर्श आदि कर्ममें भी ब्राह्मणका अधिकार नहीं है, क्योंकि यह भी कर्म है। यहाँ कर्मत्व भी अप्रयोजक हेतु है अर्थात् साध्यको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। 'राजा राजसूयेन यजेत' 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत' (राजा राजसूय नामक यागसे इष्टकी भावनाकरे, ब्राह्मण बृहस्पतिसव नामक यज्ञसे इष्टकी भावना करे) यहाँ दोनों यागोंमें कर्मत्व समान होने पर भी जिसमें जिसका अधिकार है उसमें उसका ही अधिकार है अन्यमें नहीं। जैसे ब्राह्मणका राजसूय यागमें अधिकार न होनेपर भी बृहस्पतिसवमें अधिकार है। क्षत्रिय राजाका राजसूयमें अधिकार होनेपर भी बृहस्पतिसव यागमें अधिकार नहीं है। वैसे देवता आदिका मध्वादि विद्यामें अधिकार न होनेपर भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। यहाँ अधिकारका कारण अर्थीत्व सामर्थ्य, अप्रतिषेध आदि हैं। वे उनमें हैं, क्योंकि उनमें कामना, सामर्थ्य है उनका कहीं निषेध भी नहीं है कि उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है। उद्धृत श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है कि देवता आदिका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। विश्वासु गन्धर्वने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया कि 'किमत्र ब्रह्मामृतम्' ? याज्ञवल्क्यने उसका उत्तर दिया। यह स्मार्त संवाद आदि भी इसी बातको दृढ़ करता है कि देवादिका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है।

* मन्त्र, अर्थवाद, पुराण, इतिहास आदिसे आदित्य आदिके भी दो-दो अंश सिद्ध होते हैं। एक तो भूतोंका कार्य ज्योतिर्मण्डल आदिरूप अचेतन अंश और दूसरा दृश्यमान ज्योतर्मण्डल आदिके अधिष्ठाता देवतारूप चेतन अंश, जिसका ब्रह्मविद्यामें अधिकार सिद्ध किया जाता है। इन दोनोंमें

सद्भावासद्भावयोः कारणं, नान्यार्थत्वमनन्यार्थत्वं वा। तथाह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः प पतितं तृणपर्णाद्यस्तीत्येव प्रतिपद्यते। अत्राह—विषम उपन्यासः। तत्र हि तृणपर्णा विषयं प्रत्यक्षं प्रवृत्तमस्ति, येन तदस्तित्वं प्रतिपद्यते। अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभा स्तुत्यर्थेऽर्थवादे न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्तिः शक्याऽध्यवसातुम्। नहि महावाक्ये र्थप्रत्यायकेऽवान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति; यथा 'न सुरां पिबेत्' इति नञ्वति वा पदत्रयसंबन्धात्सुरापानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते, न पुनः सुरां पिबेदिति पदद्वयसंब त्सुरापानविधिरपीति। अत्रोच्यते—विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सुरापानप्रतिषेधे पदान्व कत्वादवान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम्। विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथग वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यानन्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते। यथा हि 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादिपदानां विधिना संब नैवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति' इत्येवमा वादगतानां पदानाम्। न हि भवति वायुर्वा आलभेतेति क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेतेत्या वायुस्वभावसंकीर्तनेन त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवंविशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुव *तद्यत्र सोऽवान्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति, तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्त

कारण है, अन्यार्थकत्व अथवा अनन्यार्थकत्व कारण नहीं है। जैसे कि किसी अन्य प्रयोजनके लि प्रस्थान किया हुआ पुरुष मार्गमें पड़े तृण पत्ते आदिके अस्तित्वको प्रतिपन्न होता है। इस पर क हैं कि यह दृष्टान्त विषम है। वहां तो तृण पर्णादि विषयक प्रत्यक्ष प्रवृत्त है, जिससे उनके अस्ति प्रतिपन्न होता है। परन्तु यहां तो विधि वाक्यके साथ एकवाक्यता प्राप्त करनेसे स्तुति अर्थक अ वादमें स्वतन्त्ररूपसे भूतार्थ विषयक प्रवृत्तिका निश्चय नहीं किया जा सकता। अर्थ बोधक महावा अवान्तर वाक्यको पृथक् अर्थबोधकत्व नहीं है। जैसे 'न सुरां पिबेत्' (सुरा न पिए) इस न वाले वाक्यमें तीन पदोंके सम्बन्धसे सुरापानका प्रतिषेधरूप एक ही अर्थ अवगत होता है, न 'सुरां पिबेत्' इन दो पदोंके सम्बन्धसे पुनः सुरापान विधि भी। इस विषयमें कहते हैं कि यह दृ विषम है। सुरापानके प्रतिषेधमें पदान्वय एक होनेके कारण [सुरां पिवेत्] इस अवान्तर वाक्य का ग्रहण करना युक्त नहीं है। परन्तु विधि वाक्य और अर्थवादमेंसे अर्थवादस्थ पद भूतार्थ वि पृथक् अन्वित होकर अनन्तर कैमर्थ्यसे [इस अर्थवादका क्या प्रयोजन है, किसलिए है?] विधि वाक्यके स्तावक होते हैं। जैसे 'वायव्यं श्वेतम्०' (ऐश्वर्य चाहनेवाला वायव्य श्वेत आलभन करे) इसमें विधि वाक्यगत वायु आदि पदोंका विधिके साथ सम्बन्ध है, वैसे क्षेपिष्ठा देवता० (निश्चित वायु शीघ्रगामी देवता है। जो यजमान हविको वायुके लिए दे अर्थात् वायुके लिए हविका भाग करता है वह उसको ऐश्वर्य देता है) इन अर्थवाद वाक्यगत विधिके साथ सम्बन्ध नहीं है। 'वायुर्वा आलभेत' अथवा 'क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेत' वाक्योंका विधिके साथ सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु वायु स्वभावके कथन द्वारा अवान्तर अन्वय कर इसप्रकार विशिष्ट देवता सम्बन्धी यह कर्म है। इसप्रकार विधिकी स्तुति करते हैं। अवान्तर वाक्यार्थ प्रमाणान्तरका विषय होता है, वहां उसके अनुवादसे अर्थवाद प्रवृत्त हो

सत्यानन्दी दीपिका

आदित्य शब्दका प्रयोग होता है। इस विषयको आगे 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र० सू० २। इस सूत्रमें स्पष्ट करेंगे।

* 'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥' क्षादिसे विरोध होनेपर गुणवाद और प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अर्थ अवगत होनेपर अनुवाद और

यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन। यत्र तु तदुभयं नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तराभावाद्गुणवादः स्यात्, आहोस्वित्प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानवाद इति प्रतीतिशरणैर्विद्यमानवाद आश्रयणीयो न गुणवादः। एतेन मन्त्रो व्याख्यातः। अपि च विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्। न हि स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते। न च चेतस्यनारूढायै तस्यै तस्यै देवतायै हविः प्रदातुं शक्यते। श्रावयति च—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति। नच शब्दमात्रमर्थस्वरूपं संभवति; शब्दार्थयोर्भेदात्। तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूपमवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम्। इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण संभवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात्प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि संभवति।

जहां प्रमाणान्तरसे विरोध है वहां गुणवादसे। जहां ये दोनों नहीं है वहां प्रमाणान्तरके अभावसे गुणवाद हो अथवा प्रमाणान्तरके अविरोधसे विद्यमान अर्थवाद हो ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर प्रतीतिशरण पुरुषांसे विद्यमान अर्थवाद [भूतार्थवाद] आश्रयणीय है, गुणवाद नहीं। इसप्रकार मन्त्रोंमें भी समझना चाहिए अर्थात् मन्त्र भी प्रमाणान्तरके संवाद और विसंवादके अभावसे स्वार्थमें प्रमाण भूत हैं। और इन्द्रादि देवता सम्बन्धी हविष्य देनेकी प्रेरणा करनेवाली विधियां भी इन्द्रादिके स्वरूपकी अपेक्षा रखती हैं वस्तुतः स्वरूप रहित इन्द्रादि देवताओंका चित्तमें आरोप नहीं किया जा सकता। ध्यानमें अनारूढ़ उस उस देवताके लिए हविष्य देनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता। 'यस्यै देवतायै० (जिस देवताके लिए हविका ग्रहण किया हुआ हो उस देवताका 'वषट्' इस शब्दका उच्चारण कर पहले ध्यान करे) ऐसा श्रुति कहती है। और केवल शब्द अर्थस्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द और अर्थमें भेद है। उन मन्त्र और अर्थवादमें इन्द्रादिका जैसा स्वरूप अवगत होता है वैसा स्वरूप शब्द प्रमाणकों द्वारा प्रत्याख्यान करना युक्त नहीं है। इतिहास और पुराण भी मन्त्र और अर्थवाद मूलक होनेके कारण प्रमाण होकर उक्त रीतिसे देवतादिके विग्रह आदि सिद्ध करनेमें

सत्यानन्दी दीपिका

पर दोनों ही नहीं वहां भूतार्थवाद, इसप्रकार अर्थवाद तीन प्रकारका है) जिस वाक्यका अर्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विरुद्ध हो वहां विरोध परिहारार्थ गौणी वृत्ति मानकर समाधान किया जाता है। यथा 'आदित्यो यूपः' इस स्थलमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणांसे यूप और आदित्य दोनोंका भेद प्रतीत होता है, इससे दोनोंमें अभेद विरुद्ध है। यूपमें आदित्यका जो तेजस्वित्व गुण है, उस गुणसे यह अर्थवाद प्रवृत्त होता है, तो यहां 'आदित्यो यूपः' का 'आदित्यसदृशो यूपः' यह अर्थ है। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि स्थलमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे वायुका शीघ्रगामित्व प्रसिद्ध है, उसका अनुवाद कर यह अर्थवाद प्रवृत्त होता है, अतः इस अर्थवादका नाम अनुवाद है। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (जिसके हाथमें वज्र है वह इन्द्र है) श्रुति आदि प्रमाणसे ज्ञात होता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अज्ञात है, अतः यह अर्थ भूतार्थवाद कहलाता है। वाक्यके दो तात्पर्य होते हैं—अवान्तर तात्पर्य और महातात्पर्य। गुणवाद और अनुवाद दोनोंका अवान्तर तात्पर्य विषयभूत अर्थमें प्रामाण्य नहीं होता केवल महातात्पर्य विषयभूतमें ही प्रामाण्य है। भूतार्थवादका दोनोंमें प्रामाण्य रहता है। प्रमालक्षणमें अनधिगतत्व और अबाधितत्व दो विशेषण दिए गए हैं। गुणवादमें अबाधितत्व नहीं है, अनुवादमें अनधिगतत्व नहीं है, इसलिए गुणवाद और अनुवाद दोनोंका अवान्तर तात्पर्य विषयमें प्रामाण्य नहीं है। भूतार्थवादका दोनोंमें प्रामाण्य रहता है, क्योंकि शब्दका तात्पर्य विषयीभूत अर्थमें प्रामाण्य होता है। शब्दसे जो अर्थ प्रतीत हो उसमें नहीं। शब्दका आकार तो नहीं होता, तब उसका ध्यान भी कैसे होगा ? इसलिए विधि आदिकी सिद्धिके लिए देवताका विग्रह मानना युक्त है।

भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरंतनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानींतनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभि सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्। इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियो ब्रूयात्। ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थि न्वर्णाश्रमधर्मान्प्रतिजानीत। ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद्धर्मो शाच्चिरंतना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति—'स्वाध्या देवतासंप्रयोगः' (यो० सू० २।४४) इत्यादि। योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमा शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—'पृथ्व्यप्तेजो समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् २।१२) इति। *ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येनोपमातुं तस्मात्समूलमितिहासपुराणम्। लोकप्रसिद्धिरपि न सति संभवे निरालम्बनाऽध्यवसातुं तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः। ततश्चार्थित्वादिसंभवा देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः। क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते॥३३॥

समर्थ होते हैं। और देवताके शरीर आदिमें प्रत्यक्ष आदि मूलत्व भी संभव है। हम अप्रत्यक्ष भी चिरन्तनों-प्राचीनोंको प्रत्यक्ष है। जैसे व्यास आदि देवताओंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहा हैं, ऐसी स्मृति है। जो ऐसा कहे कि आजकलके समान प्राचीन लोगोंकी भी देवादिके साथ करनेकी सामर्थ्य नहीं थी, वह जगत्की विचित्रताका प्रतिषेध करता है और इदानींके समान अन्य भी सार्वभौम क्षत्रिय नहीं थे ऐसा कहे, तो राजसूय आदि विधि बाधित हो जायगी। किञ्च आ समान अन्य समयमें भी वर्णाश्रम धर्म अव्यवस्थितप्राय थे ऐसी प्रतिज्ञा करे तो ऐसी स्थितिमें विधायक शास्त्र अनर्थक हो जायगा, इससे सिद्ध होता है कि धर्मके उत्कर्षके कारण प्राचीन देवादिके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे यह युक्त है। 'स्वाध्यायादिष्ट० (स्वाध्यायसे-मन्त्र देवताका सान्निध्य और उसके साथ संभाषण होता है) इत्यादि स्मृति भी है। अणिमा आदि प्राप्ति फलवाले और स्मृति सिद्ध योगका भी साहस मात्रसे निषेध नहीं किया जा सकता। प्तेजो० (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतोंके अपने वशमें होनेसे और आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति होनेसे अभिव्यक्त तेजोमय देहको प्राप्त हुए योगीको रोग, जरा नहीं होती) इत्यादि श्रुति भी योगकी महिमाका वर्णन करती है। मन्त्र तथा ब्राह्मणरूप वेद ऋषियोंकी सामर्थ्यको अपनी सामर्थ्यसे तुलना करना युक्त नहीं हैं। इससे इतिहास, पुराण प्रमाणभूत हैं। लोक प्रसिद्धि भी श्रुति, स्मृति आदि आलम्बनके होनेपर निराधार निश्चित कर नहीं है। इसलिए मन्त्रादिसे देवादिमें विग्रहवत्त्व आदि प्रतीति युक्त है। उनमें अर्थित्व आदिके होनेके कारण देवता आदिका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार उपपन्न है। इसप्रकार क्रममुक्ति प्र शास्त्र भी उपपन्न होते हैं॥ ३३॥

सत्यानन्दी दीपिका

* कलाकारों द्वारा निर्मित देवादि विग्रह भीति चित्र आदि श्रुति, स्मृति, इतिहास, लोक अनुभव आदिके विद्यमान होनेसे निराधार नहीं कहे जा सकते।

विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता। फलदातृत्वमित्येतत्पञ्चकं विग्रहादिकम्॥

(शरीरधारी होना, हविष्यका ग्रहण, ऐश्वर्य, हविष्य आदिसे प्रसन्नता, प्रस यजमानको फल देना इसप्रकार पाँच विग्रह होते हैं)।

'विग्रहो हविः स्वीकारः तद्भोजनं तृप्तिः प्रसादश्चेत्येतच्चेतनस्योचितं पञ्चकम्॥'

(६ अपशूद्राधिकरणम् सू० ३४-३८)

शुग तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥३४॥

पदच्छेद—शुक्, अस्य, तदनादरश्रवणात्, तदाद्रवणात्, सूच्यते, हि ।

सूत्रार्थ—(अस्य) जानश्रुतिको (तदनादरश्रवणात्) इससे अपना अनादर श्रवण करनेसे (शुक्) शोक उत्पन्न हुआ, वह (सूच्यते हि) शूद्रसे सूचित किया गया है, (तदाद्रवणात्) शोकसे ही रैक्वके पास गमन किया, इससे शूद्र कहा गया है ।

❀ यथा मनुष्याधिकारनियममपोद्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते । तत्र शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादिति तावत्प्राप्तम्; अर्थित्वसामर्थ्ययोः संभवात्, 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७।१।१।६) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' इति च निषेधाश्रवणात् । यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्यानग्नित्वं, न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकं लिङ्गम् । न ह्याहवनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते । भवति च लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम् । संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' (छा० ४।२।३) इति । विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि

केवल मनुष्यका ही ब्रह्मविद्यामें अधिकार है, इस नियमका निषेधकर जैसे देवतादिका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार कहा गया है, वैसे ही द्विजाति मात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का विद्यामें अधिकार है, इस नियमका अपवादकर कहीं शूद्रका भी विद्यामें अधिकार हो, तो इस आशङ्का की निवृत्तिके लिए इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है । पूर्वपक्षी—ब्रह्मविद्यामें शूद्रका भी अधिकार हो ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि अर्थित्व और सामर्थ्य उसमें भी सम्भव है । किञ्च 'तस्माच्छूद्रो' (अग्नि रहित होनेसे शूद्र यज्ञमें असमर्थ है) इसके समान, 'शूद्रो विद्यायां० (शूद्र विद्यामें असमर्थ है) इस प्रकार निषेधका श्रवण नहीं अर्थात् निषेधक श्रुति नहीं है । कर्मोंमें अनधिकारका कारण जो अग्नि रहितत्व है वह ब्रह्मविद्यामें अधिकारका अपवादक नहीं है । आहवनीय आदि अग्नियोंसे रहित पुरुषसे विद्या संपादन नहींकी जा सकती, यह बात नहीं है । शूद्रके अधिकारका समर्थक श्रौत लिङ्ग-श्रुति है । संवर्गविद्यामें श्रवण करनेकी इच्छा रखनेवाले पौत्रायण जानश्रुतिका रैक्वने 'अह हारेत्वा० (हे शूद्र ! गौओं सहित यह हार युक्त रथ तेरे ही पास रहे) इस प्रकार शूद्र शब्दसे परामर्श किया है । ऐसी

सत्यानन्दी दीपिका

(विग्रह, हविष्यका स्वीकार, उसको भोगना, तृप्तिः, प्रसन्न होकर यजमानको फल देना ये पाँच चेतनके लिए ही उचित हैं शब्दात्मक जड़ देवताके लिए नहीं) इत्यादिसे यह सिद्ध होता है कि देवताका विग्रह होता है, इससे उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार सिद्ध होता है । इससे क्रम मुक्ति प्रतिपादक शास्त्र भी संगत होते हैं । अहंग्रह उपासना आदिसे ब्रह्मलोकमें जाकर दिव्य शरीरको पाकर दिव्य भोगोंका अनुभव करता है । संस्कार बलसे वहां ब्रह्माद्वारा ज्ञान प्राप्तकर आत्मसाक्षात्कार होनेसे मुक्त हो जाता है, इसप्रकार उसकी क्रममुक्ति होती है । इसलिए देवादिको शरीरधारी मानकर ब्रह्मविद्यामें अधिकार मानना श्रुति संगत है ॥ ३ ॥

❀ 'तद्यो यो देवानाम्' इस श्रुतिमें देव शब्दसे जैसे ब्रह्मविद्यामें केवल मनुष्यके अधिकारको टाकर देवादिका भी अधिकार कहा गया है, वैसे श्रुतिमें शूद्र शब्दसे द्विज जातिके अधिकार नियमको टाकर शूद्रका भी अधिकारहै । इसप्रकार दृष्टान्तसंगतिसेइस अधिकरणकाआरम्भ है । देवतादिका ी ब्रह्मविद्यामें अधिकार निश्चित किया है, उसीसे ब्रह्मविद्यामें शूद्रका भी अधिकार है कि नहीं

विशिष्टविज्ञानसंपन्नाः स्मर्यन्ते । तस्माद्धिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति । ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः
शूद्रस्याधिकारः; वेदाध्ययनाभावात् । अधीतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रि
नच शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति; उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य । उपनयनस्य च व
विषयत्वात् । यत्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति । सामर्थ्यमपि न लौ
केवलमधिकारकारणं भवति; शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात्, शास्त्रीय
सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात् । यच्चेदं 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' इति, तन्
पूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयति; न्यायस्य साधारणत्वात् । यत्पुनः संवर्गवि
शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं; न्यायाभावात् । न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं
भवति । न चात्र न्यायोऽस्ति । कामं चायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकु
तद्विषयत्वात्, न सर्वासु विद्यासु । अर्थवादस्थत्वात्तु न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्स

स्मृति भी है कि विदुर आदि शूद्र योनिमें उत्पन्न हुए भी विज्ञान सम्पन्न थे । इसलिए
विद्याओंका अधिकारी है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वेदाध्ययनके न होने
शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है । अधीत वेद और विदित वेदार्थ पुरुषका ही वेदार्थ वि
अधिकार है । शूद्रके लिए तो वेदाध्ययन ही नहीं है, क्योंकि वेदाध्ययन तो उपनयनपूर्वक किया
है । और उपनयन वर्णत्रय (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) विषयक होता है । जो आर्थित्व है
सामर्थ्यके न होनेपर अधिकारका कारण नहीं हो सकता । केवल लौकिक सामर्थ्य भी अधि
कारण नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय अर्थमें शास्त्रीय सामर्थ्यकी अपेक्षा होती है, और अध्ययनके
करणसे शास्त्रीय सामर्थ्यका भी निराकरण हुआ समझना चाहिए । किञ्च 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः
जो कहा गया है वह न्यायपूर्वक होनेसे विद्यामें भी असामर्थ्यको सूचित करता है, क्योंकि न्याय
समान है । और संवर्ग विद्यामें शूद्र शब्द श्रवणको जो तुम लिङ्ग मानते हो वस्तुतः वह लिङ्ग नहीं
क्योंकि वेदार्थ ज्ञानात्मक सामाथ्र्य रूप अनुकूल न्याय नहीं है । लिङ्ग दर्शन तो न्याय संगत लि
ही सूचक होता है, परन्तु यहाँ तो उक्त न्याय नहीं है । भले ही यह शूद्र शब्द केवल एक
विद्यामें शूद्रको अधिकार दे, क्योंकि यह शूद्र शब्द संवर्ग विद्यामें पठित है, सब विद्याओंमें
अधिकार नहीं है । और यह शूद्र शब्द अर्थवाद वाक्योंमें पठित होनेके कारण किसी भी वि

सत्यानन्दी दीपिका

इस प्रश्नका निर्णय करते हैं । पूर्वपक्षी—शूद्रका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है । इसमें एक उ
कहते हैं—राजा जानश्रुतिने ६०० गायें और रथादि गुरु रैक्कको देकर यह प्रार्थनाकी कि मुझे
विद्याका उपदेश कीजिए । तब कन्याके साथ विवाह करनेकी इच्छा रखनेवाले विधुर रैक्कने
कहा 'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु' इस प्रकार जानश्रुतिके प्रति रैक्कने शूद्र शब्दका
किया है । तदनन्तर राजाने बहुत धनादिके साथ अपनी कन्याको अर्पण किया । उससे प्रसन्न
रैक्कने राजाको संवर्ग विद्याका उपदेश किया । इससे सिद्ध होता है कि आर्थित्व और सामर्थ्य
शूद्रका भी विद्यामें अधिकार है । जैसे अग्नि रहित होनेसे कर्मोंमें शूद्रके अधिकारका निषेध है
ब्रह्मविद्यामें अधिकारका निषेध नहीं । अतः ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार मानना चाहिए ।
द्विजके समान शूद्रकी भी श्रौत ब्रह्मविद्यामें प्रवृत्ति है, सिद्धान्तमें नहीं है ।

❀ उपनयन संस्कारके अनन्तर 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधिके अनुसार
जिसने आपाततः वेदार्थ जान लिया है उसका वेदार्थ विचारमें अधिकार है अन्यका नहीं ।
विधिसे अधीत वेदार्थका ज्ञान रूप सामर्थ्य शूद्रमें नहीं है, क्योंकि उसके लिए उपनयन
ही नहीं है । इससे उनका वेदाध्ययनमें अधिकार न होनेसे ब्रह्मविद्यामें भी अधिकार नहीं है ।

शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधिकृतविषयो योजयितुम्। * कथमित्युच्यते ? 'कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थ' (छा० ४।१।३) इत्यस्माद्धंसवाक्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे, तामृषी रैक्कः शूद्रशब्देनानेन सूचयांबभूवात्मनः परोक्षज्ञताख्यापनायेति गम्यते; जातिशूद्रस्यानधिकारात्। कथं पुनः शूद्रशब्देन शुगुत्पन्ना सूच्यत इति ? उच्यते—तदाद्रवणात्। शुचमभिदुद्राव, शुचा वाऽभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक्कमभिदुद्रावेति शूद्रः; अवयवार्थसंभवाद्रूढ्यर्थस्य चासंभवात्। दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥३४॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

पदच्छेद—क्षत्रियत्वगतेः, च, उत्तरत्र, चैत्ररथेन, लिङ्गात्।

सूत्रार्थ—(क्षत्रियत्वगतेश्च) क्षत्रियत्व ज्ञान होनेसे जानश्रुति मुख्य शूद्र नहीं है, क्योंकि (उत्तरत्र) संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें (चैत्ररथेन) प्रसिद्ध क्षत्रिय चैत्ररथ अभिप्रतारीके साथ (लिङ्गात्) समभिव्याहाररूप लिङ्गसे जानश्रुति क्षत्रिय ज्ञात होता है, इससे विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है।

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः। यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराल्लिङ्गाद्गम्यते। उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारी क्षत्रियः संकीर्त्यते—'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं

शूद्रको अधिकार नहीं दिला सकता। और यह शूद्र शब्द अधिकृत विषयक (द्विजाति) पुरुषके लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। किस प्रकार ? कहते हैं। 'कम्वरएनम०' (अरे ! तू किस महत्त्वसे युक्त रहनेवाले इस राजाके प्रति इस तरह सम्मानित वचन कह रहा है ? क्या तू उसे गाड़ीवाले रैक्कके समान बतलाता है ?) इस हंस वाक्यसे अपने अनादरको सुननेवाले पौत्रायण जानश्रुतिको शोक उत्पन्न हुआ। यह प्रतीत होता है कि रैक्क ऋषिने अपनी परोक्षज्ञताको जतलानेके लिए इस शूद्रशब्दसे उस शोकको सूचित किया। क्योंकि यहाँ जातिगत शूद्रका अधिकार नहीं है। तो राजाको उत्पन्न हुआ शोक ही यहाँ शूद्र शब्दसे कैसे सूचित किया गया है ? कहते हैं—उसके आद्रवणसे, वह शोककी ओर अग्रसर हुआ अर्थात् शोकसे व्याप्त हुआ अथवा शोकसे रैक्कके पास गया, इसलिए उसे शूद्र कहा गया, क्योंकि यहाँ पर अवयव (यौगिक) अर्थका सम्भव है रूढ़ि अर्थका सम्भव नहीं। इस आख्यायिकामें यही अर्थ देखा जाता है ॥ ३४ ॥

और इस हेतुसे भी जानश्रुति जातिसे शूद्र नहीं है, क्योंकि प्रकरणके निरूपणसे आगे चैत्ररथ अभिप्रतारी ही क्षत्रियके साथ समभिव्यवहाररूप लिंगसे ज्ञात होता है। उत्तरत्र-संवर्ग विद्याके वाक्य-

सत्यानन्दी दीपिका

* (छान्दो० ४।१)—एक समय राजा जानश्रुति ग्रीष्म ऋतुमें रात्रिके समय महलकी छत पर सोया हुआ था। उसके अन्नदानादि अनेक गुणोंसे सन्तुष्ट हुए ऋषि गण उसके कल्याणके लिए हंसका रूप धारणकर पंक्ति रूपसे उसके ऊपर उड़ते हुए आये। उनमेंसे पिछले हंसने आगेवाले हंससे कहा 'हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति।' (ओ ओ भलाक्ष, ओ भलाक्ष, देख पौत्रायण जानश्रुतिका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है। तू उसका स्पर्श न कर। वह तुझे भस्म न कर डाले !) तब उस पिछले हंसको आगेके हंसने उत्तर दिया—अरे ! यह विचारा विद्याहीन है। इसके लिए तुम उन वचनोंका प्रयोग कर रहे हो जिनका कि गाड़ीके साथ रहनेवाले रैक्कके लिए किया जाता है अर्थात् रैक्कका तेज दुर्लङ्घ्य है। इस आत्मज्ञान रहित जानश्रुतिका तेज वैसा नहीं है। इन वचनोंसे खिन्न होकर गाड़ी रूप चिह्नसे युक्त रैक्कके पास जाकर राजा ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करे ऐसा हंसोंका अभिप्राय था। उन हंसोंसे अनादर वाक्य सुनकर राजाको शोक उत्पन्न हुआ था ॥ ३४ ॥

परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे' (छा० ४।३।५) इति । चैत्ररथित्वं चाभिप्रतारिणः कापे योगादवगन्तव्यम् । कापेययोगो हि चित्ररथस्यावगतः 'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजय (ताण्ड्यब्रा० २०।१२।५) इति । समानान्वयानां च प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात्क्षत्रियत्वमस्यावगन्तव्यम् । ते क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा सह समानायां विद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति समानानामेव हि प्रायेण समभिव्याहारा भवन्ति । क्षत्तृप्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुते क्षत्रियत्वावगतिः । अतो न शूद्रस्याधिकारः ॥३५॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

पदच्छेद—संस्कारपरामर्शात्, तदभावाभिलापात्, च ।

सूत्रार्थ—(संस्कारपरामर्शात्) ब्रह्मविद्यामें उपनयन आदि संस्कारोंका परामर्श है (च) और (तदभावाभिलापात्) शूद्रके लिए उपनयन आदि संस्कारोंके अभावका कथन है, इससे ब्र विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है ।

* इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यद्विद्याप्रदेशेषूपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते—'तं होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११।५।३।१३) । 'अधीहि भगव इति होपससाद' (छा० ७।१।१) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुप सन्नाः' (प्र० १।१) इति च । 'तान्हानुपनीयैव' (छा० ५।११।७) इत्यपि प्रदर्शितैवोपनयनप्रा

शेषमें चैत्ररथि अभिप्रतारी क्षत्रियका 'अथ ह शौनकं० (एक वार कपिगोत्रज शौनक और कक्षसेनके पु अभिप्रतारीसे, जब कि उन्हें भोजन परोसा जा रहा था, एक ब्रह्मचारीने भिक्षा माँगी) इस त कथन है । अभिप्रतारीमें चैत्ररथित्व कापेयके सम्बन्धसे समझना चाहिए ; 'एतेन वै चैत्ररथं० (द्विरात्रोष्टिसे कापेयोंने चैत्ररथको यज्ञ कराया) इससे चित्ररथका कापेयके साथ सम्बन्ध अवगत हो है । प्रायः समान वंशवाले समान वंशवालोंके याजक होते हैं अर्थात् राजवंशियोंके प्रायः परोहितवंश याजक होते हैं । 'तस्माच्चैतरथिर्नामैकः० (उससे चित्ररथसे चैत्ररथि नामका एक क्षत्रपति उत्पन्न हु इस प्रकार क्षत्रपतित्वके अवगतिसे उस चैत्ररथमें क्षत्रियत्व समझना चाहिए । उस क्षत्रिय अभि प्रतारीके साथ एक संवर्गविद्यामें संकीर्तन जानश्रुतिको भी क्षत्रियत्व सूचित करता है । समानोंके प्रायः समभिव्याहार होते हैं । सारथि प्रेषण (भेजना) आदि ऐश्वर्यके योगसे जानश्रुतिमें क्षत्रि अवगत होता है । इसलिए श्रौत विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है ॥ ३५ ॥

और इससे भी शूद्रका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं हैं, क्योंकि 'तं होपनिन्ये० (उसका उप नयन किया) 'अधीहि भगव० (हे भगवन् ! मुझे उपदेश कीजिए, ऐसा कहते हुए नारद स त्कुमारके पास गए) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः० (ये अपर ब्रह्मकी उपासना करनेवाले और तदनु अनुष्ठानमें तत्पर भारद्वाज आदि छः ऋषिगण पर ब्रह्मके जिज्ञासु होकर भगवान् पिप्पलादके पा यह सोचकर कि ये हमें उसके विषयमें सब कुछ बतला देंगे, हाथमें समिधा लेकर गए) इसप्र विद्याके प्रकरणोंमें उपनयन आदि संस्कारोंका परामर्श है । 'तान्हानु० (उनका उपनयन किए बि

सत्यानन्दी दीपिका

* शंका—राजा अश्वपतिने प्राचीनशाल आदि छः ऋषिजनोंको उपनयन संस्कार किए बि ही विद्याका उपदेश किया है, इससे सिद्ध होता है कि उपनयन रहितका भी विद्यामें अधिकार है, संस्कार रहित शूद्रका भी विद्यामें अधिकार होना चाहिए ? समाधान—वस्तुतः उपनयन दो प्रकार होता है, एक वेदाध्ययनके लिए विधि पूर्वक यज्ञोपवीत आदिका धारणरूप, दूसरा ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति

र्भवति । शूद्रस्य संस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०।४) इत्येकजातित्वस्मरणात् । 'न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति' (मनु०१०।१२६) इत्यादिभिश्च ॥३६॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

पदच्छेद—तदभावनिर्धारणे, च, प्रवृत्तेः ।

सूत्रार्थ—(तदभावनिर्धारणे) सत्यकाममें सत्य कथनसे शूद्रत्वाभाव निर्धारित करने पर (प्रवृत्तेः) गौतम सत्यकामके लिए उपदेश आदि करनेमें प्रवृत्त हुए। इससे (च) भी विद्यामें शूद्रका अनधिकार है।

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः । यत्सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च प्रववृते; 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छा० ४।४।५) इति श्रुतिलिङ्गात् ॥३७॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३८॥

पदच्छेद—श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्, स्मृतेः, च ।

सूत्रार्थ—(स्मृतेः) 'अथास्य वेदमुपशृण्वतः' इत्यादि स्मृतिसे (श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्) शूद्रके लिए वेदके श्रवण, अध्ययन, अर्थज्ञान एवं अनुष्ठानका प्रतिषेध किया गया है, इससे (च) भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है।

ही राजाने उस विद्याका उपदेश किया) इसमें भी उपनयनकी प्राप्ति दिखलाई गई है। परन्तु 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण० (शूद्र चतुर्थ वर्ण एव उपनयन रहित है) इसप्रकार स्मृतिमें वह एक जाति कहा गया है। 'न शूद्रे पातकं० (शूद्रको अभक्ष्य लशुनादि भक्षणसे कुछ पाप नहीं है और वह उपनयन आदि संस्कारके योग्य नहीं है) इत्यादि स्मृतिसे भी शूद्रमें संस्कारोंके अभावका कथन है ॥ ३६ ॥

और इस हेतुसे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि सत्य बोलनेसे शूद्रत्व अभावका निर्धारण होनेपर गौतम सत्यकामका उपनयन करने और उसे विद्याका उपदेश करनेके लिए प्रवृत्त हुए 'नैतदब्राह्मणो० (उससे गौतमने कहा—ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः हे सोम्य ! तू समिधा ले आ, मैं तुम्हारा उपनयन करूंगा, क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया) यह श्रुति लिंग है ॥ ३७ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

के लिए उपसनदरूप । उपसनद भी दो प्रकारका होता है—एक तो विद्यार्थीका आचार्यके पास सादर गमन और दूसरा आचार्य द्वारा उसे शिष्यरूपसे स्वीकार करना तथा बहुत कालतक अपने सान्निध्यमें रखकर अपनी सेवादिकी अनुमति देना आदि। वेद वेदाङ्गोंमें पारंगत ऋषिजनोंमें वेदाध्ययनसे पूर्व ही यज्ञोपवीत संस्कार सिद्ध है, इसलिए 'तान्हानुपनीयैव' इस श्रुतिसे उपनयनका निषेध करना अयुक्त है। उपनयन किए हुएके लिए पुनः उपनयन प्राप्त ही नहीं है। और दूसरा विद्यार्थीका आचार्यके पास सादर गमनरूप उपसदन वह उन ऋषियोंमें भी सिद्ध है। तो फिर 'तान्हानुपनीयैव' इस श्रुतिसे किए गए उपनयन निषेधका क्या तात्पर्य है ? इसका तात्पर्य यह है कि आचार्य द्वारा शिष्य भावसे स्वीकार कर अपनी सान्निध्यमें रखकर सेवा आदिकी अनुमतिरूप उपनयनका निषेध है, क्योंकि उत्तमवर्ण वाले विद्यार्थीके प्रति निम्नवर्णवाले गुरुको सेवा लिए विना विद्या देनी चाहिए इस अभिप्रायसे श्रुतिमें ऐसा कहा गया है। अतः उपनयन आदि संस्कार रहित होनेसे शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है ॥ ३६ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः । यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति । वेदश्र प्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते । श्रवणप्रति स्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति । 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं द्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' इति च । अत एवाध्ययनप्रतिषेधः । यस्य हि समीपे नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत ? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धा शरीरभेद इति । अत एव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं द इति, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च । येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्म प्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं; ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वा 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात् । वेदपूर्व नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम् ॥३८॥

(१० कम्पनाधिकरणम सू० ३९)

कम्पनात् ॥३९॥

सूत्रार्थ——'यदिदं किञ्च' (यह सारा जगत् प्राणसे उत्पन्न हुआ चेष्टा करता है) कम्पनसे प्रतीयमान प्राण परमात्मा ही है ।

* अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः । प्रकृतमेवेदानीं वाक्यार्थविचारणं यिष्यामः । 'यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुर

इससे भी शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृतिमें उसके लिए श्रवण, अ और अर्थज्ञानका प्रतिषेध है । स्मृतिमें शूद्रके लिए वेदके श्रवण, वेदके अध्ययन और वेदा एवं अनुष्ठानका निषेध है । 'अथास्य० (समीपसे वेदोंका श्रवण करनेवाले शूद्रोंके दोनों कान और लाखसे भर दे) और 'पद्यु ह वा० (शूद्र निस्सन्देह पादयुक्त (जंगम) श्मशान है, इस शूद्रके समीप वेदका अध्ययन नहीं करना चाहिए) इसप्रकार वेदके श्रवणका प्रतिषेध है । श्र निषेधसे अध्ययनका निषेध भी सिद्ध होता है, क्योंकि जिसके समीपमें भी अध्ययन करना युक्त है वह अश्रुत वेदका अध्ययन कैसे करेगा ? वेदके उच्चारण करनेपर शूद्रकी जिह्वाके उच्छे धारण करनेपर शरीरके भेदनका विधान है । वेदाध्ययनके अभाव होनेसे शूद्रके लिए अर्थ अनुष्ठानका निषेध अर्थसे सिद्ध होता है । 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' (ब्राह्मणको चाहिए कि शू वेदार्थज्ञान न दे) और 'द्विजातीनाम्० (द्विजाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिए ही अध्ययन तथा दानका विधान है) । परन्तु विदुर और धर्मव्याध, जिनको पूर्व कर्मके संस्कारोंसे ज्ञान हुआ है, उनके लिए फल प्राप्तिका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान अव्यभिचरित वाला होता है । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' (चारों वर्णोंको सुनावे) इसप्रकार यह स्मृति इति पुराणका ज्ञान करनेमें चारों वर्णोंका अधिकार बतलाती है । इससे सिद्ध हुआ कि वेदाध्ययन ज्ञान प्राप्त करनेका शूद्रको अधिकार नहीं है ॥ ३ ॥

प्रासंगिक अधिकार विषयक विचार समाप्त हुआ । अब आगे प्रकृत वाक्यार्थ विचार करेंगे । 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्० (यह जो कुछ सारा जगत् है प्राण-ब्रह्ममें, उदित होकर, चेष्टा कर रहा है । वह ब्रह्म महान् भयरूप और हाथमें उठाए हुए वज्रके समान है । जो इसे

सत्यानन्दी दीपिका

* 'शब्दादेव प्रमितः' इत्यादि तृतीय पादके सप्तम प्रमिताधिकरणमें 'अंगुष्ठमात्र पुरु श्रुतिका विचार करते हुए 'हृद्यपेक्षयातु मनुष्याधिकारत्वात्' इस सूत्रसे शास्त्रमें मनुष्यका अ

भवन्ति' (का० २।६।२) इति। एतद्वाक्यं 'एजृ कम्पने' इति धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम्। अस्मिन्वाक्ये सर्वमिदं जगत्प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किंचिद्भयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतं, तद्विज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिरिति श्रूयते। तत्र कोऽसौ प्राणः, किं तद्भयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तविचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत्प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राण इति। प्रसिद्धेरेव चाशनिर्वज्रं स्यात्। वायोश्चेदं माहात्म्यं संकीर्त्यते। कथम्? सर्वमिदं जगत्पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायैजति। वायुनिमित्तमेव च महद्भयानकं वज्रमुद्यम्यते। वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयित्नुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते। वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम्। तथा हि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति। तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्। कुतः? पूर्वोत्तरालोचनात्। पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे। इहैव कथमकस्मादन्तराले वायुं निर्दिश्यमानं प्रतिपद्येमहि? पूर्वत्र तावत् 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (का० २।६।१) इति ब्रह्म निर्दिष्टं, तदेवेहापि,

हैं वे अमर हो जाते हैं) 'एजृ कम्पने० (एजृ धातुका अर्थ कम्पन है) यह वाक्य इस धातु अर्थके अनुगमसे लक्षित है। इस वाक्यमें यह सम्पूर्ण जगत् प्राणके आश्रित चेष्टा करता है, वह उदित वज्रके समान भयानक कोई महान् है। उसके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। ऐसा श्रुति कहती है। उसमें यह प्राण कौन है? और वह भयानक वज्र क्या है? इसके निश्चय न होनेके कारण विचार करने पर लोक प्रसिद्धिसे ऐसा ज्ञात होता है कि पाँच वृत्ति वाला वायु प्राण है। और लोक प्रसिद्धिसे वज्र अशनि (वज्र) ही है। यह वायुका ही माहात्म्य कहा गया है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् पाँच वृत्तिवाले प्राणनामक वायुमें रहकर व्यापार करता है। वायुसे ही यह महान् भयानक वज्र उठाया जाता है। वायु पर्जन्य भावसे विवर्तमान होनेपर विद्युत्, मेघ, वृष्टि और अशनि रूपमें भी विवर्तित होता है, ऐसा कहते हैं। वायुके ज्ञानसे ही यह अमृतत्व है। 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः० (वायु ही व्यष्टि है, वायु ही समष्टि है जो ऐसा जानता है वह अपमृत्युको जीतता है) ऐसी दूसरी श्रुति है। इसलिए यहां प्राणको वायु समझना चाहिए। सिद्धान्ती—ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यहाँ प्राण शब्दसे ब्रह्म ही समझना युक्त है, क्योंकि पूर्व और उत्तर वाक्योंकी पर्यालोचनासे यही स्पष्ट होता है। [यदिदं किंच] इस वाक्यके पूर्व तथा उत्तर ग्रन्थ भागोंमें हमें ब्रह्म ही निर्दिश्यमान उपलब्ध होता है। तो हम यहीं पर मध्यमें अकस्मात् वायुको निर्दिश्यमान कैसे समझ लें? 'तदेव शुक्रं० (वही जो इस संसार वृक्षका मूल है, विशुद्ध ज्योतिः स्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसीमें आश्रित हैं, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही निश्चय वह-ब्रह्म है) इस पूर्व वाक्यमें ब्रह्म निर्दिष्ट है। यहां भी ऐसा ज्ञात होता है कि संनिधानसे 'सम्पूर्ण

सत्यानन्दी दीपिका

है। इससे मनुष्यके हृदयकी अपेक्षासे सर्वगत ब्रह्ममें भी अंगुष्ठमात्रत्वकी उपपत्ति कही गई है। इस अधिकरणके प्रसङ्गसे 'तदुपर्यपि बादरायणः' इत्यादि आठ सूत्रोंसे अष्टम देवताधिकरणमें देवताओंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार कहा गया है। पुनः प्रसङ्गसे 'शुगस्य तदनादर०' इत्यादि पाँच सूत्रोंसे नवम अधिकरणमें शूद्रका वेद-विद्यामें अधिकारका निषेध किया गया है। इसप्रकार प्रासंगिक अधिकार विचार समाप्त हुआ। अब प्रकृत विचारको आरम्भ करते हैं। यद्यपि 'अतएव प्राणः' इस अधिकरण सूत्रसे ही इस कम्पन अधिकरण सूत्रका विषय चरितार्थ हो जाता है, तो भी 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं०' इस वाक्यमें ब्रह्मका स्पष्ट लिङ्ग नहीं है अथवा 'अतएव प्राणः' इस अधिकरणका भी यह कम्पन अधिकरण विस्तार है, इसलिए इस अधिकरणकी पृथक् रचना करनेमें कोई दोष नहीं है। 'शब्दादेव

संनिधानात्, जगत्सर्वं प्राण एजतीति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्
प्राणशब्दोऽप्ययं परमात्मन्येव प्रयुक्तः, 'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) इति दर्शना
एजयितृत्वमपीदं परमात्मन एवोपपद्यते न वायुमात्रस्य। तथा चोक्तम्—'न प्राणेन ना
मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ' (का० २।५।५) इति। उत्तर
'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' (का० २।३
इति ब्रह्मैव निर्देक्ष्यते न वायुः। सवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात्। तदेवे
संनिधानात् 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' इति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निर्दिष्टमिति गम्यते।
शब्दोऽप्ययं भयहेतुत्वसामान्यात्प्रयुक्तः। यथा हि वज्रमुद्यतं ममैव शिरसि निपतेद्यद्यह
शासनं न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशासने प्रवर्तत एवमिदमग्नि
सूर्यादिकं जगदस्मादेव ब्रह्मणो बिभ्यन्नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तत इति भयानकं वज्रो
ब्रह्म। तथा च ब्रह्मविषयं श्रुत्यन्तरम्—'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मा
श्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः' तै० ८।१) इति। अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवे
गम्यते। ब्रह्मज्ञानाद्ध्यमृतत्वप्राप्तिः। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽ
(श्वे० ६।१५) इति मन्त्रवर्णात्। यत्तु वायुविज्ञानात्क्वचिदमृतत्वमभिहितं, तदापेक्षि

जगत् प्राणमें चेष्टा करता है' इस तरह लोकाश्रयरूपसे प्रत्यभिज्ञान होनेसे वही निर्दिष्ट है। प्रा
शब्द भी परमात्मामें ही प्रयुक्त है, क्योंकि 'प्राणस्य प्राणम्०' (प्राणका प्राण है) ऐसा देखा
है। और यह एजयितृत्व-कम्पनकर्तृत्व भी परमात्मामें ही उपपन्न होता है, वायुमात्रमें नहीं,
'न प्राणेन नापानेन० (कोई भी मनुष्य-प्राणी न प्राणसे और न अपानसे जीवित रहता है,
वे तो, जिसमें ये दोनों आश्रित हैं ऐसे किसी अन्यसे ही जीवित रहते हैं) ऐसा कहा गया है।
भी 'भयादस्य० (इस-परमेश्वरके भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है तथा
भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवीं मृत्यु दौड़ती हैं अर्थात् नियमतः अपने अपने व्यापारमें प्र
हैं) इस प्रकार ब्रह्मका ही निर्देश करेंगे वायुका नहीं, क्योंकि इसमें वायु सहित जगत्के भय हे
अभिधान है। यहाँ भी ऐसा ज्ञात होता है कि संनिधान-प्रकरणसे और 'महद्भयं० (उद्यत
समान महान् भयका हेतु है) इस प्रकार भय हेतुत्वरूप प्रत्यभिज्ञान होनेसे वही निर्दिष्ट है।
शब्द भी भय हेतुत्व सादृश्यसे उसमें प्रयुक्त है। यदि मैं इसकी आज्ञाका पालन नहीं करूँगा
उठा हुआ वज्र मेरे ही शिरपर पड़ेगा, इस भयसे जैसे लोग राजा आदिके शासनमें प्रवृत्त हैं
वैसे अग्नि, वायु, और सूर्यादि यह जगत् इसी ब्रह्मसे डरता हुआ नियमसे अपने व्यापारमें प्र
है, इससे भयानक वज्रके साथ ब्रह्मकी उपमा-तुलनाकी गई है। और 'भीषास्माद्वातः० (इसके
वायु चलता है, इसके भयसे सूर्य उदय होता है, तथा इसके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँच
दौड़ती हैं अर्थात् नियमतः अपना अपना व्यापार करते हैं) इस प्रकार ब्रह्म विषयक यह दू
है। और अमृतत्व फलके श्रवणसे भी यही ज्ञात होता है कि प्राण ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्मज्ञा
अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, कारण कि 'तमेव विदित्वा० (उसीको जानकर मनुष्य मृत्युका अ
कर जाता है, इससे भिन्न मोक्ष प्राप्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है) यह मन्त्र है। किसी

सत्यानन्दी दीपिका

प्रमितः' इस ब्रह्मवाक्यमें ब्रह्मज्ञानके लिए जीवका अनुवाद किया गया है। उसी प्रकार यहाँ
इस वाक्यमें प्राणानुवाद युक्त नहीं है, क्योंकि वह कल्पित है, इसलिए उसमें ब्रह्मैकत्व युक्त
इस प्रत्युदाहरण संगतिसे 'प्रसिद्धेः' आदिसे पूर्वपक्ष करते हैं। पूर्वपक्षमें प्राणकी उपा
सिद्धान्तमें ब्रह्मका ज्ञान ॥ ६॥

तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मानमभिधाय 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४) इति वाय्वादेरार्तत्वाभिधानात्। प्रकरणादप्यत्रपरमात्मनिश्चयः; 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' (का० १।२।१४) इति परमात्मनः पृष्टत्वात् ।३९॥

(११ ज्योतिरधिकरणम् सू० ४०)

ज्योतिर्दर्शनात् । ४०॥

पदच्छेद—ज्योतिः, दर्शनात् ।

सूत्रार्थ—(ज्योतिः) 'एष सम्प्रसादो०' इस श्रुतिमें ज्योतिः शब्दसे ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है, (दर्शनात्) क्योंकि 'य आत्मा' इस उपक्रम वाक्यके पर्यालोचनसे ब्रह्मकी ही प्रतिपाद्यरूपसे अनुवृत्ति देखी जाती है।

* 'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३) इति श्रूयते। तत्र संशय्यते—किं ज्योतिःशब्दं चक्षुर्विषयतमोपहं तेजः, किंवा परं ब्रह्मेति। किं तावत्प्राप्तम् ? प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति। कुतः ? तत्र ज्योतिःशब्दस्य रूढत्वात्। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (ब्र० सू० १।१।२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योतिःशब्दः स्वार्थं परित्यज्य ब्रह्मणि वर्तते। न चेह तद्वत्किंचित्स्वार्थपरित्यागे कारणं दृश्यते। तथा च नाडीखण्डे-'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता। तस्मात्प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिनि।

वायुके विज्ञानसे जो अमृतत्व अभिहित है वह सापेक्षिक है, क्योंकि वहीं दूसरे प्रकरणमें परमात्माका अभिधान कर 'अतोऽन्यदार्तम्' (इससे भिन्न आर्त-विनाशी है) इस प्रकार वायु आदिको नाशवान् अभिधान किया है। प्रकरणसे भी यहाँ परमात्माका ही निश्चय होता है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्माद०' (जो धर्मसे भिन्न, अधर्मसे भिन्न तथा इस कार्यकारणरूप प्रपञ्चसे भिन्न है और जो भूत एवं भविष्यत् से भिन्न है, ऐसा जिसे देखते अनुभव करते हैं उसका ही मुझे उपदेश कीजिए) इस प्रकार नचिकेता द्वारा परमात्मा ही पूछा गया है ॥३९॥

'एष सम्प्रसादो० (यह सम्प्रसाद-जीव अविद्या दशामें देहात्मभावापन्न हुआ ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके उपदेशसे देहमें आत्माभिमानको छोड़कर परम ज्योतिः को प्राप्तकर अपने स्वरूपसे अभिनिष्पन्न होता है) ऐसी श्रुति है। यहाँ संशय होता है कि ज्योतिः शब्द वाच्य चक्षु विषय घट आदि पदार्थोंके आवरक अन्धकारका नाशक सूर्यादि तेज है अथवा परब्रह्म है ? तब यहाँ क्या प्राप्त होता है ? र्वपक्षी—प्रसिद्ध तेज ही ज्योतिः शब्द वाच्य है, क्योंकि उसमें ज्योतिः शब्द रूढ है। 'ज्योतिश्चरणा-भिधानात्' इस सूत्रमें तो प्रकरणसे ज्योतिः शब्द अपने अर्थका परित्याग कर ब्रह्मपरक है। परन्तु हाँ उसके समान अपने प्रसिद्ध तेज रूप अर्थके परित्याग करनेमें कोई कारण दिखाई नहीं देता। सी प्रकार नाड़ीखण्डमें 'अथ यत्र० (फिर जिस समय यह इस शरीरसे उत्क्रमण करता है उस मय नाड़ियोंमें फैली रश्मियोंसे ऊपरकी ओर चढ़ता है) इस प्रकार मुमुक्षुके लिए आदित्यकी प्तिका अभिधान है। इससे प्रसिद्ध तेज ही ज्योतिः शब्द वाच्य है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्व अधिकरणमें ब्रह्म प्रकरणके समर्थक सर्व जगत् व्यापार हेतुत्व रूप लिङ्गके सम्बन्धसे ण शब्द प्रसिद्ध वायु अर्थको छोड़कर ब्रह्मके लिए माना गया है। परन्तु उस प्रकार 'य आत्मा' स प्रकरणका अनुग्राहक कोई लिङ्ग नहीं है जिससे ज्योतिःशब्द प्रसिद्ध तेजको छोड़कर ब्रह्म परक हो। स तरह प्रत्युदाहरण संगतिसे यह पूर्वपक्ष है। अतः यहाँ ज्योतिशब्दसे प्रसिद्ध सूर्यादि ज्योतिका हण करना चाहिए।

❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्। कस्मात्? दर्शनात्। तस्य हीह प्रकरणे वक्त त्वेनानुवृत्तिर्दृश्यते, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकस्य प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात्। 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्या स्यामि' (छा० ८।९।३) इति चानुसंधानात्। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृ (छा० ८।१२।१) इति चाशरीरतायै ज्योतिःसंपत्तेरस्याभिधानात्, ब्रह्मभावाच्चान्यत्राश तानुपपत्तेः, 'परं ज्योतिः', 'स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इति च विशेषणात्। मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति। नासावात्यन्तिको मोक्षो गत्युत्क्रान्तिसंबन्धात्। न ह्या न्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः॥ ४०॥

हम कहते हैं। परब्रह्म ही ज्योतिःशब्द वाच्य है, क्योंकि उसका ही दर्शन (अनुवृत्ति) है। प्रकरणमें वक्तव्य रूपसे उसकी ही अनुवृत्ति दिखाई देती है। क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (आत्मा पाप रहित है) इस प्रकार पाप रहितत्व आदि गुण विशिष्ट आत्माकी प्रकरणसे अन्वे और जिज्ञासितव्य रूपसे प्रतिज्ञाकी है। 'एतं त्वेव ते भूयो०' (मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः करूँगा) इस प्रकार आत्माका अनुसन्धान है। 'अशरीरं वाव सन्तं०' (अशरीर होनेपर प्रि अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते) इस प्रकार शरीर रहित स्वरूपके लिए इस जीवको ज्योतिः स्वरू विधान है; ब्रह्म भावके विना अशरीरत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती। 'परं ज्योतिः० (जो पर वह उत्तम पुरुष है) ऐसा विशेषण है। जो यह कहा गया है कि मुमुक्षुके लिए आदित्य प्रा विधान है वह आत्यन्तिक मोक्ष नहीं है, क्योंकि उसमें गति और उत्क्रान्तिका सम्बन्ध है। आगे कहेंगे कि आत्यन्तिक मोक्षमें गति और उत्क्रान्ति नहीं होती॥ ४०॥

सत्यानन्दी दीपिका

* प्रकरणका प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ वही होता है जिसकी उपक्रममें प्रतिज्ञा, मध्यमें अनुवृ और अन्तमें उपसंहार हो, अतः मध्यगत वाक्य भी उस वस्तुका प्रतिपादन करता है, यह मर्यादा है। छान्दोग्यके अष्टम अध्यायमें १५ खण्ड हैं—दो प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरणमें खण्डोंमें दहर विद्याका प्रतिपादन है। द्वितीय प्रकरणमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इस प्रकार खण्डसे लेकर समाप्ति पर्यन्त निर्गुण ब्रह्मका ही प्रतिपादन है। द्वितीय प्रकरणमें 'एषो सम्प्र यह मंत्र भी निर्गुण ब्रह्म परक है। 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इस प्रकरणके आरम्भमें पाप आदि गुणविशिष्ट आत्माके जाननेकी प्रतिज्ञा है। 'एतं त्वेवते' इस वचनसे प्रजापतिने इन्द्र पाप रहित आत्माका मध्यमें तीन वार परामर्शकर उपदेश किया है। 'स उत्तमः पुरुषः' इत निर्गुण ब्रह्मका ही उपसंहार किया है। 'उत्तमः पुरुवस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गी० १५ (तथा उन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है। उसे अविनाशी परमेश्वर परमात्मा कहा इत्यादि गीता वचनसे भी परमात्मा ही उत्तम पुरुष कहा गया है। इसलिये पूर्वोक्त प्रतिज्ञा, उपसंहार और फलरूप लिङ्गसे इस प्रकरणमें ब्रह्मकी ही अनुवृत्ति देखी जाती है। ज्योतिःशब्द तेजका अभिधान नहीं करता किन्तु ब्रह्मका ही करता है। और आदित्य प्रातिरूप जो मोक्ष है वह भी वास्तवमें मोक्ष नहीं है, क्योंकि कैवल्य मोक्षमें गमन आदि नहीं होते। 'न तस्य उत्क्रामन्ति अत्रैव समविलीयन्ते' (ब्रह्मवेत्ताके प्राण [पुर्यष्टका] उत्क्रमण नहीं करते कि विलीन हो जाते हैं) इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्म वेत्ताके गमनागमनका निषेधकर परज्योतिस्वरूप होना ही मोक्ष कहा गया है। पूर्वपक्षमें सूर्यकी उपासनासे ब्रह्मलोक द्वारा क्रम मुक्तिफल है। ब्रह्मज्ञानसे साक्षात् मुक्ति ही फल है॥४०॥

(१२ अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरणम् सू० ४१)

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—आकाशः, अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(आकाशः) 'आकाशो वै नाम नाम रूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें प्रतिपादित आकाश ब्रह्म है, (अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्) क्योंकि 'ते यदन्तरा' इसमें आकाशका नामरूपसे अर्थान्तरत्व आदि रूपसे व्यपदेश है । (आदि) शब्दसे 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इस प्रकार ब्रह्मत्वका व्यपदेश है ।

* 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८।१४।१) इति श्रूयते । तत्किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म, किंवा प्रसिद्धमेव भूताकाशमिति विचारे भूतपरिग्रहो युक्तः; आकाशशब्दस्य तस्मिन्रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चावकाशदानद्वारेण तस्मिन्योजयितुं शक्यत्वात्, स्रष्टृत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याश्रवणादिति । एवं प्राप्त इदमुच्यते–परमेव ब्रह्मेहाकाशशब्दं भवितुमर्हति । कस्मात् ? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूतमाकाशं व्यपदिशति । न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तरं संभवति; सर्वस्य विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव व्याकृतत्वात् । नामरूपयोरपि निर्वहणं निरङ्कुशं न ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवति; 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात् । ननु जीवस्यापि प्रत्यक्षं नामरूपविषयं निर्वोढृत्वमस्ति । बाढमस्ति । अभेदस्त्विह विवक्षितः । नामरूपनिर्वहणाभिधानादेव च स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति । 'तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छा० ८।१३) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः॥४१॥

'आकाशो वै नाम० (आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला है। वे (नाम रूप) जिसके अन्तर हैं वह ब्रह्म है, अमृत है, वही आत्मा है) ऐसी श्रुति है। क्या वह आकाश शब्द परब्रह्म विषयक है ? अथवा प्रसिद्ध भूत आकाश विषयक ? ऐसा विचार उपस्थित होने पर पूर्वपक्षमें भूत आकाशका ग्रहण युक्त है, क्योंकि उसमें आकाश शब्द रूढ़ है। अवकाश देनेके कारण नाम रूपके निर्वाहकत्वकी उसमें योजना हो सकती है और श्रुतिमें स्रष्टृत्वादि स्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग नहीं हैं। 'सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने पर यह कहते हैं। यहाँ परब्रह्म ही आकाश शब्द वाच्य होना चाहिए, क्योंकि यहाँ अर्थान्तरत्वादिका व्यपदेश है। 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म० (वे जिसके अन्तर हैं वह ब्रह्म है) इस प्रकार नाम रूपसे भिन्न अर्थभूत आकाशका व्यपदेश है। ब्रह्मसे अतिरिक्त नाम और रूपसे भिन्न अन्य पदार्थका संभव नहीं है, क्योंकि समस्त विकार समूह नाम रूपसे ही व्याकृत हैं। उसी प्रकार नाम रूपका स्वतंत्र रूपसे निर्वहण ब्रह्मसे अन्यत्र सम्भव नहीं है, क्योंकि 'अनेन जीवेनाऽऽत्मना० (मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) इत्यादि ब्रह्मकर्तृत्व श्रुति है। परन्तु जीवमें भी नाम रूप विषयक निर्वहणकर्तृत्व प्रत्यक्ष है। यह सत्य है, परन्तु यहाँ तो अभेद विवक्षित है। नाम रूपके निर्वहणके अभिधानसे ही स्रष्टृत्वादि ब्रह्मलिङ्गका अभिधान है। 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा० (वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है) ये ब्रह्मवादके लिङ्ग हैं। यह सूत्र 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रका ही विस्तार है ॥४१॥

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे पूर्वधिकरणमें ज्योतिःशब्दसे प्रसिद्ध सूर्यादि तेजका बाधकर ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है, वैसे आकाश शब्दसे प्रसिद्ध भूताकाशका बाधकर सूत्रकार ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त संगतिमें इस अधिकरणका आरम्भ है। पूर्वपक्षी—यथा 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १।१।२२) इस सूत्रमें 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छा० १।९।१) इस

(१३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् सू० ४२-४३)

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

पदच्छेद—सुषुप्त्यत्क्रान्त्योः, भेदेन ।

सूत्रार्थ—'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रतिपाद्यमान पुरुष परमात्मा है, क्यों (सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः) 'प्राज्ञेनात्मना' इस प्रकार सुषुप्ति और उत्क्रान्ति अवस्थाओंमें (भेदेन) जीवसे भिन्नरूपसे परमात्माका प्राज्ञशब्दसे व्यपदेश है ।

❀ व्यपदेशादित्यनुवर्तते । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञान मयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृत तत्किं संसारिस्वरूपमात्रान्वाख्यानपरं वाक्यम्, उतासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति संशयः किं तावत्प्राप्तम् ? संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति । कुतः ? उपक्रमोपसंहाराभ्याम् । उपक्र 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात् । उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थो पन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यं न शारीरमात्रान्वाख्यानपरम् । कस्मात् ? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद्भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात् । सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं

'व्यपदेशात्' इस पदकी पिछले सूत्रसे अनुवृत्ति होती है । बृहदारण्यकके षष्ठ प्रपाठकमें 'कत आत्मा० (जनक—अहं बुद्धिके विषय देह, इन्द्रिय, मन और प्राण आदिमें से आत्मा कौन है ? 'याज्ञ वल्क्य—यह जो प्राणोंमें बुद्धिवृत्तियोंका साक्षीभूत हृदयके अन्तर्गत विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष वह आत्मा है) ऐसा उपक्रम कर आत्मविषयक बहुत विस्तार किया गया है । क्या वह वाक्य केव संसारी जीवके स्वरूप अनुवाद परक है अथवा परमात्माके स्वरूप प्रतिपादन परक है, ऐसा सं होता है, तब क्या प्राप्त हुआ ? पूर्वपक्षी—[कतम आत्मेति] यह वाक्य केवल जीवके स्वरूप विष है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे ऐसा ही ज्ञात होता है । उपक्रममें 'योऽयं विज्ञानमयः० (जो प्राणोंमें विज्ञानमय है) ऐसा जीवका लिङ्ग है, और 'स वा एष० (वह यह महान् अजन्मा आत्मा जो कि यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) इस उपसंहारमें भी उसका परित्याग नहीं है और मध्यमें जाग्रत् आदि अवस्थाके उपन्याससे उसका ही विस्तार है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम क हैं—[कतम आत्मा] यह वाक्य परमेश्वर उपदेश परक ही है, केवल जीव स्वरूप अनुवाद प नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति और उत्क्रान्ति (मरण) में जीवसे भिन्नरूपसे परमेश्वरका व्यपदेश है। सुषु

सत्यानन्दी दीपिका

प्रकार सर्व जगत् स्रष्टृत्व आदि ब्रह्मके असाधारण लिङ्ग होनेके कारण आकाश शब्दसे परमात्मा ग्रहण किया गया है, वैसे 'आकाशो वै नाम' यहाँ पर जगत् स्रष्टृत्व आदि ब्रह्मके स्पष्ट लिङ्गका क नहीं है । अतः आकाश शब्दसे ब्रह्मका ग्रहण न कर भूताकाशका ग्रहण करना चाहिए । पूर्व प अमृत आदि रूपसे आकाशकी उपासना है. सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है ॥४१॥

---

* पूर्वाधिकरणमें नाम और रूपसे भिन्न होनेके कारण आकाश ब्रह्म कहा गया है, युक्त नहीं है, क्योंकि 'प्राज्ञेनात्मना' इत्यादिसे ब्रह्मके साथ जीवका अभेद सिद्ध होनेपर भी जैसे कहा जाता है, वैसे औपचारिक भेदका कथन हो सकता है, ऐसी आक्षेप संगति है । पूर्वाधिकर जगत् स्रष्टृत्व ब्रह्मके लिङ्गसे भूताकाशका बाध किया गया है, अब सूत्रकार इस अधिकरणमें ब्र लिङ्गसे जीवके लिङ्गका बाध दिखाते हैं । पूर्वपक्षमें 'कतम आत्मेति' इस प्रकारके उपक्रम वाक्योंसे जीव ही प्रतिपाद्य सिद्ध होता है, ब्रह्म नहीं ।

(बृ० ४।३।२१) इति शारीराद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात्तस्य वेदितृत्वात्। बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेधसंभवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति' (बृ० ४।३।३५) इति जीवाद्भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शारीरो जीवः स्यात्; शरीरस्वामित्वात। प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वरः। तस्मात्सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते। यदुक्तमाद्यन्तमध्येषु शारीरलिङ्गात्तत्परत्वमस्य वाक्यस्येति। अत्र ब्रूमः—उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति न संसारिस्वरूपं विवक्षितं, किं तर्हि ? अनूद्य संसारिस्वरूपं परेण ब्रह्मणाऽस्यकर्ता विवक्षितेति। यतो 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिः संसारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते। तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममेवोपसंहरति—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवास्माभिः प्रतिपादित इत्यर्थः। ❀ यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्संसारिस्वरूपविवक्षां मन्यते, स प्राचीमपि दिशं प्रस्थापितः प्रतीचीमवि दिशं प्रतिष्ठेत। यतो न बुद्धा-

तो 'अयं पुरुषः० (यह पुरुष प्राज्ञात्मासे संस्लिष्ट–एक होनेपर न कुछ बाहरका विषय जानता है और न भीतर का) यह श्रुति जीवसे भिन्नरूपसे परमेश्वरका व्यपदेश करती है। उसमें पुरुष शब्द जीव वाचक है, कारण कि वह वेदिता होनेसे बाह्य और भीतरके पदार्थोंके जाननेके प्रसङ्गमें उसका प्रतिषेध संभव है। प्राज्ञ परमेश्वर है, क्योंकि सर्वज्ञत्व लक्षण प्रज्ञासे उसका नित्य सम्बन्ध है। उसी प्रकार उत्क्रान्तिमें भी 'अयं शारीर आत्मा० (उसी प्रकार यह देही आत्मा प्राज्ञात्मासे अधिष्ठित हो शब्द करता हुआ जाता है) इस प्रकार श्रुति परमेश्वरका जीवसे भिन्नरूपेण व्यपदेश करती है। उसमें भी शारीर जीव है, क्योंकि वह शरीरका स्वामी है। प्राज्ञ तो वही परमेश्वर है। इससे सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें [जीव और परमेश्वरका] भेदसे व्यपदेश होनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि यहाँ परमेश्वर ही विवक्षित है। और यह जो कहा गया है कि आदि, अन्त और मध्यमें शारीरके लिङ्गसे यह वाक्य जीव परक है तो इस पर हम कहते हैं—उपक्रममें 'योऽयं विज्ञानमयः० (जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) संसारीका स्वरूप विवक्षित नहीं है। किन्तु जीवके स्वरूपका अनुवाद कर उसकी परब्रह्मके साथ एकताकी श्रुति विवक्षा करती है, क्योंकि 'ध्यायतीव० (वह ध्यान करता-सा है, चलता-सा है) इत्यादि उत्तर ग्रन्थकी प्रवृत्ति [आत्मामें] संसारी धर्मोंके निराकरण करनेमें लक्षित होती है। उसी प्रकार उपसंहारमें भी उपक्रमके अनुसार ही 'स वा एष० (वह यह महान् अजन्मा आत्मा, जो कि यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) यह श्रुति उपसंहार करती है। जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय संसारी लक्षित होता है वह यह महान् अजन्मा आत्मा परमेश्वर ही है, ऐसा हमने प्रतिपादन किया है ऐसा अर्थ है। जो मध्यमें जाग्रदादि अवस्थाके उपन्याससे संसारीके स्वरूपकी विवक्षाको मानता है, वह ऐसा है जैसे पूर्व दिशाको भेजा गया पर प्रस्थान पश्चिम दिशाको करता है। [इस प्रकार परमात्मा परक उपदेशको जीव परक समझे] क्योंकि जाग्रत् आदि अवस्थाके उपन्याससे आत्मा अवस्थावान् अथवा संसारी

सत्यानन्दी दीपिका

* इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार आदि वाक्य शारीरशब्दसे जीवके स्वरूपका अनुवाद कर प्राज्ञशब्दसे परमेश्वरके स्वरूपको प्रतिपादित करते हैं, जीवके स्वरूपको नहीं, क्योंकि जीव तो उपाधि विशिष्ट है, उसमें जन्म आदि रहितत्व मुख्यरूपसे सम्भव नहीं है। अतः 'कतम आत्मेति' यह श्रुति परमात्माके स्वरूपका ही प्रतिपादन करती है।

*जाग्रदादि अवस्थाओंका उपन्यास जीवके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है। किन्तु

न्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षति, किं तर्हि ? अवस्थारहितत्वम सारित्वं च । कथमेतदवगम्यते ? यत् 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छ यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः (बृ० ४।३।१४,१५) इति पदे पदे प्रतिवक्ति 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति' (बृ० ४।३।२ इति च । तस्मादसंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ—'सर्वस्य वशी०' इत्यादि श्रुतिस्थ पति आदि शब्दोंसे यही सिद्ध होता है कि असंसारी परमेश्वरके स्वरूपका ही निरूपण है ।

❀ इतश्चासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् । यदस्मिन्वा पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारित्वभावप्रतिषेधनाश्च भवन्ति । 'स वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' इत्येवंजातीयका असंसारिस्वभावप्रतिपादनपराः । 'स साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवंजातीयकाः संसारिस्वभावप्रतिषेधना तस्मादसंसारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥ ४३ ॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

विवक्षित नहीं है, किन्तु वह अवस्था रहित और असंसारी है ऐसी विवक्षा है । परन्तु यह किस प्र जाना जाय ? इस प्रकार [जनक और याज्ञवल्क्यका संवाद है] 'अत ऊर्ध्वं० (जनक—अब आगे मोक्षके लिए उपदेश कीजिए) इस प्रकार पद-पद पर (वारम्वार) जनक प्रश्न करते हैं 'अनन्वागतस्तेन० (उस अवस्थासे वह असम्बद्ध रहता है, क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है) याज्ञ ऐसा पद-पद पर (वारम्वार) उत्तर देते हैं । 'अनन्वागतं पुण्येन० (उस समय यह पुण्य असम्बद्ध तथा पापसे भी असम्बद्ध होता है । हृदयके सम्पूर्ण शोकोंको पारकर लेता है) ऐसी श्रु इससे ऐसा निश्चय करना चाहिए कि यह वाक्य असंसरीके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए है ॥

इससे भी यही निश्चय करना चाहिए कि यह वाक्य असंसारीके स्वरूप प्रतिपादन पर क्योंकि इस वाक्यमें पति आदि शब्द असंसारीके स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं और संसारीके (धर्मों) का प्रतिषेध करते हैं । 'सबको अपने वशमें रखनेवाला सबका शासन करनेवाला वह अधिपति है' इस प्रकारके शब्द असंसारीके स्वभाव प्रतिपादन परक हैं । 'स न साधुना० (वह कर्मोंसे बढ़ता नहीं और न पाप कर्मसे कम ही होता है) इस प्रकारके शब्द संसारी स्व निषेध करते हैं । इससे ऐसा अवगत होता है कि असंसारी परमेश्वर ही यहाँ कहा गया है ॥ ४

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवाद के प्रथम अध्यायका तृतीय पाद सम

सत्यानन्दी दीपिका

'त्वम्' पदार्थके शोधन द्वारा जीव-ब्रह्मका अभेद प्रतिपादनके लिए है । इससे वह जीवके स्व बोधक लिङ्ग नहीं है । राजा जनक और याज्ञवल्क्यके प्रश्नोत्तरसे असंसारी परमेश्वरका ही ज्ञा है । अतः 'कतम आत्मेति' इत्यादि श्रुति वाक्य भी असंसारी परमेश्वरके स्वरूपका ही प्रतिपाद हैं जीवके स्वरूपका नहीं ॥ ४२ ॥

❀ इससे यह सिद्ध होता है कि शोधित 'तत्' और 'त्वम्' अर्थकी एकतामें ही बृहदारण्य अध्यायका समन्वय है । इस अधिकरणका पूर्वपक्षमें कर्म कर्ता जीवकी स्तुतिरूप फल है और सि जीवका अनुवाद कर शोधित 'तत्' और 'त्वम्' [वह तू है] अर्थकी एकताका निश्चय फल है ।

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के प्रथम अध्यायका तृतीय पाद सम

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः।

[अत्र प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानानामव्यक्ताजादिपदानां चिन्तनम्]

प्रधान विषयक हैं ऐसे सन्देहसे युक्त अव्यक्त अजा आदि पदोंका इस पादमें विचार है।

(१ आनुमानिकाधिकरणम् सू० १-७)

* ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्— जन्माद्यस्ययतः’ (ब्र० १।१।२) इति। तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्याशङ्क्य तदशब्दत्वेन निराकृतम्—‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ (ब्र० १।१।५) इति। गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितं गतेन ग्रन्थेन। इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं, प्रधानस्याशब्दत्वं-तदसिद्धम्, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वत्। अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते; तद्यावत्तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते तावत्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादितमप्याकुलीभवेत्। अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः संदर्भः प्रवर्तते—

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

पदच्छेद—आनुमानिकम्, अपि, एकेषाम्, इति, चेत्, न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः, दर्शयति, च।

सूत्रार्थ—(एकेषाम्) कुछ शाखावाले ‘महतः परमव्यक्तम०’ इत्यादिमें (आनुमानिकमपि) अनुमानगम्य प्रधानको भी अव्यक्त शब्दसे स्वीकार करते हैं, इससे प्रधानमें अशब्दत्व सिद्ध नहीं होता, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (शरीररूपकविन्यस्तगृहितेः) क्योंकि ‘शरीरं रथमेव तु’ इस पूर्ववाक्यमें रथरूपकसे कल्पित शरीरका ग्रहण किया गया है, (दर्शयति च) पूर्वापर ग्रन्थका पर्यालोचन प्रकृत शरीरको अव्यक्तशब्दसे ग्राह्य दिखलाता है।

‘अथातो’ इस प्रथम सूत्रसे ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा कर ‘जन्माद्यस्य यतः’ इस सूत्रसे उसका लक्षण कहा गया है। वह लक्षण प्रधानमें भी समान है, ऐसी आशंका कर श्रुति प्रतिपादित न होनेसे ‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ इससे उसका निराकरण किया गया है। सभी वेदान्त वाक्योंकी ब्रह्म कारणवादके प्रति समान गति (ज्ञान) है; प्रधानकारणवादके प्रति नहीं है, ऐसा पिछले ग्रन्थ [गतिसामान्यात] से विस्तार पूर्वक कहा गया है। अब अवशिष्ट विषयक आशङ्काकी जाती है—यह जो कहा गया है कि प्रधान अशब्द है वह अयुक्त है, क्योंकि कुछ एक शाखाओंमें ऐसे शब्द श्रूयमाण हैं जिनके तात्पर्यका आभास प्रधान परक होता है। अतः ऐसी प्रसक्ति हो रही है कि प्रधानमें कारणत्व वेद सिद्ध है, उसीका कपिलादि महान् परम ऋषियोंने ग्रहण किया है। तो जब तक उन शब्दोंका अन्यपरत्व प्रतिपादन न किया जाय तबतक सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण हैं ऐसा जो प्रतिपादन किया है वह बाधित हो जायेगा। इसलिए उन शब्दोंका अन्यपरत्व दिखलानेके लिए अग्रिम ग्रन्थ प्रवृत्त होता है—

सत्यानन्दी दीपिका

* यहाँ प्रधान विषय यह है कि ‘अव्यक्त’ शब्दका अर्थविषयक सन्देह होने पर विचार करते हैं। पहले जैसे प्रसिद्ध जीव विषयक लिङ्गका अप्रसिद्ध ब्रह्मविषयक लिङ्गसे बाध कहा गया है, वैसे यहाँ प्रकरणसे प्राप्त श्रौत क्रमसे श्रौत क्रमके समान स्मार्त क्रमका बाध सूत्रकार शंका पूर्वक दिखाते हैं—‘आत्मानं रथिनं विद्धि’ इत्यादि मन्त्रगत आत्मा, शरीर, बुद्धि आदि यह श्रौत क्रम है। इसीके तुल्य महत्, अव्यक्त, पुरुष यह सांख्य स्मृतिग्रन्थका क्रम है। वहाँ श्रौतक्रमसे स्मार्तक्रमका बाध—अव्यक्त शब्दसे प्रधानका ग्रहण न कर शरीरका ग्रहण करते हुए भगवान् सूत्रकार दिखाते हैं। ईक्षत्यधिकरणमें यह दिखलाया गया है कि सम्पूर्ण वेदान्त वाक्य जगत् कारण रूपसे ब्रह्मका ही

❀ आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दवदुपल काठके हि पठ्यते—महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' (१।३।११) इति। तत्र य यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिप्रसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते। तत्रा मिति स्मृतिप्रसिद्धेः, शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसंभवात्, स्मृतिप्र प्रधानमभिधीयते। तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम्। तदेव च जगतः कारणं श्रुति न्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत्—नैतदेवम्, न ह्येतत्काठकं वाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्त स्तित्वपरम्। न ह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञाय शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते। स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिक

आनुमानिक—अनुमानसे निरूपित प्रधान भी जगत् कारण कतिपय वैदिक शाखा मन्त्रोंसे प्रतिपादित उपलब्ध होता है। जैसे कि 'महतः परम० (महत्से अव्यक्त-मूल प्रकृति सूक्ष्मतर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर-अति सूक्ष्म है) काठकमें ही पठित है। वहां जो नाम जो क्रम-महत्, अव्यक्त और पुरुष सांख्य शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं वे ही यहां कठश्रुतिमें प्रत्यभिज्ञात हैं। उनमेंसे अव्यक्त शब्द सांख्य शास्त्रमें प्रसिद्ध होने और शब्द आदि रहित होने तथा 'न अव्यक्तम्' 'जो व्यक्त न हो वह अव्यक्त है' इस व्युत्पत्तिके सम्भव होनेसे सांख्यशास्त्र प्रसिद्ध प्र अभिधान करता है। इसलिए श्रुति प्रतिपादित होनेसे उसे अशब्द कहना युक्त नहीं है। श्रुति, स्मृति तर्कसे यह सिद्ध है कि वही प्रधान जगत्का कारण है। सिद्धान्ती—ऐसा नहीं है, क्योंकि यह श्रुति सांख्य स्मृति प्रसिद्ध महत् और अव्यक्तके अस्तित्व विषयक नहीं है, कारण कि जैसा शास्त्र प्रसिद्ध जगत्का स्वतन्त्र कारण त्रिगुणात्मक प्रधान है, वैसे यहां प्रत्यभिज्ञात नहीं होता, यहां तो केवल अव्यक्त शब्दमात्रको प्रत्यभिज्ञा होती है। और वह शब्द जो व्यक्त नहीं है वह है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार यौगिक होनेसे प्रधानसे भिन्न सूक्ष्म एवं अत्यन्त दुर्लक्ष्य पदार्थ

सत्यानन्दी दीपिका

प्रतिपादन करते हैं। प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है, ऐसी प्रतिज्ञाकी गई है। सम्पूर्ण वेदान्त-वा ब्रह्ममें समन्वय है, ऐसा विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। यहाँ जो यह कहा गया है कि श्रुति प्रतिपादित नहीं है, वह युक्त नहीं है। इससे ईक्षत्यधिकरणकी इस अधिकरणके साथ संगति है। कपिल आदि महर्षि जनोंने अव्यक्त शब्दसे प्रधानको कारण रूपसे स्वीकार कि कुछ एक शाखाओंमें प्रधान परक शब्दाभास मिलते हैं, अतः कारणता विषयक सन्देह उत्प है कि प्रपञ्चका कारण परमेश्वर है अथवा प्रधान ? अत्र इस प्रधान कारण वादका निराकरण लिए यह अग्रिम ग्रन्थ आरम्भ होता है।

* 'कार्यतस्तदुपलब्धेः' 'कार्यसे कारणकी उपलब्धि होती है' इससे प्रधानको आनु अनुमान गम्य कहा गया है। जो पहले प्रधानको अशब्द-श्रुति अप्रतिपादित कहा गया है, नहीं है, क्योंकि 'महतः परमव्यक्तम' इस कठ श्रुतिमें प्रधानका ही अव्यक्त शब्दसे ग्रहण है। मेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' (श्वेत० ४।५) (अपने अनुरू सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित (रज) शुक्ल (सत्त्व) कृष्ण (तम) वर्णा अजा-बकरी को एक अज (बकरा-जीव) सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज उस भुक्तभोगा देता है) इस अन्य श्रुतिमें प्रधानका अजा 'न जायते इति अजा' शब्दसे ग्रहण किया गया है। 'हेतुः प्रकृतिरुच्यते' (गी० १३।२०) (प्रकृति-प्रधानको हेतुरूपसे कहा जाता है) इत्यादि है। 'यदल्पं तत् जड़प्रकृतिकम्' 'जो परिच्छिन्न है वह जड़ प्रकृतिसे जन्य है' यह तर्क है। उक्त श्रुति, स्मृति और तर्कसे सिद्ध होता है कि प्रधान ही जगत्का कारण है ब्रह्म नहीं।

दन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते । ❀ न चायं कस्मिंश्चिद्रूढः । या तु प्रधानवादिनां रूढिः सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते । न च क्रममात्रसामान्यात्समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने । न ह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति । प्रकरणनिरूपणायां चात्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते; शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते । कुतः ? प्रकरणात्परिशेषाच्च । तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपकक्लृप्तिं दर्शयति—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' (का० १।३।३,४) इति । तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति । संयतैस्त्वध्वनः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा, किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायां, तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ महतः परमव्यक्त-

---

प्रयुक्त हो सकता है, यह अव्यक्त शब्द किसी अर्थमें रूढ़ नहीं है, जो प्रधान वादियोंकी रूढि है अर्थात् प्रधान ही अव्यक्त शब्दवाच्य है वह उनकी पारिभाषिक होनेसे अपौरुषेय वेदार्थ निरूपण करनेमें कारणभावको प्राप्त नहीं हो सकती । वस्तुरूपके प्रत्यभिज्ञान न होनेपर केवल क्रमकी समानतासे समान अर्थका ज्ञान नहीं होता । कोई भी बुद्धिमान् पुरुष अश्वके स्थानमें वृषभको देखकर 'यह अश्व है' ऐसा निश्चय नहीं करता, यहां प्रकरणका निरूपण करनेपर प्रतिपक्षीसे परिकल्पित प्रधानकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि यहां शरीररूपकके विन्यासका ग्रहण है । निस्सन्देह, यहां रथरूपकसे विन्यस्त शरीरका ही अव्यक्त शब्दसे ग्रहण किया जाता है, क्योंकि प्रकरण और परिशेष हैं । कारण कि उसी प्रकार 'आत्मानं रथिनं विद्धि० (तू आत्माको रथी और शरीरको रथ जान, बुद्धिको सारथि एवं मनको लगाम समझ, विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको अश्व तथा उनके अश्वरूपसे कल्पित किए जानेपर विषयोंको उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं) यह अव्यवहित अतीत ग्रंथ आत्मा शरीर आदिमें रथी रथ आदि रूपककी क्लृप्ति (कल्पना) दिखलाता है । उन असंयत इन्द्रियादिसे वह जन्म-मरण रूप संसारको प्राप्त होता है और उन संयत इन्द्रिय आदिसे जन्म-मरण रहित उस विष्णुके परम पदको प्राप्त होता है, ऐसा दिखलाकर जन्म मरण रहित वह विष्णुका परम पद क्या है ? इस प्रकार नचिकेताकी यह आकांक्षा होनेपर [यमराज कहते हैं] 'इन्द्रियेभ्यः परा० (इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्) श्रेष्ठ है । महत्से अव्यक्त (सूक्ष्म प्रकृति) श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है । पुरुषसे पर और कुछ नहीं है । वही (सूक्ष्मत्वकी) पराकाष्ठा-अवधि है, वही परा-उत्कृष्ट गति है) यह श्रुति उन प्रकृत इन्द्रिय आदिसे पर परमात्माको ही जन्म-मरण रहित

सत्यानन्दी दीपिका

* 'महतः परमव्यक्तम्' यह क्रम भी समान अर्थका बोधक नहीं हो सकता । किसी एक ज्ञात पदार्थके स्थान पर उससे भिन्न पदार्थको देखकर उस ज्ञात अर्थका ज्ञान नहीं होता, जैसे अश्वके स्थान पर गौको देखकर 'यह अश्व है' ऐसा ज्ञान किसी विवेकीको नहीं होता, वैसे श्रुतिस्थक्रममें 'अव्यक्त' शब्दको देखकर सांख्य स्मृति कल्पित प्रधानसे भिन्न शरीररूपी अर्थको जानता हुआ बुद्धिमान् पुरुष प्रधान विषयक ज्ञानको प्राप्त नहीं होता । इसलिए प्रकरण और परिशेषरूप नियामकके विद्यमान होनेसे शरीरका ही अव्यक्त शब्दसे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि श्रुतिने शरीर आदिमें रथ आदिकी सादृश्य कल्पना दिखलाई है ।

मव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥' (का० १।३।१०,११) इति

❀ तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपककल्पनायामश्वादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृ प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियापरिहाराय। तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत्पूर्वत्रेह च समानशब्दा प्र अर्था ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टास्तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्; 'इन्द्रिया ग्रहत्वं विषयाणामतिग्रहत्वम्' (बृ० ३।२) इति श्रुतिप्रसिद्धेः। विषयेभ्यश्च मनसः पर मनोमूलत्वाद्विषयेन्द्रियव्यवहारस्य। मनसस्तु परा बुद्धिः। बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भो मुपसर्पति। 'बुद्धेरात्मा महान्परः', यः स 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः। कु आत्मशब्दात्। भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः। महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्न

❀ अथवा—'मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्य इति स्मृतेः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० ६।१८) इति

विष्णुका परम पद दिखलाती है। उस श्रुतिमें पहले रथरूपककी कल्पनामें अश्व आदि रूपसे इन्द्रिय आदि प्रकृत हैं इस प्रकृतकी हानि और अप्रकृत (प्रधान) की कल्पनारूप दोषके परि लिए उनका ही इस श्रुति वाक्यमें ग्रहण किया जाता है। उनमेंसे इन्द्रिय, मन और बुद्धि वाक्यमें और यहाँ (इन्द्रिभ्यः परा) समान शब्दोंसे ही निर्दिष्ट हैं। अर्थ अर्थात् शब्द आदि जो इन्द्रिय रूप अश्वोंके मार्गरूपसे निर्दिष्ट हैं उनमें इन्द्रियोंसे परत्व है क्योंकि 'इन्द्रियाणां (इंद्रियाँ-घ्राण, रसना, वाक्, नेत्र, श्रोत्र, मन,हस्त त्वक्, इन आठ इंद्रियोंको श्रुतिने ग्रह कहा है, पुरुष पशुको ये इन्द्रियाँ अपने वशमें करती हैं, परन्तु ये इन्द्रियाँ भी गन्ध, रस, नाम, रूप, काम, कर्म और स्पर्श आदि विषय सम्बन्धके बिना स्वतः इस पुरुष पशुको अपने वशमें नहीं सकतीं, अतः इन गन्ध आदि आठोंको अतिग्रह कहा है, इसलिए इन्द्रियाँ ग्रह हैं और विषय हैं) ऐसा श्रुतिमें प्रसिद्ध है। विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, क्योंकि विषय और इन्द्रियोंका सम्पूर्ण मनके अधीन है, बुद्धि मनसे श्रेष्ठ है, कारण कि भोग्य समुदाय बुद्धिपर आरूढ होकर भोक्ता जाता है। जो 'आत्मानं रथिनं० (आत्माको रथी जान) इस प्रकार रथीरूपसे निर्दिष्ट महान् है वह बुद्धिसे श्रेष्ठ है, क्योंकि श्रुतिमें आत्मशब्द है। भोगकी सामग्री (बुद्धि आदि) से भोक्ता हो सकता है। स्वामी होनेसे वह महान् भी हो सकता है। अथवा 'मनोमहान्मति० (समष्टि मनन शक्ति, भाविनिश्चय, व्यापिनी, ब्रह्म-आत्मा, भोग्य वर्गका आश्रय, तात्कालिक निश्चय, शक्ति, नियमन शक्ति, त्रैकालिक निश्चय, संवित्-अभिव्यञ्जिका, चित् एवं स्मृति कही है) इस स्मृतिके अनुसार एवं 'यो ब्रह्माणं० (जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस मन्त्रसे रथ रूपककी कल्पनामें अश्व आदि रूपसे जिन इ आदिका ग्रहण है, उनका ही 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इत्यादि मन्त्रमें ग्रहण है, इससे वे ही प्र उनका ग्रहण न करनेसे प्रकृतकी हानि और अप्रकृत प्रधानकी कल्पना रूप दोष प्रसक्त हो उसके परिहारके लिए अव्यक्त शब्दसे प्रकृत शरीरका ग्रहण करना युक्त है अप्रकृत प्रधानका 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस पूर्व मन्त्रमें तथा 'इन्द्रियेभ्यःपरा ह्यर्था' इस उत्तर मन्त्रमें इन्द्रि और बुद्धि ये शब्द समान हैं और पूर्वमन्त्रमें 'विषय' शब्द है एवं उत्तर मन्त्रमें 'अर्थ' इससे शब्द भेदसे अर्थका भेद नहीं है, इसलिए उत्तर मंत्रमें अर्थ शब्दसे भी विषयका ही ग्रहण चाहिए। इस प्रकार इन दोनों मन्त्रोंकी एक वाक्यता सिद्ध होती है। श्रुतिस्थ परत्व शब्द भो यक है, क्योंकि भोग्य समुदाय भोक्ताके लिए होता है, अतः भोक्ता भोग्य समुदायसे महान् और मन है

❀ 'मनोमहान्मतिर्ब्रह्मा० (संकल्परूप शक्तिसे हिरण्यगर्भकी बुद्धिका नाम मन है

श्रुतेः, या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परा प्रतिष्ठा। सेह महानात्मेत्युच्यते। सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते; तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः। एतस्मिंस्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम्; परमार्थतः परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात्। तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते। इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपददिदर्शयिषया समनुक्रामन्परिशिष्यमाणेनेहान्त्येनाव्यक्तशब्देन परिशिष्यमाणं प्रकृतं शरीरं दर्शयतीति गम्यते। शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता। तथा च 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥' (का० १।३।१२) इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं दर्शयति—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥' (का० १।३।१३) इति। एतदुक्तं भवति—वाचं मनसि संयच्छेत् वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत।

जो उसकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव करता है) इस श्रुतिके अनुसार प्रथम उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भकी जो बुद्धि है। वह सम्पूर्ण बुद्धियोंकी परम प्रतिष्ठा है, वही यहाँ महान् आत्मा है, ऐसी कही जाती है। पहले मन्त्र (आत्मानं रथिनं विद्धि) में पठित बुद्धि शब्दके ग्रहणसे वह गृहीत होनेपर भी यहाँ पृथक् उपदिष्ट है, क्योंकि उसमें भी अस्मदादि बुद्धियोंकी अपेक्षासे परत्व उपपन्न है। परन्तु इस पक्षमें अन्तिम आनेवाले परमात्मविषयक पुरुष शब्दके ग्रहणसे ही रथी आत्माका ग्रहण समझना चाहिए। कारण कि परमार्थसे परमात्मा और विज्ञानात्मामें कोई भेद नहीं है। इस प्रकार उनमें केवल एक शरीर ही शेष रह जाता है। यहाँ ऐसा ज्ञात होता है कि परम पदको दिखलानेकी इच्छासे पूर्व मन्त्रमें पठित अन्य इन्द्रिय आदिका अनुक्रमसे ग्रहण करती हुई कठ श्रुति यहाँ अवशिष्ट अन्तिम अव्यक्त शब्दसे परिशिष्ट प्रकृत शरीरको ही दिखलाती है। अतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और वेदनासे सम्बद्ध अविद्यावान् भोक्ताका शरीर आदिकी रथ आदिके साथ सादृश्य कल्पनाके द्वारा संसार गमन और मोक्ष प्राप्तिका निरूपणकर प्रत्यगात्माका ब्रह्मरूपसे ज्ञान कराना ही यहाँ विवक्षित है। और इसीप्रकार 'एष सर्वेषु० (सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता, यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है अर्थात् वे ब्रह्माकार वृत्तिसे साक्षात्कार करते हैं) इसप्रकार विष्णुके परम पदकी दुर्विज्ञेयता कहकर उसके ज्ञानके लिए 'यच्छेद्वाङ्मनसी० (विवेकी पुरुष वाक् इन्द्रियका मनमें लय करे, उसका प्रकाशस्वरूप बुद्धिमें लय करे, बुद्धिको महान् आत्मामें लीन करे और उसको शान्त आत्मामें नियुक्त करे) इसप्रकार यह श्रुति योगको दिखलाती है। इसका तात्पर्य यह है कि वाणीका मनमें लय करे अर्थात् वाणी आदि बाह्य इंद्रियोंके व्यापारका त्यागकर केवल मनरूपसे अवस्थित रहे। विषयविकल्पाभिमुख मनका भी विकल्पसम्बन्धी

सत्यानन्दी दीपिका

मनोंमें व्याप्त होनेसे महान् है, सन्देह निवृत्तिका कारण होनेसे मति है, महत्त्ववाली होनेसे ब्रह्मा है, भोग्य समुदायका आश्रय होनेके कारण नगरी है, निश्चयात्मक होनेसे बुद्धि है, कीर्ति शक्ति वाली होनेसे ख्याति है, नियमन शक्ति होनेसे ईश्वर है, लोकमें सर्वोत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रज्ञा है, पदार्थोंकी अभिव्यञ्जिका होनेसे संवित् है, चैतन्य प्रधान होनेसे चिति है, ज्ञात सर्वार्थका अनुसंधान करनेसे स्मृति है, इसप्रकार विद्वानों द्वारा कही जाती है) इसप्रकार श्रुति एवं स्मृतिमें प्रसिद्ध हिरण्यगर्भकी बुद्धिको महान् आत्मा शब्दसे ग्रहण किया गया है। उसका ग्रहण करनेसे भी श्रुति समन्वित होती है। इसप्रकार प्रकरण और परिशेषसे अव्यक्त शब्दसे शरीरका ग्रहण करना चाहिए। सांख्य स्मृति कल्पित

मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्धावध्यवसा भावायां धारयेत्। तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तर्यग्र्यायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापा नियच्छेत्। महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन्पुरुषे परस्यां का प्रतिष्ठापयेदिति च। तदेवं पूर्वापरालोचनायां नास्त्यत्र परपरिकल्पितस्य प्रधानस्यावकाश:

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

पदच्छेद—सूक्ष्मम्, तु, तदर्हत्वात्।

सूत्रार्थ—(सूक्ष्मम्) स्थूल शरीरके आरम्भके सूक्ष्मभूत (सूक्ष्म शरीर) का अ शब्दसे ग्रहण है, (तदर्हत्वात्) क्योंकि वे अव्यक्त शब्दके योग्य हैं। (तु) शब्द शंका निवृत्त्यर्थ

* उक्तमेतत्प्रकरणपरिशेषाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दं न प्रधानमिति। इदमिदानीं शङ्क्यते—कथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य ? यावता स्थूलत्वात्स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तश र्हमस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति। अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना श विवक्ष्यते; सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दम तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९।४६।४) इति। श्रुतिश्च—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमा (बृ० १।४।७) इतीदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत्प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनाम बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति ॥२॥

दोष दर्शनसे ज्ञानशब्दसे कथित निश्चयात्मक बुद्धिमें लय करे। उस बुद्धिका भी महान्-आत्मा में अथवा समाधिके परिपाकसे उत्पन्न बुद्धिमें अधिक सूक्ष्मता संपादन द्वारा लय करे। और उस आत्माका प्रकरण प्राप्त अन्तिम काष्ठा-अवधि शान्त आत्मा पर ब्रह्ममें लय करे अर्थात् 'मैं ब्र इसप्रकार अभेदरूपसे स्थितिका अनुभव करे। इसप्रकार पूर्वापर वाक्योंकी पर्यालोचना करने पर होता है कि पूर्वपक्षी द्वारा परिकल्पित प्रधानका यहां कोई अवकाश (स्थान) नहीं है ॥ १ ॥

प्रकरण और परिशेषसे यह कहा गया है कि शरीर अव्यक्त शब्द वाच्य है प्रधान नहीं यह आशङ्का होती है कि जब स्थूल होनेके कारण यह शरीर अति स्पष्टरूपसे व्यक्त शब्दसे प्रतीत हो रहा है तो वह शरीर अव्यक्त शब्दके योग्य कैसे हो सकता है ? अव्यक्त शब्द तो अ वाचक है। सिद्धान्ती—इसके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ अव्यक्त शब्द द्वारा कारण रूप होनेसे शरीर ही विवक्षित है, क्योंकि सूक्ष्म अव्यक्त शब्दके योग्य है। यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वयं अ शब्दके योग्य नहीं है, तो भी उसके आरम्भक [आकाश आदि] सूक्ष्मभूत अव्यक्त शब्दके योग्य प्रकृति शब्द विकार अर्थमें प्रयुक्त हुआ देखा जाता है, जैसे 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (गौके दूधके साथ सोम रसका मिश्रण करे) तो उसी प्रकार यहाँ श्रुति भी 'तद्धेदं० (तब-प्रागवस्था जगत् अव्याकृत-अव्यक्त था) ऐसा यह परोक्षापरोक्षात्मक व्याकृत भिन्न-भिन्न नाम रूपवाला भी जो कि सृष्टिके पूर्व अपने व्याकृत नाम रूपको परित्याग किया हुआ बीजशक्ति रूप (संस्कार से अवस्थित रहता है, उसको ही यहाँ श्रुति अव्यक्त शब्दके योग्य दिखलाती है ॥ २ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

प्रधानका नहीं, क्योंकि प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है। श्रुतिका तात्पर्य तो केवल जीवको ब्र प्रतिपादन करनेमें हैं ॥ १ ॥

* जो वस्तु नेत्र आदि इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट प्रतीत होती हो वह व्यक्त और जो स्पष्ट प्रती वह अव्यक्त कहलाती है। यह स्थूल शरीर तो नेत्र आदि इन्द्रियोंसे सबको स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष है

तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

पदच्छेद—तदधीनत्वात्, अर्थवत्।

सूत्रार्थ—(तदधीनत्वात्) अव्यक्त ईश्वरके अधीन होनेसे स्वतन्त्र नहीं है, (अर्थवत्) जगत्की उत्पत्तिमें ईश्वरका सहायक होनेसे सार्थक भी है।

अत्राह—यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिज्ञायेत, स एव तर्हि प्रधानकारणवाद एवं सत्यापद्येत। अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमादिति। * अत्रोच्यते—यदि वयं स्वतन्त्रां कांचित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चावश्याभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हि सा। न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति; शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः। कुतः? विद्यया तस्या बीज-

यहाँ पूर्वपक्षी कहता है—अनभिव्यक्त नामरूप वाला, पूर्वावस्थामें स्थित बीजात्मक यह जगत् यदि अव्यक्त शब्दके योग्य माना जाय और उसरूपसे शरीरमें भी अव्यक्त शब्दकी प्रयुक्तिकी प्रतिज्ञाकी जाय तो ऐसा माननेसे उसी प्रधान कारणवादकी प्रसक्ति हो जायगी, क्योंकि सांख्यवादीने इस जगत्की प्रागवस्था (कारणावस्था) को ही प्रधानरूपसे स्वीकार किया है। सिद्धान्ती—इस विषयमें कहते हैं—यदि हम जगत्के कारणरूपसे किसी एक स्वतन्त्र प्रागवस्थाको स्वीकार करें तो हम प्रधान कारणवादके अनुयायी हो सकते हैं, परन्तु हम तो जगत्की इस प्रागवस्था (कारणावस्था) को परमेश्वरके अधीन स्वीकार करते हैं, स्वतन्त्र नहीं, वह तो अवश्य स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि वह प्रयोजन वाली है। उसके विना निर्गुण निष्क्रिय परमेश्वर स्रष्टा सिद्ध नहीं हो सकता, कारण

सत्यानन्दी दीपिका

उसे अव्यक्त नहीं कहा जा सकता। यह पूर्वपक्षीका आशय है। सिद्धान्ती—यद्यपि यह ठीक है, तो भी कार्य और कारणके अभिन्न होनेसे मूल प्रकृति वाचक अव्यक्त शब्दसे कार्य लक्ष्य होता है। जैसे 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इस उद्धृत श्रुतिसे यह दिखलाया गया है कि प्रकृति वाचक गौ शब्द अपने विकार दूधमें प्रयुक्त हुआ देखा जाता है अन्यथा प्रकृति गौके साथ सोम रसका मिश्रण होना असंभव है। जैसे यहाँ प्रकृति गौ शब्द समान रूपसे गौ और स्व विकार दूधमें प्रयुक्त होता है, वैसे आकाश आदि सूक्ष्म भूतात्मक सूक्ष्म शरीर जो स्थूल शरीरका कारण है, उसमें अव्यक्त शब्दका प्रयोग होता है तो यहाँ भी प्रकृति वाचक अव्यक्तशब्द समानरूपसे सूक्ष्मशरीर और स्वविकार स्थूलशरीरमें प्रयुक्त होना युक्त है ॥ २ ॥

* यह जो सुख दुःख मोहात्मक जगत् है, वह सुखदुःखमोहात्मक कारणसे ही उत्पन्न होने योग्य है, क्योंकि कार्य कारणात्मक होता है। इसमें सुखात्मकता सत्त्वसे, दुखात्मकता रजसे और मोहात्मकता तमसे हैं। सत्त्व, रज और तमोमय कारणावस्थाका नाम सांख्य मतमें प्रधान है। जगत्की कारणावस्था मायाके स्वीकार करनेसे प्रधान कारण वादकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वेदांतसिद्धान्तमें माया अनित्य, अनिर्वचनीय, मिथ्या और परतन्त्र है, जब कि सांख्यमतमें प्रधान नित्य निर्वचनीय, सत्य और स्वतन्त्र है। कारणावस्था अव्यक्त मायाको हम स्वतन्त्र कारण नहीं मानते तो प्रधान कारण वादकी प्रसक्ति कैसे हो सकती है? किन्तु अव्याकृत नामरूपात्मक कारणावस्था मायाको हम परमेश्वरके अधीन मानते हैं, बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थाके लिए भी मायाको मानते हैं, अन्यथा असङ्ग एक आत्मामें बन्ध मोक्ष व्यवस्था अनुपपन्न है।

शक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया माया
महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचि
काशशब्दनिर्दिष्टम्—एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' (बृ० ३।८।११) इति श्रु
क्वचिदक्षरशब्दोदितम्; 'अक्षरात्परतः परः' (मु० २।१।२) इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति सूचि
'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०) इति मन्त्रवर्णात्। अव्यक्ता हि
माया; तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्। तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तम्; अव्य
प्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान्, यदा तु जीवो महान्, तदाप्यव्यक्ता
त्वाज्जीवभावस्य 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तम्। अविद्या ह्यव्यक्तम्। अविद्यावत्त्वेनैव जी
सर्वः संव्यवहारः संततो वर्तते। तच्चाव्यक्तगतं महतः परत्वमभेदोपचारात्तद्विकारे शरीरे
कल्प्यते। सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्त
ग्रहणम् इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात्परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य। अन्ये तु वर्णय
द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च। स्थूलं यदिदमुपलभ्यते। सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते—'तद
प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (बृ० ३।१।१) इति। तच्चोभयमपि शरीरम
त्पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितम्। इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते; सूक्ष्मस्याव्यक्त
त्वात्। तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम्। यथार्थाधीनत्वादिन्द्रिय

कि शक्ति रहित परमेश्वरमें प्रवृत्ति उपपन्न नहीं हो सकती। मुक्त पुरुषोंके बन्धकी पुनः उत्प
होती, क्योंकि विद्यासे उस बीज शक्तिका नाश (बाध) हो जाता है। अविद्यात्मक यह बीज
अव्यक्तशब्दसे निर्दिष्ट है, परमेश्वरके आश्रित मायामयी एवं महासुषुप्ति है, जिसमें स्वरू
रहित संसारी जीव सोते हैं। वह अव्यक्त कहीं पर 'एतस्मिन्नु० (हे गार्गि ! इस अक्षरमें ही आ
ओत-प्रोत है) इस श्रुतिमें आकाश शब्दसे निर्दिष्ट है। और कहीं पर 'अक्षरात्परतः परः० (
अक्षरसे भी उत्कृष्ट है) इस श्रुतिसे अक्षर शब्दसे वर्णित है। कहीं पर 'मायां तु० (प्रकृ
माया जाने और महेश्वरको मायावी) इस मन्त्रमें माया शब्दसे सूचित है। वह माया अव्यक्त
क्योंकि वह सद्रूप है अथवा असद्रूप है, ब्रह्मसे अभिन्न है अथवा भिन्न, इसप्रकार उसका नि
नहीं किया जा सकता। यदि महत्का अर्थ हिरण्यगर्भकी बुद्धि हो तो अव्यक्तसे महत् उत्पन्न है
इसलिए 'महतः परमव्यक्तम्' (महत्से अव्यक्त उत्कृष्ट है) यहां पर वही पूर्वावस्था कही ग
यदि महत्का अर्थ जीव हो तो भी जीव भाव अव्यक्तके अधीन होनेसे 'महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है'
अव्यक्तमें जीवसे परत्व कथन युक्त है। निश्चय यह अविद्या अव्यक्त है, अविद्योपाधि युक्त हो
जीवके सब व्यवहार सदा होते रहते हैं। अव्यक्तमें जो महत्से परत्व है उसकी अभेदोपचारसे
विकार शरीरमें कल्पनाकी जाती है। यद्यपि शरीरके समान इन्द्रिय आदिमें भी [अव्यक्त] वि
समान है, तो भी अभेदोपचारसे अव्यक्त शब्दसे शरीरका ही ग्रहण होता है, क्योंकि इन्द्रिय
[इन्द्रियेभ्यः] अपने वाचक शब्दसे ही ग्रहण किया गया है। केवल शरीर ही अवशिष्ट है
उसका अव्यक्त शब्दसे ग्रहण होता है]। कुछ दूसरे आचार्य तो इस प्रकार वर्णन करते हैं कि
दो प्रकारका है स्थूल और सूक्ष्म। [नेत्र आदिसे] जो यह उपलब्ध होता है वह स्थूल है
सूक्ष्म है उसे आगे 'तदन्तरप्रतिपत्तौ०' इस सूत्रमें कहा जायगा। ये दोनों शरीर समान
वाक्य (आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु) में रथ रूपसे कहे गये हैं। [इन्द्रियेभ्यः प
इस उत्तर मन्त्रमें अव्यक्त शब्दसे केवल सूक्ष्म शरीरका ग्रहण किया जाता है, क्योंकि सूक्ष्म
शब्दके योग्य है। जैसे इन्द्रियोंका व्यापार अर्थों—शब्दादि विषयोंके अधीन होनेसे अर्थोंमें
परत्व है, वैसे बन्ध और मोक्ष व्यवहार सूक्ष्म शरीरके अधीन होनेसे उसमें जीवसे

रस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति । * तैस्त्वेतद्वक्तव्यम्—अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात्समानयोः प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते, न पुनः स्थूलमपीति । आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामः, नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम् । आम्नातं चाव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति, नेतरत्; व्यक्तत्वात्तस्येति चेत्—न; एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः न हीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य कंचिदर्थं प्रतिपादयतः; प्रकृतहानाप्रकृतक्रियाप्रसङ्गात् । न चाकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्तिरस्ति । तत्राविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथाकाङ्क्षं संबन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतैव बाधिता भवति, कुत आम्नातस्यार्थप्रतिपत्तिः ? ❀ न चैवं मन्तव्यम्—दुःशोधत्वात्सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहणं, स्थूलस्य तु दृष्टबीभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणमिति । यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद्विवक्ष्यते । न ह्यत्र शोधनविधायि किंचिदाख्यातमस्ति । अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्तु किं तद्विष्णोः परमं

सिद्धान्ती—वृत्तिकारके मतका निराकरण करते हैं—परन्तु उनसे यह कहना चाहिए कि पूर्ववाक्य [आत्मानं रथिनं विद्धि] में रथ रूपसे दोनों शरीरोंका समानरूपसे कथन होनेके कारण दोनोंमें प्रकृतत्व परिशिष्टत्व समान है तो यहाँ अव्यक्त शब्दसे केवल सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण क्यों किया जाता है और स्थूलका क्यों नहीं है ? हम वेदका अर्थ जानने-ग्रहण करनेमें समर्थ हैं परन्तु वेद पर (ननु नच) नहीं कर सकते, वेदोक्त अव्यक्त शब्द सूक्ष्मका ही प्रतिपादन कर सकता है स्थूलका नहीं, क्योंकि वह व्यक्त है, ऐसा यदि कहो तो यह युक्त नहीं है, कारण कि अर्थ ज्ञान एक वाक्यताके अधीन है । ये दोनों पूर्व और उत्तर श्रुति वाक्य एक वाक्यता प्राप्त किये विना किसी भी अर्थका प्रतिपादन नहीं कर सकते, अन्यथा प्रकृतकी हानि और अप्रकृत प्रक्रियाका प्रसङ्ग होगा अर्थात् अव्यक्त शब्दसे प्रकृत स्थूल शरीरका ग्रहण न करना अप्रकृत सूक्ष्म भूतात्मक सूक्ष्म शरीरका ग्रहण करना, यह प्रकृत हानि अप्रकृत प्रक्रिया रूप दोष प्रसक्त होगा । और आकांक्षाके विना एक वाक्यताका बोध नहीं होता । उन पूर्वोत्तर वाक्योंमें दोनों शरीरोंकी ग्राह्यत्वाकाङ्क्षा समान होनेपर आकाङ्क्षाके अनुसार सम्बन्ध स्वीकार न करें तो एक वाक्यता ही बाधित हो जायगी, तो श्रुत्यर्थका बोध कैसे होगा ? इस प्रकार नहीं मानना चाहिए कि अनात्मत्व निश्चयरूप शोधन दुष्कर होनेसे सूक्ष्म शरीरका ही यहाँ ग्रहण है, नाना दोषोंसे दूषित प्रत्यक्ष घृणाका विषय होनेसे अनात्मत्व निश्चयरूप शोधन सुकर होनेके कारण स्थूल शरीरका ग्रहण नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रकरणमें किसीका शोधन विवक्षित नहीं है, कारण कि यहाँ शोधनका विधान करनेवाला कोई क्रियापद नहीं है । विष्णुका परम पद क्या है ? (आत्मानं रथिनं विद्धि) इस वाक्यके अनन्तर निर्दिष्ट होनेसे वही यहाँ विवक्षित है । क्योंकि यह इससे पर है, यह

सत्यानन्दी दीपिका

* वाक्योंकी परस्पर आकांक्षा होनेसे ही एक वाक्यता होती है, और उससे अर्थका ज्ञान होता है, अन्यथा अर्थबोध नहीं होगा । अतः 'शरीरं रथमेव तु' इस प्रकृत शरीर द्वयका ग्रहण 'इन्द्रियेभ्यः परा' इस मंत्रमें किस पदसे है और अव्यक्त शब्दसे क्या ग्राह्य है ? इस प्रकार दो आकांक्षोंके होनेसे पूर्वोत्तर वाक्योंमें एक वाक्यता सम्भव है । शरीर शब्दसे प्रकृत दोनों ही शरीर ग्राह्यरूपसे आकांक्षाके समान विषय हैं । अव्यक्त शब्दसे दोनों शरीरोंका ग्रहण प्राप्त है । यदि आकांक्षाके अनुसार अन्वय स्वीकार न करें, तो अव्यक्तशब्दसे केवल सूक्ष्म शरीरका ग्रहण होगा स्थूल शरीरका नहीं, फिर तो एक वाक्यताका बाध हो जायगा । इसलिये अव्यक्त शब्दसे प्रकृत स्थूल शरीर ही ग्राह्य है ।

❀ यदि वृत्तिकारके मतसे अव्यक्तशब्दसे सूक्ष्म शरीरका भी ग्रहण हो तो हमारी कोई हानि नहीं है, क्योंकि अव्यक्तशब्दसे सूक्ष्म शरीरका ग्रहण करनेपर भी अनुमान निरूपित प्रधानका तो अव्यक्तशब्दसे किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं हो सकता है ॥३॥

पदमितीदमिह विवक्ष्यते। तथा हीदमस्मात्परमिदमस्मात्परमित्युक्त्वा 'पुरुषान्न परं किं इत्याह। सर्वथापि त्वानुमानिकनिराकरणोपपत्तेस्तथा नामास्तु, न नः किंचिच्छिद्यते ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

पदच्छेद—ज्ञेयत्वावचनात्, च।

सूत्रार्थ—इस प्रकरणमें अव्यक्तको ज्ञेय नहीं कहा गया है, इससे भी इस श्रुतिमें अ शब्दसे प्रधानका ग्रहण नहीं है।

❀ ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भि हि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूतिविशेष प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति। न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते। पदमात्रं ह्यव्यक्त नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति। न चानुपदिष्टपदार्थज्ञानं पुरुषार्थं शक्यं प्रतिपत्तुम्। तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते। अस्माकं तु रथरूपक शरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ॥४॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥५॥

पदच्छेद—वदति, इति, चेत्, न, प्राज्ञः, हि, प्रकरणात्।

सूत्रार्थ—(वदति) 'महतः परं ध्रुवं निचाय्य' यह उत्तर वाक्य प्रधानको ज्ञेय क (इति चेन्न)ऐसा यदि कहो तो यह युक्त नहीं है, (प्रकरणात्) क्योंकि 'पुरुषान्न परं' इस आत्मप्र (प्राज्ञो हि) परमात्मा ही यहाँ ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट है।

अत्राह सांख्यः—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम्. कथम्? श्रूयते ह्युत्तरत्राव्यक्त

इससे पर है अर्थात् इन्द्रियोंसे उसके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, इस प्रकार कहकर 'पु (पुरुषसे कुछ श्रेष्ठ नहीं है) ऐसा श्रुति कहती है। सब प्रकारसे अनुमान निरूपित प्रधानका नि उपपन्न होता है। तो भले ऐसा हो, इससे हमारी कुछ भी हानि नहीं है ॥३॥

सत्त्व आदि गुण और पुरुषके भेद ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा कथन करनेवाले मतानुयायी विद्वान् प्रधानका ज्ञेयरूपसे स्मरण करते हैं, क्योंकि सत्त्वादि गुणोंके स्वरूप जा केवल गुणोंसे पुरुषका भेद नहीं जाना जा सकता है। अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्तिके लिए प्र है, ऐसा भी कहीं कहीं स्मृतिमें कहते हैं। परन्तु [महतः परमव्यक्तम्] इस मन्त्रमें अव्यक्त रूपसे नहीं कहा है, यहाँ अव्यक्त शब्द केवल एक पद है। अव्यक्त ज्ञातव्य है वा उपासितव्य है ऐसा कोई विधायक वाक्य नहीं है। और अनुपदिष्ट पदार्थ ज्ञान पुरुषार्थ है ऐसा नहीं सकता। इससे भी श्रुति अव्यक्त शब्दसे प्रधानका अभिधान नहीं करती, हमारे मतमें तो साहश्यसे कल्पित शरीर आदिका अनुसरणकर विष्णुका ही परम पद दिखलानेके लिए यह उ है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥४॥

यहाँ सांख्य कहते हैं कि 'ज्ञेयत्वावचनात्' यह हेतु असिद्ध है, क्योंकि 'अशब्दमस (जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, रसहीन, नित्य तथा गन्धरहित है। जो अनादि, अनन्त,

सत्यानन्दी दीपिका

* प्रधान श्रुति-तात्पर्यका विषय न होनेसे ज्ञेय नहीं है और अव्यक्त शब्द वाच्य भी नहीं परन्तु शरीर भी तो ज्ञेयरूपसे पठित नहीं है तो उसका यहाँ ग्रहण क्यों किया जाता है? हमारे तो केवल विष्णु पद ज्ञेय है, उसके दर्शनके लिए अव्यक्त शब्दसे स्थूल शरीरका ग्रहण करने दोष नहीं है ॥४॥

दिनस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥' (का० २।३।१५) इति। अत्र हि यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं महतः परं स्मृतौ निरूपितं, तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्टं; तस्मात्प्रधानमेवेदं, तदेव चाव्यक्तशब्दनिर्दिष्टमिति। अत्र ब्रूमः—नेह प्रधानं निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्। प्राज्ञो हीह परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते। कुतः? प्रकरणात्। प्राज्ञस्य हि प्रकरणं विततं वर्तते; 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इत्यादिनिर्देशात्, 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञातत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षणात्। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिसंयमस्य विहितत्वात्, मृत्युमुखप्रमोक्षण-फलत्वाच्च। नहि प्रधानमात्रं निचाय्य मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति सांख्यैरिष्यते। चेतनात्म-विज्ञानाद्धि मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति तेषामभ्युपगमः। सर्वेषु वेदान्तेषु प्राज्ञस्यैवात्मनोऽशब्दादिधर्मत्वमभिलप्यते। तस्मान्न प्रधानस्यात्र ज्ञेयत्वमव्यक्तशब्दनिर्दिष्टत्वं वा ॥५॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

पदच्छेद—त्रयाणाम्, एव, च, एवम्, उपन्यासः, प्रश्नः, च।

सूत्रार्थ—(एवम्) पूर्व और उत्तर वाक्योंके पर्यालोचनसे (त्रयाणामेव) अग्नि, जीव और परमात्मा इन तीनोंका ही (उपन्यास) वक्तव्यरूपसे उपन्यास है। (प्रश्नश्च) और प्रश्न भी उनके विषयमें है, इसलिए प्रधान अव्यक्तशब्द वाच्य नहीं है।

❀ इतश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा। यस्मात्त्रयाणामेव पदार्थाना-मग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे कठवल्लीषु वरप्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते।

से पर, निश्चल है उस तत्त्वका ज्ञान प्राप्तकर पुरुष मृत्यु मुखसे छूट जाता है) इस उत्तर वाक्यमें अव्यक्त शब्दसे प्रतिपादित प्रधानका ज्ञेयरूपसे कथन है। सांख्य स्मृतिमें शब्द आदि रहित महत्से पर प्रधानका जैसा निरूपण है वैसा ही यहाँ ज्ञेयरूपसे निर्देश है। इसलिये यह प्रधान ही है और वही यहाँ [महतः परमव्यक्तम्] अव्यक्त शब्दसे निर्दिष्ट है। सिद्धान्ती—यहाँ हम कहते हैं कि इस मन्त्र [अशब्दमस्पर्शम] में प्रधान ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु प्राज्ञ परमात्मा ही यहाँ ज्ञेयरूपसे निर्दिष्ट है ऐसा ज्ञात होता है। क्यों? उसका प्रकरण है। प्राज्ञका ही विस्तृत प्रकरण चला हुआ है, 'पुरुषान्न० (पुरुषसे कुछ श्रेष्ठ नहीं है, वह परम सीमा है वह परम गति है) इत्यादि निर्देश है। 'एष सर्वेषु० (सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता) इस प्रकार दुर्ज्ञानत्व कथनसे उसकी ही ज्ञेयरूपसे आकांक्षा होती है, तथा 'यच्छेद्वाङ्मनसी० (विवेकी पुरुष वाणीका मनमें लय करे) इस प्रकार उसके ज्ञानके लिए ही वाणी आदिके संयमका विधान किया है, मृत्यु मुखसे छुटकारा पाना ही ज्ञानका फल है। परन्तु सांख्योंने यह स्वीकार नहीं किया कि केवल प्रधानके ज्ञानसे मृत्यु मुखसे मुक्त होता है। वे तो यह स्वीकार करते हैं कि चेतन आत्माके ज्ञानसे ही मृत्यु मुखसे मुक्त होता है 'सम्पूर्ण वेदान्तोंमें प्राज्ञ परमात्मामें ही अशब्दत्व आदि धर्मोंका कथन है। इसलिए यहाँ प्रधान न ज्ञेय है और न अव्यक्त शब्दसे निर्दिष्ट ही है ॥ ॥

और इस कारणसे भी प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य अथवा ज्ञेय नहीं है, क्योंकि वर प्रदान सामर्थ्यसे इस कठवल्ली ग्रन्थमें वक्तव्यरूपसे अग्नि, जीव और परमात्मा इन तीन पदार्थोंका ही

सत्यानन्दी दीपिका

* इस कठवल्ली ग्रन्थमें प्रधानके विषयमें न प्रश्न है और न उत्तर ही, इससे भी प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य नहीं है। इसी बात को 'त्रयाणामेव' इस सूत्रसे भगवान् सूत्रकार दिखलाते हैं।

तद्विषय एव च प्रश्नः । नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वाऽस्ति । तत्र तावत् 'स त्वमग्नि मध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' (का० १।१।१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः । ये विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृती (का० १।१।२०) इति जीवविषयः प्रश्नः । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृ अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' (का० १।२।१४) इति परमात्मविषयः । वचनमपि 'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।' (का० १।१।१५) इ विषयम् । 'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् । यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' (का० २।२ इति । व्यवहितं जीवविषयम् । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (का० १।२।१८) इत्यादि प्रपञ्चं परमात्मविषयम । नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति; अपृष्टत्वाच्चानुपन्यसनीयत्वं तस्य अत्राह—योऽयमात्मविषयः प्रश्नो येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीति, किं स ए 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति पुनरनुकृष्यते, किंवा ततोऽन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यते ❀ किंचातः स एवायं प्रश्नः पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोः

उपन्यास देखा जाता है और तद्विषयक ही प्रश्न है, इससे अन्यका प्रश्न अथवा उपन्यास न उनमेंसे 'स त्वमग्नि० (नचिकेता—हे मृत्यो ! तुम स्वर्गके साधन भूत अग्निको जानते हो, श्रद्धालुके प्रति उसका वर्णन करो) यह अग्नि विषयक प्रश्न है । 'येयं प्रेते० (मृतक मनुष्यके जो यह सन्देह है—कुछ लोग कहते हैं कि देह आदि संघातसे अतिरिक्त देहान्तर सम्बन्धी है, कुछ एक कहते हैं कि इस प्रकारका आत्मा नहीं है, तुमसे उपदेशको प्राप्त हुआ मैं सकूँ वरोंमें शेष यह तीसरा वर है) यह जीव विषयक प्रश्न है । 'अन्यत्र धर्माद० (जो धर्मसे अधर्मसे भिन्न, कार्य-कारणसे अन्य, भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानसे अन्य है ऐसा तुम जिसे हो उसे मुझसे कहो) यह परमात्मविषयक प्रश्न है । प्रतिवचन भी 'लोकादिमग्नि० (तब लोकोंके कारणभूत उस अग्निका तथा उसके चयन करनेमें जैसे और जितनी ईंटें होती हैं औ प्रकार स्थण्डिलमें उसका चयन किया जाता है उन सबका नचिकेताके प्रति वर्णन कर दिया अग्नि विषयक उत्तर है । 'हन्त त इदं० (हे गौतम ! अब मैं फिर भी तुम्हारे प्रति उस गु सनातन ब्रह्मका वर्णन करूँगा, तथा [ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा कै जाता है [वह भी बतलाऊँगा] । अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने देही तो शरीर करनेके लिए किसी योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भावको प्राप्त हो जाते हैं व्यवधानसे [अविद्यासे आच्छादित] जीव विषयक उत्तर है । 'न जायते० (यह विद्वान् न होता है, न मरता है) इत्यादि बहुत विस्तृत परमात्मा विषयक प्रतिवचन है । इस प्रकार विषयक प्रश्न नहीं है । अपृष्ट होनेसे उपन्यासके योग्य भी नहीं है । यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि प्रेते०' यह जो आत्मविषयक प्रश्न है, क्या उसकी 'अन्यत्र धर्माद०' यहाँ पुनः अनुवृत्ति है उससे अन्य यह अपूर्व-नवीन प्रश्न उठाया जाता है ? इससे प्रकरणमें क्या आया ? [ये उस प्रश्नकी [अन्यत्र धर्माद] इसमें अनुवृत्ति है, ऐसा यदि कहो, तो आत्मविषयक दो अभेद होनेसे अग्नि विषयक और आत्मविषयक इस प्रकार दो ही प्रश्न होते हैं, अतः ऐसा नहीं

सत्यानन्दी दीपिका

* यमराज और नचिकेताके संवाद रूप वाक्योंकी प्रवृत्तिसे यही सिद्ध होता है कि 'येयं 'अन्यत्र धर्माद०' इन दोनों मन्त्रोंमें आत्मविषयक एक ही प्रश्न है दो नहीं, जिसके आधार पर विषयक नवीन प्रश्नकी कल्पनाकी जाय । अतः यहाँ प्रधानका अवकाश नहीं है ।

पत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न वक्तव्यं त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविति। अथान्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्येत, ततो यथैव वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एवं प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति। अत्रोच्यते– नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित्कल्पयामः; वाक्योपक्रमसामर्थ्यात्। वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा वाक्यप्रवृत्तिरासमाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते। ॐ मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन्वरान्प्रददौ। नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वव्रे, द्वितीयेनाग्निविद्याम्, तृतीयेनात्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेष वरस्तृतीयः' (का० १।१।२०) इति लिङ्गात्। तत्र यद्यन्यत्र धर्मादित्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत, ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणापि प्रश्नकल्पनाद्वाक्यं बाध्येत। ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं प्रश्नो भवितुमर्हति। पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः; येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तिनास्तीतिविचिकित्साभिधानात्। जीवश्च धर्मादिगोचरत्वान्नान्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति। प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते; पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषयत्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वात्। तस्मात्प्रत्यभिज्ञाना-

चाहिए कि तीन पदार्थ विषयक ही प्रश्न और उपन्यास है। ऐसा यदि कहो कि यह अपूर्व प्रश्न उठाया जाता है तो जैसे वर प्रदानसे अतिरिक्त प्रश्नकी कल्पनामें [तुमको] दोष नहीं है, वैसे ही प्रश्नके विना भी प्रधानके उपन्यासकी कल्पनामें हमें दोष नहीं है। इस पर सिद्धान्ती कहते कि यहाँ हम इस प्रकार वर प्रदानके अतिरिक्त किसी भी प्रश्नकी कल्पना नहीं करते, क्योंकि वाक्यके उपक्रमकी सामर्थ्य ही ऐसी है। वर प्रदानसे लेकर कठवल्लीकी समाप्ति पर्यन्त यमराज और नचिकेताकी संवाद रूप वाक्य प्रवृत्ति ऐसी ही लक्षित होती है। पिता द्वारा भेजे हुए नचिकेताको यमराजने तीन वर दीये। उनमेंसे प्रथम वरसे नचिकेताने पिताकी प्रसन्नता माँगी, द्वितीयसे अग्नि विद्या और तृतीयसे आत्मविद्या, क्योंकि 'येयं प्रेते' और 'वराणामेष' ऐसा श्रुति लिङ्ग है। उनमें 'अन्यत्र धर्मात्' यदि यह नवीन प्रश्न उठाया जाय तो वर प्रदानसे अतिरिक्त प्रश्नकी कल्पना होनेसे उपक्रम वाक्यका वाध हो जायगा। परन्तु [जीव और ईश्वर रूप] प्रष्टव्य पदार्थके भेद होनेसे ['अन्यत्र धर्मात्'] यह प्रश्न नवीन हो सकता है। पूर्व प्रश्न जीव विषयक है, क्योंकि 'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें मृतक मनुष्यके विषयमें देहादि संघातसे भिन्न आत्मा है अथवा नहीं है' इस प्रकारकी शंकाका अभिधान है। और जीव धर्म आदिका आश्रय होनेसे 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्नके योग्य नहीं है। प्राज्ञ तो धर्मादिसे अतीत होनेके कारण 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्नके योग्य है। [केवल प्रष्टव्य भेदसे प्रश्नका भेद नहीं है] किन्तु दोनों मन्त्रोंमें प्रश्न सादृश्य भी समान लक्षित नहीं होता, क्योंकि 'येयं प्रेते' यह पूर्व प्रश्न अस्ति तथा नास्ति (है या नहीं है) विषयक है और 'अन्यत्र धर्मात्' यह उत्तर प्रश्न धर्मादि अतीत वस्तु विषयक है। अतः पूर्वमंत्रमें प्रतिपादित वस्तुके उत्तर मंत्रमें प्रत्यभिज्ञानके अभाव होनेसे प्रश्नोंमें

सत्यानन्दी दीपिका

ॐ **पूर्वपक्षी**—जीव विषयक प्रश्नमें देहादि संघातसे भिन्न आत्मा है अथवा नहीं है, यह संशय और धर्म आदिका आश्रयत्व प्रतीत होता है और परमात्मा धर्मादिसे अतीत है, इस प्रकार प्रष्टव्यके भेदसे प्रश्नोंका परस्पर भेद है। किञ्च 'येयं प्रेते०' और 'अन्यत्र धर्माद०' इन दोनों मन्त्रोंमें प्रश्नोंके सादृश्यके अभावसे भी प्रश्नोंका भेद है। इससे पिताकी प्रसन्नता, अग्निविद्या, जीवविद्या और परमात्मविषयक विद्या इन चार प्रश्नोंकी कल्पना करनी पड़ेगी तदनुसार उत्तर भी चार होंगे, ऐसा माननेसे उपक्रम वाक्यका वाध होगा। जैसे यहाँ नवीन चतुर्थ प्रश्नकी कल्पनाकी गई है, वैसे हम भी प्रधानकी सिद्धि मानते हैं। सिद्धान्ती—'जीवप्राज्ञयोः' आदिसे समाधान करते हैं।

भावात्प्रश्नभेदः। न पूर्वस्यैवोत्तरत्रानुकर्षणमिति चेत्—न; जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमा भवेत्प्रष्टव्यभेदात्प्रश्नभेदो यद्यन्यो जीवः प्राज्ञात्स्यात्। न त्वन्यत्वमस्ति। तत्त्वमसीत्या श्रुत्यन्तरेभ्यः।। इह च 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रिय विपश्चित्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति। सति प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति। प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारीरस्य भवति परमेश्वरस्य। तथा—'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा न शोचति ॥' (का० २।४।४) इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशे मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति। प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोकवि इति वेदान्तसिद्धान्तः। * तथाऽग्रे—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमा य इह नानेव पश्यति ॥' (का० २।४।१०) इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति। तथा जीववि स्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्यानन्तरम् 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्तैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तदैनं मृत्युरभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्र विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च 'विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलु

परस्पर भेद है, ऐसा यदि कहो कि पूर्व प्रश्नकी उत्तर वाक्यमें अनुवृत्ति नहीं है, तो यह कथन नहीं है, क्योंकि जीव और प्राज्ञमें एकत्व स्वीकार किया गया है, यदि जीव प्राज्ञसे अन्य प्रष्टव्यके भेदसे प्रश्नका भेद होता, परन्तु 'तत्त्वमसि' इत्यादि अन्य श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता दोनोंमें भेद नहीं है, यहाँ भी 'अन्यत्र धर्मात्' इस प्रश्नका 'न जायते म्रियते० (विद्वान् न ज न मरता है) इस प्रकार जन्म-मरणके प्रतिषेधसे प्रतिपाद्यमान प्रतिवचन जीव और परमे अभेद दिखलाता है। जन्म-मरणका प्रसङ्ग होनेपर ही प्रतिषेध युक्त होता है। शरीरके साथ स होनेसे जीवात्मामें जन्म-मरणका प्रसङ्ग होता है परमेश्वरमें नहीं होता। उसी प्रकार 'स्वप्नान्त जा तान्तं' (जिसके द्वारा स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले तथा जाग्रत्‌में दिखाई देनेवाले दोनों प्रकारके को देखता है उस महान् और विभु आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता) इस स्वप्न और जाग्रत् पदार्थोंको देखनेवाले महत्त्व एवं विभुत्व विशिष्ट जीवके चिन्तनसे ही अत्यन्त निवृत्ति दिखलाता हुआ यमराज प्राज्ञ-परमात्मासे जीव भिन्न नहीं है ऐसा दिखलाता है वेदान्त सिद्धान्त है कि प्राज्ञके विज्ञानसे ही शोकका नाश होता है। उसी प्रकार आगे 'यदेवेह तत्त्व इस—देहेन्द्रिय संघातमें भासता है वही अन्यत्र—देहादिसे परे भी है और जो अन्यत्र है वही है। जो मनुष्य इस तत्त्वमें नानात्व-सा देखता है वह मृत्युसे मृत्युको—जन्म-मरणको प्राप्त होता इस प्रकार यह मन्त्र जीव और प्राज्ञमें भेद दृष्टिका निषेध करता है। इस प्रकार नचिकेताके विषयक अस्तित्व, नास्तित्व (है या नहीं) प्रश्नके अनन्तर 'अन्यं वरं० (हे नचिकेता! आत्म वरको छोड़कर अन्य वर मांगो) ऐसा आरम्भकर यमराज द्वारा पुत्र दारा आदि अनेक तत् तत् ओंसे अत्यन्त प्रलोभित किया गया भी नचिकेता जब अपने वरसे विचलित न हुआ तब धर्मराजने और मोक्षके विभाग-भेदके प्रदर्शनसे तथा विद्या और अविद्याके विभागके प्रदर्शनसे 'विद्याभी

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि जीव परमेश्वरसे भिन्न होता तो 'येयं प्रेते' इस प्रश्नका परमेश्वर विषयक 'तं दुर्द यह उत्तर किस प्रकार संगत होता, अतः दोनों मन्त्र एक आत्मविषयक हैं और उनमें आत्म एक ही प्रश्न है। 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (जो उस प्रत्यगभिन्न ब्रह्म तत्त्वमें सा भेद करता है उसे संसार भय प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतियोंमें भेदकी निन्दा और भेद जन्म-मरणमय संसारकी प्राप्ति कही गई है। इसलिए यहाँ जीव-ब्रह्मका अभेद ही विवक्षित है।

(का० १।२।४) इति प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशंसन्यदुवाच—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥' (का० १।२।१२) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते। यत्प्रश्ननिमित्तां च प्रशंसां महतीं मृत्योः प्रत्यपद्यत नचिकेताः, यदि तं विहाय प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात्। तस्मात् 'येयं प्रेते' इत्यस्यैव प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्मात्' इति। यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तं, तददूषणम्; तदीयस्यैव विशेषस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात्। पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वं पृष्टम्, उत्तरत्र तु तस्यैवासंसारित्वं पृच्छ्यत इति, यावद्ध्यविद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते। तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव तत्त्वमसीति श्रुत्या प्रत्याय्यते। न चाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति। यथा कश्चित्संतमसे पतितां कांचिद्रज्जुमहिं मन्यमानो भीतो वेपमानः पलायते, तं चापरो ब्रूयान्मा भैषीर्नायमही रज्जुरेवेति। स च तदुपश्रुत्याहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च। न त्वहिबुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात्। तथैवैतदपि द्रष्टव्यम्। ततश्च 'न जायते म्रियते वा' इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम्। ❀ सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम्।

(मैं तुझ नचिकेताको विद्याभिलाषी मानता हूँ; क्योंकि तुझे बहुतसे भोगोंने भी नहीं लुभाया) इस प्रकार नचिकेताकी प्रशंसा कर उसके प्रश्नकी भी प्रशंसा करते हुए 'तं दुर्दर्शं० (उस कठिनतासे दीख पड़नेवाले, गूढ़ स्थानमें अनुप्रविष्ट, गुहा-बुद्धिमें स्थित, गह्वर-अनेक अनर्थोंसे व्याप्त देहमें स्थित, पुरातन देवको अध्यात्मयोगकी प्राप्ति द्वारा जानकर धी-बुद्धिमान् पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है) ऐसा कहा है। इससे भी ऐसा ज्ञात होता है कि जीव और प्राज्ञ-परमात्माका अभेद ही यहाँ विवक्षित है। जिस प्रश्नके कारण मृत्युने नचिकेताकी महती प्रशंसाकी यदि नचिकेता उसको छोड़कर प्रशंसाके अनन्तर अन्य ही प्रश्नको उठाता तो वह सब प्रशंसा अनुपयुक्त स्थानमें ही प्रसारित होगी अर्थात् अनुपयुक्त स्थानमें की जानेके कारण व्यर्थ हो जायगी, इसलिए 'येयं प्रेते' इस प्रश्नकी ही 'अन्यत्र धर्मात्' इस मन्त्रमें अनुवृत्ति है। जो यह कहा गया है कि दोनों प्रश्नोंमें सादृश्य न होनेके कारण वैलक्षण्य है, वह दोष नहीं है, क्योंकि उसीका विशेष पुनः पूछा गया है। पूर्ववाक्य 'येयं प्रेते' में देहादिसे अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व ही पूछा गया है और उत्तर मन्त्र (अन्यत्र धर्मात्) में तो उसीका असंसारित्व पूछा जाता है, इसलिए जब तक अविद्या निवृत्त नहीं होती तब तक जीवमें धर्मादि आश्रयत्व और जीवत्व निवृत्त नहीं होते। उसकी निवृत्ति होने पर तो वह प्राज्ञ ही है, ऐसी 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिसे प्रतीति कराई जाती है। अविद्याके योगसे अथवा अविद्याके निवृत्त होनेसे वस्तुमें कुछ भी विशेष नहीं आता। जैसे अन्धकारमें पड़ी किसी रज्जुमें सर्प समझकर कोई पुरुष भयसे काँपता हुआ वहाँसे भागता है। उससे यदि कोई अन्य विज्ञ पुरुष कहे कि भय मत करो यह सर्प नहीं है किन्तु रज्जु है, तब वह पुरुष उसका वचन सुनकर सर्पज्ञान जन्य भय, काँपना और पलायन त्याग देता है। परन्तु सर्प बुद्धि कालमें अथवा उसकी निवृत्तिकालमें वस्तुमें कोई विशेषता नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त जीव ब्रह्मके अभेद होनेसे 'न जायते म्रियते वा' इत्यादि भी अस्तित्व प्रश्नका प्रतिवचन है। [जीव ब्रह्म एक होनेपर भी] अविद्यासे कल्पित जीव

सत्यानन्दी दीपिका

* जीव ब्रह्मका अभेद होनेसे ब्रह्मविषयक प्रश्नका तृतीय वरमें अन्तर्भाव है। प्रधानकी कल्पनामें तो कोई भी वर प्रदानादि नहीं है, और प्रधान अनात्मा है, अतः उसका आत्मविषयक तृतीय वरमें अंतर्भाव भी सम्भव नहीं है, यही प्रधानमें विषमता है। इससे प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य नहीं है ॥६॥

एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायणावस्थायां देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्रविचि त्कर्तृत्वादिसंसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते । उत्तर धर्माद्यत्ययसंकीर्तनात्प्राज्ञविषयत्वमिति । ततश्च युक्ताऽग्निजीवपरमात्मकल्पना । प्रधान नायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥६॥

महद्वच्च ॥७॥

पदच्छेद—महद्वत्, च ।

सूत्रार्थ—'बुद्धेरात्मा महान् परः' इसमें पठित "महत्" शब्द जैसे सांख्याभिमत वाचक नहीं है, वैसे वैदिक अव्यक्त शब्द भी प्रधानका वाचक नहीं है ।

❁ यथा महच्छब्दः सांख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिके प्रयोगेऽभिधत्ते । 'बुद्धेरात्मा महान्परः' (का० १।३।१०), 'महान्तं विभुमात्मानम्' (१।२।२२), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३।८) इत्येवमादावात्मशब्दप्रयोगादि हेतुभ्यः । तथाऽव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति । अतश्च नास्ति मानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥७॥

(२ चमसाधिकरण सू० ८-१०)

चमसवदविशेषात् ॥८॥

पदच्छेद—चमसवत्, अविशेषात् ।

सूत्रार्थ—(चमसवत्) 'अर्वाग्बिलश्चमसः' चमस (यज्ञपात्र) के समान (अविशे अविशेष होनेसे श्रुतिपठित अजा शब्द भी प्रधानका वाचक नहीं है अर्थात् जैसे अर्वाग्बिलत्व धर्म हेनेसे चमसका वाचक नहीं है, वैसे अजात्व धर्म भी सामान्य होनेसे प्रधानका वाचक नहीं

❁ पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धमित्याह । कस्मात् ? मन्त्रवर्णा 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जह

ब्रह्मके भेदकी अपेक्षा सूत्रकी योजना करनी चाहिए । यद्यपि आत्मविषयक प्रश्न एक ही है तो भी वस्थामें देहसे भिन्न आत्मामें अस्तित्वमात्रका संशय होने तथा कर्तृत्वादि संसार स्वभावका निरा होनेसे पूर्व पर्याय (प्रश्न) में जीव विषयक उत्प्रेक्षाकी जाती है । उत्तर पर्यायमें तो धर्मादिके र प्रतिपादन होनेसे वह प्राज्ञविषयक है । इसलिए अग्नि, जीव और परमात्माकी कल्पना युक्त है । प्र कल्पनामें तो न वर प्रदान है, न प्रश्न है और न प्रतिवचन है, इस प्रकारकी यहाँ विषमता है

जैसे सांख्याचार्यों द्वारा सत्तामात्र, प्रथमोत्पन्न महत्तत्व अर्थमें प्रयुक्त महत् शब्द 'बुद्धे (बुद्धिसे महान् आत्मा श्रेष्ठ है) 'महान्तम्० (महान् विभु आत्माको) 'वेदाहमेतं० (मैं इस पुरुषको जानता हूँ) इत्यादिमें आत्मशब्द प्रयोग आदि हेतुओंसे वैदिक प्रयोगमें उसी अभिधान नहीं करता उसी प्रकार अव्यक्त शब्द भी वैदिक प्रयोगमें प्रधानका अभिधान न सकता, इसलिए अनुमानगम्य प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है ॥७॥

प्रधानवादी फिर भी कहता है कि प्रधानको अशब्द-श्रुतिसे अप्रतिपादित कहना क्योंकि 'अजामेकां० (अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करनेवाली, लोहित, शुक्ल, कृष्ण एक अजा (बकरी-प्रकृति) को एक अज (बकरा-जीव) सेवन करता हुआ भोगता है और

सत्यानन्दी दीपिका

* 'श्रौतः अव्यक्तशब्दो न सांख्यासाधारणतत्त्वगोचरः वैदिकशब्दत्वात् महच्छब्दवत्' । अव्यक्त शब्द सांख्यके असाधारण प्रधान तत्त्वका प्रतिपादन नहीं करता है, क्योंकि वैदिक है, जैसे महत् शब्द ।' इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है ॥७॥

भुक्तभोगामजोऽन्यः' (श्वे० ४।५) इति। अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधीयन्ते। लोहितं रजः; रञ्जनात्मकत्वात्। शुक्लं सत्त्वं; प्रकाशात्मकत्वात्। कृष्णं तमः; आवरणात्मकत्वात्। तेषां साम्यावस्थाऽवयवधर्मैर्व्यपदिश्यते लोहितशुक्लकृष्णेति। न जायत इति चाजा स्यात्; 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यभ्युपगमात्। नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः। बाढम्, सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या; विद्याप्रकरणात्। सा च बह्वीः प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति। तां प्रकृतिमज एकः पुरुषो जुषमाणः प्रीयमाणः सेवमानो वाऽनुशेते। तामेवाविद्ययाऽऽत्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकतया संसरति। अन्यः पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येनां प्रकृतिं भुक्तभोगां कृतभोगापवर्गां परित्यजति। मुच्यत इत्यर्थः। तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम्। न ह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते; सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादिसंपादनोपपत्तेः सांख्यवाद एवेहाभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात्। चमसवत्। यथा हि 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' (बृ० २।२।३) इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणायं नामासौ

अज उस भुक्त भोगाको त्याग देता है) ऐसा मन्त्र है। इसी मंत्रमें लोहित, शुक्ल, और कृष्णशब्दोंसे रज, सत्त्व और तमका अभिधान होता है। लोहित, रागात्मक होनेसे रज, शुक्ल प्रकाशात्मक होनेसे सत्त्व और कृष्ण आवरकात्मक होनेसे तम है। उनके अवयव धर्मोंसे लोहित, शुक्ल, कृष्णरूप साम्यावस्था कही जाती है। 'न जायत इति अजा' 'जो उत्पन्न नहीं होती वह अजा है' क्योंकि 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (मूलप्रकृति किसीका कार्य नहीं होती) ऐसा सांख्य लोग स्वीकार करते हैं। परन्तु अजाशब्द तो बकरीमें रूढ है ? यह सत्य है, परन्तु यहाँ उस रूढिका आश्रय-ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह विद्याका प्रकरण है। वह अजा अपने अनुरूप त्रिगुणान्वित-सुख दुःख मोहात्मक देव मनुष्य पशु आदि बहुत प्रजाओंको जन्म देती है। एक अज-पुरुष उस प्रकृति पर प्रेम रखता हुआ और उसका सेवन करता हुआ उसके पास शयन करता है अर्थात् अविद्यासे उसीको आत्मरूपसे मानकर 'मैं सुखी' दुःखी एवं मूढ हूँ, इस प्रकार अविवेकसे जन्म-मरणको प्राप्त होता है। परन्तु उत्पन्न हुए विवेक ज्ञानवाला अन्य अज-विरक्त पुरुष जिसने भोग और अपवर्ग सम्पादनकर लिया है, ऐसी भुक्त भोगा प्रकृतिका परित्याग करता है उससे मुक्त हो जाता है, ऐसा अर्थ है। इसलिए कपिलमतानुयायियोंकी प्रधानादि कल्पना श्रुतिमूलक ही है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अजामेकां' इस मन्त्रसे सांख्यवाद श्रुति-प्रतिपादित है ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्ररूपसे किसी भी वादका समर्थन करनमें उत्साह नहीं करता। सभी वादोमें जिस किसी कल्पनासे अजात्वादिका सम्पादन उपपन्न होता है। सांख्यवाद ही यहाँ अभिप्रेत है ऐसा विशेषका निश्चायक कोई कारण-प्रमाण नहीं है। चमसके समान। जैसे 'अर्वाग्बिलश्चमस' (जो नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ चमस है) इस मन्त्रमें स्वतन्त्ररूपसे यह चमस नामक यज्ञ पात्र

सत्यानन्दी दीपिका

* सिद्धान्तमें पूर्व अव्यक्त शब्दसे स्थूल शरीरका ग्रहण किया गया है अब लोहित आदि धर्मवाचक पदोंसे तेज, जल और अन्न (पृथिवी) रूप धर्मोंको भगवान् सूत्रकार दिखलाते हैं। इस अधिकरणका 'अजा' पद विषय है। विद्याके प्रकरणमें रूढि अर्थका सम्भव न होनेसे यौगिक 'अजा' पद प्रधान परक है अथवा मायापरक है ? ऐसा संशय होनेपर पूर्वाधिकरणमें केवल अव्यक्त शब्दसे प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा न होनेपर भी यहाँ तो त्रिगुणत्व आदि लिङ्गोंसे युक्त प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा होनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे 'पुनरपि' इत्यादिसे पूर्व पक्षको उपस्थित करते हैं ॥८॥

चमसोऽभिप्रेत इति न शक्यते निरूपयितुम् । सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्बिलत्वादि पपत्तेः । एवमिहाप्यविशेषः 'अजामेकाम्' इत्यस्य मन्त्रस्य । नास्मिन्मन्त्रे प्रधानमेवाज प्रेतेति शक्यते नियन्तुम ॥८॥

तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्चमसवि पत्तिर्भवति । इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति ? अत्र ब्रूम—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥

पदच्छेद—ज्योतिरुपक्रमा, तु, तथा, हि, अधीयते, एके ।

सूत्रार्थ—(ज्योतिरुपक्रमा) तेज जिसके उपक्रम-आरम्भमें है उसी तेज, जल और प्रकृतिका ही अजाशब्दसे निश्चय करना चाहिए, प्रधानका नहीं, (हि) क्योंकि (तथा) (एके) छान्दोग तेज, जल और अन्नरूप प्रकृतिका रोहित आदि रूप (अधीयते) कहते हैं। शब्द अवधारणार्थक है ।

✻ परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य भूतेयमजा प्रतिपत्तव्या । तुशब्दोऽवधारणार्थः भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न गु लक्षणा । कस्मात् ? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय रोहितादिरूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस तान्येवेह तेजोबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते रोहितादिशब्दसामान्यात् । रोहितादीनां च रूपविशेषेषु मुख्यत्वाद्भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य । असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं

अभिप्रेत है ऐसा निरूपण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सर्वत्र हि किसी न किसी प्रकार लत्वकी कल्पना हो सकती है; वैसे यहाँ भी 'अजामेकां' इस मन्त्रमें कोई विशेष अर्थ प्रतिपा है, इसलिए इस मन्त्रमें अजाशब्दसे प्रधान ही अभिप्रेत है, ऐसा नियमन नहीं किया जा सक

परन्तु उसमें तो 'इदं तच्छिर० (वह यह सिर है जो कि अधोमुख और ऊपरकी हुआ गोलाकार है) इस प्रकार वाक्यशेषसे चमस विशेषकी प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ अ किसको समझना चाहिए, इसपर हम कहते हैं—

जो परमेश्वरसे उत्पन्न हुई है, तेज प्रमुख-तेज, जल एवं अन्नरूप है, जरायुज, अण्डज, उद्भिजरूप चार प्रकारके भूत समूहकी कारण रूप है वह यहाँ अजापदसे समझना चाहिए। 'तु' शब्द अवधारण (निश्चय) अर्थमें प्रयुक्त है । यह अजा तेज, जल, अन्न भूत त्रयात्मक चाहिए न कि गुण त्रयात्मक-प्रधान, क्योंकि उसी प्रकार छन्दोग शाखावाले तेज, जल और परमेश्वरसे उत्पत्ति कहकर 'यदग्नेरोहितं रूपं० (जो अग्निमें रोहित-रक्त रूप है वह तेजका शुक्लरूप है वह जलका है, जो कृष्ण रूप है वह अन्न-पृथिवीका है) इस प्रकार उन तीनोंके आदि रूप कहते हैं । इस अजामन्त्रमें उन तेज, जल, और अन्नकी ही लोहित, शुक्ल और कृ प्रत्यभिज्ञा होती है, क्योंकि रोहित आदिशब्द दोनों मन्त्रोंमें समान हैं। रोहितादि शब्द रूप मुख्य हैं और गुण विषयमें गौण हैं अर्थात् रोहित आदि शब्दोंका मुख्य अर्थ तो तेज आदि

सत्यानन्दी दीपिका

✻ जैसे 'अजामेकां०' इस मंत्रमें अजा सम्पूर्ण कार्यकी प्रकृति कही गई है, वैसे छान्दोग्य प्रतिपादित तेज, जल और अन्न भी सम्पूर्ण कार्यके कारण कहे गये हैं, क्योंकि दोनों मन्त्रोंमें आदि शब्द समानरूपसे पाये जाते हैं, रोहित एवं लोहितका एक ही अर्थ है । छान्दोग्य श्रुति है, अतः उससे 'अजामेकां' इस संदिग्ध वाक्यार्थका निर्णय करना न्याय संगत है, इसलिए अ भूत त्रयात्मक तेज, जल एवं अन्नका ही ग्रहण करना चाहिए, सांख्य अभिमत प्रधानका नहीं।

मन्यन्ते । * तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति । किं कारणं ब्रह्म' (श्वे० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वे० १।३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात् । वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (श्वे० ४।१०,११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित्प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम् । प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागवस्थानेनापि मन्त्रेणाम्नायत इत्युच्यते । तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम् ॥९॥

कथं पुनस्तेजोबन्नात्मना त्रैरूप्येण त्रिरूपाऽजा प्रतिपत्तुं शक्यते ? यावता न तावत्तेजोबन्नेष्वजाकृतिरस्ति । न च तेजोबन्नानां जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजाशब्दः संभवतीति । अत उत्तरं पठति—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१०॥

पदच्छेद—कल्पनोपदेशात्, च, मध्वादिवत्, अविरोधः ।

सूत्रार्थ—(कल्पनोपदेशाच्च) तेज, जल और अन्न रूप प्रकृतिमें सादृश्य सूचित करनेके लिए कल्पनासे अजात्वका उपदेश किया गया है, (मध्वादिवत्) जैसे मधु भिन्न आदित्यमें मधुत्वका उपदेश है, वैसे अजा भिन्न प्रकृतिमें अजात्वका उपदेश होनेसे (अविरोधः) विरोध नहीं है, अतः प्रधान श्रुति-प्रतिपादित नहीं है ।

विशेष है सत्त्व आदिगुण तो गौण अर्थ है, और असंदिग्ध वाक्यसे संदिग्ध वाक्यार्थका निगमन-निर्णय करना न्याय्य संगत मानते हैं । उसी प्रकार यहाँ भी 'ब्रह्मवादिनो० (ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं—जगत्का कारणभूत ब्रह्म कैसा है ?) ऐसा उपक्रमकर 'ते ध्यानयोगानुगता० (उन ऋषियोंने ध्यान योगका अनुवर्तनकर अपने गुणोंसे अत्यन्त छिपी हुई देवात्मशक्तिका साक्षात्कार किया) इस प्रकार वाक्यके उपक्रममें सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करनेवाली परमेश्वरकी शक्ति अवगत होती है । वाक्यशेषमें भी 'मायां तु० (प्रकृतिको तो माया जानो और महेश्वरको मायावी) और 'यो योनि० (जो परमात्मा अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता है) इस प्रकार उसी शक्तिकी अवगति होनेसे प्रधान नामकी कोई स्वतन्त्र प्रकृति अजामन्त्रसे कही जाती है ऐसा नहीं कहा जा सकता । ऐसा कहा जाता है कि प्रकरणसे तो वही दैवी शक्ति अव्याकृत नामरूपवाली, नाम और रूपकी पूर्वावस्था इस मन्त्रसे भी कही जाती है, स्वविकार विषय (आश्रय) से उसको भी त्रैरूप्य कहा गया है ॥९॥

[रूढिको लेकर यहाँ शंका है] जब तेज, जल और अन्नमें अजाकी जाति नहीं है तो तेज, जल एवं अन्न त्रैरूप होनेसे अजा त्रिरूप किस प्रकार समझी जा सकती है । ['न जायत इति अजा' इस यौगिकको लेकर कहते हैं] तेज, जल और अन्नकी उत्पत्तिके श्रवण होनेसे उनमें जन्माभाव निमित्तक अजाशब्दका प्रयोग संभव नहीं है । इसलिए उत्तर सूत्र कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

* ब्रह्मवादियोंने विचार किया कि शुद्ध ब्रह्मसे इस विचित्र नामरूपात्मक जगत्की उत्पत्ति तो असम्भव है, क्योंकि वह निर्विकार है । किञ्च ब्रह्मसे भिन्न केवल जड़से भी जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जड़में कार्य विषयक ज्ञान आदि नहीं होते, अतः माया रूप सहायक कारण सहित ब्रह्म जगत्का कारण है । अनभिव्यक्त नाम-रूप होनेके कारण मायाको अव्याकृत कहा गया है । माया एक होनेपर भी उसकी अविद्यारूप शक्तियाँ अनन्त हैं, वही उपाधि है । इस अविद्यारूप उपाधिसे ब्रह्म ही जीव कहलाता है, वस्तुतः जीव ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है । मायाके विकार तेज, जल और अन्न (पृथिवी) ये क्रमसे रक्त, शुक्ल और कृष्णरूप हैं, इस प्रकार कार्यकी अपेक्षा माया भी

नायमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः । नापि यौगिकः । किं तर्हि ? कल्पनोपदेशो अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोबन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते । यथा हि लोके य काचिदजा लोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तां च कश्चिदजो जुषमा नुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा सरूपं चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते, विदु परित्यज्यत इति । *न चेदमाशङ्कितव्यम्—एकः क्षेत्रज्ञोऽनुशेतेऽन्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञ पारमार्थिकः परेषामिष्टः प्राप्नोतीति । न हीयं क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिदादयिषा, किंतु बन्धमो वस्थाप्रतिपिपादयिषा त्वेषा । प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते । भेदस्त निमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः;'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्त इत्यादिश्रुतिभ्यः । मध्वादिवत्, यथा 'आदित्यस्यामधुनो मधुत्वम्' (छा० ३।१) 'वाचश्चाधेनोर्धे (बृ० ५।८), 'द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम् (बृ० ८।२।६) इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एव मनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः । तस्मादविरोधस्तेजोबन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ॥१०

[अजामेकां] यह अजाशब्द जातिनिमित्तक रूढि नहीं है और यौगिक भी नहीं है, कि काल्पनिक उपदेश है। चराचर जगत्के कारण भूत तेज, जल और अन्नरूप प्रकृतिमें अजा कल्पनाका उपदेश है। जैसे लोकमें दैववश रक्त, शुक्ल, कृष्ण वर्ण कोई एक ऐसी अजा-बकरी समानरूपवाले बहुतसे बकरे हों, उसपर कोई एक अज-बकरा प्रेम करता हुआ उसके पीछे-पीछे फि कोई एक अज भोग भोगनेके अनन्तर उसे त्याग दे, वैसे ही यह तेज, जल और अन्नरूप त्रि भूत प्रकृति भी समान रूपवाले चराचरात्मक विकार समूहको उत्पन्न करती है। अविद्वान् इसका उपभोग करता है और विद्वान् इसका परित्याग करता है। किञ्च यह आशंका यहाँ नहीं चाहिए कि एक क्षेत्रज्ञ सेवन करता हुआ इसके पास शयन करता है और दूसरा इसका प करता है, इससे पारमार्थिक क्षेत्रज्ञ भेद जो पर—सांख्यको इष्ट है, वह प्राप्त होता है, क्यों क्षेत्रज्ञके भेदका प्रतिपादन करनेकी इच्छा नहीं है किन्तु बन्ध-मोक्ष व्यवस्थाका प्रतिपादन इच्छा है। लोक प्रसिद्ध भेदका अनुवादकर बन्ध-मोक्ष व्यवस्थाका प्रतिपादन किया जाता है तो उपाधिनिमित्तक और मिथ्याज्ञानसे कल्पित है, पारमार्थिक नहीं है। क्योंकि 'एको देवः' (ए सम्पूर्ण भूतोंमें गूढ, सबमें व्यापक और सब भूतोंका अन्तरात्मा है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। मधु समान, अर्थात् जैसे मधुसे भिन्न आदित्यको मधु कहा गया है, धेनुसे भिन्न वाणीमें धेनुशब्दका किया गया है, और अनग्नि द्युआदि लोकोंमें अग्नि शब्दका प्रयोग किया गया है, इस प्रकारकी की जाती है, वैसे ही यहाँ भी अनजा-अजासे भिन्नमें यह अजात्वकी कल्पनाकी गई है, ऐसा अ इसलिए तेज, जल और अन्नमें अजाशब्दके प्रयोगका विरोध नहीं है ॥१०॥

सत्यानन्दी दीपिका

रक्त, शुक्ल एवं कृष्णरूप कही जाती है। इसलिए 'अजामेकां' इस मन्त्रसे अव्याकृत माया करना युक्त है, प्रधानका नहीं ॥९॥

* पूर्वपक्षी—'न जायत इति अजा' यह यौगिक अर्थ मुख्य है, अतः इससे प्रधानका करना युक्त है ? सिद्धान्ती—रूढार्थकी अपेक्षा न करनेवाले यौगिक अर्थसे रूढार्थमें आश्रित लेकर की हुई लक्षणा अधिक बलवती होती है, यह नियम है, क्योंकि गुणोंके आधारपर है, इसलिए जैसे मधु आदि शब्दोंसे प्रसिद्ध मधु आदिके आश्रित गुण वृत्ति रूप लक्षणासे आदिका ग्रहण होता है, वैसे रोहित आदि गुण वाचक शब्दोंके साथ अजाशब्दके सहो समर्थित तथा रूढिमें आश्रित गुणवृत्तिरूप लक्षणासे यौगिक अर्थ प्रधानका बाधकर तेज,

(३ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् सू० ११-१३)

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

पदच्छेद—न संख्योपसंग्रहात्, अपि, नानाभावात्, अतिरेकात्, च।

सूत्रार्थ—(संख्योपसंग्रहादपि) 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्चप्रतिष्ठितः' इस मन्त्रमें श्रूयमाण संख्या वाचक पदसे पच्चीस संख्याका ग्रहण करनेपर भी (न) प्रधान श्रुति-प्रतिपादित नहीं है, (नानाभावात्) क्योंकि नाना भाव है (अतिरेकाच्च) आत्मा और आकाश अतिरिक्त कहे गए हैं, इससे सप्तविंशति तत्त्व मानने पड़ेंगे। इससे तो अपसिद्धान्त होगा, अतः प्रधान आदि तत्त्वोंका ग्रहण युक्त नहीं है।

❀ एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते। 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' (बृ० ४।४।१७) इति। अस्मिन्मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चसंख्याविषयाऽपरा पञ्चसंख्या श्रूयते; पञ्चशब्दद्वयदर्शनात्। त एते पञ्चपञ्चकाः पञ्चविंशतिः संपद्यन्ते। तथा पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्ष्यन्ते तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्यैः संख्यायन्ते—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सांख्यका० ३) इति। तया श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम्। ❀ ततो ब्रूमः—न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां

इस प्रकार अजा मन्त्रमें सांख्याभिमत प्रधानादिका परिहार होनेपर भी अन्य मन्त्रके आधार पर सांख्य पुनः पूर्वपक्ष करता है—'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना०' (जिसमें पाँच पञ्चजन और [अव्याकृत संज्ञक] आकाश भी प्रतिष्ठित है, उस आत्माको ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ) इस मन्त्रमें 'पञ्च पञ्चजना' इस प्रकार पाँच संख्या विषयक दूसरी पाँच संख्याका श्रवण है, क्योंकि दो वार पञ्चशब्द देखनेमें आता है, वे ये पंच पंचक मिलकर पच्चीस होते हैं। एवं पच्चीस संख्यासे जितने सांख्यवालोंकी आकांक्षा होती है उतने ही तत्त्व सांख्योंने गिने हैं—'मूलप्रकृति०' (मूल प्रकृति अविकृति है अर्थात् किसीकी विकृति नहीं है, महदादि सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं, सोलह तत्त्व विकार ही हैं, पुरुष न प्रकृति है और न विकृति ही) श्रुति प्रसिद्ध उस पच्चीस संख्यासे उन स्मृति प्रसिद्ध पच्चीस तत्त्वोंका उपसंग्रह होनेसे प्रधान आदि श्रुति-प्रतिपादित हैं, ऐसा पुनः प्राप्त हुआ। सिद्धान्ती—इस विषयमें हम कहते हैं—संख्याके संग्रहसे भी प्रधानादि श्रुति-प्रतिपादित हैं

सत्यानन्दी दीपिका

अन्न रूप अवान्तर प्रकृतिका अजाशब्दसे ग्रहण करना चाहिए। अतः यह सिद्ध हुआ कि अजा भिन्न तेज, जल और अन्नमें अजा शब्द विरुद्ध नहीं है और प्रधान अजाशब्दसे गृहीत न होनेसे श्रुति-प्रतिपादित नहीं है। वाक्योंके समन्वयकी असिद्धि पूर्वपक्षमें फल है और सिद्धांतमें उसकी सिद्धि फल है ॥१०॥

* 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें पठित पञ्चजनशब्द यौगिक है अथवा रूढ, यह निश्चय न होनेसे सांख्य तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है अथवा अन्य पदार्थका, ऐसा संशय उत्पन्न होता है। जैसे तत्त्वविद्याके प्रकरणमें प्रसिद्ध बकरी रूप अर्थमें तात्पर्य न होनेसे अजामन्त्रगत अजापदसे रूढि अर्थका त्यागकर तेज आदिका ग्रहण किया गया है, वैसे ही 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें पंचजन शब्दमे मनुष्योंमें तात्पर्यके अभाव होनेसे रूढिका त्यागकर सांख्याभिमत पच्चीस तत्त्वोंका ग्रहण करना चाहिए, इस प्रकार दृष्टान्त संगतिसे मन्त्रको उद्धृतकर 'एवम्' इत्यादिसे पूर्वपक्ष करते हैं। इस प्रकार मूल प्रकृति, महत् आदि सात, एकादश इन्द्रियाँ, पाँच स्थूल भूत और पुरुष सांख्य शास्त्रमें २५ तत्त्व गिने जाते हैं। इसलिए प्रधान आदि श्रुति प्रतिपादित हैं।

श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या । कस्मात् ? नानाभावात् । नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्त नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्च निविशेरन् । न ह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वादिकाः संख्या निविशन्ते । अथो पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः

ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नानाभाव है अर्थात् ये पचीस तत्त्व नाना-पृथक् ही हैं, प्रत्येक पञ्चकका साधारण धर्म नहीं है, जिससे कि पचीस संख्याके बीचमें दूसरी पाँच-पाँच अन्तर्भूत हों, क्योंकि किसी एक अनुगत धर्मके विना पृथक् भूत पदार्थोंमें द्वित्व आदि संख्या नहीं होती । यदि कहो कि जैसे 'पञ्च सप्त च वर्षाणि० (पाँच और सात वर्ष अर्थात् बारह वर्ष

सत्यानन्दी दीपिका

* 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें पचीस संख्याके ग्रहण करनेसे भी प्रधान आदि प्रतिपादित नहीं है, क्योंकि पुरुष, प्रधान, महत् आदि भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, इनमें अनुगत और धर्म नहीं है, अतः भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें द्वित्व संख्या पञ्च-पञ्च दो वार संख्याका प्रवेश भी नहीं अर्थात् इतर पञ्चकमें न रहनेवाले पाँच पाँच तत्त्वोंमें अनुगत साधारण धर्मका अभाव ही यहाँ भाव विवक्षित है । यद्यपि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंमें ज्ञान कारणत्व, पाँच कर्मेन्द्रियोंमें कर्म कारणत्व पाँच तन्मात्राओंमें स्थूल प्रकृतित्व है, तोभि 'यस्मिन्' इस प्रकार आत्मा और आकाशके पृथक् कारण सत्त्व, रज, तम, महत् और अहंकार इन पाँचोंका एक समूह, मन और चार भूतोंको इन पाँचोंका एक और समूह, इन दोनों पँचकोंमें प्रत्येकमें अनुवृत्त इतर पँचकोंसे व्यावृत्त धर्म क्योंकि 'पञ्चजन' एक समस्त पद है । 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें पञ्चजन शब्द समस्त क्योंकि संहितामें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेदसे स्वर तीन होते हैं । ब्राह्मणमें उदात्त अनुदात्त दो ही स्वर होते हैं । यह नियम ऐत्तरेय ब्राह्मण, सामवेद ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद ब्राह्मणमें माना जाता है । इसलिए इस मन्त्रमें प्रथम पञ्चशब्द आद्युदात्त है, द्वितीय सर्वानुदात्त है और जनशब्द अन्तोदात्त है, द्वितीय पञ्चशब्द और जनशब्दमें समासके विना आकार उदात्त और उसके पूर्व वर्ण अनुदात्त नहीं हो सकते । 'समासस्य' (पा० सू० ६।१। इस सूत्रसे समासका अन्त उदात्त होता है और 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा० सू० ६।१।१५ सूत्रसे जिस पदमें जिस वर्णके स्थानमें उदात्त अथवा स्वरितका विधान है, उस एक वर्णको उस पदके शेष सब स्वर उदात्त होते हैं, ऐसा विधान है, इसलिए मन्त्रमें अन्त्य स्वर उदात्त एक पदत्वका निश्चय होता है । 'छन्दोगा बह्वृचाश्चैव तथा वाजसनेयिन, ऊचनीचस्वरं वैभाषिक उच्यते ।' 'सामवेद, ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद इनके ब्राह्मण ग्रन्थोंमें उदात्त और अनुदात्त भाषिक स्वर कहते हैं' उसमें 'स्वरितोऽनुदात्तो वा' इस सूत्रसे जो मंत्र दशामें स्वरित अथवा रहता है, वह ब्राह्मण दशामें उदात्त होता है, ऐसा अपवाद स्वीकार किया है, इसलिए आकारसे पूर्वस्थित अनुदात्त स्वरोंको ब्राह्मण दशामें उदात्तत्व प्राप्त हुआ, 'उदात्तमनुदात्तस्य इस सूत्रसे मन्त्र दशामें अन्त्य भिन्न एवं अग्रिम पदसे मिलकर उच्चार्यमाण उदात्तस्वरमें अनुदा विधान है । इसलिए यहाँ नकारोत्तरवर्त्ती आकार अग्रिम 'आकाशश्च' पदके साथ मिलकर अनुदात्त होता है, यह मन्त्रानुदात्त स्वर भाषिक है । इससे एक पदत्वका निश्चय होता है। पञ्चजनाः' इसमें अन्तोदात्त मान्त्रिक स्वर है, और 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इसमें अन्तानुदात्त है, दोनों प्रकारसे पदके एक होनेके कारण समास सिद्ध होता है । पूर्वपक्षमें पञ्चजन शब्द सिद्धान्तमें एक समस्त पद है, क्योंकि इसमें एक स्वर और एक विभक्तिका भी नियम है। अतः ग्रहण मन्त्रमें 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि' (हे आज्य ! पाँच देवताओंके

द्वादशवार्षिकीमनावृष्टिं कथयन्ति, तद्वदिति। तदपि नोपपद्यते; अयमेवास्मिन्पक्षे दोषो यल्लक्षणाश्रयणीया स्यात्। परश्चात्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना इति; पारिभाषिकेण स्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्। प्रयोगान्तरे च 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १।६।२।२) इत्येकपद्यैकस्वर्यैकविभक्तिकत्वावगमात्। * समस्तत्वाच्च न वीप्सा 'पञ्च पञ्च' इति। न च पञ्चकद्वयग्रहणं पञ्च पञ्चेति। नच पञ्चसंख्याया एकस्याः पञ्चसंख्यया परया विशेषणं पञ्च पञ्चका इति; उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्। नन्वापन्नपञ्चसंख्याका जना एव पुनः पञ्चसंख्यया विशेष्यमाणाः पञ्चविंशतिः प्रत्येष्यन्ते। यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति पञ्चविंशतिपूलाः प्रतीयन्ते, तद्वत्। नेति ब्रूमः; युक्तं यत्पञ्चपूलीशब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्कतीति सत्यां भेदाकाङ्क्षायां पञ्च पञ्चपूल्य इति विशेषणम्, इह तु पञ्चजना इत्यादित एव भेदोपादानात्कतीत्यसत्यां भेदाकाङ्क्षायां न पञ्च पञ्चजना इति विशेषणं भवेत्। भवदपीदं विशेषणं

वृष्टि नहींकी) यहाँ बारह वर्षकी अनावृष्टि कहते हैं, वैसे [पञ्च पञ्च] इस अवान्तर अवयव संख्या द्वारा पचीस संख्या ही लक्षित होती है, यह कथन भी युक्त नहीं है। इस पक्षमें यही दोष है कि लक्षणा ग्रहण करनी पड़ती है। और यहाँ अन्य पञ्चशब्द जनशब्दके साथ समस्त होकर पञ्चजन हुआ है, कारण कि भाषिक स्वरसे एकपदत्व निश्चय होता है। एवं 'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्' (तुझे पञ्च-पञ्च जनके) इस अन्य प्रयोगमें एक पद, एक स्वर और एक विभक्ति प्रतीत होती है। समस्त पद होनेसे पञ्च पञ्च ऐसी वीप्सा (दो वार कथन) भी नहीं है और इससे 'पञ्च पञ्च' इस प्रकार दो पञ्चकोंका भी ग्रहण नहीं है। किञ्च 'पञ्च पञ्चकाः' (पाँच पँचक) इस प्रकार एक पाँच संख्या दूसरी पाँच संख्याके साथ विशेषण–अन्वय नहीं होता, क्योंकि (एक) विशेषणका अन्य विशेषणके साथ सम्बन्ध (अन्वय) नहीं होता, परन्तु पाँच संख्याको प्राप्त हुए जन ही फिर पाँच संख्यासे विशेष्यमाण होकर पचीस प्रतीत होंगे। जैसे कि 'पञ्च पञ्चपूल्यः' (पाँच पूली पञ्चक) यहाँ पचीस पूली प्रतीत होती हैं। इसके समान प्रकरणमें भी समझना चाहिए। हम कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि पञ्चपूली शब्दमें समाहार अभिप्रेत होनेसे कितनी पञ्चपूली हैं इस प्रकार भेदकी आकांक्षा होने पर 'पञ्च पञ्चपूल्यः' (पाँच पूली पँचक) इस तरह पाँच पूलीका विशेण पुनः पाँच युक्त है। परन्तु यहाँ तो 'पञ्चजनाः' (पाँच जन) ऐसा आरम्भसे ही भेद (विशेषण) का ग्रहण है, अतः 'कितने' इस प्रकार भेदकी आकांक्षा न होनेपर 'पञ्च पञ्चजनाः' (पाँच पँचजन) इस तरह पञ्चजनका पञ्च (संख्या) विशेषण नहीं हो सकता। यदि विशेषण हो तो भी केवल पाँच संख्याका

सत्यानन्दी दीपिका

यन्त्ररूपसे अवस्थित, ऐहिक और पारलौकिक भोग धारण करनेमें समर्थ अपने शरीरकी रक्षाके लिए तुझे ग्रहण करता हूँ) यह यजमानकी उक्ति है। इसमें भी पञ्चजन शब्द समस्त है।

* 'पञ्चजनाः' यदि यह समस्त पद न हो तो दो पञ्चशब्दोंसे उक्त दो पञ्चत्वोंका परस्पर अन्वय है अथवा उनका जन पदार्थके साथ अन्वय है अथवा पञ्चत्व विशिष्ट जनोंके साथ अन्य पञ्चत्वका अन्वय है? इनमेंसे प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि एक पञ्च संख्या दूसरी पाँच संख्याका विशेषण नहीं होती, कारण कि विशेषणका विशेषणके साथ साक्षात् अन्वय नहीं होता, सब अप्रधान विशेषणोंका प्रधान विशेष्यके साथ अन्वय होता है। यदि अप्रधान-गुणोंका भी अन्वय मानें तो वाक्य भेद हो जायगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसमें दस संख्याकी प्रतीति होती है पचीसकी नहीं। तीसरे पक्षमें दृष्टान्त द्वारा पचीस संख्याकी प्रतीति होती है। इसमें दृष्टान्तको विषम कहकर शङ्काका 'नेति ब्रूमः' इत्यादिसे सिद्धान्ती निराकरण करते हैं। 'पञ्चानां पूलानां समहारः पञ्चपूल्यः' यहाँ पर 'संख्यापूर्वो द्विगुः' (पा० सू० २।१।५२) इस सूत्रसे समासका विधान है। अनन्तर 'द्विगोः'

पञ्चसंख्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोषः। तस्मात्पञ्च पञ्चजना इति न पञ्चविंशति
भिप्रायम्। अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम्। अतिरेको हि भवत्यात्माका
पञ्चविंशतिसंख्यायाः। आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः; यस्मिन्निति
सूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनानुकर्षणात्। आत्मा च चेतनः पुरुषः।
पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाधारत्वमाधेयत्वं च युज्यते। अर्थान्तरपरिग्रहे च
संख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः प्रसज्येत। ❀ तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाश
पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य न पृथगुपादानं न्याय्यम्। अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम्।
संख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहः प्रतीयेत? जनशब्दस्य
रूढत्वात्। अर्थान्तरोपसंग्रहेऽपि संख्योपपत्तेः। कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति?

होगा [जनपदका नहीं] इस पक्षमें तो दोष (उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्) कहा
इसलिए 'पञ्च पञ्चजनाः' यह प्रयोग पच्चीस तत्त्वके अभिप्रायसे नहीं है, और संख्याकी
भी पच्चीस तत्त्वके अभिप्रायसे नहीं है, क्योंकि आत्मा और आकाशको लेकर पच्चीस संख्या
होता है। यहाँ तत्त्वोंकी प्रतिष्ठाके आधाररूपसे आत्माका निर्देश है, क्योंकि 'यस्मिन्'
अर्थात् सप्तम्यन्त 'यत्' पदसे सूचितका 'तमेव मन्ये॰ (उसीको मैं आत्मा मानता हूँ)
आत्मरूपसे अनुकर्षण है। आत्मा चेतन पुरुष है और वह सांख्याभिमत पच्चीस तत्त्वोंके
है, इसलिए उसीमें आधाराधेयभाव अयुक्त है। तत्त्वोंसे भिन्न अर्थका ग्रहण किया जाय
सिद्धान्तसे विरूद्ध तत्त्व संख्यामें अधिकता प्रसक्त होगी। इसी प्रकार पच्चीस तत्त्वोंके अन्तर्भूत
'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' (और आकाश प्रतिष्ठित है) इस प्रकार पृथक् ग्रहण अयुक्त है।
ग्रहण करनेपर तो उक्त दोष (अधिक संख्या) है। संख्या मात्रका श्रवण होनेपर श्रुति
पच्चीस तत्त्वोंका संग्रह किस प्रकार प्रतीत होता है? क्योंकि जनशब्द तो तत्त्वोमें रूढ नहीं है,
अर्थका संग्रह करनेसे भी संख्या उपपन्न होती है, तो 'पञ्च पञ्चजनाः' यह किस प्रकार है?

सत्यानन्दी दीपिका

इस सूत्रसे 'ङीप्' (ईकार) का विधान होनेसे समाहारकी प्रतीति होनेपर समाहार (
कितने हैं? इस आकांक्षामें 'पञ्च' इस प्रकार अन्य पदका अन्वय होना युक्त है। परन्तु
इसके अन्तमें 'ङीप्' न होनेसे पञ्चपूली (धानके गट्ठेको पूली कहा जाता है) के समान
प्रतीति नहीं होती, और जनपदमें पहले ही पञ्चत्वका ग्रहण होनेके कारण संख्याकी आकांक्षा
'पञ्च' इस दूसरे पदका अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय आकांक्षाके अधीन होता है।
तो एक विशेषणका अन्य विशेषणके साथ अन्वय नहीं होता किन्तु प्रधानके साथ ही होता
न्यायके साथ विरोध होगा। वस्तुतः 'पञ्चजनाः' यहाँ तो 'पञ्च चामी जना इति पञ्चजनाः'
'दक्षिणाग्निः' आदिकी तरह कर्मधार्य समास है, 'पञ्चपूली' की तरह समाहार नहीं है।
घटकी भूत पंच संख्या जनोंकी व्यावर्तका है, पंच संख्यासे ही जनोंका भेद प्रतीत होता है।
यहाँ भान नहीं है, अतः कितने समुदाय हैं, इस प्रकारकी आकांक्षाके न होनेसे 'पञ्च पञ्चजनाः'
पञ्च संख्याको 'पञ्चजन' का विशेषण मानकर पच्चीस संख्याका लाभ नहीं हो सकता। सूत्रस्थ
भावात्' इस पदकी व्याख्या कर अब 'अतिरेकात्' की व्याख्या करते हैं—यदि पच्चीस संख्या
आत्मा और आकाशको लेकर पच्चीससे अधिक सताईस संख्या हो जायगी, जो सांख्य सिद्धांतके

❀ 'यस्मिन्' इस प्रकार आत्मामें तत्त्वोंकी आधारताका वर्णन भी विरुद्ध होगा, क्योंकि
मतमें महत् आदि तत्त्वोंका आधार स्वतन्त्र प्रधान ही है, असङ्ग पुरुष तत्त्वोंका आधार
किञ्च सांख्यमतमें जगत्को सत्य माना गया है, इससे 'जगत्में मिथ्यात्व बोधक 'नेहनानास्ति

'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (पा० सू० २।१।५०) इति विशेषणस्मरणात्संज्ञायामेव पञ्चशब्दस्य जनशब्देन समासः। ततश्च रूढत्वाभिप्रायेणैव केचित्पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्ते, न सांख्यतत्त्वाभिप्रायेण। ते कतीत्यस्यामाकाङ्क्षायां पुनः पञ्चेति प्रयुज्यते। पञ्चजना नाम ये केचित्ते च पञ्चैवेत्यर्थः। सप्तर्षयः सप्तेति यथा ॥११॥

के पुनस्ते पञ्चजना नामेति ? तदुच्यते—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१२॥

पदच्छेद—प्राणादयः, वाक्यशेषात्।

सूत्रार्थ—(प्राणादयः) यहां पञ्चजन शब्दसे प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन कहे गये हैं, (वाक्यशेषात्) क्योंकि 'प्राणस्य प्राण०' इस वाक्यशेषमें स्थित हैं।

* 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यत उत्तरस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः' इति। तेऽत्र वाक्यशेषगताः सँनिधानात्पञ्चजना विवक्ष्यन्ते। कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः ? तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः ? समाने तु प्रसिद्ध्यतिक्रमे वाक्यशेषवशात्प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति। जनसंबन्धाच्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति। जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः—'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६) इत्यत्र। 'प्राणो ह पिता

'दिक्संख्ये० (दिशा और संख्या वाचक शब्दोंका संज्ञा (नाम) अर्थमें सुबन्त उत्तर पदके साथ समास होता है) इस विशेष सूत्रसे संज्ञामें पञ्च शब्दका जन पदके साथ समास है। वस्तुतः रूढित्वके अभिप्रायसे कुछ पञ्चजन नाम यहाँ विवक्षित हैं सांख्याभिमत पच्चीस तत्त्वोंके अभिप्रायसे नहीं। वे कितने हैं ? इस प्रकारकी आकांक्षा होनेपर उसके उत्तरमें यहाँ पुनः पञ्च शब्दका प्रयोग किया गया है। जैसे सप्तर्षि सात हैं, वैसे पञ्चजन नामवाले जो कोई हैं वे भी पाँच ही हैं, ऐसा अर्थ है ॥११॥

पुनः वे पञ्चजन नामके कौन हैं ? वह कहते हैं—

'यस्मिन्पञ्च० (जिसमें पाँच पञ्चजन हैं) इससे अग्रिम मन्त्रमें ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करनेके लिए 'प्राणस्य प्राणमुत० (जो उसे प्राणके प्राण, चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र, अन्नके अन्न, तथा मनके मनको जानते हैं वे ब्रह्मज्ञ हैं) इस प्रकार प्राणादि पाँच निर्दिष्ट हैं। संनिहित होनेके कारण वाक्यशेषमें स्थित वे प्राण आदि 'यस्मिन्' इस मन्त्रमें पञ्चजन शब्दसे विवक्षित हैं। पूर्वपक्षी—प्राणादिमें जन शब्दका प्रयोग कैसे है ? सिद्धांती—तत्त्वोंमें जनशब्दका प्रयोग कैसे है ? प्रसिद्धि–रूढिका दोनों पक्षोंमें त्याग समान होनेपर भी वाक्यशेषके बलसे [पञ्चजनशब्दसे] प्राण आदि पाँच ही ग्रहण योग्य हैं और मनुष्यके साथ सम्बन्ध होनेसे भी प्राण आदि जनशब्दके भागी होते हैं। 'ते वा एते० (वे ये पाँच ब्रह्म पुरुष हैं) इसमें जनवाचक पुरुष शब्द प्राणोंमें प्रयुक्त है। और उसी प्रकार 'प्राणो ह पिता० (प्राण पिता है, प्राण माता है) इत्यादि ब्राह्मण है। समासके बलसे समुदायको

सत्यानन्दी दीपिका

इत्यादि वाक्यशेषके साथ विरोध होगा। अतः 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रसे सांख्य सिद्ध पच्चीस तत्त्वोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें उद्धृत वाक्योंके समन्वयकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें 'प्राणस्य प्राणमुत' इत्यादि वाक्योंके समन्वयकी सिद्धि फल है ॥११॥

* यहाँ पञ्चजनशब्दसे प्राण आदि पाँचका ग्रहण करना चाहिए सांख्याभिमत तत्त्वोंका नहीं, क्योंकि 'जायन्त इति जनाः' इस व्युत्पत्तिसे कार्यमात्रका वाचक जन शब्द है अथवा मनुष्योंमें भी जनशब्द प्रसिद्ध है। पूर्वपक्षी—'जायन्त इति जनाः' 'जो उत्पन्न होते हैं वे जन हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार महत् आदि और उनके जनक होनेसे प्रधान भी जन शब्द वाच्य हो सकता है, इस प्रकार

प्राणो ह माता' (छा० ७।१५।१) इत्यादि च ब्राह्मणम् । समासबलाच्च समुदायस्य विरुद्धम् । * कथं पुनरसति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याऽऽश्रयितुम् ? शक्योद्भिदादिव प्रसिद्धार्थसंनिधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्यमानः समभिव्याहारात्तद्विषयो नियम्यते, 'उद्भिदा यजेत', 'यूपं छिनत्ति', 'वेदिं करोति' इति । तथाऽयमपि पञ्चजनशब्दः समा ख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञ्याकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते । देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः । अन्यैश्च वर्णा निषादपञ्चमाः परिगृहीताः । क्वचिच्च 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' (ऋ० सं० ८।५३।७) प्रजापरः प्रयोगः पञ्चजनशब्दस्य दृश्यते । तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः । आचा पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इति जगाद ।

भवेयुस्तावत्प्राणादयः पञ्चजना माध्यंदिनानाम्, येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति । नां तु कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नामनन्तीति ? अत उत्तरं पठ

रूढ माननेमें कोई विरोध नहीं है । परन्तु पञ्चजनशब्दके प्रथम प्राणादिमें प्रयोगकी असिद्धि रूढिका किस प्रकार आश्रय किया जा सकता है ? ऐसा कहा है कि उद्भिद् आदिके समान शब्दकी भी रूढि हो सकती है । प्रसिद्धार्थक पदके सन्निधानमें प्रयुक्त हुए अप्रसिद्धार्थ वाचक समभिव्याहारके बलसे तद्विषयक अर्थ होता है ऐसा नियम है । जैसे 'उद्भिदा यजेत' (पशु वाला उद्भिद् नामक याग करे) यूपं 'छिनत्ति' (यूपका छेदनसे संस्कार करे) और 'वेदिं (वेदिका संस्कार करे) इत्यादिमें होता है, वैसे ही यह 'पञ्चजन' शब्द भी समासके कथन भावको प्राप्त होकर संज्ञीकी आकांक्षा करता हुआ वाक्यशेष और समभिव्याहृत-सहोचरित आदिमें प्रवृत्त होगा । कई एक लोगोंने तो ऐसा व्याख्यान किया है कि देव, पितर, गन्धर्व अ राक्षस ये पाँच पञ्चजन हैं । दूसरोंने चार वर्ण और पाँचवें निषाद (ब्राह्मणके द्वारा शूद्रा सन्तान) का ग्रहण किया है । और कहीं पर 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' इस प्रकार पञ्चजन प्रयोग प्रजाके लिए दिखाई देता है । उसका ग्रहण करनेपर भी कोई विरोध नहीं है । आचा पचीस तत्त्वोंकी यहाँ प्रतीति नहीं होती, इस अभिप्रायसे 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' यह सूत्र कहा है ।

प्राण आदिमें अन्नका पाठ करनेवाले जो माध्यन्दिन शाखावाले हैं उनके मतमें तो प्र पञ्चजन भले हों, परन्तु काण्वशाखावाले जो प्राण आदिमें अन्नका पाठ नहीं करते, उनके म प्राण आदि पञ्चजन किस प्रकार होंगे ? इसके लिए उत्तर पढ़ते (कहते) हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

यौगिक अर्थका सम्भव होनेपर रूढिका आश्रयकर लक्षणाका प्रयास क्यों किया जाय ? सिद्धान्ती— समासके बलसे प्राण आदि समुदायमें पञ्चजन शब्द रूढ माननेमें भी कोई विरोध नहीं है, यहाँ यौगिक अर्थका ग्रहण करना युक्त नहीं है । अब इसपर पूर्वपक्षी 'कथम्' आदिसे आक्षेप

* परन्तु पञ्च जनशब्दकी प्राणादिमें पहले लौकिक प्रसिद्धि नहीं है, तो फिर पञ्च प्राण आदिमें रूढि क्यों ग्रहणकी जाती है ? समाधान—यह नियम नहीं है, क्योंकि 'सु पञ्चजनाः' यह अमर कोश है और प्रसिद्ध अर्थ वाचक शब्दके समीपमें प्रयुज्यमान अप्र वाचक शब्दका सहोचरित होनेसे वही अर्थ होता है जो प्रसिद्धार्थ वाचक शब्दका होता है । 'उद्भिदा यजेत' यद्यपि उद्भिद् शब्द वृक्षोंमें प्रसिद्ध है, तो भी यहाँ सन्निहित और सहोचरित पदके योगसे यह 'उद्भिद्' शब्द उद्भिद् नामके यागमें रूढ है । 'यूपं छिनत्ति' यहाँ 'छिनत्ति' समभिव्याहारसे 'यूप' शब्द दारूमें रूढ है । 'वेदिं करोति' यहाँ 'करोति' पदके योगसे 'वेदिं' संस्कार योग्य स्थण्डिल विशेषमें रूढ है अर्थात् गाहर्पत्य और आहवनीयके मध्यमें चार अंगुल

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

पदच्छेद—ज्योतिषा, एकेषाम्, असति, अन्ने।

सूत्रार्थ—(एकेषाम्) काण्वशाखावालोंके पाठमें पूर्वोक्त प्राणादिमें (अन्ने असति) अन्न के न होनेके कारण (ज्योतिषा) 'तद्देवा' इस पूर्व वाक्यस्थ ज्योतिसे पञ्चसंख्याकी पूर्ति करनी चाहिए।

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्येत। तेऽपि हि 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति। कथं पुनरुभयेषामपि तुल्यवदिदं ज्योतिः पठ्यमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद्गृह्यते केषांचिन्नेति ? अपेक्षाभेदादित्याह। माध्यंदिनानां हि समानमन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नास्मिन्मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति। तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा। अपेक्षाभेदाच्च समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे। यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात्षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे, तद्वत्। तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित्प्रधानविषयास्ति। स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते ॥१३॥

(४ कारणत्वाधिकरणम् सू० १४-१५)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

पदच्छेद—कारणत्वे, न, च, आकाशादिषु, यथाव्यपदिष्टोक्तेः।

काण्वशाखावालोंके पाठमें 'प्राणस्य प्राणमुत' इस मन्त्रमें अन्नका ग्रहण न होनेसे भी ज्योतिसे उसकी पञ्च संख्याकी पूर्ति हो जायगी, क्योंकि वे भी 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रसे पूर्वमन्त्रमें ब्रह्मस्वरूपका निरूपण करनेके लिए ही 'तद्देवा ज्योतिषां० (उस आदित्यादि ज्योतियोंके ज्योतिःस्वरूप अमृतकी देवगण 'आयु' इस प्रकार उपासना करते हैं) इस प्रकार ज्योतिका अध्ययन करते हैं। परन्तु दोनों शाखावालोंके पाठमें समानरूपसे पढ़ी हुई इस ज्योतिका एक ही मन्त्रमें प्राप्त पाँच संख्यासे कुछ लोग-काण्वशाखावाले क्यों ग्रहण करते हैं और कुछ लोग—माध्यन्दिन शाखावाले क्यों ग्रहण नहीं करते ? कारण कि अपेक्षा—आकांक्षाका भेद है, ऐसा कहते हैं। [प्राणस्य प्राणमुत] इस एक ही मन्त्रमें अन्नका ग्रहण होनेसे प्राणादि पाँच जनका माध्यन्दिनोंको लाभ होनेके कारण पूर्व मन्त्रमें पठित ज्योतिकी अपेक्षा नहीं होती। अन्नका ग्रहण न होनेसे एक ही मन्त्रमें प्राणादि पञ्च जनका लाभ न होनेके कारण काण्वशाखावालोंको ज्योतिकी अपेक्षा होती है अर्थात् चार होनेपर भी पाँचवाँ कौन है ? ऐसी अपेक्षा रहती है। जैसे एक ही अतिरात्र सत्रमें वचनभेदसे कहीं षोडशी (यज्ञपात्र) का ग्रहण होता है और कहीं पर ग्रहण नहीं होता, वैसे अपेक्षाके भेदसे एक ही मन्त्रमें पठित ज्योतिका ग्रहण और अग्रहण होता है। इस प्रकार प्रधान विषयक कोई भी श्रुति प्रसिद्धि नहीं है, स्मृति और न्याय प्रसिद्धि का तो आगे परिहार करेंगे ॥१३॥

सत्यानन्दी दीपिका

को खोदकर संस्कृत किया गया स्थान वेदि कहलाता है, वैसे 'पञ्चजन' शब्द भी 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इस सूत्र द्वारा समस्त पद होनेसे किसीको संज्ञामें रूढ ज्ञात होता है, संज्ञीकी आकांक्षा होनेपर सन्निहित वाक्यशेष और समभिव्याहारके बलसे 'पञ्चजन' शब्द प्राण आदिमें रूढ निश्चित होता है। किञ्च पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच भूत और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश, इन पचीसका यहाँ 'पञ्च पञ्चजनाः' शब्दसे ग्रहण हो सकता है, और 'जायन्त इति जनाः' इस योगवृत्तिका भी यहाँ सम्भव है, क्योंकि प्राण आदि उत्पत्तिवाले हैं। इस प्रकार सांख्याभिमत पचीस तत्त्वोंसे भिन्न जिस अर्थ परक 'पञ्चजन' शब्दकी व्याख्याकी जाय तो कोई विरोध नहीं है, इस आशयसे आचार्यने 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इस सूत्रकी रचनाकी है ॥१२॥

सूत्रार्थ—(कारणत्वे) ब्रह्मके जगत् कारण होनेमें तो (न) कोई विरोध नहीं है, (आकाशादिषु) सृज्यमान आकाशादि पदार्थोंके विषयमें (यथाव्यपदिष्टोक्तेः) यादृश उपनिषद्में कारण रूपसे व्यपदिष्ट है,(च) और तादृश ही अन्य उपनिषद्में भी कारणरूपसे

❀ प्रतिपादितं ब्रह्मणो लक्षणम् प्रतिपादितं च ब्रह्मविषयं गतिसामान्यं वाक्यानाम्। प्रतिपादितं च प्रधानस्याशब्दत्वम्। तत्रेदमपरमाशङ्क्यते—न जन्मादि ब्रह्मणो ब्रह्मविषयं वा गतिसामान्यं वेदांतवाक्यानां प्रतिपत्तुं शक्यम। कस्मात्? दर्शनात्। प्रतिवेदान्तं ह्यन्यान्या सृष्टिरुपलभ्यते; क्रमादिवैचित्र्यात्। तथा हि— 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते। क्वचित्तेज 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति। क्वचित्प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' इति क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर् (ऐ० उ० ४।१।२) इति। तथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टिः पठ्यते—'असद्वा इदमग्र आसीत् सदजायत' (तै० २।७) इति। 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छा० ३।१९।१) इति क्वचिदसद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत् क्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्

['जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रसे जगत्-जन्मादिकारणत्व] ब्रह्मका लक्षण कहा जा ['तत्तुसमन्वयात्' इत्यादि सूत्रसे] सब वेदान्त वाक्य समान रूपसे ब्रह्मके ही बोधक हैं, यह जा चुका है, एवं ['नानुमानिकमपि' इत्यादि सूत्रसे] प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है, यह गया है। यहाँ अब दूसरी आशंका होती है—ब्रह्म जगत्के जन्मादिका कारण है और सम्पूर्ण वाक्य समानरूपसे ब्रह्ममें ही समन्वित हैं, ऐसा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि विरोध देखा जाता है। प्रत्येक उपनिषद्में क्रमादिके वैचित्र्यसे भिन्न-भिन्न सृष्टि उपलब्ध होती जैसे कि कहीं पर 'आत्मन आकाशः० (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार आकाश सृष्टि कही गई है। कहीं पर 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस प्रकार तेजपूर्वक कहीं पर 'स प्राणमसृजत० (उसने प्राण उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धा उत्पन्नकी) इस प्रकार पूर्वक सृष्टि कही गई है। कहीं पर 'स इमाँल्लोकानसृजत० (उसने इन लोकोंकी सृष्टि शरीरवाला स्वर्गलोक, सूर्यकिरणसे व्याप्त अन्तरिक्षलोक, मनुष्यलोक और जलमय पाताल इस प्रकार क्रमके विना ही लोकोंकी सृष्टि कही गई है। उसी प्रकार कहीं पर 'असद्वा० (जगत्) असत् ही था। उसीसे सत्-नामरूपात्मक व्यक्त उत्पन्न हुआ) और 'असदेवेदमग्र० यह असत् ही था, वह सत्-हुआ, वह सम्यक् अभिव्यक्त हुआ अर्थात् अंकुरित हुआ) इस असत् पूर्वक सृष्टि कही गई है। कहीं पर असद्वादका निराकरणकर 'तद्धैक आहुरसदे० (उस कारणके विषयमें किन्हींने ऐसा भी कहा है कि आरम्भमें यह असत् ही था) इस प्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्व ग्रन्थके साथ इस अधिकरणकी संगति कहनेके लिए 'प्रतिपादितम्' इत्यादि अनुवाद करते हैं। पूर्वके तीन अधिकरणों द्वारा प्रधानको श्रुति अप्रतिपादित कहनेसे लक्षणसे ब्रह्म ही बुद्धिस्थ होता है, उसी बुद्धिस्थ निर्गुण ब्रह्ममें वेदान्त वाक्योंका समन्वय प्रकार पूर्व ग्रन्थसे सिद्ध किया गया है। उसमें लक्षण और समन्वय दोनों ही असिद्ध हैं, श्रुतियोंका परस्पर विरोध देखनेमें आता है। इस प्रकार पूर्व ग्रन्थके साथ इस अधिकरण इत्यादिसे आक्षेप संगति कहते हैं। पूर्वपक्षी सृष्टि विषयक विरोध दिखलाकर अब 'तथा कारण विषयक विरोध भी दिखाते हैं।

६।२।१,२) इति। क्वचित् स्वयंकर्तृकैव व्याक्रिया जगतो निगद्यते‘—तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते’ (बृ० १।४।७) इति। एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि च विकल्पस्यानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या। स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तरपरिग्रहो न्याय्य इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्वाकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किंचिद्विगानमस्ति। कुतः? यथाव्यपदिष्टोक्तेः। यथाभूतो ह्येकस्मिन्वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टस्तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते। तद्यथा—‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ (तै० २।१) इति। अत्र तावज्ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृत्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयत्, अपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत्। तद्विषयेणैव परेणात्मशब्देन शरीरादिकोशपरंपरया चान्तरनुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्यगात्मानं निरधारयत्। ‘बहु स्यां प्रजायेय’ (तै० २।६) इति चात्मविषयेण बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत। तथा ‘इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच’ (तै० २।६) इति समस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेरद्वितीयं स्रष्टारमाचष्टे। * तदत्र यल्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातं, तल्लक्षणमेवान्यत्रापि विज्ञायते—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’, ‘तदैक्षत

‘कुतस्तु खलु’ (किन्तु हे सोम्य! ऐसा कैसे हो सकता है, भला असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है, अतः हे सोम्य! पूर्वमें यह एक मात्र अद्वितीय सत् ही था, ऐसा [अरुणिने] कहा) इस प्रकार सत्पूर्वक सृष्टिकी प्रतिज्ञाकी जाती है। कहीं पर ‘तद्धेदं० (वह यह जगत् सृष्टिके पूर्व अव्याकृत था। वह नाम रूपसे ही व्याकृत-व्यक्त हुआ) इस प्रकार जगत्की अभिव्यक्ति स्वयं कर्तृक-अपने आप ही कही जाती है। इस प्रकार अनेक रीतिसे सृष्टि आदि विषयक श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे और वस्तुमें विकल्पकी अनुपपत्ति होनेसे वेदान्त वाक्योंमें जगत्-कारणकी अवधारणपरता युक्त नहीं है, अतः स्मृति और न्याय प्रसिद्धिसे ब्रह्मसे भिन्न कारणका ग्रहण करना युक्त है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रत्येक उपनिषद्में सृज्यमान आकाश आदिमें क्रम आदि द्वारक विरोध होनेपर भी स्रष्टाके विषयमें कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि जैसा एकत्र स्रष्टाका व्यपदेश है वैसा अन्यत्र भी है। एक उपनिषद्में जैसा सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मा, एक, अद्वितीय ब्रह्म कारणरूपसे व्यपदिष्ट है, वैसा ही अन्य उपनिषदोंमें भी व्यपदिष्ट है। जैसे ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ यहाँ ज्ञानशब्दसे उस ब्रह्म विषयक [सोऽकामयत] कामयितृत्व वचनसे चेतन ब्रह्मका निरूपण करती हुई श्रुति ईश्वर को स्वतन्त्ररूपसे कारण कहती है। अनन्तरोक्त ब्रह्मविषयक आत्मशब्दसे और शरीर आदि कोश परम्परा द्वारा सबके अन्तर प्रवेश करनेसे सबके भीतर प्रत्यगात्माका निर्धारण किया है। ‘बहु स्यां० (मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् मैं उत्पन्न हो जाऊँ) इस प्रकार आत्मविषयक अनेक स्वरूप होनेके कथनसे सृज्यमान विकारोंका स्रष्टासे अभेद कहा है। उसी प्रकार ‘इदं सर्वं० (उसने यह जो कुछ है इस सबकी रचनाकी) इस प्रकार समस्त जगत्की सृष्टिके निर्देशसे सृष्टिके पूर्व केवल अद्वितीय स्रष्टाको श्रुति कहती है। जिस प्रकार यहाँ तैत्तिरीय उपनिषद्में जो सर्वज्ञत्व आदि लक्षणवाला ब्रह्म जगत्-कारणरूपसे विज्ञात है उस प्रकारके लक्षणवाला ब्रह्म ‘सदेव सोम्य० (हे सोम्य! पहले यह सारा प्रपञ्च एक

सत्यानन्दी दीपिका

* कार्य विषयक विरोध होनेसे कारण विषयक विरोध नहीं हो सकता, अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात् प्रतिदिन स्वप्न सृष्टियाँ नाना प्रकारकी होती हैं, इससे ‘मैं वही हूँ’ इस प्रकार जिस द्रष्टाकी प्रत्यभिज्ञा होती है उसमें भी नानात्व प्रसक्त होगा। यह दोष सर्वत्र लागू होनेसे केवल अनिष्ट ही होगा। सृष्टिमें विरोध मानकर स्रष्टामें अविरोध दिखलाया गया है। सृष्टि विषयक भी विरोध नहीं है अब इसे ‘समाधास्यति’ आदिसे कहते हैं।

बहु स्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।१,३) इति । तथा 'आत्मा वा इदमेक
आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० ४।१।१,२) इति च; एवंजा
कस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगीतार्थत्वात् । कार्यवि
विगानं दृश्यते—क्वचिदाकाशादिका सृष्टिः क्वचित्तेजआदिकेत्येवंजातीयकम् । ननु
विषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म सर्ववेदान्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवि
तीति शक्यते वक्तुम्; अतिप्रसङ्गात् । * समाधास्यति चाचार्यः कार्यविषयमपि वि
'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यारभ्य । भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्य
न ह्ययं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः । नहि तत्प्रतिबद्धः कश्चित्पुरुषार्थो दृश्यते
वा । न च कल्पयितुं शक्यते; उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः सा
वाक्यताया गम्यमानत्वात् । दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्—
सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन
मन्विच्छ' (छा० ६।८।४) इति । मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाभेदं वदितुं सृष्टि
प्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते । तथा च संप्रदायविदो वदन्ति—'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः

मात्र अद्वितीय सत् ही था) 'तदैक्षत० (उस-सत्‌ने ईक्षण किया मैं बहुत हो जाऊँ अनेक
उत्पन्न होऊँ । इस प्रकार ईक्षणकर उसने तेज उत्पन्न किया) उसी प्रकार 'आत्मा वा० (
पूर्व यह सब जगत् केवल आत्मरूप ही था, दूसरा कोई सचेष्ट पदार्थ नहीं था, उसने ईक्षण कि
मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) इस प्रकार अन्यत्र-छान्दोग्यादि उपनिषदोंमें भी जाना जाता है ।
स्वरूप निरूपण परक इस प्रकारके वाक्य समुदायका प्रत्येक उपनिषद्‌में अर्थ विषयक अविरो
परन्तु कहीं आकाशकी प्रथम सृष्टि, कहीं तेजकी प्रथम सृष्टि इस प्रकारका कार्य विषयक विरो
जाता है । कार्य विषयक विरोध होनेसे भी सब वेदान्तोंमें अविरुद्ध रूपसे प्रतीयमान कारण
अविवक्षित होना योग्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसङ्ग हो
'न वियदश्रुतेः' इस सूत्रसे आरम्भकर कार्य विषयक विरोधका भी आचार्य समाधान करेंगे ।
प्रतिपाद्य न होनेके कारण कार्य विषयक विरोध भले ही हो, परन्तु यह सृष्टि आदि प्रपञ्च
वाक्योंसे प्रतिपादन करनेकी इच्छाका विषय ही नहीं है । क्योंकि प्रपञ्चसे सम्बद्ध कोई भी पु
न देखा जाता है और न सुना जाता है और न उसकी कल्पना ही की जा सकती है । आ
उपक्रम और उपसंहारसे तत्-तत् उपनिषदोंमें स्थित ब्रह्मविषयक वाक्योंके साथ सृष्टि वाक्यों
वाक्यता अवगत होती है ।

'अन्नेन सोम्य शुङ्गेन० (हे सोम्य ! अन्नरूप कार्यसे जलरूपमूलको खोज—प्राप्तकर, हे
जलरूप कार्य लिंगसे तेजरूप मूलको प्राप्तकर और हे सोम्य ! तेजरूप कार्यसे सद्रूप मूलका नि
इसप्रकार श्रुति ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए सृष्टि आदि प्रपञ्च दिखलाती है । ऐसा ज्ञात होता है कि
आदि दृष्टान्तों द्वारा कार्यका कारणके साथ अभेद कहनेके लिए श्रुति सृष्टि आदि प्रपञ्चका श्रव
है । 'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः० ([उपनिषदोंमें] मृत्तिका, लोहखण्ड और विस्फुलिङ्गादि

सत्यानन्दी दीपिका

* ब्रह्ममें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' इसका उपपादन करनेके लिए ही जगत्-कारणत्वका
किया है । वेदोंमें सृष्टिका जो भिन्न-भिन्न वर्णन है वह स्वप्न सृष्टिके समान है अर्थात् जैसे स्वप्न
उत्पत्ति-क्रमका नियम नहीं है, वैसे जाग्रत् प्रपञ्चमें भी नहीं है । स्वप्न प्रपञ्चकी तरह
जाग्रत् प्रपञ्च भी भ्रम मात्र है । इसलिए सृष्टि आदिके प्रतिपादनमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है,

चोदिताऽन्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥' (माण्डू० ३।१५) इति । ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति (श्वे० ३।८) इति । प्रत्यक्षावगमं चेदं फलम् । 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः ॥१४॥

यत्पुनः कारणविषयं विगानं दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि, तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

समाकर्षात् ॥१५॥

सूत्रार्थ—'असदेवेदमग्र आसीत्' इसप्रकार अनभिव्यक्त नाम रूप वाची असत् शब्दसे सत्का ही आकर्षण होता है, अतः असत् कारण विषयक आशंकाका यहां अवकाश नहीं है।

'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) इति नात्रासन्निरात्मकं कारणत्वेन श्राव्यते । यतः 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यसद्वादापवादेनास्तित्वलक्षणं ब्रह्मान्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मानं निर्धार्य 'सोऽकामयत' इति तमेव प्रकृतं समाकृष्य सप्रपञ्चां सृष्टिं तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपसंहृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' इति तस्मिन्नेव प्रकृतेऽर्थे श्लोकमिममुदाहरति—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति । यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिञ्छ्लोकेऽभिप्रेयेत ततोऽन्यसमाकर्षणेऽन्यस्योदा-

---

द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिका निरूपण किया है वह [ब्रह्मात्मैक्यमें] बुद्धि प्रवेश करनेका उपायमात्र है, वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है) इसप्रकार संप्रदायविद्-आचार्य गौड़पाद कहते हैं। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्० (ब्रह्मवित् परब्रह्मको प्राप्त होता है) 'तरति० (आत्मवित् शोकमय संसारसे मुक्त हो जाता है) 'तमेव० (उसे ही जानकर पुरुष मृत्युको पार करता है) इसप्रकार ब्रह्मज्ञानसे सम्बद्ध फलकी श्रुति है। ब्रह्मज्ञानसे विद्वान्‌को परमानन्दकी प्राप्ति, शोककी निवृत्ति और मृत्युका अतिक्रमणरूप फल प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला है, क्योंकि जब 'तत्त्वमसि' इसप्रकार असंसारी आत्मत्वका अपरोक्ष अनुभव होता है तब संसारी आत्मत्वकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १४ ॥

परन्तु 'असद्वा० (सृष्टिके पहले यह असत् ही था) इत्यादि जो कारण विषयक विरोध दिखलाया गया है, उसका परिहार करना चाहिए। इसपर सूत्रकार कहते हैं—

'असद्वा० (सृष्टिके पहले यह असत् ही था) इस तैत्तिरीय श्रुतिमें स्वरूप रहित असत्का कारणरूपसे श्रवण नहीं कराया जाता है, क्योंकि 'असन्नेव स भवति० (यदि पुरुष ब्रह्म असत् है, ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत् हो जाता है, यदि ऐसा जानता कि ब्रह्म 'सत्' है तो ब्रह्मवेत्ता उसे सत् समझते हैं) इसप्रकार असद्वादके अपवादसे सत्स्वरूप ब्रह्मको अन्नमय आदि कोशपरम्परासे प्रत्यगात्मरूपसे निर्धारणकर 'सोऽकामयत' (उस परमात्माने कामनाकी) इस तरह उसी प्रकृत ब्रह्मका समाकर्षणकर उसीसे विस्तृत सृष्टिका श्रवण कराकर 'तत्सत्यम्० (वह सत्य है ऐसा लोग कहते हैं) इसप्रकार उपसंहारकर 'तदप्येष० (उसके विषयमें ही श्लोक है) इसप्रकार उसी प्रकृत ब्रह्मरूप अर्थमें 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस मन्त्रको उदाहरणरूपसे कहते हैं। यदि इस श्लोकमें स्वरूपरहित असत् अभिप्रेत हो तो अन्यका समाकर्षण होनेपर अन्यका उदाहरण देनेसे वाक्य

सत्यानन्दी दीपिका

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चः प्रपञ्च्यते' (अध्यारोप और अपवाद द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मका प्रपञ्चरूपसे वर्णन किया गया है) इस प्रकार अध्यारोप और अपवाद रूपसे अद्वितीय ब्रह्मके प्रतिपादनमें ही तात्पर्य है ॥ १४ ॥

हरणादसंबद्धं वाक्यमापद्येत। तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषयः प्रायेण सच्छब्दः इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्तेः सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यते। एवंच 'अ मग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) इत्यत्रापि योजना; 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात्। अ भावाभ्युपगमे हि 'तत्सदासीत्' इति किं समाकृष्येत? 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (६।२।१) इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणायमेकीयमतोपन्यासः; क्रियायामिव वस्तुनि वि स्यासंभवात्। तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्षदार्ढ्यायैवायं मन्दमतिपरिकल्पितस्यासत्प पन्यस्य निरास इति द्रष्टव्यम्। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (बृ० १।४।७) इत्यत्रापि न निर जगतो व्याकरणं कथ्यते, 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य व्याकृतकार्या शित्वेन समाकर्षात्। निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इ सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत? चेतनस्य चायमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात्—'पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति। * अ यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्साध्यक्षं व्याक्रियत एवमादिसर्गे

असम्बद्ध हो जायगा अर्थात् जिस सत् प्रकृतका यहां समाकर्षण किया गया है उससे भिन्न अ उदाहरण होनेसे यह वाक्य असम्बद्ध हो जायगा। इसलिए नाम-रूपसे अभिव्यक्त वस्तुमें प्रा शब्द प्रसिद्ध है, अतः सृष्टिसे पहले नाम-रूपके व्याकृताभावकी अपेक्षासे सत् ही ब्रह्म असत् ऐसा उपचार किया जाता है अर्थात् गौण वृत्तिसे असत् शब्दसे उपचार किया जाता है। 'असदे आसीत्' इस मन्त्रमें भी यही योजना है, क्योंकि 'तत्सदासीत्' (वह सत् था) इस वाक्य 'तत्' पदसे पूर्ववाक्य गत 'सत्' का समाकर्षण-ग्रहण है। यदि अत्यन्ताभावरूप असत्का करें तो 'तत्सदासीत्' इसमें किसका समाकर्षण करेंगे अर्थात् स्वरूप शून्य असत्का सम असंभव है और असत्का सत्रूपसे ग्रहण करना भी असंगत है। 'तद्धैक० (उसीके विषयमें ऐसा भी कहा है कि सृष्टिके पहले यह असत् ही था) इसमें भी अन्य श्रुतिके अभिप्रायसे यह एकीयमतका उपन्यास नहीं है अर्थात् इस मन्त्रका 'किसी शाखा वाले कारणको असत् क यह अर्थ नहीं है, क्योंकि क्रियाके समान वस्तुमें विकल्पका संभव नहीं है, इसलिए यहां यह स चाहिए कि श्रुतिसे परिगृहीत सत् पक्षको दृढ़ करनेके लिए मन्दमति पुरुषोंसे परिकल्पित पक्षका उपन्यासकर यह परिहार है। 'तद्धेदं० (उत्पत्तिसे पूर्व यह जगत् अव्याकृत था) इ अध्यक्ष रहित जगत्का व्याकरण नहीं कहा जाता। 'स एष० (वह यह व्याकर्ता इस शरीरमें न पर्यन्त प्रवेश किए हुए हैं) इसप्रकार अध्यक्षका व्याकृत वस्तुओंमें प्रवेश कर्तृत्वरूपसे समाक अध्यक्षके विना ही व्याकरण-नामरूपसे जगत्की अभिव्यक्ति स्वीकार करें तो [स एष इह इस अनन्तर ग्रन्थवर्ती प्रकृत अर्थका अवलम्बन करने वाले 'स' इस सर्वनामसे कार्यमें अनुप्र किसका समाकर्षण होगा? और चेतन आत्माका शरीरमें यह अनुप्रवेश सुना जाता है, 'पश्यंश्चक्षु० (देखनेके कारण वह चक्षु-द्रष्टा है, सुननेके कारण श्रोत्र-श्रोता है, मनन करनेके मन-मन्ता है) इसप्रकार अनुप्रवेश करनेवाले में चेतनत्वका श्रवण है। और वर्तमान समय में रूपसे व्याकृत हुआ यह जगत् जैसा सकर्तृक व्याकृत होता है, वैसा ही आदि सृष्टिमें था,

सत्यानन्दी दीपिका

* व्याक्रियते' यह लकार कर्ममें प्रयुक्त है, यह लोक प्रसिद्ध है कि कर्ताके विना कर्म नहीं होती, लकार कर्ममें प्रयुक्त होनेसे कर्ता अर्थतः सिद्ध हो जाता है। इस विषयमें 'गम्यते' यह लौकिक उदाहरण भी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रुतियोंका कारणके विषयमें अविरोध उनका ब्रह्ममें समन्वय है ॥ १५ ॥

गम्यते; दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः। श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति। व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तरि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तरि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्णके लवितरि। यद्वा—कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा गम्यते ग्राम इति ॥१५॥

(५ बालाक्यधिकरणम् सू० १६-१८)

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—'यो ह वै बालाके' इस श्रुतिमें कर्म शब्द सम्पूर्ण प्रपञ्चका वाचक होनेके कारण इसका कर्ता परमात्मा ही है।

❋ कौषीतकिब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः' (कौ० ब्रा० ४।१६) इति। तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनोपदिश्यते उत मुख्यः प्राणः, उत परमात्मेति विशयः। किं तावत्प्राप्तम ? प्राण इति। कुतः ? 'यस्य वैतत्कर्म' इति श्रवणात्, परिस्पन्दलक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्, वाक्यशेषे च 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इति प्राणशब्ददर्शनात् प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे प्रसिद्धत्वात्। ये चैते पुरस्ताद्बालाकिना 'आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः' इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टास्तेषामपि भवति प्राणः कर्ता; प्राणावस्थाविशेषत्वादादित्यादिदेवतात्मनाम्—'कतम एको देव इति प्राण

होता है। क्योंकि दृष्ट-प्रत्यक्षसिद्धसे विपरीत कल्पना नहीं की जा सकती है 'अनेन जीवेनात्मना० (मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों (तेज, जल और अन्न) देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) इसप्रकार दूसरी श्रुति भी जगत्की अभिव्यक्ति सकर्तृक ही दिखलाती है। 'व्याक्रियते' यह कर्मकर्तामें लकार अभिव्यक्ति कर्ता परमेश्वरके होनेपर भी सौकर्यकी अपेक्षासे समझना चाहिए। जैसे केदार काटने वाले किसी पूर्णक नामक व्यक्तिके रहनेपर भी 'लूयते केदारः' (क्यारी स्वयं ही कट रही है) यह प्रयोग होता है, अथवा जैसे 'गम्यते ग्रामः' (ग्राम प्राप्त किया जाता है) इसमें कर्ताका आक्षेप किया जाता है, वैसे ही अर्थसे आक्षिप्त कर्ताकी अपेक्षासे कर्मके अर्थमें ही यह लकार समझना चाहिए ॥ १५ ॥

कौषीतकिब्राह्मणमें बालाकि और अजात शत्रुके संवादमें 'यो वै बालाक० (हे बालाकि ! जो इन पुरुषोंका कर्ता है अथवा यह सम्पूर्ण प्रपञ्च जिसका कर्म है वही जानने योग्य है) ऐसी श्रुति है। इसमें वेदितव्यरूपसे क्या जीव उपदिष्ट है अथवा मुख्य प्राण वा परमात्मा ? ऐसा संशय होता है। तब क्या प्राप्त हुआ ? पूर्वपक्षी—प्राण उपदिष्ट है, क्यों ? 'यस्य वैतत्कर्म' ऐसी श्रुति है। चलनात्मक कर्म प्राणके आश्रित है। और 'अथास्मिन्प्राण० (जाग्रत् और स्वप्न जनक कर्मकी उपरतिके अनन्तर सुषुप्तिमें प्राणमें ही सब एक होता है) इस तरह वाक्यशेषमें प्राण शब्दका श्रवण है और प्राणशब्द मुख्य प्राणमें प्रसिद्ध है। 'आदित्ये पुरुषः० (आदित्यमें पुरुष है, चन्द्रमामें पुरुष है) इसप्रकार बालाकिने पहले इन जिन इत्यादि पुरुषोंका निर्देश किया है उनका भी कर्ता प्राण है, क्योंकि आदित्य आदि देवता प्राणकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं, 'कतम एको देव० (शाकल्य—एक

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्व अधिकरणमें एक वाक्यस्थ सत् आदि शब्दोंके बलसे असत् शब्दका अर्थ किया गया है। यहां तो 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इसप्रकार बालाकि वाक्यस्थ ब्रह्मशब्दसे प्राणशब्द ब्रह्मपरक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहां वाक्य भेद है, इसप्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे 'किं तावत्' इत्यादिसे पूर्व पक्ष

इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (बृ० ३।६।६) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । जीवो वाऽयमिह व्यतयोपदिश्यते । तस्यापि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते श्रावयितुम्—'यस्य वैतत्कर्म' सोऽपि भोक्तृत्वाद्भोगोपकरणभूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते । वाक्यशेषे च जीव मवगम्यते । यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तुर्वेदनायोपेतं बालाकिं बुबोधयिषुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात्प्राणादीनामभोक्तृत्वं यष्टिघातोत्थानात्प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं प्रतिबोधयति । तथा परस्तादपि जीव मवगम्यते—'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिः एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति' (कौ० ब्रा० ४।२०) इति । प्राणभृत्त्वाच्च जीवस्य प्राणशब्दत्वम् । तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयो न परमेश्वरः; तल्लिङ्गान दिति । * एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमेश्वर एवायमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात् । कस्मात् ? सामर्थ्यात् । इह हि बालाकिरजातशत्रुणा सह 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति संवदितुमुपचक्रमे

देव कौन है ? याज्ञवल्क्य—प्राण, वह ब्रह्म है, उसीको त्यत् (परोक्ष) ऐसा कहते हैं) अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध है । अथवा यहां वेदितव्यरूपसे यह जीव उपदिष्ट है । उसका भी धर्म कर्म 'यस्य वैतत्कर्म' इसप्रकार सुनाया जा सकता है । वह भी भोक्ता होनेसे भोगके साधन पुरुषोंका अदृष्ट द्वारा कर्ता हो सकता है । और वाक्यशेषमें भी जीवका लिंग अवगत होता है वेदितव्यरूपसे उपन्यस्त जो पुरुषोंका कर्ता है उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्राप्त बालाकि करानेके अभिलाशी अजात शत्रुने सुप्त पुरुषको पुकारा उस आमन्त्रण शब्दको न सुनने प्राणादि अभोक्ता हैं ऐसा बोध कराकर पुनः लाठीके प्रहारसे उस सुप्तपुरुषके जागनेसे यह कि प्राण आदिसे भिन्न जीव भोक्ता है । तथा अग्रिम वाक्यमें भी 'तद्यथा० (जैसे स्वामी आदि द्वारा उपहृत वस्तुका उपभोग करता है और वे सेवक आदि उस स्वामीसे आजीविका वैसे यह प्रज्ञात्मा इन आत्माओं द्वारा उपभोग करता है और ये आत्माएँ—देवता या इन्द्रिय प्रज्ञात्माके आश्रित भोग प्राप्त करती हैं) इसप्रकार जीव लिंग अवगत होता है । प्राणधारी भी जीवमें प्राणशब्द युक्त है । इसलिए जीव और मुख्यप्राणमें से एकका यहां ग्रहण करना परमेश्वरका नहीं, क्योंकि उसका लिंग ज्ञात नहीं है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते यह परमेश्वर ही इन पुरुषोंका कर्ता हो, क्योंकि उपक्रमकी ऐसी सामर्थ्य है । यहां बालाकिने शत्रुके साथ 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इसप्रकार बातचीत आरम्भकी और आदित्य आदिमें रहनेवाले

सत्यानन्दी दीपिका

करते हैं । 'यो वै बालाके०' इत्यादि वाक्य समुदाय इस अधिकरणका विषय वाक्य है । एक गर्ग गोत्रीय विद्याभारसे गर्वित बालाकि ब्राह्मणने काशीराज अजात शत्रुके पास आकर 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश देता हूँ) अनन्तर उसने राजाको आदित्य, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि और जल आदिके अभिमानी अनेक देवताओं का उपदेश परन्तु राजा इन सबको जानता था, राजाने कहा—हे ब्रह्मन् ! यदि इससे अधिक जानते हो बालाकि को चुप देखकर राजाने उसे परमात्माको समझानेके लिए उपदेश किया है । राजाके इस वचनको प्राणविषयक मानकर पूर्वपक्ष किया है । अब 'जीवो वा' आदिसे जीवके पूर्वपक्ष करते हैं ।

* 'एतत्कर्म' इस नपुंसक एकवचन 'एतत्' शब्दसे 'पुरुषाः' इस पुल्लिंग और बहु परामर्श नहीं हो सकता । 'पुरुषाः' इस तरह पुरुषोंमें बहुवचन और पुल्लिंग है जब कि एतत्कर्म एक वचन और नपुंसक लिंग है, इससे 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें पुरुषोंका परामर्श

कतिचिदादित्याद्यधिकरणान्पुरुषानमुख्यब्रह्मदृष्टिभाज उक्त्वा तूष्णीं बभूव। तमजातशत्रुः षा वै खलु मा संवदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि' इत्यमुख्यब्रह्मवादितयाऽपोद्य तत्कर्तारमन्यं वेदितव्यतयोपचिक्षेप। यदि सोऽप्यमुख्यब्रह्मदृष्टिभाक् स्यात्, उपक्रमो बाध्येत। तस्मात्परमेश्वर ायं भवितुमर्हति। कर्तृत्वं चैतेषां पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणावकल्पते। स्य वैतत्कर्म' इत्यपि नायं परिस्पन्दलक्षणस्य धर्माधर्मलक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः; तयोरतरस्याप्यप्रकृतत्वात्, असंशब्दितत्वाच्च। नापि पुरुषाणामयं निर्देशः; एतेषां पुरुषाणां त्येव तेषां निर्दिष्टत्वात्, लिङ्गवचनविगानाच्च; नापि पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियास्य वाऽयं निर्देशः; कर्तृशब्देनैव तयोरुपात्तत्वात्। पारिशेष्यात्प्रत्यक्षसंनिहितं जगत् नाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते। क्रियत इति च तदेव जगत्कर्म। ❀ ननु जगदप्यप्रकृतमसंब्दितं च। सत्यमेतत्। तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणेनार्थेन संनिधानेन संनिहितमात्रस्यायं निर्देश इति गम्यते, न विशिष्टस्य कस्यचित्। विशेषसंनिधानाभावात्। पूर्वत्र जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं जगदेवेहोपादीयत इति गम्यते। दुक्तं भवति—य एतेषां पुरुषाणां जगदेकदेशभूतानां कर्ता, किमनेन विशेषेण, यस्य कृत्स्न-

---

दृष्टिके भागी कुछ पुरुषोंको कहकर वह चुप हो गया। 'मृषा वै खलु०' (तुमने मुझसे यह मिथ्या कि मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करता हूँ) इसप्रकार अजातशत्रुने बालाकिका अमुख्य ब्रह्मवादिसे निषेधकर उनके कर्ता अन्यको वेदितव्यरूपसे आक्षेप किया। यदि वह वेदितव्य भी अमुख्य ब्रह्म ह्मसे भिन्न) दृष्टिका भागी हो तो उपक्रम बाधित होगा। इसलिए यह परमेश्वर ही होना चाहिए। श्वरसे अन्य इन पुरुषोंका स्वतन्त्ररूपसे कर्ता नहीं हो सकता। किञ्च 'यस्य वैतत्कर्म' यह निर्देश चलनात्मक अथवा धर्माधर्मात्मक कर्मके विषयमें नहीं है, क्योंकि इन दोनोंमें से कोई भी प्रकृत है और श्रुति प्रतिपादित नहीं है। पुरुषोंके लिए भी यह निर्देश नहीं है, क्योंकि इन पुरुषोंका , इसप्रकार उनका निर्देश हो गया है। एवं लिंग और वचनका भेद है अर्थात् 'यस्य वैतत्कर्म' एक वचन और नपुंसक लिंग है और पुरुषोत्पादन अथवा उसका फल पुरुष जन्मका भी यह श नहीं है, क्योंकि कर्तृशब्दसे ही दोनोंका ग्रहण किया गया है। परिशेषसे प्रत्यक्ष संनिहित का सर्वनाम 'एतत्' शब्दसे निर्देश किया जाता है, जो किया जाय वह कर्म है, इस व्युत्पत्तिसे जगत् ही कर्म है। परन्तु जगत् भी अप्रकृत और श्रुति अप्रतिपादित है। यह सत्य है, तो भी ज्ञात होता है कि विशेष वस्तुका ग्रहण न होनेसे साधारण अर्थके साथ संनिधानसे संनिहित मात्रका यह निर्देश है किसी विशिष्ट वस्तुका नहीं, क्योंकि विशेष संनिधान नहीं है। पूर्ववाक्यमें के एक देशभूत पुरुषोंका विशेषरूपसे ग्रहण करनेसे यह ज्ञात होता है कि अविशेषित (सामान्य) का ही यहां ग्रहण है। तात्पर्य यह है— जगत्के एक देश भूत इन पुरुषोंका जो कर्ता है। इस ष कथनका क्या प्रयोजन है? जिसका तो सामान्यरूपसे सारा जगत् ही कर्म है। [यस्य वा एतत

सत्यानन्दी दीपिका

ा। पुरुषोत्पादक कर्ता व्यापार 'करोति' का अर्थ उत्पादन और उत्पादनका फल पुरुष जन्म इन का ही कर्तृशब्दसे ग्रहण हो चुका है, अतः उनका पृथक् निर्देश नहीं किया गया है। क्रिया और के बिना कर्तृत्व अनुपपन्न है, इसलिए कर्तृशब्दसे दोनोंका ग्रहण होता है। परिशेषसे यहां संनिहित ही कर्म शब्दसे ग्राह्य है और उसका कर्ता परमेश्वर ही है।

* ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय—'ब्राह्मणा भोजयितव्याः परिव्राजकाश्च' (ब्राह्मणोंको भोजन ना चाहिए और परिव्राजकोंको भी) इस वाक्यमें जैसे ब्राह्मण शब्द परिव्राजकसे भिन्न ब्राह्मणका क है, वैसे ही 'एतत्कर्म' यह कर्म शब्द भी पुरुषोंसे भिन्न समस्त जगत्का वाचक है। यद्यपि

मेव जगदविशेषितं कर्मेति। वाशब्द एकदेशावच्छिन्नकर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः। ये बालाकि ब्रह्मत्वाभिमताः पुरुषाः कीर्तितास्तेषामब्रह्मत्वख्यापनाय विशेषोपादानम्। एवं ब्राह्मण ब्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते। परमेश्वरश्च जगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः ॥१६॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

पदच्छेद—जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्, न, इति, चेत्, तत्, व्याख्यातम्।

सूत्रार्थ—(जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्) पूर्ववाक्यमें जीव और मुख्यप्राणके लिङ्ग होनेसे (यह श्रुति ब्रह्मपरक नहीं है, (इति चेत्) ऐसा यदि कहो तो (व्याख्यातम्) प्रतर्दनाधिकरणमें उस व्याख्यान हो गया है।

* अथ यदुक्तं—वाक्यशेषगताज्जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तयोरेवान्यतर ग्रहणं न्याय्यं न परमेश्वरस्येति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते—परिहृतं चैतत् 'नोपासात्रै दाश्रितत्वादिह तद्योगात्' (ब्र० सू० १।१।३१) इत्यत्र। त्रिविधं ह्यत्रोपासनमेवं सति प्रस जीवोपासनं, मुख्यप्राणोपासनं, ब्रह्मोपासनं चेति। न चैतन्न्याय्यम्। उपक्रमोपसंहारा हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्यावगम्यते। तत्रोपक्रमस्य तावद्ब्रह्मविषयत्वं दर्शितम्। उपसं स्यापि निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मविषयत्वं दृश्यते—'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूता

कर्म] श्रुतिस्थ 'वा' शब्द एक देशके कर्तृत्वकी व्यावृत्तिके लिए है। बालाकि द्वारा ब्रह्मरूपसे मत जो पुरुष कहे गए हैं वे अब्रह्म हैं ऐसा कहनेके लिए विशेषका ग्रहण है। इसप्रकार ब्राह्म परिव्राजक न्यायसे सामान्य और विशेषसे जगत्का कर्ता वेदितव्यरूपसे उपदिष्ट है। सभी वेदा यह निर्णय है कि परमेश्वर ही समस्त जगत्का कर्ता है ॥ १६ ॥

जो यह कहा गया है कि वाक्यशेषगत भोक्तृत्व जीव लिङ्गसे और स्पन्दनरूप मुख्य लिंगसे यहाँ जीव और प्राणमें से किसी एकका ग्रहण करना युक्त है परमेश्वरका नहीं, उसका परि करना चाहिए, इसपर कहते हैं—'नोपासात्रैविध्यादा०' इस सूत्रमें उसका परिहार किया गया क्योंकि ऐसा होनेपर यहाँ जवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना इस प्रकार तीन उपा प्रसक्त होंगी, परन्तु यह युक्त नहीं है, कारण कि उपक्रम और उपसंहारसे [यो वै बाला यह वाक्य ब्रह्म विषयक अवगत होता है। उन दोनोंमें उपक्रम ब्रह्म विषयक दिखलाया गया और 'सर्वान्पाप्मनो० (जो उसे इस प्रकार जानता है वह सब पापोंका नाशकर सब भूतों में श्रे

सत्यानन्दी दीपिका

कर्म शब्द परिस्पन्दन तथा धर्माधर्ममें रूढ है और रूढि योगसे बलवती होती है, तो भी प्रक वह अपेक्षित नहीं है, क्योंकि 'क्रियते इति कर्म' इस योगसे उन दोनोंका भी ग्रहण हो सकता जहां योगसे रूढ्यर्थका संग्रह नहीं होता वहां रूढिका पृथक् ग्रहण किया जाता है। अथवा अ कहने पर स्वतः परिव्राजकका ग्रहण होनेपर भी विशेष बोधके लिए जैसे परिव्राजकका पृथक् ग्रह वैसे ही कर्म शब्दसे आदित्य आदि पुरुषोंका ग्रहण होनेपर उनमें अब्रह्मत्व बोध कराने लिए निरूपित कर्तृत्वका श्रुतिमें पृथक् ग्रहण किया गया है। अतः सब वेदान्तमें परमेश्वर ही इस प्रपञ्चका कर्ता और वेदितव्यरूपसे प्रतिपादित है। पूर्वपक्षमें यह वाक्य प्राणोपासना परक है, वह ब्रह्ममें समन्वित नहीं है, सिद्धान्तमें यह वाक्य ज्ञेय ब्रह्ममें समन्वित है ॥ १६ ॥

* 'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य' इस श्रौत उपसंहारसे यह निश्चय होता है कि बालाकि और अ शत्रुके संवादरूप वाक्य समुदायमें ब्रह्म ही वेदितव्यरूपसे उपदिष्ट है। जीव और मुख्य प्रा उपासना पक्षमें ब्रह्म विषयक उपक्रमका और सर्व पापनिवृत्ति, स्वराज्य-निरतिशय फलकी प्राप्ति

श्चैवं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद' इति। नन्वेवं सति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णीयेत। न निर्णीयते; 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्रानिर्धारितत्वात्। तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणशङ्का पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते। प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मविषयो दृष्टः—'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा० ६।८।२) इत्यत्र। जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मविषयत्वादभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम् ॥१७॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

पदच्छेद—अन्यार्थम्, तु, जैमिनिः, प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्, अपि, च, एवम्, एके।

सूत्रार्थ (जैमिनिस्तु) आचार्य जैमिनि तो ऐसा मानते हैं कि इस प्रकरणमें जीवका परामर्श (अन्यार्थम्) ब्रह्मज्ञानके लिए है। (प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्) 'क्वैष एतद्बालाके' क्योंकि ऐसा प्रश्न और 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन० ऐसा उत्तर है, (अपि च) किञ्च (एके) वाजसनेयिशाखावाले (एवम्) 'य एष विज्ञानमयः०' इस प्रश्न और 'य एषोऽन्तर्हृदय' इस उत्तर द्वारा स्पष्ट कहते हैं कि विज्ञानात्मा परमात्मासे भिन्न है।

* अपि च नैवात्र विवदितव्यम्—जीवप्रधानं वेदं वाक्यं स्याद्ब्रह्मप्रधानं वेति। यतोऽन्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमस्मिन्वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात्? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्। प्रश्नस्तावत्सुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते—'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत्कुत एतदागात्' (कौ० ब्रा० ४।१९) इति। प्रतिवचनमपि 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि 'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः' (कौ०

स्वाराज्य और आधिपत्य प्राप्त करता है) इस तरह उपसंहार भी निरतिशय फलका श्रवण होनेसे ब्रह्मविषयक देखा जाता है। परन्तु ऐसा होनेपर तो प्रतर्दन वाक्यके निर्णयसे इस वाक्यका भी निर्णय हो जाता किन्तु निर्णय नहीं होता, क्योंकि 'यस्य नैतत्कर्म' इसका ब्रह्म विषयरूपसे वहाँ निर्धारण नहीं किया गया है। इसलिए यहाँ पुनः उत्पन्न हुई जीव और मुख्य प्राण शंकाका निवारण किया जाता है। प्राणबन्धनं हि० (हे सोम्य! मन प्राणरूप बन्धनवाला ही है) इसमें प्राणशब्द भी ब्रह्मविषयक देखा गया है। उपक्रम और उपसंहार ब्रह्मविषयक होनेसे जीव लिङ्गकी भी अभेदाभिप्रायसे ही योजना करनी चाहिए ॥ १७ ॥

और यहाँ विवाद भी नहीं करना चाहिए कि यह वाक्य जीव प्रधान है अथवा ब्रह्म प्रधान, कारण कि इस वाक्यमें आचार्य जैमिनि जीव परामर्शको अन्यार्थक-ब्रह्म-प्रतिपत्तिके लिए मानते हैं; क्योंकि प्रश्न और व्याख्यान-उत्तर है। सोये हुए पुरुषको उठाकर प्राणादिसे अन्य जीवके प्रतिबोधित होनेपर 'क्वैष एतद् बालाके पुरुषो० (हे बालाकि! यह पुरुष कहाँ सोता था, यह शयन कहाँ हुआ था अर्थात् यह सुप्त पुरुष किसको प्राप्त हुआ था और ऐक्य भ्रंशरूप आगमन कहाँसे हुआ) इस प्रकार जीवसे भिन्न विषयक फिर प्रश्न देखा जाता है। और 'यदा सुप्तः० (सोता हुआ पुरुष जब कोई स्वप्न नहीं देखता तब इस प्राणमें ही एक होता है) इत्यादि और 'एतस्मादात्मनः० (इस आत्मासे

सत्यानन्दी दीपिका

आधिपत्य बोधक उपसंहारका स्पष्ट विरोध है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानके बिना जीव और प्राणकी उपासनासे सर्वपापकी निवृत्ति और स्वराज्यकी प्राप्ति असंभव है ॥१७॥

* प्रथम सूत्रमें भोक्तृत्व आदि जीव लिङ्गसे ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया गया है। परन्तु इस सूत्रमें जीव लिङ्गसे जीवके कथन द्वारा ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि 'क्वैष एतद् बालाके०' इन वाक्योंमें जीवका परामर्श ब्रह्मके जाननेके लिए है।

ब्रा० ४।२०) इति च । सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति । परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा । * तस्माद्यत्रास्य जीवस्य निःसंबोधतास्वच्छता-रूपः-स्वाप उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहितं स्वरूपं, यतस्तद्भ्रंशरूपमागमनं, सोऽत्र परमात्मा वेदितव्यतया श्रावित इति गम्यते । अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्य-जातशत्रुसंवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति—'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इति प्रश्ने । प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इति । आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः 'दहरोऽस्मिन्नन्त-राकाशः' (छा० ८।१।१) इत्यत्र । 'सर्वं एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरणमामनन्तः परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तीति गम्यते । प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेशोऽभ्युच्चयः ॥१८॥

(६ वाक्यान्वयाधिकरणम् सू० १९-२२)

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

सूत्रार्थ—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिमें द्रष्टव्य आदि रूपसे उपदिष्ट आत्मा परमात्मा ही है, क्योंकि उपक्रम आदिके पर्यालोचनसे ज्ञात होता है कि ब्रह्ममें ही वाक्यका अन्वय है ।

* बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽधीयते—'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्युपक्रम्य 'न वा

विस्फुलिङ्गोंकी तरह वाग् आदि प्राण अपने-अपने स्थानपर जाते हैं, प्राणोंसे देव और देवोंसे लोक निकलते—उत्पन्न होते हैं) प्रतिवचन भी है । सुषुप्तिकालमें जीव पर ब्रह्मके साथ एक हो जाता है और परब्रह्मसे प्राणादि जगत् उत्पन्न होता है, यह वेदान्त मर्यादा-सिद्धान्त है । इससे ज्ञात होता है कि जिसमें इस जीवका भान रहित स्वच्छतारूप स्वाप है अर्थात् उपाधि-जनित विशेष विज्ञान रहित स्वरूप है, जिस स्वरूपसे वह पतनरूप आगमन है, वह परमात्मा यहाँ वेदितव्यरूपसे सुनाया जाता है अर्थात् प्रतिपादित है । और इस प्रकार वाजसनेयी शाखावाले बालाकि और अजातशत्रुके इसी संवादमें विज्ञानमय शब्दसे जीवका स्पष्ट श्रवण कराके उससे अन्य परमात्माको 'य एष विज्ञानमयः' (यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, तब कहाँ था ? और यह कहाँसे आया ?) इस प्रश्नमें और 'य एष० (हृदयमें जो यह आकाश है उसमें सोता है) इस प्रतिवचनमें भी कहते हैं । 'दहरोऽस्मिन्-न्तराकाशः' (इसमें जो सूक्ष्म आकाश है) इस छान्दोग्य श्रुतिमें आकाश शब्द परमात्मामें प्रयुक्त है। 'सर्वं एत आत्मनो० (ये सब आत्मासे निकलते हैं) इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उपाधि युक्त आत्माओंका अन्यमेंसे निकलना श्रवण कराते हुए परामात्माका ही कारणरूपसे प्रतिपादन करते हैं। प्राणके निराकरणमें सुषुप्त पुरुषके उत्थानके साथ प्राणादिसे अतिरिक्त जीवके उपदेशरूप हेतुका भी संग्रह कर लेना चाहिए अर्थात् प्राणके निराकरणमें यह भी हेतु है ॥ १८ ॥

बृहदारण्यकके मैत्रेयीब्राह्मणमें 'न वा अरे पत्युः (अरे मैत्रेयी ! स्त्रीको पतिके लिए पति प्रिय नहीं होता) इस प्रकार आरम्भकर आगे 'न वा अरे० (अरे मैत्रेयी ! सबके प्रयोजनके लिए सब

सत्यानन्दी दीपिका

* 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति० (हे सोम्य ! सुषुप्तिमें जीव सत् ब्रह्मके साथ एक होता है) इस प्रकार सुषुप्तिमें जीवका आविर्भाव और तिरोभाव ब्रह्ममें ही होता है । चेतन जीव जड़ प्राणके साथ कदापि एक नहीं हो सकता । 'प्राणस्य प्राणम्' (वह तो प्राणका प्राण है) इस प्रकार यहाँ प्राण शब्द ब्रह्मका प्रतिपादक है । इसलिए यहाँ परमात्मा ही सबका कारणरूपसे उपदिष्ट और वेदितव्य है । यहाँ जीव निराकरणकी तरह प्राणके निराकरणमें भी यह सूत्र हेतु समझना चाहिए । अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य जीवके परमार्थरूप प्रतिपादन द्वारा ब्रह्ममें ही समन्वित है ॥ १८ ॥

अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४।५।६) इति, तत्रैतद्विचिकित्स्यते--किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित्परमात्मेति । कुतः पुनरेषा विचिकित्सा ? प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विज्ञानात्मोपदेश इति प्रतिभाति । तथात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशात्परमात्मोपदेश इति । किं तावत्प्राप्तम् ? ❀ विज्ञानात्मोपदेश इति । कस्मात् ? उपक्रमसामर्थ्यात् । पतिजायापुत्रवित्तादिकं हि भोग्यभूतं सर्वं जगदात्मार्थतया प्रियं भवतीति प्रियसंसूचितं भोक्तारमात्मानमुपक्रम्यानन्तरमिदमात्मनो दर्शनाद्युपदिश्यमानं कस्यान्यस्यात्मनः स्यात् ? मध्येऽपि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन ब्रुवन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति । तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहरन्विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति । तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं भोक्त्र-

---

प्रिय नहीं होते, अपने प्रयोजन-सुखके लिए सब प्रिय होते हैं, अतः 'अरी मैत्रेयी ! आत्मा ही दर्शनके योग्य है, अतः उसका श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए, निदिध्यासना करना चाहिए, अरी मैत्रेयी ! निश्चय ही आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञानसे यह सब विदित हो जाता है) इस प्रकार अध्ययन करते हैं । यहाँ यह संशय होता है कि क्या यह विज्ञानात्मा ही द्रष्टव्य श्रोतव्यादि रूपसे उपदिष्ट है अथवा परमात्मा ? भला यह संशय क्यों होता है ? प्रिय शब्दसे सूचित भोक्ता आत्माका उपक्रम होनेके कारण प्रतीत होता है कि विज्ञानात्माका उपदेश है । उसी प्रकार आत्मविज्ञानसे सबके विज्ञानका उपदेश होनेसे परमात्माका उपदेश प्रतीत होता है । तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—विज्ञानात्माका यह उपदेश है, क्योंकि उपक्रमकी सामर्थ्य है । पति, स्त्री, पुत्र, वित्त आदि भोग्यरूप सारा जगत् आत्माके लिए प्रिय होता है, इसप्रकार प्रिय शब्दसे संसूचित भोक्ता आत्माका उपक्रमकर अनन्तर उपदेश किए हुए आत्माके दर्शनादि किसी अन्य आत्माके होंगे ? मध्यमें भी 'इदं महद्भूत०' (यह महान्, सत्य, अनन्त, अपार और विज्ञानैकरस इन भूतोंसे विशेषरूपसे समुत्थित होकर उन्हींके साथ नष्ट हो जाता है । इसप्रकार मर जानेपर इसकी संज्ञा नहीं रहती) इसप्रकार प्रकृत द्रष्टव्य महान् भूतका ही भूतोंसे विज्ञानात्मरूपसे समुत्थान कहती हुई श्रुति विज्ञात्मा ही द्रष्टव्य है ऐसा दिखलाती है । इसीप्रकार 'विज्ञातारमरे०' (अरे मैत्रेयी ! विज्ञाताको किससे जाने) इसप्रकार कर्तृवाचक शब्दसे उपसंहार करती हुई श्रुति विज्ञाता विज्ञानात्मा ही उपदिष्ट है ऐसा दिखलाती है । इससे यह समझना चाहिए कि आत्मविज्ञानसे सबका विज्ञान होता है, यह वचन भोक्ताके लिए होनेसे भोग्य समूहमें गौण है ।

सत्यानन्दी दीपिका

* 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस उपक्रमके बलसे जैसे पूर्वाधिकरणका विषय वाक्य ब्रह्म परक माना गया है, वैसे 'न वा अरे पत्युः कामाय' इस प्रकार मैत्रेयी ब्राह्मणमें जीवका उपक्रम होनेसे यह वाक्य जीव परक होना चाहिए, इस तरह दृष्टान्त संगतिसे 'किं तावत्' इत्यादिसे पूर्वपक्ष करते हैं ।

❀ 'आत्मनस्तु कामाय' इसप्रकार उपक्रममें आत्मशब्दसे विज्ञानात्माका ही ग्रहण है । मरण समयमें सब भूतोंसे समुत्थान भी विज्ञानात्माका होता है, यह मध्यमें वर्णन है और उपसंहारमें कर्तृवाची शब्दसे विज्ञानात्माका उपदेश है । इसलिए उपक्रम, मध्य और उपसंहारसे यहां विज्ञानात्मा ही द्रष्टव्य आदि रूपसे उपदिष्ट है । किञ्च 'आत्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है' यह प्रतिज्ञा है, यद्यपि वह जीव पक्षमें मुख्यरूपसे सम्भव नहीं है, क्योंकि भोक्ता आत्मासे भोग्य समुदाय अत्यन्त

थं:वाद्भोग्यजातस्यौपचारिकं द्रष्टव्यमिति । ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मोपदेश एवा
कस्मात् ? वाक्यान्वयात् । वाक्यं हीदं पौर्वापर्येणावेद्यमाणं परमात्मानं प्रति अन्विताव
लक्ष्यते । कथमिति, तदुपपाद्यते—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इति याज्ञवल्क्यादु
'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वमाशासा
मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमिदमुपदिशति । न चान्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वम
श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति । ❀ तथा चात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानं नान्यत्र परमका
विज्ञानान्मुख्यमवकल्पते । नचैतदौपचारिकमाश्रयितुं शक्यं, यत्कारणमात्मविज्ञानेन
विज्ञानं प्रतिज्ञायानन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म
इत्यादिना । यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगदात्मनोऽन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति
मिथ्यादर्शिनं तमेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पराकरोतीति भेददृष्टिमपोद्य 'इदं
यदयमात्मा' इति सर्वस्य वस्तुजातस्यात्माव्यतिरेकमवतारयति 'दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च' (
४।५।८) तमेवाव्यतिरेकं द्रढयति । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० ४।५।

सिद्धान्ती—ऐसे प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परमात्माका ही यह उपदेश है, क्योंकि
ही वाक्योंका अन्वय है । पूर्वापरके पर्यालोकनसे इस वाक्यके अवयव परमात्मामें ही अन्वित
होते हैं । कैसे अन्वित होते हैं ? उसका उपपादन करते हैं 'अमृतत्वस्य० (अमृतत्वकी तो
आशा नहीं है) इस प्रकार याज्ञवल्क्यसे सुनकर 'येनाहं० (जिससे मैं अमर नहीं हो सकती,
लेकर मैं क्या करूँगी ? हे भगवन् ! जो अमृतत्वका साधन जानते हों वही मुझे बतलावें) इस
अमृतत्वकी आशा रखनेवाली मैत्रेयीको याज्ञवल्क्य इस आत्मविज्ञानका उपदेश करते हैं । पर
विज्ञानके सिवा अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं है, ऐसा श्रुति और स्मृति वचन कहते हैं । उसी प्रकार
विज्ञानसे कहा हुआ जो सर्वविज्ञान है वह परम कारण विज्ञानके विना मुख्यरूपसे नहीं हो सकता,
कथन औपचारिक भी ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रति
'ब्रह्म तं० (ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जातिको आत्मासे भिन्न समझता
इत्यादि अग्रिम ग्रन्थसे उसीका उपपादन करता है । निश्चय जो ब्रह्म क्षत्र आदि जगत्को आ
अन्यत्र (भिन्न) स्वतन्त्ररूपसे सत्तावाला देखता है, वही मिथ्यादृष्ट ब्रह्म क्षत्रादि जगत् उस
दर्शीको कल्याणमार्गसे भ्रष्ट कर देता है, इस प्रकार भेददृष्टिका निषेधकर 'इदं सर्वं० (यह जो
है वह सब यह आत्मा है) इस तरह सम्पूर्ण वस्तुसमूहको आत्मासे अभिन्न अवतरण कहता
'दुन्दुभि आदि दृष्टान्तोंसे उसी अभेदको दृढ करता है । 'अस्य महतो० (जो यह ऋग्वेद है व

सत्यानन्दी दीपिका

भिन्न है, तो भी गौणरूपसे सम्भव है, कारण कि भोग्य समुदाय भोक्ताके लिए होता है,
जीवका ज्ञान होनेपर तदाश्रित भोग्य समूहका भी ज्ञान सुतरां हो जाता है, इसलिए 'आत्मा वा
द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुति वाक्योंसे जीवात्माका ही द्रष्टव्य आदिरूपसे उपदेश है ।

❀ पूर्वापर वाक्यों के पर्यालोकनसे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्योंमें परमा
ही उपदेश अवगत होता है, क्योंकि सारा मैत्रेयी ब्राह्मण ज्ञेय ब्रह्ममें ही समन्वित है ।

❀ जैसे दुन्दुभि, शंख और वीणाके सामान्य शब्दके ज्ञानसे गृह्यमाण तत् तत् अवान्तर
शब्द शुक्तिके ग्रहणसे ग्राह्य रजतके समान सामान्य शब्दमें कल्पित हैं, उससे भिन्न नहीं है,
आत्माके भानसे भास्य सब आत्ममात्र है यह निश्चित है । इस प्रकार एक विज्ञानसे सर्ववि
प्रतिज्ञा होनेसे ब्रह्मका निश्चय होता है । सर्वस्रष्टृत्वादि लिङ्गसे भी ब्रह्मका निश्चय होता है ।
'स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' (बृ० २।४।११)

इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति। ‘तथैवैकायनप्रक्रियायामपि’ (बृ० ४।५।१२) सविषयस्य सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य प्रपञ्चस्यैकायनमनन्तरमबाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति। तस्मात्परमात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति गम्यते ॥१९॥

यत्पुनरुक्तं—प्रियसंसूचितोपक्रमाद्विज्ञानात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति, अत्र ब्रूमः–

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

पदच्छेद—प्रतिज्ञासिद्धेः, लिङ्गम् , आश्मरथ्यः ।

सूत्रार्थ—(प्रतिज्ञासिद्धेः) ‘एकके विज्ञानसे सबका ज्ञान होता है’ इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिमें (लिङ्गम्) जीव ब्रह्मके अभेदांशको लेकर जीवका उपक्रम हेतु है, ऐसा (आश्मरथ्यः) आश्मरथ्य आचार्यका मत है।

❀ अस्त्यत्र प्रतिज्ञा ‘आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति’, ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’ इति च। तस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यत्प्रियसंसूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसंकीर्तनम्। यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात्ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातं तद्धीयेत। तस्मात्प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥२०॥

त्य ब्रह्मका निःश्वास है) इत्यादिसे प्रकृत आत्मामें नाम, रूप, कर्म प्रपञ्चकी कारणताका व्याख्यान करते हुए इस परमात्माका अवगम-बोध कराते हैं। ‘उसी प्रकार एकायन प्रक्रियामें भी’ विषय, इन्द्रिय और अन्तःकरणके साथ सम्पूर्ण प्रपञ्चका एक आधार बाह्य और आभ्यान्तर भेद शून्य, अखण्ड और प्रज्ञानैकरसका व्याख्यान करते हुए याज्ञवल्क्य इस परमात्माका ही बोध कराते हैं, इससे ज्ञात होता है कि परमात्माका ही यह दर्शनादि उपदेश है ॥ १९ ॥

जो यह कहा गया है कि प्रिय शब्दसे सूचित भोक्ता आत्माके उपक्रमसे विज्ञानात्माका ही यह दर्शन आदि उपदेश है, उसपर हम कहते हैं—

‘आत्मनि विज्ञाते० (आत्माका विज्ञान होनेपर इस सम्पूर्ण प्रपञ्चका ज्ञान हो जाता है) और ‘इदं सर्वं० (यह आत्मा ही यह सब कुछ है) ऐसी यहाँ प्रतिज्ञा है। प्रिय शब्दसे संसूचित आत्माका जो द्रष्टव्यत्वादि संकीर्तन है, यह लिङ्ग उस प्रतिज्ञाकी सिद्धिको सूचित करता है। यदि विज्ञानात्मा परमात्मासे अन्य हो तो परमात्माका विज्ञान होनेपर भी विज्ञानात्मा विज्ञात न होगा, इस प्रकार एक के विज्ञान होनेसे सबका विज्ञान होता है यह जो प्रतिज्ञा की गई है वह बाधित हो जायगी। इसलिए प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए जीवात्मा और परमात्माके अभेदांशको लेकर उपक्रम है, इस प्रकार आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥ २० ॥

सत्यानन्दी दीपिका

न जलोंका समुद्र एकमात्र आश्रय है, वैसे सब स्पर्शोंका त्वक् एकमात्र आश्रय है) यहाँ कार्यका कारणमें लय श्रुतिको विवक्षित है, अतः प्रपञ्चरूप कार्यका ब्रह्ममें लय प्रतिपादन करनेके लिए ‘एवं सर्वेषामात्मैकायनम्’ (सबका आत्मा एकमात्र आश्रय है) इस वाक्यका अध्याहार करना चाहिए। इस प्रकार एकायन (प्रलयकाल) प्रक्रियासे प्रपञ्चका आश्रय ब्रह्म सिद्ध होता है। अतः जीवसे समस्त जगत्की उत्पत्ति आदिके संभव न होनेसे मैत्रेयी ब्राह्मणमें उपदिष्ट आत्मा परमात्मा ही है। किञ्च ‘अमृतत्व फलसे उपक्रम, मध्यमें आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा, अन्तमें ‘महद्भूतमनन्तं’ इत्यादिसे मैत्रेयी ब्राह्मणमें ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है जीवात्मा नहीं। उसके विज्ञानसे ही भोक्तृभोग्यसमूहके ज्ञानकी प्रतिज्ञा भी सिद्ध होती है। अतः ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’ इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें परमात्मा ही द्रष्टव्य आदि रूपसे उपदिष्ट है। इसका फल पूर्वके समान है ॥१९॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

उत्क्रमिष्यतः, एवंभावात्, इति, औडुलोमिः।

पदच्छेद—उत्क्रमिष्यतः, एवंभावात्, इति, औडुलोमिः।

सूत्रार्थ—(उत्क्रमिष्यतः) ब्रह्म साक्षात्कार होनेके अनन्तर देह आदि संघातसे उत्क्र करते हुए जीवका (एवंभावात्) परमात्माके साथ ऐक्य होता है। इस भविष्यत् अभेदसे जीवका उपक्रम है, (औडुलोमिः) यह औडुलोमि आचार्यका मत है।

❀ विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातोपाधिसंपर्कात्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्या दिसाधनानुष्ठानात्संप्रसन्नस्य देहादिसंघातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मैक्योपपत्तेरिदमभेदेनो क्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। श्रुतिश्चैवं भवति—'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समु परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३) इति। क्वचिच्च जीवाश्रय नामरूपं नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहा तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्ड० ३।२।८) इति। यथा लोके न स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्त्येवं जीवोऽपि स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय पुरुषमुपैतीति हि तत्रार्थः प्रतीयते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै ॥२१॥

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके संघातरूप उपाधिके सम्बन्धसे कलुषित विज्ञानात्मा ज्ञान, ध्यान आदि साधनोंके अनुष्ठानसे संप्रसन्न हुए दृष्ट देहादि संघातसे उत्क्रमण होनेपर परमा साथ ऐक्य उपपन्न होता है, यह उपक्रम अभेदसे है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं। श्रुति ऐसी ही है—'एष सम्प्रसादो० (यह सम्प्रसाद-जीव इस शरीरसे समुत्थान कर-अनात्मा त्यागकर परमज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित होता है) कहीं पर जीवाश्रय नाम रूप औडुलोमि आचार्य नदीके दृष्टान्तसे ज्ञापन कराते हैं--'यथा नद्यः० (जैसे लोकमें नदियाँ स्वाश्रय ना रूपका त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, वैसे जीव भी स्वाश्रय नाम-रूपका त्यागकर परात्पर पुरुषको प्राप्त होता है) यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी तुल्यताके लिए ऐसा अर्थ प्रतीत होता है॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ अग्नि और विष्फुलिङ्गोंकी तरह जीव और ब्रह्मका भेद तथा अभेद है। अभेद अंशको 'आत्मावाअरेद्रष्टव्यः' यह जीवात्माका उपक्रम प्रतिज्ञाका साधक है, यह आश्मरथ्य आचार्यका मत है।

* देह आदि संघातके साथ सम्बन्ध होनेसे जीवका परमात्मासे संसार दशामें भेद है ब्रह्मात्मत्व साक्षात्कार होनेपर अविद्या तथा देह आदि संघातसे मुक्त होनेसे मुक्तिदशामें परमात्माके साथ अभेद होता है। इस प्रकार पाञ्चरात्र भी कहते हैं—

'आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च। मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः'॥

(मुक्ति पर्यन्त जीव और परमात्माका भेद ही है, मुक्ति दशामें तो भेद हेतुके अभाव हो जीवका परमात्माके साथ भेद नहीं है) इस भविष्यत् वृत्ति अभेदको लेकर 'आत्मा वा अरे द्र यह उपक्रम है। इस विषयमें 'एष सम्प्रसादः' यह श्रुति भी है। अब तक तो देहादि उपाधिसे कलुषित कहा गया है। परन्तु अब तो जीवमें 'क्वचिच्च' आदिसे नाम-रूप प्रपञ्चका आश्रयत्वरूप स्वाभाविक है, जैसे पार्थिव परमाणुमें श्यामत्व स्वाभाविक है वह पाक द्वारा निवृत्त हो जा वैसे ज्ञान ध्यान आदिसे उस कालुष्यको निवृत्तकर जीव परसेपर दिव्य पुरुषको प्राप्त होता है। विषयमें नदीका दृष्टान्त है। इस मतमें भविष्यत् वृत्तिको लेकर 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इ वाक्य अभेद परक समझने चाहिएँ। 'सिद्धान्तमें' ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे पूर्व जीवभेद आदि प्रपञ्च मात्र मिथ्या है, औडुलोमिके मतमें सत्य है। सिद्धान्तमें नाम रूप उपाधिके धर्म हैं और मतमें जीवात्माके हैं। इस प्रकार दोनोंमें अन्तर है ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

पदच्छेद—अवस्थितेः, इति, काशकृत्स्नः ।

सूत्रार्थ—(इति काशकृत्स्नः) ऐसा काशकृत्स्न आचार्यका मत है कि (अवस्थितेः) अविद्या कल्पित भेदसे ब्रह्म ही जीवरूपसे अवस्थित है, इसलिए जीवसे उपदेशका उपक्रम है ।

* अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदेनोपक्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते । तथाच ब्राह्मणम्—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इत्येवंजातीयकं परस्यैवात्मनो जीवभावेनावस्थानं दर्शयति । मन्त्रवर्णश्च—'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७) इत्येवंजातीयकः । न च तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक्सृष्टिः श्रुता, येन परस्मादात्मनोऽन्यस्तद्विकारो जीवः स्यात् । काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम् । आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं, तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात्कार्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते । ❀ औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते । तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते; प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवं च सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते । विकारात्मकत्वे हि जीवस्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसंबन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न तज्ज्ञानाद-

---

काशकृत्स्न आचार्य इस प्रकार मानते हैं कि इसी परमात्माकी इस जीवात्मरूपसे अवस्थिति होनेके कारण अभेदरूपसे यह उपक्रम युक्त है । उसी प्रकार 'अनेन जीवेनात्मना० (मैं इस जीवात्मरूपसे तेज, जल और अन्न इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेशकर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) इस तरहका ब्राह्मण वाक्य परमात्माका ही जीवात्मरूपसे अवस्थान दिखलाता है । और 'सर्वाणि रूपाणि० (सर्वज्ञ समस्त चराचरको उत्पन्नकर उनका नाम रख और उनमें प्रवेशकर भाषण आदि व्यवहार करता हुआ रहता है) इस प्रकारका मन्त्र भी है । तेज आदिकी सृष्टिमें जीवकी पृथक् सृष्टि श्रुत नहीं है जिससे कि जीव परमात्मासे अन्य एवं उसका विकार हो । काशकृत्स्न आचार्यका यह मत है कि अविकृत परमेश्वर ही जीव है अन्य नहीं है । आश्मरथ्यको तो यद्यपि जीवात्माका परमात्मासे अनन्यत्व अभिप्रेत है, तो भी 'प्रतिज्ञासिद्धेः' इस प्रकार सापेक्षत्वाभिधानसे यत्किञ्चित् कार्यकारणभाव अभिप्रेत है, ऐसा ज्ञात होता है । पुनः औडुलोमिके पक्षमें तो संसार दशाकी अपेक्षासे भेद और मोक्षावस्थाकी अपेक्षासे अभेद स्पष्ट प्रतीत होता है । उन सब मतोंमें आचार्य काशकृत्स्नका मत श्रुति अनुरूप ज्ञात होता है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादनके अभीष्ट अर्थके अनुसार है । श्रुति अनुरूप होनेसे उसके ज्ञानसे अमृतत्व हो सकता है । यदि जीवको ब्रह्मका विकारात्मक स्वीकार किया जाय तो प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेपर विकारका लय प्रसङ्ग हो जानेसे उसके ज्ञानसे अमृतत्व

सत्यानन्दी दीपिका

* परन्तु यह मत असंगत है, क्योंकि सत्य कार्य करण संघातवाला जीव यदि ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न है तो मुक्तिमें उसका ब्रह्मके साथ अभेद अनुपपन्न है, इस अरुचिसे 'अवस्थितेरिति' आदि सूत्र कहते हैं । आश्मरथ्य आचार्यके मतमें अग्नि और विस्फुलिङ्गोंकी तरह जीवकी परमात्मासे उत्पत्ति होनेके कारण जीव और ब्रह्मका भेद सत्य है । भेद अंशको लेकर दोनोंमें कार्यकारण भाव है । 'प्रतिज्ञासिद्धेः' 'एकके विज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिमें अभेद अंशको लेकर यह जीविका उपक्रम है ।

❀ यद्यपि 'यथाग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मासे प्राण उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतिसे

मृतत्वमवकल्पेत । अतश्च स्वाश्रयस्य नामरूपस्यासंभवादुपाध्याश्रयं नामरूपं जीव उपचर्य
अत एवोत्पत्तिरपि जीवस्य क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणोपाध्याश्रयव वेदित
यदप्युक्तं—प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्श
ज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयतीति, तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या । * 'प्रतिज्ञासिद्धे
माश्मरथ्यः' । इदमत्र प्रतिज्ञातम्—'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति' 'इदं सर्वं यदयमा
(बृह० २।४।६) इति च । उपपादितं च सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैकप्रसवत्वादेकप्रलयत
दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयोरव्यतिरेकप्रतिपादनात् । तस्या एव प्रतिज्ञायाः सि
सूचयत्येतल्लिङ्गं यन्महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन क
मित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । अभेदे हि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवक
इति । 'उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः' । उत्क्रमिष्यतो विज्ञानात्मनो ज्ञानध्यानादिसामर्थ्
त्संप्रसन्नस्य परेणात्मनैक्यसंभवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । 'अवं
तेरिति काशकृत्स्नः' । अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभे
भिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते । * ननूच्छेदाभिधानमेतत् 'एतेभ्यो भू

संभव नहीं है । अतः स्वाश्रय नामरूपका असम्भव होनेसे उपाधि आश्रय नामरूपका जीवमें उ
होता है । इसी कारण कहीं अग्नि और विस्फुलिङ्गोंके उदाहरणसे सुनाई हुई जीवकी उत्प
उपाधिके आश्रित ही समझनी चाहिए । जो यह कहा गया है कि प्रकृत द्रष्टव्य महान् सत्य स
विज्ञानात्मरूपसे भूतोंसे समुत्थान दिखलाते हुए मुनि याज्ञवल्क्य विज्ञानात्मा ही यह द्रष्टव्य है
दिखलाते हैं । उसमें भी इस त्रिसूत्रीकी योजना करनी चाहिए । 'प्रतिज्ञासिद्धेः' यहाँ पर 'आ
विदिते० (आत्माके विदित होनेपर सब विदित हो जाता है) और 'इदं सर्वं० (यह सब दृश्य
आत्मा ही है) ऐसी प्रतिज्ञा की गई है । नाम, रूप और कर्म प्रपञ्चका आत्मरूपत्व उपपादित है,
एक उत्पत्ति स्थान और एक प्रलय स्थान होनेसे और दुन्दुभि आदि दृष्टान्तोंसे कार्य और कार
अभेद प्रतिपादित है । जो सत्य द्रष्टव्य ब्रह्मका भूतोंसे विज्ञानात्मरूपसे समुत्थान कहा गया है
लिङ्ग इसी प्रतिज्ञाकी सिद्धिको सूचित करता है, ऐसा आश्मरथ्य आचार्यका मत है, क्योंकि
होनेपर प्रतिज्ञात एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान उपपन्न होता है । 'उत्क्रमिष्यतः० उत्क्रमण कर
ज्ञान, ध्यान आदिकी सामर्थ्यसे सम्यक् प्रसन्न हुए विज्ञानात्माका परमात्माके साथ ऐक्य सम्भव है
यह अभेद कथन युक्त है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं । 'अवस्थितेरिति०' इसी परमा
विज्ञानात्मरूपसे अवस्थिति होनेसे यह अभेदका अभिधान उपपन्न है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य
हैं । परन्तु 'एतेभ्यो भूतेभ्यः० (यह प्रकृत द्रष्टव्य आत्मा ही पांच भूत रूप उपाधिसे जीव

सत्यानन्दी दीपिका

जीवकी उत्पत्तिका श्रवण होता है, तो भी यह कथन उपाधिकी उत्पत्तिको लेकर समझना चाहिए।

* 'आत्मनि विदिते०' इस श्रुतिसे एकके विज्ञानसे सबके ज्ञानकी प्रतिज्ञा दिखलाई
और 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इस शास्त्रसे आत्माकी सर्वात्मकता दिखलाकर उक्त प्रतिज्ञाका उ
किया गया है । यदि भेद सत्य हो तो एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा उपपन्न नहीं होगी।
भेद वादमें अभेद पक्षको लेकर प्रतिज्ञा उपपन्न होती है ।

'एतेभ्यो भूतेभ्यः' इस श्रुतिका तात्पर्य बिम्ब-प्रतिबिम्ब वादमें है । जैसे उदकपूर्ण
बिम्बभूत सूर्यादिका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस प्रतिबिम्बके आधार भूत जलका नाश होने पर प्रति
नष्ट हुआ प्रतीत होता है, वस्तुतः उसका बिम्बरूप होना ही नाश कहा जाता है । 'न प्रेत्य संज्ञा
'मरणानन्तर संज्ञा नहीं रहती' इस श्रुतिभागका भी यही तात्पर्य है कि बुद्धि आदि उपाधिवश

समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृह० २।४।१२) इति, कथमेतदभेदाभिधानम् ? नैष दोषः, विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं, नात्मोच्छेदाभिप्रायम्। 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्याऽर्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति। एतदुक्तं भवति—कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति। मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति। संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति। यदप्युक्तम्—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसंहाराद्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यमिति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम्। * अपि च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१३) इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणं विशेषविज्ञानं प्रपञ्च्य 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवा-

---

प्राप्त होकर, विद्यासे उपाधिकी निवृत्तिके अनन्तर नाशको प्राप्त हो जाता है, देहेन्द्रिय भावसे मुक्त होनेपर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती) इस प्रकार यह तो उच्छेदका अभिधान है, यह अभेदका अभिधान कैसे है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि यह विनाशका अभिधान तो विशेष विज्ञानके विनाशके अभिप्रायसे है आत्मोच्छेदके अभिप्रायसे नहीं है, कारण कि 'अत्रैव मा भगवान्० (हे भगवन् ! शरीरपातके अनन्तर कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती, ऐसा कहकर ही आपने मुझे मोहमें डाल दिया है) इस तरह पर्यनुयोग (शंका) कर श्रुतिने स्वयं ही अन्य अर्थको दिखलाया है। 'न वा अरे० (याज्ञवल्क्य—अरे मैत्रेयी ! मैं मोहका उपदेश नहीं कर रहा हूं। नाशहेतुरहित होनेसे यह आत्मा अविनाशी है, देह, इन्द्रिय आदिके साथ इसका संसर्ग नहीं है) तात्पर्य यह है कि यह आत्मा कूटस्थ, नित्य, विज्ञानैकरस है, इसके उच्छेदका प्रसंग ही नहीं। अविद्याकृत भूतेन्द्रियात्मक मात्राओंके साथ इसके संसर्गका अभाव विद्यासे होता है। संसर्गके अभाव होनेपर संसर्गकृत विशेष विज्ञानके अभाव होनेसे 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' ऐसा कहा है। 'विज्ञातारमरे० (हे मैत्रेयी ! विज्ञाताको किससे जाने) इस प्रकार कर्तृवाचक शब्दसे उपसंहार होनेसे विज्ञानात्माका ही यह द्रष्टव्यरूप उपदेश है, ऐसा जो कहा है, उसका भी काशकृत्स्नके दर्शनसे ही परिहार करना चाहिए। और भी 'यत्र हि० (परन्तु जहाँ अविद्यावस्थामें द्वैत-सा होता है वहाँ अन्य अन्यको देखता है) ऐसा आरम्भकर अविद्या विषयमें उसके दर्शन आदि रूप विशेष विज्ञानका प्रपञ्चकर 'यत्र त्वस्य० (किन्तु जहाँ-विद्यावस्थामें इसके लिए

सत्यानन्दी दीपिका

परमात्मा ही प्रतिविम्बरूप से जीवभावको प्राप्त हुआ है, 'अहंब्रह्मास्मि' इस प्रकार प्रत्यगभिन्न ब्रह्मज्ञान से अविद्या और तन्मूलक उपाधिके विलय होने पर प्रतिबिम्बरूप जीव कहाँ गया ? ऐसा सन्देह होता है। परन्तु वह तो कहीं गया नहीं, केवल बिम्बभूत परमात्मरूपसे अवस्थित है। पहले भी ब्रह्मस्वरूप ही है, किन्तु उपाधिवश पृथक्-सा प्रतीत होता है। अब उपाधि के विलय होने पर बिम्बरूपसे प्रतीत होता है। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' सुषुप्तिमें भी यह श्रुत्यर्थ लगाया जाता है, उसमें जाग्रत्, स्वप्न विषयक विशेष ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि उसमें ज्ञानके हेतुभूत मन इन्द्रिय आदिका विलय हो जाता है, इस अभिप्रायसे ऐसा श्रुति में वर्णन है, स्वरूपभूत ज्ञानको लेकर नहीं, कारण कि वह कूटस्थ नित्य ज्ञानस्वरूप है। किञ्च मैत्रेयी को यह शंका है कि 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्यमें मरणानन्तर आत्माका नाश प्रतीत होता है. उसके नाश हो जानेसे ज्ञानसे प्रतिपादित अमृतत्वकी प्राप्ति अयुक्त है। तब याज्ञवल्क्यने आत्माको अविनाशी कहकर मैत्रेयीकी शंका निवृत्तकी, अतः 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' यह वाक्य विशेष विज्ञानके नाशके अभिप्रायसे है आत्माके नाशके अभिप्रायसे नहीं।

---

* आश्मरथ्य और औडुलोमि इन दोनोंके मतमें सत्यभेदका अङ्गीकार होनेसे 'केन' ऐसा

भूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्या
मभिदधाति। पुनश्च विषयाभावेऽपि आत्मानं विजानीयात् इत्याशङ्क्य 'विज्ञातारमरे
विजानीयात्' इत्याह। ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपादनपरत्वाद्वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव
सन्भूतपूर्वगत्या कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते। दर्शितं तु पुरस्तात्काशकृत्स्न
पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम्। अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचित
पाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैर्वेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः। '
सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), '
सर्वम्' (मुण्ड० २।२।११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (
३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ६।८।११) इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः। स्मृतिभ्यश्च
देवः सर्वमिति' (गी० ७।१९), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३।२),
सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी० १३।२७) इत्येवंरूपाभ्यः, भेददर्शनापवादाच्च '
सावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' (बृ० १।४।१०) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह
पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इत्येवंजातीयकात्। 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो
ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति चात्मनि सर्वविक्रियाप्रतिषेधात्, अन्यथा च मुमुक्षूणां निरप
विज्ञानानुपपत्तेः, सुनिश्चितार्थत्वानुपपत्तेश्च। निरपवादं हि विज्ञानं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तक
विषयमिष्यते; 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्ड० ३।२।६) इति च श्रुतेः। 'तत्रको मो

सब आत्मा ही हो गया है वहाँ किससे किसे देखे) इत्यादिसे विद्याविषयमें उसके ही दर्शन आ
विशेष विज्ञानका अभाव कहते हैं। और विषयके अभावमें भी 'आत्माको विशेषरूपसे जाने'
आशङ्काकर 'विज्ञातारमरे०' ऐसा कहा है। यह वाक्य विशेष विज्ञानके अभावका उपपादन
इससे ऐसा ज्ञात होता है कि केवल विज्ञानैकरस ही भूतपूर्वगति-अविद्यादशा से कर्तृवाचक 'तृच्'
निर्दिष्ट है। और यह पहले ही दिखलाया गया है कि काशकृत्स्नका सिद्धान्त श्रुति-अनुकू
इसलिए विज्ञानात्मा और परमात्माका भेद अविद्यासे उपस्थापित नाम-रूपसे रचित-कल्पित
उपाधिसे है पारमार्थिक नहीं है, ऐसा अर्थ सब वेदान्त वादियोंको स्वीकार करना चाहिए,
'सदेव० (हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) 'आत्मैवेदं० (आत्मा ही
सब है) 'ब्रह्मैवेदं० (ब्रह्म ही यह सब है) 'इदं सर्वं० (यह सब आत्मा ही है) 'नान्यो० (
अन्य द्रष्टा नहीं है) 'नान्यदतो० (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इस प्रकारकी श्रुतियाँ और '
सर्वमिति' (सब वासुदेव है) 'क्षेत्रज्ञं चापि० (हे भारत! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे जान)
सर्वेषु० (सम्पूर्ण भूतोंमें समभावसे स्थित परमेश्वरको देखता है) इस प्रकारकी स्मृतियाँ हैं। '
(यह अन्य है, 'मैं अन्य हूँ' इस प्रकार जो उपासना करता है, वह पशुके समान है, तत्त्वको
जानता) 'मृत्योः स० (जो अद्वितीय आत्मामें अनेक-सा देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको
होता है) इस प्रकारकी श्रुतियोंसे भेद दर्शनका अपवाद है। क्योंकि 'स वा एष० (वही यह
अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है) इस प्रकार आत्मामें सब क्रिया
प्रतिषेध है, अन्यथा मुमुक्षुओंको अपवाद (बाध) रहित ज्ञानकी अनुपपत्ति होगी और सुनिश्चि
तत्त्व निश्चयकी भी अनुपपत्ति होगी, क्योंकि सर्व आकांक्षाओंका निवर्तक अपवाद रहित आत्म वि

सत्यानन्दी दीपिका

आक्षेप युक्त नहीं है। काशकृत्स्नके मतमें तो जीव ब्रह्मका अत्यन्त अभेद है, इसलिए नि
कारकका अभाव होनेसे 'केन' यह आक्षेप युक्त है। उस मतमें मनः कल्पित विज्ञातृत्व मुक्त ब्रह्म
अविद्या दशामें कर्तृवाचक 'तृच्' प्रत्यय द्वारा विज्ञातृत्वका प्रयोग किया गया है।

शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) इति च। 'स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतेश्च (गी० २।५४)। स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात्, क्षेत्रज्ञोऽयं परमात्मनो भिन्नः परमात्माऽयं क्षेत्रज्ञाद्भिन्न इत्येवंजातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्ययमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयत इति। ❀ नहि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायाम्' (तै० २।६) इति कांचिदेवैकां गुहामधिकृत्यैतदुक्तम्। न च ब्रह्मणोऽन्यो गुहायां निहितोऽस्ति, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेव प्रवेशश्रवणात्। ये तु निर्बन्धं कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थं बाधमानाः श्रेयोद्वारं सम्यग्दर्शनमेव बाधन्ते। कृतकमनित्यं च मोक्षं कल्पयन्ति। न्यायेन च न संगच्छन्त इति ॥२२॥

(७ प्रकृत्यधिकरणम् सू० २३-२७)

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

पदच्छेद—प्रकृतिः, च, प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

सूत्रार्थ—(प्रकृतिश्च) ब्रह्म उपादानकारण और निमित्तकारण भी है, (प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्) क्योंकि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इस प्रकार एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी प्रतिज्ञा और 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन०' इस तरह दृष्टान्तका सामंजस्य है।

❀ यथाभ्युदयहेतुत्वाद्धर्मो जिज्ञास्यः, एवं निःश्रेयसहेतुत्वाद्ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्।

विज्ञान ही इष्ट है। कारण कि 'वेदान्तविज्ञान० (जिन्होंने वेदान्तविज्ञानसे ज्ञेय अर्थका अच्छी तरह निश्चय कर लिया है) और 'तत्र को मोहः० (उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान्को क्या मोह और क्या शोक है) ऐसी श्रुतियाँ हैं। स्थित प्रज्ञका लक्षण कहनेवाली स्मृति भी है। इस प्रकार क्षेत्रज्ञ और परमात्माका एकत्व विषयक सम्यग् ज्ञान निश्चित होनेपर क्षेत्रज्ञ परमात्मा इस तरह नाम मात्रके भेद होनेसे यह क्षेत्रज्ञ परमात्मासे भिन्न है, यह परमात्मा क्षेत्रज्ञसे भिन्न है इस प्रकारका आत्मामें भेद विषयक आग्रह व्यर्थ है। यह एक ही आत्मा नाम मात्रके भेदसे बहुत प्रकारसे कहा जाता है। 'सत्यं० (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, जो पुरुष उसे बुद्धिरूप परमाकाशमें निहित जानता है) यह कथन किसी एक गुहाके उद्देश्यसे नहीं कहा गया है [किन्तु समष्टि बुद्धिरूप गुहाके उद्देश्यसे है]। और ब्रह्मसे अन्य भी गुहामें निहित नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा० (इसे रचकर वह इसमें अनुप्रविष्ट हो गया) इस प्रकार स्रष्टाके ही अनुप्रवेशकी श्रुति है। परंतु जो आचार्य [भेदादिका] आग्रह करते हैं वे वेदान्तार्थ (अत्यन्त दुःख निवृत्ति) का बाध करते हुए श्रेय द्वार सम्यग् ज्ञानका ही बाध करते हैं। कार्य और अनित्य मोक्षकी कल्पना करते हैं और न्यायका अनुसरण नहीं करते ॥२२॥

जो यह कहा गया है कि जैसे अभ्युदयका हेतु होनेसे धर्म जिज्ञास्य है, वैसे मोक्षका हेतु होनेसे

सत्यानन्दी दीपिका

❀ भेदाभेदवादी आश्मरथ्यका मत और मोक्ष दशामें अभेदवादी औडुलोमिका मत 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेहनानास्ति किञ्चन' 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि भेद बाधक और अभेद प्रतिपादक श्रुतियोंसे बाधित है। भेदाभेदवादी मोक्षको ज्ञान और कर्म साध्य मानते हैं, उनके मतसे मोक्षमें अनित्यत्व दोष तो वज्रलेप है। जो क्रिया साध्य है वह अनित्य है, यह न्याय है, इस न्यायसे भी बाधित है। वेदान्त मत में अनर्थकी निवृत्ति ज्ञान साध्य होनेसे और नित्यमुक्त आत्ममात्र होनेसे कोई दोष नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्मका अत्यन्त अभेद है और वेदोंमें ब्राह्मण प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें ही समन्वित है। पूर्वपक्षमें 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह वाक्य जीवोपासनापरक है और सिद्धान्तमें ज्ञेय प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें इस वाक्यका समन्वय फल है ॥ २२ ॥

ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः (ब्र० १।१।२) इति लक्षितम्। तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां
वर्णादिवत्प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च समानमित्यतो भवति विमर्शः
किमात्मकं पुनर्ब्रह्मणः कारणत्वं स्यादिति। तत्र निमित्तकारणमेव तावत्केवलं
प्रतिभाति। कस्मात्? ईक्षापूर्वककर्तृत्वश्रवणात्। ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मणः कर्तृत्वमवगम्यते
'स ईक्षांचक्रे' (प्र० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। ईक्षापूर्वकं च
निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु दृष्टम्। ❀ अनेककारकपूर्विका च क्रियाफलसिद्धिर्लोके
स च न्याय आदिकर्तर्यपि युक्तः संक्रमयितुम्; ईश्वरत्वप्रसिद्धेश्च। ईश्वराणां हि राज
स्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते, तद्वत्परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वं
युक्तं प्रतिपत्तुम्। कार्यं चेदं जगत्सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य
नैव भवितव्यम्; कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात्। ब्रह्म च नैवंलक्षणमवगम्यते '
निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः। पारिशेष्याद्ब्रह्मणोऽ

ब्रह्मजिज्ञास्य है। और 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रसे ब्रह्मका लक्षण कहा गया है। उस लक्षणके
घट, आभूषण आदिके प्रति मृत् और सुवर्णादि आदिके समान उपादान कारण और कुम्हार,
कार आदिके समान निमित्तकारण है यह समान है, इससे संशय होता है कि ब्रह्म किस
कारण है? पूर्वपक्षी—ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों कारणोंमें से ब्रह्म केवल निमित्त कारण
क्योंकि ईक्षण पूर्वक कर्तृत्वका श्रवण है। 'स ईक्षांचक्रे' (उसने ईक्षण किया) 'स प्राणम
(उसने प्राणकी सृष्टिकी) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत होता है कि ब्रह्म ईक्षण पूर्वक कर्ता है।
पूर्वक कर्तृत्व कुम्हार आदि निमित्त कारणोंमें ही देखा जाता है। अनेक कारक (कर्ता,
पूर्वक क्रियाके फलकी सिद्धि लोकमें देखी गई है। और वह न्याय आदिकर्तामें भी संक्रमित
युक्त है। और ईश्वरत्वकी प्रसिद्धिसे भी [ब्रह्म निमित्त कारण है], क्योंकि जैसे राजा वैवस्वत
आदि ईश्वर केवल निमित्तकारण ही प्रतीत होते हैं, वैसे परमेश्वरको भी केवल निमित्त कारण
युक्त है। और कार्यरूप यह जगत् सावयव, अचेतन और अशुद्ध देखा जाता है। उसका कारण
वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि कार्य कारणमें सादृश्य देखा जाता है। परन्तु 'निष्कलं० (
रहित, अक्रिय, शान्त, अनिन्द्य और निर्लेप) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म ऐसा प्रतीत नहीं होता।
परिशेषसे अर्थात् प्रकृत ब्रह्मके प्रतिषेध और अन्यत्र प्रसक्तिके अभाव होनेसे ब्रह्मसे भिन्न

सत्यानन्दी दीपिका

* 'जन्माद्यस्य यतः' इस लक्षण सूत्रसे ब्रह्म सामान्यतः कारण प्रतिपादित है, तो ब्रह्म
कर्ता होनेसे निमित्तकारण ही है अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारण है। इसप्रकार
जिज्ञासाके होनेपर इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है, सामान्य ज्ञान विशेष विचारका
अतः कार्य कारण भाव संगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है। यद्यपि इस अधिकरणको
अधिकरणके अनन्तर देना उपयुक्त था, तो भी निश्चित तात्पर्यवाले वेदान्तोंसे केवल ईश्वर
कारण मतका निराकरण सहज समझकर समन्वयाध्यायके अन्तमें दिया है, अतः यह प्रकृति
करण सार्थक है। पूर्व अधिकरणमें सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा मुख्य होनेसे 'आत्मा वा अरे
इत्यादि वाक्यमें द्रष्टव्य शब्दसे जीवपरत्वका निरास किया गया है। परन्तु वह अयुक्त है,
और उपादानके भिन्न-भिन्न होनेसे यह सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा गौण है। इसप्रकार 'तत्र' इत्यादिसे
करते हैं। पूर्वपक्षमें द्वैतसिद्धि फल है, और सिद्धान्तमें अद्वैत सिद्धि फल है।

* ब्रह्म नोपादानं ईश्वरत्वाद् राजादिवत्' (जैसे राजा उपादान कारण नहीं है,
वह ईश्वर है, वैसे ईश्वर होनेसे ब्रह्म भी उपादान नहीं है) 'जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकं तद्विलक्षण

पादानकारणमशुद्ध्यादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धमभ्युपगन्तव्यम्। ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्यवसानादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञा तावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।२) इति। तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते। तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य। निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति; लोके तक्ष्णः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। * दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादानकारणगोचर एवाम्नायते। तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' 'एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।४,५,६) इति च। तथान्यत्रापि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।२) इति प्रतिज्ञा। 'यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति' (मुण्ड० १।१।७) इति दृष्टान्तः। तथा 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' इति प्रतिज्ञा। 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नु-

---

आदि गुण युक्त स्मृतिमें प्रसिद्ध [प्रधानको] उपादान कारण स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि ब्रह्ममें कारणत्व प्रतिपादक श्रुतिका निमित्त कारण मात्रमें पर्यवसान है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्मको प्रकृति अर्थात् उपादानकारण और निमित्त कारण स्वीकार करना चाहिए। केवल निमित्तकारण ही नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका अनुपरोध है। ब्रह्मको उभय कारण माननेसे श्रुति-प्रतिपादित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त बाधित नहीं होते। 'उत तमादेश' (क्या तूने गुरुसे वह आदेश पूछा है? जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है। और अविज्ञात विशेषरूपसे ज्ञात हो जाता है) यह प्रतिज्ञा है। उसमें ऐसा प्रतीत होता है कि एकके विज्ञात होनेसे अन्य सब अविज्ञात भी विज्ञात हो जाते हैं। वह सर्वविज्ञान उपादान कारणके विज्ञान होनेपर संभव है, क्योंकि कार्य उपादान कारणसे अभिन्न होता है किन्तु निमित्तकारणसे कार्य अभिन्न नहीं होता, कारण कि लोक में बढ़ई-कारीगर महलसे भिन्न देखनेमें आता है। 'यथा सोम्यैकेन० (हे सोम्य! जैसे एक मृत्पिण्डके विज्ञान-से सब मृत्तिकाके विकारोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है) तथा 'एकेन लोहमणिना० (एक लोहमणि—सुवर्णमणिके विज्ञात होनेपर सब सुवर्ण विकार ज्ञात होजाते हैं) और 'एकेन नखनिकृन्तनेन० (एक नहन्नाके ज्ञानसे सब लोहके विकार ज्ञात हो जाते हैं) इसप्रकार दृष्टान्त भी उपादानकारण विषयक कहा गया है। उसी प्रकार अन्य स्थलोंमें भी 'कस्मिन्नु भगवो० (शौनक—हे भगवन्! किसके जान लिए जानेपर यह सब कुछ जान लिया जाता है) ऐसी प्रतिज्ञा है, और 'यथा पृथिव्याम० (जैसे पृथिवीमें औषधियाँ उत्पन्न होती हैं) ऐसा दृष्टान्त है। तथा 'आत्मनि० (हे मैत्रेयी! निश्चय ही आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जानेपर इन सबका ज्ञान हो जाता है) ऐसी प्रतिज्ञा है और 'स यथा० (वह दृष्टान्त ऐसा

सत्यानन्दी दीपिका

कुलालविलक्षणघटवत्' (जगत् ब्रह्म उपादान कारण वाला नहीं है, क्यों वह उससे विलक्षण है, यथा घट कुलालसे विलक्षण है) इसलिए ब्रह्मसे भिन्न कार्यके सदृश सांख्य स्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधान ही कारण होना युक्त है।

* 'यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' (मु० १।१।७) (जैसे जीवित पुरुषसे केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अक्षरसे यह विश्व प्रकट होता है) यह भी दृष्टान्त है। उभयकारणरूप ब्रह्मके जाननेसे तदभिन्न सम्पूर्ण कार्य प्रपञ्च ज्ञात हो जाता है। इसप्रकार

यादृग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' (बृ० ४।५।६,८) इति दृष्टा
एवं यथासंभवं प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्वसाधनौ प्रत्येतव्यौ। यत इतीयं पञ्च
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा० सू० १।४।३०) इति वि
स्मरणात्प्रकृतिलक्षण एवापादाने द्रष्टव्या। निमित्तत्वं त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्त
यथा हि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीनधिष्ठातॄनपेक्ष्य प्र
नैवं ब्रह्मण उपादानकारणस्य सतोऽन्योऽधिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमि
धारणात्। अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः। अधिष्ठा
ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यासंभवात्प्रतिज्ञादृष्टा
रोध एव स्यात्। तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मनः कर्तृत्वमुपादानांतराभावाच्च प्रकृतित्वम्।

कुतश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे ?—

अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥

पदच्छेद—अभिध्योपदेशात्, च।

सूत्रार्थ—'सोऽकामयत' इसप्रकार अभिध्यान-संकल्पका उपदेश होनेसे आत्मा कर्ता
कारण है और 'बहुस्याम्' (मैं बहुत होऊँ) इसप्रकार अभिध्यानका उपदेश होनेसे प्रकृति-उ
कारण भी है।

* अभिध्योपदेशश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय

है कि जिसपर लकड़ी आदिसे आघात किया जाता है, उस दुन्दुभि (नक्कारे) के ग्राह्य श
जिस प्रकार कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको ग्रहण करनेसे
शब्द भी गृहीत हो जाता है) ऐसा दृष्टान्त है। इसप्रजार यथासंभव प्रत्येक वेदान्तमें उपादान
सिद्ध करनेवाली प्रतिज्ञा और दृष्टान्त समझने चाहिएं। 'यतो वा० (जिससे ये भूत उत्पन्न हो
इस श्रुतिस्थ 'यतः' इस पदमें यह पञ्चमी विभक्ति 'जनिकर्तुः' (जायमानकी प्रकृतिकी संज्ञा उपादा
है) इस विशेष सूत्रसे प्रकृतिरूप उपादान अर्थमें ही समझनी चाहिए। ब्रह्मको निमित्तकारण हो
अधिष्ठाताके न होनेसे समझना चाहिए। जैसे लोकमें मृत्तिका, सुवर्ण आदि उपादानकारण कु
सुवर्णकार आदि अधिष्ठाताओंकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होते हैं, वैसे उपादानकारण सत् ब्रह्मको
अधिष्ठाताकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि जगत्की उत्पत्तिके पूर्व सजातीय, विजातीय, स्वगत भे
केवल एक अद्वितीय था, ऐसा अवधारण है। अन्य अधिष्ठाताका अभाव भी प्रतिज्ञा और दृ
बाधाभावसे ही कहा गया समझना चाहिए। उपादान कारणसे अन्य अधिष्ठाताके स्वीकार किये
फिर भी एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानका असंभव होनेसे प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका बाध ही होगा। इ
अन्य अधिष्ठाताके न होनेसे आत्मा कर्ता है और अन्य उपादानके न होनेसे प्रकृति है ॥ २३॥

आत्मा निमित्तकारण और उपादानकारण कैसे है ?

'सोऽकामयत० (उसने कामनाकी कि मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् मैं उत्पन्न होऊँ)
'तदैक्षत० (उसने ईक्षण-संकल्प किया कि मैं बहुत होऊँ) इसप्रकार सृष्टि संकल्पका उपदेश

सत्यानन्दी दीपिका

प्रतिज्ञा और दृष्टान्तरूप लिंगसे ब्रह्मको उपादानकारण सिद्धकर आगे 'यतः' आदिसे पञ्चमी वि
सिद्ध करते हैं ॥२३॥

* ब्रह्ममें दोनों प्रकारकी कारणताका उपपादन चार सूत्रोंसे करते हैं—अनागत वस्तु
इच्छा या संकल्पका नाम अभिध्या है। 'बहुस्यां' इसप्रकार बहुत होनेका संकल्प आत्म
होनेसे यह प्रतीत होता है कि कार्य और कारणका अभेद है ॥ २४ ॥

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च। तत्राभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते। बहु स्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद्बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते ॥२४॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२५॥

पदच्छेद—साक्षात्, च, उभयाम्नानात्।

सूत्रार्थ—(साक्षाच्चोभयाम्नानात्) 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इसप्रकार आकाश शब्दसे ब्रह्मका ग्रहणकर साक्षात् जगत्की उत्पत्ति और प्रलय सुने जाते हैं, अतः ब्रह्म ही जगत्का उपादानकारण है।

प्रकृतित्वस्यायमभ्युच्चयः इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद्ब्रह्मैव कारणमुपादायोभौ प्रभवप्रलयावाम्नायेते—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते। आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १।९।१) इति। यद्धि यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम्। यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी। 'साक्षात्' इति चोपादानान्तरानुपादानं दर्शयत्याकाशादेवेति। प्रत्यस्तमयश्च नोपादानादन्यत्र कार्यस्य दृष्टः ॥२५॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

पदच्छेद—आत्मकृतेः, परिणामात्।

सूत्रार्थ (आत्मकृतेः) 'तदात्मानं स्वयमकरुत' इसमें आत्मसम्बन्धी कृतिका श्रवण है, अतः ब्रह्म उभय कारण है, (परिणामात्) क्योंकि कर्तारूपसे पूर्वसिद्ध वस्तु भी विवर्तरूपसे साध्य हो सकती है, इससे ब्रह्म कृतिका कर्म-विषय है।

* इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायाम् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७) इत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति। आत्मानमिति कर्मत्वं, स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम्। कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं संपादयितुम ? परिणा-

---

निमित्त और प्रकृतित्व बोधित करता है। उसमें संकल्प पूर्वक स्वतन्त्र प्रवृत्तिसे आत्मा कर्ता-निमित्त-कारण है, ऐसा प्रतीत होता है और 'बहुस्यां' इसप्रकार बहुत होनेका संकल्प प्रत्यगात्मविषयक होनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि आत्मा प्रकृति-उपादानकारण भी है ॥ २४ ॥

उपादान कारण होनेमें यह दूसरा हेतु है. इससे भी ब्रह्म प्रकृति है। क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि० (ये समस्त भूत आकाशसे ही उत्पन्न होने हैं, आकाशमें ही लीन होते हैं) इस श्रुतिमें साक्षात् ब्रह्मका ही कारणरूपसे ग्रहणकर उत्पत्ति और प्रलय दोनों कहे गये हैं, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो जिससे उत्पन्न होता है और जिसमें लय होता है वह उसका उपादान होता है, जैसे धान, यव आदिका पृथिवी उपादानकारण है। श्रुतिस्थ 'आकाशादेव' इस 'एव' से सूचित अन्य उपादानके अग्रहणको सूत्रकार 'साक्षात्' पदसे दिखलाता है। कार्यका प्रलय भी उपादानसे भिन्नमें नहीं देखा गया है ॥ २५॥

और इस हेतुसे भी ब्रह्म प्रकृति है, क्योंकि ब्रह्मप्रक्रियामें 'तदात्मानं० (उसने स्वयं अपनेको ही नामरूपात्मक जगत्-रूपसे रचा) इस प्रकार यह श्रुति आत्माको कर्म और कर्तृरूपसे दिखलाती है। 'आत्मानम्' इस पदसे कर्मत्व और 'स्वयमकुरुत' इसपदसे आत्मामें कर्तृत्व दिखलाती है। परन्तु पूर्वसिद्ध एवं कर्तारूपसे व्यवस्थित पदार्थको क्रियाविषयत्व कैसे सम्पादन किया जा सकता है ? परिमाणसे,

सत्यानन्दी दीपिका

* 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इस श्रुतिमें 'आत्मानम्' यह द्वितीयान्तपद कर्मवाचक है और 'स्वयमकुरुत' यह प्रथमान्त 'तत्' पद कर्तृवाचक है, एकमें ही कर्मकर्तृभाव विरुद्ध है। आत्म-

मादिति ब्रूमः। पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासा मिति। विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्धः। स्वयमिति च विशेष मित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते। परिणामादिति वा पृथक्सूत्रम्। तस्यैषोऽर्थः— प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्मण एव विकारात्मना परिणामः सामानाधिकरण्येनाम्नायते त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च' (तै० २।६) इत्यादिनेति ॥२६॥

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

पदच्छेद—योनिः, च, हि, गीयते।

सूत्रार्थ—(हि) क्योंकि (योनिश्च गीयते) 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति' यहाँ प्रकृतिवाचक शब्दसे भी आत्मा कहा गया है, अतः ब्रह्म ही उपादान और निमित्तकरण है।

❀ इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यपि पठ्यते वेदान्तेषु 'कर्तारमीशं ब्रह्म योनिम्' (मुण्ड० ३।१।३) इति, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मुण्ड० १।१।६) च। योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके—'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम्। क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनि

ऐसा हम कह सकते हैं। पूर्वसिद्ध होते हुए भी आत्माने अविद्याबलसे अपनेको [आकाशादि] विकाररूपसे परिणत किया। विकाररूपसे परिणाम मृत्तिका आदि प्रकृतिमें उपलब्ध है। यहाँ इस विशेषणसे प्रतीत होता है कि उसे अन्य निमित्तकी अपेक्षा भी नहीं है। अथवा 'परि इतना अंश पृथक् सूत्र है। उसका यह अर्थ है कि इस कारणसे भी ब्रह्म प्रकृति है, क्योंकि त्यच्चाभवत्' (वह ब्रह्म ही मूर्त और अमूर्त हुआ, निर्वचन योग्य तथा निर्वचनके अयोग्य सद् इत्यादिसे श्रुति सामानाधिकरण्यसे ब्रह्मका ही विकाररूपसे यह परिणाम कहती है ॥ २६ ॥

और इस हेतुसे भी ब्रह्म प्रकृति है, क्योंकि 'कर्तारमीशं० (ब्रह्माके भी उत्पत्तिस्था जगत्कर्ता ईश्वर पुरुषको देखता है) और 'यद्भूतयोनिं० (जो सम्पूर्ण भूतोंका कारण उसे लोग सब ओर देखते हैं) इसप्रकार वेदान्तों-उपनिषदोंमें ब्रह्म योनि है, ऐसा भी पढ़ा जा 'पृथिवी योनि० (ओषधि और वनस्पतियोंकी योनि पृथिवी है) इसप्रकार व्यवहारमें निश्चित जाता है कि योनिशब्द प्रकृति वाचक है। स्त्रीकी योनि भी अवयव-शोणित द्वारा गर्भके प्रति उ

सत्यानन्दी दीपिका

सम्बन्धी कृति—व्यापार आत्मकृति कही जाती है। कृतिके साथ आत्माका सम्बन्ध विषयरूपसे आश्रयरूपसे है। पूर्वसिद्ध पदार्थ कृतिका आश्रय और विषय-साध्य होता है, इसलिए एक ही कृतिका आश्रय-कर्ता और विषय-कर्म हो यह विरुद्ध है ? परन्तु पूर्व सिद्ध वस्तु भी साध्य होती है, मृत्तिका आदि उपादान कारणोंमें घट आदिका विकाररूपसे परिणाम उपलब्ध होता है, वैसे आत्मा परिणाम हो सकता है। यहाँ परिणामका अर्थ विवर्त है। इसलिए 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तत् पद आत्माने स्वयं अपनेको साध्य-जगत्‌रूपसे परिणत किया) यहाँ आत्माही कृतिका कर्म और कृतिका कर्ता है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुति भी आत्मा ही सर्वात्मक है ऐसा कहते जैसे रज्जु सर्प आदि आकारसे प्रतीत होनेपर भी स्वयं विकार रहित है, वैसे ब्रह्म जगत्‌रूपसे होनेपर भी स्वयं विकार रहित है। अब 'परिणामात्' इतने अंशको पृथक् सूत्र मानकर व्याख्या करते जैसे 'मृद्घटः' (घट मृत्तिका है) इस सामानधिकरण्यसे मृत्तिका घटकी उपादान कारण है, वैसे त्यच्चाभवत्' (ब्रह्म मूर्त—पृथ्वी, जल और तेज, अमूर्त-वायु और आकाश हुआ) यथा 'देव व्याघ्रोऽभवत्' (योग बलसे देवदत्त स्वयं व्याघ्र हुआ) इत्यादि श्रुति, स्मृतिसे यह सिद्ध होता है ब्रह्म ही उभयकारण है ॥ २६ ॥

दृष्टः—'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' (ऋ० सं० १।१०४।१) इति। वाक्यशेषात्त्वत्र प्रकृतिवचनता परिगृह्यते 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मु० १।१।७) इत्येवंजातीयकात्। एवं प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम्। यत्पुनरिदमुक्तमीक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं नोपादानेष्वित्यादि, तत्प्रत्युच्यते—न लोकवदिह भवितव्यम्। न ह्ययमनुमानगम्योऽर्थः। शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य यथाशब्दमिह भवितव्यम्। शब्दश्चेक्षितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्यवोचाम। पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः ॥२७॥

(८ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् सू० २८)

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

पदच्छेद—एतेन, सर्वे, व्याख्याताः, व्याख्याताः।

सूत्रार्थ—(एतेन) प्रधान कारणवादके निराकरणसे (सर्वे) अणु, स्वभाव, असत् आदि-को जगत्‌का कारण मानने वालोंके मत भी (व्याख्याताः) निराकृत समझने चाहिएं, 'व्याख्याताः' इस पदका अभ्यास-दूसरी वार उच्चारण अध्याय समाप्तिका द्योतक है।

* 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५) इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन्प्रतिभान्तीति। स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य। देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाणवा-

---

कारण ही है। 'योनिष्ट इन्द्र०' (हे इन्द्र! आपके बैठनेके लिए मैंने स्थान बनाया है) इस तरह कहीं स्थान वाचक भी योनि शब्द देखा गया है। किञ्च 'यथोर्णनाभिः०' (जिस प्रकार मकड़ी जालेको बनाती और निगल जाती है) इसप्रकारके वाक्यशेषसे यहां योनिशब्द प्रकृति वाचक ग्रहण किया जाता है। इसप्रकार ब्रह्ममें उपादानकारणत्व प्रसिद्ध है। ईक्षापूर्वक कर्तृत्व लोकमें कुम्हार आदि निमित्तकारणोंमें देखा गया है उपादान कारणोंमें नहीं, इत्यादि जो कहा गया है, उसका निराकरण करते हैं कि यहां लोकके समान नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह अनुमानगम्य अर्थ नहीं है, किन्तु शब्दगम्य है, अतः इस अर्थको तो यहां शब्द-श्रुतिके अनुसार होना चाहिए। ऐसा हम कह चुके हैं कि शब्द-वेद ईक्षण कर्ता ईश्वर प्रकृति है ऐसा प्रतिपादन करता है। और पुनः यह सब विस्तार पूर्वक आगे भी [ब्र० सू० २।१।४ इत्यादि सूत्रोंसे] कहेंगे ॥ २७ ॥

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रसे आरम्भ कर अन्य सूत्रों द्वारा ही पुनः पुनः आशंका कर प्रधान-कारणवादका निराकरण किया गया है, क्योंकि मन्दमतियोंको उस पक्षके पोषक कुछ लिंगाभास वेदान्तोंमें आपाततः प्रतीत होते हैं, वह पक्ष कार्य कारणका अभेद स्वीकार करनेसे वेदान्तवादके अति निकटवर्ती है और देवलादि कुछ धर्म सूत्रकारोंने अपने ग्रंथोंमें उसको आश्रय दिया है। इससे उसके प्रतिषेधमें अत्यधिक यत्न किया गया, किन्तु परमाणु कारणवादके प्रतिषेधमें अत्यधिक यत्न नहीं

सत्यानन्दी दीपिका

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' आदि अशब्दत्वादि हेतुओंसे जैसे प्रधान कारणवादका निराकरण किया गया है, वैसे यहां अणु, स्वभाव, असत् कारणवादका निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके लिए भी कारणत्व बोधक शब्द सुने जाते हैं, इसप्रकार प्रत्युदाहरणसंगतिसे पूर्वपक्ष है। छां. अ. ६, में यहप्रसंग है-अदृश्य सदात्मासे दृश्य जगत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? श्वेतकेतुकी इस शंकाकी निवृत्ति करने तथा जगत्‌के कारणको समझानेके लिए उद्दालकने कहा—हे सोम्य! इन वटबीजोंमें से एक बीजको तोड़ो। उद्दालक—इसमें क्या देखते हो? श्वेतकेतु—'न किञ्चन' कुछ भी नहीं। उद्दालक—'एतमणिमानं' इस अणिमाको नहीं देखते हो? हे प्रिय! जिस सूक्ष्म दुर्लक्ष्य बीजको तुम नहीं देखते इसीसे यह

दिकारणवादप्रतिषेधे। तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्याः तेषाम पोद्बलकं वैदिकं किंचिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन्प्रतिभायादिति। अतः प्रधानमल्लनिबर्हण येनातिदिशति—एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः। तेषामपि प्रधानवदशब्दत्वाच्छब्दविरोधित्वाच्च व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥२८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥४॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

किया गया। परन्तु ब्रह्म कारणवाद पक्षके प्रतिपक्ष होनेसे वे भी प्रतिषेध करनेके योग्य है। मन्दमतियोंको आपाततः उनके भी पोषक कुछ वैदिक लिंग प्रतीत हो सकते हैं, इसलिए प्रधान निबर्हणन्यायसे अतिदेश करते हैं—इससे–प्रधान कारणवादके प्रतिषेधक न्याय समुदायसे सब आदि कारणवाद भी प्रतिषिद्धरूपसे व्याख्यात हुए समझने चाहिएँ, कारण कि वे भी प्रधान समान अशब्द और शब्द-श्रुति विरुद्ध हैं। 'व्याख्याता व्याख्याताः' इसप्रकार पदका अभ्यास-दो उच्चारण अध्याय समाप्तिका द्योतक है ॥ १८ ॥

“स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके प्रथमाध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त”

सत्यानन्दी दीपिका

महान् वटवृक्ष उत्पन्न होता है, एवं इस संसार वृक्षका बीज भी सुक्ष्म तथा दुर्लक्ष्य है। इससे किञ्चन' शब्दसे शून्यवाद और स्वभाववादकी प्रतीति होती है और अणु शब्दसे परमाणुवाद होता है। एवं 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) 'न किंचन भगव' आदि श्रुतिसे 'अण्व्य इवेमे धाना' (छा० ६।१२।१) 'अणोरणीयान्' (क०२।२०) आदि श्रुतिसे परमाणुवाद, रूपाभ्यामेव व्याक्रियत' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' आदि श्रुतिसे स्वभाववाद सिद्ध होता। ये अणु वाद श्रुति संगत हैं कि नहीं ? ऐसा संशय होनेपर श्रुतिमें असत्, अणु आदि पद उपलब्ध होते अतः उक्तवाद श्रौत है अर्थात् श्रुति संगत है।

सिद्धान्ती—उपक्रम और उपसंहार आदि लिंगसे निर्णीत एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा अनुकूल होनेसे मृत्तिका आदि दृष्टान्त मुख्य हैं और प्रतिज्ञाके प्रतिकूल होनेसे असद् आदि वाद असम्मत है। तत् तत् वाद समर्थक लिंगाभासोंकी तरह उक्त श्रुतिवाक्य और वटधान आदि दृष्टान्त गौण हैं। 'महतो महीयान्'(कठ० १।२।२०)इत्यादि श्रुतिवाक्य जगत्के कारणभूत ब्रह्ममें दुर्लक्ष्यताका बोध हैं, यहां 'असत्' शब्द प्रत्यक्षके अयोग्य वस्तुका प्रतिपादक है और 'अणु' पद सूक्ष्मपरक है। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिके बलसे असद्, शून्य आदि वाद उपपत्ति हीन होनेसे अप्रामाणिक हैं। अतः यहां प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायसे व्यवस्था समझनी चाहिए। प्रधान कारणवादकी तरह परमाणु कारणादि वाद भी श्रुतिसे अप्रतिपादित और ब्रह्मकारणवादसे बाधित हैं। इससे यह सुतरां सिद्ध होता है कि समस्त जगत्का ब्रह्म ही परम कारण है और उसमें ही सब वेदान्तों का समन्वय है। पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें वेदान्त समन्वयकी असिद्धि सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धि है।

प्रतिज्ञालक्षणं लक्ष्यमाणे पदसमन्वयः। वैदिकः स च तत्रैव नान्यत्रेत्यत्र साधितम् ॥

यहां इस ग्रन्थके प्रथम सूत्रमें ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा, द्वितीय सूत्रमें जगत् कारणरूपसे ब्रह्मका लक्षण, तृतीय सूत्रमें ब्रह्ममें प्रमाण प्रदर्शन और चतुर्थ सूत्रमें लक्ष्यमाण स्वतः सिद्ध प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें श्रुति-शास्त्रका समन्वय सिद्ध किया गया है। शेष ग्रंथसे प्रकृत ब्रह्ममें ही शास्त्रका समन्वय और अन्य समन्वयाभावका प्रतिपादन किया गया है ॥ २ ॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के प्रथमाध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

[द्वितीये अविरोधाख्याध्याये प्रथमपादे सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्ततर्कैश्च वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः]

अविरोध नामक द्वितीयाध्यायके प्रथम पादमें सांख्य, योग, काणादादि स्मृतियों और सांख्य आदि द्वारा प्रयुक्त तर्कोंसे वेदान्त समन्वय पर किए गए विरोधोंका परिहार है।

(१ स्मृत्यधिकरणम् सू० १-२)

* प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणम्, मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम्, उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं, मायावीव मायायाः। प्रसारितस्य च जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणं, अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य। स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद्वेदान्तवाक्यसमन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम्। प्रधानादिकारणवादाश्चाशब्दत्वेन निराकृताः। इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः, प्रधानादिवादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वं, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्यादिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्यस्यार्थजातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथमं तावत्स्मृतिविरोधमुपन्यस्य परिहरति—

जैसे मृत्तिका, सुवर्ण आदि घट, आभूषण आदिके कारण हैं, वैसे ही सर्वज्ञ, सर्वेश्वर जगत्की उत्पत्तिका कारण है, जैसे मायावी मायाका नियन्तारूपसे स्थितिका कारण है, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर नियन्तारूपसे उत्पन्न हुए जगत्की स्थितिका कारण है, और जैसे पृथिवी चार प्रकारके (जरायुज, अण्डज, उद्भिज और स्वेदिज) प्राणियोंके उपसंहारका कारण है अर्थात् इनका अपनेमें उपसंहार कर लेती है, वैसे ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर प्रसारित जगत्का पुनः अपनेमें ही उपसंहारका कारण है। वही हम सबका आत्मा है, ऐसा प्रथम अध्यायमें वेदान्त वाक्योंके समन्वय प्रतिपादन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। और प्रधान आदि कारणवादोंका भी श्रुति-अप्रतिपादितरूप हेतुसे निराकरण किया गया। अब अपने पक्षमें स्मृति और न्यायके विरोधका परिहार, प्रधान आदि कारणवादोंकी न्यायाभासकता-भ्रान्तिमूलकता और प्रत्येक उपनिषद्में सृष्टि आदि प्रक्रियाका अविरोध, इस विषय समुदायका प्रतिपादन करनेके लिए यह दूसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इन सबमेंसे पहले स्मृतिविरोधका उपन्यासकर परिहार करते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

* प्रथम और द्वितीय अध्यायका परस्पर विषय विषयिभाव सम्बन्ध है, क्योंकि प्रथम अध्यायमें वर्णित विषयको लेकर ही इस अध्यायमें आक्षेप और समाधान है, इसलिए पूर्व अध्याय विषय है और दूसरा अध्याय विषयी। जन्मादि सूत्रसे लेकर ऐसा कहा गया है कि जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण ब्रह्म है। 'शास्त्रदृष्ट्या' (ब्र० सू० १।१।३१) इत्यादि सूत्रोंसे 'वही अद्वितीय ब्रह्म सबका आत्मा है' ऐसा प्रतिपादन किया गया है। 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १।४।१) इत्यादि सूत्रोंमें ब्रह्मसे भिन्न प्रधान आदि कारण श्रुतिसे अप्रतिपादित हैं ऐसा दिखलाया गया है। इस प्रकार प्रथमाध्यायके अर्थका अनुवादकर उसी अर्थमें विरोधका परिहार करनेवाले द्वितीयाध्यायके अर्थका पाद क्रमानुसार 'इदानीम्' इत्यादिसे संक्षेपसे वर्णन किया जाता है। श्रुतियोंका जो ब्रह्ममें समन्वय किया गया है उसमें सांख्य आदि स्मृतियों और युक्तियोंसे जो विरोध उपस्थित होता है, उसका इस अध्यायके प्रथम पादमें परिहार किया जाता है। द्वितीय पादमें अविरोध दिखलानेके लिए सांख्यस्मृतियोंमें भ्रान्तिमूलकता दिखलाई गई है। तृतीयपादमें प्रत्येक उपनिषद्में सृष्टिश्रुतियों, जीव श्रुतियों और आकाश आदि महाभूतोंका जन्म और लय क्रम आदि कथनसे अविरोध प्रतिपादित है। और चतुर्थ

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग

चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥१॥

पदच्छेद—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः, इति, चेत्, न, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्।

सूत्रार्थ—(स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः) ब्रह्म जगत्का कारण होनेपर कपिल प्रणीत स्मृ अनवकाश दोष प्रसंग होगा, इससे वेदान्तोंका ब्रह्ममें समन्वय विरुद्ध है। (इति चेन्न) ऐसा कहो तो यह युक्त नहीं है, (अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्) चेतनकारणवादी अन्य मनु आ स्मृतियोंमें अनवकाश दोष प्रसंग आजायगा, अतः श्रुत्यनुसारी स्मृति प्रमाण है और तद्विरु अप्रमाण है, इससे समन्वयका विरोध नहीं है।

❀ यदुक्तं ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमिति, तदयुक्तम्; कुतः? स्मृत्यनवकाशदो प्रसङ्गात्। स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारि स्मृतयः, ता एवं सत्यनवकाशाः प्रसज्येरन्। तासु ह्यचेतनं प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारण निबध्यते। मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाग्निहोत्रादिना धर्मजातेनापेक्षितमर्थं स यन्त्यः सावकाशा भवन्ति। अस्य वर्णस्यास्मिन्कालेऽनेन विधानेनोपनयनं, ईदृशश्चाचा इत्थं वेदाध्ययनं, इत्थं समावर्तनं, इत्थं सहधर्मचारिणीसंयोग इति। तथा पुरुषार्थ वर्णाश्रमधर्मान्नानाविधान्विदधति। नैवं कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽ मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ताः प्रणीताः। यदि तत्राप्यनवकाशाः स्युरानर्थ मेवासां प्रसज्येत। तस्मात्तदविरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्याः। ❀ कथं पुनरीक्षत्यादि हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगतः कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन

जो यह कहा गया है कि सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है, वह अयुक्त है, क्यों? स्मृ अनवकाशरूपदोषका प्रसंग है। शास्त्र नामक वह स्मृति परम ऋषि द्वारा प्रणीत और शिष्ट पु गृहीत और तदनुसारी अन्य स्मृतियाँ भी हैं। ब्रह्म जगत्का कारण होनेपर वे (सब स्मृ अनवकाश-व्यर्थ हो जायँगी, क्योंकि उनमें अचेतन प्रधान स्वतन्त्ररूपसे जगत्का कारण उपनिबद्ध मनु आदि स्मृति ग्रन्थ तो चोदनात्मक-विध्यात्मक-विधि प्रमाणक अग्निहोत्रादि धर्म समूहसे अपे अर्थका वर्णन करते हुए सावकाश होते हैं। इस वर्णका इस कालमें इस विधान (विधि) से उप इस प्रकारका आचार, इस तरहसे वेदाध्ययन, इस प्रकार समावर्तन, इस तरह अपनी पत्नीके व्यवहार ये सब उनमें प्रतिपादित हैं। तथा पुरुषार्थोंको (धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको) वर्णाश्रमोंके विविध धर्मोंको विधान करते हैं। ऐसी परिस्थितिमें कपिल आदि प्रणीत स्मृयोंका अ विषयमें अवकाश नहीं है, क्योंकि मोक्षके साधन तत्त्वज्ञानको अधिकृतकर ही वे प्रणीत हुई हैं। वहाँ भी अनवकाश (अवकाशरहित) हुई तो अनर्थक हो जायंगी, इसलिए जैसे कपिल आदि स्मृ साथ विरोध न हो ऐसे ही वेदान्तवाक्योंका व्याख्यान करना चाहिए। जब कि ईक्षति आदि हे

सत्यानन्दी दीपिका

पादमें लिङ्ग शरीर श्रुतियोंका अविरोध प्रतिपादित है। यही विषय सूखपूर्वक समझनेके लिए

"द्विनीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता। भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता॥"

(द्वितीय अध्यायमें स्मृति और तर्कसे श्रुतिका अविरोध, अन्य मतोंकी असाधुता, भूतश्रुति, भोक्तृ श्रुति और लिङ्गशरीर श्रुतियोंका अविरोध कहा गया है) इस श्लोकमें संगृहीत है। अ अर्थमें विरोधकी शङ्का और समाधान अयुक्त है, इसलिए समन्वयाध्यायके अनन्तर अविरोधाध्या आरम्भ युक्त है। अतः सबसे पूर्व सांख्य आदि स्मृति विरोधका उपन्यासकर उसका परिहार करते

* अवकाश रहित सांख्य स्मृतिसे सावकाशवेदका इस अर्थमें संकोच करना चाहिए, सावकाश और निरवकाश दोनोंका परस्पर विरोध होनेपर निरवकाश बलवान् होता है, यह निय

राक्षिप्यते ? भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्रप्रज्ञानाम्। परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नुवन्तः प्रख्यातप्रणेतृकासु स्मृतिष्ववलम्बेरन्। तद्बलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन्। अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्बहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु। कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५।२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं संभावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः। तस्य समाधिः—नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन्। ता उदाहरिष्यामः—'यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्' इति परं ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' इत्याह। तथान्यत्रापि 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे संप्रलीयते' इत्याह। 'अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्गकाले

सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्‌का कारण है, यह श्रुत्यर्थ भली प्रकार निर्णीत हो चुका है, तब स्मृतिके अनवकाश दोष प्रसंगसे श्रुत्यर्थपर पुनः आक्षेप क्यों किया जाता है ? श्रुत्यर्थके समझनेमें स्वतन्त्र बुद्धि रखनेवाले विद्वज्जनोंके लिए यह आक्षेप नहीं है, किन्तु प्रायः परतन्त्र बुद्धिवाले मनुष्य स्वतन्त्ररूपसे श्रुत्यर्थका निर्णय करनेमें असमर्थ होते हुए प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा प्रणीत स्मृतियोंका अवलम्बन और उनके बलसे श्रुत्यर्थ जानना चाहेंगे। स्मृतियोंके प्रणेताओंपर अधिक आदर होनेके कारण संभवतः वे हमारे किये गये व्याख्यानपर विश्वास न करें। कपिल आदिका ज्ञान आर्ष और अप्रतिहत है ऐसी स्मृति है। 'ऋषि प्रसूतं०' (जिसने सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए कपिल ऋषि (हिरण्यगर्भ) को ज्ञानोंसे सम्पन्न किया और जन्म लेते हुए भी देखा) ऐसी श्रुति भी है। इसलिए उनके मतको अयथार्थ कहना संभव नहीं हो सकता। वे तर्कके बलसे अर्थका स्थापन करते हैं, इससे भी स्मृतिके बलसे वेदान्तों-उपनिषदोंका व्याख्यान करना चाहिए, ऐसा पुनः आक्षेप होता है। सिद्धान्ती—उसका समाधान करते हैं—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य स्मृतियोंमें अनवकाश दोष प्रसग होगा। यदि सांख्य स्मृतिके अनवकाश दोष प्रसंगसे ईश्वर कारणवाद पर आक्षेप किया जाय तो इसप्रकार ईश्वर कारण प्रतिपादक अन्य (मनु आदि) स्मृतियाँ भी अनवकाश दोषसे प्रसक्त हो जायँगी। उनको हम उद्धृत करते हैं—'यत्तत्सूक्ष्म०' (जो वह सूक्ष्म और अविज्ञेय है) इसप्रकार परब्रह्मको प्रस्तुतकर 'स ह्यन्तरात्मा०' (निश्चित वह भूतोंका अन्तरात्मा और क्षेत्रज्ञ है, ऐसा कहा जाता है) ऐसा कहकर 'तस्मादव्यक्त०' (हे द्विजश्रेष्ठ ! उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त-नाम-रूपसे अनभिव्यक्त जगत् उत्पन्न हुआ) ऐसा कहा है। उसीप्रकार अन्य स्थलोंमें भी 'अव्यक्तं०' (हे ब्रह्मन् ! निर्गुण पुरुषमें अव्यक्त लीन होता है) ऐसा कहा है। और 'अतश्च संक्षेपमिमं०' (तुम यह संक्षेपसे सुनो, यह समस्त जगत् पुराण पुरुष नारायणरूप है। वह सृष्टिकालमें सबको उत्पन्न करता है

सत्यानन्दी दीपिका

* अतीन्द्रिय अर्थोंके ज्ञाता होनेसे ऋषिलोग श्रद्धेय होते हैं, अतः उनसे प्रणीत स्मृतियों पर विश्वास किया जाता है। कहा भी गया है कि 'आदौ यो जायमानं च कपिलं जनयेदृषिम्। प्रसूतं विभृयाज्ज्ञानैस्तं पश्येत्परमेश्वरम् ॥' (जिसने आरम्भमें उत्पन्न हुए कपिल ऋषिको उत्पन्न होनेके अनन्तर ज्ञानोंसे—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्योंसे सम्पन्न किया उस परमेश्वरका दर्शन करे) इससे कपिलका महत्त्व व्यक्त किया गया है। 'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्' (प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध आगम युक्त शास्त्र) इत्यादि और 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (जो तर्कसे अर्थका अनुसन्धान करता है वह धर्मको जानता है दूसरा नहीं) इससे तर्क भी निर्णायक

च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥' इति पुराणे । भगवद्गीतासु च—'अहं कृ
जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (भ० गी० ७।६) इति । परमात्मानमेव च प्रकृत्यापस्तम्बः
'तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः' (ध० सू० १।८।२३।२) इति ।
कशः स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते । ❀ स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठ
स्मृतिबलेनैवोत्तरं वक्ष्यामीत्यतोऽयमन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यासः । दर्शितं तु श्रुतीनाम
कारणवादं प्रति तात्पर्यम् । विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यत
त्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्, अनपेक्ष्या इतराः । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'
त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १।३।३) इति । न चातीन्द्रियानर्थाञ्श्रुतिम
कश्चिदुपलभत इति शक्यं संभावयितुम् ; निमित्ताभावात् । शक्यं कपिलादीनां सिद्धा
प्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत्—न; सिद्धेरपि सापेक्षत्वात् । धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः ।
धर्मश्चोदनालक्षणः । ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशे
शङ्कितुं शक्यते । सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात्सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृ
प्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति । ❀ परतन्त्रप्रज्ञस्यापि ना

और पुनः संहार कालमें सबको अपनेमें लय करता है) इसप्रकार पुराणमें भी कहा है। और
कृत्स्नस्य० (मैं सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलय हूं) ऐसा भगवद्गीतामें है। परमात्माको
कर आपस्तम्ब कहता है—'तस्मात्कायाः० (उस परमेश्वरसे ब्रह्मादिसे लेकर स्तम्ब पर्यन्त स
उत्पन्न होते हैं, अतः वह उपादान है, कूटस्थ और नित्य है) इस तरह अनेक प्रकारसे स्मृ
ईश्वर निमित्त और उपादानरूपसे वर्णित है। स्मृतिके बलसे विरोध उपस्थित करनेवालेको स्मृ
ही उत्तर कहूँगा, इसलिए यह अन्य स्मृति अनवकाश दोषका उपन्यास किया है। श्रुतियोंका
तो ईश्वर कारणवादमें दिखलाया गया है। स्मृतियोंके परस्पर विरोध होनेपर एकका ग्रह
अन्यका परित्याग अवश्य कर्तव्य होनेसे श्रुत्यनुसारी स्मृतियां प्रमाण हैं और अन्य स्मृतियाँ अ
अप्रमाण हैं। क्योंकि 'विरोधे त्वनपेक्षं० (उपलब्ध श्रुतिके साथ स्मृतिका विरोध हो, तो व
अप्रमाणरूप है, विरोध न हो, तो श्रुतिका अनुमान होता है) इसप्रकार प्रमाण लक्षणमें क
गया है। श्रुतिके विना अतीन्द्रिय अर्थोंको कोई उपलब्ध करता है ऐसी संभवाना नहीं की जा
कारण कि कोई निमित्त (कारण) नहीं है। यदि कहो कि अप्रतिहतज्ञान होनेके कारण कपिल
सिद्धोंको अतीन्द्रिय अर्थोंका ज्ञान हो सकता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि सिद्धि भी सापे
सिद्धि धर्मानुष्ठानोंकी अपेक्षासे होती है। और वह धर्म चोदनात्मक-विधि प्रमाणक है। इसलिए
सिद्ध चोदना (वेदका) अर्थ अनन्तर सिद्ध पुरुषके वचन बलसे आक्षेप करनेके योग्य नहीं
सिद्धोंके वचनका आश्रयकर वेदार्थकी कल्पनामें भी सिद्ध बहुत होनेके कारण प्रदर्शित प्र
स्मृतियोंका विरोध होनेपर श्रुति आश्रयके विना कोई अन्य निर्णायक नहीं है। परतन्त्र बुद्धि

सत्यानन्दी दीपिका

माना गया है, तो उन्होंने तर्कके बलपर ही अपने अर्थ—प्रधान कारणवाद आदिकी स्थापना
अतः ऋषि प्रणीत और तर्क मूलक होनेसे सांख्य स्मृतिके अनुसार ही वेदान्तोंकी व्याख्या
चाहिए, ऐसा पुनः आक्षेप होता है।

* जैसे श्रुतियोंका गतिसामान्यसे ब्रह्मकारणवादमें अविरोध है, वैसे स्मृतियोंका प्र
कारणवादमें अविरोध नहीं है। इसलिए अविरुद्ध श्रौत अर्थ ही स्वीकार्य है। इससे श्रुति मूलक
आदि स्मृति ग्राह्य हैं, वेद विरुद्ध कपिल आदि प्रणीत स्मृति नहीं।

* 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं' यहां सर्वज्ञ शब्दसे श्रुतिका तात्पर्य ज्ञानातिशयमें है सर्वज्ञत्वमें

त्स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः; कस्यचित्क्वचित्पक्षपाते सति पुरुषमतिवैश्वरूप्येण तत्त्वाव्यवस्थानप्रसङ्गात्। तस्मात्तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्युपन्यासेन श्रुत्यनुसारानुसारिविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा संग्रहणीया। या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्; कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्, अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात् भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किंच मनुरवदत्तद्भेषजम्' (तै० सं० २।२।१०।२) इति। मनुना च 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥' (१२।९१) इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते; आत्मभेदाभ्युपगमात्। महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य 'बहवः पुरुषा राजन्सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन—'बहूनां पुरुषाणां हि

पुरुषका भी अकस्मात्–विना कारण किसी विशेष स्मृतिके विषयमें पक्षपात युक्त नहीं है, क्योंकि किसी तत्त्वप्रश्नका किसी विशेष स्मृतिमें पक्षपात होनेपर पुरुष बुद्धिकी विचित्रतासे तत्त्वकी अव्यवस्था हो जायगी। इससे स्मृति विरोधके उपन्याससे यह स्मृति श्रुति अनुसारी है यह स्मृति श्रुति अनुसारी नहीं है इस विषयका विवेचनकर उसकी भी बुद्धि सन्मार्गमें लानी चाहिए। जो श्रुति कपिलके ज्ञानातिशयको दिखलाती हुई दिखलाई गई है उससे श्रुति विरुद्ध कपिल मतपर श्रद्धा नहीं की जा सकती, क्योंकि 'कपिलं' इसप्रकार केवल सामान्य श्रुति मात्र है अर्थात् सांख्य स्मृति प्रणेता कपिल और श्रुत्युक्त कपिल दोनोंमें केवल शब्द सादृश्य है। यज्ञीय अश्वकी रक्षाके लिए नियुक्त सगरके पुत्रोंको शापसे दहन करनेवाले वासुदेव नामका एक दूसरा कपिल भी स्मृतिमें प्रसिद्ध है। किसी अन्य प्रमाणसे अप्राप्त अन्यार्थदर्शन–अन्य अर्थका अनुवाद स्वार्थसाधक नहीं होता है। और 'यद्वै किंच० (जो कुछ मनुने कहा वह औषध है) इस प्रकार मनुका माहात्म्य वर्णन करनेवाली दूसरी श्रुति है। 'सर्वभूतेषु० (सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता हुआ आत्मयाजी निश्चय स्वराज्य-ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है) इससे यह प्रतीत होता है कि सर्वात्मत्वदर्शनकी प्रशंसा करते हुए मनुने कपिलमतकी निन्दाकी है। कपिल सर्वात्मत्व दर्शनको नहीं मानता, क्योंकि उसने आत्मभेद स्वीकार किया है। महाभारतमें भी 'बहवः पुरुषा० (हे ब्रह्मन्! आत्मा बहुत हैं अथवा एक ही है) ऐसा विचारकर 'बहवः पुरुषा० (हे राजन्! सांख्य और योग दर्शनवालोंके मतमें पुरुष-आत्मा बहुत हैं अर्थात् प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न हैं) इस प्रकार पर पक्षका उपन्यास कर उसका निराकरण करते हुए 'बहूनां पुरुषाणां० (जैसे बहुत पुरुषाकार देहोंकी एक पृथ्वी उपादान कही जाती है, वैसे ही जो सबका उपादान होनेसे सर्वात्मक और सर्वगुण सम्पन्न है उस

सत्यानन्दी दीपिका

'कपिल' इस शब्दके श्रवण मात्रसे सांख्यस्मृति प्रणेता कपिल श्रुति-प्रतिपादित है, ऐसी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि द्वैतवादी कपिलका सर्वज्ञ होना सम्भव नहीं है। श्रुति प्रतिपादित सर्वज्ञान सम्पन्न कपिल वासुदेवका अंशरूप सांख्य स्मृति प्रणेता कपिलसे भिन्न है, वह सर्वात्मत्व ज्ञानरूप सांख्याका उपदेशक है। 'ईश्वरने कपिलको ज्ञानोंसे सम्पन्न किया' इससे यदि सांख्य स्मृति रचयिता कपिलको मानें तो वह केवल सर्वज्ञत्वका अनुवाद मात्र है, उसकी सर्वज्ञतामें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है, इसलिए श्रुति प्रमाणसे अप्राप्त सर्वज्ञत्वका अनुवाद वास्तविक सर्वज्ञत्व अर्थको सिद्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार द्वैतवादी कपिलके मतमें श्रुति मूलकताका निराकरण कर आगे 'भवति' आदिसे अद्वैतवादी मनुके मतको श्रुति-मूलकता प्रतिपादित करते हैं।

यथैका योनिरुच्यते । तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥' इत्युपक्रम्य 'ममान्तरात्मा च ये चान्ये देहसंस्थिताः । सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्क्वचित् ॥ विश्वमूर्धा विश्व विश्वपादाक्षिनासिकः । एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥' इति सर्वात्मतैव निर्धारि ❀ श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० ७) इत्येवंविधा । अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपि तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति । वे हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये । पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृ व्यवहितं चेति विप्रकर्षः । तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ॥१॥

कुतश्च स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ?

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥२॥

पदच्छेद—इतरेषाम् , च, अनुपलब्धेः ।

सूत्रार्थ—(इतरेषाम्) सांख्य स्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधानसे भिन्न महद् आदि तत्त्वोंकी (अ लब्धेः) लोक अथवा वेदमें उपलब्धि न होनेसे सांख्य स्मृतिको अप्रमाण माननेमें कोई दोष नहीं

❀ प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न

आत्माको कहूँगा) ऐसा उपक्रमकर 'ममान्तरात्मा० (मेरा और तेरा जो अन्तरात्मा है और स्थित जो अन्य आत्मा हैं, उन सबका यह साक्षीभूत है, वह कहीं पर किसीसे ग्राह्य नहीं है । प्रसिद्ध देव, मनुष्य आदि सबके मस्तक उसका मस्तक है, इस प्रकार सभीकी भुजाएँ उसकी भुज सबके पाद, नेत्र, नासिका उसके पाद, नेत्र, नासिका हैं, अकेला, स्वतन्त्र, सुखपूर्वक भूतोंमें वि है अर्थात् सबको जानता है) इससे सर्वात्मत्व ही निर्धारित किया गया है । 'यस्मिन्सर्वाणि० (समय ज्ञानी पुरुषके लिए सब भूत आत्मा ही हो गया उस समय एकत्व देखनेवाले उस वि क्या मोह और क्या शोक है) इस प्रकारकी श्रुति भी सर्वात्मतामें है । इससे यह सिद्ध होता केवल स्वतन्त्र प्रधानकी कल्पनासे ही नहीं किन्तु आत्मभेदकी कल्पनासे भी कपिल तन्त्र वेद वि और वेदानुसारी मनुवचनसे भी विरुद्ध है, क्योंकि जैसे सूर्यका रूपविषयमें निरपेक्ष प्रामा वैसे ही अपने अर्थमें वेदका प्रामाण्य निरपेक्ष है । पुरुषवचनोंका प्रामाण्य तो मूलान्तरकी रखता है और उसमें वक्ताके अर्थ स्मृतिका व्यवधान है, इतना महान् अन्तर है । इसलिए वेद विषयमें स्मृतिका अनवकाश प्रसंग दोष नहीं है ॥ १ ॥

और स्मृति का अनवकाश प्रसङ्ग दोष क्यों नहीं है ?

प्रधानसे भिन्न महद् आदि तत्त्व जिनकी प्रधानके परिमाणरूपसे सांख्य स्मृतिमें कल्प गई है, वे वेद अथवा लोकमें उपलब्ध नहीं होते । लोक और वेदमें प्रसिद्ध होनेके कारण भूत

सत्यानन्दी दीपिका

* सांख्य स्मृति केवल स्वतन्त्र प्रधानकी कल्पनासे वेद विरुद्ध नहीं है अपितु देह आत्माके भेदकी कल्पनासे भी वेद विरुद्ध है । इन दोनोंका बाध्य बाधक भाव भी है—वेद होनेसे स्वतः प्रमाण है और पुरुषवाक्योंका प्रामाण्य तो वक्ताके अर्थकी स्मृति और उस मूलभूत प्रत्यक्ष श्रुति इन दोनोंकी कल्पनासे होता है, अतः स्मृति परतः प्रमाण है और अर्थात् 'यह अर्थ प्रामाणिक है' इस प्रमाणिकताके लिए स्मृति जब तक अपनी मूलभूत कल्पनाकरे तब तक स्वतः प्रमाणरूप श्रुतिसे उस अर्थका निश्चय हो जाता है, यही व्यवधान है । प्रकार दोनोंमें महान् भेद है । तुल्य बलवालोंके विरोधमें निरवकाशसे सावकाशका बाध होता यहाँ तो स्वतः प्रामाण्य (वेद) और परतः प्रामाण्य (स्मृति) का विरोध है, अतः जिसका

वेदे लोके वोपलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते । यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते, तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १।४।१) इत्यत्र । कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात्कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः । तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो दोषः । तर्कावष्टम्भं तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० २।१।४) इत्यारभ्योन्मथिष्यति ॥२॥

(२ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् सू० ३)

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३॥

पदच्छेद—एतेन, योगः, प्रत्युक्तः ।

सूत्रार्थ—(एतेन) सांख्यस्मृतिके निराकरणसे (योगः) योगस्मृति भी (प्रत्युक्तः) निराकृत समझनी चाहिए ।

* एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति । तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते । नन्वेवं सति समानन्यायत्वात्पूर्वेणैव तद्गतम्, किमर्थं पुनरतिदिश्यते ? अस्ति ह्यत्राभ्यधिकाशङ्का । सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-

---

इन्द्रियोंका स्मृतिमें प्रतिपादन हो सकता है, परन्तु लोक और वेदमें प्रसिद्ध न होनेके कारण छठवें इन्द्रियार्थके समान महदादिका स्मृतिमें प्रतिपादन सम्भव नहीं है । यद्यपि कहीं कहीं श्रुति महदादिपरक प्रतीत होती है, उसका भी 'नानुमानिक०' इस सूत्रमें श्रुति अतत्परत्व-महदादिका प्रतिपादन नहीं करती, ऐसा व्याख्यान किया गया है । कार्य-महद् आदि स्मृतिके अप्रमाण होनेसे कारण प्रधान स्मृतिमें भी अप्रामाण्य युक्त है, ऐसा अभिप्राय है । इसलिए भी स्मृतिका अनवकाश प्रसंग दोष नहीं है । और तर्कावलम्बनका तो सूत्रकार 'न विलक्षणत्वात्' इस सूत्रसे लेकर खण्डन करेंगे ॥ २ ॥

इस सांख्य स्मृतिके निराकरणसे योगस्मृति भी निराकृत समझनी चाहिए, इसप्रकार सूत्रकार इस सूत्रमें पूर्व न्यायका अतिदेश करते हैं । योगमें भी प्रधान ही स्वतन्त्र कारण है, एवं लोक और वेदमें अप्रसिद्ध महदादि कार्य हैं, ऐसी श्रुतिविरुद्ध कल्पनाकी गई है, यदि सांख्य और योगस्मृतिमें समानता है तो एक ही न्यायसे पूर्वाधिकरणके कथन द्वारा इस अधिकरणका अर्थ भी आ गया तो पुनः इसका अतिदेश किसलिए किया जाता है ? इसलिए कि यहां अधिक आशङ्का है, 'श्रोतव्यो० (आत्माका श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिए) इसप्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

निश्चित है और जिसका कोई विरोधी नहीं है, उस वेदवाक्यसे तद्विरुद्धस्मृतिका ही बाध होता है । अतः सांख्य स्मृति भ्रान्ति मूलक है ॥ १ ॥

* जो कहीं श्रुतिमें 'महतः परमव्यक्तम्' ऐसा वाक्याभास मिलता है जिसके बलपर सांख्यस्मृति प्रणेताने प्रधान और महद् आदि तत्त्वोंकी स्वतन्त्र कल्पनाकी है । वस्तुतः श्रुतिका तात्पर्य प्रधान आदिके प्रतिपादनमें नहीं है । इसका विशेष विचार 'नानुमानिक०' इस सूत्रमें किया गया है । स्मृति तो प्रमाण मूलक होकर ही प्रमाण होती है । परन्तु सांख्य स्मृति तो न श्रुति मूलक है और न प्रत्यक्ष मूलक ही, अतः श्रुति और श्रुतिमूलक मनु आदि स्मृतिके साथ विरोध होनेसे सांख्य स्मृत्यनवकाश प्रसंग दोष नहीं है । यहाँ पूर्वपक्षमें स्मृतिके विरोधसे पूर्वाध्यायोक्त समन्वयकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धिफल है ॥ २ ॥

* यहां सांख्य स्मृतिके निराकरणसे योगशास्त्रके उस अशंका निराकरण समझना चाहिए

सितव्यः' (बृ० २।४।५) इति । 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे० २।८) इत्यादिना चासना कल्पनापुरःसरं बहुप्रपञ्चं योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते । लिङ्गानि च वैदिका योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते—'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' (का० २।६।१८) इति, 'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्' (का० २।६।१८) इति चैवमादीनि । शास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः' इति सम्यग्दर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते । संप्रतिपन्नार्थैकदेशत्वादष्टकादिस्मृतिवद्योगस्मृतितिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति—इयमप्य काशङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते; अर्थैकदेशसंप्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्तेः पूर्वोक्ताया दर्शना सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः । सांख्य योगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेन बृंहितौ । 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० ६।१३) इति । निराकर तु—न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यत इति । श्रुति वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ना

सम्यग्दर्शनका साधनभूत योग वेदमें विहित है । 'त्रिरुन्नतं० (वक्षःस्थल, ग्रीवा और शिर ये ती जिसमें उन्नत (उठे हुए) रखे जाते उस त्रिरुन्नत शरीरको समान भावसे रखकर योग करे) इत्या से आसनादिकी कल्पनापूर्वक बहुत विस्तारसे योगका विधान श्वेताश्वतर उपनिषद्में देखा जाता है 'तां योगमिति० (उस स्थिर इन्द्रिय धारणाको ही योग कहते हैं) और 'विद्यामेतां० (इस ब्रह्म और सम्पूर्ण योगविधिको पाकर नचिकेता ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया) इत्यादि योगविषयक वैदिक लिङ्ग उपलब्ध होते हैं । 'अथ तत्त्वदर्शन० (योग तत्त्वदर्शनका साधन है) इसप्रकार योगशा भी योगको सम्यग्दर्शनके साधनरूपसे ही स्वीकार किया गया है । इसलिए प्रामाणिक अर्थके एक देश (योगांश) होनेसे अष्टक आदि स्मृतिके समान योग स्मृति भी अनिराकरणीय हो जाय यह अधिक शंका भी अतिदेशसे निवृत्तकी जाती है, क्योंकि अर्थके एक अंशमें संप्रतिपत्ति (प्रामा होनेपर भी अर्थके एक देश (प्रधानादि) में पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति-विरोध देखनेमें आता है । अ त्मविषयक बहुत स्मृतियां होनेपर भी सांख्य स्मृति और योगस्मृतिके ही निराकरणमें यत्न कि गया है, क्योंकि सांख्य और योग मोक्षके साधनरूपसे लोकमें प्रसिद्ध हैं, शिष्टपुरुषोंसे परिगृहीत तथा 'तत्कारणं० (सांख्य और योगसे प्राप्त उस सर्वकारणदेवको जानकर पुरुष समस्त बन्ध मुक्त हो जाता है) इसप्रकार श्रौतलिंगसे पुष्ट हैं । किन्तु वेद निरपेक्ष सांख्यस्मृतिज्ञानसे अ योगमार्गसे मोक्ष प्राप्र नहीं होता, इस हेतुसे दोनोंका निराकरण है । 'तमेव० (उस महान् पु जानकर ही पुरुष मृत्युको पार करता है, इसके सिवा परम पद प्राप्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है यह श्रुति वैदिक आत्मैकत्व ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य मोक्ष साधनका निवारण करती है । निःसन्दे

सत्यानन्दी दीपिका

जो श्रुति विरुद्ध है । जैसे कि प्रधान जगत्का स्वतन्त्र कारण है, महदादि कार्य हैं और पुरुष अ हैं, इत्यादि । यदि पूर्वाधिकरणसे योगशास्त्रका पूर्णतः खण्डन किया जाता तो तत्त्वदर्शनके साधन योगशास्त्रमें प्रतिपादित यम, नियम आदिका भी खण्डन हो जाता, उनका खण्डन न हो, इ अभिप्रायसे भगवान् सूत्रकारने अतिदेशकर पृथक् अधिकरणकी रचनाकी है ।

* जैसे 'अष्टकाः कर्तव्याः' (अष्टका (फाल्गुन कृष्ण अष्टमीमें किया गया श्राद्ध) श्राद्ध क चाहिए) 'गुरूननुगन्तव्यः' (गुरुका अनुसरण करना चाहिए) इत्यादि स्मृतियाँ वेदके अविरुद्ध अर्थ प्रतिपादन करनेसे प्रमाणरूप हैं, वैसे योगस्मृति योग अंशमें प्रमाणभूत होनेपर भी तत्त्वांश आदि प्रमाण नहीं हो सकती । जैसे चक्षुको रूपविषयमें प्रामाण्य होनेपर भी रस विषयमें प्रमाणता न

पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति । द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च नात्मैकत्वदर्शिनः । यत्तु दर्शनमुक्तं 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम् । येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम् । तद्यथा—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१६) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुणपुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते । तथा च योगैरपि 'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' (जाबा० ५) इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनानुगम्यते । एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि । तान्यपि तर्कोपपत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम । तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ० ३।९।२६) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥३॥

(३ विलक्षणत्वाधिकरणम् सू० ४—१२)

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥४॥

पदच्छेद— न, विलक्षणत्वात् , अस्य, तथात्वम् , च, शब्दात् ।

सूत्रार्थ—(अस्य) इस जगत्‌का (न) ब्रह्म उपादान कारण नहीं हो सकता, (विलक्षणत्वात्) क्योंकि विलक्षण है अर्थात् ब्रह्म चेतन है और जगत् अचेतन । (शब्दात्) 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इस श्रुतिसे (तथा त्वं च) विलक्षणत्व ज्ञात होता है ।

❀ ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारणं प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याक्षेपः स्मृतिनिमित्तः परिहृतः ।

सांख्य और योग द्वैतवादी हैं आत्मैकत्वदर्शी नहीं हैं । 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इसप्रकार जो दर्शन कहा गया है, उसमें ऐसा समझना चाहिए कि सांख्य और योग शब्दोंसे सान्निध्यके कारण वैदिक ज्ञान और ध्यान ही कहे गये हैं । जिस अंशसे श्रुतिका विरोध नहीं है उस अंशमें सांख्य और योगस्मृतियोंका सावकाशत्व इष्ट ही है । जैसे 'असङ्गो० (यह आत्मा निश्चय असङ्ग है) इत्यादि श्रुति-प्रसिद्ध पुरुषमें ही निर्गुण पुरुषके निरूपणसे विशुद्धत्व सांख्य लोग स्वीकार करते हैं । उसीप्रकार योग शास्त्रवाले भी 'अथ परिव्राड्० (परिव्राजकको कषायवस्त्रधारी, शिर मुण्डित और परिग्रहरहित होना चाहिए) इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध निवृत्ति मार्गका ही प्रव्रज्यादि उपदेशसे अनुसरण करते हैं । एतेन-श्रुति विरोधसे अर्थात् सांख्य और योगस्मृतिके निराकरण न्यायसे सब तर्क स्मृतियोंका निराकरण करना चाहिए । यदि वे स्मृतियाँ भी तर्क (अनुमान) उपपत्ति (तर्ककी अनुग्राहिका युक्ति) से तत्त्वज्ञानकी उपकारक होती हैं तो भले ही उपकारक हों । परन्तु 'नावेदवित्० (शब्दसे तथा अर्थसे वेदको न जाननेवाला उस ब्रह्मको नहीं जानता) 'तं त्वौपनषिदं० (मैं तो उपनिषद्‌गम्य उस पुरुषको पूछता हूं) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान तो वेदान्त वाक्योंसे ही होता है ॥३॥

ब्रह्म इस जगत्‌का निमित्त कारण और उपादान कारण है, इस पक्षपर सांख्य स्मृति निमित्तक आक्षेपका परिहार किया गया है । अब तर्क निमित्तक आक्षेपका परिहार किया जाता है । परन्तु

सत्यानन्दी दीपिका

है। किसको ऐसा भ्रम हो कि जैसे योगस्मृतिमें प्रतिपादित योगके कुछ अंश प्रमाणरूप हैं, वैसे प्रधान, महदादि कार्य, आत्माका नानात्व आदि अंश भी प्रमाणरूप हैं । उसकी निवृत्तिके लिए यह अतिदेश है । यद्यपि बौद्ध आदि बहुत स्मृतियाँ हैं, फिर भी वे वेदबाह्य होनेसे उनके निराकरणमें यत्न न कर सांख्य और योगस्मृतियोंके निराकरणमें यत्न किया गया है, क्योंकि मोक्षका साधन मानकर अनेक शिष्टपुरुषोंने उनका ग्रहण किया है । सांख्य और योग मतमें आत्माका नानात्व, बुद्धि और

तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेपः परिह्रियते । कुतः पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्त क्षेपस्यावकाशः ? ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति । भवेदयमव यदि प्रमाणान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थः स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्मः, परिनिष्प रूपं तु ब्रह्मावगम्यते । परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्यवकाशो यथा पृथि दिषु । यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते, एवं प्रमाणान्तरविरो तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत । दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृ विप्रकृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात् । अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमवि निवर्तकं मोक्षसाधनं च दृष्टफलतयेष्यते । श्रुतिरपि—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवण रेकेण मननं विदधती तर्कमप्यत्रादर्तव्यं दर्शयति । अतस्तर्कनिमित्तः पुनराक्षेपः क्रियते विलक्षणत्वादस्य' इति ॥ * यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिरिति तन्नोपपद्यते; कस्मा

निश्चित इस वेदार्थमें तर्क निमित्तक आक्षेपका अवकाश ही कहाँ है ? क्योंकि धर्मके समान ब्रह्म वेद स्वतन्त्र प्रमाण होना युक्त है । यह दृष्टान्त तभी युक्त है यदि अनुष्ठेय धर्मके समान यह ब्र अर्थ भी प्रमाणान्तरसे अग्राह्य केवल आगममात्र ज्ञेय हो, ब्रह्म तो सिद्ध अवगत होता है । पृ आदिके समान सिद्ध वस्तुमें अन्य प्रमाणोंका भी अवकाश है । जैसे श्रुतियोंका परस्पर विरोध हो प्रबल एक श्रुतिके अनुसार दुर्बल दूसरी श्रुतियोंका अर्थ किया जाता है, वैसे अन्य प्रमाणोंके श्रुतियोंका विरोध होनेपर भी उन (निरवाकाश) के अनुसार ही श्रुतिका अर्थ किया जाता है। अर्थके सादृश्यसे अदृष्ट–परोक्ष अर्थका समर्थन करनेवाला तर्क अनुभवके सन्निहित है। श्रुति तो मात्र (परोक्षरूप प्रवाह परस्परामात्र) से अपने अर्थका अभिधान करती है, इसलिए अनुभव है । ब्रह्म साक्षात्कारपर्यन्त मोक्षका साधनभूत ब्रह्मज्ञान अविद्याका निवर्तक होकर दृष्ट फलरूपसे है । 'श्रोतव्यो॰ (आत्माका श्रवण और मनन करना चाहिए) इसप्रकार श्रवण भिन्न मननका वि करती हुई श्रुति भी तर्कको यहाँ आदर योग्य दिखलाती है । इसलिए 'न विलक्षणत्वादस्य' इस तर्क निमित्तक पुन आक्षेप किया जाता है । जो यह कहा गया है कि चेतन ब्रह्म जगत्का कारण

सत्यानन्दी दीपिका

पुरुषका भेद ज्ञान मोक्षका साधन माना गया है, जो सर्वथा वेद विरुद्ध है, वेदमें तो 'तत्त्वमसि' प्रकार आत्मैकत्वज्ञानको मोक्षका साधन कहा गया है ॥३॥

* जो सिद्ध वस्तु होती है वह अन्य प्रमाणसे गम्य होती है , यह तर्क है। इसलिए तर्क श्रुतिका एक विषय होनेसे विरोध उपस्थित होता है । जैसे श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेपर श्रुतिसे दुर्बल श्रुतिका बाध होता है अर्थात् सावकाश श्रुतियोंका निरवकाश श्रुतिके अनुसार अर्थ जाता है, वैसे निरवकाश एक तर्कके बलसे सावकाश श्रुतियोंका अर्थ करना युक्त है । ब्रह्मसाक्षा मोक्षका मुख्य साधन होनेसे प्रधान है और तर्क उसका अन्तरङ्ग है, क्योंकि तर्क अपनी सि प्रत्यक्ष दृष्टान्तकी अपेक्षा रखता है। इसलिए प्रधान साधन भूत ब्रह्मसाक्षात्कारके समान त अपरोक्षार्थ विषयक है और श्रुति परोक्षार्थ विषयक है, अतः वह बहिरङ्ग है। तर्क दृष्टार्थके अदृष्ट अर्थका समर्थन करता है, इससे तर्क श्रुतिकी अपेक्षा अनुभवके संनिकट है, अतः अ तर्कके अनुसार श्रुतिका अर्थ करना चाहिए, क्योंकि विरोध होनेपर सावकाश श्रुतिसे निरवका बलवान् होता है। किञ्च 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवत्' (अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमेंसे अ बलवान् होता है) इस न्यायसे भी तर्क बलवान् सिद्ध होता है, अतः तर्कके अनुसार ही अर्थ युक्त है। 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' यह श्रुति भी तर्कका विधान करती है ।

* 'जगत् न ब्रह्मप्रकृतिकं तद्विलक्षणत्वात्, यद्यद्विलक्षणं तन्न तत्प्रकृतिकं यथा मृद्वि

विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते। ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते। न च विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः। न हि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति, शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः। मृदैव तु मृदन्विता विकाराः क्रियन्ते, सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः। तथेदमपि जगदचेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति न विलक्षणस्य ब्रह्मणः। ब्रह्मविलक्षणत्वं चास्य जगतोऽशुद्ध्यचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम्। अशुद्धं हि जगत्सुखदुःखमोहात्मकतया प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्वात्स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च। अचेतनं चेदं जगत् चेतनं प्रति कार्यकारणभावेनोपकरणभावोपगमात्। नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारकभावो भवति। नहि प्रदीपौ परस्परस्योपकुरुतः। ननु चेतनमपि कार्यकारणं स्वामिभृत्यन्यायेन भोक्तुरुपकरिष्यति। न; स्वामिभृत्ययोरप्यचेतनांशस्यैव चेतनं प्रत्युपकारकत्वात्। यो ह्येकस्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिरचेतनभागः स एवान्यस्य चेतनस्योपकरोति नतु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा। निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति सांख्या मन्यन्ते। तस्मादचेतनं कार्यकारणम्। न च काष्ठलोष्टादीनां चेतनत्वे किंचित्प्रमाणमस्ति। प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनप्रविभागो लोके। तस्माद्ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगत्तत्प्रकृतिकम्। योऽपि कश्चिदाचक्षीत–श्रुत्वा जगतश्चेतनप्रकृतिकतां,

---

है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि यह कार्य प्रकृतिसे विलक्षण है। ब्रह्मके कार्यरूपसे माना हुआ यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण-अचेतन और अशुद्ध देखा जाता है, और ब्रह्म जगत्‌से विलक्षण चेतन और शुद्ध सुना जाता है, विलक्षण होनेपर विलक्षणोंमें कार्यकारण भाव नहीं देखा गया है। आभूषण आदि कार्य मृत्तिका उपादान कारणवाले नहीं होते, एवं सिकोरा आदि कार्य सुवर्ण उपादान कारणवाले नहीं होते, मृत्तिकासे अन्वित घट आदि विकार मृत्तिकासे ही बनाये जाते हैं और सुवर्णान्वित आभूषण आदि विकार सुवर्णसे ही बनाये जाते हैं। उसी प्रकार यह जगत् भी अचेतन, सुख, दुःख और मोह युक्त होता हुआ अचेतन, सुख, दुःख एवं मोहात्मक कारणका ही कार्य होना युक्त है। विलक्षण ब्रह्मका नहीं। अशुद्धि और अचेतनत्वके देखनेसे यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण समझना चाहिए। निःसन्देह यह जगत् अशुद्ध है, क्योंकि सुख-दुःख और मोहात्मकरूपसे प्रीति, परिताप और विषाद आदिका हेतु है, एवं स्वर्ग, नरक आदि अनेक प्रकारका प्रपञ्चरूप है। यह जगत् अचेतन है, कारण कि शरीर, इन्द्रिय आदि रूपसे चेतनके प्रति उपकरणभावसे प्राप्त है। सादृश्य होनेपर तो उपकार्योपकारकभाव नहीं होता। दो प्रदीप एक दूसरेका उपकार नहीं करते। परन्तु देह, इन्द्रिय आदि चेतन होकर भी स्वामिभृत्य न्यायसे भोक्ताका उपकार करेगा? ऐसा नहीं, क्योंकि स्वामी और भृत्यका भी अचेतन अंश ही चेतनका उपकारक है, एक चेतनाका परिग्रह जो बुद्धि आदि अचेतन भाग है वही अन्य चेतनका उपकार करता है, परन्तु स्वयं चेतन अन्य चेतनका न उपकार करता है और न अपकार करता है, क्योंकि सांख्यमतावलम्बी ऐसा मानते हैं कि चेतन अतिशय रहित और अकर्ता है। इस लिए देह, इन्द्रिय आदि अचेतन हैं। काष्ठ और ढेले आदिके चेतन होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। लोकमें यह चेतन और अचेतन विभाग तो प्रसिद्ध है। अतः ब्रह्मसे विलक्षण होनेसे यह जगत् ब्रह्म प्रकृतिक नहीं है। यदि कोई ऐसा कहे कि चेतन जगत्‌की प्रकृति है, ऐसा श्रवणकर उसके बलसे

सत्यानन्दी दीपिका

रुचकादयः।' 'जगत् ब्रह्म प्रकृतिक नहीं है, क्योंकि उससे विलक्षण है। जो जिससे विलक्षण होता है वह तत्प्रकृतिक नहीं होता, जैसे मृत्तिकासे विलक्षण आभूषण मृत्तिकासे उत्पन्न नहीं होते' जैसे मृत्तिकासे अन्वित घट आदि मृत्तिका रूप उपादान कारणसे उत्पन्न होते हैं अन्यसे नहीं, वैसे सुख-दुःख और

तद्बलेनैव समस्तं जगच्चेतनमवगमयिष्यामि; प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात्। अवि तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद्भविष्यति। यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वापमूर्च्छाद्य चैतन्यं न विभाव्यते, एवं काष्ठलोष्टादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते। एतस्मा विभाविताविभावितत्वकृताद्विशेषाद्रूपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकारणानामात्मनां च त्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते। यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांससूप दीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात्परस्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति। प्रविभागप्र रप्यत एव न विरोत्स्यत इति। तेनापि कथंचिच्चेतनाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह शुद्ध्यशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं नैव परिह्रियते। न चेतरदपि विलक्षणत्वं प शक्यत इत्याह—तथात्वं च शब्दादिति। अनवगम्यमानमेव हीदं लोके समस्तस्य वस्तु तनत्वं चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणाच्छब्दशरणतया केवलयोत्प्रेक्ष्येत, तच्च शब्देनैव विरुध्यते। शब्दादपि तथात्वमवगम्यते। तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्वं कथयति। शब्द एव 'वि चाविज्ञानं च' (तै० २।६) इति कस्यचिद्विभागस्याचेतनतां श्रावयंश्चेतनाद्ब्रह्मणो विल चेतनं जगच्छ्रावयति ॥४॥

ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते। यथा 'मृद 'आपोऽब्रुवन्' (श० प० ब्रा० ६।१।३।२।४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० ६। इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः। इन्द्रियविषयाणि 'ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे वि

समस्त जगत्को चेतन सिद्ध करूँगा, क्योंकि प्रकृतिस्वरूपका अन्वय कार्यमें देखनेमें आता है। परिणामके कारण उनमें चैतन्य अभिव्यक्त नहीं होता। जैसे स्पष्ट रूपसे प्रतीयमान चैतन्य आत्म भी चैतन्य निद्रा, मूर्च्छादि अवस्थाओंमें प्रतीत नहीं होता, वैसे काष्ठ, लोष्ट आदिका भी चैतन्य न होगा। इसी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति जन्य विशेषसे एवं रूप आदिके भावाभावके देह, इन्द्रिय और आत्माओंमें चेतनत्व समान होनेपर भी गौण प्रधान भावका विरोध नहीं हो है। जैसे मांस, दाल और भात आदिमें पार्थिवत्व समान होनेपर भी प्रत्येकमें वर्तमान वैल परस्पर उपकारित्व है, वैसे यहां भी होगा। इसीसे (चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्य विभाग (चेतन और अचेतन) की प्रसिद्धिमें भी विरोध नहीं है। तो उस कथनसे भी किसी चेतनत्व और अचेतनत्वरूप वैलक्षण्यका परिहार हो, परन्तु शुद्धि और अशुद्धिरूप वैलक्षण्यका हार तो नहीं हो सकता और इसीप्रकार अन्य वैलक्षण्यका भी परिहार नहीं हो सकता, ऐसा कह 'तथात्वं च शब्दात्' लोकमें समस्त पदार्थ चेतनरूपसे प्रतीत नहीं होते, जगत् चेतन उपादान ऐसा श्रवण होनेसे यदि केवल श्रुतिप्रमाणके आधारपर उनमें चेतनत्वकी कल्पना की जाय, कल्पना श्रुतिसे ही विरुद्ध है, क्योंकि श्रुतिसे भी तथात्व (वैलक्षण्य) अवगत होता है। तथात्व प्रकृतिसे विलक्षणताको सूत्रकार कहते हैं। 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' (चेतन और अचेतन) प्रकार किसी एक विभागको अचेतनत्व श्रवण कराती हुई श्रुति चेतन ब्रह्मसे जगत् विलक्षण श्रवण कराती है ॥ ४ ॥

परन्तु अचेतनरूपसे अभिमत आकाश आदि भूत और चक्षु आदि इन्द्रियोंमें भी चेतनत्व प्रतिपादक श्रुति है, जैसे 'मृदब्रवीत्' (मृत्तिका-पृथिवी बोली) 'आपोऽब्रुवन्' (जल इस प्रकार और 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेजने ईक्षण किया) 'ता आप० (उस जलने ईक्षण

सत्यानन्दी दीपिका

मोह युक्त यह अचेतन जगत् सुख, दुःख, मोहात्मक कारणसे उत्पन्न होना चाहिए। उनसे विल ब्रह्मसे नहीं, जगत्में ब्रह्मसे विलक्षणता तो प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥४॥

माना ब्रह्म जग्मुः' (बृ० ६।१।७) इति—'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति' (बृ० १।३।२) इत्येव-
गाद्येन्द्रियविषयेति । अत उत्तरं पठति—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

पदच्छेद—अभिमानिव्यपदेशः, तु, विशेषानुगतिभ्याम् ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द शंकाकी निवृत्तिके लिए है । (अभिमानिव्यपदेशः) 'ते हेमे प्राणा' इत्यादि श्रुतिमें प्राणा शब्दसे प्राण अभिमानी देवताओंका कथन है, (विशेषानुगतिभ्याम्) क्योंकि विशेष और अनुगति है ।

तुशब्द आशङ्कामपनुदति । न खलु 'मृदब्रवीत्' इत्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयम् । यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः । मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्यभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते, न भूतेन्द्रियमात्रम् । कस्मात्? विशेषानुगतिभ्याम् । विशेषो हि भोक्तॄणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः । सर्वचेतनतायां चासौ नोपपद्येत । अपि च कौषीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देवताशब्देन विशिंषन्ति—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति । 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (कौषी० २।१४) इति च । अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२।४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति । प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' (छा० ५।१।७) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनं, तद्वचनाच्चैकै-

---

इत्यादि भूतविषयक चेतनत्व श्रुति है । इन्द्रियोंके लिए भी है, जैसे 'ते हेमे० (वे ये प्राण-इन्द्रिय 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इसप्रकार विवाद करते हुए ब्रह्माके पास गये) 'ते ह वाचमू० (उन देवोंने वाणीसे कहा-तुम हमारे लिए उद्गान करो) इत्यादि इन्द्रियविषयक चेतनत्व श्रुति है । अतः उत्तर कहते हैं—

तु शब्द आशङ्काका निवारण करता है । 'मृदब्रवीत्' इसप्रकारकी श्रुतिसे भूत और इन्द्रियोंमें चेतनत्व आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'मृदब्रवीत्' यह कथन उनके अभिमानी देवता विषयक है । मृत्तिका (पृथिवी) आदिके अभिमानी और वाणी आदिके अभिमानी चेतन देवताओंका वाद-विवाद आदि चेतनोचित व्यवहारांमें व्यपदेश है, केवल भूत और इन्द्रिय विषयक व्यपदेश नहीं है । क्योंकि विशेष और अनुगति है । भोक्ताओं, भूत और इन्द्रियोंमें चेतन और अचेतन विभागरूप विशेष (वैलक्षण्य) पूर्व (सू० ४) में ही कहा गया है । समस्त जगत्को चेतन होनेपर यह चेतनाचेतन विभागरूप विशेष उपपन्न नहीं होगा । कौषीतकिशाखावाले प्राण संवादमें केवल इन्द्रियोंमें चेतनत्वकी आशङ्काकी निवृत्ति करनेके लिए और अधिष्ठातृचेतनको स्वीकार करनेके लिए 'एता वै० (ये इन्द्रिय देवता 'मैं श्रेष्ठ हूं' 'मैं श्रेष्ठ हूं' इसप्रकार विवाद करते हुए) और 'ता वा एताः० (वे ये सब देवता प्राणमें निःश्रेयस जानकर) इसप्रकार [इन्द्रिय और प्राणको] देवता शब्दसे विशेषित करते हैं । अभिमानी चेतन देवता सर्वत्र (भूत और इन्द्रियादिमें) अनुगत हैं, यह अनुगति मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण आदिसे अवगत होती है । यथा 'अग्निर्वाग्भूत्वा० (अग्निने वाणी होकर मुखमें प्रवेश किया) इत्यादि श्रुति इन्द्रियोंके अनुग्राहक (प्रकाशक) और इन्द्रियोंमें अनुगत देवताओंको दिखलाती है । और प्राणसंवादके वाक्यशेषमें 'ते ह प्राणाः० (उन प्राणोंने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा) इसप्रकार श्रेष्ठत्व निश्चय करनेके लिए प्रजापतिके पास जाना, और उनके वचनसे एक एकके उत्क्रमणसे अन्वय-व्यतिरेक द्वारा प्राणमें श्रेष्ठत्वकी प्रतीति, 'तस्मै बलिं हरणम्' (उसके लिए

कोत्क्रमणेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रैष्ठ्यप्रतिपत्तिः । 'तस्मै बलिहरणम्' (बृ० ६।१।१३) चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति । 'तत्ते ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यप इति द्रष्टव्यम् । तस्माद्विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत् ।५॥

विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकमित्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते--

दृश्यते तु ॥६॥

पदच्छेद—दृश्यते, तु ।

सूत्रार्थ—(दृश्यते) किन्तु चेतनसे चेतनविलक्षण अचेतन पदार्थोंकी एवं अचे तद्विलक्षण चेतन पदार्थोंकी उत्पत्ति देखी जाती है, अतः अचेतन जगत् चेतन प्रकृतिक है । (तु शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है ।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मप्रकृतिकमिति । नाय कान्तः । दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखा मुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् । नन्वचेतनान्येव पु दिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि. अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्य नानां गोमयादीनां कार्याणीति, उच्यते—एवमपि किंचिदचेतनं चेतनस्यायतनभावमुपग किंचिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम् । महांश्चायं पारिणामिकः स्वभावविप्रकर्षः, पुरुषादीनां के खादीनां च स्वरूपादिभेदात् । यथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च, अत्यन्तसारू प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत । अथोच्येत—अस्ति कश्चित्पार्थिवत्वादिस्वभावः पुरुषा केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां वृश्चिकादिष्विति । ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्ता

[चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा] बलि ले जाना) इसप्रकारका हम लोगोंके समान जाना हुआ अभिमानी देवता विषयक कथनको दृढ़ करता है, 'तत्तेज ऐक्षत' (उस तेजने ईक्षण किया) अपने विकारोंमें अनुगत अन्य अधिष्ठातृ देवताविषयक यह ईक्षण व्यपदिष्ट है ऐसा समझना चाहि इसलिए यह जगत् ब्रह्मसे विलक्षण ही है ॥५॥

और विलक्षण होनेसे जगत् ब्रह्म उपादान कारणवाला नहीं है, ऐसा पूर्वपक्षी द्वारा किए जानेपर उत्तर देते हैं—

तु शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है । जो यह कहा गया है कि विलक्षण होनेसे यह ब्रह्मोपादानक नहीं है । यह नियम ऐकान्त (अव्यभिचरित) नहीं है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखा है कि चेतनरूपसे प्रसिद्ध पुरुषादिसे विलक्षण-अचेतन केश नखादिकी उत्पत्ति होती है और रूपसे प्रसिद्ध गोमय (गोबर) आदिसे वृश्चिकादिकी उत्पत्ति होती है । परन्तु पुरुष आदिके शरीर ही अचेतन केश नख आदिके कारण हैं और वृश्चिक आदिके अचेतन शरीर ही गोमय आदिके कार्य हैं ? कहते हैं—इसप्रकार भी कोई अचेतन चेतनके आश्रय भावको प्राप्त है और कोई नहीं होता, ऐसा वैलक्षण्य है ही । यह परिणामात्मक स्वभावका वैलक्षण्य महान् क्योंकि पुरुष आदि और केश नखादिके स्वरूप आदिमें भेद है । उसीप्रकार गोमय आदि और आदिका परिणामात्मक वैलक्षण्य भी महान् है और दोनोंके स्वरूपमें भी भेद है । अत्यन्त होनेपर तो कार्यकारणभावका ही विलय हो जायगा । यदि कहो कि पुरुष आदिका कोई आदि स्वभाव केश नख आदिमें और गोमय आदिका कोई पार्थिवत्व आदि स्वभाव वृश्चिक अनुवर्तमान है ? तो ब्रह्मका भी सत्तात्मक स्वभाव आकाशादिमें अनुवर्तमान दिखाई देता

स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते । ❀ विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किमशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत उत यस्य कस्यचित्, अथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम् ? प्रथमे विकल्पे समस्तप्रकृतिविकारोच्छेदप्रसङ्गः । न ह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकार इति भवति । द्वितीये चासिद्धत्वम् । दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इत्युक्तम् । तृतीये तु दृष्टान्ताभावः । किं हि यच्चैतन्येनानन्वितं तदब्रह्मप्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मवादिनं प्रत्युदाह्रियेत, समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात् । आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव, चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात् । ❀ यत्तूक्तं – परिनिष्पन्नत्वाद्ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुरिति, तदपि मनोरथमात्रम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् । आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत् । तथा च श्रुतिः—'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ' (का० १।२।९) इति । 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्', 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' (ऋ० सं० १।३०।६) इति चैते ऋचौ सिद्धानामपीश्वराणां दुर्बोधतां

विलक्षणत्व हेतुसे जगत्के ब्रह्मप्रकृतिकत्वमें दोष देनेवालेको अशेष (सम्पूर्ण) ब्रह्मस्वभावकी अनुवृत्तिका अभाव विलक्षणत्व अभिप्रेत है, या जिस किसी अनुवृत्तिका अभाव, अथवा चैतन्यकी अनुवृत्तिका अभाव अभिप्रेत है यह कहना चाहिए । प्रथम पक्षमें तो समस्त कार्यकारणभावका उच्छेद हो जायगा, क्योंकि प्रकृति और विकृतिमें अतिशय-वैलक्षण्य न होनेपर यह प्रकृति है यह विकार है ऐसा प्रकृतिविकृतिभाव ही न रहेगा । द्वितीय पक्षमें असिद्धिरूप दोष है, क्योंकि पहले ऐसा कहा गया है कि सत्तालक्षण ब्रह्मस्वभावकी आकाश आदिमें अनुवृत्ति देखी जाती है । तृतिय पक्षमें तो दृष्टान्तका अभाव है । जो चैतन्यसे अन्वित नहीं है वह ब्रह्म प्रकृतिक नहीं देखा जाता, ऐसा कौन-सा उदाहरण ब्रह्मवादीके प्रति देंगे ? क्योंकि इस समस्त वस्तु समुदायको ब्रह्मोपादानक माना गया है । शास्त्रविरोध तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि चेतन ब्रह्म जगत्का निमित्तकारण और उपादानकारण है यह आगमका तात्पर्य सिद्ध किया गया है । जो यह कहा गया है कि सिद्ध वस्तु होनेसे ब्रह्ममें अन्य प्रमाणोंका संभव होगा । वह भी मनोरथ मात्र है । क्योंकि रूपादिका अभाव होनेसे यह ब्रह्म वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है, और लिङ्ग आदिका अभाव होनेसे अनुमान आदिका विषय नहीं है । यह वस्तु तो धर्मके समान केवल आगममात्रसे अधिगम्य है । इस विषयमें 'नैषा तर्केण० (हे प्रियतम ! सम्यग्ज्ञानके लिए शुष्क तार्किकसे भिन्न शास्त्रज्ञ आचार्य द्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसे कि तू प्राप्त हुआ है, तर्क द्वारा प्राप्त होने योग्य अथवा दूर होने योग्य नहीं है) ऐसी श्रुति है । 'को अद्धा वेद० (कौन साक्षात् उसे जानता है और कौन उसे ठीक-ठीक समझा सकता है । यह विविध सृष्टि जिससे

सत्यानन्दी दीपिका

* 'जगत न ब्रह्मप्रकृतिकं तद्विलक्षणत्वात्' इसप्रकार पहले पूर्वपक्षीने विलक्षणत्व हेतुसे जगत्में ब्रह्मोपादानकारणत्वका अभाव सिद्ध किया है । सिद्धान्ती—विलक्षणताका हेतु अशेष ब्रह्मस्वभावकी अनुवृत्ति है, या जिस किसी ब्रह्मके धर्मकी अनुवृत्तिका अभाव अथवा चैतन्यकी अनुवृत्तिका अभाव ? प्रथम विकल्पका समाधान स्पष्ट है । दूसरा पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सत्तात्मक ब्रह्मस्वभावकी मनुष्य है, घट है, यह है, इसप्रकार समस्त पदार्थोंमें अनुवृत्ति है । अतः अनुवृत्ति-अभाव असिद्ध है । तृतीय पक्षमें दृष्टान्तका अभाव है । क्योंकि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इस सूत्रमें ब्रह्म जगत्का उपादान और निमित्तकारण कहा गया है । और यही श्रुति सिद्ध भी है, अतः ब्रह्मवादीके प्रति चेतनाननुगत कोई भी पदार्थ नहीं है । इसलिए पूर्वपक्षीका अनुमान ही असिद्ध है ।

* श्रुतिकी अपेक्षा न रखनेवाला तर्क शुष्क कहलाता है । श्रुतिसे तत्त्वका निश्चय करनेके

जगत्कारणस्य दर्शयतः। स्मृतिरपि भवति—,'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योज इति। 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (गी० २।२५) इति च। 'न मे विदुः सुरग प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः' (गी० १०।२) इति चैवंजातीय यदपि श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयतीत्युक्तम्। मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः संभवति। श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीय * स्वप्नान्तबुद्धान्तयोरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वं, संप्रसादे च प्रपञ्च त्यागेन सदात्मना संपत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मत्वं, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात्कार्यकारणानन्यत्वन्या ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजातीयकः। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २।१।११) इति च केवल तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति। योऽपि चेतनकारणश्रवणबलेनैव समस्तस्य जगत तनतामुत्प्रेक्षेत तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावना भावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम्। परस्यैव त्विदमपि विभागश्रवणं न युज्य कथम्? परमकारणस्य ह्यत्र समस्तजगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते—'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभव

उत्पन्न हुई है) ये दोनों ऋचाएँ जगत्के कारण ब्रह्ममें सिद्ध योगियोंके लिए भी दुर्विज्ञेयत्व दिख हैं। 'अचिन्त्याः खलु० (जो पदार्थ अचिन्त्य-जिन पदार्थोंकी उत्पत्ति आदि मनुष्यसे तो क्या दे ऋषि आदिकी बुद्धिसे भी अगम्य है उन पदार्थोंका तर्कसे नियोजन नहीं करे) और 'अव्यक्तो० (अव्यक्त-इन्द्रियोंका अविषय, यह अचिन्त्य-मनका अविषय और अविकार्य है) और 'न मे वि (हे अर्जुन ! मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूति सहित लीलासे प्रकट होनेको न देवता लोग जान और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका आदि का हूँ) इसप्रकारकी ये स्मृतियां भी हैं। जो यह कहा गया है कि श्रवणसे भिन्न मननका विधान क हुई श्रुति भी तर्कका आदर करना चाहिए, ऐसा दिखलाती है। इस मनन विधिके वहानेसे यहां शु तर्कका होना संभव नहीं है। यहां श्रुतिसे अनुगृहीत तर्कका अनुभवके सहायकरूपसे ग्रहण किया है। स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था इन दोनोंमें परस्पर व्यभिचार होनेसे आत्मा इनसे असं और सुषुप्ति अवस्थामें प्रपञ्चके त्याग पूर्वक सत्स्वरूपके साथ एक होकर आत्मा निष्प्रपञ्च ब्रह्मस हो जाता है। प्रपञ्च ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, अतः कार्य कारणसे अभिन्न है, इस न्यायसे ब्रह्मसे प्र अभिन्न है, इसप्रकारका तर्क अङ्गीकृत होता है। और 'तर्काप्रतिष्ठानात्' इस सूत्रमें श्रुति लि तर्कको अप्रमापक-प्रमाज्ञानको न उत्पन्न करनेवाला दिखलाया जायगा। जो कोई भी (एक दे ब्रह्मको कारण प्रतिपादक श्रुतिके बलसे ही समस्त जगत्में चेतनत्वकी कल्पना करे उसके मतमें 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इसप्रकार चेतन और अचेतनके विभागके श्रवणकी चैतन्यकी अभिव्यक्ति औ अनभिव्यक्तिसे ही योजनाकी जा सकती है। किन्तु अन्य-सांख्यके मतमें तो यह विभाग श्रवण यु नहीं है, क्योंकि 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' (चेतन और अचेतन हुआ) इसप्रकार श्रुति परम कारणकी समस्त जगत्‌रूपसे अवस्थितिका श्रवण कराती है। जैसे वहां विलक्षणतासे चेत

सत्यानन्दी दीपिका

लिए पुरुषोंमें विद्यमान असम्भावना और विपरीतभावना आदि दोषोंके निरासार्थ स्वीकृत तर्क अनुगृहीत कहलाता है, अचिन्त्य पदार्थ केवल श्रुतिका ही विषय होता है, इसलिए ब्रह्म भी अचि सिद्ध वस्तु होनेसे केवल श्रुतिगम्य है।

* एकदेशी तो चैतन्यकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे विभागश्रुतिकी योजना कर सकता है किन्तु सांख्यमतमें यह दूषण तो वज्रलेप है, क्योंकि जगत्का परमकारण प्रधानको माननेपर स जगत्को अचेतन होनेसे चेतन और अचेतनका विभाग ही नहीं होगा। जैसे चेतन ब्रह्म अचे

इति। तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते, विलक्षणत्वात्, एवमचेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते। प्रत्युक्तत्वात्तु विलक्षणत्वस्य यथाश्रुत्यैव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥६॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

पदच्छेद—असत्, इति, चेत्, न, प्रतिषेधमात्रत्वात्।

सूत्रार्थ—(असत्) उत्पत्तिके पूर्व यह जगत् असत् था (इति चेन्न) तो यह युक्त नहीं है, (प्रतिषेधमात्रत्वात्) क्योंकि 'असत् था' यह केवल प्रतिषेधमात्र है।

* यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्—नैष दोषः, प्रतिषेधमात्रत्वात्। प्रतिषेधमात्रं हीदं नास्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति। न ह्ययं प्रतिषेधः प्रागुत्पत्तेः सत्त्वं कार्यस्य प्रतिषेद्धुं शक्नोति। कथम्? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सत्, एवं प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते। न हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति, 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६) इत्यादिश्रवणात्। कारणात्मना तु सत्त्वं कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम्। ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगतः कारणम्, बाढम्, नतु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वाऽस्ति। तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यमिति। विस्तरेण चैतत्कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्यामः ॥७॥

अचेतन भाव उपपन्न नहीं होता, वैसे अचेतनमें चेतनभाव भी उपपन्न नहीं होता। [अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिसे अथवा सारूप्य और वैलक्षण्यका प्रतिपादन होनेसे चेतनाचेतनके] वैलक्षण्यका परिहार किया जा चुका है। इसलिए श्रुतिके अनुसार ही चेतन कारणका ग्रहण करना चाहिए ॥ ६ ॥

यदि चेतन, शुद्ध, शब्दादि रहित ब्रह्म अपनेसे विपरीत अचेतन, अशुद्ध, शब्दादि युक्त जगत् कार्यका कारण माना जाय, तो उत्पत्तिके पूर्व यह कार्य असत् प्रसक्त होगा। इस तरह तुम सत्कार्यवादीके लिए यह अनिष्ट होगा, ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रतिषेध मात्र है। यह केवल प्रतिषेधमात्र है, इस प्रतिषेधका कोई प्रतिषेध्य नहीं है। यह प्रतिषेध उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ताका प्रतिषेध नहीं कर सकता। किस प्रकार? ऐसा अवगत होता है कि जिस प्रकार यह कार्य अभी भी कारणरूपसे सत् है, इस प्रकार उत्पत्तिके पूर्व भी था। अब भी यह कार्य कारण स्वरूपके बिना स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि 'सर्वं तं० (सभी उसे परास्त कर देते हैं जो सत्को आत्मासे भिन्न देखता है) इत्यादि श्रुति है। उत्पत्तिके पूर्व कार्यके कारणरूप होनेमें वर्तमान कालसे कोई विशेष नहीं है। परन्तु क्या शब्द आदि रहित ब्रह्म जगत्का कारण है? हाँ है, किन्तु शब्द आदि युक्त कार्य कारणरूपसे रहित न उत्पत्तिके पूर्व था और न अब है। इससे-कार्यकारणरूप होनेसे अब ऐसा नहीं कह सकते कि उत्पत्तिके पूर्व कार्य असत् था, कार्यकारणके अभेद वर्णनके अवसर पर इसका विस्तारसे वर्णन करेंगे ॥ ७ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

जगत्रूप नहीं हो सकता, वैसे अचेतन प्रधानका कार्य-कर्ता भोक्तारूप चेतन नहीं हो सकता, अतः सांख्यमतमें ही यह विभागश्रुति अनुपपन्न है। वैलक्षण्य होनेपर कार्यकारणभाव नहीं होता, इस सांख्यमतका परिहार किया गया है, जैसे अचेतन गोमय आदि चेतन वृश्चिक आदिका कारण है, और चेतन पुरुष अचेतन केश नखादिका कारण है, वैसे ही चेतन ब्रह्म समस्त जगत्का कारण है ॥ ६ ॥

* परन्तु 'असदेवेदमग्र आसीत्' (उत्पत्तिके पूर्व यह असत् था) तब इस श्रुतिका क्या तात्पर्य होगा? इस श्रुतिका तात्पर्य जगत्की नाम रूपात्मक स्थूल अवस्थाकी अपेक्षाको लेकर है

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥८॥

पदच्छेद—अपीतौ, तद्वत्, प्रसङ्गात्, असमञ्जसम्।

सूत्रार्थ—(अपीतौ) प्रलय कालमें (तद्वत्) कार्यके समान (प्रसङ्गात्) कारण ब्र अशुद्धत्वादि होनेका प्रसंग आ जायगा, अतः (असमञ्जसम्) शुद्धत्व आदि गुणवाला ब्रह्म उपादान हो यह अयुक्त है।

* अत्राह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्यं कारणमभ्युपगम्येत, तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं का मात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाशुद्ध्यादिरूपप्रसङ्गात् ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्। अपि च समस्तस्य विभागस्यावि प्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद्भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्ज अपि च भोक्तॄणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्ताव पगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्त परेण ब्रह्मणावतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न संभवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न सं तीत्यसमञ्जसमेवेति ॥८॥

अत्रोच्यते—

यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय कि स्थूलत्व, सावयवत्व, अचे परिच्छिन्नत्व, अशुद्धि आदि धर्म विशिष्ट कार्यका कारण ब्रह्म है, तो प्रलयकालमें लीन होता अर्थात् कारणके साथ अविभागको प्राप्त होता हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित करेगा, प्रकार प्रलयमें कारण ब्रह्ममें भी कार्यके समान अशुद्धि आदि रूपका प्रसंग आ जायगा, इससे ब्रह्म जगत्का कारण है यह औपनिषद् दर्शन असंगत हो जायगा। और समस्त विभागका अ साथ अविभाग प्राप्त होनेसे पुनः उत्पत्तिमें नियमकारणका अभाव होनेसे भोक्ता भोग्य आदि वि उत्पत्ति प्राप्त न होगी, ऐसा होना भी असंगत है। प्रलयमें परब्रह्मके साथ अभेदको प्रा भोक्ताओंकी कर्म आदि निमित्तका प्रलय होनेपर पुनः उत्पत्ति स्वीकार किए जानेसे मुक्त पुरुषों पुनः उत्पत्ति प्रसक्त होगी, यह युक्त नहीं है। यदि जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मसे विभक्त ही अवस्थि तो ऐसा माननेसे प्रलयका ही संभव न होगा। और कार्यका कारणसे अभिन्नत्व संभव नहीं है इसलिए औपनिषद् दर्शन असंगत ही है ॥ ८ ॥

इस विषयपर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

अर्थात् जगत्की यह स्थूलवस्था उत्पत्तिके पूर्व नहीं थी। जगत्की कारणावस्थाको लेकर यह नहीं है। हे देव प्रिय! यदि कारणरूपसे भी जगत्की सत्ता न होती तो यह वर्तमान अवस्था प्रतीत होती, अतः यह वर्तमान प्रतीति कारणरूपसे कार्यकी सत्ता सिद्ध करती है। यदि अ उत्पत्ति मानें तो असत् वन्ध्या पुत्र आदिकी भी उत्पत्ति होनी चाहिए! अतः कार्य कारणका कथन युक्त है और कार्य उत्पत्तिके पहले कारणरूपसे सत् ही है ॥ ७ ॥

* 'अपि च' आदिसे सूत्रकी दूसरी योजना है। 'अपि च' आदिसे सूत्रका दूसरा अर्थ इसके अतिरिक्त यदि प्रलयमें भी कार्य कारणसे भिन्न रहेगा तो स्थिति कालके समान कार्य का कभी लय न होगा। यदि कार्य कारणसे भिन्न है तो द्वैतापत्ति होगी और प्रलय भी सिद्ध न हो इस प्रकार औपनिषद्-दर्शन असंगत है ॥ ८ ॥

न तु दृष्टान्तभावात् ॥६॥

न, तु, दृष्टान्तभावात् ।

पदच्छेद—न, तु, दृष्टान्तभावात् ।

सूत्रार्थ—(न तु) पूर्वोक्त असामञ्जस्य-असंगतत्व दोष नहीं है, (दृष्टान्तभावात्) क्योंकि कारणमें लीन कार्य अपने कारणको दूषित नहीं करता, इस विषयमें दृष्टान्त हैं ।

* नैवास्मदीये दर्शने किंचिदसामञ्जस्यमस्ति । यत्तावदभिहितं कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदिति, तददूषणम्, कस्मात् ? दृष्टान्तभावात् । सन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण न दूषयति । तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थायामुच्चावचमध्यमप्रभेदाः सन्तः पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति । रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतौ न सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण संसृजन्ति । पृथिवीविकारश्चतुर्विधो भूतग्रामो न पृथिवीमपीतावात्मीयेन धर्मेण संसृजति । त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद्दृष्टान्तोऽस्ति । अपीतिरेव हि न संभवेद्यदि कारणे कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत । अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं नतु कारणस्य कार्यात्मत्वं 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इति वक्ष्यामः । अत्यल्पं चेदमुच्यते कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारणं संसृजेदिति । स्थितावपि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युपगमात् । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इत्येवमाद्याभिर्हि श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणानन्यत्वं श्राव्यते । तत्र यः परिहारः

हमारे दर्शनमें किञ्चिद् भी अनौचित्य नहीं है । जो यह कहा गया है कि कारणमें लीन होता हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित करेगा, वह दूषण नहीं है, क्योंकि इस विषयमें दृष्टान्त हैं । जैसे कारणमें लीन होता हुआ कार्य कारणको अपने धर्मसे दूषित नहीं करता, इस विषयमें दृष्टान्त हैं। जैसे कि मृत्तिकोपादानक सिकोरा आदि विकार विभाग अवस्थामें छोटे, बड़े, मंझले आकारके होकर पुनः प्रकृतिमें लय होते हुए उसको अपने धर्मसे संसृष्ट नहीं करते । आभूषण आदि सुवर्णके विकार आदि लय होते हुए सुवर्णको अपने धर्मसे सम्बन्धित नहीं करते । इसीप्रकार चार प्रकारका पृथिवीका विकार प्राणी समूह लय होता हुआ पृथिवीको अपने धर्मसे संसृष्ट नहीं करता । परन्तु तुम्हारे पक्षमें तो कोई दृष्टान्त नहीं है । यदि कारणमें कार्य अपने धर्मसे ही रहेगा तो प्रलयका ही संभव न होगा। कार्य कारणका अनन्यत्व (अभेद) होनेपर भी कार्य कारणात्मक है किन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है, ऐसा 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रमें कहेंगे । यह बहुत अल्प कहा गया है कि प्रलयमें कार्य कारणको अपने धर्मोंसे संसृष्ट करता है, स्थिति कालमें भी यह प्रसंग समान-तुल्य ही है । क्योंकि कार्य और कारणका अनन्यत्व स्वीकार किया है । 'इदं सर्वं० (यह जो कुछ भी है वह सब आत्मा ही है) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (यह सब आत्मा ही है) 'ब्रह्मैवेदम्० (यह अमृत ब्रह्म ही आगे है) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (निःसन्देह यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा तीनों कालमें समानरूपसे कार्यका कारणसे अभेद कहा गया है । उसमें कार्य और उसके धर्मोंका अविद्यासे अध्यारोपित होनेसे उनसे कारण संसृष्ट नहीं होता, इसप्रकार कार्यकालमें जो परिहार है वह प्रलयमें भी समान

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे प्रलयमें कार्यके धर्म नहीं रहते, वैसे कारणके भी नहीं रहने चाहिए, क्योंकि कार्य और कारणका अनन्यत्व है ? यद्यपि कार्य और कारण अभिन्न हैं, तो भी इतना भेद है कि कार्य कारणात्मक है किन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है । घट मृत्तिकात्मक है, परन्तु मृत्तिका घटात्मक नहीं, यदि

कार्यस्य तद्धर्माणां चाविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यत इति, अपीतावपि स समा
अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न सं
श्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। यथा च स्वप्न
स्वप्रदर्शनमायया न संस्पृश्यत इति, प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्। एवमवस्थात्रयसा
कोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते। मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्था
त्रयात्मनावभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति। अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिराचार्यैः
'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा' (गौड० का०
१।१६) इति। तत्र यदुक्तमपीतौ कारणस्यापि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग इत्येतदयुक्त
यत्पुनरेतदुक्तं—समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नो
पद्यत इति, अयमप्यदोषः, दृष्टान्तभावादेव। यथा हि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभा
क्यामविभागप्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्यानपोदितत्वात्पूर्ववत्पुनः प्रबोधे विभागो भवति, एवमिह
भविष्यति। श्रुतिश्चात्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति,
इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति
भवन्ति' (छा० ६।९।२,३) इति। यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धो विभा

है। यह दूसरा दृष्टान्त है जैसे अपनी फैलाई हुई मायासे तीनों कालमें भी स्वयं मायावी
नहीं होता, क्योंकि वह माया अवस्तु-मिथ्या है। वैसे ही परमात्मा भी संसार मायासे संसृ
होता। जैसे एक स्वप्न द्रष्टा स्वप्न दर्शन मायासे सम्बधित नहीं होता, क्योंकि जाग्रत् और सुषुप्ति
स्वप्नदर्शन मायासे सम्बन्धित नहीं है, वैसे ही जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंका साक्षी, एक
अव्यभिचारी (तीनोंमें समानरूपसे स्थित) वह तीनों व्यभिचारी अवस्थाओंसे संसृष्ट नहीं हो
जैसे रज्जुकी सर्पादिरूपसे प्रतीति मिथ्या है, वैसे परमात्माकी तीनों (उत्पत्ति, स्थिति, लय)
स्थाओंके रूपमें प्रतीति मिथ्या है। इस विषयमें वेदान्त संप्रदायको जाननेवाले गोड़पाद आचा
कहा है—'अनादि मायया० (जब अनादि मायासे सोया हुआ जीव [तत्त्वमसि आदि महावा
द्वारा] जागता है अर्थात् तत्त्वज्ञान लाभ करता है। तब उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित
आत्म-तत्त्वका बोध प्राप्त होता है) और जो यह कहा है कि प्रलयमें कार्यके सदृश कारणमें भी
त्वादि दोषोंका प्रसंग होगा, यह अयुक्त है। पुनः जो यह कहा गया है कि प्रलयमें समस्त विभा
कारणके साथ अविभाग प्राप्त होनेपर पुनः विभाग पूर्वक उत्पत्तिमें नियम-कारण उपपन्न नहीं होता,
भी दोष नहीं है, क्योंकि इसविषयमें दृष्टान्त ही है। जैसे सुषुप्ति, समाधि आदिमें भी स्वाभाविक अवि
अपृथक्त्व प्राप्त होनेपर भी मिथ्याज्ञान निवृत्त न होनेके कारण प्रबोध-जाग्रत् होनेपर पुनः पूर्वके
विभाग होता ही है, वैसे यहां भी प्रलयानन्तर सृष्टि कालमें भी पूर्वसृष्टिके समान ही विभाग होगा।
विषयमें श्रुति भी है—'इमाः सर्वाः प्रजाः० (सुषुप्तिमें यह सम्पूर्ण प्रजा सत्-ब्रह्मको प्राप्त होकर
नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गए। यहां सुषुप्तिके पूर्व प्रबोध समयमें व्याघ्र, सिंह, भेड़ि
शूकर, कीट, पतंग, डाँस अथवा मच्छर जो जो भी होते हैं जागने पर वे ही पुनः होते हैं)
स्थिति कालमें परमात्मामें अविभाग होनेपर भी मिथ्याज्ञानसे प्रतिबद्ध विभाग व्यवहार स्वप्नके
अव्याहत-अबाधित स्थित देखनेमें आता है, वैसे प्रलयमें भी मिथ्याज्ञानसे प्रतिबद्ध (सम्बद्ध) वि

सत्यानन्दी दीपिका

मानें तो पुनः मृत्तिका शराव आदि कार्यरूपमें नहीं हो सकेगी। इससे कार्य अपने धर्मों सहित कार
लीन होता है, किन्तु कारण अपने धर्मों सहित अवस्थित रहता है। क्योंकि कार्य कारणमें
होनेसे उसकी सत्ता कारण सत्तासे भिन्न नहीं है ॥ ९ ॥

व्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते। एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदितत्वात्। यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितोऽथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेतेति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः। तस्मात्समञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम् ॥९॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

पदच्छेद—स्वपक्षदोषात्, च।

सूत्रार्थ—सांख्यने जो दोष कहे हैं, वे सांख्य मतमें भी हैं। अतः दोष और उसका परिहार दोनोंके मतमें समान है।

* स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः। कथमिति? उच्यते—यत्तावदभिहितं—विलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मप्रकृतिकमिति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनात्प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात्। अतएव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः। तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणाविभागाभ्युपगमात्तद्वत्प्रसङ्गोऽपि समानः। तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्प्रलयात्प्रतिपुरुषं ये नियता भेदाः, न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते, कारणाभावात्। विनैव कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्बन्धप्रसङ्गः। अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमा-

---

क्तिका अनुमान होगा। इससे मुक्त पुरुषोंकी पुनरुत्पत्तिके प्रसंगका भी निराकारण हुआ। क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। और अन्तमें जो दूसरे विकल्पकी पुनः कल्पनाकी है कि यह जगत् प्रलयमें भी परब्रह्मके साथ विभक्त ही रहेगा, इसका भी स्वीकार न करनेसे प्रतिषेध हुआ समझना चाहिए। इससे यह औपनिषद् दर्शन संगत है ॥ ९ ॥

प्रतिवादीके अपने पक्षमें भी ये साधारण दोष प्रादुर्भूत होंगे। यह कैसे? कहते हैं—जो यह कहा गया है कि विलक्षण होनेके कारण यह जगत् ब्रह्मोपादानक नहीं है, वह तो प्रधानको जगत्के प्रति उपादान कारण माननेपर भी समान है, क्योंकि सांख्य शब्दादिरहित प्रधानसे शुब्दादि युक्त जगत्की उत्पत्ति मानते हैं। इससे—विलक्षणकारणसे विलक्षणकार्यकी उत्पत्ति माननेसे उत्पत्तिके पूर्व असत् कार्यवाद प्रसंग समान है। उसी प्रकार प्रलयमें कार्यका कारणके साथ अविभाग स्वीकार करनेसे कार्यके धर्मोंसे कारणका संसृष्ट होना समान है अर्थात् कार्यके स्थूलत्व आदि धर्मोंसे कारण प्रधानमें भी स्थूलत्व आदि प्रसंग होगा। एवं जिन विकारोंके जाति आदि सब विशेष नष्ट हो गये हैं, प्रलयमें कारणके साथ अभेदको प्राप्त होनेपर प्रलयके पूर्व प्रत्येक पुरुषके प्रति यह इस पुरुषका उपादान है यह इस पुरुषका, इस प्रकार जो नियत भेद थे उनका उसी प्रकार पुनरुत्पत्तिमें नियमन नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा नियमन करनेमें कोई कारण नहीं है। यदि कारणके विना ही नियमन स्वीकार करें तो कारणाभावके समान होनेसे मुक्तात्माओंको भी पुनः संसार प्रसंग हो जायगा। यदि कहो कि प्रलयमें कुछ विशेष अविभागको प्राप्त होते हैं और कुछ नहीं होते, तो जो

सत्यानन्दी दीपिका

* बद्ध और मुक्तोंकी व्यवस्था करनेके लिए यदि कहो कि प्रलयमें बद्धपुरुषोंके कर्म आदि लीन नहीं होते, इससे वे पुनः उत्पन्न होते हैं और मुक्त पुरुषोंके कर्म आदि लीन हो जाते हैं, इससे वे पुनः उत्पन्न नहीं होते, यह ठीक है, परन्तु जो भेद प्रलयमें प्रधानसे भिन्न रहते हैं वे प्रधानके कार्य नहीं होंगे, इत्यादि दोष भी हैं। ये दोष दोनों पक्षोंमें समान है, इनके स्वीकार किये विना उक्त व्यवस्था उपपन्न नहीं होगी ॥ १० ॥

पद्यन्ते केचिन्नेति चेत्—ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारण
त्वान्नान्यतरस्मिन्पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां द्रढयति, अवश्याश्रयितव्यत्वात् ॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥ ११ ॥

पदच्छेद—तर्काप्रष्ठानात्, अपि, अन्यथा, अनुमेयम्, इति, चेत्, एवम्, अपि, अविमोक्षप्रसङ्गः

सूत्रार्थ—(तर्काप्रतिष्ठानादपि) केवल तर्कको प्रतिष्ठा न होनेसे ब्रह्ममें वेदान्तवाक्य समन्वय
कोई विरोध नहीं है, किसी तर्कके अप्रतिष्ठित होनेपर भी (अन्यथा) अन्य प्रकारसे अर्थात्
तर्कसे (अनुमेयम्) वेदान्त समन्वय विरोधका अनुमान करना चाहिए, (इति चेत्) ऐसा कहो,
(एवमपि) कुछ तर्कोंके प्रतिष्ठित होनेपर भी (अविमोक्षप्रसङ्गः) प्रकृतविषयमें तर्क अप्रति
दोषसे मुक्त नहीं हो सकता । अथवा कपिल, कणादादिके परस्पर विरुद्ध तर्कोंसे तत्त्वनिर्णय
हो सकता, इससे संसारसे कभी मोक्ष नहीं हो सकेगा ।

❀ इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् । यस्मान्निरागमाः पु
त्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात् । तथा हि कै
भियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते । तैरप्युत्प्रेक्षिताः
स्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्या
अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्री
एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव, प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृ
परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात् । अथोच्येतान्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो
ष्यति । नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम । एतदपि हि तर्काणामप्रति
तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते, केषांचित्तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शनेनान्येषामपि तज्जातीयकानां तर्का

अविभागको प्राप्त नहीं होते वे प्रधानके कार्य नहीं होंगे । इस प्रकार ये दोष दोनों पक्षोंमें सा
होनेसे एक पक्षमें आक्षेपके योग्य नहीं हो सकते, यह बात तो इन दोषोंकी अदोषताको दृढ़
क्योंकि ये दोष अवश्य स्वीकार करने योग्य हैं ॥ १० ॥

और इस हेतुसे भी आगम गम्य अर्थमें वेद निरपेक्ष तर्कसे विरोध करना उचित
क्योंकि आगम निरपेक्ष और केवल पुरुष कल्पना मूलक तर्क प्रतिष्ठिंत नहीं होते, कारण कि
निरंकुश होती है । जैसे कुछ विद्वानोंसे यत्न पूर्वक कल्पित तर्क अन्य विशेष विद्वानों द्वारा आ
दिखाये जाते हैं, उनसे भी कल्पित हुए तर्क उनसे अन्य विशिष्ट विद्वानों द्वारा आभास-से कि
हैं, इस कारण तर्कोंकी प्रतिष्ठा कदापि ग्रहण नहींकी जा सकती, क्योंकि पुरुषोंकी बुद्धि विलक्ष
यदि ऐसा स्वीकार करो कि किसी प्रसिद्ध माहात्म्यवाले कपिल अथवा किसी अन्य सम्मत तर्क प्र
हो तो वह भी पूर्वोक्त दोषसे अप्रतिष्ठित ही है । कारण कि जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध समझा
ऐसे शास्त्र प्रणेता कपिल, कणाद आदिमें भी परस्पर विरोध देखनेमें आता है । यदि ऐसा कहा
जैसे अप्रतिष्ठा दोष न आवे इस प्रकार दूसरी रीतिसे हम अनुमान करेंगे । प्रतिष्ठित तर्क ही
ऐसा नहीं कहा जा सकता, यह तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व भी तर्कसे ही प्रतिष्ठापित किया जाता है।

सत्यानन्दी दीपिका

* वेद निरपेक्ष तर्कमें अप्रतिष्ठारूप दोषकी संभावना होनेसे निर्दोष वेदान्त-समन्वयका
नहीं हो सकता । यदि कपिलके माहात्म्यको सुनकर उनके तर्कसे सिद्ध प्रधानवादको माना
कणाद आदिके माहात्म्यको सुनकर उनके तर्कसे सिद्ध परमाणुवाद आदिको क्यों न माना
इसलिए परस्पर विरुद्ध होनेसे तर्क अप्रतिष्ठित ही है ।

प्रतिष्ठितत्वकल्पनात् । सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते । श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेण क्रियते । मनुरपि चैवं मन्यते—'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥' इति । 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥' (मनु० १२।१०५,१०६) इति च ब्रुवन् । ❀ अयमेव तर्कस्यालंकारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम । एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति । नहि पूर्वजो मूढ आसीदित्यात्मनापि मूढेन भवितव्यमिति किंचिदस्ति प्रमाणम् । तस्मान्न तर्काप्रतिष्ठानं दोष इति चेत्—एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते, तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्मोक्षस्तर्कस्य, न हीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम । अपि च सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः । तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपम्, वस्तुतन्त्रत्वात् । एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते—यथाग्निरुष्ण इति । तत्रैवं

तर्कोंमें अप्रतिष्ठितत्वके दर्शनसे उसके समान जातीय अन्य तर्कोंमें भी अप्रतिष्ठित होनेकी कल्पनाकी जाती है और सब तर्कोंके अप्रतिष्ठित होनेपर तो लोकव्यवहारका उच्छेद प्रसङ्ग हो जायगा, क्योंकि भूत और वर्तमान विषयके सादृश्यसे भविष्यत् विषयमें भी सुख प्राप्ति और दुःख परिहारके लिए प्रवृत्त होते हुए लोग देखे जाते हैं । श्रुत्यर्थमें विरोध हो, तो अर्थाभासका निराकरण पूर्वक यथार्थ अर्थका निर्णय वाक्यवृत्ति निरूपणरूप तर्कसे किया जाता है । 'प्रत्यक्षमनुमानं च० (धर्मकी शुद्धि-धर्मका अधर्मसे भेद जाननेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको प्रत्यक्ष, अनुमान (तर्क) और विविध वेदानुकूल शास्त्र, इन तीनों द्वारा धर्मको जानना चाहिए) और 'आर्षं० (ऋषि प्रणीत धर्मोपदेशका वेद और शास्त्र अविरुद्ध तर्कसे जो अनुसंधान करता है वह धर्मको जानता है दूसरा नहीं) ऐसा कहते हुए मनुभी इस तरहके कुछ तर्कोंको मानते हैं । अप्रतिष्ठित होना ही तो तर्कका अलंकार है । इस प्रकार दोष युक्त तर्कका परित्याग कर दोष रहित तर्क स्वीकार करने योग्य है । पूर्वज मूढ था, इससे अपनेको भी मूढ होना चाहिए, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । इसलिए यदि ऐसा कहो कि तर्कको अप्रतिष्ठा दोष नहीं है, तो ऐसा माननेपर भी तर्क दोष मुक्त नहीं हो सकता, यद्यपि किसी एक विषयमें तर्ककी प्रतिष्ठा उपलक्षित होती है, तो भी प्रकृत विषयमें अप्रतिष्ठितत्व दोषसे तर्कमें अविमोक्ष (मुक्त न होना) दोष तो प्रसक्त ही है । इस अतिगम्भीर (वेद भिन्न प्रमाणागम्य) मुक्तिके हेतु जगत्के कारण ब्रह्मके अद्वितीयत्वका निश्चय शास्त्रके बिना केवल कल्पनासे नहीं हो सकता, क्योंकि रूपादि रहित होनेसे यह पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है और लिंग आदिके अभाव होनेसे अनुमान आदिका विषय नहीं है, ऐसा हम कह चुके हैं । और सब मोक्ष वादियोंका यह सिद्धान्त है कि सम्यग्ज्ञानसे ही मोक्ष होता है । और वह सम्यग्ज्ञान एक रूप है, क्योंकि वस्तुके अधीन है । सदा एकरूपसे रहनेवाला जो पदार्थ वह यथार्थ है । लोकमें तत् विषयक ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ऐसा कहा जाता है, जैसे अग्नि उष्ण है । मोक्षके

सत्यानन्दी दीपिका

❀ यदि सब तर्कोंकी प्रतिष्ठा हो जाय तो पूर्वपक्ष ही सिद्ध नहीं होगा, और पूर्वपक्षके तर्कके समान सिद्धान्त तर्ककी भी प्रतिष्ठा सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि आखिर वह भी तो तर्क है । इसलिए तर्कके लिए अप्रतिष्ठा दोष नहीं है । सिद्धान्ती—ऐसा मानने पर भी तर्क दोष मुक्त नहीं हो सकता, कारण कि हमें सर्वदा तर्कको दोष युक्त कहनेका व्यसन नहीं है, किन्तु ब्रह्म जगत्का उपादान कारण

सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना । ❀ तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधा विप्रतिपत्तिः । यद्धि केनचित्तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं तदपरेण व्युत्था तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति प्रसिद्धं लोके, कथमेकरूपानवस्थित तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत् ? नच प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृ येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि । नच शक्यन्तेऽतीतानागतवर्तमानास्तार्कि एकस्मिन्देशे काले च समाहर्तुं येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात् । वे तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेः, तज्जनितस्य ज्ञान सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम् । अतः सिद्धमस्यैवौपनिष ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम् । अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः संसाराविमोक्ष एव प्रसज्ये अत आगमवशेनागमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥

(४ शिष्टापरिग्रहादिकरणम् सू० १२)

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२॥

पदच्छेद—एतेन, शिष्टापरिग्रहाः, अपि, व्याख्याताः ।

सूत्रार्थ—(एतेन) देवल आदि शिष्टोंसे किसी अंशमें गृहीत प्रधान कारणवादके निरा (शिष्टापरिग्रहा अपि) शिष्टोंसे किसी भी अंशमें अपरिगृहीत अणुआदि कारणवाद भी (व्याख्या निराकृत हुए समझने चाहिएं ।

साधन सम्यग्ज्ञानके एक होनेपर यथार्थ ज्ञानके विषयमें पुरुषोंकी विप्रतिपत्ति-विरोध अनुपपन्न तर्क ज्ञानोंमें तो परस्पर विरोध होनेसे विप्रतिपत्ति प्रसिद्ध है । और यह भी लोकमें प्रसिद्ध है कि एक तार्किक द्वारा तर्कसे यही सम्यग्ज्ञान है, ऐसा प्रतिपादित है, उसका अन्य द्वारा खण्डन कि जाता है । और दूसरे तार्किक द्वारा तर्कसे स्थापित सम्यग्ज्ञान भी उससे अन्य तार्किक द्वारा किया जाता है । एकरूपसे अनवस्थित विषयक तर्कसे उत्पन्न ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे हो सकता प्रधानवादी सांख्य तर्क वेत्ताओंमें उत्तम है ऐसा सब तार्किकोंने स्वीकार तो नहीं किया है जिससे उसके मतको सम्यग्ज्ञान मान सकें । अतीत-भूत, भविष्यत् और वर्तमान तार्किक एक देश और कालमें एकत्रित नहीं किये जा सकते, जिससे कि उनकी मति एकरूप और एकार्थ विषयक सम्यग्ज्ञान हो । वेद तो नित्य और ज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु होनेसे व्यवस्थित अर्थ विषयक सकता है । उससे उत्पन्न ज्ञानके यथार्थत्वका भूत, भविष्यत् और वर्तमानके सभी तार्किकों द्वारा नहीं किया जा सकता, अतः यह सिद्ध हुआ कि उपनिषद्गम्यज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है । इसलिए भिन्न ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता, अतः उससे संसारसे मुक्ति नहीं हो सकेगी । इससे यह हुआ कि आगमके बलसे और आगम अनुकूल तर्कके बलसे चेतन ब्रह्म जगत्का निमित्त कारण उपादान कारण है ॥ ११ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

नहीं है, जड़ प्रधान जगत्का कारण है, ऐसा तर्क अप्रतिष्ठित और दोष युक्त है । जगत्का कारण ब्रह्म तो वेदसे भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय ही नहीं है, अतः वहां तर्कका अवकाश ही नहीं है।

'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः । अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'

(अनुमान करनेवाले कुशल पुरुषोंसे यत्नपूर्वक जो अर्थ अनुमान द्वारा सिद्ध किया गया है, उसे अन्य अधिक बुद्धिवाले अन्यथा कर देते हैं) इसलिए तर्कसे उत्पन्न ज्ञान परस्पर विरुद्ध होने सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता । यथार्थ ज्ञानमें तो कोई विरोध नहीं होता, कारण कि वह यथार्थ

* वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद्गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद्वेदानुसारिभिश्च कैश्चि-च्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात्प्रधानकारणवादं तावद्व्यपाश्रित्य यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूद्भावितः स परिहृतः । इदानीमण्वादिवादव्यपाश्रयेणापि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्येत, इत्यतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदि-ति । परिगृह्यन्त इति परिग्रहाः, न परिग्रहा अपरिग्रहाः, शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः । तेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः, तुल्यत्वान्नि-

---

वैदिक दर्शनके निकटवर्ती होने, अनेक प्रबल तर्कोंसे युक्त होने और वेदके अनुसारी कुछ शिष्टों द्वारा किसी एक अंशसे परिगृहीत होनेके कारण प्रधानकारणवादका आश्रयकर जो तर्क निमित्त आक्षेप वेदान्त वाक्यों पर किया गया था, उसका तो परिहार किया गया है । अब अणु आदि वादका आश्रयकर कुछ मन्दमति वेदान्तवाक्यों पर पुनः तर्क निमित्तक आक्षेपकी आशंका करते हैं, अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायसे अतिदेश करते हैं । जिनका अच्छी तरह ग्रहण किया जाय वे परिग्रह कहलाते हैं, जो परिग्रह नहीं वे अपरिग्रह कहे जाते हैं, जिनका शिष्टोंसे परिग्रहण नहीं होता वे शिष्टापरिग्रह हैं । शिष्ट मनु, व्यास आदिने किसी एक अंशमें भी जो अणु आदि कारणवाद स्वीकृत

सत्यानन्दी दीपिका

विषयक होता है । अतः यह सिद्ध हुआ कि सांख्य द्वारा केवल तर्कसे सिद्ध प्रधान जगत्का उपादान कारण नहीं है, किन्तु चेतन ब्रह्म ही जगत्का निमित्त और उपादान कारण है । पूर्वपक्षमें समन्वयकी असिद्धि है, सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धि है ॥ ११ ॥

* वेदान्तवादके समान प्रधानवाद भी सत्कार्यवाद है और उसमें आत्माको असंग और चैतन्य माना गया है, कार्यकारणका अभेद है, इत्यादि कुछ अंशोंमें प्रधानवाद वेदान्तवादके निकटवर्ती है । देवल आदि कुछ शिष्ट पुरुषोंने कुछ अंशोंमें उसे स्वीकार भी किया है । यहां वादका अर्थ स्वाभिमत कथन है । सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद भेदसे यह वाद दो प्रकारका है, परिणामवाद और विवर्तवाद भेदसे सत्कार्यवाद भी दो प्रकारका है । सांख्योंका परिणामवाद है, 'तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः' (वास्तविक अन्यथा भाव परिणाम है) उनके मतमें कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है, इससे कार्य और कारण अभिन्न हैं और सत् हैं । जैसे दूध दहीरूपमें परिणत होता है । कार्यकी नामरूपसे अनभिव्यक्ति कारण है और साधनों द्वारा नाम-रूपसे अभिव्यक्ति कार्य है । अतः कार्य कारणसे भिन्न नहीं है । ब्रह्मवादी वेदान्त मतमें विवर्तवाद है । उनके मतमें कारण ही कार्यरूपमें भासता है, अतः कारण सत् है और कार्य कल्पित-मिथ्या है । नैयायिक और मध्वोंका असत्कार्यवाद है उसे आरम्भवाद भी कहा जाता है । उनके मतमें उत्पत्तिके पूर्व कार्य नहीं है, साधनों द्वारा उत्पन्न किया जाता है । जैसे मृत्तिकामें पहलेसे घटका अभाव है । कुम्हारने दण्ड आदि साधनोंसे उसे उत्पन्न किया । इसलिए उनके मतमें कार्य कारणसे भिन्न है । इसीप्रकार योगाचारके मतमें क्षणिक विज्ञानवाद, माध्यमिकके मतमें शून्यवाद और अर्हतोंका स्याद्वाद इत्यादि भी समझने चाहिएँ । परमाणु, स्वभाव, शून्यवाद आदि निर्मूल होनेके कारण दुर्बल हैं, अतः उनका पृथक् कथन न कर केवल अतिदेश किया गया है । जितने कारणवाद हैं उन सबको प्रधानवादने अपने तर्क आदि बलसे परास्तकर उनमें अपनी प्रधानता प्राप्त की है, इसलिए वेदान्तने उन सबमेंसे प्रधान कारणवादके निराकरणमें अधिक प्रयत्न किया है । प्रधानवादके निराकरणसे शेष सब कारणवादोंका निराकरण समझना चाहिए ।

विभु होनेसे ब्रह्म द्रव्यका उपादान कारण नहीं है, और परम महत्परिमाण, सर्व संयोगित्व-

राकरणकारणस्य, नात्र पुनराशङ्कितव्यं किंचिदस्ति । तुल्यमत्रापि परमगम्भीरस्य रणस्य तर्कानवगाह्यत्वं, तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वम्, अन्यथानुमानेऽप्यविमोक्षः, आगमविरो त्येवंजातीयकं निराकरणकारणम् ॥१२॥

(५ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् सू० १३)

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥१३॥

पदच्छेद—भोक्त्रापत्तेः, अविभागः, चेत्, स्यात्, लोकवत् ।

सूत्रार्थ—(भोक्त्रापत्तेः) अद्वितीय ब्रह्म यदि जगत्का उपादान हो, तो सब पदार्थ अभिन्न होनेके कारण भोग्य पदार्थ भोक्ता हो जायेंगे, इससे (अविभागः) प्रत्यक्ष सिद्ध भोक्ता, आदि विभाग ही न रहेगा, (चेत्) ऐसा यदि कहो, तो (लोकवत्) जैसे व्यवहारमें घट आदि यद्यपि मृत्तिकासे अभिन्न हैं, तो भी परस्पर भिन्न हैं, (स्यात्) वैसे कारणसे अभिन्न होने भोक्ता, भोग्य आदि प्रपञ्चका परस्पर विभाग रहेगा ।

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कबलेनैवाक्षिप्यते । यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्व भवति, तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति, यथा मन्त्रार्थ तर्कोऽपि स्वविषयादन्यत्राप्रतिष्ठितः स्यात्, यथा धर्माधर्मयोः । किमतो यद्येवम्? इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थबाधनं श्रुतेः । कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः बाध्यत इति ? अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके भोक्ता चेतनः भोग्याः शब्दादयो विषया इति । यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति । तस्य च वि

नहीं किए हैं, वे कारणवाद भी इस प्रकृत प्रधान कारणवादके निराकरण कारणसे प्रति व्याख्यात-निराकृत समझने चाहिएं । निराकरणका कारण समान होनेसे यहां वेदान्त पुनः कुछ भी आशंकितव्य नहीं है । यहां वैशेषिक आदि मतमें भी परम गम्भीर जगत्कारण गम्यत्व, तर्काप्रतिष्ठितत्व अन्यथा-दूसरी रीतिसे अनुमान करने पर भी मोक्षाभाव और आ इसप्रकारका निराकरणका कारण समान है ॥ १२ ॥

पुनः अन्य प्रकारसे ब्रह्मकारणवादपर तर्कके बलसे ही आक्षेप किया जाता है, य अपने विषयमें प्रमाण है, तो भी अन्य प्रमाणसे विषयका बाध होनेपर उसका अन्य विषय विषयक) होना युक्त है, जैसे मन्त्र और अर्थवाद अन्य विषयक होते हैं । तर्क भी स्व विषय अप्रतिष्ठित होता है जैसे धर्म और अधर्ममें । यदि ऐसा हो, तो इससे क्या ? इससे यह श्रु अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका श्रुतिसे बाध हो । पुनः यह कैसे कहते हो कि अन्य प्रमाण अर्थका श्रुतिसे बाध किया जाता है । इस विषयपर कहते हैं—लोकमें यह भोक्तृ, भोग्य विभा है, भोक्ता चेतन जीवात्मा है और भोग्य शब्द आदि विषय हैं, जैसे देवदत्त भोक्ता है और (भात) भोज्य है । यदि भोक्ता भोग्यभावको प्राप्त हो और भोग्य भोक्तृभावको प्राप्त हो, विभागका अभाव प्रसक्त होगा । इन दोनोंका परम कारण ब्रह्मसे अनन्यत्व होनेके कारण

सत्यानन्दी दीपिका

विभुत्व निर्गुण ब्रह्ममें नहीं है, इत्यादि आक्षेप श्रुतिसे बाधित हैं । और अणु आदि कार निराकरणमें वही कारण है जो प्रधान कारणवादके निराकरणमें है । इसलिए तर्कसे वेदान्त बाध नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥

* ब्रह्मको जगत्का उपादनकारण प्रतिपादक श्रुति ब्रह्मके साथ जगत्का अभेद परन्तु वह प्रत्यक्षादि प्रमाण और तर्कसे बाधित है, क्योंकि उनसे ब्रह्म और जगत्का कार्य

भावः प्रसज्येत, यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत। तयोरितरेतरभावापत्तिः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वात्प्रसज्येत। न चास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम्। यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणमिति ※ चेत्कश्चिच्चोदयेत्तं प्रति ब्रूयात् – स्याल्लोकवदिति। उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभागः एवं लोके दृष्टत्वात्। तथा हि – समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरसंश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते। न च समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति। न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति। एवमिहापि—न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, नच परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति। यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकारः, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्यास्त्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम् ॥१३॥

भेद हो जायगा। इस लोक प्रसिद्ध विभागका [श्रुतिसे] बाध होना युक्त नहीं है। जैसे वर्तमानमें भोक्तृ-भोग्य विभाग प्रत्यक्ष सिद्ध है, वैसे भूत और भविष्यत्में भी उसकी कल्पना करनी चाहिए। इसलिए इस प्रसिद्ध भोक्तृ भोग्य विभागके अभावका प्रसंग होनेसे यह ब्रह्मकारणत्व निश्चय अयुक्त है।

सिद्धान्ती—ऐसी यदि कोई शंका करे, तो उसके प्रति ऐसा कहना चाहिए कि लोकके समान विभाग होगा। हमारे पक्षमें भी यह विभाग उपपन्न होता ही है, क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है। जैसे कि उदकरूप समुद्रसे फेन, वीची (बड़ी तरंग), तरंग और बुल्बुले आदि उसके विकार अनन्य होनेपर भी उनका परस्पर विभाग और परस्पर संश्लेश आदि रूप व्यवहार उपलब्ध होता है। और उदकरूप समुद्रसे अनन्य होनेपर भी उसके विकार फेन तरङ्ग आदिकी अन्योन्यात्मकता नहीं होती और उनको अन्योन्यात्मकता न होनेपर भी वे समुद्रस्वरूपसे अन्य नहीं होते। वैसे यहाँ भी भोक्ता और भोग्यकी अन्योन्यभावापत्ति नहीं होगी और न उनका परब्रह्मसे भेद होगा। यद्यपि भोक्ता ब्रह्मका विकार नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा० (उसको रचनाकर उसमें ही अनुप्रवेश किया) इस प्रकार कार्यमें अनुप्रवेश द्वारा अविकृत स्रष्टामें ही भोक्तृत्वका श्रवण है, तो भी घट आदि उपाधि निमित्तक आकाशके समान कार्यमें अनुप्रविष्टका उपाधिकृत विभाग है। इससे ऐसा कहा गया है कि परम कारण ब्रह्मसे अनन्य होनेपर भी भोक्तृ-भोग्य रूप विभाग समुद्रतरंग न्यायसे उपपन्न होता है ॥ १३ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

सिद्ध नहीं होता, इसलिए बाधक प्रमाणके विद्यमान होनेपर अभेद बोधक श्रुति मुख्य नहीं किन्तु गौण है। जैसे 'आदित्यो यूपः' यह श्रुति वाक्य आदित्यका यूपके साथ अभेद बोधित करता है, परन्तु यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधित है, अतः वहाँ मीमांसकोंने आदित्य शब्दकी आदित्य सदृशमें लक्षणाकर गौणवृत्तिसे 'आदित्यः सदृशो यूपः' ऐसा व्याख्यान किया है। जैसे धर्म, अधर्म आदि अज्ञात तत्त्वोंमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाण बाधित हैं, वैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रसिद्ध भेदसे श्रुति-प्रतिपादित अभेद अनुवाद भी बाधित है, इससे ब्रह्म जगत्का कारण हो यह कथन अयुक्त है। इस प्रकार तर्कसे अद्वैत समन्वयका बाध होना युक्त है।

※ जैसे महाकाशमें घट, मठ आदि उपाधिकृत घटाकाश, मठाकाश आदि कल्पित भेद व्यवहार होता है। वैसे ब्रह्ममें भी अविद्या उपाधिकृत भोक्ता और भोग्य आदि कल्पित भेद व्यवहार होता है। अतः द्वैत प्रमाणका अद्वैत समन्वयसे विरोध नहीं है ॥ १३ ॥

(६ आरम्भणाधिकरणम् सू० १४-२०)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

पदच्छेद—तदनन्यत्वम्, आरम्भणशब्दादिभ्यः ।

सूत्रार्थ—(तदनन्यत्वम्) कार्य जगत्की कारण ब्रह्मसे अनन्यता है, (आरम्भणशब्दादि क्योंकि 'वाचारम्भणं विकारो' 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे अवगत होता है ।

❀ अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति हारोऽभिहितः, नत्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति, यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्व गम्यते । कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात्कारणात्परमार्थ नन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते । कुतः ? आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भ शब्दस्तावदेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—'यथा सोम्यैकेन मृत्पि सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।४) एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरा दञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत् । यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्—वा केवलमस्तीत्यारभ्यते—विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति । नतु वस्तुवृत्तेन विकारो

यह व्यावहारिक भोक्तृ-भोग्यरूप विभाग स्वीकारकर 'स्याल्लोकवत्' इस सूत्रभागसे परिहार कहा गया । परन्तु यह विभाग परमार्थतः नहीं है, जिससे वे कार्यकारण अनन्य अवग हैं । आकाश आदि बहुत विस्तृत जगत् कार्य है और परब्रह्म कारण है । उस कारणसे पृथक्त्वका अभाव ही वास्तवमें कारणके साथ कार्यका अनन्यत्व अवगत होता है । क्योंकि आर शब्द आदि कहे हैं । एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाकर दृष्टान्तकी अपेक्षामें 'यथा सोम्यै (हे सोम्य श्वेतकेतु ! जैसे एक मृत्तिका पिण्डसे सब मृत्तिकाके विकार ज्ञात हो जाते हैं कि केवल वाणीके आश्रयभूत नाम मात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है) इसप्रकार आरम्भ कहा गया है । अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मृत्तिकारूपसे ज्ञात एक मृत्तिका पिण्ड मृत्तिकाम सिकोरा, डोल आदि सभी पदार्थ मृत्तिकात्मकरूप अविशेषसे विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाचार विकार केवल नाम मात्र हैं, घट, सिकोरा और डोल आदि विकार केवल वाणीसे कहे वस्तुवृत्तिसे तो विकार कुछ भी नहीं हैं, नाममात्र यह सब अनृत-मिथ्या है, केवल मृत्तिका ही

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वाधिकरणमें परिणामवादके आधार पर समाधान किया गया है और इस अधिक विवर्तवादके आधार पर किया जाता है । इससे एकफल संगति है । परन्तु इसप्रकार दोनों करणोंकी संगतिमें विरोध होगा ? ऐसी बात नहीं है, क्योंकि—

विवर्तवादस्य च पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः ।
व्यवस्थितेऽस्मिन्परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः ॥

(वेदान्तमें विवर्तवादकी प्रथमावस्था परिणामवाद है, इस परिणामवादकी व्यवस्था हो विवर्तवाद स्वयं ही प्राप्त हो जाता है) ऐसा संक्षेपशारीरकमें कहा गया है, इसलिए कोई नहीं है । तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष आदिका लोकप्रसिद्ध प्रामाण्य स्वीकारकर स्थूल बुद्धि शंका निवृत्तिके लिए परिणाम दृष्टान्त-समुद्रतरङ्गन्यायसे भेद और अभेद कहा गया है । अब क्षादि प्रमाणोंको तत्त्वके प्रतिपादनमें असमर्थ कहकर केवल व्यवहारमें ही उनकी स्थापनाकी अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण केवल व्यवहार विषयक हैं परमार्थ विषयक नहीं हैं । इसलिए

कश्चिदस्ति । नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः । तत्र श्रुताद्वाचारम्भणशब्दाद्दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते । पुनश्च तेजोबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोऽबन्नकार्याणां तेजोऽबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति– 'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येवसत्यम्' (छा० ६।४।१) इत्यादिना । आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मु० २।२।११), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१६) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम् । न चान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते । तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं, दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम् । * नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म । अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वं, शाखा इति नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वं, फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथा च मृदात्म-

---

है। यह ब्रह्ममें दृष्टान्त कहा गया है। यहां श्रुत वाचारम्भण शब्दसे दार्ष्टान्तिकमें भी कारण ब्रह्मसे कार्य समूह भिन्न नहीं है ऐसा ज्ञात होता है। पुनः श्रुति तेज, जल और अन्नको ब्रह्मका कार्य कहकर तेज, जल और अन्नके कार्योंका तेज, जल और अन्नसे भेदाभाव 'अपागादग्नेरग्नित्वं० (इस प्रकार अग्निसे अग्नित्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [अग्निरूप] विकार वाणीसे कहनेके लिए नाममात्र है, केवल तीन रूप हैं, इतना ही सत्य है) इत्यादिसे कहती है। 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इसमें पठित 'आदि' शब्दसे 'ऐतदात्म्य० (यह सब एतद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है) 'इदं सर्वं० (यह जो कुछ भी है यह सब आत्मा ही है) 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (यह सब ब्रह्म ही है) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (आत्मा ही यह सब है) 'नेह नानास्ति० (इस-ब्रह्ममें नाना कुछ भी नहीं है) इत्यादि आत्मैकत्व प्रतिपादन परक वाक्य समुदाय भी उदाहरणरूपसे ग्रहण करना चाहिए। नहीं तो एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान सम्पन्न नहीं होगा। इसलिए जैसे घटाकाश, करकाकाश आदि महाकाशसे अनन्य हैं और जैसे मृगतृष्णा जल आदि उषर आदिसे अनन्य है, क्योंकि दृष्ट नष्ट स्वरूप वाला है अर्थात् उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता है अर्थात् अधिष्ठान ज्ञानसे बाधित हो जाता है और वह स्वरूप रहित है, वैसे ही भोक्तृ-भोग्य आदि प्रपञ्च समूह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु ब्रह्म तो अनेकात्मक है, जैसे वृक्ष अनेक शाखा युक्त है, वैसे ब्रह्म भी

सत्यानन्दी दीपिका

द्वैत प्रमाणोंसे श्रौतार्थका बाध नहीं हो सकता है। इसप्रकार अद्वैत समन्वयके अविरोधके लिए द्वैतको मिथ्या सिद्ध करते हैं। यहां अनन्यत्वशब्द अभेद परक नहीं है किन्तु भेद निषेध परक है अर्थात् इस दृश्यमान जगत्की ब्रह्मसे पृथक् सत्ता नहीं यही अनन्यत्वका तात्त्विक अर्थ है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुति भी ब्रह्ममें नानात्व-भेदका निषेध करती है।

* अब भर्तृप्रञ्चक आदि प्राचीन वेदान्ताचार्योंके अभिमत एकत्व नानात्ववादको दिखाते हैं— अनेकशक्ति और इससे होनेवाली अनेकप्रकारकी कार्यात्मकसृष्टिसे ब्रह्म युक्त है, इस विषयमें 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ब्रह्म मायारूप अनेक शक्तियोंसे बहुत रूप हुआ) यह श्रुतिवाक्य प्रमाण है। यदि अत्यन्त अभेद मानें तो कर्मकाण्डादिके आश्रित लौकिक और वैदिक व्यवहार एवं ब्रह्म प्राप्तिके श्रवण, मनन आदि सब साधन बाधित हो जायेंगे। यदि ब्रह्ममें कार्यरूपसे नानात्व मानें तो लौकिक और शास्त्रीय सब व्यवस्था ठीक हो जायगी, अतः भेद और अभेदको मानना युक्त है।

नैकत्वं, घटशरावाद्यात्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति,
त्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति । एवं च मृदादि
अनुरूपा भविष्यन्तीति । नैवं स्यात्; 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते
त्वावधारणात्, वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात्, दार्ष्टान्तिके
दात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्, 'स आत्मा
श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात् । स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुप
न यत्नान्तरप्रसाध्यम् । अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारी
त्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम् । बाधिते च शारीरात्मत्वे
समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः
❀ दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना ब्रह्मा

अनेक शक्ति प्रवृत्ति युक्त है, इसलिए एकत्व और नानात्व दोनों सत्य ही हैं । जैसे 'वृक्ष' इस
एक है और 'शाखा' रूपसे नाना है, जैसे 'समुद्र' इस रूपसे एक है और फेन, तरङ्ग आदि
नाना है, और 'मृत्तिका' इस रूपसे एक है और घट, शराव आदि रूपसे नाना है, [वैसे ही
कारण रूपसे एक है और भोक्तृ, भोग्य आदि प्रपञ्चरूपसे अनेक है] दोमें से एकत्व अंशके
मोक्ष व्यवहार सिद्ध होगा और नानात्व अंशके ज्ञानसे कर्मकाण्डके आश्रित लौकिक और
व्यवहार सिद्ध होंगे, इसी प्रकार मृत्तिका आदि दृष्टान्त भी अनुरूप होंगे ? परन्तु ऐसा नहीं है,
'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (केवल मृत्तिका ही सत्य है) इस प्रकार दृष्टान्तमें प्रकृतिमात्रमें सत्यत्व
किया गया है, और वाचारम्भणशब्दसे विकार समुदायमें अनृतत्वका अभिधान किया
दार्ष्टान्तिकमें भी 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (यह सब एतद्रूप है वह सत्य है) एक परम कारणमें
अवधारण किया गया है और 'स आत्मा० (हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा है वह तू है) इस
जीवात्माको ब्रह्मभावका उपदेश है । जीवात्माको यह स्वयं प्रसिद्ध ब्रह्मात्मत्वका उपदेश किया
न कि अन्य यत्न साध्य ब्रह्मात्मत्वका । इसलिए जैसे रज्जु आदि बुद्धि कल्पित सर्प आदि
बाधक होती हैं, वैसे यह शास्त्रीय अवगम्यमान (अवगत हुआ) ब्रह्मात्मत्व आविद्यक जीवा
बाधक होता है । जीवात्मत्व बाधित होनेपर उसके आश्रित समस्त आविद्यक लौकिक, वैदिक
जिनकी सिद्धिके लिए ब्रह्ममें एकत्वसे भिन्न नानात्वांशकी कल्पना करनी पड़े, बाधित हो
और यत्र त्वस्य० (जिस ज्ञानावस्थामें इस विद्वान्‌के लिए सब आत्मा ही हो गया है उस

सत्यानन्दी दीपिका

सिद्धान्ती—यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस प्रकार श्रुतिमें अवधारणार्थक
'आरम्भणशब्द' 'सत्यत्वावधारणात्' इत्यादि हेतुओंसे विकारकी ब्रह्मसे पृथक् सत्ताका
जाता है । इसलिए परिणामवाद श्रुति बाह्य है ।

❀ 'यत्र त्वस्य०' यह श्रुति ब्रह्मज्ञानीके लिए समस्त भेद व्यवहारका अपवाद करती है।
यदि कहो कि क्रिया, कारक और फलरूप समस्त भेद व्यवहार, व्यवहारदशामें सत्य है और
अवस्थामें निवृत्त हो जाता है, तो यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि सत्य वस्तुकी कदापि निवृ
होती, ज्ञान किसी सत्य वस्तुकी निवृत्ति नहीं करता किन्तु उसमें मिथ्याज्ञानसे आरोपित और
ज्ञानकी निवृत्त करता है । यदि जीवत्व सत्य होता, तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य जीवको
बोध (ज्ञान) नहीं करते, परन्तु 'तत्त्वमसि' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुति वाक्योंसे
है कि जीवभाव कल्पित है और ब्रह्मभाव पारमार्थिक है । परन्तु तुम्हारे मतमें तो सम्यग्ज्ञान
भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि संसारका कारण मिथ्याज्ञान हो, तो उसकी निवृत्तिके लिए

दर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम्। न चायं व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिबद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्। तस्करदृष्टान्तेन चानृताभिसंधस्य बन्धनं सत्याभिसंधस्य च मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति (छा० ६।१६)। मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्। उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसंध इत्युच्येत? 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेवैतद्दर्शयति। न चास्मिन्दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात्। उभयसत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते? नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि। तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याहन्येत, मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात्तदभावे व्याघातः स्यात्। कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति? अत्रोच्यते—नैष दोषः, सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः, स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न

किस साधनसे किसे देखे) इत्यादिसे ब्रह्मात्मत्वदर्शीके प्रति श्रुति क्रिया, कारक और फलरूप समस्त व्यवहारका अभाव दिखलाती है। यह कथन युक्त नहीं है कि यह व्यवहारका अभाव किसी अवस्था विशेष (मोक्ष) के अधीन कहा गया है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस प्रकार जीवका ब्रह्मात्मभाव किसी अवस्था विशेषके अधीन नहीं कहा गया है। किञ्च चोरके दृष्टान्तसे मिथ्या वस्तुमें आग्रह करनेवालेका बन्धन और सत्याभिसन्धका मोक्ष दिखलाती हुई श्रुति केवल एकत्व ही एक पारमार्थिक और नानात्वको मिथ्याज्ञानसे कल्पित दिखलाती है। यदि भेद और अभेद दोनों सत्य हों, तो भेद व्यवहार करनेवाला पुरुष अनृताभिसन्ध है यह कैसे कहा जा सकेगा। 'मृत्योः स मृत्युमा० (जो इस अद्वितीय ब्रह्ममें नाना-सा देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है) इस प्रकार श्रुति भेद दृष्टिका अपवाद करती हुई यही (अभेद) दिखलाती है। और इस भेद और अभेदवाद दर्शनमें ज्ञानसे मोक्ष भी उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि इसके मतमें सम्यग्ज्ञानसे निवारण योग्य किसी मिथ्याज्ञानको संसारके कारणरूपसे नहीं माना गया है, कारण कि दोनों सत्य होनेसे यह कैसे कहा जाय कि एकत्व ज्ञानसे नानात्वज्ञान निवृत्त होता है। परन्तु केवल एकत्वके ही स्वीकार करनेपर तो नानात्वके अभावसे प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण निर्विषयक होनेसे बाधित हो जायँगे। जैसे स्थाणु आदिमें पुरुष आदिके ज्ञान बाधित हो जाते हैं। इसी प्रकार भेदकी अपेक्षा रखनेके कारण विधि, प्रतिषेध शास्त्र भी भेदके अभावमें बाधित हो जायँगे। गुरु शिष्य आदि भेदकी अपेक्षा रखनेके कारण मोक्ष शास्त्रभी उसके अभावमें बाधित हो जायगा। और मिथ्या मोक्ष शास्त्रसे प्रतिपादित आत्मैकत्व सत्य कैसे हो जायगा? इस विषय पर कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि जैसे जागनेके पूर्व सब स्वप्न व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं, बस इसी प्रकार ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानके पूर्व सब व्यवहार भी सत्य उपपन्न होते हैं। जब तक सत्य आत्मैकत्व प्रतिपत्ति नहीं होती तबतक प्रमाण, प्रमेय और फलरूप विकारोंमें किसीको भी मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती। स्वाभाविक ब्रह्मात्मताका त्यागकर अविद्यासे सब प्राणी विकारोंमें ही 'मैं मेरा' इस प्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

अपेक्षा हो, परन्तु तुम्हारे मतमें तो एकत्व, नानात्व और उनका ज्ञान सत्य हैं, एक सत्यज्ञानसे अन्य सत्यज्ञानकी निवृत्ति संभव नहीं है। वेदान्त मतमें तो नानात्व मिथ्याज्ञानसे कल्पित है वह शास्त्रीय ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है, जिससे बन्धनिवृत्तिपूर्वक मोक्ष होता है।

कस्यचिदुत्पद्यते । विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययाऽऽत्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रति स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा । तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वै व्यवहारः । ❀ यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्न उच्चावचान्भावान्पश्यतो नि प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति, प्राक्प्रबोधात्, नच प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले तद्वत् । कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत ? रज्जुसर्पेण दष्टो म्रियते । नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादिप्रयोजनं क्रियते नैष दोषः, शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः, स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंश कस्नानादिकार्यदर्शनात् । तत्कार्यमप्यनृतमेवेति चेद्ब्रूयात्, तत्र ब्रूमः—यद्यपि स्वप्न वस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं, तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्, प्रतिबुद्ध बाध्यमानत्वात् । नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित् । एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधनेन देहमा त्मवादो दूषितो वेदितव्यः । ❀ तथा च श्रुति—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु प

आत्मभाव और आत्मीयभावको प्राप्त होते हैं, इसलिए ब्रह्मात्मत्व ज्ञानके पूर्व लौकिक और वैदि व्यवहार उपपन्न होते हैं । जैसे स्वप्नमें भिन्न-भिन्न अनेक प्रकारके पदार्थोंको देखनेवाले साधार पुरुषको जागनेसे पूर्व प्रत्यक्षरूपसे माना हुआ निश्चित ही विज्ञान होता है । उस समय उसक -भासके अभिप्रायसे ज्ञान नहीं होता, वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिए । परन्तु असत्य वेदान्त सत्य ब्रह्मात्मत्व ज्ञान कैसे उपपन्न होगा ? क्योंकि रज्जुमें कल्पित सर्पसे डँसा हुआ नहीं मरता मृगतृष्णाके जलसे पान और स्नान आदि प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होते । यह दोष नहीं है, क्योंकि आदि शङ्काके कारण मरण आदि कार्य उपलब्ध होते हैं और स्वप्नऽवस्था स्थित पुरुषमें सर्प जाना, जल स्नान आदि कार्य देखनेमें आते हैं । यदि यह कहो कि उसके कार्य भी असत्य हैं । विषयको हम कहते हैं—यद्यपि स्वप्नावस्थामें स्थित पुरुषके सर्पका डँसना, जल स्नान आदि असत्य हैं, तो भी उनका ज्ञानरूप फल सत्य ही है, क्योंकि जाग्रत् पुरुषका भी वह ज्ञान बाधित होता । स्वप्नसे उठा हुआ पुरुष स्वप्न दृष्ट सर्पदंश, उदक स्नानादि कार्य मिथ्या हैं, ऐसा हुआ उसका ज्ञान भी मिथ्या है, ऐसा कोई भी नहीं मानता । इससे स्वप्न द्रष्टा विषयक बाध न होनेसे देहमात्रको आत्मा मानने वालेका मत भी खण्डित समझना चाहिए । उस 'यदा कर्मसु० (जब काम्य कर्मोंको करता हुआ पुरुष स्वप्नमें सुन्दर स्त्रीको देखे तो उस

सत्यानन्दी दीपिका

❀ वस्तुतः मिथ्या होनेपर भी विकारोंमें मिथ्यात्व निश्चय न होनेके कारण लौकिक व्यवहार हो सकते हैं । जो यह कहा गया है कि असत्य वेदान्त वाक्योंसे सत्य ब्रह्मात्माका ज्ञान हो सकता है ? क्या असत्यसे सत्य उत्पन्न नहीं होता अथवा असत्यसे सत्यका ज्ञान ? प्रथम इष्ट ही है, क्योंकि हम वाक्योत्पन्न ज्ञानको सत्य नहीं मानते हैं । परन्तु असत्यसे भी सत्यकी देखी जाती हैं, जैसे स्वप्नावस्थामें कल्पित सर्प दर्शन आदिसे मरण, मूर्च्छा, भय, कम्पन आदि उत्पन्न होते देखे जाते हैं और जाग्रत्में रज्जु, स्थाणु आदिमें कल्पित सर्प, चोर आदिके ज्ञानसे भय आदि उत्पन्न होते हैं । इस स्वप्न दृष्टान्तसे देहात्मवादी चार्वाक मतका भी निराकरण चाहिए, क्योंकि स्वप्नज्ञान यदि देहका धर्म हो, तो मुझे यह ज्ञान हुआ और मैंने ही स्वप्न था अब जाग्रत् पदार्थोंको देखता हूँ, इसप्रकार अबाधित ज्ञान और अपना अनुसन्धान न हो क्योंकि स्वप्नात्माका जागनेपर तो नाश हो जाता है । देहके भेद होनेपर भी अनुसन्धाताका भेद

समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५।२।८) इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति। तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेन तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति। प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यत ईदृशेनासाध्वागम इति। तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः। अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किंचिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। यथा हि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते, नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युक्ते किंचिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः। सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थे आकाङ्क्षा स्यात्। न त्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत। * न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्धास्य विजज्ञौ' (छा० ६।१६।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात्। न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्। अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तराभावाच्च। प्राक्चात्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम। तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादित आत्मैकत्वे समस्तस्य

दर्शनके होनेपर उस कर्ममें समृद्धि जाने) यह श्रुति असत्य स्वप्न दर्शनसे सत्य समृद्धिका ज्ञान दिखलाती है। इसप्रकार उत्पन्न हुए कुछ अरिष्टों (अनिष्ट सूचक) का प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर 'न चिरमिव० (चिर कालतक नहीं जीएगा, ऐसा समझो) ऐसा कहकर 'यः स्वप्ने० (जो कोई स्वप्नमें काले दान्त वाले काले पुरुषको देखें तो वह उसको मारता है) इत्यादिसे उस-उस असत्य स्वप्न दर्शनसे ही सत्य मरण सूचित होता है, ऐसा श्रुति दिखलाती है। यह लोकमें प्रसिद्ध है कि अन्वय-व्यतिरेकमें कुशल पुरुषोंको इसप्रकारके स्वप्न दर्शनसे शुभ प्राप्ति और इसप्रकारके स्वप्न दर्शनसे अशुभ-प्राप्ति सूचित होती है। एवं रेखाओंमें असत्य अक्षरोंके ज्ञानसे अकार आदि सत्य अक्षरोंका ज्ञान होता देखा जाता है। और आत्मैकत्व प्रतिपादक यह अन्तिम प्रमाण है। इसके अनन्तर अन्य कुछ भी आकांक्ष्य नहीं है। जैसे लोकमें 'यजेत' ऐसा कहनेपर किस फलके लिए, किस साधनसे और किसप्रकार ऐसी आकांक्षा होती है; वैसे 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा कहने-जान लेने पर कुछ अन्य आकांक्ष्य नहीं है। क्योंकि यह सर्वात्मैकत्व विषयक ज्ञान है। अन्य अवशिष्ट पदार्थ हो तो उसकी आकांक्षा हो, परन्तु आत्मैकत्वसे भिन्न अवशेष रहा हुआ अन्य पदार्थ नहीं है जिसकी आकांक्षा हो। यह अवगति (ज्ञान) उत्पन्न नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'तद्धाऽस्य० (पिताके उपदेशसे श्वेतकेतुने उस आत्मतत्त्वको यथार्थरूपसे जाना) इत्यादि श्रुतियाँ हैं, और अवगतिके साधन श्रवणादि और वेदाध्ययन आदिका विधान है और यह अवगति निष्प्रयोजन अथवा भ्रान्ति है ऐसा भी नहीं कही जा सकता, क्योंकि अविद्याकी निवृत्तरूप फल देखनेमें आता है तथा

सत्यानन्दी दीपिका

है, अतः देह आत्मा नहीं है। असत्यसे सत्यज्ञान नहीं होता, अब इस दूसरे विकल्पमें 'तथा च' आदिसे व्यभिचार दिखलाते हैं।

---

* यद्यपि रेखाओंका स्वरूप सत्य है तो भी उनमें किया गया वर्ण संकेत असत्य है, उससे 'अ, आ' आदि वर्णोंका सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है। और जहां अग्नि है वहां धूली पटलमें धूमके भ्रमसे उत्पन्न व्याप्ति ज्ञानसे अग्निकी यथार्थ अनुमिति होती है। वैसे ही असत्य वेदान्तवाक्योंसे भी सत्य ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति। ननु मृदादि न्तप्रणयनात्परिणामवद्ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते। परिणामिनो हि मृदादयो लोके समधिगता इति। ❀ नेत्युच्यते, 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो (बृ० ४।४।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्या सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्। न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणाम तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम्। स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत्—न, कूटस्थस्येति विशेषणा नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति। कूटस्थं च नित्यं ब्रह्म विक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम, न च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनम्, एवं जग कारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित्फलायाभिप्रेयते, प्रमाणाभावात्। कूट ब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इत्येवंजातीयकम्। ❀ तत्रैतत्सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे धर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरि

अन्य बाधक ज्ञान भी नहीं है। हम यह कह चुके हैं कि आत्मैकत्व ज्ञानके पूर्व लौकिक और सत्य एवं अनृत सब व्यवहार अबाधित रहते हैं, इसलिए सर्वोत्कृष्ट अन्तिम प्रमाणसे आत्मैकत्व पादित होनेपर पूर्वके भोक्तृ-भोग्यात्मक समस्त भेद व्यवहार बाधित होनेसे अनेकात्मक कल्पनाका अवकाश ही नहीं है। परन्तु मृदादि दृष्टान्त दिए हैं इससे ऐसा ज्ञात होता है कि परिणामी ब्रह्म अभिमत है, क्योंकि लोकमें मृत्तिका आदि पदार्थ परिणामी निश्चित होते हैं। सि० ऐसा कहते हैं—'स वा एष० (वही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं ब्रह्म है) 'स एष० (वह यह नहीं, यह नहीं, इसप्रकार अन्यके निषेध द्वारा मधुकाण्डमें निर्दिष्ट है) 'अस्थूल० (न स्थूल है, न सूक्ष्म है) इत्यादि सब विक्रिया प्रतिषेधक श्रुतियों कूटस्थ अवगत होता है। एक ही ब्रह्मको परिणाम धर्म युक्त और उससे रहित नहीं माना जा है। ऐसा यदि कहो कि स्थिति और गतिके समान हो ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'कूटस्थ (कूटस्थका) ऐसा विशेषण है। कूटस्थ ब्रह्म स्थिति और गतिके समान अनेक धर्मोंका आश्रय सकता। और ऐसा हम कह चुके हैं कि जन्म आदि सब विक्रियाओंके प्रतिषेधसे ब्रह्म कूटस्थ और है। जैसे ब्रह्मका आत्मैकत्व ज्ञान मोक्षका साधन है, वैसे ब्रह्मका जगद्रूपसे परिणामित्व दर्शन स्वतं किसी भी फलके लिए अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'स एष नेति ऐसा उपक्रमकर 'अभयं वै० (याज्ञवल्क्य—हे जनक ! तुम अभय-ब्रह्मको प्राप्त हुए हो) इसप्र शास्त्र कूटस्थ ब्रह्मात्मत्व विज्ञानसे ही मोक्षरूप फल दिखलाता है। वहां यह सिद्ध होता है— प्रकरणमें सर्वधर्म विशेष रहित ब्रह्मज्ञानसे ही फल सिद्धि होनेपर उस प्रकरणमें ब्रह्मका जो

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि यह सब द्वैत मिथ्या हो, तो स्वप्न मिथ्या है जाग्रत् सत्य है, यह लौकिक व्यवहार 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (सत्य और असत्य सब सत्य ब्रह्म ही है) इसप्रकारका वैदिक कैसे उपपन्न होंगे ? जैसे स्वप्नमें यह सत्य है, यह असत्य है, इसप्रकार तात्कालिक बाध और भावसे व्यवहार होता है, वैसे आत्मैकत्व ज्ञानके पहले यह सब व्यवहार उपपन्न होता है। व्यवहारके लिए नानात्वके सत्यत्वकी कल्पना असंगत है।

❀ सि०—यह मृत्तिका आदि दृष्टान्त, कारण कार्यरूपसे परिणत होता है, इस नहीं है, किन्तु कार्य कारणसे अभिन्न है, इस अभिप्रायसे है। यदि मानें तो मृत्तिका आदिका परि

मित्वादि तद्ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्। नतु स्वतन्त्रं फलाय कल्प्यत इति। नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात्परिणामवत्त्वमात्मनः फलं स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य। कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभाव ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत्—न, अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्सर्वज्ञत्वस्य। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलया नाचेतनात्प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातः 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति। सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते। कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वं च ब्रुवता? शृणु यथा नोच्यते—सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति श्रुतेः, 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो'

रूपसे परिणामित्व आदि श्रुत है, उसका ब्रह्मदर्शनके उपायरूपसे ही विनियोग होता है। जैसे फलयुक्त कर्मकी संनिधिमें अफल उसका अंग होता है। परन्तु स्वतन्त्ररूपसे फल देनेके लिए उसकी कल्पना नहीं की जाती। परिणामवत्त्वके विज्ञानसे आत्मामें परिणामवत्त्व फल हो, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्ष तो कूटस्थ नित्य है। ऐसा यदि कहो कि कूटस्थ ब्रह्मात्मवादीके मतमें ऐकान्तिक एकत्व होनेसे ईशिता और ईशितव्यके अभाव होनेपर ईश्वर जगत्का कारण है, इस प्रतिज्ञासे विरोध होगा? सो यह विरोध नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञत्वको अविद्यात्मक नाम-रूप बीजको अभिव्यक्त करनेकी अपेक्षा है। 'तस्माद्वा०' (उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि वाक्योंसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति युक्त, ईश्वरसे जगत्के जन्म, स्थिति और प्रलय होते हैं, अचेतन प्रधानसे अथवा अन्यसे नहीं, यही अर्थ 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें प्रतिज्ञात है। वह प्रतिज्ञा वैसी ही है, ब्रह्म-आत्मैकत्व प्रतिपादक श्रुतियोंमें उससे कुछ विरुद्ध अर्थ नहीं कहा जाता। आत्मा अत्यन्त एक और अद्वितीय है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाले तुमसे यह प्रतिज्ञा विरोध क्यों नहीं कहा जाता? सुनो, जैसे नहीं कहा जाता - सर्वज्ञ ईश्वरके मानो आत्मभूत, अविद्यासे कल्पित, सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय एवं संसार प्रपञ्चके बीजभूत नाम और रूप सर्वज्ञ ईश्वरकी माया शक्ति और प्रकृतिरूपसे श्रुति और स्मृतिमें कहे जाते हैं। इन दोनोंसे सर्वज्ञ ईश्वर भिन्न है, क्योंकि 'आकाशो वै० (आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका व्याकर्ता है अर्थात् इनको स्थूलरूपसे अभिव्यक्त करनेवाला है, वे दोनों जिसके अभ्यन्तर हैं वह ब्रह्म है) यह श्रुति है। 'नामरूपे० (मैं नाम और रूपको अभिव्यक्त करूँ) 'सर्वाणि० (धीरो-परमेश्वर सब रूपोंको उत्पन्नकर उन सबके नाम रखकर

सत्यानन्दी दीपिका

और अपरिणाम दोनों भेद हो सकते हैं, क्योंकि मृत्तिका आदिमें उत्पत्ति आदि विक्रियाएँ होती हैं। परन्तु कूटस्थ ब्रह्ममें तो उत्पत्ति आदि इन सब विक्रियाओंका 'नेति नेत्यात्मा' इत्यादि श्रुतियोंसे निषेध किया गया है। पू०—परन्तु एक व्यक्ति समय भेदसे स्थिति और गति दोनों धर्मों वाला होता है। जैसे मृत्तिका आदि कार्यकालमें परिणामी और कारणावस्थामें अपरिणामी होते हैं, वैसे ब्रह्म भी प्रलयमें परिणाम रहित और सृष्टिकालमें परिणामी हो सकता है। सि०—ऐसा माननेसे ब्रह्मको कूटस्थ नित्य प्रतिपादक 'स वा एष महानज आत्मा०' इत्यादि श्रुतियोंका बाध होगा। जगत् ब्रह्मका परिणाम नहीं किन्तु रज्जु सर्प आदिके समान विवर्त है, ऐसा माननेसे कोई दोष नहीं है।

* तं यथा यथोपासते तदेव भवति' (ब्रह्मकी जिस-जिसरूपसे उपासना करता है, उसीरूपको

नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७), 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' (श्वे० इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटक पाध्यनुरोधि । स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृत करणसंघातानुरोधिनो जीवाख्यान्विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्या पाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च, न परमार्थतो विद्य सर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते । * तथा चो 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४।१) इति, 'य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना च, एवं परमार्थावस्थायां व्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे । तथेश्वरगीतास्वपि—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य प्रभुः । न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

उनमें प्रविष्ट होकर वदनादि व्यवहार करता हुआ स्थित है) 'एकं बीजं० (एक बीजको रूपकर देता है) इत्यादि श्रुतियाँ है । जैसे घट, करक आदि उपाधि अनुरोधी-अनुसारी आक है, वैसे अविद्याकृत नाम-रूपका अनुरोधी ईश्वर होता है । वह ईश्वर अविद्यासे उपस्थापित कृत शरीरेन्द्रिय संघातके अनुरोधी घटाकाशस्थानीय स्वात्मभूत जीवाख्य विज्ञानात्माओंके विषयमें शासन करता है । इसप्रकार अविद्यारूप उपाधिके परिच्छेदकी अपेक्षा ईश्वरमें सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व हैं, परमार्थसे तो विद्यासे निरस्त समस्त उपाधि स्वरूप आत्मामें ईशितव्यत्व, सर्वज्ञत्व आदि व्यवहार उपपन्न नहीं होते । और इसप्रकार 'यत्र नान्य (सनत्कुमार—जहां कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता कुछ और नहीं जानता ब्रह्म है) और 'यत्र त्वस्य० (जहां इस आत्मवित्के लिए सब आत्मा ही हो गया, वहां कि किसे देखे) इत्यादिसे कहा है । एवं परमार्थ अवस्थामें सब वेदान्त सब व्यवहारका अभाव इसीप्रकार भगवद्गीतामें भी 'न कर्तृत्वं० (परमेश्वर लोकों-प्राणियोंका न कर्तृत्व, न कर्म कर्मफल संयोगको रचता है, किन्तु उसके सकाशसे स्वभाव-माया ही प्रवृत्त होता है । वह

सत्यानन्दी दीपिका

प्राप्त होता है) इस श्रुतिसे सिद्ध होता है कि ब्रह्म परिणामी है, और वह परिणामी फल प्राप्त होता है । परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) इत्यादि कूटस्थ नित्य मोक्षरूप फल जब सम्भव है, तो अनित्य, परिणामीके विज्ञान (उपासना) अनित्य परिणामी फलकी कल्पना करना अयुक्त है । जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गका (स्वर्गकी कामना वाला दर्शपूर्णमास याग करे) स्वर्ग आदि फलके लिए विहित दर्शपूर्णमास प्रकरणमें संनिहित पाँच प्रयाजोंका विधान है, उनका वहां स्वतन्त्र फल नहीं कहा गया है फल रहित प्रयाजादि फल युक्त संनिहित प्रधान दर्शपूर्णमासके अंग होते हैं अर्थात् मुख्य साधनरूप होते हैं, वैसे परिणामित्व उपासना और सृष्टि आदि ज्ञान भी ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति साधनरूपसे अपेक्षित हैं इनके स्वतन्त्ररूपसे फलकी कल्पना युक्त नहीं है । 'जन्माद्यस्य सूत्रमें ईश्वर जगत्का कारण है, ऐसी प्रतिज्ञाकी गई है और इस १४ सूत्रमें अनन्यत्वका है, इस कारण प्रतिज्ञासे विरोध होगा, क्योंकि ईशिता और ईशितव्यका अभाव होनेसे कारण है और कौन किसका कार्य है यह सब बाधित हो जायगा ? समाधान—कल्पित भेद ईशिता-ईशितव्य आदि सब व्यवहार होता है, इसलिए इस सूत्रका प्रतिज्ञाके साथ कोई विरोध

* किसी आचार्यने कहा है कि 'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु वि (जिसका चित्त शुद्ध नहीं है वह इस जगत्को ब्रह्मका परिणाम देखता है और जिसका

तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गी० ५।१४-१५) इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते। व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ० ४।४।२२) इति। तथा श्वरगीतास्वपि—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (गी० १८।६१) इति। सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्' इत्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु 'स्याल्लोकवत्' इति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति। अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति—सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति ॥१४॥

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

पदच्छेद—भावे, च, उपलब्धेः।

सूत्रार्थ—(च) और (भावे) कारणके होनेपर ही (उपलब्धेः) कार्यकी उपलब्धि होती है। इससे सिद्ध होता है कि कार्य कारणसे अनन्य है।

* इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते, नाभावे। तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते, सत्सु च तन्तुषु पटः। न च नियमेनान्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा। न ह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते। न च कुलालभाव एव घट उपलभ्यते, सत्यपि निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात्। नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपल-

---

किसीके पाप कर्मको और न किसीके पुण्य कर्मको ग्रहण अथवा संहार करता है, किन्तु अज्ञानसे ज्ञान आवृत है इससे जीव मोहित होते हैं) इसप्रकार परमार्थ अवस्थामें ईशितृ-ईशितव्य आदि व्यवहारका अभाव दिखाया गया है। और व्यवहारावस्थामें तो श्रुतिमें भी ईश्वर आदि व्यवहार कहा गया है—'एष सर्वेश्वर' (यह सर्वेश्वर है, यह सब भूतोंका अधिपति और भूतोंका पालक है। इन लोगोंकी र्यादा भङ्ग न हो इस प्रयोजनसे यह इनको धारण करने वाला सेतु है) इसप्रकार भगवद्गीतामें ही है—'ईश्वरः सर्वभूतानां० (हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सब प्राणियोंको अन्तर्यामी रमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयदेशमें स्थित है) त्रकारने भी परमार्थके अभिप्रायसे 'तदनन्यत्वम्' (कार्य-कारणका अनन्यत्व-अभिन्नत्व है) ऐसा हा है। व्यवहारके अभिप्रायसे तो 'स्याल्लोकवत्' (लोकके समान कार्य कारण विभाग हो) इसप्रकार ह्मको महासमुद्र स्थानीय कहते हैं। और कार्य प्रपञ्चका प्रत्याख्यान किए विना ही सगुण उपासनाओंमें उपयुक्त हो सकें, इस अभिप्रायसे परिणाम प्रक्रियाका आश्रय करते हैं ॥ १४ ॥

इस हेतुसे भी कारणसे कार्य अनन्य है, क्योंकि कारणके अस्तित्वमें ही कार्य उपलब्ध होता है, कारणके अभाव होनेपर नहीं। जैसे मृत्तिकाके रहनेपर घट उपलब्ध होता है और तन्तुओंके रहनेपर पट उपलब्ध होता है। अन्यके रहनेपर अन्यकी उपलब्धि नियमसे नहीं देखी जाती। अश्व गौसे अन्य होकर गौके होनेपर उपलब्ध नहीं होता। कुलालके होनेपर ही घट उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि कार्यकारण भाव होनेपर भी दोनों (कुलाल और घट) परस्पर भिन्न हैं। परन्तु अन्यके अस्तित्वमें भी अन्यकी उपलब्धि नियमसे देखी जाती है, जैसे अग्निके रहनेपर धूमकी उपलब्धि देखी जाती है।

सत्यानन्दी दीपिका

रहित-शुद्ध है वह इस जगत्को ब्रह्मका विवर्त देखता है) इसप्रकार व्यवहारमें उपास्य-उपासक भाव, ास्य-शासकभाव आदि भेद माना जाता है, किन्तु परमार्थमें केवल अद्वितीय ब्रह्म ही सत् है ॥१४॥

* कार्य कारणसे अनन्य है, इस विषयमें प्रत्यक्ष आदिके विरोधका निराकरण किया गया। अत 'भावे च' आदिसे अनुमानसे भी कार्यकारणका अनन्यत्व सिद्ध करते हैं। काकतालिन्यायसे कभी

ब्धिर्नियता दृश्यते—यथाग्निभावे धूमस्येति । नेत्युच्यते, उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटि धारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात् । अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिष्यादीदृशो धूमो त्यग्नौ भवतीति । नैवमपि कश्चिद्दोषः, तद्भावानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे वयं वदामः । न चासावग्निधूमयोर्विद्यते । * 'भावाच्चोपलब्धेः' इति वा सूत्रम् । न शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः । भव प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे । तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण नाम कार्यं नैवोपलभ्यते, केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तन्तुष्वंशवोंऽशुषु तदवयवाः । अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपा ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुमेयम् । (छा० ६।४) ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं, सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥१५॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥

पदच्छेद—सत्त्वात्, च, अवरस्य ।

सूत्रार्थ—(अवरस्य) कार्यकी (सत्त्वाच्च) 'आत्मा वाइदम' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतीत हो कि उत्पत्तिके पूर्व सत्ता है । इससे सिद्ध होता है कि कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है ।

इस विषयमें कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अग्निके बुझा देनेपर भी गोपाल घुटिका आदिमें किया हुआ धूम देखनेमें आता है । यदि धूमको किसी अवस्था विशेष-विशेषणसे विशेषित इस प्रकारका धूम अग्निके अभावमें नहीं होता, तो ऐसा निवेश करनेपर भी कोई दोष नहीं है, कार्यकारणकी सत्तासे अनुरक्त बुद्धिको हम कार्यकारणके अनन्यत्वमें हेतु कहते हैं । ऐसी बुद्धि और धूममें नहीं है । अथवा 'भावाच्चोपलब्धेः' ऐसा सूत्र है । केवल शब्द (श्रुति) से ही कारणका अनन्यत्व नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षोपलब्धि भावसे भी उनका अनन्यत्व है, ऐसा अर्थ कार्यकारणके अनन्यत्वमें प्रत्यक्षोपलब्धि है । जैसे कि तन्तुके विशेष रचनात्मक पटमें तन्तुसे भिन्न नामका कार्य उपलब्ध ही नहीं होता, केवल आतान वितान वाले (ताना-बाना) तन्तु ही उपलब्ध होते हैं । उसी प्रकार अवयवी तन्तुओंमें अनेक अवयवरूप अंश, उन अंशोंमें उनके उपलब्ध होते हैं । इस प्रत्यक्ष उपलब्धिसे लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं, तदनन्तर वायु और आकाश मात्र हैं, ऐसा अनुमान करना चाहिए । उसके अनन्तर केवल अद्वितीय शेष रह जाता है । उसमें ही सब प्रमाणोंका पर्यवसान हमने कह दिया है ॥ १५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

अन्यकी उपलब्धिसे अन्यकी उपलब्धि होती है किन्तु नियमसे नहीं । जहाँ उपादानोपादेय कारणभाव होता है वहाँ कारणकी उपलब्धिसे कार्यकी उपलब्धि होती है अन्यत्र नहीं ।

* अनुमान परक सूत्रका व्याख्यानकर अब पाठान्तरसे प्रत्यक्षपरक व्याख्या करते हैं । पलब्धिकी प्रतिज्ञा और उदाहरणसे स्पष्ट किया जाता है—प्रत्यक्षोपलब्धिसे कार्यकारणका अनन्य यह प्रतिज्ञा है । और तन्तुओंके आतान वितानसे अतिरिक्त पट नामकी कोई पृथक् वस्तु तन्तुओंकी आतान वितानात्मक विशेष अवस्था ही पट है, यह उदाहरण है । इससे सिद्ध होता है कार्य कारणमात्र है । जहाँ प्रत्यक्षका अवकाश नहीं है, वहाँ 'विमतं कार्यं कारणादभिन्नं कार्यत्वात् वत्' 'विवादास्पद कार्य, कारणसे अभिन्न है, क्योंकि कार्य है, जैसे पट कार्य है ।' 'विमतं कारणब्रह्माभिन्नं कार्यत्वात् घटवत्' 'यह विवादस्पद जगत् कारण ब्रह्मसे अभिन्न है, क्योंकि समान यह भी कार्य है' ऐसा अनुमान करना चाहिए । इस प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्चका कारण अचेतन प्रधान आदि नहीं, क्योंकि अद्वितीय ब्रह्ममें सब वेदान्तोंका समन्वय है ॥ १५ ॥

* इतश्च कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं, यत्कारणं प्रागुत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ (छा० ६।२।१), ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्’ (ऐ० आ० २।४।१।१) इत्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात्। यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते। यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति, एवं कार्यमपि जगत्त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति। एकं च पुनः सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्वं कारणात्कार्यस्य ॥१६॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

पदच्छेद—असद्व्यपदेशात्, न, इति, चेत्, न, धर्मान्तरेण, वाक्यशेषात्।

सूत्रार्थ—(असद्व्यपदेशात्) असद्वा इदमग्र आसीत्’ इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित है कि उत्पत्तिके पूर्व यह दृश्यमान जगत् असत् ही था, (न) इसलिए कार्य कारणरूसे सत्तावाला नहीं है, (इति चेन्न) यह युक्त नहीं है, क्योंकि (धर्मान्तरेण) यह कथन अव्याकृत रूप अन्य धर्मसे है (वाक्यशेषात्) कारण कि ‘तत्सत् आसीत्’ इत्यादि वाक्यशेष है। अतः कार्यकी सत्ता कारणसे पृथक् नहीं है।

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुति—‘असदेवेदमग्र आसीत्’ (छा० ३।१९।१) इति, ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ (तै० २।७।१) इति च। तस्मादसद्व्यपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत्, नेति ब्रूमः—न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः, किं तर्हि? व्याकृतनामरूपत्वाद्धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मा-

और इस हेतुसे भी कारणसे कार्य अनन्य है, क्योंकि अर्वाचीन कार्यकी उत्पत्तिके पूर्व कारणरूपसे ही कारणमें सत्ता सुनी जाती है—‘सदेव० (हे सोम्य ! उत्पत्तिके पूर्व यह जगत् सद्रूप ही था) और ‘आत्मा वा इदम० (उत्पत्तिके पूर्व यह जगत् केवल आत्मरूप ही था) इत्यादि श्रुतिसे ‘इदम्’ शब्दसे गृहीत कार्यका कारणके साथ सामानाधिकरण्य कहा गया है। जो जिस स्वरूपसे जिसमें नहीं होता वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे बालूसे तैल उत्पन्न नहीं होता। इससे ऐसा अवगत होता है कि उत्पत्तिके पूर्व अनन्य होनेसे उत्पन्न हुआ कार्य भी कारणसे अनन्य ही है, जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालमें सत्तासे व्यभिचरित नहीं होता, वैसे कार्य जगत् भी तीनों कालमें सत्तासे व्यभिचरित नहीं होता। इस प्रकार सत्ता तो एक ही है, इससे भी कार्य कारणसे अनन्य है ॥ १६ ॥

परन्तु कहीं-कहीं ‘असदेवेदम० (उत्पत्तिके पूर्व यह जगत् असत् ही था) और ‘असद्वा० (आरम्भके पहले यह जगत् असत् था) इस प्रकार श्रुति उत्पत्तिके पूर्व कार्यमें असत्त्वका भी व्यपदेश करती है। इससे ऐसा यदि कहो कि असत्‌के व्यपदेशसे उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता नहीं है। तो हम कहते हैं कि ऐसा नहीं, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व कार्य विषयक जो असद् व्यपदेश है यह अत्यन्त

सत्यानन्दी दीपिका

* ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ ‘आत्मा वा इदमेक’ इन उद्धृत श्रुतियोंमें ‘इदम्’ शब्दसे गृहीत कार्य जगत्‌की ‘सद्’ और ‘आत्मा’ रूप कारणके साथ समानाधिकरणता है, क्योंकि दोनोंमें प्रथमा विभक्ति है। इस सामानधिकरण्य श्रुतिसे उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी कारणरूपसे सत्ता कही गई है। इस अनुमानमें यह युक्ति है—जैसे घट मृत्तिकामें मृत्तिकारूपसे विद्यमान है तो उत्पन्न घट भी मृत्तिकारूपसे ही उपलब्ध होता है, यह अन्वय उदाहरण है। वैसे बालूरूपसे तैल बालूमें नहीं रहता तो वह उससे उत्पन्न भी नहीं होता, और यह व्यतिरेक उदाहरण है। अतः कारणके समान कार्य भी सत् है, क्योंकि सत्ताके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए सत्ताके अभेदसे भी कारण ब्रह्मसे कार्य जगत् अभिन्न है।१६।

न्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणानन्य
कथमेतदवगम्यते ? वाक्यशेषात्। यदुपक्रमे संदिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते।
तावत् 'असदेवेदमग्र असीत्' इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत्तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृ
सदिति विशिनष्टि 'तत्सदासीत्' इति। असतश्च पूर्वापरकालासंबन्धादासीच्छब्दानुपप
'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्य
सत्त्वम्। तस्माद्धर्मान्तरेणैवायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य। नामरूपव्याकृतं हि
सच्छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम्। अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणादसदिवासीदित्युपचर्यते ॥१७॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

पदच्छेद—युक्तेः, शब्दान्तरात्, च।

सूत्रार्थ—(युक्तेः) युक्तिसे (च) और (शब्दान्तरात्) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'
अन्य श्रुतिसे भी सृष्टिके पूर्व कार्यका सद्भाव और कारणसे अनन्यत्व प्रतीत होता है।

* युक्तेश्च प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते, शब्दान्त
युक्तिस्तावद्वर्ण्यते—दधिघटरुचकाद्यर्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुव
न्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते। न हि दध्यर्थिभिर्मृत्तिकोपादीयते, न घटार्थिभिः
तदसत्कार्यवादे नोपपद्येत। अविशिष्टे हि प्रागुत्पत्तेः सर्वस्य सर्वत्रासत्त्वे कस्मात्
दध्युत्पद्यते ? न मृत्तिकायाः ? मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते, न क्षीरात्। अथावि

असत्के अभिप्रायसे नहीं है, किन्तु व्याकृत नामरूपधर्मसे अव्याकृतनामरूप धर्म अन्य है, उ
धर्मसे उत्पत्तिके पूर्व कारणरूपसे अनन्य होते हुए कार्यका ही यह असत् व्यपदेश है अर्थात्
भेदसे सत् कार्य ही असत् शब्दसे व्यपदिष्ट है। यह कैसे अवगत हो, वाक्यशेषसे, उप
संदिग्धार्थ वाक्य हो उसका वाक्यशेषसे निश्चय किया जाता है। जैसे यहाँ 'असदेवेदमग्र आसी
उपक्रममें जो 'असत्' शब्दसे निर्दिष्ट है उसका ही पुनः 'सत्' शब्दसे परामर्शकर 'तत्सदासीत्'
सत् था) इस प्रकार उसको 'सत्' इस विशेषणसे विशेषित किया है। 'असत' का पूर्वोत्त
सम्बन्ध न होनेसे 'आसीत्' (था) इस शब्दकी अनुपपत्ति होगी। 'असद्वा इदमग्र आसीत्'
भी 'तदात्मानं० (उस असत्ने अपनेको स्वयं रचा) इस प्रकार वाक्यशेषमें विशेषण होने
कार्य] अत्यन्त असत् नहीं है। इसलिए उत्पत्तिके पूर्व कार्यका धर्मान्तरसे (अव्याकृत नामरू
यह असत् व्यपदेश है। यह लोकमें प्रसिद्ध है कि नाम-रूपसे व्याकृत वस्तु 'सत' शब्दके यो
है। अतः नाम-रूपसे व्याकृत-व्यक्त होनेसे पूर्व असत्-सा था, इससे उत्पत्तिके पूर्व सत् कार्य
शब्दका उपचार-गौण प्रयोग किया गया है ॥ १७ ॥

युक्तिसे और अन्य श्रुतिसे भी उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता और कारणसे अनन्यता
होती है। प्रथम युक्तिका वर्णन किया जाता है—लोक व्यवहारमें ऐसा देखा जाता है कि द
और रुचक (आभूषण) आदिके अभिलाशीसे दूध, मृत्तिका और सुवर्ण आदि नियत
ग्रहण किया जाता है। दधिके इच्छुक मृत्तिका ग्रहण नहीं करते और घटार्थियोंसे क्षीरका
होता, वह असत् कार्यवादमें उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व सबका सर्वत्र सत्त्वाभाव

सत्यानन्दी दीपिका

* कार्य उत्पत्तिसे पूर्व सत् और कारणसे अनन्य है। इस विषयमें सांख्याचार्यने क
'असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्
(सां० का० ९) (असत् किसीसे किया नहीं जाता, यदि कारण व्यापारसे पूर्व कार्य अ

प्रागसत्त्वे क्षीर एव दध्नः कश्चिदतिशयो न मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत, तर्ह्यतिशयवत्त्वात्प्रागवस्थाया असत्कार्यवादहानिः सत्कार्यवादसिद्धिश्च। शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽसती वा कार्यं नियच्छेत्, असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्। अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद्भेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्। *समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः संबन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्यान्योन्यः संबन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः। अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः। अथ समवायः स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं संबन्धं संबध्येत, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैव समवायं संबध्येत। तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्यगुणादीनां समवायकल्पनानर्थक्यम्। कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तते? किं

होनेसे दूधसे ही दधि क्यों उत्पन्न होता है और मृत्तिकासे क्यों नहीं होता, एवं मृत्तिकासे ही घट उत्पन्न होता है, दूधसे क्यों नहीं होता? ऐसा यदि कहो कि उत्पत्तिके पूर्व सत्त्वाभाव समान होनेपर भी दूधमें ही दहीका कुछ अतिशय-विशेष है, मृत्तिकामें नहीं है एवं मृत्तिकामें ही घटका अतिशय-विशेष है दूधमें नहीं है, तब तो उत्पत्तिकी पूर्वावस्थाके अतिशय विशिष्ट होनेसे असत्कार्यवादकी हानि और सत्कार्यवादकी सिद्धि होगी। किञ्च कार्यके नियमनके लिए कल्प्यमान कारण शक्ति कार्य-कारणसे अन्य अथवा असत् होनेपर कार्यका नियमन नहीं कर सकेगी, क्योंकि उसमें असत्त्व समान है और अन्यत्व भी समान है, इसलिए कारणकी आत्मभूत शक्ति है और शक्तिका आत्मभूत कार्य है। कार्यकारणमें तथा द्रव्यगुणादिमें अश्व महिषके समान भेद बुद्धिके अभाव होनेसे तादात्म्य स्वीकार करना चाहिए। समवायकी कल्पना करनेपर भी समवायका समवायियोंके साथ सम्बन्ध स्वीकार करनेपर तत् तत् समवायके लिए भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंकी कल्पना करनी पड़ेगी, ऐसा करनेसे अनवस्था प्रसंग हो जायगा, और सम्बन्ध न स्वीकार करनेपर कार्य-कारण, तथा द्रव्य-गुणादिका विच्छेद हो जायगा। ऐसा यदि कहो कि समवाय स्वयं सम्बन्धरूप होनेसे अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा किए विना ही समवायियोंके साथ सम्बद्ध हो जायगा, तो संयोग भी स्वयं सम्बंधरूप होनेसे समवायकी अपेक्षा किए विना ही सम्बन्धियोंसे सम्बद्ध हो जायगा। तादात्म्यकी प्रतीतिसे द्रव्य-गुण आदिमें समवायकी कल्पना निष्फल है। और कार्य-अवयवी द्रव्य

सत्यानन्दी दीपिका

उसकी किसी प्रकार भी सत्ता नहींकी जा सकती, यथा सहस्र शिल्पी मिलकर भी नीलको पीत नहीं कर सकते, पटको घट नहीं कर सकते, अतः कार्य सत् है। कारणका कार्यके साथ सम्बन्ध है अर्थात् कार्यसे सम्बद्ध कारण ही कार्यका जनक होता है, इसलिए तत्तत् कार्यके लिए तत्तत् कारणका ग्रहण होता है अन्यका नहीं। यदि कारणसे असम्बद्ध कार्य उत्पन्न हो, तो सब असम्बद्ध होनेके कारण सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति होने लगेगी, तन्तुओंसे भी घट उत्पन्न हो जायगा, किन्तु होता नहीं है, क्योंकि घट तन्तुओंसे असम्बद्ध है। अतः कार्य सत् है। जिस कार्यको उत्पादन करनेकी शक्ति जिस कारणमें रहती है, उस कारणसे उसी कार्यकी उत्पत्ति होती है अन्यकी नहीं, इसलिए शक्तिको कार्य सम्बद्ध मानना चाहिए। असत् कार्यसे तो सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए कार्य पूर्व भी सत् है। कार्य कारणात्मक है, कार्य कारणसे भिन्न नहीं है, कारण सत् है तो तदभिन्न कार्य भी सत् है) किञ्च कार्यकी नियामक शक्ति कार्य-कारणसे भिन्न हो अथवा असत् हो, तो कार्यका नियमन नहीं कर सकेगी। यदि असत्को भी नियामक मानें तो असत् नरशृङ्ग भी नियामक हो जायगा। इसलिए कारणरूपसे लीन कार्य ही अपनी अभिव्यक्तिका नियामक होनेसे शक्ति कहलाता है, इससे कार्य सत् है।

* गुण गुणी, अवयव अवयवी, जाति व्यक्ति आदिका जो एक और नित्य सम्बन्ध है उसे

समस्तेष्ववयवेषु वर्तेत, उत प्रत्यवयवम् ? यदि तावत्समस्तेषु वर्तेत, ततोऽवयव्यनुपलब्धिः
प्रसज्येत, समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात् । न हि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं
श्रयग्रहणेन गृह्यते । अथावयवशः समस्तेषु वर्तेत, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयवि
वयवाः कल्प्येरन्, यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत, कोशावयवव्यतिरिक्तै
वैरसिः कोशं व्याप्नोति । अनवस्था चैवं प्रसज्येत, तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषाम
मवयवानां कल्पनीयत्वात् । ❀ अथ प्रत्यवयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारेऽन्यत्राव्यापारः
न हि देवदत्तः स्रुघ्ने संनिधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते । युगपद
वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात् । देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनोः । गोत्वादि
त्प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत्—न, तथा प्रतीत्यभावात् । यदि गोत्वादिवत्प्रत्येकं
समाप्तोऽवयवी स्यात्, यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्षं गृह्यत एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं

कारण-अवयव द्रव्योंमें किसप्रकार रहता हुआ स्थित है ? क्या वह समस्त अवयवोंमें रहता है
प्रत्येक अवयवमें ? यदि समस्त अवयवोंमें रहेगा तो अवयवीकी अनुपलब्धि हो जाएगी, क्योंकि
अवयवोंका इन्द्रियके साथ संनिकर्ष नहीं हो सकता, जैसे कि समस्त आश्रयोंमें वर्तमान बहुत्वका
एक आश्रयके ग्रहणसे ग्रहण नहीं होता । यदि प्रत्येक अवयवमें रहता हुआ समस्त अवयवोंमें
तो जिन आरम्भक अवयवोंमें अवयवी अवयवावच्छेदसे रहता है उन आरम्भक अवयवोंसे भिन्न
यवीके अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी । जैसे कि कोशके अवयवोंसे भिन्न अवयवोंसे तलवार
व्याप्त करती है, ऐसी अवस्थामें अनवस्था दोष प्रसक्त होगा, क्योंकि तत् तत् अवयवोंमें
लिए अन्य अन्य अवयवोंकी कल्पना करनी पड़ेगी । यदि कार्य अवयवी प्रत्येक अवयवमें रहे
एक स्थान पर व्यापार होनेपर दूसरे स्थानमें व्यापार न होगा, क्योंकि स्रुघ्न (आगरा) में
हुआ देवदत्त उसी दिन पाटलिपुत्र (पटना) में नहीं रह सकता । यदि युगपत् अनेक स्थानोंमें
तो स्रुघ्न और पाटलिपुत्र निवासी देवदत्त और यज्ञदत्तके समान उसमें अनेकत्वका प्रसंग आ
यदि यह कहो कि गोत्व आदिके समान प्रत्येकमें परिसमाप्ति होनेसे दोष नहीं है, तो यह
है, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती । यदि गोत्व आदिके समान अवयवी प्रत्येक अवयवमें
हो, तो जैसे गोत्व प्रत्येक व्यक्तिमें गृहीत होता है, वैसे अवयवी भी प्रत्येक अवयवमें प्रत्यक्ष

सत्यानन्दी दीपिका

नैयायिक आदिके मतमें समवाय कहा जाता है । सिद्धान्ती—समवाय तन्तु, पट आदि समवायि
सम्बद्ध है कि नहीं ? यदि सम्बद्ध है तो समवाय सम्बन्धसे कि स्वरूप सम्बन्धसे ? यदि समवाय
से तो अनवस्था दोष होगा । यदि स्वरूप सम्बन्धसे सम्बद्ध है तो मृद् और घटका भी स्वरूप
हो सकता है, क्योंकि जैसे समवाय स्वरूप सम्बन्धसे रहता है, वैसे मृद् और घट भी स्वरूप
रह सकते हैं, तो समवाय मानना व्यर्थ है । यदि कहो कि समवाय अपने समवायियोंसे सम्बद्ध
है, तो द्रव्य, गुण आदिकी विशिष्ट बुद्धि नहीं होगी, क्योंकि सम्बन्ध ही विशिष्ट बुद्धिका नियामक
कारण द्रव्यमें कार्य द्रव्य समवाय सम्बन्धसे रहनेमें और भी दोष है-जैसे समस्त अवयवरूप
द्रव्यमें कार्य द्रव्य रहता है अथवा प्रत्यवयवमें ? आद्य पक्षमें भी—समस्त अवयवोंमें स्वरूपसे कार्य
है अथवा प्रत्येक अवयवमें अलग-अलग । प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि समस्त अवयवोंके
न होनेसे कार्यरूप अवयवी भी प्रत्यक्ष न होगा । द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे
अवयवशः रहने वाले तलवारके स्वतन्त्ररूपसे अलग अवयव होते हैं, वैसे ही आरम्भक
अवयवी तलवार स्थित मान लिया जाय, तो उसके लिए अवयव धारा होनेसे अनवस्था दोष हो

❀ कार्य प्रत्येक अवयवमें रहता है अब यह दूसरे पक्षका खण्डन है—एक तन्तुरूप अवयवमें

गृह्येत। नचैवं नियतं गृह्यते। प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात्तस्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम्। न चैवं दृश्यते। प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति, गत्यादिवत्। क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत। घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न घटकर्तृका, किं तर्हि? अन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानाऽन्यकर्तृकैव कल्प्येत। तथा च सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। न च लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते, उत्पन्नताप्रतीतेश्च। * अथ स्वकारणसत्तासंबन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्—कथमलब्धात्मकं संबध्येतेति वक्तव्यम्? सतोर्हि द्वयोः संबन्धः संभवति, न सदसतोरसतोर्वा, अभावस्य च निरुपाख्यत्वात्प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्। सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा, नाभावस्य। न हि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक्पूर्णवर्मणोऽभिषेकादित्ये-

होगा, परन्तु ऐसा नियमसे गृहीत नहीं होता। प्रत्येक अवयवमें परिसमाप्त हो तो अवयवीका कार्यके साथ अधिकार (सम्बन्ध) होनेसे और उसके एक होनेसे गौ सींगसे स्तनकार्य और उरुसे पीठका कार्य करेगी, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। उत्पत्तिके पूर्व कार्य असत् हो, तो उत्पत्ति कर्तृरहित और निरात्मक (अकारणात्मक) हो जायगी। उत्पत्ति तो क्रिया है, वह गति आदि क्रियाके समान सकर्तृक ही हो सकती है। हो क्रिया और फिर हो अकर्तृक यह तो विरुद्ध है। घटकी उच्यमान उत्पत्ति घटकर्तृक नहीं है किन्तु अन्य कर्तृक कल्पना करनी पड़ेगी। उसी प्रकार कपाल आदिको उच्यमान उत्पत्ति भी अन्यकर्तृक ही कल्पना होगी। ऐसा होनेसे घट उत्पन्न होता है, ऐसा कहनेपर कुलाल आदि कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जायगा। परन्तु लोकमें घटकी उत्पत्ति, ऐसा कहनेसे कुलाल आदिकी भी उत्पद्यमानता प्रतीत नहीं होती, किन्तु उनमें उत्पन्नता प्रतीत होती है। यदि कहो कि अपने कारण अथवा अपनी सत्ताके साथ सम्बन्ध ही कार्यकी उत्पत्ति और स्वरूप प्राप्ति है, तो यह कहना चाहिए कि जिसने आत्मलाभ ही प्राप्त नहीं किया हो वह कारणके साथ कैसे सम्बद्ध होगा? क्योंकि दो सत् पदार्थोंका ही सम्बन्ध सम्भव है, सत् और असत् अथवा दोनों असत्का सम्बन्ध संभव नहीं है। अभावके असत्-तुच्छ होनेसे उसमें 'उत्पत्तिके पूर्व' ऐसी मर्यादा करना युक्त नहीं है, कारण कि लोकमें सत् क्षेत्र, गृह आदि पदार्थोंकी [उत्पत्तिके पूर्व या अनन्तर] मर्यादा देखी जाती है, किन्तु अभावकी नहीं। पूर्णवर्माके राज्याभिषेकके पूर्व वन्ध्यापुत्र राजा था इस प्रकारकी मर्यादा करनेसे असत्-तुच्छ

सत्यानन्दी दीपिका

पट रहता है तब अन्य तन्तुरूप अवयवोंमें पट नहीं रह सकेगा, यदि रहेगा तो अनेक हो जायगा, क्योंकि एक तन्तुमें एक पट तो अनेक तन्तुओंमें अनेक पट। पूर्वपक्षी—जैसे एक ही समय घट आदि अनेक व्यक्तियोंमें वर्तमान घटत्व आदि जातिमें अनेकत्व दोष नहीं है, वैसे अनेक तन्तु व्यक्तिमें वर्तमान पटरूप अवयवीमें भी अनेकत्व दोष नहीं होगा। सिद्धान्ती—जातिके समान अवयवीकी वृत्ति असिद्ध है, इसलिए उक्त दोष पूर्ववत् ही है। यथा देवदत्त अपना अध्ययन आदि कार्य ग्राम अथवा अरण्यमें करता है तथा गौ अवयवी भी अपना दूध आदि कार्य शृङ्ग आदिसे संपादित करे, क्योंकि एक अवयवमें अवयवी विद्यमान है, इसलिए अवयवीके समस्त कार्य उस एक अवयवसे होंगे, परन्तु ऐसा होता नहीं है।

---

* उत्पद्यमान पदार्थकी प्रथम विक्रियाका नाम उत्पत्ति है। वह कार्यकी उत्पत्ति अपने कारणमें अपना समवाय है अथवा अपनेमें सत्ताका समवाय है? इस प्रकार तार्किक मतसे 'अथ' इत्यादिसे शंका करते हैं। पूर्वपक्षी—हमारे मतमें सर्वत्र सर्वदा कार्य असत् नहीं है, किन्तु उत्पत्तिके

वंजातीयकेन मर्यादाकरणेन, निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भवति भविष्यतीति
विशेष्यते । यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत्तत इदमप्युपापत्स्य
कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति । वयं तु पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभाव
चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावो
कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति । ❀ नन्वेवं सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्ये
यथैव हि प्राक्सिद्धत्वात्कारणस्वरूपसिद्धये न कश्चिद्व्याप्रियते, एवं प्राक्सिद्धत्वात्तदनन्य
कार्यस्य स्वरूपसिद्धयेऽपि न कश्चिद्व्याप्रियेत, व्याप्रियते च । अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वा
मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति । नैष दोषः, यतः कार्याकारेण कारणं व्यवस्थाप
कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते, कार्याकारोऽपि कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्या
भ्यत्वादित्यभाणि । न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति । नहि देवदत्तः संको
हस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्र
भिज्ञानात् । तथा प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पि
मम भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात् । * जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात्तत्र युक्तं नान्यत्रेति चे

वन्ध्यापुत्र राजा था, है, होगा इस प्रकार विशेषणोंसे विशेषित नहीं होता । यदि वन्ध्यापुत्र भी का
व्यापारके अनन्तर होता तो यह भी उपपन्न होता कि असत् कार्य भी कारक व्यापारके अनन्तर हो
हम तो ऐसा देखते हैं कि वन्ध्यापुत्र और कार्याभावमें अभावत्व समान होनेसे जैसे कारकव्या
अनन्तर वन्ध्यापुत्र नहीं होता, वैसे असत् कार्य भी कारक व्यापारके अनन्तर नहीं होगा । परन्तु
होनेपर उत्पत्तिके पूर्व कार्य सत् होनेपर तो कारक व्यापार निष्फल हो जायगा । जैसे पूर्वमें सि
होनेसे कारणके स्वरूप सिद्धिके लिए कोई व्यापार नहीं करता, वैसे ही उत्पत्तिके पूर्व सिद्ध होने से
कारणसे अनन्य होनेसे कार्यके स्वरूप सिद्धिके लिए भी कोई व्यापार नहीं करेगा । परन्तु व्याप
करता है, इससे कारकव्यापारकी सार्थकताके लिए उत्पत्तिके पूर्व कार्यका अभाव हम मानते
ऐसा यदि कहो तो यह दोष नहीं है, क्योंकि कार्यरूपसे कारणको व्यवस्थापित करनेवालेको
व्यापारमें प्रयोजनवत्त्व उपपन्न होता है । कार्यका आकार भी कारणका आत्म-स्वरूप भूत है
क्योंकि जो कार्य कारणात्मक नहीं होता वह उससे आरभ्य भी नहीं होता, ऐसा कहा है । और
दर्शनमात्रसे पदार्थ कोई अन्य नहीं हो जाता । संकुचित हस्तपाद और प्रसारित हस्तपाद देवदत्त
विशेषरूपसे दृश्यमान होनेपर भी अन्य वस्तु नहीं हो जाता, उसी प्रकार प्रतिदिन पिता आदि
आकृतियोंमें कुछ विशेषता आनेपर भी वे अन्य वस्तु नहीं हो जाते, क्योंकि मेरा पिता, मेरा भ्राता,
पुत्र ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । यदि कहो कि जन्म और मरणका व्यवधान होनेसे पिता आदिमें

सत्यानन्दी दीपिका

पूर्व और नाशके अनन्तर असत् है, मध्यमें तो सत् ही है । उस अत्यन्त असत् वन्ध्यापुत्र आ
हमारे कार्यमें भेद है । इसलिए उनका कारणके साथ सम्बन्ध हो सकता है । सिद्धान्ती—
आदिसे इसका समाधान करते हैं ।

* परन्तु तार्किकसे दिया गया यह (कारकव्यापार व्यर्थ) दोष तो सत्कार्यवादी सांख्यमतमें
सकता है, क्योंकि उसके मतमें अभिव्यक्ति भी सत् है । अद्वैतवादीके मतमें तो यह दोष नहीं है,
कार्यरूपसे कारणमें विशेष अवस्थाको सम्पन्न करना ही कारकव्यापारकी सार्थकता है । उससे कोई
भिन्न नहीं हो जाती । जैसे तन्तुओंमें तन्तुवाहक आदि द्वारा आतान वितानकर पटरूप विशेष अव
सम्पन्न करनेसे तन्तुओंसे पट भिन्न वस्तु नहीं है, वेही तन्तु हैं, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है ।

* यद्यपि प्रतिदिन पिता आदिके देहकी अवस्थाका परिवर्तन होता है, तो भी देहका

त, क्षीरादीनामपि दध्याद्याकारसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्। अदृशमानानामपि वटधानादीनां समानजातीयावयवान्तरोपचितानामङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्तौ जन्मसंज्ञा। तेषामेवावयवानामपचयवशाददर्शनापत्तावुच्छेदसंज्ञा। तत्रेदृग्जन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसतः सत्त्वापत्तिः सतश्चासत्त्वापत्तिस्तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः। तथा च बाल्ययौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च। एतेन क्षणभङ्गवादः प्रतिवदितव्यः। यस्य पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निर्विषयः कारकव्यापारः स्यात्। अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशहननप्रयोजनखड्गाद्यनेकायुधप्रयुक्तिवत्। समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति चेत्—न, अन्यविषयेण कारकव्यापारेणान्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात्। समवायिकारणस्यैवात्मातिशयः कार्यमिति चेत्—न, सत्कार्यतापत्तेः। ❀ तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि दध्यादिभावेना वतिष्ठमानानि कार्याख्यां लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षशतेनापि शक्यं निश्चेतुम्। तथा मूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। एवं युक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्वं च कारणादवगम्यते। शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते। पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात्ततोऽन्यः सद्व्यपदेशी

प्रत्यभिज्ञा होना युक्त है, अन्यत्र नहीं, तो युक्त नहीं है, क्योंकि दूध आदि भी दही आदि आकार विशेषमें प्रत्यक्ष हैं। अदृश्यमान बटबीज आदि भी अन्य समानजातीय अवयवोंसे वृद्धिको पाकर अंकुर आदि भावसे दृष्टिगोचर होनेपर उनकी जन्म संज्ञा होती है, उन्हीं अवयवोंके क्षय होनेसे अदर्शनता प्राप्त होनेपर उच्छेद-मरण संज्ञा होती है। उनमें ऐसे जन्म और मरणका व्यवधान होनेसे यदि असत्को सत्की प्राप्ति और सत्को असत्की प्राप्ति हो, तो ऐसा होनेपर गर्भवासी उत्तान होकर शयन करने वालेमें भी भेद प्रसंग होगा। एवं बाल्य, यौवन और वार्द्धक्यमें भी भेदका प्रसंग आ जायगा, पिता आदि व्यवहारका लोप प्रसंग होगा। इससे क्षणभङ्गवादका भी प्रत्याख्यान समझना चाहिए। परन्तु जिसके मतमें उत्पत्तिके पूर्व कार्य असत् है उसके मतमें आकाशको मारनेके लिए खड्ग आदि अनेक आयुधोंके प्रयोगके समान कारक व्यापार निर्विषयक होना चाहिए, क्योंकि अभाव विषय नहीं हो सकता। यदि कहो कि समवायिकारणविषयक कारकव्यापार होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य विषयक कारक व्यापारसे अन्यकी निष्पत्ति होनेसे अतिप्रसङ्ग हो जायगा। यदि कहो कि समवायिकारणका ही आत्मातिशय कार्य है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सत्कार्यवाद प्रसक्त हो जायगा। इसलिए दूध आदि पदार्थ दधि आदिके रूपसे अवस्थित हुए कार्य संज्ञाको प्राप्त होते हैं, कारणसे कार्य भिन्न है ऐसा सौ वर्षमें भी नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार मूलकारण ही अन्तिम कार्य पर्यन्त तत् तत् कार्यके रूपसे नटके समान सब व्यवहारोंका आश्रय प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्पत्तिके पूर्व कार्यकी सत्ता और कारणसे अनन्यता युक्तिसे अवगत होती है। और 'शब्दान्तरात्' अर्थात् अन्य श्रुतिसे भी यही अवगत होता है। पूर्व सूत्रमें असत्का कथन करनेवाला [असदेवेदमग्रआसीत्] शब्द-श्रुति उदाहृत है,

सत्यानन्दी दीपिका

और नाश प्रतिदिन नहीं होता, इसलिए देहका अभेद मानना युक्त है। परन्तु मृत्तिकाका नाश होनेपर घट उत्पन्न होता है, इसप्रकार जन्म और नाश विरुद्ध धर्म होनेसे कार्य और कारणमें अभेद युक्त नहीं है! सि०—यह ठीक नहीं है, क्योंकि दधि, घट आदि कार्योंमें दूध और मृत्तिका आदि अनुगत प्रतीत होते हैं, और अंकुर आदिमें भी बीजके अवयवोंकी अनुवृत्ति है, इससे कारणका जन्म और नाश नहीं होता, किन्तु अवयवोंकी वृद्धि और क्षय होनेसे उसमें जन्म और नाशका व्यवहार होता है। जन्म और नाशरूप हेतुसे भी वस्तुके स्वरूपमें भेद नहीं होता, अन्यथा सब व्यवहार लुप्त हो जाएँगे।

❀ इस प्रकार युक्तिसे और 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि अन्य श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है

शब्दः शब्दान्तरम्—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि। 'तद्धैक आहुरसदेवे
आसीत्' इति चासत्पक्षमुपक्षिप्य 'कथमसतः सज्जायेत' इत्याक्षिप्य 'सदेव सोम्येदमग्र आसी
(छा० ६।२।१) इत्यवधारयति। तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्दवाच्येन कार
सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात्सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः। यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्या
आद्योत्पद्यमानं कारणे समवेयात्तदाऽन्यत्कारणात्स्यात्, तत्र 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति'(छा० ६।१
इतीयं प्रतिज्ञा पीड्येत। सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्वियं प्रतिज्ञा समर्थ्यते ॥१८॥

पटवच्च ॥१९॥

पदच्छेद—पटवत्, च।

सूत्रार्थ—जैसे संवेष्टित और प्रसारित एक ही वस्त्रमें तत् तत् समयमें विलक्षणता
होनेपर भी वस्त्रमें कोई भेद नहीं आता, वैसे मृद् और घटमें भी भेद नहीं है।

यथा च संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते—किमयं पटः किं वाऽन्यद्द्रव्यमिति।
एव प्रसारितो यत्संवेष्टितं द्रव्यं तत्पट एवेति प्रसारणेनाभिव्यक्तो गृह्यते। यथा च संवे
समये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते, स एव प्रसारणसमये वि
ष्टायामविस्तारो गृह्यते न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति। एवं तन्त्वादिकारण
पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते।
संवेष्टितप्रसारितपटन्यायेनैवानन्यत्कारणात्कार्यमित्यर्थः ॥१९॥

यथा च प्राणादि ॥२०॥

इससे अन्य सत्का कथन करनेवाली श्रुति, वे 'सदेव सोम्य० (हे प्रिय दर्शन! उत्पत्तिके पू
एक अद्वितीय ही सत् था) इत्यादि दूसरी श्रुतियाँ हैं। 'तद्धैक० (कुछ एक कहते हैं कि उत्प
पूर्व यह असद्रूप ही था) इस प्रकार असत् पक्षका उपक्षेप (उत्थान) कर 'कथमसतः० (अ
सत् कैसे उत्पन्न होगा?) ऐसा आक्षेपकर 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य! उत्पत्तिके पू
सद्रूप ही था) इस प्रकार श्रुति निर्णय करती है। इस श्रुतिमें 'इदम्' शब्द वाच्य कार्यका उत्पत्ति
'सत्' शब्द वाच्य कारणके साथ सामानाधिकरण्य श्रूयमाण है, इससे सत्त्व और अनन्यत्व स्प
होते हैं। यदि उत्पत्तिके पूर्व कार्य असत् हो और पश्चात् उत्पन्न होकर कारणमें समवेत हो, तो का
अन्य होगा। ऐसा होनेपर 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है) यह प्र
बाधित हो जायगी। कार्यके सत्त्व और अनन्यत्वकी अवगतिसे तो इस प्रतिज्ञाका समर्थन होता है॥

जैसे लपेटा हुआ वस्त्र स्पष्टरूपसे गृहीत नहीं होता कि क्या यह पट है अथवा कोई
पदार्थ? वह फैला देनेपर जो संवेष्टित द्रव्य पदार्थ था वह वस्त्र ही है इस प्रकार फैला देने
गृहीत होता है। और जिस प्रकार संवेष्टनके समयमें यह पट है, ऐसा गृह्यमाण होनेपर भी वि
लम्बाई और चौड़ाई गृहीत नहीं होती, परन्तु प्रसारण समयमें वही विस्तार और आयाम गृहीत
हैं किन्तु संवेष्टितरूपसे भिन्न यह दूसरा पट है ऐसा गृहीत नहीं होता। उसी प्रकार तन्तु कारण
स्थित पट आदि कार्य अस्पष्ट होता हुआ तुरी, वेम, कुविन्द (जुलाहा) आदि कारक व्यापार आ
व्यक्त होकर स्पष्ट गृहीत होता है। इसलिए संवेष्टित और प्रसारित पट न्यायसे ही कार्य का
अभिन्न है, ऐसा अर्थ है ॥ १९ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

कि उत्पत्तिके पूर्व कार्य सत् है और कारणसे अनन्य है। ऐसा माननेसे 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति'
प्रतिज्ञा भी सिद्ध होती है ॥ १८ ॥

पदच्छेद—यथा, च, प्राणादिः ।

सूत्रार्थ—जैसे प्राणायाम आदिसे निरुद्ध प्राण, अपान आदि द्वारा कार्य भिन्न होनेपर भी नमें भेद नहीं है, वैसे कार्यमें भेद होनेपर भी कारणके अनन्यत्वमें कोई विरोध नहीं है ।

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्रेण रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते, नाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यान्तरम् । तेष्वेव प्राणभेदेषु पुनः प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते । न च प्राणभेदानां प्रभेदवतः प्राणादन्यत्वं, समीरणस्वभावाविशेषात् । एवं कार्यस्य कारणादनन्यत्वम् । अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात्तदनन्यत्वाच्च सिद्धैषा श्रौती प्रतिज्ञा—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।३) इति ॥२०॥

(७ इतरव्यपदेशाधिकरणम् सू० २१-२३)

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

पदच्छेद—इतरव्यपदेशात्, हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।

सूत्रार्थ—(इतरव्यपदेशात्) 'सत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिसे इतर-जीवमें ब्रह्मत्व व्यपदेश है अथवा 'अनेन जीवेनात्मना०' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्ममें जीवत्व व्यपदेश है, इससे ब्रह्म स्रष्टा हो, तो जीव ष्टा हुआ, अतः (हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः) ब्रह्मको अपने अहित-जरा, मरण आदि अनेक अनर्थरूप दोषोंकी प्रसक्ति होगी, इससे चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता ।

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते । चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते । कुतः ? इतरव्यपदेशात् । इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुति—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति प्रतिबोधनात् । यद्वा—इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वप्रदर्शनात् । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य

और जैसे लोकमें प्राण, अपान आदि प्राणभेदोंके प्राणायाम द्वारा निरुद्ध होनेपर और कारणरूपसे विद्यमान होनेपर जीवनमात्र कार्य संपादित होता है किन्तु आकुञ्चन (सिकुड़ना) प्रसारण आदि अन्य कार्य नहीं होते । परन्तु उन्हीं प्राणभेदोंके पुनः प्रवृत्त होनेपर जीवनसे अधिक आकुञ्चन, प्रसारण आदि अन्य कार्य भी संपादित होते हैं । भेद विशिष्ट प्राणसे प्राणभेद भिन्न नहीं हैं, क्योंकि समीरण स्वभाव-वायुका स्वभाव सबमें समान है । इस प्रकार कार्य कारणसे अनन्य है । इससे सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मका कार्य होनेसे और उससे अनन्य होनेसे 'येनाश्रुतं० (जिसके श्रवणसे अश्रुत श्रुत हो जाता है, मनन न किया हुआ मनन किया हुआ हो जाता है और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है) यह श्रुति प्रतिपादित प्रतिज्ञा सिद्ध होती है ॥२०॥

चेतनकारणवाद पर प्रकारान्तरसे पुनः आक्षेप किया जाता है—चेतनसे ही जगत्की सृष्टिका आश्रयण करनेपर हिताकरण आदि दोष प्रसक्त होंगे, क्योंकि इतरका व्यपदेश है । इतर-जीवात्माका ब्रह्मात्मरूपसे श्रुति व्यपदेश करती है, क्योंकि 'स आत्मा० (वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! वह तू है) ऐसा बोध कराती है । अथवा इतर-ब्रह्मका जीवात्मरूपसे व्यपदेश करती है, कारण कि 'तत्सृष्ट्वा० (उसकी रचनाकर उसमें अनुप्रवेश किया) इसप्रकार स्रष्टा अविकृत ब्रह्मको ही कार्यमें अनुप्रेश द्वारा जीवात्मरूप दिखलाया है । 'अनेन जीवेनात्मना० (मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें अनु-

---

टि० उक्त न्यायसे जीव और ब्रह्मका अनन्यत्व होनेसे जीवके अहितकरण आदि धर्म ब्रह्ममें प्रसक्त होंगे ? इस प्रकार आक्षेप संगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है ।

नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिश्य ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति। तस्माद्यद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति। अ स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेक जालम्। नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति। न च स्वयम निर्मलः सन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात्। कृतमपि कथंचिद्यद्दुःखकरं तदिच्छया ज सुखकरं चोपाददीत। स्मरेच्च मयेदं जगद्बिम्बं विचित्रं विरचितमिति। सर्वो हि लोक कार्यं कृत्वा स्मरति—मयेदं कृतमिति। यथा च मायावी स्वयं प्रसारितां मायामि नायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपीमां सृष्टिमुपसंहरेत्। स्वमपि तावच्छरीरं शारी शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्। एवं हितक्रियाद्यदर्शनादन्याय्या चेतनाज्जगत्प्रक्रियेति गम्यते

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२

पदच्छेद—अधिकम्, तु, भेदनिर्देशात्।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है। (अधिकम्) जीवसे भिन्न सर्वशक्तिमान् ब्रह्म जगत्का स्रष्टा है, इसलिए उसमें हित अकरण आदि दोष नहीं है, (भेदनिर्दे क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतिसे कल्पित भेदका निर्देश है।

* तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्व शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन्हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्य न हि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्त्यहितं वा परिहर्तव्यम्, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्। न ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वाच्च। शारीर

प्रवेशकर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) इसप्रकार परदेवता जीवको आत्मशब्दसे करता हुआ शारीर ब्रह्मसे भिन्न नहीं, ऐसा दिखलाता है। इससे (जीव और ब्रह्मका अभेद हो जो ब्रह्मका स्रष्टृत्व है वह शारीरका ही है। इसलिए वह स्वतन्त्र कर्ता होकर मनोऽनुकूल अप ही करेगा। जन्म, मरण, जरा, रोग आदि अनेक प्रकारका अनर्थ समूहरूप अहित नहीं करेगा, स्वतन्त्र होकर कोई भी अपने लिए स्वयं बन्धनगृह बनाकर उसमें प्रवेश नहीं करता। उ स्वयं अत्यन्त निर्मल होकर अत्यन्त मलीन देहको आत्मरूपसे प्राप्त नहीं करता। किसी प्र दुःखकर कुछ किया भी तो उसका इच्छानुसार त्यागकर देता और सुखकरका ग्रहण करता, ऐसा स्मरण करता कि मैंने यह विचित्र जगद्बिम्ब रचा है, क्योंकि सब लोग कार्यकर यह मैंने है, ऐसा स्पष्ट स्मरण करते हैं। जैसे मायावी अपनी फैलाई हुई मायाका इच्छानुसार बिना ही उपसंहार करता है, वैसे ही शारीर भी इस सृष्टिका उपसंहार करता, परन्तु शारीर तो शरीरका भी अनायास उपसंहार करनेमें समर्थ नहीं है। इसप्रकार हितक्रिया आदिके अदर्शन ज्ञात होता है कि चेतनसे जगत्की प्रक्रिया मानना अन्याय है ॥ २१ ॥

'तु' शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म जीवसे अधिक-भिन्न है, उसे हम जगत्का स्रष्टा कहते हैं। उसमें हिताकरण करना आदि दोष प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि उसे न तो कोई अपना हित कर्तव्य है और न परिहार्य है, कारण कि यह नित्य मुक्त स्वभाव है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होनेसे उसके

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्बमें कल्पित भेद माना गया है, वैसे ही जीव ब्रह्ममें कल्पित है। इससे ब्रह्म और जीवसे भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, इससे न जीवके धर्मोंकी ब्रह्ममें प्र

वंविधः। तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः, नतु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत्? भेदनिर्देशात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः' (बृ० ४।३।३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति। नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः--'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः। कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्? नैष दोषः, आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवति, अपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम्, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। तत्र कुत एव सृष्टिः? कुतो वा हिताकरणादयो दोषाः? अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिर्हिताकरणादिलक्षणः संसारो नतु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम। जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्। अबाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन भेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि ॥२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

पदच्छेद—अश्मादिवत्, च, तदनुपपत्तिः।

सूत्रार्थ—(अश्मादिवच्च) एक पृथिवीसे उत्पन्न हुए पत्थरोंमें जैसे वज्र, वैडूर्य आदि

प्रतिबन्ध अथवा शक्तिका प्रतिबन्ध कहीं भी नहीं है। परन्तु जीव तो ऐसा नहीं हैं, अतः उसमें अहित करना आदि दोष प्रसक्त होते हैं। परन्तु हम उसको जगत्का स्रष्टा नहीं मानते। यह क्यों? श्रुतियोंमें भेदका निर्देश है। यथा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (अयी मैत्रेयी! आत्मा द्रष्टव्य (दर्शनार्ह) है, इसलिए उसका श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए, निदिध्यासन करना चाहिए) 'सोऽन्वेष्टव्यः०' (वह अन्वेष्टव्य और विशेष जिज्ञासितव्य है) 'सता सोम्य०' (हे सोम्य! सुषुप्तिमें ब्रह्मके साथ सम्पन्न हो जाता है) 'शारीर आत्मा०' (मरणकालमें यह जीवात्मा परमात्मासे अधिष्ठित हो शब्द करता हुआ जाता है) इसप्रकारका कर्तृ-कर्म आदि भेदका निर्देश जीवसे भिन्न ब्रह्मको दिखलाता है। परन्तु 'तत्त्वमसि' इसप्रकारका अभेद निर्देश भी दिखलाया गया है तो पुनः परस्पर विरुद्ध भेद और अभेदका कैसे संभव होगा? यह दोष नहीं है, क्योंकि महाकाश और घटाकाश न्यायसे तत् तत् स्थानोंमें दोनोंका संभव प्रतिष्ठापित किया गया है। और जब 'तत्त्वमसि' इसप्रकारके अभेद निर्देशसे [जीव] अभेद प्रतिबोधित होता है तब जीवका संसारित्व और ब्रह्मका स्रष्टृत्व निवृत्त हो जाता है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे फैले हुए समस्त भेद व्यवहारका सम्यग्ज्ञानसे बाध हो जाता है, तो ऐसी स्थितिमें सृष्टि कैसे और हिताकरण आदि दोष कैसे? हिताकरण आदिरूप संसार अविद्यासे प्रत्युपस्थापित नाम और रूपकृत शरीर और इन्द्रिय संघातरूप उपाधिके अविवेकसे उत्पन्न हुई भ्रान्ति है, परमार्थसे नहीं है, ऐसा अनेकवार हम कह चुके हैं। जैसे कि शरीरके जन्म-मरण, छेदन-भेदन आदिकी आत्मामें अभिमानसे प्रतीति होती है। परन्तु भेद व्यवहारके अबाधित होनेपर 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इसप्रकारके भेदनिर्देशसे अवगत हुआ ब्रह्मगत भेद हिताकरण आदि दोषोंकी प्रसक्तिको रोकता है ॥ २२ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

और न ब्रह्मके धर्मों की जीवमें प्रसक्ति है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म और जीवमें कल्पित भेदको लेकर सार्थक होती हैं ॥२२॥

भेदसे विचित्रता है, वैसे ब्रह्मके कार्योंका स्वरूप वैचित्र्य युक्त है, अतः (तदनुपपत्तिः) अन्य दोषकी उपपत्ति नहीं है।

❀ यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनां केचिन्महार्हा मणयो वैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याः सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाः श्ववायसप्रक्षेपणार्हाः इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते। यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि बीजानां बहुविधं फलगन्धरसादिवैचित्र्यं चन्दनकिंपाकचंपकादिषूपलक्ष्यते, यथा चैकस्याप्यन्नरसस्य दीनि केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्याणि भवन्ति, एवमेकस्यापि ब्रह्मणो पृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यं चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्तिः, परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरि श्रुतेश्च प्रामाण्याद्विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात्स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः।

(८ उपसंहारदर्शनाधिकरणम् सू० २४-२५)

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

पदच्छेद—उपसंहारदर्शनात्, न, इति, चेत्, न, क्षीरवत्, हि।

सूत्रार्थ—(उपसंहारदर्शनात्) लोकमें घटादि कर्ता कुलालको दण्ड आदि सामग्रीका संग्रह करते देखा जाता है, वैसे (न) असहाय ब्रह्म जगत्का उपादान अथवा कारण नहीं हो सकता। (इति चेन्न) यह युक्त नहीं है, क्योंकि (क्षीरवद्धि) जैसे दूध अपेक्षा किए विना ही दधिरूपसे परिणत हो जाता है, वैसे ब्रह्म भी अन्यकी अपेक्षाके जगत्का सृष्टि आदि करता है।

❀ चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं, तन्नोपपद्यते। कस्मात्? संहारदर्शनात्। इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्दण्डचक्रसूत्रसलिला कारकसाधनोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चा

जैसे व्यवहारमें पृथिवीत्व जातिसे युक्त पत्थरोंमें भी कुछ पत्थर बहुमूल्य वज्र, वैडूर्य मणि होते हैं, कुछ दूसरे सूर्यकान्त आदि मध्यम मूल्यके होते हैं और अन्य निकृष्ट पत्थर कुत्ते कौओंपर फेकनेके योग्य होते हैं। इसप्रकार पाषाणोंमें अनेक प्रकारका वैचित्र्य देखा जाता है। जिस प्रकार एक पृथिवीका आश्रयण करनेवाले बीजोंके भी पत्र, पुष्प, फल, गन्ध, रस आदि प्रकारका वैचित्र्य चन्दन, ताड़, चम्पक आदि वृक्षोंमें उपलक्षित होता है। और एक ही अन्न भी रुधिर आदि और केश, लोम आदि विचित्र कार्य होते हैं, वैसे ही एक ब्रह्मका भी प्राज्ञरूपसे पृथक्त्व और कार्य वैचित्र्य उपपन्न होता है, इससे उस दोषकी अनुपपत्ति है अर्थात् परिकल्पित दोषकी अनुपपत्ति है, ऐसा अर्थ है। श्रुतिके प्रामाण्य होनेसे और विकारके वाचा मात्र होनेसे स्वप्न पदार्थोंके वैचित्र्यके समान है, इसी प्रकार अन्यका भी संग्रह करना चाहिए।

यह जो कहा गया है कि एक अद्वितीय चेतन ब्रह्म जगत्का कारण है, वह उपपन्न नहीं क्योंकि उपसंहार (संग्रह) देखनेमें आता है। इस लोकमें घट, पट आदिके कर्ता कुम्हार मृत्तिका, दण्ड, चक्र, सूत, जल आदि अनेक साधनोंके संग्रहसे संगृहीत साधन होकर तत्

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे स्वप्नके एक ही द्रष्टामें भी पण्डित मूर्ख, स्वामी-सेवक, जड़-चेतन आदि अनेक विचित्रता देखनेमें आती है, वैसे एकरूप ब्रह्ममें यह कार्य वैचित्र्य युक्त है। इसप्रकार इस कार्यका कारण चेतन ब्रह्म ही है, इसलिए जीवाभिन्न ब्रह्ममें वेदान्त समन्वयका विरोध नहीं है।

* गत अधिकरणमें कहा गया है कि जीवसे औपाधिक भेद होनेसे ब्रह्ममें अहितकरण

याभिप्रेतं, तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत ? तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत्—नैष दोषः, यतः क्षीरवद्द्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते । यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमकरकादिभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्यं बाह्यं साधनं, तथेहापि भविष्यति । नु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एवं बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकं, कथमुच्यते क्षीरवदिति ? नैष दोषः, स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वर्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय । यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद्दधिभावमापद्येत । नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद्दधिभावमापद्यते । साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते । परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म । न तस्यान्येन केनचित्पूर्णता संपादयितव्या । श्रुतिश्च भवति—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च ॥' (श्वे० ६।८) इति । तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिवद्विचित्रपरिणाम उपपद्यते ॥२४॥

देवादिवदपि लोके ॥२५॥

पदच्छेद—देवादिवत्, अपि, लोके ।

सूत्रार्थ—(लोके) मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण आदिमें (देवादिवत्) जैसे चेतन देवता आदि बाह्य साधनके विना संकल्पमात्रसे विविध कार्य करते उपलब्ध होते हैं, वैसे ब्रह्म (अपि) भी असहाय होकर ही इस विचित्र जगत्का उपादान और निमित्त कारण है ।

करते हुए देखे जाते हैं । तुमको तो ब्रह्म असहाय अभिप्रेत है, ऐसी परिस्थितिमें अन्य साधनोंके संग्रहके विना वह स्रष्टा कैसे हो सकता है, इसलिए ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि क्षीरके समान द्रव्यके स्वभाव विशेषसे उपपन्न होता है । जैसे लोकमें दूध या जल बाह्य साधनोंकी अपेक्षा किए विना स्वयं ही दधि, हिम, करक आदि रूपसे परिणत होते हैं, वैसे यहाँ भी हो जायगा । परन्तु दूध आदि भी दधि आदि रूपसे परिणामको प्राप्त होता हुआ उष्णता आदि बाह्य साधनोंकी अपेक्षा रखते ही हैं, तो 'क्षीरके समान' यह कैसे कहते हो ? यह दोष नहीं है, क्योंकि स्वयं ही दूध जिस और जितनी परिणाम मात्राको प्राप्त होता है उष्णतादिसे भी उतनी ही परिणाम मात्रा प्राप्त होती है, किन्तु उष्णतादिसे उसमें दधि होनेके लिए शीघ्रताकी जाती है । यदि उसका स्वयं दधिभाव होनेका स्वभाव न होता तो उष्णता आदि द्वारा भी बलात् दधि भाव प्राप्त नहीं हो सकता । वायु और आकाश औष्ण्य आदिसे बलात् दधिभावको प्राप्त नहीं होते । साधन सामग्रीसे तो केवल उसकी पूर्णता संपादनकी जाती है । परन्तु ब्रह्म तो पूर्ण शक्तिवाला है उसकी पूर्णता किसी अन्यसे संपादन करने योग्य नहीं है । और इसमें 'न तस्य० (उसके शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे अधिक भी कोई दिखाई नहीं देता, उसकी पराशक्ति (माया) नाना प्रकारकी सुनी जाती है और वह स्वाभाविकी ज्ञान क्रिया और बल क्रिया है) यह श्रुति भी है । इसलिए एक ब्रह्मका भी विचित्र शक्तिके योगसे दूध आदिके समान विचित्र परिणाम उपपन्न होता है ॥ २४ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

नहीं है । अत्र उपाधिसे विभक्त भी ब्रह्म असहाय होनेसे कारण नहीं है, क्योंकि वह नाना नहीं है, इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष है । यद्यपि ब्रह्म एक है, तो भी 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (मायाको प्रकृति जानो और महेश्वरको मायावी जानो) इत्यादि श्रुति और युक्तिसे ज्ञात होता है कि माया शक्ति उसकी सहायक है । यहाँ परिणाम कहनेसे ब्रह्मका वास्तविक परिणाम नहीं समझना चाहिए, कारण कि ब्रह्म अधिष्ठान रूपसे निर्विकार है । उसकी शक्ति रूप मायाके परिणामसे ब्रह्मका गौणरूपसे परिणाम कहा गया है । अतः ब्रह्ममें ही वेदान्तोंका समन्वय है ॥ २४ ॥

*स्यादेतत्—उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनानामनपेक्ष्यापि बाह्यं साधनं दध्यादिभा
दृष्टत्वात्। चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रीमपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमा
दृश्यन्ते। कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्तेतेति ? देवादिवदिति ब्रूमः। यथा लोके दे
पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं सा
मैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादा
च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते, मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्। तन्तुनाभ
स्वत एव तन्तून्सृजति बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी चानपेक्ष्य किंचित्प्र
साधनं सरोन्तरात्सरोन्तरं प्रतिष्ठते, एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव
स्रक्ष्यति, स यदि ब्रूयात्—य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्र
न समाना भवन्ति, शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादन उपादा
नतु चेतन आत्मा, तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भ
बलाका च स्तनयित्नुरवश्रवणाद्गर्भं धत्ते, पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव श
सरोन्तरात्सरोन्तरमुपसर्पति, वल्लीव वृक्षं, नतु स्वयमेवाचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्या

यह ठीक है कि अचेतन दूध आदि पदार्थ बाह्य साधनोंकी अपेक्षा किए विना ही दधि
भावको उपपन्न होते हैं, क्योंकि ऐसा देखा गया है। परन्तु चेतन कुलाल आदि साधन सा
अपेक्षा कर ही तत्, तत् कार्यमें प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं, तो ब्रह्म चेतन होकर
(साधनकी सहायताके विना) किस प्रकार कार्यमें प्रवृत्त होगा ? हम कहते हैं कि देवता
समान। जैसे लोकमें देव, पितर, ऋषिगण इत्यादि महाप्रभावशाली चेतन होते हुए भी
बाह्य साधन सामग्रीकी अपेक्षा किए विना ही ऐश्वर्य विशेषके योगसे केवल संकल्पमात्रसे
भिन्न भिन्न आकारवाले बहुत शरीर, प्रासाद (महल) और रथ आदिका निर्माण करते हुए
होते हैं। मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणोंके द्वारा यह प्रमाणित होता है अर्थात् इस
मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराण ये सब प्रमाण हैं। मकड़ी अपने आप ही तन्तुओंका
करती है, बगुली शुक्र-वीर्यके विना ही गर्भको धारण करती है। पद्मिनी भी प्रस्थानके सा
किंचित् भी अपेक्षा किए विना ही एक सरोवर से दूसरे सरोवरमें प्रतिष्ठित होती है, वैसे ही
ब्रह्म भी बाह्य साधनकी अपेक्षा किए विना ही स्वतः ही जगत्की सृष्टि करेगा। वह (वादी)
ऐसा कहे कि ब्रह्मके लिए जो ये देव आदि दृष्टान्तरूपसे गृहीत किये गये हैं, वे दार्ष्टान्तिक
साथ समान नहीं है, क्योंकि देव आदिका अचेतन शरीर ही अन्य शरीर आदि विभूति उत्पन्न
उपादान है, चेतन आत्मा नहीं। मकड़ी बहुत छोटे-छोटे जन्तु भक्षण करती है, इससे उसकी
कठिनता को प्राप्त होकर तन्तु होती है और बलाका मेघ गर्जनके श्रवणसे गर्भ धारण करती है।
वेल एक वृक्षसे दूसरे वृक्ष पर जाती है, वैसे पद्मिनी भी चेतनसे प्रयुक्त होकर अचेतन शरीरसे
तालाबसे दूसरे तालाबको जाती है, परन्तु स्वयं अचेतन होकर अन्य सरमें जानेका व्यापार नहीं
है, इसलिए ये ब्रह्मके दृष्टान्त नहीं है। उसके प्रति कहना चाहिए कि यह दोष नहीं है, क्योंकि

सत्यानन्दी दीपिका

* 'ब्रह्म अकारणं चेतनत्वे सति असहायत्वात् मृदादिशून्यकुलालादिवत्' 'ब्रह्म कारण
है, क्योंकि अचेतन होकर असहाय है, जैसे मृत्तिका आदिसे रहित कुलाल आदि हैं।' इसमें
आदिमें व्यभिचार नहीं है। परन्तु यह पूर्वपक्षीका अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म कारणं चेतनत्वे
सति असहायत्वात् देवादिवत्' 'ब्रह्म कारण है, क्योंकि चेतन होकर असहाय है जैसे देव आदि
पूर्वोक्त अनुमानको दूषित करनेके लिए यह सत्प्रतिपक्ष अनुमान है॥ २५॥

तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति, तं प्रति ब्रूयात्—नायं दोषः, कुलालादिदृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षितत्वादिति । यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद्वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्षामः । तस्माद्यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः ॥२५॥

(६ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम सू० २६-२९)

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२६॥

पदच्छेद—कृत्स्नप्रसक्तिः, निरवयवत्वशब्दकोपः, वा ।

सूत्रार्थ—(कृत्स्नप्रसक्तिः) यदि निरवयव ब्रह्मका परिणाम हो तो सम्पूर्ण ब्रह्मका कार्यरूपसे परिणाम प्रसक्त होगा. (निरवयवशब्दकोपो वा) यदि एक अंशसे परिणाम हो, तो ब्रह्मके सावयव होनेसे 'निष्कलं' इत्यादि ब्रह्मको निरवयव प्रतिपादक श्रुतियोंके साथ विरोध होगा । इस तरह दोनों प्रकारसे ब्रह्म अनित्य हो जायगा, इसलिए ब्रह्म जगत्का उपादान कारण नहीं हो सकता ।

* चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम् । शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति । कृत्स्नप्रसक्तिः कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति, निरवयवत्वात् । यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत्सावयवमभविष्यत्, ततोऽस्यैकदेशः पर्यणंस्यदेकदेशश्चावास्थास्यत् । निरवयवं तु ब्रह्म श्रुतिभ्योऽवगम्यते—'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९), दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृ० २।४।१२),

---

आदि दृष्टान्तोंसे केवल वैलक्षण्यमात्र विवक्षित है । जैसे कुलाल आदि और देव आदिमें चेतनत्व समान होनेपर भी कुलाल आदि कार्यके आरम्भमें बाह्य साधनोंकी अपेक्षा रखते हैं और देव आदि नहीं रखते । उसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं करेगा, बस इतना ही हम देव आदि उदाहरणोंसे कहना चाहते हैं । इसलिए जैसे एक की सामर्थ्य देखी गई हो उसी प्रकार सबकी सामर्थ्य होनी चाहिए, ऐसा अव्यभिचरित नियम नहीं है, यह अभिप्राय है ॥ २५ ॥

एक अद्वितीय चेतन ब्रह्म दूध आदि और देवादिके समान बाह्य साधनोंकी अपेक्षा किए विना ही स्वयं परिणत होता हुआ जगत्का कारण है यह सिद्ध हुआ । परन्तु शास्त्रार्थकी परिशुद्धिके लिए पुनः आक्षेप करते हैं—कृत्स्नप्रसक्तिः' यदि ब्रह्मको जगत्का कारण मानें तो सम्पूर्ण ब्रह्मका कार्यरूपसे परिणाम प्राप्त होता है, क्योंकि वह निरवयव है । यदि ब्रह्म पृथ्वी आदिके समान सावयव होता, तो उसके एक देशका परिणाम होता और एक देश परिणाम रहित होता । परन्तु ब्रह्म तो 'निष्कलं० (जो कलाहीन-अवयव रहित, निष्क्रिय, शान्त, दोषरहित और निरञ्जन है) 'दिव्यो० (वह अक्षर ब्रह्म निश्चय ही दिव्य, अमूर्त्त, पुरुष, बाहर और भीतरमें विद्यमान और जन्म रहित है) 'इदंमहद्० (यह महान्, परिनिष्पन्न, अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है) 'स एष० (जो यह नहीं है, यह नहीं है इस प्रकार निषेध द्वारा निर्दिष्ट है वह आत्मा है) 'अस्थूलम० (जो स्थूल नहीं, अणु नहीं है)

सत्यानन्दी दीपिका

* वेदान्त सिद्धान्तमें विवर्तवाद है परिणामवाद नहीं है, ऐसा निर्णय करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है । आरम्भ अधिकरणमें कार्यकारणका अनन्यत्व प्रतिपादित है, इससे वैशेषिक आदिके समान ब्रह्मवादीको आरम्भवाद अभिप्रेत नहीं है, किन्तु क्षीर दधि न्यायसे परिणामवाद अभिप्रेत है, ऐसा समझकर पूर्वपक्षी 'कृत्स्नप्रसक्तिः' आदिसे शङ्का करता है ॥ २६ ॥

'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्व प्रतिषेधिनीभ्यः । ततश्चैकदेशपरिणामासंभवात्कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलो प्रसज्येत । द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चापद्येत, अयत्नदृष्टत्वात्कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्त ब्रह्मणोऽसंभवात्, अजत्वादिशब्दकोपश्च । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्म गम्येत, तथापि ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः । साव चानित्यत्वप्रसङ्ग इति । सर्वथायं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥२६॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

पदच्छेद - श्रुतेः, तु, शब्दमूलत्वात् ।

सूत्रार्थ—'तु' शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है । (श्रुतेः) 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादि ब्रह्म जगत्का उपादानकारण कहा गया है, और 'तावानस्य महिमा' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मकी पृथक् सत्ता कही गई है, अतः ब्रह्मका सर्वात्मना कार्यरूपसे परिणाम नहीं हो सकता, पूर्वोक्त श्रुतिका बाध भी असंभव है, (शब्दमूलत्वात्) क्योंकि ब्रह्म श्रुतिमूलक है ।

* तुशब्देनाक्षेपं परिहरति । न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति । न तावत् प्रसक्तिरस्ति । कुतः ? श्रुतेः । यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत, एवं विकारव्यतिरे ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात्, 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमाः देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२) इति 'तावानस्य ततो ज्यायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इति जातीयकात्, तथा हृदयायतनत्ववचनात् सत्संपत्तिवचनाच्च । यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्य नोपयुक्तं स्यात्, 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति सुषुप्तिगतं वि

इत्यादि सर्व विशेष प्रतिषेधक श्रुतियोंसे निरवयव अवगत होता है । इससे एक देशके परि असम्भव होनेसे सम्पूर्ण ब्रह्मके परिणामकी प्रसक्ति होनेपर मूलका ही उच्छेद प्रसक्त होगा। ['आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः] द्रष्टव्यतोपदेश भी अनर्थक हो जायगा, क्योंकि कार्य तो बिना दिखाई देता है, और कार्यसे भिन्न ब्रह्मका संभव नहीं है, तथा ब्रह्मके लिए अजत्व प्रतिपादक का बाध हो जायगा । यदि इस दोषकी परिहारकी इच्छासे ब्रह्मको सावयव स्वीकार करें तो निरवयव प्रतिपादक जो उदाहृत श्रुतियाँ हैं, वे बाधित हो जायंगी, सावयव मानें तो अनि प्रसंग है, इस प्रकार पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि यह पक्ष सर्वथा संगत नहीं हो सकता है॥

सूत्रकार 'तू' शब्दसे आक्षेपका परिहार करते हैं । वस्तुतः हमारे पक्षमें कोई भी दोष क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्मका कार्यरूपमें परिणाम प्रसक्त नहीं है, क्योंकि ऐसी श्रुति है । जिस प्रकार जगत्की उत्पत्ति श्रुति है, उसी प्रकार कार्यसे भिन्न ब्रह्मकी अवस्थिति श्रुति भी है । क्योंकि 'सेयं तैक्षत० (उस सत् संज्ञक देवताने ईक्षण किया, 'मैं इस जीवात्मरूपसे' इन तीनों देव अनुप्रवेशकर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ) और 'तावानस्य० (उतनी ही इस गायत्री ब्रह्मकी महिमा है, तथा [निर्विकार] पुरुष इससे भी उत्कृष्ट है । सम्पूर्ण भूत इसका एक और इस निर्विकार पुरुषके तीन पाद अमृत प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित हैं) इस प्रकारसे कार्य और कारणका भेदसे व्यपदेश है । इसी प्रकार हृदय आयतनत्व वचन (स वा एष आत्मा से और सत्के साथ सम्पत्ति-ऐक्य वचनसे भी कार्य और कारणका भेदसे व्यपदेश है । यदि ब्रह्म कार्यरूपसे उपयुक्त (परिणत) हो, तो 'सता सोम्य० (हे सोम्य ! उस समय यह सत् साथ सम्पन्न हो जाता है) यह सुषुप्ति गत विशेषण (तदा) अनुपपन्न होगा, क्योंकि विकृत

मनुपपन्नं स्यात्, विकृतेन ब्रह्मणा नित्यसंपन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्। तथेन्द्रियगोचरत्वप्रतिषेधाद्ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म। नच निरवयवत्वशब्दव्याकोपोऽस्ति, श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्याप्यभ्युपगम्यमानत्वात्। शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम्। शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च। लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते। ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्ते—अस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्तय इति। किमुताचिन्त्यस्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत। तथा चाहुः पौराणिका—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥' इति। तस्माच्छब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः। ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणमते, नच कृत्स्नमिति। यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत। कृत्स्नमेव वा परिणमेत। अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चावतिष्ठेतेति रूपभेदकल्पनात्सावयवमेव प्रसज्येत। क्रियाविषये हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहारकारणं भवति, पुरुषतन्त्रत्वाच्चानुष्ठानस्य। इह तु विकल्पाश्रयणेनापि न विरोधपरिहारः संभवति, अपुरुषतन्त्रत्वाद्वस्तुनः। तस्माद्दुर्घटमेतदिति। नैष दोषः, अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्। नह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयवं वस्तु संपद्यते। नहि तिमिरोपह-

---

साथ नित्य सम्पन्न है और अविकृत ब्रह्मका अभाव है। उसी प्रकार ब्रह्ममें इन्द्रिय विषयत्वका प्रतिषेध है और विकारमें इन्द्रिय विषयत्वकी उपपत्ति होती है, इससे सिद्ध होता है ब्रह्म अविकृत है। और इस प्रकार ब्रह्मको निरवयव प्रतिपादक श्रुतिका बाध भी नहीं होता, क्योंकि श्रूयमाण होनेसे ही निरवयवत्वको भी स्वीकार करना चाहिए, ब्रह्म श्रुतिमूलक-श्रुतिप्रमाणक है इन्द्रियादि प्रमाणक नहीं है, इसलिए श्रुतिके अनुसार उसे स्वीकार करना चाहिए। श्रुति ब्रह्मका असम्पूर्णरूपसे कार्य प्रसक्ति और निरवयवत्व दोनों भी प्रतिपादित करती है। लौकिक मणि, मन्त्र, ओषधि आदिकी शक्तियाँ भी देश, काल और निमित्तके वैलक्षण्यसे परस्पर विरुद्ध अनेक कार्यविषयक देखी जाती हैं। वे शक्तियाँ भी उपदेशके विना केवल तर्कसे नहीं जानी जा सकतीं कि इस वस्तुमें इतनी शक्तियाँ, हैं, इसके ये सहायक कारण हैं यह कार्य है और यह उनका प्रयोजन है। अचिन्त्य प्रभाव विशिष्ट ब्रह्मके स्वरूपका श्रुतिके विना निरूपण न हो सके, तो इसमें आश्चर्य क्या है। उसी प्रकार 'अचिन्त्याः खलु० (जो पदार्थ अचिन्त्य हैं उनमें तर्क नहीं करना चाहिए। जो प्रकृतिसे पर है वही अचिन्त्यका स्वरूप है) पौराणिक भी कहते हैं। इसलिए अतीन्द्रिय अर्थके यथार्थ स्वरूपका अधिगम श्रुतिमूलक ही है। परन्तु निरवयव ब्रह्म परिणत होता है किन्तु सम्पूर्ण नहीं, इस प्रकार विरुद्ध अर्थकी प्रतीति श्रुतिसे भी नहीं कराई जा सकती। यदि ब्रह्म निरवयव हो, तो परिणत ही नहीं होगा अथवा होगा तो सम्पूर्ण ही होगा। यदि ऐसा माना जाय कि किसी एकरूपसे परिणत होता है और किसी एकरूपसे अवस्थित रहता है, तो इस प्रकार रूप भेदकी कल्पनासे ब्रह्म सावयव ही हो जायगा। क्रियाके विषयमें तो 'अतिरात्र नामक यागमें षोडशी पात्रका ग्रहण करे, अतिरात्रमें षोडशीका ग्रहण न करे' इस प्रकारकी विरुद्ध प्रतीतिमें भी विकल्पका आश्रय विरोध परिहारका कारण होता है, क्योंकि अनुष्ठान पुरुषके अधीन है। परन्तु यहाँ तो विकल्पके आश्रयणसे भी विरोध परिहारका संभव नहीं है, क्योंकि वस्तु पुरुषके अधीन नहीं है, इसलिए यह (श्रुति प्रामाण्य) दुर्घट है।

सिद्धान्ती—यह दोष नहीं है, क्योंकि अविद्या कल्पित रूपभेद स्वीकार किया गया है।

तनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक एव भवति। अविद्याकल्पितेन च नामरू णेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामा सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते। पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिण तिष्ठते। वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्वं कुप्यति। न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्। व्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेषा, तत्प्रतिपत्तौ फलावगमात्। 'स एष नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याह—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) इति। तस्मादस्मत्प कश्चिदपि दोषप्रसङ्गोऽस्ति ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

पदच्छेद—आत्मनि, च, एवम्, विचित्राः, च, हि।

सूत्रार्थ—(हि) क्योंकि (आत्मनि) 'न तत्र रथा न रथयोगा' इत्यादि श्रुतिमें स्व एक आत्मामें (विचित्राः) अनेक प्रकारकी सृष्टियाँ कही गई हैं, (च) और लोकमें एक ऐन्द्रजा उसके स्वरूपके नाश हुए विना विचित्र सृष्टि देखी जाती है, (एवम्) इस प्रकार ब्रह्ममें भी वि सृष्टि हो सकती है।

अपि च नैवात्र विवदितव्यं—कथमेकस्मिन्ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा स्यादिति। यत आत्मन्यप्येकस्मिन्स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते- तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश् तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥२८॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥२९॥

पदच्छेद—स्वपक्षदोषात्, च।

अविद्या कल्पित रूपभेदसे वस्तु सावयव नहीं हो जाती, जैसे तिमिर दोषसे दूषित नेत्र द्वारा च अनेक-सा दृश्यमान होनेपर भी अनेक नहीं हो जाता, वैसे अविद्यासे कल्पित नाम रूपात्मक, और अव्यक्तरूप, सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचीय रूपभेदसे ब्रह्म परिणामादि सब व्यव आश्रय होता है। परन्तु पार्मार्थिकरूपसे सब व्यवहारोंसे अतीत और परिणाम रहित अवस्थि अविद्या कल्पित नाम, रूप भेद तो केवल वाचारम्भण मात्र है, इससे ब्रह्ममें निरवयवत्व बाधित है। यह परिणाम श्रुति परिणाम प्रतिपादनके लिए नहीं है, क्योंकि उसके ज्ञानसे फल अवगत होता, किन्तु यह श्रुति सर्वव्यवहार शून्य ब्रह्मात्मभाव प्रतिपादन करनेके लिए है, क्योंकि उसके फल अवगत होता है। 'स एष नेति नेत्यात्मा' इस प्रकार उपक्रम कर 'अभयं वै जनक० (हे ज निस्सन्देह, तुम अभय-ब्रह्म पदको प्राप्त हुआ है) ऐसा कहा है। इसलिए हमारे पक्षमें कोई दोष प्रसंग नहीं है ॥ २७ ॥

और इस विषयमें भी विवाद नहीं करना चाहिए कि स्वरूपका नाश हुए विना एक अनेक प्रकारकी सृष्टि किस प्रकार होगी, क्योंकि 'न तत्र रथा० (स्वप्नमें न रथ हैं, न अश्व हैं, न हैं, किन्तु स्वप्नद्रष्टा रथ, अश्व और उनके मार्गोंकी रचना कर लेता है) इत्यादि श्रुतिसे स्वप्नद्र आत्मामें भी स्वरूप नाश हुए विना अनेक प्रकारकी सृष्टि प्रतिपादित है। लोकमें भी देव आदि मायावी आदिमें स्वरूप नाश हुए विना ही हस्ति, अश्व आदि विचित्र सृष्टियाँ देखी जाती हैं, प्रकार एक ब्रह्ममें भी स्वरूप नाश हुए विना ही अनेक प्रकारकी सृष्टि होगी ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—और सांख्य आदिके पक्षमें भी यह दोष है, केवल हमारे पक्षमें दोष लगाना उचित नहीं, इसलिए ब्रह्मकारणत्व वाद उपपन्न है।

❀ परेषामप्येष समानः स्वपक्षे दोषः। प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य कारणमिति स्वपक्षः। तत्रापि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात्प्रधानस्य प्राप्नोति, निरवयवत्वाभ्युपगमकोपो वा। ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः, तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति। नैवंजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते। यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम्। एकैकमेव चेतरद्वयानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात्स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य। तर्काप्रतिष्ठानात्सावयवत्वमेवेति चेत्—एवमप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः। अथ शक्तय एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः, तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः। ❀ तथाणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवय-

अन्य वादियों (पूर्वपक्षियों) के भी पक्षमें यह दोष समान है, क्योंकि प्रधानवादीका भी अपना पक्ष यह है कि निरवयव, अपरिच्छिन्न शब्दादि रहित प्रधान सावयव, परिच्छिन्न, शब्दादि युक्त कार्यका कारण है। उसके मतमें भी निरवयव होनेसे सम्पूर्ण प्रधानका कार्यरूपमें परिणाम प्रसक्त होगा अथवा प्रधानके निरवयवत्वके स्वीकारका बाध होगा। परन्तु उन्होंने प्रधानको निरवयव स्वीकार नहीं किया है। सत्त्व, रज और तम तीन नित्य गुण हैं, उनकी साम्यावस्था ही प्रधान है, उन्हीं गुणरूप अवयवोंसे प्रधान सावयव है। इस प्रकारके सावयवत्वसे प्रकृत दोषका परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत्त्व, रज और तममें भी प्रत्येकका निरवयवत्व समान है। एक एक ही गुण अन्य दो गुणोंसे अनुगृहीत-युक्त होकर सजातीय प्रपञ्चका उपादान है, इस प्रकार स्वपक्षमें दोष प्रसंग समान है। यदि यह कहो कि तर्कके प्रतिष्ठित न होनेसे सावयवत्व है, तो ऐसा होनेपर भी अनित्यत्व दोष प्रसंग है। यदि यह अभिप्राय हो कि कार्यके वैचित्र्यसे सूचित शक्तियाँ ही अवयव हैं, वे तो ब्रह्मवादीके लिए भी समान हैं।

सत्यानन्दी दीपिका

* 'यश्चोभयोःसमो दोषः परिहारोऽपि तादृशः' (जो दोष दोनों पक्षोंमें समान है, उसका परिहार भी समान है, इस विषयमें केवल एक पक्षसे प्रश्न करना उचित नहीं है) यह न्याय है। यदि प्रधानको निरवयव मानें, तो उसका महदादि कार्यरूपसे सम्पूर्ण परिणाम हो जानेके कारण कार्य कारण दोनोंका ही उच्छेद हो जायगा। इस दोषकी निवृत्तिके लिए यदि प्रधानको सावयव मानें तो उसे निरवयव मानना बाधित हो जायगा और अनित्यत्व प्रसक्त होगा। गुणोंकी साम्यावस्था प्रधान है, वह साम्यावस्था गुणोंका विकार है कि समुदाय? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि वह विकार होनेसे मूल प्रकृति ही नहीं होगी। यदि दूसरा पक्ष मानें, तो प्रपञ्चका अभाव हो जायगा, क्योंकि समुदाय कोई वस्तु नहीं है। यदि निरवयव गुण ही विविध परिणामोंकी प्रकृति मानें, तो सम्पूर्णरूपसे परिणत होनेपर मूलोच्छेद तदवस्थ है। यदि प्रत्येक सत्त्व आदि गुण अन्य दो गुणोंके साथ निरवयव होकर उपादान हों, तो सम्पूर्णरूपसे परिणाम होनेपर पुनः मूलोच्छेद है। उस दोषसे मुक्त होनेके लिए यदि मृत्तिकाके समान सावयव मानें, तो उसके एक देशका परिणाम तो हो सकता है, परन्तु निरवयवत्वका बाध और अनित्यत्व दोष पूर्ववत् ही विद्यमान हैं। यदि कहो कि गुणोंके अवयव तन्तुओंके समान आरम्भक नहीं होते, किन्तु कार्यके वैलक्षण्यसे अनुमित उनमें वर्तमान शक्तियाँ आरम्भक होती हैं, तो हम भी ऐसा कहते हैं कि मायिक शक्तियों द्वारा ब्रह्म भी सावयव-सा है।

* दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक और तीन द्व्यणुक मिलकर त्र्यणुकका आरम्भ होता है। यह वैशेषिकोंकी प्रक्रिया है। निरवयव दो परमाणुओंका संयोग व्याप्यवृत्ति है अथवा अव्याप्य वृत्ति?

वत्वाद्यदि कात्स्न्र्येन संयुज्येत, ततः प्रथिमानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गः। अथैकदेशेन संयुज्ये तथापि निरवयवत्वाभ्युपगमकोप इति स्वपक्षेऽपि समान एष दोषः। समानत्वाच्च नान्य स्मिन्नेव पक्ष उपक्षेप्तव्यो भवति। परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोषः ॥२६॥

(१० सर्वोपेताधिकरणम् सू० ३०-३१)

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥३०॥

पदच्छेद—सर्वोपेता, च, तद्दर्शनात्।

सूत्रार्थ—(च) और (सर्वोपेता) परादेवता सर्वशक्ति युक्त है, (तद्दर्शनात्) क्योंकि कर्मा सर्वकामः' इत्यादि श्रुतिमें उसका सर्वशक्ति योग देखा गया है।

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तं तत्पुनः कथमवगम्यते—विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति ? तदुच्यते—सर्वोपेता च तद्दर्शनात् सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः ? तद्दर्शनात्। तथा हि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगे परस्या देवतायाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्य नादरः' (छा० ३।१४।४), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।१), 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मु० १।१।९), 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः (बृ० ३।८ इत्येवंजातीयका ॥३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥३१॥

पदच्छेद—विकरणत्वात्, न, इति, चेत्, तत्, उक्तम्।

इसी प्रकार अणुवादीके मतमें भी एक अणु दूसरे अणुसे संयुक्त होता हुआ निरवयव होनेसे सम्पूर्णरूपसे संयुक्त हो, तो प्रथिमा-अधिक परिणामकी अनुपपत्ति होनेके कारण उसमें अणुमात्र प्रसंग होगा। यदि एक देशसे संयुक्त हो, तो भी निरवयवत्वाभ्युपगम बाधित हो जायगा, इस स्वपक्षमें भी यह दोष समान है। दोनोंके समान होनेपर दोमें से एक पक्षपर ही आक्षेप करना नहीं है। ब्रह्मवादीने तो अपने पक्षमें दोषका परिहारकर दिया है ॥२६॥

यह कहा गया है कि एक ब्रह्मका भी विचित्रशक्तिके योगसे विचित्र कार्य प्रपञ्च उपपन्न हो परंतु यह कैसे अवगत हो कि परब्रह्म विचित्र शक्ति युक्त है ? उसे कहते हैं—'सर्वोपेता च तद्दर्शनात् परादेवता सर्वशक्ति युक्त है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि श्रुतियोंमें ऐसा देखा गया-प्रति है, जैसे कि 'सर्वकर्मा० (जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सबको सब ओरसे करनेवाला, वाक् रहित और निष्काम है) 'सत्यकामः० (जो सत्यकाम और सत्यसंकल्प है) 'यः सर्वज्ञः (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है) 'एतस्य वा० (हे गार्गी ! इस अक्षर-ब्रह्मके ही शासनमें सूर्य और च विधृत होकर अवस्थित हैं) इस प्रकारकी श्रुति परा देवतामें सर्वशक्तिका योग दिखलाती है ॥ ३०

सत्यानन्दी दीपिका

प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि निरवयव परमाणुओंसे उत्पन्न द्व्यणुक परमाणु मात्र ही होगा, परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ किसी प्रकार मिलनेपर भी उसमें अधिक परिमाण नहीं हो सक जैसे निरवयव आत्मा, आकाश, काल आदिके व्याप्त संयोग होनेपर भी उनमें कोई स्थूलता नहीं आ यदि इस दोषकी निवृत्तिके लिए व्याप्यवृत्ति संयोग मानें, तो परमाणु सावयव होनेसे अनित्य हो यदि परमाणुके अवयवोंका विभाग करें तो अनन्तावयवत्व होनेसे सुमेरू और सरसोंकी समान हो जायगी। परन्तु 'तुम चोर हो' ऐसा किसीके कहनेपर 'तुम भी चोर हो' इस कथनके समान दो समानताका उल्लेख करना अयुक्त है। मायावादमें तो स्वप्नके समान सबका सामञ्जस्य किया इसलिए निरवयव ब्रह्ममें समन्वयका कोई विरोध नहीं है ॥२६॥

सूत्रार्थ—(विकरणत्वात्) 'अचक्षुष्कमश्रोत्रम्' इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्म इन्द्रिय रहित प्रतिपादित होनेसे (न) कर्ता नहीं हो सकता। (इति चेत्) ऐसा यदि कहो, तो (तदुक्तम्) इस विषयमें जो कहना था, वह 'देवादिवदपि लोके' इस सूत्रमें कहा गया है।

स्यादेतत्—विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' (बृ० ३।८।८) इत्येवंजातीयकम्। कथं सा सर्वशक्तियुक्तापि सती कार्याय प्रभवेत्? देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिककार्यकरणसंपन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते। कथं च 'नेति नेति' (बृ० ३।९।२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः संभवेदिति चेत्—यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम्। श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्। नच यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथाऽन्यस्यापि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्तीति। प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः संभवतीत्येतदप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव। तथा च शास्त्रम्—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३।१९) इत्यकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति ॥३१॥

(११ न प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् सू० ३२-३३)

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥३२॥

पदच्छेद—न, प्रयोजनवत्त्वात्।

सूत्रार्थ—(न) ब्रह्म जगत्का कर्ता नहीं हो सकता, (प्रयोजनवत्त्वात्) क्योंकि प्रवृत्ति प्रयोजनवाली होती है। नित्य तृप्त होनेसे ब्रह्मका कोई प्रयोजन नहीं है।

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत आक्षिपति। न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति। कुतः? प्रयोजनवत्त्वात्प्रवृत्तीनाम्। चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत्प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः। किमुत गुरुतरसंरम्भाम्? भवति च लोकप्रसिद्ध्यनुवादिनी श्रुति—'न वा अरे सर्वस्य कामाय

यह ठीक है, परन्तु 'अचक्षुष्कम० (वह नेत्र रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित और मन रहित है) इस प्रकारकी श्रुति परा देवताको इन्द्रिय रहित कहती है। वह देवता सर्वशक्तियुक्त होनेपर भी कार्यके लिए किस प्रकार समर्थ होगा? देवादि चेतन और सर्वशक्ति युक्त होते हुए भी आध्यात्मिक शरीर और इन्द्रियोंसे सम्पन्न होकर ही तत् तत् कार्य करनेमें समर्थ ज्ञात होते हैं। तो 'नेति नेति' इस प्रकार श्रुतिसे जिसके सब विशेषोंका प्रतिषेध किया गया है, उस देवतामें सर्वशक्तियोगका सम्भव कैसे होगा? ऐसा यदि कहो, तो इस विषयमें जो कहना चाहिए वह पहले ही कहा गया है। यह अतिगम्भीर ब्रह्म श्रुतिसे ही ज्ञातव्य है, तर्कसे अवगाह्य नहीं है। और एककी जैसी सामर्थ्य देखी गई हो, वैसे ही अन्यकी भी सामर्थ्य होनी चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिसके सब विशेषोंका प्रतिषेध किया गया है उस ब्रह्ममें सर्वशक्तिका योग संभव है, यह शक्तियोग भी अविद्यासे कल्पित रूपभेदके उपन्याससे कहा गया है। उसी प्रकार 'अपाणिपादो० (वह हाथ-पाँवसे रहित होकर भी वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है, नेत्ररहित होकर भी देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है) यह श्रुति करण रहित-इन्द्रिय रहित भी ब्रह्ममें सर्वशक्तिका योग-सम्बन्ध दिखलाती है ॥ ३१ ॥

चेतन जगत्का कर्ता है, इसपर पुनः अन्य प्रकारसे आक्षेप करता है। चेतन परमात्मासे इस जगत् मण्डलकी रचना करना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रवृत्तियाँ प्रयोजनवाली होती हैं। लोकमें बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला चेतन पुरुष कार्यमें प्रवृत्त होता हुआ अपने प्रयोजनके अनुपयोगी अल्प-यत्न साध्य प्रवृत्ति-कामको आरम्भ करते नहीं देखा गया है, पुनः गुरुतर-प्रयत्न-साध्य प्रवृत्तिको आरम्भ न करे तो

सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० २।४।५) इति। गुरुतरसंरम्भा
प्रवृत्तिर्यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्विम्बं विरचयितव्यम्। यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परम
आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत। प्रयो
भावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात्। अथ चेतनोऽपि सन्नुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेण
प्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत, तथा सति सर्वज्ञत्वं प
त्मनः श्रूयमाणं बाध्येत। तस्मादश्लिष्टा चेतनात्सृष्टिरिति ॥३२॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥३३॥

पदच्छेद—लोकवत्, तु, लीलाकैवल्यम्।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है। (लोकवत्) जैसे लोकमें किसी
पुरुषकी प्रयोजनके विना क्रीडा आदिमें प्रवृत्ति होती देखी जाती है, वैसे ही परमात्माकी भी यह
रचना (लीलाकैवल्यम्) प्रयोजनके विना लीलामात्र है, अतः उक्त समन्वयका विरोध नहीं है।

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्
व्यतिरिक्तं किंचित्प्रयोजनमभिसंधाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति
चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किंचित्प्रयोजनं स्वभावादेव संभवन्ति, एवं
स्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। नही
प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा संभवति। नच स्वभावः पर्यनुयोक्तुं श
❀ यद्यप्यस्माकमियं जगद्विम्बविरचना गुरुतरसंरम्भेवाभाति, तथापि परमेश्वरस्य

इसमें कहना ही क्या है? लोक प्रसिद्धिकी अनुवादिनी 'न वा अरे० (अरे मैत्रेयी! सबके प्र
लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिए सब प्रिय होते हैं) यह श्रुति भी है।
प्रकारके प्रपञ्चोंसे युक्त जगत् मण्डलकी रचना करनी चाहिए, यह प्रवृत्ति गुरुतर-प्रयत्न साध्य है।
यह प्रवृत्ति भी चेतन परमात्माके अपने प्रयोजनकी उपयोगिनी कल्पनाकी जाय, तो परमात्मामें श्रू
परितृप्तत्व बाधित हो जायगा, अथवा प्रयोजनके अभावमें प्रवृत्तिका अभाव भी हो जायगा।
कि चेतन होकर भी उन्मत्त पुरुष बुद्धिके अपराध-दोषसे विना प्रयोजनके भी प्रवृत्त होता देखा
उसी प्रकार परमात्मा भी प्रवृत्त होगा. तो ऐसा होनेपर परमात्मामें श्रूयमाण सर्वज्ञत्वका
जायगा, इसलिए चेतनसे सृष्टि असंगत है ॥ ३२ ॥

'तु' शब्दसे पूर्वपक्षीके आक्षेपका परिहार करते हैं। जैसे लोकमें आप्तैषण वाले ऐ
राजा अथवा मंत्रीकी क्रीडा क्षेत्रोंमें प्रवृत्तियाँ किसी अन्य प्रयोजनकी अभिलाषा न कर केवल ली
होती हैं। जैसे उच्छ्वास और प्रश्वास आदि किसी बाह्य प्रयोजनकी इच्छाके विना स्वभावसे ही
हैं, वैसे ही किसी अन्य प्रयोजनकी अपेक्षाके विना स्वभावसे ईश्वरकी भी केवल लीलारूप प्रवृत्ति
क्योंकि युक्ति अथवा श्रुतिसे ईश्वरके निरूप्यमाण अन्य प्रयोजनका सम्भव नहीं है। स्वभावके वि
आक्षेप भी नहीं किया जा सकता अर्थात् ईश्वरका ऐसा स्वभाव क्यों है? ऐसा आक्षेप करना यु
है। यद्यपि जगत् मण्डलकी यह विरचना हम लोगोंको गुरुतर-अत्यधिक परिश्रम साध्य-सी प्रतीत

सत्यानन्दी दीपिका

* यह सृष्टि भी स्वप्न सृष्टिके समान मायामात्र है। इसलिए 'यतो वा इमानि भूतानि जा
इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियोंका ब्रह्ममें जगत्कारणत्व प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु
त्मभाव 'आत्मा ब्रह्म है' प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य है, अतः सृष्टि श्रुतियाँ निष्फल नहीं है।
पहले भी स्पष्टकी गई है, उसको भूलना नहीं चाहिए ॥३३॥

वलेयम्, अपरिमितशक्तित्वात्। यदि नाम लोके लीलास्वपि किंचित्सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत, थापि नैवात्र किंचित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः। नाप्यप्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा, ष्टिश्रुतेः, सर्वज्ञश्रुतेश्च। न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहार-चरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥३३॥

(१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् सू० ३४-३६)

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥३४॥

पदच्छेद—वैषम्यनैर्घृण्ये, न, सापेक्षत्वात्, तथाहि, दर्शयति।

सूत्रार्थ—(वैषम्यनैर्घृण्ये न) ब्रह्ममें विषमता और निष्करुणता रूप दोष नहीं है, (सापे-त्वात्) क्योंकि वह जीवोंको कर्मानुसार फल देता है अर्थात् कर्मोंकी अपेक्षा रखता है। (तथाहि र्शयति) इसी बातको 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' यह श्रुति भी दिखलाती है।

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते, स्थूणानिखनन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य ढीकरणाय। नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते। कुतः ? वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात्। कांश्चिदत्यन्त-सुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो नुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः। श्रुतिस्मृ-त्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत। तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्व-तिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात्सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत। तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमित्येवं प्राप्ते ब्रूम—वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात् ? सापेक्षत्वात्। यदि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, स्यातामेतौ दोषौ—वैषम्यं नैर्घृण्यं च, तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति

, तो भी परमेश्वरकी यह केवल लीला ही है, क्योंकि उसकी शक्ति अपरिमित-अनन्त है। यद्यपि किक लीलाओंमें किसी सूक्ष्मप्रयोजनकी उत्प्रेक्षा (कल्पना) की जा सकती है, तो भी यहाँ परमात्माके यमें किसी प्रयोजनकी भी उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि परमेश्वर आप्तकाम हैं ऐसी श्रुति । इसी प्रकार अप्रवृत्ति अथवा उन्मत्तकी-सी प्रवृत्ति भी नहीं है, क्योंकि सृष्टि श्रुति और सर्वज्ञत्व है। और यह सृष्टि श्रुति परमार्थ विषयक नहीं है, क्योंकि अविद्यासे कल्पित नामरूपात्मक वहार विषयक है और ब्रह्मात्मभाव प्रतिपादन परक है यह भी विस्मरण नहीं करना चाहिए ॥३३॥

ईश्वर जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण है, इस प्रतिज्ञात अर्थकी स्थूणानिखनन न्यायसे दृढ़ रनेके लिए पुनः आक्षेप किया जाता है। ईश्वर जगत्का कारण उपपन्न नहीं होता, क्योंकि वैषम्य और नैर्घृण्यका प्रसंग होता है। वह कुछको-देवादिको अत्यन्त सुखका भागी बनाता है, कुछको-पशु आदिको अत्यन्त दुःखका भागी करता है और कुछको-मनुष्य आदिको मध्यम भोगका भागी बनाता है, इस प्रकार विषम सृष्टिका निर्माण करनेवाले ईश्वरमें साधारण जनके समान राग, द्वेषकी उपपत्ति होनेसे श्रुति, स्मृति द्वारा अवधारित स्वच्छतादि ईश्वर स्वभावका लोप प्रसक्त होगा। इसी प्रकार सब प्राणियोंको दुःख योगका विधान और सम्पूर्ण प्रजाका उपसंहार करनेसे उसमें दुष्टजनोंसे भी अधिक अतिनिन्दित निर्घृणत्व-अतिक्रूरत्व प्रसक्त होगा। इसलिए विषमता और निर्घृणताके प्रसंगसे ईश्वर कारण नहीं है। ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वैषम्य और नैर्घृण्य ईश्वरमें प्रसक्त नहीं होते, क्योंकि वह सापेक्ष है। यदि ईश्वर केवल निरपेक्ष होकर विषम सृष्टिका निर्माण करता, तो वैषम्य और नैर्घृण्य ये दोष होते। परन्तु वह निरपेक्ष होकर तो निर्माण नहीं करता, प्रत्युत ईश्वर सापेक्ष होकर ही विषम सृष्टिका निर्माण करता है। यदि यह कहो कि किसकी अपेक्षा करता है ? तो हम कहते हैं कि

चेत्—धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः । अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टि
नायमीश्वरस्यापराधः । ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्यः । यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ सा
रणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि का
णानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति । देवमनुष्यादिवैषम्ये
तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वै
म्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति । ❀ कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्यमोत्तमं संसारं नि
मीत इति ? तथा हि दर्शयति श्रुति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनी
एष उ एवासाधु कर्म कारयति नं यमधो निनीषते' (कौ० ब्रा० ३।८) इति । 'पुण्यो वै पु
कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३) इति च । स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवे
स्यानुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ०
४।११) इत्येवंजातीयका ॥३४॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥३५॥

पदच्छेद—न, कर्म, अविभागात्, इति, चेत्, न, अनादित्वात् ।

सूत्रार्थ—(अविभागात्) 'सदेव सोम्येदमग्र' इत्यादि श्रुतिसे सृष्टिके पूर्व भेदका अ
प्रतिपादित है, इससे उस समय (न कर्म) कर्म नहीं था, तो कर्मकी अपेक्षासे विषम सृष्टि कैसे हो
(इति चेन्न) ऐसा कहो तो नहीं, (अनादित्वात्) क्योंकि संसार अनादि होनेसे सृष्टि और क
बीज और अङ्कुरके समान कार्यकारण भाव है । इसलिए कर्मकी अपेक्षासे विषम सृष्टि है ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति प्राक्सृष्टेरविभाग

धर्म और अधर्मकी अपेक्षा करता है । सृज्यमान प्राणियोंके धर्म और अधर्मकी अपेक्षासे विषम
होती है, इसलिए यह ईश्वरका अपराध नहीं है । ईश्वरको तो पर्जन्यके समान समझना चाहिए ।
व्रीहि, यव आदिकी सृष्टिमें पर्जन्य (मेघ) साधारण कारण है और व्रीहि, यव आदिकी विषम
तो तत् तत् बीजगत सामर्थ्य असाधारण कारण होती हैं । वैसे ही देव, मनुष्य आदिकी सृष्टिमें
साधारण कारण है और देव, मनुष्य आदिकी विषमतामें तो तत् तत् जीवगत कर्म असा
कारण हैं । इस प्रकार ईश्वर सापेक्ष होनेसे वैषम्य और नैर्घृण्यसे दूषित नहीं होता । परन्तु
अवगत हो कि कर्मोंकी अपेक्षा रखकर ईश्वर नीच (पशु आदि) मध्यम (मनुष्य आदि) और
(देव आदि) संसारका निर्माण करता है ? उसी प्रकार 'एष ह्येव० (जिसको इस लोकसे
जाना चाहता है उससे यही (ईश्वर) पुण्य कर्म कराता है और जिसको निकृष्ट लोकमें ले जाना च
है उससे यही पाप कर्म कराता है) और 'पुण्यो वै० (वह पुण्य कर्मसे पुण्यवान् और पा
पापो होता है) यह श्रुति दिखलाती है । और प्राणियोंके कर्म विशेषकी अपेक्षासे ही ईश्वर अ
और निग्रहका कर्ता है । ऐसा 'ये यथा मां० (जो मुझे जिस भावसे भजते हैं मैं भी उन्हें
भजता हूं) इस प्रकारकी स्मृति भी दिखलाती है ॥३४॥

'सदेव सोम्य० (हे प्रियदर्शन ! सृष्टिके पूर्व यह एक मात्र अद्वितीय सत् ही था) इत्या

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तथैवाभ्यसते नरः' ॥
(पूर्व-पूर्व जन्ममें जिसने जिस दान, अध्ययन और तप आदिका अभ्यास किया है, उसी पूर्वा
बलसे मनुष्य इस जन्ममें भी तत्, तत् दानादिका अभ्यास करता है) इसलिए ईश्वर किसीसे भी पुण्
नहीं कराता, यदि कराता है तो उसमें भी जीवोंके पूर्वजन्मकृत कर्म कारण हैं । अतः 'निरवद्यं निरञ्
(ईश्वर दोष रहित निरञ्जन है) इस प्रकार ईश्वरका यह श्रुति प्रतिपादित लक्षण सर्वथा युक्त है

धारणान्नास्ति कर्म, यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात्। सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत। अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम। प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत्—नैष दोषः. अनादित्वात्संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान्संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते।३५।

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति? अत उत्तरं पठति—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

पदच्छेद—उपपद्यते, च, अपि, उपलभ्यते, च।

सूत्रार्थ—(उपपद्यते च) संसारका अनादित्व उपपन्न होता है, (उपलभ्यते च) और 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुति और 'नरूपमस्येह तथोपलभ्यते' इत्यादि स्मृतिमें संसारका अनादित्व उपलब्ध होता है।

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वम्। आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः, अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुखदुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात्। न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्। न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम्, एकरूपत्वात्। रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षा त्वविद्या वैषम्यकरी स्यात्। नच कर्मान्तरेण शरीरं संभवति, नच शरीरमन्तरेण कर्म संभवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः। अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति। उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः। श्रुतौ तावत् 'अनेन जीवेनात्मना' (छा० ६।३।२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्ननादिः संसार इति दर्शयति। आदिमत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणः सन् कथं प्राण-

सृष्टिके पहले भेदाभावका निश्चय होनेसे कर्म ही नहीं है जिसकी अपेक्षाकर विषम सृष्टि हो। शरीरादि विभागकी अपेक्षा रखने वाला कर्म सृष्टिके उत्तर कालमें होता है और शरीर आदि विभाग कर्मापेक्षित है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय प्रसक्त होगा। अतः विभागके अनन्तर कर्मकी अपेक्षा करनेवाला ईश्वर सृष्टिमें प्रवृत्त भले ही हो, परन्तु विभागके पूर्व वैचित्र्य निमित्तक कर्मका अभाव होनेसे आद्यसृष्टि तो दोनों पक्षोंमें तुल्य ही प्राप्त होती है। ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि संसार अनादि है। यह दोष तो तब होता जब संसार सादि होता। परन्तु संसारके अनादि होनेसे बीज और अङ्कुरके समान कार्य-कारणरूपसे कर्म और विषमसृष्टिकी प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं है ॥३५॥

यह कैसे अवगत हो कि संसार अनादि है? इसपर उत्तर कहते हैं—

संसारका अनादित्व उपपन्न है। यदि संसार सादि हो, तो उसकी अकस्मात् उत्पत्ति होनेसे मुक्त पुरुषोंका भी पुनर्जन्म प्रसक्त होगा, और न किए गए कर्मोंका फल प्राप्त होगा, क्योंकि ऐसी परिस्थितिमें सुख दुःखादिकी विषमता अनिमित्तक होगी। यह कहा गया है कि ईश्वर विषमताका हेतु नहीं है। एक रूप होनेसे केवल अविद्या भी विषमताका कारण नहीं है। रागादि क्लेशोंकी वासनासे आकृष्ट कर्मोंकी अपेक्षासे अविद्या वैषम्य करनेवाली हो सकती है। कर्मके विना शरीरका सम्भव नहीं और शरीरके विना कर्मका सम्भव नहीं, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। परन्तु संसारको अनादि माननेपर बीजाङ्कुर न्यायसे [कर्म और विषमसृष्टिके कार्यकारण भावकी] उपपत्ति होनेसे कोई भी दोष नहीं है। संसारका अनादित्व श्रुति और स्मृतिमें उपलब्ध है। श्रुतिमें तो 'अनेन जीवेन० (इस जीवरूपसे) इस प्रकार सृष्टिके आरम्भमें जीवात्माको प्राणधारणके निमित्त जीवशब्दसे कहकर संसार अनादि है ऐसा दिखलाते हैं। परन्तु संसार सादि हो तो पूर्व प्राणधारण न करनेपर सर्गके

धारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत ? नच धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्ये अनागताद्धि संबन्धादतीतः संबन्धो बलवान्भवति, अभिनिष्पन्नत्वात्। 'सूर्याचन्द्रमसौ यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० सं० १०।१९०।३) इति च मन्त्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति। स्मृ प्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' (गी० १५।३) इति। पुराणे चातीतानामनागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥३६॥

(१३ सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम् सू० ३७)

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

पदच्छेद—सर्वधर्मोपपत्तेः, च।

सूत्रार्थ—जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व आदि सर्वधर्मोंकी ब्रह्ममें उपपत्ति होनेसे ब्रह्म भी कारण हो सकता है।

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान्विल त्वादीन्दोषान्पर्यहार्षीदाचार्यः। इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समाणः स्व परिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति। यस्मादस्मिन्ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रका सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमि मौपनिषदं दर्शनमिति ॥३७॥

इति शंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

आरम्भमें उसका प्राणधारण निमित्तक जीव शब्दसे कैसे प्रयोग होगा ? 'धारयिष्यति' (धा करेगा) इस अभिप्रायसे यह शब्दप्रयोग है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अतीत सम्बन्ध अ निष्पन्न होनेके कारण अनागत सम्बन्धसे बलवान् होता है। 'सूर्याचन्द्रमसौ० (धाताने सूर्य और चन्द्रमाकी पूर्वके अनुसार कल्पनाकी) यह मन्त्र पूर्वकल्पका सद्भाव दिखलाता है। 'न रूपमस्ये (परन्तु इस संसार वृक्षका स्वरूप जैसा शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है वैसा यहाँ विचार कालमें उप नहीं होता, क्योंकि न तो इसका आदि है और न अन्त है तथा न अच्छी प्रकारसे स्थिति-मध्य है इस प्रकार स्मृतिमें भी संसारका अनादित्व उपलब्ध होता है। और पुराणोंमें अतीत अनागत कल्पों परिमाण नहीं है, ऐसा वर्णन किया गया है ॥३६॥

चेतन ब्रह्म जगत्का निमित्त कारण और उपादान कारण है, इस अवधारित वेदार्थमें प्र पक्षियों द्वारा लगाये गये विलक्षणत्व आदि दोषोंका आचार्यने परिहार किया। अब जिसमें पर प्रतिषेध प्रधान है, ऐसे प्रकरणके आरम्भ करनेकी इच्छा करते हुए [भगवान् सूत्रकार] जिस प्रकर स्वपक्ष परिग्रह प्रधान है, उसका उपसंहार करते हैं। इस ब्रह्मका कारणरूपसे स्वीकार करनेपर पूर्वो प्रकारसे ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और महामायावी है ऐसे सब कारणधर्म उपपन्न होते हैं, इस इस औपनिषद् दर्शनपर अधिक शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥३७॥

'स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके द्वितीयाध्यायका प्रथम पाद समाप्त'

सत्यानन्दी दीपिका

* संसार अनादि होनेपर भी मिथ्या है, क्योंकि इससे 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिमें अवधारणार्थक 'एव' उपपन्न होता है। इसलिए दोष रहित ब्रह्ममें वेदान्त समन्वयका कोई विरोध नहीं है ॥३६॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के द्वितियाध्यायका प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम् ।]

इस पादमें सांख्य आदि मतोंका दुष्टत्व प्रदर्शन है ।

(१ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् सू० १-१०)

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

पदच्छेद—रचनानुपपत्तेः, च, न, अनुमानम् ।

सूत्रार्थ—(अनुमानम्) जगत् सुख दुःख मोहात्मक वस्तुसे उत्पन्न हुआ है, क्योंकि सुख दुःख मोहसे अन्वित है, जैसे घट मृत्तिकासे उत्पन्न होकर मृत्तिकासे अन्वित है। इस अनुमानसे सिद्ध प्रधान (न) जगत्‌का उपादान कारण नहीं हो सकता, (रचनानुपपत्तेश्च) क्योंकि जड़ प्रधानसे विचित्र जगत्‌की रचना नहीं हो सकती है।

* यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं, न तर्कशास्त्रवत्केवलाभिर्युक्तिभिः कंचित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्, तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थं परः पादः प्रवर्तते। वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात्तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं, तद्ध्यभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति। ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं, किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण? बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसंभवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु, इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते। ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः'

यद्यपि यह शास्त्र वेदान्त वाक्योंका इदंपरत्व—ब्रह्मतत्त्व परत्व निरूपण करनेके लिए प्रवृत्त हुआ है, तर्कशास्त्रके समान केवल युक्तियोंसे किसी सिद्धान्तको सिद्ध करने या दूषित करनेके लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है, तो भी वेदान्तवाक्योंका व्याख्यान करनेवालेको सम्यग्दर्शनके प्रतिपक्षभूत सांख्यादि दर्शनोंका निराकरण करना चाहिए, इसके लिए द्वितीय पाद प्रवृत्त होता है। वेदान्तार्थका निर्णय तत्त्वज्ञानके लिए है, अतः उस निर्णयसे प्रथम स्वपक्षकी स्थापनाकी, क्योंकि अन्यपक्षके खण्डन करनेकी अपेक्षा वह अभ्यर्हित-अधिक अभीष्ट है। परन्तु मुमुक्षुओंके मोक्ष प्राप्तिके साधनरूपसे तत्त्वज्ञाननिरूपण करनेके लिए केवल स्वपक्षका स्थापन करना ही युक्त है। दूसरेके साथ द्वेषकर अन्य मतके खण्डन करनेसे क्या प्रयोजन? यह ठीक है, तो भी बड़े-बड़े सांख्य आदि शास्त्र महाजनोंसे परिगृहीत हैं और तत्त्वज्ञान निरूपणके बहानेसे प्रवृत्त हुए हैं, उनको प्राप्तकर कुछ मंदमतियोंकी यह अपेक्षा हो कि वे भी तत्त्वज्ञानके लिए उपादेय हैं। और उसी प्रकार उनमें दृढतर युक्तियोंके सम्भव होनेसे और सर्वज्ञसे उपदिष्ट होनेसे उनमें उनकी श्रद्धा भी हो सकती है, इसलिए वे शास्त्र असार हैं, ऐसा उपपादन करनेके लिए प्रयत्न किया जाता है। परन्तु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' इत्यादि सूत्रोंसे पूर्वमें भी सांख्यादि पक्षोंका खण्डन किया गया है, तो पुनः किए

सत्यानन्दी दीपिका

* गत पादमें वेदान्त समन्वयके विरोधका स्मृति और तर्कसे परिहार किया गया और ब्रह्ममें जगत्-कारणत्वके अनुकूल सर्वज्ञत्वादि धर्मोंका श्रुति द्वारा उपपादन और सांख्यादि द्वारा लगाए गए विलक्षणत्वादि दोषोंका स्मृति और युक्तिसे परिहार किया गया। अब इस पादमें श्रुति निरपेक्ष केवल

(ब्र० सू० १।४।२८) इति च पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेन
❁ तदुच्यते—सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्ये
योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्ये
त्पूर्वं कृतम्, इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियत इत्येष विशेषः।
सांख्या मन्यन्ते—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनाऽन्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्व
लोके दृष्टाः, तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयाऽन्वीयमानाः

हुएको करनेसे क्या लाभ ? इसपर कहते हैं—सांख्यादि अपने पक्षकी स्थापना करनेके लिए वे
वाक्योंका उदाहरण देकर स्वपक्षके अनुसार ही उनकी योजना करतेहुए व्याख्यान करते हैं, उन
व्याख्यान है, वह व्याख्यानाभास है, सम्यग्व्याख्यान नहीं है। इतना ही पूर्व प्रतिपादन किया ग
इस पादमें तो वेदान्तवाक्योंकी अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्ररूपसे उनकी युक्तियोंका प्रतिषे
जाता है, यही विशेष है। यहाँ सांख्य ऐसा मानते हैं कि जैसे लोकमें घट शराव आदि कार्य मृ
अन्वित होते हुए मृत्तिका रूप सामान्य कारण पूर्वक देखे जाते हैं, वैसे ही सब बाह्य और आध्या
कार्य सुखदुःखमोहरूपसे अन्वित होते हुए सुखदुःखमोहरूप सामान्य कारण पूर्वक होने चाहिएँ।

सत्यानन्दी दीपिका

युक्तियों द्वारा पर पक्षका खण्डन किया जाता है। इस शास्त्रके आरम्भका मुख्य प्रयोजन तत्त्व
है। उसकी सिद्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक परमतमें भ्रान्ति मूलता सिद्ध न हो, उसकी
अपने सिद्धान्तके संरक्षण और ब्रह्मकी सिद्धिसे हो सकती है। तत्त्वनिर्णयके लिए परपक्षका
द्वेष नहीं है। भ्रान्तिमूलक मार्गका अनुसरण करनेवाले मन्द बुद्धिवालोंको वहाँसे हटाकर यथार्थ
पर लाना ही वास्तवमें परहित है। अतः भ्रान्ति मूलक परपक्षका खण्डन करना युक्त है।

* पूर्व पाद और इस पादमें अर्थके भेद होनेसे पुनरुक्ति नहीं है। अचेतन प्रधान ज
उपादान कारण है यह सांख्य सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है। वह प्रमाण मूलक है वा भ्र
मूलक ? ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' इस सूत्रमें प्रतिपादित सब धर्मोंका प्र
सम्भव है, अतः प्रधान ही जगत्का उपादान कारण है। इस प्रकार आक्षेप संगतिसे सांख्य
प्रमाण मूलक है, ऐसा दिखलाते हुए 'तत्र सांख्या' इत्यादिसे पूर्व पक्ष करते हैं। इस पाद
अधिकरण परमत निरासात्मक हैं, इसलिए सब अधिकरणोंकी पाद संगति है। पूर्वपक्षमें प्रमाण
सांख्यके विरोधसे ब्रह्ममें श्रुति-समन्वयकी प्रसिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है।
पाद समाप्ति तक समझना चाहिए। जो कार्य स्थूलतासे लेकर सूक्ष्मता पर्यन्त जिससे अन्वित
होते हैं, वे तत्, तत् उपादान कारणवाले होते हैं, यह व्याप्ति है। कारणमें सुखात्मकता सत्त्व, दु
त्मकता रज और मोहात्मकता तमोगुणसे है, इसलिए कारण त्रिगुणात्मक है। अतएव प्रत्ये
कार्य भी त्रिगुणात्मक है। मृत्युवर्ण आदिके समान प्रधान अचेतन है, चेतन पुरुषके भोग
मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्धिके लिए स्वभावसे महदादि विचित्र कार्यरूपसे प्रवृत्त होता है। जैसे कि 'पु
एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम्' (सां० का० ३१) (इसकी प्रवृत्तिमें पुरुषका भोग और मो
पुरुषार्थ ही कारण है, किसी अन्य चेतनसे प्रेरित नहीं होता) किञ्च 'भेदानां परिमाणात्समन्व
क्तितः प्रवृत्तेश्च। कार्यकारण विभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य'॥ (सां० का० १५) (वि
परिमाणसे, समन्वयसे, शक्तिकी प्रवृत्तिसे और कारणसे विचित्र कार्यके विभाग और अवि
प्रधान सिद्ध होता है) इस कारकामें समन्वय लिङ्गका तो व्याख्यान किया गया है। दूसरा
'क्षित्यादीनां भेदानां कारणमव्यक्तमस्ति परिमितत्वात् घटवत्' 'पृथ्वी आदि विकारोंका का
अव्यक्त है, क्योंकि वे घंट आदिके समान परिमित हैं।' जैसे घटादि कार्योंकी मृत्तिकारूप कारण

दुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । यत्तत्सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत्त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तत इति । तथा परिमाणादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते । * तत्र वदामः—यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत, नाचेतनं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किंचिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद्दृष्टम् । गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते । तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम् , आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः संभाविततमैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत् ? लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात् । मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः । नच मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण मूलकारणमव-

---

सुख दुःखमोहात्मक सामान्य (कारण) है वह त्रिगुणात्मक प्रधान मृत्तिकाके समान अचेतन चेतनपुरुषके भोग और मोक्ष रूप प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए स्वभावसे ही विचित्र विकाररूपसे प्रवृत्त होता है । उसी प्रकार कार्यगत परिमाणादि लिङ्गोंसे भी उसी प्रधानका वे अनुमान करते हैं । उसपर हम कहते हैं—यदि दृष्टान्तके बलसे ही यह निरूपण करें, तो लोकमें चेतनसे अनधिष्ठित स्वतन्त्ररूपसे अचेतन विशिष्ट पुरुषार्थके संपादन करनेमें समर्थ विकारोंकी रचना करता हुआ नहीं देखा जाता । लोकमें गृह, महल, शयन, आसन, विहारभूमि आदि समयके अनुसार बुद्धिमान् शिल्पियों द्वारा सुख प्राप्ति और दुःख परिहारके योग्य रचे गये देखे जाते हैं, वैसे भिन्न-भिन्न कर्मफलके उपभोग योग्य पृथिव्यादि यह सम्पूर्ण बाह्य जगत् और अनेक प्रकारकी जातियोंसे सम्बद्ध असाधारण अवयवोंसे युक्त अनेक कर्मफलोंके अनुभवका आश्रय दृश्यमान शरीर आदि आध्यात्मिक जगत्, जिसकी आलोचना बड़े-बड़े बुद्धिमान् शिल्पियों द्वारा मनसे भी नहींकी जा सकती, उसकी रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता ? क्योंकि अचेतन लोष्ट, पाषाण आदिमें नहीं देखा जाता है, किन्तु कुलाल आदिसे अधिष्ठित मृत्तिका आदिमें विशिष्ट आकार रचना देखी जाती है । इस प्रकार प्रधानको भी अन्य चेतनसे अधिष्ठित मानना पड़ेगा । मृत्तिका आदि उपादान स्वरूपके व्यपाश्रित धर्मसे ही मूल

सत्यानन्दी दीपिका

प्रवृत्ति होती है, वैसे महद् आदि विकारोंकी भी कारण शक्तिसे प्रवृत्ति कहना चाहिए, वह शक्ति युक्त कारण प्रधान है । कारणसे विचित्र कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे मृत्तिकासे घटादिकी, यह विभाग है और उत्पत्तिके विपरीत कारणमें कार्यके लीन होनेका नाम अविभाग है, यथा घट मृत्तिकामें मृत्तिका पृथ्वीमें, पृथ्वी जलमें लीन होती है, इत्यादि हेतुओंसे प्रधानका अनुमान होता है । इस प्रकार अव्यक्त प्रधान जगत्का उपादान कारण सिद्ध होता है ।

* सिद्धान्ती—क्या इन अनुमानोंसे जगत्का उपादान कारण अचेतन सिद्ध करते हो अथवा स्वतन्त्र अचेतन ? प्रथम पक्षमें तो सिद्ध साधन दोष है, क्योंकि ईश्वरसे अधिष्ठित अनादि त्रिगुणात्मक मायाको जगत्का उपादान हम भी स्वीकार करते हैं । द्वितीय पक्षका ग्रहण करें तो घट आदि दृष्टांतोंमें साध्य अप्रसिद्ध है, क्योंकि मृत्तिका आदि चेतनोंसे अधिष्ठित होकर घट आदि कार्योंके उपादान होते हैं । यह नियम कार्य जगत्में भी है । 'जगत् चेतनानधिष्ठिताचेतनप्रकृतिकं समन्वयात् मृदादिवत् ।' (यह जगत् चेतनसे अनधिष्ठित अचेतन प्रकृतिक है, क्योंकि समन्वय है जैसे मृदादि) इस पूर्वपक्षीके अनुमानमें समन्वयरूप हेतु साध्यके अभावका साधक होनेसे विरुद्ध हेतु है अर्थात् मृत्सुवर्ण आदि दृष्टांतोंमें यह हेतु चेतनसे अनधिष्ठित नहीं किन्तु कुलालादि चेतनसे अधिष्ठित अचेतन कारणत्व सिद्ध करता है,

धारणीयं न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किंचिन्नियामकमस्ति। न चैवं सति किंचि
रुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते, चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्ना
जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति चशब्देन हेतोरसिद्धिं समुच्चिनो
* न हि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयान्वय उपपद्यते, सुखादीनां
न्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च, शब्दाद्यविशेषेऽपि
भावनाविशेषात्सुखादिविशेषोपलब्धेः। तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्ग
कत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरज

कारणका निश्चय करना चाहिए और बाह्य कुलालादिके व्यपाश्रित धर्मसे नहीं करना चाहिए,
कोई नियामक नहीं है। ऐसा होनेपर कुछ विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत श्रुति अनुगृहीत होती है,
वह चेतनमें कारणत्व समर्पण (वर्णन) करती है। अतएव रचनानुपपत्तिरूप हेतुसे अचेतन
कारण है, ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है, और 'अन्वयाद्यनुपपत्तेश्च' अन्वयादिकी अनु
होनेसे, इस हेतुकी असिद्धि (स्वरूपासिद्धि) का भी 'च' शब्दसे समुच्चय करते हैं। बाह्य
आध्यात्मिक विकारोंका सुख-दुख मोहात्मकताके साथ अन्वय उपपन्न नहीं होता, क्योंकि
अन्तर प्रतीत होते हैं और शब्दादि अतद्रूप-बाह्य प्रतीत होते हैं और सुखादिके निमित्त
प्रतीत होते हैं, शब्दादिके विशेष न होनेपर भी भावनाविशेषसे सुख आदि विशेषकी
लब्धि होती है। इसीप्रकार मूलाङ्कुरादि परिमित विकारोंको संसर्ग पूर्वक देखकर बाह्य और
त्मिक विकार परिमित होनेसे संसर्ग पूर्वक हैं ऐसा अनुमान करनेवालेको सत्त्व, रज और तम

सत्यानन्दी दीपिका

अतः व्यभिचारी है। दूसरा दोष यह है कि साध्य सिद्धिके लिए दृष्टान्त भी नहीं है, क्योंकि घट
चेतनसे अधिष्ठित अचेतन प्रकृतिवाले हैं, अतः जगत् रूप पक्षमें साध्य सिद्ध नहीं हो सकता,
इस अनुमानमें साध्य अप्रसिद्ध दोष भी है। सत्प्रतिपक्ष दोष भी है, क्योंकि पूर्वपक्ष कृत साध्य
साधक अन्य हेतु भी है—जैसे 'विचित्ररचनात्मकंकार्यं (जगत्) चेतनाधिष्ठिताचेतन
कार्यत्वात् गृहादिवत्' 'यह विचित्र कार्य जगत् चेतनसे अधिष्ठित अचेतन प्रकृतिवाला है,
आदिके समान यह कार्य है।' यदि इसमें सांख्यवादी कहे कि 'रचनानुपपत्तेः' हेतुसे प्रधान
होता है। यदि अचेतनको जगत्का कारण नहीं मानें, तो जगत्में विचित्रता सिद्ध नहीं होगी,
चेतन एक रस है। विचित्ररचना अनुपपन्न न हो इसलिए अचेतन प्रधान जगत्का कारण
चाहिए। परन्तु 'रचनानुपपत्तेः' यह हेतु भी विरुद्ध है, क्योंकि गृह आदिमें विचित्रता चेतन
शिल्पियों द्वारा उपलब्ध है अचेतनसे नहीं। समन्वयरूप हेतु जगत् रूप पक्षमें न रहनेसे
सिद्धि दोष ग्रस्त है, कारण कि जगत् सुख-दुःख मोहसे अन्वित नहीं है, सुखादि आन्तर और
त्मिक हैं जब कि जगत् बाह्य है।

* यदि चन्दन आदि बाह्य पदार्थ स्वभावसे सुखादिरूप होते, तो ग्रीष्म ऋतुके समान
ऋतुमें भी सुखकर होते, कुसुम हेमऋतुके समान ग्रीष्मऋतुमें भी सुखकर होता,
लिए सुखकर है इसलिए मनुष्यादिके लिए भी हो यह नियम नहीं है। इस विषयमें नैषधकार
का यह श्लोक बिल्कुल उपयुक्त है—

'क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः'॥ (नैष०

(मृदु वस्तु अभिलाषी पुरुष कठिन कण्टक भक्षी उष्ट्रकी निन्दा करता है, कण्टकाशी
आशीकी निन्दा करता है। अपनी-अपनी इष्ट वस्तुके भक्षणमें दोनोंकी प्रीति समान है,

मसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः, परिमितत्वाविशेषात्। कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम् ॥१॥

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

पदच्छेद—प्रवृतेः, च।

सूत्रार्थ—अचेतन प्रधानकी साम्यावस्थाकी प्रच्युतिरूप प्रवृत्ति चेतनके विना उपपन्न नहीं हो सकती, इसलिए भी प्रधान जगत्‌का कारण नहीं हो सकता।

* आस्तां तावदियं रचना। तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता, सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः। अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ननु चेतन-

---

पूर्वक मानने पड़ेंगे, क्योंकि उनमें भी परिमितत्व समान है। प्रेक्षा (बुद्धि) पूर्वक निर्मित शयन, आसन आदिका कार्य-कारणभाव देखा गया है। अतः कार्यकारणभाव होनेसे बाह्य और आध्यात्मिक विकारोंमें अचेतन पूर्वकत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १ ॥

इस विचित्र रचनाको रहने दो, उस रचनाकी सिद्धिके लिए जो प्रधानकी साम्यावस्थासे प्रच्युतिरूप प्रवृत्ति अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके अङ्गाङ्गिभावकी आपत्ति (प्राप्तिरूप) विशेष कार्यके संपादनके लिए जो प्रवृत्तिता है वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधानकी नहीं हो सकती, क्योंकि मृत्तिका आदि और रथ आदिमें स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मृत्तिका आदि अथवा रथ आदि स्वयं अचेतन होते हुए चेतन कुलाल आदि अथवा अश्व आदिसे अनधिष्ठित होकर विशिष्ट कार्यके अभिमुख प्रवृत्तिवाले नहीं देखे जाते, और दृष्टसे अदृष्टकी सिद्धि होती है। इसलिए 'प्रवृत्त्यनुपपत्तेः' प्रवृत्तिकी अनुपपत्तिरूप हेतुसे भी अचेतन जगत्‌का कारण अनुमातव्य नहीं है। परन्तु केवल

सत्यानन्दी दीपिका

उपहास करना ठीक नहीं, किन्तु मध्यस्था ठीक है) इसलिए कोई भी वस्तु सुखादिरूप नहीं है। अनुगत आदिरूप होते हुए भी चन्दन आदि जाति, काल और अवस्था आदिसे सुख आदिके हेतु देखे जाते हैं। शब्दादि विषय एक होनेपर भी पुरुष वासनाके वैचित्र्यसे उसमें किसीकी सुख बुद्धि, किसीकी दुःख बुद्धि और किसीकी मोह बुद्धि होती है। इसप्रकार 'समन्वयात्' इस हेतुको दूषितकर अब 'परिमाणात्' आदि हेतुओंको 'तथा' इत्यादिसे दूषित करते हैं। प्रधानवादीका यह अनुमान है—'जगत् संसर्गपूर्वकं परिमाणात् घटादिवत्' (यह जगत् कारण सम्बन्ध पूर्वक है, क्योंकि घटादिके समान परिमित है)। जो जो परिमित होता है वह वह संसर्ग पूर्वक होता है, यह व्याप्ति है, परन्तु इस व्याप्तिका सत्त्व आदि गुणोंमें व्यभिचार है, क्योंकि उनमें परिमितत्व हेतु तो है किन्तु साध्य नहीं है, कारण कि वे नित्य और निरवयव हैं, अतः व्यभिचारी हेतुसे जगत्‌में कारण संसर्ग पूर्वकत्व साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। सदृशोंमें ही कार्यकारणभाव होता है और विकार अचेतनप्रकृतिक होते हैं, इस नियमका 'न विलक्षणत्वात्' इस सूत्रमें निराकरण किया गया है। चेतनाधिष्ठित अचेतन प्रकृतिका ग्रहण करनेसे भी सादृश्य बन सकता है। इसप्रकार कारिका गत 'शक्तितः प्रवृत्तेश्च' इस हेतुका भी चेतनाधिष्ठित कारण शक्तिसे कार्यका संभव हो सकता है, तो केवल कारण शक्तिसे कार्यकी प्रवृत्ति होती है, यह हेतु अन्यथासिद्ध है ॥ १ ॥

* अचेतन प्रधान स्वतन्त्ररूपसे जगत्‌का कारण है, ऐसा अनुमान नहीं करना चाहिए,

स्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा, सत्यमेतत्, तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृ
दृष्टा, न त्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। किं पुनरत्र युक्तम्? यस्मिन्प्रवृत्तिर्दृश्य
सा, उत यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति? ननु यस्मिन्दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्त
उभयोः प्रत्यक्षत्वात्। ननु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन केवलश्चेतनो रथादिवत्प्रत्यक्षः। प्रवृत्त्याश्र
दिसंयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः—केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्ट
अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लौकायति
प्रतिपन्नाः। तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति। तदभिधीयते—न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृ
श्यते न तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः, तद्भावे भावात्तद
चाभावात्, यथा काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियाऽनुपलभ्यमानापि च के
ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात्तद्वियोगे चादर्शनात्, तद्वत्। लौकायति
मपि चेतन एव देहोऽचेतनानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिषिद्धं चेतनस्य प्रवर्तक

चेतनमें भी प्रवृत्ति नहीं देखी गई है? यह ठीक है, तो भी चेतन संयुक्त रथ आदिकी प्रवृत्ति
जाती है। अचेतन संयुक्त चेतनकी भी तो प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, तो इन दोनोंमें कौन युक्ति
है? जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है उसकी वह प्रवृत्ति है अथवा जिसके संसर्गसे अचेतनमें प्रवृत्ति
जाती है उसकी है? पूर्वपक्षी—जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है वह उसकी है, ऐसा युक्त है,
प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं। परन्तु केवल चेतन रथादिके समान प्रवृत्तिके आश्र
प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु प्रवृत्तिके आश्रयभूत देहादिसे संयुक्त होकर ही चेतनके सद्भाव (
की सिद्धि होती है, क्योंकि जीवित देहमें केवल अचेतन रथादिसे वैलक्षण्य देखा जाता है।
देहके प्रत्यक्ष होनेपर चैतन्य दिखाई देता है और देहके प्रत्यक्ष न होनेपर चैतन्य दिखाई नहीं
इससे देह ही चेतन है, ऐसा लौकायितक (चार्वाक) मानते हैं। इसलिए अचेतन की ही प्रवृ

सिद्धान्ती इस पर कहते हैं—हम यह नहीं कहते हैं कि जो अचेतन में प्रवृत्ति देखी
वह उसकी नहीं है, वह उसी की हो, परन्तु वह तो चेतनसे होती है, ऐसा हम कहते हैं,
चेतनके होनेपर उसका अस्तित्व है और चेतनके अभावमें अभाव है, जैसे काष्ठ आदिके
दाह और प्रकाशरूप विक्रिया केवल अग्निमें उपलभ्यमान न होने पर भी अग्नि से ही होती है,
काष्ठ आदिसे अग्निका संयोग होनेपर वह दिखाई देती है और वियोग होने पर नहीं
देती, वैसे ही चेतनके साथ संयोग होनेपर शरीर आदिमें प्रवृत्ति देखी जाती है और उसके
नहीं देखी जाती। चार्वाकों के मत में भी चेतन देह ही अचेतन रथ आदिका प्रवर्तक माना
इसलिए चेतनके प्रवर्तक होनेमें कोई विरोध नहीं है। ऐसा यदि कहो कि तुम्हारे मतमें

सत्यानन्दी दीपिका

क्योंकि सृष्टिके लिए उसमें प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती है। इसप्रकार सूत्रस्थ 'च' शब्दसे इस
पूर्वसूत्रसे 'अनुपपत्तेः' पदकी अनुवृत्तिकर सूत्रकी योजना करनी चाहिए अर्थात् 'प्रवृत्तेश्चानुप
नुमानं कारणम्' (प्रवृत्तिकी अनुपपत्ति होनेसे अनुमान—प्रधान कारण नहीं है) ऐसी सूत्रकी
है। गुणोंकी साम्यवस्था ही महद् आदि तत्त्वोंका प्रलय है। उसमें कोई कार्य नहीं होता।
आरम्भमें गुणोंकी साम्यावस्थाकी प्रच्युतिरूप विषमता होती है। इन तीनों गुणोंमें जो गुण
होता है, वह प्रधान-अङ्गी है, शेष दो गुण उसके अङ्ग होकर रहते हैं, इसप्रकार अङ्गाङ्गिभाव
है। ऐसा होनेपर महद्, अहंकार आदि कार्योत्पादनरूप प्रवृत्ति होती है। उससे ही यह देव,
पशु, पक्षी आदि शरीरोंका परस्पर विलक्षण अवयव विन्यास होता है, यही रचना है, यह
प्रक्रिया है। सिद्धान्ती—'गुणानां प्रवृत्तिः चेतनाधिष्ठानपूर्विका प्रवृत्तित्वात् रथादिप्रवृत्तिवत्'

❀ ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत्—न, अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। यथा-यस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति। एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। एकत्वात्प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वा-नुपपत्तिरिति चेत् न, अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात्। तस्मा-त्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे, न त्वचेतनकारणत्वे ॥२॥

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥३॥

पदच्छेद—पयोम्बुवत्, चेत्, तत्र, अपि।

सूत्रार्थ—(पयोम्बुवत्) जैसे दूध बछड़ेके पोषणके लिए स्वयं प्रवृत्त होता है, और जल स्वयं बहता है, वैसे प्रधान भी स्वयं प्रवृत्त होता है। (चेत्) ऐसा यदि कहो तो (तत्रापि) उनमें भी चेतनसे अधिष्ठित प्रवृत्ति है, क्योंकि 'योऽप्सु तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतियाँ हैं, अतः प्रधान जगत्का कारण नहीं है।

संयुक्त भी आत्माके विज्ञानस्वरूपमात्रसे अतिरिक्त प्रवृत्तिकी अनुपपत्ति होनेसे प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अयस्कान्तमणि (लोहचुम्बक) और रूपादिके समान प्रवृत्ति रहित वस्तुमें भी प्रवर्तकत्व हो सकता है। जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं प्रवृत्ति रहित होता हुआ भी लोहका प्रवर्तक होता है, अथवा जैसे रूपादि विषय स्वयंप्रवृत्ति रहित होते हुए भी चक्षु आदिके प्रवर्तक होते हैं। वैसे ही प्रवृत्ति रहित होता हुआ भी ईश्वर सर्वगतसर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होकर सबको प्रवृत्त करे, यह युक्त है। यदि कहो कि एकत्वके कारण प्रवर्त्यके न होनेपर प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्यासे प्रत्युपस्थापित नाम रूपात्मक मायाके आवेशके बलसे [चेतनमें ईश्वरभाव और प्रवर्त्य-प्रवर्तकभाव उपपन्न है] ऐसा अनेक वार निराकरण किया गया है। इसलिए सर्वज्ञको कारण माननेपर प्रवृत्ति संभव है किन्तु अचेतनको कारण माननेमें नहीं ॥ २ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

वृत्ति चेतनाधिष्ठानपूर्वक होती है, क्योंकि रथादि प्रवृत्ति के समान यह भी प्रवृत्ति है' दृष्टके अनुसार ही अदृष्टकी कल्पनाकी जाती है। अनुमानकी शरण लेनेवालेको दृष्टान्तके विना अतीन्द्रियार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु 'जीवद्देहः सात्मकः प्राणादिमत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं रथादिवत्। (जीवित देह आत्मासे युक्त है, क्योंकि उसमें प्राण आदि हैं, व्यतिरेक दृष्टान्त रथादि है) इससे चेतनकी सिद्धि होती है। परन्तु वह प्रवर्तक है यह सिद्ध नहीं होता, इसलिए अन्वय-व्यतिरेकसे जीवित देह ही आत्मा है, यह चार्वाकका मत है। इसलिए अचेतनकी प्रवृत्ति है।

❀ 'यः प्रवर्तकः स स्वयं प्रवृत्तिमान् अश्वादिवत्' 'जो प्रवर्तक है वह स्वरूपसे प्रवृत्तिमान् है जैसे अश्वादि। इस प्रकार व्याप्ति के होनेसे आत्मामें व्यापक प्रवृत्तिमत्त्वके न होनेसे व्याप्य प्रवर्तकत्व भी नहीं है अर्थात् आत्मा प्रवृत्ति रहित होनेसे प्रवर्तक नहीं है, अतः अचेतन की प्रवृत्ति चेतनसे नहीं है किन्तु अपनी है। सि०—जो प्रवर्तक होता है वह प्रवृत्ति युक्त होता है, इस व्याप्तिका अयस्कान्तमणि आदिमें व्यभिचार है। अतः उक्त व्याप्ति अयुक्त है। परन्तु जिनके मतमें चेतनसे अतिरिक्त अधिष्ठाता ईश्वर माना जाता है उनके मतमें तो यह युक्त है कि चेतनसे अधिष्ठित होकर अचेतन प्रवृत्त होता है। परन्तु वेदान्त मतमें तो 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतियोंके आधारपर चेतनसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उस मतमें प्रवर्त्यके न होनेसे चेतनमें प्रवर्तकत्व कैसे हो सकता है? समाधान—उस मतमें अविद्यासे चेतनमें कल्पित द्वैतसे प्रवर्त्य प्रवर्तकभाव आदि सब उपपन्न होता है। अतः माया प्रवर्त्य है और सर्वज्ञ ईश्वर प्रवर्तक, इसप्रकार सर्वज्ञ ईश्वरको माननेसे सृष्ट्यात्मक प्रवृत्ति युक्त है ॥२॥

❀ स्यादेतत्—यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते, यथा च अ
चेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दते, एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसि
प्रवर्तिष्यत इति। नैतत्साधूच्यते, यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्ति
मिमीमहे, उभयवादिप्रसिद्धे रथादावचेतने केवले प्रवृत्त्यदर्शनात्। शास्त्रं च 'योऽप्सु
योऽपोऽन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।४) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः
(बृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयकं समस्तस्य लोकपरिस्पन्दितस्येश्वराधिष्ठिततां श्रावयति।
त्साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात्पयोम्बुवदित्यनुपन्यासः, चेतनायाश्च धेन्वाः स्नेहेच्छया पयसः
कत्वोपपत्तेः, वत्सचोषणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात्। न चाम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा,
भूम्याद्यपेक्षत्वात्स्यन्दनस्य। चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम्। 'उपसंहारदर्शनान्नेति
वद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इत्यत्र तु बाह्यनिमित्तनिरपेक्षमपि स्वाश्रयं कार्यं भवतीत्येत
दृष्ट्या निदर्शितम्। शास्त्रदृष्ट्या तु पुनः सर्वत्रैवेश्वरापेक्षत्वमापद्यमानं न पराणुद्यते ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

पदच्छेद—व्यतिरेकानवस्थितेः, च, अनपेक्षत्वात्।

सूत्रार्थ—(व्यतिरेकानवस्थितेः) प्रधानसे भिन्न कर्म आदि सहाकारीके न होनेसे (च)
(अनपेक्षत्वात्) पुरुषके असंग आदि होनेके कारण प्रवृत्ति और निवृत्तिमें अपेक्षाका
होनेसे अचेतन प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता।

सांख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्, नतु तद्व्यतिरेकेण प्रधा

पूर्वपक्षी—यह ठीक है, जैसे अचेतन दूध स्वभावसे ही बछड़ेकी विशेषवृद्धिके लिए
होता है और जैसे अचेतन जल स्वभावसे ही लोकोंके उपकारके लिए बहता है, वैसे ही
प्रधान भी स्वभावसे ही पुरुषार्थ (भोग और मोक्ष) की सिद्धिके लिए प्रवृत्त होगा। सिद्धा
यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उनमें भी अर्थात् चेतनाधिष्ठित ही दूध और जलमें प्रवृत्ति है,
हम अनुमान करते हैं। कारण कि दोनों वादियों करके प्रसिद्ध चेतनसे अनधिष्ठित केवल
रथादिमें प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। योऽप्सु० (जो जलमें रहता हुआ, जो जलके भीतर रहकर
नियमन करता है) एतस्य वा० (हे गार्गी ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें पूर्ववाहिनी एवं अन्य
श्वेतपर्वतोंसे बहती हैं) इस प्रकारकी श्रुतियाँ सम्पूर्ण लोककी क्रियाएँ ईश्वरसे अधिष्ठित हैं,
कहती हैं। इसलिए जिसमें साध्य सिद्ध किया जा रहा है उस पक्षकुक्षिनिक्षिप्त होनेसे 'पयोम्बुव
व्यभिचारस्थल नहीं है, क्योंकि चेतन गौ स्नेह-इच्छासे दूधका प्रवर्तक हो सकती है, बछड़ेके
दूध खींचा जाता है। जलको भी किसीकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा नहीं है, कारण कि उसके बहन
को निम्नभूमि आदिकी अपेक्षा है। चेतनकी अपेक्षा तो सर्वत्र दिखलाई गई है। 'उपसंहारदर्शना
इस सूत्रमें तो बाह्य निमित्तकी अपेक्षा किए विना भी स्वाश्रय कार्य होता है, यह लोक दृष्टिसे दिख
गया है। पुनः शास्त्रदृष्टिसे तो सर्वत्र ईश्वरकी प्राप्त अपेक्षाका वादीसे निराकरण नहीं किया जाता

सांख्योंके मतमें साम्यसे अवस्थित हुए तीन गुण प्रधान है। परन्तु उससे भिन्न प्र
प्रवर्तक अथवा निवर्तक कुछ बाह्य अपेक्ष्य अवस्थित नहीं है, पुरुष तो उदासीन है वह न प्र

सत्यानन्दी दीपिका

* 'अनादिजड़स्य प्रवृत्तिः चेतनाधीनाः प्रवृत्तित्वात् रथादि प्रवृत्तिवत्' 'अनादि जड़की
चेतनके अधीन है, प्रवृत्ति होनेसे, रथादिकी प्रवृत्तिके समान' इस अनुमान और 'योऽप्सु तिष्ठ
आगमसे साध्य सिद्ध होनेपर दूध और जलमें दिया हुआ व्यभिचार अयुक्त है। क्योंकि दूध और
भी पक्ष सम है, अतः जड़में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ३ ॥

प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति। पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम्, अनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इत्येतदयुक्तम्। ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते ॥४॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

पदच्छेद—अन्यत्राभावात्, च, न, तृणादिवत्।

सूत्रार्थ—(च) और (तृणादिवत्) तृण आदिके समान प्रधानका भी स्वभावसे ही परिणाम नहीं हो सकता, (अन्यत्राभावात्) क्योंकि अन्यत्र दूधरूपसे तृणादिके परिणामका अभाव है।

स्यादेतत्—यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमते, एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति। कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षं तृणादीति गम्यते, निमित्तान्तरानुपलम्भात्। यदि हि किंचिन्निमित्तमुपलभेमहि, ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयेमहि, नतु संपादयामहे। तस्मात्स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामः, तथा प्रधानस्यापि स्यादिति। अत्रोच्यते—भवेत्तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामः, यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत, न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः। कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः? अन्यत्राभावात्। धेन्वैवह्युपभुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनडुहाद्युपभुक्तं वा। यदि हि निर्निमित्तमेतत्स्याद्धेनुशरीरसंबन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरीभवेत्। नच यथाकामं मानुषैर्न शक्यं संपादयितुमित्येतावता निर्निमित्तं भवति। भवति हि किंचित्कार्यं मानुषसंपाद्यं किञ्चिद्दैवसंपाद्यम्। मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयितुम्। प्रभूतं हि क्षीरं कामयमानाः प्रभूतं घासं धेनुं

और न निवर्तक है, इसलिए प्रधान अनपेक्ष है, अनपेक्ष होनेसे कभी प्रधान महदादि आकारसे परिणत होगा और कभी न होगा, यह अयुक्त है। ईश्वरको तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और महामायामय होनेसे प्रवृत्ति और निवृत्तिमें विरोध नहीं है ॥ ४ ॥

पूर्वपक्षी—यह ठीक है, परन्तु जैसे तृण, पल्लव, उदक आदि अन्य निमित्तकी अपेक्षा किए बिना स्वभावसे ही क्षीर आदि रूपमें परिणत होते हैं, वैसे प्रधान भी महदादिरूपमें परिणत हो जायगा। परन्तु यह कैसे ज्ञात हो कि तृण आदि निमित्तान्तरकी अपेक्षा नहीं रखते? इससे कि अन्य निमित्त उपलब्ध नहीं होता। यदि हम अन्य कोई निमित्त उपलब्ध करते तो हम उससे इच्छानुसार तृण आदि लेकर दूधका संपादन करते, किन्तु हम संपादन नहीं कर सकते, इसलिए तृणादिका परिणाम स्वाभाविक है, उसी प्रकार प्रधानका भी परिणाम हो।

सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—यदि तृण आदिका स्वाभाविक परिणाम स्वीकार किया जाता तो तृण आदिके समान प्रधानका भी स्वाभाविक परिणाम होता। परन्तु तृणादिका स्वाभाविक परिणाम स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि अन्य निमित्तकी उपलब्धि है। अन्य निमित्तकी किसप्रकार उपलब्धि है? कारण कि अन्यत्र अभाव है। क्योंकि धेनुसे ही उपभुक्त तृण आदि क्षीर होता है, नष्ट हुआ अथवा बैल आदिसे खाया गया तृणादि क्षीर नहीं होता। यदि विना निमित्तके भी यह हो जाय, तो धेनु शरीरके सम्बन्धसे अन्यत्र भी तृणादि दूध हो जाय। मनुष्य अपनी इच्छा अनुसार उसे संपादन करनेमें समर्थ नहीं हैं इतने मात्रसे यह निर्निमित्त नहीं होता, क्योंकि कोई कार्य मनुष्य संपाद्य है और कोई कार्य दैव सम्पाद्य है। मनुष्य भी उचित उपायसे तृण आदि लेकर दूधके संपादन करनेमें समर्थ होते हैं, पुष्कल दूध चाहने वाले पुरुष गौको पुष्कल घास खिलाते हैं, उससे पुष्कल

चारयन्ति । ततश्च प्रभूतं क्षीरं लभन्ते । तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः ।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

पदच्छेद – अभ्युपगमे, अपि, अर्थाभावात् ।

सूत्रार्थ—(अभ्युपगमेऽपि) प्रधानकी स्वतः प्रवृत्ति मानने पर भी (अर्थाभावात्) प्रयो कोई प्रयोजन न होनेसे दोष तदवस्थ ही है ।

* स्वभाविकी प्रधानप्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम् । तथापि नाम भवतः श्र रुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम, तथापि दोषोऽनुषज्येतैव । कु अर्थाभावात् । यदि तावत्स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्येत यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते -इत्यतः प्रधानं पुरुष साधयितुं प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । स यदि ब्रूयात्–सहकार्येव केवलं नापेक्षते न जनमपीति, तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्यादपवर्गो वोभयं वे भोगश्चेत्कीदृशः ? अनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत् । अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च । अप श्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात् । शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च । उ र्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव । * न चौ निवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः । नहि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं संभवति । नच पुरुषस्य निर्मलस्य नि

दूध प्राप्त करते हैं । इसलिए तृण आदिके समान प्रधानका परिणाम स्वाभाविक नहीं है ॥५॥

प्रधानकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं होती यह सिद्ध किया गया, परन्तु आपकी श्रद्धाके अ हम प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मान भी लें, तो भी दोष प्रसक्त ही है । क्योंकि प्रयोजनका है । यदि कहो कि प्रधानकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, तो जिस प्रधानको किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार किसी प्रयोजनकी भी अपेक्षा नहीं होगी, तो प्रधान पुरुषके भोग तथा मोक्ष रूप अर्थके सिद्ध करनेके लिए प्रवृत्त होता है । इस प्रतिज्ञा होगी । यदि वह ऐसा कहे कि प्रधान केवल सहकारीकी अपेक्षा नहीं रखता, इससे प्रयोजन अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा नहीं, प्रयोजनकी अपेक्षा तो रखता है । तो भी प्रधान प्रवृत्तिके प्र विवेचन करना चाहिए कि भोग वा मोक्ष अथवा दोनों प्रवृत्तिके प्रयोजन हैं ? यदि भोग है तो आदि आधान अतिशयसे रहित पुरुषका भोग किस प्रकार होगा ? और मोक्षाभाव प्रसंग भी यदि मोक्ष प्रयोजन है तो प्रवृत्तिके पूर्व भी मोक्षके सिद्ध होनेसे प्रवृत्ति निष्फल होगी। और शब्द की अनुपलब्धिका प्रसंग आ जायगा । दोनों प्रयोजन माननेपर भी भोगके योग्य प्रधान तन्मात्र अनन्त होनेसे मोक्षके अभावका प्रसङ्ग ही है । उत्सुकताकी निवृत्तिके लिए भी प्रवृत्ति नहीं है, अचेतन प्रधानमें उत्सुकताका संभव नहीं है, एवं निर्मल, निष्कल पुरुषमें भी उत्सुकता नहीं हो

सत्यानन्दी दीपिका

* उपर्युक्त तीनों विकल्पोंमें केवल मोक्षके लिए प्रवृत्त हुआ प्रधान भोगका संपादन नहीं सकेगा, इससे शब्द आदिकी उपब्धिका अभाव होगा । यदि दोनों प्रयोजन मानें तो प्रधानकी अप्रवृत्तिसे ही मोक्ष सिद्ध है, शेष भोगके लिए प्रवृत्त होगा, वह तो एक वार शब्दादि की होनेसे ही सिद्ध हो जाता है । प्रधान पुनः पुनः भोगके लिए प्रवृत्त होता है तब तो भोग अनन्त होनेसे कभी समाप्त ही नहीं होंगे, इससे पुनः मोक्षका अभाव होगा ।

* 'औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः । पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्' (सां०का०१८) (जैसे उत्सुकताकी निवृत्तिके लिए लोग क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही पुरुषके

स्यौत्सुक्यम् । दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिस्तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्सर्गशक्त्यनुच्छेदात्संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव । तस्मात्प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम् ॥६॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥७॥

पदच्छेद—पुरुषाश्मवत्, इति, चेत्, तथापि ।

सूत्रार्थ—(पुरुषाश्मवत्) अन्ध और पंगु पुरुषके समान अथवा लोहचुम्बकके समान पुरुष प्रधानका प्रवर्तक है, (इति चेत्) ऐसा यदि कहो (तथापि) तो भी दोषकी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

स्यादेतत्–यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिसंपन्नः प्रवृत्तिशक्तिविहीनः पङ्गुरपरं पुरुषं प्रवृत्तिशक्तिसंपन्नं दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति । यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा स्वयमप्रवर्तमानोऽप्ययः प्रवर्तयति । एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति दृष्टान्तप्रत्ययेन पुनः प्रत्यवस्थानम् । अत्रोच्यते—तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति । अभ्युपेतहानं तावद्दोष आपतति, प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात् । कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत् ? पङ्गुरपि ह्यन्धं वागादिभिः पुरुषं प्रवर्तयति । नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च । नाप्ययस्कान्तवत्संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत् । संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात् । अयस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चास्यास्तीत्यनुपन्यासः पुरुषाश्मवदिति । * तथा प्रधानस्याचैतन्यात्पुरुषस्य

पुरुषमें दृक्शक्ति और प्रधानमें सर्गशक्तिकी व्यर्थताके भयसे यदि प्रवृत्ति स्वीकार है, तो दृकशक्तिके अनुच्छेद (नित्य) के समान सर्गशक्ति के अनुच्छेद होनेसे संसारका अनुच्छेद होनेके कारण मोक्षाभाव प्रसङ्ग होगा, इसलिए प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके प्रयोजनके लिए है यह अयुक्त है ॥ ६ ॥

पूर्वपक्षी—ऐसा हो, परन्तु जैसे दृक्शक्ति सम्पन्न किन्तु प्रवृत्ति-गमन शक्ति रहित कोई पंगुपुरुष प्रवृत्तिशक्ति सम्पन्न किन्तु दृकशक्ति विहीन अन्य अन्धपुरुषको कन्धेपर बैठकर प्रवृत्त करता है अथवा जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं अप्रवृत्त होती हुई भी लोहको प्रवृत्त करती है । वैसे पुरुष प्रधानको प्रवृत्त करेगा, इसप्रकार दृष्टान्तबलसे पुनः सांख्य खड़ा होता (शंका करता) है । सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं–तो भी दोषसे मुक्ति नहीं है, क्योंकि स्वीकृत सिद्धान्तकी हानि दोष आ पड़ता है, कारण कि प्रधानकी स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्ति स्वीकारकी गई है और पुरुषको प्रवर्तक स्वीकार नहीं किया गया है, तो ऐसी अवस्थामें उदासीन पुरुष प्रधानको कैसे प्रवृत्त करेगा ? पंगुपुरुष भी अन्धपुरुषको वाणी आदिसे प्रवृत्त करता है । परन्तु इसप्रकार पुरुषमें कोई भी प्रवृत्तिजनक व्यापार नहीं है, क्योंकि वह निष्क्रिय और निर्गुण है । अयस्कान्तमणिके समान संनिधि मात्रसे भी प्रवृत्त नहीं कर सकता क्योंकि संनिधिके नित्य होनेसे प्रवृत्तिमें भी नित्यता प्रसक्त होगी, और अयस्कान्तमणिकी अनित्य संनिधि होनेसे उसका अपना व्यापार संनिधि [भी अनित्य] है । उसको परिमार्जन (सन्मुख सीधा रखना) आदिकी अपेक्षा है, इससे 'पुरुषाश्मवत्' (पुरुष और अश्मके समान) यह सम दृष्टान्तका उपन्यास नहीं है । उसीप्रकार प्रधानको अचेतन और पुरुषको उदासीन होनेके कारण दोनोंका सम्बन्ध करानेवाले

सत्यानन्दी दीपिका

के लिए प्रधान प्रवृत्त होता है) इस प्रकारकी उत्सुकता अचेतन प्रधान और निर्मल चेतन पुरुषमें संभव नहीं है । इसलिए प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके प्रयोजनके लिए है, यह सर्वथा अयुक्त है ॥ ६ ॥

* प्रधान अचेतन है, अतः उसमें दृश्यरूप योग्यता है और पुरुष चेतन है, इसलिए उसमें द्रष्टृरूप योग्यता है । इसप्रकार दोनोंकी योग्यता निमित्तक सम्बन्ध मानें तो योग्यताके नित्य होनेसे मोक्षाभाव प्रसंग है । जैसे प्रधानके स्वतन्त्र प्रवृत्ति पक्षमें भोग, अपवर्ग अथवा दोनों प्रवृत्तिके

चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात्संबन्धानुपपत्तिः। योग्यतानिमित्ते संबन्धे योग्यात्वानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः। परमा नस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यम्, मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः ॥७॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

पदच्छेद—अङ्गित्वानुपपत्तेः, च।

सूत्रार्थ—गुणोंके अङ्गाङ्गिभावकी अनुपपत्ति होनेसे भी प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती

* इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते। यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुणप्रधान भावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था। तस्यामवस्थायामनपेक्षस्व पाणां स्वरूपप्रणाशभयात्परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः। बाह्यस्य च कस्यचित्क्षोभयि भावाद्गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात् ॥८॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

पदच्छेद—अन्यथा, अनुमितौ, च, ज्ञशक्तिवियोगात्।

सूत्रार्थ—हम अनपेक्ष गुणोंका अनुमान नहीं करते, किन्तु (अन्यथानुमितौ) प्रकारा परस्पर सापेक्ष गुणोंका अनुमान करते हैं। जिससे पूर्वोक्त दोष प्रसक्त न हो। यह ठीक नहीं (ज्ञशक्तिवियोगात्) क्योंकि ऐसा माननेपर भी गुणोंमें ज्ञानशक्तिके न होनेसे स्वयं साम्याव च्युति न होनेके कारण परस्पर अंगांगिभाव नहीं हो सकता, इससे महद् आदिका अनुत्प तदवस्थ ही है।

अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे—यथा नायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत। न ह्य पेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्चास्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते, प्रमाणाभावात्। कार्यवशेन तु गुण स्वभावोऽभ्युपगम्यते। यथा यथा कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्य

तीसरेके अभाव होनेसे सम्बन्धकी अनुपपत्ति होगी, उनकी योग्यता निमित्तक सम्बन्ध स्वीकार तो योग्यताके अनुच्छेद-नित्य होनेसे मोक्षाभाव प्रसंग है। पूर्वके समान यहां भी प्रयोजन (और मोक्ष) के अभावका विकल्प करना चाहिए। परमात्मा तो स्वरूप व्यपाश्रयसे उदासीन मायाके आश्रयसे प्रवर्तक है। इसप्रकार अतिशय (विशेष) है ॥ ७ ॥

और इस हेतुसे भी प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सत्त्व, रज और तमकी गुण प्रधानभावको छोड़कर समभावसे केवल स्वरूपमात्रसे अवस्थिति वह प्रधानावस्था है। साम्यावस्थामें एक दूसरेके स्वरूपकी अपेक्षासे रहित सत्त्व आदि गुणोंके अपने-अपने स्वरू होनेके भयसे परस्परके प्रति अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता और उनमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले बाह्य पदार्थके न होनेसे गुणोंकी विषमता निमित्तक महद् आदिकी उत्पत्ति नहीं होगी ॥ ८ ॥

पूर्वपक्षी—ऐसा हो, परन्तु हम अन्य प्रकारसे अनुमान करते हैं, जिससे यह पूर्वोक्त प्रसक्त न हो। हम गुणोंको निरपेक्ष स्वभाव तथा कूटस्थ स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ऐसा मा कोई प्रमाण नहीं है। कार्यके अनुसार गुणोंका स्वभाव स्वीकार किया जाता है। जैसे जैसे का

सत्यानन्दी दीपिका

प्रयोजन हैं, ऐसा विकल्पकर दूषित किया गया है, वैसे पुरुषके अधीन प्रधानकी प्रवृत्ति प इसप्रकार प्रयोजन विषयक विकल्पकर दूषित करना चाहिए। सांख्य मतमें उदासीनत्व और प्र दोनों सत्य हैं, अतः एकपुरुषमें दोनोंका होना विरुद्ध है। परन्तु वेदान्त सिद्धान्तमें तो परमा उदासीनत्व पारमार्थिक है और प्रवर्तकत्व मायासे कल्पित है ॥ ७ ॥

चलं गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः। तस्मात्साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव गुणा अवतिष्ठन्त इति। एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव। ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत। चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात्। वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणाः साम्यावस्थायां निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन्। भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात्सर्वदैव वैषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः ॥९॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

पदच्छेद - विप्रतिषेधात्, च, असमञ्जसम्।

सूत्रार्थ—(च) और (विप्रतिषेधात्) सांख्य लोग कहीं महद्से तन्मात्राओंकी उत्पत्ति मानते हैं तो कहीं अहंकारसे, इसप्रकार परस्पर विरुद्ध होनेसे (असमञ्जसम्) सांख्य मत असंगत है।

* परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। क्वचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश। तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहंकारात्। तथा क्वचित्त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति, क्वचिदेकमिति। प्रसिद्ध एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या। तस्मादप्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति। अत्राह—नन्वौपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनम्, तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावानभ्युपगमात्। एकं हि ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छतामेकस्यैवात्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभूता-

---

उत्पत्ति उपपन्न होती है वैसे वैसे इनका स्वभाव माना जाता है। गुणोंका स्वभाव चलरूप है, ऐसा हमारा स्वीकार-सिद्धान्त है, इसलिए साम्यावस्थामें भी गुण वैषम्य प्राप्तिके योग्य ही रहते हैं। सिद्धान्ती—ऐसा अनुमान करनेपर भी प्रधानमें ज्ञानशक्तिका अभाव होनेसे रचना अनुपपत्ति आदि पूर्वोक्त दोष ज्योंके त्यों हैं। उन दोषोंके परिहारके लिए यदि सांख्य प्रधानमें ज्ञानशक्तिका भी अनुमान करे, तो वह प्रतिपक्षितासे ही निवृत्त हो जायगा, क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपञ्चरूप जगत्का उपादान कारण है, इस ब्रह्मवादका प्रसंग होगा। वैषम्य प्राप्तिके योग्य भी गुण साम्यावस्थामें निमित्तके न होनेसे वैषम्यको नहीं प्राप्त होंगे। यदि वे निमित्तके विना भी विषमताको प्राप्त करने वाले होंगे तो निमित्तका अभाव समान होनेसे सर्वदा ही विषमताको प्राप्त होते रहेंगे, इसप्रकार पूर्वोक्त दोष (कार्यकी अनुत्पत्ति) प्रसक्त ही है ॥ ९ ॥

सांख्योंका यह स्वीकार परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि वे कहीं सात इन्द्रियाँ (मन, त्वक् और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) कहते हैं, कहीं ग्यारह (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन), एवं कहीं महत्से तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की उत्पत्तिका उपदेश करते हैं, तो कहीं अहंकारसे। और कहीं अन्तःकरण तीन (मन, बुद्धि और अहंकार) वर्णन करते हैं और कहीं एक (बुद्धि)। ईश्वरको जगत्का कारण कहनेवाली श्रुति और उसकी अनुवर्तिनी स्मृतिसे विरोध तो प्रसिद्ध ही है, इससे भी सांख्योंका दर्शन असंगत है। पूर्वपक्षी—इस पर कहता है—वेदान्तियोंका दर्शन भी असंगत ही है, क्योंकि उसमें तप्य (दुःख भोक्ता जीव) और तापक (दुःखप्रद संसार) का भेद स्वीकार नहीं किया गया है। वेदान्तमें एक ही ब्रह्म सर्वात्मक है और सम्पूर्ण प्रपञ्चका कारण है, ऐसा स्वीकार करनेवालोंको तप्य और तापक एक ही आत्माके विशेष हैं इससे वे भिन्न नहीं है ऐसा

सत्यानन्दी दीपिका

* पू०—वेदान्तमें एक आत्माके ही विशेष होनेसे तप्य-तापकका भेद न मानने पर लोक प्रसिद्ध तप्य तापकभाव ही लुप्त हो जायगा। 'तपि' धातु सकर्मक है, इसलिए तप्य (कर्म) से तापक

वित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात्। यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां, स
तप्यतापकाभ्यां न निर्मुच्येत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं
न ह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते। ॐ योऽपि
तरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भाव
भावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो वीच्यादिभिरनिर्मोक्षः। प्रसिद्धश्चायं तप्य
कयोर्जात्यन्तरभावो लोके। तथा हि—अर्थी चार्थश्चान्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते। यद्यर्थिनः
ऽन्योऽर्थो न स्यात्, यस्यार्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्यार्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य
मर्थित्वं स्यात्, यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशाख्योऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति न
तद्विषयमर्थित्वं भवति। अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति। ॐ तथार्थस्याप्यर्थत्वं न
यदि स्यात्स्वार्थत्वमेव स्यात्। न चैतदस्ति, संबन्धिशब्दौ ह्येतावर्थी चार्थश्चेति।
संबन्धिनोः संबन्धः स्यान्नैकस्यैव तस्माद्भिन्नावेतावर्थार्थिनौ। तथानर्थानर्थिनावपि।
नोऽनुकूलोऽर्थः प्रतिकूलोऽनर्थस्ताभ्यामेकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यते। तत्रार्थस्याल्पीय
भूयस्त्वाच्चानर्थस्योभावप्यर्थानर्थावनर्थ एवेति तापकः स उच्यते। तप्यस्तु पुरुषो य

मानना पड़ेगा। यदि ये तप्य और तापक एक ही आत्माके विशेष हैं तो वह इन तप्य, तापक
नहीं हो सकता, तब तो तापकी निवृत्तिके लिए तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेवाला उपनिषद् शास्त्र
हो जायगा। उष्णता और प्रकाश धर्मसे युक्त प्रदीप है, उनसे युक्त दीपक उनसे मुक्त नहीं हो
और जो जलके तरङ्ग, लहर, फेन आदिका उपन्यास है, उसमें भी एक ही जल स्वरूपके तरङ्ग
विशेष कभी प्रकट और कभी विलीनरूपसे नित्य ही हैं, इसलिए जल स्वरूपको तरङ्ग आदि
न होना समान ही है। परन्तु तप्य तापकका यह पृथक्त्व लोकमें प्रसिद्ध है। वैसे ही अर्थ और
परस्पर भिन्न लक्षित होते हैं। यदि अर्थीसे स्वतः अन्य अर्थ न हो तो जिस अर्थीका जिस
अर्थित्व है, उसके लिए वह अर्थ नित्यसिद्ध ही है, इससे उसका तद्विषयक अर्थित्व नहीं होगा।
प्रकाशरूप दीपकका प्रकाश नामक अर्थ नित्य सिद्ध ही है, इसलिए उसका तद्विषयक अर्थित्व
होता, क्योंकि अप्राप्त अर्थमें ही अर्थीका अर्थित्व होता है। इसी प्रकार अर्थका भी अर्थत्व
यदि हो तो स्वके लिए ही होगा, परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि ये अर्थी और अर्थ सम्बन्धिश
दो संबन्धियोंका सम्बन्ध होता है एकका नहीं, इसलिए ये दोनों अर्थ और अर्थी भिन्न हैं।
और अनर्थी भी भिन्न हैं। अर्थीके अनुकूल अर्थ और प्रतिकूल अनर्थ होता है। एकका उन
साथ क्रमसे सम्बन्ध होता है। उनमें अर्थके अल्प और अनर्थके अधिक होनेसे अर्थ और अनर्थ

सत्यानन्दी दीपिका

(कर्ता) भिन्न होना चाहिए। 'तप्यः तापकादन्यः कर्मत्वात् नगरवत्।' 'तप्य तापकसे भिन्न है,
वह कर्म है जैसे नगर' तो क्या वे तप्य तापक दोनों आत्माके स्वरूप हैं अथवा धर्म? यदि स्वरूप
उनसे आत्मा कभी मुक्त नहीं होगा, इससे उसकी निवृत्तिके लिए तत्त्वज्ञानका प्रतिपादक उपनिषद्
व्यर्थ सिद्ध होगा। यदि धर्म हैं तो वे स्वरूपके अन्तर्भूत हैं वा बहिर्भूत? प्रथम पक्षमें भी दीपक
स्वरूपगतधर्म उष्णता और प्रकाशसे मुक्त नहीं होता, इस प्रकार आत्मा भी तप्य-तापकसे मुक्त नहीं

ॐ दूसरा विकल्प—इसमें जो जल और तरङ्ग आदिका उपन्यास है उसमें भी यह देखा
कि जल अपने धर्म तरङ्ग आदिके आविर्भाव और तिरोभावसे कभी मुक्त नहीं होता, उसी प्रकार
भी अपने बाह्य धर्म तप्य और तापकके आविर्भाव तिरोभावसे कभी मुक्त नहीं होगा। तप्य
आत्मासे भेद अथवा अभेद माननेपर भी दोष है। भेद माननेसे अभेद सिद्धान्तकी हानि और
माननेसे लोक प्रसिद्धिसे विरोध है, क्योंकि लोकमें तप्य तापक अर्थी और अर्थका भेद व्यवहार

पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः। जात्यन्तरभावे तु तत्संयोगहेतुपरिहारात्स्यादपि कदाचिन्मोक्षोपपत्तिरिति। ❀ अत्रोच्यते—न, एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः। भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम्। न त्वेतदस्ति, एकत्वादेव। न ह्यग्निरेकः सन्स्वमात्मानं दहति प्रकाशयति वा सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च। किं कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः संभवेत्? क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति? उच्यते—किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवद्देहस्तप्यस्तापकः सवितेति? ननु तप्तिर्नाम दुःखम्, सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य। यदि हि देहस्यैव तप्तिः स्यात्सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति। उच्यते—देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा। न च त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते। नापि देहचेतनयोः संहतत्वम्, अशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात्। न च तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि। कथं तवापि तप्यतापकभावः? सत्त्वं तप्यं तापकं रज

नर्थ ही हैं, इससे वह तापक कहा जाता है। जो एक क्रमसे दोनोंके साथ सम्बद्ध होता है वह पुरुष है। उन तप्य और तापकके एकरूप होनेपर मोक्षकी उपपत्ति नहीं होगी। यदि उनमें भेद हो तो उनके संयोगके हेतुका परिहार होनेसे कदाचित् मोक्ष भी हो सकता है। सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं, क्योंकि परमार्थमें एकत्व होनेसे तप्य तापकभाव ही नहीं हो सकता। यह दोष होता यदि एकरूपमें तप्य और तापक परस्पर विषयविषयिभावको प्राप्त होते, परन्तु यहाँ एकत्व होनेसे ऐसा नहीं है। एक अग्नि यद्यपि उष्णता, प्रकाश आदि भिन्न धर्मोंसे युक्त और परिणामशील है, तो भी वह अपनेको जालाती या प्रकाशित नहीं करती, तो फिर एक कूटस्थ ब्रह्ममें तप्यतापकभाव कैसे संभव होगा? पुनः यह तप्यतापकभाव कहाँ होगा? कहते हैं—क्या नहीं देखता कि कर्मरूप जीवित देह तप्य है और सूर्य तापक। परन्तु तप्ति नाम दुःखका है वह चेतनको होता है अचेतन देहकी नहीं, यदि देहको ही दुःख होता तो वह देहके नाश होनेपर स्वयं ही नष्ट हो जाताहै, उसके नाश करनेके लिए साधनोंकी खोज नहीं करनी चाहिए। कहते हैं—देहके अभावमें केवल चेतनको दुःख नहीं देखा जाता। यह तुमको भी इष्ट नहीं है कि तप्ति क्रिया केवल चेतनको है। अशुद्धि आदि दोषोंके प्रसङ्ग होनेसे देह और चेतनका संघात भी तुमको इष्ट नहीं है, और तापको ताप होना भी तुम स्वीकार नहीं करता, तो तुम्हारे मतमें तप्यतापकभाव किस प्रकार सिद्ध होगा? यदि कहो कि सत्त्वगुण तप्य है

सत्यानन्दी दीपिका

* इस प्रकार अद्वैतमतमें मुक्तिकी अनुपपत्ति दिखलाकर सांख्य अब अपने मतमें 'जात्यन्तरे तु' इत्यादिसे मुक्तिकी उपपत्ति दिखलाते हैं—दृक्शक्ति पुरुषका जो बुद्धिके साथ स्वस्वामिभाव सम्बंध है वह न्धका कारण है, उसका कारण अविवेक है, उसकी निवृत्ति विवेकख्याति (जड़ और चेतनके भेद ज्ञान) से होती है, उसकी निवृत्तिसे सम्बन्ध निवृत्त और सम्बन्ध निवृत्तिसे तापकी निवृत्ति हो जाती है, इस प्रकार पुरुषकी मुक्ति हो जाती है। इस विषयमें पञ्चशिखाचार्यने कहा भी है—'तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतिकारः' (बुद्धि और पुरुषके स्वस्वामिभाव सम्बन्धके हेतु अविवेकके निवृत्त होनेसे यह आत्यन्तिक दुःखका प्रतिकार (निवृत्ति) होता है) वस्तुतः असंग पुरुषमें बन्ध मोक्ष नहीं है ये तो चित्प्रतिबिम्बित बुद्धिके धर्म हैं, केवल पुरुषमें उपचारसे कहे जाते है, जैसे गमें जय-पराजयका गौण व्यवहार होता है। 'सैव च बध्यते मुच्यते च' (वह बुद्धि ही बद्ध और मुक्त होती है) इस प्रकार हमारे मतमें मोक्षसिद्ध हो सकता है।

* यहाँ सांख्यसे पूँछना चाहिए कि ताप केवल चेतनको है अथवा देहके साथ तादात्म्यापन्न चेतनको है वा तापको ही तप्ति है अथवा सत्त्वगुणको ताप है? क्रमशः सबको 'उच्यते' आदिसे कहते हैं।

इति चेत्—न, ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः । सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इ चेत्- ·परमार्थतस्तर्हि नैव तप्यत इत्यापतति, इवशब्दप्रयोगात् । न चेत्तप्यते नैव दोषाय । नहि डुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविषो भवति । सर्पो वा डुण्डुभ इवेत्येता निर्विषो भवति । अतश्चाविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्यमि नैवं सति ममापि किंचिद्दुष्यति । अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगम्ये तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य । * तप्यतापकशक्त्योर्नि ऽपि सनिमित्तसंयोगापेक्षत्वात्तप्तेः संयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोगोपरमः श्चात्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत्—न, अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात् । गु चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याप्यनियतत्वा ख्यस्यैवानिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात् । औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्य च वि विषयिभावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि जायते । व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्यः हर्तव्यो वा भवति ॥१०॥

(२ महद्दीर्घाधिकरणम् सू० ११)

प्रधानकारणवादो निराकृतः । परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः । त

रजोगुण तापक है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि उनके साथ चेतनका संहतत्व नहीं हो सकता । कहो कि सत्त्व (बुद्धि) के अनुसारी होनेसे चेतन भी तपता-सा दुःख भोगता-सा है, तो परमा दुःखी नहीं होता, क्योंकि इव शब्दके प्रयोग होनेसे ऐसा ही प्राप्त होता है । यदि परमार्थसे चे नहीं होता तो इव शब्द दोषके लिए नहीं होता । डुण्डुभ साँप-सा होता है ऐसा कहनेमात्रसे विषयुक्त नहीं हो जाता, एवं सर्प डुण्डुभ-सा होता है इतने कथन मात्रसे सर्प विषरहित न जाता । इसलिए यह तप्यतापकभाव अविद्याकृत है, पारमार्थिक नहीं है, ऐसा स्वीकार करना चा ऐसा माननेपर हमारे पक्षमें भी कोई दोष नहीं है । यदि चेतनको पारमार्थिक ही तप्य तुम्हारे मतमें ही सुतरां मोक्षाभाव प्रसक्त होगा, क्योंकि तुम्हारे सिद्धान्तमें तापक (रजोगुण स्वीकार किया गया है । यदि कहो कि तप्य और तापककी शक्तियोंके नित्य होनेपर भी ता सहित संयोगकी अपेक्षा रखता है, इससे संयोगके निमित्त-अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेसे संयोग आ उपरत हो जाता है, उससे आत्यन्तिक मोक्ष उपपन्न होता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अ तमोगुण नित्य स्वीकार किया गया है । गुणोंका उद्भव और अभिभव (लय) अनियत होनेसे निमित्तका उपरम भी अनियत है, इस प्रकार उनका वियोग भी अनियत होनेसे सांख्यके मोक्षाभाव अपरिहार्य है । वेदान्तमें तो आत्मैकत्व स्वीकार होनेसे एकमें विषयविषयिभाव न सकता । विकारभेद तो वाचारम्भण मात्र है । ऐसी श्रुति होनेसे मोक्षाभावकी शङ्का तो स्व उत्पन्न नहीं होती । परन्तु व्यवहारमें तो जहाँ जैसा तप्यतापकभाव देखा गया है वह वहाँ वैसा इसलिए इसके विषयमें शंका करना अथवा परिहार करना योग्य नहीं है ॥ १० ॥

प्रधान कारणवादका निराकरण किया गया । अब परमाणु कारणवादका निराकरण चाहिए । इस विषयमें पहले परमाणु कारणवादीने ब्रह्मवादीपर जो दोष लगाया है उसका

सत्यानन्दी दीपिका

* 'चलं गुणवृत्तम्' (गुणोंका स्वभाव चल है) इसलिए संयोगके समान वियोग अनि अतः सांख्यमतमें ही मोक्षाभाव प्रसंग होगा । हमारे मतमें तो कल्पित द्वैतको लेकर लो तप्यतापकभाव स्वीकार करते हैं । अतः वेदान्तसमन्वय विरुद्ध नहीं है ॥ १० ॥

तावद्योऽणुवादिना ब्रह्मवादिनि दोष उत्प्रेक्ष्यते स प्रतिसमाधीयते। तत्रायं वैशेषिकाणामभ्युपगम—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात्तद्विपर्ययादर्शनाच्च। तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात्। तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हतीति। इममभ्युपगमं तदीययैव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

पदच्छेद—महद्दीर्घवत्, वा, ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्।

सूत्रार्थ—(ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्) ह्रस्व द्व्यणुक और परमाणुसे (महद्दीर्घवद्वा) महत् और दीर्घ उत्पन्न होते हैं, वैसे चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगत् उत्पन्न होता है।

* एषा तेषां प्रक्रिया—परमाणवः किल कंचित्कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति। ते च पश्चाददृष्टादिपुरःसराः संयोगसचिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यजातमारभन्ते। कारणगुणाश्च कार्ये गुणान्तरम्। यदा द्वौ परमाणू द्व्यणुकमारभेते तदा परमाणुगता रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्व्यणुके शुक्लादीनपरानारभन्ते। परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, द्व्यणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात्। अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्व्यणुकवर्तिनी

माधान किया जाता है। उसमें वैशेषिकोंका यह सिद्धान्त है कि कारण द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे द्यमान गुण कार्य द्रव्यमें समान जातीय अन्य गुणको आरम्भ करते हैं, जैसे शुक्लतन्तुओंसे शुक्ल टका प्रसव देखनेमें आता है, उसके विपर्यय देखनेमें नहीं आता, इसलिए चेतन ब्रह्मको जगत्का रण स्वीकार करनेपर कार्य जगत्में भी चेतनता सम्बन्धित होनी चाहिए। परन्तु उसके दर्शन न नेसे चेतन ब्रह्म जगत्का कारण नहीं हो सकता। उनके इस सिद्धान्तको उन्हींकी प्रक्रियासे भिचरित करते हैं—

उनकी यह प्रक्रिया है—यथा योग रूपादि युक्त पारिमाण्डल्य परिमाण (अणुगत परिमाण) शिष्ट परमाणु कुछ काल पर्यन्त कार्यका आरम्भ किए विना रहते हैं, पश्चात् वे अदृष्ट आदि कारण क संयोग सहकारी युक्त होते हुए द्व्यणुक आदि क्रमसे सम्पूर्ण कार्य समूहका आरम्भ करते हैं। और कारणके गुण कार्यमें [समान जातीय] अन्य गुणोंका आरम्भ करते हैं। जब दो परमाणु णुकका आरम्भ करते हैं तब परमाणुगत शुक्लरूप आदि विशेष गुण द्व्यणुकमें अन्य शुक्ल आदिका रम्भ करते हैं। परन्तु परमाणुगत गुण विशेष पारिमाण्डल्य द्व्यणुकमें अन्य पारिमाण्डल्यका रम्भ नहीं करता, क्योंकि द्व्यणुकमें अन्य परिमाणका सम्बन्ध माना गया है। द्व्यणुकवर्ती परिमाणको अणुत्व और ह्रस्वत्व वर्णन करते हैं। परन्तु जब भी दो द्व्यणुक चतुरणुकका आरम्भ करते

सत्यानन्दी दीपिका

* चेतन ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्तिका प्रतिपादक वेदान्तसमन्वय इस अधिकरणका विषय है। यदि 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० सू० २।२।४) इस सूत्रमें चेतनसे अचेतनकी सृष्टि कही गई है, तो भी वैशेषिक न्यायका व्यभिचार उसकी प्रक्रियासे सिद्ध करना इस सूत्रका प्रयोजन है। यह उनकी क्रिया है—प्रलयमें परमाणु निश्चल और असंयुक्त रहते हैं। सृष्टिकालमें जीवोंके कर्मोंको लेकर जब ईश्वरको सृष्टि करनेकी इच्छा होती है तब परमाणुओंमें परस्पर संयुक्त होनेकी क्रिया उत्पन्न होती है। उससे दो परमाणुका संयोग होता है, जिससे द्व्यणुक उत्पन्न होता है, तीन द्व्यणुकके संयोगसे त्र्यणुक, चार द्व्यणुकके संयोगसे चतुरणुक उत्पन्न होता है। और कारणके गुण कार्यमें

परिमाणे वर्णयन्ति। यदापि द्वेद्व्यणुके चतुरणुकमारभेते, तदापि समानं द्व्यणुक
वायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम्। अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्व्यणुकसमवायिनी अपि नार
चतुरणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात्। यदापि बहवः परमाणवो बहू
द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते, तदापि समानैषा योजना।
यथा परमाणोः परिमण्डलात्सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते, महद्दीर्घं च त्र्यणु
न परिमण्डलम्, यथा वा द्व्यणुकादणोर्ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते
नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद्ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम्?
मन्यसे विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रान्तं कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि
गतानि पारिमाण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, नतु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण
आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नारभेत। न ह्यचेतना
चेतनाविरोधी कश्चिद्गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात्। तस्मात्पारिमाण्डल्यादि

हैं। तभी द्व्यणुकमें समवाय सम्बन्धसे विद्यमान शुक्ल आदि गुणोंको आरम्भकत्व समान है।
अणुत्व और ह्रस्वत्व द्व्यणुकमें समवाय सम्बन्धसे रहनेपर भी कार्यके आरम्भक नहीं होते हैं,
चतुरणुकका महत्त्व और दीर्घत्व परिमाणयोग माना गया है। परन्तु जब भी बहुत परमाणु
द्व्यणुक अथवा द्व्यणुक सहित परमाणु कार्य आरम्भ करते है तब भी यह योजना समान
तो इसप्रकार जैसे परिमण्डल परमाणुसे अणु और ह्रस्व द्व्यणुक उत्पन्न होता है तथा महत्
दीर्घ त्र्यणुक आदि उत्पन्न होते हैं परिमण्डल उत्पन्न नहीं होता, अथवा जिस प्रकार अणु और
द्व्यणुकसे महत् और दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न होता है, न अणु और न ह्रस्व। उसी प्रकार चेतन
अचेतन जगत् उत्पन्न हो जायगा, ऐसा स्वीकार करनेमें तुम्हारी क्या हानि है? यदि तुम ऐसा
कि द्व्यणुक आदि कार्यद्रव्य विरोधी अन्य परिमाणसे आक्रान्त हैं, इससे कारणगत पारिमाण्डल्य
आरम्भक नहीं होते, मैं ऐसा स्वीकार करता हूँ। परन्तु चेतनासे विरोधी अन्य गुणसे जगत्
नहीं है, जिससे कि कारणगत चेतना कार्यमें अन्य चेतनाका आरम्भ न करे, क्योंकि अचेतना
चेतनाका विरोधी कोई गुण नहीं है केवल चेतनाका अभाव मात्र है। इसलिए पारिमाण्डल्य

सत्यानन्दी दीपिका

समान जातीय अन्य गुणोंको उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार सम्पूर्ण कार्य जगत्की उत्पत्ति हो
परन्तु समवायिकारण परमाणु तथा द्व्यणुकका परिमाण क्रमसे द्व्यणुक, त्र्यणुक अथवा चतु
परिमाणको उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि कारणका परिमाण समानजातीय और उत्कृष्ट परि
उत्पन्न करता है। परमाणुको परिमण्डल और तद्गत परिमाणको पारिमाण्डल्य कहा
द्व्यणुका ह्रस्व और अणु परिमाण है। उनसे उत्पन्न कार्य परिमाण उत्कृष्ट होनेसे अणुतर
इससे त्र्यणुकका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण कि प्रत्यक्षमें उद्भूतरूप और महत्परिमाण
माने गये हैं। अतः द्व्यणुकसे उत्पन्न कार्य द्व्यणुकके ही समान होगा, स्थूल न होनेसे उसका
भी न होगा। इससे इसप्रकारकी सृष्टिका आरम्भ व्यर्थ सिद्ध होगा, इसलिए वैशेषिक सि
परमाणु और द्व्यणुक गत संख्याको कार्य परिमाणका आरम्भक माना गया है। जो पर
समुदायसे घट आदि कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतमें भी घटके परिमाणका परमाणु परि
आरम्भक माननेसे घटका प्रत्यक्ष ही न होगा, क्योंकि वह स्वयं अणुपरिमाण घटमें अणुतर परि
को उत्पन्न करेगा। दूसरी बात यह भी है कि अवयवी घटके ध्वस्त होनेसे उसके अवयव-टुकड़े
दीखने चाहिएँ, कारण कि वह घटके आरम्भक नहीं हैं, घटका आरम्भक परमाणु समुदाय है
अतीन्द्रिय है तो उसका कार्य घट भी अतीन्द्रिय ही होगा, इत्यादि दोष प्रसक्त होंगे।

प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वमिति । ❀ मैवं मंस्थाः, यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात् । नच परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणम्, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात्पारिमाण्डल्यादीनामारम्भकत्वोपपत्तेः, आरब्धमपि कार्यद्रव्यं प्राग्गुणारम्भात्क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युपगमात् । नच परिमाणान्तरारम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते, परिमाणान्तरस्यान्यहेतुत्वाभ्युपगमात् । 'कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७।१।९) 'तद्विपरीतमणु' (वै० सू० ७।१।१०) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (वै० सू० ७।१।१७) इति हि काणभुजानि सूत्राणि । नच संनिधानविशेषात्कुतश्चित्कारणबहुत्वादीन्येवारभन्ते न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वारभ्यमाणे सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवायाविशेषात् । तस्मात्स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वं, तथा चेतनाया अपीति द्रष्टव्यम् । ❀ संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात्समानजातीयोत्पत्तिव्यभिचारः । द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणमयुक्त-

---

वैधर्म्य (भिन्न) होनेके कारण चेतनामें आरम्भकत्व प्राप्त होता है । सिद्धान्ती—ऐसा मत समझो, क्योंकि जैसे कारणमें विद्यमान भी पारिमाण्डल्यादि अनारम्भक है, वैसे चैतन्य भी, इस अंशमें तो दोनों पक्ष समान है । पारिमाण्डल्यादिके अनारम्भकत्वमें अन्य परिमाणसे आक्रान्त होना कारण नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाण (अणुत्व और ह्रस्वत्व) के आरम्भके पूर्व पारिमाण्डल्यादि आरम्भक हो सकते हैं, कारण कि आरब्ध भी कार्यद्रव्य गुणोंके आरम्भके पूर्व क्षणमात्र गुण रहित रहता है, ऐसा स्वीकार किया गया है । पारिमाण्डल्यादि अन्य परिमाणके आरम्भमें व्यग्र हैं, इससे समानजातीय अन्य परिमाणका आरम्भ नहीं करते, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि परिमाणान्तरका अन्य हेतु (कारणगत संख्या) स्वीकार किया गया है, 'कारणबहुत्वात्० (कारणके बहुतसे, कारणके महत्त्वसे और अवयवोंके संयोग विशेष से महत् परिमाण उत्पन्न होता है) 'तद्विपरीतमणु० (उससे विपरीत अणु परिमाण उत्पन्न होता है) 'एतेन० (इससे दीर्घत्व और ह्रस्वत्वका व्याख्यान हुआ) ये कणादके सूत्र हैं । किसी संनिधान विशेषसे कारण बहुत्व आदि आरम्भक होते हैं पारिमाण्डल्यादि नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्य द्रव्य अथवा अन्य गुणके आरम्भ करनेमें सब कारण गुणोंका स्वाश्रय समवाय समान है, इसलिए स्वभावसे पारिमाण्डल्यादि अनारम्भक हैं, वैसे चेतना भी अनारम्भक है ऐसा समझना चाहिए । और इसीप्रकार संयोगसे विलक्षण द्रव्य आदिकी उत्पत्ति देखनेमें आती है, इससे समान जातीयोंकी उत्पत्तिमें व्यभिचार है । यदि कहो कि प्रकृत द्रव्यमें गुणका उदाहरण अयुक्त है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तसे केवल विलक्षण आरम्भमात्र विवक्षित

सत्यानन्दी दीपिका

* द्व्यणुक परिमाणका कारण परमाणुगत द्वित्वसंख्या है, इसलिए पारिमाण्डल्यादिके आरम्भक होनेमें कोई बाधक नहीं है । द्व्यणुक परिमाण आदिके विषयमें वैशेषिक दर्शनके सूत्र उद्धृत किये गये हैं । द्व्यणुकके बहुत संख्यासे त्र्यणुकमें महत्परिमाण उत्पन्न होता है, मृत्तिका कारणके महत्त्वसे घट आदिमें महत्त्व, दो रूईके पिण्डोंसे आरब्ध अतिस्थूल तूलपिण्डमें प्रचय-अवयवोंके शिथिलसंयोगविशेषसे महत्त्व उत्पन्न होता है और महत्त्वके विरुद्ध अणुत्व परमाणुगत द्वित्वसंख्यासे द्व्यणुकमें उत्पन्न होता है ।

* वैशेषिक लोग शरीरको पाँच भौतिक मानते हैं और चार्वाक लोग आकाशको भूत न मानकर केवल शून्य अवकाशात्मक मानते हैं, अतः उनके मतमें शरीर चार भूतोंका है । इसलिए वे 'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षणाम' इस सूत्रसे शंका करते हैं । यद्यपि यह सूत्र पूर्वपक्षका है तो भी कणादको द्रव्यके

मिति चेत्—न, दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात् । नच द्रव्यस्य द्रव्यमेवो हर्तव्यं गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति । सूत्रकारोऽपि भवतां द्रव्यस्य गुण जहार—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते' (वै० सू० ४।२।२) इति। प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्भूम्याकाशयोः समवयन्संयोगोऽप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चसु समवयच्छरीरमप्रत्यक्षं स्यात् । प्रत्यक्षं हि शरीरम् । तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति। भवति—गुणश्च संयोगो द्रव्यं शरीरम । 'दृश्यते तु' (ब्र० सू० २।१।६) इति चात्रापि विलक्ष त्पत्तिः प्रपञ्चिता । नन्वेवं सति तेनैवैतद्गतम् । नेति ब्रूमः, तत्सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतत्तु वैशे प्रति । नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः । 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' (सू० २।१।१२) इति । सत्यमेतत्, तस्यैव त्वयं वैशेपिकप्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुसा निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः ॥११॥

(३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम्, सू० १२-१७)

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

पदच्छेद—उभयथा, अपि, न, कर्म, अतः, तदभावः ।

सूत्रार्थ—(उभयथापि) दोनों प्रकारसे भी परमाणुमें (न कर्म) उत्पत्ति विषयक नहीं हो सकती, (अतः) (तदभावः) परमाणुसे द्वयणुक आदि क्रमसे सृष्टि नहीं हो सकती।

* इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति । स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठते—पटादी हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तन्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमा

है । द्रव्यका द्रव्य ही उदाहरण होना चाहिए अथवा गुणका गुण ही, इस नियममें कोई हेतु है । आपके सूत्रकारने भी द्रव्यका गुण उदाहरण दिया है—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणाम० (प्रत्यक्ष अप्रत्यक्षका संयोग प्रत्यक्ष न होनेसे शरीर पंचभूतात्मक नहीं है) जैसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष और आकाशमें समवाय सम्बन्धसे रहता हुआ संयोग अप्रत्यक्ष है, वैसे ही प्रत्यक्ष और अप्र पाँच भूतोंमें समवाय सम्बन्धसे रहता हुआ शरीर अप्रत्यक्ष होगा । परन्तु शरीर तो निश्चित प्रत्यक्ष इसलिए पाँच भौतिक नहीं है । तात्पर्य यह है कि संयोग गुण है और शरीर द्रव्य है । 'दृश्यते इस सूत्रमें भी विलक्षण उत्पत्तिका विस्तारसे वर्णन किया गया है । परन्तु ऐसा हो तो उससे ही सूत्र गतार्थ है । हम कहते हैं कि ऐसा नहीं है, वह सांख्यके प्रति कहा गया और यह सूत्र वैशे के प्रति कहा जाता है । परन्तु 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' (इससे शिष्टोंसे अपरिगृहीत भी प्रत्याख्यान समझना) इसप्रकार समान न्यायरूपसे अतिदेश भी किया गया है । यह सत्य परन्तु उसीका तो वैशेषिक प्रक्रियाके आरम्भमें उसकी प्रक्रियाके अनुसारी दृष्टान्तसे यह वि किया गया है ॥ ११ ॥

अब परमाणु कारणवादका निराकरण करते हैं—वह वाद इसप्रकार उपस्थित होता लोकमें पट आदि सावयव द्रव्य स्वानुगत संयोग सहकारी तन्तु आदि द्रव्योंसे उत्पन्न होते देखे

सत्यानन्दी दीपिका

विषयमें गुणका उदाहरण मान्य है। अतः भगवान् भाष्यकारने भी इस सूत्रको उदाहरणरूपसे दिया है इसलिए चेतन ब्रह्मसे भी अचेतन जगत् उत्पन्न हो जायगा और उसमें चेतनता उत्पन्न नहीं होगी॥

* ईश्वरसे अनधिष्ठित होनेसे प्रधान जगत्का कारण नहीं है, तो भी ईश्वरसे अधिष्ठित होते परमाणु जगत्के कारण हों, इसप्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे सांख्याधिकरणके अनन्तर इस अधि करणका आरम्भ है । द्वयणुक आदि क्रमसे परमाणु द्वारा यह समस्त भावात्मक कार्य जगत् उत्प

दृष्टानि। तत्सामान्येन यावत्किंचित्सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते। स चायमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः। सर्वं चेदं जगद्गिरिसमुद्रादिकं सावयवम्, सावयवत्वाच्चाद्यन्तवत्। न चाकारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः। तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते। तेषां चापकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभागासंभवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति, स प्रलयकालः। ततः सर्गकाले च वायवीयेष्वणुष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते, तत्कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति, ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते। एवमग्निरेवमाप एवं पृथिवी। एवमेव शरीरं सेन्द्रियमिति। एवं सर्वमिदं जगदणुभ्यः संभवति। अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि संभवन्ति तन्तुपटन्यायेनेति काणादा मन्यन्ते। तत्रेदमभिधीयते—विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात्। कर्मणश्च कार्यत्वान्निमित्तं किमप्यभ्युपगन्तव्यम्। अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा

है। इस सामान्य उदाहरणसे ज्ञात होता है कि जो कोई सावयव (अवयवी द्रव्य) है वह सब अपने अनुगत संयोग सहकारी युक्त तत् तत् द्रव्योंसे आरब्ध है। यह जो अवयवावयविविभाग जहांपर निवृत्त होता है वह न्यूनतम परिमाणको प्राप्त हुआ ही परमाणु है। पर्वत, समुद्र आदि यह सम्पूर्ण जगत् सावयव है, सावयव होनेसे आदि और अन्तवाला है। कार्य कारणके विना नहीं होना चाहिए, अतः परमाणु जगत्के कारण हैं, यह कणादका आशय-मत है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतोंको सावयव देखकर चार प्रकारके परमाणुओंकी कल्पनाकी जाती है, न्यूनतम परिमाण तक विभक्त होनेसे आगे और विभागके संभव न होनेपर विनष्ट होते हुए उन पृथिवी आदिका परमाणु पर्यन्त जो विभाग होता है, वह प्रलयकाल है। तदनन्तर पुनः सृष्टिकालमें वायुके परमाणुओं में जीवोंके अदृष्टकी अपेक्षासे क्रिया उत्पन्न होती है। वह कर्म अपने आश्रयभूत परमाणुका अन्य परमाणुसे संयोग करता है, ततः द्व्यणुक आदि क्रमसे वायु उत्पन्न होता है, इसीप्रकार अग्नि एवं जल एवं पृथिवी उत्पन्न होती है और इसीप्रकार इन्द्रियों सहित शरीर उत्पन्न होता है। इसप्रकार यह सारा जगत् अणुओंसे उत्पन्न होता है। जैसे तन्तुके रूपसे पटगतरूप उत्पन्न होता है, वैसे परमाणुगत रूप आदिसे द्व्यणुक आदिगत रूपादि उत्पन्न होते हैं, ऐसा वैशेषिक मानते हैं। सिद्धान्ती—इस विषयमें कहते हैं—विभागावस्थामें स्थित परमाणुओंका संयोग कर्मकी अपेक्षासे मानना चाहिए, क्योंकि कर्म युक्त तन्तु आदिका संयोग देखनेमें आता है। कर्म कार्य है, इसलिए उसका कोई भी निमित्त (कारण) मानना चाहिए। निमित्तके स्वीकार न करने पर तो निमित्तके अभाव होनेसे परमाणुओंमें आद्य (पहला) कर्म नहीं होगा, यदि स्वीकार करें तो व्यवहारमें जैसे कर्मका निमित्त प्रयत्न अथवा अभिघात (शब्दजनक संयोग विशेष) आदि देखे जाते हैं, वैसे परमाणुके कर्मका कोई

सत्यानन्दी दीपिका

होता है, यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त इस अधिकरणका विषय है। उनके मतमें प्रत्येकभाव कार्यके समवायी, असमवायी और निमित्त तीन कारण होते हैं। तन्तुओंमें समवाय सम्बन्धसे पट उत्पन्न होता है, इससे तन्तु पटका समवायिकारण है। तन्तुओंका परस्पर संयोग समवाय सम्बन्धसे तन्तुओंमें रहकर पटको उत्पन्न करता है, इसलिए तन्तुका संयोग पटके प्रति असमवायिकारण है। शेष जुलाहा वेम आदि निमित्तकारण हैं। इस पटके उदाहरणसे यह समझना चाहिए कि सब सावयव द्रव्य अपने अवयवोंसे उत्पन्न होते हैं। पृथिवी आदि चारोंके परमाणु नित्य और निरवयव होते हैं।

यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत, तस्यासंभवान्नैवाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्।
तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः संभवति, शरीराभावात्। शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्या
संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते। एतेनाभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्य
सर्गोत्तरकालं हि तत्सर्वं नाद्यस्य कर्मणो निमित्तं संभवति। ❀ अथादृष्टमाद्यस्य कर्म
निमित्तमित्युच्येत, तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा ? उभयथापि नादृष्टनिमि
मणुषु कर्मावकल्पेत, अदृष्टस्याचेतनत्वात्। नह्यचेतनं चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रव
प्रवर्तयति वेति सांख्यप्रक्रियायामभिहितम्, आत्मनश्चानुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्था
चेतनत्वात्, आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नादृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यादसंबन्धा
अदृष्टवता पुरुषेणास्त्यणूनां संबन्ध इति चेत्—संबन्धसातत्यात्प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गो निय
कान्तराभावात्। तदेवं नियतस्य कस्यचित्कर्मनिमित्तस्याभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। क
भावात्तन्निबन्धनः संयोगो न स्यात्। संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्व्यणुकादि कार्यजातं
स्यात्। ❀ संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा ? सर्वात्मना चेदुप
नुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च। प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्त
संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः। परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्यु

भी निमित्त मानना पड़ेगा। उसका असंभव होनेसे परमाणुओंमें आद्य कर्म नहीं होगा, क्योंकि
अवस्थामें आत्माके गुण प्रयत्नका संभव नहीं है, कारण कि उस समय शरीर नहीं है। शरीर
हुए मनके साथ आत्माका संयोग होनेपर आत्माका गुण प्रयत्न उत्पन्न होता है। इस
अभिघात आदि दृष्टनिमित्तका भी प्रत्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि यह सब सृष्टिके अनन्तर
आद्यकर्मका निमित्त नहीं हो सकता है। यदि कहो कि अदृष्ट आद्य कर्मका निमित्त है, तो वह
आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहने वाला है अथवा अणु समवायी है ? दोनों प्रकारसे अदृष्ट नि
परमाणुओंमें कर्मकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है। चेतनसे अन
अचेतन स्वतन्त्ररूपसे न प्रवृत्त होता है और न किसीको प्रवृत्त करा सकता है, यह सांख्यप्र
कहा गया है। जिसमें चैतन्य उत्पन्न नहीं हुआ है वह आत्मा उस अवस्थामें अचेतन है।
समवायित्व स्वीकार करनेसे अदृष्ट परमाणुओंमें कर्मका निमित्त न होगा, क्योंकि उसका अदृष्टके
कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कहो कि अदृष्टवाले पुरुषके साथ अणुओंका सम्बन्ध है, तो सम्बन्धके
न्तर रहनेसे सर्वदा प्रवृत्तिका प्रसंग होगा, कारण कि अन्य नियामकका अभाव है। इसप्रकार
नियत कर्म निमित्तके अभाव होनेसे अणुओंमें आद्यकर्म न होगा, कर्मके अभाव होनेसे कर्म नि
संयोग न होगा। संयोगके अभाव होनेसे तन्निमित्तक द्व्यणुक आदि कार्य समुदाय नहीं हो
एक परमाणुका अन्य परमाणुके साथ संयोग सर्वात्मना होगा अथवा एक देशसे ? यदि सर्वात्मना
तो उपचय (स्थूलता) की अनुपपत्ति होनेसे परमाणुमात्रत्व प्रसङ्ग और दृष्ट विपर्यय प्रसङ्ग हो
क्योंकि प्रदेशवाले द्रव्यका प्रदेशवाले अन्य द्रव्यके साथ संयोग देखा गया है। यदि एक देशसे हो

सत्यानन्दी दीपिका

❀ तुम्हारे मतमें आत्मा जड़ है ज्ञानमें चेतनता है, अतः अचेतन आत्मासे अचेतन
अधिष्ठित नहीं हो सकता है। ज्ञान शरीरके होनेपर आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होता
इसलिए सृष्टिकालमें आत्मा अचेतन ही है। अदृष्ट आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहता है, उसका
परमाणुके साथ कोई सम्बंध ही नहीं, जिससे क्रियाका कारण हो। यदि अदृष्टवाले आत्माका परमाणु
साथ सम्बन्ध मानें तो आत्मा व्यापक है, इससे निरन्तर सम्बन्ध होनेके कारण परमाणुमें निरन्
क्रिया होगी और पुनः कभी भी प्रलय नहीं होगा, क्योंकि अन्य कोई नियामक नहीं है।

त्—कल्पितानामवस्तुत्वादवस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्यासमवायिकारणं न स्यात्। असति चासमवायिकारणे द्वयणुकादिकार्यद्रव्यं नोत्पद्येत। यथा चादिसर्गे निमित्ताभावात् संयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाणूनां संभवति, एवं महाप्रलयेऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म नैवाणूनां संभवेत्। नहि तत्रापि किंचिन्नियतं तन्निमित्तं दृष्टमस्ति। अदृष्टमपि भोगप्रसिद्ध्यर्थं न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थमित्यतो निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म। अतश्च संयोगविभागाभावात्तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत। तस्मादनुपपन्नोऽयं परमाणुकारणवादः ॥१२॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

पदच्छेद—समवायाभ्युपगमात्, च, साम्याद्, अनवस्थितेः।

सूत्रार्थ—(च) और (समवायाभ्युपगमात्) जैसे परमाणुओंसे अत्यन्त भिन्न द्वयणुक समवाय सम्बन्धसे उनके साथ सम्बद्ध है ऐसा स्वीकार किया है, वैसे समवाय भी समवायियोंसे अत्यन्त भिन्न होता हुआ अन्य समवाय सम्बन्धसे उनके साथ सम्बद्ध होगा, (साम्यात्) क्योंकि अत्यन्त भेद दोनोंमें समान है, (अनवस्थितेः) ऐसी स्थितिमें तत्, तत् समवायके लिए अन्य अन्य समवायकी कल्पना करनी होगी, इससे अनवस्था होनेके कारण द्वयणुक आदि क्रमसे सृष्टि नहीं होगी।

* समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाणुवादनिराकरणेन संबध्यते। द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्वयणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामणवोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता। न

परमाणुमें सावयवत्व प्रसङ्ग होगा। यदि कहो कि परमाणुओंके कल्पित प्रदेश होंगे, तो कल्पितको अवस्तुरूप होनेसे उनका संयोग भी अवस्तुरूप होगा, इससे वह वस्तु कार्यका असमवायिकरण न होगा। असमवायिकारणके न होनेपर द्वयणुक आदि कार्य द्रव्य उत्पन्न नहीं होगा। जैसे आदि सृष्टिमें निमित्तके अभावसे संयोगकी उत्पत्तिके लिए परमाणुओंमें कर्म नहीं हो सकता, वैसे महाप्रलयमें भी विभागकी उत्पत्तिके लिए परमाणुओंमें कर्म नहीं हो सकेगा, कारण कि उसमें भी उस (विभाग) का कोई नियत निमित्त नहीं देखा गया है। अदृष्ट (धर्माधर्म) भी भोगकी सिद्धिके लिए है प्रलयकी सिद्धिके लिए नहीं है, इसलिए निमित्तके अभावसे परमाणुओंमें संयोगकी उत्पत्तिके लिए अथवा विभागकी उत्पत्तिके लिए कर्म नहीं है। अतएव संयोग और विभागके अभावसे तदधीन होनेवाले सृष्टि और प्रलयका अभाव प्रसक्त होगा, इसलिए यह परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १२ ॥

और वैशेषिकों द्वारा समवाय स्वीकार करनेसे भी सृष्टि और प्रलयका अभाव है, इसका प्रकृत परमाणु कारणवादके निराकरणके साथ संबंध है। दो परमाणुओंसे उत्पद्यमान द्वयणुक परमाणुओंसे

सत्यानन्दी दीपिका

* इस प्रकार संयोगके निमित्तका खण्डनकर, अब परमाणुमें संयोगके स्वरूपका 'संयोगश्चाणो' इत्यादिसे खण्डन करते हैं—परमाणुका संयोग व्याप्यवृत्ति है अथवा अव्याप्यवृत्ति (एकदेशवृत्ति)? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्णरूपसे व्याप्त होनेसे एक परमाणुका दूसरे परमाणुमें अन्तर्भाव होनेके कारण कार्यमें स्थूलता न आनेसे कार्य परमाणुमात्र होगा और वह दृष्टिगोचर न होगा, इससे प्रसिद्धिका भी विरोध होगा, क्योंकि व्यवहारमें सावयव द्रव्योंका अन्य सावयव द्रव्यके साथ एक देशसे-अव्याप्यवृत्ति संयोग होता है। जैसे पक्षी आदिका वृक्षादिके साथ। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अव्याप्यवृत्ति संयोग सावयवोंका होता है। यदि परमाणुको सावयव मानें तो निरवयवत्व सिद्धान्त भङ्ग होगा, अतः यह परमाणुकारणवाद युक्त नहीं है ॥ १२ ॥

समवायको अन्य समवायकी अपेक्षासे जो अनवस्था दोष दिया गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि

चैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता समर्थयितुम् । कुतः ? साम्यादनवस्थितेः।
द्व्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद्द्व्यणुकं समवायलक्षणेन संबन्धेन ताभ्यां संबध्यत एवं सम
ऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन्समवायलक्षणेनान्येनैव संबन्धेन समवायिभिः
अत्यन्तभेदसाम्यात् । ततश्च तस्य तस्यान्योन्यः संबन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव
नन्विह प्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसंबद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नासंबन्धः संबन्धान्
वा । ततश्च न तस्यान्यः संबन्धः कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येतेति । * नेत्यु
संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसंबद्ध एवेति समवायवन्नान्यं संबन्धमपेक्षेत । अ
न्तरत्वात्संयोगः संबन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्संबन्धान्तरमपेक्षेत ।
गुणत्वात्संयोगः संबन्धान्तरमपेक्षते न समवायोऽगुणत्वादिति युज्यते वक्तुम्, अपे
णस्य तुल्यत्वात्, गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात् । तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युप
प्रसज्येतैवानवस्था । प्रसज्यमानायां चानवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां द्व
नैवोत्पद्येत । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१३॥

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

अत्यन्त भिन्न होता हुआ परमाणुओंमें समवेत है ऐसा आप स्वीकार करते हैं । परंतु ऐसा स्वीका
हुए आप परमाणुमें कारणताका समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि साम्य और अनवस्थिति है।
प्रकार परमाणुओंसे अत्यन्त भिन्न होता हुआ द्व्यणुक समवायरूप सम्बन्धसे उनके साथ सम्ब
है, उसी प्रकार समवाय भी समवायियोंसे अत्यन्त भिन्न होता हुआ समवायरूप अन्य सम्ब
समवायियोंके साथ सम्बद्ध होगा, क्योंकि दोनोंमें अत्यन्त भेद समान है । इसलिए तत् तत्
लिए अन्य अन्य सम्बन्धकी कल्पना करनी चाहिए, इससे अनवस्था ही प्रसक्त होगी। पर
(यहाँ) इस प्रतीतिसे ग्राह्य समवाय समवायियोंसे नित्य सम्बद्ध ही गृहीत होता है न असम्ब
न अन्य सम्बन्धकी अपेक्षावाला है, इसलिए उसके लिए अन्य सम्बन्धकी कल्पना करना यु
है जिससे अनवस्था प्रसक्त हो । सिद्धान्ती—नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि ऐसा होनेपर सं
संयोगियोंके साथ नित्य सम्बद्ध ही है, इससे समवायके समान संयोग भी अन्य सम्बन्धकी अ
करेगा । यदि [संयोगियोंसे] भिन्न पदार्थ होनेसे संयोग अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा रखेगा, तो
भी [समवायियोंसे] भिन्न पदार्थ होनेसे अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा करेगा । गुण होनेसे सं
सम्बन्धकी अपेक्षा करता है और अगुण होनेसे समवाय अपेक्षा नहीं करता, यह कहना यु
क्योंकि दोनोंमें अपेक्षाका कारण (सम्बन्धियोंसे भिन्नता) समान है और गुण परिभाषा अशा
इसलिए समवायको अन्य पदार्थ स्वीकार करनेवालेको अनवस्था प्रसक्त होगी ही । इस प्र
वस्थाके प्रसक्त होनेपर एककी असिद्धिसे सबकी असिद्धि होनेसे दो परमाणुओंसे द्व्यणुक नहीं
होगा । इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १३ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

'इह तन्तुषु पटः' (इन तन्तुओंमें पट है) इत्यादि विशिष्ट प्रतीतिका नियामक समवाय है।
अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वह स्वरूपसे ही नित्य सम्बद्ध है ।

* वस्तुतः संयोगके समान समवाय भी द्रव्याश्रयी है, द्रव्यके नाशसे जैसे संयोग
होता है, वैसे समवायका भी, इससे समवाय माननेकी अपेक्षा नहीं है । जैसे कार्य होनेसे
लिए निमित्त नहीं है, वैसे समवायकी उत्पत्तिके लिए भी निमित्त नहीं है अतः परमाणु
अयुक्त है ॥ १३ ॥

पदच्छेद—नित्यम्, एव, च, भावात्।

सूत्रार्थ—परमाणुका प्रवृत्तिस्वभाव मानें तो (नित्यमेव) प्रवृत्तिके नित्य होनेसे (भावात्) याभाव प्रसंग (च) और निवृत्ति स्वभाव मानें तो (नित्यमेव) निवृत्ति नित्य होनेसे (भावात्) ष्टिका अभाव प्रसङ्ग होगा। इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

अपि चाणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा ऽभ्युपगम्यन्ते गत्यन्तराभावात्। चतुर्धापि नोपपद्यते। प्रवृत्तिस्वभावत्वे नित्यमेव प्रवृत्ते-र्भावात्प्रलयाभावप्रसङ्गः। निवृत्तिस्वभावत्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात्सर्गाभावप्रसङ्गः। भयस्वभावत्वं च विरोधादसमञ्जसम्। अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योर-भ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसंनिधानान्नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टा-नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१४॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

पदच्छेद—रूपादिमत्त्वात्, च, विपर्ययः, दर्शनात्।

सूत्रार्थ—(च) और (रूपादिमत्त्वात्) वैशेषिकमतमें परमाणुको रूपादि युक्त होनेसे विपर्ययः) उसमें निरवयत्व, नित्यत्व अणुत्व आदिके विपरीत सावयवत्व आदिकी प्रसक्ति होगी, र्शनात्) क्योंकि व्यवहारमें रूपादि युक्त घट आदिमें ऐसा देखनेमें आता है।

* सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न संभवति चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव। यतो रूपादिमत्त्वात्पर-माणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत। परमकारणापेक्षया स्थूलत्वमनित्यत्वं च तेषाम-भिप्रेतविपरीतमापद्येतेत्यर्थः। कुतः? एवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोके रूपादिमद्वस्तु तत्स्व-

---

और परमाणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले वा निवृत्तिस्वभाव वाले अथवा उभयस्वभाववाले वा अनु-स्वभाव वाले माने जाते हैं ? क्योंकि इनसे अतिरिक्तगति (प्रकार) नहीं है। चारों प्रकार भी पन्न नहीं होते। प्रवृत्तिस्वभावत्व होनेपर नित्य ही प्रवृत्ति होनेसे प्रलयका अभाव प्रसङ्ग होगा। निवृत्तिस्वभावत्व होनेपर भी नित्यही निवृत्ति होनेसे सृष्टिका अभाव प्रसङ्ग होगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों स्वभाव होने पर परस्पर विरुद्ध होने के कारण असंगत है। यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति उभयस्वभाव मानें तो किसी कारणवश प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वीकार करनेमें अदृष्ट आदि निमित्त के नित्य सन्नि-धि होनेसे नित्यप्रवृत्तिका प्रसङ्ग होगा, अदृष्टादि अनियामक होनेपर भी नित्य अप्रवृत्ति प्रसङ्ग होगा, इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १४ ॥

अवयवशः (क्रमसे) विभाज्यमान सावयव द्रव्योंका जहाँसे आगे विभाग नहीं हो सकता, वे चार प्रकारके रूपादि युक्त परमाणु रूपादि विशिष्ट चार प्रकारके भूत और भौतिकके आरम्भक हैं और नित्य हैं, ऐसा जो वैशेषिक स्वीकार करते हैं। उनका वह स्वीकार निरालम्ब-निराधार है। क्योंकि रूपादि विशिष्ट होनेसे परमाणुओंको अणुत्व और नित्यत्वके विपर्यय (स्थूलत्व और अनित्यत्व) की प्रसक्ति होगी। परमकारणकी अपेक्षासे उनको अभिप्रेतके विपरीत स्थूलत्व, अनित्यत्व प्रसङ्ग होगा, ऐसा अर्थ है। क्योंकि लोकमें इस प्रकार देखनेमें आता है। लोकमें जो रूप आदि युक्त वस्तु है वह अपने

सत्यानन्दी दीपिका

* परमाणु स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंसे युक्त चार प्रकारके हैं। वे रूपादि गुणोंसे युक्त वायु अग्नि, जल और पृथिवी इन चार प्रकारके भूतों और घट, पट आदि भौतिक पदार्थोंके आरम्भक

कारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम्, तद्यथा पटस्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति,
श्चांशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति, तथा चामी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्
तस्मात्तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति। ❀ यच्च नित्यत्वे का
तैरुक्तम्—'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० सू० ४।१।१) इति। तदप्येवं सत्यणुषु न संभवति,
प्रकारेणाणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः। यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—'अनित्य
च विशेषतः प्रतिषेधाभावः' (वै० ४।१४) इति, तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधय
असति हि यस्मिन्कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते,
परमाणुनित्यत्वमेवापेक्ष्यते। तच्चास्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म। नच शब्दार्थव्यवहारमा
कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात्। ❀
नित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्—'अविद्या च' (वै० ४।१।५) इति, तद्यद्येवं विव्रीयेत
परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्येति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्याप
अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत, तथाप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत। तस

कारणकी अपेक्षासे स्थूल और अनित्य देखी जाती है। जैसे पट तन्तुओंकी अपेक्षा स्थूल और
होता है, तन्तु अपने अवयवोंकी अपेक्षासे स्थूल और अनित्य होते हैं, वैसे ये परमाणु भी रूपादि
हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इसलिए वे भी कारण वाले हैं और उसकी अपेक्षा स्थूल और अनि
होते हैं। 'सदकारणवन्नित्यम्' (सत् और अकारणवाला होनेसे नित्य है) इसप्रकार परमाणुके नि
उन्होंने जो कारण कहा है, वह भी ऐसा होनेपर अर्थात् परमाणु कारणवाला होनेपर पर
संभव नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार (स्पर्शवत्त्व परिच्छिन्नत्व) से परमाणु भी कारणवाले हो
हैं। और 'अनित्यमिति च० (अनित्य है, इसप्रकार विशेषरूपसे प्रतिषेधका अभाव है) इस
नित्यत्वमें जो दूसरा कारण कहा है, वह भी अवश्य परमाणुओंमें नित्यत्व सिद्ध नहीं करता।
कोई नित्य वस्तु न हो तो नित्य शब्दके साथ नञ्का समास उपपन्न न होता। अतः यहां पर
नित्यत्वकी अपेक्षा नहीं है। वह नित्य परम कारण ब्रह्म ही है। शब्द और अर्थके व्यवहारमात्रसे
अर्थकी प्रसिद्धि नहीं होती, क्योंकि अन्य प्रमाणसे सिद्ध शब्द और अर्थको व्यहवारमें लाया जा
'अविद्या च' (और अविद्या) इसप्रकार परमाणुके नित्यत्वमें जो भी तृतीय कारण कहा है।
यदि ऐसा विवर्ण करें कि जिसका कार्य परिदृश्यमान है ऐसे विद्यमान कारणोंका प्रत्यक्षसे अ
अविद्या है, तो इससे द्व्यणुकको भी नित्यत्व प्रसंग होगा। यदि 'अद्रव्यत्वे सति' अर्थात् अकार
सति (अकारण वाला होना) ऐसा विशेषण दें, तो भी अकारणवत्त्व (न कारणवाला) नित्

सत्यानन्दी दीपिका

हैं और नित्य हैं। यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त प्रमाण रहित है। इसमें 'परमाणवः समवायिका
वन्तः स्वकारणापेक्षया स्थूला अनित्याश्च रूपवत्त्वात्, रसवत्त्वात्, स्पर्शवत्त्वात्, गन्धवत्त्वात्
(परमाणु समवायिकारण वाले हैं और अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य हैं, क्योंकि
रस, स्पर्श और गन्धवाले हैं, जैसे घट) यह अनुमान प्रमाण भी है।

❀ 'कार्यमनित्यम्' (कार्य अनित्य है) इसप्रकार कार्यमें विशेषरूपसे नित्यत्वके
होनेसे प्रमाणुओंमें नित्यत्व सिद्ध होता है, अन्यथा 'न नित्यमनित्यम्' प्रतियोगी नित्यके
'नञ्' प्रतिषेधका समास नहीं हो सकता ? परन्तु इससे भी परमाणु नित्य सिद्ध नहीं होता,
कार्यमें नित्यत्वके प्रतिषेधसे नित्य परम कारण ब्रह्म ही प्रतियोगीरूपसे सिद्ध होता है। किञ्च
यक्षः तिष्ठति' (इस वटमें यक्ष रहता है) इसप्रकार वटमें यक्ष शब्द व्यवहार मात्रसे यक्षकी सिद्धि
पड़ेगी। मूलका ज्ञान होनेपर तो उसीसे सब सिद्ध होनेसे व्यवहारका प्रमाणरूपसे उपन्यास व्यर्थ है।

प्रागेवोक्तत्वात् 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात्। अथापि कारणविभागात्कारणविनाशाच्चान्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसंभवोऽविद्या, सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति व्याख्यायेत। नावश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टुमर्हतीति नियमोऽस्ति। संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्यारम्भकेऽभ्युपगम्यमान एतदेवं स्यात्। यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते, तदा घृतकाठिन्यविलयनवन्मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते। तस्माद्रूपादिमत्त्वात्स्यादभिप्रेतविपर्ययः परमाणूनाम्। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१५।

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

पदच्छेद—उभयथा, च, दोषात्।

सूत्रार्थ—(उभयथा) परमाणु उपचितापचित गुणात्मक हैं कि नहीं? प्रथम पक्षमें अणुत्वका भङ्ग होगा और द्वितीय पक्षमें उनके कार्य पृथ्वी आदिमें रूपादिकी अनुपलब्धिका प्रसङ्ग होगा, इस तरह दोनों प्रकारसे (च) भी (दोषात्) दोष होनेसे परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्मतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि

निमित्त प्रसक्त होगा। और उसके पूर्व कथित होनेसे 'अविद्या च' यह पुनरुक्त हो जायगा। यदि कारणके विभागसे और कारणके विनाशसे अन्य तृतीय विनाश हेतुका असंभव अविद्या है और वह परमाणुओंका नित्यत्व ख्यापन करती है, ऐसी व्याख्या करें, तो विनष्ट होती हुई वस्तु अवश्य दो ही हेतुओंसे विनष्ट होनेके योग्य है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि संयोग सचिव अनेक द्रव्योंको अन्य द्रव्यका आरम्भक स्वीकार करें तो यह नियम हो, परन्तु जिसमेंसे विशेष निवृत्त हो गया है ऐसा सामान्यात्मक कारण विशेष युक्त अन्य अवस्थाको प्राप्त हुआ आरम्भक स्वीकार किया जाता है, तो घृतके काठिन्य विलयके समान मूर्त्त अवस्थाके विलयसे भी विनाश हो सकता है। इसलिए परमाणु रूप आदि विशिष्ट होनेसे उनमें अभिप्रेतके विपर्यय होगा। इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।१५।

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणवाली पृथिवी स्थूल है, रूप, रस और स्पर्श गुण विशिष्ट जल सूक्ष्म है, रूप और स्पर्श गुण युक्त तेज सूक्ष्मतर है और स्पर्श गुणवाला वायु सूक्ष्मतम है, इस प्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि द्वयणुकमें नित्यत्वके परिहारके लिए 'अद्रव्यत्वे सति' यह विशेषण दें अर्थात् जिसका कोई द्रव्य आरम्भक न हो, उस कारणका प्रत्यक्षसे अग्रहण अविद्या है, ऐसा लक्षण करनेसे द्वयणुकका व्यभिचार तो निवृत्त हो जायगा, क्योंकि उसके अनेक द्रव्य आरम्भक हैं। परन्तु 'कारणका प्रत्यक्षसे अग्रहण' यह विशेष्य व्यर्थ होगा अकारणवत्त्व ही नित्यत्वका निमित्त हो जायगा, इससे 'सदकारणवत्' इस सूत्रकी पुनरुक्ति होगी। जैसे तन्तु आदि अवयवोंके विभाग अथवा नाशसे पटका नाश होता है, परन्तु ये दोनों नाशके हेतु परमाणुमें नहीं है, अतः परमाणु नित्य है। यह युक्त नहीं है, क्योंकि यदि अनेक द्रव्य अन्य द्रव्यके आरम्भक होते तो यह नियम होता। परन्तु आरम्भमें कोई प्रमाण नहीं है, कारण कि तन्तुओंके आतान वितानसे अतिरिक्त पट कोई वस्तु नहीं है। केवल तन्तुओंकी ही एक अवस्था विशेष है। इसलिए परमाणु अविद्याका परिणाम है। उसके प्रलयनिमित्त कालादिसे पिण्डात्मक स्वरूपके तिरोभाव-अदृश्य होनेसे कारणभावकी प्राप्तिरूप विनाश उपपन्न होता है। जैसे अग्निके सम्पर्कसे घृतके काठिन्यका-अवयव संयोगका अवयवोंके नाश हुए विना विलय होता है। इसलिए परमाणु कारणवाद युक्त नहीं है ॥ १५ ॥

स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत्परमाणवोऽप्युपचिता चितगुणाः कल्प्येरन्न वा । उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात् । कल्प्यमाने ता दुपचितापचितगुणत्वे उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमाणुत्वप्रसङ्गः । न चान्तरेण मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवतीत्युच्यते, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात् । अकल्प माने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्यप्रसिद्धये यदि तावत्सर्वे एकैकगुणा एव कल्प्ये रंस्ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात्, अप्सु रूपस्पर्शयोः, पृथिव्यां च रसरूपस्पर्शाना कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानाम् । अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन्, ततोऽप्स्वपि गन्ध स्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायौ गन्धरूपरसानाम् । नचैवं दृश्यते । तस्मा प्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥१६॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

पदच्छेद—अपरिग्रहात्, च, अत्यन्तम्, अनपेक्षा ।

सूत्रार्थ—(अपरिग्रहाच्च) परमाणु कारणवादको किसी भी अंशमें मनु आदि शिष्टोंने ग्र नहीं किया है, अतः (अत्यन्तमनपेक्षा) कल्याणार्थी पुरुषोंको उसमें अत्यन्त अनपेक्षा करनी चाहिए।

❀ प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवना प्रायेणोपनिबद्धः । अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृ इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभिः । अपि च वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान्षट्पदार्था

ये चारभूत अधिक और न्यून गुणवाले स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तारतम्यसे युक्त देखे जाते हैं। इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म पृथ्वी जलादिके समान उनके परमाणु भी उपचित (अधि अपचित (न्यून) गुणवाले कल्पना किये जाते हैं कि नहीं ? दोनों प्रकारसे दोषकी प्रसक्ति अनि ही होगी। उपचित और अपचित गुणत्व विशिष्ट परमाणुओंकी कल्पना करनेपर तो उपचित गुण परमाणुओंकी मूर्ति (आकार) के उपचय (स्थूल) होनेसे अप्रमाणुत्वका प्रसङ्ग होगा। मू उपचयके विना भी गुणोंका उपचय होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्य भूतोंमें गु उपचय होनेपर मूर्तिका उपचय देखनेमें आता है। यदि उपचित और अपचित गुणत्व विशि माणुओंकी कल्पना न कर परमाणुत्वके साम्य सिद्धि (रक्षा) के लिए सब परमाणु एक एक युक्त माने जायँ, तो तेजमें स्पर्श, जलमें रूप और स्पर्श और पृथ्वीमें रस, रूप और स्पर्शकी उप नहीं होगी, क्योंकि कार्यके गुण कारण गुण पूर्वक होते हैं। यदि सब चार गुण युक्त ही कल्पना जायँ, तो जलमें भी गन्धकी, तेजमें गन्ध और रसकी और वायुमें गन्ध, रूप और रसकी उप होगी। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसलिए परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १६ ॥

कई एक वेदवित् मनु आदिने, प्रधान कारणवाद सत्कार्यत्व आदि अंशोंका उपजीवन है इस अभिप्रायसे उसे अपने स्मृति ग्रन्थोंमें स्थान दिया है। परन्तु यह परमाणु कारणवाद किसी भी अंशमें किन्हीं भी शिष्ट पुरुषोंसे गृहीत नहीं है, इसलिए वेदवादियोंसे अत्यन्त ही अनादर है। और वैशेषिक अपने शास्त्रके अर्थभूत द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय

सत्यानन्दी दीपिका

❀ द्रव्य आदि छः भाव और एक अभाव इस प्रकार वैशेषिक मतमें सात पदार्थ हैं। भाव पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं और उनके लक्षण भी भिन्न भिन्न हैं। भाष्यमें अन्वय-व्यतिरे पी यही सिद्ध किया गया है कि गुणादि द्रव्यकी एक अवस्था विशेष है। यह द्रव्य है यह गु इत्यादि भेद व्यवहार तो कल्पित भेदको लेकर हो सकता है, क्योंकि जैसे अत्यन्त भेदमें धर्मधर्मि

गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यानत्यन्तभिन्नान्भिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति। यथा मनुष्योऽश्वः शश इति। तथात्वं चाभ्युपगम्य तद्विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ्युपगच्छन्ति। तन्नोपपद्यते, कथम्? यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सतां नेतरेतराधीनत्वं भवति, एवं द्रव्यादीनामत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति। अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां, ततो द्रव्यभावे भावाद्द्रव्याभावेऽभावाद्द्रव्यमेव संस्थानादिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति। यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति, तद्वत्। तथा सति सांख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः स्वसिद्धान्तविरोधश्चापद्येयाताम्। ❀ नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याग्न्यधीनत्वं दृश्यते। सत्यं दृश्यते। भेदप्रतीतेस्तु तत्राग्निधूमयोरन्यत्वं निश्चीयते। इह तु शुक्लः कम्बलो रोहिणी धेनुर्नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तथा तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिव भेदप्रतीतिरस्ति। तस्माद्द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता।

मनुष्य, अश्व और शशकके समान अत्यन्त भिन्न और भिन्न भिन्न लक्षणवाले छः पदार्थ स्वीकार करते हैं। और इसी प्रकार अङ्गीकार कर उसके विरुद्ध शेष सब पदार्थ द्रव्यके अधीन मानते हैं। परन्तु वह उपपन्न नहीं होता। क्यों? जैसे व्यवहारमें ही शशक, कुश, पलाश आदि अत्यन्त भिन्न होते हुए एक दूसरेके अधीन नहीं होते हैं, वैसी ही द्रव्य आदिके भी अत्यन्त भिन्न होनेसे गुण आदि द्रव्यके अधीन नहीं हो सकते। यदि गुण आदि द्रव्यके अधीन होते हैं, तो द्रव्यके भावमें भाव और द्रव्यके अभावमें अभाव होनेसे द्रव्य ही संस्थान आदि भेदसे अनेक शब्द और प्रतीतिका भागी होता है। जैसे देवदत्त एक होता हुआ भी अन्य अवस्थाके सम्बन्धसे अनेक शब्द और प्रत्ययका भागी होता है। ऐसा माननेपर सांख्य (वेदान्त) सिद्धान्तका प्रसंग और स्वसिद्धान्तका विरोध प्रसंग हो जायगा। परन्तु अग्निसे भिन्न होता हुआ धूम अग्निके अधीन देखा जाता है, ठीक देखा जाता है, भेद प्रतीतिसे तो वहाँ अग्नि और धूमका अन्यत्व निश्चित होता है। परन्तु यहाँ शुक्ल कम्बल, लाल गौ और नीलकमल इस प्रकार तत् तत् द्रव्य तत् तत् विशेषणसे प्रतीयमान होनेके कारण अग्नि और धूमके समान द्रव्य और गुणकी भेद प्रतीति नहीं है, इसलिए गुण द्रव्यात्मक है, इससे कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय द्रव्यात्मक व्याख्यात हुए। यदि कहो कि द्रव्य और गुण अयुत सिद्ध हैं, इससे गुण आदि द्रव्यके

सत्यानन्दी दीपिका

नहीं होता, वैसे अत्यन्त अभेदमें भी नहीं होता है। इसलिए यदि गुण और द्रव्यका तादात्म्य स्वीकार करें तो वेदान्त सिद्धान्तका प्रसङ्ग और अपने सिद्धान्तसे विरोध होगा।

❀ पूर्वपक्षी यहां अधीनका अर्थ कार्य मानकर व्यभिचारकी शंका करता है—जैसे धूम अग्निका कार्य है और उससे भिन्न है, वैसे गुण आदि द्रव्यके कार्य हैं और उससे भिन्न हैं। परन्तु यह दृष्टान्त विषम है, क्योंकि जैसे धूम और अग्निका महानस आदिमें प्रत्यक्ष भेद उपलब्ध होता है, वैसे द्रव्य और गुणका भेद उपलब्ध नहीं होता। शुक्लकम्बल, शुक्ल पट आदिस्थलोंमें सामानाधिकरण्य प्रतीतिसे द्रव्य और गुणकी अभिन्नता ही उपलब्ध होती है। भिन्न देशस्थ घट आदि पदार्थ संयोग द्वारा संयुक्त होते हैं वे युतसिद्ध कहे जाते हैं और अवयव अवयवी, गुण गुणी, जाति व्यक्ति, क्रिया क्रियावान् और नित्यद्रव्योंमें विशेष इनका अविनाभाव है, इसलिए ये अयुतसिद्ध कहलाते हैं, इनका सम्बन्ध समवाय है। अब अयुतसिद्धके विकल्पोंमेंसे प्रथम विकल्प-पट-समवायसम्बन्धसे पट तन्तुमें उत्पन्न होता है, इसलिए पटका देश तन्तु है पट नहीं। तन्तु गुण पटके गुणोंके आरम्भक हैं। वे गुण पटमें उत्पन्न होते हैं, इससे उनका देश पट है तन्तु नहीं। इसप्रकार पटका तन्तु और पटके गुणोंका पट देश है। इस तरह भिन्न-भिन्न देश होनेसे द्रव्य और गुणका अपृथग्देशत्व अयुतसिद्धत्व बाधित है।

गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यद्युच्येत, तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथ शत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा । सर्वथापि नोपपद्यते । अपृथग्दे तावत्स्वाभ्युपगमो विरुध्येत । कथम् ? तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते, न पटदे पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते, न तन्तुदेशाः । तथा चाहु—'द्र द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वै० १।१।१०) इति । तन्तवो हि कारणद्रव्याणि का द्रव्यं पटमारभन्ते । तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमार इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति । सोऽभ्युपगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने वाध्ये ❀ अथापृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वमुच्येत, सव्यदक्षिणयोरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं प्र ज्येत । तथाऽपृथक्स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्मभेदः संभवति, तस्य तादात्म्ये नैव प्रतीयमानत्वात् । युतसिद्धयोः संबन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपग मृषैव तेषाम्, प्राक्सिद्धस्य कार्यात्कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः । अथान्यतरापेक्ष एवा भ्युपगमः स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य कारणेन संबन्धः समवाय इति, एवमपि प्राक्सिद्ध लब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन संबन्धो नोपपद्यते, द्वयायत्तत्वात्संबन्धस्य । ❀ सिद्धं भू संबध्यत इति चेत्, प्राक्कारणसंबन्धात्कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमानायामयुतसिद्धयभा

अधीन हैं, तो वह अयुतसिद्धत्व अपृथग्देशत्व है वा अपृथक्कालत्व है अथवा अपृथक्स्वभावत्व सर्वथापि वह उपपन्न नहीं होता । यदि अपृथग्देशत्व हो तो स्वसिद्धान्तसे विरोध होगा, क्योंकि त उत्पन्न हुए पटका तन्तुदेश स्वीकार किया जाता है पट देश नहीं, एवं पटके शुक्लत्व आदि गुण देशवाले माने जाते हैं तन्तु देशवाले नहीं । वैशेषिक कहते हैं—'द्रव्याणि० (द्रव्य अन्य द्र आरम्भ करते हैं और गुण अन्य गुणको) इस प्रकार कारण द्रव्य तन्तु कार्यद्रव्य पटको आरम्भ क हैं और तन्तु गत शुक्ल आदि गुण कार्यद्रव्य पटमें अन्य शुक्ल आदि गुणोंको आरम्भ करते हैं, ऐ स्वीकार करते हैं । द्रव्य और गुणका अपृथग्देशत्व स्वीकार करनेपर वह सिद्धान्त बाधित हो जा यदि अपृथक्कालत्व अयुतसिद्धत्व कहो, तो गौके वाम और दक्षिण सींग भी अयुतसिद्ध हो जाएँ उसीप्रकार अपृथक्स्वभावत्व अयुतसिद्धत्व हो तो द्रव्य और गुणका स्वरूप भेद असंभव है, क वह (गुण) तो तादात्म्यसे ही प्रतीयमान है । युतसिद्ध पदार्थोंका सम्बन्ध संयोग है और अयु पदार्थोंका सम्बन्ध समवाय, इसप्रकार उनका यह सिद्धान्त मिथ्या ही है । कारण कि कार्यसे पूर्व कारण अयुतसिद्ध नहीं हो सकता, यदि कहो कि दोमेंसे एककी अपेक्षासे यह अंगीकार होगा अयुतसिद्ध कार्यका कारणके साथ सम्बन्ध समवाय है । तो ऐसा माननेपर भी जिसने अपना ल ही प्राप्त नहीं किया है ऐसे पूर्व असिद्ध कार्यका कारणके साथ सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता, सम्बन्ध दोके अधीन होता है । यदि कहो कि कार्य सिद्ध होकर कारणके साथ सम्बद्ध होता है,

सत्यानन्दी दीपिका

❀ द्वितीय विकल्प 'सव्यदक्षिणयोरपि' आदिसे कहते हैं । तृतीय विकल्पमें तो 'स्वभाव' अर्थ स्वरूप है, इससे वेदान्तसिद्धान्तका प्रसंग हो जायगा । छः पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं यह अयु विरुद्ध होनेसे अयुतसिद्धत्व बाधित है । अयुत सिद्धि दोकी है कि एककी ? इसको 'प्राक्सिद्ध आदिसे कहते हैं ।

* 'अप्राप्त सत् पदार्थोंकी प्राप्ति संयोग है' यह विभु आकाश आदिके संयोगमें नहीं घ क्योंकि वे नित्य प्राप्त हैं, यदि मानें, तो तन्तु और पटका भी संयोग हो जायगा, यह असिद्धान्त है उत्पत्तिकालीन द्रव्य निर्गुण और निष्क्रिय मानते हैं, क्योंकि यदि उत्पत्तिके समय द्रव्य गुण

कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते इतीदं दुरुक्तं स्यात्। यथा चोत्पन्नमात्रस्याक्रियस्य
कार्यद्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरैः संबन्धः संयोग एवाभ्युपगम्यते, न समवायः,
एवं कारणद्रव्येणापि संबन्धः संयोग एव स्यान्न समवायः। नापि संयोगस्य समवायस्य वा
बन्धस्य संबन्धिव्यतिरेकेणास्तित्वे किंचित्प्रमाणमस्ति। संबन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण
संयोगसमवायशब्दप्रत्ययदर्शनात्तयोरस्तित्वमिति चेत्-न, एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षया-
शब्दप्रत्ययदर्शनात्। यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं संबन्धिरूपं चापेक्ष्यानेकशब्द-
प्रत्ययभाग्भवति—मनुष्यो ब्राह्मणः श्रोत्रियो वदान्यो बालो युवा स्थविरः पिता पुत्रः पौत्रो
भ्राता जामातेति, यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानैकदशशतसहस्रादि-
प्रत्ययभेदमनुभवति, तथासंबन्धिनोरेव संबन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवाय-
प्रत्ययार्हत्वं, न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन, इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरभावो वस्त्व-
न्तरस्य। * नापि संबन्धिविषयत्वे संबन्धशब्दप्रत्यययोः संततभावप्रसङ्गः। स्वरूपबाह्यरूपा-
येत्युक्तोत्तरत्वात्। तथाऽण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः संभवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य
प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात्। कल्पिताः प्रदेशा अण्वात्ममनसां भविष्यन्तीति

सम्बन्धसे पूर्व कार्यकी सिद्धि स्वीकार करनेपर अयुतसिद्धिका अभाव होनेसे 'कार्यकारणके संयोग
और विभाग नहीं होते' यह उक्त कथन असंगत हो जायगा। और जैसे क्रियारहित उत्पद्यमान द्रव्यका
आकाश आदि अन्य द्रव्यों के साथ सम्बन्ध संयोग ही स्वीकार किया जाता है समवाय नहीं, वैसे
द्रव्यके साथ भी सम्बन्ध संयोग ही होगा समवाय नहीं। सम्बन्धियोंसे भिन्न संयोग अथवा सम-
सम्बन्धके अस्तित्वमें कोई भी प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि 'सम्बन्धी' इस शब्द और प्रत्ययके
रिक्त संयोग और समवाय शब्द और प्रतीतिके दर्शनसे उनका पृथक् अस्तित्व है, तो यह युक्त नहीं
क्योंकि एकमें भी स्वरूप और बाह्यरूपको अपेक्षासे अनेक शब्द और प्रत्यय देखने आते हैं। जैसे
देवदत्त एक होता हुआ भी व्यवहारमें स्वरूप और सम्बन्धिरूपकी अपेक्षाकर मनुष्य, ब्राह्मण, श्रोत्रिय,
दाता, बालक, युवा, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता और जामाता इस प्रकार अनेक शब्द और प्रत्ययोंका
भागी होता है। और जैसे रेखा एक होती हुई भी स्थानभेदसे नियोजित हुई एक, दश, शत, सहस्र आदि
शब्द और प्रत्ययविशेषके अनुभवका विषय होती है। वैसे दो सम्बन्धी ही (सम्बन्धका अनुयोगी और
प्रतियोगी) 'सम्बन्धी' शब्द और प्रत्ययके योग्य होते हैं, किन्तु अतिरिक्त वस्तुके अस्तित्वसे नहीं। इस
प्रकार उपलब्धिरूप लिङ्गसे प्राप्त अन्य पदार्थका (संयोग आदि सम्बन्धियोंसे भिन्न हैं इस) अनुपलब्धिसे
अभाव निश्चित होता है। उसी प्रकार 'सम्बन्ध' शब्द और प्रत्ययका सम्बन्धी विषय होने पर भी
उनका निरन्तर अस्तित्व प्रसंग भी न होगा, क्योंकि वह स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे है, ऐसा
उत्तर कह दिया गया है। उसीप्रकार परमाणु, आत्मा औ मनका प्रदेश न होनेसे संयोग संभव नहीं
है। प्रदेश विशिष्ट (सावयव) द्रव्यका प्रदेश युक्त (सावयव) अन्य द्रव्यके साथ संयोग देखनेमें

सत्यानन्दी दीपिका

क्रिया युक्त उत्पन्न हो तो अपने गुणोंके प्रति वह कारण सिद्ध नहीं होगा, कारण कार्यसे पूर्ववृत्ति होना
चाहिए। उपलब्धिरूप लिंगसे प्राप्त संयोग और समवाय आदि पदार्थों की सम्बन्धियोंसे भिन्नरूपसे
उपलब्धि न होनेके कारण उनका अभाव निश्चित होता है।

* अदृष्ट विशिष्ट आत्माके साथ परमाणुका संयोग परमाणुमें क्रियाका कारण है। आत्मा
और मनका संयोग ज्ञान आदिका असमवायिकारण है। अब इसका 'तथाऽण्वात्ममनसाम' इत्यादिसे
निराकरण करते हैं। किञ्च अविद्यमानकी कल्पनासे ही सब अर्थकी सिद्धि होनेसे बन्ध और मुक्तिके
नियम भी लुप्त हो जाएँगे।

चेत्—न, अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात्, इयानेवाविद्यमानो विरुद्धो
कल्पनीयो नातोऽधिक इति नियमहेत्वभावात्, कल्पनायाश्च स्वायत्तत्वात्प्रभूतत्वसंभव
नच वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वाऽर्था न
तव्या इति निवारको हेतुरस्ति। तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्तत्सिध्येत्।
प्राणिनां दुःखबहुलः संसार एव मा भूदिति कल्पयेत्। अन्यो वा व्यसनी
पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्। कस्तयोर्निवारकः स्यात्? ❀ किंचान्यत्—द्वाभ्यां परमाणुभ्यां
यवाभ्यां सावयवस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव संश्लेषानुपपत्तिः। न ह्याकाशस्य पृथिव्या
जतुकाष्ठवत्संश्लेषोऽस्ति। कार्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यत
कल्प्यः समवाय इति चेत्—न, इतरेतराश्रयत्वात्। कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रि
भावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवदितीतरेतराश्रयता स्यात्। न हि कार्यकारण
आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्य
पगमात्। किंचान्यत्—परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा ताव
सावयवास्ते स्युः, सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत।
दिग्भेदभेदिनोऽवयवान्कल्पयसि त एव परमाणव इति चेत्—न, स्थूलसूक्ष्मतारतम्य

आता है। यदि कहो कि अणु, आत्मा और मनके कल्पित प्रदेश होंगे, तो यह युक्त नहीं है,
अविद्यमान पदार्थकी कल्पना करनेपर सर्वार्थ सिद्धि होनेका प्रसंग हो जायगा। इतनी ही
विरुद्ध अथवा अविरुद्ध अर्थकी कल्पना करनी चाहिए, इससे अधिक नहीं, इस विषयमें
नहीं है। कल्पना तो अपने अधीन होती है इससे उसके अधिक होनेकी भी संभावना है।
द्वारा कल्पित छः पदार्थोंसे भिन्न अतिरिक्त (अधिक) शत, अथवा सहस्र पदार्थोंकी
करनी चाहिए, इसका कोई निवारक हेतु नहीं है, इसलिए जिस जिसको जो जो रुचिकर
वह सिद्ध हो जायगा। कोई कृपालु ऐसी कल्पना करेगा कि प्राणियोंके लिए यह दुःख
ही न हो अथवा अन्य कोई व्यसनी मुक्त पुरुषोंकी पुनरुत्पत्तिकी कल्पना करेगा। ऐसा
उनका कौन निवारक होगा। और इससे भिन्न दूसरा दोष यह है कि आकाशके साथ
द्व्यणुकके समान निरवयव दो परमाणुका संश्लेष नहीं हो सकता। आकाश और पृथिवी
लाख और काष्ठके समान संश्लेष (मिलाप) नहीं है। कार्य कारण द्रव्योंका आश्रिताश्रय
उपपन्न न होगा, इसलिए समवायकी अवश्य कल्पना करनी चाहिए। ऐसा यदि कहो तो
क्योंकि अन्योन्याश्रय हो जायगा। कार्य कारणका कुण्डबदरके समान भेद सिद्ध हो तो
भावकी सिद्धि हो, आश्रिताश्रयभावकी सिद्धि हो तो उनका भेद सिद्ध हो, इसप्रकार
होगा। वेदान्तवादी कार्य और कारणका भेद अथवा आश्रिताश्रयभाव स्वीकार नहीं करते,
कारणका ही संस्थान (आकार विशेष) मात्र कार्य है, ऐसा वे मानते हैं। अन्य दोष
परमाणुओंके परिच्छिन्न होनेसे जितनी दिशाएँ छः, आठ अथवा दश हैं उतने अवयवों
हो जायँगे, सावयव होनेसे अनित्य हो जायँगे, इससे उनका नित्यत्व, निरवयवत्व सिद्धान्त
जायगा। यदि कहो कि दिशाके भेदसे भेदविशिष्ट जिन अवयवोंकी तुम कल्पना करते हो वे
मतमें परमाणु हैं। तो यह कथन ठीक नहीं है. क्योंकि स्थूल, सूक्ष्मके तारतम्यक्रमसे

सत्यानन्दी दीपिका

❀ समवायका अन्योन्याश्रय दोषसे खण्डनकर अब परमाणुका नित्यत्व, निरवयवत्व
करते हैं—'पारमाणवः सावयवाः परिच्छिन्नत्वात घटवत्' (परमाणु सावयव हैं परिच्छिन्न होनेसे
समान) इसलिए परमाणुका द्व्यणुकके समान पृथिवीत्व एक जातीय होनेसे विनाश होता है

मकारणाद्विनाशोपपत्तेः। यथा पृथिवी द्व्यणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तुभूतापि विनश्यति, तः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति, ततो द्व्यणुकं, तथा परमाणवोऽपि थिव्येकजातीयकत्वाद्विनश्येयुः। ❀ विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत्—यं दोषः, यतो घृतकाठिन्यविलयनवदपि विनाशोपपत्तिमवोचाम। यथा हि घृतसुवर्णादी-विभज्यमानावयवानामप्यग्निसंयोगाद्द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भवति, एवं माणूनामपि परमकारणभावापत्त्या मूर्त्यादिविनाशो भविष्यति। तथा कार्यारम्भोऽपि वयवसंयोगेनैव केवलेन भवति, क्षीरजलादीनामन्तरेणाप्यवयवसंयोगान्तरं दधिहिमादि-र्यारम्भदर्शनात्। तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च ष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षाऽस्मिन्परमाणुकारणवादे कार्या श्रेयोर्थिभि-ति वाक्यशेषः ॥१७॥

(४ समुदायाधिकरणम् सू० १८-२७)

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

पदच्छेद—समुदाये, उभयहेतुके, अपि, तदप्राप्तिः।

सूत्रार्थ—(उभयहेतुकेऽपि समुदाये) परमाणु हेतुक बाह्य समुदाय और स्कन्ध हेतुक ध्यात्मिक समुदायमें भी (तदप्राप्तिः) समुदायकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि अचेतन परमाणु और न्धोंका अपने आप समुदाय असंभव है, अन्य किसी कूटस्थ चेतन संघात कर्ताका अभाव है, अतः का मत भ्रान्तिमूलक है।

❀ वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम्।

विनाश उपपन्न होता है। जैसे पृथिवी द्व्यणुक आदिकी अपेक्षासे स्थूलतम और वस्तुभूत हुई भी विनष्ट होती है। उससे सूक्ष्म सूक्ष्मतर पृथिवीरूप एक जातीय नष्ट होता है, और न्तर द्व्यणुक। उसी प्रकार परमाणु भी पृथिवीत्व एक जातीय होनेसे विनष्ट होना चाहिए। हो कि विनष्ट होते हुए भी अवयवविभागसे ही विनष्ट होते हैं, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि घृत-न्य विलयनके समान भी विनाश हो सकता है, ऐसा हम कह चुके हैं। जैसे अविभज्यमान वाले घृत सुवर्ण आदिके भी अग्निके संयोगसे द्रवभाव प्राप्ति होनेसे काठिन्यका विनाश है, वैसे परमाणुओंका भी परम कारणभाव प्राप्तिसे मूर्ति आदि विनाश होगा। उसी प्रकार का आरम्भ भी केवल अवयव संयोगसे ही नहीं होता है, क्योंकि अन्य अवयव संयोगके विना भी , जल आदिका दधि, हिम आदि कार्य आरम्भ देखनेमें आता है। इस प्रकार परमाणु कारणवाद तर तर्कोंसे विरचित तथा ईश्वर कारणत्व प्रतिपादक श्रुतिसे विरुद्ध, श्रुतिप्रवण (श्रुति समर्थक) मनु आदि द्वारा अस्वीकृत होनेसे श्रेय चाहनेवाले आर्य पुरुषको परमाणु कारणवादमें अत्यन्त ही क्षा करनी चाहिए ऐसा वाक्य शेष है ॥ १७ ॥

पूर्वमें यह कहा गया है कि कुतर्कके योग, वेद विरुद्ध और शिष्ट पुरुषोंसे अस्वीकृत होनेसे

सत्यानन्दी दीपिका

* ब्रह्मसे भिन्न सब द्रव्य पदार्थ अज्ञानसे जन्य होनेसे निरवयव नहीं हो सकते हैं, इसलिए में उनका अदृष्ट आदि निमित्तोंके विनाशसे विनाश हो सकता है। अतएव परमाणुके अस्तित्वमें प्रमाण नहीं है। अतः भ्रान्तिमूलक वैशेषिक मतसे वेदान्त समन्वयका विरोध नहीं है ॥ १७ ॥

* इस प्रकार अर्ध वैनाशिक वैशेषिक मतका निराकरण कर अब बुद्धिस्थ सर्ववैनाशिक मतका करण करते हैं, इस तरह अवान्तर प्रसंगसंगतिसे 'वैशेषिक' आदिसे कहते हैं। वैशेषिक निश्चित

सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य
दानीमुपपादयामः। स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा। तत्रैते त्रयो वादिनो
केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्व
इति। तत्र ते सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च
चैत्तं च, तांस्तावत्प्रतिब्रूमः। तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः। भौतिकं रूपादयश्चक्षुराद

वैशेषिक सिद्धान्त अपेक्षा करने योग्य नहीं है। वह अर्धवैनाशिक है, इसलिए वैनाशिकत्व
सर्ववैनाशिक सिद्धान्त अत्यन्त अपेक्षा करने योग्य नहीं है। इससे अब हम इसका उपादान
प्रतिपत्तिके भेदसे अथवा शिष्योंके भेदसे वह बहुत प्रकारका है। उसमें ये तीन वादी है
सर्वास्तित्व वादी हैं, कोई केवल विज्ञानास्तित्व वादी हैं और पुनः अन्य सर्वशून्यत्ववादी हैं।
सर्वास्तित्ववादी बाह्य-भूत और भौतिक, आन्तर-चित्त और चैत्त स्वीकार करते हैं। पहले
सिद्धान्तका हम निराकरण करते हैं—उनमें भूत-पृथ्वी धातु आदि हैं, भौतिक-रूप आदि

सत्यानन्दी दीपिका

अर्धवैनाशिक हैं, क्योंकि वे परमाणु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, सामान्य, विशे
समवाय। शब्द, स्पर्श, रूप आदि गुण और कर्म इनमेंसे कुछको नित्य मानते हैं और कुछका
आधेका विनाश माननेसे वे अर्धवैनाशिक हैं। इनका उपन्यास वैनाशिकत्वके सादृश्यसे
शिकोंका स्मरण कराता है। जब वैशेषिकमत अर्धवैनाशिक होनेसे अनुपादेय है, तब सर्व वैना
सिद्धान्त तो अत्यन्त ही अनुपादेय समझना चाहिए। बुद्धके शिष्योंमें चार संप्रदाय थे।
सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। उनमेंसे बुद्धके वचनोंके अनुसार उसके विवरणभूत
शास्त्र जिसका नाम अभिधर्म विभाषा है उसे प्रमाणरूपसे माननेवाला वैभाषिक है। सूत्र
बुद्धके वचन हैं जिनका पाली भाषामें सूत्तान्त नाम है उसे प्रमाणतमरूपसे माननेवाला सौत्रान्ति
योग (समाधि) द्वारा आलय विज्ञानका साक्षात्कार करनेवाला योगाचार है। और 'अतोभाव
द्वयरहितत्वात्सर्वस्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता मध्यमा प्रतिपत् समध्यमो मार्गः॥' इति (मा
वृत्ति) (भाव और अभाव दोनों पदार्थोंसे रहित होनेसे सर्वस्वभावकी अनुत्पत्तिरूप शून्यता
प्रतिपत् अर्थात् वह मध्यमार्ग है) इस प्रकार जो मध्यमका अवलम्बन कर प्रवृत्त हुए वे
कहे जाते हैं। बाह्य पृथ्वी आदि और आन्तर चित्त आदि विद्यमान होते हुए भी उनमें 'सर्व
(सब शून्य है) यह प्रथम शिष्योंको उपदेश किया। विज्ञानमें आग्रह रखनेवाले दूसरे
'विज्ञानमेवैकं सत्' (एक विज्ञान ही सत् है) ऐसा उपदेश किया। बाह्य और आंतर उभय
आस्था रखनेवाले शिष्योंको 'उभयं सत्यम्' ऐसा उपदेश किया। वैभाषिक और सौत्रान्तिक
बाह्य पदार्थोंके प्रत्यक्षत्व और अप्रत्यक्षत्वमें विवाद है, तो भी सर्वास्तित्व वादमें विवाद
इसलिए दोनोंको एक कर तीन मत दिखाये गये हैं। सर्वास्तित्ववादीके मतमें पृथ्वी आदि चार
और आकाश आवरणका अभावमात्र है। इन पृथ्वी आदि भूतोंसे उत्पन्न हुए पर्वत आ
भौतिक हैं ये बाह्य हैं। चित्त और चित्तसे उत्पन्न हुए काम आदि चैत्त आन्तर हैं। इस प्रकार
भौतिक पदार्थ परमाणुओंका ही समुदाय है अवयवोंसे अतिरिक्त अवयवी नहीं है। पृथ्वीके
कठिन, जलके स्नेह, अग्निके उष्ण और वायुके चलन स्वभाववाले होते हैं, इस प्रकार यह बाह्य
है। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार इस प्रकार पाँच स्कन्ध हैं। स्कन्धका अर्थ समु
'जिससे निरूपण किया जाय अथवा जिसका निरूपण किया जाय वह रूप है' इस तरह करण
व्युत्पत्तिसे रूप शब्दका अर्थ इन्द्रिय और विषय दोनों हैं, इसलिए विषय सहित इंद्रिय
यद्यपि रूप आदि विषय बाह्य हैं तो भी देहस्थ इंद्रियोंसे ग्राह्य होनेसे आध्यात्मिक हैं। 'अन्त

चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते। तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्चस्कन्धाः। तेऽप्याध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते। * तत्रेदमभिधीयते—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेषामभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः स्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धीरूपः तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिः स्यात्समुदायाप्राप्तिः। समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः। कुतः? समुदायिनामचेतनत्वात्। चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात्। अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात् निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्। आशयस्याप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्। क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तस्मात्समुदायानुपपत्तिः। समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत ॥१८॥

आदि हैं। पृथ्वी आदिके चार प्रकारके परमाणु कठिन, स्नेह, उष्ण और चलन स्वभाववाले होते हैं वे पृथ्वी आदि रूपसे संघटित होते हैं, ऐसा मानते हैं। उसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, और संस्कार नामके पाँच स्कन्ध हैं। वे आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी) होकर सर्व व्यवहारके विषयरूपसे संघटित होते हैं, ऐसा मानते हैं।

सिद्धान्ती—इस विषयमें कहते हैं—जो यह उभयहेतुक, उभय प्रकारका समुदाय अन्य-बौद्धोंको अभिप्रेत है अणु है हेतु जिसका ऐसा भूत भौतिक संघातरूप और स्कन्ध है हेतु जिसका ऐसा पाँच स्कन्धरूप उस उभयहेतुक समुदायके स्वीकार करनेपर भी तदप्राप्ति—समुदायकी अप्राप्ति है, समुदायभावकी अनुपपत्ति है ऐसा अर्थ है। क्योंकि समुदायी अचेतन है, चित्ताभिज्वलन समुदाय सिद्धिके अधीन है और अन्य किसी स्थिर चेतन भोक्ता वा शासिताको संघातकर्तृरूपसे स्वीकृत नहीं किया गया है। अपेक्षा रहित प्रवृत्ति स्वीकार करें तो प्रवृत्तिका अनुपरम प्रसंग हो जायगा। आशय-सन्तान (विज्ञान प्रवाह) का भी संतानीसे अन्यरूपसे अथवा अनन्यरूपसे निरूपण नहीं किया जाता और उसे क्षणिक स्वीकार करनेसे व्यापार रहित होनेके कारण उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए समुदायकी अनुपपत्ति है। समुदायकी अनुपपत्ति होनेपर तदाश्रय लोकयात्रा (व्यवहार) लुप्त हो जायगी ॥ १८ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

(मैं, मैं) ऐसा आलय विज्ञानका प्रवाह विज्ञान स्कंध है। सुखादिका अनुभव वेदना स्कंध है। राग, द्वेष, मोह, धर्म, अधर्म आदि संस्कार स्कंध है। इनमें विज्ञान स्कंध-चित्त-आत्मा कहा जाता है और अन्य चार स्कंध चैत्त-चित्तके कार्य कहे जाते हैं, यह आध्यात्मिक स्कंध है। यह सर्व लोकयात्राका निर्वाहक है। अवयवोंसे भिन्न अवयवीकी उपलब्धि न होनेसे अवयवोंका ही समुदायमात्र है। जो सत् है वह क्षणिक है यथा विद्युत्। बाह्य और आंतर सब क्षणिक है, यह उनका सिद्धांत है।

* सिद्धान्ती—सृष्टिके आरम्भमें परमाणुओं अथवा स्कन्धोंका समुदाय स्वतः नहीं हो सकता, क्योंकि वे अचेतन हैं। चित्तसंज्ञक विज्ञान भी समुदायका हेतु नहीं है, कारण कि देहाकार संघात होनेपर विज्ञान होता है और विज्ञान होनेपर देहाकार संघात होता है, इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। क्षणिक विज्ञानसे भिन्न किसी संघातकर्तृ स्थिर भोक्ता चेतन जीव अथवा शास्ता ईश्वरको तुम स्वीकृत नहीं करते। यदि कहो कि किसी अन्यकी अपेक्षा किए विना अणु और स्कन्ध स्वयं ही संघात करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं, तो ऐसा माननेपर किसी अन्य नियामकके न होनेके कारण संतत प्रवृत्ति होनेसे मोक्षाभाव प्रसंग होगा। यदि कहो कि आलय विज्ञान संतान संघातकर्ता है, तो वह संतानियोंसे भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है तो स्थिर है कि क्षणिक? यदि स्थिर है तो विज्ञान नामसे

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

पदच्छेद—इतरेतरप्रत्ययत्वात्, इति, चेन्, न, उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्।

सूत्रार्थ—(इतरेतरप्रत्ययत्वात्) अविद्या आदिके परस्पर कारण होनेसे घटीयन्त्रके अविद्या आदिके सदा घूमनेपर अर्थात् आदिन संघातकी उपपत्ति होती है, (इति चेन्न) ऐसा कहो तो यह युक्त नहीं है, (उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्) क्योंकि वे केवल उत्पत्तिमें निमित्त हैं।

❀ यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतनः संहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते विद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा। तस्यां चोपपद्यमानायां न किञ्चि पेक्षितव्यमस्ति। ते चाविद्यादयोऽविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो तृष्णा उपादानं भवो जातिर्जरा मरणं शोकः परिदेवना दुःखं दुर्मनस्तेत्येवंजातीयका तरहेतुकाः सौगते समये क्वचित्संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित्प्रपञ्चिताः। सर्वेषामप्ययमविद्या लापोऽप्रत्याख्येयः। तदेवमविद्यादिकलापे परस्परनिमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रव

पूर्वपक्षी—यद्यपि भोक्ता अथवा प्रशासिता, संघातकर्ता कोई स्थिर चेतन स्वीकार नहीं जाता है, तो भी अविद्या आदि परस्पर कारण होनेसे लोक यात्रा हो सकती है, उसके उप (सिद्ध) होनेपर अन्य कोई अपेक्षितव्य नहीं है। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षड स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिवेदना, दुःख और दुर्मनस्ता प्रकारके परस्पर कारणभूत वे अविद्या आदि बौद्ध सिद्धान्तमें कहीं संक्षेपसे और कहीं विस्तारसे किए गए हैं। यह अविद्या आदि कलाप सब वादियोंसे भी प्रत्यख्यान करनेके योग्य नहीं है। यदि कहो कि इसप्रकार अविद्या आदि समुदायके परस्पर निमित्त-नैमित्तक भाव कार्य कारणरूपसे

सत्यानन्दी दीपिका

आत्मा ही है, इससे वेदान्त सिद्धान्तका प्रसंग होगा। क्षणिक मानें तो उसमें किसी उत्पत्ति भूत व्यापार नहीं हो सकता, इसलिए परमाणु आदिका मेलन करनेके लिए उस सन्तानमें अनुपपन्न है। यदि उसमें प्रवृत्ति मानें तो वह क्षणिक नहीं रहेगा। इस मतमें प्रथम क्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीयक्षणमें नष्ट होती है, अतः वह क्षणिक कही जाती है। इससे इस मध्यमें जनक व्यापार नहीं हो सकता। इसप्रकार परमाणु भी क्षणिक हैं उनमें भी समुदाय होनेकी नहीं हो सकती। यदि संतान संतानियोंसे अनन्य है तो पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष है। इसलिए कर्ताके न होनेसे दोनों प्रकारका समुदाय नहीं हो सकता है ॥ १८ ॥

❀ क्षणिक पदार्थोंमें स्थिर बुद्धि अविद्या है अर्थात् अनित्य, अशुचि, असत् और शरीर आदि आकारमें परिणत अनात्मपदार्थोंमें नित्य, शुचि, सत् और आत्मबुद्धि अविद्या है। राग, द्वेष और मोह आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं जो विषयोंमें प्रवृत्त करते हैं। उन संस्का गर्भस्थका आद्य विज्ञान उत्पन्न होता है। उससे पृथिवी आदि चारभूत जो नामका आश्रय होनेसे शब्दसे कहे जाते हैं, उत्पन्न होते हैं। उससे रूप-सित-शुक्र और असित-शोणित उत्पन्न होते हैं। पृथिवी आदि चार भूत और रूप यह छः जिस इन्द्रिय समूहका स्थान हैं, अतः वह इन्द्रिय षड है। नाम, रूप और इन्द्रियोंका परस्पर संयोग स्पर्श है। उससे सुख आदिका अनुभवरूप उत्पन्न होती है। उससे विषयोंकी तृष्णा होती है। उससे वाणी और शरीर आदिकी चेष्टारूप उपादान है। उससे जन्मके हेतुभूत धर्म आदि उत्पन्न होते हैं। उससे जन्म-पाँच स्कन्ध उत्पन्न होता है। उत्पन्न स्कन्धोंका परिपाक जरा है, इनका नाश मरण है। मरते हुए पुत्र आदिके स्नेहसे जो अन्तर्दाह वह शोक है। उससे हा पुत्र! इत्यादि विलाप परिवेदना है।

वर्तमानेऽर्थाक्षिप्त उपपन्नः संघात इति चेत्—* तन्न, कस्मात्? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। वेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किंचिन्निमित्तमवगम्येत। न त्ववगम्यते। यत इतरेतर-त्ययत्वेऽप्यविद्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्तं भवद्भवेन्न तु संघातोत्पत्तेः किंचिन्निमित्तं संभवति। नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते संघात इत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यदि वदयमभिप्रायोऽविद्यादयः संघातमन्तरेणात्मानमलभमाना अपेक्षन्ते संघातमिति, तत-स्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम्। तच्च नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वाश्रयाश्रयिभूतेषु च क्तृषु सत्सु न संभवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायाम्। किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु भोक्तृ-हितेष्वाश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु संभवेत्? अथायमभिप्रायोऽविद्यादय एव घातस्य निमित्तमिति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः? अथ मन्यसे घाता एवानादौ संसारे संतत्यानुवर्तन्ते तदाश्रयाश्चाविद्यादय इति, तदपि संघातात्संघाता-रमुत्पद्यमानं, नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत। नियमाभ्युपगमे मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभावः प्राप्नुयात्। अनियमाभ्यु-गमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित्क्षणेन हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नु-

---

के समान सर्वदा आवर्तमान होनेसे अर्थात् आक्षिप्त संघात उपपन्न होता है। सिद्धान्ती—वह युक्त हीं है, क्योंकि वे उत्पत्ति मात्रके निमित्त हैं। यदि संघातका कोई निमित्त अवगत हो, तो संघात पन्न हो, परन्तु उसका कोई निमित्त अवगत नहीं होता, क्योंकि अविद्या आदि परस्पर कारण होने-र भी पूर्व पूर्व उत्तरोत्तरकी केवल उत्पत्तिका निमित्त होता हो, तो हो, परन्तु संघातोत्पत्तिका कोई मित्त नहीं हो सकता। परन्तु ऐसा कहा गया है कि अविद्यादिसे अर्थात् संघात आक्षिप्त होता है। त्तर कहते हैं—यदि यह अभिप्राय हो कि अविद्या आदि संघातके विना अपने स्वरूपको न प्राप्त होते र संघातकी अपेक्षा करते हैं, तो उससे उस संघातका निमित्त कहना चाहिए। वह वैशेषिक परीक्षामें ह दिया गया है कि अणुओंको नित्य मानने और आश्रयाश्रयिभूत स्थायी भोक्ताओंके विद्यमान होनेपर भी संघात नहीं हो सकता, तो हे अङ्ग! भोक्तृरहित अथवा आश्रयाश्रयिभावसे शून्य क्षणिक णुओंके माननेपर कैसे संभव होगा? यदि यह अभिप्राय हो कि अविद्या आदि ही संघातके मित्त हैं, तो उसका ही आश्रयकर अपने स्वरूपको प्राप्त होते हुए उसके ही निमित्त किसप्रकार गे! ऐसा यदि मानते हो कि संघात ही अनादि संसारमें निरन्तर प्रवाहरूपसे आवर्तमान हैं और नके आश्रयसे अविद्या आदि हैं, तो भी संघातसे उत्पन्न होता हुआ अन्य संघात नियमसे समान ी उत्पन्न होगा अथवा अनियमसे समान अथवा असमान उत्पन्न होगा। नियम स्वीकार करनेपर नुष्य शरीरको देवत्व, तिर्यग्योनित्व, नारकीयत्व प्राप्तिका अभाव प्राप्त होगा। अनियम स्वीकार रनेपर भी मनुष्य शरीर कभी क्षणभरमें हस्ति होकर अथवा देव अथवा पुनः मनुष्य होगा, ऐसा प्राप्त

सत्यानन्दी दीपिका

नुभव दुःख है। इससे मनोव्यथा दुर्मनस्ता होती है, और 'इति' शब्दसे मान, अपमान आदि गोंका संग्रह है। इसप्रकार अविद्या आदिका परस्पर कार्यकारण भाव होता है, इससे आक्षित दाय उपपन्न होता है।

* अविद्या आदि संघातको उत्पन्न करते हैं और संघात अविद्याको उत्पन्न करता है, ऐसा माननेसे अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है।

* 'पूर्यंते गलति चेति पुद्गलः-देहः' 'बढ़ता है और क्षीण होता है, अतः देह पुद्गल है।' अथवा 'पूर्यन्ते गलन्ति चेति पुद्गलाः शरीराम्भकाः परमाणवः' भोग और भोक्ता दोनों क्षणिक होनेसे न भोग है और न भोक्ता ही। इसलिए भोग और मोक्षका कथन असंगत है। भोग और मोक्ष

यात् । उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम् । अपि च यद्भोगार्थः संघातः स्यात्स नास्ति स्थिरो भो
तवाभ्युपगमः । ततश्च भोगो भोगार्थ एव, स नान्येन प्रार्थनीयः । तथा मोक्षो मोक्षार्थ
मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम् । अन्येन चेत्प्रार्थ्येतोभयम्, भोगमोक्षकालावस्थायिना
भवितव्यम् । अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोधः । तस्मादितरेतरोत्पत्तिमात्रनिमि
मविद्यादीनां यदि भवेद्भवतु नाम, नतु संघातः सिध्येत्, भोक्त्रभावादित्यभिप्रायः ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

पदच्छेद—उत्तरोत्पादे, च, पूर्वनिरोधात् ।

सूत्रार्थ—(च) और (उत्तरोत्पादे) उत्तर कार्य क्षणकी उत्पत्तिके समयमें (पूर्वनिरो
पूर्व कारण क्षणका नाश माननेपर सुगत मतमें हेतुके अधीन भी कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती

* उक्तमेतत्—अविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न संघातसिद्धिरस्तीति ।
तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न संभवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते । क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगम
स्मिन्क्षण उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत इति । न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः
तुफलभावः शक्यते संपादयितुम् । निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वा
क्षणहेतुत्वानुपपत्तेः । अथ भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभि
स्तथापि नोपपद्यते, भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसंबन्धप्रसङ्गात् । अथ
एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते, हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसंभ

होगा । किन्तु ये दोनों सिद्धान्तके विरुद्ध हैं । और जिसके भोगके लिए संघात होगा, वह
स्थिर नहीं है ऐसा तुम्हारा स्वीकार-सिद्धान्त है, उससे भोग भोगके लिए होगा दूसरेसे प्रार्थ
होगा । उसीप्रकार मोक्ष मोक्षके लिए ही होगा, इससे अन्य मुमुक्षु नहीं होना चाहिए । यदि
अन्यसे प्रार्थित हैं तो भोग और मोक्ष काल पर्यन्त वह स्थायी होना चाहिए । स्थायित्व मा
क्षणिकत्व सिद्धान्तका विरोध होता है । इसलिए यदि अविद्या आदि केवल परस्परकी उत्पत्तिमें
होते हों, तो हों, परन्तु स्थायी भोक्ताके न होनेसे संघात सिद्ध नहीं होगा, ऐसा अभिप्राय है ॥

यह कहा गया है कि अविद्या आदि परस्पर केवल उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे संघात
नहीं होती, परन्तु वे उत्पत्तिमात्रके भी निमित्त नहीं हो सकते, अब इसका उपपादन किया जा
क्षणभङ्गवादीका यह स्वीकार-सिद्धान्त है कि उत्पद्यमान उत्तर क्षणमें पूर्वक्षणका नाश हो
ऐसा स्वीकार करनेवाले तुमसे पूर्व और उत्तर क्षणका कार्यकारणभाव सम्पादन नहीं किया जा
नष्ट होता हुआ अथवा नष्ट हुआ पूर्वक्षण अभाव ग्रस्त होनेसे उत्तरक्षणका कारण नहीं हो
यदि यह अभिप्राय है कि भावरूप सिद्धावस्थापन्न पूर्वक्षण उत्तरक्षणका हेतु है, तो भी उपप
होता, क्योंकि भावरूपमें पुनः व्यापारकी कल्पना करनेपर अन्य क्षणके साथ सम्बन्ध प्रसंग होगा ।
यह अभिप्राय हो कि भाव (उत्पत्ति) ही इसका व्यापार है, तो भी उपपन्न नहीं होगा, कारण कि
स्वभावसे उपरक्त (सम्बद्ध) न हुए कार्यकी उत्पत्ति संभव नहीं है, स्वभावसे उपराग स्वीकार

सत्यानन्दी दीपिका

अपने लिए नहीं होते, किन्तु अन्यके लिए । अतः भोग और मोक्षकी सार्थकताके लिए भोक्ता
मुमुक्षु भोग और मोक्ष पर्यन्त स्थायी मानना होगा, तब तो क्षणिक सिद्धान्तका बाध होगा । इस
स्थायी चेतन भोक्ताके विना संघात असिद्ध है ॥ १९ ॥

* बौद्ध लोग दो प्रकारकी कार्योत्पत्ति मानते हैं—एक हेतुके अधीन और दूसरी
अधीन । उन दोमें 'अविद्यासे संस्कारकी उत्पत्ति और संस्कारसे विज्ञानकी उत्पत्ति' यह पहला

स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्यागप्रसङ्गः। विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः। अपि चोत्पादनिरोधौ नाम वस्तुनः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा। सर्वथापि नोपपद्यते। यदि तावद्वस्तुनः स्वरूपमेवोत्पादनिरोधौ स्यातां, ततो वस्तुशब्द उत्पादनिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः। अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येतोत्पादनिरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति, एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसंबन्धित्वाद्वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः। अथात्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः। यदि च दर्शनादर्शने वस्तुन उत्पादनिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव। तस्मादप्यसंगतं सौगतं मतम् ॥२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

पदच्छेद—असति, प्रतिज्ञोपरोधः, यौगपद्यम्, अन्यथा।

सूत्रार्थ—(असति) कारणके विना कार्योत्पत्ति माननेपर (प्रतिज्ञोपरोधः) प्रतिज्ञाका बाध होगा, (अन्यथा) कार्य पर्यन्त कारणकी स्थिति होनेसे (यौगपद्यम्) दोनोंको एक समयमें विद्यमान होनेसे क्षणिकत्व प्रतिज्ञाकी हानि होगी।

तो हेतुस्वभावको फल (कार्य) पर्यन्त स्थायी होनेपर क्षणभंग सिद्धान्तका त्याग प्रसंग हो जायगा। अथवा हेतुस्वभावसे उपरक्त हुए विना ही कार्यकारणभाव स्वीकार करनेवाले तुमको सर्वत्र उसकी प्राप्ति होनेसे अतिप्रसंग होगा। किञ्च उत्पाद और निरोध वस्तुका स्वरूप ही हो अथवा अन्य अवस्था हो वा अन्य वस्तु ही हो, सर्वथा भी उपपन्न नहीं होता। यदि उत्पत्ति और विनाश वस्तुके स्वरूप हों तो उससे वस्तु शब्द, उत्पत्ति और विनाश शब्द पर्याय होंगे अर्थात् एक ही पदार्थके दो नाम हैं। यदि उत्पत्ति और विनाश शब्दोंसे मध्यवर्ती वस्तुकी आदि और अन्तिम अवस्थाएँ हैं ऐसा कोई विशेष है, ऐसा मानें, तो ऐसा होनेपर भी वस्तुका आदि, मध्य और अन्त तीन क्षणके साथ सम्बन्ध होनेसे इसमें क्षणिकत्व सिद्धान्तकी हानि होगी। यदि अश्व और महिषके समान उत्पाद और निरोध वस्तुसे अत्यन्त भिन्न हों, तो उससे उत्पाद और निरोधसे वस्तु असम्बद्ध होगी, इससे वस्तुके शाश्वत होनेका प्रसंग हो जायगा। यदि दर्शन और अदर्शन वस्तुका उत्पाद और निरोध हों, तो ऐसा होनेपर भी वे द्रष्टाके धर्म होंगे वस्तुके धर्म नहीं होंगे, इससे वस्तुके शश्वत होनेका ही प्रसंग होगा। इससे भी सौगत मत असंगत है ॥ २० ॥

सत्यानन्दी दीपिका

है। 'पृथिवी आदि समुदायसे शरीर उत्पन्न होता है' यह द्वितीय प्रकार है। उनमेंसे प्रथम प्रकार स्वीकारकर संघातकर्ताके अभावसे दूसरा प्रकार दूषित किया जा चुका है। अत्र सूत्रकार 'उत्तर' इस सूत्रसे प्रथम प्रकारको भी दूषित करते हैं। बौद्ध लोग क्षणिक पदार्थको क्षण शब्दसे कहते हैं। उनके मतमें प्रत्येक कार्य प्रथम क्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीय क्षणमें स्वयं नष्ट होता हुआ अपने समान दूसरे कार्यको उत्पन्नकर नष्ट हो जाता है। यह नाशग्रस्त द्वितीय क्षण अन्य कार्यका उत्पत्ति क्षण कहलाता है। इसप्रकार पूर्वक्षण उत्तर क्षणका कारण है। 'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैवोच्यते' (जिन क्षणिक पदार्थोंकी जो उत्पत्ति है वही क्रिया और वही कारण कही जाती है) यह सिद्धान्त है। यदि उत्पत्ति ही व्यापार मानें तो भी कार्यकारणभाव नहीं हो सकता, क्योंकि हेतुके स्वरूपके साथ सम्बद्ध (तादात्म्यापन्न) हुए विना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता ॥२०॥

* क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम्। अथ सत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, ततः प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्। चतुर्विधान्हेतून्प्रतीत्य चित्तचै उत्पद्यन्त इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धात्सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत। अथोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्ततो यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात्। तथा प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात्। क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत ॥२१॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

पदच्छेद—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः, अविच्छेदात्।

सूत्रार्थ—(प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः) सन्तान और सन्तानियोंमें बुद्धिपूर्वक नाश औ अबुद्धिपूर्वक नाशका सम्भव नहीं है, (अविच्छेदात्) क्योंकि सन्तान और सन्तानियोंका विच्छेद होता, इससे नाश द्वय नहीं हो सकता।

* अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति—बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं च तदपि च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते। त्रयमपि चैतदवस्त्वभा मात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते, बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसंख्यानिरोधो न भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति। तेषामा

यह कहा गया है कि क्षणभङ्गवादमें पूर्वक्षण निरोध ग्रस्त होनेसे उत्तरक्षणका हेतु नहीं है। यदि हेतु के न रहनेपर भी कार्योत्पत्ति कहो, तो उससे प्रतिज्ञाका बाध होगा। चार प्रकारके हेतुओं प्राप्त कर चित्त और चैत्त उत्पन्न होते हैं, इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। निर्हेतुक उत्पत्ति माननेपर बन्धके न होनेसे सब सर्वत्र उत्पन्न होंगे। यदि यह कहो कि उत्तरक्षणकी उत्पत्ति पर्यन्त पूर्व अवस्थित रहेगा, तो कार्य और कारण समकालीन हो जायँगे, तो भी प्रतिज्ञाका बाध ही है सब संस्कार क्षणिक हैं यह प्रतिज्ञा बाधित होगी ॥ २१ ॥

वैनाशिक और भी कल्पना करते हैं कि बुद्धि बोध्य (प्रमेयमात्र), उत्पाद्य और क्षणिक तीनसे भिन्न हैं। और उन तीनको भी प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश, कहते हैं। ये तीन भी अवस्तु-अभाव मात्र तुच्छ हैं, ऐसा मानते हैं। भावोंका बुद्धिपूर्वक वि प्रतिसंख्यानिरोध, उसके विपरीत अप्रतिसंख्तानिरोध और आवरणका अभाव मात्र आकाश है

सत्यानन्दी दीपिका

* कार्यकी उत्पत्ति निर्हेतुक है कि सहेतुक? यदि हेतु रहित है तो प्रतिज्ञाकी हानि हो क्योंकि विषय, करण, सहकारी और संस्कार ये चार प्रकारके हेतु हैं। ये बौद्ध ग्रंथोंमें क्रमशः आल प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, सहकारिप्रत्यय और समनन्तर प्रत्यय नामसे प्रसिद्ध हैं। यहाँ प्रत्यय कारण है। इनको प्राप्तकर चित्त-रूप आदि विज्ञान और चैत्त-चित्तात्मक सुख आदि उत्पन्न हों यह प्रतिज्ञा है। जैसे चित्त विषयके होनेपर ही विषयाकार होता है, इसलिए विषय आलम्बन है। चक्षु करण-अधिपति प्रत्यय है, आलोक सहकारी-प्रत्यय है और संस्कार अव्यवहित पूर्ववृत्ति है, इससे संस्कार समनन्तर पूर्वप्रत्यय है। यदि इन कारणोंके विना भी कार्यकी उत्पत्ति मानें, तो प्रतिज्ञाका बाध होगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा हानि पुरुषका दोष कहकर अब 'निर्हेतुकायाम्' इत्य वस्तुके दोषको भी कहते हैं ॥ २१ ॥

* इस अधिकरणके प्रथम दो सूत्रोंसे समुदायका खण्डन किया गया और गत दो सूत्रोंसे कारण भाव और क्षणिकत्वका निराकरण किया गया है। अब बौद्धके अभिमत दो प्रकारके विना 'प्रतिसंख्या' आदिसे दूषित करते हैं—प्रतिसंख्यानिरोध-संख्या-बुद्धि, प्रति-प्रतिकूल अर्थात् पदार्थके प्रतिकूल बुद्धि-विद्यमानको अविद्यमान करता हूँ, इस प्रकारकी बुद्धि प्रतिसंख्या है,

परस्तात्प्रत्याख्यास्यति। निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे। प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरप्राप्तिः। असंभव इत्यर्थः। कस्मात्? अविच्छेदात्। एतौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ संतानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ वा? न तावत्संतानगोचरौ संभवतः, सर्वेष्वपि संतानेषु संतानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन संतानविच्छेदस्यासंभवात्। नापि भावगोचरौ संभवतः। नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः संभवति, सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनान्वय्यविच्छेददर्शनात्। अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद्दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात्। तस्मात्परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः ॥२२॥

उभयथा च दोषात् ॥२३

सूत्रार्थ—उभयथा, च, दोषात्।

पदच्छेद—(उभयथा च) अविद्याका सम्यग्ज्ञानसे नाश होता है अथवा अपने आप? दोनों प्रकारसे भी दोष होनेके कारण सौगत मत असंगत है।

❀ योऽयमविद्यादिनिरोधः प्रतिसंख्यानिरोधान्तःपाती परपरिकल्पितः, स सम्यग्ज्ञा-

---

कहते हैं। उनमेंसे आकाशका आगे प्रत्यख्यान करेंगे। इस समय दोनों निरोधोंका निराकरण करते हैं—प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोधकी अप्राप्ति-असम्भव है, ऐसा अर्थ है। क्योंकि उनका अविच्छेद है। ये प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध सन्तान गोचर होंगे अथवा भाव गोचर? सन्तान गोचर तो नहीं हो सकते, क्योंकि सर्व सन्तानोंमें सन्तानियोंके विच्छेद रहित कार्यकारण भाव होनेसे सन्तानके विच्छेदका सम्भव नहीं है। इसी प्रकार भाव गोचर भी नहीं हो सकते, क्योंकि भावोंका निरन्वय अवस्तु-अलीक विनाश नहीं हो सकता, कारण कि सब अवस्थाओंमें भी प्रत्यभिज्ञानके बलसे अन्वयीका विच्छेद नहीं देखा जाता, अस्पष्ट प्रत्यभिज्ञानवाली अवस्थाओंमें भी कहींपर देखे गये अन्वयीके अविच्छेदसे अन्यत्र भी उसका अनुमान होता है। इसलिए वैनाशिक परिकल्पित निरोध द्वयकी अनुपपत्ति है ॥ २२ ॥

प्रतिसंख्यानिरोधके अन्तर्भूत जो यह अविद्यादि निरोध पर परिकल्पित है, वह सहायक साधन

सत्यानन्दी दीपिका

किया हुआ विनाश प्रतिसंख्यानिरोध है। इससे विपरीत अबुद्धिपूर्वक अपने आप नष्ट होनेवाले स्तम्भ आदिका नाश अप्रतिसंख्यानिरोध है। ये दोनों निरोध सन्तानमें है कि सन्तानीमें? प्रथमपक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि भावपदार्थोंका कार्यकारणरूपसे प्रवाह सन्तान है। उसका अन्तिम-द्वितीयक्षण अन्य क्षणको उत्पन्न करता है कि नहीं? प्रथमपक्ष-तो वह अन्तिम क्षण नहीं कहा जायगा, क्योंकि सन्तानका प्रवाहका विच्छेद नहीं होता। यदि अन्तिम क्षण अन्य क्षणको उत्पन्न नहीं करता तो असत् होगा, क्योंकि अर्थक्रियाकारी (प्रयोजनवाला) ही सत् होता है और तद्भिन्न असत्। इसलिए सन्तानके विच्छेदका असम्भव होनेसे निरोधका भी असम्भव है। दूसरा पक्ष-सन्तानियोंमें निरोध है, तो भाव पदार्थोंका निरन्वय अथवा निरूपाख्य विनाश नहीं होता, जैसे घट, कपाल, चूर्ण आदि अवयवोंमें वह वही मृत्तिका है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा होनेसे अन्वयिभाव मृत्तिका आदिका अत्यन्त विनाश नहीं होता। जहाँ अंकुर आदिमें 'यह वही बीज है' ऐसी स्पष्ट प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, वहाँपर 'अंकुरादयः अनुस्यूतान्वयिभावस्थाः कार्यत्वात् घटवत्' 'अंकुरादि अनुस्यूतान्वयी पदार्थमें स्थित हैं, कार्य होनेसे घटके समान' इस प्रकार अन्वयीका अनुमान किया जाता है। 'उदबिन्दौ च सिन्धौ च तोयभावो न भिद्यते। विनष्टेऽपि बिन्दावस्ति तस्यान्वयोऽम्बुधौ' (जलबिन्दु और समुद्रमें जलरूपसे भेद नहीं है, इसलिए जल बिन्दुका समुद्रमें विनाश होनेपर भी उसका समुद्रमें अन्वय है) इससे सिद्ध हुआ कि किसी भी भावपदार्थका निरन्वय नाश नहीं होता, इसलिए दोनों निरोध असंगत हैं ॥ २२ ॥

नाद्वा सपरिकरात्स्यात्स्वयमेव वा ? पूर्वस्मिन्विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्
एवमुभयथापि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिदं दर्शनम् ॥२३॥

आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

पदच्छेद—आकाशे, च, अविशेषात् ।

सूत्रार्थ-(आकाशे च) 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इस श्रुतिसे और शब्द गुण विशिष्ट
आकाशमें भी (अविशेषात्) पृथिवीत्व आदिके समान वस्तुत्वकी प्रतीति होती है, अतः अवस्तु नहीं

* यच्च तेषामेवाभिप्रेतम्—निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोधद्व
निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निराकृतम । आकाशस्येदानीं निराक्रियते । आकाशे चायुक्तो निरु
ख्यत्वाभ्युपगमः, प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात् । आग
प्रामाण्यात्तावत् 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च वस्तु
प्रसिद्धिः । विप्रतिपन्नान्प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यम्, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्या
वस्त्वाश्रयत्वदर्शनात् । अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावर
विद्यमानत्वात्सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः । यत्रावरणाभावस्तत्र पतिष्य
चेत्—येनावरणाभावो विशेष्यते तत्तर्हि वस्तुभूतमेवाकाशं स्यात्, नावरणाभावमात्र

सहित सम्यग्ज्ञानसे है अथवा स्वयं ही । पूर्व विकल्पमें निर्हेतुक विनाशके अभ्युपगमकी हानिका प्र
होगा । द्वितीय विकल्पमें मार्गोपदेशका आनर्थक्य प्रसङ्ग होगा । इस प्रकार दोनों प्रकारसे दो
प्रसङ्ग होनेसे भी यह दर्शन असंगत है ॥२३॥

जो उन-बौद्धोंको अभिप्रेत है कि दोनों निरोध और आकाश निरुपाख्य-तुच्छ हैं, उनमें
निरोधोंका तुच्छत्व पहले निराकरण किया गया, अब आकाशके तुच्छत्वका निराकरण किया जा
आकाशमें तुच्छत्व स्वीकार अयुक्त है, क्योंकि उसमें प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोधके स
वस्तुत्वकी प्रतिपत्ति समान है । उसमें आगम प्रमाणसे वस्तुत्व है 'आत्मन० (आत्मासे आ
उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशमें वस्तुत्व प्रसिद्धि है । आगम प्रामाण्य न माननेवाले
पक्षियोंके लिए आकाश शब्द गुणानुमेय है ऐसा कहना चाहिए । कारण कि गन्ध आदि गु
पृथिवी आदि वस्तु आश्रयरूपसे देखनेमें आते हैं । किञ्च आकाशको आवरणाभाव मात्र मानने
मतमें एक पक्षीके उड़नेपर आवरण विद्यमान होनेसे उड़नेके अभिलाषी अन्य पक्षीको अनव
प्रसङ्ग होगा । यदि कहो कि जहाँपर आवरणका अभाव है वहाँ पर उड़ेगा, तो जिससे आवरण
विशेषित होता है तब तो वस्तुभूत आकाश है आवरणका अभावमात्र नहीं है । और आ

सत्यानन्दी दीपिका

* यम, नियम और श्रवण, मनन आदि सम्यग्ज्ञान की सामग्री है । यदि इसप्रकार
सहित सम्यग्ज्ञानसे अविद्या आदिका विनाश मानें तो विना कारणके नाशका सिद्धान्त च
जायगा । 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, सर्वं दुःखं दुःखम्, सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम् । (सर्व क्ष
क्षणिक है, सर्व दुःख है दुखः है, सर्व स्वलक्षण है स्वलक्षण (स्वरूप प्रतीति) है,
है शून्य है) इन भावनाओंके अभ्याससे परिपक्व होनेपर निर्वाण होता है यह बौद्ध सिद्धान्त है
अविद्या स्वतः ही निवृत्त हो जायगी तो यह मार्गोपदेश व्यर्थ हो जायगा, इस प्रकार दोनों
दूषित होनेसे यह बौद्धदर्शन अयुक्त है ॥२३॥

'आकाशं वस्तु कार्यत्वात् घटवत्' 'आकाश वस्तु है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट'
'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशका कार्यत्व सिद्ध है, तो भी श्रुतिप्रमाण
माननेवालोंके लिए अनुमानसे सिद्ध किया जाता है । 'शब्दः सामान्यविशेषसमवायेभ्योभिन्नः

अपि चावरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत। सौगते हि समये 'पृथिवी भगवः किं संनिश्रया' इत्यस्मिन्प्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किं संनिश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति—'वायुराकाशसंनिश्रयः' इति। तदाकाशस्यावस्तुत्वेन समञ्जसं स्यात्। तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम्। अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम्। न ह्यवस्तुनो नित्यत्वमनित्यत्वं वा संभवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य। धर्मधर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निरुपाख्यत्वम् ॥२४॥

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

पदच्छेद—अनुस्मृतेः, च।

सूत्रार्थ—उपलब्धिके अनन्तर उत्पन्न हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है, उससे भी प्रतित होता है कि अनुभवकर्ता आत्मा क्षणिक नहीं है।

अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात्। न च सा संभवति, अनुस्मृतेः। अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवानुस्मृतिः। सा चोपलब्ध्येककर्तृका सती संभवति, पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात्।

अभावमात्रको आकाश माननेवाले बौद्धको अपने स्वीकारसे विरोध प्रसक्त होगा, क्योंकि बौद्धदर्शनमें 'पृथिवी भगवः०' (हे भगवन्! पृथ्वी किसमें आश्रित है) इस प्रश्नोत्तरके प्रवाहमें पृथ्वी आदिके अन्तमें 'वायुः किं०' (वायु किसमें आश्रित है) इस प्रश्नका 'वायुराकाश०' (वायु आकाशमें आश्रित है) यह उत्तर है। आकाशको अवस्तु माननेपर वह संगत नहीं होगा, इससे भी आकाशका अवस्तुत्व अयुक्त है। और दोनों निरोध और आकाश ये तीनों निरुपाख्य, अवस्तु और नित्य हैं यह परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि अवस्तु नित्य अथवा अनित्य नहीं हो सकती, कारण कि धर्मधर्मि व्यवहार वस्तु आश्रित है, धर्मधर्मिभाव होनेपर घट आदिके समान वस्तुत्व ही होगा तुच्छत्व नहीं ॥ २४ ॥

और इसके अतिरिक्त वैनाशिक सब वस्तुकी क्षणिकता स्वीकार करते हुए उपलब्धाकी भी क्षणिकता स्वीकार करे, वह नहीं हो सकता, क्योंकि अनुस्मृति है। अनुभव-उपलब्धिके अनन्तर उत्पन्न हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है। उसका और उपलब्धिका एक कर्ता हो तभी वह हो सकती है, क्योंकि एक पुरुषके अनुभवके विषयमें अन्य पुरुषकी स्मृति नहीं देखी जाती। 'मैंने यह देखा, मैं यह

सत्यानन्दी दीपिका

शब्द शब्दत्व जाति विशिष्ट होनेसे सामान्य, विशेष और समवायसे भिन्न है।' 'शब्दो गुणः स्पर्शरहितवाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् रूपादिवत्' 'शब्द गुण है, क्योंकि स्पर्श रहित वाह्येन्द्रियसे ग्राह्य है, जैसे रूपादि' इस अनुमानसे शब्द गुण सिद्ध होनेपर वह किस द्रव्यका गुण है, आगे सिद्ध करते हैं—'शब्दः वस्तुनिष्ठः गुणत्वात् गन्धादिवत्' 'शब्द गुण होनेसे वस्तुनिष्ठ है, जैसे गन्ध आदि' शब्द वाह्येन्द्रिय ग्राह्य होनेसे आत्मा और मनका गुण नहीं हो सकता। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और दिशा आदि श्रोत्र मात्र ग्राह्य शब्द गुणके आश्रय नहीं हो सकते। अवशिष्ट आकाश ही शब्दका आश्रय सिद्ध होता है। गुण वस्तुमें रहता है अवस्तुमें नहीं, अतः आकाश वस्तु है। किञ्च जैसे एक घटके विद्यमान होनेपर घट सामान्यका अभाव नहीं होता, वैसे ही एक पक्षीके विद्यमान होनेपर मूर्तद्रव्य सामान्याभावात्मक आकाश नहीं है, इससे अन्य पक्षीका सञ्चार नहीं होगा। यदि उसकी सिद्धीके लिए किसी देश विशेषावच्छेदेन आवरणाभाव मानें तो अभावावच्छेदक देश ही तो आकाश है, क्योंकि तुच्छ देश विशेष आदिसे विशिष्ट नहीं होता, इससे आकाश भावात्मक पदार्थ है ॥ २४ ॥

कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नसति प्रत्ययः स्यात् ? अपि
दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन्प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य—प्रसिद्धोऽहमदोऽद्रा
मिदं पश्यामीति । यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात्ततोऽहमद्राक्षीदिति प्रतीयात्, नत्वेवं प्रती
कश्चित् । यत्रैवं प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारं सर्वलोकोऽवगच्छति—स्मराम्य
मसावदोऽद्राक्षीदिति । इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिकोऽप्यात्मानमे
कर्तारमवगच्छति । न नाहमित्यात्मनो दर्शनं निर्वृत्तं निह्नुते—यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश
वा । तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणलक्षणक्षणद्वयसंबन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहा
वैनाशिकस्य स्यात् । * तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन्नेककर्तृका
त्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीरा जन्मन आत्मैककर्तृकाः प्रतिसंदधानः कथं क्षणभङ्गवा
वैनाशिको नापत्रपेत ? स यदि ब्रूयात् सादृश्यादेतत्संपत्स्यत इति । तं प्रतिब्रूयात् । तेने
सदृशमिति द्वयायत्तत्वात्सादृश्यस्य, क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याभावा
सादृश्यनिमित्तं प्रतिसंधानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात् । स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सा

देखता हूँ' यह प्रत्यय पूर्वोत्तर एक द्रष्टाके न होनेपर कैसे होगा ? किन्तु अनुभव और स्मरणका
कर्ता होनेपर 'मैंने यह देखा था, मैं यह देखता हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय सर्वलोकमें प्रसिद्ध
यदि उन दोनोंके भिन्न कर्ता हों, तो उससे 'मैं स्मरण करता हूँ, अन्यने देखा था' ऐसी प्रतीति हो
परन्तु किसीको भी ऐसी प्रतीति नहीं होती । जहाँ ऐसी प्रतीति होती है वहाँ ज्ञान और स्मरणके
कर्ताओंको सब लोग जानते हैं कि 'मैं स्मरण करता हूँ, उसने यह देखा ।' परन्तु यहाँ तो 'मैंने
देखा' इस दर्शन और स्मरणका एक ही कर्तारूपसे आत्माको वैनाशिक भी स्वीकार करता है
आत्माका जो कर्तारूपसे ज्ञान हुआ है उसका 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कहकर अपलाप नहीं कर सकता ।
अग्निका 'अनुष्ण है अथवा अप्रकाश है' ऐसा कहकर अपलाप नहीं कर सकता । वहाँ ऐसा होने
एकका दर्शन और स्मरणरूप दो क्षणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे वैनाशिक को क्षणिकत्व सिद्धान्त
हानि तो अपरिहार्य ही होगी । उसी प्रकार वर्तमान दशासे लेकर अन्तिम उच्छ्वासपर्यन्त
पर्यन्त एकके पीछे एक अपनी ही प्रतीतिको जिसका आत्मा ही कर्ता है ऐसा जानता हुआ और
लेकर वर्तमान क्षण पर्यन्त अभी तक हुई प्रतिपत्तियाँ आत्मकर्तृक प्रतिसन्धान करता हुआ क्षण
वादी वैनाशिक लज्जित क्यों नहीं होता । यदि वह ऐसा कहे कि सादृश्यसे यह प्रतिसंधान होता है
उसके प्रति कहना चाहिए कि 'तेनेदं सदृशम्' (यह उस जैसा है) ऐसा सादृश्य दोके अधीन
है, इससे दो सदृश वस्तुओंका ग्रहीता क्षण भंगवादीके मतमें एकके न होनेसे सादृश्य निमित्तक
संधान है, यह मिथ्या प्रलाप ही होगा । यदि पूर्व और उत्तर क्षणके सादृश्यका एक ग्रहीता है,

सत्यानन्दी दीपिका

* बाह्यार्थवादी बौद्धोंके सिद्धान्तका खण्डन करते समय प्रसंगवश क्षणिक विज्ञानवादीका
लिया गया है । उनके मतमें बाह्य पदार्थका अस्तित्व नहीं है, केवल अन्तर क्षणिक विज्ञान ही है
विज्ञान प्रथम क्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीय क्षणमें नष्ट होता हुआ अन्य विज्ञान को उत्पन्न कर
नष्ट हो जाता है । उनके मतमें जैसे दीप शिखा एक नहीं होतो तो भी सादृश्यसे 'यह वही शिखा है'
ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे आत्माके विषयमें सादृश्य दोषसे 'मैं वही हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है
सिद्धान्ती—'तेनेदं सदृशम्' यह सादृश्य अनुयोगी और प्रतियोगी दो पदार्थोंके अधीन होता है ।
'चन्द्रवन्मुखम्' जिसका सादृश्य वह प्रतियोगी और जिसमें सादृश्य वह अनुयोगी होता है ।
सदृशम्' इसमें एक विज्ञानाकार होनेसे तीन पदोंका प्रयोग न होगा और उनसे सम्बद्ध तीन पदार्थोंका
भी नहीं होगा, किन्तु यह लोक विरुद्ध है । पू०—यद्यपि 'तेनेदं सदृशम्' इसमें तीन पदार्थ प्रतीत होते

श्यस्य ग्रहीतैकः, तथासत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात् क्षणिकत्वप्रतिज्ञा पीड्येत। तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तरक्षणद्वयग्रहणनिमित्तमिति चेत्—न, तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात्। प्रत्ययान्तरमेव चेत्सादृश्यविषयं स्यात्तेनेदं सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात्। सादृश्यमित्येव प्रयोगः प्राप्नुयात्। ❀ यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते, तदा स्वपक्षसिद्धिः परपक्षदोषो वोभयमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसंतानमारोहति। एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम्। ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं प्रख्यापयेत्। न चायं सादृश्यात्संव्यवहारो युक्तः, तद्भावावगमात्तत्सदृशभावानवगमाच्च। भवेदपि कदाचिद्बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसंभवात्तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति संदेहः। उपलब्धरि तु संदेहोऽपि न कदाचिद्भवति—स एवाहं स्यां तत्सदृशो वेति, य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चिततद्भावोपलम्भात्। तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः ॥२५॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥

पदच्छेद—न, असतः, अदृष्टत्वात्।

सूत्रार्थ—(असतः) अभावसे कार्यकी उत्पत्ति (न) नहीं हो सकती, (अदृष्टत्वात्) क्योंकि असत् नरशृङ्ग आदिसे कार्योत्पत्ति नहीं देखी जाती।

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छतामभावा-

---

ऐसा होनेपर एकके दो क्षण पर्यन्त अवस्थित होनेसे क्षणिकत्व प्रतिज्ञा बाधित होगी। यदि कहो कि 'तेनेदं सदृशम्' यह भिन्न प्रत्यय है पूर्व और उत्तर दो क्षण ग्रहण निमित्तक नहीं है, तो ठीक नहीं है, क्योंकि 'तेन इदम्' इस प्रकार भिन्न पदार्थोंका ग्रहण होता है। यदि यह अन्य प्रत्यय है और सादृश्य बोधक है, तो 'तेनेदं सदृशम्' यह वाक्य प्रयोग अनर्थक होगा। 'सादृश्यम्' (सादृश्य) ऐसा ही प्रयोग प्राप्त होगा। जब तक लोक प्रसिद्ध पदार्थका परीक्षकोंके द्वारा परिग्रहण न हो तब तक स्वपक्षकी सिद्धि अथवा पर पक्षका दोष दोनों कहे हुए भी यथार्थरूपसे परीक्षकोंके और अपने बुद्धि सन्तानमें नहीं आयेंगे। यह पदार्थ ऐसा ही है, ऐसा जो निश्चित है उसीको कहना चाहिए। उससे भिन्न कहता हुआ केवल अपनेमें बहुप्रलापित्व प्रख्यापन करेगा। यह संव्यवहार सादृश्यसे होना युक्त नहीं है, क्योंकि 'वही यह' ऐसा तद्भावका ज्ञान होता है और 'उसके सदृश यह' उस प्रकार तत्सदृशभाव अवगत नहीं होता है। बाह्य वस्तुमें विप्रलम्भके संभव होनेसे 'वही यह है' अथवा 'उसके सदृश है' ऐसा सन्देह कदाचित् हो भी, परन्तु उपलब्धा-आत्मामें तो 'वही मैं हूं अथवा उसके सदृश हूं' ऐसा सन्देह कभी नहीं होता है, क्योंकि जिस मैंने पहले दिन देखा था वही मैं आज स्मरण करता हूं' इस प्रकार निश्चित तद्भावका उपलम्भ (ज्ञान) होता है। इससे भी वैनाशिक दर्शन अनुपपन्न है ॥२५॥

और इससे भी वैनाशिक दर्शन अयुक्त है, क्योंकि स्थिर और (कार्यमें) अनुस्यूत कारणका

सत्यानन्दी दीपिका

हैं, तो भी वे विज्ञानसे भिन्न नहीं हैं अर्थात् बाह्य नहीं हैं। सि०—तब तो 'तेनेदं सदृशम्' ऐसा वाक्य प्रयोग न होकर केवल 'सादृश्य' ऐसा प्रयोग प्राप्त होगा, परन्तु होता नहीं है।

* 'तेनेदं सदृशम्' इससे प्रतियोगी, अनुयोगी और सादृश्यके ग्रहीताका स्थायित्व दुर्वार है। यदि बाह्य पदार्थ कल्पित है, विज्ञानमात्र ही सत्य है और वह अन्तर है। तो किसीकी भी बाह्य प्रतीति या प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। इससे पदार्थ बाहर है और वह अक्षणिक है। इसलिए असंदिग्ध और अविपर्यस्त प्रत्यभिज्ञाके होनेसे वैनाशिक दर्शन अयुक्त है ॥ २५ ॥

द्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते । दर्शयन्ति चाभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इ विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात्क्षीराद्दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः। कूटस्थाच्चे त्कारणात्कार्यमुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत । तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कु दीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते । तत्रेदमुच्यते- 'नासतोऽदृष्टत्वात्' इ नाभावाद्भाव उत्पद्यते । यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात्कारणविशेषाभ्युपगमोऽन स्यात् । नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनां च नि भावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेव दधी जातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान्स्यात् । निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्यु शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन् । न चैवं दृश्यते । यदि पुनरभावस्यापि विशे ऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादि त्प्रसज्येत । नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्यात्, अभावत्वादेव, शशविषाणादिव अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात् । नचैवं दृश्यते, सर्वस्य च व स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात् । नच मृदन्विताः शरावादयो भावास्त दिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते । मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान्भावांल्लोकः प्रत्येति । यत्तु स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित्कूटस्थस्य वस्तुनः कारणत्वानुपपत्तेरभावाद्भावोत्पत्तिर्भ मर्हतीति—तद्दुरुक्तम्, स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णादीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचका कार्यकारणभावदर्शनात् । येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो लक्ष्यते तेष्वपि नाऽसावुपमृ

स्वीकार न करनेवालोंके मतमें अभावसे भावकी उत्पत्ति होगी, ऐसा प्रसङ्ग होगा। और 'नानुप (कारणके नाश हुए विना कार्यका प्रादुर्भाव नहीं होता, इसलिए अभावसे ही भावकी उत्पत्ति हो है) इस प्रकार वे अभावसे भावकी उत्पत्ति दिखलाते हैं। विनष्ट बीजसे अंकुर, विनष्ट दूधसे द और विनष्ट मृत्पिण्डसे घट उत्पन्न होता है। यदि कूटस्थ कारणसे कार्य उत्पन्न हो, तो कूटस्थ समान होनेसे सब सबसे उत्पन्न होगा। इसलिए अभाव ग्रस्त बीज आदिसे अंकुर आदि उत्पन्न होनेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है, ऐसा वे मानते हैं। उस पर यह कहते हैं कि 'नासतोऽदृष्ट त्वात्' अभावसे भाव उत्पन्न नहीं होता, यदि अभावसे भाव उत्पन्न हो, तो अभावत्वके सर्वत्र स होनेसे कारण विशेषका स्वीकार निष्फल हो जायगा। विनष्ट हुए बीज आदिका जो अभाव है अभावमें और शशविषाण आदिके निःस्वभावत्व-स्वरूपरहितत्वमें समानता होनेसे अभावत्वमें कु विशेष नहीं है, जिससे कि बीजसे ही अंकुर उत्पन्न होता है और दूधसे दधि, इस प्रकारके का विशेषका स्वीकार प्रयोजन वाला होना चाहिए। और निर्विशेष-विशेषरहित अभावको कारण स्वीकृत करनेसे शशविषाण आदिसे भी अंकुर आदि उत्पन्न होंगे, परन्तु ऐसा देखा नहीं जा जैसे नीलत्व आदि कमल आदिके विशेष हैं, वैसे यदि अभावका भी विशेष स्वीकार किया जाय विशेषवत्त्वके होनेसे कमल आदिके समान अभावको भी भावत्व प्रसक्त होगा। अभाव भी किसी उत्पत्तिका हेतु नहीं होता, क्योंकि वह शशविषाण आदिके समान अभाव है। यदि अभावसे भा उत्पत्ति होती तो सब कार्य अभावान्वित ही होता, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, क्योंकि सब पदा अपने-अपने स्वरूप भावरूपसे ही उपलब्ध होते हैं। मृत्तिकासे अन्वित शराव आदि पदार्थोंको त आदिके विकाररूपसे कोई भी स्वीकृत नहीं करता। लोग मृत्तिकाके विकारोंको मृत्तिकासे अन्वित भावरूपसे ग्रहण करते हैं। जो यह कहा गया है कि स्वरूपके नाश हुए विना किसी कूटस्थ व कारणत्व अनुपपन्न होनेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति होना युक्त है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यभि विषयभूत स्थिर स्वभाववाले सुवर्ण आदिका रुचिक आदिके साथ कार्यकारण भाव देखनेमें आता है

माना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगम्यते, अनुपमृद्यमानानामेवानुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात्। तस्मादसद्भ्यः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात्सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः। अपि च चतुर्भिश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते, परमाणुभ्यश्च भूतभौतिकलक्षणः समुदाय उत्पद्यत इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद्भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते ॥२६॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

पदच्छेद—उदासीनानाम् , अपि, च, एवम् , सिद्धिः ।

सूत्रार्थ—(च) और (एवम्) अभावसे भावोत्पत्ति माननेमें (उदासीनानामपि) तत् तत् कार्य सिद्धिमें प्रवृत्त न हुए लोगोंको भी (सिद्धिः) अपने अपने अभीष्ट कार्य सिद्ध होंगे, इससे भी बौद्धमत भ्रान्तिमूलक है ।

*यदि चाभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवं सत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात्। अभावस्य सुलभत्वात्। कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्। कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्यमत्रोत्पत्तिः। तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्यैव वस्त्रलाभः। स्वर्गापवर्गयोश्च न कश्चित्कथंचित्समीहेत। न चैतद्युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित्। तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः ॥२७॥

(५ अभावाधिकरणम् । सू० २८-३२)

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

पदच्छेद—न, अभावः, उपलब्धेः ।

सूत्रार्थ—(अभावः) विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थोंका अभाव (न) नहीं हो सकता, (उपलब्धेः) क्योंकि विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थोंकी उपलब्धि होती है ।

*एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी बौद्ध

जिन बीज आदिमें भी स्वरूपका नाश देखनेमें आता है उनमें भी नष्ट होती हुई यह पूर्वावस्था उत्तरावस्थाकी कारण नहीं मानी जाती, विनष्ट न हुए अनुस्यूत बीज आदिके अवयवोंको ही अंकुर आदिके प्रति कारणभाव स्वीकार किया जाता है, इससे असत् शशविषाण आदिसे सत्की उत्पत्ति नहीं देखी जाती और सत् सुवर्ण आदिसे सत्की उत्पत्ति देखनेमें आती है, अतः 'अभावसे भावकी उत्पत्ति' यह अभ्युपगम अनुपपन्न है । किञ्च अधिपति आदि चार कारणोंसे चित्त (विज्ञान) और चैत्त (सुख आदि) उत्पन्न होते हैं और परमाणुओंसे भूत भौतिक समुदाय उत्पन्न होता है, ऐसा स्वीकारकर पुनः अभावसे भावकी उत्पत्तिकी कल्पना करनेवाले और पूर्वस्वीकृतका निषेध करनेवाले बौद्धोंसे सब लोग व्याकुल किये जाते हैं ॥ २६ ॥

और यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति स्वीकार करें तो ऐसा माननेपर चेष्टा रहित उदासीन पुरुषोंको भी अभिमत सिद्धि हो जायगी, क्योंकि अभाव सर्वत्र सुलभ है । खेतके कार्यमें प्रयत्न न करनेवाले किसानको भी अन्नकी प्राप्ति हो जायगी। मृत्तिकाकी संस्कारक्रियामें प्रयत्न न करनेवाले कुलालके बर्तन उत्पन्न हो जायँगे, तन्तुओंकी ताना भरनी न करनेवाले जुल्लाहेको भी बुननेवालेके समान वस्त्र लाभ हो जायगा, स्वर्ग और मोक्षके लिए कोई भी किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करेगा । यह युक्त नहीं है और कोई स्वीकार भी नहीं करता। इसलिए अभावसे भावकी उत्पत्तिका यह स्वीकार अनुपपन्न है ।२७।

इसप्रकार बाह्यार्थवादका आश्रयकर समुदायकी अप्राप्ति आदि दूषणोंके उद्भावित किए जाने-

सत्यानन्दी दीपिका

* विज्ञानवादी योगाचारके मतमें क्षणिक विज्ञानसे भिन्न बाहर कोई पदार्थ नहीं है, घट पट

इदानीं प्रत्यवतिष्ठते । केषांचित्किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनु बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता । नासौ सुगताभिप्रायः, तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद प्रेतः । तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणान्तस्थ एव प्रमाणप्रमेयफलव्यवहार उपपद्यते । सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात् । कथं गम्यतेऽन्तस्थ एवायं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति ? दित्याह । स हि बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युस्तत्समूहा वा स्तम्भादयः तत्र न तावत्परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति, परमाण्वाभासज्ञानानु नापि तत्समूहाः स्तम्भादयः, तेषां परमाणुभ्योऽन्यत्वानन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्य एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत । ❀ अपि चानुभावमात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य मानस्य योऽयं प्रतिविषयं पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं घटज्ञानं पटज्ञानमिति,

---

पर अब विज्ञानवादी बौद्ध विवादके लिए उपस्थित होता है—किन्हीं (मन्द बुद्धि) शिष्यों पदार्थोंमें आग्रह देखकर उनके अनुरोधसे इस बाह्यार्थवाद प्रक्रियाकी रचना की । वस्तुतः यह अभिप्राय नहीं है । उसे तो केवल एक विज्ञानस्कन्धवाद ही अभिप्रेत है । उस विज्ञानवादमें आरूढरूपसे अन्तःस्थ होते हुए ही सब प्रमाण, प्रमेय और फल व्यवहार उपपन्न होते हैं, बाह्यार्थके होनेपर भी बुद्धिमें आरूढ हुए विना प्रमाण आदि व्यवहार नहीं हो सकते । अवगत हो कि यह सर्वव्यवहार अन्तःस्थ ही है विज्ञानसे भिन्न बाह्यार्थ नहीं है ? उसका बाहर न होनेसे ऐसा कहते हैं—स्वीकार किया हुआ यह बाह्यार्थ परमाणु ही है अथवा उनका समू आदि हैं ? उनमें परमाणु तो स्तम्भ आदि ज्ञानके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणुका रूप ज्ञान नहीं हो सकता, और न स्तम्भ आदि उनके समूह हैं, क्योंकि उनका परमाणुओंसे अन्य वा अनन्यरूपसे निरूपण नहीं किया जा सकता । इसीप्रकार जाति आदिका भी प्रत्याख्यान चाहिए । और भी, अनुभवमात्रसे जायमान साधारणरूप ज्ञानका स्तम्भ ज्ञान, कुड्य ज्ञान,

सत्यानन्दी दीपिका

आदि विज्ञानके आकार विशेष हैं और अन्तर हैं बाहर भ्रमसे प्रतीत होते हैं । बुद्धको केवल स्कन्धवाद ही अभिप्रेत था । इस विषयमें धर्मकीर्तिने भी कहा है—'देशना लोकनाथानां वशनुगाः' (सुगतके उपदेश शिष्योंकी बुद्धिके अनुसार हैं) यद्यपि बाह्यार्थके न होनेसे प्रमाण, आदि व्यवहार अनुपपन्न हैं, तो भी विज्ञान ही कल्पित घट, पट आदि आकाररूपसे प्रमेय है, अवभासरूपसे प्रमाणफल-प्रमिति, शक्तिस्वरूपसे प्रमाण और शक्तिके आश्रयरूपसे प्रमाता है, भेदकी कल्पनासे व्यवहार हो जायगा । बाह्यार्थके अभावमें यह अनुमान है—'ज्ञेयं ज्ञानाति तदतिरेकेणाऽसम्भवात् नरशृंगवत्' (ज्ञेय ज्ञानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि उससे भिन्न उसका जैसे नरशृङ्ग) विज्ञानवादी बाह्यार्थवादी बौद्ध मतका खण्डन करते हुए बाह्यार्थके असम्भवका करते हैं—यदि बाह्यार्थ परमाणुरूप हो तो उनके अतीन्द्रिय होनेसे 'एक स्थूल स्तम्भ है' नहीं होगा और परमाणुओंका समूह स्तम्भ तो बाहर असत् है उसकी प्रतीति कैसे होगी ? परन्तु परमाणु अथवा अवयवी न होनेपर भी जाति आदि होंगे ? बाह्यार्थ जाति, गुण और कर्म है, क्योंकि ये धर्मीसे अभिन्न हैं अथवा अत्यन्त भिन्न ? यदि अभिन्न हैं तो धर्मीके समान भाव नहीं होगा, उसीप्रकार अत्यन्त भिन्न होनेपर अन्य धर्मीके समान धर्मधर्मिभाव नहीं इनमें भेदाभेद मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध है । इसलिए जाति बाह्यार्थ नहीं है ।

❀ 'सहोपलम्भमियमादभेदो नीलतद्धियोः । भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्व

नगतविशेषमन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसारूप्यं ज्ञानस्याङ्गीकर्तव्यम्। अङ्गीकृते च स्मिन्विषयाकारस्य ज्ञानेनैवावरुद्धत्वादपार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना। अपि च सहोप- म्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति। न ह्यनयोरेकस्यानुपलम्भेऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति। चैतत्स्वभावविवेके युक्तं, प्रतिबन्धकारणाभावात्। तस्मादप्यर्थाभावः। स्वप्नादिवच्चेदं व्यम्। यथा हि स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राह- कारा भवन्ति, एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते, त्ययत्वाविशेषात्। कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते? वासनावैचित्र्यादित्याह। नादौ हि संसारे बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यं विप्रतिषिध्यते। अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते, प्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्योभाभ्यामप्यावाभ्यामभ्युपगम्यमा- त्वात्, अन्तरेण तु वासनामर्थनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य मयानभ्युपगम्यमानत्वात्। स्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—'नाभाव उपलब्धेः' इति। न खल्वभावो ह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्यो- र्थः—स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति। न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति। यथा हि श्चिद्भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयात्—नाहं भुञ्जे न वा तृप्या-

ज्ञान यह जो प्रत्येक विषयमें पक्षपात है, वह ज्ञान गत विशेषके विना नहीं हो सकता, इससे ज्ञानमें षयका सारुप्य (सादृश्य) अवश्य अंगीकार करना चाहिए। ज्ञानमें विषयके सारुप्यका अंगीकार नेपर विषयाकारको ज्ञानसे अवरुद्ध होनेसे बाह्यार्थके सद्भावकी कल्पना व्यर्थ है। और भी, सहो- लम्भके नियमसे विषय और विज्ञानका अभेद प्राप्त होता है, क्योंकि उनमें एकके उपलम्भ न होने- पर अन्यका उपलम्भ नहीं होता। और यह स्वभाव भेदमें युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्धका कोई रण नहीं है। इससे भी अर्थका अभाव है। और यह स्वप्न आदिके समान समझना चाहिए। से स्वप्न, माया, मरीच्युदक, गन्धर्वनगर आदि ज्ञान बाह्यार्थके विना ही ग्राह्य और ग्राहकरूपसे ते हैं, वैसे जाग्रत् विषयक स्तम्भ आदि ज्ञान भी हो सकते हैं, ऐसा अवगत होता है। क्योंकि दोनों नोंमें ज्ञानत्व समान है। परन्तु बाह्य अर्थके न होनेपर ज्ञानोंमें वैचित्र्य कैसे उपपन्न होता है? सनाओंके वैचित्र्यसे होता है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि अनादि संसारमें बीजाङ्कुरके समान विज्ञानों र वासनाओंके परस्पर निमित्तनैमित्तिक-कार्यकारणभावसे वैचित्र्यका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता र अन्वय और व्यतिरेकसे यह भी अवगत होता कि ज्ञान वैचित्र्य वासनानिमित्तक ही है। कारण स्वप्न आदिमें अर्थके विना वासनानिमित्तक ज्ञानवैचित्र्यको हम दोनों स्वीकार करते हैं, किन्तु सनाके विना अर्थ निमित्तक ज्ञानवैचित्र्यको मैं स्वीकार नहीं करता, इससे भी बाह्य अर्थका अभाव है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'नाभाव उपलब्धेः' बाह्य अर्थके अभावका श्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी उपलब्धि होती है। प्रत्येक ज्ञानमें स्तम्भ, कुड्य, घट, ट इसप्रकार बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है। उपलभ्यमान अर्थका अभाव नहीं हो सकता। जैसे कोई जन करता हुआ भोजन साध्य स्वयं अनुभूयमान तृप्तिके होनेपर ऐसा कहे कि मैं भोजन नहीं करता

सत्यानन्दी दीपिका

सहोपलम्भके नियमसे नील और उसके ज्ञानका अभेद है। और भेद भ्रान्तिविज्ञानोंसे देखा जाता जैसे एक चन्द्रमामें) 'जाग्रद्विज्ञानं न बाह्यालम्बनं विज्ञानत्वात् स्वप्नादिविज्ञानवत्' 'जाग्रत् ज्ञान बाह्य अर्थके आलम्बनसे नहीं होता, क्योंकि यह विज्ञान है जैसे स्वप्नादि विज्ञान' इससे भी षिक और सौत्रान्तिक मतमें स्वीकृत बाह्य अर्थका अभाव है।

मीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे, न च सो
ब्रुवन्कथमुपादेयवचनः स्यात् ? ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति, किन्तू
व्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि । बाढमेवं ब्रवीषि, निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य । न तु
ब्रवीषि । यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव । नहि
लब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते । उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन्सर्वे
उपलभन्ते । अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि
व्याचक्षते—यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासत इति । * तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां
मानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं
इतरथा हि कस्माद्बहिर्वदिति ब्रयुः ? नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति
चक्षीत । तस्माद्यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं
बहिर्वदवभासत इति । ननु बाह्यस्यार्थस्यासंभवाद्बहिर्वदवभासत इत्यध्यवसितम् ।
साधुरध्यवसायः, यतः प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवावधार्येते, न पुनः संभवा
पूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती । यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनापि प्रमाणेनोपलभ्यते तत्सं
यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न संभवति । इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणै

अथवा मैं तृप्त नहीं हूँ, वैसे ही इन्द्रियके संनिकर्ष (संयोग आदि सम्बन्ध) से बाह्य अर्थको
होता हुआ मैं उपलब्ध नहीं करता और वह नहीं है, ऐसा कहता हुआ पुरुष उपादेय
होगा ? पू०—मैं ऐसा नहीं कहता कि किसी अर्थको मैं उपलब्ध नहीं करता किन्तु उपलब्धि
उपलब्ध नहीं करता, ऐसा कहता हूँ । ठीक तुम ऐसा कहते हो, क्योंकि तुम्हारा मुख निरंकुश
परन्तु तुम युक्ति युक्त नहीं कहते हो, क्योंकि उपलब्धिसे अर्थका भेद भी बलात् स्वीकार करना
कारण कि ऐसी ही अर्थकी उपलब्धि होती है । कोई भी उपलब्धिको ही स्तम्भ और कुड्यरूपसे
लब्ध नहीं करता, किन्तु स्तम्भ और कुड्य आदिको उपलब्धिके विषयरूपसे ही सब लोग
करते हैं और इससे भी उसीप्रकार ही सब लोग उपलब्ध करते हैं बाह्य अर्थका प्रत्याख्यान
हुए भी उसका ऐसा व्याख्यान करते हैं कि जो अन्तर्ज्ञेयरूप है वह बहिर्वत् अवभासित होता
वे भी सर्वलोक प्रसिद्ध बहिरवभासमान संविद्को उपलब्ध करते हुए और बाह्य अर्थके प्रत्याख्यान
कामना करते हुए 'बहिर्वत्' इसप्रकार 'वत्' का प्रयोग करते हैं, नहीं तो 'बहिर्वत्' ऐसा क्यों
विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्रके समान प्रतीत होता है, ऐसा कोई नहीं कहता । इसलिए अनुभवके
तत्त्वको स्वीकार करनेवालोंसे पदार्थ बाहर ही भासता है, ऐसा स्वीकार करना युक्त है न कि
अवभासित होता है । परन्तु बाह्य अर्थके असम्भव होनेसे 'बहिर्वत्' अवभासित होता है ऐसा
किया गया है । यह निश्चय ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणकी प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पूर्वक संभव
असंभवका निश्चय किया जाता है, न कि संभव और असंभव पूर्वक प्रमाणकी प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति
प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमेंसे एक प्रमाणसे भी जो उपलब्ध होता है उसका संभव है और जो
भी प्रमाणसे उपलब्ध नहीं होता उसका संभव भी नहीं होता । यहां तो स्वभावके अनु

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि बाह्य अर्थ अत्यन्त असत् हो तो उसकी नरविषाणके समान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे
उपलब्धि नहीं होगी और दृष्टान्तके अभाव होनेसे 'बहिर्वत्' शब्दका प्रयोग भी नहीं होगा ।
ज्ञान और ज्ञेयके अबाधित भेदके अनुभवसे 'बहिर्वत्' (बाहरके समान) ऐसा प्रयोग न कर
बाहर ही पदार्थ है ऐसा प्रयोग करना चाहिए । इस बातको भाष्यमें 'बहिरेव' आदिसे
किया गया है ।

र्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव ? ❀ नच ज्ञानस्य विषयसारूप्याद्विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः, बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य। अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अपि च घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य। यथा शुक्लो गौः कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकार्ष्ण्ययोरेव भेदो न गोत्वस्य। द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भवत्येकस्माच्च द्वयोः। तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः। तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्रापि प्रतिपत्तव्यम्। अत्रापि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य। यथा क्षीरगन्धः क्षीररस इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य, तद्वत्। ❀ अपि च द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवोत्पन्नयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः। ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्यलक्षणवास्यवासकत्वाऽविद्योपप्लवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्रगतास्ता हीयेरन्। किंचान्यत्—विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्य-

---

ओंसे उपलभ्यमान बाह्य अर्थका व्यतिरेक और अव्यतिरेक आदि विकल्पोंसे असंभव है यह किस प्रकार कहा ? क्योंकि बाह्यार्थकी उपलब्धि होती है। और ज्ञानमें विषयके सारूप्य होनेसे विषयका नाश नहीं होता, किन्तु विषयके न होनेपर विषयका सारूप्य नहीं हो सकता, क्योंकि विषयकी बाहर उपलब्धि होती है। अतएव ज्ञान और विषयका सहोपलम्भ नियम भी उपायोपेयभाव हेतुक है अभेद हेतुक नहीं है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। और भी घट ज्ञान ,पटज्ञान इसमें घट पट विशेषणोंका ही भेद है विशेष्य ज्ञानका भेद नहीं है। जैसे शुक्ल गौ, कृष्ण गौ इसमें शुक्लत्व और कृष्णत्वका ही भेद है गोत्वमें भेद नहीं है। एकका दोसे भेद सिद्ध होता है और एकसे दोका भेद सिद्ध होता है, इससे अर्थ और ज्ञानका भेद है। उसीप्रकार घट ज्ञान और घट स्मरण इसमें भी समझना चाहिए। और भी विशेष्य ज्ञान और स्मरणका ही भेद है विशेषण घटका नहीं। जैसे क्षीर गन्ध, क्षीर रस इसमें विशेष्य गन्ध और रसका ही भेद है, वैसे विशेषण क्षीरमें भेद नहीं है। और भी स्वसंवेदनसे ही उपक्षीण पूर्व और उत्तरकालीन दोनों ज्ञानोंका परस्पर ग्राह्य ग्राहकभाव नहीं हो सकता है, इससे विज्ञानभेदकी प्रतिज्ञा, क्षणिकत्व आदि धर्मकी प्रतिज्ञा, स्वलक्षण, सामान्य लक्षण, वास्य वासकभाव, अविद्या संसर्गसे सदसद्धर्म और बन्ध मोक्ष आदि स्वशास्त्रगत प्रतिज्ञा उनकी हानि हो जायगी। किञ्च विज्ञान, विज्ञान इस प्रकार स्वीकार करते हुए तुमसे स्तम्भ, कुड्य इस प्रकारका

सत्यानन्दी दीपिका

* सहोपलम्भ नियम भी ज्ञान और विषयके अभेदका साधक नहीं है, क्योंकि नेत्रसे रूप त्वके साथ प्रकाश भी उपलब्ध होता है, इससे रूप और आलोकके सहोपलम्भसे दोनोंका अभेद नहीं हो जाता, इसलिए प्रकरणमें निमित्तनैमित्तकभावसे सहोपलम्भ समझना चाहिए। अतः ज्ञान और अर्थका स्पष्ट भेद है।

* विज्ञानवादीने विज्ञानको क्षणिक और चैतन्य मानकर यह भी स्वीकार किया है कि ज्ञान अपनेको विषय करता है। परन्तु एकमें विषयविषयिभाव विरुद्ध है। पूर्वविज्ञान अपनी उत्पत्तिके द्वितीय क्षणमें नष्ट हो जाता है, दूसरे विज्ञानके उत्पत्ति क्षणमें पूर्व ज्ञान नहीं है तो वह विषय कैसे और विषयके विना द्वितीय विज्ञान विषयी कैसे होगा। यदि पूर्वज्ञान उत्तरज्ञानका विषय होनेके लिए एक क्षण अधिक ठहरेगा, तो क्षणिकत्वकी हानि होगी। इस प्रकार विज्ञान भेदकी प्रतिज्ञा भी युक्त नहीं है, क्योंकि भेदके अनुयोगी और प्रतियोगीका एकका दूसरेसे ग्रहण न होनेके कारण भेदका ग्रहण कैसे होगा ? इसलिए उनके भेदका ग्राहक उनसे भिन्न स्थायी आत्मा मानना चाहिए। इस प्रकार

मित्येवंजातीयकः कस्मान्नाभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम्। विज्ञानमनुभूयत इति चेत्—
ऽप्यर्थोऽनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम्। ❀ अथ विज्ञानं प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपवत्
मेवानुभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेत्—अत्यन्तविरुद्धां स्वात्मनि क्रियामभ्युपगम्य
ग्निरात्मानं दहतीतिवत्, अविरुद्धं तु लोकप्रसिद्धं स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्यो
अनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महद्दर्शितम्। न चार्थाव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयं
नुभूयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादेव। ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे तदप्यन्
ग्राह्यं, तदप्यन्येनेत्यनवस्था प्राप्नोति। अपि च प्रदीपवदवभासात्मकत्वाज्ज्ञानस्य ज्ञाना
कल्पयतः समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति, तदुभयमप्य
विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकाङ्क्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः, साक्षि
ययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्रुपलभ्यभावोपपत्तेः, स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वा

बाह्य अर्थ क्यों स्वीकार नहीं किया जाता ? यह कहना चाहिए। यदि कहो कि विज्ञानका अ
होता है, तो बाह्य अर्थका भी अनुभव होता ही है, ऐसा स्वीकार करना युक्त है। यदि कहो कि वि
प्रकाशात्मक होनेसे प्रदीपके समान स्वतः ही अनुभवका विषय होता है उस प्रकार बाह्य अर्थ अनु
नहीं आता, तो अग्नि अपनेको जलाती है, इसके समान अपने आत्मामें अत्यन्त विरुद्ध क्रिया (
कर्तृभाव) स्वीकार करते हो। परन्तु अपनेसे (वस्तुसे) भिन्न विज्ञानसे बाह्य अर्थ अनुभवका
होता है, ऐसी अविरुद्ध लोक प्रसिद्ध बातको तुम नहीं मानते, अहो ! तुमने अपना महान् पाण्डि
दिखलाया। अर्थसे अभिन्न होता हुआ भी विज्ञान स्वयं ही अनुभवका विषय नहीं होता है,
अपनेमें क्रियाका विरोध ही है। परन्तु विज्ञान अपनेसे भिन्नसे ग्राह्य हो, तो वह भी अन्यसे ग्राह्य
और वह भी अन्यसे, इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होती है। ज्ञानको प्रदीपके समान अवभासात्मक हो
ज्ञानके अन्य ज्ञानकी कल्पना करनेवालेके मतमें दोनों ज्ञानोंके समान (अवभासात्मक) होनेसे
अवभास्य और अवभासक भाव अनुपपन्न है, अतः कल्पना अनर्थक होगी। परन्तु ये दोनों
ठीक नहीं है, क्योंकि विज्ञानके ग्रहणमात्रमें ही विज्ञानके साक्षीके ग्रहणकी आकांक्षा उत्पन्न न
अनवस्थाकी शङ्का नहीं हो सकती। साक्षी और ज्ञानमें स्वभावके वैषम्यसे उपलब्धा और उप
भाव उपपन्न होता है। कारण कि स्वयं सिद्ध साक्षीका प्रत्याख्यान नहीं होता। और दूसरी

सत्यानन्दी दीपिका

पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्तमें भेद न होनेसे 'यह क्षणिक और असत् है' यह प्रतिज्ञा युक्त नहीं
अन्यसे व्यावृत्त व्यक्तिमात्र स्वलक्षण, अनेकोंमें अनुगत अतद्व्यावृत्तिरूप सामान्य, यथा गोत्व,
भी अनेक ज्ञान साध्य है। पूर्व विज्ञान अपने संस्कारोंको उत्तरज्ञानमें संक्रमण करता है, जैसे कस्तू
गन्ध कपड़ेकी एक सतहसे दूसरी सतहमें जाती है। पूर्व नील ज्ञान वासक और उत्तर नील
वास्य है, यह प्रतिज्ञा युक्त नहीं, क्योंकि उनके भेदका ज्ञाता नहीं है। अविद्या संसर्गसे घट आदि
और शशविषाण आदि असत् यह सदसद्धर्म प्रतिज्ञा और अज्ञानसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष इत्
तुम्हारे शास्त्रमें प्रतिपादित प्रतिज्ञाएँ बाधित हो जायँगी, क्योंकि प्रत्येक प्रतिज्ञा अनेक ज्ञान साध्य
अनेक ज्ञान अनेक बाह्य अर्थके विना नहीं हो सकते। अतः प्रतिज्ञासिद्धिके लिए भेदपूर्वक ग्राह्य
भाव स्वीकार करना चाहिए। और विज्ञानके समान बाह्य अर्थ भी मानना चाहिए।

❀ साक्षी स्वयं सिद्ध है, उसकी सिद्धिके लिए किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, अतः अन
नहीं है। वृत्तिज्ञान जड़ और साक्षी चेतन होनेसे दोनोंमें वैषम्य होनेके कारण समता दोष भी नहीं
सिद्धान्तीके कहनेका अभिप्राय यह है कि बौद्धों से अभीप्सित विज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है
अतः वह जड़ और विनाशशील है ॥ २८ ॥

❀ किंचान्यत्, प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्। शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्। बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत्—न, अन्यस्यावगन्तुश्चक्षुःसाधनस्य प्रदीपादिप्रथनदर्शनात्। अतो विज्ञानस्याप्यवभास्यत्वाविशेषात्सत्येवान्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते। साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति चेत्—न, विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात्। अतः प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम् ॥२८॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

पदच्छेद—वैधर्म्यात्, च, न, स्वप्नादिवत्।

सूत्रार्थ—(वैधर्म्याच्च) स्वप्न विज्ञान और जाग्रत् विज्ञानके बाधित और अबाधित विषयरूप वैधर्म्यसे (न स्वप्नादिवत्) स्वप्नादिके दृष्टान्तसे जाग्रत् ज्ञान निराधार नहीं हो सकता।

❀ यदुक्तं—बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः, प्रत्ययत्वाविशेषादिति। तत्प्रतिवक्तव्यम्, अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुन वैंधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रति-

---

प्रदीपके समान विज्ञान अन्य अवभासककी अपेक्षाके विना स्वयं ही प्रकाशित होता है, इस प्रकार कथन करनेवाले तुमसे विज्ञान अप्रमाणगम्य और अवगन्ता रहित है, ऐसा कहना होगा। जैसे शिलाघनके मध्यमें स्थित सहस्र प्रदीप, वैसे ही है। परन्तु विज्ञानके अनुभवरूप होनेसे हमारा अभिमत पक्ष तुमने स्वीकारकर लिया, ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं है, क्योंकि नेत्र जिसका साधन है ऐसे अन्य ज्ञाताको प्रदीप आदिका प्रकाश देखनेमें आता है, इससे विज्ञानमें भी अवभास्यत्व समान होनेसे अन्य अवगन्ताके होनेपर प्रदीपके समान उसका प्रकाश है, ऐसा अवगत होता है। अवगन्ता साक्षीकी स्वयंसिद्धताका समर्थन करते हुए तुमने 'विज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है' इस प्रकार मेरे पक्षका हो अन्य शब्द विशेषसे आश्रयण किया है; ऐसा यदि कहो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि विज्ञानमें उत्पत्ति, नाश और अनेकत्व आदि विशेष स्वीकार किये जाते हैं। अतः प्रदीपके समान विज्ञान भी अन्यसे अवगम्य है, ऐसा हमने सिद्ध किया है ॥ २८ ॥

स्वप्न आदि ज्ञानोंके समान जाग्रत् विषयक स्तम्भ आदि ज्ञान भी बाह्य अर्थके विना ही होने चाहिएँ, क्योंकि दोनों ज्ञानोंमें ज्ञानत्व समान है, ऐसा बाह्य अर्थका प्रतिषेध करनेवालेने जो कहा है, उसका परिहार करना चाहिए। इस विषयमें कहते हैं—जाग्रत् ज्ञान स्वप्न आदि ज्ञानके समान नहीं हो सकते, क्योंकि दोनोंमें वैधर्म्य है। स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाके ज्ञानोंमें वैधर्म्य है। पुनः वह वैधर्म्य क्या है? हम कहते हैं कि बाध और अबाध है, क्योंकि स्वप्न अवस्थामें उपलब्ध वस्तु जाग्रत्

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि सिद्धान्ती भी विज्ञान (आत्मा) से अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थकी पृथक् सत्ता नहीं मानते, तो भी प्रत्यगभिन्न ब्रह्म साक्षात्कारके पूर्व व्यवहार दशामें उसकी व्यावहारिक सत्ता मानते हैं। इस प्रकार दोनों पक्षोंमें अन्तर है। स्वप्न और जाग्रत् प्रत्ययोंमें यही वैधर्म्य है कि स्वप्न प्रत्यय बाधित होता है और जाग्रत् प्रत्यय बाधित नहीं होता। ऐसा तो तुमको भी स्वीकार करना होगा, अन्यथा स्वप्न प्रत्ययमें मिथ्यात्व निश्चय नहीं होगा। यदि जाग्रत् प्रत्यय भी स्वप्न प्रत्ययके समान हो तो वह

बुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो
ग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं
नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते। ❀ अपि च
यत्स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं
ऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि, नोपलभे, उपलब्धुमिच्छामीति।
न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं
मनुभवता। नच स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम्। अपि चानुभवविरोध
ज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद्वक्तुमि
नच यो यस्य स्वतो धर्मो न संभवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात्तस्य संभविष्यति। न ह्यग्निरु
ऽनुभूयमान उदकसाधर्म्याच्छीतो भविष्यति। दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ॥२९॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

पदच्छेद—न, भावः, अनुपलब्धेः।

सूत्रार्थ—(अनुपलब्धेः) तुम्हारे मतमें बाह्य अर्थकी उपलब्धि न होनेसे (न भावः)
जन्य वासना भी नहीं हो सकती।

यदप्युक्तम्—विनाप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्या वावकल्पत इति।

पुरुषको बाधित होती है कि मुझे जो महाजन समागम उपलब्ध हुआ था वह मिथ्या है, मुझे
समागम हुआ नहीं मेरा मन निद्रासे ग्लानि युक्त हुआ जिससे यह भ्रान्ति हुई। इस प्रकार
आदिमें भी यथा योग बाध होता है। परन्तु जाग्रत्‌में उपलब्ध स्तम्भ आदि वस्तु किसी भी
इस प्रकार बाधित नहीं होती। और भी—जो स्वप्न ज्ञान है वह स्मृति है और जागरित दर्शन
(अनुभव) है, जैसे इष्ट पुत्रका स्मरण करता हूँ उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध करना चाह
इस प्रकार स्मृति और उपलब्धिमें अर्थ विप्रयोग और संप्रयोगात्मक प्रत्यक्षरूपसे भेद स्वयं
होता है। ऐसा (वैधर्म्यसिद्ध) होनेपर दोनोंका अन्तर स्वयं अनुभव करनेवाला, तुमसे यह नहीं
जा सकता कि जागरित उपलब्धि मिथ्या है, क्योंकि वह भी उपलब्धि है, जैसे स्वप्न उप
बुद्धिमानोंसे अपने अनुभवका अपलाप करना युक्त नहीं है। अनुभवके साथ विरोध प्रसंगके
जाग्रत् प्रत्ययोंको स्वयं निरालम्बनता कहनेमें असमर्थ होकर स्वप्न प्रत्ययके साधर्म्यसे जाग्रत् प्र
कहना चाहता है। परन्तु जो जिसका स्वतः धर्म नहीं हो सकता वह अन्यके साधर्म्यसे उसका
नहीं हो सकेगा। अग्नि उष्ण अनुभूयमान होनेपर जलके साधर्म्यसे शीतल नहीं हो जायगी।
और जाग्रत् प्रत्ययोंका वैधर्म्य तो दिखलाया गया है ॥ २९ ॥

बाह्य अर्थके विना भी ज्ञान वैचित्र्य वासनाके वैचित्र्यसे ही हो सकता है, ऐसा जो
है, उसका प्रत्याख्याम (परिहार) करना चाहिए। इस विषयपर कहा जाता है कि वासना

सत्यानन्दी दीपिका

स्वप्न प्रत्ययका बाधक नहीं होगा, इसलिए बाध और अबाधरूप वैधर्म्यसे स्वप्न प्रत्ययके समान
प्रत्यय बाह्य अर्थके विना नहीं हो सकता।

❀ यदि दोनों प्रत्यय बाह्य अर्थके विना हैं तो 'यह स्वप्न है यह जाग्रत् है' इस भेद
कौन है? इससे तुम्हारे मतमें बाध्य बाधक आदि सब व्यवहार लुप्त हो जायँगे। जैसे अग्नि
द्रव्यत्व साधर्म्यसे शीतल नहीं होती, वैसे प्रत्ययत्वके साधर्म्यसे जाग्रत्- प्रत्यय स्वप्न प्रत्ययके
निरालम्बन नहीं हो सकते ॥ २९ ॥

वक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न भावो वासनानामुपपद्यते त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्बाह्यानामर्थानाम्। अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति। अनुपलभ्यमानेषु त्वर्थेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः ? अनादित्वेऽप्यन्धपरंपरान्यायेनाप्रतिष्ठैवानवस्था व्यवहारलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः। यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थापलापिनोपन्यस्तौ वासनानिमित्तमेवेदं ज्ञानजातं नार्थनिमित्तमिति, तावप्येवं सति प्रत्युक्तौ द्रष्टव्यौ। विनार्थोपलब्ध्या वासनानुपपत्तेः। अपि च विनापि वासनाभिरर्थोपलब्ध्युपगमाद्विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यनभ्युपगमादर्थसद्भावमेवान्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः। अपि च वासना नाम संस्कारविशेषाः। संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते; एवं लोके दृष्टत्वात्। नच तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति; प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

पदच्छेद—क्षणिकत्वात्, च।

सूत्रार्थ—आलयविज्ञानको क्षणिक माननेसे वह भी वासनाका आश्रय नहीं हो सकता।

* यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं, तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमादनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति। नहि कालत्रयसंबन्धिन्येकस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधीनस्मृतिप्रतिसंधानादिव्यवहारः संभवति। स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः। अपि च विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य समानत्वाद्यानि बाह्यार्थवादे क्षणिकत्व-

---

अस्तित्व उपपन्न नहीं होता, क्योंकि तुम्हारे मतमें बाह्य अर्थोंकी उपलब्धि नहीं है। अर्थकी उपलब्धिसे ही प्रत्येक अर्थमें अनेक प्रकारकी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। अर्थोंके अनुपलभ्यमान होनेपर विचित्र वासनाएँ किस निमित्तसे होंगी। वासनाओंको आनादि माननेपर भी अन्धपरम्परा न्यायसे व्यवहार लोपिनी अप्रतिष्ठारूप अनवस्था ही होगी इससे अभिप्रायकी सिद्धि नहीं होगी। वासना निमित्तक ही यह ज्ञान समूह है अर्थ निमित्तक नहीं है, इस प्रकार बाह्य अर्थका निषेध करनेवालेने जो अन्वय-व्यतिरेकका उपन्यास किया है, ऐसा होनेपर (अर्थ निमित्तक वासना होनेपर) वे दोनों भी निराकृत हुए समझने चाहिएं, कारण कि अर्थकी उपलब्धिके विना वासना नहीं हो सकती। किञ्च वासनाओंके विना भी अर्थकी उपलब्धि स्वीकार है और अर्थकी उपलब्धिके विना वासना स्वीकार नहीं की जाती, इससे यह अन्वय-व्यतिरेक भी अर्थका सद्भाव ही प्रतिष्ठापित करते हैं। अन्य भी—वासनाएँ संस्कार विशेष हैं और संस्कार आश्रयके विना नहीं हो सकते, क्योंकि व्यवहारमें ऐसा देखा गया है। तुम्हारे मतमें वासनाका कोई आश्रय नहीं है, क्योंकि उसकी प्रमाणसे उपलब्धि नहीं है ॥ ३० ॥

जो आलयविज्ञानकी भी वासनाओंके आश्रयरूपसे कल्पनाकी गई है, वह भी क्षणिकत्वके स्वीकारसे अनवस्थित स्वरूप होता हुआ प्रवृत्ति विज्ञानके समान वासनाओंका आश्रय नहीं हो सकता है। तीनों कालसे सम्बन्ध रखनेवाला एक अन्वयी कूटस्थ अथवा सर्वार्थदर्शीके न होनेपर देश, काल और निमित्तकी अपेक्षासे वासनाके अधीन स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि व्यवहार नहीं हो सकता। [किसी पुस्तकमें 'वासनाधानस्मृति' ऐसा पाठ भी है। वासनाओंका आधान-स्थापन और उसके अधीन स्मृति] यदि आलय विज्ञान स्थिर स्वरूप हो तो क्षणिकत्व सिद्धान्तकी हानि होगी। और

सत्यानन्दी दीपिका

* बौद्ध विषयक कुछ विवेचन इसप्रकार है—बुद्धके उपदेश मागधी भाषामें मौखिक ही होते थे। उनकी रक्षार्थ बुद्धके निर्वाणकालमें उनके शिष्य आनन्द आदिके सहयोगसे सुत्तपिटक

निबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि, तानीहाप्य धातव्यानि। एवमेतौ द्वावपि वैनाशिकपक्षौ निराकृतौ-बाह्यार्थवादिपक्षो विज्ञानवादिपक्ष शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते, नह्ययं सर्वप्रमा प्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

पदच्छेद—सर्वथा, अनुपपत्तेः, च।

सूत्रार्थ—(सर्वथा) बौद्ध दर्शन सब प्रकारसे (अनुपपत्तेः) असंगत होनेसे (च) मुमुक्षुओंसे आदरणीय नहीं है।

* किं बहुना, सर्वप्रकारेण यथायथाऽयं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परी तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव। न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः। अतश्चानुप

विज्ञानवादमें भी क्षणिकत्व सिद्धान्त समान होनेसे बाह्य अर्थवादमें क्षणिकत्वके अधीन 'उत्त च पूर्वनिरोधात्' इत्यादि जो दूषण उद्भावित किए गए हैं उनका यहां भी अनुसंधान करना चा इसप्रकार बाह्यार्थवादि पक्ष और विज्ञानवादि पक्ष ये दोनों वैनाशिक पक्ष भी निराकृत किये गये। वादि पक्ष तो सर्वप्रमाण विरुद्ध है, इससे उसके निराकरणमें आदर नहीं किया जाता। सर्व सिद्ध इस लोकव्यवहारका कोई भिन्न तत्त्व स्वीकार किए विना निषेध नहीं किया जा सकता, अपवादके अभावमें उत्सर्ग प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन, सब प्रकारसे ज्यों-ज्यों इस वैनाशिक सिद्धान्तकी उप करनेके लिए परीक्षाकी जाती है त्यों त्यों सिकताकूपके समान विदीर्ण ही होता है। इसमें

सत्यानन्दी दीपिका

(बुद्धके उपदेश) विनयपिटक (आचार सम्बन्धी ग्रंथ) और अभिधम्मपिटक (दार्शनिक का विवेचनात्मक ग्रन्थ) का संकलन किया गया। किञ्च वैभाषिक-बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद, सौ बाह्यार्थानुमेयवाद, योगाचार-विज्ञानवाद और माध्यमिक-शून्यवाद, इन सभी मतोंके सिद्धान्तों बड़ी सुन्दर रीतिसे इस श्लोकमें किया गया है—

'मुख्योमाध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्यमेने जगत, योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासांविवर्तोऽखि अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः, प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिकोभा

(मुख्य माध्यमिक यह अखिल जगत् शुन्यका विवर्त मानते हैं। योगाचार मतमें विज्ञान उनका ही यह सम्पूर्ण जगत् विवर्त है, यह बाह्यार्थ क्षणिक है और वह बुद्धि-ज्ञानसे अनुमित सौत्रान्तिकका मत है। वैभाषिक कहते हैं कि सब प्रत्यक्ष है और क्षणिक है) इनके दो संप्रदा हीनयान-स्थविरवाद-प्राचीनपरम्परा-असंशोधनवादी और महायान-महासंघिक-संशोधनवादी। इन सम्प्रदायोंमें वैभाषिकका सम्बन्ध हीनयानसे है। सौत्रान्तिकका भी हीनयानकी ओर झुकाव है। शेषका सम्बन्ध महायानसे है। निर्वाणके विषयमें भी इनका मतभेद है—वैभाषिक तथा मतमें संसार सत्य, निर्वाण सत्य है। माध्यमिक मतमें संसार असत्य, निर्वाण असत्य है। सौ मतमें संसार सत्य, निर्वाण असत्य है। योगाचार मतमें संसार असत्य, निर्वाण सत्य है। 'अभिधर्म विभाषाशास्त्र' इस भाषाके आधारपर प्रतिष्ठित होनेसे इस संप्रदायका नाम वैभाषिक है। बुद्धके सूत्रान्तके आधारपर प्रतिष्ठित होनेसे इस संप्रदायका नाम सौत्रान्तिक पड़ा है ॥ १

* यहां वेदको प्रमाणरूपसे न माननेवाली प्रजा समझनी चाहिए। इसप्रकार सिद्धान्त लोक और वेदके विरुद्ध होनेके कारण भ्रान्तिमूलक है। इसलिए उसका वेदान्त कोई विरोध नहीं है ॥ ३२ ॥

वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः। अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्ये-युरिमाः प्रजा इति। सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

(६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम्। सू० ३३–३६)

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

पदच्छेद—न, एकस्मिन्, असंभवात्।

सूत्रार्थ—(एकस्मिन्) एक परमार्थरूप वस्तुमें (असंभवात्) विरुद्ध धर्मोंका संभव न होनेसे (न) वस्तुमें अनेकरूपता नहीं है।

* निरस्तः सुगतसमयः। विवसनसमय इदानीं निरस्यते। सप्त चैषां पदार्थाः संमता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम। संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाख्यौ। यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते–पञ्चास्तिकाया नाम, जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेति।

की उपपत्ति नहीं देखते हैं। अतः वैनाशिक तन्त्र व्यवहार अनुपपन्न है। बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर विरुद्ध इन तीन वादोंका उपदेश करते हुए सुगत (बुद्ध) ने अपना असम्बद्ध लापित्व स्पष्ट किया है, अथवा विरुद्ध अर्थ प्रतिपत्तिसे ये प्रजाएँ मोहको प्राप्त हों इसप्रकार प्रजाके ति अतिविद्वेष किया है। इसलिए श्रेयः अभिलाषी पुरुषोंसे सब प्रकारसे यह सुगत सिद्धान्त अना-दरणीय है, ऐसा अभिप्राय है ॥ ३२ ॥

सुगत मतका निराकरण किया गया, अब जैनमतका निराकरण किया जाता है। इनको जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बंध और मोक्ष इसप्रकार सात पदार्थ अभीमत हैं। संक्षेपसे तो जीव और अजीव नामके दो ही पदार्थ हैं, क्योंकि अन्योंका उन दोनोंमें यथायोग अन्तर्भाव है, ऐसा वे मानते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अर्धमस्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय उन दोनोंका यह दूसरा विस्तार कहते हैं। उन सबके स्वशास्त्रोंमें परिकल्पित बहुत प्रकारके

सत्यानन्दी दीपिका

* सुगत मतका परिहारकर प्रसंगसे बुद्धिस्थ दिगम्बर जैन मतका निराकरण करनेके लिए थम उस मतका उपन्यास करते हैं—जीवास्तिकाय तीन प्रकारका है–बद्ध, मुक्त और नित्य सिद्ध। 'स्ति कायत इति अस्तिकायः' 'जो अस्तिशब्दसे कहा जाय वह अस्तिकाय है' यह जैन ग्रन्थोंमें पारि-षिक शब्द पदार्थवाची है। पुद्‌गलास्तिकाय छः हैं—पृथिवी आदि चार भूत; स्थावर (वृक्ष आदि) और जङ्गम मनुष्य आदि। 'पूर्यन्ते गलन्तीति पुद्‌गलाः' 'पूर्ण हो और गल जायँ वे पुद्गल हैं' यह लक्षण पृथिवी आदि छः और परमाणु समुदायमें घटता है, अतः वे पुद्गल कहे जाते हैं। सम्यक् तिसे अनुमेय धर्म है। ऊर्ध्वगमनशील जीवकी देहमें स्थितका हेतु अधर्म है। आवरणका अभाव आकाश है, वह लोकाकाश और आलोकाश इस भेदसे दो प्रकारका है। ऊर्ध्व ऊर्ध्व लोकोंके अन्तर विद्यमान आकाश लोकाकाश और उससे भी ऊर्ध्व मोक्षस्थान आलोकाकाश है, वह केवल मुक्त पुरुषोंका आश्रय स्थान है। मिथ्या प्रवृत्ति आस्रव है और सम्यक् प्रवृत्ति संवर और निर्जर है। विषयों-के अभिमुख इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति आस्रव है। दूसरे लोक कर्मोंको आस्रव कहते हैं, क्योंकि वे कर्ताको आसकर फल देनेके लिए उसके पीछे रहते हैं, यह मिथ्या प्रवृत्ति अनर्थका हेतु है। शम, दम आदि वृत्ति संवर है, यह इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्तिको रोकनेसे संवर कहा जाता है। अनादि कालके पुण्य परूपी कषायोंका जो नाशक वह निर्जर है, जैसे तप्तशिला आरोहण, केशोंका लुंचन इत्यादि

सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान्बहुविधान्स्वसमयपरिकल्पितान्वर्णयन्ति । ❀ सर्वत्र चेमं
भङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च,
वक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति
व्यश्चेति । एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति । ❀ अत्राचक्ष्महे—
भ्युपगमो युक्त इति । कुतः ? एकस्मिन्नसंभवात् । न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वा
विरुद्धधर्मसमावेशः संभवति, शीतोष्णवत् । य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त

अवान्तर प्रभेदोंका वर्णन करते हैं । और सर्वत्र इस सप्तभंगी नयनामक न्यायका अवतरण करते
'स्यादस्ति' (कथंचित् है) 'स्यान्नस्ति' (कथंचित् नहीं है) 'कथंचित् है और कथंचित् नहीं
'कथंचित् अवक्तव्य है' 'कथंचित् है और कथंचित् अवक्तव्य भी है' 'कथंचित् नहीं है और
अवक्तव्य भी है' 'कथंचित् है कथंचित् नहीं है और कथंचित् अवक्तव्य भी है' । इसीप्रकार एकत्व
नित्यत्व आदिमें भी इस सप्तभङ्गी सिद्धान्तकी योजना करते है । सिद्धान्ती—इस विषयमें हम कहते
यह जैन सिद्धान्त युक्त नहीं है, क्योंकि एकमें संभव नहीं है । एक धर्मीमें एक ही समय सत्त्व
असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मोंका शीतोष्णके समान समावेश संभव नहीं है, जो ये सात पदार्थ इतने

सत्यानन्दी दीपिका

देहकष्ट । तत्त्वज्ञानसे मोक्ष नहीं होता, यह विपरीतभावना ज्ञानावरणीय है । आर्हत दर्शनके अभ्य
मोक्ष नहीं होता यह भावना दर्शनावरणीय है । बहुत तीर्थकरोंसे परस्पर विरुद्ध प्रदर्शित
निश्चयाभाव मोहनीय है । मोक्ष मार्गकी प्रवृत्तिमें विघ्नकारक अन्तराय है । ये ज्ञानावरणीय
चार कल्याणके घातक होनेसे घाति-असाधु कर्म कहे जाते हैं । मुझे यह तत्त्व ज्ञातव्य है, ऐसा
मान वेदनीय है, मैं इस नामका हूँ, ऐसा अभिमान नामिक है, मैं पूज्य देशिक अर्हतके शिष्य
प्रविष्ट हूँ, यह अभिमान गोत्रिक है और शरीर स्थितिके लिए कर्म आयुष्क है । तत्त्वज्ञानके
होनेसे ये वेदनीय आदि चारों कर्म तत्त्वावेदक पुण्यवत् शरीरके साथ सम्बन्धी होनेसे अघाति
साधु कर्म कहे जाते हैं । इसप्रकार ये आठ प्रकारके कर्म जन्मके हेतु होनेसे आस्रव आदि
पुरुषको बाँधते हैं, अतः बन्धरूप हैं । समस्त क्लेश कर्म पाशका नाशकर ज्ञान द्वारा सके
आलोकाकाशमें सतत सुखपूर्वक स्थितिका नाम मोक्ष है अथवा ऊर्ध्वगमनशील जीव धर्माधर्म
होकर सतत ऊर्ध्वको गमन करता है यही उसका मोक्ष है । इसप्रकार जीव और अजीवका
और विस्तारसे उपन्यास किया गया ।

* सात अस्तित्व आदि भङ्गो-प्रकारोंका समहार सप्त भङ्गी है उसका नय-न्याय । यदि घट
सर्वात्मना सदा एक हों, तोप्राप्यरूपसे भी वे हैं, इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए कोई यत्न नहीं
अतः घटत्वादिरूपसे कंथचित् है और प्राप्यत्व आदिरूपसे कथंचित् नहीं है । इस प्रकार वे वस्तु
अनेकन्तवाद स्वीकार करते हैं 'स्यात्' यह तिङन्त सदृश अव्यय है, इसका अर्थ कथंचित्
अर्थात् 'स्यादस्ति' (कथंचित् है) 'वस्तु है' ऐसी इच्छा होनेपर 'स्यादस्ति' यह प्रथमभङ्ग
नहीं है, ऐसी इच्छा होनेपर 'स्यान्नास्ति' यह द्वितीय भङ्ग, क्रमसे दोनों इच्छाएं होनेपर 'स्या
च नास्ति च' यह तृतीय भङ्ग, युगपद् दोनों इच्छाएँ होनेपर 'अस्ति और नास्ति' इस
शब्दोंको एक कालमें नहीं कहे जा सकनेके कारण 'स्यादवक्तव्यः' यह चतुर्थ भङ्ग, आद्य और
भङ्गकी इच्छा होनेपर 'स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च' यह पाँचवाँ भङ्ग, द्वितीय और चतुर्थ भङ्गकी
होनेपर 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च' यह छठवाँ भङ्ग, तृतीय और चतुर्थ भङ्गकी इच्छा होनेपर 'स्या
च नास्ति च अवक्तव्यश्च' यह सातवाँ भङ्ग प्रवृत्त होता है । इसप्रकार 'स्यादेकः' 'स्यादनेकः'
कोऽनेकश्च' इसप्रकार 'स्यात् नित्यः' इस तरह इनमें भी सात भङ्ग समझने चाहिएं । इसप्रकार

पाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः। इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्। नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति। नेति ब्रूमः, निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु तिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात्स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात्। एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे स्तितेति। एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात्? कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन्? कान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते, न्यथा। अतश्चानिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन्मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात्। तथा पञ्चास्तिकायानां पञ्चत्वसंख्यास्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात्तावदेकस्मिन्पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वमधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात्। न चैषां पदार्थानामवक्त-

---

रूपवाले निर्धारित हैं, वे वैसे ही प्रकारके हों अथवा वैसे नहीं ही हों, अन्यथा उस प्रकारके हों वा उस प्रकारके न हों, ऐसा अनिर्धारित ज्ञान संशय ज्ञानके समान अप्रमाण ही होगा। परन्तु तु अनेकात्मक है, इसमें निर्धारितरूपसे ही उत्पन्न हुआ ज्ञान संशय ज्ञानके समान अप्रमाण नहीं सकता है। हम कहते हैं कि ऐसा नहीं, क्योंकि सब वस्तुओं में निरङ्कुश अनेकान्तत्वकी प्रतिज्ञा करने वालेके मतमें निर्धारणको भी वस्तुत्वके समान होनेपर 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' (कथंचित् है और चित् नहीं है) इस प्रकार विकल्पके प्राप्त होनेसे अनिर्धारणात्मकत्व ही होगा। इसप्रकार निर्धारण करने वालेका और निर्धारण फलका पक्षमें अस्तित्व होगा और पक्षमें नास्तित्व होगा। ऐसा होनेपर माणभूत होता हुआ भी तीर्थङ्कार प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमितिके अनिर्धारित होनेपर उपदेश देनेमें कैसे समर्थ होगा। अथवा उसके अभिप्रायका अनुसरण करने वाले शिष्य उसके उपदिष्ट निर्धारितरूप अर्थमें कैसे प्रवृत्त होंगे। परन्तु अव्यभिचरित फलका निर्धारण होनेपर उसके साधनानुष्ठानके लिए सब लोक अनाकुल-निःसन्देह प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए अनिर्धारित अर्थवाले शास्त्रका प्रणयन करता हुआ मत्त और उन्मत्तके समान अनुपादेय वचन होगा। इसी प्रकार अस्तिकायोंकी विकल्पितकी हुई पंचत्व संख्या है अथवा नहीं है। एक पक्षमें 'स्यात्' 'ऐसा होगा'

सत्यानन्दी दीपिका

करूप होनेसे उसमें प्राप्ति और त्याग आदि व्यवहार होते हैं। ऐकान्तिक--एकरूपमें सर्व सर्वदा प्त ही है। उनमें प्राप्ति और परिहार व्यवहार लुप्त हो जायगा। इसलिए सबके अनेकान्त होनेसे करूप ब्रह्मका बाध है।

* यह अनेकान्तवाद ठीक नहीं है, क्योंकि जो वस्तु सत्य है, वह सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वरूपसे है जैसे ब्रह्मात्मा। शङ्का—ऐसी परिस्थितिमें तो उसकी प्राप्तिके लिए यत्न नहीं होगा? क्योंकि वह त्यप्राप्त है। समाधान—यह अप्राप्त है, ऐसी अप्राप्तिकी भ्रान्तिसे उसकी प्राप्तिके लिए यत्न होता है। उसी प्रकार जो नहीं है वह नहीं ही है, जैसे नरविषाण आदि। जो कदाचित् क्वचित् कथंचित् उपलब्ध होता है वह सत्, असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय-प्रपञ्च है, इसलिए एकान्तवाद ठीक है अनेकान्तवाद नहीं। कारण कि एक ही वस्तुमें एक ही समय परस्पर विरुद्ध सत्त्व और सत्त्व आदि धर्म नहीं रह सकते, क्योंकि वस्तुमें विकल्प नहीं हो सकता। अतः 'स्थाणुर्वापुरुषोवा' स संशयात्मक ज्ञानके समान सप्तत्व, पञ्चत्व निर्धारित फलमें, प्रमातामें, करणमें, प्रमाणमें और प्रमेय मिति और पञ्चत्वमें सत्त्व और असत्त्व विषयक संशय होनेसे वे अप्रामाणिक हैं। इसलिए चारके अनुसार प्रपञ्च एकरूप है।

व्यत्वं संभवति । अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन् । उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम् ।
मानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च । तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनम
नास्ति वा, एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन्मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव
प्रत्यायितव्यपक्षस्य ।*स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे
तेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावा
यथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः । एवं जीवादिषु पदार्थेष्वेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्वि
योर्धर्मयोरसंभवात्सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्यासंभवादसत्त्वे चैवं सत्त्वस्या
वादसंगतमिदमार्हतं मतम् । एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताद्यनेकान्ताभ्युप
र्निराकृता मन्तव्याः । यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः संभवन्तीति कल्पयन्ति
णैवाणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक्तन्निराकरणाय प्रयत्यते ॥३३॥

एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

पदच्छेद – एवम्, च, आत्मा, अकार्त्स्न्यम् ।

सूत्रार्थ—(एवञ्च) और इसी प्रकार जैनमतमें (आत्मा) आत्मामें (अकार्त्स्न्यम्)
च्छिन्नत्व दोष भी प्रसक्त होगा । इससे आत्मा घट आदिके समान अनित्य होगा ।

यथैकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्त एवमात्मनोऽपि
स्याकार्त्स्न्यमपरो दोषः प्रसज्येत । कथम् ? शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्य

और दूसरे पक्षमें 'न स्यात्' 'ऐसा न होगा' इससे न्यून संख्यात्व अथवा अधिक संख्यात्व प्राप्त हो
इन पदार्थोंमें अवक्तव्यत्व भी सम्भव नहीं है । यदि अवक्तव्य हैं तो नहीं कहे जायँगे, परन्तु कहे
हैं और पुनः अवक्तव्य हैं यह विरुद्ध है । और ये उच्यमान पदार्थ उसी प्रकार अवधारित
अवधारित नहीं होते और उसी प्रकार उसका अवधारण फल सम्यग्दर्शन है अथवा नहीं है, एवं
विपरीत असम्यग्दर्शन भी है अथवा नहीं । इस प्रकार प्रलाप करता हुआ मत्तोन्मत्त पक्ष
निश्चयात्मक पक्षका न होगा । स्वर्ग और अपवर्गका पक्षमें भाव और पक्षमें अभाव होगा, उसी
एक पक्षमें नित्यता और पक्षमें अनित्यता प्राप्त होगी इस प्रकार अवधारण न होनेपर उनमें
नहीं हो सकती । तथा अनादि सिद्ध जीव आदि जिनका स्वभाव अपने शास्त्रमें निश्चित किया है
उससे विपरीत स्वभाव होनेका प्रसङ्ग होगा । एवं जीव आदि पदार्थोंमेंसे एक धर्मीमें विरुद्ध धर्म
और असत्त्वके असम्भव होनेसे एक धर्म सत्त्वके होनेपर अन्य असत्त्व धर्मका असंभव होनेके
असत्त्वके होनेपर सत्त्वका संभव न होनेसे यह आर्हतमत असंगत है । इस प्रकार सत्त्व और अ
निराकरणसे एक, अनेक, नित्य, अनित्य, भिन्न और अभिन्न आदि अनेकान्त स्वीकारोंका निरा
हुआ समझना चाहिए । पुद्गल संज्ञक अणुओंसे (पृथिवी आदि) संघात उत्पन्न होते हैं ऐसे
कल्पना करते हैं, उसका तो पूर्व अणुवादके निराकरणसे निराकरण हो जाता है । अतएव
निराकरणके लिए पृथक् यत्न नहीं किया जाता ॥३३॥

जैसे स्याद्वादमें एकधर्मीमें विरुद्ध धर्मों (सत्त्व और असत्त्व) का असंभव दोष प्रसक्त है

सत्यानन्दी दीपिका

* अर्हन् मुनि अनादि सिद्ध नित्य मुक्त जीव है । अन्य जीव साधनोंके अनुष्ठानसे मुक्त हो
और मोक्षके साधनोंका अनुष्ठान नहीं करनेवाले दूसरे जीव बद्ध कहे जाते हैं । इस प्रकार
शास्त्रमें जिनका स्वभाव निश्चित किया है । अत्र 'स्यादस्ति' 'स्यान्नास्ति' इत्यादि कल्पनाके होनेसे उ
भी स्वभाव वैसा नहीं रहेगा, इत्यादि दोष होंगे ॥ ३३ ॥

शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित्कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्। पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत। समान एव एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः। ❀ स्यादेतत्—अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे संकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति। तेषां पुनरनन्तानां जीवावयवानां समानदेशत्वं प्रतिहन्यते वा न वेति वक्तव्यम्। प्रतिघाते तावन्नानन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे संमीयेरन्। अप्रतिघातेऽप्येकावयवदेशत्वोपपत्तेःसर्वेषामवयवानां प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याणुमात्रत्वप्रसङ्गः स्यात्। अपि च शरीरमात्रपरिच्छिन्नानां जीवावयवानामानन्त्यं नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्॥३४॥

अथ पर्यायेण बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीरप्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत, तत्राप्युच्यते—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

पदच्छेद—न, च, पर्यायात्, अपि, अविरोधः, विकारादिभ्यः।

सूत्रार्थ—(पर्यायादपि) क्रमशः अवयवोंके हटने और प्राप्त होनेपर भी (न अविरोधः) शरीर परिमाणत्वका अविरोध नहीं है, (विकारादिभ्यः) क्योंकि सावयव होनेसे आत्मामें विकार आदि दोष प्रसक्त होंगे और आत्माके अनित्य होनेपर बन्ध और मोक्ष व्यवस्था बाधित होगी।

❀ न च पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याविरोधेनोप-

---

जीवात्माका भी परिच्छिन्नत्व दूसरा दोष प्रसक्त होगा, क्योंकि जीव शरीर परिमाणवाला है ऐसा आर्हत लोग मानते हैं। शरीर परिमाणत्व होनेपर आत्मा अकृत्स्न-असर्वगत-परिच्छिन्न होगा, इससे आत्माको घट आदिके समान अनित्यत्व प्रसक्त होगा। शरीरोंका अनिश्चित परिमाण होनेसे मनुष्य जीव मनुष्य शरीर परिमाण होकर पुनः किसी कर्म विपाकसे हस्ति-जन्म प्राप्त कर सम्पूर्ण हस्ति शरीरको व्याप्त नहीं करेगा और चींटीका जन्म पाकर पूर्णरूपसे चींटीके शरीरमें नहीं समायेगा। एक जन्ममें भी कौमार, यौवन, वार्द्धक्यमें यह दोष समान है। पूर्वपक्षी—परन्तु जीव अनन्त अवयववाला है, उसके वे ही अवयव अल्प शरीरमें संकुचित होंगे और बड़े शरीरमें विकसित होंगे। यदि ऐसा हो, तो पुनः जीवके उन अनन्त अवयवोंके एक देशत्वका प्रतिघात होता है कि नहीं? यह कहना चाहिए। प्रतिघात होनेपर तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देशमें नहीं समायेंगे, और अप्रतिघात होनेपर भी एक अवयव देशत्वकी उपपत्ति होनेसे सब अवयवोंको प्रथिमा-स्थूलता अनुपपन्न होनेसे जीवको अणुमात्रत्व प्रसङ्ग होगा। और शरीरमात्र परिच्छिन्न जीव अवयवोंके आनन्त्यकी कल्पना नहींकी जा सकती॥३४॥

यदि कहो कि क्रमसे बृहत्शरीर प्राप्त होनेपर कुछ जीवावयव पास आ जाते हैं और अल्पशरीर प्राप्त होनेपर कुछ जीवावयव दूर हो जाते हैं, तो इसपर कहते हैं—

और क्रमशः अवयवोंके आने और जानेसे जीवमें देहगत परिमाणत्वका अविरोधसे उपपादन

सत्यानन्दी दीपिका

* जीव अनन्त अवयव है, अतः जिस प्रकार घटमें दीपकके अवयव संकुचित और गृहमें विकसित होते हैं, वैसे जीव अवयव भी छोटे, बड़े शरीरमें जाकर संकुचित और विकसित होते हैं। परन्तु दीपकका उदाहरण असंगत है, क्योंकि दीपकका घटमें प्रदीप्त प्रकाश और गृहमें विस्तृत होनेसे मन्द होता है। इस प्रकार चींटी शरीरमें जानेपर चेतनता महान् होगी और हस्ति शरीरमें विस्तृत होनेसे चेतनता अल्प होगी, इस प्रकार अवयवोंके संकोच और विकासमें दोष है और लोक विरुद्ध भी है॥३४॥

पादयितुं शक्यते। कुतः ? विकारादिदोषप्रसङ्गात्। अवयवोपगमापगमाभ्यां ह्यनि पूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्, विक्रियावत्त्वे चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्येत। ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत कर्माष्टकपरिवे जीवस्यालाबुवत्संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं भवतीति। किंचान् आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामागमापायधर्मवत्त्वादेवानात्मत्वं शरीरादिवत्। त वस्थितः कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्। न च स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति। किंचा आगच्छन्तश्चैते जीवावयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क वा लीयन्त इति वक्त नहि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु च निलीयेरन्; अभौतिकत्वाज्जीवस्य। नापि कश्चि साधारणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाधारो निरूप्यते; प्रमाणाभावात्। किंचान् अनवधृतस्वरूपश्चैवंसत्यात्मा स्यात्। आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामनिय माणत्वात्। अत एवमादिदोषप्रसङ्गान्न पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमावात्मन आ शक्येते। ✻ अथवा पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणस्यात्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्राप्ति

नहीं किया जा सकता, क्योंकि विकार आदि दोषोंका प्रसङ्ग है। अवयवोंके आगमन और सर्वदा पूर्ण और अपक्षय होते हुए जीवका विकारवत्त्व अपरिहार्य होगा, और विकारयुक्त चर्मके समान उसे अनित्यत्व प्रसक्त होगा। उससे बन्ध मोक्षका स्वीकार बाधित होगा। आठ प्र कर्मोंसे परिवेष्टित संसार सागरमें निमग्न जीव बंधनके उच्छेद होनेके अनंतर तुम्बीके समान ऊ होता है। और दूसरी बात यह है कि आने और जाने वाले अवयव आगम और अपाय ध होनेसे शरीरके समान अनात्मा होंगे, उससे अवस्थित कोई अवयव आत्मा होगा, वह यही है, उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। किंचान्यत् आते हुए इतने जीव अवयव कहाँसे प्रादुर्भू हैं और जाते हुए किसमें-विलीन होते हैं, यह कहना चाहिए ? भूतोंसे आविर्भूत होंगे और विलीन होंगे, ऐसा भी नहीं, क्योंकि जीव अभौतिक है। इस प्रकार जीवोंके अवयवोंका सा अथवा असाधारण किसी दूसरे आधारका निरूपण नहीं किया जाता, क्योंकि इसमें कोई प्रमा है। किंचान्यत्–ऐसा होनेपर आत्माका स्वरूप अनिश्चित ही रहेगा, कारण कि आने और अवयवोंका अनियत परिमाण है। अतएव इत्यादि दोषोंके प्रसंगसे क्रमसे भी अवयवोंका आ और गमन आत्मामें स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अथवा पूर्व सूत्रसे शरीर परिमा आत्माको उपचित, अपचित अन्य शरीरके प्राप्त होनेपर अकृत्स्न प्रसङ्ग होगा, इससे अनित्यता

सत्यानन्दी दीपिका

✻ तुम्हारे मतमें जीवके अवयव आने और जानेवाले हैं। तो वे अवयव आत्मा हैं नहीं ? प्रथम पक्ष 'विकारादिदोषः' आदिसे कहते हैं। द्वितीय पक्ष जीवके अवयव शरीरके अनात्मा हैं, तो उनके ज्ञानसे मोक्ष नहीं होगा, जैसे अनात्म शरीर आदिके ज्ञानसे मोक्ष नहीं दूसरी बात यह है कि उन जीवावयवोंका भी ज्ञान नहीं कि कितने हैं, अतः उनके ज्ञान न होने मोक्ष नहीं होगा। यदि कहो कि स्थिर एक अवयव आत्मा है, तो 'वह यही है' ऐसा अनुसन्धान होगा, अवयव परमाणुरूप होनेसे अतीन्द्रिय है। यदि आत्मा अवयवी है, तो अनित्य होगा। अवयवों समुदाय मानें, तो असत् होगा। जीवके प्रत्येक अवयवमें चेतनता है अथवा अवयव समूहमें ! प्रत्येक अवयवमें है तो सब एक अभिप्राय वाले न होनेसे कोई भी कार्य नहीं होगा। समुदायमें है हस्ति शरीरमें व्याप्त न होनेसे कुछ भाग चेतनता रहित होनेसे जड़ होगा, और चींटी शरीर रूपसे न जा सकनेके कारण उनमें चेतनता नहीं आयगी, इत्यादि दोषोंसे आगमन और गमन वाला आत्मा नहीं हो सकता।

कात्स्न्र्यप्रसञ्जनद्वारेणानित्यतायां चोदितायां पुनः पर्यायेण परिमाणानवस्थानेऽपि स्रोतःसंतानित्यतान्यायेनात्मनो नित्यता स्यात्। यथा रक्तपटानां विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्संताननित्यता तद्वद्विसिचामपीत्याशङ्क्यानेन सूत्रेणोत्तरमुच्यते। संतानस्य तावदवस्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः। वस्तुत्वेऽप्यात्मनो विकारादिदोषप्रसङ्गादस्य पक्षस्यानुपपत्तिरिति ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

पदच्छेद—अन्त्यावस्थितेः, च, उभयनित्यत्वात्, अविशेषः।

सूत्रार्थ—(अन्त्यावस्थितेः) मोक्षावस्थापन्न जीव परिमाण नित्य होनेसे (उभयनित्यत्वात्) आदि और मध्य परिमाणोंमें (च) भी नित्यत्व प्रसङ्ग होगा, इससे (अविशेषः) तीनों परिमाणोंमें साम्य हो जायगा, अतः बौद्धमतके समान यह मतभीअप्रामाणिक है।

अपि चान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः। तद्वत्पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात्। एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः। अथवाऽन्त्यस्य जीवपरिमाणस्यावस्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात्, ततश्चाविशेषेण सर्वदैवाणुर्महान्वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः। अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम् ॥ ३६ ॥

(७ पत्यधिकरणम् । ३७–४१)

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पदच्छेद—पत्युः, असामञ्जस्यात्।

सूत्रार्थ—(पत्युः) ईश्वर प्रधान आदि उपादानोंका प्रेरक होनेसे जगत्का निमित्त कारण नहीं हो सकता, (असामञ्जस्यात्) क्योंकि विषम सृष्टिमें प्रवृत्त होनेसे राग द्वेष आदिके प्रसङ्गसे असंगत है।

होनेपर पुनः क्रमसे परिमाण अनिश्चित होता है, तो भी जैसे स्रोतका सन्तान (प्रवाह) नित्य है उस न्यायसे वैसे आत्मा नित्य होगा। अथवा रक्त वस्त्रोंमें बौद्ध विज्ञानकी अवस्थिति न होनेपर भी उसका सन्तान नित्य है, वैसे ही दिगम्बरका सन्तान नित्य है, इस प्रकारकी शङ्काकर इस सूत्रसे उत्तर कहते हैं। सन्तानके अवस्तु होनेपर नैरात्म्यवाद प्रसङ्ग होगा, सन्तानके वस्तु होनेपर भी आत्माके विकार आदि दोषोंके प्रसङ्ग होनेसे इस पक्षकी अनुपपत्ति है ॥३५॥

और अन्त्य-मोक्षावस्था भावी जीव परिमाणको जैन नित्य मानते हैं, उसी प्रकार पूर्वके आदि और मध्य जीव परिमाणोंको नित्यत्व प्रसङ्ग होनेसे तीनों परिमाण समान हो जायंगे। यदि एक शरीर परिमाणके समान आत्मा होगा तो उसे अन्य स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति नहीं होगी। अथवा अन्तिम जीव परिमाणके अवस्थित होनेसे पूर्व अवस्थाओंमें भी जीव अवस्थित परिमाण वाला ही होगा। उससे समानरूपसे सर्वदा ही जीव अणु अथवा महान् स्वीकार करना चाहिए शरीर परिमाण वाला नहीं। इसलिए बौद्धमतके समान आर्हतमत भी असंगत है, अतः वह उपेक्षणीय है ॥३६॥

सत्यानन्दी दीपिका

* अब दूसरी रीतिसे खण्डन करते हैं—यदि कहो कि वैनाशिक रक्त वस्त्र आदिमें विज्ञानकी स्थिति न होनेपर भी विज्ञानका प्रवाह नित्य मानते हैं, वैसे आत्मा भी नित्य होगा ? तो सन्तान अवस्तु है कि वस्तु ? यदि सन्तान अवस्तु है तो उसे आत्मा माननेसे शून्य वाद प्रसक्त होगा। यदि सन्तान वस्तु है, तो वह विज्ञान-सन्तानीसे भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न है तो नित्य होनेसे कूटस्थ आत्मवाद प्रसक्त होगा। यदि अभिन्न है, तो क्षणिक होनेसे अनित्यत्व आदि पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होंगे, इसलिए सन्तान-प्रवाह पक्ष अनुपपन्न है ॥३५॥

❀ इदानीं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादः प्रतिषिध्यते। तत्कथमवगम्यते ? 'प्र
प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्', 'अभिध्योपदेशाच्च' (ब्र० १।४।२३-२४) इत्यत्र प्रकृतिभावेनाधि
भावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात्। यदि पुनरविशेषे
कारणवादमात्रमिह प्रतिषिध्येत पूर्वोत्तरविरोधाद्व्याहताभिव्याहारः सूत्रकार इत्येतदा
तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तविहितब्रह्मैकत्व
पक्षत्वाद्यत्नेनात्र प्रतिषिध्यते। सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनानेकप्रकारा। केचित्तावत्सां
योगव्यपाश्रयाः कल्पयन्ति प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इते
विलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा इति। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः
पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्तकार
वर्णयन्ति। तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथंचित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारण
इति वर्णयन्ति। अत उत्तरमुच्यते--'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति। पत्युरीश्वरस्य प्रधान
योरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते। कस्मात् ? असामञ्जस्यात्। किं पुनरसा

अब केवल अधिष्ठाता (निमित्त) ईश्वर कारणवादका प्रतिषेध किया जाता है।
अवगत हो ? कारण कि 'प्रकृतिश्च०' 'अभिध्योपदेशाच्च' इन सूत्रोंमें प्रकृतिरूपसे और अ
रूपसे उभय स्वभाव ईश्वरको आचार्यने स्वयं ही प्रतिष्ठापित किया है। यदि यहाँ समानरूपसे
कारणवाद मात्रका प्रतिषेध किया जाय, तो पूर्वोत्तरका विरोध होनेसे सूत्रकार परस्पर विरु
कहते हैं, ऐसा प्रसक्त होगा। इसलिए ईश्वर प्रकृति नहीं है अधिष्ठाता-केवल निमित्त कारण है,
पक्षका वेदान्त विहित ब्रह्मैकत्वके विरोधी होनेसे यहाँ यत्नसे प्रतिषेध किया जाता है। वह
ईश्वर कल्पना अनेक प्रकारकी है। कुछ लोग तो सांख्ययोगका आश्रयकर कल्पना करते हैं कि
और पुरुषका अधिष्ठाता ईश्वर केवल निमित्त कारण है, प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये परस्पर
क्षण हैं। माहेश्वर तो ऐसा मानते हैं कि कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त (मोक्ष)
पदार्थ पशुपति ईश्वरसे पशुपाश-जीव बन्धके विनाशके लिए उपदिष्ट हैं। पशुपति ईश्वर
कारण है, ऐसा वर्णन करते हैं। उसी प्रकार कोई वैशेषिक आदि भी कथंचित् अपनी प्र
अनुसार ईश्वर निमित्तकारण है, ऐसा वर्णन करते हैं। सिद्धान्ती—इससे उत्तर कहते हैं—'प
मञ्जस्यात्' पति-ईश्वर प्रधान और पुरुषका अधिष्ठातृरूपसे जगत्का कारण नहीं हो सकता,
असामञ्जस्य है। पुनः वह असामञ्जस्य क्या है ? हीन, मध्यम और उत्तम भावसे भिन्न-भिन्न प्रा

सत्यानन्दी दीपिका

* दिगम्बर जैनमतका निराकरणकर अब बुद्धिस्थ शैव मतका निराकरण करते हैं—
ईश्वर उपादान और निमित्त कारण कहा गया है। शैव ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानते हैं।
सत्य और असत्य एकत्र संभव नहीं हैं. वैसे उपादान और निमित्त भी नहीं हैं, क्योंकि लोक
देखा जाता है कि कार्य घटके प्रति मृत्तिका उपादानकारण है और कुलाल निमित्त कारण है,
प्रकार कार्य प्रपञ्चके प्रति भी ईश्वर केवल मिमित्त कारण है। इस प्रकार पूर्वपक्ष करते हुए
भेद दिखते हैं—यहाँ सांख्य शब्दसे ईश्वर वादी पातञ्जलका ग्रहण है। शैव, पाशुपत,
सिद्धान्ती और कापालिक इस प्रकार माहेश्वरके चार भेद हैं। ये सब महेश्वरसे उपदिष्ट
अनुयायी होनेसे माहेश्वर कहलाते हैं। जीव पशु है और कर्म बन्धन पाश है, उसकी निवृत्तिके
पशुपति ईश्वरने पाँच पदार्थोंका उपदेश किया है। कार्य-महद् आदि, कारण-प्रधान और
योग-मनकी समाहित अवस्था, विधि-त्रिषवण स्नान आदि और दुःखान्त-मोक्ष। माहेश्वर

म्यम्? हीनमध्यमोत्तमभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्म-दादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत्—न; कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्य-प्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। न; अनादित्वादिति चेत्—न; वर्तमानकालवदती-ष्वपि कालेष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेः। अपि च 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (न्याय-सू० १।१।१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थप्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसा-मञ्जस्यम्; स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। पुरुषविशेषत्वाभ्युपगमाच्चेश्वरस्य, पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसामञ्जस्यम्॥ ३७॥

संबन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पदच्छेद—सम्बन्धानुपपत्तेः च।

सूत्रार्थ—और प्रेर्य प्रधान आदिके साथ प्रेरक ईश्वरके सम्बन्धकी अनुपपत्ति होनेसे ईश्वर क नहीं हो सकता।

* पुनरप्यसामञ्जस्यमेव। न हि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधान-पुरुषयोरीशिता। न तावत्संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति; प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वा-न्निरवयवत्वाच्च। नापि समवायलक्षणः संबन्ध; आश्रयाश्रयिभावानिरूपणात्। नाप्यन्यः कश्चित्कार्यगम्यः संबन्धः शक्यते कल्पयितुं; कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धत्वात्। ब्रह्म-

---

न करनेवाले ईश्वरमें राग, द्वेष आदि दोषोंके प्रसंग होनेसे हमलोगोंके समान अनीश्वरत्व प्रसक्त गा। यदि कहो कि प्राणियोंके कर्मोंकी अपेक्षा होनेसे दोष नहीं है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि कर्म और ईश्वरका प्रवर्त्य और प्रवर्तयितृभाव होनेपर अन्योन्याश्रय दोष प्रसङ्ग होगा। ऐसा नहीं, क्योंकि अनादि है, ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमान कालके समान अतीत कालोंमें भी अन्योन्याश्रय दोष-समान होनेसे अन्धपरम्परा न्याय प्रसक्त होगा। और 'प्रवर्तनालक्षणादोषाः' (प्रवृत्तिके हेतुभूत दोष हैं) यह न्यायवेत्ताओंका सिद्धान्त है। कोई भी दोषके विना स्वार्थ अथवा परार्थमें प्रवृत्त हुआ नहीं देखा जाता। स्वार्थमें प्रयुक्त हुआ ही सब लोग परार्थमें भी प्रवृत्त होते हैं, यह भी असामञ्जस्य-असंगत है। कारण कि स्वार्थ युक्त होनेसे ईश्वरमें अनीश्वरत्व प्रसङ्ग होगा। ईश्वरको पुरुष विशेष स्वीकार किया गया है और पुरुषमें औदासीन्य माना गया है यह असंगत है॥ ३७॥

फिर भी असामञ्जस्य ही है, क्योंकि प्रधान और पुरुषसे भिन्न ईश्वर सम्बन्धके विना प्रधान और पुरुषका ईशिता नहीं है, इनका संयोग रूप सम्बन्ध तो नहीं हो सकता, कारण कि प्रधान-पुरुष और ईश्वर सर्वगत और निरवयव हैं, एवं समवाय रूप सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि आश्रया-श्रयिभावका निरूपण नहीं है। उसी प्रकार कार्यगम्य अन्य कोई सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, कारण कि अभितक कार्य कारणभाव ही असिद्ध है। यदि कहो कि ब्रह्मवादीके मतमें किस

सत्यानन्दी दीपिका

से ईश्वर निमित्त कारण है। और वैशेषिक आदि 'जगत् सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' (जगत् सकर्तृक है, क्योंकि कार्य है जैसे घट) इस प्रकार अनुमान आदि द्वारा कार्य जगत्के प्रति ईश्वरको निमित्त कारण मानते हैं॥ ३७॥

* 'देवात्मशक्तिम्' (श्वे० १।३) ब्रह्मवादी तो माया और ब्रह्मका अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, इससे कोई दोष नहीं है। और वेदको स्वतः प्रमाण माननेसे मृत्तिका, कुम्हार आदि लौकिक दृष्टान्तोंकी अपेक्षा ही नहीं है॥ ३८॥

वादिनः कथमिति चेत्—न; तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः। अपि चागमबले ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयतीति नावश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमि नियमोऽस्ति, परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूपं निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्त व्यमित्ययमस्त्यतिशयः। परस्यापि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात्समानमागमबलमिति चेत्— न; इतरतराश्रयत्वप्रसङ्गात्—आगमप्रत्ययात्सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाच्चागमसिद्धिरिति। तस्मादनुपपन्ना सांख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना। एवमन्यास्वपि वेदबाह्यास्वीश्वरकल्पना यथासंभवमसामञ्जस्यं योजयितव्यम् ॥ ३८ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

पदच्छेद—अधिष्ठानानुपपत्तेः, च।

सूत्रार्थ—और ईश्वर रूपादि हीन प्रधानका प्रेरक न होनेसे निमित्तकारण नहीं हो सकता है।

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत्। न चैवमुपपद्यते। न ह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं संभवति; मृदादिवैलक्षण्यात् ॥ ३९ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

पदच्छेद—करणवत्, चेत्, न, भोगादिभ्यः।

सूत्रार्थ—(करणवत्) अप्रत्यक्ष होनेपर जैसे इन्द्रिय जीवसे प्रेरित होती हैं, वैसे ही अप्रत्यक्ष प्रधान भी ईश्वरसे प्रेरित हो जायगा, (चेन्न) तो यह युक्त नहीं है। (भोगादिभ्यः) क्योंकि ऐसा होनेपर जीवके समान ईश्वरको भी भोग आदि प्रसक्त होंगे।

स्यादेतत्—यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च पुरुषोऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरोऽधिष्ठास्यतीति। तथापि नोपपद्यते, भोगादिदर्शनाद्धि करणग्रामस्याधिष्ठि तत्वं गम्यते। न चात्र भोगादयो दृश्यन्ते। करणग्रामसाम्ये चाभ्युपगम्यमाने संसारि

प्रकार होता है ? तो यह युक्त नहीं, क्योंकि उसके मतमें तादात्म्यरूप सम्बन्ध उपपन्न है। और ब्रह्म वादी तो आगम बलसे कारण आदिका स्वरूप निरूपण करते हैं, इसलिए उसके लिए यह नियम नहीं है कि यथादृष्ट ही अवश्य सबको स्वीकार करना चाहिए। दृष्टान्त बलसे कारण आदिका स्वरूप निरूपण करते हुए पूर्वपक्षीको तो यथादृष्ट ही सब स्वीकार करना चाहिए, यह विशेष है। यदि कहो कि पूर्व पक्षीको भी सर्वज्ञ प्रणीत आगमके सद्भावसे आगम बल समान है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आगम ज्ञानसे सर्वज्ञत्वसिद्धि और सर्वज्ञत्वके ज्ञानसे आगमसिद्धि, इसप्रकार अन्योन्याश्रय प्रसङ्ग है। इस सांख्य योगवादीकी ईश्वर कल्पना अयुक्त है। इसी प्रकार वेद बाह्य अन्य ईश्वर कल्पनाओंमें भी यथा सम्भव असामञ्जस्यकी योजना करनी चाहिए ॥३ ॥

और इससे भी तार्किक परिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्ति है। जैसे कुम्हार मृत्तिका आदिको अधिष्ठितकर प्रवृत्त करता है, वैसे वही परिकल्पित हुआ (ईश्वर) प्रधान आदिको अधिष्ठितकर प्रवृत्त करेगा। परन्तु इसप्रकार उपपन्न नहीं होता, क्योंकि अप्रत्यक्ष और रूप आदि हीन प्रधान ईश्वरका अधिष्ठेय नहीं हो सकता, कारण कि वह मृत्तिका आदिसे विलक्षण है ॥ ३९ ॥

ऐसा हो, परन्तु जैसे अप्रत्यक्ष, रूप आदि रहित (उद्भूत रूप आदि रहित) नेत्र आदि इन्द्रिय समुदायको पुरुष अधिष्ठित करता है, वैसे ईश्वर प्रधानको भी अधिष्ठित करेगा। उस प्रकार भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि भोगादिके दर्शनसे ही करण समुदायका अधिष्ठितत्व अवगत होता है। परन्तु यहाँ (ईश्वरमें) भोग आदि नहीं देखे जाते। इन्द्रिय समुदायके साथ (प्रधानका) साम्य स्वीकार किये

मिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्। अन्यथा वा सूत्रद्वयं व्याख्यायते—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'। इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। साधिष्ठानो हि लोके सशरीरो राजा राष्ट्रस्येश्वरो दृश्यते, न निरधिष्ठानः। अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनादृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात्। न च तद्वर्णयितुं शक्यते; सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः; एवं लोके दृष्टत्वात्। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः'—अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किंचित्करणानामायतनं शरीरं कामेन कल्प्येत। एवमपि नोपपद्यते। सशरीरत्वे हि सति संसारिवद्भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

पदच्छेद—अन्तवत्त्वम्, असर्वज्ञता, वा।

सूत्रार्थ—प्रधान, जीव और अपनी संख्या (वा) अथवा परिमाणका निश्चय ईश्वर करता है कि नहीं ? प्रथमपक्षमें (अन्तवत्त्वम्) परिच्छिन्न संख्या और परिच्छिन्न परिमाण होनेसे तीनों घटके समान विनाशी होंगे, द्वितीयपक्षमें (असर्वज्ञता) ईश्वरमें असर्वज्ञत्व सिद्ध होगा, इससे माहेश्वर सिद्धान्त भ्रान्ति मूलक है।

* इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य—स हि सर्वज्ञस्तैरभ्युपगम्यतेऽनन्तश्च। अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते। तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्येत वा, न वा परिच्छिद्येत। उभयथापि दोषोऽनुषक्त एव। कथम्? पूर्वस्मिंस्तावद्विकल्प इयत्तापरिच्छिन्नत्वात्प्रधानपुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यंभावि,

होनेपर संसारीके समान ईश्वरको भी भोग आदि प्रसक्त होंगे। अथवा इन दो सूत्रोंका अन्य रीतिसे व्याख्यान किया जाता है—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' इससे तार्किक परिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्ति है, क्योंकि लोकमें अधिष्ठान सहित सशरीर राजा राष्ट्रका ईश्वर देखा जाता है अधिष्ठान रहित नहीं। अतः उस दृष्टान्तके बलसे अदृष्ट ईश्वरकी कल्पना करनेकी इच्छा करने वालेको ईश्वरका इन्द्रियोंका आयतन कोई शरीर वर्णयितव्य होगा। परन्तु उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शरीर तो सृष्टिके उत्तर कालभावी है सृष्टिके पूर्व उसकी अनुपपत्ति है। निरधिष्ठान होनेपर ईश्वर प्रवर्तक नहीं हो सकता, कारण कि लोकमें ऐसा देखा गया है। 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः' यदि लोक दर्शनके अनुसार ईश्वरका भी इन्द्रियोंका आश्रय कोई शरीर अपनी इच्छासे कल्पना करो, तो इसप्रकार भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सशरीर होनेपर संसारीके समान भोग आदि प्रसंग होनेसे ईश्वरको भी अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा ॥४०॥

इससे भी तार्किक परिकल्पित ईश्वरकी अनुपपत्ति है, क्योंकि वही ईश्वर सर्वज्ञ और अनन्त है, ऐसा वे स्वीकार करते हैं, और प्रधान अनन्त है, पुरुष अनन्त हैं और परस्पर भिन्न हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। उनमें सर्वज्ञ ईश्वरसे प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता (संख्या अथवा परिमाण) जानी जाती है अथवा नहीं जानी जाती ? दोनों प्रकारसे दोष प्रसङ्ग ही है, क्यों ? पूर्व विकल्पमें तो इयत्ता परिच्छिन्न होनेसे प्रधान, पुरुष और ईश्वरका अन्तवत्त्व अवश्यंभावी है। कारण कि व्यवहार

सत्यानन्दी दीपिका

* जिस प्रकार शुष्क तर्कसे ईश्वरमें केवल कर्तृत्व अनुपपन्न है, उसी प्रकार ईश्वरमें नित्यत्व और सर्वज्ञत्व भी अनुपपन्न हैं। 'प्रधानपुरुषेश्वरत्रयम्, अनित्यम्, इयत्तापरिच्छिन्नत्वात् घटवत्।' प्रधान, पुरुष और ईश्वर तीनों अनित्य हैं, क्योंकि इयत्तासे परिच्छिन्न हैं जैसे घट।' ॥४१॥

एवं लोके दृष्टत्वात् । यद्धि लोक इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु पटादि तदन्तवद्दृष्टं, तथा प्रधानपु
श्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्नत्वादन्तवत्स्यात् । संख्यापरिमाणं तावत्प्रधानपुरुषेश्वरत्रय
परिच्छिन्नम् । स्वरूपपरिमाणमपि तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्येतेति । पुरुषगता च महासंख्या
ततश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान्,
रित्वं च तेषामन्तवत् । एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्त
स्यात् । ❀ प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याधिष्ठेयं संसारित्वेनाभिमतं, तच्छून्यता
मीश्वरः किमधितिष्ठेत् ? किंविषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम् ? प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवम
वत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः । आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः । अथ मा भूदेष दोष इत्यु
विकल्पोऽभ्युपगम्येत, न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परिच्छिद्यत इति,
ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिरपरो दोषः प्रसज्येत । तस्मादप्यसंगतस्तार्किकपरिगृ
ईश्वरकारणवादः ॥ ४१ ॥

(८ उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम् । सू० ४२–४५)

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ—वासुदेवसे जीवकी उत्पत्तिका संभव न होनेसे भागवत मत असंगत है ।

❀ येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्या
येषां पुनः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्या
ननु श्रुतिसमाश्रयणेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः—प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चेति । श्रु

में ऐसा देखा जाता है । लोकमें जो इयत्ता परिच्छिन्न पट आदि वस्तु है वह अन्तवान् देखा ग
इसी प्रकार प्रधान, पुरुष और ईश्वर तीनों भी परिच्छिन्न होनेसे अन्तवान् होंगे । संख्या परिमा
प्रधान, पुरुष और ईश्वर त्रयरूपसे परिच्छिन्न है । उनमें स्थित स्वरूप परिमाण भी ईश्वरसे
जाता है । पुरुषगत महा संख्या है । उससे इयत्ता परिच्छिन्नोंके मध्यमें जो संसारी संसारसे मु
जाते हैं, उनका संसार अन्तवान् और उनका संसारित्व अन्तवान् होगा । इसप्रकार क्रमसे अ
भी मुक्त हो जानेपर संसार और संसारियोंका अन्तवत्त्व हो जायगा । और विकार सहित प्रधान पु
भोग और मोक्षके लिए ईश्वरका अधिष्ठेय है तथा संसारीरूपसे अभिमत है, उसके शून्य होनेपर
किसको अधिष्ठित करेगा अथवा किस विषयमें सर्वज्ञत्व और ईश्वरत्व होगा । प्रधान, पुरुष और ई
इसप्रकार अन्तवत्त्व होनेपर आदिमान् होनेका प्रसङ्ग हो जायगा । एवं आदि और अन्तवाला हो
शून्यवाद प्रसङ्ग होगा । यह दोष न हो इसलिए यदि प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता ईश्वरसे
नहीं होती है, इस द्वितीय विकल्पको स्वीकार किया जाय, तो ईश्वरके सर्वज्ञत्व स्वीकारका त्याग
दोष प्रसक्त होगा, इससे भी तार्किक परिगृहीत ईश्वर कारणवाद असङ्गत है ॥४१॥

जिनको ईश्वर अप्रकृति—अनुपादान, अधिष्ठाता केवल निमित्त कारणरूपसे अभिमत है,
पक्षका निराकरण किया जा चुका है । परन्तु जिनको प्रकृति एवं अधिष्ठाता दोनों प्रकारके कारण
ईश्वर अभिमत है, अब उनके पक्षका निराकरण किया जाता है । परन्तु श्रुतिके आश्रयसे भी इस
का ईश्वर प्रकृति और अधिष्ठातारूपसे पूर्वमें निर्धारित किया गया है । श्रुति अनुसारिणी स्मृति

सत्यानन्दी दीपिका

* अब ईश्वरको उपादान और निमित्त दोनों कारण माननेवालोंके वेद अविरुद्ध अंशको
कर वेदविरुद्ध जीवकी उत्पत्ति अंशका निराकरण करनेके लिए प्रत्युदाहरण संगतिसे इस अधिक
आरम्भ है ।

ारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः। तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति? च्यते—यद्यप्येवंजातीयकोंऽशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवत्यस्तित्वंशान्तरं विसंवास्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायारम्भः। तत्र भागवता मन्यन्ते—भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वं, स चतुर्धात्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितः—वासुदेवव्यूहरूपेण, संकर्षणव्यूहरूपेण, प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्धव्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते। संकर्षणो नाम जीवः। प्रद्युम्नो नाम मनः। अनिरुद्धो नामाहंकारः। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्। तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यते—इति। तत्र यत्तावदुच्येत ोऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति—तन्न निराक्रियते; 'स एकधा भवति त्रिधा भवति (छा० ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधाभावस्याधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते—तदपि न प्रतिषिध्यते; श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य

ी है, ऐसी स्थिति है, तो किस हेतुसे इस पक्षके निराकरण करनेकी इच्छा है? कहते हैं—यद्यपि प्रकारका अंश समान होनेसे विसंवादका विषय नहीं है, तो भी अन्य अंश विसंवादका स्थान है, ले उसके निराकरणके लिए यह आरम्भ है। उस विषयमें भागवत मानते हैं कि केवल एक गवान् वासुदेव ही निरञ्जन ज्ञानस्वरूप परमार्थ तत्त्व है। वह अपनेको चार प्रकारसे विभक्तकर ासुदेवव्यूहरूपसे, संकर्षणव्यूहरूपसे, प्रद्युम्नव्यूहरूपसे और अनिरुद्धव्यूहरूपसे प्रतिष्ठित है। वासुदेव रमात्मा कहा जाता है, संकर्षण नाम जीव है। प्रद्युम्न नाम मन है और अनिरुद्ध नाम अहंकार है। उनमें वासुदेव परा प्रकृति है और अन्य संकर्षण आदि कार्य हैं। इसप्रकारके उस भगवान् परमेश्वरकी भिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग द्वारा सौ वर्ष पूजाकर क्षीणक्लेश होकर जीव भगवान्को ही प्राप्त होता है। उसमें जो यह कहा जाता है कि जो वह नारायण अव्यक्तसे पर प्रसिद्ध परमात्मा र्वात्मा है वह अपनेसे अपनेको अनेक प्रकारके व्यूहकर अवस्थित है, उसका निराकरण नहीं किया ाता, क्योंकि 'स एकधा भवति' (वह एक रूप होता है तीन रूप होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे मात्माका अनेक प्रकारका भाव अधिगत होता है। और जो भी उस भगवान्का सदा अनन्य चित्तसे भिगमन आदि रूप आराधन अभिप्रेत है, उसका भी प्रतिषेध नहीं किया जाता है। कारण कि श्रुति और स्मृतिमें ईश्वर प्रणिधान प्रसिद्ध है। परन्तु जो पुनः यह कहा जाता है कि वासुदेवसे संकर्षण

सत्यानन्दी दीपिका

* भागवत-पांचरात्र आगम यहाँ विषय है। वह जीवके उत्पत्तिके अंशमें प्रमाण है कि नहीं? सा सन्देह होनेपर उसका बाधक उपलब्ध न होनेसे वह प्रमाण भूत है। पूर्वपक्षमें उसके आगमके श विरोध होनेसे जीवाभिन्न ब्रह्म समन्वयकी असिद्धि फल है। सिद्धान्तमें उस अंशमें उस आगमके प्रमाण्य होनेसे विरोध नहीं है, अतः जीवाभिन्न ब्रह्म समन्वयकी सिद्धि फल है। यहां व्यूहका अर्थ र्ति है। उस परमात्माकी प्राप्तिके साधन इसप्रकार हैं—वाक्, काय और चित्तकी सावधनता पूर्वक वगृहमें जाना अभिगमन है, पूजा योग्य द्रव्यका संग्रह उपादान है, इज्या-पूजा, स्वाध्याय-अष्टाक्षर आदि मन्त्रका जप, योग-ध्यान आदिसे बहुत वर्ष तक पूजा आदिकर क्षीण क्लेश होकर जीव भगवान्को प्त होता है। 'समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा' (समाहित और श्रद्धावान् होकर) 'तं यथा यथोपासते' (जैसे जैसे उसकी उपासना करता है) इत्यादि श्रुति और 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' (गी० ११।५५) (मेरे लिए कर्म करनेवाला है और मेरे ही परायण है) इत्यादि स्मृतिमें ईश्वर प्रणिधान प्रसिद्ध है, अतः सका प्रतिषेध नहीं किया जाता।

प्रसिद्धत्वात् । ❀ यत्पुनरिदमुच्यते--वासुदेवात्संकर्षण उत्पद्यते, संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः, प्र
श्चानिरुद्ध इति, अत्र ब्रूमः---न वासुदेवसंज्ञकात्परमात्मनः संकर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्प
संभवति; अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् । उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्र
रन् । ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्; कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात् । प्र
षेधिष्यति चाचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्---'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २।३।
इति । तस्मादसंगतैषा कल्पना ॥ ४२ ॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

पदच्छेद—न, च, कर्तुः, करणम् ।

सूत्रार्थ—(च) और (कर्तुः) कर्तासे (करणम्) करणकी (न) उत्पत्ति नहीं देखी
इसलिए जीवसे मनकी उत्पत्ति असंगत है ।

इतश्चासंगतैषा कल्पना । यस्मान्न हि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्प
दृश्यते । वर्णयन्ति च भागवताः कर्तुर्जीवात्संकर्षणसंज्ञकात्करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्
कर्तृजाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहंकार उत्पद्यत इति । न, चैतद्दृष्टान्तमन्तरेणाध्यव
शक्नुमः—न चैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे ॥ ४३ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

पदच्छेद—विज्ञानादिभावे, वा, तदप्रतिषेधः ।

सूत्रार्थ—(विज्ञानादिभावे वा) संकर्षण आदि तीनोंके वासुदेवके समान विज्ञान
अथवा भाव (स्वरूप) होनेपर भी (तदप्रतिषेधः) उत्पत्ति असम्भव दोषका प्रतिषेध नहीं होता।

अथापि स्यान्न चैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाभिप्रेयन्ते; किं तर्हि ? ईश्वरा
सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वर्यधर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते—वासुदेवा एवैते

उत्पन्न होता है, संकर्षणसे प्रद्युम्न और प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध । इसपर हम कहते हैं—वासुदेव
परमात्मासे संकर्षण नामक जीवकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है । क्योंकि अनित्यत्व आदि दोषोंका प्रस
जीव उत्पत्तिमान् होनेपर निश्चित अनित्यत्व आदि दोष प्रसक्त होंगे, उससे इसकी भगवत्प्राप्ति
नहीं होगा, क्योंकि कारणकी प्राप्तिमें कार्यका प्रविलय प्रसङ्ग होगा । 'नात्माऽश्रुतेः॰ (आत्मा
नहीं होता, कारण कि उत्पत्तिके प्रकरणमें उसकी उत्पत्ति श्रुति नहीं है, अपितु इसके विपरीत श्रु
उसकी नित्यता अवगत होती है) इस सूत्रमें आचार्य जीवकी उत्पत्तिका प्रतिषेध करेंगे । इसलि
कल्पना असंगत ही है ॥४२॥

और इससे भी यह कल्पना असंगत है, क्योंकि लोकमें कर्ता देवदत्त आदिसे कुठार
करण उत्पद्यमान नहीं देखा जाता । भागवत वर्णन करते हैं कि संकर्षण नामक कर्ता जीवसे
संज्ञक करण मन उत्पन्न होता है, कर्तासे उत्पन्न उस (मन) से अनिरुद्ध संज्ञक अहंकार उत्पन्न
है । परन्तु दृष्टान्तके बिना इसका निश्चय करनेमें हम समर्थ नहीं है । और न इसप्रकारकी श्रु
उपलब्ध करते हैं ॥४३॥

यदि ऐसा हो कि ये संकर्षण आदि जीव आदि भावसे अभिप्रेत नहीं हैं, किन्तु ये सब

सत्यानन्दी दीपिका

'एष महानज आत्मा' (बृह० ४।४।२०) (यह महान् अजन्मा आत्मा) इत्यादि श्रुति
'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो॰' (गीता॰ २।२०) इत्यादि स्मृतिसे आत्मा नित्य अजन्मा
होता है । इससे यह आगम अप्रामाणिक है । इसलिए जीवाभिन्नब्रह्म समन्वय सिद्ध है ॥४२॥

निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति। तस्मान्नायं यथावर्णित उत्पत्त्यसंभवो दोषः प्राप्नोतीति। अत्रोच्यते—एवमपि तदप्रतिषेध उत्पत्त्यसंभवस्याप्रतिषेधः, प्राप्नोत्येवायमुत्पत्त्यसंभवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथम् ? यदि तावदयमभिप्रायः—परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम्; एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः। सिद्धान्तहानिश्च; भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमात्। अथायमभिप्रायः—एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तुल्यधर्माण इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसंभवः। नहि वासुदेवात्संकर्षणस्योत्पत्तिः संभवति, संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्य; अतिशयाभावात्। भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन यथा मृद्घटयोः। न ह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते। न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकस्मिन्सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादि तारतम्यकृतः कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते। वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसंख्यायामेवावतिष्ठेरन्; ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात्॥ ४४॥

विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

पदच्छेद—विप्रतिषेधात्, च।

सूत्रार्थ—और परस्पर विरुद्ध कथनसे भी यह मत असंगत है।

* विप्रतिषेधश्चास्मिञ्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः। ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवा इत्यादिदर्शनात्। वेद-

---

ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज रूप ईश्वर सम्बन्धी धर्मोंसे युक्त ईश्वर ही स्वीकार किए जाते हैं। वे सब निर्दोष, निरधिष्ठान और निरवद्य वासुदेव ही हैं। इससे यथा वर्णित उत्पत्तिका असम्भव दोष प्राप्त नहीं है। इसपर कहते हैं—ऐसा होनेपर भी तदप्रतिषेध—उस उत्पत्तिके असम्भवका अप्रतिषेध है। यह उत्पत्तिका असम्भव दोष अन्य प्रकारसे प्राप्त होता ही है यह अभिप्राय है। किस प्रकार ? यदि यह अभिप्राय हो कि परस्पर भिन्न ही ये वासुदेव आदि चार ईश्वर तुल्य धर्मवाले हैं, इनमें एकात्मकत्व नहीं है। उससे अनेक ईश्वर कल्पना निष्फल है, क्योंकि एक ही ईश्वरसे ईश्वरकार्य सिद्ध हो जायगा। और एक ही भगवान् वासुदेव परमार्थ तत्त्व है। इसप्रकार स्वीकार होनेसे सिद्धान्तकी भी हानि है। यदि यह अभिप्राय हो कि एक ही भगवान्के ये चार व्यूह समान धर्मवाले हैं, तथापि उत्पत्तिका असम्भव वैसा ही है, क्योंकि अतिशय-विशेषभेद-वैलक्षण्य के अभावसे वासुदेवसे संकर्षण, संकर्षणसे प्रद्युम्न, और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। कार्य कारणमें अतिशय होना ही चाहिए, जैसे मृत्तिका और घटमें है। अतिशयके न होनेपर 'यह कार्य है, यह कारण है' ऐसा नहीं हो सकता। और पंचरात्र सिद्धान्ती वासुदेव आदिमेंसे एकमें अथवा सबमें ज्ञान, ऐश्वर्य आदि तारतम्यकृत कोई भेद स्वीकार नहीं करते। वासुदेव ही सब व्यूह निर्विशेष (समान) है, ऐसा मानते हैं। परन्तु भगवान्के ये व्यूह चार संख्यामें ही अवस्थित न होंगे, क्योंकि ब्रह्मादिसे स्तम्भ पर्यन्त समस्त जगत् ही भगवद् व्यूहरूपसे अवगत होता है ॥४४॥

इस शास्त्रमें गुण-गुणित्व कल्पना आदि रूप अनेक प्रकारका विरोध उपलब्ध होता है, क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज भगवान्के गुण हैं, वे आत्मा ही हैं भगवान् वासुदेव ही है,

सत्यानन्दी दीपिका

* इस वक्ष्यमाण हेतुसे भी जीवोत्पत्ति असम्भव है। स्वयं ही गुण और गुणी हो यह विरुद्ध है। आदि पदसे प्रद्युम्न और अनिरुद्ध-मन और अहंकार आत्मासे भिन्न हैं ऐसा कहकर पुनः आत्मा

विप्रतिषेधश्च भवति । चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानि
दिवेदनिन्दादर्शनात् । तस्मादसंगतैषा कल्पनेति सिद्धम् ॥४५॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः

ऐसा देखनेमें आता है । उसी प्रकार वेद विरोध भी है, कारण कि चारों वेदोंमें परम श्रेय न मिलने
कारण शाण्डिल्यने इस शास्त्रको प्राप्त किया अर्थात् पञ्चरात्रको शरण ली, इत्यादि वेद निन्दा
है, इससे सिद्ध हुआ कि यह कल्पना असंगत है ॥४५॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके द्वितीयाध्यायका द्वितीय पाद समाप्त

सत्यानन्दी दीपिका

ही हैं, इसप्रकार इस विरुद्ध कथनका भी यहाँ ग्रहण है। और 'एकस्यापि तन्त्राक्षरस्य अध्ये
चतुर्वेदिभ्योऽधिकः' (इस पँचरात्र तन्त्रके एक अक्षरका अध्येता चतुर्वेद वेत्ताओं से अधिक है
इसप्रकार वेदकी निन्दाकी गई है। अतः यह सिद्ध हुआ कि परस्पर विरुद्ध पौरुषेय कल्पनाओं
अपौरुषेय वेदान्त समन्वयका विरोध नहीं है ॥४५॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के द्वितीयाध्यायका द्वितीय पाद समाप्त

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्र पादे पञ्चमहाभूतजीवादिश्रुतीनां विरोधपरिहारः ।]

(इस पादमें पञ्च महाभूत और जीव आदि श्रुतियोंमें विरोधका परिहार है)

(१ वियदधिकरणम् । सू० १-७)

न वियदश्रुतेः ॥१॥

पदच्छेद—न, वियत्, अश्रुतेः ।

सूत्रार्थ—(वियत्) आकाश (न) उत्पन्न नहीं होता, (अश्रुतेः) क्योंकि उसकी उत्
प्रतिपादक श्रुति नहीं है ।

❀ वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते । केचिदाकाशस्योत्
मामनन्ति, केचिन्न । तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । एवं जीवस्य प्राणानां

वेदान्तोंमें तत् तत् स्थलोंपर भिन्न प्रस्थानवाली (भिन्न प्रकरणस्थ) उत्पत्ति श्रुतियाँ उप
होती हैं । कुछ श्रुतिवाक्य आकाशकी उत्पत्ति कहते हैं, कुछ नहीं कहते । उसीप्रकार कुछ श्रुति
वायुको उत्पत्ति कहते हैं, कुछ नहीं कहते । एवं कुछ श्रुतिवाक्य जीव और प्राणोंकी उत्पत्ति कहते

सत्यानन्दी दीपिका

* गत पादमें वेदान्तसमन्वयकी स्थापनाके लिए सांख्य आदि मतोंमें भ्रान्ति मूलकता सिद्ध
गई है । अब वेदान्त समन्वयकी स्थितिके लिए भूत, भोक्तृविषयक सृष्टि श्रुतियोंमें परस्पर विरोध
निराकरण करते हैं । जीवकी अनुत्पत्तिके प्रसंगसे आकाशकी भी उत्पत्तिके असंभवकी आशंका

एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते। विप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षितत्वं स्थापितं, तद्वत्स्वपक्षस्यापि विप्रतिषेधादेवानपेक्षितत्वमाशङ्क्येतेत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थनिर्मलत्वाय परः प्रपञ्च आरभ्यते। तदर्थनिर्मलत्वे च फलं यथोक्ताशङ्कानिवृत्तिरेव। तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते किमस्याकाशस्योत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति? तत्र तावत्प्रतिपद्यते—'न वियदश्रुतेः' इति। न खल्वाकाशमुत्पद्यते। कस्मात्? अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति। छान्दोग्ये हि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य 'तदैक्षत', तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदि कृत्वा त्रयाणां तेजोबन्नानामुत्पत्तिः श्राव्यते। श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ। न चात्र श्रुतिरस्त्याकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादिनी। तस्मान्नास्त्याकाशस्योत्पत्तिरिति ॥१॥

अस्ति तु ॥२॥

पदच्छेद—अस्ति, तु।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पक्षान्तरके परिग्रह अर्थमें है, (अस्ति) छान्दोग्यमें आकाशकी उत्पत्ति प्रतिपादक श्रुतिके न होनेपर भी तैत्तिरीयमें है, इसलिए विरोध वैसा ही है।

और कुछ नहीं कहते। इसीप्रकार क्रम आदि द्वारक भी अन्य श्रुतियोंमें विरोध उपलक्षित होता है। और विरोध होनेसे पर पक्षोंका अनेपक्षत्व स्थापन किया गया है, उसीप्रकार स्वपक्षमें भी अनेपक्षत्वकी आशंका हो सकती है, इसलिए सर्ववेदान्तगत सृष्टि श्रुतिके अर्थकी निर्मलताके लिए अब आगेका ग्रंथ आरम्भ किया जाता है। और उसके अर्थके निर्मल होनेपर यथोक्त शंकाकी निवृत्ति ही फल है। उसमें पहले तो आकाशको अश्रयकर विचार किया जाता है कि इस आकाशकी उत्पत्ति है अथवा नहीं है? उसमें प्रथम 'न वियदश्रुतेः' ऐसा प्राप्त होता है। आकाश उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि श्रुति नहीं है, उसकी उत्पत्तिके प्रकरणमें श्रुति नहीं है, क्योंकि छान्दोग्यमें ही 'सदेव० (हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) इसप्रकार सत् शब्द वाच्य ब्रह्मको प्रस्तुतकर 'तदैक्षत' (उसने ईक्षण किया, उसने तेज उत्पन्न किया) इसप्रकार पाँच महाभूतोंमें मध्यम तेजको आदि (आरम्भ) कर तेज, जल और अन्न तीनोंकी उत्पत्ति सुनाई जाती है। अतीन्द्रिय अर्थके विज्ञानकी उत्पत्तिमें हमारे मतमें श्रुति प्रमाण है। परन्तु यहां आकाशकी उत्पत्ति प्रतिपादक श्रुति नहीं है, इसलिए आकाशकी उत्पत्ति नहीं है ॥ १ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

उसका परिहार करते हुए प्रथम 'न वियदश्रुतेः' इससे एक देशीके मतको कहते हैं। जैसे परस्पर और पूर्वापर विरोध होनेके कारण पर पक्ष उपेक्ष्य है, वैसे श्रुति पक्ष भी उपेक्ष्य है। इसप्रकारकी शंकाकी निवृत्तिके लिए दृष्टान्त संगतिसे यह पाद आरम्भ किया जाता है। तैत्तिरीयक आकाश और वायुकी उत्पत्ति कहते हैं, छान्दोग नहीं कहते। 'सर्वं एत आत्मनो व्युच्चरन्ति' (ये सब आत्मासे निकलते हैं) 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मुण्ड २।१।३) (इससे प्राण उत्पन्न होते हैं) इसप्रकार माध्यंदिन और आथर्वणिक जीव और प्राणकी उत्पत्ति कहते हैं। कहीं आकाश पूर्वक सृष्टि है, कहीं तेज पूर्वक सृष्टि है, इसप्रकार क्रमका विरोध है। 'स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐ० १।२) (उसने इन लोकोंको उत्पन्न किया) इसप्रकार अक्रम है। एवं कहीं सात प्राण, कहीं आठ प्राण, इसप्रकार संख्या पूर्वक विरोध है। इस तरह श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे प्रथम आकाशकी उत्पत्ति और अनुत्पत्ति विषयक श्रुतियोंको लेकर विचार किया जाता है। पूर्वपक्षमें आकाशकी उत्पत्ति श्रुति नहीं है, अतः आकाशकी उत्पत्ति नहीं है ॥ १ ॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे। मा नामाकाशस्य छान्दोग्ये भूदुत्पत्तिः, श्रुत्यन्तरे त्वस्ति। तैत्तिरीयका हि समामनन्ति—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति प्रकृत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति। ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधः—क्वचित्तेजःप्रमुखा सृष्टिः क्वचिदाकाशप्रमुखेति। नन्वेकवाक्यताऽनयोः श्रुत्योर्युक्ता। सत्यं सा युक्ता, न तु सावगन्तुं शक्यते। कुतः? 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन संबन्धानुपपत्तेः 'तत्तेजोऽसृजत', 'तदाकाशमसृजत' इति। ननु सकृच्छ्रुतस्यापि कर्तुः कर्तव्यद्वयेन संबन्धो दृश्यते, यथा सूपं पक्त्वौदनं पचतीति, एवं तदाकाशं सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजतेति योजयिष्यामि। नैवं युज्यते, प्रथमजत्वं हि छान्दोग्ये तेजसोऽवगम्यते, तैत्तिरीयके चाकाशस्य। न चोभयोः प्रथमजत्वं संभवति। एतेनेतरश्रुत्यक्षरविरोधोऽपि व्याख्यातः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यत्रापि तस्मादाकाशः संभूतस्तस्मात्तेजः संभूतमिति सकृच्छ्रुतस्यापादानस्य संभवनस्य च वियत्तेजोभ्यां युगपत्संबन्धानुपपत्तेः। 'वायोरग्निः' (तै० २।१) इति च पृथगाम्नानात् ॥२॥

अस्मिन्विप्रतिषेधे कश्चिदाह –

गौण्यसंभवात् ॥३॥

पदच्छेद—गौणी, असंभवात्।

सूत्रार्थ—(गौणी) आकाशकी उत्पत्ति श्रुति गौणी है, मुख्य नहीं, (असंभवात्) क्योंकि आकाशकी उत्पत्तिमें समवायिकारण आदि सामग्रीका अभाव है और व्यापक होनेसे उसमें नित्यत्वका अनुमान होता है। अतः आकाशकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

'तु' शब्द अन्य पक्षके ग्रहण करनेमें है। आकाशकी उत्पत्ति छान्दोग्यमें मत हो, परन्तु अन्य श्रुतिमें तो है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ऐसा प्रस्तुतकर 'तस्माद्वा० (इस प्रत्यगभिन्न उस परमात्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इसप्रकार तैत्तिरीय शाखावाले कहते हैं। इससे 'कहीं तेज प्रमुख सृष्टि है और कहीं आकाश प्रमुख सृष्टि है' इस तरह दो श्रुतियोंमें विरोध है। परन्तु इन श्रुतियोंकी एकवाक्यता युक्त है। सत्य, वह युक्त है, किन्तु वह अवगत नहीं हो सकती। क्योंकि 'तत्तेजो०' (उसने तेज उत्पन्न किया) इसप्रकार एक वार श्रुत स्रष्टाका 'तत्तेजोऽसृजत' 'तदाकाशमसृजत' (उसने आकाश उत्पन्न किया) इसप्रकार दो स्रष्टव्योंके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु एक वार श्रुत कर्ताका भी दो कर्तव्यके साथ सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे 'दाल पकाकर चावल (भात) पकाता है' वैसे उसने आकाशको उत्पन्नकर उसने तेज उत्पन्न किया ऐसी योजना करूँगा? किन्तु ऐसा युक्त नहीं है, क्योंकि छान्दोग्यमें तेजकी प्रथम उत्पत्ति अवगत होती है और तैत्तिरीयमें आकाशकी, दोनोंकी प्रथम उत्पत्ति असंभव है, इस विरोध कथनसे अन्य श्रुतिवाक्योंके साथ विरोध भी व्याख्यात हुआ। क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इसमें भी 'उससे आकाश उत्पन्न हुआ' 'उससे तेज उत्पन्न हुआ' इसप्रकार एक वार श्रुत अपादान (पञ्चम्यन्त-तस्मात्) और संभवन (उत्पत्ति) का आकाश और तेजके साथ युगपत् सम्बन्ध नहीं हो सकता और 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न होता है) ऐसी पृथक् (दूसरी) श्रुति है ॥ २ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* 'वायोरग्निः' इस अन्य श्रुतिमें भी विरोध है, क्योंकि छान्दोग्य श्रुतिमें तो सत्से तेजकी उत्पत्ति और तैत्तिरीय श्रुतिमें वायुसे अग्नि (तेज) की उत्पत्ति कही गई है। इसलिए दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता नहीं हो सकती ॥ २ ॥

इस विरोधके होनेपर कोई कहता है—

* नास्ति वियत उत्पत्तिरश्रुतेरेव। या त्वितरा वियदुत्पत्तिवादिनी श्रुतिरुदाहृता सा गौणी भवितुमर्हति। कस्मात्? असंभवात्। न ह्याकाशस्योत्पत्तिः संभावयितुं शक्या, श्रीमत्कणभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु। ते हि कारणसामग्र्यसंभवादाकाशस्योत्पत्तिं वारयन्ति। समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते। द्रव्यस्य चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति। न चाकाशस्यैकजातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन्समवायिकारणे सति, असमवायिकारणे च तत्संयोगे, आकाश उत्पद्येत। तदभावात्तु तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणं दूरापेतमेवाकाशस्य भवति। उत्पत्तिमतां तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभाव्यते—प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादिकार्यं न बभूव, पश्चाच्च भवतीति। आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यते। * किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम्। पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादिलक्षणादाकाशस्याजत्वसिद्धिः। तस्माद्यथा लोक आकाशं कुरु, आकाशो जात इत्येवंजातीयको गौणः प्रयोगो भवति, यथा च घटाकाशः करकाकाशो गृहाकाश इत्येकस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो भवति, वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' इति, एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या ॥ ३ ॥

आकाशकी उत्पत्ति नहीं है, क्योंकि श्रुति नहीं है। जो आकाशकी उत्पत्ति प्रतिपादक अन्य श्रुति उदाहृत है वह गौणी होनी युक्त है, क्योंकि असंभव है। श्रीमान् कणादके अभिप्रायका अनुसरण करनेवालोंके जीवित रहनेपर आकाशकी उत्पत्तिकी संभावना नहीं की जा सकती, कारण कि वे कारण सामग्रीके असंभवसे आकाशकी उत्पत्तिका वारण करते हैं। सम्पूर्ण उत्पद्यमान कार्य समवायी, असमवायी और निमित्त कारणोंसे उत्पन्न होता है। एकजातीय अनेक द्रव्य द्रव्यका समवायिकारण होते हैं। परन्तु आकाशके एक प्रकारके अनेक आरम्भक द्रव्य नहीं है, जिस समवायिकारणके होनेपर और उनके संयोग असमवायिकारणके होनेपर आकाश उत्पन्न हो। उन कारणोंके न होनेसे उनके अनुग्रहसे प्रवृत्त आकाशका निमित्तकारण तो दूर ही रहा। तेजकी उत्पत्तिके पूर्व प्रकाश आदि कार्य नहीं था उत्पत्तिके पश्चात् होता है, इसप्रकार उत्पत्तिमत् तेजः प्रभृतिमें पूर्वोत्तर कालमें विशेषकी संभावनाकी जा सकती है, किन्तु इसप्रकार आकाशके पूर्वोत्तरकालमें विशेषकी संभावना नहीं की जा सकती। उत्पत्तिके पूर्व अनवकाश, असुषिर और अच्छिद्र था, क्या ऐसा निश्चय किया जा सकता है? पृथिवी आदिसे विरुद्ध धर्म और विभूत्व आदिरूप होनेसे आकाश अज सिद्ध होता है। इसलिए जैसे लोकमें 'आकाश करो' 'आकाश उत्पन्न हुआ' इसप्रकारका गौण प्रयोग होता है, और जैसे घटाकाश, करकाकाश, गृहाकाश इसप्रकारका एक आकाशमें भी भेद व्यपदेश गौण होता है। वेदमें भी 'अरण्यके पशुओंका आकाशमें आलभन करे' ऐसा गौण व्यवहार होता है, वैसे आकाशकी उत्पत्ति श्रुति भी गौण समझनी चाहिए ॥ ३ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त अधिकरणोंमें प्रथम विरोधसे श्रुतिका अप्रामाण्य पूर्व पक्षका है। मुख्य सिद्धान्तके साथ श्रुतियोंका अविरोध होनेपर एकवाक्यता होनेसे ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध होता है, ऐसा फल और क्रम है। दो श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेपर 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधिसे गृहीत श्रुतियां अप्रामाणिक नहीं हो सकतीं, इससे आकाशकी उत्पत्ति असंभव है। इस तर्कसे छान्दोग्य श्रुति मुख्य और तैत्तिरीय श्रुति गौण माननेपर कोई विरोध नहीं होगा। इसप्रकारसे वैशेषिक मतका विवरण करते हैं—'आकाशः नोत्पद्यते सामग्रीशून्यत्वात् आत्मावत्' आकाश उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि सामग्री नहीं है जैसे आत्मा।'

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

पदच्छेद—शब्दात् , च ।

सूत्रार्थ—और 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' इत्यादि श्रुतिमें आकाशमें अमृत शब्द देखा जाता है, अतः अकाशकी उत्पत्ति नहीं होती ।

शब्दः खल्वाकाशस्याजत्वं ख्यापयति । यत आह—'वायुश्चान्तरिक्षं चैत (बृ० २।३।३) इति । न ह्यमृतस्योत्पत्तिरुपपद्यते । 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (श० इति चाकाशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्यां धर्माभ्यामुपमिमान आकाशस्यापि तौ सूचयति । न च तादृशस्योत्पत्तिरुपपद्यते । 'स यथानन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा वे इति चोदाहरणम् । 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२), 'आकाश आत्मा' (तै० १।७।१) च । न ह्याकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषणं संभवति, नीलेनेवोत्पलस्य । तस्मा मेवाकाशेन साधारणं ब्रह्मेति गम्यते ॥ ४ ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

पदच्छेद—स्यात् , च, एकस्य, ब्रह्मशब्दवत् ।

सूत्रार्थ—(ब्रह्मशब्दवत्) जैसे एक ही प्रकरणमें विषय भेदसे 'अन्नं ब्रह्म' यहाँ ब्र गौण है और 'आनन्दो ब्रह्म' यहाँ मुख्य है, वैसे प्रकृतमें भी विषय भेदसे (एकस्य) एक ही शब्द गौण और मुख्य (स्यात्) होता है ।

* इदं पदोत्तरं सूत्रम् । स्यादेतत्—कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'तस्माद्वा ए दात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजःप्रभृतिष्वनुवर्तमा मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति ? अत उत्तरमुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतश

आकाश अज है ऐसा श्रुति कहती है क्योंकि 'वायुश्चान्तरिक्षं० (वायु और अन्तरिक्ष ये हैं) ऐसा श्रुति कहती है । अमृतकी उत्पत्ति उपपन्न नहीं होती । 'आकाशवत्सर्वगतश्च० (आ समान सर्वगत और नित्य है) इसप्रकार आकाशसे सर्वगतत्व और नित्यत्व धर्मोंसे ब्रह्मको देती हुई श्रुति वे धर्म आकाशके भी सूचित करती है । इससे उस प्रकारके सर्वगत और नि उत्पत्ति उपपन्न नहीं होती । 'स यथा० (जैसे यह आकाश अनन्त है वैसे ही आत्मा अनन्त है समझना चाहिए) और 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (ब्रह्म आकाश शरीर है) 'आकाश आत्मा० (आत्मा है) इसप्रकार यह उदाहरण है । जैसे नील उत्पलका विशेषण होता है, वैसे आकाश वाला हो तो वह ब्रह्मका विशेषण नहीं हो सकता । इससे यह ज्ञात होता है कि नित्य ही आ तुल्य ब्रह्म है ॥४॥

यह सूत्र कुछ शंकाके होनेपर उत्तर रूप है । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभू अधिकार (प्रकरण) में अनुवर्तमान एक ही 'संभूत' शब्द अनन्तरोक्त तेज आदिमें मुख्य और गौण कैसे हो सकता है ? ऐसी शंका है । अतः इसका उत्तर कहा जाता है—'संभूत' शब्द एक है, तो भी विषय विशेषके कारण ब्रह्म शब्दके समान उसका गौण और मुख्य प्रयोग हो

सत्यानन्दी दीपिका

* और जैसे वेदमें एक आकाशमें 'आकाशेषु' यह बहुवचन प्रयोग गौण है, वैसे उत्पत्ति प्रतिपादिक श्रुति भी गौण है ॥ ३ ॥

* यदि आकाशकी उत्पत्ति श्रुति गौण मानें तो ब्रह्मके समान आकाश अनादि और होनेपर 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि अद्वैत प्रतिपादक श्रुतिका बाध होगा और 'एक ब्रह्मके विदित

विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत्। यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३।२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः। यथा च तपसि ब्रह्मविज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यतेऽञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्मणि तद्वत्। कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते ? ननु नभसा द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति। कथं च ब्रह्मणि विदिते सर्वं विदितं स्यादिति ? तदुच्यते—एकमेवेति तावत्स्वकार्यापेक्षयोपपद्यते। यथा लोके कश्चित्कुम्भकारकुले पूर्वेद्युर्मृद्दण्डचक्रादीनि चोपलभ्यापरेद्युश्च नानाविधान्यमत्राणि प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयात्—मृदेवैकाकिनी पूर्वेद्युरासीदिति, स च तयावधारणया मृत्कार्यजातमेव पूर्वेद्युर्नासीदित्यभिप्रेयान्न दण्डचक्रादि, तद्वदद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति। यथा मृदोऽमत्रप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता दृश्यते, नैवं ब्रह्मणो जगत्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठातास्तीति। ॐ न च नभसापि द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्रसज्यते। लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम्। न च प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति; क्षीरोदकयोरिव संसृष्टयोर्व्यापित्वामूर्तत्वादिधर्मसामान्यात्। सर्गकाले तु ब्रह्म जगदुत्पादयितुं यतते स्तिमितमितरवत्तिष्ठति। तेनान्यत्वमवसीयते। तथा च 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः। अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः। अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते, ब्रह्मणा चाव्यतिरिक्तदेशकालमेवाकाशं भव-

जैसे एक ब्रह्म शब्दका भी 'तपसा ब्रह्म० (तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छाकर, तप ब्रह्म है) इस अधिकार अन्न आदिमें गौण और आनन्दमें मुख्य प्रयोग है। और जैसे ब्रह्म विज्ञानके साधन तपमें ब्रह्म शब्द गौणवृत्तिसे प्रयुक्त है किन्तु मुख्यरूपसे तो विज्ञेय ब्रह्ममें प्रयुक्त है। वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। परन्तु आकाशकी उत्पत्ति न होनेपर 'एकमेवा' (एक ही अद्वितीय है) इस प्रतिज्ञाका किस प्रकार समर्थन होगा ? परन्तु दूसरे आकाशसे ब्रह्म सद्वितीय प्राप्त होता है, ब्रह्मके विदित होनेपर सर्व किस प्रकार विदित होगा ? उसको कहते हैं—'एकमेव' यह तो स्वकार्यकी अपेक्षासे उपपन्न होता है। जैसे लोकमें कुम्हारके घरमें पहले दिन मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदिको देखकर और दूसरे दिन अनेक प्रकारके फैले हुए पात्रोंको उपलब्धकर कोई यह कहे कि पहले दिन केवल एक मृत्तिका ही थी, वह उस निश्चयसे मृत्तिकाका कार्य समूह ही प्रथम दिन नहीं था, इस अभिप्रायसे कहता है, किन्तु दण्ड, चक्र आदि नहीं थे, इस अभिप्रायसे नहीं। वैसे हो अद्वितीय श्रुति अन्य अधिष्ठाताका निषेध करती है। जैसे घट आदि पात्रोंकी प्रकृति (उपादान कारण) मृत्तिकाका कुम्भकार अधिष्ठाता देखा जाता है, वैसे जगत्के उपादान कारण ब्रह्मका अन्य अधिष्ठाता नहीं है। और आकाश द्वितीयसे भी ब्रह्म सद्वितीय है, ऐसा प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि लक्षणभेदसे नानात्व है। परन्तु उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्म और आकाशमें लक्षण भेद नहीं है, कारण कि क्षीर और उदकके समान संसृष्टोंमें व्यापित्व और अमूर्तत्व धर्म समान है। परन्तु सृष्टिकालमें तों ब्रह्म जगत्को उत्पन्न करनेके लिए यत्न करता है, और अन्य आकाश निश्चिल रहता है। उससे दोनोंका भेद निश्चित होता है। उसी प्रकार 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे भी ब्रह्म और आकाशका अभेदोपचार सिद्ध होता है। अतएव ब्रह्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी सिद्धि होती है। और उत्पद्यमान सब कार्य आकाशसे अव्यतिरिक्त देश कालमें ही उत्पन्न होते हैं। और ब्रह्मसे अभिन्न देश कालमें ही आकाश होता है, अतः ब्रह्म और उसके कार्यके विज्ञान

सत्यानन्दी दीपिका

सब विदित हो जाता है' इस प्रतिज्ञाका बाध होगा, कारण कि ब्रह्मके जाननेपर अन्यका ज्ञान होनेपर भी आकाशका ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि वह ब्रह्मके समान पृथक्तत्त्व है। पू०-'तदुच्यते' आदिसे कहते हैं ।५

तीति, अतो ब्रह्मणा तत्कार्येण च विज्ञातेन सह विज्ञातमेवाकाशं भवति। यथा क्षीर
घटे कतिचिदब्बिन्दवः प्रक्षिप्ताः सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति, नहि क्षीरग्र
ब्बिन्दुग्रहणं परिशिष्यते, एवं ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद्गृहीतमेव
ग्रहणेन नभो भवति। तस्माद्भाक्तं नभसः संभवश्रवणमिति ॥ ५ ॥

एवं प्राप्त इदमाह—

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

पदच्छेद—प्रतिज्ञाऽहानिः, अव्यतिरेकात्, शब्देभ्यः।

सूत्रार्थ—(अव्यतिरेकात्) उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्मसे सम्पूर्ण वस्तुओंका अभेद
(प्रतिज्ञाऽहानिः) एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञा बाधित नहीं होती। (शब्देभ्यः)
सोम्य' 'ऐतदात्म्यमिदं' इसप्रकार कार्य कारणके अभेद प्रतिपादन परक श्रुतियोंसे भी प्रतिज्ञाकी
अवगत होती है।

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।३) इति, 'आत्मनि
दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' (बृ० ४।५।६) इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्व
विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।३) इति, 'न काचन मद्बहिर्धा विद्यास्ति' इति चैवंरूपा
वेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते। तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्यात्, यद्यव्यति
कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य विज्ञेयाद्ब्रह्मणः स्यात्। व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञा
इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स चाव्यतिरेक एवमुपपद्यते यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद्ब्र
उत्पद्येत। शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यतिरेकन्यायेनैव प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते। तथा हि
'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इति प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तैः कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रति
समर्थ्यते। तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (
६।२।१), 'तदैक्षत', 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्श्याव्यति

होनेके साथ आकाश विज्ञात ही होता है। जैसे दूध पूर्ण घटमें कुछ जल बिन्दु प्रक्षिप्त होते हुए
ग्रहणसे ही गृहीत होते हैं। दूध ग्रहणसे जलबिन्दुका ग्रहण अवशिष्ट नहीं होता, वैसे ब्रह्म और
कार्योंके साथ [आकाशका] अभिन्न देश काल होनेसे ब्रह्मके ग्रहणसे आकाश गृहीत ही हो
इसलिए आकाशकी सम्भव श्रुति गौण है ॥ ५ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—

'येनाश्रुतं श्रुतं० (जिससे अश्रुत श्रुत, अमत मत और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है) 'आ
खल्वरे० (हे मैत्रेयी ! निश्चय ही आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जानेपर य
विदित हो जाता है) 'कस्मिन्नु भगवो० (हे भगवन् ! किसके विज्ञात होनेपर यह सब विज्ञात हो
है) और 'न काचन० (मुझसे भिन्न और कोई विद्या नहीं है) इसप्रकारकी प्रतिज्ञा प्रत्येक वेद
ज्ञात होती है। यदि सम्पूर्ण वस्तु समूह विज्ञेय ब्रह्मसे अभिन्न हों तो उस प्रतिज्ञाकी इसप्रकार अ
अबाध होगा। भिन्न होनेपर तो 'एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है' इस प्रतिज्ञाकी हानि हो
वह अव्यतिरेक (अभिन्नत्व) इसप्रकार उपपन्न होता है—यदि सम्पूर्ण वस्तु समूह एक ब्रह्मसे उ
हो। और श्रुतियोंसे और 'प्रकृतिविकार-अव्यतिरेक न्यायसे' ही प्रतिज्ञाकी सिद्धि अवगत
है। जैसे 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इसप्रकार प्रतिज्ञाकर कार्य और कारणके अभेद प्रतिपादन
मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंसे इस प्रतिज्ञाका समर्थन किया जाता है और उसके सिद्ध करनेके लिए उ
शब्द-श्रुति 'सदेव सोम्य० (हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) 'तदै

दर्शयन्ति—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इत्यारभ्याप्रपाठकपरिसमाप्तेः। * तद्यद्याकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञात आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। न च प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम्। तथा हि—प्रतिवेदान्तं ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामेव प्रतिज्ञां ख्यापयन्ति 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) इत्येवमादयः। तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते। यदुक्तमश्रुतेर्न वियदुत्पद्यत इति—तदयुक्तम्; वियदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति। सत्यं दर्शितम्; विरुद्धं तु 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यनेन श्रुत्यन्तरेण। न; एकवाक्यत्वात्सर्वश्रुतीनाम्। भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानाम्; इह तु विरोध उक्तः, सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धासंभवाद्द्वयोश्च प्रथमजत्वासंभवाद्विकल्पासंभवाच्चेति। नैष दोषः—तेजःसर्गस्य तैत्तिरीयके तृतीयत्वश्रवणात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' (तै० २।१) इति। अशक्या हीयं श्रुतिरन्यथा परिणेतुम्। शक्या तु परिणेतुं छान्दोग्यश्रुतिस्तदाकाशं वायुं च सृष्ट्वा 'तत्तेजोऽसृजत' इति। * न हीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धामाकाशस्योत्पत्तिं वारयितुं

(उस-सत्ने ईक्षण-संकल्प किया, उसने तेज उत्पन्न किया) इसप्रकार ब्रह्मसे कार्य समूहकी उत्पत्ति दिखलाकर 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (एतद्रूप ही यह सब है) ऐसा आरम्भकर प्रपाठक-अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त अव्यतिरेक दिखलाते हैं। इसलिए यदि आकाश ब्रह्मका कार्य न हो तो ब्रह्मके विज्ञात होनेपर आकाश विज्ञात नहीं होगा और उससे प्रतिज्ञाका बाध होगा। प्रतिज्ञाकी हानिसे वेदका अप्रामाण्य करना युक्त नहीं है, क्योंकि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (यह सब आत्मा ही है) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (यह अमृत ब्रह्म ही आगे है) इत्यादि वे वे श्रुतिवाक्य प्रत्येक उपनिषद्में तत्, तत् दृष्टान्तसे उसी प्रतिज्ञाका ज्ञापन करते हैं। इसलिए अग्नि आदिके समान ही आकाश भी उत्पन्न होता है। जो यह कहा गया है कि श्रुतिके न होनेसे आकाश उत्पन्न नहीं होता, वह अयुक्त है। क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इसप्रकार आकाशकी उत्पत्ति विषयक अन्य श्रुति दिखलाई गई है। ठीक, दिखलाई गई है। परन्तु 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) इस अन्य श्रुतिसे तो वह विरुद्ध है। ऐसा नहीं, कारण कि सर्व श्रुतियोंकी एकवाक्यता है। पू०—अविरुद्ध वाक्योंकी एकवाक्यता भले हो, किन्तु यहाँ तो विरोध कहा गया है। कारण कि एक वार श्रुत स्रष्टाका दो स्रष्टव्योंके साथ सम्बन्धका सम्भव नहीं है, दोनोंकी प्रथमोत्पत्तिका असम्भव और विकल्पका असम्भव है। सि०—यह दोष नहीं है, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन० (इस प्रत्यगभिन्न उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि) इसप्रकार तैत्तिरीयकमें तेजकी सृष्टि तीसरी सुनी गई है, अतः यह श्रुति अन्यथा परिणत नहींकी जा सकती है। परन्तु 'तदाकाशं० 'उसने आकाश और वायुको उत्पन्नकर उसने तेज उत्पन्न किया' इसप्रकार छान्दोग्य श्रुति तो परिणतकी जा सकती है। यह श्रुति तेजकी उत्पत्ति प्रधान होती हुई अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध आकाशकी उत्पत्तिका निवारण करनेमें

सत्यानन्दी दीपिका

* सिद्धान्ती—अपौरुषेय वेद वाक्योंमें अप्रामाण्य कल्पना करनेकी अपेक्षा एकवाक्यता द्वारा प्रामाण्य मानना युक्त है। बलवती श्रुतिके साथ दुर्बल श्रुतिकी एकवाक्यता युक्त है। तैत्तिरीय श्रुति प्रबल है, क्योंकि उसमें हेतुवाचक पञ्चमीसे क्रम पूर्वक उत्पत्ति कही गई है। छान्दोग्यमें केवल 'तत्तेजोऽसृजत' तेजकी उत्पत्ति श्रुत है। इसलिए तैत्तिरीय श्रुतिके अनुसार तेजकी उत्पत्ति प्रतिपादक छान्दोग्य श्रुतिको परिणत करना चाहिए। इससे तेजकी उत्पत्ति तीसरे नम्बरमें होगी। इसप्रकार दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यतासे कोई विरोध नहीं है।

शक्नोति; एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्वयासंभवात् । स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणानेकं स्रष्टव्यं
इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां संभवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हातव्या । न चास्माभिः
तस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धोऽभिप्रेयते; श्रुत्यन्तरवशेन स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात् । यथा
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा० ३।१४।१) इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य वस्तुजातस्य
श्रूयमाणं न प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयति, एवं तेजसोऽपि
श्रूयमाणं न श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति । ननु शमविधानार्थं
द्वाक्यम्, 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुतेः, नैतत्सृष्टिवाक्यं, तस्मादेतन्न प्रदेशा
प्रसिद्धं क्रममुपरोद्धुमर्हतीति । 'तत्तेजोऽसृजत' इत्येतत्सृष्टिवाक्यम् । तस्मादत्र यथाश्रुति
ग्रहीतव्य इति । * नेत्युच्यते—नहि तेजः प्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो वियत्
परित्यक्तव्यो भवति, पदार्थधर्मत्वात्क्रमस्य । अपि च 'तत्तेजोऽसृजत' इति नात्र
वाचकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । अर्थात्तु क्रमोऽवगम्यते । स च 'वायोरग्निः' इत्यनेन श्रुत्य
प्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते । विकल्पसमुच्चयौ तु वियत्तेजसोः प्रथमजत्वविषयावसंभव

समर्थ नहीं है, क्योंकि एक वाक्यमें दो व्यापारोंका सम्भव नहीं है । स्रष्टा एक होनेपर भी वह
अनेक स्रष्टव्योंको उत्पन्न करे, इसप्रकार एकवाक्यताकी कल्पनाका सम्भव होनेपर विरुद्ध
श्रुतिकी हानि नहीं करनी चाहिए । एक वार श्रुत स्रष्टाका दो स्रष्टव्योंके साथ सम्बन्ध हमें भी अभीष्ट
है, क्योंकि अन्य श्रुतिके वशसे अन्य स्रष्टव्यका संग्रह होता है । जैसे 'सर्वं खल्विदं० (निश्चय
सब ब्रह्म ही है, यह उसीसे उत्पन्न होनेवाला, उसीमें लीन होनेवाला और उसीमें चेष्टा करनेवाला
इसमें समस्त कार्य समुदायकी ब्रह्मसे साक्षात् उत्पत्ति श्रूयमाण है वह अन्य स्थानमें विहित तेज
उत्पत्ति क्रमका वारण नहीं करती, वैसे तेजकी भी ब्रह्मसे श्रूयमाण उत्पत्ति अन्य श्रुतिमें विहित
प्रमुख उत्पत्ति क्रमका वारण करनेमें समर्थ नहीं है । पू०—परन्तु 'तज्जलानिति शान्त
(उसीसे उत्पन्न होनेवाला, उसीमें लीन होनेवाला, और उसीमें चेष्टा करनेवाला है, अतः
होकर उसकी उपासना करनी चाहिए) इस श्रुतिसे यह वाक्य शमके विधानके लिए है । इसलिए
सृष्टिवाक्य नहीं है, अतः यह अन्य प्रदेशमें प्रसिद्ध क्रमका विरोध नहीं कर सकता । 'तत्तेजोऽसृजत'
सृष्टि वाक्य है । इससे यहाँ श्रुतिके अनुसार क्रमका ग्रहण करना चाहिए । नहीं, ऐसा कहते हैं
प्रथमताके अनुरोधसे अन्य–तैत्तिरीय श्रुति प्रसिद्ध आकाश पदार्थ परित्याग करने योग्य नहीं
क्योंकि क्रम पदार्थका धर्म है । और 'तत्तेजोऽसृजत' इस श्रुतिमें क्रम वाचक कोई शब्द नहीं
परन्तु अर्थतः क्रम अवगत होता है ? तो उसका 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि) इस अन्य श्रुति

सत्यानन्दी दीपिका

* 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इस श्रुतिमें सम्पूर्ण जगत्की ब्रह्मसे उत्पत्ति माननेपर
'तत्तेजोऽसृजत' ऐसा कहनेसे कोई विरोध नहीं है, वैसे क्रम बोधक तैत्तिरीय श्रुतिके साथ छान्दोग्य
विरोध नहीं होना चाहिए । पू०—'तज्जलान्' यह श्रुति तो 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (
जिसके लिए होता है वही शब्दका अर्थ होता है) इस न्यायके अनुसार शम परक है सृष्टि परक
इससे छान्दोग्य श्रुतिमें प्रसिद्ध सृष्टि क्रमका बाध नहीं हो सकता, क्योंकि 'तत्तेजोऽसृजत' यह
वाक्य है । अतः श्रुतिके अनुसार तेजकी प्रथमता स्वीकार करनी चाहिए ।

* आकाश और तेजके प्रथमोत्पत्ति विषयक विकल्प और समुच्चय (गौके दक्षिण और
शृङ्गके समान एक साथ उत्पन्न होना) न सम्भव है और न स्वीकार किया गया है, क्योंकि
विकल्प नहीं होता और समुच्चयमें कोई प्रमाण नहीं है । समुच्चय होनेमें 'वायोरग्निः' इस श्रौत
बाध होगा, अतः दोनों श्रुतियोंमें विरोध नहीं है ।

भ्युपगमाभ्यां निवारितौ । तस्मान्नास्ति श्रुत्योर्विप्रतिषेधः । अपि च छान्दोग्ये 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्येतां प्रतिज्ञां वाक्योपक्रमे श्रुतां समर्थयितुमसमाम्नातमपि वियदुत्पत्तावुपसंख्यातव्यं, किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके समाम्नातं नभो न संगृह्यते ? यच्चोक्तमाकाशस्य सर्वेणानन्यदेशकालत्वाद्ब्रह्मणा तत्कार्यैश्च सह विदितमेव तद्भवत्यतो न प्रतिज्ञा हीयते, नच 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिकोपो भवति, क्षीरोदकवद्ब्रह्मनभसोरव्यतिरेकोपपत्तेरिति । * अत्रोच्यते—न क्षीरोदकन्यायेनेदमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नेतव्यम् । मृदादिदृष्टान्तप्रणयनाद्धि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेदं सर्वविज्ञानं नेतव्यमिति गम्यते । क्षीरोदकन्यायेन च सर्वविज्ञानं कल्प्यमानं न सम्यग्विज्ञानं स्यात् । नहि क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्विज्ञानगृहीतत्वमस्ति । नच वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीकवञ्चनादिभिरर्थावधारणमुपपद्यते । सावधारणा चेयम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत । नच स्वकार्यापेक्षमिदं वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञानमेकमेवाद्वितीयतावधारणं चेति न्याय्यं, मृदादिष्वपि हि तत्संभवान्न तदपूर्ववदुपन्यसितव्यं भवति 'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।१) इत्यादिना । तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

इससे निवारण होता है । आकाश और तेजके प्रथमोत्पत्ति विषयक विकल्प और समुच्चय तो असम्भव और अस्वीकारसे निरस्त है, अतः श्रुतियों (तैत्तिरीय और छान्दोग्य) में विरोध नहीं है । किञ्च छान्दोग्यमें 'येनाश्रुतं०' (जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है) इस वाक्योपक्रममें इस श्रुत प्रतिज्ञाके समर्थनके लिए अश्रुत आकाशका भी उत्पत्तिप्रकरणमें उपसंख्यान (ग्रहण) करना चाहिए । तो हे अङ्ग ! तैत्तिरीयमें पठित आकाशका संग्रह क्यों न हो ? और जो यह कहा गया है कि आकाशका सबके साथ अनन्य देश काल होनेके कारण ब्रह्म और उसके कार्योंके साथ वह विदित ही होता है, अतः प्रतिज्ञाकी हानि नहीं होती । और 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुतिका भी बाध नहीं होता । क्योंकि क्षीर और उदकके समान ब्रह्म और आकाशका अव्यतिरेक-अभेद उपपन्न होता है । सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—क्षीरोदक न्यायसे 'एक विज्ञानसे सर्व विज्ञान' नहीं लेना चाहिए, किन्तु मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंके ग्रहण करनेसे प्रकृतिविकार न्यायसे यह सर्व विज्ञान लेना चाहिए, यह ज्ञात होता है । क्षीरोदक न्यायसे कल्प्यमान सर्वविज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि क्षीरज्ञानसे गृहीत उदकका यथार्थ ज्ञानसे ग्रहण नहीं है । वेदका अर्थनिश्चय पुरुषोंके समान मायासे मिथ्या भाषण और उससें वञ्चना आदिसे उपपन्न नहीं होता, किन्तु 'एकमेवाद्वितीयम्' यह सावधारण श्रुति क्षीरोदक न्यायसे ली जाय तो बाधित होगी । 'सर्वविज्ञान' और 'एक ही अद्वितीय है' यह निश्चय स्वकार्यकी अपेक्षासे वस्तु एक देश विषयक है । यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि मृत्तिका आदिमें भी उसका सम्भव है, और 'श्वेतकेतो यन्नु०' (उद्दालक—हे सोम्य श्वेतकेतु ! तू जो ऐसा महामना, पण्डितमन्य और अविनीत हो जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत हो जाता है, वह आदेश तुमने आचार्यसे पूछा है ?) इत्यादिसे उसका अपूर्ववत् उपन्यास योग्य नहीं है । इसलिए समस्त वस्तु विषयक यह सर्वविज्ञान सबके ब्रह्म कार्यत्वकी अपेक्षासे उपन्यस्त है, ऐसा समझना चाहिए ॥६॥

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वपक्षीने देशकालके अभेदसे ब्रह्म और उसके कार्यके साथ आकाश भी विदित होता है, इसमें 'क्षीरोदक' का दृष्टान्त दिया है । परन्तु क्षीरके ज्ञानसे तद् देश कालसे अभिन्न जलबिन्दु ज्ञात नहीं होते, कारण कि वे क्षीरसे अत्यन्त भिन्न हैं । यहाँ तो कार्य कारण न्यायसे प्रतिज्ञा सिद्ध हो सकती है, क्योंकि कार्य कारणका अभेद है अन्यका नहीं । अतः आकाश आदि समस्त जगत् ब्रह्मका कार्य है । इसकी अपेक्षासे ही एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका उपन्यास किया गया है ॥६॥

यत्पुनरेतदुक्तमसंभवाद्गौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति, अत्र ब्रूमः—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

पदच्छेद—यावद्विकारम्, तु, विभागः, लोकवत् ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षके निवारणके लिए है, (यावद्विकारम्) जितने घट शरावादि विकार हैं, (विभागः) उन सबका विभाग है और विभक्त होनेसे वे सब कार्य हैं, (लोकवत्) उन लौकिक पदार्थोंके समान आकाश भी विभक्त होनेसे कार्य है ।

❀ तुशब्दोऽसंभावाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । न खल्वाकाशोत्पत्तावसंभावाशङ्का कर्तव्या। यतो यावत्किंचिद्विकारजातं दृश्यते—घटघटिकोदञ्चनादि वा, कटककेयूरकुण्डलादि वा, सूचीनाराचनिस्त्रिंशादि वा—तावानेव विभागो लोके लक्ष्यते । न त्वविकृतं किंचित्कुतश्चिद्विभक्तमुपलभ्यते । विभागश्चाकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते । तस्मात्सोऽपि विकारो भवितुमर्हति । एतेन दिक्कालमनःपरमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम् । नन्वात्माप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति तस्यापि कार्यत्वं घटादिवत्प्राप्नोति, न, 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति श्रुतेः । यदि ह्यात्मापि विकारः स्यात्तस्मात्परमन्यन्न श्रुतमित्याकाशादि सर्वं कार्यं निरात्मकमात्मनः कार्यत्वे स्यात् । तथा च शून्यवादः प्रसज्येत । आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः । न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धत्वात् । ❀ न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति । तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते । न

और जो यह कहा गया है कि उत्पत्तिके असम्भव होनेसे आकाशकी उत्पत्ति श्रुति गौणी है, इसपर हम कहते हैं—

'तु' शब्द असम्भवकी आशंका निवृत्तिके लिए है । आकाशकी उत्पत्तिमें असंभवकी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो कुछ घट, घटिका, उदञ्चन आदि अथवा कटक, केयूर, कुण्डल आदि अथवा सुई, बाण, खड्ग आदि विकार समूह देखा जाता है, वही लोकमें विभक्त देखनेमें आता है, और अविकृत पदार्थ किसीसे किंचित् विभक्त होकर उपलब्ध नहीं होता । आकाशका पृथिवी आदिसे विभाग अवगत होता है, इसलिए वह भी कार्य होना चाहिए । इससे (विभाग सिद्धिसे) दिशा, काल, मन, परमाणु आदि कार्यरूपसे व्याख्यात हुए । परन्तु आत्मा भी आकाश आदिसे विभक्त है, इससे उसको भी घट आदिके समान कार्यत्व प्राप्त होता है ? ऐसा नहीं, क्योंकि 'आत्मन आकाशः संभूतः' ऐसी श्रुति है । यदि आत्मा भी कार्य हो तो उससे पर अन्य कुछ भी श्रुति प्रतिपादित नहीं है । अतः आत्माके कार्य होनेपर आकाश आदि सब कार्य निरात्मक हो जायँगे और उससे शून्यवाद प्रसक्त होगा । सबका आत्मा (स्वरूप) होनेसे आत्माके निराकरणकी शंका अनुपपन्न है । आत्मा किस कारणका आगुन्तक-कार्य नहीं है, क्योंकि वह स्वयं सिद्ध है । अपनेमें प्रमाणकी अपेक्षाकर आत्मा सिद्ध नहीं होता है, उसके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अप्रसिद्ध प्रमेयकी सिद्धिके लिए गृहीत होते हैं, क्योंकि

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'आकाशो नोत्पद्यते सामग्रीशून्यत्वात्' यह आकाशकी उत्पत्तिके असंभवमें पूर्वपक्षीका अनुमान है । सिद्धान्ती—'आकाशः, विकारः, विभक्तत्वात् घटादिवत्' 'आकाश उत्पन्न होता है, क्योंकि वह विभक्त है जैसे घट आदि' यह सत्प्रतिपक्ष हेतु है । 'और जो अविकार है वह अविभक्त है जैसे आत्मा' इस अन्वय-व्यतिरेकसे भी आकाश कार्य सिद्ध होता है । इससे दिशा आदि भी कार्य हैं, क्योंकि वे भी विभक्त हैं ।

❀ सत्ता-स्फुर्ति ही आत्माकी स्वयं सिद्धि है, आत्माकी सिद्धिके लिए किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है।

काशादयः पदार्थाः प्रमाणनिरपेक्षाः स्वयंसिद्धाः केनचिदभ्युपगम्यन्ते । आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सिध्यति । न चेदृशस्य निराकरणं संभवति । आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम् । य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् । न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते । तथाऽहमेवेदानीं जानामि वर्तमानं वस्त्वहमेवातीतमतीततरं चाज्ञासिषमहमेवानागतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यतीतानागतवर्तमानभावेनाऽन्यथाभवत्यपि ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति; सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात् । तथा भस्मीभवत्यपि देहे नात्मन उच्छेदो वर्तमानस्वभावादन्यथास्वभावत्वं वा न संभावयितुं शक्यम् । एवमनिराकार्यस्वभावत्वादेवाकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाकाशस्य । ❀ यत्तूक्तं समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं व्योम्नो नास्तीति, तत्प्रत्युच्यते—न तावत्समानजातीयमेवारभते न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति । नहि तन्तूनां तत्संयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति; द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात् । नच निमित्तकारणानामपि तुरीवेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति । स्यादेतत्-समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वाभ्युपगमो न कारणान्तरविषय इति । तदप्यनैकान्तिकम् ; सूत्रगोवालैर्ह्यनेकजातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते । तथा सूत्रैरूर्णा-

---

काश आदि पदार्थ प्रमाण निरपेक्ष स्वयं सिद्ध हैं, ऐसा किसीने भी स्वीकार नहीं किया है । आत्मा प्रमाण आदि व्यवहारका आश्रय होनेसे प्रमाण आदि व्यवहारसे पूर्व ही सिद्ध है, ऐसे स्वयं सिद्ध आत्माका निराकरण नहीं हो सकता है । आगन्तुक वस्तुका ही निराकरण होता है, स्वरूपका निराकरण नहीं होता । जो हि निराकर्ता है वही उसका स्वरूप है । अग्निके औष्ण्यका अग्निसे निराकरण नहीं होता । उसी प्रकार मैं ही इस समय वर्तमान वस्तुको जानता हूँ, मैंने ही भूत और उससे भी पूर्वकी वस्तुओंको जाना था, मैं ही भविष्य और उससे भी दूर भविष्यकी वस्तुओंको जानूँगा, इसप्रकार अतीत अनागत और वर्तमानरूपसे ज्ञातव्य वस्तुके अन्यथा भाव होनेपर भी ज्ञाताका अन्यथा भाव नहीं होता क्योंकि वह सर्वदा वर्तमान स्वभाव है । इसीप्रकार देहके भस्मीभूत होनेपर भी वर्तमान स्वभाव वाले आत्माके उच्छेद (विनाश) अथवा अन्यथा स्वभावत्वकी संभवना नहीं की जा सकती । इस प्रकार निराकरणके अयोग्य स्वभाव होनेसे आत्मा अकार्य है और आकाश कार्य है । जो यह कहा गया है कि समान जातीय अनेक कारण द्रव्य आकाशके नहीं हैं, उसका निराकरण किया जाता है—समान जातीय ही आरम्भक होते हैं भिन्न जातीय आरम्भक नहीं होते ऐसा कोई नियम नहीं है । तन्तु और उनका संयोग समान जातीय नहीं हैं, कारण कि उनको द्रव्य और गुणरूपसे स्वीकार किया गया है । इस प्रकार तुरी, वेम आदि निमित्त कारणोंका भी समान जातीयत्व नियम नहीं है । अच्छा, ऐसा हो कि समवायिकारण विषयक ही समान जातीयत्व स्वीकार हो अन्य कारण विषयक नहीं । वह भी व्यभिचरित है, क्योंकि अनेक जातीय सूत्र गोवालों (ऊन) से सृज्यमान एक रस्सी देखी जाती है,

सत्यानन्दी दीपिका

इस विषयमें सुरेश्वराचार्यने कहा है—

"प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा । यस्य प्रसादात्सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्ष्यते ॥"

(प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति जिसके प्रसादसे सिद्ध होते हैं उसकी सिद्धिमें किसको अपेक्षा है?) इससे जो देहके नाशसे आत्माका नाश मानते हैं उनका भी खण्डन हुआ समझना चाहिए ।

❀ यह समान जातीयत्व नियम कारणमात्र विषयक है अथवा निमित्तकारण वा समवायिकारण विषयक है ? प्रथम विकल्प तो तन्तु और उनके संयोगमें बाधित है, क्योंकि तन्तु द्रव्य और संयोग गुण है । द्वितीय पक्षमें 'न च' आदि कहते हैं । तृतीय विकल्प—क्या समवायिकारणतावच्छेदक धर्मसे सजातीय है अथवा सत्त्व सत्तासे सजातीय है ? 'स्यादेतत्' आदिसे कहते हैं ।

दिभिश्च विचित्रान्कम्बलान्वितन्वते। सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा समानजातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्यम्, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात्। नाप्यनेकमेवारभते, नैकमिति नियमोऽस्ति, अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात्। एकैको हि परमाणुर्मनश्चाद्यं कर्मारभते न द्रव्यान्तरैः संहत्येत्यभ्युपगम्यते। * द्रव्यारम्भ एवानेकारम्भकत्वनियम इति चेत्—न; परिणामाभ्युपगमात्। भवेदेष नियमो यदि संयोगसचिवं द्रव्यं द्रव्यान्तरस्यारम्भकमभ्युपगम्येत। तदेव तु द्रव्यं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानं कार्यं नामाभ्युपगम्यते। तच्च क्वचिदनेकं परिणमते मृद्बीजादि अङ्कुरादिभावेन; क्वचिदेकं परिणमते क्षीरादि दध्यादिभावेन। नेश्वरशासनमस्त्यनेकमेव कारणं कार्यं जनयतीति, अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते। तथा चोक्तम्—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इति। यच्चोक्तमाकाशस्योत्पत्तौ न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यत इति, तदयुक्तम्; येनैव हि विशेषेण पृथिव्यादिभ्यो व्यतिरिच्यमानं नभः स्वरूपवदिदानीमध्यवसीयते स एव विशेषः प्रागुत्पत्तेर्नासीदिति गम्यते। यथा च ब्रह्म न स्थूलादिभिः पृथिव्यादिस्वभावैः स्वभाववत्, 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८)

वैसे ही लोग सूत्र और ऊनसे विचित्र कम्बल बुनते हैं। अथवा सत्त्व और द्रव्यत्वकी अपेक्षासे समान जातीयत्वकी कल्पनाकी जाय तो नियम निष्फल है, क्योंकि सब सबके साथ समान जातीय हैं। अने ही आरम्भक है एक नहीं यह नियम भी नहीं है, कारण कि परमाणु और मन आद्य कर्मके आरम्भ स्वीकार किए गए हैं। एक-एक परमाणु और मन आद्य कर्मका आरम्भ करते हैं अन्य द्रव्यसे संह होकर नहीं, ऐसा स्वीकार किया जाता है। यदि कहो कि द्रव्यके आरम्भमें ही यह अनेक आरम्भकत्व नियम है, तो युक्त नहीं है, क्योंकि परिणामको स्वीकार किया है। यह नियम हो सकता है यदि संयो सचिव द्रव्य अन्य द्रव्यका आरम्भक स्वीकार किया जाय। परन्तु वही द्रव्य सविशेष अन्य अवस्थाओं को प्राप्त हुआ कार्य नामसे स्वीकार किया जाता है। वह कहीं अनेक मृत्तिका बीजादि अङ्कु आदि भावसे परिणत होता है, और कहीं एक क्षीर आदि दधि आदि भावसे परिणत होता है। कोई ईश्वरका आदेश नहीं है कि अनेक कारण ही कार्यको उत्पन्न करते हैं। अतः श्रुति प्रामाण्य एक ब्रह्मसे आकाश आदि महाभूतोंकी उत्पत्ति क्रमसे जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा निश्चित होता है। इ प्रकार कहा है—'उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्धि' (उपसंहार देखनेसे ब्रह्म जगत्का कारण न है, ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, क्योंकि क्षीरके समान उपपन्न होगा)। और जो यह कहा गया कि आकाशकी उत्पत्तिमें पूर्व और उत्तरकालमें कुछ विशेष-वैलक्षण्य संभावित नहीं हो सकता, कथन अयुक्त है, क्योंकि जिस विशेषसे ही पृथ्वी आदिसे व्यतिरिक्त हुआ आकाश स्वरूपवत् वर्तमा निश्चित होता है वही विशेष उत्पत्तिके पूर्व नहीं था, ऐसा ज्ञात होता है। जैसे 'अस्थूलमनणु' (

सत्यानन्दी दीपिका

* क्या यह अनेकारम्भकत्व नियम आरम्भकमात्रमें है अथवा द्रव्यके आरम्भकमें है? प्रथ पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अदृष्टवाले आत्माके साथ संयुक्त परमाणु और मन आद्यकर्मके आरम्भक हैं उस प्रथम क्रियाका एक-एक परमाणु और मन समवायिकारण है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि वही द्रव्य भिन्न-भिन्न अवस्थासे कार्य नामसे व्यवहारमें आता है। इसके अतिरिक्त 'यह द्रव्य है यह गुण है' यह परिभाषा कणादसे कल्पित है। उससे श्रुति अर्थका निर्णय नहीं हो सकता। आत्म 'आत्मन आकाशः संभूतः' आदि श्रुति प्रमाणसे एक ही ब्रह्मसे आकाश आदि समस्त जगत्की उत्प निश्चित होती है। जिस शब्द आदि आश्रयरूप विलक्षणताको लेकर आकाश पृथ्वी आदिसे भिन्न होता है, वह वैलक्षण्य उत्पत्तिके पूर्व नहीं था। इसमें 'अनाकाशम्' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

दिश्रुतिभ्यः, एवमाकाशस्वभावेनापि न स्वभाववदनाकाशमिति श्रुतेरवगम्यते । तस्मा-त्पत्तेरनाकाशमिति स्थितम् । यदप्युक्तं–पृथिव्यादिवैधर्म्यादाकाशस्याजत्वमिति, तदप्य-; श्रुतिविरोधे सत्युत्पत्त्यसंभवानुमानस्याभासत्वोपपत्तेः, उत्पत्त्यनुमानस्य च दर्शित-त्वात्, अनित्यमाकाशमनित्यगुणाश्रयत्वाद्घटादिवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च । आत्मन्यनै-न्तिकमिति चेत्–न; तस्यौपनिषदं प्रत्यनित्यगुणाश्रयत्वासिद्धेः, विभुत्वादीनां चाकाश-त्पत्तिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात् । यच्चोक्तमेतच्छब्दाच्चेति, तत्रामृतत्वश्रुतिस्तावद्वियत्यमृता वौकस इतिवद्द्रष्टव्या; उत्पत्तिप्रलययोरुपपादितत्वात् । ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः’ इत्यपि सिद्धमहत्त्वेनाकाशेनोपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय, नाकाशसमत्वाय । यथेषुरिव विता धावतीति क्षिप्रगतित्वायोच्यते, नेषुतुल्यगतित्वाय, तद्वत् । एतेनानन्तत्वोपमान-तिर्व्याख्याता । ‘ज्यायानाकाशात्’ इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ब्रह्मण सकाशादाकाशस्योनपरिमाणत्व-द्धिः । ‘न तस्य प्रतिमास्ति’ (श्वे० ४।१९) इति च ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति । ‘अतोऽ-

नहीं है अणु नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म स्थूल आदि पृथ्वी आदि स्वभावोंसे स्वभाव वाला होता, वैसे आकाशके स्वभावसे भी स्वभाव वाला ब्रह्म नहीं है, ऐसा ‘अनाकाशम्’ (आकाश) इस श्रुतिसे अवगत होता है । इसलिए आकाशकी उत्पत्तिके पूर्व ब्रह्म अनाकाश था, ऐसा त हुआ है । जो यह कहा गया है कि पृथ्वी आदिसे विरुद्ध धर्म (विभुत्व, निरवयवत्व वाला) आकाश उत्पत्ति रहित है । वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुतिके साथ विरोध होनेपर उत्पत्तिके भवका अनुमान आभास मात्र उपपन्न होता है, और उत्पत्तिका अनुमान दिखलाया गया है—काश अनित्य है, अनित्य गुणका आश्रय होनेसे, घट आदिके समान’ इत्यादि प्रयोगका संभव है । कहो कि अनित्य गुणाश्रयत्व हेतुका आत्मामें व्यभिचार है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि औप-द्वादीके मतमें आत्मामें अनित्य गुणाश्रयत्व असिद्ध है । और आकाशके उत्पत्तिवादीके प्रति काशमें विभुत्व आदि असिद्ध हैं । ‘शब्दाच्च’ (शब्दसे भी) जो यह कहा गया है—उसमें अमृतत्व ति तो स्वर्गमें देवता अमृत हैं इसके समान समझनी चाहिए । कारण कि आकाशकी उत्पत्ति और यका उपपादन किया गया है । ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः’ (आकाशके समान सर्वगत और नित्य) यह भी प्रसिद्ध महत्त्वसे [ब्रह्ममें] निरतिशय महत्त्व दिखलानेके लिए आकाशके साथ उपमान या है आकाशके समत्वके लिए नहीं ; जैसे ‘बाणके समान सविता दौड़ता है’ यह क्षिप्र गतिके लिए जाता है बाणके तुल्य गतिके लिए नहीं, इससे अनन्तत्व उपमानवाली श्रुतिका भी व्याख्यान आ । ‘ज्यायानाकाशात्’ (आकाशसे बड़ा) इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशका परिमाण ब्रह्मसे छोटा सिद्ध ता है । ‘न तस्य० (उसकी उपमा नहीं है) यह श्रुति ब्रह्मको अनुपमत्व प्रतिपादित करती है । ‘अतोऽ-

सत्यानन्दी दीपिका

* ‘आकाश, उत्पन्न नहीं होता, सामग्री शून्य होनेसे ।’ यह अनुमान ‘आकाश उत्पन्न होता है, विभक्त होनेसे घट आदिके समान’ इस अनुमानसे बाधित है, अतः अनुत्पत्ति प्रतिपादक अनुमान भासमात्र है । कणादके अनुयायी आत्माको विभु नित्य मानकर भी ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि नित्य गुणोंका आश्रय मानते हैं । उनके मतमें तो अनित्य गुणाश्रयत्व हेतुका व्यभिचार भले हो, परन्तु न्तमतमें यह दोष नहीं है, क्योंकि निर्गुण आत्मा अनित्य गुणोंका आश्रय ही नहीं है । किञ्च जैसे निर्जरा अमरा देवाः’ स्वर्गस्थ देवताओंमें अमरत्व गौण है, वैसे आकाशमें भी नित्यत्व आदि गौण है । और ‘आत्मन आकाशः संभूतः’ इस उत्पत्ति श्रुति और उक्त अनुमानसे आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध होती है । अतः ‘आत्मन आकाशः संभूतः’ इस बलवती तैत्तिरीय श्रुतिसे‘तत्तेजोऽसृजत’छान्दोग्य श्रुतिसे प्रति-दिततेजकीप्रथमोत्पत्तिके गौणहोनेसेदोनोंमेंएकवाक्यताहै, अतःस्रष्टाब्रह्ममें वेदान्तसमन्वययुक्त है ॥७॥

न्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च ब्रह्मणोऽन्येषामाकाशादीनामार्तत्वं दर्शयति। तपसि ब्रह्मशब्दवदाकाशस्य जन्मश्रुतेर्गौणत्वमित्येतदाकाशसंभवश्रुत्यनुमानाभ्यां परिहृतम्। तस्माद्ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम् ॥ ७ ॥

(२ मातरिश्वाधिकरणम् । सू० ८)

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

पदच्छेद—एतेन, मातरिश्वा, व्याख्यातः ।

सूत्रार्थ—(एतेन) आकाश उत्पत्तिवाला है, इस कथनसे (मातरिश्वा) वायु भी आकाशोपाधिक ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, (व्याख्यातः) यह व्याख्यान हुआ ।

❀ अतिदेशोऽयम् । एतेन वियद्व्याख्यानेन मातरिश्वापि वियदाश्रयो वायुर्व्याख्यातः । तत्राप्येते यथायोगं पक्षा रचयितव्याः । न वायुरुत्पद्यते छान्दोगानामुत्पत्तिप्रकरणेऽनाम्नानादित्येकः पक्षः । अस्ति तु तैत्तिरीयाणामुत्पत्तिप्रकरण आम्नानम्, 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१) इति पक्षान्तरम् । ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधे सति गौणी वायोरुत्पत्तिश्रुतिः, असंभवादित्यपरोऽभिप्रायः । असंभवश्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इत्यस्तमयप्रतिषेधात्, अमृतत्वादिश्रवणाच्च । प्रतिज्ञानुपरोधाद्यावद्विकारं च विभागाश्रु-

---

न्यदार्तम्' (उससे अन्य आर्त-अनित्य है) यह श्रुति ब्रह्मसे अन्य आकाश आदिका अनित्यत्व दिखलाती है । जैसे तपमें ब्रह्म शब्द गौण है, वैसे आकाशकी उत्पत्ति श्रुति गौण है, इसका आकाशकी उत्पत्ति श्रुति और अनुमानसे परिहार किया गया है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाश ब्रह्मका कार्य है ॥७॥

यह अतिदेश है । इस आकाशके व्याख्यानसे मातरिश्वापि आकाशाश्रय वायु भी व्याख्यात हुआ । उसमें भी यथायोग्य इन पक्षोंकी रचना करनी चाहिए, वायु उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि छांदोग्यके उत्पत्ति प्रकरणमें पठित नहीं है, यह एक पक्ष है । तैत्तिरीयोंके उत्पत्ति प्रकरणमें तो श्रुति है—'आकाशाद्वायुः' (आकाशसे वायु उत्पन्न होता है) यह अन्य पक्ष है । उससे श्रुतियोंका विरोध होनेपर वायुकी उत्पत्ति श्रुति गौण है, क्योंकि उत्पत्तिका असंभव है, यह अन्य अभिप्राय है । 'सैषाऽनस्तमिता॰ (यह जो वायु है, वह अस्त-विनाश न होनेवाला देवता है) इस प्रकार अस्तमयके प्रतिषेध और अमृतत्व आदिके श्रवणसे वायुकी उत्पत्तिका असम्भव है । प्रतिज्ञाका बाध न होनेसे और सम्पूर्ण

सत्यानन्दी दीपिका

* 'तत्तेजोऽसृजत' इस श्रुतिका 'आकाशाद्वायुः' इस तैत्तिरीय श्रुतिसे विरोध है कि नहीं ? इस प्रकार संशय होनेपर गौण पक्ष, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्षका 'तत्रापि' इत्यादिसे अतिदेश करते हैं। तेजकी आकाशके अनन्तर उत्पत्ति तैत्तिरीयमें निर्णीत है । यदि उसमें वायु और तेजका आनन्तर्य समान हो, तो 'वायोरग्निः' इस क्रम श्रुतिका बाध होता है । और यदि दोनोंका पूर्वापर्य मानें तो छान्दोग्यमें प्रतिपादित तेजकी प्रथमोत्पत्तिका भंग होता है, इससे दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता नहीं होती । ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर 'ततश्च' इत्यादिसे गौणवादीका अभिप्राय कहते हैं—छान्दोग्यमें वायुकी उत्पत्ति नहीं कही गई है, और 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' (बृह०२।३।३) (वायु और आकाश ये अविनाशी हैं) 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः' (बृह० ३।३।२) (वायु ही व्यष्टि और वायु समष्टि है) इस प्रकार वायु सर्वात्मा है । इससे 'आकाशाद्वायुः' यह उत्पत्ति श्रुति गौणी है । सिद्धान्ती—'वायु उत्पन्न होता है विभक्त होनेसे घट आदिके समान' 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इस प्रतिज्ञाका बाध न होनेसे और विभाग होनेसे वायुकी उत्पत्ति श्रुति मुख्य है । अतः आकाश और वायुको उत्पन्नकर तेज उत्पन्न किया, इस प्रकार दोनों श्रुतियोंकी एक वाक्यतासे ब्रह्ममें समन्वय है । यहाँ अतिदेश संगति है ।

ादुत्पद्यते वायुरिति सिद्धान्तः । ❀ अस्तमयप्रतिषेधोऽपरविद्याविषय आपेक्षिकः; दीनामिव वायोरस्तमयाभावात् । कृतप्रतिविधानं चामृतत्वादिश्रवणम् । ननु वायो- शस्य च तुल्ययोरुत्पत्तिप्रकरणे श्रवणाश्रवणयोरेकमेवाधिकरणमुभयविषयमस्तु किम- देशेनासति विशेष इति ? उच्यते—सत्यमेवमेतत् । तथापि मन्दधियां शब्दमात्रकृता- निवृत्त्यर्थोऽयमतिदेशः क्रियते; संवर्गविद्यादिषु ह्युपास्यतया वायोर्महाभागत्वश्रवणात्, स्तमयप्रतिषेधादिभ्यश्च भवति नित्यत्वाशङ्का कस्यचिदिति ॥ ८ ॥

(३ असंभवाधिकरणम् । सू० ९)

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—असंभवः, तु, सतः, अनुपपत्तेः ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द शङ्काकी निवृत्तिके लिए है (सतः) सत्स्वरूप ब्रह्मकी (असम्भव) ति असम्भव है, (अनुपपत्तेः) क्योंकि सत्सामान्यसे सत्सामान्यकी उत्पत्तिकी अनुपपत्ति है । अतिशयके न होनेपर प्रकृति-विकारभावकी अनुपपत्ति है ।

❀ वियत्पवनयोरसंभाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि भवेत्कुतश्चि- त्तिरिति स्यात्कस्यचिन्मतिः । तथा विकारेभ्य एवाकाशादिभ्य उत्तरेषां विकारणा- त्तिमुपश्रुत्याकाशस्यापि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तिरिति कश्चिन्मन्येत । तामाशङ्काम-

---

विभाग स्वीकार होनेसे वायु उत्पन्न होता है, यह सिद्धान्त है । अस्तमयका प्रतिषेध अपर- विषयक और आपेक्षिक है, क्योंकि अग्नि आदिके समान वायु अस्त नहीं होता । अमृतत्व आदि समाधान किया जा चुका है । परन्तु उत्पत्ति प्रकरणमें वायु और आकाशका [तैत्तिरीयमें] और (छान्दोग्यमें) अश्रवण तुल्य है, तो उभय विषयक (दोनोंका) एक ही अधिकरण हो, के न होनेपर अतिदेशका क्या प्रयोजन है ? कहते हैं—यह सत्य है, तथापि स्वल्पबुद्धिवाले की शब्दमात्रसे उत्पन्न हुई आशङ्काकी निवृत्तिके लिए यह अतिदेश किया है, क्योंकि संवर्गविद्या में उपास्यरूपसे वायुमें महाभागत्वका श्रवण है । अस्तमयके प्रतिषेध आदिसे किसीको नित्यत्वकी ङ्का हो सकती है ॥ ८ ॥

जिनकी उत्पत्तिकी सम्भावना नहीं है ऐसे आकाश और वायुकी भी उत्पत्ति सुनकर ब्रह्मकी त्पत्ति किसीसे होगी, ऐसी किसीकी बुद्धि हो सकती है । उसी प्रकार आकाश आदि विकारोंसे त्तर (वायु आदि) विकारोंकी उत्पत्ति सुनकर आकाशकी भी उत्पत्ति विकार ब्रह्मसे ही होगी, कोई मानें, उस शंकाका निवारण करनेके लिए' असंभवस्तु०' यह सूत्र है । सदात्मक ब्रह्मकी

सत्यानन्दी दीपिका

❀ वायु अमृत है, यह देवताओंमें अमृतत्व व्यवहारके समान गौण है । किञ्च संवर्ग विद्यामें वैतान्सर्वान्० (प्रलयकालमें वायु ही अग्नि आदि इन सबका संहार करता है) इस विषयमें श्रुति- भिप्रायका विचार किये बिना किसीको वायुमें नित्यत्वकी शङ्का हो सकती है, उसकी निवृत्तिके लिए तिदेश किया गया है । इस प्रकार दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता होनेसे ब्रह्ममें समन्वय है ॥ ८ ॥

❀ 'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्०' (कठ० ३।१५) (जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे पर ध्रुव है) 'न चास्य कश्चिज्जनिता०' (श्वेत० ६।९) (उसका कोई उत्पत्ति कर्ता नहीं है) इत्यादि याँ ब्रह्मको अनादि और अनन्त कहती हैं । उनका 'त्वं जातो भवसि सर्वतोमुखः' (तुम सर्वतोमुख न हुए हो) इस उत्पत्ति श्रुतिके साथ विरोध होनेपर सन्देह होता है । जैसे गत अधिकरणमें नोत्पत्तिवाले आकाश और वायुकी श्रुति बलसे उत्पत्ति कही गई है, वैसे श्रुति बलसे ब्रह्मकी

पनेतुमिदं सूत्रम्—'असंभवस्तु' इति । न खलु ब्रह्मणः सदात्मकस्य कुतश्चिदन्यतः संभवः उत्पत्तिराशङ्कितव्या । कस्मात् ? अनुपपत्तेः । सन्मात्रं हि ब्रह्म । न तस्य सन्मात्रादेवोत्पत्तिः संभवति; असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः । नापि सद्विशेषाद्दृष्टविपर्ययात् । सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो नतु विशेषेभ्यः सामान्यम् । नाप्य-सतः; निरात्मकत्वात् । 'कथमसतः सज्जायेत' (छा० ८।७।१) इति चाक्षेपश्रवणात् । 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति च ब्रह्मणो जनयितारं वारयति । वियत्पवनयोः पुनरुत्पत्तिः प्रदर्शिता, नतु ब्रह्मणः सास्तीति वैषम्यम् । नच विकारेभ्यो विकारान्तरोत्पत्तिदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि विकारत्वं भवितुमर्हति; मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । या मूलप्रकृतिरभ्युपगम्यते तदेव च नो ब्रह्मेत्यविरोधः ॥ ९ ॥

(४ तेजोधिकरणम् । सू० १०)

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

पदच्छेद—तेजः, अतः, तथा, हि, आह ।

सूत्रार्थ—(तेजः) तेज (अतः) वायुसे उत्पन्न होता है, (हि) क्योंकि (तथा) ऐसे ही, (आह) 'वायोरग्निः' यह श्रुति कहती है ।

किसी अन्यसे सम्भव-उत्पत्तिकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपपत्ति नहीं है । सन्मात्र ही ब्रह्म है, उसकी सन्मात्रसे ही उत्पत्ति सम्भव नहीं है, कारण कि अतिशयके न होनेपर प्रकृति-विकार भाव नहीं हो सकता है । सद्विशेषसे भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दृष्ट (प्रत्यक्ष) से विपर्य (विरोध) है । सामान्यसे ही विशेष उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, जैसे मृत्तिका आदिसे घट आदि परन्तु विशेषोंसे सामान्य उत्पन्न होते हुए नहीं देखे जाते । इसप्रकार असत् (शून्य) से भी सत् उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह निरात्मक है । 'कथमसतः सज्जायेत' (असत्से सत् किस प्र उत्पन्न होगा) ऐसे आक्षेपका श्रवण है । 'स कारणं० (वह सबका कारण है और इन्द्रियाधि जीवका स्वामी है, उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न स्वामी है) यह श्रुति ब्रह्मके उत्पत्तिक वारण करती है । आकाश और वायु की उत्पत्ति दिखलाई गई है । परन्तु वह ब्रह्मकी नहीं है, वैषम्य है । विकारोंसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति देखनेसे ब्रह्म भी विकार हो ऐसा नहीं हो स क्योंकि मूल प्रकृतिका स्वीकार न करनेपर अनवस्था प्रसङ्ग होगा । जो मूल प्रकृति स्वीकारको वही हमारा ब्रह्म है, अतः विरोध नहीं है ॥९॥

सत्यानन्दी दीपिका

ब्रह्मसे उत्पत्ति हो । इसप्रकार दृष्टान्त संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—जैसे वायु आदिमें अमृतत्व आ 'आत्मन आकाशः सभूत आकाशाद्वायुः' इत्यादि उत्पत्ति श्रुतिके बलसे आपेक्षिक माने गए हैं, ब्रह्मका अनादित्व आदि भी आपेक्षिक मानने चाहिएँ । और 'ब्रह्म कुतश्चिज्जायते कारण आकाशवत्' 'ब्रह्म किसीसे उत्पन्न होता है कारण होनेसे आकाशके समान' इस अनुमानसे अनुगृ 'त्वं जातो भवसि' यह जन्म श्रुति अधिक बलवती है । अनादिको कारण न माननेपर अनवस्था नहीं होगी, क्योंकि बीजाङ्कुरके समान अनादित्व उपपन्न हो सकता है । जैसे एक दीप अन्य दीप उत्पन्न होता है, वैसे एक ब्रह्मसे अन्य ब्रह्म उत्पन्न होता है, अतः 'त्वं जातो भवसि' इस उत्प श्रुतिसे 'अनाद्यनन्तं०' अनादि श्रुतिको गौण मानना चाहिए । इससे अनादि और अनन्त ब्रह्म समन्वय असिद्ध है । सिद्धान्ती—'ब्रह्म नोत्पद्यते कारणशून्यत्वात् नरविषाणवत्, व्यतिरेकेण घटव 'ब्रह्म उत्पन्न नहीं होता कारण शून्य होनेसे जैसे नर विषाण' जो कारण शून्य नहीं वह अनुत्पन्न नहीं है जैसे घट ।' इस अनुमानसे अनुगृहीत अनादि प्रतिपादक श्रुतियाँ उत्पत्ति श्रुतिसे अधिक बलव

❀ छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितं, तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वम्। तत्र तेजो- प्रति श्रुतिविप्रतिपत्तौ सत्यां प्राप्तं तावद्ब्रह्मयोनिकं तेज इति। कुतः? 'सदेव' इत्यु- 'तत्तेजोऽसृजत' इत्युपदेशात्। सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्मप्रभवत्वे सर्वस्य संभवात्। (छा० ८।७।१) इति चाविशेषश्रुतेः, 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मुण्ड २।१।३) इति श्रुत्यन्तरे सर्वस्याविशेषेण ब्रह्मजत्वोपदेशात, तैत्तिरीयके च 'स तपस्तप्त्वा, इदं सृजत, यदिदं किंच' (तै० ३।६।१) इत्यविशेषश्रवणात्। तस्मात् 'वायोरग्निः' इति पदेशो द्रष्टव्यो वायोरनन्तरमग्निः संभूत इति। ❀ एवं प्राप्त उच्यते—तेजोऽतो मातरि- जायत इति। कस्मात्? तथा ह्याह–'वायोरग्निः' इति। अव्यहिते हि तेजसो ब्रह्मजत्वे असति वायुजत्वे वायोरग्निरितीयं श्रुतिः कदर्थिता स्यात्। ननु क्रमार्थैषा भविष्य- ष्यम्। नेति ब्रूमः—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।१) इति पुर- संभवत्यपादानस्यात्मनः पञ्चमीनिर्देशात्, तस्यैव च संभवतेरिहाधिकारात्, परस्ता- च तदधिकारे 'पृथिव्या ओषधयः' (तै० २।१।१) इत्यपादानपञ्चमीदर्शनाद्वायोरग्नि- पादानपञ्चम्यैवैषेति गम्यते। अपिच वायोरूर्ध्वमग्निः संभूत इति कल्प्य उपपदार्थयोगः,

---

छान्दोग्यमें तेजको सत् मूलत्व सुनाया गया है अर्थात् तेजका मूल सत् है और तैत्तिरीयकमें वायु मूलत्व अर्थात् तेजका मूल वायु कहा गया है। उन दोनोंमें तेनके कारणके प्रति श्रुतियोंका विरोध होनेपर ब्रह्म कारणक तेज है, ऐसा प्रात होता है, क्योंकि 'सदेव' 'सत् ही' इसप्रकार कर 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेज उत्पन्न किया) ऐसा उपदेश है। 'तज्जलान्' इस अविशेष से सबको ब्रह्म जन्य होनेपर सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाका सम्भव है। 'एतस्माज्जायते प्राणः० (इससे उत्पन्न होता है) ऐसा उपक्रमकर अन्य श्रुतिमें सब समानरूपसे ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, इसप्रकार है। और तैत्तिरीयकमें 'स तपस्तप्त्वा० (उसने तप (ज्ञान) करके ही यह जो कुछ है रचनाकी) यह अविशेष श्रुति है। इसलिए 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न हुआ) इसप्रकार के अनन्तर अग्नि उत्पन्न हुआ यह क्रमोपदेश समझना चाहिए। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर है—तेज अतः—वायुसे उत्पन्न होता है, क्योंकि 'वायोरग्निः' ऐसा कहा है। तेजकी ब्रह्मसे धान रहित (सीधी) उत्पत्ति होनेपर और वायुसे उत्पत्ति न होनेपर 'वायोरग्निः' यह श्रुति हो जायगी। परन्तु यह जो कहा गया है कि यह श्रुति क्रमके लिए होगी। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशःसंभूतः' इसप्रकार पूर्वमें उत्पत्ति क्रियाके अपादान का पञ्चमीसे निर्देश है। उसी उत्पत्ति क्रियाका यहाँ अधिकार है। आगे भी उसके अधिकारमें व्या ओषधयः० (पृथिवीसे ओषधियाँ उत्पन्न हुई) इसप्रकार अपादान पञ्चमीका निर्देश है।

सत्यानन्दी दीपिका

। अतः कारणत्व हेतुके बाध होनेसे जन्मश्रुतिका कार्य-कारणके अभेदको लेकर व्याख्यान करना र। अतः ब्रह्म समन्वयका कोई विरोध नहीं है ॥६॥

* सामान्यसे सामान्यकी उत्पत्ति मत हो, सामान्य ब्रह्मसे विशेष तेजकी उत्पत्ति हो इसप्रकार दाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष है। पूर्वपक्षमें कार्यमात्र ब्रह्मका विवर्त होनेसे कल्पित वायु तेजका कारण हो सकता, इसलिए ब्रह्म ही तेजका कारण है। अतः 'वायोः' यह पञ्चमी विभक्ति क्रममें है उपा- न अर्थमें नहीं है।

* 'वायोरग्निः' यहाँ तो प्रकृति रूप अपादान कारक तो निरपेक्ष पञ्चमीसे प्रतीत होता है और नोंका अपादान अर्थ निश्चित है। विरोध होनेपर निश्चितसे कल्पितका बाध होता है। अतः वायुसे उत्पन्न होती है।

क्लृप्तस्तु कारकार्थयोगो वायोरग्निः संभूत इति। तस्मादेषा श्रुतिर्वायुयोनित्वं तेजसोऽवगमयति। ❀ नन्वितरापि श्रुतिर्ब्रह्मयोनित्वं तेजसोऽवगमयति 'तत्तेजोऽसृजत' इति, न; तस्याः पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात्। यदापि ह्याकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावापन्नं ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते, तदापि ब्रह्मजत्वं तेजसो न विरुध्यते, यथा तस्याः शृतं तस्या दधि तस्या आमिक्षेत्यादि। दर्शयति च ब्रह्मणो विकरात्मनावस्थानं 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० २।७।१) इति। तथा चेश्वरस्मरणं भवति--'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः' (भ० गी० १०।४) इत्याद्यनुक्रम्य 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (भ० गी० १०।५) इति। यद्यपि बुद्ध्यादयः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते; तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात्प्रणाड्या वेश्वरवंश्यत्वात्। एते-नाक्रमवत्सृष्टिवादिन्यः श्रुतयो व्याख्याताः; तासां सर्वथोपपत्तेः, क्रमवत्सृष्टिवादिनीनां त्वन्य-थानुपपत्तेः। प्रतिज्ञापि सद्वंश्यत्वमात्रमपेक्षते, नाव्यवहितजन्यत्वमित्यविरोधः ॥ १० ॥

(५ अबधिकरणम्। सू० ११)

आपः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ—जल तेजसे उत्पन्न होता है, क्योंकि 'अग्नेरापः' यह श्रुति है।

इससे 'वायोरग्निः' यह अपादान पञ्चमी है, ऐसा ज्ञात होता है। और 'वायोरूर्ध्वमग्निः' (वायुके अनन्तर अग्नि उत्पन्न हुआ) इसप्रकार उपपदके अर्थके योगीकी कल्पना करनी पड़ती है, और 'वायोरग्निः' (वायुसे अग्नि उत्पन्न हुआ) इसमें कारकके अर्थका योग तो निश्चित है। इसलिए यह श्रुति तेज वायुकारणक बोध कराती है अर्थात् तेजका कारण वायु है। परन्तु 'तत्तेजोऽसृजत' यह अन्य श्रुति भी तेजको ब्रह्मकारणत्व बोध कराती है। ऐसा नहीं, क्योंकि परम्परासे तेज ब्रह्मसे उत्पन्न होनेपर भी उस श्रुतिका विरोध नहीं है। यदि आकाश और वायुको उत्पन्नकर वायुभावापन्न ब्रह्मने तेज उत्पन्न किया, ऐसी कल्पनाकी जाय, तो भी तेज ब्रह्मसे उत्पन्न होता है इसमें विरोध नहीं है। जैसे 'तस्याः शृतं॰ (गौका गरम कियां हुआ दूध, उसकी दही, उसकी आमिक्षा (पनीर) इत्यादि। 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने स्वयं अपनेको रचा) यह श्रुति ब्रह्मकी विकाररूपसे अवस्थिति दिखलाती है। इसप्रकार भगवद्गीता भी है—'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः' (बुद्धि, ज्ञान और अमूढता) इत्यादि उपक्रम कर 'भवन्ति भावा॰ (प्राणियोंके नाना प्रकारके बुद्धि आदि भाव मेरेसे ही होते हैं) यद्यपि बुद्धि आदि स्वकारणोंसे प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं, तो भी सम्पूर्ण पदार्थ साक्षात् वा परम्परासे ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं। इस कथनसे क्रम रहित सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियोंका व्याख्यान हो गया, क्योंकि उनकी सर्वप्रकारसे उपपत्ति होती है। परन्तु क्रम युक्त सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियां अन्यथा अनुपपन्न हैं, इससे प्रतिज्ञा भी सत्‌से उत्पत्ति मात्रकी अपेक्षा करती है, अव्यवहित उत्पत्ति नहीं, इसलिए अविरोध है ॥ १० ॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ जैसे गौसे दूध, दूधसे दही, दहीसे पनीर। पनीर साक्षात् दहीसे उत्पन्न होनेपर भी परम्परासे गौसे उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं हैं, वैसे साक्षात् अथवा परम्परासे सब विकार ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं। 'तज्जलान्' 'इदं सर्वमसृजत' इत्यादि अक्रम प्रतिपादक श्रुतियां साक्षात् अथवा परम्परासे सब पदार्थ ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं इस अर्थमें उपपन्न होती हैं। अतः बलवती क्रम बोधक श्रुतियोंके अनुसार 'तत्तेजोऽसृजत' इसप्रकार की अक्रम बोधक श्रुतियोंकी एकवाक्यता होनेसे गति हो सकती है अन्यथा नहीं, इसप्रकार क्रम अथवा अक्रम बोधक श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए वेदान्तका ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध हैं ॥१०॥

'अतस्तथा ह्याह' इत्यनुवर्तते । आपोऽतस्तेजसो जायन्ते । कस्मात् ? तथा ह्याह— सृजत' इति 'अग्नेरापः' इति च । सति वचने नास्ति संशयः । तेजसस्तु सृष्टिं व्याख्याय व्याख्यास्यन्नपोऽन्तरियामित्याप इति सूत्रयांबभूव ॥ ११ ॥

(६ पृथिव्यधिकरणम् । सू० १२)

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

पदच्छेद—पृथिवी, अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।

सूत्रार्थ—(पृथिवी) अन्नशब्दसे यहां पृथिवी विवक्षित है ओदन आदि नहीं, (अधिकार- न्तरेभ्यः) क्योंकि 'तत्तेजोऽसृजत' इसप्रकार महाभूतोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है, 'यत्कृष्णं (जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है, इसप्रकार पृथिवीत्वके ज्ञापक कृष्णरूपका श्रवण है और पृथिवी' इसप्रकार अन्य श्रुति है ।

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त' (छा० ६।२।४) इति । तत्र संशयः—किमनेनान्नशब्देन व्रीहियवाद्यभ्यवहार्यं वा ओदनाद्युच्यते, किंवा वीति । तत्र प्राप्तं तावद्व्रीहियवाद्योदनादि वा परिग्रहीतव्यमिति । तत्र ह्यन्नशब्दः द्धो लोके, वाक्यशेषोऽप्येतमर्थमुपोद्बलयति । 'तस्माद्यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं ति । व्रीहियवाद्येव हि सति वर्षणे बहु भवति न पृथिवीति । एवं प्राप्ते ब्रूमः-पृथिव्ये- शब्देनाद्भ्यो जायमाना विवक्ष्यत इति । कस्मात् ? अधिकाराद्रूपाच्छब्दान्तराच्च । कारस्तावत् 'तत्तेजोऽसृजत', 'तदपोऽसृजत' इति महाभूतविषयो वर्तते । तत्र क्रमप्राप्तां महाभूतं विलङ्घ्य नाकस्माद्व्रीह्यादिपरिग्रहो न्याय्यः । तथा रूपमपि वाक्यशेषे

'अतस्तथाह्याह' इसकी पूर्व सूत्रसे अनुवृत्ति है । जल अतः-तेजसे उत्पन्न होता है, क्योंकि सृजत' (उसने जल उत्पन्न किया) और 'अग्नेरापः' (अग्निसे जल उत्पन्न हुआ) इसप्रकार कहती हैं । श्रुतिवाक्य होनेपर संशय नहीं है । तेजकी सृष्टिका व्याख्यान कर पृथिवीकी सृष्टि- ख्यान करते हुए सूत्रकारने मध्यमें जलकी सृष्टि भी आ जाय, इसलिए 'आपः' इस सूत्रकी की ॥ ११ ॥

'ता आप ऐक्षन्त० (उस जलने ईक्षण किया 'हम बहुत हो जायँ-अनेक रूपसे उत्पन्न हों' अन्नकी रचनाकी) ऐसी श्रुति है । यहां संशय होता है कि क्या इस अन्न शब्दसे व्रीहि, यव कहे जाते हैं अथवा भक्ष्य ओदन आदि वा पृथिवी कही जाती है । पूर्वपक्षी—यहां व्रीहि, यव अथवा ओदन आदिका ग्रहण करना चाहिए, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि लोकमें अन्नशब्द प्रसिद्ध है, और 'तस्माद्यत्र क्वचन० (इससे जहां कहीं वृष्टि होती है वहां बहुत अन्न होता है) वाक्यशेष भी इसी अर्थको पुष्ट करता है, क्योंकि वृष्टि होनेपर व्रीहि, यव आदि ही बहुत होते हैं, नहीं । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जलसे जायमान यह पृथिवी ही अन्न- विवक्षित है, क्योंकि अधिकार-प्रकरण है, रूप है और अन्य श्रुति है । 'तत्तेजोऽसृजत, सृजत' (उसने तेजकी सृष्टिकी) (उसने जलकी सृष्टिकी) इसप्रकार महाभूत विषयक अधि- है । उसमें क्रम प्राप्त महाभूत पृथिवीका उलंघनकर अकस्मात् व्रीहि, यव आदिका ग्रहण उचित

सत्यानन्दी दीपिका

* केवल श्रुतिका अविरोध जाननेके लिए ही यह अतिदेश नहीं है, किन्तु पञ्चमभूत पृथिवीकी क्रमका निर्णय करनेके लिए भी है । इसलिए तेजोभावापन्न ब्रह्मसे जलके उत्पन्न होनेपर श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं है अर्थात् इनका ब्रह्ममें समन्वय है ॥ ११ ॥

पृथिव्यनुगुणं दृश्यते—'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति । न ह्योदनादेरभ्यवहार्यस्य कृष्णत्वनियमोऽस्ति, नापि व्रीह्यादीनाम् । * ननु पृथिव्या अपि नैव कृष्णत्वनियमोऽस्ति; पयः पाण्डुरस्याङ्गार रोहितस्य च क्षेत्रस्य दर्शनात् । नायं दोषः; बाहुल्यापेक्षत्वात् । भूयिष्ठं हि पृथिव्याः कृष्ण रूपं, न तथा श्वेतरोहिते । पौराणिका अपि पृथिवीछायां शर्वरीमुपदिशन्ति । सा च कृष्णा भासेत्यतः कृष्णं रूपं पृथिव्या इति श्लिष्यते । श्रुत्यन्तरमपि समानाधिकारम्—'अद्भ्यः पृथि वीति भवति । 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' (बृ० १।२।२) इति च पृथिव्यास्तु व्रीह्यादेरुत्पत्तिं दर्शयति—'पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नम्' इति च । एवम धिकारादिषु पृथिव्याः प्रतिपादकेषु सत्सु कुतो व्रीह्यादिप्रतिपत्तिः ? प्रसिद्धिरप्यधिकारादि भिरेव बाध्यते । वाक्यशेषोऽपि पार्थिवत्वादन्नाद्यस्य तद्वारेण पृथिव्या एवाद्भ्यः प्रभवत्वं सूचयतीति द्रष्टव्यम् । तस्मात्पृथिवीयमन्नशब्देति ॥ १२ ॥

(७ तदभिध्यानाधिकरणम् । सू० १३)

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

पदच्छेद—तदभिध्यानाद, एव, तु, तल्लिङ्गात्, सः ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द शङ्काकी निवृत्त्यर्थ है (सः) वह ईश्वर ही (तदभिध्यानादेव) तत्-तत् कार्य विषयक ईक्षणात्मक अभिध्यानसे ही ईक्षित भूतोंका अधिष्ठाता होकर तत्-तत् कार्यको उत्पन्न करता है, (तल्लिङ्गात्) क्योंकि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतियोंसे उस परमात्माका सर्व नियन्तृत्व लिङ्ग सुना गया है । इसलिए परमेश्वरसे अधिष्ठित भूत स्रष्टा हैं, केवल नहीं । इसप्रकार श्रुतियोंकी एक वाक्यता है ।

※ किमिमानि वियदादीनि भूतानि स्वयमेव स्वविकारान्सृजन्ति, आहोस्वित्

नहीं है । इसीप्रकार 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' (जो कृष्णरूप है वह अन्नका है) इस वाक्यशेषमें रूप भी पृथिवीके अनुकूल ही देखा जाता है, क्योंकि भक्ष्य ओदन आदिमें कृष्णरूप होनेका नियम नहीं है और व्रीहि आदिमें भी नहीं है । परन्तु पृथिवीका भी कृष्णरूप होनेका नियम नहीं है, क्योंकि दूध-सा सफेद, अङ्गार-सा रक्त क्षेत्र देखनेमें आता है । यह दोष नहीं है, कारण कि बहुलताकी अपेक्षा है । पृथिवीका बहुधा कृष्ण ही रूप है, उसीप्रकार श्वेत और रक्त नहीं है । पौराणिक भी पृथिवीकी छायाको रात्रि कहते हैं । रात्रि तो कृष्णरूप है, अतः पृथिवीका कृष्णरूप है यह संगत है । इसप्रकार 'अद्भ्यः पृथिवी' (जलसे पृथिवी उत्पन्न होती है) और 'तद्यदपां शर० (सृष्टि कालमें उस जलका जो स्थूल भाग (फेन) वह संहत हो गया, यह पृथिवी हो गई) इसप्रकार यह समान प्रकरणवाली अन्य श्रुतियां भी हैं । 'पृथिव्या ओषधयः० (पृथिवीसे ओषधियाँ और ओषधियोंसे अन्न होता है) यह श्रुति पृथिवीसे व्रीहि आदिकी उत्पत्ति दिखलाती है । इसप्रकार पृथिवीके प्रतिपादक अधिकार आदि के होते हुए अन्नशब्दसे व्रीहि आदिकी प्रतिपत्ति कैसे होगी । प्रसिद्धिका भी प्रकरण आदिसे बाध होता है । वाक्यशेष भी अन्न आदिके पार्थिव होनेसे उनके द्वारा पृथिवीका ही जल प्रभवत्व सूचित करता है, ऐसा समझना चाहिए । इसलिए यह पृथिवी ही अन्न शब्द वाच्य है ॥ १२ ॥

क्या ये आकाश आदि भूत स्वयं ही अपने विकारोंको उत्पन्न करते हैं अथवा परमेश्वर ही

सत्यानन्दी दीपिका

* अतः 'अद्भ्यः पृथिवी' इस बलवती तैत्तिरीय श्रुतिके अनुसार 'अन्नमसृजत' इस छान्दोग्य श्रुतिको गौण माननेसे भूतसृष्टिवाचक श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय अविरुद्ध है ॥ १२ ॥

* आकाश आदि भूत अपने कार्योंको स्वयं ही उत्पन्न करते हैं अथवा आकाश आदि भूतोंके

एव तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति संदेहे सति, प्राप्तं
स्वयमेव सृजन्तीति । कुतः ? 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादिस्वातन्त्र्यश्रवणात् ।
चेतनानां स्वतन्त्राणां प्रवृत्तिः प्रतिषिद्धा । नैष दोषः; 'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त'
।२।४) इति च भूतानामपि चेतनत्वश्रवणादिति । * एवं प्राप्तेऽभिधीयते—स एव
तत्तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति । कुतः ? तल्लिङ्गात् ।
हि शास्त्रम्—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्यः पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः
अन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।३) इत्येवंजातीयकं साध्यक्षाणामेव भूतानां प्रवृत्तिं दर्श-
। तथा 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति प्रस्तुत्य 'सच्च त्यच्चाभवत् । तदात्मानं स्वयम-
(तै० २।६।१) इति च तस्यैव च सर्वात्मभावं दर्शयति । यत्त्वीक्षणश्रवणमप्तेजसो-
मेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम्; 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इतीक्षित्रन्तरप्रतिषे-
प्रकृतत्वाच्च सत ईक्षितुः 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इत्यत्र ॥ १३ ॥

(८ विपर्ययाधिकरणम् । सू० १४)

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १४ ॥

पदच्छेद—विपर्ययेण, तु, क्रमः, अतः, उपपद्यते, च ।

सूत्रार्थ—(तु) किन्तु (अतः) उत्पत्ति क्रमसे (विपर्ययेण) विपरीत क्रमसे ही (क्रमः)

तत्रूपसे अवस्थित हुआ ईक्षण करता हुआ उस उस विकारको उत्पन्न करता है, ऐसा संदेह
पूर्वपक्षः—ये भूत स्वयं ही अपने विकारोंको उत्पन्न करते हैं, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि 'आकाशा-
र्वायोरग्निः' (आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि उत्पन्न हुआ है) इत्यादि स्वतन्त्रताका श्रवण
है। परन्तु स्वतन्त्र अचेतनोंकी प्रवृत्ति निषिद्ध है। यह दोष नहीं है, क्योंकि 'तत्तेजो ऐक्षत'
तेजने ईक्षण किया उस जलने ईक्षण किया) इसप्रकार भूतोंमें भी चेतनत्वका श्रवण होता है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वही परमेश्वर तत्, तत्रूपसे अवस्थित हुआ ईक्षण
हुआ तत्, तत् विकारको उत्पन्न करता है, क्योंकि उसका लिङ्ग है । जैसे कि 'यः पृथिव्यां
० (जो पृथिवीमें रहता हुआ पृथिवीके अभ्यन्तर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी
है और भीतर रहकर पृथिवीका नियमन करता है) इसप्रकारकी श्रुति साध्यक्ष ही भूतोंकी प्रवृत्ति
ती है। इसप्रकार 'सोऽकामयत० (उसने कामनाकी बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ) ऐसा प्रस्तुत-
च्च त्यच्चाभवत' (वह सत्-मूर्त और त्यत्-अमूर्त हुआ, उसने स्वयं अपनेको रचा) यह श्रुति
ही सर्वात्मभाव दिखलाती है । जल और तेजकी जो ईक्षण श्रुति है वह परमेश्वरके आवेश
) के अधीन ही समझनी चाहिए । क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा० (उससे अन्य द्रष्टा
है) इससे अन्य ईक्षिताका प्रतिषेध है और 'तदैक्षत० (उसने ईक्षण किया बहुत होऊँ उत्पन्न
) यहां सत् ईक्षणकर्ता प्रकृत है ॥ १३ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

देवता विकारोंकी सृष्टि करनेमें प्रवृत्त होते हैं ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'रचना-
' इस न्यायसे विरोध है । द्वितीय पक्ष 'ता आप ऐक्षन्त' इसप्रकार जल आदिमें ईक्षण सुना
है, अतः आकाश आदि भूतोंके अधिष्ठातृ देवता ही स्वतन्त्ररूपसे तत्, तत् कार्यकी सृष्टि
है, क्योंकि वे भी चेतन हैं । इससे समस्त जगत्का कारण ब्रह्म है, यह बाधित है ।

* परमेश्वर ही आकाश आदि भावापन्न होकर तत् तत् विकारोंकी सृष्टि करता है, अतः ब्रह्म
में कोई विरोध नहीं है ॥ १३ ॥

प्रलय क्रम है, क्योंकि अपने कारणमें ही कार्योंका लय देखा जाता है (उपपद्यते च) और ऐसा उपपन्न भी होता है ।

भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः । अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यते । किमनियतेन क्रमेणाप्ययः, उतोत्पत्तिक्रमेणाथ वा तद्विपरीतेनेति ? त्रयोऽपि चोत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानां ब्रह्मायत्ताः श्रूयन्ते—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।१।१) इति । तत्रानियमोऽविशेषादिति प्राप्तम् । अथवोत्पत्तेः क्रमस्य श्रुतत्वात्प्रलयस्यापि क्रमाकांक्षिणः स एव क्रमः स्यादिति । ❀ एवं प्राप्ते ततो ब्रूमः—विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद्भवितुमर्हति । तथा हि लोके दृश्यते—येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणावरोहतीति । अपि च दृश्यते—मृदो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येति—अद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यब्भावमप्येतीति । अतश्चोपपद्यत एतत्—यत्पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्तावपोऽपीयादापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः । एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्येतीति वेदितव्यम् । नहि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकारणे कार्याप्ययो न्याय्यः । स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययक्रमस्तत्र तत्र दर्शित—'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते' इत्येवमादौ । उत्पत्तिक्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाप्यये भवितुमर्हति । न चासावयोग्यत्वादप्ययेनाकाङ्क्ष्यते । नहि

भूतोंके उत्पत्तिक्रमका विचार किया गया । अब प्रलय क्रमका विचार किया जाता है—क्या अनियत क्रमसे प्रलय होता है अथवा उत्पत्तिक्रमसे वा उसके विपरीतक्रमसे ? 'यतो वा०' (जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रयसे जीवित रहते हैं और प्रवेश करते हुए जिसमें ये लीन होते हैं) यह श्रुति भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये तीनों ब्रह्मके अधीन कहती है । परन्तु श्रुतिमें किसी प्रकारका विशेष न होनेसे प्रलयके विषयमें कोई नियम नहीं है, ऐसा प्राप्त होता है । अथवा उत्पत्ति क्रम श्रुतिमें प्रतिपादित होनेसे क्रमाकांक्षी प्रलयका भी वही (सृष्टि) क्रम होना चाहिए । ऐसा प्राप्त होता है, अतः हम कहते हैं—प्रलयक्रम अतः-उत्पत्तिक्रमसे विपरीत होना चाहिए, जैसे लोकमें देखा जाता है कि जिस क्रमसे सीढियोंपर चढ़ता है उससे विपरीत क्रमसे उतरता है । और भी देखा जाता है कि मृत्तिकासे उत्पन्न हुए घट, शराव आदि लयकालमें मृत्तिकाभावको प्राप्त होते हैं और जलसे उत्पन्न हुए हिम, करक आदि जलभावको प्राप्त होते हैं । इससे यह उपपन्न होता है कि जलसे उत्पन्न होती हुई पृथिवी स्थिति कालका अवसान होनेपर जलमें लीन होती है । तेजसे उत्पन्न होता हुआ जल तेजमें लीन होती है । इसप्रकार क्रमसे अनन्तर अनन्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर कारणमें लीन होकर सम्पूर्ण कार्य समुदाय परमकारण परम सूक्ष्म ब्रह्ममें लय होता है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि अपने कारणका व्यतिक्रमकर कारणके कारणमें कार्यका लय उचित नहीं है । क्योंकि 'जगत्प्रतिष्ठा०' (हे देवर्षे ! जगत्की आधार भूत पृथिवी जलमें प्रलीन होती है, एवं जल तेजमें लीन होता है और तेज वायुमें लीन होता है) इत्यादि स्मृतिमें भी उत्पत्ति क्रमसे विपरीतरूपसे प्रलय क्रम तत् तत् स्थलमें दिखलाया गया है । उत्पत्तिक्रम तो उत्पत्तिमें श्रुत है, इससे वह प्रलयमें होना युक्त नहीं है । और अयोग्य होनेसे भी वह (उत्पत्तिक्रम) प्रलयसे आकांक्षित नहीं है । कार्यके

सत्यानन्दी दीपिका

* गत अधिकरणमें भूतोंका उत्पत्तिक्रम कहकर अब बुद्धिस्थ उनका लयक्रम कहा जाता है, इसप्रकार प्रसंग संगति है । सिद्धान्तमें भूतोंके प्रतिलोमतः लय ध्यान पूर्वक प्रत्यग्ब्रह्ममें मनका समाधान फल है और पूर्वपक्षमें कारणका नाश होनेपर कार्यका नाश होता है, इससे सम्पूर्ण लयके आधार भूत ब्रह्मकी असिद्धि होनेसे मनका समाधान असिद्ध है । जो प्रलय नहीं मानते उनके लिए

ध्रियमाणे कारणस्याप्ययो युक्तः, कारणाप्यये कार्यस्यावस्थानानुपपत्तेः, कार्याप्यये तु णस्यावस्थानं युक्तं—मृदादिष्वेवं दृष्टत्वात् ॥१४॥

(६ अन्तराविज्ञानाधिकरणम् । सू० १५)

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

पदच्छेद—अन्तरा, विज्ञानमनसी, क्रमेण, तल्लिङ्गात्, इति, चेत्, न, अविशेषात्।

सूत्रार्थ—(अन्तरा) आत्मा और भूतोंके मध्यमें (तल्लिङ्गात्) 'एतस्माज्जायते प्राणः०' दि सृष्टि बोधक वाक्यसे (विज्ञानमनसी) बुद्धि, इन्द्रिय और मनका अनुक्रम होता है, इससे से बुद्धि, इन्द्रिय और मन उत्पन्न होते हैं। (क्रमेण) इस क्रमसे सृष्टि क्रमका विरोध है, इति चेन्न) तो यह युक्त नहीं है, (अविशेषात्) क्योंकि इन्द्रिय, बुद्धि और मनके भौतिक होनेसे त्पत्ति क्रमसे इन्द्रिय आदिके उत्पत्ति क्रमका साम्य है, इसलिए कोई विरोध नहीं है।

* भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यां भवत इत्युक्तम्। आत्मादिरुत्पत्तिः श्चात्मान्त इत्यप्युक्तम्। सेन्द्रियस्य तु मनसो बुद्धेश्च सद्भावः प्रसिद्धः श्रुतिस्मृत्योः। द्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुः' (कठ० ३।३) इत्यादिलिङ्गेभ्यः। योरपि कस्मिंश्चिदन्तराले क्रमेणोत्पत्तिप्रलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वाभ्यु-गमात्। अपि चाथर्वण उत्पत्तिप्रकरणे भूतानामात्मनश्चान्तराले करणान्यनुक्रम्यन्ते। स्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मुण्ड० १।३) इति। तस्मात्पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गो भूतानामिति चेत्—न, अविशेषात्। दि तावद्भौतिकानि करणानि, ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवत इति

र कारणका विनाश युक्त नहीं है, क्योंकि कारणके विनाश होनेपर कार्यकी अवस्थिति नहीं हो ती। कार्यके विनाश-प्रलय होनेपर कारणकी अवस्थिति युक्त है, क्योंकि मृत्तिका आदिमें इस-र देखा जाता है ॥ १४ ॥

भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय जिस अनुलोम और प्रतिलोम क्रमसे होते हैं, वह कहा गया है। र यह भी कहा जा चुका है कि आत्मासे उत्पत्ति और आत्मामें प्रलय होता है। 'बुद्धिं तु० (बुद्धिको थि जान, मनको लगाम समझ, विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको अश्व कहते हैं) इत्यादि लिङ्गोंसे इन्द्रिय हित मन और बुद्धिका सद्भाव श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। समस्त वस्तुओंको ब्रह्म जन्य स्वीकार नेसे उनके भी क्रमसे उत्पत्ति और प्रलयका किसीके मध्यमें संग्रह करना चाहिए। 'एतस्माज्जायते णः० (उससे प्राण उत्पन्न होता है, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वको रण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है) इस प्रकार आथर्वणमें उत्पत्तिके प्रकरणमें भूत और त्माके मध्यमें इन्द्रियोंका अनुक्रम है। यदि कहो कि इससे भूतोंकी पूर्वोक्त उत्पत्ति और प्रलयक्रमका प्रसङ्ग होगा; तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अविशेष है—यदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं, तो भूतोंकी त्ति और प्रलयसे ही इनकी उत्पत्ति और प्रलय होते हैं, अतः इनके लिए अन्य क्रमकी खोज नहीं

सत्यानन्दी दीपिका

नो वा०' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। जिस प्रकार साक्षात् अथवा परम्परासे समस्त कार्य ब्रह्मसे ही न्न होता है, उस प्रकार प्रलयमें भी साक्षात् अथवा परम्परासे ब्रह्ममें ही लय होता है ॥ १४ ॥

* बुद्धि, इन्द्रिय और मनके उत्पत्ति क्रमका विचार किया जाता है—भूतोंका उत्पत्ति क्रम न्द्रियोंके उत्पत्तिक्रमसे विरुद्ध है कि नहीं और इन्द्रियाँ भौतिक हैं कि नहीं? इस प्रकार संशय होता है। 'एतस्माज्जायते प्राणः' इस श्रुतिमें इन्द्रियोंका उत्पत्तिक्रम भूतोंके उत्पत्तिक्रमसे पूर्व है और

नैतयोः क्रमान्तरं मृग्यम् । भवति च भौतिकत्वे लिङ्गं करणानाम् । 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इत्येवंजातीयकम् । व्यपदेशोऽपि क्वचिद्भूतानां करणानां च ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन नेतव्यः । अत स्वभौतिकानि करणानि, तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशेष्यते । प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि, प्रथमं वा भूतान्युत्पद्यन्ते चरमं वा करणानीति । आथर्वणे तु समाम्नायक्रममात्रं करणानां भूतानां च, न तत्रोत्पत्तिक्रम उच्यते । तथान्यत्रापि पृथगेव भूतक्रमात्करणक्रम आम्नायते—'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्स आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासीत्तदात्मानमैक्षत तद्वाचमसृजत' इत्यादिना । तस्मान्नास्ति भूतोत्पत्तिक्रमस्य भङ्गः ॥१५॥

(१० चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् । सू० १६)

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

पदच्छेद—चराचरव्यपाश्रयः, तु, स्यात् , तद्व्यपदेशः, भाक्तः, तद्भावभावित्वात् ।

सूत्रार्थ—(तद्व्यपदेशः) जन्म और मरणका जो यह लौकिक व्यवहार है, (चराचरव्यपाश्रयः) वह स्थावर और जङ्गम देह विषयक मुख्य है और (भाक्तः) जीवमें गौण है, (तद्भावभावित्वात्) क्योंकि जन्म-मरणका व्यपदेश देहकी उत्पत्ति और नाशके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसरण करता है । देहका प्रादुर्भाव होनेसे ही जातकर्म आदिका विधान है, अतः जीवके नित्यत्व प्रतिपादक शास्त्रका कोई विरोध नहीं है ।

❀ स्तो जीवस्याप्युत्पत्तिप्रलयौ, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्येवंजातीयकाल्लौकि-

---

करनी चाहिए । 'अन्नमयं हि सोम्य मन० (हे सोम्य ! मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाणी तेजोमयी है) इस प्रकारका इन्द्रियोंके भौतिकत्वमें लिङ्ग है । कहीं पर भूत और इन्द्रियोंका व्यपदेश (शब्द प्रयोग) भी ब्राह्मण-परिव्राजक न्यायसे ग्रहण करना चाहिए । यदि इन्द्रियाँ अभौतिक हैं, तो भी भूतोंका उत्पत्तिक्रम इंद्रियोंसे पृथक् नहीं है—प्रथम इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं अनन्तर भूत, अथवा प्रथम भूत उत्पन्न होते हैं पश्चात् इंद्रियाँ । आथर्वणमें तो भूत और करणोंका केवल पाठक्रम है, वहाँ उत्पत्ति क्रम नहीं कहा है । इस प्रकार 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्० (आरम्भमें यह प्रजापति था उसने अपने विषयमें ईक्षण किया, उसने मनकी रचनाकी, वह मन ही था, उसने अपने विषयमें ईक्षण किया, उसने वाणी उत्पन्नकी) इत्यादिसे अन्य स्थलोंमें भी करणक्रम भूतक्रमसे पृथक् ही कहा जाता है । इससे भूतोत्पत्तिक्रमका भङ्ग नहीं है ॥ १५ ॥

जीवके भी उत्पत्ति और प्रलय होते हैं, क्योंकि देवदत्त उत्पन्न हुआ, देवदत्त मर गया, इस

सत्यानन्दी दीपिका

'आत्मन आकाशः संभूतः' इस तैत्तिरीय श्रुतिमें आकाश आदि भूतोंकी उत्पत्तिक्रम पहले है । इस प्रकार इन्द्रियोंके उत्पत्तिक्रमसे भूतोंके उत्पत्ति और प्रलयक्रमका बाध होता है । किञ्च **'एतस्माज्जायते प्राणः'** इस श्रुतिमें इन्द्रियोंकी उत्पत्ति भूतोंकी उत्पत्तिसे पृथक् होनेसे इन्द्रियाँ भौतिक भी नहीं है । अतः आथर्वण और तैत्तिरीय श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय असिद्ध है । सिद्धान्तमें उत्पत्ति श्रुतियोंका विरोध न होनेपर उनका ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध है । सिद्धान्ती—न, अविशेषात्' आदिसे कहते हैं । **'एतस्माज्जायते प्राणः'** इस श्रुतिमें भूतोंसे इन्द्रियोंका पृथक् ग्रहण ब्राह्मण परिव्राजक न्यायसे गौण है ॥ १५ ॥

* पहले 'तत्त्वमसि' इस श्रुति वाक्यस्थ 'तत्' पद वाच्य कारणका निर्णय करनेके लिए भूत श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया गया है ; अब पादकी समाप्ति पर्यन्त 'त्वम्' पदके अर्थकी

यपदेशात् जातकर्मादिसंस्कारविधानाच्चेति स्यात्कस्यचिद्भ्रान्तिस्तामपनुदामः। न जीवत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसंबन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च—'जीवापेतं वाव किलेदं यते न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३) इति। ननु लौकिको जन्ममरणव्यपदेशो जीवस्य र्शितः। सत्यं दर्शितः। भाक्तस्त्वेष जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः। किमाश्रयः पुनरयं मुख्यो पेक्षया भाक्त इति? उच्यते—चराचरव्यपाश्रयः। स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्मरणशब्दौ। स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते च, अतस्तद्विषयौ जन्ममरणशब्दौ, मुख्यौ सन्तौ तत्स्थे जीवात्मन्युपचर्येते, तद्भावभावित्वात्। शरीरप्रादुर्भावतिरोभावर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ भवतः, नासतोः। नहि शरीरसंबन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो केनचिल्लक्ष्यते। 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (बृ० ४।३।८) इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति। जातर्मादिविधानमपि देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम्। अभावाज्जीवप्रादुर्भावस्य। जीवस्य स्मादात्मन उत्पत्तिर्वियदादीनामिवास्ति नास्ति वेत्येतदुत्तरेण सूत्रेण वक्ष्यति। देहाश्रयौ जीवस्य स्थूलावुत्पत्तिप्रलयौ न स्त इत्येतदनेन सूत्रेणावोचत् ॥१६॥

(११ आत्माधिकरणम्। सू० १७)

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥१७॥

पदच्छेद—न, आत्मा, अश्रुतेः, नित्यत्वात्, च, ताभ्यः।

रका लौकिक व्यवहार होता है और जातकर्म आदि संस्कारोंका विधान है, किसीको इस प्रकारकी न्ति हो, हम उसको निवृत्त करते हैं—जीवकी उत्पत्ति और प्रलय नहीं होते, क्योंकि शास्त्रफलके न्धकी उपपत्ति होती है। शरीर विनाशके साथ जीवका विनाश हो तो अन्य शरीरगत इष्टकी प्राप्ति र अनिष्ट परिहारके लिए विधि और निषेध व्यर्थ हो जायँगे। और 'जीवापेतं० (जीव रहित यह र मरता है जीव नहीं मरता) ऐसी श्रुति है। परन्तु लौकिक जन्म-मरणका व्यपदेश तो जीवमें लाया गया है। सत्य, दिखलाया है। यह जन्म-मरण व्यपदेश जीवमें गौण है, तो फिर इस मुख्य पदेशका आश्रय कौन है, जिसकी अपेक्षासे यह गौण है? कहते हैं कि चर (जंगम) और अचर स्थावर) शरीरोंके आश्रित यह मुख्य है। स्थावर और जंगम शरीर विषयक ही जन्म-मरण शब्द क्योंकि स्थावर और जंगम भूत उत्पन्न होते और मरते हैं, इसलिए उनमें जन्म-मरण शब्द मुख्य हुए उसमें स्थित जीवात्मामें गौण हैं, क्योंकि तद्भाव भावी हैं। शरीरके आविर्भाव और तिरोभाव हुए जन्म और मरण शब्द होते हैं, न होनेपर नहीं होते। शरीर सम्बन्धके विना अन्यत्र 'जीव न्न हुआ अथवा मर गया' ऐसा किसीसे नहीं देखा जाता। और 'स वा अयं' (वह यह पुरुष म लेते समय शरीरको आत्मभावसे प्राप्त होता है और वह शरीरसे निकलते हुए मरा हुआ होता यह श्रुति शरीरके संयोग और वियोग निमित्तक जन्म मरण शब्द दिखलाती है। जात कर्म आदिका धान भी देहके आविर्भावकी अपेक्षासे समझना चाहिए, क्योंकि जीवके प्रादुर्भावका अभाव है। वकी परमात्मासे आकाश आदिके समान उत्पत्ति है अथवा नहीं, यह आगेके सूत्रसे कहेंगे। देहाश्रय ल उत्पत्ति और प्रलय जीवमें नहीं है, ऐसा सूत्रकारने इस सूत्रसे कहा है ॥ १६ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

द्धिके लिए जीव श्रुतियोंके विरोधका परिहार किया जाता है। पूर्वपक्षमें जीव और ब्रह्मका ऐक्य सिद्ध है और सिद्धान्तमें वह सिद्ध है ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—(आत्मा) जीव (न) उत्पन्न नहीं होता, (अश्रुतेः) क्योंकि उसकी उत्पत्ति विषयक श्रुति नहीं है, (ताभ्यः) 'स वा एष महानज आत्मा' (च) और 'अजो नित्यः' इत्यादि श्रुतियोंसे जीव नित्य प्रतीत होता है।

❀ अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी। स किं व्योमादिवदुत्पद्यते ब्रह्मणः, आहोस्विद् ब्रह्मवदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विशयः। कासुचिच्छ्रुतिष्वग्निविस्फुलिङ्गादिनिदर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिराम्नायते, कासुचित्त्वविकृतस्यैव परस्य ब्रह्मणः कार्यप्रवेशेन जीवभावो विज्ञायते, न चोत्पत्तिराम्नायत इति। तत्र प्राप्तं तावदुत्पद्यते जीव इति। कुतः? प्रतिज्ञानुपरोधादेव। 'एकस्मिन्विदिते सर्वमिदं विदितम्' इतीयं प्रतिज्ञा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रभवत्वे सति नोपरुध्येत, तत्त्वान्तरत्वे तु जीवस्य प्रतिज्ञेयमुपरुध्येत। न चाविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुं, लक्षणभेदात्। अपहतपाप्मत्वादिधर्मको हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः, विभागाच्चास्य विकारत्वसिद्धिः। यावान्ह्याकाशादिः प्रविभक्तः स सर्वो विकारः, तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समधिगता। जीवात्मापि पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखयुक्प्रतिशरीरं प्रविभक्त इति तस्यापि प्रपञ्चोत्पत्त्यवसर उत्पत्तिर्भवितुमर्हति। ❀ अपि च 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव-

---

शरीर और इन्द्रियरूपी पञ्जरका स्वामी और कर्मफलका सम्बन्धी जीव नामक आत्मा है, क्या वह आकाश आदिके समान ब्रह्मसे उत्पन्न होता है अथवा ब्रह्मके समान उत्पन्न नहीं होता? इस प्रकार श्रुतियोंके परस्पर विरोध होनेसे संशय होता है। किन श्रुतियोंमें अग्नि विस्फुलिङ्ग आदि दृष्टान्तोंसे जीवात्माकी परब्रह्मसे उत्पत्ति कही जाती है, और किन श्रुतियोंमें अविकृत परब्रह्मका ही कार्यमें प्रवेशके द्वारा जीव भावसे जाना जाता है, परन्तु उत्पत्ति नहीं कही जाती। इस प्रकार संशय होनेपर यह प्राप्त होता है कि जीव उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रतिज्ञाका अनुपरोध-अबाध ही है। 'एकस्मिन्विदिते०' (एकके विदित होनेपर सब विदित होता है) यह प्रतिज्ञा सम्पूर्ण वस्तु समूहके ब्रह्म जन्य होनेपर बाधित नहीं होगी। जीवके अन्य तत्त्व होनेपर तो यह प्रतिज्ञा बाधित होगी। अविकृत परमात्मा ही जीव है, इस प्रकार भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि लक्षण भेद है परमात्मा पाप रहित आदि धर्मवाला है और जीव उससे विपरीत है और विभागसे भी जीवमें विकारत्व सिद्ध है। जो आकाश आदि प्रविभक्त हैं वे सब विकार हैं, उन आकाश आदिकी उत्पत्ति भी निश्चित है। इस प्रकार जीवात्मा पुण्य पाप कर्मवाला, सुख दुःखसे युक्त प्रति शरीरमें विभक्त है, अतः प्रपञ्चकी उत्पत्तिके अवसरमें उसकी भी उत्पत्ति हो सकती है। और भी 'यथाग्ने० (जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे इस आत्मासे

सत्यानन्दी दीपिका

* अग्नेर्विस्फुलिङ्गवदेतस्मात्परमात्मनः सर्वे जीवात्मनो व्युच्चरन्ति' (जैसे अग्निसे चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे इस परमात्मासे सब जीव निकलते हैं) इत्यादि जीवोत्पत्ति प्रतिपादक श्रुतियाँ और 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य अज आत्मा'० (बृह० १।४।७) (यह इस शरीरमें नखके अग्र पर्यन्त प्रविष्ट है वह आत्मा अज है) इत्यादि जीवकी अनुत्पत्ति सूचक श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे संशय होता है। परंतु देहके जन्म-मरणसे जीवका जन्म-मरण मत हो, क्योंकि अन्य देहसे भोगे जानेवाले स्वर्ग आदिके निमित्त विधि आदिका असंभव हो जायगा। परन्तु कल्पके आदि और अन्तमें जैसे आकाशकी उत्पत्ति और प्रलय होते हैं, वैसे जीवके भी उत्पत्ति और प्रलय हों, क्योंकि उनका सम्भव है। इसप्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष है। इसलिए जीवकी उत्पत्ति मानना चाहिए। इससे एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान' यह प्रतिज्ञा भी सिद्ध होगी, अन्यथा प्रतिज्ञाका बाध होगा।

* 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (उसने स्वयं अपनेको किया) इसके समान प्रवेश श्रुतिका 'विकार

तात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २।१।२०) इति प्राणादेर्भोग्यजातस्य सृष्टिं शिष्ट्वा 'सर्वं एव नो व्युच्चरन्ति' इति भोक्तॄणामात्मनां पृथक्सृष्टिं शास्ति। 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० ।) इति च जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते। सरूपवचनात्, जीवात्मानो हि परमा- रूपा भवन्ति, चैतन्ययोगात्। नच क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं वारयितुमर्हति, श्रुत्य- गतस्याविरुद्धस्याधिकस्यार्थस्य सर्वत्रोपसंहर्तव्यत्वात्। प्रवेशश्रुतिरप्येवं सति विकार- नैव व्याख्यातव्या, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादिवत्। तस्मादुत्पद्यते जीव इति। ब्रूम—नात्मा जीव उत्पद्यत इति। कस्मात्? अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवण- भूयःसु प्रदेशेषु। ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयतीत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उत्पत्ति- न संभवतीति वदामः। कस्मात्? नित्यत्वाच्च ताभ्यः। चशब्दादजत्वादिभ्यश्च। ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते तथाऽजत्वमविकारित्वमविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मना- ब्रह्मात्मना चेति। न चैवंरूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते। ताः काः श्रुतयः? 'न जीवो म्रियते' ६।११।३), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२२), 'न म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० २।१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ० २।१८), तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'

निकलते हैं) इसप्रकार प्राण आदि भोग्य समुदायकी सृष्टि कहकर 'सर्वे एत० (ये सब आत्मासे हैं) इसप्रकार श्रुति भोक्ता जीवात्माओंकी पृथक् सृष्टिका उपदेश करती है और 'यथा सुदीप्तात्०' प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्निसे उसीके समानरूप वाले सहस्रशः चिनगारियाँ निकलती हैं, हे उसी प्रकार उस अक्षरसे अनेकों भाव उत्पन्न होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं) इस त्माओंकी उत्पत्ति और प्रलय कहे जाते हैं, क्योंकि श्रुतिमें रूपवचन (जीव वचन) है। परमात्माके समान होते हैं, क्योंकि चैतन्यका योग है। कहींपर अश्रवण अन्यत्र श्रुतका नहीं कर सकता, क्योंकि अन्य श्रुतिगत अविरुद्ध अधिक अर्थका भी सर्वत्र उपसंहार (ग्रहण) चाहिए। ऐसा होनेपर 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि श्रुतिके समान प्रवेश श्रुतिका भी त्तिसे ही व्याख्यान करना चाहिए। इससे जीवात्मा उत्पन्न होता है। सिद्धान्ती— होनेपर हम कहते हैं—आत्मा-जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि श्रुति नहीं है। अनेक स्थलोंमें प्रकरणमें इसकी श्रुति नहीं है। परन्तु जो यह कहा गया है कि कहींपर अश्रवण अन्यत्र रण नहीं करता। ठीक कहा है, किन्तु हम कहते हैं कि उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, उन श्रुतियोंसे वह नित्य प्रतिपादित है। च शब्दसे अजत्व आदि धर्मोंसे अवगत होता है। नित्यत्व तथा अजत्व, अविकारित्व और अविकृत ब्रह्मका ही जीवरूपसे और ब्रह्मरूपसे अवस्थान से ही अवगत होता है। अतः इसप्रकार रूपवाले जीवकी उत्पत्ति युक्त नहीं है। वे कौन-सी हैं? 'न जीवो म्रियते' (जीव मरता नहीं) 'स वा एष० (वह यह महान् अज आत्मा है, अमर, अमृत और अभय ब्रह्म है) 'न जायते० (विद्वान् जन्मता मरता नहीं है) 'अजो० जन्म रहित, नित्य, शाश्वत और पुराण है) 'तत्सृष्ट्वा० (उसे उत्पन्नकर उसमें प्रविष्ट हुआ) (इस जीवरूपसे अनुप्रवेशकर नाम और रूपको अभिव्यक्त करूँ) 'स एष इह० (वह-यह से ईश्वर प्रविष्ट हुआ' ऐसा अर्थ करना चाहिए। अतः प्रवेशश्रुति गौण है और उत्पत्ति है।

सत्यानन्दी दीपिका

(छा० ६।३।२), 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ० १।४।७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९), इत्येवमाद्या नित्यंत्ववादिन्यः सत्यो जीवस्योत्पत्तिं प्रतिबध्नन्ति। ननु प्रविभक्तत्वाद्विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यत इत्युक्तम्, अत्रोच्यते—नास्य प्रविभागः स्वतोऽस्ति, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इति श्रुतेः। बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबन्धनिमित्तम्। तथा च शास्त्रम्—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' (बृ० ४।४।५) इत्येवमादि ब्रह्मण एवाविकृतस्य सतोऽप्येकस्यानेकबुद्ध्यादिमयत्वं दर्शयति। तन्मयत्वं चास्य विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद्द्रष्टव्यम्। ❀ यदपि कचिदस्योत्पत्तिप्रलयश्रवणं, तदप्यत एवोपाधिसंबन्धान्नेतव्यम्। उपाध्युत्पत्त्याऽस्योत्पत्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलय इति। तथा च दर्शयति- -'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ० ४।५।१३) इति तथोपाधिप्रलय एवायं नात्मविलय इत्येतदपि 'अत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० ४।५।१४)

इसमें नखाग्रपर्यन्त प्रविष्ट है) 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) 'अयमात्मा० (यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियाँ जीवका नित्यत्व कहती हुई जीवकी उत्पत्तिका निषेध करती हैं। परन्तु ऐसा कहा गया है कि जीवात्मा विभक्त होनेसे विकार है और विकार होनेसे उत्पन्न होता है। इसपर कहते हैं—इसका विभाग स्वतः नहीं है, क्योंकि 'एको देवः० (एक देव सब भूतोंमें गूढ, सर्वव्यापी और सब भूतोंका अन्तरात्मा है) ऐसी श्रुति है। जैसे आकाशका विभाग घट आदि सम्बन्ध निमित्तक भासता है, वैसे बुद्धि आदि उपाधिके निमित्तसे इसमें (जीवमें) प्रविभाग भासता है। जैसे कि 'स वा अयमात्मा० (यह आत्मा ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय प्राणमय, चक्षुर्मय और श्रोत्रमय है) इत्यादि शास्त्र अविकृत एक होते हुए भी ब्रह्मका अनेक बुद्धि आदि मयत्व दिखलाता है। [स्त्री परतन्त्र कामी पुरुषको] जैसे 'स्त्रीमय' 'जाल्म' (काम जड़) कहा जाता है, वैसे विविक्तस्वरूपकी अनभिव्यक्तिसे उस बुद्धि आदिसे उपरोक्त स्वरूपत्व (तादात्म्यापन्नत्व) इसका तन्मयत्व है, ऐसा समझना चाहिए। जो भी कहीं इसके उत्पत्ति और प्रलयका श्रवण है, वह भी इस उपाधिके सम्बन्धसे समझना चाहिए। उपाधिकी उत्पत्तिसे इसकी उत्पत्ति और उसके प्रलयसे प्रलय है। और जैसे 'प्रज्ञानघन० (भूतोंके द्वारा यह प्रज्ञानघन अभिव्यक्त होकर इन भूतोंके नाशके साथ ही साथ नष्ट हो जाता है, मरणानन्तर संज्ञा नहीं रहती) यह श्रुति दिखलाती है। इस प्रकार उपाधिका ही यह प्रलय है आत्माका प्रलय नहीं है, यह भी 'अत्रैव मा भगवान्० (मैत्रेयी—हे भगवन्! यहीं मुझे मोहको प्राप्त करा दिया है। मैं इसे विशेषरूपसे नहीं समझती कि मरणानन्तर संज्ञा नहीं है) इस प्रकार प्रश्न पूर्वक प्रतिपादन करते हैं—'न वा अरेऽहं मोहं' (याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! मैं मोहकी बात नहीं कह रहा हूँ। अरी! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी है, अपरिणामी है विषयोंके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है) इस तरह

सत्यानन्दी दीपिका

❀ उत्पत्ति श्रुतियाँ तो आत्मामें अध्यस्त उत्पत्ति आदिका अनुवाद मात्र करती हैं, आत्माकी नित्यत्व प्रतिपादक श्रुतियाँ बलवती हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं है। अतः जीवात्माको उत्पत्ति और प्रलय नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात्। लक्षणभेदोऽप्यनयो-धिनिर्मित्त एव, 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (बृ० ४।३।१५) इति च प्रकृतस्यैव विज्ञान-त्मनः सर्वसंसारधर्मप्रत्याख्यानेन परमात्मभावप्रतिपादनात्। तस्मान्नैवात्मोत्पद्यते लीयते चेति ॥१७॥

(१२ ज्ञाधिकरणम्। सू० १८)

ज्ञोऽत एव ॥१८॥

पदच्छेद—ज्ञः, अतः, एव।

सूत्रार्थ—[जीव] (ज्ञः) स्वयं ज्योतिः स्वरूप है, (अतएव) क्योंकि उसको उत्पत्ति नहीं होती है।

* स किं कणभुजानामिवागन्तुकचैतन्यः, स्वतोऽचेतनः, आहोस्वित्सांख्यानामिव चैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? आगन्तुकमात्मनश्चै त्ममनः संयोगजमग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवदिति प्राप्तम्। नित्यचैतन्यत्वे हि मूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैतन्यं स्यात्। ते पृष्टाः सन्तो न किंचिद्वयमचेतयामहीति न्ति, स्वस्थाश्च चेतयमाना दृश्यन्ते। अतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्य ति। * एवं प्राप्तेऽभिधीयते—ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्माऽत एव, यस्मादेव नोत्पद्यते

ब्रह्मका ही जीवभाव स्वीकार करनेसे प्रतिज्ञाका अबाध है। इनका (जीव और ब्रह्मका) भेद भी उपाधि निमित्तक ही है। कारण कि 'अत ऊर्ध्वं० (इसके आगे विमोक्षके लिए कीजिए) यह भी प्रकृत विज्ञानमय आत्माके ही सब धर्मोंके निराकरणसे परमात्मभाव दित करता है। इससे आत्मा न उत्पन्न होता है और न प्रविलय होता है ॥ १७ ॥

वह (जीवात्मा) क्या कणादमतके समान आगन्तुक चैतन्य वाला होता हुआ स्वतः अचेतन अथवा सांख्योंके समान नित्य चैतन्य स्वरूप ही है? इस प्रकार वादियोंकी विप्रतिपत्तिसे संशय है। तो क्या प्राप्त हुआ? अग्नि और घटके संयोगसे [घटमें] उत्पन्न हुए रक्त आदि गुणोंके जीवात्मामें आत्मा और मनके संयोगसे जन्य आगन्तुक चैतन्य है, ऐसा प्राप्त हुआ। नित्य होनेपर सुप्त, मूर्च्छित और ग्रहाविष्टोंको भी चैतन्यकी प्राप्ति होगी। परन्तु वे पूछे जानेपर कुछ भी नहीं जानते हैं' ऐसा बोलते हैं और स्वस्थ होनेपर चेतनता युक्त देखे जाते हैं। ए कभी कभी चैतन्य होनेसे जीवात्मा आगन्तुक चैतन्य है। ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—यह ज्ञ—नित्य चैतन्यरूप है, अतएव—क्योंकि वह उत्पन्न नहीं होता, इससे अविकृत परब्रह्म ही

सत्यानन्दी दीपिका

* जीवात्मा विषयक उत्पत्ति और प्रलयका प्रतिषेधकर अब उसे स्वप्रकाशरूप सिद्ध करनेके पूर्वपक्षकी अवतरणिका दिखाते हैं—'आत्मैवास्य ज्योतिः' (बृह० ४।३।६) (आत्मा ही इसकी है) इत्यादि श्रुति आत्माको स्वप्रकाश कहती हैं। और 'पश्यञ्चक्षुः शृण्वन्श्रोत्रम् (बृह० १।४।७) करता हुआ चक्षु है, श्रवण करता हुआ श्रोत्र है) इत्यादि श्रुतियाँ अनित्य ज्ञानका प्रतिपादन हैं। इस प्रकार श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेपर संशय होता है कि जीव ब्रह्मरूप होनेसे नित्य-होनेपर ज्ञानकी उत्पत्तिके इन्द्रिय आदि साधन व्यर्थ होंगे, इससे आत्मा अनित्य ज्ञान वाला चाहिए। सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें भी ज्ञानका अभाव प्रतीत होता है। अतः आत्मा और संयोगसे जोवात्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है, यह पूर्वपक्ष है। पूर्वोक्त जीवकी अनुत्पत्तिरूप हेतुको स्वप्रकाशत्वके साधनसे हेतुहेतुमद्भाव संगति है।

* आत्मा नित्य-चैतन्यस्वरूप और असङ्ग है, अतः उसका विषयोंके साथ स्वतः सम्बन्ध न होनेके

परमेव ब्रह्माविकृतमुपाधिसंपर्काज्जीवभावेनावतिष्ठते। परस्य हि ब्रह्मणश्चैतन्यस्वरूपत्वमाम्नातम्—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१), 'अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३), इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत्परं ब्रह्म जीवस्तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते। विज्ञानमयप्रक्रियायां च श्रुतयो भवन्ति—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' (बृ० ४।३।११) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।९) इति, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४।३।३०) इत्येवंरूपाः। 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छा० ८।१२।४) इति च सर्वैः करणद्वारैरिदं वेदेदं वेदेति विज्ञानेनानुसंधानात्तद्रूपत्वसिद्धिः। नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्—न, गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्। तथा हि दर्शयति-'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि। * यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्यैव परिहारोऽभिहितः। सुषुप्तं प्रकृत्य 'यद्वै त पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति

उपाधिके सम्बन्धसे जीव भावसे अवस्थित है। कारण कि 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'अनन्तरो०' (अन्तर रहित, बाह्य रहित, कृत्स्न विज्ञानैकर है) इत्यादि श्रुतियोंमें परब्रह्मका ही चैतन्य स्वरूप कहा गया है। यदि वही परब्रह्म जीव है तो इस अग्निकी उष्णता और प्रकाशके समान जीवका भी नित्य चैतन्य स्वरूप है, ऐसा ज्ञात होता है। औ 'असुप्तः सुप्तानभिचकाशीति' (स्वयं न सोता हुआ सोए हुए समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है) 'अत्रायं० (स्वप्नावस्थामें यह पुरुष स्वयं ज्योतिः स्वरूप होता है) 'नहि विज्ञातुः० (विज्ञाताकी विज्ञा शक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता) इस प्रकारकी श्रुतियाँ विज्ञानमयके प्रकरणमें हैं। 'अथ यो वेदेदं० (ऐसा अनुभव करता है कि मैं सूँघूँ वह आत्मा है) इस प्रकार सब इन्द्रियों द्वारा इसको जानता है इसको जानता है इत्याकारक विज्ञानके साथ अनुसंधान होनेसे तद्रूपत्व-ज्ञानरूपत्व सिद्ध होता है। य यह कहो कि नित्यस्वरूप चैतन्य होनेपर घ्राण आदि व्यर्थ होंगे, तो ऐसा नहीं, क्योंकि वे गन्ध आ विषय विशेषाकारवृत्तिके लिए हैं। उसी प्रकार 'गन्धाय घ्राणम्' (गन्ध विषयक अन्तःकरणकी वृत्ति लिए घ्राण है) इत्यादि श्रुति दिखलाती है। सुप्त आदि नहीं जानते, ऐसा जो कहा गया है, उस सुषुप्तका उपक्रमकर 'यद्वै तन्न पश्यति० (सुषुप्तावस्थामें वह जो नहीं देखता सो देखता हुआ ही न देखता, द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है, उस समय उससे अन्य विभ द्वितीय नहीं है, जिसे देखे) इत्यादि श्रुतिसे ही परिहार कहा गया है। तात्पर्य यह है कि विषयों

सत्यानन्दी दीपिका

कारण विषयोंके साथ सम्बन्ध घटकी भूत वृत्तियोंके लिए इन्द्रिय आदि ज्ञानके साधन अवश्य सं हैं। यहाँ परिच्छेदका अर्थ वृत्ति है।

* सुषुप्तिमें बुद्धि, इन्द्रिय, विषय आदि विशेष ज्ञानकी उत्पादक सामग्री नहीं है। इससे विशे ज्ञानके अभाव होनेसे स्वरूपात्मक ज्ञानका अभाव नहीं होता। और 'शृण्वन् श्रोत्रम्' इस श्रुतिसे जीवात्माका ज्ञान अनित्य कहा गया है, वह भी वृत्ति विषयक है, 'आत्मा न ज्ञानं द्रव्यत्वात्' 'आत्मा ज्ञान स्वरूप नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य है' यह तर्क 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों बाधित है, क्योंकि निरवयव आत्माका निरवयव मनके साथ सम्बन्ध न होनेसे उसमें अनित्य ज्ञा उत्पन्न ही नहीं होगा और समवायके न होनेसे अपनेमें समवाय सम्बन्धसे उत्पन्न ज्ञान द्वारा आत्मा वेद्य है, यह अयुक्त है, क्योंकि कर्म कर्तृभाव विरोध है। जिसको वैशेषिक मतमें ज्ञान कहा जाता है वस्तुतः वह वृत्तिज्ञान है, क्योंकि 'कामः सङ्कल्पः' इत्यादि सब मन ही है। इसलिए आत्मा नित्य चैतन्य स्वरूप है ॥ १८ ॥

तोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—विषयाभावादियमचेतयमानता, न चैतन्याभावादिति। यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात्तद्वत्। वैशेषिकादितर्कश्च श्रुतिविरोध आभासीभवति। तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मेति निश्चिनुमः ॥१८॥

(१३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् । सू० १९-३२)

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—'अस्माच्छरीरादुत्क्रामति' 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' 'तस्माल्लोकात्पुनरेति' इस प्रकार उत्क्रमण, गति और आगतिके श्रवणसे जीव अणु है, अतः जीवकी सर्वव्यापक प्रतिपादक 'सर्वव्यापी' श्रुतिका 'एषोऽणुरात्मा' इस श्रुतिके साथ विरोध है।

इदानीं तु किंपरिमाणो जीव इति चिन्त्यते। किमणुपरिमाण उत मध्यमपरिमाण आहोस्विन्महापरिमाण इति। ननु च नात्मोत्पद्यते नित्यचैतन्यश्चायमित्युक्तम्। अतश्च पर आत्मा जीव इत्यापतति, परस्य चात्मनोऽनन्तत्वमाम्नातं, तत्र कुतो जीवस्य परिमाणचिन्तावतार इति ? उच्यते—सत्यमेतत्। उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। स्वशब्देन चास्य क्वचिदणुपरिमाणत्वमाम्नायते। तस्य सर्वस्यानाकुलत्वोपपादनायायमारम्भः। तत्र प्राप्तं तावदुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति। उत्क्रान्तिस्तावत्—'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौषीत० ३।३) इति। गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषीत० १।२) इति। आगतिरपि 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति। आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति। नहि विभोश्चलनमवकल्पत इति। सति परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते ॥१६॥

विषयाभावसे यह चेतनताका अभाव है चैतन्यके अभावसे नहीं। जैसे आकाश आश्रय प्रकाशकी प्राकश्यके अभावसे अनभिव्यक्ति है स्वरूपके अभावसे नहीं। वैशेषिक आदिके तर्क तो श्रुतिके विरोध होनेपर आभास होते हैं। इससे हम यह निश्चय करते हैं कि नित्य चैतन्य स्वरूप ही आत्मा है ॥ १८ ॥

जीव किस परिमाण वाला है अर्थात् जीवका क्या परिमाण है, अब यह विचार किया जाता है। क्या वह अणुपरिमाणवाला है, वा मध्यम परिमाणवाला है अथवा महत्परिमाणवाला है ? परन्तु यह कहा जा चुका है कि यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता और नित्य चैतन्य है, अतः जीव परमात्मा है ऐसा प्राप्त होता है, परमात्मा अनन्त है ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, तो पुनः जीवके परिमाण सम्बन्धक चिन्ता-विचारका अवतरण कैसे हुआ ? कहते हैं—यह ठीक है, तो भी उत्क्रान्ति, गति, आगतिका श्रवण जीवका परिच्छिन्नत्व प्राप्त कराता है। कहीं पर श्रुति स्वशब्दसे इसको अणुपरिमाण कहती है। उन सबका अनाकुलत्व-अबाधत्व उपपादन करनेके लिए यह आरम्भ है। ऐसा प्राप्त हुआ।

पूर्वपक्षी–जीव परिच्छिन्न और आणु परिमाण है, क्योंकि उत्क्रान्ति, गति और आगतिका श्रवण है। 'स यदास्माच्छरीरादु० (वह जब मरण समय इस शरीरसे उत्क्रमण करता है तब इन सबके साथ उत्क्रमण करता है) यह उत्क्रान्ति श्रुति है। 'ये वै के० (और जो कोई इस लोकसे प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोकको ही जाते हैं) यह श्रुति गति भी कहती है। और 'तस्माल्लोकात्० (उस लोकसे पुनः इस कर्मलोकमें आता है) इस प्रकार यह श्रुति आगति भी कहती है। इन उत्क्रान्ति, गति, और आगति विषयक श्रुतियोंसे जीव परिच्छिन्न है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि विभुकी गति नहीं हो सकती है। परिच्छिन्नत्व प्राप्त होनेपर शरीर परिमाणका अर्हत मतकी परीक्षामें निराकरण होनेसे आत्मा अणु है, ऐसा ज्ञात होता है ॥ १६ ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

पदच्छेद—स्वात्मना, च, उत्तरयोः ।

सूत्रार्थ—(उत्तरयोः) उत्क्रमणके अनन्तर होनेवाले गमन और आगमनका (स्वात्मना) स्वात्मा कर्ताके साथ सम्बन्ध होनेसे आत्मा अणु सिद्ध होता है ।

उत्क्रान्तिः कदाचिदचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवद्देहस्वाम्यनिवृत्त्या कर्मक्षयेणावकल्पेत । उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः संभवतः । स्वात्मना हि तयोः संबन्धो भवति, गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात् । अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव संभवतः । सत्योश्च गत्यागत्योरुत्क्रान्तिरप्यपसृप्तिरेव देहादिति प्रतीयते । न ह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागती स्याताम् । देहप्रदेशानां चोत्क्रान्तावपादानत्ववचनात् । 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति । 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (बृ० ४।४।१), 'शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्' (बृ० ४।३।११) इति चान्तरेऽपि शरीरे शारीरस्य गत्यागती भवतः । तस्मादप्यस्याणुत्वसिद्धिः ॥२०॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

पदच्छेद—न, अणुः, अतच्छ्रुतेः, इति, चेत्, न, इतराधिकारात् ।

सूत्रार्थ - (नाणु) जीव अणु परिमाण नहीं है, (अतच्छ्रुतेः) क्योंकि 'सर्वव्यापी' इत्यादि श्रुति जीवको सर्वगत कहती है, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (इतराधिकारात्) इतर-ब्रह्मका प्रकरण है ।

* अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा । कस्मात् ? अतच्छ्रुतेः । अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः । 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।१२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनो-

---

कदाचित् उत्क्रान्ति तो अचल आत्माको भी ग्रामके स्वामित्वकी निवृत्तिके समान देहके स्वामित्व निवृत्तिसे कर्मक्षय होनेसे हो सकती है । परन्तु आगेकी गति और आगति तो अचल आत्माकी नहीं हो सकती, क्योंकि उनका सम्बन्ध अपने आत्माके साथ होता है, कारण कि 'गम्' धातु कर्तृस्थ क्रिया है । मध्यम परिमाण रहित जीवके अणु होनेपर ही गति और आगति हो सकती हैं । गति और आगतिके होनेपर देहसे अपसृप्ति (बाहर निकलना) ही उत्क्रान्ति है, ऐसा प्रतीत होता है । देहसे बाहर न निकले हुए की गति और आगति नहीं होती । 'चक्षुष्टो० (उसीसे यह आत्मा चक्षुसे, मूर्धासे अथवा शरीरके अन्य भागोंसे बाहर निकलता है) इसप्रकार देह प्रदेश उत्क्रान्तिमें अपादानरूपसे कहे गए हैं । 'एतास्तेजो० (वह आत्मा इन तेजोमात्राओं (इन्द्रिय समूह) का सम्यक् प्रकारसे ग्रहणकर हृदयमें ही अनुक्रान्त-अभिव्यक्त ज्ञानवान् होता है) 'शुक्रमादाय० (प्रकाशक इन्द्रियमात्राको लेकर आत्मा पुनः जागरित-स्थानमें आता है) इसप्रकार शरीरके अन्तर भी जीवात्माकी गति और आगति होती हैं । इससे भी इस (जीव) की अणुत्व सिद्धि है ॥ २० ॥

तो भी शंका होती है कि यह जीवात्मा अणु नहीं है, क्योंकि अतच्छ्रुति है—अणु परिमाणके विपरीत परिमाणकी श्रुति है, ऐसा अर्थ है । 'स वा एष महानज० (यह महान् अज आत्मा है जो वह प्राणोंमें विज्ञानमय है) 'आकाशवत्०(आकाशके समान सर्वगत और नित्य है) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

सत्यानन्दी दीपिका

* शास्त्र दृष्टिसे जैसे गर्भस्थ वामदेवने 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' (मैं ही मनु हुआ और सूर्य भी) जीव होते हुए भी परमार्थ दृष्टिसे कहा है, वैसे विकाररूप जीव कारण ब्रह्मसे परमार्थसे अभिन्न

त्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत्—नैष दोषः, कस्मात्? इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः ज्ञायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः, परस्यैवात्मनः प्राधान्येन वेदान्तेषु वेदितव्यत्वेन प्रकृतत्वात्, विरजः पर आकाशादित्येवंविधाच्च परस्यैवात्मनस्तत्र तत्र विशेषाधिकारात्। ननु यं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति शारीर एव महत्त्वसंबन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते। शास्त्रदृष्ट्या त्वेष निर्देशो वामदेववद्द्रष्टव्यः। तस्मात्प्राज्ञविषयत्वात्परिमाणान्तरवणस्य न जीवस्याणुत्वं विरुध्यते ॥२१॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥२२॥

पदच्छेद—स्वशब्दोन्मानाभ्याम्, च।

सूत्रार्थ—'एषोऽणुरात्मा' इस अणुत्व वाचक श्रुति और 'बालाग्रशतभागस्य' इस श्रुतिमें अपकृष्ट परिमाणसे जीव अणु है।

इतश्चाणुरात्मा यतः साक्षादेवास्याणुत्ववाची शब्दः श्रूयते—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मुण्ड० ३।१।९) इति। प्राणसंबन्धाच्च जीव एवायमणुरभिहित इति गम्यते। तथोन्मानमपि जीवस्याणिमानं गमयति—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे० ५।९) इति। 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इति चोन्मानान्तरम् ॥ २२ ॥

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते। दृश्यते च जाह्नवीह्रदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योपलब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोपलब्धिरिति, अत उत्तरं पठति—

प्रकारकी श्रुतियाँ आत्माको अणु मानने पर विरुद्ध होंगी। ऐसा यदि कहो तो यह दोष नहीं है, इतरका अधिकार है—परमात्माके प्रकरणमें यह अन्य परिमाणकी श्रुति है, क्योंकि परमात्मा मुख्यरूपसे वेदान्तोंमें वेदितव्यरूपसे प्रकृत है। और 'विरजः० (वह विरज है और आकाशसे पर है) प्रकारके वचनोंसे परमात्माका ही तत् तत् स्थलमें विशेष अधिकार है। परन्तु 'योऽयं विज्ञानमयः ' ऐसा शारीर (जीवात्मा) का ही महत्त्व सम्बन्धीरूपसे प्रतिनिर्देश किया जाता है। यह तो शास्त्र दृष्टिसे वामदेवके समान समझना चाहिए। इसलिए अन्य परिमाण विषयक श्रुति (परमात्मा) विषयक होनेसे जीवका अणुत्व विरुद्ध नहीं है ॥ २१ ॥

और इससे भी जीवात्मा अणु है, क्योंकि 'एषोऽणुरात्मा० (यह अणु सूक्ष्म आत्मा, केवल शुद्ध विज्ञानसे जानने योग्य है, जिस शरीरमें प्राण पाँच प्रकारका होकर प्रविष्ट है) इसप्रकार साक्षात् ही इसका अणुत्व वाचक शब्द (श्रुति) सुना जाता है। और ऐसा ज्ञात होता है कि प्राणके सम्बन्धसे यह जीव ही अणु कहा गया है। उसीप्रकार 'बालाग्रशतभागस्य ०(सौ भागोंमें विभक्त हुआ जो केशके अग्रभागका सौवाँ भाग है, उसके समान जीवको जानना चाहिए) यह उन्मान अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण) भी जीवको अणु बतलाता है। 'आराग्रमात्रो० (लकड़ीके डण्डेमें लगे लोह कण्टकके समान आकारवाला आत्मा देखा गया है) यह अन्य उन्मान अत्यन्त अपकृष्ट परिमाण है ॥ २२ ॥

परन्तु जीवके अणु होनेपर देहके एक देशस्थित जीवको सम्पूर्ण शरीर गत उपलब्धिका विरोध होगा, क्योंकि गंगा अथवा तालाबमें स्नान करनेवालोंको सर्वाङ्गमें शैत्यकी उपलब्धि और कालमें सम्पूर्ण शरीरमें परितापकी उपलब्धि देखनेमें आती है। इससे उत्तर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

के कारण अभेद दृष्टिसे महत्त्व परिमाणका निर्देश है। इससे जीवमें स्वतः अणुत्वका विरोध नहीं अर्थात् जीवात्मा अणु है ॥ २१ ॥

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

पदच्छेद—अविरोधः, चन्दनवत् ।

सूत्रार्थ—(चन्दनवत्) जैसे शरीरके एक अवयवमें स्थित चन्दन बिन्दु शरीर व्यापी सुखको उत्पन्न करता है, वैसे अणु जीव भी देहव्यापी शीत आदिकी उपलब्धि करेगा, अतः (अविरोधः) कोई विरोध नहीं है ।

यथा हि हरिचन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशसंबद्धोऽपि सन्सकलदेहव्यापिनमाह्लादं करोति, एवमात्मापि देहैकदेशस्थः सकलदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति । त्वक्संबन्धाच्चास्य सकलशरीरगता वेदना न विरुध्यते । त्वगात्मनोर्हि संबन्धः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते, त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २४ ॥

पदच्छेद—अवस्थितिवैशेष्यात्, इति, चेत्, न, अभ्युपगमाद्, हृदि, हि ।

सूत्रार्थ—(अवस्थितिवैशेष्यात्) प्रत्यक्षरूपसे चन्दन बिन्दुकी शरीरके एक भागमें अवस्थिति देखी जाती है, परन्तु जीवकी इसप्रकार नहीं देखी जाती । अतः अतुल्य होनेसे चन्दन दृष्टान्त युक्त नहीं है, (इति चेन्न) तो यह कथन युक्त नहीं है, (अभ्युपगमात्) क्योंकि जीवका अणुत्व स्वीकार है, (हृदि) अल्पपरिमाण हृदयमें 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इत्यादि श्रुतिमें जीवका पाठ है, (हि) इससे जीवका अणुत्व स्वीकार है, इसप्रकार दृष्टान्तमें भी वैषम्य नहीं हैं ।

❀ अत्राह—यदुक्तमविरोधश्चन्दनवदिति-तदयुक्तं; दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरतुल्यत्वात् । सिद्धे ह्यात्मनो देहैकदेशस्थत्वे चन्दनदृष्टान्तो भवति, प्रत्यक्षं तु चन्दनस्यावस्थितिवैशेष्यमेकदेशस्थत्वं सकलदेहाह्लादनं च । आत्मनः पुनः सकलदेहोपलब्धिमात्रं प्रत्यक्षं नैकदेशवर्तित्वम् । अनुमेयं तु तदिति यदप्युच्येत । न चात्रानुमानं संभवति । किमात्मनः सकलशरीरगता वेदना त्वगिन्द्रियस्येव सकलदेहव्यापिनः सतः ? किं वा विभोर्नभस इव, आहोस्विच्चन्दनबिन्दोरिवाणोरेकदेशस्थस्येति संशयानतिवृत्तेरिति ? अत्रोच्यते—नायं दोषः;

जैसे शरीरके एक देशसे सम्बद्ध होता हुआ भी हरिचन्दन बिन्दु सकल देहव्यापी आह्लाद उत्पन्न करता है, वैसे आत्मा भी देहके एक देशस्थ होता हुआ सकल देहव्यापी उपलब्धि करेगा। इसका त्वचाके सम्बन्धसे सम्पूर्ण शरीर गत वेदना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि त्वक् और आत्माका संबंध सम्पूर्ण त्वचामें है, और त्वक् समस्त शरीर व्यापी है ॥ २३ ॥

यहां कहते हैं—जो यह कहा गया है कि चन्दनके समान अविरोध है, वह अयुक्त है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें समानता नहीं है, आत्माका देहके एकदेशस्थत्व सिद्ध होनेपर चन्दन दृष्टांत हो सकता है । परन्तु चन्दनका अवस्थिति विशेष एक देशमें स्थिति और सम्पूर्ण देहमें आह्लाद तो प्रत्यक्ष है । और पुनः आत्माका सम्पूर्ण देहमें उपलब्धि मात्र प्रत्यक्ष है न कि एक देशवर्तित्व है। यदि कहो कि वह अनुमेय है, तो यहां अनुमान भी नहीं हो सकता, क्योंकि क्या आत्माकी सकल शरीरमें प्राप्त वेदना त्वक् इन्द्रियके समान सकल शरीर व्यापी आत्माकी है अथवा आकाशके समान व्यापक आत्माकी है अथवा हरिचन्दन बिन्दुके समान एक देशस्थ अणु आत्माकी है । इसप्रकारके

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'आत्मा अल्पः, व्यापीकार्यकारित्वात् चन्दनबिन्दुवत्' (आत्मा अणु है, क्योंकि व्यापी कार्य करनेवाला है, जैसे चन्दन बिन्दु) इस अनुमानसे आत्माकी चन्दन बिन्दुके समान एक देश अव-

त ? अभ्युपगमात् । अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वमवविशेष्यम् । कथमिति ? उच्यते—हृदि ह्येष आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु । 'हृदि ह्येष आत्मा' ३।६), 'स वा एष आत्मा हृदि' (छा० ८।३।३), 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्याद्युपदेशेभ्यः । तस्माद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्वाद्युक्तमेवैतदविरोधश्चन्दनवदिति ॥२४॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

पदच्छेद—गुणाद्, वा, लोकवत् ।

सूत्रार्थ—(वा) अथवा (लोकवत्) जैसे लोकमें गृहमध्यवर्ती दीपकके अल्प होनेपर भी णात्) उसके प्रभारूप गुणसे गृहव्यापी प्रकाश आदि कार्य होते हैं, वैसे ही आत्माके अणु होने भी आत्मनिष्ठ चैतन्य गुणको व्यापक माननेसे व्यापी गुणसे व्यापी कार्य हो जायगा ।

* चैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकलदेहव्यापि कार्यं न विरुध्यते । लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशवर्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सती कृत्स्नेरके कार्यं करोति, तद्वत् । स्यात्कदाचिच्चन्दनस्य सावयवत्वात्सूक्ष्मावयवविसर्पणेनापि देह आह्लादयितृत्वं न त्वणोर्जीवस्यावयवाः सन्ति यैरयं सकलदेहं विप्रसर्पेदित्याशङ्क्य द्वा लोकवदित्युक्तम् ॥२५॥

कथं पुनर्गुणो गुणिव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तेत ? न हि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेन्यत्र वर्तमानो दृश्यते । प्रदीपप्रभावद्भवेदिति चेत्—न, तस्या अपि द्रव्यत्वाभ्युपगमात् ।

की निवृत्ति नहीं होती । इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि अभ्युपगम है । आत्माका भी न्दनके समान देहके एकदेशमें वृत्तित्व-अवस्थिति विशेषत्व स्वीकार किया जाता है । कैसे ? कहते —हृदि ह्येष आत्मा॰ (यह आत्मा हृदयमें है) 'स वा एष॰ (वह यह आत्मा हृदयमें है) 'कतम त्मेति॰ (आत्मा कौन है ? यह जो प्राणोंमें-बुद्धि वृत्तियोंके भीतर रहनेवाला विज्ञानमय है, हृदयके र ज्योतिः स्वरूप है) इत्यादि उपदेशोंसे हृदयमें ही यह आत्मा पढ़ा जाता है । इसलिए दृष्टान्त दार्शन्तिकमें वैषम्य न होनेसे चन्दनके समान यह अविरोध युक्त है ॥ २४ ॥

अथवा चैतन्य गुणकी व्याप्तिसे जीवके अणु होनेपर भी सकल देहव्यापी कार्य विरुद्ध नहीं है । लोकमें गृहके एक देशवर्ती मणि, प्रदीप आदिकी भी प्रभा गृहव्यापी होती हुई सम्पूर्ण गृहमें कार्य काश) करती है । इसप्रकार प्रकरणमें भी समझना चाहिए । चन्दन सावयव है, अतः सूक्ष्म यवोंके फैलनेसे कदाचित् वह सकल देहमें आह्लाद कर सकता है, परन्तु अणु जीवके अवयव हैं जिससे कि वह सकल देहमें फैले । ऐसी आशंकाकर 'गुणाद्वा लोकवद्' ऐसा कहा है ॥ २५ ॥

परन्तु गुण गुणीको छोड़कर अन्यत्र किस प्रकार रहेगा ? क्योंकि पटका शुक्ल गुण पदसे

सत्यानन्दी दीपिका

से सिद्ध होती है । परन्तु इस अनुमानका हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि त्वगिन्द्रियमें हेतु है साध्य नहीं है । त्वक् समस्त शरीरव्यापी है, इसलिए व्यभिचारी हेतु पक्षमें साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता । इसकार त्वचाके दृष्टान्तसे संशयकी निवृत्ति नहीं हो सकती है । यह दोष नहीं है, क्योंकि आत्माके मेंं केवल अनुमान प्रमाण नहीं है, किन्तु 'स वा एष आत्मा हृदि' इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है, लिए चन्दन दृष्टान्तके साथ कोई विरोध नहीं है ॥ २४ ॥

* अणु आत्मा निरवयव है और चन्दन सावयव है, इससे कार्यमें भी विषमता है, इस लिये प्रदीपका दृष्टान्त दिया गया है ॥ २५ ॥

निबिडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः, प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभेति। अत उत्तरं पठति-

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

पदच्छेद—व्यतिरेकः, गन्धवत्।

सूत्रार्थ—(गन्धवत्) जैसे गुण होते हुए भी गन्धकी स्थिति गुणी द्रव्यसे पृथक् उपलब्ध होती है, वैसे आत्माके गुण चैतन्यकी आत्मासे (व्यतिरेकः) पृथक् अवस्थिति हो सकती है।

* यथा गुणस्यापि सतो गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण वृत्तिर्भवति। अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुसुमगन्धोपलब्धेः। एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति। अतश्चानैकान्तिकमेतद्गुणत्वाद्रूपादिवदाश्रयविश्लेषानुपपत्तिरिति, गुणत्वे सतो गन्धस्याश्रयविश्लेषदर्शनात्। गन्धस्यापि सहैवाश्रयेण विश्लेष इति चेत्—न, यस्मान्मूलद्रव्याद्विश्लेषस्तस्य क्षयप्रसङ्गात्। अक्षीयमाणमपि तत्पूर्वावस्थातो गम्यते। अन्यथा तत्पूर्वावस्थैर्गुरुत्वादिभिर्हीयेत। स्यादेतत्—गन्धाश्रयाणां विश्लिष्टानामवयवानामल्पत्वात्सन्नपि विशेषो नोपलक्ष्यते। सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणवः सर्वतो विप्रसृता गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति नासिकापुटमनुप्रविशन्ति इति चेत्—न, अतीन्द्रियत्वात्परमाणूनां स्फुटगन्धोपलब्धेश्च नागकेसरादिषु। न च लोके प्रतीतिर्गन्धवद्द्रव्यमाघ्रातमिति। गन्ध एवाघ्रात इति लौकिकाः प्रतियन्ति। रूपादिष्वाश्रयव्यतिरेकानुपलब्धेर्गन्धस्याप्ययुक्त आश्रयव्यतिरेक इति चेत्—न, प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः। तस्माद्यद्यथा लोके दृष्टं तत्तथैवानुमन्तव्यं निरूपकै-

व्यतिरिक्त अन्यत्र वर्तमान होता हुआ नहीं देखा जाता। यदि कहो कि प्रदीप प्रभाके समान हो जायगा, तो यह युक्त नहीं है, कारण कि वह भी द्रव्य माना गया है। घन अवयव तेजोद्रव्य ही प्रदीप है और प्रविरल अवयव तेजोद्रव्य ही तो प्रभा है। इससे उत्तर कहते हैं—

जैसे गुण होते हुए भी गन्धकी गन्धवद् द्रव्यसे व्यतिरिक्त वृत्ति होती है, क्योंकि गन्ध गु कुसुम आदिके अप्राप्त होनेपर भी कुसुम गन्धकी उपलब्धि होती है, वैसे जीवके अणु होनेपर भी चैतन्य गुणका व्यतिरेक होगा। 'इससे गुण होनेसे रूप आदिके समान आश्रयसे उसका विश्लेष अनुपपन्न है' यह व्यभिचरित है। कारण कि गुण होते हुए गन्धका ही आश्रयसे विश्लेश देखा जाता है। यदि कहो कि गन्धका भी आश्रयके साथ ही विश्लेष होता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस मू द्रव्यसे विश्लेष है उसका क्षय प्रसंग होगा। परन्तु वह मूलद्रव्य पूर्वावस्थासे अक्षीण होता हुआ ज्ञात होता है, अन्यथा वह पूर्व अवस्थिति गुरुत्व आदिसे रहित हो जायगा। ऐसा होनेपर भी पृथक् हुए गंधके आश्रय अवयवोंके अल्प होनेसे विशेष होता हुआ भी वह (ज्ञात) उपलक्षित नहीं होता। क्योंकि चारों ओर फैले हुए सूक्ष्म गंध परमाणु नसिका पुटमें प्रवेश करते हुए गंधज्ञान उत्पन्न करते हैं, ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं और नाग-केसर आदिमें स्फुट गंधकी उपलब्धि होती है। लोकमें 'गन्धवद् द्रव्य मैंने सूँघा' ऐसी प्रतीति नहीं होती, प्रत्युत 'गंध ही मैंने सूँघा' इसप्रकार लोग अनुभव करते हैं। यदि कहो कि रूप आदिकी आश्रयसे व्यतिरिक्त उपलब्धि नहीं होती, तो एतावता गंधका भी आश्रय व्यतिरेक अयुक्त है, तो यह ठीक नहीं है, कारण कि प्रत्यक्ष होनेसे अनुमान प्रवृत्त नहीं होगा। अतः जो जैसे लोकमें देखा गया हो उसको उसके

सत्यानन्दी दीपिका

* सिद्धान्ती पूर्वपक्ष वारणके लिए अनुमान कहते हैं--'ज्ञानं न गुणिव्यतिरिक्तदेशव्यापी गुणत्वात्, रूपवत्' 'ज्ञान गुणी आत्मासे अधिक देश व्यापी नहीं है, क्योंकि वह गुण है जैसे रूप' प्रभाके द्रव्य होनेसे उसमें व्यभिचार नहीं है। पू०--परन्तु गन्धमें व्यभिचार है, इसलिए यह हेतु पक्षमें साध्यके

ना। नहि रसो गुणो जिह्वयोपलभ्यत इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वयैवोपलभ्येरन्निति तुं शक्यते ॥२६॥

तथा च दर्शयति ॥२७॥

पदच्छेद—तथा, च, दर्शयति ।

सूत्रार्थ—(च) और 'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः' इत्यादि श्रुति (तथा) आत्माका ज्ञानसे शरीर व्यापित्व (दर्शयति) प्रतिपादित करती है ।

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वं चात्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' ० ८।८।१) इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति ॥२७॥

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

पदच्छेद—पृथक्, उपदेशात् ।

सूत्रार्थ—'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य०' इस श्रुतिसे आत्मा और ज्ञानका कर्तृकरणरूपसे (पृथक्) (उपदेशात्) उपदेश है, अतः जीवका गुण द्वारा सकल शरीर व्यापित्व है ।

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३।६) इति चात्मप्रज्ञयोः कर्तृकरणभावेन पृथगुप-च्चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापिता गम्यते । 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' ० २।१।१७) इति च कर्तुः शारीरात्पृथग्विज्ञानस्योपदेश एतमेवाभिप्रायमुपोद्बलयति—त्वादणुरात्मेति ॥२८॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

पदच्छेद—तद्गुणसारत्वात्, तु, तद्व्यपदेशः, प्राज्ञवत् ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है, (तद्गुणसारत्वात्) बुद्धि और आत्माके ल्य होनेसे जीवमें बुद्धिके अणुत्व, उत्क्रमण, गमन, आगमन, सुख-दुःख आदि गुण प्रधान हैं से उसमें तद्व्यपदेशः) अणुत्व व्यपदेश होता है, वह स्वाभाविक नहीं है (प्राज्ञवत्) जैसे त्माकी सगुणोपासनाओंमें दहर आदि उपाधियोंके कारण उसमें अणुत्वादि व्यवहार होता है ।

※ तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति—अणुरात्मेति । उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु

नुसार ही निरूपकोंसे अनुमान करना चाहिए अन्यथा नहीं । रस गुण जिह्वासे उपलब्ध होता है, तो से रूप आदि गुण भी जिह्वासे ही उपलब्ध हों, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता ॥ २६ ॥

आत्माका हृदयमें स्थान और अणुपरिमाण कहकर उसका ही 'आलोमभ्य० (हम अपने इस त्माको लोमपर्यन्त और नखपर्यन्त ज्योंका त्यों देखते हैं) यह श्रुति चैतन्य गुणसे समस्त शरीर पित्व दिखलाती है ॥ २७ ॥

'प्रज्ञया शरीरं० (प्रज्ञा द्वारा शरीर पर सम्यक्रूपसे आरुढ़ होकर सुख, दुःखका अनुभवकरता है) इसप्रकार आत्मा और प्रज्ञाका कर्तृ-करण भावसे पृथक् उपदेश होनेसे उसकी चैतन्यगुण द्वारा ही रीर व्यापिता ज्ञात होती है । तदेषां० (सुषुप्तिमें यह वाग् आदि प्राणोंके विषय ग्रहण करनेकी मर्थ्यको अपने चैतन्य गुणसे ग्रहण कर सोता है) इस प्रकार कर्ता जीवात्मासे पृथक् विज्ञानका देश इसी (चैतन्य गुण व्याप्ति विषयक) अभिप्रायको पुष्ट करता है, इसलिए आत्मा अणु है ॥२८॥

ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

नहीं कर सकता । अतः ज्ञान भी गन्धके समान आत्मासे अधिक देशवृत्ति हो सकता है ॥२६॥

ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात्तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम्। परमेव चेद्ब्रह्म जीवस्त- स्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति। परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्। तस्मा- द्विभुर्जीवः। तथा च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इत्येवंजातीयका जीवविषया विभुत्ववादाः श्रौताः स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति। न चाणो- र्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते। त्वक्संबन्धात्स्यादिति चेत्—न, कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत। त्वक्कण्टकयोर्हि संयोगः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते—त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति। पादतलएव तु कण्टकनुन्नो वेदनां प्रतिलभते। न चाणोर्गुणव्याप्ति- रुपपद्यते, गुणस्य गुणिदेशत्वात्। गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत। प्रदीप- प्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम्। * गन्धोऽपि गुणत्वाभ्युपगमात्साश्रय एव संचरितु- मर्हति। अन्यथा गुणत्वहानिप्रसङ्गात्। तथा चोक्तं द्वैपायनेन-'उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद्ब्रू- युरनैपुणाः। पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम्' इति। यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाणुर्जीवः स्यात्। चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ। ना

तु शब्द [पूर्व] पक्षकी व्यावृत्ति करता है। आत्मा अणु है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माके उत्पत्तिके अश्रवणसे परब्रह्मके ही प्रवेश श्रवणसे और तादात्म्यके उपदेशसे परब्रह्म ही जीव है, ऐ कहा गया है। यदि परब्रह्म ही जीव है तो उससे जितना परब्रह्म है उतना ही जीव हो सकता है। परब्रह्मको श्रुतियोंमें विभू कहा गया है उससे जीव भी विभू है। उसी प्रकार 'स वा एष० (वह महान् अज आत्मा है जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है) इस प्रकारकी जीव विषयक श्रौत और स्मा विभुत्ववाद समर्थित होते हैं। और अणु जीवमें सम्पूर्ण शरीर गत वेदना उपपन्न नहीं होती। यदि कहो कि त्वक्के सम्बन्धसे होगी, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि त्वचामें काँटा चुभने पर भी सकल शरी गत ही वेदना प्रसक्त होगी, कारण कि त्वचा और काँटेका संयोग (सम्बन्ध) सम्पूर्ण त्वचामें है और त्वक् समस्त शरीर व्यापी है। परन्तु काँटा चुभनेवालेको पैरके तलवेमें वेदना उपलब्ध होती है। अणुके गुणकी व्याप्ति उपपन्न नहीं होती, कारण कि गुणका गुणी प्रदेश होता है। यदि गुण गुणीके अनाश्रि होकर रहें तो गुणका गुणत्व ही न रहेगा। प्रभा तो अन्य द्रव्य है, ऐसा व्याख्यान किया जा चुका है। गन्ध भी गुण स्वीकार करनेसे आश्रय सहित ही संचारके योग्य हो सकता है, अन्यथा गुणत्वकी हानि प्रसक्त होगी। इस प्रकार भगवान् द्वैपायनने कहा—'उपलभ्याप्सु० (जलमें गन्ध उपलब्धकर को अनिपुण पुरुष उसमें गन्ध है ऐसा कहते हैं, परन्तु जल और वायुमें स्थित गन्ध पृथ्वीका ही है ऐसा जानना चाहिए) यदि जीवका चैतन्य समस्त शरीरको व्याप्त करेगा तो जीव अणु न होगा, क्योंकि जैसे औष्ण्य और प्रकाश अग्निका स्वरूप है, वैसे चैतन्य ही जीवका स्वरूप है। इसमें गुण गुणि

सत्यानन्दी दीपिका

* इस अधिकरणमें आत्माके अणुत्व और विभुत्व प्रपिपादक श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे उनमें अप्रामाण्य प्राप्त होनेपर पूर्वपक्षी द्वारा जीव अणु है और ईश्वर विभु है, इस प्रकार दोनोंके भेदकर श्रुतियोंका अविरोध दिखलाया गया है। सिद्धान्ती— जीव अणु नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा' 'अनेन जीवेनात्मना' इत्यादि श्रुतियोंसे शरीर आदि कार्यमें जीवरूपसे परब्रह्मका ही प्रवेश प्रतिपादित है, और 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियोंसे जीवकी ब्रह्मरूपता उपदिष्ट है, अतः ब्रह्मका परिमाण ही जीवका परिमाण है इसमें 'स वा एष महानज आत्मा' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' (भ० गी० २।२४) इत्यादि श्रुति और स्मृति भी प्रमाण हैं।

* अब तक तो चैतन्यको आत्माका गुण मानकर उसीकी व्याप्तिसे गुणी आत्माका अणुत्व निराकृत किया गया है। आगे चैतन्य जीवका स्वरूप है गुण नहीं है, इसे 'चैतन्यमेव' आदिसे कहते

णुविभागो विद्यत इति। शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम्। परिशेषाद्विभुर्जीवः। तदणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह—'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' इति। तस्या बुद्धे- तद्गुणा इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः रित्वे संभवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम्। नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केव- लात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं रित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः। तस्मात्तद्गुणसारत्वाद्बु- रिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः, तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चास्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो न स्वतः। तथा च—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय न्ते' (श्वे० ५।९) इत्यणुत्वं जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह। तच्चैवमेव समञ्जसं णौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत्पारमार्थिकं चानन्त्यम्। न ह्युभयं मुख्यमवकल्पेत। चानन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुम्, सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मात्मभावस्य प्रतिपिपादयि- त्वात्। तथैतस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) च बुद्धिगुणसंबन्धेनैवाराग्रमात्रतां शास्ति न स्वेनैवात्मना। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा व्यः' (मुण्ड० ३।१।९) इत्यत्रापि न जीवस्याणुपरिमाणत्वं शिष्यते, परस्यैवात्मनश्चक्षु-

---

नहीं है। जीवका शरीर परिमाण तो पूर्व ही खण्डित किया जा चुका है। परिशेषसे जीव हुई। तो उसमें अणुत्व आदि व्यपदेश किस प्रकार है? इसपर कहते हैं—तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्य- शः' उसके-बुद्धिके गुण वे तद्गुण—इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादि। तद्गुण सार प्रधान जिस के संसारित्वमें संभव है वह तद्गुणसार, उसका भाव तद्गुणसारत्व है, क्योंकि बुद्धिके गुणोंके केवल आत्मामें संसारित्व नहीं है। अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी, नित्य मुक्त होते हुए आत्माका , भोक्तृत्व आदि रूप संसारित्व बुद्धि उपाधिके धर्मोंके अध्यासके कारण ही है। इसलिए सारत्व होनेसे बुद्धिके परिमाणसे इसका परिमाणव्यपदेश है और बुद्धिकी उत्क्रान्ति आदिसे उत्क्रान्ति आदिका व्यपदेश है। उसके परिमाण और उत्क्रमण आदि स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार 'बालाग्रशतभागस्य० (सौ भागोंमें विभक्त किया हुआ जो केशके अग्रभागका सौवाँ है उसके समान जीवको जानना चाहिए, किन्तु वह स्वतः अनन्तके लिए समर्थ है) इसप्रकार को अणु कहकर पुनः उसको ही श्रुति अनन्त कहती है। वह तभी संगत हो सकता है जब जीवमें गौण हो और आनन्त्य पारमार्थिक हो। दोनों मुख्य नहीं हो सकते, और आनन्त्य गौण है, जाननेको समर्थ नहीं है। सभी उपनिषदोंमें ब्रह्मात्मभाव प्रतिपादन करना अभिलषित है। उसी 'बुद्धेर्गुणेन० (बुद्धि और शरीरके गुणोंसे भी युक्त है वह जीव भी आरके नोकके समान वाला देखा गया है) इस तरह अन्य उन्मानमें बुद्धि गुणके सम्बन्धसे ही आराग्र-परिमाणका करता है अपने स्वरूपसे नहीं। 'एषोऽणुरात्मा० (यह आत्मा अणु है; विशुद्ध ज्ञान द्वारा योग्य है) इसमें भी जीवके अणुपरिमाणका उपदेश नहीं है, क्योंकि परमात्मा ही चक्षु

सत्यानन्दी दीपिका

। आत्मामें अणुत्वका व्यपदेश औपाधिक है। जैसे 'अन्तरा विज्ञानमनसी' (ब्र० सू० २।३।१५) और मनके बीचमें) 'हृदि हि' (ब्र० सू० २।३।२६) (हृदयमें) इस प्रकार बुद्धिके गुणोंका होनेसे आत्मामें अणुत्व आदि व्यवहार होता है, स्वतः नहीं।

किञ्च जैसे पत्थरसे बनी मूर्ति पत्थर ही है, तो भी 'पत्थरकी मूर्ति' ऐसा केवल काल्पनिक भेद होता है। वैसे प्रकरण में भी समझना चाहिए ॥२९॥

राद्यनवग्राह्यत्वेन ज्ञानप्रसादगम्यत्वेन च प्रकृतत्वात्। जीवस्यापि च मुख्याणुपरिमाणत्वानु-पपत्तेः। तस्माद् दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुत्ववचनमुपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम्। तथा 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३।६) इत्येवंजातीयकेष्वपि भेदोपदेशेषु बुद्ध्यैवोपाधिभूतया जीवः शरीरं समारुह्येत्येवं योजयितव्यम्। व्यपदेशमात्रं वा, शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादिवत्। नह्यत्र गुणगुणिविभागोऽपि विद्यत इत्युक्तम, हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतन-त्वात्। तथोत्क्रान्त्यादीनामप्युपाध्यायत्ततां दर्शयति—'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति' (प्रश्न० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इति। उत्क्रान्त्य-भावे हि गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते। न ह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागती स्याताम्। एवमुपाधि-गुणसारत्वाज्जीवस्याणुत्वादिव्यपदेशः, प्राज्ञवत्। यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपासने-षूपाधिगुणसारत्वादणीयस्त्वादिव्यपदेश—'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' (छा० ३।१४।३) 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ३।१४।२) इत्येवंप्रकारस्तद्वत् ॥२९॥

स्यादेतत्—यदि बुद्धिगुणसारत्वादात्मनः संसारित्वं कल्प्येत, ततो बुद्ध्यात्मनोर्भि-न्नयोः संयोगावसानमवश्यंभावीत्यतो बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्तस्यानालक्ष्यत्वादसत्त्व-मसंसारित्वं वा प्रसज्येतेति। अत उत्तरं पठति—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

पदच्छेद—यावदात्मभावित्वात्, च, न, दोषः, तद्दर्शनात्।

सूत्रार्थ—बुद्धिका संयोग (यावदात्मभावित्वात्) जबतक आत्मज्ञानसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती तबतक रहता है। (न दोषः) अतः उक्त दोष नहीं है। (तद्दर्शनात्) क्योंकि देहका वियोग होनेपर भी बुद्धिका संयोग 'समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इत्यादि श्रुतिमें देखा जाता है।

नेयमनन्तरनिर्दिष्टदोषप्राप्तिराशङ्कनीया। कस्मात्? यावदात्मभावित्वाद्बुद्धिसं-

---

आदिसे अग्राह्य और ज्ञान प्रसादगम्य होनेसे प्रकृत है, जीवका भी अणुपरिमाण मुख्य नहीं हो सकता जीवमें अणुत्व वचन दुर्विज्ञेयत्व अभिप्रायसे अथवा उपाधिके अभिप्रायसे समझना चाहिए। इस प्रकार 'प्रज्ञया' (प्रज्ञा द्वारा शरीरपर समारुढ़ होकर सुख-दुःखका अनुभव करता है) इस प्रकारके भेदो-पदेशोंमें उपाधि रूप बुद्धिसे ही जीव शरीरपर समारोहण कर ऐसी योजना करनी चाहिए। अथवा 'शिलापुत्रका शरीर' इत्यादिके समान यह व्यपदेशमात्र है। यहाँ गुण गुणी विभाग भी नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है। 'जीवका स्थान हृदय है' यह वचन भी बुद्धिके अभिप्रायसे है, क्योंकि बुद्धिका स्थान हृदय है। उसी प्रकार 'कस्मिन्न्वहमु' (किसके उत्क्रान्त होनेपर मैं उत्क्रान्त होउँगा और किसके प्रतिष्ठित होनेपर प्रतिष्ठित होऊँगा) 'स प्राणमसृजत' (उसने प्राण उत्पन्न किया) इसप्रकार उत्क्रान्ति आदि उपाधिके अधीन हैं, ऐसा श्रुति दिखलाती है। उत्क्रान्तिके अभाव होनेपर गति और आगतिका भी अभाव जाना जाता है। देहसे न निकले हुए की गति और आगति नहीं होंती। इसप्रकार उपाधि-गुणकी प्रधानतासे प्राज्ञके समान जीवमें अणुत्व आदि व्यपदेश है। जैसे 'आणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' (हृदय कमलके भीतर यह मेरा आत्मा धानसे, यवसे भी सूक्ष्म है) 'मनोमयः० (वह ब्रह्म मनोमय प्राण शरीर, सर्वगन्ध, सर्वरस सत्यकाम और सत्य संकल्प है) इसप्रकार सगुण उपासनाओंमें उपाधि-गुणोंकी प्रधानतासे प्राज्ञ परमात्मामें अणुत्व आदिका व्यपदेश है, वैसे यहां भी समझना चाहिए।

ऐसा हो, यदि बुद्धिके गुणकी प्रधानतासे आत्मामें संसारित्वकी कल्पना करो, तो परस्पर भिन्न बुद्धि और आत्माके संयोगका अवसान (अन्त) अवश्यंभावी है, इससे बुद्धिका वियोग होनेपर विभक्त आत्माके अनालक्ष्य होनेसे उसका असत्त्व अथवा असंसारित्व प्रसक्त होगा? इसपर उत्तर कहते हैं—

। यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावद्बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं रित्वं च। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसंबन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेके स्ति। नहि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणाया भ्यते। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ मन्तृ विज्ञातृ' (छा० ६।८।७) 'तत्त्वमसि' (छा० ६।१।६), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।७) दिश्रुतिशतेभ्यः। कथं पुनरवगम्यते यावदात्मभावी बुद्धिसंयोग इति? तद्दर्शनादित्याह। हि शास्त्रं दर्शयति—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ नुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इत्यादि। तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय दुक्तं भवति, प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इति विज्ञान मनआदिभिः सह पाठात्। बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते। यथा लोके यो देवदत्त इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते, तद्वत्। 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' च लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगं बुद्ध्या दर्शयति। केन समानः? तयैव बुद्ध्येति गम्यते, धानात्। तच्च दर्शयति—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इति। एतदुक्तं भवति— स्वतो ध्यायति, नापि चलति, ध्यायन्त्यां बुद्धौ ध्यायतीव, चलन्त्यां बुद्धौ चलतीवेति। च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसंबन्धः। नच मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञा-

पूर्वमें कही हुई यह दोष प्राप्तिकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि बुद्धिका संयोग यावदात्म- है। जबतक यह आत्मा संसारी है। जबतक इसका तत्त्वज्ञानसे संसारित्व निवृत्त नहीं होता, तब इसका बुद्धिके साथ सम्बन्ध निवृत्त नहीं होता। जबतक यह बुद्धिरूप उपाधिका सम्बन्ध है तबतक जीवत्व और संसारित्व है। वास्तवमें तो बुद्धि उपाधिके सम्बन्धसे परिकल्पित स्वरूपसे व्यति- जीव नाम है ही नहीं, क्योंकि 'नान्योऽतो० (इससे अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता है) 'नान्यदतो० (इससे अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है) 'तत्त्वमसि' 'अहं स्मि' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे नित्य मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ ईश्वरसे अन्य द्वितीय चेतन तत्त्व वेदान्त निरूपण करनेपर उपलब्ध नहीं होता। परन्तु बुद्धिका संयोग यावदात्मभावी है। यह कैसे जाता है? इसके उत्तरमें 'वह श्रुतिमें प्रतिपादित है' ऐसा सूत्रकारने कहा है। जैसे कि 'योऽयं ज्ञानमयः० (जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है बुद्धिमें ज्योतिःस्वरूप पुरुष, वह समान—बुद्धिके सदृश इस लोक और परलोक में संचार करता है, [बुद्धि वृत्तिके अनुसार] मानो ध्यान करता है। वृत्ति होकर] मानो अत्यर्थ चेष्टा करता है) इत्यादि शास्त्र दिखलाता है। इसमें विज्ञानमयः' पदसे 'बुद्धिमय' यह उक्त होता है, क्योंकि अन्य स्थलमें 'विज्ञानमयो० (विज्ञानमय, मनोमय, मय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय) इस प्रकार विज्ञानमयका मन आदिके साथ पाठ है। बुद्धिमयत्वसे गुणसारत्व ही अभिप्रेत है। जैसे लोकमें स्त्रीमें राग आदि प्रधानतासे 'देवदत्त स्त्रीमय है' कहा है। 'स समानः० (वह बुद्धि समान होकर दोनों लोकोंमें संचरण करता है) यह श्रुति लोकान्तर करनेमें आत्माका बुद्धिके साथ अवियोग प्रतिपादित करती है। किसके समान? सान्निध्यसे उस के समान ऐसा ज्ञात है। उस (समानत्व) को 'ध्यायतीव लेलायतीव' (ध्यान करता-सा प्रतीत है, चलता-सा प्रतीत होता है) यह श्रुति दिखलाती है। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा स्वतः न करता है और न चलता ही है। परन्तु बुद्धिके ध्यानस्थ होनेपर वह ध्यान करता-सा प्रतीत होता और बुद्धिके चलनेपर वह चलता-सा ज्ञात होता है। आत्माका यह बुद्धिरूप उपाधिके साथ सम्बन्ध ज्ञान पुरः सर है। मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञानके विना नहीं होती। इसलिए जबतक

नादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद्ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधिसंबन्धो न शाम्यति। दर्शयति च—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ॥३०॥

ननु सुषुप्तप्रलययोर्न शक्यते बुद्धिसंबन्ध आत्मनोऽभ्युपगन्तुम्। 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति वचनात्। कृत्स्नविकारप्रलयाभ्युपगमाच्च। तत्कथं यावदात्मभावित्वं बुद्धिसंबन्धस्येति ? अत्रोच्यते—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

पदच्छेद—पुंस्त्वादिवत्, तु, अस्य, सतः, अभिव्यक्तियोगात्।

सूत्रार्थ—(पुंस्त्वादिवत्) जैसे बाल्यावस्थामें विद्यमान ही पुंस्त्व आदि यौवनमें विकसित होता है, वैसे (सतः) सुषुप्ति अवस्थामें सूक्ष्मरूपसे विद्यमान (अस्य) बुद्धि संयोग जाग्रत् आदि अवस्थामें (अभिव्यक्तियोगात्) अभिव्यक्त होता है। इसलिए बुद्धि सम्बन्ध यावदात्मभावी है।

* यथा लोके पुंस्त्वादीनि बीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमानान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वाविर्भवन्ति, नाविद्यमानान्युत्पद्यन्ते, पण्ढादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्—एवमयमपि बुद्धिसंबन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोधप्रसवयोराविर्भवति। एवं ह्येतद्युज्यते। न ह्याकस्मिकी कस्यचिदुत्पत्तिः संभवति, अतिप्रसङ्गात्। दर्शयति च सुषुप्तादुत्थानमविद्यात्मकबीजसद्भावकारितम्—'सति संपद्य विदुः सति संपद्यामह इति', 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६।९।२) इत्यादिना। तस्मात्सिद्धमेतद्यावदात्मभावी बुद्ध्याद्युपाधिसंबन्ध इति ॥३१॥

ब्रह्मात्माका अज्ञान है तबतक यह बुद्धिरूप उपाधिका सम्बन्ध निवृत्त नहीं होता। ऐसा 'वेदाहमेतं०' (मैं इस अज्ञानातीत प्रकाशस्वरूप महान् पुरुषको जानता हूँ। उसे ही जानकर मृत्युको पार करता है, इसके सिवा परमपद प्राप्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है) यह श्रुति भी दिखलाती है ॥३०॥

सुषुप्ति और प्रलयमें आत्माका बुद्धिके साथ सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'सता सोम्य०' (हे सोम्य ! सुषुप्तिमें यह सत् (परब्रह्म) के साथ सम्पन्न हो जाता है यह आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है) ऐसा श्रुति वचन है। और सम्पूर्ण विकारका प्रलय स्वीकार किया जाता है, तो बुद्धि सम्बन्ध यावदात्मभावी कैसे है—इसपर कहते हैं—

जैसे लोकमें पुंस्त्व आदि बीजरूपसे विद्यमान ही बाल्य आदिमें अनुपलब्ध एवं अविद्यमानके समान अभिप्रेत होनेपर भी यौवन आदिमें आविर्भूत होते हैं, अविद्यमान उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि षण्ड (नपुंसक) आदिमें भी उनकी उत्पत्तिका प्रसंग हो जायगा, वैसे यह बुद्धि सम्बन्ध भी सुषुप्ति और प्रलयमें शक्तिरूपसे विद्यमान ही पुनः प्रबोध (जाग्रत्) और प्रसव (सृष्टिकाल) में आविर्भूत होता है, क्योंकि यह ऐसा ही युक्ति संगत है। किसीकी आकस्मिक (विना कारण) उत्पत्ति नहीं हो सकती, कारण कि अतिप्रसंग हो जायगा। और 'सति संपद्य०' (सुषुप्तिमें यह सम्पूर्ण प्रजा सत्को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत् (ब्रह्म) को प्राप्त हो गए) इससे 'त इह०' (वे इस लोकमें बाघ या सिंह जो सुषुप्तिके पूर्व होते हैं, वे ही पुनः होते हैं) इत्यादिसे श्रुति अविद्यात्मक बीजके सद्भावसे किया हुआ सुषुप्तिसे उत्थान दिखलाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि बुद्धिरूप उपाधिका सम्बन्ध यावदात्मभावी है ॥३१॥

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि बुद्धिका सम्बन्ध यावदात्मभावी मानें तो सुषुप्तिमें सम्बन्धके होनेपर ब्रह्मसंपत्ति नहीं होगी और प्रलयमें होनेपर प्रलय न होगा। परन्तु स्थूल और सूक्ष्मरूपसे सम्बन्ध विद्यमान है ॥३१॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

पदच्छेद—नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः, अन्यतरनियमः, वा, अन्यथा ।

सूत्रार्थ—अन्तःकरणका अस्तित्व अवश्य मानना चाहिए। (अन्यथा) यदि उसे न मानें (नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः) आत्मा, इन्द्रिय आदि साधन विद्यमान होनेसे नित्योपलब्धिका प्रसंग होगा। यदि साधन होते हुए भी अनुपलब्धि मानें तो नित्यानुपलब्धिका प्रसंग आ जायगा। (वा) अथवा (अन्यतरनियमः) आत्मा या इन्द्रियका प्रतिबन्ध मानना होगा, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा अविक्रिय है और इन्द्रियोंकी भी अकस्मात् शक्तिका प्रतिबन्ध नहीं हो सकता इसलिए उपलब्धिके सामान्य कारण अन्तःकरणको अवश्य मानना चाहिए।

* तत्रात्मन उपाधिभूतमन्तःकरणं मनोबुद्धिर्विज्ञानं चित्तमिति चानेकधा तत्र तत्राभिलप्यते। क्वचिच्च वृत्तिविभागेन संशयादिवृत्तिकं मन इत्युच्यते, निश्चयादिवृत्तिकं बुद्धिः। तच्चैवंभूतमन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ह्यनभ्युपगम्यमाने नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्। आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धिसाधनानां संनिधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत। अथ सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवानुपलब्धिः प्रसज्येत। न चैवं दृश्यते। अथवाऽन्यतरस्यात्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः। न चात्मनः शक्तिप्रतिबन्धः संभवति, अविक्रियत्वात्। नापीन्द्रियस्य। न हि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोरप्रतिबद्धशक्तिकस्य सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिबध्येत। तस्माद्यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः। तथा च श्रुति—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (बृ० १।५।३) इति, 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृ० १।५।३) इति। कामादयश्चास्य वृत्तय इति दर्शयति 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा-

---

आत्माका उपाधिभूत वह अन्तःकरण भिन्न भिन्न स्थलों पर मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त इस तरह अनेक प्रकारसे कहा जाता है। कहीं वृत्तिविभागसे संशय आदि वृत्ति वालेको मन कहते हैं, और निश्चय आदि वृत्तिवालेको बुद्धि कहते हैं। इसप्रकारका वह अन्तःकरण अवश्य है, यह स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा—उसके स्वीकार न किए जानेपर नित्योपलब्धि अथवा नित्य अनुपलब्धिका प्रसंग होगा। उपलब्धिके साधन भूत आत्मा इन्द्रिय और विषयके सन्निधान होनेपर नित्य ही उपलब्धि प्रसक्त होगी। यदि हेतुके संनिधान होनेपर भी फलका अभाव है, तो नित्य ही अनुपलब्धि प्रसक्त होगी। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। अथवा आत्मा वा इन्द्रिय दोनोंमें से एककी शक्तिका प्रतिबन्ध स्वीकार करना चाहिए। आत्माकी शक्तिका प्रतिबन्ध तो संभव नहीं है, क्योंकि वह अविक्रिय है। इन्द्रियका भी शक्ति प्रतिबन्ध संभव नहीं है, क्योंकि पूर्व और उत्तर क्षणमें अप्रतिबद्ध शक्तिवालेकी शक्ति अकस्मात् प्रतिबद्ध नहीं हो सकेगी, इसलिए जिसकी सावधानो और असावधानीसे उपलब्धि और अनुपलब्धि होती हैं वह मन है। तथा 'अन्यत्र मना० (अन्यत्र मन था, अतः मैंने नहीं देखा, अन्यत्र मन था, इससे नहीं सुना, इसप्रकार मनसे ही देखता है, मनसे सुनता है) यह

सत्यानन्दी दीपिका

* आत्माके बुद्धिरूप उपाधिके सद्भावमें अनेक प्रमाण हैं–'चेतसा वेदितव्यः' (शुद्ध चित्तसे जानना चाहिए) 'चित्तं च चेतयितव्यं च' (प्र० ४।८) (चित्त और चित्तका विषय) 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मनसे ही देखना चाहिए) 'यस्तु विज्ञान्वान्भवति' (कठ० १।३।६) (परन्तु जो विज्ञानरूप सारथि युक्त होता है) 'मनसस्तु परा बुद्धिः' (कठ० १।३।१०) (मनसे बुद्धि पर है) इत्यादि श्रुतियोंसे अन्तःकरण चित्त, मन, विज्ञान, बुद्धि अनेक नामोंसे प्रतिपादित है। इन्द्रिय और विषय आदिके होनेपर भी कदाचित् विषयोपलब्धि होती है कदाचित् नहीं होती इसका कारण केवल

ऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। तस्माद्युक्तमेतत् 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः' इति ॥३२॥

(१४ कर्त्रधिकरणम् । सू० ३३-३९)

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥

पदच्छेद—कर्ता, शास्त्रार्थवत्त्वात् ।

सूत्रार्थ—(कर्ता) आत्मा ही कर्ता है बुद्धि नहीं, (शास्त्रार्थवत्त्वात्) क्योंकि ऐसा मानने विधि आदि शास्त्र सार्थक होता है ।

* तद्गुणसारत्वाधिकारेणैवापरोऽपि जीवधर्मः प्रपञ्च्यते। कर्ता चायं जीव स्यात्। कस्मात् ? शास्त्रार्थवत्त्वात्। एवं च 'यजेत', 'जुहुयात्', 'दद्यात्' इत्येवंविधं विधि शास्त्रमर्थवद्भवति। अन्यथा तदनर्थकं स्यात्। तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषमुपदिशति। न चाऽसति कर्तृत्वे तदुपपद्येत। तथेदमपि शास्त्रमर्थवद्भवति 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र० ५।९) इति ॥३३॥

विहारोपदेशात् ॥३४॥

सूत्रार्थ—जीवकर्ता है, क्योंकि उसके विषयमें विहारका उपदेश है ।

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायां संध्ये स्थाने विहारमुपदिशति–'स ईयतेऽमृ यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २।१।१८) इति च ॥३

श्रुति है। 'कामः संकल्पः० (काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, प्रज्ञा, भ यह सब मन ही है) यह श्रुति कामादि मनकी वृत्तियाँ हैं, ऐसा दिखलाती है। इससे 'तद्गुणसा त्वात्तद्व्यपदेशः' यह युक्त है ॥ ३२ ॥

तद्गुणसारत्वके प्रकरणसे ही जीवके अन्य धर्मका भी विस्तारसे विचार किया जाता है यह जीव कर्ता होना चाहिए, क्योंकि इससे शास्त्र अर्थवान् (सार्थक) होता है। इसप्रकार 'यजे (याग करे) 'जुहुयात्' (होम करे) 'दद्यात्' (दान करे) इसप्रकारका विधि शास्त्र प्रयोजन वा होता है, अन्यथा वह निरर्थक होगा, क्योंकि वह शास्त्र कर्ताके होनेपर कर्तव्य विशेषका उपदे करता है। कर्ताके न होनेपर वह उपपन्न नहीं होगा। इसप्रकार 'एष हि द्रष्टा० (यही आत्मा द्र श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता और विज्ञानरूप है) यह शास्त्र भी सार्थक होता है ॥ ३३ ॥

इससे भी जीव कर्ता है, क्योंकि (वह अकेला विचरनेवाला अमृत जीव जहाँ इच्छा होती है वहाँ चला जाता है) और 'स्वे शरीरे० (उसी प्रकार प्राणोंका ग्रहण कर वह अपने शरीरमें य विचरता है) इस तरह श्रुति जीवकी प्रक्रियामें स्वप्नावस्थामें विहारका उपदेश करती है ॥ ३४ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

मन ही है, अतएव यह कथन युक्त ही है कि बुद्धिके गुणोंकी प्रधानतासे आत्मामें अणुत्व, संसारित आदि व्यवहार होते हैं स्वतः नहीं ॥ ३२ ॥

* गत अधिकरणमें आत्मामें अणुत्वको अध्यस्त कहकर वास्तविक महत्त्वकी स्थापनाकी गई है। अब इस प्रसंगमें आत्माके कर्तृत्व धर्मका विचार किया जाता है कि यह नित्य चिद्रूप महान् आत्मा कर्ता है कि नहीं ? 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस असङ्गत्व प्रतिपादक श्रुति और 'यजेत' इस विधि श्रुति परस्पर विरोध होनेसे संशय होता है, परंतु सिद्धान्तमें 'तद्गुणसारत्वसे' आत्मामें कर्तृत्व औपाधिक है। उससे विधि-निषेध शास्त्र, बन्ध-मोक्ष शास्त्र सार्थक होता है। और 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' (विधि

उपादानात् ॥३५॥

सूत्रार्थ—जीव कर्ता है, क्योंकि श्रुतिमें इसके द्वारा इन्द्रियोंका ग्रहण कहा गया है।

इतश्चास्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायामेव करणानामुपादानं संकीर्तयति—'तदेषां प्राणानां नं विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति, 'प्राणान्गृहीत्वा' (बृ० २।१।१८) इति च ॥३५॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥३६॥

पदच्छेद—व्यपदेशात्, च, क्रियायाम्, न, चेत्, निर्देशविपर्ययः।

सूत्रार्थ—(च) और (व्यपदेशात्) 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' यहाँ विज्ञान शब्द वाच्य जीव याम्) लौकिक आदि क्रियाका कर्ता कहा गया है, (न चेत्) यदि विज्ञान शब्द जीव परक कर बुद्धि परक मानें तो (निर्देशविपर्ययः) निर्देश विपर्यय होगा अर्थात् बुद्धिके करण होनेसे क विज्ञान पदमें प्रथमापेक्षा 'विज्ञानेन' इस प्रकार तृतीया होगी।

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २।५।१) इति। ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ गतः। कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यत इति? नेत्युच्यते। जीवस्यैवैष निर्देशो न । न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देशविपर्ययः स्यात्। विज्ञानेनेत्येवं निरदेक्ष्यत्। तथा ह्यन्यत्र विवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान- य' (बृ० २।१।१७) इति। इह तु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५।१) इति कर्तृसामाना- करण्यनिर्देशाद्बुद्धिव्यतिरिक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं सूच्यत इत्यदोषः ॥३६॥

अत्राह—यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता स्यात्स स्वतन्त्रः सन्प्रियं हितं चैवात्मनो मेन संपादयेन्न विपरीतम्। विपरीतमपि तु संपादयन्नुपलभ्यते। न च स्वतन्त्रस्यात्मन शी प्रवृत्तिरनियमेनोपपद्यत इति, अत उत्तरं पठति—

इससे भी जीव कर्ता है, क्योंकि 'तदेषां० (वह बुद्धि द्वारा इन वाग् आदि इन्द्रियोंकी शक्तिको कर सोता है) और 'प्राणान्गृहीत्वा० (उसी प्रकार यह प्राणोंको ग्रहणकर अपने शरीरमें यथेष्ट ता है) इस प्रकार श्रुति जीवके प्रकरणमें ही इन्द्रियोंका ग्रहण वर्णन करती है ॥ ३५ ॥

और इससे भी जीव कर्ता है, क्योंकि 'विज्ञानं यज्ञं तनुते० (विज्ञान-जीव यज्ञका विस्तार ता है और कर्मोंका भी विस्तार करता है) इस प्रकार यह श्रुति जीवका लौकिक और वैदिक याओंमें कर्तृत्व व्यपदेश करती है। परन्तु विज्ञान शब्द तो बुद्धिमें निश्चित है, तो फिर उससे 'जीव है', यह किस प्रकार सूचित किया जाता है? नहीं, ऐसा कहते हैं—यह जीवका ही निर्देश है का नहीं। यदि यह निर्देश जीवका न हो तो निर्देश विपर्यय होगा 'विज्ञानेन' (विज्ञानसे) ऐसा श होगा। इस प्रकार 'तदेषां० (बुद्धि द्वारा इन्द्रियोंकी शक्तिको ग्रहण कर वह सोता है) इस र अन्य श्रुतिमें विज्ञान शब्दसे बुद्धिकी विवक्षामें विज्ञान शब्दका करण विभक्तिसे निर्देश देखा ता है। किन्तु यहाँ तो 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इस तरह कर्ताके सामानाधिकरण्य निर्देशसे बुद्धिसे रिक्त आत्माका ही कर्तृत्व सूचित होता है, अतः दोष नहीं है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार कहते हैं—यदि बुद्धिसे भिन्न जीव कर्ता हो तो वह स्वतन्त्र होता हुआ अपना प्रिय और हित नियमसे संपादन करेगा विपरीत नहीं, किन्तु विपरीत भी संपादन करता हुआ उपलब्ध होता

सत्यानन्दी दीपिका

से उत्पन्न स्वर्ग आदि फल यजमानको प्राप्त होता है) इस जैमिनि न्यायसे भी भोक्ता आत्मा ही सिद्ध होता है बुद्धि नहीं। पूर्वपक्षमें श्रुतियोंका विरोध है और सिद्धान्तमें उनका अविरोध है ॥३३॥

उपलब्धिवदनियमः ॥३७॥

पदच्छेद—उपलब्धिवत्, अनियमः ।

सूत्रार्थ—(उपलब्धिवत्) जैसे उपलब्धिमें स्वतंत्र होता हुआ भी इष्ट और अनिष्ट उपल करता है, वैसे (अनियमः) इष्ट और अनिष्टका भी अनियमसे संपादन करता है ।

* यथाऽयमात्मोपलब्धिं प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभत एवमनियमे- नैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति । उपलब्धावप्यस्वातन्त्र्यमुपलब्धिहेतूपादानोपलम्भादिति चेत्—न, विषयप्रकल्पनामात्रप्रयोजनत्वादुपलब्धिहेतूनाम्, उपलब्धौ त्वनन्यापेक्षत्वमात्मन- श्चैतन्ययोगात् । अपि चार्थक्रियायामपि नात्यन्तमात्मनः स्वातन्त्र्यमस्ति, देशकालनिमित्त- विशेषापेक्षत्वात् । न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते । भवति ह्येधोदकाद्यपेक्षस्यापि पक्तुः पक्तृत्वम् । सहकारिवैचित्र्याच्चेष्टानिष्टार्थक्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते ॥३७॥

शक्तिविपर्ययात् ॥३८॥

सूत्रार्थ—बुद्धिको कर्त्री मानें तो करण शक्तिका विपर्यय होगा ।

इतश्च विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति । यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात्ततः शक्तिविपर्ययः स्यात् । करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चापद्येत ।

है । स्वतन्त्र आत्माकी अनियमसे ऐसी प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती, अतः उत्तर कहते हैं—

जैसे यह आत्मा उपलब्धिके प्रति स्वतन्त्र होता हुआ भी अनियमसे इष्ट और अनिष्ट उपल करता है, वैसे अनियमसे ही इष्ट और अनिष्टका संपादन करेगा । यदि कहो कि उपलब्धिमें भी आत्म स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि उपलब्धिके हेतुका उपादान (ग्रहण) उपलब्ध है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि उपलब्धिके हेतुओंका प्रयोजन केवल विषयकी कल्पना मात्र है । उपलब्धिमें तो आत्मा अन्यकी अपेक्षा नहीं है, कारण कि चैतन्यका योग है । और अर्थ-क्रियामें भी आत्माको अत्य स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि देश-काल और निमित्त विशेषकी अपेक्षा है । सहकारीकी अपेक्षा करनेवा कर्ताका कर्तृत्व निवृत्त नहीं होता, क्योंकि काष्ठ, जल आदिकी अपेक्षा करनेवाले पाचकमें भी पाककर्तृ व्यवहार होता है । सहकारीके वैचित्र्यसे ही इष्ट और अनिष्ट अर्थ-क्रियामें नियमके विना आत्मा प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं है ॥ ३७ ॥

इससे भी विज्ञानसे भिन्न जीव कर्ता हो सकता है । पुनः यदि विज्ञान शब्द वाच्य बुद्धि कर्त्री होगी तो उससे शक्तिका विपर्यय होगा—बुद्धिकी करण शक्तिका नाश होगा और उसको कर्तृश प्रसक्त होगी । और बुद्धिमें कर्तृशक्तिके होनेपर उसमें ही अहंप्रत्यय विषयता स्वीकार करनी पड़े

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि जीव स्वतन्त्र है तो सर्वदा इष्टका संपादन करेगा, अन्यथा वह कर्ता ही नहीं हो क्योंकि 'स्वतन्त्रः कर्ता' (पा० सू० १।४।५४) कर्ता स्वतन्त्र होता है ? परन्तु जीवके स्वतन्त्र होने भी कारककी विचित्रतासे उसकी प्रवृत्ति अनियमित है । यदि आत्मा विषय सम्बन्धके लिए करणों अपेक्षा करता है तो वह स्वतन्त्र कैसे है ? केवल स्वभिन्नकी अपेक्षा न करनेका नाम स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि ऐसे तो सृष्टि आदिमें प्राणियोंके कर्मोंकी अपेक्षा करनेसे ईश्वरमें भी अस्वतन्त्रता प्रस होगी, इससे स्वभिन्न कारकोंका प्रयोजक होकर जो स्वयं कारकोंसे प्रेरित न हो वह स्वतन्त्र है । इस प्रकार स्वतन्त्र होता हुआ भी जीव इष्ट साधनताकी भ्रान्तिसे अनिष्ट साधनका भी अनुष्ठान करता है अतः अनियमित प्रवृत्ति और स्वतन्त्रता दोनों जीवमें अविरुद्ध हैं ॥ ३७ ॥

यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्ययविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम्, अहंकारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात्। अहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहं भुञ्जेऽहं पिबामीति च। तस्याश्च कर्तृशक्तियुक्तायाः सर्वार्थकारि करणमन्यत्कल्पयितव्यम्। शक्तोऽपि हि सन्कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्तमानो दृश्यत इति। ततश्च संज्ञामात्रे विवादः स्यात्, न वस्तुभेदः कश्चित्, करणव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥३८।

समाध्यभावाच्च ॥३९॥

पदच्छेद—समाध्यभावात्, च।

सूत्रार्थ—और आत्माके कर्ता न होनेपर वेदान्तमें प्रतिपादित ब्रह्मके साक्षात्कारका साधन-समाधिका अभाव हो जायगा, अतः आत्मा कर्ता है।

योऽप्ययमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (बृ० २।४।५), 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्ड० २।२।६) इत्येवंलक्षणः, सोऽप्यसत्यात्मनः कर्तृत्वे नोपपद्येत। तस्मादप्यस्य कर्तृत्वसिद्धिः ॥३९॥

(१५ तक्षाधिकरणम्। सू० ४०)

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

पदच्छेद—यथा, च, तक्षः, उभयथा।

सूत्रार्थ—(च) परन्तु (यथा) जैसे लोकमें (तक्षः) बढ़ई (उभयथा) वसुला आदि करणोंकी अपेक्षा कर्ता होकर दुःखी होता है और उनकी अपेक्षा न कर स्वरूपसे अकर्ता एवं सुखी होता है, वैसे आत्मा भी बुद्धि आदि करणोंकी अपेक्षा कर्ता, संसारी है, उनकी अपेक्षा न कर स्वरूपसे अकर्ता एवं परमानन्दघन ही है।

एवं तावच्छास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः कर्तृत्वं शारीरस्य प्रदर्शितं, तत्पुनः स्वाभाविकं स्यादुपाधिनिमित्तं वेति चिन्त्यते। तत्रैतैरेव शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकं कर्तृत्वम्, अपवादहेत्वभावादिति। एवं प्राप्ते ब्रूम—न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः संभवति, अग्नेरिवौष्ण्यात्।

'मैं जाता हूँ' 'मैं आता हूँ' 'मैं खाता हूँ' 'मैं पान करता हूँ' इस प्रकार अहंकार पूर्वक ही सर्वत्र प्रवृत्ति देखनेमें आती है। कर्तृशक्ति युक्त उसको सर्वार्थकारी अन्यकरणकी कल्पना करनी चाहिए। कर्ता स्वयं होता हुआ भी करणका ग्रहणकर क्रियाओंमें प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है। उससे केवल संज्ञामें विवाद है वस्तुमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि करणसे व्यतिरिक्त कर्ता स्वीकार किया गया है ॥३८॥

'आत्मा वा अरे० (हे मैत्रेयी! आत्मा दर्शन करनेके योग्य है, अतः उसका श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए, निदिध्यासन करना चाहिए, अन्वेषण करना चाहिए, उसकी विशेष-रूपसे जिज्ञासा करनी चाहिए) और 'ओमित्येवं० (ओम्, इस प्रकार उस आत्माका ध्यान करो) इस प्रकारकी जो यह औपनिषद् आत्मप्रतिपत्तिरूप प्रयोजनवाली समाधि-निदिध्यासन वेदान्त-वाक्योंमें उपदिष्ट है वह भी आत्माके कर्ता न होनेपर उपपन्न नहीं होगी। इससे भी आत्मा कर्ता सिद्ध होता है ॥३९॥

इसप्रकार शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे जीवात्माका कर्तृत्व दिखलाया जा चुका है। किन्तु वह स्वाभाविक है अथवा उपाधि निमित्तक है, इसपर विचार किया जाता है। उस विचारमें इन शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे स्वाभाविक कर्तृत्व है, क्योंकि उसका अपवादक कोई हेतु नहीं है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आत्मामें स्वाभाविक कर्तृत्व संभव नहीं है, क्योंकि

नच कर्तृत्वादनिर्मुक्तस्यास्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात्। ननु स्थितायामपि कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्यपरिहारात्पुरुषार्थः सेत्स्यति, तत्परिहारश्च निमित्तपरिहारात्। यथाऽग्नेदहनशक्तियुक्तस्यापि काष्ठवियोगाद्दहनकार्याभावस्तद्वत्। न, निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन संबद्धानामत्यन्तपरिहारासंभवात्। ननु मोक्षसाधनविधानान्मोक्षः सेत्स्यति न, साधनायत्तस्यानित्यत्वात्। अपि च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मप्रतिपादनान्मोक्षसिद्धिरभिमता। तादृगात्मप्रतिपादन च न स्वाभाविके कर्तृत्वेऽवकल्पेत। तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं, न स्वाभाविकम्। तथा च श्रुति--'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इति। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ० ३।४) इति चोपाधिसंपृक्तस्यैवात्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति। ❀ नहि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिश्रवणात्। पर एव तर्हि संसारी कर्ता भोक्ता च प्रसज्येत, परस्मादन्यश्चेच्चितिमाञ्जीवः कर्ता बुद्ध्यादिसंघातव्यतिरिक्तो न स्यात्। न, अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः। तथा च शास्त्रम्—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४) इत्यविद्यावस्थायां कर्तृत्वभोक्तृत्वे दर्शयित्वा विद्यावस्थायां ते एव कर्तृत्वभोक्तृत्वे निवारयति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इति। तथा स्वप्नजागरितयोरात्मन उपाधिसंपर्ककृतं श्रमं श्येनस्येवाकाशे विपरिपततः श्रावयित्वा तदभावं सुषुप्तौ प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तस्य श्रावयति—'तद्वा अस्यैतदा

ऐसा मानने पर आत्माका मोक्षाभाव प्रसंग होगा। आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक होनेपर जैसे अग्नि औष्ण्यसे मोक्ष नहीं होता, वैसे ही आत्माका कर्तृत्वसे मोक्ष नहीं हो सकता। कर्तृत्वसे मुक्त न हुए पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि कर्तृत्व दुःखरूप है। परन्तु कर्तृत्व शक्तिकी स्थिति होनेपर कर्तृत्व कार्यके परिहारसे पुरुषार्थ सिद्ध हो जायगा और उसका परिहार कारणके परिहारसे हो जायगा। जैसे दाहशक्ति युक्त अग्निमें काष्ठ वियोगसे दहन कार्यका अभाव है? वैसे यहां भी समझना चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि शक्तिरूप सम्बन्धसे सम्बद्ध निमित्तोंका अत्यन्त परिहार नहीं सकता। परन्तु मोक्ष साधनके विधानसे मोक्ष सिद्ध हो जायगा? नहीं, क्योंकि जो साधनके अधीन वह अनित्य है। और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्माके प्रतिपादनसे मोक्ष सिद्धि अभिमत है, उसप्रका का आत्मप्रतिपादन स्वाभाविक कर्तृत्वमें नहीं हो सकता, इसलिए उपाधि धर्मके अध्याससे आत्मामें कर्तृत्व है स्वाभाविक नहीं है। जैसे कि 'ध्यायतीव० (मानो ध्यान करता है, मानो च है) यह श्रुति है। और 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं० (शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्तको विवेकी भोक्ता-संसारी कहते हैं) इसप्रकार श्रुति उपाधि सम्बद्ध आत्मामें ही भोक्तृत्व आदि विशेष दिखलाती है। क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (उससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतिसे वि कियोंकी दृष्टिमें परब्रह्मसे अन्य कर्ता भोक्ता नामका जीव नहीं है। तो इससे परमात्मा हो संसा कर्ता भोक्ता है ऐसा प्रसक्त होगा। चेतन युक्त कर्ता जीव यदि परमात्मासे अन्य हो तो बुद्धि संघातसे व्यतिरिक्त न होगा, ऐसा नहीं, क्योंकि कर्तृत्व, भोक्तृत्व अविद्यासे प्रत्युपस्थापित है, 'यत्र हि द्वैतमिव० (जिस अवस्थामें द्वैत-सा होता है वहीं अन्य अन्यको देखता है) इसप्र अविद्या अवस्थामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व दिखलाकर 'यत्र त्वस्य० (किन्तु जहां इसके लिए सब आत्मा हो गया है वहां किसके द्वारा किसे देखे) इसप्रकार विद्या अवस्थामें कर्तृत्व, भोक्तृत्वका श्रुति निवारण करती है। उसी प्रकार स्वप्न और जागरित अवस्थामें आकाशमें उड़नेवाले श्येनके श्रमके आत्माका उपाधिके सम्पर्कसे उत्पन्न हुए श्रमका श्रवण कराकर श्रुति सुषुप्तिमें प्राज्ञ आत्माके सम्यक् ऐक्य प्राप्त हुएका श्रमाभाव श्रवण कराती है—'तद्वा० (इस ज्योतिः स्वरूप आत्माका

त्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इत्यारभ्य 'एषास्य परमा गतिरेषास्य संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ० ४।३।३२) इत्युपसंहारात्। तदेत- चार्य—यथा च तक्षोभयथा इति। त्वर्थे चायं चः पठितः। नैवं मन्तव्यं स्वाभाविक- त्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यमिति। यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः कर्ता दुःखी वति, स एव स्वगृहं प्राप्तो विमुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवत्ये- विद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसंपृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति, स श्रमापनुत्तये स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसंघातोऽकर्ता सुखी भवति सादावस्थायाम्। तथा मुक्त्यवस्थायामप्यविद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयात्मैव केवलो र्वृतः सुखी भवति। तक्षदृष्टान्तश्चैतावतांऽशेन द्रष्टव्यः। तक्षा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्या- रेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति। स्वशरीरेण त्वकर्तैव। मयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मन आदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तै- व। न त्वात्मनस्तक्ष्ण इवावयवाः सन्ति यैर्हस्तादिभिरिव वास्यादीनि तक्षा मन आदीनि करणान्यात्मोपाददीत न्यस्येद्वा। * यत्तूक्तं शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वमिति, तन्न, विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति, न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। नच स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति, ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्य- वोचाम तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते। कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष

न, आत्मकाम, अकाम और शोक शून्य स्वरूप है) ऐसा आरम्भकर 'एषास्य० (यह इस पुरुषकी गति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परम लोक है, यह इसका परम आनन्द है) ऐसा उपसंहार है। इससे आचार्यने 'यथा च तक्षोभयथा' यह कहा है। सूत्रस्थ यह 'च' शब्द 'तु' अर्थमें पठित है। और ऐसा नहीं मानना चाहिए कि अग्निकी उष्णताके समान आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक है। परन्तु जैसे लोकमें बसुला आदि करण युक्त हाथ वाला तक्ष (बढई) कर्ता होकर दुःखी होता है, वही अपने घर जाकर बसुला आदि करणोंसे विमुक्त हुआ स्वस्थ, शान्त, व्यापार शून्य और सुखी होता है, वैसे ही अविद्यासे प्रत्युपस्थापित द्वैतसे सम्बद्ध आत्मा स्वप्न और जागरित अवस्थामें कर्ता होकर दुःखी होता है, वह आत्मा उस श्रमको निवृत्त करनेके लिए स्वस्वरूप परब्रह्ममें प्रवेशकर कार्य-करण संघातसे मुक्त होता हुआ सुषुप्ति अवस्थामें अकर्ता होकर सुखो होता है। उसी प्रकार मुक्ति अवस्थामें भी अविद्या अन्धकारको विद्या प्रदीपसे निवृत्तकर आत्मा ही केवल शान्त और सुखी होता है। तक्ष दृष्टान्त इतने अंशमें समझना चाहिए। तक्ष ही तक्षण (छीलना) आदि विशिष्ट व्यापारोंमें प्रतिनियत वसुला आदि करणोंकी अपेक्षासे ही कर्ता होता है, अपने शरीरसे तो अकर्ता ही है, वैसे यह आत्मा समस्त व्यापारोंमें मन आदि करणोंकी अपेक्षासे ही कर्ता होता है। अपने स्वरूपसे तो अकर्ता ही है। तक्षके समान आत्माके अवयव नहीं हैं जिससे कि जैसे तक्ष हस्त आदि से वसुला आदिका ग्रहण और त्याग करता है, वैसे आत्मा भी मन आदि करणोंका ग्रहण करे अथवा त्याग करे। जो यह कहा गया है कि शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओंसे आत्माका स्वाभाविक कर्तृत्व है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि विधि शास्त्र तो यथाप्राप्त [लोक प्रसिद्ध] कर्तृत्वको लेकर कर्तव्य विशेषका उपदेश करता है, आत्मामें कर्तृत्वका प्रतिपादन नहीं करता। आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि उसमें ब्रह्मात्मत्वका उपदेश है, ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए अविद्या-

सत्यानन्दी दीपिका

* 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधि शास्त्र कर्ताके विना अनुपपन्न होता हुआ अपनी सार्थकता के लिए आत्मामें स्वाभाविक कर्तृत्व सिद्ध करता है। इसका समाधान 'तत्र' आदिसे कहते हैं।

इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद्यथाप्राप्तमेवाविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति। एतेन विहारोपादाने परिहृते, तयोरप्यनुवादरूपत्वात्। ननु संध्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत इति विहार उपदिश्यमानः केवलस्यात्मनः कर्तृत्वमावहति। तथोपादानेऽपि 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति करणेषु कर्मकरणविभक्ती श्रूयमाणे केवलस्यात्मनः कर्तृत्वं गमयत इति। अत्रोच्यते—न तावत्संध्ये स्थानेऽत्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति, 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृ० ४।३।७) इति तत्रापि धीसंबन्धश्रवणात्। तथा च स्मरन्ति—'इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि। सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्नदर्शनम्' इति। 'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' इति श्रुतिः। ताश्च स्वप्ने दृश्यन्ते। तस्मात्समाना एव स्वप्ने विहरति। ❀ विहारोऽपि च तत्रत्यो वासनामय एव नतु पारमार्थिकोऽस्ति। तथा च श्रुतिरिवाकारानुबद्धमेव स्वप्नव्यापारं वर्णयति—'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्' (बृ० ४।३।१३) इति। लौकिका अपि तथैव स्वप्नं कथयन्ति—आरूढमिव गिरिशृङ्गम्, अद्राक्षमिव वनराजिमिति। तथोपादानेऽपि यद्यपि करणेषु कर्मकरणविभक्तिनिर्देशः, तथापि तत्संपृक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं द्रष्टव्यम्, केवले कर्तृत्वासंभवस्य

कृत कर्तृत्वको लेकर विधि शास्त्र प्रवृत्त होगा। 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इसप्रकारका शास्त्र भी अनुवादरूप होनेसे यथाप्राप्त अविद्याकृत कर्तृत्वका ही अनुवाद करेगा। इससे विहार और उपादानका परिहार हुआ, क्योंकि वे भी अनुवादरूप हैं। परन्तु स्वप्नावस्थामें करणोंके प्रसुप्त होने अपने शरीरमें यथेष्ट परिवर्तन करता है, इसप्रकार उपदेश किया हुआ विहार केवल आत्मामें कर्तृत्व को सिद्ध करता है एवं उपादानमें भी 'तदेषां प्राणानां० (वह बुद्धिसे इन इन्द्रियोंकी शक्ति ग्रहण कर सोता है) इसतरह करणोंमें श्रूयमाण कर्म और करण विभक्ति केवल आत्माका कर्तृ ज्ञात कराती है। इसपर कहते हैं—स्वप्नावस्थामें आत्माका करणोंसे अत्यन्त विराम नहीं है, क्योंकि 'सधीः स्वप्नो०. (बुद्धि सहित स्वप्न होकर इस लोकका अतिक्रमण करता है) इसप्रकार स्वप्नमें बुद्धिके साथ सम्बन्धका श्रवण है। जैसे कि 'इन्द्रियाणामुपरमे० (इन्द्रियोंके उपरत होनेपर यदि उपरत न होकर विषयोंका सेवन करता है तो उसको स्वप्नदर्शन समझना चाहिए) ऐसी स्मृति हैं 'कामादयश्च मनसो वृत्तयः' (काम आदि मनकी वृत्तियाँ हैं) ऐसी श्रुति है। वे वृत्तियाँ स्वप्नमें देखी ज़ाती हैं, इसलिए आत्मा स्वप्नमें मन सहित ही विहार करता है। और स्वप्नावस्थाका विहार भी वासनामय ही है पारमार्थिक नहीं है। इसप्रकार 'उतेव स्त्रीभिः० (स्त्रियोंके साथ आनन्द मान हुआ, मित्रोंके साथ हँसता हुआ तथा व्याघ्र आदिसे भय देखता हुआ रहता है) यह श्रुति 'इव' अनुबद्ध ही स्वप्न व्यापारका वर्णन करती है। लोग भी उसी प्रकार स्वप्नका वर्णन करते हैं—मानो मैं गिरिके शिखरपर चढा, मानों मैंने बनपंक्ति देखी'। वैसे ही उपादानमें भी यद्यपि करणोंमें क

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे 'योधा युध्यन्ते योधै राजा युध्यते' यहाँ पहले योधाओंमें कर्तृत्वकी विवक्षासे प्रथमा विभक्ति है, पुनः उनमें करणत्वकी विवक्षासे 'योधैः' तृतीया विभक्ति है। वैसे ही 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' यहाँ कर्तृत्व विवक्षामें 'विज्ञान' पदमें प्रथमा है और 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' करणत्वकी विवक्षासे विज्ञानपदसे तृतीया विभक्ति है। पूर्वमें विज्ञान जीव है, ऐसा अङ्गीकार 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' यह श्रुति कही गई है। अब उस श्रुतिसे उपाधि रहित आत्मामें कर्तृत्व प्राप्त होने पर यहां विज्ञान शब्द बुद्धि वाचक है, अतः उसमें कर्तृत्व है। आत्मामें तो बुद्धि उपाधिसे कर्तृत्व है स्वतः नहीं। 'स एष वाचः० (चित्तसे देवताका ध्यान कर वाणी द्वारा मन्त्र आदि उच्चारण किये जाते हैं और मन्त्रोंसे यज्ञ सम्पन्न होता है, इसप्रकार चित्त और वाणीका पूर्वोत्तरभाव ही यज्ञ है)

त्वात्। भवति च लोकेऽनेकप्रकारा विवक्षा—योधा युध्यन्ते योधै राजा युध्यत इति। वास्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते, न स्वातन्त्र्यं, कस्यचिदबुद्धिपूर्वक- स्वापे करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वात्। यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शित—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति, विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात्, मनोनन्तरं पाठाच्च। श्रद्धैव शिरः' (तै० २।४) इति च विज्ञानमयस्यात्मनः श्रद्धाद्यवयवत्वसंकीर्तनात्, नां च बुद्धिधर्मत्वप्रसिद्धेः, 'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' (तै० २।५।१) इति शेषात्, ज्येष्ठत्वस्य च प्रथमजत्वस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वात्। 'स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तर- ' इति च श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिसाध्यत्वावधारणात्। ❀ नच बुद्धेः शक्ति- करणानां कर्तृत्वाभ्युपगमे भवति, सर्वकारकाणामेव स्वस्वव्यापारेषु कर्तृत्वस्या- र्यत्वात्। उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वं, सा चात्मनः। नच तस्यामप्यस्य भवति, नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्। अहंकारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति, स्याप्युपलभ्यमानत्वात्। न चैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः, बुद्धेः करणत्वाभ्यु- त्। समाध्यभावस्तु शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतः, यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वमुपादाय समाधि- नात्। तस्मात्कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम ॥४०॥

और करण विभक्तिका निर्देश है, तो भी उनसे सम्बन्धित आत्माका ही कर्तृत्व समझना क्योंकि केवल आत्मामें कर्तृत्वका असंभव दिखलाया गया है। 'योधा युद्ध करते हैं योधाओं जा युद्ध करता है' इसतरह लोकमें अनेक प्रकारकी विवक्षा होती है और इस उपादानमें करण रका विराममात्र विवक्षित है, किसीका स्वातन्त्र्य विवक्षित नहीं है, क्योंकि स्वप्नसे अबुद्धि- करणका व्यापार उपरम देखा जाता है। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (विज्ञान यज्ञका विस्तार) यह जो व्यपदेश दिखलाया गया है, वह बुद्धिमें कर्तृत्व प्राप्त करता है, क्योंकि विज्ञानशब्द सिद्ध है और मनके अनन्तर उसका पाठ है। 'तस्य श्रद्धैव शिरः' (उसका श्रद्धा ही शिर है) आत्माके श्रद्धा आदि अवयव कहे गये हैं और श्रद्धा आदि बुद्धिके धर्मरूपसे प्रसिद्ध हैं। ज्ञानं देवाः० (सब देव विज्ञानको ब्रह्मरूपसे, ज्येष्ठरूपसे उपासना करते हैं) ऐसा वाक्यशेष है। और प्रथजत्व बुद्धिमें प्रसिद्ध हैं, क्योंकि 'स वा एष० (जो वाणी और चित्तका उत्तरोत्तर वही यह यज्ञ है) इसप्रकार अन्य श्रुतिमें यज्ञ वाणी और बुद्धिसे साध्य अवधारित होता है। कर्तृत्व स्वीकार करनेपर बुद्धिकी शक्तिका विपर्यय नहीं होता, क्योंकि सब कारकोंका अपने व्यापारमें कर्तृत्व अवश्यंभावी है। परन्तु उन करणोंमें करणत्व उपलब्धिकी अपेक्षासे है और लब्धि आत्माकी है। उसमें इसका कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि वह नित्य उपलब्धि स्वरूप है। र पूर्वक कर्तृत्व भी उपलब्धाका नहीं हो सकता, क्योंकि अहंकार भी उपलभ्यमान है। ऐसा अन्यकरणकी कल्पनाका प्रसङ्ग भी नहीं है, क्योंकि बुद्धिको करणरूपसें स्वीकृत किया गया है। के अभावका तो शास्त्रार्थवत्त्वसे ही परिहार किया जा चुका है, क्योंकि यथा-प्राप्त कर्तृत्वको समाधि (निदिध्यासितव्यः) का विधान है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मामें कर्तृत्व भी निमित्तक ही है ॥ ४० ॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ अखण्ड साक्षी चैतन्य बुद्धि वृत्तियोंसे भिन्न होता हुआ विषयावच्छिन्नरूपसे उत्पन्न होता है, च्छिन्न चैतन्यकी उपलब्धिमें बुद्धि आदि करण हैं, इसलिए बुद्धि उपहित आत्मामें कर्तृत्व है, आत्मामें नहीं। इस प्रकार बुद्धि विशिष्ट आत्मामें कर्तृत्व माननेसे विशेषणीभूत जड़ बुद्धिमें

(१६ परायत्ताधिकरणम् । सू० ४१-४२)

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

पदच्छेद—परात्, तु, तच्छ्रुतेः ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द शङ्काकी निवृत्तिके लिए है, जीवका कर्तृत्व आदि स्वभावतः नहीं (परात्) परमात्मासे प्राप्त होता है, (तच्छ्रुतेः) क्योंकि 'एष ह्येव' इत्यादि श्रुतिमें ऐसा प्रतिपादित है

यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याभिहितं, तत्किमनपेक्ष्य भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा । तत्र प्राप्तं तावत् नेश्वरमपेक्षते जीवः कर्तृ इति । कस्मात् ? अपेक्षाप्रयोजनाभावात् । अयं हि जीवः स्वयमेव रागद्वेषादिदोषप्रयु कारकान्तरसामग्रीसंपन्नः कर्तृत्वमनुभवितुं शक्नोति । तस्य किमीश्वरः करिष्यति ? नच लो प्रसिद्धिरस्ति कृष्यादिकासु क्रियास्वनडुदादिवदीश्वरोऽपरोऽपेक्षितव्य इति । क्लेशात्मकेन कर्तृत्वेन जन्तून्संसृजत ईश्वरस्य नैर्घृण्यं प्रसज्येत, विषमफलं चैषां कर्तृत्वं विदधतो वैषम्य ननु 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (ब्र० २।१।३४) इत्युक्तम् । सत्यमुक्तम्, सति त्वीश्व सापेक्षत्वसंभवे । सापेक्षत्वं चेश्वरस्य संभवति सतोर्जन्तूनां धर्माधर्मयोः, तयोश्च सद्भा सति जीवस्य कर्तृत्वे । तदेव चेत्कर्तृत्वमीश्वरापेक्षं स्यात्किंविषयमीश्वरस्य सापेक्षत्वमुच्ये अकृताभ्यागमश्चैवं जीवस्य प्रसज्येत । तस्मात्स्वत एवास्य कर्तृत्वमिति । ❀ एतां प्राप्ति

अविद्या अवस्थामें जो यह उपाधि निमित्तक जीवमें कर्तृत्व कहा गया है, क्या वह ई अपेक्षाके विना होता है अथवा ईश्वरकी अपेक्षासे होता है । इस प्रकार विचार होता है । इसमें पू प्राप्त होता है कि जीव अपने कर्तृत्वमें ईश्वरकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि अपेक्षाका प्रयोजन है । यह जीव स्वयं ही राग, द्वेष आदि दोषोंसे प्रयुक्त होता हुआ कारक सामग्रीसे सम्पन्न होकर अनुभव करनेमें समर्थ होता है । उसका ईश्वर क्या करेगा ? लोकमें ऐसी प्रसिद्धि नहीं है कि आदि विक्रयाओंमें अनडुह (बैल) आदिके समान ईश्वर अपेक्षितव्य है । क्लेशात्मक कर्तृत्वसे जन्तु उत्पन्न करनेवाले ईश्वरमें नैर्घृण्य प्रसक्त होगा और इन प्राणियोंके विषम फलवाले कर्तृत्वको करनेवाले ईश्वरमें वैषम्य प्रसक्त होगा । परन्तु यह कहा जा चुका है कि 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापे (प्राणियोंके कर्मकी अपेक्षासे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य नहीं है) ठीक, ऐसा कहा जा चुका है। ईश्वरमें सापेक्षत्व होनेपर ही यह उपपन्न होगा । प्राणियोंके धर्माधर्म होनेपर ईश्वरमें सापेक्षत्व सं जीवके कर्तृत्व होनेपर उनका (धर्म और अधर्मका) सद्भाव है । यदि वही कर्तृत्व ईश्वरको अ हो तो ईश्वरका सापेक्षत्व किस विषयका कहा जायगा । ऐसा होनेपर जीवको अकृताभ्यागम

सत्यानन्दी दीपिका

करणत्वकी उपपत्ति हो सकती है, अतः अन्य करणकी कल्पना युक्त नहीं है । हाँ, जो केवल कर्त्ता मानते हैं, उनको तो अन्य करणकी कल्पना दुर्वार है । अतः आत्मामें औपाधिक लेकर विधि आदि शास्त्र प्रवृत्त होते हैं । इसलिए 'असङ्गत्व' प्रतिपादक श्रुतियोंके साथ कर्तृत्व प्रतिपादक श्रुतियोंका कोई विरोध नहीं है । पूर्वपक्षमें आत्माका स्वाभाविक कर्तृत्व है, औपाधिक कर्तृत्व है ॥ ४० ॥

* जैसे चन्दन आदि सामग्रीके होनेपर धर्मके अभावमें सुखके अभावका यद्यपि होता, तो भी 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' (बृह० ३।२।१३) (यह पुरुष पुण्य कर्मसे पु होता है) इत्यादि शास्त्र प्रमाणसे सुखके प्रतिधर्ममें हेतुता सिद्ध होती है, वैसे शास्त्रबलसे कारयिता सिद्ध होता है ॥ ४१ ॥

व्यावर्त्य प्रतिजानीते—'परात्' इति । अविद्यावस्थायां कार्यकरणसंघाताविवेकदर्शिनो विद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात्सर्वभूताधिवासात्साक्षिणश्चेत-श्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञा-मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । यद्यपि दोषप्रयुक्तः सामग्रीसंपन्नश्च जीवः, पि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धं, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो र्तेति श्रुतेरवसीयते । तथा हि श्रुतिर्भवति—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य नीषते । एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौषी० ३।८) इति । 'य आत्मनि आत्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयका ॥४१॥

नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे सति वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामकृताभ्यागमश्च जीवस्येति, उच्यते—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

पदच्छेद—कृतप्रयत्नापेक्षः, तु, विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है, (विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः) वेदमें त और प्रतिषिद्ध कर्म व्यर्थ आदि न हों, इसलिए ईश्वर अपने कारयितृत्वमें (कृतप्रयत्नापेक्षः) कृत प्रयत्नकी अपेक्षा करता है ।

तुशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः । कृतो यः प्रयत्नो जीवस्य धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्ष नमीश्वरः कारयति । ततश्चैते चोदिता दोषा न प्रसज्यन्ते । जीवकृतधर्माधर्मवैषम्यापेक्ष तत्तत्फलानि विषमं विभजेत्पर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण । यथा लोके नानाविधानां गुल्मादीनां व्रीहियवादीनां चासाधारणेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो जायमानानां साधारणं मित्तं भवति पर्जन्यः । न ह्यसति पर्जन्ये रसपुष्पपलाशादिवैषम्यं तेषां जायते, नाप्यसत्सु

, इसस जीवका स्वतः ही कर्तृत्व है । इस पूर्वपक्षकी प्राप्तिको तु शब्दसे निराकरण कर सूत्रकार ज्ञा करते हैं–'परात्' इत्यादि । अविद्यावस्थामें कार्य-करण संघातके साथ अभेददर्शी और अविद्यारूप कारसे अन्ध होते हुए जीवके कर्तृत्व, भोक्तृत्वरूप संसारकी सिद्धि कर्मोंके अध्यक्ष, सम्पूर्ण भूतोंके ष्ठान साक्षी, चेतयिता परमात्मा ईश्वरसे उसकी अनुज्ञा द्वारा है, उसके अनुग्रह हेतुक विज्ञानसे सिद्धि हो सकती है, क्योंकि उसकी श्रुति है । यद्यपि राग आदि दोषसे प्रयुक्त एवं सामग्री सम्पन्न है । यद्यपि लोकमें कृषि आदि कर्मोंमें ईश्वर कारणरूपसे प्रसिद्ध नहीं है, तो भी सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंमें र हेतु कर्ता (प्रयोजककर्ता) है, ऐसा श्रुतिसे निश्चित होता है । जैसे कि 'एष ह्येव० (यही जिसको र ले जाना चाहता है उससे साधु कर्म कराता है और जिसको नीचे ले जाना चाहता है उससे अशुभ कर्म कराता है) और 'य आत्मनि० (जो आत्मामें रहकर आत्माका नियमन करता है) प्रकारकी श्रुतियाँ हैं ॥ ४१ ॥

परन्तु इस प्रकार ईश्वरको कारयितृत्व होनेपर वैषम्य और नैर्घृण्य प्रसक्त होंगे और जीवको भ्यागम प्रसक्त होगा । नहीं, ऐसा कहते हैं—

'तु' शब्द शंकित दोषोंकी व्यावृत्तिके लिए है । जीवसे किया गया जो धर्माधर्म रूप प्रयत्न है की अपेक्षा करनेवाला ईश्वर उसको कराता है, उससे वे शङ्कित दोष प्रसक्त नहीं होते जीवकृत धर्मके वैषम्यकी अपेक्षा करनेवाला ही ईश्वर मेघके समान केवल निमित्तरूपसे तत्, तत् फलोंको मरूपसे विभक्त करता है । जैसे लोकमें अपने-अपने असाधारण बीजोंसे जायमान अनेक प्रकारके , गुल्म (छोटी लताएँ) व्रीहि, यव आदिके प्रति साधारण कारण पर्जन्य होता है । पर्जन्यके न नेपर उनमें रस, पुष्प, फल, पत्र आदिका वैषम्य उत्पन्न नहीं होता है और अपने-अपने बीजोंके न

स्वस्वबीजेषु, एवं जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्तेषां शुभाशुभं विदध्यादिति श्लिष्यते। न
कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे नोपपद्यते, नैष दोषः। परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे
करोत्येव जीवः। कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपि च पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति,
पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात्संसारस्येत्यनवद्यम्। ❀ कथं पुनरवगम्य
कृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वर इति? विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इत्याह। एवं हि 'स्वर्गकामो यजे
'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येवंजातीयकस्य विहितस्य प्रतिषिद्धस्य चावैयर्थ्यं भवति। अन्यथा
तदनर्थकं स्यात्। ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोर्नियुज्येत। अत्यन्तपरतन्त्रत्वाज्जीवस्य। तथ
विहितकारिणमप्यनर्थेन संसृजेत्प्रतिषिद्धकारिणमप्यर्थेन। ततश्च प्रामाण्यं वेदस्यास्तमियात्।
ईश्वरस्य चात्यन्तानपेक्षत्वे लौकिकस्यापि पुरुषकारस्य वैयर्थ्यम, तथा देशकालनिमित्तानाम्
पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गश्चेत्येवंजातीयकं दोषजातमादिग्रहणेन दर्शयति ॥४२॥

(१७ अंशाधिकरणम् । सू० ४३-५३)

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥४३॥

पदच्छेद—अंशः, नानाव्यपदेशात्, अन्यथा, च, अपि, दाशकितवादित्वम्, अधीयते, ए

सूत्रार्थ—(अंशः) जीव ईश्वरका कल्पित अंश है, (नानाव्यपदेशात्) क्योंकि 'य आत्म
तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतिमें दोनोंका भेद व्यपदेश है, (अन्यथाचापि) और उसी प्रकार अन्यथा-अभेदका
व्यपदेश है, कारण कि (एके) एक शाखावाले (दाशकितवादित्वम्) 'ब्रह्म दाशा' इसप्रकार ब्र
दाशकितवत्व आदिका (अधीयते) पाठ करते हैं।

❀ जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः। स च संबद्धयोरेव लोके दृष्टो य

होनेपर भी वैषम्य उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही जीव कृत प्रयत्नकी अपेक्षा करनेवाला ईश्वर उनका शु
और अशुभका विधान करे, यह युक्त है। परन्तु जीवका परमेश्वर अधीन कर्तृत्व होनेपर ईश्वरमें जी
कृत प्रयत्नकी अपेक्षा उपपन्न नहीं होती। यह दोष नहीं है, क्योंकि ईश्वरसे प्राप्त कर्तृत्व होनेपर
जीव करता ही है। करते हुए उसको ईश्वर कराता है। और पूर्व प्रयत्नकी अपेक्षाकर इस समय
कराता है, और पूर्वतर प्रयत्नकी अपेक्षाकर पूर्वमें कराया, इस प्रकार संसारके अनादि होनेसे दोष
है। परन्तु यह कैसे अवगत हो कि ईश्वर जीव कृत प्रयत्नकी अपेक्षा करनेवाला है? 'विहितप्रतिषि
वैयर्थ्यादिभ्यः' ऐसा कहा है। ऐसा होनेपर 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी कामना करने
याग करे) 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' (ब्राह्मणका हनन नहीं करना चाहिए) इसप्रकारके विहित औ
प्रतिषिद्ध व्यर्थ नहीं होते, अन्यथा वे निरर्थक हो जायँगे। ईश्वर ही विधि और प्रतिषेधमें नि
करे, क्योंकि जीव अत्यन्त परतन्त्र है। वैसे (वेद) विहित कर्म करनेवालेका अनर्थके साथ औ
प्रतिषिद्ध करनेवालेका अर्थके साथ सम्बन्ध होने लग जायगा तो उससे वेदका प्रामाण्य अस्त
जायगा। ईश्वरकी अत्यन्त अनपेक्षा होनेपर लौकिक पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जायगा, वैसे ही देश,
और निमित्तोंके पूर्वोक्त दोष प्रसङ्ग इसप्रकारके दोष समुदाय आदिके ग्रहणसे दिखलाते हैं ॥ ४२ ॥

जीव और ईश्वरका उपकार्य-उपकारक भाव कहा गया और लोकमें वह सम्बद्धोंका ही दे

सत्यानन्दी दीपिका

* जीवोंको न किये कर्मोंका फल भी भोगना पड़ेगा। ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष प्र
होगा, इसलिए जीवकृत शुभाशुभ कर्मोंकी अपेक्षा करनेवाले ईश्वर में कारयित्व होनेसे 'एष
साधुकर्म कारयति' इत्यादि श्रुतिका 'स्वर्गकामो यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि विधि-प्रति
श्रुतियोंके साथ कोई विरोध नहीं है ॥ ४२ ॥

मिभृत्ययोर्यथा वाग्निविस्फुलिङ्गयोः। ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकारकभावाभ्युपग- के स्वामिभृत्यवत्संबन्ध आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा ोति। अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेष्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव संबन्ध प्राप्नोति। अतो ब्रवीति अंश इति। जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गः। ा इवांशः, न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति। कस्मात्पुनर्निरवयवत्वात्स एव न ति? नानाव्यपदेशात्। 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) 'एतमेव विदित्वा र्भवति', 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयको भेदनिर्देशो नासति दे युज्यते। ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये युज्यत आह—अन्यथा ीति। नच नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः। किं तर्हि? अन्यथा चापि व्यपशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादकः। तथा हि—एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण मनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना। दाशा एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः, ये चामी दासाः स्वामिष्वात्मानमुपक्षपयन्ति, ये चान्ये कितवा कृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसंघातप्रविष्टानां वानां ब्रह्मत्वमाह। तथान्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामेवायमर्थः प्रपञ्च्यते—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (श्वे० ४।३)

ा है, जैसे स्वामी और सेवकका अथवा जैसे अग्नि और विस्फुलिंगका। उससे जीव और ईश्वरका उपकार्योपकारकभाव स्वीकार होनेसे क्या वह स्वामी और सेवकके समान है अथवा अग्नि और स्फुलिङ्गके समान है? इसप्रकार संशय होनेपर अनियम प्राप्त होता है। अथवा स्वामी और कके प्रकारोंमें जिस प्रकारका ईशितृ और ईशितव्यभाव प्रसिद्ध है उसी प्रकारका ही सम्बन्ध प्राप्त ता है। इससे कहते हैं—'अंश' इत्यादि। जीव ईश्वरका अंश हो सकता है, जैसे अग्निका विस्फुलिङ्ग। के समान अंश है, कारण कि निरवयवका मुख्य अंश संभव नहीं है। परन्तु निरवयव होनेसे आत्मा ही जीव क्यों नहीं होता है? 'नानाव्यपदेशात्' (भेदका व्यपदेश है) 'सोऽन्वेष्टव्यः० उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसकी विशेष जिज्ञासा करनी चाहिए) 'एतमेव० (उसीको कर मुनि होता है) 'य आत्मनि० (जो आत्माके अन्तर रहकर आत्माका नियमन करता है) प्रकारका भेद निर्देश भेद न होनेपर नहीं घटता। परन्तु यह भेदव्यपदेश स्वामी और सेवकके रूपसे सुतरां घट सकता है। इसपर कहते हैं - 'अन्यथा चापि' अन्य प्रकारसे भी। केवल भेददेशसे ही अंशत्व ज्ञान नहीं होता किन्तु अन्य प्रकारसे भी अभेद प्रतिपादक व्यपदेश है। जैसे आथर्वण शाखावाले 'ब्रह्मदाशा० (ब्रह्म ही दाश-धीवर हैं, ब्रह्म ही दास हैं ब्रह्म ही ये कितवरी हैं) इत्यादिसे ब्रह्मसूक्तमें ब्रह्मके दाश और कितव आदि भावका कथन करते हैं। दाशा-जो ये रूपसे प्रसिद्ध हैं। और ये जो दास हैं——स्वामीके लिए अपनेको उपक्षय करते हैं, और जो अन्य द्यूत करनेवाले हैं, वे सब ब्रह्म ही हैं। इसप्रकार हीन जन्तुओंके उदाहरणसे नाम-रूपकृत कार्यकरण संघातमें प्रविष्ट सभी जीवोंको ब्रह्म कहा है। इसी प्रकार अन्यत्र ब्रह्म प्रकरणमें भी यही अर्थ किया जाता है—'त्वं स्त्री० (तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है अथवा कुमारी है और

सत्यानन्दी दीपिका

* आत्मामें नित्यत्व, अकर्तृत्व आदि कहकर अब उसका ब्रह्मके साथ अभेद सिद्ध करते हैं, प्रकार हेतुहेतुमद्भाव संगतिसे इस अधिकरणका आरम्भ है। पूर्वपक्षमें प्रत्यक्से अभिन्न ब्रह्म असिद्ध है और सिद्धान्तमें सिद्ध है, इसप्रकार दोनोंमें भेद है ॥४३॥

इति । 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' इति च । 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चास्यार्थस्य सिद्धिः । चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम् । अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः ॥४३॥

कुतश्चांशत्वावगमः ?—

मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

पदच्छेद—मन्त्रवर्णात्, च ।

सूत्रार्थ—और 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि०' इस मन्त्रसे जीवमें अंशत्व अवगम होता है।

❀ मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इति । अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि निर्दिशति, 'अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति प्रयोगात् । अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम् । तस्मादप्यंशत्वावगमः ॥४४॥

कुतश्चांशत्वावगमः ?—

अपि च स्मर्यते ॥४५॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते ।

सूत्रार्थ—(अपिच) और (स्मर्यते) 'ममैवांशो०' इस स्मृतिमें भी जीव ईश्वरका अंश कहा गया है।

❀ ईश्वरगीतास्वपि चेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गी० १५।७) इति । तस्मादप्यंशत्वावगमः । यत्तूक्तं—स्वामिभृत्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो

तू ही वृद्ध होकर दण्डके सहारे चलता है, तू ही [प्रपञ्चरूपसे] उत्पन्न होकर अनेकरूप हो जाता है और 'सर्वाणि रूपाणि० (सब रूपोंका निर्माणकर नाम रखकर शब्द व्यवहार करता हुआ रहता है) 'नान्यो० (उससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंसे उसी अर्थकी सिद्धि होती है। जैसे अ और विस्फुलिङ्गोंका औष्ण्य समान है, वैसे जीव और ईश्वरका चैतन्य समान है । अतः भेद और अभेदके अवगमसे अंशत्वका अवगम होता है ॥ ४३ ॥

जीवमें अंशत्वका अवगम किससे होता है ?

'तावानस्य० (उतनी ही इस (गायत्र्याख्य ब्रह्म) की महिमा है, तथा इससे भी निर्वि पुरुष उत्कृष्ट है। सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद हैं और इसका त्रिपाद अमृत, प्रकाशमय स्वात्म स्थित है) यह मन्त्रवर्ण उसी अर्थका अवगम कराता है । यहां श्रुति भूत शब्दसे जीव-प्रधान-स्था और जङ्गमोंका निर्देश करती है, क्योंकि 'अहिंसन्० (तीर्थों-शास्त्रोक्त कर्मोंसे अन्यत्र सब भूतों अहिंसा करता हुआ) ऐसा प्रयोग है । अंश, पाद, भाग इनका अन्य अर्थ नहीं हैं अर्थात् एक वाची शब्द हैं । इससे भी जीवके अंशत्वका अवगम होता है ॥ ४४ ॥

और जीवमें अंशत्वका अवगम किससे होता है ?

'ममैवांशो० (इस जीव लोक (देह) में यह सनातन जीवात्मा मेरा अंश है) इसप्रकार भगव

सत्यानन्दी दीपिका

'तावानस्य० इस मन्त्रमें भूत शब्दसे 'भवन्तीति भूतानि' इस व्युत्पत्तिसे कार्य मात्रका ग्रह है, क्योंकि 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र' इस मन्त्रमें भूतशब्द प्राणी मात्रका वाचक है। यद 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इस मन्त्रमें भूतोंको पादसे निर्देश किया गया है, तो भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि अंश, पाद, भाग एकार्थवाची शब्द हैं, इसलिए जीव ईश्वरका अंश है ॥ ४४ ॥

* अविद्यासे कल्पित भेदको लेकर जीव और ईश्वरका अंशांशिभाव है । इसप्रकार शा

के प्रसिद्ध इति, यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात्त्वत्रांशांशित्वमीशित्रीशितव्यभावश्च श्चीयते। निरतिशयोपाधिसंपन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसंपन्नाञ्जीवान्प्रशास्तीति न किंचिद्वि-प्रतिषिध्यते ॥४५॥

अत्राह—ननु जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांशिन ईश्वर-स्यापि दुःखित्वं स्यात्। यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं, तद्वत्। ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्। अतो वरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्विति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति, अत्रोच्यते—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

पदच्छेद—प्रकाशादिवत्, न, एवम्, परः।

सूत्रार्थ—जैसे जीवात्मा दुःखी होता है, (एवम्) वैसे (परः) परमात्मा (प्रकाशादिवत्) प्रकाश आदि समान (न) दुःखी नहीं होता।

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति, नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वाऽस्ति। जीवस्याप्यविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो नतु पारमार्थिकोऽस्ति। यथा च स्वदेहगतदाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं तदभिमानभ्रान्त्याऽनुभवति, तथा

गीतामें भी जीवको ईश्वरका अंश स्मरण किया जाता है। इससे भी अंशत्वका अवगम (ज्ञान) होता है। जो यह कहा गया है कि स्वामी और सेवकमें ईशितृ और ईशितव्यभाव लोकमें प्रसिद्ध है। यद्यपि लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है, तथापि यहां शास्त्रसे अंशांशित्व, ईशितृ और ईशितव्यभाव निश्चय किया जाता है। निरतिशय उपाधि सम्पन्न ईश्वर हीन उपाधि सम्पन्न जीवोंपर शासन करता है, इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है ॥ ४५ ॥

यहां कहते हैं—जैसे लोकमें हाथ, पैर आदिमें से किसी एक अङ्गगत दुःखसे अङ्गी देवदत्तको दुःख होता है, वैसे जीवको ईश्वरका अंश स्वीकार करनेपर उसके संसार दुःखके उपभोगसे अंशी ईश्वरको भी दुःख होगा। उससे उसे (ब्रह्मको) प्राप्त हुए जनोंको महान् दुःख (समष्टि दुःख) प्राप्त होगा। इसलिए पूर्वावस्था वाला संसार ही तो श्रेष्ठ है, इससे सम्यग्ज्ञानको निरर्थक प्रसङ्ग होगा। इसपर कहते हैं—

जैसे जीव संसारदुःखका अनुभव करता है, वैसे परमेश्वर अनुभव नहीं करता, ऐसी हम प्रतिज्ञा करते हैं। जीव अविद्याके आवेशके बलसे देह आदिमें आत्मभाव-सा प्राप्त कर तत्कृत दुःखसे 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकर अविद्याकृत दुःखके उपभोगका अभिमान करता है, वैसे परमात्माको देह आदिमें आत्मभाव अथवा दुःखाभिमान नहीं है। जीवका भी अविद्याकृत नाम रूपसे निर्वृत्त-संपादित देह, इन्द्रिय आदि उपाधिके अविवेक-भ्रमनिमित्तक ही दुःखाभिमान है पारमार्थिक नहीं है। जैसे अपने देहगत दाह छेदन आदि निमित्तक दुःखका उस देहके आत्माभिमानकी भ्रान्तिसे अनुभव करता

सत्यानन्दी दीपिका

और शासक भाव भी औपाधिक ही है। इस विषयमें सुरेश्वराचार्यने भी कहा है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः। सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः ॥

(ईश और ईशितव्यका सम्बन्ध प्रत्यगात्माके अज्ञान हेतुसे उत्पन्न होता है। सम्यग्ज्ञान होनेपर अज्ञान-तमके ध्वस्त होनेसे वह ईश्वरोंका भी ईश्वर है) ॥ ४५ ॥

पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः। ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते—मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति। व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते। तथा हि—पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्संबन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते, नाभिमानहीनानां परिव्राजकादीनाम्। अतश्च लौकिकस्यापि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टं, किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति। तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यास—यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते। यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते। जीवस्यापि दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम्। तथा चाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः- –'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः, तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥४६॥

स्मरन्ति च ॥४७॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च।

सूत्रार्थ—और जीव दुःखसे परमेश्वर दुःखी नहीं होता, इस विषयमें 'तत्र यः परमात्मा०' यह स्मृति भी है।

है, वैसे 'मैं ही पुत्र हूँ' 'मैं ही मित्र हूँ' इस प्रकार स्नेहवश पुत्र, मित्र आदिमें अभिनिवेश करता हुआ पुत्र, मित्र आदि विषयक दुःखका भी उनके अभिमान भ्रान्तिसे अनुभव करता है। उससे यह निश्चित अवगत होता कि मिथ्याभिमान भ्रम निमित्तक ही दुःखका अनुभव है और व्यतिरेक दर्शनसे भी ऐसा अवगत होता है। जैसे कि पुत्र, मित्र आदि परिवारवाले उनमें सम्बन्धके अभिमानी और उस सम्बन्ध अभिमान रहित बहुतोंके बैठे रहनेपर वहाँ 'पुत्र मरा, मित्र मरा' इत्यादि उद्घोषित होनेपर उन्हें ही तन्निमित्तक दुःख उत्पन्न होता है जिन्हें पुत्र, मित्र आदिमत्त्वका अभिमान है, उनके अभिमान रहित संन्यासी आदिको नहीं होता। इससे लौकिक पुरुषका भी सम्यग्दर्शन सार्थक देखा जाता है, तो विषय शून्य आत्मासे भिन्न वस्तुको न देखनेवाले, नित्य चैतन्यमात्र स्वरूपमें स्थित पुरुषके विषयमें कहना ही क्या है, इसलिए सम्यग्दर्शनका अनर्थक प्रसङ्ग नहीं है। 'प्रकाश आदिके समान' यह दृष्टान्तका उपन्यास है—जैसे सूर्य अथवा चन्द्रमाका प्रकाश आकाशको व्याप्तकर अवस्थित होता हुआ अङ्गुली आदि उपाधिके सम्बन्धसे उनमें ऋजु, वक्रभाव प्राप्त होनेपर तत् तत् भाव-सा प्राप्त होता हुआ भी परमार्थसे तद्भावको प्राप्त नहीं होता, अथवा जैसे घट आदिके चलते होनेपर चलता हुआ-सा प्रतीयमान भी आकाश परमार्थसे नहीं चलता, अथवा जैसे जलपात्र आदिके कम्पनसे तद्गत सूर्य प्रतिबिम्बके काँपने पर भी उस प्रतिबिम्ब वाला सूर्य नहीं काँपता है, वैसे अविद्यासे प्रत्युपस्थापित बुद्धि आदिसे उपहित जीव नामक अंशके दुःखित-सा होनेपर भी उस अंशवाला ईश्वर दुःखी नहीं होता। जीवकी दुःखप्राप्ति भी अविद्या निमित्तक ही है, ऐसा कहा जा चुका है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्त अविद्यानिमित्तक जीवभावका निरसन द्वारा जीवके ब्रह्मभावका ही प्रतिपादन करते हैं। इसलिए जीव सम्बन्धी दुःखसे परमात्मामें दुःखित्व प्रसङ्ग नहीं है ॥ ४६ ॥

* स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति । 'तत्र यः त्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा । कर्मात्मा त्वपरो ौ मोक्षबन्धैः स युज्यते । स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः' इति । चशब्दात्समामनन्ति वाक्यशेषः । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (श्वे० ४।६) इति । तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (कठ० ५।११) इति च ॥४७॥

अत्राह यदि तर्ह्येक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात्कथमनुज्ञापरिहारौ स्यातां कौ वैदिकौ चेति ? ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तम् । तद्भेदाच्चानुज्ञापरिहारौ तदाश्रया- कीर्णावुपपद्येते, किमत्र चोद्यत इति ? उच्यते—नैतदेवम् , अनंशत्वमपि हि जीवस्या- दिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति —'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'नान्योऽतोऽस्ति (बृ० ३।७।२३), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९), 'तत्त्वमसि' ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) इत्येवंजातीयकाः । ननु भेदाभेदावगमाभ्यामं- सिद्ध्यतीत्युक्तम । स्यादेतदेवम्—यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम् , द एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितः, ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ पुरुषार्थसिद्धेः । स्वभावप्राप्तस्तु भेदो- ते । नच निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योंऽशो जीवः संभवतीत्युक्तम् । तस्मात्पर एवैकः सर्वेषां नामन्तरात्मा जीवभावेनावस्थित इत्यतो वक्तव्याऽनुज्ञापरिहारोपपत्तिः तां ब्रूमः--

'तत्र यः परमात्मा० (उन दोनोंमें जो परमात्मा है वह नित्य निर्गुण कहा गया है, जैसे त्र जलसे लिप्त नहीं होता, वैसे वह कर्म फलोंसे लिप्त नहीं होता है । और जो अन्य कर्मात्मा त्मा) है वह बन्ध और मोक्षसे युक्त होता है, वह इस सतरह राशिसे पुनः युक्त होता है) इस व्यास आदि कहते हैं कि जीव सम्बन्धी दुःखसे परमात्मा दुःखी नहीं होता है । 'च' शब्दसे मनन्ति' (और श्रुतियाँ कहती हैं) ऐसा वाक्यशेष है । 'तयोरन्यः' (उनमें एक उसके स्वादिष्ट ो भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है) 'एकस्तथा० (उसीप्रकार भूतोंका एक ही अन्तरात्मा संसारके दुःखसे लिप्त नहीं होता, किन्तु उससे बाहर रहता है) श्रुतियाँ हैं ॥ ४७ ॥

इसपर हम कहते हैं—यदि एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा हो तो लौकिक और वैदिक विधि निषेध कैसे होंगे ? परन्तु ऐसा कहा जा चुका है कि जीव ईश्वरका अंश है । जीव और ईश्वरमें होनेसे तदाश्रय अनुज्ञा (विधि) और परिहार (प्रतिषेध) असंकर होकर उपपन्न होंगे, तो शंका किस प्रकार करते हो ? कहते हैं—यह ऐसा नहीं है, क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा० (उसे उत्पन्न कर ही अनुप्रवेश किया) 'नान्यो० (उससे अन्य द्रष्टा नहीं है) 'मृत्योः स० (जो इसमें नाना-सा है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है) 'तत्त्वमसि' 'अहंब्रह्मास्मि' इसप्रकारकी अभेद प्रतिपादक जीवको अनंश प्रतिपादित करती हैं । परन्तु भेद और अभेदके अवगमसे अंशत्व सिद्ध होता ऐसा कहा गया है । यह ऐसा होता यदि भेद और अभेद दोनोंका प्रतिपादन करना इष्ट होता, अभेद ही यहाँ प्रतिपादित करना अभीष्ट है, क्योंकि ब्रह्मात्मत्व प्रतिपत्ति होनेपर पुरुषार्थकी सिद्धि अविद्याकृत भेदका तो केवल अनुवाद किया जाता है और यह भी कहा जा चुका है कि निरवयव मुख्य अंश जीव नहीं हो सकता । इसलिए एक परमात्मा ही सब भूतोंका अन्तरात्मा जीवरूपसे

सत्यानन्दी दीपिका

* पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि इस सतरह तत्त्वोंके समुदायको करना बन्ध है और ज्ञान द्वारा उनसे मुक्त होना मोक्ष है । यह जीवमें होता है, किन्तु नित्यमुक्त मामें नहीं ॥ ४७ ॥

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

पदच्छेद—अनुज्ञापरिहारौ, देहसम्बन्धात् , ज्योतिरादिवत् ।

सूत्रार्थ - (अनुज्ञापरिहारौ) 'मित्रं सेव्यम्' 'शत्रुः परिहर्तव्यः' इस प्रकार अनुज्ञा और परिहार एक आत्मामें भी (देहसम्बन्धात्) देहके साथ तादात्म्य सम्बन्धसे उपपन्न है, (ज्योतिरादिवत्) जैसे अग्निके एक होनेपर भी श्मशानकी अग्नि परिहरणीय है अन्य नहीं ।

❀ 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इत्यनुज्ञा । 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' इति परिहारः । तथा 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' इत्यनुज्ञा । 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति परिहारः । एवं लोकेऽपि मित्रमुपसेवितव्यमित्यनुज्ञा । शत्रुः परिहर्तव्य इति परिहारः । एवंप्रकारावनुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनो देहसंबन्धात्स्याताम् । देहैः संबन्धो देहसंबन्धः । कः पुनर्देहसंबन्धः ? देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः । दृष्टा च सा सर्वप्राणिनामहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहमन्धोऽहमनन्धोऽहं मूढोऽहममूढ इतीत्येवमात्मिका । न ह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यो वारकमस्ति । प्राक्तु सम्यग्दर्शनात्प्रततैषा भ्रान्तिः सर्वजन्तुषु । तदेवमविद्यानिमित्तदेहा पाधिसंबन्धकृताद्विशेषादैकात्म्याभ्युपगमेऽप्यनुज्ञापरिहाराववकल्प्येते । सम्यग्दर्शिनस्त ज्ञापरिहारानर्थक्यं प्राप्तम् । न, तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्तेः । हेयोपादेययोर्हि नियो ज्यो नियोक्तव्यः स्यात् । आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयमुपादेयं वा वस्त्वपश्यन्कथं नियुज्येत ? चात्मात्मन्येव नियोज्यः स्यात् । शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेत्—

अवस्थित है, इससे अनुज्ञा और परिहारकी उपपत्ति कहना चाहिए ? उसको हम कहते हैं—

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' (मासिक धर्मकी शुद्धिके अनन्तर स्त्रीके साथ गृहस्थ करना चाहिए) विधि है और 'गुर्वङ्गना० (गुरु पत्नीके साथ प्रसङ्ग नहीं करना चाहिए) यह निषेध है । 'अग्नीषोमीं (अग्नीषोमीय पशुका वध करना चाहिए) यह विधि है और 'न हिंस्यात्' (किसी भी प्राणीकी हिं नहीं करनी चाहिए) यह निषेध है । इस प्रकार लोकमें भी 'मित्रमुपसेवितव्यम्' (मित्रका उपसे करना चाहिए) यह विधि है और 'शत्रुःपरिहर्तव्यः' (शत्रुका त्याग करना चाहिए) यह निषेध है इस प्रकारके विधि और प्रतिषेध आत्माके एक होनेपर भी देहके सम्बन्धसे होंगे। देहोंके साथ सम्ब देह सम्बन्ध है । परन्तु देह सम्बन्ध क्या है ? यह देहादि संघात 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मामें विप प्रत्ययकी उत्पत्ति । वह 'मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं अन्ध हूँ, मैं अन्ध नहीं हूँ, मैं मूढ़ हूँ, मैं नहीं हूं' इस रूपसे सब प्राणियोंमें देखी जाती है । इसका सम्यग्दर्शनसे भिन्न निवारक नहीं है। ज्ञानके पूर्व यह भ्रान्ति सब प्राणियोंमें सन्तत (निरन्तर) है । इस कारण अविद्या निमित्त देह उपाधिके सम्बन्धसे किए गए विशेष (भेद) से एकात्मत्व स्वीकार करनेपर भी विधि और प्रति हो सकते हैं । तब सम्यग्दर्शीके विधि और प्रतिषेध व्यर्थ हो जायंगे । नहीं, क्योंकि वह कृतार्थ नियोज्य नहीं हो सकता है, इसलिए हेय और उपादेयमें ही नियोज्य नियुक्त करने योग्य होता है परन्तु आत्मासे भिन्न हेय और उपादेय वस्तुको न देखता हुआ वह कैसे नियुक्त होगा ? और आ अपनेमें ही नियोज्य नहीं होता । यदि कहो कि शरीरसे पृथक् अपनेको जाननेवाला ही नियोज्य है

सत्यानन्दी दीपिका

● यहां 'इदं मया कर्तव्यम्' (यह मुझे करना चाहिए । ऐसी बुद्धि जिसमें हो वह नियो कहा जाता है । भ्रान्तिके अभावकाल (सुषुप्ति) में जब अज्ञानी भी नियोज्य नहीं है, तब आत्मनि विषयमें तो फिर कहना ही क्या है । आत्माभिमान ही तो प्रवर्तक है, वह तत्त्ववित्का आत्मज्ञानसे नि हो जाता है, अतः वह किससे भी प्रवृत्त्य नहीं है । जैसे—'क्रव्यात्-क्रव्यं मांसमत्ति इति क्रव्याद-

त्वाभिमानात्। सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं, तथापि व्योमादिवद्देहाद्यसंहतत्व-
त एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः। नहि देहाद्यसंहतत्वदर्शिनः कस्यचिदपि नियोगो
किमुतैकात्म्यदर्शिनः। नच नियोगाभावात्सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसङ्गः। सर्वत्राभि-
त्वेव प्रवर्तकत्वादभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः। तस्माद्देहसंबन्धादेवानुज्ञापरिहारौ,
रादिवत्। यथा ज्योतिष एकत्वेऽप्यग्निः क्रव्यात्परिह्रियते, नेतरः। यथा च प्रकाश
प्यापि सवितुरमेध्यदेशसंबद्धः परिह्रियते, नेतरः शुचिभूमिष्ठः। तथा भौमाः प्रदेशा वज्र-
दिय उपादीयन्ते, भौमा अपि सन्तो नरकलेवरादयः परिह्रियन्ते। तथा मूत्रपुरीषं गवां
त्रतया परिगृह्यते तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते, तद्वत् ॥४८॥

असंततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

पदच्छेद—असन्ततेः, च, अव्यतिकरः।

सूत्रार्थ—(च) परन्तु (असन्ततेः) जीवात्माका सब शरीरोंके साथ सम्बन्ध न होनेसे
तिकरः) कर्मफलका संकर नहीं होगा।

* स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात्। यस्त्वयं कर्मफल-
न्धः स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्येत स्वाम्येकत्वादिति चेत्—नैतदेवम्, असंततेः।
कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः संततः सर्वैः शरीरैः संबन्धोऽस्ति। उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्।
संतानाच्च नास्ति जीवसंतानः। ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ४९

युक्त नहीं है, क्योंकि देह आदि संघातमें अभिमान वाला है। यद्यपि यह ठीक है कि देह
तसे भिन्न अपनेको जाननेवाला नियोज्य है, तथापि आकाश आदिके समान देह आदिसे
अपनेको न जाननेवालेमें नियोज्यत्व अभिमान है। देह आदिसे असंहतत्व देखनेवाले किसी-
नियोग नहीं देखा गया है, तब आत्मैकत्वदर्शीके विषयमें तो कहना ही क्या है। नियोगके
सम्यग्दर्शीमें यथेष्ट चेष्टाका प्रसङ्ग भी नहीं है, क्योंकि सर्वत्र अभिमान ही प्रवर्तक है सम्य-
अभिमान नहीं है। अतः देहके सम्बन्धसे ही ज्योति आदिके समान विधि और निषेध हैं।
ज्योति एक होनेपर भी क्रव्यात् अग्नि (श्मशानकी अग्नि) का परिहार किया जाता है, अन्यका
। अथवा जैसे एक सूर्यका भी अपवित्र देश सम्बद्ध प्रकाश परिहृत होता है अन्य पवित्र भूमिस्थ
परिहृत नहीं होता। और वज्र, वैडूर्य आदि भूमि प्रदेशोंका उपादान (ग्रहण) होता है, परन्तु
लेवर आदि भौम होते हुए भी परिहृत होते हैं। और जैसे गौका मूत्र और गोबर पवित्र रूपसे
होते हैं, वे ही अन्य जातिके त्याग किए जाते हैं। ऐसा यहां प्रकरणमें भी समझना चाहिए।४८

आत्माके एक होनेपर भी देह विशेष सम्बन्धसे विधि और निषेध होंगे। परन्तु जो यह कर्म-
सम्बन्ध है उसका एक आत्माके स्वीकार करनेमें संकर हो जायगा, क्योंकि स्वामी एक है। ऐसा
कहो तो यह ऐसा नहीं है, क्योंकि असन्तति है। कर्ता भोक्ता आत्माका सब शरीरोंके साथ
सम्बन्ध नहीं है। यह कहा जा चुका है कि जीव उपाधिके अधीन है। उपाधिके सन्तत न

सत्यानन्दी दीपिका

शान अग्निका परिहार किया जाता है अन्यका नहीं, वैसे आत्मा एक होनेपर भी उपाधिके
सम्बन्धसे अनुज्ञा और परिहारके योग्य होता है और उपाधि रहित होनेसे वह अनुज्ञा और परिहारसे
हो जाता है ॥ ४८ ॥

---

* तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २।३।३०) इस सूत्रसे बुद्धि उपहित आत्माको ही कर्ता भोक्ता
त किया गया है। देह भेदसे बुद्धि भेद, बुद्धि भेदसे कर्ता भोक्ताका भी भेद माना गया है।

आभास एव च ॥५०॥

पदच्छेद—आभासः, एव, च ।

सूत्रार्थ—(च) और (आभास एव) जीव परमात्माका अभास ही है, अतः कर्म अथ
कर्मफलका संकर नहीं है ।

* आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः। न स
साक्षात्। नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यका
कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसंबन्धिनि जीवान्तरस्य तत्संबन्धः। एवमप्यव्यतिकर
कर्मफलयोः। आभासस्य चाविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरि
तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः। येषां तु बहव आत्मनस्ते
सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः प्राप्नोति। कथम्? बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमा
स्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च। तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धि
सांख्याः। सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽचेत
आत्मानस्तदुपकरणानि चाणूनि मनांस्यचेतनानि। तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च सं
गान्नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते। ते चाव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवय
स संसारः। तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः। तत्र सांख्या

होनेसे जीव भी सन्तत नहीं है। उससे कर्म संकर अथवा फलसंकर नहीं होगा ॥ ४९ ॥

जल गत सूर्य प्रतिबिम्ब आदिके समान यह जीव परमात्माका आभास-प्रतिबिम्ब ही सम
चाहिए। वह साक्षात् परमात्मा ही नहीं है और अन्य वस्तु भी नहीं है, इससे जैसे एक जल सू
(जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब) के काँपनेपर अन्य जल सूर्यक नहीं काँपता है, वैसे ही एक जीव कर्म
सम्बन्धी होनेपर अन्य जीवका उस (कर्मफल) के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार भी क
और फलका असंकर ही है। और आभास अविद्याकृत होनेसे उसके आश्रित संसारमें भी अविद्याकृ
उपपन्न है। उसके निराकरणसे पारमार्थिक ब्रह्मात्वभावका उपदेश उपपन्न होता है। परन्तु जि
मतमें आत्मा अनेक हैं और वे सब सर्वगत (व्यापक) हैं उनके मतमें ही यह संकर प्राप्त होता
किस प्रकार? आत्मा बहुत, विभु, चैतन्य मात्र स्वरूप, निर्गुण और निरतिशय हैं, उनके लिए प्र
साधारण है, तन्निमित्तक उनका भोग और अपवर्ग सिद्ध होता है, ऐसा सांख्य मानते हैं। अ
अनेक और विभू होनेपर घट, कोठरी आदिके समान द्रव्यमात्र स्वरूप, स्वतः आत्मा अचेतन है
उनके उपकरण मन अणु और अचेतन हैं। उनमें आत्मद्रव्य और मनोद्रव्यके संयोगसे इ
आदि नौ आत्माके विशेष गुण उत्पन्न होते हैं। वे सकरके विना प्रत्येक आत्मामें समवाय सम्ब
रहते हैं वह संसार है, और उन नौ आत्मगुणोंकी अत्यन्त अनुत्पत्ति मोक्ष है, ऐसा काणाद मानते

सत्यानन्दी दीपिका

एक बुद्धिका दूसरे शरीरके साथ सम्बन्ध न होनेसे तदुपहितका भी सम्बन्ध नहीं है, अतः श
भेदसे जीवका भेद होनेपर कर्म अथवा कर्मफलका संकर नहीं होगा ॥ ४९ ॥

* जैसे घटाकाश घट उपाधिसे महाकाशका अंश-सा है, वैसे जीव बुद्धि उपाधिसे परमात्मा
अंश-सा है, यह कहा जा चुका है। परन्तु इस अवच्छेदवादमें अरुचि प्रदर्शित करनेके लिए 'ए
और 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥' (क० २।२।९) इत्यादि श्रुति
प्रतिबिम्बवादको सूचित करनेके लिए भगवान् सूत्रकारने 'आभास एव च' इस सूत्रमें 'आभास'
दिया है। अनुपहित परमात्मा जीव नहीं हो सकता है, क्योंकि उपाधिका अनुभव होता है और

चैतन्यस्वरूपत्वात्सर्वात्मनां संनिधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसंबन्धे सर्वेषां सुखदुःखसंबन्धः प्राप्नोति। स्यादेतत्—प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वाद् व्यवस्था भविष्यति। अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात्। तथा चानिर्मोक्षः प्रसज्येतेति। नैतत्सारम्, नह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्। उपपत्त्या तु कयाचिद्व्यवस्थोच्येत। असत्यां पुनरुपपत्तौ कामं मा भूदभिलषितं पुरुषकैवल्यं, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद्व्यतिकरः। काणादानामपि यदैकेनात्मना मनः संयुज्यते, तदाऽऽत्मान्तरैरपि नान्तरीयकः संयोगः स्यात्संनिधानाद्यविशेषात्। ततश्च हेत्वविशेषात्फलाविशेषे एकस्यात्मनः सुखदुःखयोगे सर्वात्मनामपि समानं सुखदुःखित्वं प्रसज्येत ॥५०॥

स्यादेतत्—अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति। नेत्याह—

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

सूत्रार्थ—अदृष्टके नियम न होनेसे कर्मफलका संकर ही है।

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते। सांख्यानां तावत्तदनात्मसमवायि प्रधानवर्ति प्रधान-

---

सांख्योंके मतमें चैतन्य स्वरूप होनेसे सब आत्माओंके संनिधान आदिके अविशेष होनेके कारण आत्माके सुख दुःखके साथ सम्बन्ध होनेपर सबको सुख दुःखका सम्बन्ध प्राप्त होता है। ऐसा हो, परन्तु प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके कैवल्यके लिए होनेसे [सुख-दुःखकी] व्यवस्था हो जायगी, अन्यथा प्रधानकी प्रवृत्ति अपनी विभूति प्रसिद्धिके लिए होगी, तो इससे मोक्षाभाव प्रसक्त होगा। यह युक्त नहीं है, क्योंकि अभिलषित सिद्धिके अधीन व्यवस्था अवगत नहीं हो सकती, यदि कहो कि किसी उपपत्तिसे व्यवस्था हो जायगी, तो उपपत्तिके न होनेपर यथेष्ट अभिलषित पुरुष कैवल्य नहीं होगा, परन्तु व्यवस्थाका हेतु न होनेसे संकर प्राप्त होता है। कणाद अनुयायियोंके मतमें भी जब एक आत्माके साथ मनका संयोग होता है, तब अन्य आत्माओंके साथ भी अवश्य संयोग होगा, क्योंकि संनिधान आदि समान है। उससे हेतु (मन संयोग) के अविशेष होनेसे फल भी अविशेष (समान) होगा, तो इस प्रकार एक आत्मामें सुख-दुःखका सम्बन्ध होनेपर सब आत्माओंमें भी समान सुख-दुःख प्रसक्त होगा ॥ ५० ॥

यह हो कि अदृष्ट निमित्तक नियम हो जायगा, इसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं—

आकाशके समान सर्वगत प्रत्येक शरीरमें अंतर बाहर समानरूपसे संनिहित अनेक आत्माओंमें मन, वाणी और शरीर द्वारा धर्माधर्मरूप अदृष्ट उपार्जन किया जाता है। सांख्योंके मतमें वह अदृष्ट अनात्मसमवायी प्रधानवर्ती है। प्रधानके साधारण होनेसे प्रत्येक आत्मामें वह सुख दुःखके उपभोगका

सत्यानन्दी दीपिका

परमात्मासे भिन्न भी नहीं है, क्योंकि 'स एष इह प्रविष्टः' (बृह० १।४।७) इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुतियोंसे विरोध होता है, अतः अविद्या, तत्कार्य बुद्धिमें परमात्माका प्रतिबिम्ब ही जीव है। वैशेषिक मतमें आत्मा अनेक जड़ और द्रव्य हैं, और मन जड़ अनेक और द्रव्य हैं। उन दोनोंके संयोगसे आत्मामें बुद्धि (ज्ञान) इच्छा, प्रयत्न सुख, दुःख, द्वेष, धर्म, अधर्म और भावना नामका संस्कार ये नौ विशेष गुण उत्पन्न होते हैं। इनसे आत्माको संसार होता है। जब सब पदार्थोंका तत्त्व ज्ञान होता है तो पुनः ये गुण उत्पन्न नहीं होते यही आत्माका मोक्ष है अर्थात् इनके मतमें छः इन्द्रिय, छः उनके विषय, छः विषयोंके ज्ञान, सुख-दुःख और शरीर, इस प्रकार इक्कीस दुःखोंका ध्वंस रूप मोक्ष है। इनके मतमें भी आत्मा सर्वगत होनेसे कर्मफलका संकर प्राप्त होता है ॥५०॥

साधारण्यान्न प्रत्यात्मं सुखदुःखोपभोगस्य नियामकमुपपद्यते। काणादानामपि पूर्ववत्साधारणेनात्ममनःसंयोगेन निर्वर्तितस्यादृष्टस्याप्यस्यैवात्मन इदमदृष्टमिति नियमे हेत्वभावादेष एव दोषः ॥५१॥

स्यादेतत्—अहमिदं फलं प्राप्नवानीदं परिहराणीत्थं प्रयता इत्थं करवाणीत्येवंविधा अभिसंध्यादयः प्रत्यात्मं प्रवर्तमाना अदृष्टस्यात्मनां च स्वस्वामिभावं नियंस्यन्तीति। नेत्याह—

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२।

पदच्छेद—अभिसन्ध्यादिषु, अपि, च, एवम्।

सूत्रार्थ—(अभिसन्ध्यादिष्वपि) संकल्प आदिमें भी (चैवम्) अदृष्टका नियामकत्व नहीं है, अतः पूर्वोक्त दोष वैसे ही है।

अभिसंध्यादीनामपि साधारणेनैवात्ममनःसंयोगेन सर्वात्मसंनिधौ क्रियमाणानां नियमहेतुत्वानुपपत्तेरुक्तदोषानुषङ्ग एव ॥५२॥

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

पदच्छेद—प्रदेशात्, इति, चेत्, न, अन्तर्भावात्।

सूत्रार्थ—(प्रदेशात्) आत्माओंके विभु होनेपर भी शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेशमें मन संयो हो, उसी आत्मप्रदेशसे संकल्प आदिका नियम होगा, (इति चेन्न) ऐसा नहीं, (अन्तर्भावात्) क्यों सब शरीरोंमें उन आत्माओंका अन्तर्भाव है, अतः उक्त दोष ज्योंका त्यों है।

अथोच्येत—विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसा संयोगः शरीरावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे भविष्यति, अतः प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसंध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःखयोश्च भविष्यतीति। तदपि नोपपद्यते, कस्मात्? अन्तर्भावात्। विभुत्वाविशेषाद्धि सर्व एवात्मानः सर्वशरीरेष्वन्तर्भवन्ति। तत्र न वैशेषिकैः शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः कल्पयितुं शक्यः। कल्प्यमानोऽप्ययं निष्प्रदेशस्यात्मनः प्रदेशः काल्पनिकत्वादेव न पारमार्थिकं कार्यं नियन्तुं शक्नोति। शरीरमपि सर्वात्मसंनिधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति न नियन्तुं शक्यम्।

नियामक उपपन्न नहीं होता। काणादोंके मतमें भी पूर्वके समान साधारण आत्मा और मनके संयोगसे संपादित अदृष्टके 'यह अदृष्ट इसी आत्माका है' इस नियममें हेतुके न होनेसे यही दोष है ॥५१॥

ऐसा हो, परन्तु 'मैं इस फलको प्राप्त करूँ, इसका परिहार करूँ, इसप्रकार प्रयत्नकर ऐसा करूँ' इसप्रकारके संकल्प आदि प्रत्येकमें प्रवर्तमान होते हुए अदृष्ट और आत्माके स्वस्वामिभावका नियमन करेंगे। नहीं, ऐसा कहते हैं—

साधारण आत्ममनःसंयोगसे सम्पूर्ण आत्माओंकी संनिधिमें उत्पन्न किये हुए संकल्प आदिके भी नियमका हेतुत्व नहीं हो सकता, अतः उक्त-अनियम दोष तदवस्थ ही है ॥ ५२ ॥

यदि ऐसा कहा जाय कि आत्माके विभू होनेपर भी शरीरमें स्थित मनके साथ उसका संयोग शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेशमें ही होगा, इससे संकल्प आदिकी, अदृष्टकी, सुख दुःखकी प्रदेशकृत व्यवस्था होगी, वह भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि उनका अन्तर्भाव है। सब आत्माओंका विभुत्व समान होनेसे सब शरीरोंमें अन्तर्भाव है। इसप्रकार सब आत्माओंका सम्पूर्ण शरीरोंमें अन्तर्भाव होनेपर वैशेषिक लोग शरीरावच्छिन्न प्रदेशकी भी आत्मामें कल्पना नहीं कर सकते। निष्प्रदेश आत्मामें कल्पित किया हुआ प्रदेश भी काल्पनिक होनेसे पारमार्थिक कार्यके नियमन करनेमें समर्थ नहीं है। सब आत्माओंकी संनिधिमें उत्पन्न हुआ शरीर भी इसी आत्माका है अन्योंका नहीं है, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता। प्रदेश विशेष स्वीकार करनेपर भी समान सुख दुःखके भागी दो आत्माओं

विशेषाभ्युपगमेऽपि च द्वयोरात्मनोः समानसुखदुःखभाजोः कदाचिदेकेनैव तावच्छरीरोपभोगसिद्धिः स्यात्, समानप्रदेशस्यापि द्वयोरात्मनोरदृष्टस्य संभवात्। तथा हि—देवदत्तो यस्मिन्प्रदेशे सुखदुःखमन्वभूत्तस्मात्प्रदेशादपक्रान्ते तच्छरीरे यज्ञदत्तशरीरे च तं प्रदेशमनुप्राप्ते तस्यापीतरेण समानः सुखदुःखानुभवो दृश्यते, स न स्याद्यदि देवदत्तयज्ञदत्तयोः समानप्रदेशमदृष्टं न स्यात्। ❀ स्वर्गाद्यनुपभोगप्रसङ्गश्च प्रदेशवादिनः स्यात्, ब्राह्मणादिशरीरप्रदेशेष्वदृष्टनिष्पत्तेः प्रदेशान्तरवर्तित्वाच्च स्वर्गाद्युपभोगस्य, सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहूनामात्मनां दृष्टान्ताभावात्। वद तावत्त्वं के बहवः समानप्रदेशाश्चेति। रूपादय इति चेत्—तेषामपि धर्म्यंशेनाभेदाल्लक्षणभेदाच्च। नतु बहूनामात्मनां लक्षणभेदोऽस्ति। अन्त्यविशेषवशाद्भेदोपपत्तिरिति चेत्—न, भेदकल्पनाय अन्त्यविशेषकल्पनायाश्चेतरेतराश्रयत्वात्। आकाशादीनामपि विभुत्वं ब्रह्मवादिनोऽसिद्धं कार्यत्वाभ्युपगमात्, तस्मादात्मैकत्वपक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् ॥५३॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥३॥

योग कदाचित् एक ही शरीरसे सिद्ध हो जायगा, क्योंकि दो आत्माओंका अदृष्ट एक प्रदेशमें भी न है। जैसे कि जिस प्रदेशमें देवदत्तने सुख दुःखका अनुभव किया, उसका शरीर उस प्रदेशसे हो और यज्ञदत्तका शरीर उस प्रदेशमें प्राप्त हो, तो उसको भी दूसरेके समान सुख दुःखका अनु- देखा जाता है, वह अनुभव यदि देवदत्त और यज्ञदत्तका अदृष्ट समान प्रदेश वाला न हो तो नहीं। और प्रदेशवादीको स्वर्ग आदिके अनुपभोगका प्रसङ्ग आ जायगा, क्योंकि ब्राह्मण आदि शरीर ोंमें अदृष्ट निष्पन्न होता है और स्वर्ग आदि उपभोग प्रदेशान्तरवर्ती है। अनेक आत्माओंका त होना युक्त नहीं है, कारण कि इसमें दृष्टांत नहीं है। तुम कहो तो बहुत और समान प्रदेशवाले से पदार्थ हैं? यदि कहो कि रूप आदि हैं, तो युक्त नहीं है, क्योंकि उनका भी धर्मीके अंशरूपसे द और लक्षणमें भेद है। परन्तु बहुत आत्माओंमें लक्षण भेद नहीं है। यदि कहो कि अन्त्य- के बलसे भेद उपपत्ति है तो यह ठीक नहीं है, कारण कि भेद कल्पना और अन्त्यविशेषकी नामें अन्योन्याश्रय है। ब्रह्मवादीके मतमें आकाश आदिका भी विभुत्व असिद्ध है, क्योंकि उनमें त्व स्वीकार है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्माके एकत्व पक्षमें ही सब दोषोंका अभाव है ॥ ३॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके द्वितीयाध्यायका तृतीयपाद समाप्त ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि कहो कि रूप आदि अनेक समान प्रदेशवाले हैं? कारण कि घट आदिमें सब विद्यमान , तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह दृष्टान्त हमें सम्मत नहीं है। रूप तेजोमात्र है, रस जलमात्र और गन्ध पृथ्वी मात्र है, इस प्रकार तत् तत् गुण स्व स्व धर्मीके अंशरूपसे धर्मीसे अभिन्न हैं, ः तेज आदि धर्मीसे भिन्न घटका अभाव है। इस प्रकार आत्मामें लक्षण भेद न होनेसे भेद नहीं । अतः 'देवदत्तात्मा यज्ञदत्तात्मनो न भिन्नः, आत्मत्वात् यज्ञदत्तात्मवत्' (देवदत्तका आत्मा त्तात्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि आत्मा है, जैसे यज्ञदत्ताका आत्मा) यद्यपि आत्माओंमें लक्षण द न होनेसे भेद सिद्ध नहीं होता, तो भी अन्त्यविशेषके भेदसे भेद सिद्ध हो जायगा। यह भी युक्त हीं है, कारण कि आत्माका भेद सिद्ध हो तो विशेष सिद्ध हो, विशेष सिद्ध हों तो आत्मभेद सिद्ध हो, प्रकार अन्योन्याश्रय दोष है, इसलिए आत्मामें भेद असिद्ध है। यदि अनेक आत्माओंके विभु में आकाश-दिक् आदिका दृष्टान्त उपस्थित करो तो वेदान्त सिद्धान्तमें सम्मत नहीं है, कारण कि मन आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुतिमें आकाश आदिकी उत्पत्ति कही गई है। कार्य अनित्य और

द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र पादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः]

'इस पादमें लिङ्गशरीर श्रुतियोंके विरोधका परिहार है'

(१ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् । सू० १-४)

तथा प्राणाः ॥१॥

पदच्छेद—तथा, प्राणाः ।

सूत्रार्थ—'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुतिमें जिस प्रकार आकाश आदिकी उत्पत्ति है, (तथा) उसी प्रकार (प्राणाः) प्राण-इन्द्रियोंकी उत्पत्ति भी कही गई है । अतः इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

❀ वियदादिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधस्तृतीयेन पादेन परिहृतः । चतुर्थेनेदानीं प्राण-विषयः परिह्रियते । तत्र तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तैत्ति० २।१।१) इति चैवमादिषूत्पत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्तिर्नाम्नायते। क्वचिच्चानुत्पत्तिरेवैषामाम्नायते, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) 'तदाहुः किं तदसदासी-दित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । तदाहुः के ते ऋषय इति । प्राणा वाव ऋषयः' इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणात् । अन्यत्र तु प्राणानामप्युत्पत्तिः पठ्यते—'यथाऽग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इति, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।१।८) इति, 'स प्राणमसृज

आकाश आदि भूतविषयक श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार तृतीय पादसे किया गया। अब चतुर्थ पादसे इन्द्रिय (उत्पत्ति, संख्या, स्वरूप) विषयक श्रुतियोंके विरोधका परिहार किया जाता है । उसमें 'तत्तेजोऽसृजत' (उसने तेजकी सृष्टि की) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन० (उस पर-मात्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि उत्पत्ति प्रकरणोंमें प्राणोंकी उत्पत्ति नहीं कही गई है। और कहींपर इनकी अनुत्पत्ति सुनी जाती है, क्योंकि 'असद्वा इदमग्र० (पहले यह असत्-अव्याकृत ही था) 'तदाहुः० (वे कहते हैं—वह असत् क्या था, [इसप्रकार विचार करने लगे] उत्पत्तिके पूर्व ऋषि ही असत् थे, वे कहते हैं—वे ऋषि कौन हैं ? प्राण ही ऋषि थे) इसप्रकार उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके सद्भावकी श्रुति है । और अन्यत्र 'यथाऽग्नेर्ज्वलतः० (जैसे जलती हुई अग्निसे छोटे-छोटे विस्फुलिंग निकलते हैं वैसे ही इस आत्मासे सम्पूर्ण प्राण निकलते हैं) 'एतस्माज्जायते० (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं) 'सप्तः प्राणाः० (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं) 'स प्राणमसृजत० (उस पुरुषने प्राण-हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया, फिर प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु

सत्यानन्दी दीपिका

परिच्छिन्न होता है विभु नहीं, अतः आत्माको एक और विभू स्वीकृत करनेसे उक्त दोष नहीं होते, क्योंकि बुद्धि आदि उपाधिसे ये सब व्यवहार उपपन्न होते हैं, इस प्रकार भूत और भोक्तृत्व आदि श्रुतियोंका विरोध न होनेपर अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध होता है ॥ ५३ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के द्वितीयाध्यायका तृतीय पाद समाप्त ॥

❀ भूत और भोक्ताके विचारके अनन्तर भौतिक प्राणोंका उत्पत्तिविषयक विचार है, अतः दोनों पादोंकी हेतुहेतुमद्भाव संगति है । यद्यपि प्राणोंकी उत्पत्ति न माननेसे 'एकके विज्ञानसे सर्व-विज्ञान प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होती, इसलिए वियदधिकरण न्यायसे प्राणोंकी उत्पत्ति सिद्ध होती है, तो भी प्रलयमें प्राणोंके सद्भाव प्रतिपादक श्रुतिकी गति कहनेके लिए यह अधिकरण है, इसलिए पुन-रुक्ति नहीं है । इस अधिकरणका विषय प्राण है । पूर्वपक्षमें उक्त श्रुतियोंमें अप्रामाण्य है। यहाँ

द्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' (प्र० ६।४) इति चैवमादिप्रदेशेषु । तत्र श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणानिरूपणाच्चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति । अथवा प्रागु- सद्भावश्रवणाद्गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति प्राप्नोति । * अत उत्तरमिदं पठति— प्राणाः' इति । कथं पुनरत्र तथेत्यक्षरानुलोम्यम् ? प्रकृतोपमानाभावात् । सर्वगतात्म- त्ववादिदूषणमतीतानन्तरपादान्ते प्रकृतम् , तत्तावन्नोपमानं संभवति, सादृश्याभावात् । श्ये हि सत्युपमानं स्यात् । यथा सिंहस्तथा बलवर्मेति । अदृष्टसाम्यप्रतिपादनार्थमिति च्येत, यथाऽदृष्टस्य सर्वात्मसंनिधावुपद्यमानस्यानियतत्वमेवं प्राणानामपि सर्वात्मनः नियतत्वमिति तदपि देहानियमेनैवोक्तत्वात्पुनरुक्तं भवेत् । नच जीवेन प्राणा उपमीये- सिद्धान्तविरोधात् । जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता । प्राणानां तूत्पत्तिर्व्याचिख्यासिता । तथेत्यसंबद्धमिव प्रतिभाति । न उदाहरणोपात्तेनाप्युपमानेन संबन्धोपपत्तेः । अत्र त्पत्तिवादिवाक्यजातमुदाहरणम्—'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि णि व्युच्चरन्ति' (बृ० २।१।२०) इत्येवंजातीयकम् । तत्र यथा लोकादयः परस्माद्ब्रह्मण द्यन्ते तथा प्राणा अपीत्यर्थः । तथा—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायु- रापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मुण्ड० २।१।३) इत्येवमादिष्वपि खादिवत्प्राणानामुत्प-

जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्नको उत्पन्न किया) इत्यादि स्थलोंमें प्राणोंकी उत्पत्ति पढी है। पूर्वपक्षी—तत्, तत् स्थलोंमें श्रुतियोंके परस्पर विरोध होनेसे और दोनोंमें एकपक्षके कारणके अनिरूपित होनेके कारण अप्रतिपत्ति प्राप्त होती है अथवा उत्पत्तिके पूर्व इन्द्रियोंके की श्रुति होनेसे प्राणोंकी उत्पत्ति श्रुति गौणी है, ऐसा प्राप्त होता है। सिद्धान्ती—इससे यह कहते हैं—'तथा प्राणाः' परन्तु इस सूत्रमें 'तथा' यह अक्षर किस प्रकार अनुकूल होगा ? क्यों कृत उपमानका अभाव है। सर्वगत अनेक आत्मा हैं, ऐसा माननेवालेका दूषण गत पादके में प्रकृत है, परन्तु सादृश्यके न होनेसे वह दूषण प्राणका उपमान नहीं हो सकता। जैसा सिंह वा बलवर्मा, इसप्रकार सादृश्य होनेपर ही उपमान होता है। जैसे सब आत्माओंकी संनिधिमें न हुआ अदृष्ट अनियत है, वैसे प्राण भी सब आत्माओंके प्रति अनियत हैं। इसप्रकार यदि कहो अदृष्टके साथ साम्य प्रतिपादन करनेके लिए प्राणका उपमान है, तो वह भी देहके अनियमसे त होनेसे पुनरुक्त हो जायगा। सिद्धान्तके साथ विरोध होनेके कारण जीवके साथ भी प्राण त नहीं किए जायंगे, कारण कि जीवकी अनुत्पत्ति कही गई है और प्राणोंकी उत्पत्ति कहनेकी है। इसलिए 'तथा' यह असम्बद्ध सा प्रतीत होता है। परन्तु यह आक्षेप युक्त नहीं है, क्योंकि हरणमें गृहीत उपमानसे सम्बन्ध उपपन्न होता है। इस विषयमें 'एतस्मादात्मनः० (इस आत्मासे प्राण, सब लोक, सब देव और सब भूत विविधरूपसे निकलते हैं—उत्पन्न होते हैं) इसप्रकारका त्पत्तिवादी वाक्यसमुदाय उदाहरण है। उसमें जैसे लोक आदि परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, वैसे भी परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं यह अर्थ है। उसप्रकार—'एतस्माज्जायते प्राणो० (इससे प्राण उत्पन्न है, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ,आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न है) इत्यादि श्रुतियोंमें भी आकाश आदिके समान प्राणोंकी उत्पत्ति है, ऐसा समझना चाहिए।

सत्यानन्दी दीपिका

वादी कहता है कि प्रलयमें प्राणोंको अस्तित्व बोधक श्रुति निरवकाश होनेसे विशेष बलवती इसलिए प्राणोंको उत्पत्ति श्रुति जीवोत्पत्ति श्रुतिके समान गौणी है, इसप्रकार इनका अविरोध है।

* 'तथा' शब्द उपमानका द्योतक होता है अर्थात् वह यथाका आकर्षण करता है। परन्तु उपमान नहीं है। क्या अव्यवहित पूर्वमें प्रतिपादित परपक्ष दूषण प्राणका उपमान है, अथवा

त्तिरिति द्रष्टव्यम् । * अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (जै० अ० ३।४।१५) इत्येवमादिषु व्यवहितो-पमानसंबन्धस्याप्याश्रितत्वात् । यथाऽतीतानन्तरपादादावुक्ता वियदादयः परस्य ब्रह्मणो विकाराः समधिगतास्तथा प्राणा अपि परस्य ब्रह्मणो विकारा इति योजयितव्यम् । कः पुनः प्राणानां विकारत्वे हेतुः ? श्रुतत्वमेव । ननु केषुचित्प्रदेशेषु न प्राणानामुत्पत्तिः श्रूयत इत्युक्तं-तदयुक्तम्, प्रदेशान्तरेषु श्रवणात् । नहि क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं निवारयितुमुत्सहते । तस्माच्छ्रुतत्वाविशेषादाकाशादिवत्प्राणा अप्युत्पद्यन्त इति सूक्तम् ॥१॥

अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (और सोमपान करनेसे व्यापत्-वमन हो, तो उसके समान) इत्या स्थलोंमें व्यवहित उपमानके सम्बन्धका भी आश्रयण किया गया है । जैसे गत पादके आरम्भमें उ आकाश आदि परब्रह्मके विकार निश्चित हैं, वैसे प्राणभी परब्रह्मके विकार हैं, ऐसी योजना कर चाहीए । पुनः प्राणोंके विकारत्वमें हेतु कौन है ? विकारत्व प्रतिपादक श्रुति ही हेतु है । परन्तु यह कहा गया है कि कई स्थलोंमें प्राणोंकी उत्पत्ति नहीं सुनी जाती, तो वह अयुक्त है, क्योंकि अ स्थलोंमें उनकी उत्पत्तिका श्रवण है । कहींपर अश्रवण अन्यत्र श्रुतका निवारण करनेमें उत्साह नहीं करता, इसलिए यह कथन सुसंगत है कि श्रवणके समान होनेसे आकाश आदिके समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

अदृष्ट वा जीव है ? इन तीनों विकल्पोंका क्रमशः समाधान भाष्यमें स्पष्ट है । जैसे आकाश आदि परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राण भी परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, इसप्रकार उपमानोपमेय सिद्ध होता है, अतः तथा असम्बद्ध नहीं है ।

* दार्ष्टान्तिकका निकटवर्ती दृष्टान्त होना चाहिए ? परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि जैमिनि मुनिने व्यवहित दृष्टान्तका भी ग्रहण किया है । जैसे पूर्वमीमांसाके तृतीय अध्यायमें अश्वप्रति-ग्रहेष्टि अधिकरण है । उसका यह विषय वाक्य है—'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपाला-न्निर्वपेत्' (जितने अश्वदान करे उतने ही वरुणके लिए चतुष्कपालोंमें निष्पन्न पुरोडाश होम करे) इसके उत्तर अधिकरणमें यह वारुणीष्टि अश्व दाताको करनी चाहिए कि प्रतिग्रहीतको ? ऐसा संशय होनेपर पूर्वपक्षमें 'प्रतिगृह्णीयात्' इस श्रुतिके बलसे दान लेनेवालेको करनी चाहिए । सिद्धान्तमें दाताको करनी चाहिए, ऐसा निर्णय किया गया है । वहां 'प्रतिगृह्णीयात्'—प्रतिग्राहयेत् (दद्यात्) (दान देनेवाला) ऐसा अर्थ करना चाहिए । इसप्रकार निर्णय होनेपर पुनः सन्देह होता है कि इष्टि विधान वैदिक अश्वदानमें है अथवा लौकिक अश्वदानमें ? 'न केसरिणो ददाति' (अश्वका दान नहीं करना चाहिए) इस स्मृतिके अनुसार लौकिक अश्वदानमें इष्टि करनी चाहिए । इसका समर्थन करते हुए 'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्' (जै० सू० ३।४।२८) यह सूत्र कहा गया है । सिद्धान्त—'अथ वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' (जो अश्वका दान करता है उसको जलोदर रोग होता है) इससे सम्बन्ध होनेके कारण वैदिक अश्वदानमें इस वारुणीष्टिका विधान है लोकमें नहीं, अ यज्ञ सम्बन्धी अश्वदानमें यह इष्टि है ऐसा विचार किया गया है । आगे वमनाधिकरणमें 'पानव्यापच्च तद्वत्' (जै० सू० ३।४।३२) (यदि सोमपानसे वमन हो, तो 'एतं सौमेन्द्रं श्यामाकं चरुं निर्वपेत्' (सोम और इन्द्र सम्बन्धी श्यामक चरुका होम करे) इसप्रकार सोमपान निमित्त वमन होनेसे चरुका विधान किया गया है । यहाँपर सन्देह होता है कि क्या इस चरुका विधान वैदिक सोमपान निमित्त वमनमें है अथवा लौकिक सोमपान निमित्त वमनमें ? पूर्वपक्ष—'पानव्यापच्च तद्वत्' उ चरुका विधान लौकिक सोमपान निमित्त वमनमें होना चाहिए । 'तद्वत्' 'उसी प्रकार' अर्थात् 'दोषा-त्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्' (दोष होनेसे लौकिक अश्वदानमें इष्टि करनी चाहिए) इस सूत्रमें कहे हुए

गौण्यसंभवात् ॥२॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियोंकी उत्पत्ति प्रतिपादक श्रुति गौणी नहीं हो सकती, अतः इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

❀ यत्पुनरुक्तं—प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद्गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति । तत्प्रत्याह—ण्यसंभवादिति । गौण्या असंभवो गौण्यसंभवः । नहि प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी संभवति, ज्ञाहानिप्रसङ्गात् । 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।३) इति विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्साधनायेदमाम्नायते—'एतस्माज्जायते प्राणः' (मुण्ड० ।३) इत्यादि । सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः समस्तस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वे सति प्रकृतिव्यकेण विकाराभावात्सिध्यति । गौण्यां तु प्राणानामुत्पत्तिश्रुतौ प्रतिज्ञेयं हीयेत तथा च ज्ञातार्थमुपसंहरति—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' (मुण्ड० २।१।१०) इति वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मुण्ड० २।२।११) इति च । तथा 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्येवंजातीयकासु श्रुतिष्वेषैव प्रतिज्ञा योजयितव्या । ❀ कथं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणम् ? नैतन्मूलप्रकृतिविषयम्, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो परतः परः' (मुण्ड० २।१।२) इति मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वावधारणात् ।

जो यह कहा गया है कि उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके सद्भावके श्रवणसे प्राणोंकी उत्पत्ति श्रुति गौणी उसपर कहते हैं—'गौण्यसंभवात्' गौणीका असंभव-वह गौण्यसंभव है । प्राणोंकी उत्पत्ति श्रुति णी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिज्ञाकी हानिका प्रसङ्ग आता है । 'कस्मिन्नु० (हे भगवन्! किसके त होनेपर यह सब विज्ञात होता है) इस प्रकार एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञाकर के साधनके लिए 'एतस्माज्जायते० (उससे प्राण उत्पन्न होता है) इत्यादि श्रुति है । वह प्रतिज्ञा आदि समस्त जगत् ब्रह्मका विकार होनेपर प्रकृतिसे व्यतिरिक्त विकारके अभावसे सिद्ध होती है । नु प्राणोंकी उत्पत्ति श्रुति गौणी होनेपर तो यह प्रतिज्ञा बाधित होगी । इस प्रकार 'पुरुष एवेदं० ह समस्त जगत्, कर्म और तप-ज्ञान पुरुष ही है, वह पर और अमृतरूप ब्रह्म है) और 'ब्रह्मैवेदं० ह समस्त जगत् वरिष्ठ ब्रह्म ही है) यह श्रुति प्रतिज्ञात अर्थका उपसंहार करती है । और इस तरह त्मनो वा अरे० (हे मैत्रेयी ! आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञानसे यह सब विदित होता) इस प्रकारकी श्रुतियोंमें ही इस प्रतिज्ञाकी योजना करनी चाहिए । तो फिर उत्पत्तिके पूर्व प्राणोंके द्भावकी श्रुति किस प्रकार है ? यह मूल प्रकृति-विषयक नहीं है, क्योंकि 'अप्राणो ह्यमनाः० (अप्राण, नोहीन, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षरसे भी उत्कृष्ट है) इस प्रकार मूल प्रकृति प्राण आदि समस्त विशेषोंसे

सत्यानन्दी दीपिका

नान। जैसे यहाँ 'तद्वत्' (जै०सू० ३।४।३२) के द्वारा व्यवहित 'दोषात्तु' (जै०सू० ३।४।२८) इत्यादि- उपमान दिया गया है । उसीप्रकार यहां व्यवहित उपमानका सम्बन्ध उपपन्न है अर्थात् गत पादके रम्भमें जैसे आकाश आदि परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राण भी परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

* यदि कहो कि उत्पत्ति श्रुतिके समान प्रतिज्ञा भी गौण हों, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि क्रम और उपसंहारका पर्यालोचन करनेसे विवक्षित अद्वितीयत्वकी प्रतिज्ञाके अनुसार प्राणोत्पत्ति ख्य ही है । मुण्डकोपनिषद्के समान अन्य उपनिषदोंमें भी प्रतिज्ञा देखी जाती है, इसलिए यह तिज्ञा मुख्य ही है । प्राणोंकी उत्पत्तिके मुख्य होनेमें यह प्रतिज्ञा हेतुरूपसे समझनी चाहिए ।

❀ अत्र प्रलयमें प्राणोंके अस्तित्व विषयक विचार किया जाता है—'ऋषयो वाव ते अग्रेऽसदासीत्' 'प्राण वाव ऋषयः' यह वाक्य परकारण ब्रह्म विषयक नहीं है, क्योंकि 'अप्राणो ह्यमनाः' इत्यादि

अवान्तरप्रकृतिविषयं त्वेतत्स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावावधारणमिति द्रष्टव्यम्, व्याकृतविषयाणामपि भूयसीनामवस्थानां श्रुतिस्मृत्योः प्रकृतिविकारभावप्रसिद्धेः। वियदधिकरणे हि 'गौण्यसंभवात्' इति पूर्वपक्षसूत्रत्वाद्गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याख्यातम्। प्रतिज्ञाहान्या च तत्र सिद्धान्तोऽभिहितः। इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद्गौण्या जन्मश्रुतेरसंभवादिति व्याख्यातम्। तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात् ॥२॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥३॥

पदच्छेद—तत्प्राक्श्रुतेः, च।

सूत्रार्थ—'जायते' यह जन्म वाचक पद आकाश आदिकी अपेक्षासे प्राणोंमें पहले श्रुत होनेसे प्राणोंकी उत्पत्ति मुख्य है।

इतश्चाकाशादीनामिव प्राणानामपि मुख्यैव जन्मश्रुतिः। यत् 'जायते' इत्येकं जन्मवाचिपदं प्राणेषु प्राक्श्रुतं सदुत्तरेष्वप्याकाशादिष्वनुवर्तते। 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मु० २।१।३) इत्यत्राकाशादिषु मुख्यं जन्मेति प्रतिष्ठापितं तत्सामान्यात्प्राणेष्वपि मुख्यमेव जन्म भवितुमर्हति। न ह्येकस्मिन्प्रकरण एकस्मिंश्च वाक्य एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः संबध्यमानः

रहित अवधारित होती है। उत्पत्तिके पहले प्राणोंके सद्भावका अवधारण यह स्वविकारकी अपेक्षासे अवांतर प्रकृति विषयक है, ऐसा समझना चाहिए। कारण कि व्याकृत विषयक बहुत सी अवस्थाओंकी भी प्रकृति-विकारभाव श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। वियदधिकरणमें 'गौण्यसंभवात्' इसके पूर्वपक्ष सूत्र होनेसे जन्म श्रुति गौणी है, क्योंकि मुख्यका असंभव है, इस प्रकार व्याख्यान किया गया है और प्रतिज्ञाकी हानि होनेसे वहाँ सिद्धान्त कहा गया है। यहाँ तो सिद्धान्त सूत्र होनेसे 'गौणी जन्म श्रुतिके असंभव होनेसे' ऐसा व्याख्यान किया है। परंतु उसके अनुसार यहाँ भी 'जन्म श्रुति गौणी है, असंभव होनेसे' ऐसा व्याख्यान करनेवालोंसे प्रतिज्ञा हानिकी उपेक्षाकी जायगी ॥ २ ॥

और इससे आकाश आदिके समान प्राणोंकी भी जन्मश्रुति मुख्य ही है; क्योंकि 'जायते' ऐसा एक उत्पत्ति वाचक पद प्राणोंमें पहले श्रुत है, उसकी उत्तर आकाश आदिमें 'एतस्माज्जायते प्राणः' यहाँपर अनुवृत्ति होती है। आकाश आदिका जन्म मुख्य है, ऐसा प्रतिष्ठापित किया जा चुका है। उसके सादृश्यसे प्राणोंका भी जन्म मुख्य ही हो सकता है। कारण कि एक प्रकरणमें और एक वाक्यमें एक वार उच्चरित और बहुतोंसे सम्बद्ध हुआ एक शब्द कहीं मुख्य और कहीं गौण है, ऐसा

सत्यानन्दी दीपिका

श्रुतिसे वह तो प्राण आदि सब विशेषोंसे रहित निश्चित होता है। परन्तु प्राणके सद्भाव प्रतिपादक वाक्य अवान्तर प्रकृति-हिरण्यगर्भ विषयक है, कारण कि अपने कार्यकी उत्पत्तिके पूर्व हिरण्यगर्भका सद्भाव निश्चित है। यह प्राण-हिरण्यगर्भका सद्भाव अवान्तर प्रलयमें सिद्ध होता है, उसके सद्भावकी श्रुति है। कारण कि 'एतस्माज्जायते प्राणः० (इससे प्राण उत्पन्न होता है) 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (पूर्वमें हिरण्यगर्भ हुआ) इत्यादि श्रुति हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति कहती है। और 'आदि कर्ता स भूतानाम्' (वह भूतोंका आदि कर्ता है) इत्यादि स्मृतिमें हिरण्यगर्भको स्थूल जगत्का कारण कहा गया है। इस प्रकार परब्रह्मकी अपेक्षासे हिरण्यगर्भ कार्य और अपने कार्यकी अपेक्षासे कारणरूपसे श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है, अतः अवान्तर प्रकृति विषयक प्राणके अस्तित्वकी श्रुति है। और यहाँ वियदधिकरणके अनुसार सूत्रकी व्याख्या नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे प्रतिज्ञाका बाध हो जायगा, इसलिए 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित प्राणोत्पत्ति मुख्य ही है ॥ २ ॥

मुख्यः कश्चिद्गौण इत्यध्यवसातुं शक्यम्, वैरूप्यप्रसङ्गात्। तथा 'स प्राणमसृजत प्राणा-म्' (प्रश्न० ६।४) इत्यत्रापि प्राणेषु श्रुतः सृजतिः परेष्वप्युत्पत्तिमत्सु श्रद्धादिष्वनुषज्यते। त्रापि पश्चाच्छ्रुत उत्पत्तिवचनः शब्दः पूर्वैः संबध्यते तत्राप्येष एव न्यायः। यथा 'सर्वाणि तानि व्युच्चरन्ति' इत्ययमन्ते पठितो व्युच्चरन्तिशब्दः पूर्वैरपि प्राणादिभिः संबध्यते ॥३॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥४॥

पदच्छेद—तत्पूर्वकत्वात्, वाचः।

सूत्रार्थ—(वाचः) 'अन्नमयं हि सोम्य०' इत्यादिसे मन और प्राण सहित वाणीमें (तत्पूर्व-त्) ब्रह्मप्रकृतिक तेज, जल और अन्न पूर्वकत्व कथन है, अतः इन्द्रियोंकी उत्पत्ति श्रुति है।

* यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतस्मिन्प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिर्न पठ्यते, जोबन्नानामेव च त्रयाणां भूतानामुत्पत्तिश्रवणात्। तथापि ब्रह्मप्रकृतिकतेजोबन्नपूर्वकत्वा-धानाद्वाक्प्राणमनसां तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानां ब्रह्मप्रभवत्वं सिद्धं भवति। था हि—अस्मिन्नेव प्रकरणे तेजोबन्नपूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामाम्नायते—'अन्नमयं हि सोम्य आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति। तत्र यदि तावन्मुख्यमेवैषामन्नादि-त्वं ततो वर्तत एव ब्रह्मप्रभवत्वम्। अथ भाक्तं—तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रि-यां श्रवणात्, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इति चोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' छा० ६।८।७) इति चोपसंहाराच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च ब्रह्मकार्यत्वप्रपञ्चनार्थमेव मनआदीना-न्नादिमयत्ववचनमिति गम्यते। तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः ॥४॥

त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे वाक्य विरूप (भेद) प्रसङ्ग हो जायगा। इस र 'स प्राणमसृजत० (उसने प्राणको उत्पन्न किया, प्राणसे श्रद्धाको) यहाँ भी प्राणोंमें श्रुत 'सृज्' ु अनंतर उत्पन्न होनेवाले अन्य श्रद्धा आदिमें अनुवृत्त होता है। जहाँ भी पश्चात् श्रुत उत्पत्ति वाचक द पूर्वोंके साथ सम्बन्धित होता है वहाँ भी यही न्याय है। जैसे 'सर्वाणि भूतानि० (सब भूत निकलते) इस प्रकार यह अन्तमें पठित 'व्युच्चरन्ति' शब्द पूर्व प्राण आदिसे भी सम्बन्धित होता है ॥३॥

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' इस प्रकरणमें प्राणोंकी उत्पत्ति पठित नहीं है, कारण कि तेज, जल र अन्न इन तीन भूतोंकी उत्पत्तिका ही श्रवण है, तथापि वाक्, प्राण और मनका ब्रह्म प्रकृतिक , जल और अन्न पूर्वक अभिधान होनेसे और उनके सादृश्यसे सब इन्द्रियोंमें ब्रह्म प्रभवत्व सिद्ध ा है। जैसे कि 'अन्नमयं हि सोम्य० (हे सोम्य ! मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाणी तेजो-ी है) इसी प्रकरणमें वाणी, प्राण और मन तेज, जल और अन्न पूर्वक कहे गए हैं। उसमें यदि के अन्नमयत्व आदि मुख्य ही हैं तो उससे उनमें ब्रह्म जन्यत्व ही है, और यदि उनमें अन्नमयत्व गौण हों, तो भी ब्रह्म कर्तृक नाम, रूपके व्याकरण (अभिव्यक्ति) में श्रवण होनेसे 'येनाश्रुतं भवति' (जिससे अश्रुत श्रुत होता है) इसप्रकार उपक्रम होनेसे 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' एतद्रूप-स्वरूप ही यह सब है) ऐसा उपसंहार होनेसे और अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध होनेसे मन आदिमें अन्न-त्व आदि वचन ब्रह्म कार्यत्व विस्तारके लिए ही है, ऐसा ज्ञात होता है। इससे भी प्राण ब्रह्मके कार हैं, यह सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* यहां वाणी प्राण और मनका उपलक्षण है, इसलिए सूत्रस्थ वाणी पदसे प्राण और का भी ग्रहण करना चाहिए। यहां प्राणोत्पत्ति श्रुतियोंका सृष्टिके पूर्व प्राणोंके सद्भाव प्रतिपादक योंके साथ कोई विरोध नहीं है, अतः कारण ब्रह्ममें समन्वय सिद्ध है ॥ ४ ॥

(२ सप्तगत्यधिकरणम् । सू० ५-६)

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

पदच्छेद—सप्त, गतेः, विशेषितत्वात्, च ।

सूत्रार्थ—(सप्त) इन्द्रियाँ सात हैं, (गतेः) क्योंकि श्रुतिसे उनके सप्तत्वका ज्ञान होता है, (च) और (विशेषितत्वात्) 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इस शास्त्रसे शीर्षण्यत्वसे वे इन्द्रियां विशेषित हैं।

❀ उत्पत्तिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधः प्राणानां परिहृतः। संख्याविषय इदानीं परिह्रियते। तत्र मुख्यं प्राणमुपरिष्टाद्वक्ष्यति। संप्रति तु कतीतरे प्राणा इति संप्रधारयति। श्रुतिविप्रति- पत्तेश्चात्र विशयः। क्वचित्सप्त प्राणाः संकीर्त्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मुण्ड० २।१।८) इति। क्वचिच्चाष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन संकीर्त्यन्ते—'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' (बृ० ३।२।१) इति। क्वचिन्नव—'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' (तै० सं० ५।१।७।१) इति। क्वचिद्दश—'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इति। क्वचिदेकादश—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३।९।४) इति। क्वचिद्द्वादश—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' (बृ० २।४।११) इत्यत्र। क्वचित्त्रयोदश 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' (बृ० ४।८) इत्यत्र। एवं हि विप्रतिपन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः। किं तावत्प्राप्तम्? सप्तैव प्राणा इति। कुतः? गतेः। यतस्तावन्तोऽवगम्यन्ते— 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मुण्ड० २।१।८) इत्येवंविधासु श्रुतिषु। विशेषिताश्चैते 'स

प्राणोंकी उत्पत्ति विषयक श्रुतियोंके परस्पर विरोधका परिहार किया गया। अब संख्याविषयक श्रुति विरोधका परिहार किया जाता है। उनमें मुख्य प्राणको सूत्रकार आगे कहेंगे। अभी तो अन्य प्राण (इन्द्रिय) कितने हैं, यह निर्णय करते हैं। और श्रुति विरोधसे यहां संशय है। 'सप्त प्राणाः (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं) इस तरह कहीं पर सात प्राण कहे जाते हैं, और 'अष्टौ ग्रहा (आठ ग्रह और आठ अतिग्रह) इसप्रकार कहीं आठ प्राण ग्रहत्व गुणसे वर्णित हैं। और 'स वै शीर्षण्याः० (सात शीर्षण्य प्राण हैं और दो नीचेके हैं) इस तरह कहीं नौ प्राण कहे जाते हैं, और कहीं 'नव वै पुरुषे० (पुरुष-देहमें नौ प्राण हैं और दसवीं नाभि है) इसप्रकार दस प्र पठित हैं, और 'दशेमे पुरुषे० (देहमें दस प्राण हैं और ग्यारहवाँ मन है) कहीं एकादश हैं, और 'सर्वेषां स्पर्शानां० (समस्त स्पर्शोंका त्वक् एक अयन-स्थान है) इस तरह कहीं द्वादश हैं, और क 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' (चक्षु और द्रष्टव्य) इस तरह तेरह हैं। इसप्रकार प्राणोंकी इयत्ताके [संख्याविषयक] श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। तब क्या प्राप्त हुआ? पूर्वपक्ष—प्राण सात हैं, अवगतिसे, क्योंकि 'सप्त प्राणाः० (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं) इसप्रकारकी श्रुतियोंमें उतने ही अवगत होते हैं, और 'सप्त वै शीर्षण्याः' (शिरमें रहनेवाले प्राण सात हैं) इस श्रु

सत्यानन्दी दीपिका

* आकाश आदिकी उत्पत्तिके समान प्राणोंकी भी उत्पत्ति कही गई। वे प्राण कितने हैं, अब उनका संख्या विषयक विचार किया जाता है, इसप्रकार आश्रयाश्रयिभाव संगतिसे कहते हैं। परन्तु इस विषयमें श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे संशय होनेपर पूर्वपक्ष दिखलाते हैं—कहीं नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी और मन ये सात प्राण हैं। नेत्र आदि सात और हस्त-कर्मेन्द्रिय, इसप्रकार आठ हैं, ये बन्धनके हेतु होनेसे ग्रह हैं, और इनके रूप आदि विषय अतिग्रह हैं। विषय इन्द्रियोंसे स्वतन्त्र और इनको आकर्षित करते हैं इससे, इन्द्रियाँ विषयोंके अधीन होती हैं। दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिकाएँ और वाणी ये सात शिरमें रहनेवाले प्राण हैं। गुदिया और लिंगेन्द्रिय ये दो नीचेके, इसप्रकार मिलकर नौ होते हैं। अथवा कहीं उक्त नौ प्र

संख्याः प्राणाः' इत्यत्र। ननु 'प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (मुण्ड० २।१।८) इति ता श्रूयते, सा सप्तभ्योऽतिरिक्तान्प्राणान्गमयतीति। नैष दोषः, पुरुषभेदाभिप्रायेयं ता प्रतिपुरुषं सप्त सप्त प्राणा इति, न तत्त्वभेदाभिप्राया सप्त सप्तान्येऽन्ये प्राणा इति। ष्टत्वादिकापि संख्या प्राणेषूदाहृता, कथं सप्तैव स्युः ? सत्यमुदाहृता, विरोधात्त्वन्यतमा ऽध्यवसातव्या। तत्र स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तसंख्याध्यवसानम्। वृत्तिभेदापेक्षं च न्तरश्रवणमिति मन्यते ॥५॥

अत्रोच्यते—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

पदच्छेद—हस्तादयः, तु, स्थिते, अतः, न, एवम्।

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्ष निरासार्थ है, (हस्तादयः) 'हस्तौ वै ग्रहः' इत्यादि श्रुतिमें हाथ भी अधिक प्राण प्रतिपादित हैं, (स्थिते) इससे सातसे अधिक प्राणोंके होनेपर (अतः) कारण (नैवम्) सात ही प्राण नहीं हो सकते।

हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण तो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' (बृ० ३।२।८) इत्येवमाद्यासु श्रुतिषु। स्थिते च सप्तत्वातिरेके मन्तर्भावाच्छक्यते संभावयितुम्। हीनाधिकसंख्याविप्रतिपत्तौ ह्यधिका संख्या संग्राह्या ति, तस्यां हीनाऽन्तर्भवति, नतु हीनायामधिका। अतश्च नैवं मन्तव्यं स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तैव प्राणाः स्युरिति। उत्तरसंख्यानुरोधात्त्वेकादशैव ते प्राणाः स्युः। तथा चोदाहृता —'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३।९।४) इति। आत्मशब्देन चात्रान्तःकरणं

पित हैं। परन्तु 'प्राणा गुहाशया निहिताः०' (हृदयमें स्थित प्राण अपने स्थानमें सात-सात ते हैं) इसप्रकार वीप्सा सुनी जाती है, वह सातसे अधिक प्राणोंका बोध कराती है। यह दोष है, क्योंकि यह वीप्सा प्रत्येक पुरुषमें सात सात प्राण हैं, इसप्रकार पुरुष भेदके अभिप्रायसे है। सात अन्य अन्य प्राण हैं, इस तरह तत्त्व भेदके अभिप्रायसे नहीं है। परन्तु आठ आदि संख्या णोंमें उदाहृत है, तो पुनः सात ही किस प्रकार होंगे ? यह ठीक है, उदाहृत है। परन्तु संख्या श्रुति विरोध होनेसे किसी एक संख्याका निश्चय करना चाहिए। उसमें अल्प कल्पनाके सार सात संख्याका निश्चय है, और अन्य संख्याका श्रवण (प्राणोंकी) वृत्ति भेदकी अपेक्षासे है, ऐसा मानते हैं ॥ ५ ॥

सिद्धान्ती—इस पर कहते हैं—

परन्तु 'हस्तौ वै ग्रहः०' (हस्त ही ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं, क्योंकि प्राणी हस्तसे कर्म करता है) इत्यादि श्रुतियोंमें अन्य हस्त आदि सातोंसे अतिरिक्त प्राण सुने जाते हैं। प्राण से अतिरिक्त निश्चित होनेपर उनमें सातके अन्तर्भावकी संभावनाकी जा सकती है, क्योंकि न्यून र अधिक संख्याकी विप्रतिपत्ति होनेपर अधिक संख्या ही ग्राह्य होती है, कारण कि उसमें न्यूनका न्तर्भाव होता है, परन्तु न्यूनमें अधिक संख्याका अन्तर्भाव नहीं होता। इससे अल्प कल्पनाके अनुसार त ही प्राण होंगे, ऐसा नहीं मानना चाहिए। किन्तु उत्तर संख्याके अनुरोधसे तो एकादश ही वे प्राण होंगे। जैसे कि 'दशेमे पुरुषे०' (देहमें ये दस प्राण हैं और मन एकादश है) इस प्रकार श्रुति

सत्यानन्दी दीपिका

और दसवीं नाभि, इसप्रकार दस प्राण हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन यह एकादश । ये बुद्धिके साथ मिलकर बारह प्राण होते हैं और अहंकारके साथ तेरह हैं। इसप्रकार प्राणोंकी संख्या विषयक श्रुतियोंका परस्पर विरोध है ॥ ५ ॥

परिगृह्यते, करणाधिकारात्। नन्वेकादशत्वादप्यधिके द्वादशत्रयोदशत्वे उदाहृते। सत्यमुदाहृते, न त्वेकादशभ्यः कार्यजातेभ्योऽधिकं कार्यजातमस्ति यदर्थमधिकं करणं कल्प्येत। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च बुद्धिभेदास्तदर्थानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मभेदास्तदर्थानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। सर्वार्थविषयं त्रैकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्, तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद्भिन्नवद्व्यपदिश्यते—'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं च' इति। तथा च श्रुतिः कामाद्या नानाविधा वृत्तीरनुक्रम्याह—'एतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। ॐ अपि च सप्तैव शीर्षण्यान्प्राणानभिमन्यमानस्य चत्वार एव प्राणा अभिमताः स्युः। स्थानभेदाद्ध्येते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते—'द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके एका वाक्' इति। नच तावतामेव वृत्तिभेदा इतरे प्राणा इति शक्यते वक्तुं, हस्तादिवृत्तीनामत्यन्तविजातीयत्वात्। तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इत्यत्रापि देहच्छिद्रभेदाभिप्रायेणैव दश प्राणा उच्यन्ते, न प्राणतत्त्वभेदाभिप्रायेण, 'नाभिर्दशमी'ति वचनात्। नहि नाभिर्नाम कश्चित्प्राणः प्रसिद्धोऽस्ति। मुख्यस्य तु प्राणस्य भवति नाभिरप्येकं विशेषायतनमित्यतो नाभिर्दशमीत्युच्यते। क्वचिदुपासनार्थं कतिचित्प्राणा गण्यन्ते, क्वचित्प्रदर्शनार्थम्। तदेवं विचित्रे प्राणेयत्ताम्नाने सति क्व किंपरमाम्नानमिति विवेक्तव्यम्। कार्यजातवशात्त्वेकादशत्वाम्नानं प्राणविषयं प्रमाणमिति स्थितम्। इयमपरा सूत्रद्वययोजना। सप्तैव प्राणाः

उदाहृत है। यहाँ आत्मशब्दसे अन्तःकरणका ग्रहण किया जाता है, क्योंकि करणका प्रकरण है। परन्तु एकादशसे अधिक द्वादश, त्रयोदश उदाहृत हैं ? ठीक उदाहृत हैं। परंतु एकादश कार्य समुदाय अधिक कार्य नहीं है, जिसके लिए अधिक करणकी कल्पनाकी जाय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषयक पाँच प्रकारकी बुद्धि है, उसके लिए पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वचन, आदान-ग्रहण, विहरण (चलना) उत्सर्ग (मलादिका त्याग) आनन्द (विषय जन्य-सुख अनुभव) ये पाँच कर्मके भेद हैं, उनके लिए पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। सब पदार्थोंको विषय करनेवाला, तथा त्रिकाल विषयक वृत्तिवाला मन एक है और वह अनेक वृत्तियों वाला है। उसका ही 'मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं च' (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त) इस प्रकार वृत्तिके भेदसे कहींपर भिन्नके समान व्यपदेश किया जाता है। उसी प्रकार श्रुति अनेक प्रकारकी काम आदि वृत्तियोंका अनुक्रम कर कहती है—'एतत्सर्वं मन एव० (यह सब मन ही है)। और सात ही शीर्षण्य प्राणोंके माननेवालेको चार ही प्राण अभिमत होंगे, ये चार होते हुए स्थानभेदसे सात गिने जाते हैं (दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिका, एक वाणी) तत्र अन्य प्राण उनके वृत्ति भेद हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हस्त आदिकी वृत्तियाँ अत्यन्त विजातीय हैं। इस प्रकार 'नव वै पुरुष० (देहमें नौ ही प्राण हैं और दसवीं नाभि है) यहाँ भी देहके छिद्र भेदके अभिप्रायसे दस प्राण कहे जाते हैं, प्राण तत्त्वके भेदके अभिप्रायसे नहीं, कारण कि 'नाभि दसवीं है' ऐसा वचन है। नाभि नामका कोई प्राण प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु मुख्य प्राणका नाभि भी एक विशेष स्थान है, अतः 'नाभि दसवीं' ऐसा कहा जाता है। कहीं उपासनाके लिए कई प्राण गिने जाते हैं और कहीं प्रदर्शनके लिए। इसप्रकार प्राणोंकी संख्याविषयक भिन्न-भिन्न श्रुतियोंके होनेपर किस स्थलमें किस अर्थ विषयक यह श्रुति है, ऐसा विचार करना चाहिए। कार्य-समुदायके बलसे प्राण विषयक एकादशत्व

सत्यानन्दी दीपिका

* हस्त आदिकी आदान आदि वृत्तियाँ श्रोत्र आदिसे अत्यन्त विलक्षण हैं। यदि वे श्रोत्र आदिकी वृत्ति हों, तो अन्ध, बधिर आदिसे आदान-प्रदान आदि नहीं होंगे। इसलिए 'सप्तप्राणाः प्रभवन्ति' यह उपासनाके लिए है और 'अष्टौ ग्रहाः' यह उपलक्षणार्थ है, कारण कि पायु, उपस्थ

सप्तानामेव गतिः श्रूयते —'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यत्र। ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र पठ्यते, तत्कथं सप्तानामेव गतिः ज्ञायत इति ? विशेषितत्वादित्याह। सप्तैव हि प्राणाश्चक्षुरादयस्त्वक्पर्यन्ता विशेषिता प्रकृताः 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' (बृ० ४।४।१) 'एकीभवति पश्यतीत्याहुः' (बृ० ४।४।२) इत्येवमादिनाऽनुक्रमणेन। प्रकृतगामी च सर्वशब्दो भवति— सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इति, ये निमन्त्रिताः प्रकृता ब्राह्मणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नान्ये। एवमिहापि ये प्रकृताः सप्त प्राणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते, नान्य इति। त्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तं, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम् ? नैष दोषः, मनोविज्ञानयोस्त- भेदाद्वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः। तस्मात्सप्तैव प्राणा इति। ❀ एवं प्राप्ते ब्रूम—हस्ताद- परे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः प्रतीयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः' (बृ० ३।२।८) इत्यादिश्रुतिषु। त्वं च बन्धनभावः, गृह्यते बध्यते क्षेत्रज्ञोऽनेन ग्रहसंज्ञकेन बन्धनेनेति, स च क्षेत्रज्ञो स्मिन्नेव शरीरे बध्यते, शरीरान्तरेष्वपि तुल्यत्वाद्बन्धनस्य। तस्माच्छरीरान्तरसंचारीदं संज्ञकं बन्धनमित्यर्थादुक्तं भवति। तथा च स्मृति—'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते। बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च।' इति प्राङ्मोक्षाद्ग्रहसंज्ञकेनानेन बन्धनेनावियोगं

ादक श्रुति प्रमाण है, यह निश्चित होता है। दोनों सूत्रोंकी यह दूसरी योजना है—प्राण सात ही , क्योंकि 'तमुत्क्रामन्तं० (उसके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, के उत्क्रमण करनेपर सम्पूर्ण प्राण (इन्द्रियवर्ग) उत्क्रमण करते हैं) इस श्रुतिमें सातकी गति जाती है। परन्तु इस श्रुतिमें सर्व शब्द भी पठित है, तो सातकी ही गतिकी किस प्रकार प्रतिज्ञाकी है, विशेषित होनेसे, ऐसा कहते हैं, क्योंकि 'स यत्रैष० (जिस समय यह चाक्षुष पुरुष सर्व ओरसे त्त होता है, उस समय मुमूर्षु रूपज्ञान हीन हो जाता है) (चक्षु इन्द्रिय लिङ्गात्मासे एक रूप हो है, तो लोग 'नहीं देखता' ऐसा कहते हैं) इत्यादि अनुक्रमणसे चक्षु आदिसे त्वक् पर्यन्त सात विशेषित प्राण यहाँ प्रकृत हैं। 'सर्वे प्राणाः' यहाँ पर सर्वशब्द प्रकृतगामी होता है अर्थात् सात णोंको विषय करता है। जैसे "सब ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए" यहाँ जो निमन्त्रित प्रकृत हैं वे ही सर्व शब्दसे कहे जाते हैं अन्य नहीं। वैसे ही यहाँ भी जो प्रकृत सात प्राण हैं वे ही शब्दसे कहे जाते हैं अन्य नहीं, परन्तु यहां आठवें विज्ञानका अनुक्रमण भी है, तो सातका ही क्रमण कैसे कहते हो ? यह दोष नहीं है, क्योंकि मन और विज्ञानका अभेद होनेसे वृत्ति भेद र भी सप्तत्वकी उपपत्ति होती है, इसलिए सात ही प्राण हैं। ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते —'हस्तौ वै ग्रहः' (हस्त ही ग्रह है) इत्यादि श्रुतियोंमें दूसरे हस्त आदि सातसे अतिरिक्त प्राण होते हैं, ग्रहत्वसे बन्धनभाव ग्रहीत होता है। क्षेत्रज्ञ-जीव इस ग्रह नामक बन्धनसे बांधा है और वह क्षेत्रज्ञ एक ही शरीरमें नहीं बाँधा जाता है, क्योंकि अन्य शरीरोंमें भी बन्धन- है, इससे यह ग्रह संज्ञक बन्धन अन्य शरीरमें संचारशील है, ऐसा अर्थसे उक्त होता है। कि 'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन० (वह प्राण आदि पुर्यष्टक लिङ्गसे युक्त होता है। उससे बद्धका बन्धन उससे मुक्तका मोक्ष होता है) यह स्मृति मोक्षके पूर्व इस ग्रह संज्ञक बन्धनसे अवियोग

सत्यानन्दी दीपिका

पाद ये भी समानरूपसे बंधक हैं। अतः एकादश कार्य हैं, तदनुसार 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मै- दशः' यह एकादश इन्द्रिय प्रतिपादक श्रुति प्रमाण है।

* 'वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।
बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीमाहुः॥' (वि० चू०)

दर्शयति । आथर्वणे च विषयेन्द्रियानुक्रमणे ‘चक्षुश्च द्रष्टव्यं च’ इत्यत्र तुल्यवद्धस्तादीनीन्द्रियाणि सविषयाण्यनुक्रामति—‘हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च’ (प्र० ४।८) इति । तथा ‘दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति’ (बृ० ३।९।४) इत्येकादशानां प्राणानामुत्क्रान्तिं दर्शयति । ❀ सर्वशब्दोऽपि च प्राणशब्देन संबध्यमानोऽशेषान्प्राणानभिदधानो न प्रकरणवशेन सप्तस्वेवावस्थापयितुं शक्यते, प्रकरणाच्छब्दस्य बलीयस्त्वात् । सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्रापि सर्वेषामेवावनिवर्तिनां ब्राह्मणानां ग्रहणं न्याय्यम्, सर्वशब्दसामर्थ्यात् । सर्वभोजनासंभवात्तु तत्र निमन्त्रितमात्रविषया सर्वशब्दस्य वृत्तिराश्रिता, इह तु न किंचित्सर्वशब्दार्थसङ्कोचने कारणमस्ति । तस्मात्सर्वशब्देनात्राशेषाणां प्राणानां परिग्रहः । प्रदर्शनार्थं च सप्तानामनुक्रमणमित्यनवद्यम् । तस्मादेकादशैव प्राणा-शब्दतः कार्यतश्चेति सिद्धम् ॥६॥

(३ प्राणाणुत्वाधिकरणम् । सू० ७)

अणवश्च ॥७॥

पदच्छेद—अणवः, च ।

सूत्रार्थ—और प्राण-इन्द्रियाँ अणु-सूक्ष्म हैं, क्योंकि वे इन्द्रियोंसे अग्राह्य हैं ।

❀ अधुना प्राणानामेव स्वभावान्तरमभ्युच्चिनोति । अणवश्चैते प्रकृताः प्राणाः प्रति-

---

दिखलाती है, और आथर्वणमें विषय और इन्द्रियके अनुक्रमणमें ‘चक्षुश्च द्रष्टव्यं च’ (चक्षु और द्रष्टव्य) इसमें समानरूपसे सविषय हस्त आदि इन्द्रियोंका ‘हस्तौ चादतव्यं०’ (हस्त और ग्रहण करनेयोग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय, पाद और गन्तव्य स्थान) इस प्रकार गिनाते हैं । इसप्रकार ‘दशेमे पुरुषे०’ (देहमें ये दश प्राण हैं और मन ग्यारहवाँ है ये जिस समय इस मर्त्य शरीरसे उत्क्रमण करते हैं उस समय अपने सम्बन्धियोंको रोदन कराते हैं इसलिए रुद्र कहलाते हैं) यह श्रुति एकादश प्राणोंकी उत्क्रान्ति दिखलाती है । सर्व शब्द भी प्राण शब्दके साथ सम्बन्धित होता हुआ अशेष प्राणोंका अभिधान् करता हुआ प्रकरणके बलसे सातमें ही अवस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रकरणसे श्रुति बलवती है । ‘सब ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिए’ यहाँपर भी पृथिवीपर रहनेवाले समस्त ब्राह्मणोंका ही ग्रहण न्याय है, कारण कि सर्व शब्दकी सामर्थ्य है । परन्तु सबके भोजनका संभव न होनेसे वहाँ सर्वशब्दकी वृत्ति निमन्त्रित ब्राह्मणमात्र विषयक ग्रहण की जाती है । परन्तु यहाँ तो सर्वशब्दके अर्थके संकोचमें कोई भी कारण नहीं है, इसलिए यहाँ सर्वशब्दसे समस्त प्राणोंका परिग्रह है और प्रदर्शनके लिए सातोंका अनुक्रमण है, यह भी दोषरहित है, अतः शब्द (श्रुति) से और कार्यसे एकादश ही प्राण हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

अब सूत्रकार प्राणोंके-इन्द्रियोंके ही अन्य स्वभावका समुच्चय कहते हैं । ये प्रकृत प्राण अणु

सत्यानन्दी दीपिका

(वागादि पाँच-कर्मेन्द्रियाँ, श्रवणादि पाँच-ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान ये पाँच प्राण, आकाश आदि पाँच सूक्ष्मभूत, अन्तःकरण चतुष्टय, अविद्या, काम और कर्म यह पुर्यष्टक अथवा लिङ्ग शरीर कहलाते हैं, क्योंकि आत्माके ज्ञापक हैं) मरण समय ये सब जीवके साथ रहते हैं जबतक जीव इनसे मुक्त नहीं होता तबतक उसका मोक्ष नहीं होता है ।

* इसप्रकार संख्या विषयक श्रुतियोंका परस्पर विरोध न होनेपर एकादश इन्द्रियोंके कारणभूत ब्रह्ममें श्रुतियोंका समन्वय सिद्ध है ॥ ६ ॥

* ‘प्राणाः सर्वे अनन्ताः’ (सब प्राण अनन्त हैं) यह श्रुति इन्द्रियोंको विभु कहती है । सांख्य-

व्याः। अणुत्वं चैषां सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वम्, कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुप सङ्गात्। सूक्ष्मा एते प्राणाः, स्थूलाश्चेत्स्युर्मरणकाले शरीरान्निर्गच्छन्तो बिलादहिरि भ्येरन्म्रियमाणस्य पार्श्वस्थैः। परिच्छिन्नाश्चैते प्राणाः, सर्वगताश्चेत्स्युरुत्क्रान्तिगत्या तिव्याकोपः स्यात्। तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिध्येत्। सर्वगतानामपि वृत्तिलाभः देशे स्यादिति चेत्—न, वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेव ह्युपलब्धिसाधनं वृत्तिरन्यद्वा व नः करणत्वं, संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका। तस्मा क्ष्माः परिच्छिन्नाश्च प्राणा इत्यध्यवस्यामः ॥७॥

(४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम्। सू० ८)

श्रेष्ठश्च ॥८॥

पदच्छेद—श्रेष्ठः, च।

सूत्रार्थ—और मुख्य प्राण भी इन्द्रियोंके समान ब्रह्मसे उत्पन्न होता है।

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद्ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति। तच्चाविशेषेणैव सर्वप्राणानां विकारत्वमाख्यातम्, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति न्द्रियमनोव्यतिरेकेण प्राणस्योत्पत्तिश्रवणात्। 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इत्यादिश्रवणे भ्य। किमर्थः पुनरतिदेशः ? अधिकाशङ्काऽपाकरणार्थः। नासदासीये हि ब्रह्मप्रधाने सूक्ते

ने चाहिएँ। इन प्राणोंकी अणुता, सूक्ष्मता और परिच्छिन्नता है, परमाणु तुल्यता नहीं है, ऐसा माननेपर समस्त देह व्यापी कार्यकी अनुपपत्तिका प्रसङ्ग होगा। ये प्राण सूक्ष्म हैं, यदि होते, तो मरण कालमें बिलसे निकले हुए सर्पके समान म्रियमाण पुरुषके शरीरसे निकलते हुए र्श्वस्थ लोगोंसे उपलब्ध होते और ये प्राण परिच्छिन्न हैं। यदि सर्वगत हों, तो उत्क्रान्ति, गति आगति श्रुतिका विरोध होगा और जीवमें अन्तःकरण गुण प्रधानत्व सिद्ध नहीं होगा। यदि कहो र्वगतोंका भी शरीर प्रदेशमें वृत्ति लाभ हो जायगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वृत्तिमात्रमें न हो सकता है। वृत्ति हो अथवा अन्य हो जो उपलब्धिका साधन है वही हमारे मतमें करण संज्ञा मात्रमें विवाद है, अतः करणोंमें व्यापित्व कल्पना निर्थक है, इससे हम ऐसा निश्चय करते के इन्द्रिय सूक्ष्म और परिच्छिन्न हैं ॥ ७ ॥

मुख्य प्राण भी अन्य प्राणोंके समान ब्रह्मका विकार है, इस प्रकार सूत्रकार अतिदेश करते । वह ब्रह्मविकारत्व सब प्राणोंका समानरूपसे ही कहा गया है। 'एतस्माज्जायते० (इससे प्राण, और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं) और 'स प्राणमसृजत' (उसने प्राणको उत्पन्न किया) दि श्रुतियोंसे भी इन्द्रिय सहित मनसे अतिरिक्त प्राणकी उत्पत्तिका श्रवण होता है। तो पुनः यह

सत्यानन्दी दीपिका

में अहंकार जगत् व्यापी है, अतः इन्द्रियाँ उसका कार्य होनेसे वे भी व्यापक सिद्ध होती हैं, किन्तु त् देहमें उनकी अभिव्यक्तिरूप प्रदेश वृत्तियाँ हैं। विभु होनेसे इन्द्रियोंकी उत्क्रान्ति आदि नहीं , इसप्रकार आक्षेप संगतिसे सांख्योंका पूर्वपक्ष है। इसप्रकार प्राणके परिमाणविषयक सन्देह होनेपर न्त कहते हैं—इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं विभु नहीं, क्योंकि अनुद्भूतरूप और स्पर्शवाली हैं। यदि इंद्रियाँ क हों, तो दूर और समीपस्थ सब पदार्थोंका ज्ञान प्रसक्त होगा और उत्क्रान्ति आदि प्रतिपादक योंका बाध होगा। यदि बुद्धि व्यापक हो तो आत्मामें बुद्धिरूप उपाधिसे 'एषोरणुरात्मा' इस र अणुत्व सिद्ध नहीं होगा और जीवमें 'तद्गुणसारत्व' न्यायका बाध होगा। इसलिए 'प्राणाः नन्ताः' इस प्रकार श्रुतिमें इन्द्रियोंमें प्रातिपादित अनन्तत्व उपासनाके लिए है, अतः उसका क्रान्ति आदि श्रुतिके साथ कोई विरोध नहीं है ॥ ७ ॥

मन्त्रवर्णो भवति 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्नआसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास' (ऋ० सं० ८।७।१७) इति। आनीदिति प्राणकर्मोपादानात्प्रागुत्पत्तः सन्तमिव प्राणं सूचयति। तस्मादजः प्राण इति जायते कस्यचिन्मतिः। तामतिदेशेनापनुदति। आनीच्छब्दोऽपि न प्रागुत्पत्तः प्राणसद्भावं सूचयति, अवातमिति विशेषणात्, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति च मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य दर्शितत्वात्। तस्मात्कारणसद्भावप्रदर्शनार्थ एवायमानीच्छब्द इति। ॐ श्रेष्ठ इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति, 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) इति श्रुतिनिर्देशात्। ज्येष्ठश्च प्राणः, शुक्रनिषेककालादारभ्य तस्य वृत्तिलाभात्। न चेत्तस्य तदानीं वृत्तिलाभः स्याद्योनौ निषिक्तं शुक्रं पूयेत, न संभवेद्वा। श्रोत्रादीनां तु कर्णशष्कुल्यादिस्थानविभागनिष्पत्तौ वृत्तिलाभान्न ज्येष्ठत्वम्। श्रेष्ठश्च प्राणः, गुणाधिक्यात्, 'न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' (बृ० ६।१।१३)इति श्रुतेः ॥८॥

(५ वायुक्रियाधिकरणम् । सू० ६-१२)

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

पदच्छेद—न, वायुक्रिये, पृथगुपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(न वायुक्रिये) मुख्य प्राण न वायु है और न इन्द्रियोंका व्यापार, किन्तु वायुविशेष है। (पृथगुपदेशात्) क्योंकि 'स वायुना ज्योतिषा' 'एतस्माज्जायते प्राणः, इत्यादि श्रुतिमें उसका पृथक् उपदेश है।

ॐ स पुनर्मुख्यः प्राणः किंस्वरूप इतीदानीं जिज्ञास्यते। तत्र प्राप्तं तावत्-श्रुतेर्वायुः

अतिदेश किस लिए है? अधिक शंकाके परिहारके लिए है। क्योंकि नासदासीय नामक ब्रह्म प्रधान सूक्तमें 'न मृत्युरासीदमृतं० (महाप्रलयकालमें मृत्यु नहीं थी और अमृत भी नहीं था, रात्रि तथा दिवसके चिह्न भूत चन्द्र और सूर्य नहीं थे, स्वधाके साथ अर्थात् पितृदेय भी नहीं था, वह अकेला व्यापार रहित [ब्रह्म] था, उससे पर अन्य कुछ नहीं था) यह मन्त्रवर्ण है। 'आनीत' (वह चेष्टा युक्त है) यह शब्द प्राण कर्मका ग्रहण होनेसे उत्पत्तिके पूर्व प्राणको विद्यमानकी भान्ति सूचित करता है। इससे प्राण उत्पत्ति रहित है, इस प्रकार किसीकी बुद्धि उत्पन्न हो सकती है, उसका अतिदेशसे निराकरण करते हैं। 'आनीत' शब्द भी उत्पत्तिके पूर्व प्राणके सद्भावको सूचित नहीं करता, क्योंकि 'अवातम्' (वात रहित) यह विशेषण है और 'अप्राणो० (वह अप्राण, मन रहित और शुद्ध है) इस प्रकार मूल प्रकृति प्राण आदि समस्त विशेषोंसे रहित दिखलाई गई है। इसलिए यह 'आनीत' शब्द कारणके सद्भाव प्रदर्शनके लिए ही है। 'प्राणो वाव० (प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है) इस श्रुतिके निर्देशसे 'श्रेष्ठ' यह शब्द मुख्य प्राणका अभिधान करता है। प्राण ज्येष्ठ है, क्योंकि वीर्य निषेककाल (गर्भाधान काल) से लेकर उसका वृत्ति लाभ होता है। यदि उस समय उसका वृत्तिलाभ न हो तो गर्भाशयमें निषिक्त शुक्र दूषित हो जाता अथवा उसका संभव न होता। श्रोत्र आदि तो ज्येष्ठ नहीं है, क्योंकि कर्ण-शष्कुलि आदि स्थान विभाग निष्पन्न होनेपर उनका वृत्तिलाभ होता है। और प्राणोंके आधिक्यसे प्राण श्रेष्ठ है, क्योंकि 'न वै० (तुम्हारे विना हम जीवित रहनेमें समर्थ नहीं है) ऐसी श्रुति है ॥८॥

उस मुख्य प्राणका क्या स्वरूप है, इसप्रकारकी अब जिज्ञासा होती है। श्रुतिसे ऐसा प्राप्त

सत्यानन्दी दीपिका

* वाणी आदिके जीवनका हेतुत्व प्राणका गुण है, इस गुणके आधिक्यसे प्राण श्रेष्ठ है। इसप्रकार 'आनीत' इस श्रुतिके साथ विरोध न होनेसे प्राणोत्पत्ति श्रुतिका ब्रह्ममें समन्वय है। अतः मुख्य प्राण भी अन्य इन्द्रियोंके समान ब्रह्मसे उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

इति। एवं हि श्रूयते—'यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः ' इति। अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात्समस्तकरणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम्। एवं हि तरीया आचक्षते—'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्चे'ति। अत्रोच्यते—न प्राणो नापि करणव्यापारः, कुतः ? पृथगुपदेशात्। वायोस्तावत्प्राणस्य पृथगुपदेशो 'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छान्दो० ३।१८।४) नहि वायुरेव सन् वायोः पृथगुपदिश्येत। तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति, नि करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक्प्राणस्यानुक्रमणात्, वृत्तिवृत्तिमतोश्चाभेदात्। करणव्यापार एव सन् करणेभ्यः पृथगुपदिश्येत। ❀ तथा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः न्द्रियाणि च। खं वायुः' (मु० २।१।३) इत्येवमादयोऽपि वायोः करणेभ्यश्च प्राणस्य पदेशा अनुसर्तव्याः। नच समस्तानां करणानामेका वृत्तिः संभवति, प्रत्येकमेकैकवृत्ति-

---

है कि प्राण वायु है, क्योंकि 'यः प्राणः स वायुः०' (जो प्राण है वह वायु है वह वायु प्राण, व्यान, उदान और समान भेदसे पाँच प्रकारका है) ऐसी श्रुति है। अथवा अन्य (सांख्य) के अभिप्रायसे प्राण समस्त करणोंकी वृत्ति है, ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि 'इन्द्रियोंकी सामान्य प्राण आदि पाँच वायु है' अन्य तन्त्रवाले ऐसा कहते हैं। इसपर कहते हैं—प्राण वायु नहीं है उसी प्रकार करणोंका व्यापार भी नहीं है। क्यों ? पृथगुपदेश है। 'प्राण एव०' (प्राण ही ब्रह्मका चतुर्थपाद है, वह वायुरूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है) इसप्रकार प्राणका पृथक् उपदेश है। प्राण वायु होता हुआ वायुसे पृथक् उपदिष्ट नहीं होना चाहिए। इसीप्रकार इन्द्रिय व्यापारसे भी पृथक् उपदेश है, कारण कि वाणी आदि इन्द्रियोंका अनुक्रम कर प्रकरणमें प्राणका पृथक् अनुक्रम है और वृत्ति और वृत्तिमान्का अभेद है, करणोंका व्यापार हुआ उसका करणोंसे पृथक् उपदेश नहीं होना चाहिए। उसीप्रकार 'एतस्माज्जायते०' (इससे मन तथा सब इन्द्रियाँ, आकाश और वायु उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियोंका जिनमें प्राणका और इन्द्रियोंसे पृथक् उपदेश है उनका भी अनुसरण करना चाहिए। समस्त करणोंकी एक

सत्यानन्दी दीपिका

* इन्द्रियोंका विचार कर उनके व्यापारसे प्राणको पृथक् करनेके लिए प्राणकी उत्पत्तिका श किया गया है। अब प्राणकी उत्पत्तिके अनन्तर प्रसंग संगतिसे उसके स्वरूपका विचार किया है। क्या मुख्य प्राण वायु मात्र है वा इन्द्रियोंका साधारण व्यापार है अथवा अन्य तत्त्व है ? र वायु और प्राणमें भेद और अभेद श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे संशय होनेपर 'तत्र' से पूर्वपक्ष दिखलाते हैं। सिद्धान्ती—'अत्रोच्यते' इत्यादिसे कहते हैं। किञ्च मनोमय ब्रह्मके प्राण, नेत्र और श्रोत्र ये चार पाद श्रुतिमें कहे गए है। प्राण अधिदैविक वायु द्वारा अभि- होकर अपने व्यापार करनेमें समर्थ होता है, इसलिए श्रुतियोंमें प्राण और वागादि इन्द्रियोंके संवादरूप लिङ्गसे और पृथक् उत्पत्तिरूप लिंगसे प्राण इन्द्रिय और उनके व्यापारसे पृथक् है।

❀ प्राण प्रत्येक इंद्रियका व्यापार है अथवा समुदायका ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि जो र नेत्र इंद्रियसे साध्य है वह श्रोत्र इंद्रियसे साध्य नहीं है। नेत्रका व्यापार रूप आदिका ग्रहण श्रोत्रका व्यापार शब्द ग्रहण है। प्रत्येक इंद्रियका भिन्न-भिन्न व्यापार है। इनमें किसीका भी प्राणन र नहीं है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस समुदायमेंसे एक, दो, तीन अथवा चार न्द्रियोंके न होनेसे प्राणन कार्य नहीं होगा। अतः प्राणन व्यापार श्रोत्र आदिके श्रवण आदि रसे अत्यन्त भिन्न है।

त्वात्समुदायस्य चाकारकत्वात्। ननु पञ्जरचालनन्यायेनैतद्भविष्यति। यथैकपञ्जरवर्तिन एकादशपक्षिणः प्रत्येकं प्रतिनियतव्यापाराः सन्तः संभूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिन एकादश प्राणाः प्रत्येकं प्रतिनियतवृत्तयः सन्तः संभूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति, नेत्युच्यते—युक्तं तत्र प्रत्येकवृत्तिभिरवान्तरव्यापारैः पञ्जरचालनानुरूपैरेवोपेताः पक्षिणः संभूयैकं पञ्जरं चालयेयुरिति, तथा दृष्टत्वात्। इह तु श्रवणाद्यवान्तरव्यापारोपेताः प्राणा न संभूय प्राण्युरिति युक्तम्, प्रमाणाभावात्, अत्यन्तविजातीयत्वाच्च श्रवणादिभ्यः प्राणनस्य। * तथा प्राणस्य श्रेष्ठत्वाद्युद्घोषणं, गुणभावोपगमश्च तं प्रति वागादीनां, न करणवृत्तिमात्रे प्राणेऽवकल्पते। तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः। कथं तर्हीयं श्रुतिः 'यः प्राणः स वायुः' इति ? उच्यते–वायुरेवायमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनावतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते, न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम्। अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्येते ॥९॥

स्यादेतत्–प्राणोऽपि तर्हि जीववदस्मिञ्शरीरे स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति, श्रेष्ठत्वाद्गुणभावोपगमाच्च तं प्रति वागादीनामिन्द्रियाणाम्। तथा ह्यनेकविधा विभूतिः प्राणस्य श्राव्यते–'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एवैको हि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः, प्राणः संवर्गो वागादीन्संवृङ्क्ते प्राण इतरान्प्राणान्रक्षति मातेव पुत्रान्' इति। तस्मात्प्राणस्यापि जीववत्स्वातन्त्र्यप्रसङ्गः। तं परिहरन्नि-

---

वृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक इंद्रियकी पृथक् एक एक वृत्ति है और समुदाय कारक नहीं है। परन्तु पञ्जर चालन न्यायसे यह हो जायगा - जैसे एक पिंजरेमें वर्तमान एकादश पक्षी प्रत्येक प्रतिनियत व्यापारवाले होते हुए भी मिलकर एक पिंजरेको चलाते हैं। वैसे ही एक शरीरवर्ती एकादश प्राण प्रत्येक प्रतिनियत व्यापारवाले होते हुए भी मिलकर एक प्राण नामक वृत्तिको प्राप्त करें। नहीं, ऐसा कहते हैं—प्रत्येकमें रहनेवाले पिंजर संचालनके अनुरूप अवान्तर व्यापारोंसे युक्त पक्षी मिलकर एक पिंजरको हिलावें उसमें तो यह युक्त है, क्योंकि वैसा देखनेमें आता है। यहां तो श्रवण आदि अवान्तर व्यापारोंसे युक्त इंद्रियाँ मिलकर प्राणन व्यापार करें यह युक्त नहीं है, कारण कि प्रमाण नहीं है और प्राणन व्यापार श्रवण आदिसे अत्यन्त विलक्षण है। इसीप्रकार प्राणमें श्रेष्ठत्व आदि उद्घोष और उसके प्रति वाक् आदिका गुणभाव स्वीकार यह करणवृत्ति मात्र प्राणमें नहीं हो सकता, इसलिए प्राण वायु और इंद्रियोंके व्यापारसे भिन्न है। तो 'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है वह वायु है) यह श्रुति कैसे उपपन्न होगी ? कहते हैं—यह वायु ही अध्यात्मभावापन्न पाँच प्रकारका होकर विशेषरूपसे अवस्थित होता हुआ प्राण नाम कहा जाता है, वह न अन्य तत्त्व है और न वायु मात्र है, इसलिए भेद श्रुति और अभेद श्रुति दोनों भी विरुद्ध नहीं है ॥ ९ ॥

ऐसा हो, परन्तु तब प्राणको भी इस शरीरमें जीवके समान स्वातन्त्र्य प्राप्त होता है, क्योंकि वह श्रेष्ठ है और वाणी आदि इन्द्रियाँ उसके अङ्गरूपसे स्वीकार हैं। इसीप्रकार 'सुप्तेषु' (वाक् आदि इन्द्रियोंके सुप्त होनेपर अकेला प्राण ही जागता है, अकेला प्राण ही मृत्युसे व्याप्त नहीं होता, वाक् आदिका अपनेमें संहरण करता है, अतः प्राण संवर्ग है, जैसे माता पुत्रोंकी रक्षा करती है, वैसे प्राण अन्य प्राणों-इंद्रियोंकी रक्षा करता है) इसप्रकार प्राणकी अनेक प्रकारकी विभूति सुनी जाती है। इसलिए प्राणमें भी जीवके समान स्वातन्त्र्य प्रसंग है। उसका परिहार करते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

* यदि प्राणको इन्द्रियोंका व्यापार मानें, तो वाणी आदि ही प्रधान होंगे. तब श्रुतिगत प्राण और इन्द्रिय संवादसे विरोध होगा, इसलिए प्राण वायु और इंद्रियोंके व्यापारसे भिन्न है, अतः देहमें प्राप्त प्राण आदि पाँच भेदवाला विकाररूपसे स्थित वायु ही प्राण है, यह अभेद श्रुतिका भाव है ॥९॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

पदच्छेद—चक्षुरादिवत्, तु, तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है । प्राण जीवात्माके समान स्वतन्त्र नहीं तु (चक्षुरादिवत्) चक्षु आदिके समान पराधीन है, क्योंकि प्राणोंके संवाद प्रकरणमें (तत्सह-ष्ट्यादिभ्यः) चक्षु आदिके साथ प्राणका उपदेश है और उसमें अचेतनत्व आदिका प्रतिपादन है ।

*तुशब्दः प्राणस्य जीववत्स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति । यथा चक्षुरादीनि राजप्रकृतिवज्जी-कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रत्युपकरणानि न स्वतन्त्राणि । तथा मुख्योऽपि प्राणो राजमन्त्रि-वस्य सर्वार्थकरत्वेनोपकरणभूतो न स्वतन्त्रः । कुतः ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । तैश्चक्षुरा-ः सहैव प्राणः शिष्यते प्राणसंवादादिषु । समानधर्मणां च सह शासनं युक्तं बृहद्रथंत-वत् । आदिशब्देन संहतत्वाचेतनत्वादीन्प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणहेतून्दर्शयति ॥१०॥

स्यादेतत्--यदि चक्षुरादिवत्प्राणस्य जीवं प्रति करणभावोऽभ्युपगम्येत, विषयान्तरं दिवत्प्रसज्येत । रूपाद्यालोचनादिभिर्वृत्तिभिर्यथास्वं चक्षुरादीनां जीवं प्रति करणभावो ति । अपि चैकादशैव कार्यजातानि रूपालोचनादीनि परिगणितानि यदर्थमेकादश संगृहीताः, नतु द्वादशमपरं कार्यजातमधिगम्यते यदर्थमयं द्वादशः प्राणः प्रतिज्ञाये-ति । अत उत्तरं पठति—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥११॥

पदच्छेद—अकरणत्वात्, च, न, दोषः, तथा, हि, दर्शयति ।

'तु' शब्द जीवके समान प्राणकी स्वतन्त्रताकी व्यावृत्ति करता है । जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ राजाके समान जीवके कर्तृत्व, भोक्तृत्वके प्रति उपकरण हैं स्वतन्त्र नहीं है, वैसे ही मुख्य प्राण राजमन्त्रीके समान जीवका सर्वार्थ साधक होनेसे उपकरण भूत है स्वतन्त्र नहीं है । किससे ? कि उनके साथ इसका उपदेश आदि है । प्राण संवाद आदिमें उन चक्षु आदिके साथ ही शासन (उपदेश) किया जाता है, और समान धर्मवालोंका बृहत् रथान्तर आदिके समान साथ शासन युक्त है । भगवान् सूत्रकार सूत्रस्थ आदि शब्दसे संहतत्व, अचेतनत्व आदि प्राणके न्त्र्य निवारक हेतुओंको दिखलाते हैं ॥ १० ॥

ऐसा हो, यदि प्राणका नेत्र आदिके समान जीवके प्रति करणभाव स्वीकार किया जाय, तो के भी रूप आदिके समान अन्य विषय प्रसक्त होगा । रूप आदिके आलोचन आदि अपनी वृत्तियों चक्षु आदिका जीवके प्रति करणभाव होता है । और रूप आलोचन आदि एकादश कार्य समु-की ही गणना की गई है, जिनके लिए एकादश इन्द्रियोंका संग्रह किया गया है, किन्तु बारहवाँ कार्य समुदाय अधिगत नहीं होता, जिसके लिए इस बारहवें प्राणकी प्रतिज्ञा की जाय । अतः का उत्तर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

*यदि प्राणको इन्द्रियोंका व्यापार न मानें, तो वह जीवके समान इस शरीरमें स्वतन्त्र कर्ता, ा होगा ? 'प्राणो न भोक्ता भोगोपकरणत्वात, चक्षुरादिवत्' (प्राण भोक्ता नहीं है, क्योंकि का साधन है जैसे चक्षु आदि) जैसे बृहत् और रथान्तर नामवाले सामविशेषका सर्वत्र प्रयोग है अथवा सामत्व होनेके कारण दोनोंमें सादृश्य होनेसे साथ पाठ है, वैसे ही उपकरण से प्राणका इन्द्रियोंके साथ सादृश्य होनेसे उनके साथ पाठ है । 'प्राणो न भोक्ता सावयवत्वात् तनत्वात् भौतिकत्वाच्च देहवत्' (प्राण भोक्ता नहीं है, क्योंकि वह देहके समान सावयव, जड़ और क है) इसलिए प्राण इंद्रियोंके समान उपकरण होनेसे इस शरीरमें स्वतंत्र भोक्ता नहीं है ॥१०॥

सूत्रार्थ—(अकरणत्वाच्च) प्राणको ज्ञानमें करण न होनेसे (न दोषः) चक्षु आदिके समान अन्य विषय प्रसङ्गका दोष नहीं है, (ही) क्योंकि (तथा) उसीप्रकार 'तान्वरिष्ठः' इत्यादि श्रुति शरीर और इन्द्रियका धारणरूप कार्य प्राणमें (दर्शयति) दिखलाती है।

❀ न तावद्विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः, अकरणत्वात्प्राणस्य। नहि चक्षुरादिवत्प्राणस्य विषयपरिच्छेदेन करणत्वमभ्युपगम्यते। न चास्यैतावता कार्याभाव एव। कस्मात्? तथा हि श्रुतिः प्राणान्तरेष्वसंभाव्यमानं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयति प्राणसंवादादिषु—'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' इत्युपक्रम्य 'यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः' (छा० ५।१।६,७) इति चोपन्यस्य प्रत्येकं वागाद्युत्क्रमणेन तद्वृत्तिमात्रहीनं यथापूर्व जीवनं दर्शयित्वा, प्राणोच्चिक्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्तिं शरीरपातप्रसङ्गं च दर्शयन्ती श्रुतिः प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थितिं दर्शयति। 'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमे वैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति चैतमेवार्थं श्रुतिराह—'प्राणेन रक्ष वरं कुलायम्' (बृ० ४।३।१२) इति च सुप्तेषु चक्षुरादिषु प्राणनिमित्तां शरीररक्षां दर्शयति। 'यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' (बृ० १।३।१९)। 'तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्प्राणानवति' इति च प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियपुष्टिं दर्शयति। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इति, 'स प्राणमसृजत' इति च प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति ॥ ११ ॥

यहाँ अन्य विषय प्रसङ्गदोष नहीं है, क्योंकि प्राण अकरण है। प्राणका चक्षु आदिके समान विषय परिच्छेद-निश्चयसे करणत्व स्वीकार नहीं किया जाता। इतने मात्रसे इसका कार्यभाव नहीं है, क्योंकि श्रुति अन्य प्राणोंमें न होनेवाला मुख्य प्राणका विशेषकार्य प्राणसंवाद आदिमें दिखलाती है—'अथ ह प्राणा० (अनन्तर प्राणोंने अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद किया) इसप्रकार आरम्भ क 'यस्मिन् व० (प्रजापति—तुममेंसे जिसके उत्क्रान्त होनेपर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ-सा दिखाई देने ल वही तुममें श्रेष्ठ है) ऐसा उपन्यास कर प्रत्येक वाक् आदिके उत्क्रमणसे केवल उसकी वृत्तिमात्र हीं पूर्वके समान जीवन दिखलाकर प्राणके उत्क्रमणकी इच्छा होनेपर वाक् आदिकी शैथल्यप्राप्ति औ शरीरपात प्रसङ्गको दिखलाती हुई श्रुति प्राण निमित्तक शरीर और इन्द्रियोंकी स्थिति दिखलाती है। 'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच० (उनसे मुख्य प्राणने कहा—मोहको मत प्राप्त हो, मैं ही अपनेको पां प्रकारसे विभक्तकर इस कार्य-करण संघातरूप शरीरको अवलम्बन कर धारण करता हूं) श्रुति भी इसी अर्थको कहती है। 'प्राणेन० (इस निकृष्ट शरीर नामक गृहकी प्राणसे रक्षा करता हुआ इसप्रकार यह श्रुति [सुषुप्तिमें] चक्षु आदिके सुप्त होनेपर प्राण निमित्तक शरीरकी रक्षा दिखलाती है। 'यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्० (जिस किसी अङ्गसे प्राण उत्क्रमण करता है, वह (रस) उसी अङ्ग सूख जाता है) और 'तेन यदश्नाति० (उस प्राणद्वारा जीव जो खाता है और जो पीता है उसे अन्य प्राणोंका रक्षण करता है) इसप्रकार श्रुति प्राण निमित्तक शरीर और इन्द्रियोंकी पुष्टि दिखलाती है। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त० (किसके देहसे उत्क्रान्त होनेपर मैं उत्क्रान्त होऊँगा और किसके देहमें प्रतिष्ठित होनेपर मैं प्रतिष्ठित होऊँगा) यह विचार कर 'स प्राणमसृजत०' (उसने प्राणको उत्पन्न किया) इसप्रकार श्रुति जीवकी उत्क्रान्ति और प्रतिष्ठा प्राण निमित्तक दिखलाती है ॥ ११ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* 'यद्भोगकरणं तत् सविषयं दृष्टम्' इस व्याप्तिका शरीरमें व्यभिचार है, क्योंकि शरीर एवं इन्द्रियोंका धारण और उत्क्रमण आदि प्राणका असाधारण कार्य है। अतः प्राणके निर्विषय होनेपर भी शरीर आदिके समान उसमें उपकरणत्व अवश्यंभावी है ॥ ११ ॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥१२॥

पदच्छेद—पञ्चवृत्तिः, मनोवत्, व्यपदिश्यते ।

सूत्रार्थ—प्राणको 'प्राणोऽपानो०' इत्यादि श्रुतिसे (मनोवत्) मनके समान (पञ्चवृत्तिः) वृत्तिवाला (व्यपदिश्यते) कहा जाता है ।

* इतश्चास्ति मुख्यस्य प्राणस्य वैशेषिकं कार्यं, यत्कारणं पञ्चवृत्तिरयं व्यपदिश्यते —'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' (बृ० १।५।३) इति । वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदा- । प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा । अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा । व्यानस्तयोः संधौ नो वीर्यवत्कर्महेतुः । उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः । समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु योऽ- न्नयतीति एवं पञ्चवृत्तिः प्राणो मनोवत् । यथा मनसः पञ्च वृत्तय एवं प्राणस्यापीत्यर्थः । ादिनिमित्ताः शब्दादिविषया मनसः पञ्च वृत्तयः प्रसिद्धाः, ननु कामः संकल्प इत्याद्याः ठिताः परिगृह्येरन्, पञ्चसंख्यातिरेकात् । नन्वत्रापि श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदा- विषयाऽपरा मनसो वृत्तिरस्तीति समानः पञ्चसंख्यातिरेकः । एवं तर्हि 'परमतमप्रतिषिद्ध- तं भवति' इति न्यायादिहापि योगशास्त्रप्रसिद्धा मनसः पञ्च वृत्तयः परिगृह्यन्ते—'प्रमाण- र्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' (पात० योग० सू० १।१।६) नाम । बहुवृत्तित्वमात्रेण वा मनः स्य निदर्शनमिति द्रष्टव्यम् । जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य पञ्चवृत्तित्वान्मनोवदिति जयितव्यम् ॥१२॥

और इस हेतुसे भी मुख्यप्राणका विशेष कार्य है, क्योंकि 'प्राणोऽपानो० (प्राण, अपान, न, उदान और समान) इस प्रकार श्रुतियोंमें प्राण पाँच वृत्तिवाला कहा जाता है । प्राण-प्राग्वृत्ति- का व्यापार बाहर उच्छ्वास आदि देहधारण कर्म है । अपान-अर्वाग्वृत्ति-जिसका व्यापार भीतर श और निश्वास कर्म है । व्यान-इन दोनोंकी सन्धिमें वर्तमान होता हुआ वीर्यवान् कर्मका है । उदान ऊर्ध्व वृत्तिवाला और उत्क्रान्ति आदि (गति, आगति) का हेतु है । जो सब अङ्गोंमें ानरूपसे अन्नरसोंको ले जाता है वह समान है, इसप्रकार कार्यभेदकी अपेक्षा यह वृत्तिभेद है । मनके समान प्राण भी पाँच वृत्तिवाला है । जैसे मनकी पाँच वृत्तियाँ है, वैसे प्राणकी भी पाँच याँ हैं, यह अर्थ है । श्रोत्र आदि निमित्तसे शब्द आदि विषयक मनकी पाँच वृत्तियाँ प्रसिद्ध है । परन्तु मः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिमें पठित काम, संकल्प आदि वृत्तियोंका यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिए, कि उनके ग्रहणसे पांच संख्यासे अधिक हो जायगी । परन्तु यहाँ भी श्रोत्र आदि निरपेक्ष भूत और ष्यत् आदि विषयक अन्य भी मनकी वृत्तियाँ हैं, इसप्रकार पाँच संख्यासे अधिकता समान है, दि ऐसा हो तो 'पर मतसे अविरुद्ध अनुमत होता हैं' इस न्यायसे यहाँ भी योगशास्त्रमें प्रसिद्ध मनकी वृत्तियोंका ग्रहण किया जाता है—'प्रमाण० (प्रमाण-प्रमिति, विपर्यय (भ्रम) विकल्प (शश- ाणादिज्ञान) निद्रा और स्मृति) अथवा अनेक वृत्तिवाला होनेसे मन प्राणका दृष्टान्त है, ऐसा झना चाहिए । अथवा 'प्राण भी जीवका उपकरण है पाँच वृत्तिवाला होनेसे मनके समान' ऐसी जना करनी चाहिए ॥ १२ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* काम आदि वृत्तिके समान शब्द आदि विषयक मनकी वृत्ति रूप ज्ञानमें पञ्चत्व संख्याका यम नहीं है, इससे प्राण और मनका उपमानोपमेय भाव नहीं हो सकता, इस अरुचिसे 'नन्वत्रापि' ादिसे अन्य पक्षका ग्रहण किया गया है । 'प्रमाण०' यह उपमान योग मतको मानकर कहा गया है । न्तु सिद्धान्तमें भ्रम और निद्रा ये अविद्याकी वृत्ति हैं मनकी नहीं । इस अरुचिसे सिद्धान्ती 'बहु-

(६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् । सू० १३)

अणुश्च ॥१३॥

पदच्छेद—अणुः, च ।

सूत्रार्थ— मुख्य प्राण अणु-सूक्ष्म और परिच्छिन्न है ।

❀ अणुश्चायं मुख्यः प्राणः प्रत्येतव्यः, इतरप्राणवत् । अणुत्वं चेहापि सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ, न परमाणुतुल्यत्वम्, पञ्चभिर्वृत्तिभिः कृत्स्नशरीरव्यापित्वात्, सूक्ष्मः प्राणः, उत्क्रान्तौ पार्श्वस्थेनानुपलभ्यमानत्वात् परिच्छिन्नश्चोत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिभ्यः । ननु विभुत्वमपि प्राणस्य समाम्नायते--'समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' (बृ० १।३।२२) इत्येवमादिप्रदेशेषु । तदुच्यते—आधिदैविकेन समष्टिव्यष्टिरूपेण हैरण्यगर्भेण प्राणात्मनैवैतद्विभुत्वमाम्नायते, नाध्यात्मिकेन । अपि च समः प्लुषिणेत्यादिना साम्यवचनेन प्रतिप्राणिवर्तिनः प्राणस्य परिच्छेद एव प्रदर्श्यते तस्माददोषः ॥१३॥

(७ ज्योतिराद्यधिकरणम् । सू० १४-१६)

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

पदच्छेद—ज्योतिराद्यधिष्ठानम्, तु, तदामननात् ।

सूत्रार्थ-(तु) शब्द पूर्वपक्षके निरासार्थ है, (ज्योतिराद्यधिष्ठानम्) चक्षु आदि इंद्रियोंकी अग्नि आदि देवताके अधीन चेष्टा होती है, (तदामननात्) क्योंकि 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यादि श्रुतियाँ है।

❀ ते पुनः प्रकृताः प्राणाः किं स्वमहिम्नैव स्वस्मै स्वस्मै कार्याय प्रभवन्त्याहोस्विद्देवताधिष्ठिताः प्रभवन्तीति विचार्यते—तत्र प्राप्तं तावत्–यथा स्वकार्यशक्तियोगात्स्वमहिम्न

और यह मुख्य प्राण अन्य प्राणोंके समान अणु-सूक्ष्म समझना चाहिए, यहाँ भी अणुत्व सूक्ष्म और परिच्छिन्न है, परमाणु तुल्य नहीं है । प्राण सूक्ष्म है, क्योंकि पाँच वृत्तियों द्वारा सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त और उत्क्रान्तिके समयमें पार्श्वस्थ लोगोंसे उपलब्ध नहीं होता। परिच्छिन्न भी है, क्योंकि उत्क्रान्ति, गति और आगतिकी श्रुतियाँ हैं । परन्तु 'समः प्लुषिणा० (पूतिका (मच्छरसे सूक्ष्म जन्तु) के समान, मच्छरके समान, हाथीके समान, इन तीन लोकोंके समान और इस सबके समान) इत्यादि स्थलोंमें प्राणकी विभुत्व प्रतिपादिक श्रुति है । सिद्धांती—उसपर कहते हैं–आधिदैविक समष्टि-व्यष्टिरूप हिरण्यगर्भके प्राणरूपसे ही यह विभुत्व श्रुति है, आध्यात्मिकरूपसे नहीं । और पूतिकाके समान' इत्यादि साम्य-वचनसे प्रत्येक प्राणीमें वर्ता प्राणको परिच्छिन्न ही दिखलाया जाता है, इसलिए दोष नहीं है ॥१३॥

क्या वे प्रकृत प्राण अपनी महिमासे ही अपने अपने कार्यके लिए समर्थ होते हैं, अथवा

सत्यानन्दी दीपिका

वृत्तित्वमात्रेण' आदिसे अपना मत अभिव्यक्त करते हैं । इस प्रकार प्राण और वायुकी भेद और अभेद श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं है ॥ १२ ॥

* गत अधिकरणमें प्राणकी उत्पत्ति और स्वरूप कहकर अब परिमाणको अतिदेशसे कहते हैं- 'अणवश्च' इस सूत्रमें और 'प्राणाः सर्वे अनन्ताः' इस श्रुतिमें उपासनाके लिए इन्द्रियोंमें अनन्तत्व प्रतिपादित है और यहाँ प्राणका विभुत्व आधिदैविक है, इससे यहाँ पुनरुक्ति नहीं है । टीकाकार कहते हैं कि वहाँ प्रसङ्गसे सांख्यके आक्षेपका निराकरण है और यहाँ श्रुति विरोधका परिहार है, अतः पुनरुक्ति नहीं है । इसलिए सूक्ष्म और परिच्छिन्न श्रुतियोंका विभुत्व श्रुतिसे विरोध न होनेसे ब्रह्ममें समन्वय है ॥ १३ ॥

* गत अधिकरणमें प्राणमें आध्यात्मिक और आधिदैविक विभागसे अणुत्व और विभुत्वको

णः प्रवर्तेरन्निति । अपि च देवताधिष्ठितानां प्राणानां प्रवृत्तावभ्युपगम्यमानायां तासाधिष्ठात्रीणां देवतानां भोक्तृत्वप्रसङ्गाच्छारीरस्य भोक्तृत्वं प्रलीयेत । अतः स्वमहिम्नैवैषां वृत्तिरिति । एवं प्राप्त इदमुच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु इति । तुशब्देन पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते । तिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीभिर्देवताभिरधिष्ठितं वागादि करणजातं स्वकार्येषु प्रवर्तत प्रतिजानीते । हेतुं व्याचष्टे—तदामननादिति । तथा ह्यामनन्ति—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं विशत्' (ऐत० २।४) इत्यादि । अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्मनाऽधिष्ठातृत्वकृत्योच्यते । नहि देवतासंबन्धं प्रत्याख्यायाग्नेर्वाचि मुखे वा कश्चिद्विशेषसंबन्धो दृश्यते । 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐत० २।४) इत्येवमाद्यपि योजयितव्यम् । * तथात्रापि 'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३।१८।३) मादिना वागादीनामग्न्यादिज्योतिष्ट्वादिवचनेनैतमेवार्थं द्रढयति । 'स वै वाचमेव प्रथमात्यवहत्सा, यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्' (बृ० १।३।१२) इति चैवमादिना वागादीना-

से अधिष्ठित होते हुए समर्थ होते हैं ? इसपर विचार किया जाता है । पूर्वपक्षी—अपनी कार्यके योगसे अपनी महिमासे ही प्राण अपने कार्यमें प्रवृत्त होने चाहिएं, क्योंकि देवतासे अधिष्ठित की प्रवृत्ति स्वीकार करनेपर उन अधिष्ठातृ देवताओंको ही भोक्तृत्व प्रसंग होनेसे शारीरका त्व लुप्त हो जायगा, अतः अपनी महिमासे ही इनकी प्रवृत्ति है, ऐसा यहां प्राप्त होता है । न्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहा जाता है—'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु' 'तु' शब्दसे पूर्वपक्षकी त्ति की जाती है । ज्योति आदिसे-अग्नि आदि अभिमानी देवताओंसे अधिष्ठित वाणी आदि करण अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं । हेतुका व्याख्यान करते हैं–तदामननात्' नुसार 'अग्निर्वाग्भूत्वा० (अग्नि वाक् होकर मुखमें प्रविष्ट हुआ) इत्यादि श्रुतियां हैं । अग्निका वाक्भाव और मुख प्रवेश देवतारूपसे अधिष्ठातृत्व अङ्गीकारकर कहा जाता है, क्योंकि देवता न्धका निराकरणकर अग्निका वाणी अथवा मुखमें कोई विशेष सम्बन्ध दिखाई नहीं देता । इसी 'वायुः प्राणो भूत्वा० (वायु प्राण होकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ) इत्यादिकी भी योजना करनी हिए । इसीप्रकार अन्यत्र भी 'वागेव० (वाणी ही ब्रह्मका चतुर्थ पाद है, वह अग्निरूप ज्योतिसे होता है और अपना कार्य करता है) इत्यादिसे वाक् आदि-अग्नि आदि ज्योति हैं, आदि वचनसे अर्थको श्रुति दृढ करती है । 'स ह वै० (उस प्रसिद्ध प्राणने उद्गीथ कर्ममें प्रधान वाग्देवताको (अनृत वदन आदि) से पार पहुँचाया । वह वाक् जब मृत्युसे मुक्त हुई तब वह अग्नि हो

सत्यानन्दी दीपिका

ख्याकी गई है । अब प्रसंग संगतिसे आध्यात्मिक प्राणोंकी स्वकार्यमें प्रवृत्ति आधिदैविक देवताके धीन है अथवा नहीं ? ऐसा सन्देह होता है, क्योंकि 'वाचा हि नामान्यभिवदति० (वाणीसे नोंका उच्चारण करता है और चक्षुसे रूप देखता है) इसप्रकार अन्वय-व्यतिरेक युक्त तृतीया से वाग् आदिकी स्वतन्त्र प्रवृत्तिका निषेध है, और 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यादि श्रुति अचेतन अग्नि को वाणी आदिका उपादान कारण कहती है । परन्तु अग्नि आदि उनके अधिष्ठातृ देवता हैं, नहीं कहती । किञ्च जीव अधिष्ठाता विद्यमान है, और अनेक देवताओंके अधिष्ठाता होनेपर र विरोधसे कोई भी कार्य नहीं हो सकेगा । इसलिए इन्द्रियां अपने कार्यमें स्वतन्त्र प्रवृत्त होती । सिद्धान्ती—'एवं प्राप्त इदमुच्यते' आदिसे सिद्धान्त कहते हैं ।

* 'मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः चक्षुरादित्यम्' (मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें, प्राण वायुमें और चक्षु आदित्यमें लीन होते हैं) इत्यादि श्रुति भी अग्नि आदि और वाक् आदिका अधिष्ठात्रधिष्ठेय-

मग्न्यादिभावापत्तिवचनेनैतमेवार्थं द्योतयति । सर्वत्र चाध्यात्माधिदैवतविभागेन वागाद्यग्न्याद्यनुक्रमणमनयैव प्रत्यासत्त्या भवति । स्मृतावपि—वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः । वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ।' इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं सप्रपञ्चं दर्शितम् । यदुक्तं—स्वकार्यशक्तियोगात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति, तदयुक्तम्, शक्तानामपि शकटादीनामनडुदाद्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिदर्शनात् । उभयथोपपत्तौ चागमाद्वागादीनां देवताधिष्ठितत्वमेव निश्चीयते ॥१४॥

यदप्युक्तं—देवतानामेवाधिष्ठात्रीणां भोक्तृत्वप्रसङ्गो न शारीरस्येति, तत्परिह्रियते—

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

पदच्छेद—प्राणवता, शब्दात् ।

सूत्रार्थ—(प्राणवता) प्राणवान् जीवके साथ इन्द्रियोंका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है, अ वही भोक्ता है, (शब्दात्) क्योंकि इसमें 'स चाक्षुषः पुरुषो' इत्यादि श्रुति है ।

※ सतीष्वपि प्राणानामधिष्ठात्रीषु देवतासु प्राणवता कार्यकरणसंघातस्वामिना शारीरेणैवैषां प्राणानां संबन्धः श्रुतेरवगम्यते । तथा हि श्रुति—'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' (छा० ८।१२।४) इत्येवंजातीयका शारीरेणैव प्राणानां संबन्धं श्रावयति । अपि चानेकत्वात्प्राणि-

---

गई) इत्यादिसे श्रुति वाक् आदिमें अग्नि आदि भावकी प्राप्ति वचनसे इसी अर्थको सूचित करती है। और सर्वत्र अध्यात्म और अधिदैवत विभागसे वाणी आदि और अग्नि आदि अनुक्रमण इस प्रत्यासत्ति-सम्बन्धसे होता है । स्मृतिमें भी 'वागध्यात्ममिति० (तत्त्वदर्शी ब्राह्मण वाणीको अध्यात्म कहते हैं, वक्तव्यको अधिभूत और उसमें अग्निको अधिदैवत कहते हैं) इत्यादिसे वाक् आदि अग्नि आदि देवताओंसे अधिष्ठित हैं, ऐसा विस्तार पूर्वक दिखलाया गया है । जो यह कहा गया है कि प्राण अपनी कार्यशक्तिके योगसे अपनी ही महिमासे प्रवृत्त होंगे, यह अयुक्त है, क्योंकि रथ आदि समर्थ होनेपर भी बैल आदिसे अधिष्ठित होकर उनमें प्रवृत्ति देखी जाती है । दोनों प्रकारसे उपपत्ति होनेपर भी आगमसे वाणी आदिमें देवता अधिष्ठितत्व निश्चित होता है ॥ १४ ॥

जो यह कहा गया है कि अधिष्ठातृ देवताओंको भोक्तृत्व प्रसंग होगा और जीवको नहीं, उसका परिहार किया जाता है—

प्राणोंके अधिष्ठातृ देवताओंके होनेपर भी प्राणवान् कार्यकरण संघातके स्वामी जीवसे ही इन प्राणोंका सम्बन्ध श्रुतिसे अवगत होता है । जैसे कि 'अथ यत्रैतद० (जिसमें यह चक्षुकृष्णतारासे उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है, उसे रूप ग्रहणके लिए नेत्रेन्द्रिय है, जो ऐसा जानता है कि मैं इसे सूँघूँ वह आत्मा है, उसे गन्ध ग्रहणके लिए घ्राण है) इसप्रकारकी श्रुति

सत्यानन्दी दीपिका

भाव सम्बन्ध दिखलाती है । रथ आदिकी बैल आदिसे अधिष्ठित होनेपर प्रवृत्ति देखी जाती है और दूध आदि अधिष्ठित न होते हुए भी दधि आदि रूपसे प्रवृत्त होते देखे जाते हैं । यद्यपि इस तरह दोनों प्रकारसे प्रवृत्तिका संभव है, तो भी वाणी आदि श्रुति प्रमाणसे अग्नि आदि देवताओंसे अधिष्ठित होकर ही अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १४ ॥

※ 'जिस मैंने रूपको देखा वही मैं श्रवण करता हूँ' इत्यादि प्रतिसंधानसे इस शरीरमें एक ही जीवात्मा भोक्ता सिद्ध होता है । इसप्रकारका अनुसन्धान अनेक भोक्ता माननेपर सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए इस शरीरमें अनेक देवता भोक्ता नहीं हो सकते ॥ १५ ॥

धिष्ठात्रीणां देवतानां न भोक्तृत्वमस्मिञ्शरीरेऽवकल्पते। एको ह्ययमस्मिञ्शरीरे भोक्ता प्रतिसंधानादिसंभवादवगम्यते ॥१५॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

पदच्छेद—तस्य, च, नित्यत्वात्।

सूत्रार्थ—(च) और (तस्य) जीवके स्वकर्मोपार्जित शरीरमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व द्वारा त्वात्) नित्य होनेसे देवताओंमें भोक्तृत्व नहीं है।

* तस्य च शारीरस्यास्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वेन नित्यत्वं पुण्यपापोपलेपसंभवात्सुख-पभोगसंभवाच्च, न देवतानाम्। ता हि परस्मिन्नैश्वर्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीनेऽस्मि-रे भोक्तृत्वं प्रतिलब्धुमर्हन्ति। श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं ति' (बृ० १।५।२०) इति। शारीरेणैव च नित्यः प्राणानां संबन्ध उत्क्रान्त्यादिषु तदनु-र्शनात्। 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० २) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्सतीष्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शारीरस्य त्वमपगच्छति। करणपक्षस्यैव हि देवता, न भोक्तृपक्षस्येति ॥१६॥

(८ इन्द्रियाधिकरणम्। सू० १७-१९)

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

पदच्छेद—ते, इन्द्रियाणि, तद्व्यपदेशात्, अन्यत्र, श्रेष्ठात्।

सूत्रार्थ—(श्रेष्ठात् मुख्यप्राणसे (अन्यत्र) अन्य (ते) वागादि (इंद्रियाणि) इंद्रिय शब्दसे जाते हैं, (तद्व्यपदेशात्) क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि श्रुतिसे उसका भेदसे व्यपदेश है।

मुख्यश्चैक इतरे चैकादश प्राणा अनुक्रान्ताः। तत्रेदमपरं संदिह्यते—किं मुख्यस्यैव

के साथ ही प्राणोंका सम्बन्ध श्रवण कराती है। और प्रत्येक करणमें अधिष्ठातृ देवताओंके होनेसे उनका इस शरीरमें भोक्तृत्व नहीं हो सकता, क्योंकि इस शरीरमें यह एक ही जीवात्मा धान आदिके संभवसे भोक्ता अवगत होता है ॥ १५ ॥

और वह जीव इस शरीरमें भोक्तारूपसे नित्य है, क्योंकि उसमें पुण्य पापके सम्बन्धका संभव और सुख, दुःखके उपभोगका संभव है, किन्तु देवताओंमें नहीं, कारण कि वे परम ऐश्वर्य पदपर मान होते हुए इस दूषित शरीरमें भोक्तृत्व प्राप्त करनेके लिए योग्य नहीं हैं। 'पुण्यमेवामु० पदमें स्थित देवताओंको पुण्य ही प्राप्त होता है पाप प्राप्त नहीं होता) यह श्रुति है। वात्माके साथ प्राणोंका नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि 'तमुत्क्रामन्तं० (उसके उत्क्रान्त होनेपर उत्क्रमण करता है, प्राणके उत्क्रान्त होनेपर सब प्राण उत्क्रमण करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे आदिमें उनकी अनुवृत्ति देखी जाती है। इसलिए इंद्रियोंके नियामक देवताओंके होनेपर वका भोक्तृत्व हटता नहीं, क्योंकि करण पक्षके ही देवता हैं भोक्तृपक्षके नहीं हैं ॥ १६ ॥

और मुख्य प्राण एक और अन्य एकादश प्राण अनुक्रान्त हैं। उन एकादश प्राणोंके विषयमें

सत्यानन्दी दीपिका

* अदृष्ट द्वारा जीव इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है, इसलिए रथ स्वामीके समान भोक्ता है, देवता कारके समान इंद्रियोंके उपकारक होनेसे सारथीके समान अधिष्ठाता हैं, इससे देवता करण है और जीव भोक्तृपक्षका है। 'चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति' यह श्रुति साधन मात्रका प्रति-करती है, इसलिए इन श्रुतियोंका 'अग्निर्वाग्भूत्वा' इत्यादि देवताधिष्ठात्री श्रुतिके साथ विरोध है॥ १६ ॥

प्राणस्य वृत्तिभेदा इतरे प्राणा आहोस्वित्तत्त्वान्तराणीति । किं तावत्प्राप्तम् ? मुख्यस्यैवेतरे वृत्तिभेदा इति । कुतः ? श्रुतेः । तथा हि श्रुतिर्मुख्यमितरांश्च प्राणान्संनिधाप्य मुख्यात्मतामितरेषां ख्यापयति—'हन्ताऽस्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' (बृ० १।५।२१) इति । प्राणकशब्दत्वाच्चैकत्वाध्यवसायः । इतरथा ह्यन्याय्यमनेकार्थत्वं प्राणशब्दस्य प्रसज्येत, एकत्र वा मुख्यस्येतरत्र वा लाक्षणिकत्वमापद्येत । तस्माद्यथैकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्च वृत्तय एवं वागाद्या अप्येकादशेति । एवं प्राप्ते ब्रूम—तत्त्वान्तराण्येव प्राणाद्वागादीनीति। कुतः ? व्यपदेशभेदात् । कोऽयं व्यपदेशभेदः ? ते प्रकृताः प्राणाः श्रेष्ठं वर्जयित्वाऽवशिष्टा एकादशेन्द्रियाणीत्युच्यन्ते । श्रुतावेवं व्यपदेशदर्शनात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति ह्येवंजातीयकेषु प्रदेशेषु पृथक्प्राणो व्यपदिश्यते, पृथक्चेन्द्रियाणि । ननु मनसोऽप्येवं सति वर्जनमिन्द्रियत्वेन प्राणवत्स्यात्, 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्व्यपदेशदर्शनात् । सत्यमेतत्—स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत्संगृह्यते । प्राणस्य त्विन्द्रियत्वं न श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धमस्ति । व्यपदेशभेदश्चायं तत्त्वभेदपक्ष उपपद्यते । तत्त्वैकत्वे तु स एवैकः सन्प्राण इन्द्रियव्यपदेशं लभते न लभते चेति विप्रतिषिद्धम् । तस्मात्तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥१७॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः?

भेदश्रुतेः ॥१८॥

सूत्रार्थ—'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इत्यादि श्रुतिमें प्राणका इन्द्रियोंसे पृथक् श्रवण है, अतः वागादि इन्द्रियाँ प्राणसे पृथक् तत्त्व हैं ।

यह दूसरा सन्देह किया जाता है कि क्या अन्य प्राण मुख्य प्राणके ही वृत्ति भेद हैं अथवा अन्य त हैं ? तो क्या प्राप्त हुआ ? पूर्वपक्षी—अन्य प्राण मुख्य प्राणके ही वृत्ति भेद हैं, किससे ? श्रुति जैसे कि 'हन्तास्यैव० (अच्छा, हम सब इसी प्राणके रूप हो जायँ—ऐसा निश्चयकर वे वागादि इसीके रूप हो गए) यह श्रुति मुख्य और अन्य प्राणोंको एक दूसरेके समीप स्थापित कर अन्य प्रा का मुख्य प्राणरूपत्व ख्यापन करती है। इस प्रकार उन सबको उद्देश्य कर 'प्राण' इस एक शब्द प्रयोग होनेसे उनके एकत्वका निश्चय होता है। अन्यथा प्राण शब्दको अनेकार्थत्व अन्याय (वाक्यभे प्रसक्त होगा अथवा एकमें मुख्यत्व और अन्यमें लाक्षणिकत्व प्रसक्त होगा। इसलिए जैसे एक प्राणकी प्राण आदि पाँच वृत्तियाँ हैं वैसे ही वाक् आदि एकादश भी प्राणकी ही वृत्तियाँ हैं सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होने हम कहते हैं–वाक् आदि मुख्य प्राणसे अन्य ही तत्त्व हैं। क्यों ? व्यपदे भेद है। यह व्यपदेश भेद क्या है ? श्रेष्ठको (प्राणको) छोड़कर वे अवशिष्ट प्रकृत प्राण एका इन्द्रियाँ हैं, ऐसे कहे जाते हैं, क्योंकि श्रुतिमें ही ऐसा व्यपदेश भेद देखा जाता है। 'एतस्मा प्राणो० (उससे प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं) इस प्रकारके श्रुति वाक्योंमें प्राण पृथक् व्यपदेश किया जाता है और इंद्रियोंका पृथक्। परंतु ऐसा होनेपर मन भी प्राणके समान इं नहीं होना चाहिए। क्योंकि 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इस प्रकार पृथक् व्यपदेश देखनेमें आता है यह ठीक है, किन्तु स्मृतिमें तो 'एकादशेन्द्रियाणि' इससे मनका भी श्रोत्र आदिके समान इन्द्रियत्व संग्रह किया जाता है। परन्तु प्राण इन्द्रिय है, ऐसा श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध नहीं है। यह व्यपदे भेद तत्त्वभेद पक्षमें उपपन्न होता है। तत्त्व (पदार्थ) के एक होनेपर तो 'वह प्राण एक होता हुआ इन्द्रिय व्यपदेशको प्राप्त होता है नहीं होता है' ऐसा विरुद्ध है। इसलिए अन्य वागादि मुख्य प्राण अन्य तत्त्वभूत हैं ॥ १७ ॥ और वागादि इन्द्रिय तत्त्वान्तर भूत क्यों हैं ?

भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते—'ते ह वाचमूचुः' (बृ० १।३।२) इत्युपक्रम्य दीनसुरपाप्मविध्वस्तानुपन्यस्य, उपसंहृत्य वागादिप्रकरणम् 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' सुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथगुपक्रमणात्। तथा 'मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत' वमाद्या अपि भेदश्रुतय उदाहर्तव्याः। तस्मादपि तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥१८॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः ?

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

पदच्छेद—वैलक्षण्यात्, च।

सूत्रार्थ—और सुषुप्तिमें प्राणकी स्थिति है और वाग् आदि इन्द्रियोंकी नहीं है, इस वैलक्षण्यसे वागादि इन्द्रियाँ मुख्य प्राणसे भिन्न तत्त्व हैं।

वैलक्षण्यं च भवति मुख्यस्येतरेषां च। सुप्तेषु वागादिषु मुख्य एको जागर्ति स एव मृत्युनाऽनाप्त आप्तास्त्वितरे। तस्यैव च स्थित्युत्क्रान्तिभ्यां देहधारणपतनहेतुत्वं नेन्द्रि-णाम्। विषयालोचनहेतुत्वं चेन्द्रियाणां न प्राणस्येत्येवंजातीयको भूयाँल्लक्षणभेदः प्राणे-णाम्। तस्मादप्येषां तत्त्वान्तरभावसिद्धिः। यदुक्तम्—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' १।५।२१) इति श्रुतेः प्राण एवेन्द्रियाणीति—तदयुक्तम्, तत्रापि पौर्वापर्यालोचनाद्भेद-ेः। तथा हि—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १।५।२१) इति वागादीनीन्द्रियाण्य-य 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इति च श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं दीनामभिधाय 'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः' (बृ० १।५।२१) इति पृथक्प्राणं नानभिभूतं तमनुक्रामति। 'अयं वै नः श्रेष्ठ' (बृ० १।५।२१) इति च श्रेष्ठतामस्यावधार-

---

प्राणका वागादिसे सर्वत्र भेदसे श्रवण होता है, 'ते ह वाचमूचुः' (देवताओंने वाणीसे कहा) ार उपक्रम कर असुरोंसे पाप विद्ध वाक् आदि इन्द्रियोंको कहकर और वाक् आदिके प्रकरणको कर 'अथ हेममासन्यं॰ (अनन्तर मुखस्थ इस प्राणको कहा) इस प्रकार असुरोंका विध्वंस ले मुख्य प्राणका पृथक् उपक्रम है। उसी प्रकार 'मनो वाचं॰ (मन, वाक् और प्राण उनको ने अपने लिए किया) इत्यादि श्रुतियाँ भी उदाहरणरूपसे देनी चाहिएँ। इससे भी अन्य आदि मुख्य प्राणसे भिन्न तत्त्व हैं ॥ १८ ॥

और वागादि इन्द्रिय अन्य तत्त्व क्यों हैं ?

मुख्य प्राण और अन्यों (वागादि) में वैलक्षण्य भी है। वाक् आदि इन्द्रियोंके सुषुप्त होनेपर ा मुख्य प्राण जागता है और वही एक मृत्युसे व्याप्त नहीं होता और अन्य प्राण तो आक्रान्त है। वही स्थिति और उत्क्रान्तिसे देह धारण और पतनका हेतु है, किन्तु इन्द्रियाँ नहीं हैं। विषयके ज्ञानमें निमित्त हैं, किन्तु प्राण नहीं है। इस प्रकारका प्राण और इन्द्रियोंमें महान् भेद है, इससे भी वे अन्य तत्त्व सिद्ध होते हैं। जो यह कहा गया है कि 'ते एतस्यैव॰ (वे सब ही रूप हुए) इस श्रुतिसे इन्द्रियाँ प्राण ही हैं, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ भी पूर्वापरके चनसे भेद प्रतीत होता है। जैसे कि 'वदिष्याम्येवाहमिति॰ (वाक्ने व्रत किया कि 'मैं ही रहूँगी') इस प्रकार वाक् आदि इन्द्रियोंका अनुक्रम कर 'तानि मृत्युः॰ (मृत्युने श्रम होकर व्याप्त किया, इससे वाणी श्रान्त ही होती है) इस प्रकार वाक् आदि इन्द्रियाँ श्रमरूप मृत्युसे ोती हैं, ऐसा कहकर 'अथेममेव॰ (परन्तु यह मध्यम प्राण मृत्युसे आक्रान्त नहीं होता) इस श्रुति मृत्युसे अनभिभूत उस प्राणका पृथक् अनुक्रम करती है। 'अयं वै॰ (निश्चय यही हममें) इस प्रकार श्रुति उसकी श्रेष्ठताका अवधारण करती है। इसलिए उसके साथ विरोध न होनेसे

यति। तस्मात्तदविरोधेन वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वं तद्रूपभवनं वागादीनामिति मन्तव्यं, न तादात्म्यम्। अत एव च प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वसिद्धिः। तथा च श्रुति—'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्। तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' (बृ० १।५।२१) इति मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकीं वृत्तिं दर्शयति। तस्मात्तत्त्वान्तराणि प्राणाद्वागादीनीन्द्रियाणीति ॥१९॥

(६ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम्। सू० २०-२२)

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

पदच्छेद—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः, तु, त्रिवृत्कुर्वतः, उपदेशात्।

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है। (त्रिवृत्कुर्वतः) 'तासां त्रिवृतम्' इस श्रुतिमें प्रतिपादित त्रिवृत् कर्ता परमेश्वर ही, (संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः) संज्ञा-नाम, मूर्ति-रूपका व्याकर्ता है जीव नहीं, (उपदेशात्) क्योंकि 'व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतिमें उसमें ही व्याकरण कर्तृत्वका उपदेश है।

* सत्प्रक्रियायां तेजोबन्नानां सृष्टिमभिधायोपदिश्यते—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। तासां त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' (छा० ६।३।२)। तत्र संशय—किं जीवकर्तृकमिदं नामरूपव्याकरणमाहोस्वित्परमेश्वरकर्तृकमिति। तत्र प्राप्तं तावत्—जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमिति। कुतः? 'अनेन जीवेनात्मना' इति विशेषणात्। यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानीत्येवंजातीयके प्रयोगे चारकर्तृकमेव सत्सैन्यसंकलनं हेतुकर्तृत्वाद्राजाऽऽत्मन्यध्यारोपयति संकलया

वाक् आदिमें स्व व्यापार लाभ प्राणके अधीन है, ऐसा वाक् आदिका प्राण रूप होना है, ऐसा समझ चाहिए, तादात्म्यसे नहीं। अतएव प्राण शब्द इन्द्रियोंमें लाक्षणिक सिद्ध होता है। जैसे कि 'त ए स्यैव० (वे सब इसीके रूप हो गये, अतः वे इसीके नामसे 'प्राण' इस प्रकार कहे जाते हैं) यह श्रु मुख्य प्राण विषयक प्राण शब्दकी इन्द्रियोंमें लाक्षणिक वृत्ति दिखलाती है, इससे वाक् आदि इन्द्रि प्राणसे पृथक् तत्त्व हैं ॥ १९ ॥

सत्के प्रकरणमें तेज, जल और अन्नकी सृष्टि कहकर 'सेयं देवतैक्षत० (उस सत् ना देवताने ईक्षण किया 'मैं इस जीवरूपसे' इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेशकर नाम और रूपकी अ व्यक्ति करूँ और उनमेंसे एक-एक देवताको त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ) इस प्रकार उपदेश किया जाता यहाँ संशय होता है कि क्या यह नाम, रूपका व्याकरण जीवकर्तृक है अथवा परमेश्वर कर्तृक पूर्वपक्षी—यहाँ यह प्राप्त होता है कि यह नाम-रूपका व्याकरण (रचना) जीव कर्तृक है, किस इससे कि 'अनेन जीवेनात्मना० (इस जीव रूपसे ऐसा विशेषण है। जैसे लोकमें 'चार (द्वारा पर सैन्यमें प्रवेशकर मैं गणना करूँ' इस प्रकारके प्रयोगमें सैन्य गणना चार कर्तृक होती हुई

सत्यानन्दी दीपिका

* उत्पत्ति और उत्पादना (उत्पन्न करना) ये दोनों क्रमसे कार्य और कर्ताके व्यापार प्रसिद्ध हैं। उसमें गत दो पादोंसे जगत् उत्पत्ति श्रुति विषयक विरोधका परिहार किया गया है। उत्पादन श्रुति विरोधका परिहार किया जाता है। उसमें भी सूक्ष्म भूत-विषयक उत्पादन तो परमे कृत ही है, इसमें सब श्रुतियां समन्वित हैं। परन्तु स्थूल भूतोंके उत्पादनमें श्रुतियोंका विरोध है, उ निराकरणके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है। किञ्च नाम और रूपके भेदसे इन्द्रियां प्राणसे भि हैं, यह कहा गया। अब प्रसङ्ग संगतिसे स्थूल नाम, रूप कर्तृक विचार किया जाता है। पूर्वपक्षमें ही भूतोंका स्रष्टा है, और सिद्धान्तमें ब्रह्म सबका स्रष्टा है।

मपुरुषप्रयोगेण, एवं जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वाद्देवतात्मन्यध्यारो-
ति व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण । अपि च डित्थडवित्थादिषु नामसु घटशरावादिषु
रूपेषु जीवस्यैव व्याकर्तृत्वं दृष्टम् । तस्माज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमित्येवं
प्राप्तेऽभिधत्ते—'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु' इति । तुशब्देन पक्षं व्यावर्तयति । संज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति
रूपव्याक्रियेत्येतत् । त्रिवृत्कुर्वत इति परमेश्वरं लक्षयति, त्रिवृत्करणे तस्य निरपवादकर्तृ-
निर्देशात् । येयं संज्ञाक्लृप्तिर्मूर्तिक्लृप्तिश्चाग्निरादित्यश्चन्द्रमा विद्युदिति, तथा कुशकाशप-
शादिषु पशुमृगमनुष्यादिषु च प्रत्याकृति प्रतिव्यक्ति चानेकप्रकारा, सा खलु परमेश्वरस्यैव
न्नानां निर्मातुः कृतिर्भवितुमर्हति । कुतः ? उपदेशात् । तथा हि—'सेयं देवतैक्षत' इत्यु-
म्य 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वमिहोपदिश्यते । ननु
वेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं व्याकरणस्याध्यवसितम्—नैतदेवम्, जीवेनेत्येतदनुप्रवि-
नेन संबध्यत आनन्तर्यात्, न व्याकरवाणीत्यनेन । तेन हि संबन्धे व्याकरवाणीत्ययं
ताविषय उत्तमपुरुष औपचारिकः कल्प्येत । नच गिरिनदीसमुद्रादिषु नानाविधेषु नाम-
ष्वनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यमस्ति, येष्वपि चास्ति सामर्थ्यं तेष्वपि परमेश्वरा-
मेव तत् । नच जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नः, चार इव राज्ञः, आत्मनेति विशेष-

क कर्ता होनेसे राजा 'मैं गणना करूँ' इस प्रकार उत्तम पुरुषके प्रयोगसे उसका अपनेमें
रोप करता है, वैसे नाम, रूपका व्याकरण जीव कर्तृक होते हुए भी प्रयोजक कर्ता होनेसे देवता
करवाणि' (व्याकरण करूँ) इस प्रकार उत्तम पुरुषके प्रयोगसे उसका अपनेमें अध्यारोप करता
। और डित्थ डवित्थ आदि नामोंमें और घट शराव आदि रूपोंमें जीवका ही व्याकरण कर्तृत्व देखा
है। इसलिए यह नाम, रूप व्याकरण जीव-कर्तृक ही है। सिद्धांती— ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—
मूर्तिक्लृप्तिस्तु'। 'तु' शब्दसे पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करते हैं। 'संज्ञामूर्तिक्लृप्ति' नाम और रूपका
रण 'त्रिवृत्कुर्वत' यह परमेश्वरको लक्षित-सूचित करता है, क्योंकि त्रिवृत्करणमें निरपवाद उसका
र्तृरूपसे निर्देश है। अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् इस प्रकार जो यह नामका व्याकरण तथा
, काश, पलाश आदिमें और पशु, मृग, मनुष्य आदिमें प्रत्येक जाति और प्रत्येक व्यक्तिमें अनेक
रका जो यह रूप-व्याकरण है वह तेज, जल और अन्नके निर्माता पापेश्वरकी ही कृति हो सकती है।
? उपदेश है। जैसे कि 'सेयं देवतैक्षत' (उस देवताने ईक्षण किया) इस प्रकार उपक्रम कर
करवाणि' (व्याकरण करूँ) इस तरह उत्तम पुरुषके प्रयोगसे परब्रह्मका ही व्याकरण कर्तृत्व यहाँ
देश किया जाता है। परन्तु 'जीवेन०' इस विशेषणसे व्याकरण जीव कर्तृक निश्चित किया गया है।
ऐसा नहीं है, क्योंकि 'जीवेन' इसका 'अनुप्रविश्य' (अनुप्रवेशकर) इसके साथ सम्बन्ध है, परन्तु
नन्तर्य होनेके कारण 'व्याकरवाणि' इससे सम्बन्धित नहीं है। उससे सम्बन्ध होनेपर 'व्याकरवाणि'
देवता विषयक उत्तम पुरुष औपचारिक कल्पना करना पड़ेगा। और गिरि, नदी, समुद्र आदि
प्रकारके नाम और रूपोंके व्याकरण करनेकी अनीश्वर जीवमें सामर्थ्य नहीं है। और
में भी सामर्थ्य है, उनमें भी वह परमेश्वरके अधीन ही है! और जैसे दूत राजासे अत्यन्त
है, वैसे जीव परमेश्वरसे अत्यन्त भिन्न नहीं है। क्योंकि 'आत्मना' यह विशेषण है, और

सत्यानन्दी दीपिका

* तेज, जल और अन्न (पृथ्वी) प्रत्येकके तीन-तीन भाग हुए। एक भाग अपना और दो
अन्यके, इस प्रकार 'त्रिवृत्' करण सिद्ध होता है। यह पञ्चीकरणका भी उपलक्षण समझना
हिए। पदका अन्वय पदार्थकी योग्यताके अधीन होता है, अतः जीवरूपसे उनमें अनुप्रवेशकर मैं

णात्, उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य। तेन तत्कृतमपि नामरूपव्याकरणं परमेश्व कृतमेव भवति। परमेश्वर एव च नामरूपयोर्व्याकर्तेति सर्वोपनिषत्सिद्धान्तः, 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८।१४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्क र्वतः कर्म नामरूपयोर्व्याकरणम्। त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदमिह नामरूपव्याकरणं विवक्ष्यते प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोबन्नोत्पत्तिवचनेनैवोक्तत्वात्। तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्य चन्द्रविद्युत्सु श्रुतिर्दर्शयति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस् (छा० ६।४।१) इत्यादिना। तत्राग्निरितीदं रूपं व्याक्रियते, सति च रूपव्याकरणे विषय प्रतिलम्भादग्निरितीदं नाम व्याक्रियते। एवमेवादित्यचन्द्रविद्युत्स्वपि द्रष्टव्यम्। अने चाग्न्याद्युदाहरणेन भौमाम्भसतैजसेषु त्रिष्वपि द्रव्येष्वविशेषेण त्रिवृत्करणमुक्तं भवति उपक्रमोपसंहारयोः साधारणत्वात्। तथा ह्यविशेषणैवोपक्रमः—'इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदे कैका भवति' (छा० ६।३।४) इति। अविशेषेणैव चोपसंहारः—'यदु रोहितमिवाभूदिति तेजस स्तद्रूपम्' इत्येवमादिः, 'यदविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति' (छा० ६।४।६।७ एवमन्तः ॥२०॥

तासां तिसृणां देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानां सतीनामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम्—'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६।४।७) इति। तदिदानीमाचार्यो यथाश्रुत्येवोपदर्शयत्याशङ्कितं कंचिद्दोषं परिहरिष्यन्—

जीव भाव तो केवल उपाधि निमित्तक है। इसलिए उससे जीव कृत नाम, रूप व्याकरण भी परमेश्वर कृत ही होता है। और 'आकाशो वै०' (आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्वाहक है) इत्यादि श्रुतियोंसे परमेश्वर ही नाम और रूपका व्याकर्ता है, यह सब उपनिषदोंका सिद्धान्त है। इसलिए नाम, रूपका व्याकरण त्रिवृत् करनेवाले परमेश्वरका ही कर्म है। यहाँ यह नाम, रूपका व्याकरण त्रिवृत्करण पूर्वक ही विवक्षित है, कारण कि प्रत्येक नाम, रूपका व्याकरण तेज, जल और अन्नकी उत्पत्ति वचनसे ही उक्त है। उस त्रिवृत्करणको अग्नि, आदित्य, चन्द्र और विद्युतमें 'यदग्नेरोहितं० (अग्निका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है) इत्यादिसे श्रुति दिखलाती है। उसमें 'अग्नि' यह रूपका व्याकरण किया जाता है, रूपके व्याकरण होनेपर विषयके उपलंभसे 'अग्नि' यह नामका व्याकरण है। इसी प्रकार आदित्य, चन्द्र और विद्युत्में भी समझना चाहिए। और इन अग्नि आदि उदाहरणोंसे पार्थिव, जलीय और तैजस तीनों द्रव्योंमें भी समानरूपसे त्रिवृत्करण उक्त होता है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार उन तीनोंमें साधारण है। जैसे कि 'इमास्तिस्रो० (ये तीन देवता प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् होते हैं) इस प्रकार यह समानरूपसे उपक्रम है। और समानरूपसे यह उपसंहार है 'यदु रोहित० (जो कुछ रोहित-सा है वह तेजका रूप है) इस प्रकार यह आदि है और 'यदविज्ञात० (तथा जो कुछ अविज्ञात-सा है वह इन देवताओंका ही समुदाय है) यह अन्त है ॥ २० ॥

'इमास्तिस्रो० (ये तीनों देवता पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्, त्रिवृत् होता है) इस प्रकार बाह्य पदार्थमें त्रिवृत्कृत उन तीन देवताओंका दूसरा आध्यात्मिक त्रिवृत्करण कहा गया है।

सत्यानन्दी दीपिका

(पर देवता) ही स्थूल नाम और रूपको व्यक्त करूँगा, ऐसा अन्वय तो युक्त है। परन्तु जीव द्वारा उनको व्यक्त करूँगा यह अन्वय युक्त नहीं है। इसलिए 'व्याकरवाणि' यह उत्तम पुरुषका प्रयोग पर- देवता विषयक ही है, जीव विषयक नहीं ॥२०॥

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

पदच्छेद—मांसादि, भौमम्, यथाशब्दम्, इतरयोः, च।

सूत्रार्थ—(मांसादि) माँस, पुरीष आदि (भौमम्) त्रिवृत्कृत अन्नात्मक भूमिके कार्य हैं और इसी प्रकार (यथा शब्दम्) 'मूत्रं लोहितम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार (इतरयोश्च) मूत्र, दि जल आदिके कार्य हैं।

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेणोपभुज्यमानाया मांसादिकार्यं यथाशब्दं निष्पद्यते। तथा —'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं न्मनः' (छा० ६।५।१) इति। त्रिवृत्कृता भूमिरेवैषा व्रीहियवाद्यन्नरूपेणाद्यत इत्य-। तस्याश्च स्थविष्ठं रूपं पुरीषभावेन बहिर्निर्गच्छति। मध्यममध्यात्मं मांसं वर्ध-अणिष्ठं तु मनः। एवमितरयोरप्तेजसोर्यथाशब्दं कार्यमवगन्तव्यम्—मूत्रं लोहितं कार्यम्। अस्थि मज्जा वाक्तेजस इति ॥२१॥

अत्राह—यदि सर्वमेव त्रिवृत्कृतं भूतभौतिकमविशेषश्रुतेः 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम-ति। किं कृतस्तर्ह्ययं विशेषव्यपदेशः 'इदं तेज इमा आप इदमन्नम्' इति? तथा 'अध्या-त्माशितस्य कार्यं मांसादि? इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि? इदं तेजसोऽशितस्य ादि' इति? अत्रोच्यते—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

पदच्छेद—वैशेष्यात्, तु, तद्वादः, तद्वादः।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द शङ्कित दोषकी निवृत्ति करता है। पृथ्वी आदिका त्रिवृत्करणत्व समान (वैशेष्यात्) पृथ्वी आदिके आधिक्यसे (तद्वादः) यह पृथ्वी है, यह जल है इत्यादि व्यवहार सूत्रस्थ द्वितीय 'तद्वादः' पद अध्यायकी समाप्तिका सूचक है।

आशंकित किसी एक दोषके परिहारकी इच्छा करते हुए उसको श्रुतिके अनुसार ही हैं—

पुरुष द्वारा त्रिवृत्कृत उपभोगकी हुई भूमिका मांस आदि श्रुतिके अनुसार निष्पन्न होता है। अन्नमशितं० (खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है, उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है है, जो मध्यम भाग है वह माँस और जो अत्यन्त सूक्ष्म है वह मन हो जाता है) यह श्रुति त्रिवृत्कृत भूमि ही व्रीहि, यव आदि अन्नरूपसे खाई जाती है, ऐसा अभिप्राय है। उसका पुरीषभावसे बाहर निकलता है, मध्यमरूप अध्यात्म माँसको बढ़ाता है और अत्यन्त सूक्ष्म है। इस प्रकार अन्य-जल और तेजका भी श्रुतिके अनुसार कार्य समझना चाहिए। इस है, लोहित (रक्त) और प्राण जलके कार्य हैं, और हड्डी, मज्जा और वाक् तेजके कार्य हैं ॥२१॥

यहाँ कहते हैं—'तासां० (उनमेंसे प्रत्येकको त्रिवृत्-त्रिवृत् किया) इस सामान्य श्रुतिसे यदि सभी त्रिवृत्कृत हैं, तो 'इदं तेज० (यह तेज, यह जल और यह अन्न है) और 'अध्यात्म-(शरीरमें जो माँस आदि है वह खाये हुए अन्नका कार्य है, यह लोहित आदि पीये हुए है और यह अस्थि आदि खाये हुए तेज (घृत, तेल आदि) का कार्य है) इस श्रुतिमें व्यपदेश क्यों किया है? इसपर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

प्रत्येक त्रिवृत्कृत भूमि आदि स्थूल, मध्यम और सूक्ष्मरूपसे तीन-तीन प्रकारका है। और जलका कार्य कहा गया है वह औपचारिक समझना चाहिए। प्राणकी प्रायः जलके होनेसे वह जलका कार्य कहा गया है, अतः कोई विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

❀ तुशब्देन चोदितं दोषमपनुदति । विशेषस्य भावो वैशेष्यम् । भूयस्त्वमिति यावत् । सत्यपि त्रिवृत्करणे क्वचित्कस्यचिद्भूतधातोर्भूयस्त्वमुपलभ्यते 'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वमुदकस्याब्भूयस्त्वं पृथिव्या अन्नभूयस्त्वम्' इति । व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं चेदं त्रिवृत्करणम् । व्यवहारश्च त्रिवृत्कृतरज्जुवदेकत्वापत्तौ सत्यां, न भेदेन भूतत्रयगोचरो लोकस्य प्रसिध्येत् । तस्मात्सत्यपि त्रिवृत्करणे वैशेष्यादेष तेजोबन्नविशेषवादो भूतभौतिकविषय उपपद्यते । तद्वादस्तद्वाद इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥२२॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

तु शब्दसे शङ्कित दोषका निराकरण करते हैं। विशेषका भाव वैशेष्य है अर्थात् भूयस्त्व है। त्रिवृत्करण होनेपर भी 'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वम्० (अग्निमें तेजो भूयस्त्व है, उदकमें जल भूयस्त्व है और पृथ्वीमें अन्न भूयस्त्व है) इस प्रकार कहींपर किसी भूत धातुका भूयस्त्व उपलब्ध होता है। यह त्रिवृत्करण व्यवहार प्रसिद्धिके लिए है। त्रिवृत्कृत रज्जुके समान एकत्वका प्रसङ्ग होनेपर लोकमें भूतत्रयविषयक भेदसे व्यवहार सिद्ध न होगा। इसलिए त्रिवृत्करण होनेपर भी भूत-भौतिक विषयक तेज, जल, अन्न ऐसा विशेषवाद वैशेष्यसे ही उपपन्न होता है। 'तद्वादः तद्वादः' यह पदका अभ्यास-पुनः कथन अध्यायकी परिसमाप्तिको सूचित करता है ॥ २२ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके द्वितीयाध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* अतएव यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्ममें जो वेदान्तका तात्पर्य है, उसका स्मृति, न्याय, मतान्तर और श्रुतियोंके साथ कोई विरोध नहीं है ॥ २२ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के द्वितीयाध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त ॥

अथ तृतीयोध्यायः ।

[तृतीये साधनाख्याध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्ता—वैराग्यनिरूपणविचारश्च ।]
साधन नामक इस तृतीय अध्यायके प्रथम पादमें जीवकी संसार गति आगतिका विचार और निरूपण विचार किया जाता है ।

(१ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् । सू० १-७)

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

पदच्छेद—तदन्तरप्रतिपत्तौ, रंहति, संपरिष्वक्तः, प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

सूत्रार्थ—(तदन्तरप्रतिपत्तौ) जीव अन्य देहकी प्राप्तिमें देहके बीजभूत सूक्ष्म भूतोंसे (संप-
) वेष्टित होकर धूम आदि मार्ग द्वारा स्वर्गलोकमें (रंहित) जाता है, (प्रश्ननिरूपणाभ्याम्)
वेत्थ यथा' यह प्रश्न है और 'इतितुपञ्चम्यामा०' यह निरूपण-प्रतिवचन है ।

* द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः । परपक्षाणां
त्वं प्रपञ्चितम । श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः । तत्र च जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि
करणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम् । अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगति-
तदवस्थान्तराणि ब्रह्मतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात्पुरु-
सिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये
यिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत् । तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य संसार-
भेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः, 'तस्माज्जुगुप्सेत' इति चान्ते श्रवणात् । जीवो मुख्यप्राण-
वः सेन्द्रियः समनस्कोऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत
वगतम् । 'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' इत्येवमादेः 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं
(बृ० ४।४।१-४) इत्येवमन्तात्संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात्, धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च ।

द्वितीय अध्यायमें वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म दर्शनमें स्मृति और न्यायके विरोधका परिहार किया
रपञ्च अनपेक्षित है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन और श्रुतिविरोधका परिहार किया गया । और
नसे व्यतिरिक्त जीवके उपकरण तत्त्व ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, यहक हा गया । अब उपकरणोपहित
संसार गतिका प्रकार, उसकी अन्य अवस्थाएँ, तत्त्व सहित ब्रह्म, विद्याका भेद और अभेद,
उपसंहार और अनुपसंहार, सम्यग्ज्ञानसे पुरुषार्थकी सिद्धि, सम्यग्ज्ञानके उपायविधिका भेद
फलका अनियम, इस विषय समुदायका तृतीय अध्यायमें निरूपण किया जायगा और प्रसंगसे
हुआ कुछ अन्य भी कहा जायगा । वहाँ प्रथम पादमें पञ्चाग्नि विद्याका आश्रय कर 'तस्माज्जु
(उससे-गमनागमनमें दुःख होनेसे स्वर्ग आदिमें घृणा करे) इस प्रकार अंतमें श्रवणसे संसार
प्रभेद वैराग्यके लिए दिखलाया जाता है । मुख्य प्राण सचिव जीव इन्द्रिय, मन, अविद्या,
और जन्मांतर संस्कारोंके साथ पूर्व देहका त्यागकर अन्य देहको प्राप्त होता है, यह अवगत हुआ ।
'अथैनमेते० (मरण समयमें ये वाक् आदि इंद्रियाँ जीवके प्रति हृदयमें एकत्रित हो जाती हैं)
लेकर 'अन्यन्नवतरम्' (अन्य अधिक सुन्दर और कल्याणतर रूप-देहको रचना करता है) यहाँ
संसार प्रकरणस्थ श्रुति है तथा धर्म और अधर्मके फल अभोगका संभव भी है । वह जीव क्या

सत्यानन्दी दीपिका

* वेदान्तार्थके अविरुद्ध सिद्ध होनेपर उसके साधनभूत ज्ञानके विषयमें विचार उपस्थित होता
द्वितीय और तृतीय अध्यायमें हेतुहेतुमद्भाव-कार्यकारण भाव सम्बन्ध है, इस प्रकार लिङ्गो-
शरीरके प्राण आदि उपकरण सिद्ध होनेपर उस उपाधिवाले जीवकी संसार गति आदिका विचार

❀ स किं देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते। किं तावत्प्राप्तम् ? असंपरिष्वक्त इति। कुतः ? करणोपादानवद्भूतोपादानस्याश्रुतत्वात्। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' (बृ० ४।४।१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्तयति, वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात्। नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति। सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः। यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति, ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम्। तस्मादसंपरिष्वक्तो यातीति। एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तः, रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम्। कुतः ? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। तथा हि प्रश्नः—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति निरूपणं च प्रतिवचनं, द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।९।१) इति। तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते। ❀ नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति 'तद्यथा

देहके कारण सूक्ष्म भूतोंसे असम्बन्धित होकर जाता है अथवा सम्बन्धित ? इसपर विचार किया जाता है। तब क्या प्राप्त होता है ? असम्बन्धित होकर जाता है। किससे ? इससे कि इन्द्रियोंके ग्रहणके समान भूतोंका ग्रहण श्रुत नहीं है। 'स एतास्तेजोमात्राः० (वह इन [प्राणोंकी] तेजोमात्राको सम्यक् प्रकारसे ग्रहणकर हृदयमें ही अनुक्रान्त होता है) यहाँ 'तेजोमात्राः' शब्दसे श्रुति करणोंका ग्रहण कहती है, क्योंकि वाक्यशेषमें चक्षु आदिका कथन है। इसप्रकार भूतमात्राके ग्रहणका कथन नहीं है और भूतमात्रा सर्वत्र सुलभ हैं। जहां देहका आरम्भ होना चाहिए वहां ही वे हैं, उससे उनको साथ ले जाना निष्प्रयोजन है, इसलिए जीव असम्बन्धित होकर ही जाता है। ऐसा प्राप्त होनेपर आचार्य कहते हैं—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः' तदन्तरप्रतिपत्तौ—देहसे अन्य देहकी प्राप्तिमें देहके कारण सूक्ष्मभूतोंसे सम्बन्धित होकर जाता है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि प्रश्न और निरूपण है। जैसे कि प्रवाहण—हे श्वेतकेतु ! 'वेत्थ यथा० (क्या तू जानता है कि पाँचवीं आहुतिके हवन करनेपर जल (सोम, घृत आदि रस) 'पुरुष' संज्ञाको कैसे प्राप्त होता है) यह प्रश्न है। और स्वर्ग, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री इन पाँच अग्नियोंमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और शुक्ररूप ये पाँच आहुतियाँ दिखलाकर 'इति तु पञ्चम्यामा० (इसप्रकार पाँचवीं आहुतिके प्रक्षेप होनेपर जल 'पुरुष' शब्दवाची होता है) ऐसा निरूपण-प्रतिवचन है। इसलिए जीव जलसे परिवेष्टित होकर जाता है, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु 'तद्यथा तृणजलायुका० (उसमें—देह संचारमें जैसे तृणजलायुका-घासका कीट विशेष)

सत्यानन्दी दीपिका

होता है। अतः गत पाद और इस पादमें कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। इस अध्यायके प्रथमपादमें वैराग्यका निरूपण है, जैसे स्वर्ग, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री इन पाँचोंका अग्निरूपसे ध्यान करना चाहिए, यह पञ्चाग्नि विद्या है, जिससे कर्म द्वारा गमन और आगमनरूप अनर्थ होता है, इससे कर्मफलमें घृणा करनी चाहिए, ऐसी पञ्चाग्निविद्याके उपसंहारमें श्रुति है। यह सब वैराग्यके लिए दिखलाया गया है। द्वितीय पादमें स्वप्न आदि अवस्थाओंकी उक्तिसे 'त्वम्' पदका अर्थ और ब्रह्मतत्त्व कहा गया है। तृतीय पादमें 'तत्, त्वम्' का ऐक्य और उसके लिए उपासनाका विचार है। चतुर्थपादमें सम्यग्दर्शनके साधन संन्यास आदि, मुक्तिरूप फलका स्वर्ग आदिके समान तारतम्य नियमका अभाव अर्थात् जैसे स्वर्ग आदि फलमें तारतम्य होता है, वैसे मुक्तिरूप फलमें नहीं होता। प्रसङ्गसे प्राप्त कुछ अन्य देहात्मदूषण भी कहा जायगा।

* जीव इस देहको त्यागकर दूसरे देहकी प्राप्तिमें देहके कारणभूत सूक्ष्मभूतोंसे सम्बद्ध होकर

लायुका' (बृ० ४।४।३) इति । तत्राप्यप्परिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापितप्रतिपत्तव्य-
विषयभावनादीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः । एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रति-
प्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः कल्पना व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ
वशाद्वृत्तिलाभस्तत्र भवति । केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति । इन्द्रियाणि तु
भिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते । मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रति-
। जीव एवोत्प्लुत्य देहाद्देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक इव वृक्षाद्वृक्षान्तरम्, इत्येवमाद्याः,
सर्वा एवानादर्तव्याः श्रुतिविरोधात् ॥१॥

कार अन्य श्रुति जालूका-कीटके समान जबतक जीव अन्य देहको प्राप्त नहीं होता तबतक पूर्व
त्याग नहीं करता, ऐसा दिखलाती है । उसमें भी जलसे परिवेष्टित जीवके कर्मसे उपस्थापित प्राप्त
योग्य देहविषयक भावनाका दीर्घभावमात्र जलूकासे उपमित है, अतः कोई विरोध नहीं है ।
कार अन्य देहकी प्राप्तिका प्रकार श्रुतिसे उक्त होनेपर जो पुरुष बुद्धिसे उत्पन्न हुई कल्पनाएँ
आत्मा और इन्द्रियाँ व्यापक हैं, अन्य देहके प्राप्त होनेपर कर्मवश उसमें वृत्तिलाभ होता है ।
देहमें केवल आत्माका ही वृत्तिलाभ होता है, इन्द्रियाँ तो देहके समान तत् तत् भोगस्थानमें
ही उत्पन्न होती हैं । अथवा केवल मन ही भोग स्थानके प्रति जाता है । अथवा जैसे शुक एक
कूदकर अन्य वृक्षको प्राप्त होता है, वैसे जीव ही एक देहसे कूदकर अन्य देहको प्राप्त करता है,
सभी अनादरणीय हैं, क्योंकि श्रुतिके साथ उनका विरोध है ॥१॥

सत्यानन्दी दीपिका

है कि नहीं ? यह प्रश्न उठता है, क्योंकि इंद्रियोंको साथ ले जानेमें तो 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः'
ति प्रमाण है । परंतु सूक्ष्मभूतोंको साथ ले जानेमें कोई श्रुति नहीं है, कारण कि सूक्ष्म भूत सर्वत्र
है। इसलिए जीव सूक्ष्मभूतोंके विना ही जाता है । पूर्वपक्षमें निराश्रय प्राणकी गति न होनेसे
असिद्ध है और सिद्धातमें तो भूताश्रय प्राणोंकी गति होनेसे वैराग्य सिद्ध है । राजा प्रहाण—श्वेतकेतु !
यथा० श्वेतकेतु—मैं नहीं जानता । तब राजाने उद्दालकसे इसका उत्तर कहा—'असौ वाव लोको-
ग्निः' (हे गौतम ! यह स्वर्गलोक अग्नि है) यहाँ अग्निहोत्रमें हवन किया गया दधि आदि जल
के साथ संलग्न होकर स्वर्गलोक प्राप्त कर सोम नामक दिव्य देहरूपसे स्थित (प्राप्त) होता
फलके अन्तमें वही सोमरूप दिव्य शरीर द्रवीभूत होकर पर्जन्यमें आहुत होता है । अनन्तर
वृष्टिरूपसे अन्न आदिमें आता है । पुनः वही अन्न भक्षण करनेसे पुरुषमें जाता है । वही
द्वारा शुक्ररूपसे स्त्री के गर्भ में आहुत होता है, इसप्रकार आप (जल) मनुष्यरूप
है। इसप्रकार प्रश्नोत्तरसे यह सिद्ध होता है कि जीव सूक्ष्मभूतोंसे वेष्टित होकर जाता है ।

* 'तद्यथातृणजलायुका' यहाँ कर्मोंसे उपस्थापित प्राप्तव्य देव आदि देह है, उसे 'मैं देव हूँ'
भावना द्वारा प्राप्तकर जीव पूर्व देहका त्याग करता है अर्थात् भावी देह विषयक भावनाको
कीटका उदाहरण है, इससे कोई विरोध नहीं है । यद्यपि आत्मा व्यापक ब्रह्मरूप है, उसमें
आदिका असंभव है, तो भी घटाकाशके समान परिच्छिन्न उपाधिकी गति आदिको लेकर उसमें
आदिका वर्णन है, यह पञ्चाग्नि विद्यामें कहा गया है । उससे विरोध होनेके कारण अन्य सभी
एँ अनादरणीय हैं । उनमें 'व्यापिनां' इससे सांख्योंकी कल्पना है कि केवल अन्य देहमें कर्मोंके
इन्द्रिय समुदाय व्यक्त होकर अपना-अपना कार्य करता है । बौद्धोंकी कल्पना—केवल आलय
(निर्विकल्पज्ञान) सन्तान रूप आत्मा है, उसका अन्य देहमें शब्द आदि विषयक सविकल्प
नामक वृत्तिलाभ होता है । 'इन्द्रियाणि' इत्यादि भाष्यसे काणादोंकी कल्पना है । 'जीवएव'
दिगम्बर जैनोंकी कल्पना है । चार्वाक कहते हैं कि जीवित देह ही आत्मा है, उसके भस्म

ननूदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो रंहतीति प्राप्नोति अप्शब्दश्रवणसामर्थ्यात्। तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति ? अत उत्तरं पठति—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥२॥

पदच्छेद—त्र्यात्मकत्वात्, तु, भूयस्त्वात्।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द शङ्का निवृत्त्यर्थ है। (त्र्यात्मकत्वात्) त्रिवृत्करण श्रुतिसे अन्य दो भूतों मेलनसे जल त्र्यात्मक है, अतः जलसे अन्य दो भूतोंका गमन सम्बन्ध सिद्ध है। (भूयस्त्वात्) कारण कि तेज आदिकी अपेक्षासे शरीरमें जल भूयस्त्व है।

* तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति। त्र्यात्मिका ह्यापः, त्रिवृत्करणश्रुतेः। तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। त्र्यात्मकश्च देहस्त्रयाणामपि तेजोबन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः, पुनश्च त्र्यात्मकस्त्रिधातुत्वात्त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः। न स भूतान्तराणि प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते। तस्माद्भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति प्रश्नप्रतिवचनयोरप्शब्दो न कैवल्यापेक्षः। सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते। ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषूपलक्ष्यते, नैष दोषः, इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति। दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम्। कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे। कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि, कर्मसमवायिन्यश्चापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्त इति वक्ष्यति। तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः। बाहुल्याच्चाप्शब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥२॥

परन्तु उदाहृत प्रश्न और प्रतिवचन द्वारा केवल जलसे परिवेष्टित जीव जाता है, ऐसा प्रा होता है, क्योंकि जल शब्दके श्रवणकी सामर्थ्य है, तो सभी सूक्ष्म भूतोंसे परिवेष्टित होकर जाता ऐसी सामान्यरूपसे प्रतिज्ञा कैसे की है ? इससे उत्तर कहते हैं --

तु शब्दसे पूर्वोक्त शंकाका उच्छेद करते हैं—त्रिवृत्करण श्रुतिसे जल त्र्यात्मक है, उस जल देहका आरम्भक स्वीकार करनेपर अन्य दो भूत-तेज और पृथ्वीमें भी आरम्भकत्व अवश्य स्वी करना चाहिए। और देह त्र्यात्मक है, क्योंकि तेज, जल और अन्न तीनोंका भी उसमें कार्य उप होता है। पुनः भी देह त्र्यात्मक है, कारण कि वात-पित्त और कफसे त्रिधातु है। अन्य भूतों प्रत्याख्यान (त्याग) कर केवल जलसे वह आरब्ध नहीं हो सकता। इसलिए 'जल पुरुषात्मक है' ऐसा जो प्रश्न और प्रतिवचनमें जल शब्द है वह केवल जलकी अपेक्षासे नहीं है किन्तु भूयस्त्व अपेक्षासे है, क्योंकि सब देहोंमें रस-लोहित आदि द्रवीभूत द्रव्योंका बाहुल्य देखा जाता है। पार्थिव धातु भी देहोंमें अधिकतर उपलब्ध होता है। यह दोष नहीं है, कारण कि अन्योंकी अपेक्षा जल बहुत होगा। शुक्रशोणित रूप देहके कारणमें भी द्रव बाहुल्य देखनेमें आता है। अन्य (स्वर्ग देहके आरम्भमें कर्म निमित्त कारण हैं। अग्निहोत्र आदि कर्म सोम, घृत, पय आदि द्रव द्रव्य आश्रित होते हैं, और कर्म सम्बन्धी जल श्रद्धा शब्दसे कहा गया है, वह कर्मोंके साथ स्वर्गलोक नाम अग्निमें हुत किया जाता है, ऐसा आगे कहेंगे। इससे भी जलका बाहुल्य प्रसिद्ध है। और बाहुल्य होनेसे अप्-जल शब्दसे सभी देहके बीज सूक्ष्म भूतोंका ग्रहण है, यह निर्दोष है ॥ २ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

होनेपर पुनः गमन आदि नहीं होते। इत्यादि सभी कल्पनाएँ श्रुति विरुद्ध हैं ॥ १ ॥

* खाये और पीये गये अन्न और जलका पारिपाक वह तेजका कार्य है। स्नेह और स्वेद आदि

प्राणगतेश्च ॥३॥

पदच्छेद—प्राणगतेः, च ।

सूत्रार्थ—और ‘तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति’ इस श्रुतिमें जीवके साथ इन्द्रियोंकी गति प्रति-है, इससे भी जीव सूक्ष्म भूतोंसे परिवेष्टित जाता है ।

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिः श्राव्यते—‘तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनू-सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति’ (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभिः । सा च प्राणानां गतिर्नान्तरेण संभवतीत्यतः प्राणगतिप्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गम्यते । नहि निराश्रयाः प्राणाः क्वचिद्गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा, जीवतो दर्शनात् ॥३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।४॥

पदच्छेद—अग्न्यादिगतिश्रुतेः, इति, चेत्, न, भाक्तत्वात् ।

सूत्रार्थ—(अग्न्यादिगतिश्रुतेः) ‘अग्निं वागप्येति’ इत्यादि श्रुतिमें वाग् आदिका अग्नि आदिमें प्रतिपादित है, इससे जीवके साथ इन्द्रियां नहीं जाती । (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो यह नहीं है, (भाक्तत्वात्) क्योंकि ‘तमुत्क्रामन्तम्’ इत्यादि श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे अग्नि गति प्रतिपादक श्रुति गौण है ।

स्यादेतत्—नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति, अग्न्यादिगतिश्रुतेः । हि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अग्न्यादीन्देवान्गच्छन्तीति दर्शयति—‘यत्रास्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः’ (बृ० ३।२।१३) इत्यादिनेति चेत्—न, भाक्तत्वात् । दीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी, लोमसु केशेषु चादर्शनात् । ‘ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः’ ३।२।१३) इति हि तत्राम्नायते । नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छ-संभवति । नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते । नापि प्राणैर्विना

और अन्य देहकी प्राप्तिमें ‘तमुत्क्रामन्तं० (उस जीवके उत्क्रान्त होनेपर प्राण उत्क्रमण करता के उत्क्रान्त होनेपर सब प्राण-इन्द्रियाँ उत्क्रमण करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे प्राणोंकी गति जाती है । प्राणोंकी वह गति आश्रयके विना उपपन्न नहीं हो सकती, अतः प्राणोंकी गतिसे प्राणोंके आश्रयभूत अन्य भूतोंसे सम्बद्ध जलकी भी गति अर्थतः अवगत होती है । क्योंकि प्राण न कहीं जाते हैं अथवा न कहीं रहते हैं, कारण कि जीवित देहमें प्राण साश्रय आते हैं ॥ ३ ॥

ऐसा हो, परन्तु प्राण देहान्तर प्राप्तिमें जीवके साथ नहीं जाते, क्योंकि अग्नि आदिमें गति है । जैसे ‘यत्रास्य० (जिस समय इस मृत पुरुषकी वाक् अग्निमें लीन हो जाती है और प्राण लीन हो जाता है) इत्यादिसे श्रुति मरण कालमें वाणी आदि प्राण अग्नि आदि देवोंको प्राप्त है, ऐसा दिखलाती है । यदि ऐसा कहो तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि वह गौण है । वाक् आदि देवोंको अग्नि आदि गतिश्रुति गौण है, कारण कि लोम और केशोंमें ऐसा देखनेमें नहीं आता । र्लोमानि० (लोम ओषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें लीन हो जाते हैं) ऐसी वहां श्रुति है । और केश कूदकर ओषधि और वनस्पतिको प्राप्त होते हैं, ऐसा संभव नहीं है । इसलिए जीवका

सत्यानन्दी दीपिका

कार्य है और गन्ध आदि पृथ्वीका कार्य है, इसलिए देह त्र्यात्मक है । परन्तु इस देहमें प्राण अवकाश रूप कार्योंकी भी साथ-साथ उपलब्धि होती है, अतः देह पाँच भूतात्मक है । इस भाष्यमें ‘पुनश्च’ इत्यादिसे दूसरी व्याख्या करते हैं ॥ २ ॥

देहान्तर उपभोग उपपद्यते। विस्पष्टं च प्राणानां सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्। अतो वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाल उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥४॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

पदच्छेद—प्रथमे, अश्रवणात्, इति, चेत्, न, ताः, एव, हि, उपपत्तेः।

सूत्रार्थ—द्युलोक आदि पाँच अग्नियोंमें (प्रथमे) प्रथम-द्युलोक नामक अग्निमें (अश्रवणात्) 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ' इत्यादि श्रुतिसे श्रद्धाका आहुतित्व श्रवण है जलका नहीं है, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो, तो यह युक्त नहीं है, (हि) क्योंकि 'आपो हास्मै' इत्यादि श्रुतिसे जल ही लक्षित होता है (उपपत्तेः) कारण कि ऐसी प्रश्न और प्रतिवचनकी उपपत्ति है।

❀ स्यादेतत्—कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते ? यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृत पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्नि (छा० ५।४।१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५।४।२) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता। न तत्रापो हौम्यद्रव्यतया श्रुताः। यदि नाम पर्जन्यादिषूत्तरे चतुर्ष्वग्निष्वपां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत, परिकल्प्यतां नाम, तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामब्बहुलत्वोपपत्तेः। प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इ साहसमेतत्। श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः, प्रसिद्धिसामर्थ्यात्। तस्मादयुक्तः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषभाव इति चेत्—नैष दोषः, यतस्तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभि

प्राण उपाधिके परित्याग करनेपर गमन नहीं हो सकता और प्राणोंके विना अन्य देहका उपभोग उपपन्न नहीं होता। और प्राणोंका जीवके साथ गमन अन्यत्र (तमुत्क्रामन्तम्) विस्पष्ट सुनाया है। अतः वाणी आदिके अधिष्ठातृ और वाक् आदिके उपकारक अग्नि आदि देवताओंके मरण कालमें उपकारकी निवृत्ति मात्रकी अपेक्षासे वाक् आदि अग्नि आदिमें लीन होते हैं, ऐसा उप किया गया है ॥ ४ ॥

यह शंका होती है—जब प्रथम अग्निमें जलका श्रवण नहीं है, तो 'पञ्चम्यामा० (पाँच आहुतिमें जल पुरुष संज्ञक होता है) यह अवधारण किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि यहां द्यु आदि पाँच अग्नियाँ पाँच आहुतियोंके आधाररूपसे अधीत हैं। उनमें से प्रथममें 'असौ वाव० (गौतम ! यह द्युलोक अग्नि है) ऐसा उपन्यासकर 'तस्मिन्नेतस्मिन्न० (इस द्युलोकरूप अग्निमें दे यजमान श्रद्धाका हवन करते हैं) इसप्रकार श्रद्धा होम्य द्रव्यरूपसे प्रतिपादित है, किन्तु वहां हो द्रव्यरूपसे जल श्रुत नहीं है। यदि पर्जन्य आदि उत्तर चार अग्नियोंमें जलकी होम्य द्रव्यरूपसे क करे तो भले कल्पना करे, क्योंकि उनमें हवनीयरूपसे गृहीत सोम आदिमें जलके आधिक्यकी उप पत्ति है। किन्तु प्रथम अग्निमें तो श्रुत श्रद्धाका परित्यागकर अश्रुत जलकी कल्पना करते हो, यह के साहस है। इस प्रकार प्रसिद्धिकी सामर्थ्यसे श्रद्धा प्रत्यय-विश्वास विशेष है, इसलिए पाँचवी आहुतिमें ज पुरुषभाव युक्त नहीं है। ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि वहां भी प्रथम अग्निमें श्र

सत्यानन्दी दीपिका

✱ अब वह जल पुरुष संज्ञक किसप्रकार होता है, इसका आक्षेप पूर्वक 'प्रथम' इत्या समाधान करते हैं। यद्यपि प्रथम अग्निमें साक्षात् जलका श्रवण नहीं है, तो भी प्रश्न और प्र वचनकी उपपत्तिसे जलका ही ग्रहण है, क्योंकि 'पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष संज्ञक किसप्रकार हो

ते। कुतः ? उपपत्तेः । एवं ह्यादिमध्यावसानसंगानादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते । पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने तो हौम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता त्। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति चोपसंहरन्नेतदेव दर्शयति । द्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादि स्थूलीभवदब्बहुलं लक्ष्यते । सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः । नुरूपं हि कार्यं भवति । नच श्रद्धाख्यः प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन्धर्मिणो य होमायोपादातुं शक्यते पश्वादिभ्य इव हृदयादीनीत्याप एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः । ब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात्—'श्रद्धा वा आपः' इति । तनुत्वं श्रद्धासारूप्यं य आपो देहबीजभूता इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः । यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो ते। श्रद्धापूर्वककर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते, मञ्चशब्द इव पुरुषेषु । श्रद्धाहेतु- त्व श्रद्धाशब्दोपपत्तिः, 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतेः ।।५।।

वही जल अभिप्रेत है । क्यों ? ऐसी उपपत्ति है । इसप्रकार आदि, मध्य और अन्तमें संगान- होनेसे विना अयासके ही यह एक वाक्य उपपन्न होता है । अन्यथा पाँचवीं आहुतिमें 'जल संज्ञक किसप्रकार होता है' ऐसा प्रश्न करनेपर प्रतिवचनके अवसरमें यदि प्रथम आहुतिके जलसे भिन्न होम्य द्रव्यरूपसे श्रद्धाको ले आओ, तो प्रश्न एक प्रकारका और प्रतिवचन अन्य , इसप्रकार एक वाक्यता नहीं होगी । 'इति तु० (ऐसे पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष संज्ञक है) इस तरह उपसंहार करती हुई श्रुति यही दिखलाती है, और श्रद्धाके कार्य सोम, वृष्टि आदि र स्थूल होते हुए जलभूयस्त्व देखनेमें आते हैं । वही श्रद्धाके जल होनेमें युक्ति है । कारणके ही कार्य होता है । जैसे पशु आदिसे हृदय आदि अवयव निकालकर होमके लिए ग्रहण किए ते हैं, वैसे श्रद्धा नामक प्रत्यय-विश्वास मन अथवा जोवका धर्म होते हुए धर्मीसे निकालकर लिए ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिए जल श्रद्धा शब्द वाच्य होना चाहिए, और श्रद्धा जलमें उपपन्न होता है, क्योंकि 'श्रद्धा वा आपः' (निश्चय श्रद्धा जल है) इसप्रकार वैदिक देखनेमें आता है । श्रद्धाका सादृश्य सूक्ष्मत्व जलमें है, इसलिए जीवके साथ जानेवाले देहके भूत जलमें श्रद्धाशब्दका प्रयोग होता है । जैसे सिंह पराक्रम वाला पुरुष [गौणरूपसे] सिंह शब्द होता है । श्रद्धा पूर्वक कर्ममें जलका सम्बन्ध होनेसे भी श्रद्धाशब्द जलमें उपपन्न होता है । जैसे मञ्च शब्द उपपन्न होता है । 'आपो हास्मै० (निश्चय, इस यजमानके पुण्य कर्मके लिए जल उत्पन्न करता है) इसप्रकार श्रुतिसे श्रद्धाका हेतु होनेसे जलमें श्रद्धा शब्दकी उपपत्ति होती है ।५।

सत्यानन्दी दीपिका

प्रश्न है । इसके अनुसार ही उत्तर देना उचित है । इसलिए प्रथम अग्निमें भी श्रद्धा शब्दसे अभिप्रेत है, अन्यथा प्रश्न और प्रतिवचनमें अन्तर होनेसे एकवाक्यता सिद्ध नहीं होगी । यदि श्रद्धा शब्दसे जल ग्राह्य नहीं है तो जिन पर्जन्य आदि चार अग्नियोंमें जल श्रुत है उनके प्रश्न होता कि चौथी अग्निमें आहुत जल पुरुषात्मक किस प्रकार होता है ? पाँचवी आहुति- में प्रश्न नहीं होता, अतः उपक्रम और उपसंहारसे यहां श्रद्धा शब्दसे जलका ही ग्रहण चाहिए ।

* 'तस्याः श्रद्धाहुतेः सोमः सम्भवति' (उस श्रद्धारूप आहुतिसे सोम उत्पन्न होता है) से श्रद्धा-सोम आदि पूर्व-पूर्वके परिणाम कहे गये हैं । इसलिए द्रवीभूत पदार्थका परिणाम श्रद्धा जल है । 'मञ्चाः क्रोशन्ति' (मञ्च क्रोशण करते हैं) जैसे यहां लक्षणासे मञ्चस्थ पुरुष हैं, यह अर्थ होता है, वैसे जलमें भी श्रद्धाका लाक्षणिक प्रयोग होता है ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥६॥

पदच्छेद—अश्रुतत्वात्, इति, चेत्, न, इष्टादिकारिणाम्, प्रतीतेः ।

सूत्रार्थ—श्रद्धा शब्दित जलके पुरुषवचस्त्व होनेपर भी जलसे वेष्टित जीव जाता है, युक्त नहीं है, (अश्रुतत्वात्) क्योंकि जल आदिके समान जीव श्रुत नहीं है । (इति चेन्न) ऐसा कहो तो युक्त नहीं है, (इष्टादिकारिणां प्रतीतेः) क्योंकि 'अथ य इमे' इत्यादि वाक्यशेषसे इष्टा कर्म कारियोंकी प्रतीति होती है ।

अथापि स्यात्प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाका प्रतिपद्येरन्, नतु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः, अश्रुतत्वात् । न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रा यिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति । तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्ययुक्तमिति चेत्—नैष दोषः, कु इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (५।१०।३) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयाणेन पथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आ शाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' (छा० ५।१०।४) इति । त एवेहापि प्रतीयन्ते 'तस्मिन्नेतस्मि देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५।४।२) इति, श्रुतिसामान्या तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात् मेवापः सन्ति । ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुत्योऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिका आश्रयन्ति । तेषां च शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्येऽग्नावृत्विजो जुह्वति—'असौ स्वर्गाय लो स्वाहा' इति । * ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्य निष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्ट्यामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाभिधी

प्रश्न और प्रतिवचनसे पाँचवीं आहुतिमें श्रद्धा आदि क्रमसे जल पुरुषाकार प्राप्त करे, भी हो, परन्तु उस जलसे परिवेष्टित जीव गमन नहीं करेंगे, क्योंकि अश्रुत है । यहाँ जलके जीवोंका श्रवण करानेवाली कोई श्रुति नहीं है । इसलिए जलसे परिवेष्टित होकर जीव जाता है अयुक्त है । ऐसा यदि कहो तो यह दोष नहीं है, किससे ? इससे कि इष्टादि कारियोंकी प्रती 'अथ य हमे० (तथा जो ये गृहस्थ लोग ग्राममें इष्ट, पूर्त और दत्त इस प्रकार कर्म करते हैं वे भिमानी देवताको प्राप्त होते हैं) ऐसा उपक्रम कर 'आकाशाच्चन्द्रमसमेष० (वे आकाशसे चन्द्र जाते हैं, यह चन्द्रमा राजा सोम है) इस प्रकार श्रुति इष्ट आदि कर्म करनेवालोंकी धूम आदि याणसे जैसे चन्द्रमाकी प्राप्ति कहती है । 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ० (उस द्युलोक अग्निमें देवगण होम करते हैं, उस आहुतिसे सोम राजा उत्पन्न होता है) इस सामान्य श्रुतिसे वे ही यहाँ भी होते हैं । और उन जीवोंके अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास आदि कर्मोंके साधन भूत दधि, पय आदि भूत द्रव्यके आधिक्यसे प्रत्यक्ष ही जल है । आहवनीय अग्निमें हूत वे सूक्ष्म आहुतियाँ अपूर्व रू हुई उन इष्ट आदि करनेवालोंका आश्रयण करती हैं । ऋत्विज लोग उनके शरीरको मरणके वि अन्त्य अग्निमें 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' (यह स्वर्गलोकको जावे) ऐसा कहकर होम करते इसके अनन्तर श्रद्धापूर्वक कर्मके साथ सम्बद्ध आहुतिमय वह जल अपूर्वरूप होता हुआ उ आदि कर्म करनेवाले जीवोंको परिवेष्टित कर फल देनेके लिए उस लोकको ले जाता है, इस प्र

सत्यानन्दी दीपिका

* जीवके साथ आहुतिमय जलके गमनमें दूसरी श्रुति भी है—अग्निहोत्र प्रकरणमें जनकने याज्ञवल्क्यसे छः प्रश्न किये हैं—'न त्वेवैनयोः सायं प्रातराहुत्योस्त्वमुत्क्रान्तिं न गतिं न (इन सायं और प्रातःकालकी आहुतियोंमें उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति और

ह्वति' (बृ० ६।२।९) इति । तथा चाग्निहोत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा हुती हुते उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिः प्रदर्शिता । आहुतीमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति श्लिष्यते ॥६॥

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते ? यावता तेषां लोकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति—'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं भक्षयन्ति (छा० ५।१०।४) इति 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्त्र भक्षयन्ति' (बृ० ६।२।१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम् । व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति, अत उत्तरं पठति—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥७॥

पदच्छेद—भाक्तम्, वा, अनात्मवित्त्वात्, तथा, हि, दर्शयति ।

सूत्रार्थ—(वा) शब्द शङ्कानिरासार्थ है, इष्ट आदि कर्मकारियोंमें अन्नत्व (भाक्तम्) गौण न्यथा 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा । (अनात्मवित्त्वात्) अतः अनात्मवित् उनमें देवोंके उपभोग योग्य अन्नत्व विवक्षित है, (तथाहि दर्शयति) वैसा ही 'अथ योऽन्याम्' श्रुति दिखलाती है ।

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः । भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम् । मुख्येह्यन्नत्वे 'स्वर्गयजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत । चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो

गया है उसीको यहाँ 'श्रद्धां जुह्वति' (श्रद्धाको होम करते हैं) इस श्रुति द्वारा 'हु' धातुसे अभिधान है । उसी प्रकार अग्निहोत्रमें छः प्रश्नोंके निर्वचनरूप 'ते वा एते० (वे ये दो हुत आहुतियाँ करती हैं) इत्यादि वाक्यशेषसे दो अग्निहोत्र आहुतियोंमें फलारम्भके लिए अन्य लोककी दिखलाई गई है । इसलिए आहुतिमय जलसे परिवेष्टित जीव अपने कर्मफलोपभोगके लिए हैं, यह युक्त है ॥ ६ ॥

परन्तु इष्ट आदि कर्म करनेवालोंके अपने कर्मफलके उपभोगके लिए गमन विषयक प्रतिज्ञा जाती है । क्योंकि 'एष सोमो राजा० (यह सोम राजा है, यह देवताओंका अन्न है, देवता उसका भक्षण करते हैं) इस प्रकार यह श्रुति धूम प्रतीक मार्गसे उन चन्द्रलोकमें आरुढ़ हुओंका भाव दिखलाती है, और 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं० (वे चन्द्रमाको प्राप्तकर अन्न हो जाते हैं, वहाँ ऋत्विग्गण सोम राजाको 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व' ऐसा कहकर भक्षण करते हैं, वैसे इनका भक्षण करते हैं) यह सामान्य विषयक दूसरी श्रुति है । व्याघ्र आदिसे भक्ष्यमाणोंके समान भक्ष्यमाणोंका उपभोग नहीं हो सकता, अतः उत्तर कहते हैं—

वा शब्द शङ्कित दोषकी व्यावृत्तिके लिए है । इन इष्ट आदि कारियों में अन्नत्व गौण है नहीं, मुख्य अन्नत्व हो तो 'स्वर्गकामो यजेत' इसप्रकारकी अधिकारश्रुति बाधित हो जायगी ।

सत्यानन्दी दीपिका

वाला लोक क्या तुम नही जानते) उन प्रश्नोंका निर्वचन भी 'राज्ञैवते वा एते आहुती हुते क्रामतः०' (राजाने कहा कि वे ये हुत आहुतियाँ उत्क्रमण करती हैं, वे अन्तरिक्ष द्वारा द्युलोकमें ती हैं, वे आहवनीय द्युलोकमें प्रतिष्ठा करती हैं, वे द्युलोकको तृप्त करती है, वहाँ से पुनः लौटती हैं, नन्तर पृथ्वीमें, पुनः पुरुषमें, उससे स्त्रीमें आहुत हुई पुरुषरूपसे उत्थान करती हैं) इस प्रकार शेषसे निश्चित होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि आहुतिमय जलसे परिवेष्टित जीव कर्म पभोगके लिए गमन करता है ॥ ६ ॥

न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः। अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्
दनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते। यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति। तस्मादिष्ट
पुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्ष
मभिप्रेतं न मोदकादिवच्चर्वणं निगरणं वा। 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं
तृप्यन्ति' (छा० ३।६।१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति। तेषां चेष्टादिकारि
देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजोपजीविनामिव परिजनानाम्। अन
त्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभोग्यभाव उपपद्यते। तथा हि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभो
ग्यतां दर्शयति—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं
देवानाम्' (बृ० १।४।१०) इति। स चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्
नामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्टं फलमुपभुञ्जानः पशुवदेव देवानामुपकरो
तीति गम्यते॥ ❋ अनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो
केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः। पञ्चाग्निविद्यामिहात्मविद्य
पचरन्ति, प्रकरणात्। पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेदमिष्टादिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमु
च्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसार्थं। पञ्चाग्निविद्या हीह विधित्सिता, वाक्यतात्पर्यावगमात्।

यदि इष्ट आदि कारियोंका चन्द्रमण्डलमें उपभोग न हो, तो अधिकारी अधिक परिश्रम साध्य
आदि कर्म किसलिए करेंगे, और अन्न शब्द उपभोग हेतुत्व है, इस सामान्य धर्मसे अन्न भिन्न में
उपचर्यमाण-उपचरित होता हुआ देखा जाता है। जैसे 'वैश्य राजाओंका अन्न है, पशु वैश्योंका
है' ऐसा कहते हैं। इसलिए इष्ट, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेवक आदिके समान गौणभावको प्राप्त हुए
आदि कारियोंसे जो देवताओंका सुख विहरण है वही इनका यहाँ भक्षण अभिप्रेत है, किन्तु मो
आदिके समान चर्वण-चबाना अथवा निगलना अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि 'न ह वै देवा० (देवगण
तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं) यह श्रुति देवोंके चर्वण आ
व्यापारका निषेध करती है। देवोंके प्रति गुणभावको प्राप्त हुए इन इष्ट आदि कारियोंका भी राजा
आश्रित जीवन निर्वाह करनेवाले परिजनोंके समान उपभोग उपपन्न होता है और अनात्मवित् होने
इष्ट आदि कारियोंमें दोवोंका उपभोग्यत्व भी उपपन्न होता है। जैसे कि 'अथ योऽन्यां० (और जो अ
देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है वह नहीं जानता। जैसे प
होता है वैसे ही वह देवताओंका पशु है) यह श्रुति अनात्मवेत्ताओंकी देवोपभोग्यता दिखलाती
अर्थात् जैसे पशु मनुष्योंका भोग्य है, वैसे अज्ञ जीव देवोंका उपभोग्य होता है। वह इस लोकमें
इष्ट आदि कर्मों द्वारा देवोंको प्रसन्न करता हुआ पशुके समान देवोंका उपकरण होता है और परलोक
भी उनका उपजीवी होकर उनसे आदिष्ट फलका उपभोग करता हुआ पशुके समान देवोंका उपकार
होता है, ऐसा ज्ञात होता है। 'अनात्मवित्त्वात्तथाहिदर्शयति' इस सूत्रांशको यह दूसरी व्याख्या है—
केवल कर्मा ये इष्ट आदि कारी अनात्मवित् ही हैं वे उपासना और कर्मके समुच्चयका अनुष्ठा
करनेवाले नहीं हैं। यहाँ प्रकरणसे पञ्चाग्नि विद्याको गौणरूपसे आत्मविद्या कहते हैं। पञ्चा
विद्या रहित होनेसे इष्ट आदि कारी देवोंके अन्न हैं, ऐसा पञ्चाग्नि विद्याकी प्रशंसाके लिए

सत्यानन्दी दीपिका

❋ गौतम और प्रवाहणके संवादात्मक वाक्योंका पर्यालोचन करनेसे यही सिद्ध होता है कि
यहाँ पञ्चाग्निविद्याका अभिधान ही इष्ट है। अतः आहुतिमय जलसे परिवेष्टित होकर जीव जाता है।
इसप्रकार गतिके पर्यालोचनसे वैराग्य होता है ॥ ७ ॥

त्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते (प्र०
ति। तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् 'अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्म-
न्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४।३।३३) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां
दर्शयति'। एवं भाक्तत्वादन्नभाववचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते।
ति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम् ॥७॥

(२ कृतात्ययाधिकरणम्। सू० ८-११)

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥८॥

च्छेद—कृतात्यये, अनुशयवान्, दृष्टस्मृतिभ्याम्, यथेतम्, अनेवम्, च।

त्रार्थ—(कृतात्यये) कर्मोंके उपभोगके अनन्तर (अनुशयवान्) उस कर्मोंसे अतिरिक्त
होकर जीव इसलोकमें आता है, (दृष्टस्मृतिभ्याम्) क्योंकि 'तद्य इह रमणीयचरणा' और
लमनुभूय' इत्यादि श्रुति और स्मृति हैं। और (यथेतम्) जिस धूम आदि मार्गसे वे गये
अथवा (अनेवम् च) उससे विपरीत वक्ष्यमाण अभ्र आदि मार्ग द्वारा इस लोकमें आते हैं।

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः
आम्नायते–'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' (छा० ५।१०।५)
यावत् रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनि' मिति। तत्रेदं
—किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति। किं ताव-
निरनुशया इति, कुतः ? यावत्संपातमिति विशेषणात्। संपातशब्देनात्र कर्माशय
संपतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति। यावत्संपातमुषित्वेति च

कहा गया है। यहां पञ्चाग्नि विद्याका ही विधान करना अभीष्ट है, क्योंकि वाक्यका तात्पर्य
वगत होता है। जैसे कि 'स सोम लोके० (सोम लोकमें विभूतिका अनुभवकर वह पुनः
है) यह दूसरी श्रुति चन्द्रमण्डलमें भोगका सद्भाव दिखलाती है। उसीप्रकार 'अथ ये
पितृ लोकको जीतनेवाले पितरोंके सौ आनन्द हैं वह गन्धर्व लोकका एक आनन्द है, तथा
लोकके सौ आनन्द हैं, वह कर्म देवोंका, जो कि कर्मोंके द्वारा देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक
) यह दूसरी श्रुति भी देवोंके साथ वास करनेवाले इष्ट आदि कारियोंकी भोग प्राप्ति दिख-
इसप्रकार अन्न भाव वचन गौण होनेसे यहां इष्ट आदि कारी जीव जाते हैं ऐसा प्रतीत
इसलिए 'रंहति संपरिष्वक्तः' (जीव परिवेष्टित जाता है) यह ठीक ही कहा गया है ॥७॥

आदि मार्ग द्वारा चन्द्रमण्डलमें आरुढ़ इष्ट आदि कारी भुक्त भोगियोंके वहाँसे प्रत्याव-
कहा गया है—'तस्मिन्यावत्० (वहाँ कर्मोंका क्षय होनेतक रहकर वे पुनः इसी मार्गसे
गये थे उसी प्रकार लौटते हैं) यहाँसे आरम्भकर 'रमणीय आचरणवाले ब्राह्मण आदि
होते हैं और पाप आचरणवाले श्वान आदि योनिको प्राप्त होते हैं' यहाँ तक। उसमें यह
जाता है कि जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मोंका उपभोग कर लिया है, वे अनुशय (कर्म) रहित
रते हैं अथवा अनुशय सहित ? तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—अनुशय रहित अव-
हैं, क्यों ? 'यावत्संपातम्' (संपात पर्यन्त) ऐसा विशेषण है। यहाँ संपात शब्दसे
जाता है, क्योंकि इस लोकसे उस लोकमें कर्मफलके उपभोगके लिए इस कर्मसे जाते

सत्यानन्दी दीपिका

अब गतिके अनन्तर होनेवाली आगतिका 'कृतात्यये' इत्यादिसे निरूपण किया जाता है।
गया है कि जलसे परिवेष्टित होकर जीव जाता है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि स्वर्गसे अव-

कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति । 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६।२।१६) इति च श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थः प्रदर्श्यते । स्यादेतत्—यावदमुष्मिंल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म तावदु भुङ्क्त इति कल्पयिष्यामीति । नैवं कल्पयितुं शक्यते, यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात् । 'प्राप्या न्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इ ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयिततां दर्शयति ※ अपि च प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम् । प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्म प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः । तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्य कम् । नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति, न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनि घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते । तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—कृ त्ययेऽनुशयवानिति । येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयि तेषां यदम्मयं शरीरं चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः, हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम् । ततः कृ

हैं । 'यावत्संपातमुषित्वा' (संपात पर्यन्त रहकर) यह श्रुति उसके सम्पूर्ण कृत कर्मोंकी वहीं भुक्त दिखलाती है । 'तेषां यदा० (जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तो वे इस आकाशको ही प्राप्त हैं) इस अन्य श्रुतिसे भी यही अर्थ दिखलाया जाता है । ऐसा हो, परंतु जब तक उस लोकमें उप योग्य कर्म हैं तब तक जीव उनका उपभोग करेगा, मैं ऐसी कल्पना करूँगा । तो ऐसी कल्पना नहीं जा सकती, क्योंकि 'यत्किञ्च० (जो कुछ) ऐसा अन्यत्र परामर्श है । 'प्राप्यान्तं० (इस लोकमें जो कुछ करता है, उस कर्मका फल प्राप्त कर उस लोकसे कर्म करनेके लिए पुनः इस लोकमें जाता है) यह दूसरी श्रुति 'यत्किञ्च' इस अविशेष (सम्पूर्ण) परामर्शसे यहाँ किए गए समस्त कर्मों वहाँ क्षयित्व दिखलाती है । और मरण भी अनारब्ध फलवाले कर्मोंका अभिव्यञ्जक है, क्योंकि मर पूर्व आरब्ध फलवाले कर्मसे प्रतिबद्ध कर्मकी फलके लिए अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । और विशे होनेसे वह मरण जिस किस कर्मका फल आरम्भ नहीं हुआ है उस समस्त कर्मोंका अभिव्यञ्जक कारणकि साधारण निमित्तके होनेपर नैमित्तक असाधारण नहीं हो सकता । प्रदीपकी अवि (सामान्य) संनिधिमें घट अभिव्यक्त होता और पट नहीं, यह उपपन्न नहीं है । इससे जीव अनु रहित अवरोहण करते हैं ।

सिद्धांती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं–'कृतात्ययेऽनुशयवान्' (कर्मके क्षय होनेपर शयवान्) जिस कर्म समूहसे फलके उपभोगके लिए चन्द्रमण्डलमें आरूढ हुए उस कर्म समुदा उपभोग द्वारा क्षय होनेपर उनका उपभोगके लिए चन्द्र-मण्डलमें जो जलमय शरीर आरब्ध है, वह उपभोगके क्षय दर्शनसे उत्पन्न शोकाग्निके सम्पर्कसे विलीन हो जाता है । जैसे सूर्य किर सम्पर्कसे हिम और करक, जैसे अग्निकी ज्वालाओंके सम्पर्कसे घृतका काठिन्य विलीन हो जाता इसलिए 'कृतात्यये० किए गए इष्ट आदि कर्मफलके उपभोगसे उपक्षय होनेपर अनुशय सहित

सत्यानन्दी दीपिका

रोहण करनेवालोंके कर्मका अभाव होनेसे तत्सम्बन्धित जलका भी अभाव है, इस प्रकार आ संगतिसे पूर्वपक्ष है ।

※ इसलिए स्वर्ग आदि लोकोंमें सम्पूर्ण कर्मोंके उपभोग द्वारा क्षय होनेपर अनुशय र केवल आचरण द्वारा इस लोकमें जीवोंका अवरोहण होता है । इससे आगति अनियमित सिद्ध हो है । पूर्वपक्षमें कर्मका अभाव होनेसे वैराग्यकी दृढ़ता भी नहीं हो सकती । सिद्धांतमें कर्मकी सत्ता होने आगतिमें नियम है, इससे वैराग्यकी दृढ़ता है ।

कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति। केन हेतुना ?
स्मृतिभ्यामित्याह। तथा हि प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—'तद्य इह रमणीय-
ता अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य
ईयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा'
० ५।१०।७) इति। चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति। ❀ दृष्टश्चायं जन्म-
प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासंभवादनुशयसद्भावं सूच-
अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात्। स्मृतिरपि
र्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्त-
सुखमेधसो जन्मप्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति। कः पुनरनुशयो ना-
? केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम, भाण्डा-
रिस्नेहवत्। यथा हि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव
स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽपीति। ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्याव-
वस्थानं न्याय्यम्। नायं दोषः, नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे। ननु
शेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः। बाढम्, तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण

इस लोकमें अवरोहण करते हैं। किस हेतुसे ? दृष्ट-श्रुति और स्मृतिसे, ऐसा कहते हैं। जैसे कि
इह० (उन अनुशयी जीवोंमें जो यहां पुण्य कर्मवाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त
हैं। वे ब्राह्मण योनि, क्षत्रिय योनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरण
कर्म) वाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे श्वान योनि, सूकर योनि
चाण्डाल योनि प्राप्त करते हैं) यह प्रत्यक्ष श्रुति अनुशय सहित जीवोंका अवरोहण दिखलाती
वहां चरण शब्दसे अनुशय (कर्म) सूचित होता है, ऐसा वर्णन करेंगे। और जन्मसे ही प्रत्येक
भिन्न भिन्न रूपसे विभक्त हुआ यह उपभोग देखा गया है, वह आकस्मिकत्वके असंभवसे
शयके सद्भावको सूचित करता है, क्योंकि अभ्युदय और प्रत्यवाय (हानि, दुःख) का सुकृत
दुष्कृत हेतु हैं यह सामान्य रीतिसे शास्त्र द्वारा अवगत होता है। 'वर्णा आश्रमाश्च० (वर्ण
आश्रमवाले, अपने कर्ममें निष्ठा रखनेवाले मरणानन्तर कर्मफलका अनुभव कर उससे शेष कर्म
अनुशय नामक कर्म द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, ज्ञान, आचार, वित्त, सुख
मेधावाले होकर जन्म प्राप्त करते हैं) यह स्मृति भी अनुशय सहित जीवोंका अवरोहण दिख-
ती है। परन्तु वह अनुशय क्या है ? कोई तो भाण्डाके अनुसारी स्नेह-तैल आदिके समान स्वर्गके
किया गया कर्म जिसका फल भोग लिया गया है, उसका कुछ अवशेष अनुशय है। जैसे तैलका
डा खाली होता हुआ पूर्णरूपसे खाली नहीं होता, भाण्डाके अनुसारी कुछ अवशिष्ट स्नेह रह
है, वैसे अनुशय भी जीवके साथ अवस्थित रहता है, ऐसा कहते हैं। परन्तु कार्य-फल विरोधी
भुक्त फल अदृष्टकी अवशेष अवस्थिति अन्याय-अयुक्त है। यह दोष नहीं है, क्योंकि कर्म
ना भुक्त फल है, हम ऐसो प्रतिज्ञा नहीं करते। परन्तु सम्पूर्ण कर्मफलोपभोगके लिए जीव चन्द्र-
मं आरूढ हुआ है, ठीक, हुआ है, तो भी स्वल्प कर्मके अवशेषसे वहां अवस्थिति प्राप्त नहीं

सत्यानन्दी दीपिका

* सूत्रस्थ दृष्ट शब्दका श्रुतार्थ कहकर अब उसका 'दृष्टश्च' इत्यादिसे अन्य अर्थ कहते हैं।
वै पुण्येन कर्मणा भवति पापाः पापेन' (पुण्य कर्मसे सुखी और पाप कर्मसे दुःखी होता है)
शास्त्रसे सुख और दुःखके हेतु धर्म और अधर्म ज्ञात होते हैं। इससे 'जन्मारभ्यदृष्टो भोगः

तत्रावस्थातुं न लभ्यते। यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृप्तश्चिरप्रवासात्परिक्षीणबहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति। एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति। न चैतद्युक्तमिव, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते, कार्यविरोधित्वादित्युक्तम्। नन्वेतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यतीति। तदेतदपेशलम्, स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति। न शब्दप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते, स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते। तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते। नत्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते, नापि कल्पयितुं शक्यते, स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात्। * अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारिस्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय इति। यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेष्टादिना स्वर्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत, ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विपरीतः। तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—'तद्य इह रमणीयचरणा अथ य इह कपूयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति। तस्मादामुष्मिकफले कर्मजात उपभुक्तेऽव-

कर सकता। जैसे कोई एक सेवक सेवाके सम्पूर्ण उपकरणोंसे राजकुलमें जाय वहां उसके बहुतसे उपकरण चिरप्रवाससे नष्ट हो जाँय और छत्र पादुका शेष रह जाँय तो वह राजकुलमें अवस्थित होनेके लिए समर्थ नहीं होता। उसी प्रकार अनुशय मात्र परिग्रह वाला चन्द्रमण्डलमें अवस्थित नहीं हो सकता। परन्तु यह युक्त-सा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि स्वर्गके लिए किया गया कर्म जो भुक्त फल है, उसके अवशेषकी अनुवृत्ति फलकी विरोधी होनेसे उपपन्न नहीं होती, ऐसा कहा गया है। परन्तु यह भी कहा गया है कि स्वर्ग फलवाला समस्त कर्म भुक्त फल नहीं होता। यह भी अयुक्त है, क्योंकि स्वर्गके लिए किया गया कर्म स्वर्गस्थको ही सम्पूर्ण स्वर्गफल उत्पन्न नहीं करता, किन्तु स्वर्गसे च्युत हुएको भी कुछ फल लेश उत्पन्न करता है। परन्तु श्रुति प्रमाण मानने वालोंके लिए ऐसी कल्पना नहीं हो सकती। स्नेह भाण्डामें तो स्नेह लेशकी अनुवृत्ति देखनेमें आनेसे कल्पना युक्त है। और उसीप्रकार सेवकमें भी उपकरण लेशकी अनुवृत्ति देखनेमें आती है। परन्तु उसी प्रकार यहां तो स्वर्ग फलवाले कर्मके लेशकी अनुवृत्ति नहीं देखी जाती, और उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, कारण कि स्वर्ग फल प्रतिपादक शास्त्रसे विरोध होता है। अवश्य ही यह इसीप्रकार जाननेयोग्य है—स्वर्गफलवाले इष्ट आदि कर्मका भाण्डानुसारी स्नेहके समान अनुवर्तमान एक देश अनुशय नहीं है, यदि जिस इष्ट आदि सुकृत कर्म द्वारा जीवने स्वर्गका अनुभव किया उसका ही कोई एक देश अनुशय कल्पना करें, तो केवल एक रमणीय ही अनुशय होगा, उससे विपरीत-कपूय नहीं होगा। तब 'तद्य इह रमणीयचरणा अथ य इह कपूयचरणाः' यह अनुशय विभागकी श्रुति बाधित हो जायगी। इसलिए परलोकमें फल देनेवाले सब कर्मोंके उपभुक्त हो

सत्यानन्दी दीपिका

कर्महेतुकः, भोगत्वात्, स्वर्गभोगवत्' (जन्मसे लेकर देखा गया भोग कर्म हेतुक है, भोग होनेसे स्वर्ग भोगके समान) इसप्रकार अनुमानसे भी अनुशय सिद्ध होता है। विपक्षमें भोगके हेतु कर्मके न होनेसे भोगोंमें दृष्ट वैलक्षण्य आकस्मिक होगा, इसलिए अनुशय अवश्य मानना चाहिए।

* अब भगवान् भाष्यकार 'तस्मात्' इत्यादिसे स्वाभिमत अनुशयको कहते हैं। स्वर्गमें फल देनेवाले कर्मोंको फलोपभोगसे समाप्तकर उनसे भिन्न इस लोकमें फल देनेवाले जो कर्म समुदाय है वह अनुशय है। उसके साथ ही जीव अवरोहण करता है। जन्मके आरम्भसे ही विलक्षण भोग देखनेमें

हिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति ॥ यदुक्तं—यत्किंचेत्यविशेषपरा- र्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्तीति—नैतदेवम्, शयसद्भावस्यावगमितत्वात्। यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्धभोगं तत्सर्वं भोगेन क्षपयित्वेति गम्यते। यदप्युक्तं—प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्मा- नक्ति, तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिंल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न तीति—तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपि च केन हेतुना प्रायणमनार- स्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायत इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्ये- वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात्प्रायणकाले वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्येत, ततो वक्तव्यम्— तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायण- ऽपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासंभवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य दुर्बलस्य द्भवानुपपत्तिरिति। न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैक- प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरो- । नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम्, ऐका- फलत्वविरोधात्। नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते।

इस लोकमें फल देनेवाले अवशिष्ट जो अन्य कर्म समुदाय वह अनुशय है उस कर्मवाले अव- रते हैं। जो यह कहा गया है कि 'यत्किञ्च' इस अविशेषके परमार्शसे यहाँ किये गये सब फलोपभोगसे अन्त प्रातकर अनुशय रहित होकर अवरोहण करते हैं, यह ऐसा नहीं है, क्योंकि का सद्भाव अवगमित है। जो कुछ यहाँ आमुष्मिक (परलोक) फलवाला कर्म किया गया है आरब्ध भोगवाला कर्म है उन सबका फलके उपभोगसे क्षपणकर, ऐसा अर्थ अवगत होताहै। जो यह कहा गया है कि मरण अविशेष-समानरूपसे अनारब्ध फलवाले सभी कर्मोंकी अभिव्यक्ति है, तब किसी एक कर्मसे परलोकमें फल आरम्भ किया जाता है और किसी कर्मसे इस लोकमें, विभाग असंभव है। उसका भी अनुशय सद्भावके प्रतिपादनसे निराकरण किया गया और मरण फलवाले कर्मका अभिव्यञ्जक है, ऐसी प्रतिज्ञा किस हेतुसे की जाती है, यह कहना चाहिए। कि जिसका फल आरब्ध हो गया है ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य कर्मकी वृत्ति (फल) का उद्भव होनेसे उसके शांत होनेपर मरणकालमें वृत्तिका उद्भव होता है, तो उसपर कहना चाहिए— जैसे मरणके पूर्व जिसका फल आरब्ध है ऐसे कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य कर्मके वृत्त्युद्भवकी अनुपपत्ति ही मरणकालमें भी विरुद्ध फलवाले अनेक कर्मोंमें युगपत् फलका आरम्भ असभव होनेसे कर्मसे प्रतिबद्ध दुर्बलके वृत्त्युद्भवकी अनुपपत्ति है, अन्य जातिमें उपभोग्य फलवाले अनेक कर्म मरणकालमें युगपत् अभिव्यक्त होते हुए अनारब्ध फलत्व सामान्य धर्मसे एक जातिका करें, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिनियत फलत्वका विरोध है अर्थात् प्रत्येक कर्मका फल है उससे विरोध है, और मरणकालमें किसी एक कर्मकी अभिव्यक्ति हो और किसी उच्छेद, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि ऐकान्तिक फलत्वका विरोध है। प्रायश्चित् हेतुओंके विना कर्मोंका उच्छेद संभाव्य नहीं है। 'कदाचित्सुकृतं कर्म० (किसी समय संसारमें

सत्यानन्दी दीपिका

है, इस प्रत्यक्ष लिङ्गसे अनुगृहीत ऐहिक अनुशय कर्म विशेष प्रतिपादक 'तद्य इह रमणीयचरणाः, चरणाः' इस श्रुतिके साथ विरोध होनेसे 'यत्किञ्च' और 'यावत्संपातम्' ये सामान्य शब्द केवल विषयक कर्मको कहते हैं, ऐसा संकोच करना युक्त है। मरण भी सभी कर्मोंका अभिव्यञ्जक है, क्योंकि 'रमणीयचरणाः, कपूय चरणाः' इस अनुशय प्रतिपादक श्रुतिके साथ विरोध होता है।

❀ स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—'कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति। मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते' इत्येवंजातीयका। यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभेत, ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवगमाद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावान्नोत्तरा जातिरुपपद्येत। ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपरुध्येत। नच धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं संभावयितुम। नच दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं संभवतीत्यव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना। प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः। स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथा हि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम्। एवं प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति, न दुर्बलस्येति। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादश्लिष्टोऽयमशेषकर्माभिव्यक्त्यभ्युपगमः। ❀ शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः, सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतेः।

मग्न हुए पुरुषका सुकृत कर्म तब तक कूटस्थ रहता है जब तक वह दुःखसे विमुक्त होता है) इस प्रकारकी स्मृति भी विरुद्ध फलवाले कर्मसे प्रतिबद्ध अन्य कर्मकी चिर अवस्थिति दिखलाती है। यदि अनारब्धफलवाले सब कर्म एक मरण समयमें अभिव्यक्त होते हुए एक जाति-जन्म उत्पन्न करें, तो स्वर्ग, नरक, सर्पादि योनियोंमें अधिकारके अप्राप्त होनेसे धर्म और अधर्मकी उपपत्ति न होनेपर निमित्तके अभावसे उत्तर जन्म उपपन्न नहीं होगा। और ब्रह्महत्या आदि एक-एक कर्म अनेक जन्मका निमित्त है यह स्मृति वाक्य बाधित हो जायगा। धर्म और अधर्मके स्वरूप, फल, साधन आदिके ज्ञानके लिए शास्त्रसे भिन्न कारणकी संभावना नहीं की जा सकती। मरण दृष्ट फलवाले कारीयादि कर्मका अभिव्यञ्जक नहीं हो सकता। मरणमें यह अभिव्यञ्जकत्व कल्पना अव्यापक भी है। प्रदीपके उपन्यासका भी कर्मके बलाबलके प्रदर्शनसे ही निराकरण किया गया है। स्थूल और सूक्ष्म रूपकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिके समान इसे जानना चाहिए। जैसे सन्निधिके समान होनेपर भी प्रदीप स्थूल रूपको अभिव्यक्त करता है सूक्ष्मको नहीं, अनारब्ध फलवाले कर्म समुदायको समान अवसर प्राप्त होनेपर भी मरण बलवान् कर्मकी वृत्ति (व्यापार) का उद्भव करता है दुर्बलके वृत्तिका नहीं। इसलिए श्रुति (रमणीयचरणाः) स्मृति (ततः शेषेण) और न्याय (प्रबलप्रतिबन्धात्) के विरोध होनेसे अशेष कर्मकी अभिव्यक्तिका यह स्वीकार असम्बद्ध-अयुक्त है। शेष कर्मके सद्भाव होनेपर मोक्षाभाव प्रसङ्ग होगा, यह संभ्रम भी अनवसर है, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे समस्त कर्मक्षय होता है, ऐसी श्रुति है।

सत्यानन्दी दीपिका

* मरण समानरूपसे सभी कर्मोंको अभिव्यक्त करता है, इसमें 'यदि' इत्यादिसे अन्य दोष कहते हैं।

"श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम्। चण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति॥"

(ब्रह्मघ्न श्वान, सूकर, गर्दभ, ऊँठ, बैल, बकरी-भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल और पुल्कस (जूँ) की योनिको प्राप्त करता है) इत्यादि स्मृतिसे विरोध होनेके कारण सब कर्म एक जन्म उत्पन्न नहीं कर सकते। अनेक कर्म एक जन्म देते हैं अथवा ब्रह्म हत्यादि एक कर्म अनेक जन्मोंको देता है, इस विषयमें तो केवल शास्त्र ही प्रमाण है।

❀ शेष कर्मोंके अस्तित्वसे मोक्ष नहीं होगा, इसलिए यावत् कर्मों द्वारा फलोपभोगके लिए एक जन्म स्वीकार करना चाहिए, उसके समाप्त होनेपर स्वतः ही मुक्ति सिद्ध होगी, यह ऐक भविक कथन अनवसर है, क्योंकि 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (ब्रह्मात्माका साक्षात्कार होनेपर उस

स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति। ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति। ति यथागतमित्यर्थः। अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः। धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्व-रोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते। रात्र्याद्यसंकीर्तनादभ्राद्युप-च विपर्ययोऽपि प्रतीयते ॥८॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

पदच्छेद—चरणात्, इति, चेत्, न, उपलक्षणार्था, इति, कार्ष्णाजिनिः।

सूत्रार्थ—(चरणात्) 'रमणीयचरणाः' इत्यादि श्रुति चरण-चारित्र्यसे योनिकी प्राप्ति कहती यसे नहीं, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, क्योंकि (कार्ष्णाजिनिः) कार्ष्णा-चार्य चरण श्रुतिको (उपलक्षणार्थतेति) अनुशयका उपलक्षणार्थ मानते हैं।

के अथापि स्यात्—या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—'तद्य इह रमणीय-(छा० ५।१०।७) इति, सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति, नानुशयात्। अन्यच्च-नोऽनुशयः। चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्। अनुशयस्तु भुक्तफलात्क-तिरिक्तं कर्माभिप्रेतम्। श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—'यथाकारी यथाचारी वति' (बृ० ४।४।५) इति, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि,

सिद्ध हुआ कि अनुशय सहित ही जीव अवरोहण करते हैं। वे अवरोहण करनेवाले जिस थे उससे और उससे विपरीत मार्गसे अवरोहण करते हैं। 'यथेतम्' जैसे गए थे वैसे, ऐसा 'अनेवम्' उसके विपर्ययसे, ऐसा अर्थ है। धूम और आकाश जो पितृयाण मार्गमें गृहीत हैं, अवरोहणमें कथन होनेसे और 'यथेतम्' इस शब्दसे जैसे गए थे वैसे, ऐसा प्रतीत होता है। आदिका संकीर्तन न होनेसे और अभ्र आदिका ग्रहण होनेसे विपर्यय भी प्रतीत होता है ॥८॥

यह भी हो—'तद्य इह रमणीयचरणाः' इसप्रकार यह जो श्रुति अनुशयके सद्भावके प्रति-लिए उदाहृत है, वह चरणसे योनिकी प्राप्तिको दिखलाती है, अनुशयसे नहीं। चरण भिन्न अनुशय भिन्न है। चरण, चारित्र, आचार और शील ये एकार्थक पर्याय शब्द हैं। अनुशय फल कर्मसे भिन्न कर्म अभिप्रेत है और 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' (जैसा कर्म और आचरण करता है वैसा ही वह होता है) और 'यान्यनवद्यानि० (जो अनिन्द्य कर्म उन्हींका

सत्यानन्दी दीपिका

के कर्म क्षीण हो जाते हैं) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७) ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममयकर देती है) इत्यादि श्रुति और स्मृति तत्त्वज्ञानसे यावत् क्षय कहती हैं। इसलिए अज्ञानी जीव अनुशय सहित लौटते हैं। लौटनेका मार्ग इस प्रकार है—यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' (छा० ५।१०।५,६,७) (चन्द्रमण्डलमें कर्मोंके रहकर वे पुनः इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं। वे पहले आकाश-होते हैं और आकाशसे वायुको, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर अभ्र (वाष्प) हैं। वह अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है, तब वे जीव इसलोकमें धान, जौ, वनस्पति, तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही कष्टप्रद है। उस अन्नको जो-जो भक्षण करता है और जो-जो वीर्य सेचन करता है, तद्रूप ही अनुशयी जीव हो जाता है। उन अनुशयी जीवोंमें जो पुण्यशाली होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम प्राप्त होते हैं) ॥८॥

"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः ॥"

यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' (तै० १।११।२) इति च । तस्माच्चरणाद्योन्या पत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत् । नैष दोषः । यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरि काष्र्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥९॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

पदच्छेद—आनर्थक्यम्, इति, चेत्, न, तदपेक्षत्वात् ।

सूत्रार्थ—चरण श्रुति अपने मुख्य अर्थका त्यागकर अनुशयको कहेगी तो चरणश्रुति (आनर्थक्यम्) आनर्थक्य प्रसक्त होगा, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो यह ठीक नहीं है, (त पेक्षत्वात्) क्योंकि कर्मोंको आचारकी अपेक्षा है, अतः चरण श्रुति सार्थक है ।

स्यादेतत्, कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकोऽनुशयः प्रत्याख्यते ननु शीलस्यैव श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फ भविष्यति । अवश्यं च शीलस्यापि किंचित्फलमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा ह्यानर्थक्यमे शीलस्य प्रसज्येतेति चेत्—नैष दोषः । कुतः ? तदपेक्षत्वात् । इष्टादि हि कर्मजातं चरणा पेक्षम् । नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस् तिभ्यः पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम् । इष्टादौ हि कर्मजाते फलमारभमाणे तदपे एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते । कर्म च सर्वार्थकारीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः । तस्मा त्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति काष्र्णाजिनेर्मतम् । नहि कर्मणि सं भवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता । नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ।१

सेवन करना चाहिए दूसरोंका नहीं । हम गुरुजनोंके जो शुभ आचरण हैं तुझे उन्हींका सेवन करन चाहिए) इसप्रकार श्रुति कर्म और चरणका भेदसे व्यपदेश करती है । इसलिए चरणसे योनि प्राप्तिको प्रतिपादक श्रुतिसे अनुवादकी सिद्धि नहीं होती, ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्यों यह चरण श्रुति अनुशयके उपलक्षणके लिए हैं, ऐसा काष्र्णाजिनि आचार्य मानते हैं ॥ ९ ॥

यह हो; परन्तु चरण शब्दसे श्रुति प्रतिपादित शीलका त्याग कर लाक्षणिक अनुशय प्रतीति किस प्रकार की जाती है ? परन्तु श्रौत विहित या प्रतिषिद्ध, साधु अथवा असाधुरूप शील ही शुभाशुभ योनिकी प्राप्ति रूप फल होगा । शीलका भी अवश्य कुछ फल स्वीकार करना चाहि अन्यथा शीलमें आनर्थक्य ही प्रसक्त होगा ? ऐसा यदि कहो तो यह दोष नहीं है । क्यों ? उन अपेक्षा है । इष्ट आदिकर्म समुदाय को चरणकी अपेक्षा है । 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' (आचा हीनको वेद–यज्ञादि कर्म पवित्र नहीं करते) इत्यादि स्मृतियोंसे सदाचार हीन कोई अधिकृत न होता । पुरुषार्थत्व-पुरुष संस्कारत्वमें भी आचार अनर्थक नहीं है । क्योंकि इष्ट आदि कर्म समुदा फलके आरम्भ करनेपर उनकी अपेक्षा रखनेवाला आचार उनमें ही कुछ अतिशय-विशेष आरम् करता है । कर्म तो सर्व अर्थ करनेवाला है ऐसी श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्धि है । इसलिए कर्म शीलसे उपलक्षित अनुशयरूप होकर जन्मकी प्राप्तिमें कारण है, यह काष्र्णाजिनिका मत है । औ

सत्यानन्दी दीपिका

(सब भूतोंमें कर्म, मन और वाणीसे अद्रोह, अनुग्रह और ज्ञानको पण्डित लोग शील जानते कहते हैं) इसप्रकार स्मृतिमें भी अद्रोह आदि आचार कहा गया है । शास्त्रका अर्थ ज्ञानरूप शी सब कर्मोंका अङ्ग कहा गया है, उसका बोधक चरणपद है, वह अपने अङ्गी श्रौत आदि कर्मोंका उप लक्षक है । 'कर्मकी उत्तरावस्था ही तो धर्माधर्मरूप अपूर्व है ।' इसप्रकार कर्म-चरणमें लक्षणासे त भिन्न अपूर्व नामक अनुशयकी सिद्धि होती है । यह आचार्य काष्र्णाजिनिका मत है ॥९॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

पदच्छेद—सुकृतदुष्कृते, एव, इति, तु, बादरिः।

सूत्रार्थ—(तु) परन्तु चरण शब्दका अर्थ तो (सुकृतदुष्कृते एव) सुकृत और दुष्कृत (इति) ऐसा (बादरिः) बादरि आचार्यका मत है।

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते। चरणम- कर्मेत्यनर्थान्तरम्। तथा हि अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते। यो लक्षणां पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते—धर्मं चरत्येष महात्मेति। आचा- धर्मविशेष एव। भेदव्यपदेसस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते। रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः, कपूयचरणा निन्दितकर्माण इति निर्णयः ॥११॥

(३ अनिष्टादिकार्यधिकरणम्। सू० १२-२१)

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥१२॥

पदच्छेद—अनिष्टादिकारिणाम्, अपि, च, श्रुतम्।

सूत्रार्थ—(अनिष्टादिकारिणामपि) 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति' इत्यादि श्रुतिसे अनिष्ट कर्म करने वालोंका भी (श्रुतम्) चन्द्रलोक गमन श्रुत है।

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम्। ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं

सम्भव होनेपर शीलसे जन्म प्राप्ति युक्त नहीं है। पैरोंसे पलायन करनेमें समर्थ हुआ पुरुष पलायन नहीं करता ॥ १० ॥

परन्तु चरण शब्दसे सुकृत और दुष्कृत ही प्रतीत होते हैं, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं। अनुष्ठान और कर्म ये एकार्थ वाची शब्द हैं। जैसे कि 'चर्' धातु अविशेषरूपसे कर्म मात्रमें हुआ देखा जाता है। इससे जो इष्ट आदिरूप पुण्य कर्म करता है उसको लोग ऐसा कहते हैं महात्मा धर्मका आचरण करता है। और आचार भी धर्म विशेष है। कर्म और चरणमें देश तो ब्राह्मणपरिव्राजक—न्यायसे भी उपपन्न होता है। इसलिए 'रमणीयचरणाः' प्रशस्त और 'कपूयचरणाः' निन्दित कर्मवाले, ऐसा निर्णय है ॥११॥

इष्ट आदि कर्म करनेवाले चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा कहा गया है। परन्तु इनसे भिन्न जो

सत्यानन्दी दीपिका

• यद्यपि अक्रोध आदिरूप शील जो साधारण धर्म है वह यज्ञ आदि विशेष कर्मसे भिन्न है, चरण और आचार शब्द मुख्यरूपसे कर्मवाची है, शील वाची नहीं, अतः यहां लक्षणाका नहीं है। यह आचार्य बादरिका मत ही मुख्य सिद्धान्त है। यदि कर्म ही आचार है, तो कारी यथाचारी' यह भेद व्यपदेश क्यों है ? यह तो 'ब्राह्मणपरिब्राजक' न्यायसे समझना है। जहां सामान्य वाची शब्दका विशेषार्थं पदकी संनिधिसे अन्य अर्थ प्राप्त होता है वहां यह न होता है। अतः प्रकृतमें कर्म और चरणका परस्पर अभेद होनेपर भी इसी न्यायसे किसी कथन होता है, वहां कर्म सामान्य वाची 'यथाकारी' शब्दसे 'यान्यनवद्यानि कर्माणि' ग्रहण है और 'यथाकारी' उपपद रहित 'यथा आचारी' शब्दसे 'अस्माकं तु सुचरितानि' ग्रहण है, इससे सदाचार भासता है। इसप्रकार पुण्य और पापरूप कर्म ही अनुशय है, उससे अवश्यंभावी है। इसके अनुसन्धान करनेसे वैराग्य होनेपर ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके साधनोंमें होती है ॥ ११ ॥

• इसप्रकार इष्ट आदि कारियोंकी गति और आगतिके विचारसे वैराग्यका निरूपणकर अत्र

चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते । तत्र तावदाहुः—इष्टादिकारिण एव चन्द्रम गच्छन्तीत्येतन्न । कस्मात् ? यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रूयम यथा ह्यविशेषेण कौषीतकिनः समामनन्ति—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते स गच्छन्ति' (कौषी० १।२) इति । देहारम्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिम कल्पते, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात् । तस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः इष्टादिकारिणामितरेषां च समानंगतित्वं न युक्तमिति चेत्—न, इतरेषां चन्द्रमण्ड भोगाभावात् ॥१२॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

पदच्छेद—संयमने, तु, अनुभूय, इतरेषाम्, आरोहावरोहौ, तद्गति दर्शनात् ।

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्षकी निवृत्तिके लिए है । (संयमने) यमालयमें (अनुभूय) य यातनाका अनुभवकर इस लोकमें लौटते हैं, इसप्रकार (इतरेषाम्) अनिष्ट आदि कारियोंका (आ रोहावरोहौ) आरोह और अवरोह होता है, (तद्दर्शनात्) क्योंकि 'अयं लोको नास्ति' इत्या श्रुतिमें उनकी गतिका दर्शन होता है ।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नेतदस्ति—सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति । कस्मात् ? भोग यैव चन्द्रारोहणं न निष्प्रयोजनम् । नापि प्रत्यवरोहायैव । यथा कश्चिद्वृक्षमारोहति पु फलोपादानायैव, न निष्प्रयोजनं, नापि पतनायैव । भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रम

अनिष्ट आदि कर्म करनेवाले हैं, क्या वे भी चन्द्रलोकमें जाते हैं अथवा नहीं जाते, इसपर वि किया जाता है । इस विषयमें पूर्वपक्षी कहते हैं—इष्ट आदि कर्म करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते ऐसा कोई नियम नहीं है, किससे ? इससे कि अनिष्ट आदि कर्म करने वालोंका भी चन्द्रलो गन्तव्यरूपसे श्रवण होता है । जैसे कि कौषीतकी शाखावाले अविशेषरूपसे 'ये वै के० (जो कोई लोकसे प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रमण्डलमें ही जाते हैं) ऐसा कहते हैं । पुनर्जन्म पानेवाल देहोत्पत्ति भी चन्द्रलोक प्राप्तिके विना नहीं हो सकती, क्योंकि 'पञ्चम्यामाहुतौ' (पाँचवीं आहुतिमें इसप्रकार आहुति संख्याका नियम है, इसलिए सभी चन्द्रलोकको प्राप्त होने चाहिएं । यदि कहो इष्ट आदि कारी और इनसे अन्योंकी समान गति युक्त नहीं है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अन चन्द्रमण्डलमें भोगका अभाव है ॥ १२ ॥

'तु' शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है । यह नियम नहीं है कि सब चन्द्रमण्डलमें जाते यह किससे ? इससे कि भोगके लिए ही चन्द्रमण्डलमें आरोहण होता है निष्प्रयोजन नहीं. केवल लौटनेके लिए भी नहीं । जैसे कोई पुष्प और फलोंके ग्रहण करनेके लिए ही वृक्षपर चढ़ता न निष्प्रयोजन और न पतनके लिए ही, और यह कहा गया है कि अनिष्ट आदि कारियोंका च

सत्यानन्दी दीपिका

अनिष्ट आदि कारियोंकी गति और आगतिके विचारसे 'अनिष्टादि० इत्यादि सूत्र द्वारा वैराग्य निरूपण करते हैं । 'ये वै के०' यह कौषीतकी श्रुति समानरूपसे सबका चन्द्रलोक गमन कहती है 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्' (यमलोक पापीजनोंका गम्यस्थान है) इससे तो अनिष्ट आदि कारि को चन्द्रलोकका दर्शन भी प्राप्त नहीं होता । अतः 'ये त्वितरे' आदिसे संशय करते हैं । पूर्वप पुण्यवान्की ही चन्द्रलोकमें गति है, यह नियम न होनेसे पुण्य व्यर्थ है और पापसे वैराग्यका फलत्व है । सिद्धांतमें अनिष्टकारियोंको चन्द्रलोक दर्शन भी नहीं होता, अतः पुण्यका अर्थवत्व औ वैराग्यका दृढफलत्व है ॥ १२ ॥

नुकम्। तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति, नेतरे। ते तु संयमनं यमालय- स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति। एवंभूतौ रोहावरोहौ भवतः। कुतः? तद्गतिदर्शनात्। तथा हि यमवचनसरूपा श्रुतिः प्रयता- दिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' (कठ० २।६) इति। 'वैवस्वतं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बह्वेव यमवश्यताप्राप्तिलिङ्गं भवति ॥१३॥

स्मरन्ति च ॥१४॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च।

सूत्रार्थ—और स्मृतिकार भी ऐसा ही कहते हैं।

अपि च मन्वव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति केतोपाख्यानादिषु ॥१४॥

अपि च सप्त ॥१५॥

पदच्छेद—अपि, च, सप्त।

सूत्रार्थ—(अपि च) और भी पौराणिक लोग (सप्त) रौरव आदि सात नरक पाप कर्म उपभोगकी भूमि कहते हैं।

* अपि च सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः। नष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति। कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुरित्यभिप्रायः ॥१५॥

भोग नहीं है। इसलिए इष्ट आदि कारी ही चन्द्रमंडलमें आरोहण करते हैं अन्य नहीं। वे आदि कारी तो संयमन-यमालयमें प्रवेशकर अपने दुष्कृतोंके अनुसार यमकी यातनाका अनु- फिर भी इस लोकमें लौटते हैं। इसप्रकार उनका आरोह और अवरोह होता है। किससे? गतिके दर्शन होनेसे। जैसे कि 'न सांपरायः प्रतिभाति० (वित्त मोहसे मूढ, प्रमाद करनेवाले को परलोकका साधन नहीं सूझता। स्त्री, पुत्र आदि विशिष्ट यह लोक है, परलोक नहीं है, माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे वशको प्राप्त होता है) इसप्रकार यमवचन रूप श्रुति मरकर अनिष्ट आदि कारियोंको यमकी अधीनता दिखलाती है। और 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' लोक पापीजनोंका गम्य स्थान है) इसप्रकारके भी बहुत ही यमकी अधीनताकी प्राप्तिके लिङ्ग श्रुति वाक्य हैं ॥ १३ ॥

और मनु, व्यास आदि शिष्टोंने संयमन-यमलोकमें पापकर्मोंका विपाक यमके अधीन है, इस- नाचिकेतोपाख्यान आदिमें स्मरण किया है ॥ १४ ॥

और रौरव प्रमुख सात नरक पाप फलके उपभोगकी भूमिरूपसे पौराणिक लोग स्मरण करते उनको अनिष्ट आदि कारी प्राप्त करते हैं। वे चन्द्रलोकको कैसे प्राप्त करें? ऐसा अभिप्राय है ।१५

सत्यानन्दी दीपिका

* रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भी, तामिस्रा और अन्धतामिस्रा, इसप्रकार सात नरक हैं। जिनका विस्तार पूर्वक वर्णन पुराणोंमें हैं।

'कूटसाक्षी तथाऽसम्यक्पक्षपातेन यो वदेत्। यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम् ॥
भ्रूणहा पुरहर्ता च गोघ्नश्च मुनिसत्तमाः! यान्ति ते नरके घोरे यश्चोच्छ्वास निरोधकः ॥"

झूठी साक्षी दे, तथा पक्षपातसे ठीक-ठीक न बोले और भी जो मिथ्या बोलता हो, वह मनुष्य जाता है। भ्रूणहत्या करनेवाला, ग्रामका हरण करनेवाला, गोघ्न और जो उच्छ्वासका

ननु विरुद्धमिदं—यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्तीति । यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्त इति । नेत्याह—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

पदच्छेद—तत्र, अपि, च, तद्व्यापारात्, अविरोधः ।

सूत्रार्थ—(तत्रापि) उन रौरव आदि नरकोंमें भी (तद्व्यापारात्) यम प्रयुक्त शासन होनेसे (अविरोधः) विरोध नहीं है ।

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः । यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥१६॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

पदच्छेद—विद्याकर्मणोः, इति, तु, प्रकृतत्वात् ।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द शङ्का निवृत्त्यर्थ है । 'अथैतयोः पथोर्न' इत्यादि श्रुतिमें 'एतयोः' शब्दसे (विद्याकर्मणोः) विद्या और कर्मका ग्रहण होता है, (प्रकृतत्वात्) क्योंकि वे ही देवयान और पितृयाणरूपसे प्रकृत हैं ।

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।३।३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति । तत्रैतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत् । कस्मात् ? प्रकृतत्वात् । विद्याकर्मणी हि देवयान-पितृयाणयोः पथोः प्रतिपत्तौ प्रकृते । 'तद्य इत्थं विदुः' (छा० ५।१०।१) इति विद्या, तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्थाः प्रकीर्तितः । 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (छा० ५।१०।३) इति कर्म, तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्थाः प्रकीर्तितः । तत्प्रक्रियायाम्—अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन

परन्तु यह विरुद्ध है कि पापकर्म करनेवाले यमके अधीन यातनाका अनुभव करते हैं, क्योंकि उन रौरव आदि नरकोंमें अन्य चित्रगुप्त आदि अनेक अधिष्ठाता स्मरण किये जाते हैं । नहीं, ऐसा कहते हैं—

उन सात नरकोंमें भी उस यमके ही अधिष्ठातृरूपसे व्यापार स्वीकृत है, अतः विरोध नहीं है, क्योंकि वे चित्रगुप्त आदि यमसे प्रयुक्त ही अधिष्ठातृरूपसे स्मरण किये जाते हैं ॥ १६ ॥

पञ्चाग्नि विद्यामें 'वेत्थ यथाऽसौ० ([प्रवाहण—] यह लोक जिस कारण पूर्ण नहीं होता, क्या वह तू जानता है ?) इस प्रश्नके प्रविचन-उत्तरके अवसरमें 'अथैतयोः पथोर्न० (जो इन (अर्चि और धूम) मेंसे किसी एक मार्ग द्वारा नहीं जाते । वे ये क्षुद्र और बारम्बार आने-जानेवाले प्राणी होते हैं । 'उत्पन्न होओ और मरो' यही उनका तृतीय स्थान होता है । इसी कारण यह लोक नहीं भरता) ऐसी श्रुति है । उसमें 'एतयोः पथोः' (उन दोनों मार्गोंके-विद्या और कर्मके, यह अभिप्राय है, क्योंकि वे प्रकृत हैं । विद्या और कर्म ही देवयान और पितृयाण मार्गकी प्राप्तिमें प्रकृत हैं, 'तद्य इत्थं विदुः' (वे जो कि इसप्रकार जानते हैं) यह विद्या है, उससे प्राप्तव्य देवयान मार्ग कहा गया है । 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (इष्ट, पूर्त और दत्त) यह कर्म है, उससे प्राप्तव्य पितृयाण मार्ग कहा गया है । उसके प्रकरणमें 'अथैतयोः पथोः० (इन दोनों मार्गोंमें किसी एक भी मार्गसे नहीं) इसप्रकार श्रुत

सत्यानन्दी दीपिका

निरोधक है, हे मुनिश्रेष्ठ ! वे घोर नरकमें जाते हैं) इसतरह अनिष्ट आदि कर्म करनेवाले इन नरकोंको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

तम्। एतदुक्तं भवति—ये न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृताः, नापि कर्मणा णे, तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति। तस्मादपि नानि- कारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते। स्यादेतत्—तेऽपि चन्द्रविम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं न्त इति। तदपि नास्ति, आरोहानर्थक्यात्। अपि च सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं त्स्वसौ लोकः प्रयद्भिः संपूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत। तथा हि प्रतिवचनं यथाऽसौ लोको न संपूर्यते। अवरोहाभ्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत्—न, अश्रुत- । सत्यमवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते, श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूरणं दर्शयति— यं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति, तेनानारोहादेवासंपूरणमिति , अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्। तु- तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति। एवं सत्यधिकृतापेक्षः शाखा- वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते। ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव गच्छन्तीति ॥१७॥

यत्पुनरुक्तं—देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुति- नियमादिति, तत्प्रत्युच्यते—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

पदच्छेद—न, तृतीये, तथा, उपलब्धेः।

सूत्रार्थ—(तृतीये) तृतीय मार्गमे प्रविष्ट पापी लोगोंकी देह प्राप्तिके लिए आहुति संख्याका (न) नहीं है, (तथोपलब्धेः) क्योंकि 'जायस्व म्रियस्व' इत्यादि श्रुतिमें वैसा ही उपलब्ध होता है।

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्यः। कुतः? तथो- । तथा ह्यन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते—

र्य यह है-जो विद्यासाधन द्वारा देवयान मार्गमें अधिकृत नहीं हैं और न कर्मद्वारा पितृ- र्गमें अधिकृत हैं, उनको ही यह क्षुद्र जन्तु रूप बारम्बार आवृत्तिरूप तृतीय मार्ग होता है। नी अनिष्ट आदि कारियों द्वारा चन्द्रलोक प्राप्त नहीं किया जाता। परन्तु यह हो कि वे भी कमें आरूढ़ होकर उससे अवरोहण कर क्षुद्र जन्तुत्वको प्राप्त होंगे। वह भी नहीं है, क्योंकि लेमें आरोहण अनर्थक है, और सब मरकर जानेवाले चन्द्रलोकको प्राप्त होनेपर तो यह लोक जानेवालोंसे भर जायगा, उससे प्रश्नके विरुद्ध उत्तर प्रसक्त होगा। वैसे ही उत्तर देना चाहिए ह लोक नहीं भरता। यदि कहो कि अवरोहके स्वीकार करनेसे असम्पूर्णताकी उत्पत्ति हो जायगी, युक्त नहीं है, क्योंकि अश्रुत है। यह ठीक है कि अवरोहसे भी असम्पूर्णता उत्पन्न होती है। 'एतत्तृतीयं स्थानं० (यह तृतीय स्थान है उससे यह लोक नहीं भरता) यह श्रुति तो तृतीय के कथनसे असम्पूर्णता दिखलाती है। उस अनारोहसे ही असम्पूर्ण है, यह युक्त है। क्योंकि दि कारियोंका भी अवरोह समान होनेपर तृतीय स्थानकी उक्तिमें आनर्थक्य प्रसङ्ग होगा। 'तु' तो अन्य शाखाके वाक्यसे उत्पन्न हुई सबके गमनकी आशङ्काका उच्छेद करता है। ऐसा 'ये वै केचिदधिकृता' (जो कोई अधिकृत हुए इस लोकसे प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रलोक जाते प्रकार अन्य शाखाके वाक्यमें सर्व शब्द चन्द्रलोकमें अधिकृतकी अपेक्षासे अवस्थित है।१७।

जो पुनः यह कहा गया है कि देह लाभ उत्पत्तिके लिए सब चन्द्रलोकमें जा सकते हैं, क्योंकि मी आहुतिमें' ऐसा आहुति संख्याका नियम है। उसके प्रति कहा जाता है—

तृतीय मार्गमें देहलाभके लिए आहुतिकी पाँच संख्याका नियम आदरणीय नहीं है। किससे?

'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५।१०।८) इति । अपि च 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या संकीर्त्यते, न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात् । अपि च पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते, नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रतिषिध्यते, वाक्यस्य द्व्यर्थतादोषात् । तत्र येषामारोहावरोहौ संभवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति, अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते ॥१८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

पदच्छेद—स्मर्यते, अपि, च, लोके ।

सूत्रार्थ—(च) और (लोके) लोकमें (अपि) भी इसप्रकार (स्मर्यते) स्मरण किया जाता है।

अपि च स्मर्यते लोके—द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम्। तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति । धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः । यथा च तत्राहुतिसंख्यानियमानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति । बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः ॥१९॥

दर्शनाच्च ॥२०॥

इससे कि वैसे ही उपलब्धि होती है । जैसे कि 'जायस्व म्रियस्वेत्येत त्तृतीयं स्थानम्' इसतरह आहुति संख्या नियमके विना ही वर्णित प्रकारसे तृतीय स्थानकी प्राप्ति उपलब्ध होती है । और 'पञ्चम्यामाहुतावाप० (पाँचवीं आहुतिमें अप् (जल) पुरुष संज्ञक होता है) यह मनुष्य शरीरके हेतुरूपसे आहुति संख्या कही गई है । कीट, पतङ्ग आदि शरीरके हेतुरूपसे नहीं, क्योंकि पुरुष शब्द मनुष्य जाति वाचक है, और पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष संज्ञक होता है, ऐसा उपदेश किया जाता है, किन्तु पाँचवीं आहुतिके न होनेपर जल पुरुष संज्ञक नहीं होता, ऐसा प्रतिषेध नहीं किया जाता, क्योंकि ऐसा होनेसे वाक्यमें दो अर्थ होनेका दोष होगा । उस (चन्द्रमण्डल) में जिनका आरोह, अवरोह संभव है उनका शरीर पाँचवीं आहुतिमें उत्पन्न होगा । अन्योंका शरीर तो आहुति संख्या के विना ही अन्य भूतोंसे सम्बद्ध जलसे आरम्भ होगा ॥ १८ ॥

और लोक (महाभारत आदि) में भी द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि तथा सीता, द्रौपदी आदिका अयोनिजत्व स्मरण किया जाता है । उनमेंसे द्रोण आदिकी स्त्री विषयक एक आहुति नहीं है और धृष्टद्युम्न आदिकी तो स्त्री और पुरुष विषयक दो आहुति नहीं हैं । जैसे उनमें आहुति संख्या नियम का आदर नहीं है, वैसे अन्यत्र (अनिष्ट आदिकारीकी देहोत्पत्तिमें) भी होगा । बलाका भी शुक्र सिंचनके विना ही गर्भ धारण करती है । इसप्रकार लोक प्रसिद्धि है ॥ १९ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति' (पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष संज्ञक होता है) यह विधि और पाँचवीं आहुतिके विना जल पुरुष संज्ञक नहीं होता यह निषेध, इसप्रकार एकवाक्यके दो अर्थ माननेसे वाक्य भेद होता है । इसलिए पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष संज्ञक होता है, इसमें तात्पर्य है । मनुष्य देह मात्रकी उत्पत्तिमें भी आहुति संख्याका नियम नहीं है । यह आहुति संख्याका नियम तो चन्द्रलोकमें जाने और लौटने वालोंके लिए है । चन्द्रलोकमें पञ्चाग्नि विद्या और इष्ट आदि कर्म रहित भी नहीं जाते, वे विशेष कर्मके बलसे मनुष्य शरीर त्यागके अनन्तर भी मनुष्य शरीर ग्रहण करते हैं, उनका देह भी आहुति संख्या नियमके विना ही अन्य भूतोंसे सम्बन्धित जलसे आरम्भ होता है ॥ १८ ॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च ।

सूत्रार्थ—क्योंकि लोकमें ऐसा ही देखनेमें आता है ।

अपि च चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जायोरन्त-ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति । एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥२०॥

ननु तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति 'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा०) इत्यत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते, कथं चतुर्विधत्वं भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति ? उच्यते—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥

पदच्छेद—तृतीयशब्दावरोधः, संशोकजस्य ।

सूत्रार्थ—(संशोकजस्य) संशोकज–स्वेदज प्राणियोंका (तृतीयशब्दावरोधः) तृतीयशब्दसे-शब्दसे उपसंग्रह होनेसे विरोध नहीं है ।

* 'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोप-कृतः प्रत्येतव्यः, उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात् । स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥२१॥

(४ साभाव्यापत्त्यधिकरणम् । सू० २२)

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

पदच्छेद—साभाव्यापत्तिः, उपपत्तेः ।

सूत्रार्थ—इस लोकमें लौटते समय उन जीवोंको (साभाव्याप्ति) आकाश आदिसे साम्यकी होती है, (उपपत्तेः) क्योंकि ऐसा ही उपपन्न होता है ।

* इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोह-

---

और चार प्रकारके भूत समूहमें जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूपमें से स्वेदज और ग्राम्य धर्म (स्त्री पुरुष संपर्क) के विना ही उत्पत्ति देखनेसे आहुति संख्याका आदर नहीं प्रकार अन्यत्र (अनिष्ट आदि कारीकी देहोत्पत्तिमें) भी होगा ॥ २० ॥

परन्तु 'तेषां खल्वेषां० (उन पक्षी आदि प्रसिद्ध प्राणियोंके तीन ही बीज होते हैं–आण्डज, (जरायुज) और उद्भिज, इस श्रुतिमें तीन प्रकारका ही भूत समुदाय सुना जाता है, तो फिर समुदाय चार प्रकारका है, ऐसी प्रतिज्ञा किस प्रकारकी गई है ? इसपर कहते हैं—

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्०' (अण्डज-पक्षी आदि, जीवज-मनुष्य आदि और उद्भिज-वृक्षादि) तृतीय उद्भिज शब्दसे ही स्वेदजका उपसंग्रह किया गया समझना चाहिए, क्योंकि स्वेदज और इन दोनोंमें भी भूमि और उदकका भेदन कर उत्पन्न होना तुल्य है । स्थावरके उद्भेदसे जङ्गमका उद्भेद विलक्षण है । इसप्रकार स्वेदज और उद्भिज्जका भेदवाद अन्यत्र [वर्णित] है, अतः विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* स्वेदज और उद्भिज्जका भेद कथन तो 'अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च' (ऐत० ५।३) (अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज्ज) इस ऐतरेय श्रुतिमें स्पष्ट है । छान्दोग्य और ऐतरेय श्रुति प्रतिपादित तीन तथा चार संख्यामें कोई विरोध नहीं है । चतुर्विध विचार प्रसंगसे किया गया है, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अनिष्ट आदि कारियोंको चन्द्रलोक-नहीं होती ॥ २१ ॥

न्तीत्युक्तम्। अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते। तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति—'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' (छा० ५।१०।५) इति। तत्र संशयः—किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किं वाकाशादिसाम्यमिति। तत्र प्राप्तं तावत्—आकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति। कुतः? एवं हि श्रुतिर्भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तथा च 'वायुर्भूत्वा धूमो भवति' इत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते। तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति। ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति। चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति, ततो वायोर्वशमेति, ततो धूमादिभिः संपृच्यत इति। तदेतदुच्यते—'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा० ५।१०।५) इत्येवमादिना। कुत एतत्? उपपत्तेः। एवं ह्येतदुपपद्यते। न ह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते। आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते। विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसंबद्धत्वान्न तत्सादृश्यापत्तेर-

यह कहा गया है कि इष्ट आदि कारी चन्द्रलोकमें आरोहणकर वहांपर कर्मफलोपभोग पर्यन्त रहकर वहांसे अनुशय सहित अवरोहण करते हैं। अब अवरोह प्रकारकी परीक्षाकी जाती है। वहाँ 'अथैतमेवाध्वानं० (कर्मफल भोगानन्तर पुनः इसी मार्गसे जिस प्रकार गए थे उसीप्रकार लौटते हैं। वे पहले आकाशको प्राप्त होते हैं और आकाशसे वायुको, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर अभ्र होते हैं, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है) यह अवरोह श्रुति है। उसमें संशय होता है कि क्या अवरोहण करनेवाले आकाश आदि स्वरूपको ही प्राप्त होते हैं अथवा आकाश आदिके साम्यको? उसमें आकाश आदि स्वरूपको ही प्राप्त होते हैं, ऐसा प्राप्त होता है। किससे? इससे कि ऐसी ही श्रुति है। अन्यथा लक्षणा होगी। श्रुति और लक्षणाके संशयमें श्रुतिका ग्रहण उचित है लक्षणाका नहीं। उसीप्रकार 'वायुर्भूत्वा धूमो भवति' (वायु होकर धूम होता है) इत्यादि अक्षर भी तत् तत् स्वरूपकी प्राप्तिमें अनायास ही उपपन्न होते हैं, इससे आकाश आदि स्वरूपकी प्राप्ति है! ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आकाश आदिके सादृश्यको प्राप्त होते हैं। चन्द्रमंडलमें जो जलमय शरीर उपभोगके लिए आरम्भ हुआ था वह उपभोगके क्षय होनेपर प्रविलीन होता हुआ आकाशके समान सूक्ष्म होता है, अनन्तर वायुके वश-अधीन होता है उसके पश्चात् धूम आदिसे सम्बद्ध होता है। वह 'यथेतमकाशम्' (जिस प्रकार गए थे उसीप्रकार लौटते हैं प्रथम आकाशको प्राप्त होते हैं, आकाशसे वायुको प्राप्त होते हैं) इत्यादि श्रुतिसे कहा जाता है। यह किससे? उपपत्तिसे। यह ऐसा ही उपपन्न होता है। अन्यका अन्यभाव मुख्य उपपन्न नहीं होता। और आकाश स्वरूपकी प्राप्ति होनेपर वायु आदि क्रमसे अवरोह उपपन्न नहीं होता। आकाशके विभु होनेसे और उसके साथ नित्य सम्बद्ध होनेसे आकाशके सादृश्य प्राप्तिसे भिन्न उसका सम्बन्ध नहीं

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वमें 'तृतीयं स्थानम्' इस स्थान शब्दको दो मार्गके उपक्रम सामर्थ्यसे तृतीय मार्गका उपलक्षक कहा गया है। परन्तु यहां ऐसी श्रुति नहीं है। इसप्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे पूर्वपक्ष है।

* समानो भावो रूपं येषां ते सभावास्तेषां भावः साभाव्यं सारूप्यं-सादृश्यम्। समान एक-सा भाव-धर्म है जिनका वे सभाव हैं उनका भाव साभाव्य-सादृश्य है, क्योंकि उसकी उपपत्ति है यह सूत्रका व्युत्पत्तिसे अर्थ है, उसको आगे स्पष्ट करते हैं। 'यथेतमकाशमाकाशाद्वायुम्' चन्द्रमण्डलमें फलोपभोगके अनन्तर वह अनुशयी जीव आकाश तुल्य सूक्ष्म होता है, अनन्तर पिण्डीकृत

संबन्धो घटते। श्रुत्यसंभवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव। अत आकाशादितुल्यता-वात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते ॥२२॥

(५ नातिचिराधिकरणम् । सू० २३)

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

पदच्छेद—न, अतिचिरेण, विशेषात् ।

सूत्रार्थ—जीव (नातिचिरेण) स्वल्पकाल ही आकाश आदिके साथ समानरूपसे रहकर रा पृथिवीमें प्रवेश करता है, (विशेषात्) क्योंकि 'अतो वै दुर्निष्प्रपतरम्' इत्यादि श्रुतिमें देखनेमें आता है ।

* तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्व्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विशयः—किं दीर्घं कालं पूर्वपूर्व-नावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति । तत्रानियमः, नियमकारिणः भावादिति । एवं प्राप्त इदमाह—नातिचिरेणेति । अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावे- वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति । कुत एतत् ? विशेषदर्शनात् । तथा हि व्रीह्या-पत्तेरनन्तरं विशिनष्टि—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५।१०।६) इति । तकार न्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः । दुर्निष्प्रपतरं दुर्निष्क्रमतरं दुःखतरमस्माद्व्रीह्यादि-निःसरणं भवतीत्यर्थः । तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति । दुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः । तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्ते-गासंभवात् । तस्माद्व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति ॥२३॥

। और श्रुतिके असंभवमें लक्षणाका आश्रयण उचित ही है । अतः आकाश आदि सादृश्य ही यहां आकाश आदि भाव है, ऐसा उपचार किया जाता है ॥ २२ ॥

यहाँ व्रीहि आदि भावकी प्राप्तिके पूर्व आकाश आदिकी प्राप्तिमें संशय होता है, क्या दीर्घ-दीर्घ पूर्व सादृश्यसे अवस्थित होकर उत्तरोत्तर सादृश्यको प्राप्त होते हैं अथवा अल्प-अल्प काल ? नियम नहीं है, क्योंकि नियम करनेवाला शास्त्र नहीं है । ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—रेण' अल्प-अल्प काल आकाश आदिरूपसे अवस्थित होकर वृष्टि धाराओंके साथ इस पृथ्वीपर ते हैं। यदि किससे ? विशेष दर्शनसे । जैसे कि व्रीहि आदि भाव प्राप्तिके अनन्तर 'अतो वै (इस प्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही अत्यन्त कष्ट प्रद है) इस प्रकार विशेष कहते हैं । इसमें छान्दस प्रक्रियामें लुप्त हुआ समझना चाहिए । दुर्निष्प्रपततर-दुर्निष्क्रमतर इस व्रीहि आदि निःसरण दुःखतर होता है, ऐसा अर्थ है । यहाँ वह वचन दुःख पूर्वक निःसरण दिखलाता भावोंमें सुख पूर्वक निःसरण दिखलाता है । निष्क्रमणमें सुखत्व और दुःखत्वका यह विशेष अल्पत्व और दीर्घत्व निमित्तक है, क्योंकि उस अवधिमें शरीरकी निष्पत्ति-उत्पत्ति न होनेसे उपभोग संभव है। इसलिए व्रीहि आदि भाव प्राप्तिसे पूर्व अल्पकालमें ही अवरोहण होना चाहिए ॥२३॥

सत्यानन्दी दीपिका

लिङ्गोपहित होकर वायु द्वारा इतस्तत होता हुआ वायु सम होकर फिर धूमरूप होता है, अभ्ररूप पुनः मेघरूप होकर वृष्टिद्वारा पृथिवीपर आकर व्रीहि, यव आदिरूप होता है, यह श्रुति-न्त अर्थ है । अवरोहमें विविध भूत साम्य होनेका अनुसंधान करनेसे वैराग्य होता है ॥२२॥

* अनुशयी जीवका आकाश आदिसे सादृश्य कहकर अब विलम्ब और अविलम्ब गतिके विचार करते हैं । पूर्वपक्षमें अधिक काल आकाश आदि सादृश्यसे जीव रहता है, सिद्धान्तमें काल 'अतो वै खलु' इस श्रुतिमें विशेषरूपसे कहा गया है कि व्रीहि आदि भावमें आनेपर

(६ अन्याधिष्ठिताधिकरणम् । सू० २४-२७)

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

पदच्छेद—अन्याधिष्ठितेषु, पूर्ववदभिलापात् ।

सूत्रार्थ—अनुशयी जीव पूर्वके समान (अन्याधिष्ठितेषु) अन्य जीवोंसे अधिष्ठित व्रीहि आदिमें केवल सम्बन्धित होते हैं, (पूर्ववदभिलापात्) क्योंकि आकाश आदि भावके समान कथन है।

* तस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५।१०।६) इति । तत्र संशयः--किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति । किं तावत्प्राप्तम् ? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति । कुत एतत् ? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः, पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः, तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म, श्वादिजन्मवत् । यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति । एवं व्रीह्यादिजन्मापीति । * एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते, न तत्सुखदुःखभाजो

उसी अवरोहके विषयमें प्रवर्षण-वृष्टिके अनन्तर पढ़ा जाता है—'त इह०' (तत्र वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और उड़द रूप होकर उत्पन्न होते हैं) उसमें संशय होता है कि क्या अनुशयी जीव इस अवधिमें स्थावर जाति प्राप्त हुए स्थावरके सुख दुःखके भागी होते हैं अथवा अन्य जीवोंसे अधिष्ठित स्थावर शरीरोंमें केवल संश्लेष-संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं ? तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—अनुशयी जीव स्थावर जातिको प्राप्त होते हुए उसके सुख दुःखके भागी होते हैं। यह किससे ? इससे कि इसमें 'जन्' धातुका मुख्यार्थ उपपन्न होता है। और स्थावरभाव श्रुति और स्मृतिमें उपभोगका स्थानरूपसे प्रसिद्ध है, पशु हिंसादिके योगसे इष्ट आदि कर्म समूहों अनिष्ट फलत्व उपपन्न होता है। इसलिए अनुशयी जीवोंका यह व्रीहि आदि रूपसे जन्म श्वान आदि जन्मके समान मुख्य ही है, जैसे श्वयोनि, सूकरयोनि अथवा चण्डालयोनि इस प्रकार अनुशयी जीवों का श्वान आदि जन्म मुख्य ही है और उसके सुख-दुःखसे अन्वित होते हैं, वैसे व्रीहि आदि जन्म भी। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—अनुशयी जीव अन्य जीवोंसे अधिष्ठित व्रीहि आदिमें संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं, किन्तु उनके सुख-दुःखके भागी नहीं होते। पूर्ववत्—आकाश आदि भावके

सत्यानन्दी दीपिका

यहाँसे निकलना दुष्कर होता है, क्योंकि अन्नरूपमें, भक्षण करनेवालेमें, स्त्री गर्भमें जानेपर अधिक समय लगता है। इस श्रुति वचनसे सिद्ध होता है कि आकाश भावसे लेकर पृथ्वीमें आने तक अल्प अल्प कालमें अवरोहण होता है। व्रीहि आदि भावसे निर्गमनमें विलम्ब होता है, इस प्रकारके अनुसंधानसे वैराग्य होता है ॥ २३ ॥

* 'जायन्ते' (जन्म लेते हैं) इस श्रुतिके होनेसे और पूर्व अधिकरणमें आकाश आदिसे वृष्टि पर्यन्त सादृश्यके कथनसे 'तत्र' इत्यादिसे संशय कहते हैं। 'स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति' (अन्य स्थाणु भावको प्राप्त होते हैं) और 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' (शरीरसे उत्पन्न कर्म दोषोंसे मनुष्य स्थावरत्वको प्राप्त होता है) इस प्रकार श्रुति और स्मृतिमें स्थावरभाव कर्मफलके उपभोगका स्थान कहा गया है, क्योंकि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' यह सामान्य श्रुति हिंसाका निषेध करती है और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विशेष श्रुति वाक्यसे यज्ञमें पशु हिंसाका विधान है। इन श्रुतियों

पूर्ववत् । यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम् । एवं व्रीह्यादिभावोऽपि स्थावरैः संश्लेषमात्रम् । कुत एतत् ? तद्वदेवेहाप्यभिलापात्, कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः ? व्यापारमन्तरेण संकीर्तनम् । यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशति व्रीह्यादिजन्मन्यपि, तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम् । यत्र तु सुखदुःखभागित्वमभिप्रैति, परामृशति तत्र कर्मव्यापारं—रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च । अपि चानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः । यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम् । तत्र व्रीह्यादिभावाद्रेतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलप्येत । अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति । एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य । नच वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे । भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेतदुपभोगस्थानम्, चन्द्रमसस्त्ववरोहतामनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥२४॥

जैसे अनुशयी जीवोंका वायु, धूम आदि भाव उनके साथ केवल संसर्ग मात्र है, वैसे ही व्रीहि आदि स्थावर जातिके साथ संसर्ग मात्र है । यह किससे ? इससे कि उसके समान यहाँ भी कथन है । अभिलापका उसके समान भाव किया है ? कर्म व्यापार (फल) के विना कथन । जैसे आकाश से लेकर वर्षा पर्यन्त श्रुति किसी भी कर्म व्यापारका परामर्श नहीं करती, वैसे व्रीहि आदि जन्ममें भी, इसलिए वहाँ अनुशयी सुख-दुःखके भागी नहीं हैं । जहाँ तो सुख दुःखका भागित्व श्रुतिको अभिप्रेत है वहाँ 'रमणीयचरणाः कपूयचरणाः' इस प्रकार कर्म (फल) का परामर्श करती है । और अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदि जन्म मुख्य होनेपर तो व्रीहि आदिके काटनेपर, कूटे जानेपर, पकाये जानेपर, और भक्षण किये जानेपर उनके अभिमानी अनुशयी जीवोंका प्रवास होना चाहिए, क्योंकि जो जीव जिस शरीरका अभिमानी होता है वह उस शरीरके पीड़ित किये जानेपर प्रवास करता है, यह प्रसिद्ध है । और वहाँ अनुशयियोंके व्रीहि आदि भावसे रेतः सिञ्चन भावका कथन नहीं होना चाहिए । अतः अनुशयी जीवोंका अन्य जीवोंसे अधिष्ठित व्रीहि आदिमें संसर्गमात्र होता है । इससे जनिके मुख्यार्थत्व और स्थावरभावके उपभोग स्थानत्वका निराकरण करना चाहिए । स्थावरभावके उपभोग स्थानत्वकी हम अवज्ञा (इनकार) नहीं करते । किन्तु अपुण्यके सामर्थ्यसे स्थावरभावको प्राप्त हुए अन्य जीवोंको वह उपभोगका स्थान हो, परन्तु हम ऐसा कहते हैं कि चन्द्रलोकसे उतरनेवाले अनुशयी जीव स्थावर भावका उपभोग नहीं करते ॥ २४ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

करना कार्य है, इससे इष्ट आदि कारीको भी पशु हिंसा आदि पापके भोगसे स्थावर भाव होता है और वे उनके सुख-दुःखके भागी होते हैं ।

[1] 'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' (छा० ५।१०।६) (जो-जो अनुशयी उस अन्नको भक्षण करता है और जो-जो रेतका स्त्रीमें सिञ्चन करता है, तद्रूप ही वह जीव होता है) इस वाक्य शेषमें व्रीहि आदिमें प्रविष्ट अनुशयी जीवोंका अन्न द्वारा वीर्यके आधान कर्तामें संयोग कहा गया है, उसकी अन्यथा अनुपपत्तिसे भी 'त इह व्रीहियवा···जायन्ते' यह जन्म-संसर्गपरक है । दूसरी बात यह भी है कि यदि श्रुतिको अनुशयी जीवोंका मुख्य रूपसे व्रीहि आदि भाव अभिप्रेत होता, तो व्रीहि आदि देहका नाश होनेपर देहीका उत्क्रमण अवश्य होता है, तो फिर 'यो यो ह्यन्नमत्ति···तद्भूय एव भवति' इस श्रुति वाक्यसे विरोध होगा । इससे यहाँ केवल सम्बन्ध मात्र

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

पदच्छेद—अशुद्धम्, इति, चेत्, न, शब्दात्।

सूत्रार्थ—अग्निष्टोम आदि याग पशुहिंसा आदिके योगसे (अशुद्धम्) अशुद्ध है, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (शब्दात्) क्योंकि वह श्रुति प्रमाणक है।

* यत्पुनरुक्तम्—पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु, तत्र गौणी कल्पनाऽनर्थिकेति, तत्परिह्रियते। न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्। अतीन्द्रियत्वात्तयोः, अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च। यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति। तेन शास्त्रादृते धर्माधर्म विषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः, स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्? ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूत विषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति। बाढम्, उत्सर्गस्तु सः। अपवादः—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (यजु०) इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च। तेन न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम्। न श्वादिजन्मवदपि व्रीह्यादिजन्म भवितुमर्हति। तद्धि कपूयचरणानधिकृत्योच्यते, नैवमि वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति। अतश्चन्द्रमण्डलस्खलितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमा तद्भाव इत्युपचर्यते ॥२५॥

जो यह कहा गया है कि पशु हिंसादिके योगसे यज्ञकर्म अशुद्ध है, उसका अनिष्ट फल भी हो सकता है, इससे अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदि जन्म मुख्य ही हो तो उसमें गौणी कल्पना अनर्थ होगी, अब उसका परिहार किया जाता है—नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म विज्ञान-शास्त्र हेतुक है यह धर्म है और यह अधर्म है इस विज्ञानमें शास्त्र ही कारण है, क्योंकि वे दोनों अतीन्द्रिय हैं और उनके देश, काल और निमित्त अनियमित हैं, जिस देश, काल और निमित्तमें जिस धर्मका अनुष्ठ किया जाता है वही अन्य देश, काल और निमित्तमें अधर्म हो जाता है, इससे शास्त्र ज्ञानके बि धर्माधर्म विषयक ज्ञान किसीको नहीं होता। हिंसा अनुग्रह आदि रूप ज्योतिष्टोम धर्मरूपसे शा निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है। परन्तु 'नहिंस्यात्सर्वाभूतानि' यह शा ही भूतविषयक हिंसा अधर्म है, ऐसा अवगत कराता है। ठीक है, किन्तु वह तो उत्सर्ग है। औ 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (अग्नीषोमीय पशुका आलभन करे) यह अपवाद है। उत्सर्ग और अ वादका विषय व्यवस्थित (भिन्न-भिन्न) है। इसलिए वैदिक कर्म विशुद्ध है, क्योंकि शिष्ट उस अनुष्ठान करते हैं और वह निन्दा करने योग्य नहीं है। इससे उसका स्थावररूपसे जन्म प्रतिकूल नहीं है। श्वान आदि जन्मके समान भी व्रीहि आदि जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि, जैसे वह (श्वा जन्म) कपूय चरणोंका अधिकार कर कहा जाता है, वैसे यहाँ (व्रीहि आदि रूपसे जन्ममें) को विशेष अधिकार नहीं है। इसलिए चन्द्रमण्डलसे स्खलित-गिरनेवाले अनुशयी जीवोंका व्रीहि आ भाव-व्रीहि आदि संसर्ग मात्र है, ऐसा उपचार किया जाता है ॥ २५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

अभिप्रेत है। अतः चन्द्रलोकसे अवरोहण करनेवाले अनुशयी जीव स्थावर सम्बन्धी सुख-दुःख उपभोग नहीं करते ॥ २४ ॥

* 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' यह उत्सर्ग है, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह अपवाद-बाध शास्त्र है। विशेष शास्त्रसे सामान्य शास्त्रका बाध होता है। यदि ऐसा न मानें तो यह अपवाद शा

रेतःसिग्योगोऽथ ॥२६॥

पदच्छेद—रेतःसिग्योगः, अथ ।

सूत्रार्थ - व्रीहि आदि भावके अनन्तर अनुशयी जीवोंका रेतःसिग्भाव होता है, क्योंकि सिञ्चति' इत्यादि श्रुतिमें ऐसा कहा गया है ।

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुशयिनां रेतः-भाव आम्नायते—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' (छा० ५।१०।६) इति । मुख्यो रेतःसिग्भावः संभवति । चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति । कथमिवा-चरितं तद्भावमद्यमानान्नानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्येत ? तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव सिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः । तद्वद्व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥२६॥

योनेः शरीरम् ॥२७॥

पदच्छेद—योनेः, शरीरम् ।

सूत्रार्थ—(योनेः) योनिमें वीर्य सेचनके अनन्तर उस योनिसे सुख दुःख फलोपभोगके लिए रम्) योग्य शरीर उत्पन्न होता है, क्योंकि 'रमणीयचरणाः' इत्यादि शास्त्र कहता है ।

* अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुशयिनामनु-लोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इत्यादि । वगम्यते नावरोहे व्रीह्यादिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति । द्व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम् ॥२७॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

और इस हेतुसे भी व्रीहि आदि भाव व्रीहि आदि संश्लेष-संसर्ग मात्र है, क्योंकि 'योयोह्यन्न-' (जो-जो अनुशयी सम्बन्धित उस अन्नका भक्षण करता है, जो-जो वीर्यका सेचन (आधान) है, उसका रूप ही वह अनुशयी जीव होता है) इस प्रकार व्रीहि आदि भावके अनंतर अनुशयी-की रेतःसिग्भाव श्रुति है । और यहाँ रेतःसिग्भाव मुख्य नहीं हो सकता, क्योंकि चिरकालसे और प्राप्त यौवनवाला रेतःसिग् (वीर्य्यका आधान कर्ता) होता है । खाये हुए अन्नके साथ हुआ अनुशयी जीव आधान क्रियाके कर्ताका भाव उपचारके विना किस प्रकार प्राप्त करेगा ? वहाँ रेतः सेचन कर्ताके साथ सम्बन्ध ही रेतःसिग्भाव है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना चाहिए । कार व्रीहि आदि भाव भी व्रीहि आदिके साथ सम्बन्ध ही है, इसलिए विरोध नहीं है ॥ २६ ॥

रेतःसिग्भाव—रेतः सेचन कर्ताके साथ सम्बन्ध होनेके अनन्तर योनिमें वीर्य प्रक्षेप होनेपर जीवोंका अनुशय-कर्म फलोपभोगके लिए योनिके आश्रित शरीर उत्पन्न होता है, इस प्रकार ह रमणीयचरणाः०' (उन अनुशयी जीवोंमें जो पुण्यशाली हैं) इत्यादि श्रुति कहती है । भी ऐसा अवगत होता है कि अवरोह होनेपर व्रीहि आदि भावके अवसरमें उस अनुशयी सुख दुःखसे अन्वित शरीर ही नहीं होता है । इसलिए अनुशयी जीवोंका व्रीहि आदि जन्म आदि संश्लेषमात्र है, ऐसा सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

मी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके तृतीयाध्यायका प्रथम पाद समाप्त ॥

सत्यानन्दी दीपिका

श होनेसे व्यर्थ सिद्ध होगा । इसलिए शास्त्र विहित होनेसे यागमें पशु हिंसा निषिद्ध नहीं है । राग आदिसे प्राप्त हिंसाकी निवृत्तिके लिए 'नहिंस्यात्० यह सामान्य श्रुति है, इसलिए इसका ोमीयं०' इसके साथ कोई विरोध नहीं है ॥ २५ ॥

तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे तत्त्वंपदार्थपरिशोधनविचारः]

॥ इस पादमें तत्, त्वम् पदार्थ परिशोधनका विचार है ॥

(१ संध्याधिकरणम् । सू० १-६)

संध्ये सृष्टिराह हि ॥१॥

पदच्छेद—संध्ये, सृष्टिः, आह, हि ।

सूत्रार्थ—(संध्ये) स्वप्नावस्थामें (सृष्टिः) सृष्टि व्यावहारिक सत्य है, (हि) क्योंकि (आह) 'अथ रथान्' यह श्रुति ऐसा ही कहती है ।

* अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः । इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते । इदमामनन्ति—'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४।३।९) इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । तत्र संशयः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति ? तत्र तावत्प्रतिपद्यते—संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति । संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४।३।९) इति । द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम् । तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति । कुतः ? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह—'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । 'स हि कर्ता' इति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥१॥

गत पादमें पञ्चाग्नि विद्याका उदाहरण देकर जीवकी संसार गतिका प्रभेद विस्तारसे कहा गया है । अब तो उसकी ही भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ विस्तारपूर्वक कही जाती है । 'स तत्र प्रस्वपिति' (वह जहाँ सोता है) इस प्रकार उपक्रम कर 'न तत्र रथा० (उस अवस्थामें न रथ हैं, न रथमें जोते जानेवाले अश्व आदि हैं और न मार्ग ही हैं, परन्तु वह रथ, रथमें जोते जानेवाले अश्व आदि और रथके मार्गोंकी रचना कर लेता है) इत्यादि श्रुति कहती है । उसमें संशय होता है—क्या जाग्रत्के समान स्वप्नमें भी पारमार्थिक (व्यावहारिक) सृष्टि है अथवा मायामयी ? पूर्वपक्षी—स्वप्नावस्थामें तथ्यरूप सृष्टि है, वहाँ ऐसा प्राप्त होता है । संध्य स्वप्नावस्थाको कहते हैं, क्योंकि 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (तृतीय स्वप्न स्थान संध्य है) इस प्रकार वेदमें प्रयोग देखनेमें आता है । दो लोक स्थान अथवा प्रबोध और सुषुप्ति अवस्थाकी जो संधिमें होता है, वह संध्य कहा जाता है । उस संध्य अवस्थामें सत्यरूप ही सृष्टि हो सकती है । किससे ? इससे कि 'अथ रथान्० (वह रथ, रथमें जोते जानेवाले अश्व और रथके मार्गोंकी रचना करता है) इत्यादि प्रमाण भूत श्रुति ऐसा कहती है, क्योंकि 'स हि कर्ता' (वही कर्ता है) और इस प्रकारके उपसंहारसे ऐसा ही अवगत होता है ॥ १ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* कर्म करनेवालोंका गति और आगति रूप संसार दुर्वार है । इस प्रकार विचार करनेसे वैराग्य होता है, जो तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें परम्परा साधन है ॥ २७ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के तृतीयाध्यायका प्रथम पाद समाप्त ॥

* * *

* गत पादमें वैराग्य सिद्धिके लिए पञ्चाग्नि विद्याके उदाहरणसे गति और आगतिका विशेष विचार किया गया है । अब वैराग्य द्वारा साध्य 'तत्, त्वम्' पदार्थका विवेक जो वाक्यार्थ ज्ञानका

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२॥

पदच्छेद—निर्मातारम्, च, एके, पुत्रादयः, च।

सूत्रार्थ—(च) और (एके) कुछ शाखावाले स्वप्नमें (निर्मातारम्) कार्योंका निर्माता ता है, ऐसा कहते हैं, यहाँ (पुत्रादयः) पुत्र आदि काम शब्दसे अभिप्रेत हैं, क्योंकि श्रुतिमें शब्दसे उनका कथन है।

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति—सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (कठ० ५।८) इति। पुत्रादयश्च तत्र कामा न्ते—काम्यन्त इति। ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन्, न, 'शतायुषः पुत्र-वृणीष्व' (क० १।२३) इति प्रकृत्यान्ते 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' (क० १।२४) कृतेषु तत्र तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात्। प्राज्ञं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्य-भ्यां प्रतीमः। प्राज्ञस्य हीदं प्रकरणम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्यादि,

---

और कुछ शाखावाले इसी स्वप्नावस्थामें 'य एष सुप्तेषु० (इन्द्रिय आदिके सुप्त होनेपर पुरुष अपने इच्छित पदार्थोंकी रचना करता हुआ जागता रहता है) इसप्रकार कामोंका आत्माको मानते हैं। वहाँ पुत्र आदि कामशब्दसे अभिप्रेत हैं, क्योंकि उनकी कामना की है। परन्तु काम शब्दसे इच्छाविशेष ही कहना चाहिए ? ऐसा नहीं, क्योंकि 'शतायुषः० (हे ! तू सौ वर्षकी आयुवाले पुत्र और पौत्र माँग ले) ऐसा प्रस्तुत कर अंतमें 'कामानां० (मैं कामनाओंको इच्छानुसार भोगनेवाला किये देता हूँ) इसप्रकार तत् तत् स्थानमें प्रकृत पुत्र काम शब्दको प्रयुक्त किया गया है। इसके निर्माता इस प्राज्ञको हम प्रकरण और वाक्यशेषसे ते हैं। क्योंकि 'अन्यत्र धर्माद० (वह धर्मसे पृथक् और अधर्मसे पृथक् है) इत्यादि यह

सत्यानन्दी दीपिका

है उसका इस पादमें निरूपण किया जाता है। इसप्रकार हेतुहेतुमद्भाव संगतिसे द्वितीयपादका है। इसपादके 'न स्थानतोऽपि' इस ११ सूत्रके पहले उद्देश्यरूपसे प्रथम जिज्ञासित 'त्वम्' अवस्थाओं द्वारा विवेचन है। तदनन्तर पाद समाप्ति पर्यन्त 'तत्' पदार्थका विवेचन है। ज्ञातव्य है कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें 'तत्' 'त्वम्' यहाँपर 'त्वम्' को उद्देश्य कर 'तत्' का किया गया है, इसलिए उद्देश्यरूपसे 'त्वम्' का प्रथम विवेचन है और विधेयरूपसे प्रतिपादित अनन्तर। गत पादमें जीवकी गति और आगतिके विचारसे जाग्रदवस्थाका निरूपण किया है। अब उस क्रमसे 'त्वम्' पदार्थमें स्वयं ज्योतिष्ठत्व सिद्ध करनेके लिए स्वप्नावस्थाका निरूपण ता है। जाग्रदवस्थाके अनन्तर होनेवाली स्वप्नावस्था श्रुतिमें प्रतिपादित है, उसको उद्देश्यकर का अभाव और उसकी सृष्टि दोनों कहे गये हैं। इसको 'तत्र' आदिसे कहते हैं। 'आरम्भण में प्रपञ्चमात्रमें पारमार्थिकत्वका निषेध किया गया है। परन्तु पूर्व पक्षमें स्वप्न सृष्टि सत्य क्योंकि 'अथ रथान्' इत्यादि श्रुति है। तथा उपक्रम और उपसंहारसे कर्ता भी एक ही है। स्वप्नावस्थाको कहा जाता है। पूर्वपक्षमें जाग्रत् अवस्थाके समान स्वप्नसे भी जीवके लिए सिद्ध है और सिद्धांतमें स्वप्न प्रतीतिमात्र होनेसे विवेक सिद्ध है, जिससे जीवमें स्वयं प्रकाशत्व ता है ॥ १ ॥

• "स्वप्नार्थाः सत्याः प्राज्ञनिमित्तत्वात् आकाशादिवत्" (स्वप्नके पदार्थ सत्य हैं, क्योंकि मित हैं, जैसे आकाश आदि) इसप्रकार श्रुति और अनुमानसे स्वप्न सृष्टि जागरित सृष्टिके सिद्ध होती है ॥ २ ॥

तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (क० ५।८) इति। प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया, तथा स्वप्नाश्रयाऽपि सृष्टिर्भवितुमर्हति। तथा च श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४।३।१४) इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति। तस्मात्तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति ॥२॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

मायामात्रं तु कात्स्नर्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

पदच्छेद—मायामात्रम्, तु, कात्स्न्येंन, अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है, (मायामात्रम्) स्वप्न सृष्टि मायामात्र है, क्योंकि (कात्स्न्येंन) देश, काल आदि समस्त धर्मोंसे (अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्) अभिव्यक्त स्वरूप नहीं है।

* तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति यदुक्तं-संध्ये सृष्टिः पारमार्थिकीति। मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति। कुतः? कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। नहि कात्स्न्र्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः। किं पुनरत्र कात्स्न्र्यमभिप्रेतं देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च? नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते। न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति। नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽवकाशं लभेरन्। स्यादेतत्—बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति, देशान्तरितद्रव्यग्रहणात्। दर्शयति च श्रुतिर्बहिर्देहात्स्वप्नम्—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्

प्राज्ञका ही प्रकरण है। और 'तदेव शुक्रं० (वह शुद्ध है, वह ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है, उसमें सब लोक आश्रित हैं, कोई भी उसका उलङ्घन नहीं कर सकता) यह वाक्यशेष भी तद्विषयक ही है। जैसे प्राज्ञकर्तृक जाग्रत् आश्रय सृष्टि सत्यरूपसे निश्चित की गई है, वैसे स्वप्न आश्रय सृष्टि भी हो सकती है। इसीप्रकार 'अथ खल्वाहुः० (इससे अवश्य ही कोई ऐसा कहते हैं कि यह (स्वप्न स्थान) इसका जाग्ररित देश ही है, क्योंकि जिन पदार्थोंको यह जागनेपर देखता है, उन्हींको सोता हुआ भी देखता है) यह श्रुति स्वप्न और जाग्रदवस्थाकी समान रीतिका श्रवण करती है, इसलिए स्वप्नमें सत्यरूप ही सृष्टि है ॥ २ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण कहते हैं—

तु शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। जो यह कहा गया है कि स्वप्नमें सृष्टि पारमार्थिक है, यह नहीं है, स्वप्नमें सृष्टि माया ही है उसमें तो परमार्थका गन्ध-लेश भी नहीं है। किससे? इससे कि उसका सर्वात्मना स्वरूप अभिव्यक्त नहीं है। समस्त परमार्थ वस्तुके धर्मसे स्वप्न अभिव्यक्तस्वरूप नहीं है। परन्तु यहाँ कात्स्न्र्यसे क्या अभिप्रेत है? देश, काल, निमित्तरूप संपत्ति और अबाध अभिप्रेत है। परमार्थ वस्तु विषयक देश, काल, निमित्त और अबाध स्वप्नमें संभाव्य नहीं हैं। रथ आदि का स्वप्नमें उचित देश संभव नहीं, क्योंकि संकीर्ण देह देशमें रथ आदि अवकाश प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यह शङ्का होती है कि देहसे बाहर स्वप्न देखेगा, कारण कि देशसे व्यवधान वाले पदार्थोंका ग्रहण होता है। और 'वहिष्कुलायाद० (वह अमृतधर्मा शरीरसे बाहर विचरता है, जहाँ वासना होती वहाँ चला जाता है) यह श्रुति देहसे बाहर स्वप्न दिखलाती है और ऐसी स्थिति, गति और

सत्यानन्दी दीपिका

* 'स्वप्नरथादयः प्रातीतिकाः जाग्रद्रथादौ क्लृप्तसामग्रीं विना दृष्टत्वात् शुक्तिरूप्यादिवत्' (स्वप्न रथ आदि प्रातिभासिक हैं, क्योंकि जागरित रथ आदिमें क्लृप्त सामग्रीके बिना देखे जाते हैं,

४।३।१२) इति स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति—
ते, नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च ततः
संभाव्यते । कचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति—कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रया-
स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चैषु प्रतिबुद्धश्चेति । देहाच्चेदपेयात्पञ्चालेषु प्रतिबुध्येत न
भिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते । येन चायं देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते
पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति । यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न
तथाभूतान्येव भवन्ति । परिधावंश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत् । दर्शयति च
रेव देहे स्वप्नम्—'स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते'
१।१८) इति । अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या—बहि-
कुलायादमृतश्चरित्वेति । यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव
द्भवतीति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवं सति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः । कालवि-
दोऽपि च स्वप्ने भवति—रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते । तथा मुहूर्तमात्र-
स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति । निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे
तानि विद्यन्ते । करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति । रथादि-
नेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा । बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः

भेद जीवके शरीरसे बाहर निकले विना संगत नहीं हो सकता । नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि
में सैकड़ों योजनोंसे व्यवहित देशको क्षणमात्रमें प्राप्त करने और लौटकर आनेकी सामर्थ्य
वना नहीं की जा सकती, और कहीं 'मैं इसी कुरुदेशमें सोता हुआ निद्रासे अभिभूत होकर
पंचाल देशमें गया था और पुनः यहीं पर जाग गया' इसप्रकार [प्रबुद्ध पुरुष] प्रत्यागमनके
[पार्श्वस्थ लोगोंको] स्वप्न सुनाता है । यदि देहसे निकल गया होता तो पंचाल देशोंमें जागता,
यह उन देशोंमें गया था, किन्तु कुरुदेशमें ही जाग्रत होता है, तो जिस देहसे यह अपनेको अन्य
मानता है, उस देहको अन्य समीपस्थ लोग शयनदेशमें ही देखते हैं । यह जिसप्रकार देशा-
स्वप्नमें देखता है वे उसी प्रकारके नहीं होते । यदि दौड़ता हुआ (पदार्थ) देखे तो जागरितके
यथार्थ अर्थको ग्रहण करना चाहिए, और 'स यत्रैत० (जिससमय यह आत्मा स्वप्नवृत्तिसे विच-
) ऐसा उपक्रम कर 'स्वे शरीरे० (यह अपने शरीरमें यथेच्छ विचरता है) इसप्रकार श्रुति शरीरके
ही स्वप्न दिखलाती है । अतः श्रुति और उपपत्तिसे विरोध होनेसे 'वहिष्कुलाय' यह श्रुति गौणी
व्याख्यान करना चाहिए—'मानो देहसे बाहर अमृतधर्मा भ्रमण कर' जो शरीरमें रहता हुआ
प्रयोजन नहीं रखता वह शरीरसे बाहर-सा होता है । ऐसा होनेपर स्थिति, गति और प्रत्यय
भी विभ्रम ही स्वीकार करना चाहिए । स्वप्नमें काल विरोध भी होता है । रातको सोया हुआ
में दिन मानता है । इस प्रकार मुहूर्त मात्रवर्त्ति स्वप्नमें बहु वर्ष समुदायका अतिवहन करता
स्वप्नमें ज्ञान अथवा कर्मके लिए उचित निमित्त भी विद्यमान नहीं होते, क्योंकि इन्द्रियोंके
होनेसे रथ आदि ग्रहण करनेके लिए इसे चक्षु आदि भी नहीं हैं । इस प्रकार निमेषमात्रमें

सत्यानन्दी दीपिका

शुक्तिरजत आदि) इससे वे मायामात्र हैं—अविद्याका परिणाम मात्र हैं । और कार्त्स्न्य देश, काल,
और अबाध यथार्थ वस्तु विषयक होते हैं, शुक्ति रजतके समान प्रातिभासिक स्वप्न पदार्थोंमें
होते । जिन पदार्थोंको स्वप्नमें जैसे देखता है वे वैसे नहीं होते, स्वप्नमें वृक्ष आदि पदार्थ दौड़ते
दिखाई देते हैं किन्तु होते स्थिर हैं, अतः स्वप्न पदार्थ जागरितके समान सत्य नहीं हैं ।

तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (क० ५।८) इति। प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया, तथा स्वप्नाश्रयाऽपि सृष्टिर्भवितुमर्हति। तथा च श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४।३।१४) इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति। तस्मात्तथ्यरूपैव संध्ये सृष्टिरिति ॥२॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

पदच्छेद—मायामात्रम्, तु, कात्स्न्र्येन, अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है, (मायामात्रम्) स्वप्न सृष्टि मायामात्र है, क्योंकि (कात्स्न्र्येन) देश, काल आदि समस्त धर्मोंसे (अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्) अभिव्यक्त स्वरूप नहीं है।

* तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति यदुक्तं-संध्ये सृष्टिः पारमार्थिकीति। मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति। कुतः? कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। नहि कात्स्न्र्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः। किं पुनरत्र कात्स्न्र्यमभिप्रेतं, देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च? नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते। न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति। नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽवकाशं लभेरन्। स्यादेतत्—बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति, देशान्तरितद्रव्यग्रहणात्। दर्शयति च श्रुतिर्बहिर्देहात्स्वप्नम्—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्'

प्राज्ञका ही प्रकरण है। और 'तदेव शुक्रं० (वह शुद्ध है, वह ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है, उसमें सब लोक आश्रित हैं, कोई भी उसका उलङ्घन नहीं कर सकता) यह वाक्यशेष भी तद्विषयक ही है। जैसे प्राज्ञकर्तृक जाग्रत् आश्रय सृष्टि सत्यरूपसे निश्चित की गई है, वैसे स्वप्न आश्रय सृष्टि भी हो सकती है। इसीप्रकार 'अथ खल्वाहुः० (इससे अवश्य ही कोई ऐसा कहते हैं कि यह (स्वप्न स्थान) इसका जाग्ररित देश ही है, क्योंकि जिन पदार्थोंको यह जागनेपर देखता है, उन्हींको सोता हुआ भी देखता है) यह श्रुति स्वप्न और जाग्रदवस्थाकी समान रीतिका श्रवण करती है, इसलिए स्वप्नमें सत्यरूप ही सृष्टि है ॥ २ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण कहते हैं—

तु शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। जो यह कहा गया है कि स्वप्नमें सृष्टि पारमार्थिक है, यह नहीं है, स्वप्नमें सृष्टि माया ही है उसमें तो परमार्थका गन्ध-लेश भी नहीं है। किससे? इससे कि उसका सर्वात्मना स्वरूप अभिव्यक्त नहीं है। समस्त परमार्थ वस्तुके धर्मसे स्वप्न अभिव्यक्तस्वरूप नहीं है। परन्तु यहाँ कात्स्न्र्यसे क्या अभिप्रेत है? देश, काल, निमित्तरूप संपत्ति और अबाध अभिप्रेत है। परमार्थ वस्तु विषयक देश, काल, निमित्त और अबाध स्वप्नमें संभाव्य नहीं हैं। रथ आदिका स्वप्नमें उचित देश संभव नहीं, क्योंकि संकीर्ण देह देशमें रथ आदि अवकाश प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यह शङ्का होती है कि देहसे बाहर स्वप्न देखेगा, कारण कि देशसे व्यवधान वाले पदार्थोंका ग्रहण होता है। और 'बहिष्कुलायाद० (वह अमृतधर्मा शरीरसे बाहर विचरता है, जहाँ वासना होती वहाँ चला जाता है) यह श्रुति देहसे बाहर स्वप्न दिखलाती है और ऐसी स्थिति, गति और

सत्यानन्दी दीपिका

* 'स्वप्नरथादयः प्रातीतिकाः जाग्रद्रथादौ क्लृप्तसामग्रीं विना दृष्टत्वात् शुक्तिरूप्यादिवत्' (स्वप्न रथ आदि प्रातिभासिक हैं, क्योंकि जागरित रथ आदिमें क्लृप्त सामग्रीके विना देखे जाते हैं,

४।३।१२) इति स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति—ते, नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च ततः संभाव्यते। कश्चिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति—कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रया-तः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चैषु प्रतिबुद्धश्चेति। देहाच्चेदपेयात्पञ्चालेषु प्रतिबुध्येत न लानभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते। येन चायं देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति। यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तथाभूतान्येव भवन्ति। परिधावंश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत्। दर्शयति च न्तरेव देहे स्वप्नम्—'स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' २।१।१८) इति। अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या—बहि-कुलायादमृतश्चरित्वेति। यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव वतीति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवं सति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः। कालवि-दोऽपि च स्वप्ने भवति—रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते। तथा मुहूर्तमात्र-नि स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति। निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे तानि विद्यन्ते। करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति। रथादि-णेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा। बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः

भेद जीवके शरीरसे बाहर निकले विना संगत नहीं हो सकता। नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि में सैकड़ों योजनोंसे व्यवहित देशको क्षणमात्रमें प्राप्त करने और लौटकर आनेकी सामर्थ्य वना नहीं की जा सकती, और कहीं 'मैं इसी कुरुदेशमें सोता हुआ निद्रासे अभिभूत होकर पंचाल देशमें गया था और पुनः यहीं पर जाग गया' इसप्रकार [प्रबुद्ध पुरुष] प्रत्यागमनके [पार्श्वस्थ लोगोंको] स्वप्न सुनाता है। यदि देहसे निकल गया होता तो पंचाल देशोंमें जागता, कि यह उन देशोंमें गया था, किन्तु कुरुदेशमें ही जाग्रत होता है, तो जिस देहसे यह अपनेको अन्य प्त मानता है, उस देहको अन्य समीपस्थ लोग शयनदेशमें ही देखते हैं। यह जिसप्रकार देशा-को स्वप्नमें देखता है वे उसी प्रकारके नहीं होते। यदि दौड़ता हुआ (पदार्थ) देखे तो जागरितके न यथार्थ अर्थको ग्रहण करना चाहिए, और 'स यत्रैत० (जिससमय यह आत्मा स्वप्नवृत्तिसे विच-है) ऐसा उपक्रम कर 'स्वे शरीरे० (यह अपने शरीरमें यथेच्छ विचरता है) इसप्रकार श्रुति शरीरके र ही स्वप्न दिखलाती है। अतः श्रुति और उपपत्तिसे विरोध होनेसे 'वहिष्कुलाय' यह श्रुति गौणी सा व्याख्यान करना चाहिए—'मानो देहसे बाहर अमृतधर्मा भ्रमण कर' जो शरीरमें रहता हुआ से प्रयोजन नहीं रखता वह शरीरसे बाहर-सा होता है। ऐसा होनेपर स्थिति, गति और प्रत्यय भी विभ्रम ही स्वीकार करना चाहिए। स्वप्नमें काल विरोध भी होता है। रातको सोया हुआ प्नमें दिन मानता है। इस प्रकार मुहूर्त मात्रवर्त्ति स्वप्नमें बहु वर्ष समुदायका अतिवहन करता और स्वप्नमें ज्ञान अथवा कर्मके लिए उचित निमित्त भी विद्यमान नहीं होते, क्योंकि इन्द्रियोंके हार होनेसे रथ आदि ग्रहण करनेके लिए इसे चक्षु आदि भी नहीं हैं। इस प्रकार निमेषमात्रमें

सत्यानन्दी दीपिका

शुक्तिरजत आदि) इससे वे मायामात्र हैं—अविद्याका परिणाम मात्र हैं। और कार्त्स्न्यं देश, काल, और अबाध यथार्थ वस्तु विषयक होते हैं, शुक्ति रजतके समान प्रातिभासिक स्वप्न पदार्थोंमें होते। जिन पदार्थोंको स्वप्नमें जैसे देखता है वे वैसे नहीं होते, स्वप्नमें वृक्ष आदि पदार्थ दौड़ते दिखाई देते हैं किन्तु होते स्थिर हैं, अतः स्वप्न पदार्थ जागरितके समान सत्य नहीं हैं।

प्रबोधे । स्वप्न एव चैते सुलभबाधा भवन्ति, आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात् । रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते, मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः । स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥३॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

पदच्छेद—सूचकः, च, हि, श्रुतेः, आचक्षते, च, तद्विदः ।

सूत्रार्थ—(सूचकः) स्वप्न भविष्यत्के शुभ और अशुभका सूचक है, (हि) क्योंकि (श्रुतेः) 'यदा कर्मसु' इत्यादि श्रुतिसे ऐसा अवगत होता है (च) और (तद्विदः) स्वप्न शास्त्रवेत्ता भी (आचक्षते) स्वप्नको शुभाशुभका सूचक ही कहते हैं ।

* मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति—नेत्युच्यते, सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः । तथा हि श्रूयते—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५।२।८) तथा 'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्येवमादिभिः स्वप्नैरचिरजीवित्वमावेद्यत इति श्रावयति । आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः—'कुञ्जरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि' इति । मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित्स्वप्नाः सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते । तत्रापि भवतु नाम सूच्यमानस्य वस्तुनः सत्यत्वं, सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यं, बाध्यमानत्वा-

रथ आदि निर्माणके लिए इसे सामर्थ्य अथवा लकड़ी कहाँ हैं ? स्वप्न दृष्ट ये रथ आदि पदार्थ जाग्रत् होनेपर बाधित हो जाते हैं, स्वप्नमें इनके बाध सुलभ होते हैं, कारण कि स्वप्नके आदि और अन्तमें इनका व्यभिचार देखनेमें आता है, यह रथ है, ऐसा कभी स्वप्नमें निश्चित हुआ पदार्थ क्षणमें मनुष्य हो जाता है, यह मनुष्य है, ऐसा निर्धारित हुआ क्षणमें वृक्ष हो जाता है, इसलिए 'न तत्र रथा०' (उस स्वप्नावस्थामें न रथ हैं, न रथमें जोते जानेवाले अश्व आदि हैं और न मार्ग ही हैं) इत्यादि शास्त्र स्वप्नमें रथ आदिका अभाव स्पष्ट श्रवण कराता है । इससे स्वप्न दर्शन मायामात्र है ॥ ३ ॥

मायामात्र होनेसे तो फिर स्वप्नमें परमार्थका कोई गन्ध भी नहीं है, नहीं, ऐसा कहते हैं—स्वप्न भविष्यके शुभ और अशुभका सूचक होता है । जैसे कि 'यदा कर्मसु०' (पुरुष जिस समय काम्य कर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीको देखे तो उस स्वप्नके दर्शन होनेपर उस कर्ममें समृद्धि जाने) यह श्रुति है । तथा 'कृष्ण दान्तवाले कृष्ण पुरुषको स्वप्नमें देखता है वह स्वप्न दृष्ट उस स्वप्न द्रष्टाको मार डालता है' इत्यादि स्वप्नोंसे अल्प जीवित्व सूचित होता है, ऐसा श्रुति श्रवण कराती है । और स्वप्न शास्त्रवेत्ता कहते हैं कि स्वप्नमें हाथीपर आरोहण आदि धन्य-शुभ हैं और गर्दभपर सवारी आदि अधन्य-अशुभ हैं । और मन्त्र, देवता, द्रव्यविशेष निमित्तक कोई कोई स्वप्न सत्य अर्थसे युक्त होते हैं, ऐसा मानते हैं । स्वप्नमें भी सूचित हुई वस्तु भले ही सत्य हो, परन्तु सूचक स्त्री दर्शन आदि तो असत्य ही होते हैं, क्योंकि वे बाध्यमान हैं, ऐसा अभिप्राय है । इससे स्वप्नमें मायामात्रत्व उपपन्न

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि मन्त्रके प्रभावसे, देवताके अनुग्रहसे अथवा ओषधि आदिके सेवनसे स्वप्न सत्यके सूचक होते हैं और वे सत्य होते हैं, तो भी स्वप्न पदार्थ सत्य नहीं होते ? क्योंकि वे बाधित होते हैं। जैसे रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि सत्यमय तथा हर्षके सूचक होनेपर भी बाधित होनेसे प्रतीति मात्र है। और जो इस पादके प्रथम सूत्रमें 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' इसके अनुसार 'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' इस श्रुतिसे स्वप्न सृष्टिको सत्य कहा गया है वह श्रुति कथन गौण है, वह केवल निमित्त मात्रको

भिप्रायः । तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् । यदुक्तम्-'आह हि' इति, तदेवं सति व्याख्यातव्यम् । यथा लाङ्गलं गवादीनुद्वहतीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते, नतु प्रत्यक्ष- लाङ्गलं गवादीनुद्वहति । एवं निमित्तमात्रत्वात्सुप्तो रथादीन्सृजते स हि कर्तेति चोच्यते, स्वप्नमेव सुप्तो रथादीन्सृजति । निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोदत्रासादि- तन्निमित्तभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम् । * अपि च जागरिते विषये- संयोगादादित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्विवेचनमिति तद्विवेचनाय उपन्यस्तः । तत्र यदि रथादिसृष्टिवचनं श्रुत्या नीयेत, तदा स्वयंज्योतिष्ट्वं न निर्णीतं । तस्माद्रथाद्यभाववचनं श्रुत्या, रथादिसृष्टिवचनं तु भक्त्येति व्याख्येयम् । एतेन श्रवणं व्याख्यातम् । यदप्युक्तम्—'प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति' इति—तदप्यसत्, रे 'स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति' (बृ० ४।३।९) इति व्यापारश्रवणात् । इहापि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (क० ५।८) इति प्रसिद्धानुवादाज्जीव कामानां निर्माता संकीर्त्यते । तस्य तु वाक्यशेषेण तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मेति जीवभावं र्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते—'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिवदिति न ब्रह्मप्रकरणं ते । न चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिषिध्यते । तस्य सर्वेश्वरत्वात्सर्वास्वव-

---

जो यह कहा गया है कि 'आह हि' (क्योंकि श्रुति कहती है) ऐसा होनेपर-श्रुति और युक्तिसे मायामात्रत्व सिद्ध होनेपर वह गौण है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए । जैसे हल बैल वहन करता है, ऐसा निमित्तमात्रसे कहा जाता है । परन्तु हल प्रत्यक्षरूपसे बैल आदिका नहीं करता, वैसे ही निमित्त मात्रसे सुप्त पुरुष रथ आदिका निर्माण करता है और वही कर्ता है, कहा जाता है, परन्तु सुप्तपुरुष प्रत्यक्षरूपसे रथ आदिका निर्माण नहीं करता । इसका निमित्तत्व आदिकी प्रतीतिसे उत्पन्न हर्ष और त्रास आदिके दर्शनसे उनके निमित्तरूप सुकृत और के कर्तृरूपसे हैं, ऐसा कहना चाहिए । और जाग्रत्में विषय इन्द्रियोंके संयोगसे और आदित्य ज्योतिःके संकरसे आत्मामें स्वयं ज्योतिष्ट्वका विवेचन दुष्कर है, अतः उसके विवेचनके लिए उपन्यास किया गया है । उसमें यदि रथ आदि सृष्टि वचन श्रुतिसे (मुख्य वृत्तिसे) तत्परक जाय, तो आत्माका स्वयं ज्योतिष्ट्व निर्णीत नहीं होगा । इसलिए रथ आदि अभाव वचन मुख्य- और रथ आदि सृष्टि वचन गौण वृत्तिसे है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए । इससे निर्माण व्याख्यान हुआ । और जो यह कहा गया है कि इस प्राज्ञको स्वप्नका निर्माता कहते हैं, वह नहीं है, क्योंकि 'स्वयं विहत्य० (स्वयं ही इस स्थूल शरीरको अचेतकर तथा स्वयं अपने मय देहको रचकर, अन्तःकरण वृत्ति प्रकाशसे तथा स्वयं ज्योतिः स्वरूपसे उस वासनामयको करता हुआ शयन करता है) इसप्रकार अन्य श्रुतिमें जीव व्यापारका श्रवण है । और 'य एव० इन्द्रियोंके सुप्त होनेपर जागता है) यहां भी प्रसिद्धके अनुवादसे यह जीव ही कामोंका निर्माता जाता है । किन्तु उसका 'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म'० (वही शुक्र है और वह ब्रह्म है) इस वाक्यशेषसे व्यावृत्तकर 'तत्त्वमसि' इत्यादिके समान ब्रह्मभाव उपदेश किया जाता है, इससे ब्रह्म- का विरोध नहीं है । और हम स्वप्नमें भी प्राज्ञके व्यापारका प्रतिषेध नहीं करते, क्योंकि वह

सत्यानन्दी दीपिका

कहा गया है । अतः स्वप्न भोक्ता पुण्य, पाप द्वारा स्वप्न सृष्टिका निमित्त मात्र है, अतः उस स्वप्न कर्तृत्व गौण है ।

* 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' यह श्रुति स्वप्नको लेकर आत्मामें स्वयं ज्योतिष्ट्वका प्रति- करती है । रथ आदि सृष्टि वचन रथ आदि सृष्टि परक नहीं है, क्योंकि एक ही श्रुतिमें रथ

स्थास्वधिष्ठातृत्वोपपत्तेः । पारमार्थिकस्तु नायं संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवदित्येतावत्प्रति पाद्यते । नच वियदादिसर्गस्याप्यात्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति । प्रतिपादितं हि ‘तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः’ (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम् । प्राक्तु ब्रह्मा त्मत्वदर्शनाद्वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति । संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्यत इति । अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ।।४।।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।।५।।

पदच्छेद—पराभिध्यानात्, तु, तिरोहितम्, ततः, हि, अस्य, बन्धविपर्ययौ ।

सूत्रार्थ– (तु) परन्तु (अस्य) जीवका (तिरोहितम्) अविद्या आदिसे आवृत ऐश्व (पराभिध्यानात्) परमात्माके ध्यानसे अभिव्यक्त होता है, (ततोहि) क्योंकि (बन्धविपर्ययौ) ईश्व ज्ञान न होनेसे जीवका बन्ध और ज्ञान होनेसे मोक्ष होता है । ऐसा ‘ज्ञात्वा देवं’ इत्यादि श्रुति प्रतिपादित है ।

अथापि स्यात्परस्यैव तावदात्मनोंऽशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गः । तत्रैवं स यथाग्निविस्फुलिङ्गयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवत एव जीवेश्वरयोरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात्सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिर्भविष्यतीति । अत्रोच्यते— सत्यपि जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम् । किं पुनर्जीवस्येश्वर समानधर्मत्वं नास्त्येव ? न नास्त्येव, विद्यमानमपि तत्तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात् तत्पुनस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृत दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति, न स्वभावत एव सर्वेष जन्तूनाम् । कुतः ? ततो हीश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः । ईश्वरस्वरूपापरिज्ञा

सबका ईश्वर होनेसे सब अवस्थाओंमें भी अधिष्ठाता हो सकता है । परन्तु आकाश आदि सृ समान यह स्वप्न आश्रय सृष्टि पारमार्थिक नहीं है, केवल इतना ही प्रतिपादन किया जाता है। औ आकाश आदि सृष्टि भी आत्यन्तिक सत्य नहीं है, क्योंकि ‘तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः’ इ सूत्रमें सम्पूर्ण प्रपञ्चमें मायामात्रत्व प्रतिपादित है । ब्रह्मात्मत्व ज्ञानके पूर्व आकाश आदि प्रपञ्च व्य स्थितरूप होता है, और स्वप्न आश्रय प्रपञ्च तो प्रतिदिन बाधित होता है । अतः स्वप्नमें यही वि मायामात्रत्व कहा गया है ॥ ४ ॥

परन्तु ऐसा भी हो कि जैसे विस्फुलिंग अग्निका अंश है, वैसे ही जीव परमात्माका अंश है ऐसा होनेपर जैसे अग्नि और विस्फुलिंगमें दहन और प्रकाशन शक्ति समान है, वैसे जीव और ईश्वर भी ज्ञान और ऐश्वर्यशक्ति समान होगी, उससे जीवके ज्ञान और ऐश्वर्यके बलसे स्वप्नमें सांकल्पि रथ आदि सृष्टि हो जायगी । इसपर कहते हैं–जीव और ईश्वरका अंशांशिभाव होनेपर भी प्रत्य रूपसे जीवमें ईश्वरसे विपरीत धर्म हैं, तो क्या जीवमें ईश्वरके समान धर्म नहीं हैं ? नहीं है, ऐ नहीं, क्योंकि समान धर्म विद्यमान होता हुआ भी अविद्याके व्यवधानसे वह तिरोहित है । परन्तु व तिरोहित होता हुआ भी परमेश्वरका ध्यान करनेवाले यत्नशील विनष्ट अज्ञान निष्पाप किसी एक वि पुरुषमें ईश्वरके प्रसादसे वह पुनः आविर्भूत होता है, जैसे ओषधके बलसे किसी एक प्राणी रतौंधीसे तिरस्कृत दृक्शक्ति आविर्भूत होती है । स्वभावसे सभी प्राणियोंको ज्ञान ऐश्वर्य शक्ति आवि

सत्यानन्दी दीपिका

आदिका अभाव और रथ आदि सृष्टि परस्पर विरुद्ध हैं, अतः रथ आदि अभाव वचन मुख्य है और रथ आदि सृष्टि वचन गौण है ॥ ४ ॥

र्य, तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः । तथा च श्रुतिः—'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः न्मृत्युप्रहाणिः । तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आत्मकामः' (श्वे० १।११) न्यथा ॥५॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥६॥

पदच्छेद—देहयोगात्, वा, सः, अपि ।

सूत्रार्थ—(सोऽपि) जीवके ऐश्वर्यका वह तिरोभाव भी (देहयोगात्) देह आदिके योगसे है । (वा) शब्द शङ्का निवृत्त्यर्थ है ।

कस्मात्पुनर्जीवः परमात्मांश एव संस्तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति ? युक्तं तु ज्ञानैश्वर्यतिरस्कृतत्वं विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति—उच्यते—सत्यमेवैतत्, सोऽपि तु त्व ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद्देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद्भवति । अस्ति पमा यथाऽग्नेर्दहनप्रकाशनसंपन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा भस्मच्छन्नस्य । एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगात्तदविवेकभ्रमकृतो स्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः । वाशब्दो जीवेश्वरयोरन्यत्वाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । नन्वन्य एव ईश्वरादस्तु, तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात्, किं देहयोगकल्पनया ? नेत्युच्यते, नह्यन्यत्वं स्येश्वरादुपपद्यते, 'सेयं देवतैक्षत' (छा० ६।३।२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य'

हीं होती । किससे ? 'ततो हि' ईश्वररूप हेतुसे, अस्य—जीवके बन्ध और मोक्ष होते हैं । ईश्वर का परिज्ञान न होनेसे बन्ध और उसके स्वरूप परिज्ञानसे मोक्ष होता है । क्योंकि 'ज्ञात्वा देवं० मैं हूँ' इसप्रकार परमात्माका ज्ञान होनेपर अविद्या आदि सम्पूर्ण क्लेशोंका नाश हो जाता है क्लेशोंका क्षय हो जानेपर जन्म. मृत्युकी निवृत्ति हो जाती है । तथा उसका ध्यान करनेसे शरीर के अनन्तर [विराट और हिरण्यगर्भकी अपेक्षा] कारण ब्रह्मरूप सर्वैश्वर्यमयी तृतीय अवस्थाकी होती है और फिर आप्तकाम होकर कैवल्य पदको प्राप्त हो जाता है) इत्यादि श्रुति है ॥ ५ ॥

परमात्माका अंश होता हुआ भी जीव तिरस्कृत ज्ञानैश्वर्यवान् पुनः क्यों होता है ? प्रत्युत जैसे लिङ्गके दहन और प्रकाशन अतिरस्कृत हैं, वैसे ईश्वरांश जीवके ज्ञान और ऐश्वर्य अतिरस्कृत चाहिएँ । कहते हैं—यह सत्य है, किन्तु जीवका 'सोऽपि' ज्ञानैश्वर्य तिरोभाव भी, देहयोगात्-इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और वेदना आदिके योगसे होता है । यहाँ दृष्टान्त भी है--जैसे दहन प्रकाश सम्पन्न होते हुए भी अरणि गत अग्निके दहन और प्रकाशन तिरोहित होते हैं, अथवा प्रकार भस्मसे आच्छादित अग्निके दहन और प्रकाशन तिरोहित होते हैं, उसी प्रकार अविद्यासे स्थापित (खड़े किए हुए) नाम और रूपसे होनेवाली देह आदि उपाधिके साथ सम्बन्ध से जीवके उपाधिके अविवेक भ्रमसे होनेवाले ज्ञान और ऐश्वर्य तिरोहित होते हैं ! 'वा' शब्द में ईश्वरसे अन्यत्व शङ्का व्यावृत्तिके लिए है । परन्तु जीव ईश्वरसे अन्य ही है, क्योंकि उसके ज्ञान ऐश्वर्य तिरस्कृत हैं, देह योग कल्पनासे क्या प्रयोजन ? नहीं, ऐसा कहते हैं—जीवमें ईश्वरसे त्व उपपन्न नहीं होता, क्योंकि 'सेयं देवतैक्षत' (उस देवताने ईक्षण किया) इस प्रकार आरम्भ

सत्यानन्दी दीपिका

• यदि स्वप्नमें प्रतीयमान प्रकाश सत्य हो, तो जाग्रत्के समान आत्माका स्वप्रकाशत्व स्पष्ट नहीं होगा । स्वप्नको प्रातिभासिक माननेपर तो उसमें सूर्य आदि वाह्य प्रकाश और इन्द्रिय के न होनेसे भी जो स्वप्न पदार्थोंका अवभास होता है वह स्वयं ज्योतिः स्वरूप आत्मासे होता है । न्रथयोगान्सृजते' यह साम्यवचन स्वप्नमें सत्यत्वके अभिप्रायसे नहीं है, क्योंकि उसी श्रुतिमें

(छा० ६।३।२) इत्यात्मशब्देन जीवस्य परामर्शात्। 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।४) इति च जीवायोपदिशतीश्वरात्मत्वम्। अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः सन् देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति। अतश्च न सांकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते। ॐ यदि च सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्टं कश्चित्स्वप्नं पश्येत्। नहि कश्चिदनिष्टं संकल्पयते। यत्पुनरुक्तं जागरितदेशश्रुतिः स्वप्नस्य सत्यत्वं स्थापयतीति न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं, स्वयंज्योतिष्ट्वविरोधात्, श्रुत्यैव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात्। जागरितप्रभववासनानिर्मितत्वात्तु स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥६॥

(२ तदभावाधिकरणम्। सू० ७-८)

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

पदच्छेद—तदभावः, नाडीषु, तच्छ्रुतेः, आत्मनि, च।

सूत्रार्थ—(तदभावः) प्रकृत स्वप्नका अभावरूप सुषुप्ति (नाडीषु) नाड़ियोंमें प्रवेशके द्वारा (आत्मनि) आत्मामें होती है, (तच्छ्रुतेः) क्योंकि तत् तत् श्रुतियोंमें ऐसा ही कहा गया है।

ॐ स्वप्नावस्था परीक्षिता, सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते। तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयो भवन्ति। क्वचिच्छ्रूयते—'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु

कर 'अनेन जीवेना० (इस देवताने इस जीवात्मरूपसे ही उन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम, रूपका व्याकरण किया) इस प्रकार आत्मशब्दसे जीवका परामर्श है। 'तत्सत्यम्' (वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! वह तू है) यह श्रुति जीवको ईश्वरात्मत्व उपदेश करती है। अतः जीव ईश्वरसे अनन्य होता हुआ ही देह सम्बन्धसे तिरोहित ज्ञानैश्वर्यवान् होता है। इससे जीवकी स्वप्नमें संकल्पसे जन्य रथ आदि सृष्टि नहीं घटती है। और यदि स्वप्नमें संकल्प जन्य रथ आदि सृष्टि हो, तो कोई भी अनिष्ट स्वप्न नहीं देखे, क्योंकि कोई भी अनिष्ट संकल्प नहीं करता। और जो यह कहा गया है कि जागरित देश श्रुति स्वप्नमें सत्यत्वका कथन करती है, किन्तु वह साम्य वचन स्वप्नमें सत्यत्वके अभिप्रायसे नहीं है, क्योंकि आत्मामें स्वयं ज्योतिष्ट्वसे विरोध होता है। और श्रुतिसे ही स्वप्नमें रथ आदिका अभाव दिखलाया गया है। जाग्रत्में उत्पन्न हुई वासनासे निर्मित होनेके कारण स्वप्नका जाग्रत्के समान अवभास होता है, इस अभिप्रायसे वह साम्य वचन है। इसलिए स्वप्नमें मायामात्रत्व युक्त है ॥ ६ ॥

स्वप्नावस्थाकी परीक्षा हो चुकी, अब सुषुप्ति अवस्थाकी परीक्षाकी जाती है। यहां सुषुप्ति विषयक ये श्रुतियाँ हैं। कहीं 'तद्यत्रैतत्सुप्तः० (जिस समय समस्त करणवृत्तिका उपसंहार कर बोध सोता है उस समयमें [बाह्य विषय संपर्क जनित कालुष्य रहित होनेसे] सम्प्रसन्न होता हुआ स्वप्न-

सत्यानन्दी दीपिका

'न तत्र रथा० इस प्रकार रथ आदिका अभाव भी कहा गया है। यह जो जाग्रत् और स्वप्नका साम्य वचन श्रुतिमें है, उसका यह अभिप्राय है कि जाग्रत् अवस्थाके पदार्थोंके जैसे स्वप्नमें पदार्थ भान होते हैं। परन्तु वे सत्य नहीं है, अतः स्वप्न मायामात्र है ॥ ६ ॥

* जीवात्मा स्वयं ज्योतिःस्वरूप है, इस निर्णयके लिए स्वप्नावस्थाका निरूपण किया गया। 'वह ब्रह्म है' अब इसके लिए सुषुप्ति अवस्थाका प्रतियोगि-अनुयोगिभाव संगतिसे विचार किया जाता है। 'तद्यत्रैतत्सुप्तः' इस श्रुतिमें सुषुप्तिका स्थान नाड़ी प्रतिपादित है, और 'ताभिः प्रत्यवसृप्य' इस श्रुतिमें सुषुप्तिका स्थान नाड़ी और पुरीतत् कहा गया है, इसप्रकार 'तासु तदा भवति' इसमें पुरीतत्

भवति' (छा० ८।६।३) इति । अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—'ताभिः प्रत्यवसृप्य शेते' (बृ० २।१।१९) इति । तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति । तथान्यत्र—'य ऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २।१।१७) इति । तथान्यत्र 'सता सोम्य तदा संपन्नो स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति । 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद (बृ० ४।३।२१) इति च । तत्र संशयः—किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि सुषुप्तिस्थानान्याहोस्वित्परस्परापेक्षयैकं सुषुप्तिस्थानमिति । किं तावत्प्राप्तम् ? नानीति, कुतः ? एकार्थत्वात् । नह्येकार्थानां क्वचित्परस्परापेक्षत्वं दृश्यते व्रीहियवादीनां नाड्यादीनां त्वेकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) 'पुरीतति (बृ० २।१।१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्यत्वात् । ननु नैवं सति सप्तमी दृश्यते—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, नैषः दोषः, तत्रापि र्थस्य गम्यमानत्वात् । वाक्यशेषो हि तत्रायतनैषी जीवः सदुपसर्पतीत्याह—'अन्यत्रा लब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते' (छा० ६।८।२) इति । प्राणशब्देन तत्र प्रकृतस्य सत उपादा-

जानता, क्योंकि उस समय यह इन नाडियोंमें प्रविष्ट होता है) ऐसी श्रुति है । अन्यत्र तो प्रत्यवसृप्य० (उन नाड़ियों द्वारा पुरीतत्में बुद्धिके साथ जाकर वह शरीरमें व्याप्त होकर रता है) इसप्रकार नाड़ीका अनुक्रमणकर सुना जाता है । इसप्रकार अन्यत्र नाड़ीका अनु- 'तासु तदा भवति० (उन नाड़ियोंमें तब होता है जब कि कोई स्वप्न नहीं देखता, अनन्तर प्राणमें ही एक होता है) ऐसी श्रुति है । इसीप्रकार अन्यत्र 'य एषो० (जो यह हृदयमें है उसमें सोता है) ऐसी श्रुति है । इसीप्रकार अन्यत्र 'सता सोम्य० (उस समय हे सोम्य ! सम्पन्न हो जाता है यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है) ऐसी श्रुति है । तथा 'प्राज्ञे- (इसीप्रकार यह पुरुष प्राज्ञात्मासे आलिङ्गित होनेपर न कुछ बाहरका विषय जानता है भीतरका) ऐसी श्रुति है । उसमें संशय होता है—क्या ये नाड़ी आदि परस्पर निरपेक्ष होकर भिन्न सुषुप्ति स्थान हैं अथवा परस्पर अपेक्षासे एक सुषुप्ति स्थान है, तब क्या प्राप्त होता है ? -भिन्न स्थान हैं, किससे ? इससे कि एकार्थत्व है । एकार्थक व्रीहि, यव आदिका कहीं परस्पर नहीं देखा जाता । नाड़ी आदिकी एकार्थता तो सुषुप्तिमें देखी जाती है—'नाडीषु सृप्तो 'पुरीतति शेते' इसप्रकार तत् तत् श्रुतिमें सप्तमीका निर्देश तुल्य है । परन्तु 'सता सोम्य०' समय, हे सोम्य ! यह सत्से सम्पन्न हो जाता है) यहां 'सत्में' ऐसा सप्तमीका निर्देश नहीं ता । यह दोष नहीं है, क्योंकि वहांपर भी सप्तमी अर्थ गम्यमान है । उसमें 'आयतना- जीव सत्में प्रविष्ट होता है' इसप्रकार वाक्यशेष भी कहता है । क्योंकि 'अन्यत्र० (अन्यत्र प्राप्तकर प्राणका ही आश्रय लेता है) इसप्रकार वहां प्राण शब्दसे प्रकृत सत्का ग्रहण है

सत्यानन्दी दीपिका

परमात्मा जीवके सुषुप्ति स्थान प्रतिपादित हैं, और 'य एषोऽन्तर्हृदयः' 'सता सोम्य' 'प्राज्ञे-' इत्यादि श्रुतियोंमें केवल परमात्मा सुषुप्ति स्थान कहा गया है । इसप्रकार नाड़ी, पुरीतत् परमात्मा इन तीनोंमें सप्तमी विभक्ति समान है, अतः संशय होता है कि क्या ये तीनों परस्पर- रहित भिन्न भिन्न सुषुप्तिके स्थान हैं अथवा परस्परकी अपेक्षा एक सुषुप्ति स्थान है ? पूर्वपक्षमें जीवके सुषुप्तिस्थानका विकल्प होनेसे ब्रह्मैक्यका अनिर्णय फल है और सिद्धांतमें नाड़ी पुरीतत्में जाकर हृदयके भीतर ब्रह्ममें ही शयन करता है, इसप्रकार ब्रह्मैक्य निर्णय फल है ।

नात्। आयतनं च सप्तम्यर्थः। सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—'सति संपद्य
विदुः सति संपद्यामहे' (छा० ६।६।२) इति। सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं
विशिष्यते। तस्मादेकार्थत्वान्नाड्यादीनां विकल्पेन कदाचित्किंचित्स्थानं स्वापायोपसर्पतीति
* एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति। तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्न-
दर्शनस्याभावः सुषुप्तमित्यर्थः। नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाड्यादीनि स्वापायोप-
सर्पति न विकल्पेनेत्यर्थः। कुतः ? तच्छ्रुतेः। तथा हि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र
सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते, तच्च समुच्चये संगृहीतं भवति। विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात्
नन्वेकार्थत्वाद्विकल्पो नाड्यादीनां व्रीहियवादिवदित्युक्तम्, नेत्युच्यते, नह्येकविभक्तिनिर्देश-
मात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापतति। नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात्प्रासादे
शेते पर्यङ्के शेत इत्येवमादिषु। तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते
समुच्चयः। तथा च श्रुतिः—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण
एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१६) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य सुषुप्तौ श्रावयत्येकवाक्यो-
पादानात्। प्राणस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८) इत्यत्र

और सप्तमीका अर्थ आयतन है। और 'सति संपद्य० (सत्को प्राप्त होकर यह नहीं जानती
सत्को प्राप्त हो गए) इस तरह वहां सप्तमी निर्देश भी वाक्यशेषमें देखा जाता है। विशेष विज्ञान
उपरमरूप सुषुप्त सर्वत्र समान है। इसलिए नाड़ी आदि एकार्थक होनेसे जीव विकल्पसे कभी किसी
स्थानमें शयनके लिए प्रवेश करता है। ऐसा प्राप्त होनेपर प्रतिपादन किया जाता है—'तदभावो
नाडीष्वात्मनि चेति' तदभाव-उस प्रकृत स्वप्न दर्शनका अभाव सुषुप्ति है, ऐसा अर्थ है। नाड़ी और
आत्मामें—इन नाड़ी आदिमें समुच्चयसे जीव शयनके लिए प्रवेश करता है विकल्पसे नहीं, यह अर्थ
है। किससे ? उसकी श्रुति होनेसे। जैसे कि सभी नाड़ी आदिका तत् तत् श्रुतियोंमें सुषुप्ति-स्थानत्व
श्रवण होता है। वह समुच्चय होनेपर संग्रहीत होता है, विकल्प होनेपर इनका पक्षमें बाध होगा
परन्तु ऐसा कहा गया है कि एकार्थक होनेसे व्रीहि, यव आदिके समान नाड़ी आदिका विकल्प है
नहीं, ऐसा कहा जाता है—एक-समान विभक्तिके निर्देश मात्रसे एकार्थत्व और विकल्पका प्रसंग
नहीं होता, क्योंकि नानार्थत्व और समुच्चयमें भी एक विभक्तिका निर्देश 'प्रासादमें सोता है पलंगपर
शयन करता है' इत्यादिमें दर्शन होता है, इसीप्रकार यहां भी नाड़ियोंमें पुरीतत्में और ब्रह्ममें सोता
है, इसप्रकार समुच्च उपपन्न होता है। और 'तासु तदा० (उन नाड़ियोंमें जीव तब होता है जब
सोया हुआ किसी स्वप्नको नहीं देखता, अनन्तर इस प्राणमें एक रूप होता है) इसप्रकार यह श्रुति
नाड़ियों और प्राणका सुषुप्तिमें समुच्च श्रवण कराती है, क्योंकि एक वाक्यसे ग्रहण है, और 'प्राण

सत्यानन्दी दीपिका

* सिद्धान्ती—समुच्चयसे ही एक सुषुप्ति स्थान है। यदि विकल्प मानें तो जिस समय
नाड़ियोंमें सुषुप्ति स्थान होगा उस समय पुरीतत् आदि सुषुप्ति स्थान नहीं होंगे, ऐसी परिस्थितिमें
पुरीतत् आदिको सुषुप्ति स्थानत्व प्रतिपादक श्रुतिका बाध होगा। और जैसे 'महलमें सोता है, पलङ्ग
पर सोता है' यहाँ महलका प्रयोजन पलङ्गका धारण है, और पलङ्गका प्रयोजन शयन है। इसप्रकार
प्रयोजन भिन्न-भिन्न होनेपर भी दोनोंमें सप्तमी विभक्ति है। और साक्षात् अथवा परम्परासे शयनके
साधन होनेसे दोनोंमें समुच्चय भी है, वैसे यहाँ भी पुरीतत् आदि नाड़ी द्वारा जीवका संचार होनेसे
ब्रह्ममें ही शयन है और 'तासु तदा भवति' इस एक श्रुतिवाक्यसे प्राण और नाड़ियोंका ग्रहण भी है
इससे भी इनका समुच्चय है। यहाँ सप्तमीका अर्थ आधार है निरपेक्ष नहीं है, इसलिए समुच्चयको
सप्तमी श्रुतिसे बाध नहीं है।

निरपेक्षा इव नाडीः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा०
३) इति, तत्रापि प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्य ब्रह्मणोऽप्रतिषेधान्नाडीद्वारेणैव ब्रह्मण्येवावतिष्ठत
यते । न चैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते, नाडीद्वारापि ब्रह्मोपसर्पन्सृप्त एव नाडीषु
यो हि गङ्गया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति । अपि चात्र रश्मिना-
त्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वान्नाडीस्तुत्यर्थं सृप्तिसंकीर्तनम् । 'नाडीषु सृप्तो
(छा० ८।६।३) इत्युक्त्वा 'तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (छा० ८।६।३) इति ब्रुवन्नाडीः
ति, ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—'तेजसा हि तदा संपन्नो भवति' (छा० ८।६।३)
। तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान्विषयानीक्षत इत्यर्थः ।
वा—तेजसेति ब्रह्मण एवायं निर्देशः, श्रुत्यन्तरे—'ब्रह्मैव तेज एव' (बृ० ४।४।७) इति
शब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात् । ब्रह्मणा हि तदा संपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन
स्पृशतीत्यर्थः । ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः—सर्वे पाप्मानोऽतो निव-
हतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' (छा० ८।४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवं च सति प्रदेशान्तर-
द्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनानुगतो नाडीनां समुच्चयः समधिगतो भवति । तथा पुरीत-
ति ब्रह्मप्रक्रियायां संकीर्तनात्तदनुगुणमेव सुषुप्तिस्थानत्वं विज्ञायते—'य एषोऽन्तर्हृदय
आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २।१।१७) इति हृदयाकाशे सुषुप्तिस्थाने प्रकृत इदमुच्यते 'पुरीतति
(बृ० २।१।१९) इति । पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते । तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे

मात्' इस सूत्रमें प्राणमें ब्रह्मत्वका निश्चय किया गया है । 'आसु तदा० (उस समय इन
में प्रविष्ट होता है) ऐसी श्रुति जहां अन्यकी अपेक्षासे रहित-सी नाड़ियोंमें सुषुप्तिस्थानत्व
कराती है, वहां भी अन्य श्रुतियोंमें प्रसिद्ध ब्रह्मका प्रतिषेध न होनेसे नाड़ी द्वारा ब्रह्ममें ही जीव
होता है ऐसा प्रतीत होता है, ऐसा होनेपर भी नाड़ियांमें सप्तमी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि
द्वारा भी ब्रह्ममें प्रवेश करता हुआ जीव नाड़ियोंमें ही प्रविष्ट होता है । जो गङ्गा द्वारा सागरमें
है वह गङ्गामें गया हुआ होता है ।

और यहांपर रश्मि-नाड़ी द्वारात्मक ब्रह्मलोकका मार्ग विवक्षित होनेसे नाड़ीकी स्तुतिके लिए
कथन है—'नाडीषु सृप्तो भवति' (नाड़ियोंमें प्रविष्ट होता है) ऐसा कहकर 'तं न कश्चन० (उस
कोई पाप स्पर्श नहीं करता) इसप्रकार कहती हुई श्रुति नाड़ीकी प्रशंसा करती है । और 'तेजसा
(और तेजसे व्याप्त हो जाता है) इसप्रकार श्रुति पाप स्पर्शके अभावमें हेतु कहती है । नाड़ी-
त नामक तेजसे अभिव्याप्त इन्द्रियवाला वह बाह्य विषयोंको नहीं देखता ऐसा अर्थ है । अथवा
' (तेजसे) यह ब्रह्मका ही निर्देश है, क्योंकि अन्य श्रुतिमें 'ब्रह्मैव तेज एव' (ब्रह्म ही है—तेज
) इसप्रकार तेज शब्द ब्रह्ममें प्रयुक्त है, तब जीव नाड़ी द्वारा ब्रह्मके साथ सम्पन्न होता है
इससे कोई पाप स्पर्श नहीं करता' ऐसा अर्थ है । और 'सर्वे पाप्मानो० (सम्पूर्ण पाप इससे
हो जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पाप शून्य है) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मसंपत्ति पापस्पर्शके
में हेतु समधिगत है । ऐसा होनेपर अन्य श्रुतियोंमें सुषुप्ति स्थानरूपसे प्रसिद्ध ब्रह्मके साथ
नाड़ी आदिका समुच्चय समधिगत-ज्ञात होता है । इसप्रकार पुरीवत्‌का भी ब्रह्मके प्रक-
संकीर्तन होनेसे ब्रह्मके अनुगुण ही सुषुप्ति स्थानरूपसे ज्ञात होता है—'य एषोऽन्तर्हृदय:०
जो हृदयके भीतर आकाश है उसमें शयन करता है) इसप्रकार सुषुप्ति स्थानरूपसे प्रकृत हृदय
के विषयमें 'पुरीतति शेते' (पुरीतत्‌में शयन करता है) ऐसा कहा जाता है । हृदयके परि-
को 'पुरीतत्' कहा जाता है, उसके अन्तवर्तीभी हृदय आकाशमें शयन करता हुआ पुरीतत्‌में

शयानः शक्यते पुरीतति शेत इति वक्तुम्। प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्त इत्युच्यते। हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र तथा नाडीपुरीतत्समुच्चयोऽपि—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते। सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम्। एवमेतासु श्रुतिषु त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि संकीर्तितानि—नाड्यः पुरीतद्ब्रह्म चेति। तत्रापि द्वारमात्रं नाड्यः पुरीतच्च, ब्रह्म त्वेकमनपायि सुषुप्तिस्थानम्। अपि च नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति तत्रास्य करणानि वर्तन्त इति। न ह्युपाधिसंबन्धमन्तरेण स्वत एत जीवस्याधारः कश्चित्सं भवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात्। ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते, कथं तर्हि? तादात्म्याभिप्रायेण। यत आह—सता सोम्य तदा संप भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति। स्वशब्देनात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुप्तो भवतीत्यर्थः। अपि च न कदाचिज्जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति, स्वरूपस्यानपायित्वात् स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसंपर्कवशात्पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात्सुषुप्तेः स्वरूपापत्तिर्विवक्ष्यते। अतश्च सुप्तावस्थायां कदाचित्सता संपद्यते कदाचिन्न संपद्यत इत्ययुक्तम्। अपि च स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत्सुषुप्तं न क्वचिद्विशिष्यते। त सति संपन्नस्तावत्तदेकत्वान्न विजानातीति युक्तम्, 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० २।४।१४ इति श्रुतेः। नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किंचिदविज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुं, भेद विषयत्वात्, 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।३१) इति श्रुतेः। नन्

शयन कहता है ऐसा कहा जा सकता है। कोटसे घिरे हुए नगरमें रहता हुआ कोटमें रहता है ऐसा कहा जाता है, और 'दहर उत्तरेभ्यः' इसमें हृदयाकाशको ब्रह्मत्व निश्चित किया गया है। तथा 'ताभिः प्रत्यवसृप्य' (नाड़ियों द्वारा प्रवेशकर पुरीतत्में सोता है) इस श्रुतिसे नाड़ी और पुरीतत्का समुच्चय भी एक वाक्यके उपादानसे अवगत होता है। सत् और प्राज्ञ ब्रह्म है यह प्रसिद्ध है। इसप्रकार इ श्रुतियोंमें नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्म ये तीन ही सुषुप्ति स्थान कहे गये हैं। उनमें भी नाड़ी और पुरीतत् द्वारमात्र हैं, एक अविनाशी ब्रह्म ही सुषुप्तिका स्थान है। और नाड़ियाँ अथवा पुरीतत् जीवके उपाधिका आधार ही है, क्योंकि उनमें इसके करण रहते हैं। उपाधि सम्बन्धके बिना जीवका स्व ही कोई आधार नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ब्रह्मसे अभिन्न होनेसे स्वमहिमामें प्रतिष्ठित है, इस जीवका सुषुप्तिमें ब्रह्माधारत्व भी आधार और आधेयके भेदके अभिप्रायसे नहीं कहा जाता, किन्तु तादात्म्यके अभिप्राय से। क्योंकि 'सता सोम्य० (उससमय हे सोम्य! यह सत्के साथ सम्प हो जाता है—यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है) यह श्रुति ऐसा कहती है। स्वशब्दसे आत्मा कहा जाता है सोया हुआ अपने स्वरूपको प्राप्त होता है। यह अर्थ है। और कदाचित् भी जीवकी ब्रह्मके साथ संपत्ति न हो ऐसा नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप अविनाशी है स्वप्न और जाग्रत्में तो उपाधिके संपर्कवश भिन्न रूपताकी प्राप्ति-सी होती है, उसकी अपेक्षा करके सुषुप्तिमें उसके उपशम होनेसे स्वरूपकी प्राप्ति 'स्वमपीतो भवति' (यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जात है) इस प्रकार विवक्षित है। और इससे सुषुप्ति अवस्थामें कभी सत्से सम्पन्न होता है और कभी सम्पन्न नहीं होता, यह कथन युक्त नहीं है। यदि स्थान विकल्प स्वीकार भी किया जाय तो भी विशेष विज्ञानका अभाव रूप सुषुप्तका कहीं भेद नहीं है। सुषुप्तिमें सत्के साथ सम्पन्न होनेसे और उसके साथ एकत्व होनेसे नहीं जानता है, यह युक्त है, क्योंकि 'तत्केन कं विजानीयात्० (और वहाँ किसके द्वारा किसे जाने) ऐसी श्रुति है। नाड़ियों और पुरीतत्में शयन करनेवाले जीवके अज्ञानमें किसी कारणको नहीं जाना जा सकता, कारण कि 'यत्र वाऽन्यदस्ति० (जहाँ-जाग्रत वा स्वप्नावस्थामें आत्माके

यस्याप्यतिदूरादिकारणमविज्ञाने स्यात्। बाढम्, एवं स्याद्यदि जीवः स्वतःपरि- ऽभ्युपगम्येत—यथा विष्णुमित्रः प्रवासी स्वगृहं न पश्यति। ननु जीवस्योपाधिव्य- परिच्छेदो विद्यते। उपाधिगतमेवातिदूरादिकारणमविज्ञान इति यद्युच्येत, तथा- पशान्तत्वात्सत्येव संपन्नो न विजानातीति युक्तम्। ❀ नच वयमिह तुल्यवन्नाड्या- च्चयं प्रतिपादयामः। नहि नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतद्वेत्यनेन विज्ञानेन किंचित्प्रयोज- । नह्येतद्विज्ञानप्रतिबद्धं किंचित्फलं श्रूयते। नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्गमुप- , ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत्प्रतिपादयामः। तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति ब्रह्मात्मत्वावधारणं स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्तत्वावधारणं च। तस्मादात्मैव स्थानम् ॥७॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥८॥

पदच्छेद—अतः, प्रबोधः, अस्मात्।

सूत्रार्थ—परमात्मा ही सुषुप्ति स्थान है, (अतः) अतएव (अस्मात्) परमात्मासे जीवका) उत्थान स्वाप प्रकरणमें 'सत आगम्य' इत्यादि श्रुतियोंसे उपदिष्ट है।

❀ यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः धिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे ग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २।१।२०) इत्यादिना। आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६।१०।२) इति च। विकल्प्यमानेषु तु सुषुप्ति-

---

अन्य-सा होता है वहाँ अन्य-अन्यको देखता है) यह श्रुति भेद विषयक है। परंतु भेद विषयके भी अति दूर आदि कारण होना चाहिए। ठीक ऐसा हो, यदि जीव स्वतः परिच्छिन्न किया जाय। जैसे प्रवासी विष्णुमित्र अपने घरको नहीं देखता। परन्तु जीवका उपाधिके परिच्छेद नहीं है। यदि कहो कि उपाधिगत अति दूर आदि अज्ञानमें कारण है, तो भी उपाधि होनेसे सत्में ही सम्पन्न होता हुआ नहीं जानता यह युक्त है, और यहाँ हम ब्रह्मके समान आदि समुच्चयका पतिपादन नहीं करते, क्योंकि नाड़ियाँ और पुरीतत् सुषुप्तिवस्थान हैं इस से कोई प्रयोजन नहीं है, और इस विज्ञानसे प्रतिबद्ध कोई फल भी नहीं सुना जाता, और यह किसी फलवाले [अङ्गी] का अङ्ग रूपसे भी उपदिष्ट नहीं है। अविनाशी ब्रह्म तो सुषुप्ति है यह प्रतिपादन करते हैं। इस विज्ञानसे तो जीवका ब्रह्मात्मत्व निश्चय और स्वप्न-जागरित रसे विमुक्तत्व निश्चय प्रयोजन है। इसलिए आत्मा ही सुषुप्तिका स्थान है ॥ ७ ॥

क्योंकि परमात्मा ही सुषुप्ति स्थान है, इसी कारणसे स्वाप प्रकरणमें 'कुत एतदागात्'० (यह आया) इस प्रश्नके प्रतिवचन (उत्तर) के अवसरमें 'यथाऽग्नेः०' (जैसे अग्निसे अनेकों क्षुद्र रियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मासे समस्त प्राण) इत्यादि श्रुतिसे इस आत्मासे नित्य- सा जीवके प्रबोधका उपदेश किया जाता है। और 'सत आगम्य० (ये सम्पूर्ण प्रजाएँ सत्से

सत्यानन्दी दीपिका

* हम नाड़ी आदिका ब्रह्मके साथ समुच्चय नहीं मानते, किन्तु गुण प्रधानभाव मानते हैं ब्रह्म मुख्य सुषुप्ति स्थान है और नाड़ी आदि द्वार होनेसे गौण हैं, इस प्रकार सुषुप्ति स्थानके निराकरण कर अब 'न हि नाड्य' इत्यादिसे उसके फल आदिका भी खण्डन करते हैं ।७।

* 'सत आगम्य' इत्यादि श्रुतिसे जीवका ब्रह्मसे ही उत्थान कहा गया है, कहीं भी नाड़ी आदिमें

स्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित्पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत्। तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥८॥

(३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् । सू० ९)

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥९॥

पदच्छेद—स, एव, तु, कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।

सूत्रार्थ—(स एव तु) जो जीव सोता है वही उठता है, (कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः) क्योंकि अवशेष कर्म, आत्माकी अनुस्मृति, शब्द और विधिसे ऐसा ही ज्ञात होता है ।

* तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्संपन्नः स एव प्रतिबुध्यत उत स वाऽन्यो वेति चिन्त्यते । तत्र प्राप्तं तावत्—अनियम इति । कुतः ? यदा हि जलराशौ कश्चिज्जलबिन्दुः प्रक्षिप्यते, जलराशिरेव स तदा भवति, पुनरुद्धरणे च स एव जलबिन्दुर्भवतीति दुःसंपादम् । तद्वत्सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः संप्रसीदतीति न स एव पुनरुत्थातुमर्हति। तस्मात्स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इत्येवं प्राप्त इदमाह–स एव तु जीवः सुप्तः स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति, नान्यः । कस्मात् ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि । कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात्तावत्स एवोत्थातुमर्हति, नान्यः । तथा हि—पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन्दृश्यते । न चान्येन सामिकृतस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात् । तस्मादेक एव पूर्वेद्युरपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति

आनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्से आई हैं) यह श्रुति भी है । सुषुप्ति स्थानोंके विकल्प होनेपर तो कभी नाड़ियोंसे, कभी पुरीतत्से और कभी परमात्मासे जीवका प्रबोध होता है, ऐसा उपदेश करती हैं । उससे भी परमात्मा ही सुषुप्ति स्थान है ॥ ८ ॥

उस सत्संपत्तिसे पुनः जागनेवाला कौन है, क्या जो सत्सम्पन्न हुआ है वही जाग्रत होता है अथवा उससे वह अन्य है ? ऐसा विचार किया जाता है । पूर्वपक्षी—उसमें अनियम है, ऐसा प्राप्त होता है । किससे ? इससे कि जब जलराशिमें कोई जलबिन्दु प्रक्षिप्त किया जाता है तब वह जलराशि ही हो जाता है, पुनः उद्धरण करनेपर वही जलबिन्दु है, ऐसा कहना कठिन है । उसीप्रकार सुप्त पुरुष परमात्माके साथ एकत्वको प्राप्त हुआ अत्यन्त प्रसन्न होता है, अतः वही पुनः उत्थानके लिए युक्त नहीं है । इसलिए वही ईश्वर अथवा अन्य जीव प्रतिबुद्ध होता है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—वहां जीव सुप्त-स्वास्थ्य (स्वरूप प्राप्ति) प्राप्तकर पुनः उठता है अन्य नहीं । क्योंकि कर्म, अनुस्मृति (प्रत्यभिज्ञा) शब्द और विधि है । विभागकर हेतुको दिखलाऊँगा। कर्मशेषके अनुष्ठान दर्शनसे वही जीव उठनेके लिए युक्त है, अन्य नहीं । जैसे कि पूर्व दिनमें अनुष्ठित कर्मके अवशिष्ट अंशको दूसरे दिन अनुष्ठित करता हुआ देखा जाता है । एकसे आधे किये गये कर्मकी शेषक्रियामें अन्य प्रवृत्त होनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि अतिप्रसङ्ग है । इसलिए एक ही पूर्व और अपर (दूसरे) दिन एक कर्मका कर्ता है, ऐसा ज्ञात होता है । इससे भी वही सुषुप्तिसे जीवके उत्थानकी अपादनता नहीं कही गई है । इससे भी ब्रह्म ही जीवका मुख्य सुषुप्ति स्थान है । सुषुप्तिमें जीवके उपाधिलयकी अपेक्षा ब्रह्मके साथ जीवका अभेद कहा जाता है, इससे भेद औपाधिक है ॥८॥

सत्यानन्दी दीपिका

* ब्रह्मसे जीवके उत्थानकी श्रुति होनेसे ब्रह्महो सुषुप्तिस्थान है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिसे अन्यका भी उत्थान संभव है, अतः नाड़ी आदि सुषुप्तिस्थान हो सकते हैं। इसप्रकार 'अनियम' आदिसे आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं । सिद्धान्ती—'तस्याः' आदिसे कहते हैं ।

ते । इतश्च स एवोत्तिष्ठति यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात्स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते । नह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति । सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरण-न्तरोत्थाने नावकल्पते । शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते । तथा हि—'पुनः प्रतिन्यायं योन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' (बृ० ४।३।१६) 'सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' ८।३।२) 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको भवन्ति तदाभवन्ति' (छा० ६।९।३) इत्येवमादयः शब्दाः स्वापप्रबोधाधिकारे पठिता न्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः । कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते । अन्यथा हि कर्मविधयोऽनर्थकाः स्युः । अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत । एवं चेत्स्यात्किं कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात्, अपि चान्योत्थानपक्षे यदि तावरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठेत् तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात् ? अथ तत्र सुप्त ष्ठेत् कल्पनानर्थक्यं स्यात् । यो हि यस्मिञ्शरीरे सुप्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरे ऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात् । अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष द्येत ! निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम् । एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्, नित्यनिविद्यत्वात् । अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे स्याताम् । तस्मात्स त्तिष्ठति नान्य इति । * यत्पुनरुक्तं—यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत

है. क्योंकि पूर्व दिनमें 'मैंने यह देखा था' इसप्रकार पूर्व अनुभूतका पश्चात् स्मरण अन्यके र उपपन्न नहीं होता, कारण कि अन्यसे दृष्ट पदार्थका अन्य अनुस्मरण करनेके लिए युक्त नहीं इसप्रकार 'सोहऽम्' (वह मैं हूँ) इसप्रकार अपना अनुस्मरण अन्य आत्माके उठनेपर संभव है। श्रुतियोंसे भी उसका ही उत्थान अवगत होता है, क्योंकि 'पुनः प्रतिन्यायं० (पुनः जिस र आया था और जहाँसे आया था वह प्रतियोनि जीव उस जागरित-स्थानको लौट जाता है) सर्वाः० (इसप्रकार यह सारी प्रजा प्रतिदिन जाती हुई उस ब्रह्मलोकको नहीं जानती) 'त इह ० (वे इसलोकमें व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस अथवा मच्छर जो-जो भी आदिसे पूर्व] हुए होते हैं वे ही पुनः हो जाते हैं) इत्यादि सुषुप्ति और जागरितके प्रकरणमें श्रुतियाँ अन्य आत्माके उत्थानमें संगत नहीं होंगी । कर्मविधि और विद्याविधिसे भी ऐसा ही होता है, अन्यथा कर्मविधि और विद्याविधि अनर्थक हो जायँगी । अन्यके उत्थान पक्षमें हुए सभी मुक्त हो जायँगे, ऐसा प्रसक्त होगा । यदि ऐसा हो तो इसका उत्तर दो कि कालान्तरमें देनेवाले कर्म और विद्यासे क्या प्रयोजन होगा ? और अन्य उत्थान पक्षमें-यदि अन्य शरीरमें र करनेवाला जीव [इस शरीरमें] उठे तो वहांपर होनेवाले व्यवहारका लोप हो जायगा । उसमें सोया हुआ उठे तो कल्पना व्यर्थ होगी, क्योंकि जो जिस शरीरमें सुप्त है वह उसमें उठता शरीरमें सुप्त अन्यशरीरमें उठता है, तो इस कल्पनामें लाभ क्या होगा ? यदि मुक्त जीव तो अनित्य मोक्ष प्रसक्त होगा, क्योंकि निवृत्त अविद्यावालेका पुनरुत्थान अनुपपन्न है । इससे उत्थानका निराकरण हुआ, क्योंकि वह नित्य निवृत्त अविद्यावाला है । अन्य उत्थानपक्षमें भ्यागम और कृतकर्मकी हानि दुर्निवार होगी, इसलिए वही उठता है अन्य नहीं । जो यह कहा है कि जैसे जलराशिमें प्रक्षित जलबिन्दु निकाला नहीं जा सकता, वैसे सत् (ब्रह्म) में सम्पन्न

सत्यानन्दी दीपिका

* अनादि अनिर्वचनीय अविद्या आदि उपाधि भेदसे कल्पित जीव वस्तुतः परमात्मासे भिन्न है, किन्तु उपाधिके उद्भव और अभिभवसे वह उद्भूत-सा और अभिभव-सा प्रतीत होता है।

एवं सति संपन्नो जीवो नोत्पतितुमर्हतीति, तत्परिह्रियते । युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलबिन्दोरनुद्धरणम्, इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम् । दृश्यते च दुर्विवेचयोरप्यस्मज्जातीयैः क्षीरोदकयोः संसृष्टयोर्हंसेन विवेचनम् । अपि च न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव जलराशेः सतो विविच्येत । सदेव तूपाधिसंपर्काज्जीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्रपञ्चितम् । एवं सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः । उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः । स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम् ॥९॥

(४ मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरणम् । सू० १०)

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥१०॥

पदच्छेद—मुग्धे, अर्धसंपत्तिः, परिशेषात् ।

सूत्रार्थ – (मुग्धे) मूर्च्छावस्थामें जीवकी (अर्धसंपत्तिः) अर्ध सुषुप्ति है, क्योंकि (परिशेषात्) परिशेषसे ऐसा ही ज्ञात होता है ।

* अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति । स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते । तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य प्रसिद्धाः—जागरितं, स्वप्नः, सुषुप्तमिति । चतुर्थी शरीरादपसृप्तिः, नतु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धास्ति । तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरित-

---

हुआ जीव उठ नहीं सकता, उसका परिहार किया जाता है—विवेक (भेद) कारणके अभावसे वहाँ जलबिन्दुका अनुद्धरण युक्त है, परन्तु यहाँ तो विवेकके कारण कर्म और अविद्या हैं, अतः वैषम्य है । यद्यपि संसृष्ट जल और क्षीरका विवेचन हम लोगोंसे दुष्कर है, तो भी उनका हंससे विवेचन देखा जाता है । किञ्च जीव कोई परमात्मासे अन्य नहीं है जो जलराशिमें जलबिन्दुके समान सत्से विविक्त-पृथक् किया जाय । सत् ब्रह्म ही तो उपाधिके सम्बन्धसे जीव है, ऐसा उपचार किया जाता है । यह वार-वार विस्तार रूपसे कहा गया है । ऐसा होनेपर जबतक एक उपाधिगत बन्धकी अनुवृत्ति है तबतक एक जीव व्यवहार होता है । बन्धकी अनुवृत्ति अन्य उपाधिगत होनेपर अन्य जीव व्यवहार होता है सुषुप्ति और जागरितमें वहाँ यह उपाधि बीजाङ्कुरन्यायसे है, इसलिए वही जीव प्रतिबुद्ध होता है, यह युक्त है ॥ ९ ॥

मुग्ध वह है जिसे लोग मूर्च्छित कहते हैं । उसकी अवस्था कौन-सी है ? इस परीक्षामें कहा जाता है—शरीरमें स्थित जीवकी तीन अवस्थाएँ तो प्रसिद्ध हैं—जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति । चतुर्थ अवस्था शरीरसे उत्क्रान्ति है । जीवकी कोई पाँचवीं अवस्था तो श्रुति-स्मृतिमें प्रसिद्ध नहीं है । इसलिए मूर्च्छा चार अवस्थाओंमें से ही एक अवस्था है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

इसलिए उसका सुषुप्तिमें उपाधिके लयसे लय और जाग्रत्में उपाधिके उद्भवसे उद्भव होता है । इस प्रकार उपाधिके उद्भवसे वही जीव उठता है । पूर्वपक्षमें तत्त्वज्ञान व्यर्थ है, क्योंकि सुषुप्तिसे जीवकी पुनरावृत्ति न होनेसे मुक्ति सिद्ध है, सिद्धान्तमें तो अज्ञात ब्रह्मरूपस्थितिका अज्ञानके बलसे पुनः उत्थान अवश्यंभावी है, अतः अज्ञानकी निवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान अपेक्षित है ॥ ९ ॥

* तीन अवस्थाओंसे आत्माका विवेचन कर, अब मूर्च्छासे उसका विवेचन करते हैं—मूर्च्छा प्रसिद्ध अवस्थाओंके अन्तर्गत है अथवा उनसे भिन्न पाँचवीं अवस्था है ? इस प्रकार संशय होता है । उत्थित पुरुषमें 'वही मैं हूँ' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञासे जैसे सुषुप्तिमें विशेष ज्ञानका अभाव है, वैसे

ो भवितुमर्हति । नह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते । स्यादेतत्—इषुकारन्यायेन मुग्धो भवि- । यथेषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान्विषयानीक्षत एवं मुग्धो मुसलसंपाता- नितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान्विषयानीक्षत इति—न, अचेतयमान- । इषुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीति--इषुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति । लब्धसंज्ञो ब्रवीति—अन्धे तमस्यहमेतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं, न किंचिन्मया तमिति । जाग्रतश्चैकविषयविषक्तचेतसोऽपि देहो विध्रियते । मुग्धस्य तु देहो ण्यां पतति । * तस्मान्न जागर्ति, नापि स्वप्नान्पश्यति, निःसंज्ञकत्वात् । नापि मृतः, ष्मणोर्भावात् । मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति संशयाना ऊष्मास्ति ति हृदयदेशमालभन्ते, निश्चयार्थं प्राणोऽस्ति नास्तीति च नासिकादेशम् । यदि प्राणो- ोरस्तित्वं नावगच्छन्ति, ततो मृतोऽयमित्यध्यवसाय दहनायारण्यं नयन्ति । अथ तु ूष्माणं वा प्रतिपद्यन्ते ततो नायं मृत इत्यध्यवसाय संज्ञालाभाय भिषज्यन्ति । पुनरु- ाच्च न दिष्टं गतः । नहि यमं गतो यमराष्ट्रात्प्रत्यागच्छति । अस्तु तर्हि सुषुप्तः, निःसंज्ञ- मृतत्वाच्च, न, वैलक्षण्यात् । मुग्धः कदाचिच्चिरमपि नोच्छ्वसिति, सवेपथुरस्य देहो

जागरित अवस्था वाला नहीं हो सकता, क्योंकि यह इन्द्रियोंसे विषयोंका ईक्षण नहीं करता ? मूर्च्छित इषुकार न्यायसे होगा, जैसे इषुकार (बाण बनानेवाला) जागता हुआ भी बाणमें मनवाला है, इससे अन्य विषयोंको नहीं देखता, वैसे मूसल प्रहार आदिसे उत्पन्न हुए दुःख से मनके व्यग्र होनेके कारण जागता हुआ भी [मुग्ध] अन्य विषयोंको नहीं देखता है, ऐसा है, क्योंकि वह अचेतयमान-चेतनारहित है । किन्तु इषुकार तो व्यापृत मना होकर कहता है—मैं काल पर्यन्त बाण को ही उपलब्ध करता हुआ था । मूर्च्छित तो चेतना प्राप्त कर कहता है कि समय तो मैं घोर अन्धकारमें पड़ा हुआ था मैंने कुछ भी नहीं जाना । एक विषयमें आसक्त वाले जागृत पुरुषका भी देह खड़ा रहता है, किन्तु मूर्च्छितका देह तो पृथ्वी पर गिर जाता है । लिए मुग्ध जागता नहीं और स्वप्नोंको भी नहीं देखता, क्योंकि वह चेतना रहित है मृतक भी नहीं क्योंकि उसमें प्राण और गर्मी विद्यमान हैं । मुग्ध प्राणीके विषयमें यह मर गया है अथवा नहीं इस प्रकार संशय करते हुए लोग इसमें गर्मी है कि नहीं, यह निश्चय करनेके लिए हृदय भागका करते हैं । प्राण है कि नहीं, इस निश्चयके लिए नासिका देशका स्पर्श करते हैं । यदि प्राण और का अस्तित्व अनुभव नहीं करते तो यह मर गया है, ऐसा निश्चयकर उसे जलानेके लिए जंगलमें ते हैं । यदि उसमें प्राण और गर्मी प्राप्त करते हैं, तो यह मृत नहीं है ऐसा निश्चय कर चेतना करनेके लिए चिकित्सा करते हैं । पुनः उत्थान होनेसे मुग्ध मृत नहीं है, क्योंकि यमको प्राप्त पुनः यमलोकसे लौटकर नहीं आता । तब मुग्ध सुषुप्त हो, क्योंकि वह चेतना रहित और अमृत नहीं) है । ऐसा नहीं, क्योंकि दोनोंमें वैलक्षण्य है । मुग्ध प्राणी कभी चिरकालतक उच्छ्वास लेता, उसका शरीर काँपता है, मुख भयानक और नेत्र विस्फारित होते हैं । किन्तु सुषुप्त तो प्रसन्न

सत्यानन्दी दीपिका

में भी है, इस समान लिङ्गसे मूर्छा सुषुप्ति ही है । सिद्धान्ती—प्रसिद्ध इन चार अवस्थाओंसे पृथक् अवस्था है । उनमेंसे प्रथम जागरितका 'न तवात्' इत्यादि भाष्यसे निवारण करते हैं । रमें इन्द्रिय जन्य ज्ञान और देह धारण आदि है, किन्तु मूर्च्छितमें दोनों नहीं है, इसलिए उसका उदाहरण विषम है ।

* जैसे सुषुप्तिमें विशेष ज्ञानका अभाव है, वैसे मूर्च्छामें भी है, इस प्रकारकी दोनोंमें समानता र भी लक्षणों और निमित्तोंके भेदसे इन दोनोंका परस्पर भेद है । इस तरह समानता और

भवति, भयानकं च वदनं, विस्फारिते नेत्रे। सुषुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकालं पुनः पुनरुच्छ्वसिति, निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः। न चास्य देहो वेपते। पाणिपेषणमात्रेण च सुप्तमुत्थापयन्ति, नतु मुग्धं मुद्गरघातेनापि। निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः, मुसलसंपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य। नच लोकेऽस्ति प्रसिद्धिर्मुग्धः सुप्त इति। परिशेषादर्धसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छामः। निःसंज्ञत्वात्संपन्न इतरस्माद्वैलक्षण्यादसंपन्न इति॥ कथं पुनरर्धसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते वक्तुम ? यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, 'अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' (बृ० ४।३।२२), 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्' (छा० ८।४।१) इत्यादि। * जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति। नच सुखित्वप्रत्ययो दुःखित्वप्रत्ययो वा सुषुप्ते विद्यते, मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते। तस्मादुपाध्युपशमात्सुषुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति, नार्धसंपत्तिरिति। अत्रोच्यते—न ब्रूमो मुग्धेऽर्धसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति। किं तर्हि ? अर्धेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः। दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये। द्वारं चैतन्मरणस्य। यदाऽस्य सावशेषं कर्म भवति, तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः। यदा तु निरवशेषं कर्म भवति, तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः। तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति। यत्तूक्तं—न पञ्चमी

वदन और समकालमें पुनः पुनः उच्छ्वास लेता है, उसके नेत्र निमीलित होते हैं, उसका शरीर काँपता नहीं है, हाथके स्पर्श मात्रसे उसे लोग उठाते हैं। परन्तु मुग्धको तो मुद्गरके प्रहारसे भी नहीं उठा सकते। मूर्च्छा और सुषुप्तिके कारण भी भिन्न-भिन्न होते हैं, क्योंकि मूर्च्छाका मूसल प्रहार आदि निमित्त है और सुषुप्तिका परिश्रम आदि निमित्त हैं। और लोकमें यह प्रसिद्ध नहीं है कि मुग्ध सुप्त है, इसलिए परिशेषसे मूर्च्छा अर्ध सुषुप्ति है, ऐसा हम समझते हैं। चेतना रहित होनेसे वह सम्पन्न है और सुप्तसे वैलक्षण्य होनेसे असम्पन्न है। परन्तु मूर्च्छा अर्ध सुषुप्ति है, यह कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि 'सता सोम्य० (हे सोम्य! उस समय सत्‌के साथ सम्पन्न होता है) 'अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' (यहाँ सुषुप्तिमें चोर अचोर होता है) और 'नैतं० (इस सेतुरूप आत्माका दिन-रात अतिक्रमण नहीं करते। इसे न जरा, न मृत्यु, न शोक और न सुकृत अथवा दुष्कृत ही प्राप्त हो सकते हैं) इत्यादि श्रुतिसे सुप्तके प्रति ऐसा कहा गया है। जीवमें सुखित्व और दुःखित्व प्रतीतिकी उत्पत्तिसे सुकृत और दुष्कृतकी प्राप्ति होती है, सुखित्व प्रत्यय अथवा दुःखित्व प्रत्यय सुषुप्तके विद्यमान नहीं हैं, इस प्रकार मुग्धमें भी वे दोनों प्रत्यय नहीं है। इसलिए सुषुप्तके समान मुग्धमें भी उपाधिके उपशम होनेसे सम्पूर्ण सुषुप्ति होनी चाहिए, अर्ध सुषुप्ति नहीं। इस पर कहते हैं—मूर्च्छामें जीवकी ब्रह्मके साथ अर्द्ध सम्पत्ति होती है, ऐसा हम नहीं कहते, किन्तु हम ऐसा कहते हैं कि मुग्धत्व अर्ध सुषुप्त पक्षमें और अर्ध अन्य अवस्था पक्षमें होता है। मूर्च्छाका सुषुप्तिसे साम्य और वैषम्य दिखलाया गया है। यह मरणका द्वार है। जब इस मूर्च्छितका अवशेष कर्म होता है तब वाणी और मन अपने स्थानमें लौट आते हैं और जब इसका अवशेष कर्म नहीं होता है तब प्राण और औष्ण्य चले जाते हैं। इसलिए ब्रह्मवेत्ता मूर्च्छाको अर्ध सुषुप्ति कहते हैं। और जो यह कहा गया है कि कोई पाँचवीं अवस्था

सत्यानन्दी दीपिका

विलक्षणतासे मूर्च्छा आधि सुषुप्ति है। मुग्ध सुषुप्तिके सब धर्मोंसे असम्पन्न होनेसे सुषुप्त नहीं है, इसी प्रकार मृतावस्थाके सब धर्मोंसे रहित होनेसे वह मृतक भी नहीं है। इसलिए मूर्च्छा कुछ अंशमें सुषुप्तिके सम होनेसे अर्धं सुषुप्ति ही है। इस पर पूर्वपक्षी 'कथं-पुनः' इत्यादिसे शंका करता है।

* चेतना आदि रहित सुषुप्तिके आधे धर्मोंके समान होनेसे मूर्च्छित सुषुप्तिके आधे धर्मोंसे

वस्था प्रसिद्धास्तीति—नैष दोषः, कादाचित्कीयमवस्थेति न प्रसिद्धा स्यात् । प्रसिद्धा लोकायुर्वेदयोः । अर्धसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥१०॥

(५ उभयलिङ्गाधिकरणम् । सू० ११-२१)

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११॥

पदच्छेद—न, स्थानतः, अपि, परस्य, उभयलिंगम्, सर्वत्र, हि।

सूत्रार्थ—(स्थानतः) स्वभावसे अथवा उपाधि भेदसे भी (परस्पर) पर ब्रह्ममें (उभय-) सविशेष और निर्विशेष दो रूप उपपन्न (न) नहीं होते, (हि) क्योंकि (सर्वत्र) 'अशब्दम्' सब उपनिषदोंमें निर्विशेष ब्रह्मका ही उपदेश है ।

* येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात्संपद्यते तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन र्यते । सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० १४।२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्येव- श्च निर्विशेषलिङ्गाः । किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम् ? यदा- तरलिङ्गं, तथापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते । तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहा- लिङ्गमेव ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते । वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं, विरोधात् । अस्तु स्थानतः, पृथिव्याद्युपाधियोगादिति । तदपि नोपपद्यते । नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य

नहीं है। यह दोष नहीं है, क्योंकि यह अवस्था कादाचित्क होनेसे भले प्रसिद्ध न हो परन्तु और आयुर्वेद ग्रन्थोंमें यह प्रसिद्ध है । अर्ध संपत्ति स्वीकार होनेसे पाँचवीं अवस्था नहीं गिनी । इसलिए कोई दोष नहीं है ॥ १० ॥

सुषुप्ति आदिमें उपाधिके उपशान्त होनेसे जीव जिस ब्रह्मके साथ सम्पन्न होता है, अब उसका श्रुतिकी सामर्थ्यसे निर्धारित किया जाता है । ब्रह्मविषयक श्रुतियां दो लिंगवाली हैं—'सर्व कर्मा० विश्व इसका कर्म है, सब दोषोंसे रहित इसका काम है, सब गन्ध इसका सुखकर है, और वह है) इत्यादि श्रुति सविशेष लिंगक है। और 'अस्थूलम० (वह न स्थूल है, न अणु है, है और न दीर्घ है) इत्यादि श्रुति निर्विशेष लिङ्गक है ! क्या इन श्रुतियोंमें दोनों लिङ्गवाला समझना चाहिए अथवा दोनोंमें एक लिङ्गवाला ? यदि दोनोंमें एक लिङ्गवाला समझा जाय क्या वह सविशेष है अथवा निर्विशेष, ऐसा विचार किया जाता है । उसमें दोनों लिङ्गवाली के अनुग्रहसे दोनों लिङ्गवाला ब्रह्म समझना चाहिए । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते ब्रह्मका स्वतः उभयलिंगत्व उपपन्न नहीं होता, क्योंकि स्वतः ही एक वस्तुरूप आदि विशेष युक्त आदि विशेष रहित हो, इसप्रकार विरोध होनेसे अवधारण नहीं किया जा सकता । यदि स्थानतः—पृथिवी आदि उपाधिके योगसे ऐसा हो, तो वह भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि

सत्यानन्दी दीपिका

होता है और कंपन आदि धर्मोंके साम्य होनेसे आधा मरण पक्षमें है, इस प्रकार मूर्च्छा अर्ध कही गई है। पूर्वपक्षमें प्रसिद्ध अवस्थाओंसे पृथक् आत्माका मूर्च्छासे विवेक करनेके लिए असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें वह पृथक् निश्चित है ॥ १० ॥

* पूर्व अधिकरणोंमें स्वप्न आदि अवस्थाओंकी उक्तिसे उनसे अलिप्त स्वप्रकाश ब्रह्मात्मक 'त्वम्' पदार्थका परिशोधनकर अब विधेय 'तत्' पदार्थका परिशोधन आरम्भ करते हुए उसका निर्विशेषरूप कहते हैं ॥११॥

वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति । नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विंकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्य, न तद्विपरीतम् । सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क०३।१५। मुक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥११॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

पदच्छेद—न, भेदात् , इति, चेत् , न, प्रत्येकम् , अतद्वचनात् ।

सूत्रार्थ—सभी वेदान्त वाक्योंमें निर्विशेष ब्रह्म ही उपदिष्ट है, (न) यह कथन युक्त नहीं है, (भेदात्) क्योंकि 'चतुष्पाद्ब्रह्म' इसप्रकार श्रुतिमें भेदका कथन है । (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो, तो नहीं, क्योंकि (प्रत्येकम्) प्रत्येक उपाधिमें (अतद्वचनात्) 'यश्चायमस्यां' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मके अभेदका ही श्रवण है ।

अथापि स्याद्यदुक्तं--निर्विंकल्पमेकलिङ्गमेव ब्रह्म, नास्य स्वतः स्थानतो वोभयलिङ्गत्वमस्तीति—तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? भेदात् । भिन्ना हि प्रतिविद्यं ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते । चतुष्पाद्ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्मेत्येवं जातीयकाः । तस्मात्सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् । ननूक्तं नोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः संभवतीति—अयमप्यविरोधः, उपाधिकृतत्वादाकारभेदस्य । अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशास्त्रं प्रसज्येतेति चेत्—नेति ब्रूमः, कस्मात् ? प्रत्येकमतद्वचनात् । प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्—'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (बृ० २।५।१) इत्यादि । अतश्च न भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम् , भेदस्योपासनार्थत्वादभेदे तात्पर्यात्।

उपाधिके योगसे भी अन्य प्रकारकी वस्तुका अन्य प्रकारका स्वभाव संभव नहीं है, स्वभावतः स्वच्छ होता हुआ स्फटिक अलक्तक (लाख) आदि उपाधिके योगसे अस्वच्छ नहीं हो जाता, उसमें अस्वच्छ का अभिनिवेश भ्रममात्र है, कारण कि उपाधियाँ अविद्यासे उपस्थापित होती हैं । अतः अन्यतर लिङ्गका परिग्रह करनेपर भी समस्त विशेषोंसे रहित निर्विशेष ही ब्रह्म समझना चाहिए उससे विपरीत नहीं । क्योंकि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन परक 'अशब्दमस्पर्शम॰ (वह शब्दरहित, स्पर्शरहित और रूप रहित अव्यय है) इत्यादि वाक्योंमें सर्वत्र समस्त विशेष रहित ब्रह्म ही उपदिष्ट है ॥ ११ ॥

भले ही ऐसा हो, परन्तु जो यह कहा गया है कि ब्रह्म निर्विशेष एक लिङ्ग ही है और वह स्वतः अथवा उपाधिसे उभय लिङ्ग नहीं है, वह उपपन्न नहीं होता, क्योंकि भेद है । प्रत्येक विद्यामें ब्रह्मके आकार भिन्न भिन्न ही उपदेश किए जाते हैं । जैसे 'ब्रह्म चतुष्पाद है, ब्रह्म सोलह कलाओं वाला है, ब्रह्म वामनीयत्व आदिरूप है, ब्रह्म त्रैलोक्य शरीर वाला है और ब्रह्म वैश्वानर शब्दसे कथित है' इसप्रकारके आकार ब्रह्मके उपदिष्ट हैं । इसलिए ब्रह्म सविशेष है ऐसा भी स्वीकार करना चाहिए । परन्तु यह जो कहा गया है कि ब्रह्म उभय लिङ्गवाला नहीं हो सकता । यह भी विरोध नहीं है, क्योंकि आकार भेद उपाधिकृत है, अन्यथा भेद शास्त्र निर्विषयक ही प्रसक्त होगा । सिद्धान्ती—ऐसा यदि कहो, तो नहीं, ऐसा हम कहते हैं क्योंकि प्रत्येकमें अतद्वचन-ऐसा नहीं, ऐसा वचन है । 'यश्चायमस्यां॰ (इस पृथिवीमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और शरीरमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि यह आत्मा है) इत्यादि शास्त्र प्रत्येक उपाधि भेदमें ब्रह्मके अभेदका ही श्रवण कराता है । इसलिए ब्रह्ममें भिन्न आकारका योग शास्त्रीय है, ऐसा नहीं कहा जा

अपि चैवमेके ॥१३॥

पदच्छेद—अपि, च, एवम्, एके ।

सूत्रार्थ—(अपि च एके) और कोई शाखा वाले 'मृत्युमाप्नोति नेहनानास्ति किञ्चन' न) इसप्रकार श्रुति वाक्यसे भेदकी निन्दा पूर्वक परमात्माके अभेदका कथन करते हैं ।

अपि चैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समामनन्ति—'मनसैवेद-
वं नेह नानास्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० ४।११) इति । न्येऽपि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत्' (श्वे० १।१२) इति स्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते ॥१३॥

कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु सतीष्वना-
ेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विपरीतमिति ? अत उत्तरं पठति—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥१४॥

पदच्छेद—अरूपवत्, एव, हि, तत्प्रधानत्वात् ।

सूत्रार्थ—(अरूपवदेव) रूप आदि आकार रहित ब्रह्मका ही अवधारण करना चाहिए, ानत्वात्) क्योंकि 'अस्थूलम' इत्यादि श्रुतिमें निर्विशेष ब्रह्म प्रधान है ।

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं, न रूपादिमत् । कस्मात् ? तत्प्रधान-
। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५। २।७२) 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८।१४।१), 'दिव्यो पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २।१।२), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा

है, क्योंकि भेद उपासनाके लिए है और अभेदमें तात्पर्य है ॥ १२ ॥

और इसप्रकार भेद दर्शनकी निन्दा पूर्वक अभेद दर्शनका ही कोई शाखावाले श्रवण कराते मनसैवेदमाप्तव्यम्० (मनसे ही यह तत्त्व प्राप्त करना चाहिए, इस ब्रह्म तत्त्वमें नाना कुछ भी है। जो पुरुष इसमें भेद-सा देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है) इसप्रकार अन्य ाले भी 'भोक्ता भोग्यं० (भोक्ता [जीव] भोग्य [जगत्] और प्रेरक [ईश्वर] का विचार तीन प्रकारसे कहा हुआ सब ब्रह्म ही है) इसप्रकार भोग्य, भोक्ता और नियन्तारूप सम्पूर्ण ब्रह्मैक स्वरूप है, ऐसा अध्ययन करते हैं ॥ १३ ॥

परन्तु साकारका उपदेश करनेवाली और निराकारका उपदेश करनेवाली ब्रह्मविषयक श्रुतियों- निराकार ब्रह्मका ही कैसे अवधारण किया जाता है और उसके विपरीत नहीं ? इसलिए उत्तर कहते हैं—

रूप आदि आकारसे रहित ही ब्रह्मका अवधारण करना चाहिए, रूप आदिसे युक्तका नहीं, उसकी प्रधानता है । जैसे 'अस्थूलम० (वह न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है और न दीर्घ है) म० (वह शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अव्यय है) 'आकाशो वै० (आकाश नाम त्मक प्रपञ्चका निर्वाहक है, वे नाम और रूप जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है) दिव्यो ह्यमूर्तः० निश्चय ही स्वयं प्रकाश, अमूर्त्त, बाहर-भीतर विद्यमान तथा अज पुरुष है) 'तदेतद्ब्रह्म० (वह कारण रहित, कार्यरहित, विजातीय द्रव्यसे रहित और अबाह्य है, यह आत्मा ही सबका

सत्यानन्दी दीपिका

* दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके होनेपर निर्विशेष ब्रह्मके ग्रहण करनेमें 'तत्परातत्परविरोधे तत्परं (तत्पर और अतत्पर वाक्योंके विरोध होनेपर तत्पर वाक्य बलवान् होता है) यह न्याय

ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१६) इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत्प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। तस्मादेवं जातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्। इतराणि त्वाकारवद्ब्रह्म विषयाणि वाक्यानि, न तत्प्रधानानि। उपासनाविधिप्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम्। सति तु विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्ति-इत्येष विनिगमनायां हेतुः। येनोभयीष्वपि श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विप रीतमिति ॥१४॥

का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॥१५॥

पदच्छेद—प्रकाशवत्, च, अवैयर्थ्यम्। [क्वचित्पुस्तके 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्' इति पाठः]

सूत्रार्थ—(प्रकाशवत्) जैसे सूर्य आदि प्रकाश वक्र अंगुलि आदि उपाधिसे वक्र-सा प्रतीत होता है, वैसे ब्रह्म (च) भी पृथिवी आदि उपाधिके सम्बन्धसे तत् तत् आकार-सा हो जाता है, वह आकार उपासनाके लिए है। (अवैयर्थ्यम्) अतः साकार विषयक श्रुतियां व्यर्थ नहीं हैं।

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्ते ष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसंबन्धा त्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते। एवमवैयर्थ्यमाकारवद्ब्रह्मविषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति। नहि वेदवाक्यानां कस्यचि दर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्वमिति युक्तं प्रतिपत्तुम्, प्रमाणत्वाविशेषात्। नन्वेवमपि यत्पुरस्ता

अनुभव करनेवाला ब्रह्म है) इत्यादि वाक्य निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्त्व प्रधानक हैं, अन्य अर्थ प्रधानक नहीं हैं, ऐसा 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रमें प्रतिष्ठापित किया गया है। इसलिए इसप्रकारके वाक्योंमें यथा श्रुत निराकार ब्रह्मका ही अवधारण करना चाहिए। साकार ब्रह्मविषयक अन्य वाक्य तो साकार ब्रह्म प्रधान नहीं है, वे उपासना विधि प्रधान हैं। उनके विरोध न होनेपर यथाश्रुतका आश्रय करना चाहिए। विरोध होनेपर तो तत्प्रधान-निराकार प्रधान वाक्य अतत्प्रधान-निराकार अप्रधान वाक्योंसे बलवान् होते हैं, यही निगमनमें हेतु है, जिससे दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके विद्यमान होनेपर भी निराकार ब्रह्म ही अवधारित होता है, उससे विपरीत-साकार ब्रह्म अवधारित नहीं होता ॥ १४ ॥

तब साकार ब्रह्मविषयक श्रुतियोंकी क्या गति होगी? इसपर कहते हैं—

जैसे आकाशको व्याप्त कर अवस्थित हुआ सूर्य अथवा चन्द्रमाका प्रकाश अङ्गुलि आदि उपाधिके सम्बन्धसे उन अङ्गुलि आदिमें सीधा, वक्र आदि भाव प्राप्त होनेपर तत्भाव-सा प्राप्त होता है, वैसे ब्रह्म भी पृथिवी आदि उपाधिके सम्बन्धसे उसके आकारताको प्राप्त-सा होता है। उसका आलम्बन उपासनाके लिए ब्रह्ममें आकार विशेषका उपदेश विरुद्ध नहीं है। इसप्रकार आकारवद् ब्रह्मविषयक वाक्य भी प्रयोजन रहित नहीं होंगे। वेद वाक्योंमें कोई सार्थक और कोई निरर्थक है, ऐसा समझना युक्त नहीं है, क्योंकि दोनोंमें प्रमाणत्व समान है। परन्तु ऐसा माननेपर भी जो पहले प्रतिज्ञा की गई है कि उपाधि योगसे भी ब्रह्म उभयलिङ्ग नहीं है, वह विरुद्ध है? नहीं, ऐसा

सत्यानन्दी दीपिका

नियामक है। इसलिए 'अस्थूलम' इत्यादि तत्पर-निराकार ब्रह्मपरक वाक्य 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादि अतत्पर-अनिराकार परक (साकार) वाक्योंसे बलवान् होते हैं। अतः नियामकके होनेसे निर्विशेष ब्रह्मका अवधारण करना चाहिए ॥ १४ ॥

तं-नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति, तद्विरुध्यते। नेति ब्रूमः, उपाधि-तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। सत्यामेव च क्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र तत्रावोचाम ॥१५॥

आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

पदच्छेद—आह, च, तन्मात्रम्।

सूत्रार्थ—(च) इसलिए 'यथा सैन्धवघनः' इत्यादि श्रुति (तन्मात्रम्) निर्विशेष ब्रह्मको (आह) कहती है।

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—'स यथा सैन्धव-न्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ।१३) इति। एतदुक्तं भवति—नास्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति, चैतन्यमेव न्तरमस्य स्वरूपम्। यथा सैन्धवघनस्यान्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति, न रं तथैवेति ॥१६॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥१७॥

पदच्छेद—दर्शयति, च, अथो, अपि, स्मर्यंते।

सूत्रार्थ—'अथात आदेश' इत्यादि श्रुति निषेध मुखसे निर्विशेष ब्रह्मको ही (दर्शयति) दिख-ती है। (अथो) तथा (स्मर्यते) 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्यादि स्मृतिमें (अपि) भी ऐसा ही उसदेश है।

दर्शयति च श्रुतिः पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म, निर्विशेषत्वात्—'अथात आदेशो नेति नेति' (२।३।६) इति, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (के० १।३) 'यतो वाचो निवर्तन्ते य मनसा सह' (तै० २।४।१) इत्येवमाद्या। बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव प्रोवाचेति श्रूयते—'स होवाचाधीहि भो इति स तूष्णीं बभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा' इति। तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषेधे-

---

कहते हैं—उपाधिनिमित्तक वस्तुका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि उपाधियाँ अविद्या द्वारा उप-त हैं। नैसर्गिक (स्वाभाविक) अविद्याके होनेपर ही लौकिक और वैदिक व्यवहारोंका अवतार है, ऐसा तत्-तत् स्थलमें कहा है ॥ १५ ॥

'स यथा सैन्धवघनः० (जैसे लवण पिण्ड अन्तर और बाहरसे रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, त्रेयी! वैसे ही यह आत्मा अन्तर-बाह्य भेदसे शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है) इसप्रकार यह श्रुति क्षण रूपान्तरसे रहित चैतन्यमात्र निर्विशेष ब्रह्मको कहती है। तात्पर्य यह है—इस आत्माका र अथवा बाहर चैतन्परूपसे अन्यरूप नहीं है, किन्तु चैतन्य ही इसका निरन्तर स्वरूप है। जैसे पिण्डके अन्तर और बाहर लवण रस ही निरन्तर होता है, अन्य रस नहीं होता, वैसे ही ।१६।

और 'अथात आदेशो० (इसके अनन्तर ब्रह्म मूर्त नहीं है और अमूर्त भी नहीं है यह उपदेश) 'अन्यदेव० (वह विदित-कार्यसे अन्य और अविदित-कारणसे अन्य है) और 'यतो वाचो०' हाँसे मन सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है) इत्यादि श्रुति पररूप-अनात्मरूप प्रतिषेधसे ब्रह्मको दिखलाती है, क्योंकि वह निर्विशेषरूप है। वाष्कलिसे पूछे गये बाध्वने अवचनसे ही ब्रह्म-क्षा 'स होवाच० (उसने कहा—हे भगवन् बाध्व! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिए, ऐसा पूछे र वह तूष्णी रहा, द्वितीय अथवा तृतीय वार पूछनेपर उसने उससे कहा—हम कह रहे हैं, तुम उसे नहीं जान रहे हो यह आत्मा उपशान्त-द्वैतरहित है) ऐसी श्रुति है। इसप्रकार यं यत्तत्प्रवक्ष्यामि० (जो ज्ञेय है उसे यथावत् कहूँगा जिसे जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त

नैवोपदिश्यते—'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (गी० १३।१२) इत्येवमाद्यासु । तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति ॥१७॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, उपमा, सूर्यकादिवत् ।

सूत्रार्थ—(अतएव) क्योंकि इस चैतन्यस्वरूप आत्माका पर प्रतिषेधसे उपदेश किया जाता है, इसलिए इसकी (सूर्यकादिवत्) जलगत सूर्य प्रतिबिम्बके साथ (उपमा) उपमा दी जाती है ।

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु—यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति । 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (ब्र० बिं० १२) इत्येवमादिषु ॥१८॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥१९॥

पदच्छेद—अम्बुवत्, अग्रहणात्, तु, न, तथात्वम् ।

सूत्रार्थ—(अम्बुवत्) जैसे जलका सूर्यसे पृथक् ग्रहण होता है, वैसे यहाँ उपाधिका पृथक् (अग्रहणात्) ग्रहण नहीं होता, इसलिए (न तथात्वम्) यह सूर्य दृष्टान्त युक्त नहीं है ।

* न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते, तद्वदग्रहणात् । सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः, न त्वात्मा मूर्तो नचास्मात्पृथ-

होता है । वह अनादिमत् परब्रह्म न सत्-इन्द्रिय वेद्य और न असत्-परोक्ष कहा जाता है) इत्यादि स्मृतियोंमें भी परके प्रतिषेधसे ही उसका उपदेश किया जाता है । और विश्वरूप धारण करनेवाले नारायणने नारदसे कहा—'माया ह्येषा० (हे नारद ! यह माया मैंने रची है, जो कि तुम मुझे सर्वभूत गुणोंसे युक्त देखते हो इसप्रकार द्वैतयुक्त मुझे देखनेके लिए तुम योग्य नहीं हो) ऐसी स्मृति है ॥१७॥

और क्योंकि यह आत्मा चैतन्यरूप, निर्विशेष, वाणी और मनका अविषय पर-द्वैत प्रतिषेधसे उपदेश्य है, इसलिए इसमें उपाधि निमित्तक अपारमार्थिक सविशेषत्वके अभिप्रायसे 'यथा ह्ययं० (जैसे यह ज्योतिःस्वरूप सूर्य स्वतः एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न जलोंमें प्रतिबिम्बित होता हुआ उपाधिसे अनेक प्रकारका भासता है, वैसे ही यह स्वयं प्रकाशरूप अज आत्मा शरीरोंमें उपाधिसे अनेक भिन्न-भिन्न आकाररूपसे भासता है) और 'एक एव० (एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूतमें अवस्थित होता हुआ जलगत चन्द्र प्रतिबिम्बके समान एकधा और अनेकधा दिखाई देता है) इत्यादि मोक्षशास्त्रोंमें जलगत सूर्य प्रतिबिम्बके समान उपमाका ग्रहण किया जाता है ॥ १८ ॥

इसमें शङ्का उठायी जाती है—

यहाँ जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब आदिके साथ समानता उपपन्न नहीं होती, क्योंकि आत्माका उसके समान ग्रहण नहीं होता । मूर्त सूर्य आदिसे पृथक्भूत दूर देशस्थ मूर्त जल सबसे गृहीत होता है, इसलिए उसमें सूर्य आदि प्रतिबिम्बका उदय होना युक्त है । परन्तु आत्मा मूर्त नहीं है और

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वपक्षी आत्मामें उक्त दृष्टान्तकी विषमताका प्रतिपादन करता है—रूपादि युक्त सूर्यका रूप आदि युक्त जलमें प्रतिबिम्ब युक्त है । परन्तु आत्मा तो रूपादि रहित, सर्वगत और सबसे अभिन्न

विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः, सर्वगतत्वात्सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति ॥१६॥

अत्र प्रतिविधीयते—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

पदच्छेद—वृद्धिह्रासभाक्त्वम्, अन्तर्भावात्, उभयसामञ्जस्यात्, एवम्।

सूत्रार्थ—जैसे जलगत सूर्य प्रतिविम्ब जलगत वृद्धि और ह्रासका भागी-सा होता है (एवम्) निर्विशेष ब्रह्म भी उपाधिके (अन्तर्भावात्) अन्तर्भावसे (वृद्धिह्रासभाक्त्वम्) उपाधि गत वृद्धि और भागी-सा होता है, इस प्रकार (उभयसामञ्जस्यात्) दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनोंमें सामञ्जस्य है।

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तः, विवक्षितांशसंभवात्। नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्वचित्कं-विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टा- भावोच्छेद एव स्यात्। न चेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम्, शास्त्रप्रणी- तस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते। किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति ? तदुच्यते—वृद्धि- भाक्त्वमिति। जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने ति जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, नतु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति। परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धि- दीन्। एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः ॥२०॥

दर्शनाच्च ॥२१॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च।

सूत्रार्थ—प्रतिबिम्ब रूप देहान्तरानुप्रवेश परब्रह्मका 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इत्यादि श्रुतियोंमें देखा है, अतः निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध है।

* दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम्—'पुरश्चक्रे द्विपदः

इससे पृथग्भूत और दूर देशस्थ नहीं हैं, क्योंकि आत्मा सर्वगत और सबसे अभिन्न है। यह दृष्टान्त युक्त नहीं है ॥ १६ ॥

यहाँ इस शंकाका समाधान किया जाता है—

यह दृष्टान्त तो युक्त ही है, क्योंकि इसमें विवक्षितांशका संभव है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें किञ्चित् विवक्षित अंशको छोड़कर सर्वरूपसे सादृश्य कोई भी नहीं दिखा सकता। सम्पूर्णरूपसे होनेपर तो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक भावका उच्छेद ही हो जायगा। और यह जल सूर्यक आदि अपनी बुद्धिसे नहीं रचा गया है, किन्तु शास्त्र रचित इसके प्रयोजन मात्रका उपन्यास किया है। यहाँ विवक्षित सारूप्य क्या है ? उसे कहते हैं—वृद्धि और ह्रासका भागी होना सारूप्य है। सूर्य प्रतिबिम्ब जलकी वृद्धि होनेपर बढ़ता है, जलके ह्रास होनेपर क्षीण होता है, जलके हिलने ता है, जलके भिन्न होनेपर भिन्न होता है, इस प्रकार जलके धर्मोंका अनुयायी होता है, परन्तु सूर्य वैसा नहीं है, वैसे परमार्थतः अविकृत, एकरूप होता हुआ भी ब्रह्म देह आदि उपाधिके से वृद्धि और ह्रास आदि उपाधिके धर्मोंको भजता (प्राप्त होता) सा है। इस प्रकार दृष्टान्त न्तिक दोनोंके सामञ्जस्यसे अविरोध है ॥ २० ॥

'पुरश्चक्रे द्विपदः०' (परमेश्वरने दो पैरोंवाले पुर-मनुष्यादि शरीर बनाये और चार पैरोंवाले

सत्यानन्दी दीपिका

उपाधियाँ उससे भिन्न और दूरस्थ नहीं हो सकतीं, इसलिए उसका माया द्वारा बुद्धि आदिमें युक्त नहीं है ॥ १६ ॥

पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' (बृ० २।५।१८) इति । 'अनेन जीवे
नात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इति च । तस्माद्युक्तमेतत् – 'अत एव चोपमा सूर्यकादिव
(ब्र० सू० ३।२।१८) इति । तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति
सिद्धम् । अत्र केचिद्द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति । प्रथमं तावत्—किं प्रत्यस्तमिताशेषप्रपञ्च
मेकाकारं ब्रह्मोत प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतमिति ? द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमितप्रपञ्चत्वे कि
सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमिति ? अत्र वयं वदामः—सर्वथाप्यानर्थक्यम
धिकरणान्तरारम्भस्येति । यदि तावदनेकलिङ्गत्वं परस्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं प्रयास
स्तत्पूर्वेणैव 'न स्थानतोऽपि' (ब्र० ३।२।११।५) इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरमधिक
रणं 'प्रकाशवच्च' (ब्र० ३।२।१५।५) एतद्व्यर्थमेव भवेत् । नच सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोध
लक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, 'विज्ञानघान एव' इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कथं वा निरस्तचैतन्
ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत ? नापि बोधलक्षणमेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्
वक्तुम्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६।१३) इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कथं वा निरस्
सत्ताको बोधोऽभ्युपगम्येत ? नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मेति शक्यं वक्तुम्, पूर्वाभ्युपगमविरो

पशु शरीर बनाये । पहले वह पुरुष पक्षी (लिङ्ग शरीरी) होकर शरीरमें प्रविष्ट हुआ) 'अनेन जीवेन
(इस जीवरूपसे प्रवेश करं) इस प्रकार श्रुति परब्रह्मका ही देह आदि उपाधियोंमें अनुप्रवेश दिखला
है । इसलिए 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' यह युक्त है । इससे सिद्ध हुआ कि निर्विशेष एक लि
(आकारवाला) ही ब्रह्म है न उभय लिङ्गवाला है और न विपरीत लिङ्गवाला है । यहाँपर कोई
अधिकरणोंकी कल्पना करते हैं—प्रथम तो यह कि सम्पूर्ण प्रपञ्चसे शून्य एक आकार 'ब्रह्म है अथ
प्रपञ्चसे युक्त अनेक आकार युक्त है । द्वितीय तो सर्व प्रपञ्च शून्य स्थित होनेपर क्या सद्रूप ब्रह्म
वा बोधरूप है अथवा उभयरूप है ? इसपर हम कहते हैं—अन्य अधिकरणका आरम्भ सर्व
अनर्थक है । यदि परब्रह्मका अनेक लिङ्गत्व निराकर्तव्य है, इसलिए यह प्रयास है, तो इसका 'स्था
तोऽपि' इस पूर्व अधिकरणसे निराकरण हो गया है, इससे 'प्रकाशवच्च' यह अग्रिम अधिकरण व्य
ही होगा । और ब्रह्म सद्रूप ही है ज्ञानरूप नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'विज्ञानघन ए
इत्यादि श्रुतियोंमें वैयर्थ्य प्रसङ्ग आ जायगा । अथवा चैतन्य रहित ब्रह्म चैतन्य जीवका आत्मरूपसे
उपदिष्ट होगा । ब्रह्म ज्ञानरूप ही है सद्रूप नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'अस्तीत्येवो
लब्धव्यः' (है, इस प्रकार उपलब्धि करनी चाहिए) इत्यादि श्रुतियोंका वैयर्थ्य प्रसङ्ग होगा । चि
सत्ता नहीं है, ऐसा बोध कैसे स्वीकार किया जायगा ? इस प्रकार ब्रह्म उभय लक्षण ही है, इस

सत्यानन्दी दीपिका

* स्वसिद्धान्तको दृढ़ करनेके लिए किसी एक देशीकी व्याख्याका 'अत्र केचिद्' इत्यादि
उत्थान करते हैं—वे पूर्वोक्त सूत्रोंमें दो अधिकरणोंकी कल्पना करते हैं । 'न स्थानतोऽपि' (ब्र०
३।२।१४) तक इस एक अधिकरणसे ब्रह्ममें निष्प्रपञ्चत्व सिद्ध होनेपर 'ब्रह्मका क्या स्वरूप है ! ऐ
सन्देह होनेपर 'प्रकाशवच्च' (ब्र० सू० ३।२।१५) इत्यादि द्वितीय अधिकरण प्रवृत्त हुआ । ब्रह्म के
सद्रूप ही नहीं है, किन्तु ज्ञान रूप भी है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानम्' 'सदेव सोम्य०' इत्यादि श्रुतियाँ द्वि
ब्रह्ममें सार्थक हैं । 'सिद्धान्त—'आह च तन्मात्रम्' (ब्र० सू० ३।२।१६) ब्रह्म सद्रूप ही है, क्यों
ज्ञान सत्तासे भिन्न है । इस प्रकार 'अत्र वयं वदामः' इत्यादिसे दूसरे अधिकरणको दूषित करते हैं
द्वितीय अधिकरणका क्या ब्रह्मके अनेक रूपत्वका निरास प्रयोजन है वा ज्ञानरूपत्वका निरास अथवा
सत्ताका निरास ? इस प्रकार विकल्प कर सर्वथा आनर्थक्यका विस्तार दिखलाते हुए प्रथम विकल्प
'यदि तावत्' इत्यादिसे गतार्थता कहते हैं ।

त । सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तयोपेतं ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव करणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत । श्रुतत्वाददोष इति चेत्--न, एकस्यानेभावत्वानुपपत्तेः । अथ सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता, नानयोः परस्परव्यावृत्तिरयुच्येत, तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्ययं विकल्पो वन एव स्यात् । सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि । * अपि च ब्रह्मसु श्रुतिष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽवश्यं तरासां श्रुतीनां गतिः । तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवत्तराणि संपद्यन्ते । हुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एव न पृथगर्था दपि न समीचीनमिव लक्ष्यते । कथम् ? ये हि परविद्याधिकारे केचित्प्रपञ्चा उच्यन्ते, युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च' २।५।१९) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः, 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' २।५।१९) इत्युपसंहारात् । ये पुनरुपासनाविधानाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते, यथा मयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्येवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम्, तुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवंजातीयकेन प्रकृतेनवोपासनविधिना तेषां संबन्धात् ।

कहा जा सकता, कारण कि 'न स्थानतोऽपि' इस सूत्रमें पूर्व स्वीकारके साथ विरोध प्रसङ्ग । सत्तासे रहित भिन्न ज्ञान और ज्ञानसे रहित भिन्न सत्तासे युक्त ब्रह्म है, ऐसी प्रतिज्ञा करनेवालेको करणमें प्रतिषिद्ध वही सप्रपञ्चत्व ब्रह्ममें प्रसक्त होगा अर्थात् प्रपञ्च युक्त ब्रह्म होगा । कि श्रुति प्रतिपादित होनेसे यह दोष नहीं है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि एकका अनेक नहीं हो सकता । यदि कहो कि सत्ता ही ज्ञान है और ज्ञान ही सत्ता है, इन दोनोंकी व्यावृत्ति नहीं है, तो भी ब्रह्म सद्रूप है वा बोध रूप है अथवा उभयरूप है ? यह विकल्प हो जायगा । सूत्रोंकी योजना तो हमने एक अधिकरणरूपसे कर ली है । और ब्रह्मश्रुतियोंके साकार और निराकार ब्रह्मका प्रतिपादन करनेसे परस्पर विरोध होनेके कारण र ब्रह्मके परिगृहीत होनेपर अन्य श्रुतियोंकी गति अवश्य कहनी चाहिए । और उस लिए 'प्रकाशवच्च' इत्यादि सूत्रोंका अधिक अर्थ संगत है । जो भी कहते हैं कि साकार वादिनी प्रपञ्च विलय द्वारा निराकार ब्रह्मके ज्ञानके लिए ही हैं उनका पृथक् प्रयोजन नहीं है, वह भी -सा देखनेमें नहीं आता । कैसे ? ये जो परविद्याके प्रकरणमें 'युक्ता ह्यस्य० (जैसे रथमें जुते वैसे शरीररूप रथमें जोड़े हुए इसके इन्द्रियरूप अश्व शत और दश हैं, यह परमेश्वर ही न्द्रियरूप अश्व है, यही दश, सहस्र, अनेक और अनन्त है) इत्यादि जो कोई विस्तारसे कहे , वे प्रविलयके लिए होते हैं, क्योंकि 'तदेतद्ब्रह्म० (वह यह ब्रह्म कारण रहित, कार्य रहित द्रव्यसे रहित और अग्राह्य है) ऐसा उपसंहार है । परन्तु 'मनोमयः० (मनोमयः, प्राण और चैतन्यरूप है) इत्यादि जो उपासना विधानके प्रकरणमें विस्तारसे कहे जाते हैं, वे प्रल- हों यह युक्त नहीं है, कारण कि 'स क्रतुं कुर्वीत' (वह ध्यान करे) इसप्रकारकी प्रकृत

सत्यानन्दी दीपिका

* पर विद्याके प्रकरणमें 'युक्ता ह्यस्य० इत्यादि आकार प्रतिपादक श्रुतियां यद्यपि प्रपञ्च प्रविद्वारा तत्त्व ज्ञानकी प्राप्तिके लिए उपयुक्त हैं, क्योंकि 'तदेतद्ब्रह्म'० इसप्रकार उपसंहारमें निर्वि ही प्रतिपादित है, तो भी 'मनोमयः प्राण शरीरः' इस तरह उपासना विधानके प्रकरणमें श्रुतियां प्रपञ्चके प्रविलयके लिए नहीं हो सकतीं, कारण कि ईश्वरमें अनेक इन्द्रियोंका कथन

श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने न लक्षणया प्रविलयार्थत्वमव- कल्पते । ❀ सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।१४) इति विनिगमनकारणवचनमनवकाशं स्यात् । फलमप्येषां यथोपदेशं क्वचिद्दुरि- तक्षयः क्वचिदैश्वर्यप्राप्तिः क्वचित्क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्थ्यमेवोपासनावाक्यानां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम् । कथं चैषामेकवाक्यतोत्प्रेक्ष्यत इति वक्तव्यम् । एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत्—न, ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात् । वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितम्— 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र । किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम् । पुरुषो हि नियुज्यमानः कुर्विति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते । ❀ ननु द्वैतप्रपञ्चविलयो नि- योगविषयो भविष्यति । अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्त्वावबोधो न भवति, अतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्यः । यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः । यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादितत्त्वमव- बुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यत एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीक

उपासना विधिके साथ उन साकार वाक्यांका सम्बन्ध है । श्रुतिसे-अभिधावृत्तिसे इसप्रकारके गुण उपा नार्थक संभव होनेपर उनका लक्षणावृत्तिसे प्रलयार्थत्व नहीं हो सकता । और यदि सब उपासना साकार वाक्योंका साधारण प्रविलयार्थ माना जाय, तो 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' यह विनि गमन-नियामक कारण वचन अनवकाश हो जायगा । और उनका फल भी उपदेशके अनुसार कहीं पर पाप क्षय, कहींपर ऐश्वर्य प्राप्ति और कहींपर क्रममुक्ति इसप्रकार अवगत होता है, इसलिए उपा सना वाक्यों और ब्रह्मवाक्योंकी पृथक् अर्थता (पृथक् पृथक् अर्थ) युक्त है, एकवाक्यता (एकार्थवा नहीं । इनको एकवाक्यताकी कल्पना किसप्रकारकी जाती है यह कहना चाहिए । यदि कहो कि प्रया और दर्शपूर्णमास वाक्योंके समान एक नियोगकी प्रतोति होनेसे एकवाक्यता है, तो ऐसा नहीं क्योंकि ब्रह्मवाक्योंमें नियोगका अभाव है । ब्रह्मवाक्य वस्तुमात्र पर्यवसायी हैं नियोगका उपदेश करने वाले नहीं हैं, ऐसा 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रमें विस्तारसे प्रतिष्ठापित किया गया है । यहां किं विषयक नियोग अभिप्रेत है ? यह कहना चाहिए, क्योंकि जो पुरुषको नियुक्त करता हुआ किसी अपने व्यापारमें 'करो' इसप्रकार नियुक्त करता है वह नियोग है । द्वैत प्रपञ्चका प्रविलय यहां नियोगका विषय होगा क्योंकि द्वैतप्रपञ्चके प्रविलापित किए विना ब्रह्म तत्त्वका ज्ञान नहीं होता, इसलिए ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानमें प्रतिबन्धकी भूत द्वैतप्रपञ्चका प्रविलापन करना चाहिए । जैसे स्वर्ग कामनावालेको यागका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा उपदेश किया जाता है, वैसे मुमुक्षुके लिए प्रपञ्च प्रविलयका उपदेश किया जाता है । जैसे अन्धकारमें स्थित घटादि पदार्थोंको जाननेकी इच्छा करनेवाला उसके प्रतिबन्धकीभूत तमका प्रविलय करता है, वैसे ब्रह्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवालेको उस तत्वके प्रतिबन्धकीभूत

सत्यानन्दी दीपिका

प्राणी भेदसे है । प्राणी अनन्त हैं, उनकी इंद्रियां भी अनन्त हैं, ये सभी इंद्रियां ईश्वरकी हैं, ऐसा मानकर ईश्वरकी अनन्त इन्द्रियां 'युक्ता ह्यस्य' इत्यादि श्रुतिमें कही गई हैं । 'युक्ता ह्यस्य' जीव भावको प्राप्त हुए ईश्वरके हरि-दश इन्द्रियाँ है, इन्द्रियाँ विषयोंका आहरण करती हैं अथवा विषय इन्द्रियोंका हरण करते हैं इसलिए हरि कहे ज ते हैं ।

* साकार और निराकार प्रतिपादक श्रुतियोंके विद्यमान होनेपर ब्रह्म निराकार ही है, इसमें 'अस्थूलम' इत्यादि श्रुतियोंका निर्विशेष ब्रह्ममें तात्पर्य ही नियामक है । इसको कहनेके लिए 'अरूप- वदेव तत्प्रधानत्वात्' यह सूत्र सार्थक होता है ।

प्रपञ्चः प्रविलापयितव्यः । ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं ब्रह्म, तेन नामरूपप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति । अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयो ? किमग्निप्रतापसंपर्काद्घृतकाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलयः कर्तव्य आहोस्विदेकस्मिं-तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवदविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य ? तत्र यदि तावद्विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादि-प्रविलापयितव्य इत्युच्येत स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयो-शक्यविषय एव स्यात् । एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथि-शून्यं जगदभविष्यत् । * अथाविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविला-इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम् । 'एकमेवाद्वितीयं 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति, तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते, चाविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्प्रविलीयते ।

प्रविलय करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मस्वभाववाला प्रपञ्च है किन्तु प्रपञ्च स्वभाववाला ब्रह्म है। इस नाम, रूप प्रपञ्चके प्रविलापनसे ब्रह्मतत्त्व बोध होता है। सि०—हम यहां पूछते हैं—यह प्रविलय क्या है। क्या जैसे अग्नि उष्णताके संपर्कसे घृतके काठिन्यका प्रविलय होता है, वैसे प्रविलय करना चाहिए अथवा एक चन्द्रमामें नेत्र दोष कृत अनेक चन्द्र प्रपञ्चके समान अविद्याकृत नामरूप प्रपञ्चका विद्यासे प्रविलय करना चाहिए। उनमें यदि कहो कि विद्यमान आदिरूप आध्यात्मिक प्रपञ्च और पृथिवी आदिरूप बाह्य प्रपञ्चका प्रविलय करना चाहिए, प्रविलय करनेमें तो पुरुषमात्र असमर्थ है, इसलिए उसके प्रविलयका उपदेश अशक्य विष-ही होगा। और एक आदि मुक्त पुरुषसे पृथिवी आदिका प्रविलय किया गया होता, तो इस समय पृथिवी आदिसे शून्य होता। ऐसा यदि कहो कि एक ब्रह्ममें अविद्यासे अध्यस्त यह प्रपञ्च प्रविलापित किया जाता है, तो 'एकमेवाद्वितीयं० (एक ही अद्वितीय ब्रह्म है) 'तत्सत्यं०' सत्य है, वह आत्मा है वह तू है) इसप्रकार अविद्यासे अध्यस्त प्रपञ्चके प्रत्याख्यानसे ब्रह्म ही है। उस ब्रह्मके ज्ञात होनेपर विद्या स्वयं उत्पन्न होती है और उससे अविद्याका बाध होता उस अविद्यासे अध्यस्त इस सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्चका स्वप्न प्रञ्चके समान प्रविलय हो

सत्यानन्दी दीपिका

* परन्तु प्रपञ्चके प्रविलय होनेपर ब्रह्मका भी लय हो जायगा, क्योंकि दोनोंका अभेद है ? नहीं, क्योंकि कार्यका स्वरूप कारण होता है किन्तु कारणका स्वरूप कार्य नहीं होता। इसलिए लय होनेपर कारणका लय नहीं होता। जैसे घटके लयसे मृत्तिकाका लय नहीं होता, अतः विलयसे ब्रह्मका विलय नहीं होता। किञ्च सत्य प्रपञ्चके विलयमें विधि है अथवा कल्पित विलयमें ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सत्य वस्तुकी ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती, कारण कि परस्पर विरोध नहीं है, अतः आकाश ग्रसन विधिके समान इस प्रपञ्चका लय अशक्य है। अनादि संसारमें अभी तक कोई मुक्त हुआ है कि नहीं ? प्रथम पक्ष 'एकेन' आदिसे कहते हैं। विकल्प में तो शुकदेव आदिके मुक्ति प्रतिपादक शास्त्रसे विरोध होगा। इससे सिद्ध होता है कि प्रपञ्चकी निवृत्ति ज्ञानसे नहीं होती है।

* दूसरे विकल्पको भी 'अथाविद्याध्यस्तो' इत्यादिसे दूषित करते हैं। ब्रह्मज्ञान और प्रपञ्चके में जो विधि कहते हैं, क्या वह अज्ञात ब्रह्ममें है अथवा ज्ञात ब्रह्ममें ? प्रथम पक्षका 'अनावेदिते' से समाधान किया गया है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्योंके श्रवणसे उत्पन्न ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मका साक्षात्कार और अविद्याकृत प्रपञ्चका विलय सिद्ध है।

अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायेत। नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चविषयो वा नियोगः स्यात्, न, निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मत्वावेदनेनैवोभयसिद्धेः। रज्जुस्वरूपप्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति। नच कृतमेव पुनः क्रियते। नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम, स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद्ब्रह्मपक्षस्यैव वा? प्रथमे विकल्पे निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात्कस्य प्रपञ्चविलये नियोग उच्येत? कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत? द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावान्नियोगाभाव एव। द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना भवन्ति। लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते, न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति। ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते, तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन। तस्मिन्दर्शिते स्वयमेव यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते। नच प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते। यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथा ज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं, किं तर्हि? मानसी सा क्रिया। स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत, भ्रान्तिरेव स्यात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च, न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते।

जाता है। ब्रह्मके अविदित होनेपर 'ब्रह्मज्ञान करो' 'प्रपञ्चका प्रविलय करो' ऐसा शतवार कहनेपर भी ब्रह्मका विज्ञान अथवा प्रपञ्चका विलय नहीं होता। परन्तु ब्रह्मके विदित होनेपर उसके ज्ञानविषयक और प्रपञ्च प्रलयविषयक नियोग होना चाहिए। ऐसा नहीं, क्योंकि निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्त्वके विज्ञानसे ही दोनों सिद्ध होते हैं। रज्जुस्वरूपके प्रकाशसे ही रज्जुस्वरूपका ज्ञान और अविद्यासे अध्यस्त सर्प आदि प्रपञ्चका प्रविलय होता है, क्योंकि जो सिद्ध है उसको पुनः सिद्ध नहीं किया जाता। जो जीव प्रपञ्चावस्थामें नियोज्य अवगत होता है वह प्रपञ्च पक्षका ही है अथवा ब्रह्म पक्षका ही? प्रथम विकल्पमें प्रपञ्च रहित ब्रह्मतत्त्वके प्रतिपादनसे पृथ्वी आदिके समान जीवका भी प्रविलय हो गया है, अतः किसका प्रपञ्चके प्रविलयमें नियोग कहा जाय अथवा किसको नियोगनिष्ठत्वसे मोक्ष प्राप्तव्य कहा जाय। द्वितीय विकल्पमें भी अनियोज्य स्वभाव ब्रह्म ही जीवका स्वरूप है और जीवत्व तो अविद्याकृत ही है, ऐसा प्रतिपादित होनेपर ब्रह्ममें नियोज्यके अभाव होनेसे नियोगका अभाव ही है। और परविद्याके प्रकरणमें पठित 'द्रष्टव्य' आदि शब्दोंकी भी तत्त्वके अभिमुख करनेमें प्रधानता है वे तत्त्वज्ञानमें विधिप्रधान नहीं हैं। लोक व्यवहारमें भी 'यह देखो, यह सुनो' इस प्रकारके निर्देशोंमें 'एकाग्रमन करो' ऐसा कहा जाता है 'साक्षात् ज्ञान करो' ऐसा नहीं कहा जाता। ज्ञेय अभिमुखको भी कभी ज्ञान उत्पन्न होता है और कभी नहीं उत्पन्न होता। इसलिए जो ज्ञान कराना चाहता है, उससे उस (ज्ञानार्थी) को ज्ञानका विषय ही दिखलाना चाहिए। उसके दिखलानेपर विषय और प्रमाणके अनुसार उसको स्वयं ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अन्य प्रमाणसे अन्य प्रकारसे प्रसिद्ध अर्थमें नियुक्तको भी अन्यथाज्ञान नहीं होता। यदि 'मैं नियुक्त हूँ' ऐसा समझकर अन्यथाज्ञान करे तो वह ज्ञान नहीं है किन्तु वह मानसी क्रिया है। यदि स्वयं ही अन्यथा उत्पन्न हो तो वह भ्रान्ति ही होगी।

सत्यानन्दी दीपिका

अतः पूर्व सिद्ध ब्रह्ममें विधि नहीं। इस प्रकार विषयके अभावसे नियोगका अभाव कहकर अब आगे 'नियोज्योऽपि' इत्यादिसे नियोज्यके अभावसे भी उसका अभाव कहते हैं।

प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते । नहि तत्पुरुषतन्त्रं, वस्तुतन्त्रमेव हि तत् । अतोऽपि गाभावः । किंचान्यन्नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं त्वं, तदप्रमाणकमेव स्यात् । अथ शास्त्रमेवानियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्याचक्षीत तदवबोधे पुरुषं नियुञ्जीत, ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य द्व्यर्थपरता विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम् । योगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना कर्मफलवन्मोक्षस्यादृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्येव- दोषा न केनचित्परिहर्तुं शक्याः । तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्मवाक्यानि, न नियोग- ानि । अतश्चैकनियोगप्रतीतेरेकवाक्यतेत्ययुक्तम् । ❀ अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु योगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपञ्चोपदेशेषु सप्रपञ्चोपदेशेषु चासिद्धम् । नहि शब्दान्तरादिभिः नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम् । प्रयाजदर्शपूर्णमास- येषु त्वधिकारांशेनाभेदाद्युक्तमेकत्वम्, नत्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु कश्चिदेकत्वाधि- रांशोऽस्ति । नहि भारूपत्वादयो गुणाः प्रपञ्चप्रविलयोपकारिणः । नापि प्रपञ्चप्रविलयो रूपत्वादिगुणोपकारी, परस्परविरोधित्वात् । नहि कृत्स्नप्रपञ्चप्रविलापनं प्रपञ्चैकदेशा- णं चैकस्मिन्धर्मिणि युक्तं समावेशयितुम् । तस्मादस्मदुक्त एव विभाग आकारवदना- रोपदेशानां युक्ततर इति ॥२१॥

ो प्रमाण जन्य और यथाभूत विषयक होता है वह सौ नियोगोंसे भी नहीं कराया जा सकता, सौ प्रतिषेधोंसे भी उसका निवारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह पुरुषके अधीन नहीं है, वस्तुके अधीन है । इससे भी नियोगका अभाव है । और दूसरी बात यह है कि यदि वेद- का नियोग निष्ठारूपसे पर्यवसान होता है तो जो यह स्वीकार किया गया है कि जीव अनियोज्य स्वरूप है, वह अप्रमाणक हो जायगा । यदि शास्त्र ही जीव को अनियोज्य ब्रह्म स्वरूप कहे और के ज्ञानमें पुरुषको नियुक्त करे, तो एक ब्रह्मशास्त्रमें दो अर्थकी प्रतिपादकता और विरुद्ध अर्थ दकता प्रसक्त होगी । और ब्रह्मशास्त्रका तात्पर्य यदि नियोगमें है तो श्रुतकी हानि और अश्रुतकी ना, कर्म फलके समान मोक्षफलमें अदृष्ट फलत्व और अनित्यत्व आदि दोष किसीसे भी वारण किए जा सकते । इसलिए ब्रह्मवाक्य अवगति निष्ठ ही हैं नियोग निष्ठ नहीं हैं । अतः एक की प्रतीतिसे उनकी एक वाक्यता है यह कथन अयुक्त है । और ब्रह्म वाक्योंमें नियोगका सद्भाव र किये जानेपर भी निष्प्रपञ्च उपदेशोंमें और सप्रपञ्च उपदेशोंमें उसका एकत्व असिद्ध है, कि अन्य शब्द आदि प्रमाणोंसे नियोगका भेद अवगत होनेपर सर्वत्र एक नियोग है, ऐसा आश्रय किया जा सकता । प्रयाजवाक्य और दर्शपूर्णमासवाक्योंमें अधिकार अंशमें अभेद होनेसे युक्त है । परन्तु यहाँ सगुण और निर्गुण विधि वाक्योंमें एकत्वका कोई अधिकारांश नहीं है । त्व आदि गुण प्रपञ्चके प्रविलय करनेमें उपकारी नहीं हैं और न प्रपञ्च प्रविलय भारूपत्व गुणोंका उपकारी है, क्योंकि वे परस्पर विरोधी हैं । एक धर्मीमें सम्पूर्ण प्रपञ्चका प्रविलय और के एक देशकी अपेक्षा, इन दोनोंका समावेश करना युक्त नहीं है । इसलिए साकार और र उपदेशोंका हमसे कहा गया विभाग युक्ततर है ॥ २१ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* ब्रह्म वाक्योंमें नियोग स्वीकार करनेपर भी दोनों उपदेशोंमें एक नियोग नहीं हो सकता, कि भिन्न-भिन्न क्रिया वाचक शब्दोंसे भेद ही ज्ञात होता है । जैसे 'यजति' 'ददाति' वैसे प्रकृतमें 'उपासीत' यह शब्द भेद है, निर्गुण और सगुण यह रूपभेद, प्रकरण भेद, मुक्ति और अभ्युदय- न भेद, इन प्रमाणोंसे निर्गुण ज्ञान और सगुण उपासना विषयक नियोग भेद सिद्ध होता है, दोनों वाक्योंमें एक नियोग असिद्ध है । इसलिए 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादि साकार श्रुतियोंका

(६ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् । सू० २२-३०)

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

पदच्छेद—प्रकृतैतावत्त्वम् , हि, प्रतिषेधति, ततः, ब्रवीति; च, भूयः ।

सूत्रार्थ—(हि) क्योंकि (प्रकृतैतावत्त्वम्) प्रकरणमें प्रतिपादित ब्रह्मके इयत्ता परिच्छि मूर्त और अमूर्तरूपका (प्रतिषेधति) 'नेति नेति' यह शब्द प्रतिषेध करता है। (च) और (ततः) उस प्रतिषेधसे आगे (भूयः) पुनः (ब्रवीति) 'अन्यत्परमस्ति' इस प्रकार कहता है, इसलिए शून्यवादका प्रसङ्ग नहीं है।

* 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (बृ० २।३।१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराश्येन प्रविभज्यामूर्तरसस्य च पुरुषशब्दोदितस्य महारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा पुनः पठ्यते—'अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६) इति। तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे? न ह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किंचित्प्रतिषेध्यमुपलभ्यते। इतिशब्देन त्वत्र प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते 'नेति नेति' इतिपरत्वान्नञ्प्रयोगस्य। इतिशब्दश्चायं संनिहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते—'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' इत्येवमादिषु। संनिहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्याद्रूपद्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणस्तच्च ब्रह्म यस्यैते द्वे रूपे। तत्र नः संशय उपजायते—किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधत्याहोस्विदेकतरम्? यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति, रूपे परिशिनष्टि, आहोस्विद्रूपं

'द्वे वाव ब्रह्मणो० (ब्रह्मके दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त) इस प्रकार उपक्रम कर पाँच महाभूत दो राशिमें विभक्तकर पुरुष शब्दसे कथित अमूर्तसारके महारजन (हरिद्रा हल्दीके समान) आदि दिखलाकर 'अथात आदेशो० (अब इसके अनन्तर 'नेति नेति' यह ब्रह्मका आदेश है 'नेति नेति' इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है) इस प्रकार श्रुति पुनः कहती है। यहाँ इस प्रतिषेधका विषय (प्रतिषेध्य) क्या है, ऐसी हम जिज्ञासा करते हैं। क्योंकि यहाँ 'यह' वह है ऐसा विशेषित कोई प्रतिषेध्य उपलब्ध नहीं होता। 'इति' शब्द तो यहाँ किसी भी प्रतिषेध्यका समर्पण करता है, क्योंकि 'नेति नेति' इसमें नञ् (न) प्रयोग 'इति' परक है, और संनिहितका आलम्बन करनेवाला यह 'इति' शब्द 'एवं' शब्दका तुल्यार्थक 'इति ह स्मोपाध्यायः० 'ऐसा उपाध्यायने कहा' इत्यादि प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। और यहाँ प्रकरणकी सामर्थ्यसे प्रपञ्च युक्त ब्रह्मके दो रूप सन्निहित है, जिसके ये दो रूप हैं वह ब्रह्म है। यहाँपर हमें संशय उत्पन्न होता है कि क्या यह प्रतिषेध दो रू और रूपवत् इन दोनोंका प्रतिषेध करता है अथवा दोनोंमें एकका? यद्यपि एकका प्रतिषेध करता है तो

सत्यानन्दी दीपिका

कल्पित आकारमें और उसकी उपासनासे अभ्युदय आदिकी सिद्धिमें तात्पर्य है और 'अस्थूलम०' इत्यादि निर्गुण श्रुतियोंका ब्रह्मात्मतत्त्वकी अवगति-ज्ञानमें तात्पर्य है, अतः हमारा कहा हुआ यह विभाग ही अधिक युक्त है ॥ २१ ॥

* पृथिवी, जल और तेज ये तीन भूत मूर्त हैं। वायु और आकाश ये दो अमूर्त हैं। इस प्रकार दो राशियोंको कहकर दो अमूर्त भूतोंका सार 'करणात्मा हिरण्यगर्भो य एष एतस्मिन्सूर्यमण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषः' (इस सूर्यमण्डलमें जो यह इन्द्रियरूप हिरण्यगर्भ पुरुष है और दक्षिण नेत्रमें जो यह पुरुष है) इसप्रकार पुरुष शब्दसे कहा गया है। उसका वासनामय विचित्र स्वरूप 'तद्यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वादिकं यथेन्द्रगोपः' (बृ० २।३।६) (जैसा हल्दीमें रङ्गा हुआ वस्त्र, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र, जैसा इन्द्रगोप-वीरबहुटि इत्यादि उपमाओंसे कहा गया है।

ष्यति, ब्रह्म परिशिनष्टीति ? तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्कामहे । द्वौ प्रतिषेधौ, द्विर्नेतिशब्दप्रयोगात् । तयोरेकेन सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषिध्यते, अपरेण द्ब्रह्मेति भवति मतिः । अथवा ब्रह्मैव रूपवत्प्रतिषिध्यते, तद्धि वाङ्मनसातीतत्वाद- मानसद्भावं प्रतिषेधार्हम्, नतु रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षादिगोचरत्वात्प्रतिषेधार्हः । अभ्यास- र्थ इति । * एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते, शून्यवादप्रसङ्गात् । ञ्चित् परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः । तच्च परिशिष्य- कस्मिंश्चिद्भावेऽवकल्पते । उभयप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत ? अपरिशिष्य- चान्यस्मिन्य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषे- पत्तिः । नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते, 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २।१।१) इत्याद्युपक्रमविरो- 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' (तैत्ति० २।६।१) इत्यादिनिन्दाविरोधात्, स्त्येवोपलब्धव्यः' (कठ० ६।१२) इत्यवधारणविरोधात्, सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च ।

ब्रह्मका प्रतिषेध करता है और दो रूपोंको अवशिष्ट रखता है, अथवा दो रूपोंका प्रतिषेध है और ब्रह्मको अवशिष्ट रखता है ? पूर्वपक्षी—प्रकृतत्वके समान होनेसे यहाँ दोनोंका प्रतिषेध है, ऐसी हम आशङ्का करते हैं । ये दो प्रतिषेध हैं, क्योंकि 'नेति' शब्दका दो वार प्रयोग है । शब्दोंमें एकसे प्रपञ्च युक्त ब्रह्मके रूपका प्रतिषेध किया जाता है और दूसरेसे रूपवद् ब्रह्मका, ति होती है, अथवा रूपवद् ब्रह्मका ही प्रतिषेध होता है, क्योंकि वाणी और मनसे अतीत होनेसे अस्तित्व नहीं हो सकता. अतः वह प्रतिषेधके योग्य है, किन्तु रूपप्रपञ्च प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका होनेसे प्रतिषेधके योग्य नहीं है। 'नेति नेति' यह अभ्यास (दो वार कथन) तो आदरके लिए है। —ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—शून्यवादके प्रसङ्ग होनेसे दोनोंका प्रतिषेध उपपन्न ता, क्योंकि किसी परमार्थका आश्रयकर अपरमार्थका प्रतिषेध किया जाता है । जैसे रज्जु आदि- आदिका । परन्तु वह किसी भावके परिशिष्ट होनेपर हो सकता है, किन्तु सबके प्रतिषेध होने- अन्य भाव अवशिष्ट रहेगा ? अन्य भावके अवशिष्ट न होनेपर जिस अन्य भावका प्रतिषेध किया जाता है, उसका प्रतिषेध न हो सकनेके कारण उसीमें परमार्थत्व प्रसक्त होनेसे प्रति- अनुपपत्ति है और ब्रह्मका भी प्रतिषेध युक्त नहीं है, क्योंकि 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (मैं तुम्हें ब्रह्मका कहूँ) इत्यादि उपक्रमसे विरोध होता है और 'असन्नेव० (यदि पुरुष 'ब्रह्म असत् है' ऐसा है, तो वह स्वयं असत् ही हो जाता है) इत्यादि निन्दासे विरोध होता है और 'अस्तीत्येवो-

सत्यानन्दी दीपिका

श्रुतिको उपलक्षण मानकर सूक्ष्म पाँच भूत अमूर्त हैं और पञ्चीकृत पाँच भूत मूर्त हैं' इससे रस कहनेसे करणोंमें पाँच भौतिकत्वकी सिद्धि करते हैं । और यहाँ 'नेतिनेति' इस प्रति- प्रतिषेध्य विकल्पकर भाष्यमें दिखलाया गया है । निषेध श्रुतियोंसे ब्रह्मका जो निर्विशेषरूप किया गया है, वह युक्त नहीं, क्योंकि वे तो ब्रह्मका भी निषेध करते हैं, इसप्रकार दृष्टान्त संगतिसे करते हैं । पूर्वपक्षीने 'नेतिनेति से रूपवद् ब्रह्म और दो रूपोंका निषेध किया है । परन्तु नक निषेध नहीं देखा जाता, अतः सबका निषेध युक्त नहीं है । इस अरुचिसे 'अथवा' इत्यादि है । पूर्वपक्षमें 'तत्त्वमसि' इस वाक्य स्थित 'तत्' (ब्रह्म) पदार्थके अभाव होनेसे अभेदकी है और सिद्धान्तमें 'तत्' पदार्थका अस्तित्व होनेसे अभेद सिद्ध है ।

* उपाधिके हट जाने अथवा निषेध किये जानेपर भी उपहितका निषेध नहीं हो सकता । जैसे आगेसे दर्पण आदिके हटाये जानेपर मुखका अभाव अथवा अप्रतीति नहीं होती, वैसे ही

वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते। नहि महता परिकरबन्धे 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवमादि वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलप्येत। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वर इति हि न्यायः। ❀ प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा—'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह (तै० २।४।१) इति। एतदुक्तं भवति—वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति। तस्माद्ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युप न्तव्यम्। तदेतदुच्यते—प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति। प्रकृतं यदेतावदियत्तापरिच्छि मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेष शब्दः प्रतिषेधति। तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन्ग्रन्थे धिदैवतमध्यात्मं च तज्जनितमेव च वासनालक्षणमपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदि लिङ्गात्मव्यपाश्रयं महारजनाद्युपमाभिर्दर्शितम्, अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वा नुपपत्तेः। तदेतत्सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं संनिहितालम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकं नञं प्रत्युपनी यत इति गम्यते। ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठ्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन्ग्रन्थे, न स्वप्रधानत्वेन

पलब्धव्यः' (है, इसप्रकार उसकी उपलब्धि करनी चाहिए) इत्यादि अवधारणका विरोध है औ सब वेदान्तोंके विरोधका प्रसङ्ग आता है। ब्रह्म वाणी और मनका अविषय है, तो भी वह अभाव अभिप्रायसे नहीं कहा जाता, क्योंकि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (ब्रह्मवेत्ता परब्रह्मको प्राप्त होता है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे वेदान्तोंमें महान् प्रयत्नसे ब्रह्मका प्रतिपादन कर पुनः उसी अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'प्रक्षालनाद्धि०' (कीचड़को अङ्गमें लगाकर धोनेकी अपेक्ष उसका दूरसे ही अस्पर्श श्रेष्ठ है) ऐसा ही न्याय है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते० (जहांसे मन सहि वाणी उसे न पाकर लौट आती है) यह तो [ब्रह्मके] प्रतिपादन करनेकी प्रक्रिया है। तात्पर्य य है कि ब्रह्म वाणी और मनसे अतीत है, इससे वह विषयोंके अन्तर्भूत नहीं है, अतः प्रत्यगात्मरू नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है। इसलिए श्रुति ब्रह्मके रूपप्रपञ्चका प्रतिषेध करती है औ ब्रह्मको अवशिष्ट रखती है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। इससे यह कहते हैं—'प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति' प्रकृत ब्रह्मका जो इयत्तासे परिच्छिन्न मूर्त और अमूर्तरूप है उसका यह श्रुति प्रतिषेध कर है, क्योंकि उस प्रकृत अधिदैवत और अध्यात्मका पूर्वग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया गया है, उ उत्पन्न हुआ वासना लक्षण दूसरा रूप अमूर्तका सारभूत जो पुरुषशब्दसे कहा गया है और लिङ्ग त्मव्यपाश्रय है और महारजन आदि उपमाओंसे दिखलाया गया है, क्योंकि अमूर्तका सारभूत पु चक्षुसे ग्राह्यरूपसे युक्त नहीं हो सकता। ब्रह्मका वह सप्रपञ्चरूप संनिहितका आश्रयण करनेवाले 'इति' द्वारा प्रतिषेधक 'नञ्' के प्रति विषयरूपसे स्थापित किया जाता है, ऐसा ज्ञात होता है। ब्रह्म तो रूप विशेषणरूपसे षष्ठी द्वारा पूर्व ग्रन्थमें निर्दिष्ट है स्व प्रधानरूपसे नहीं। उसके दो रूपोंका विस्तारपूर्व

सत्यानन्दी दीपिका

अविद्या और अविद्यासे कल्पित प्रपञ्चके प्रतिषेध करनेपर भी उपहित ब्रह्मका अभाव वा अप्रती नहीं हो सकती। अतः निर्विशेष ब्रह्म श्रुति सिद्ध है।

❀ 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इसप्रकार प्रधान होनेसे यहाँ दो रूप ही प्रकृत हैं, अतः उनका ही 'नेति नेति' से प्रतिषेध है। ब्रह्म तो षष्ठी विभक्तिसे निर्दिष्ट होनेसे अप्रधान है। यदि षष्ठी विभक्ति निर्दिष्टका भी प्रधानरूपसे स्वीकार कर निषेध करें, तो 'राज्ञो भृत्यो नास्ति' (राजाका सेवक नहीं है) यहांपर सेवकके निषेधसे राजाका भी निषेध प्रसक्त होगा। अतः ब्रह्म निषेध्य नहीं है शङ्का—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध द्वैतका निषेध करनेपर उसके साथ विरोध होगा? समाधान— किन्तु आरम्भाधिकरणमें प्रत्यक्ष आदिकी व्यावहारिक प्रमाणता स्थापन की गई है, पारमार्थिक नहीं,

ते च तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम्—'अथात आदेशो नेति (बृ० २।३।६) इति। तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति ते। तदास्पदं हीदं समस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम्। युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं, नतु ब्रह्मणः; सर्वकल्पनामूलत्वात्। चेयमाशङ्का कर्तव्या—कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव प्रतिषेधति—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति। यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यशुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम्। द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः। यद्वा- -पूर्वः प्रतिषेधो भूतराशिं प्रतिषेधति, उत्तरो वासनाराशिम्। —'नेति नेति (बृ० २।३।६) इति वीप्सेयमितीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न त्यर्थः। परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नतद्ब्रह्म किमन्यद्ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा। वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रतिषेधादविषयः प्रत्यगात्मा ब्रह्मेति सा निवर्तते। तस्मात्प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः। चैष एव निर्णयः। यतस्ततः प्रतिषेधाद्भूयो ब्रवीति—'अन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६)

होनेसे रूपवत्के स्वरूपकी जिज्ञासा होनेपर 'अथात आदेशो नेति नेति' ऐसा उपक्रम किया गया कल्पितरूपके प्रत्याख्यान द्वारा ब्रह्मका यह स्वरूप ज्ञान है, ऐसा निर्णय होता है, क्योंकि तद्विषयक स्त कार्य 'नेति नेति' इससे प्रतिषिद्ध है, और वाचारम्भण शब्द आदिसे कार्य असत्-मिथ्या है। ति नेति' इससे उसका प्रतिषेध युक्त है किन्तु ब्रह्मका नहीं, क्योंकि वह सर्वकल्पनाओंका मूल है। यह शंका नहीं करनी चाहिए कि स्वयं ही शास्त्र ब्रह्मके दो रूप दिखलाकर पुनः स्वयं ही नाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इसप्रकार उसका प्रतिषेध कैसे करता है, क्योंकि यह शास्त्र दो रूपोंका प्रतिपाद्यरूपसे निर्देश नहीं करता, किन्तु लोक प्रसिद्ध और ब्रह्ममें कल्पित इन दोनों प्रतिषेध्यत्व और शुद्ध ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन करनेके लिए परामर्श करता है, इसप्रकार कोई नहीं है। ये दो प्रतिषेध 'यथासंख्य न्यायसे मूर्त और अमूर्त दो रूपोंका प्रतिषेध करते हैं। पूर्व (नेति) प्रतिषेध भूत समुदायका प्रतिषेध करता है और दूसरा प्रतिषेध वासना राशिका करता है। अथवा 'नेति नेति' यह वीप्सा है, इससे जिस किसीकी कल्पनाकी जा सकती है, ब्रह्म नहीं है, ऐसा अर्थ है। क्योंकि परिगणित प्रतिषेध किए जानेपर यदि यह ब्रह्म नहीं है, अन्य ब्रह्म है, ऐसी जिज्ञासा होगी। और वीप्सा होनेपर तो सम्पूर्ण विषय समुदायके प्रतिषेध प्रत्यगात्मा ब्रह्म अविषय है, इस प्रकार जान लेनेपर जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। इसलिए यह शास्त्र ब्रह्ममें कल्पित प्रपञ्चका ही प्रतिषेध करता है और ब्रह्मका परिशेष (अवशिष्ट) करता है, निर्णय है। और इससे भी यही निर्णय है, क्योंकि उस प्रतिषेधसे 'अन्यत्परमस्ति' (अन्य

सत्यानन्दी दीपिका

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे कार्यमात्रमें मिथ्यात्व सिद्ध होता है। इसलिए क दृष्टिसे ही कार्यमात्रमें मिथ्यात्वका उपपादन कर 'नेतिनेति' इससे निषेध किया गया है। व्यावहारिक सत्ताको लेकर प्रत्यक्ष आदिका निषेध नहीं किया जाता, अतः कोई विरोध नहीं है। यदि प्रपंच प्रतिषेधसे पृथक् 'अन्यत्परमस्ति' यह आदेश ब्रह्मविषयक नहीं, तो 'सत्यस्य-' इसप्रकार प्रश्न और प्रतिवचन अनुपपन्न होंगे और शून्यवाद प्रसक्त होगा। यदि ब्रह्म शेष माना जाय तो यह प्रश्न और प्रतिवचन संगत होते हैं। इसलिए परमार्थ सद्ब्रह्म का प्रतिषेध मानना युक्त है ॥२२॥

इति । अभावावसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत्परमस्तीति ब्रूयात् । तत्रैषाक्षरयोजना— नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति । नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः ? न ह्येतस्माद्ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते, न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः । तच्च दर्शयति 'अन्य त्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्तीति । यदा पुनरेवमक्षराणि योज्यन्ते नह्येतस्मादिति नेति नेति, नि प्रपञ्चप्रतिषेधरूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणोऽस्तीति, तदा 'ततो ब्रवीति च भूय' इत्ये तन्नामधेयविषयं योजयितव्यम् । अथ नामधेयम्—'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामे सत्यम्' (बृ० २।१।२०) इति हि ब्रवीतीति । तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत ? तस्माद्ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषे नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः ॥२२॥

तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

पदच्छेद—तत्, अव्यक्तम्, आह, हि ।

सूत्रार्थ—(तदव्यक्तम्) वह ब्रह्म अव्यक्त है, (हि) क्योंकि (आह) 'न चक्षुषा गृ इत्यादि श्रुति ऐसा कहती है ।

यत्प्रतिषिद्धात्प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत्कस्मान्न गृह्यत इति । उच्यते—त व्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात् । आह ह्येवं श्रुतिः—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (मुण्ड० ३।१।८) 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (३।९।२६) 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (मुण्ड० १।१।६) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनि यने' (तै० २।७।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (भ० २।२५) इत्याद्या ॥२३॥

परम है) ऐसा श्रुति पुनः कहती है । प्रतिषेधका अभावमें पर्यवसान करनेपर तो श्रुति 'अन्यत्परम ऐसा क्यों कहती । यहां इसप्रकार अक्षर योजना है—'नेति नेति' इसप्रकार ब्रह्मका आदेशकर उसी आदेशका निर्वचन करती है । 'नेति नेति' इसका क्या अर्थ है ? उस ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है, अतः 'नेति नेति' ऐसा कहा जाता है, ब्रह्म स्वयं ही नहीं है, ऐसा अर्थ नहीं है । और परम अप्रतिषिद्ध ब्रह्म है, ऐसा अवशिष्ट उस ब्रह्मको दिखलाती है । यदि इसप्रकार अक्षरोंकी योज की जाय कि 'नेति नेति' यह नहीं, यह नहीं, इस उपदेशसे ब्रह्म उपदिष्ट नहीं है, प्रपञ्च प्रति आदेशसे 'अन्यत्परमस्ति' यह आदेश ब्रह्मका नहीं है, तो 'ब्रवीति च भूयः' इस सूत्रांशको विषयक योजना करनी चाहिए । 'सत्यस्य सत्पमिति' (सत्यका सत्य प्राण ही सत्य है, उनका ही सत्य है) इसप्रकार नामधेयको श्रुति कहती है । और वह नामधेय, प्रतिषेधका ब्रह्ममें पर्यवसान पर संगत होता है, और प्रतिषेधका अभावमें पर्यवसान होनेपर तो सत्यका सत्य कौन कहा जाय इसलिए यह प्रतिषेधावसानक ब्रह्म है अभाव अवसानक नहीं है, ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥ २२

प्रतिषिद्ध प्रपञ्च समूहसे अन्य जो परब्रह्म है यदि वह है तो गृहीत क्यों नहीं होता ? कहते वह अव्यक्त है इन्द्रिय अग्राह्य है, क्योंकि वह सम्पूर्ण दृश्यका साक्षी है । और 'न चक्षुषा० (आत्मका न नेत्रसे ग्रहण किया जाता है, न वाणीसे, न अन्य इन्द्रियोंसे और न तप अथवा ही) 'स एष० (नेति नेति, ऐसा कहकर मधुकाण्डमें निरूपण किया है वह आत्मा अग्राह्य है, क्यों उसका ग्रहण नहीं किया जाता) 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (यह जो अदृश्य और अग्राह्य है) 'यदा ह्येवै (जिस समय वह साधक इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्ममें अभयस्थि प्राप्त करता है उस समय यह अभयको प्राप्त हो जाता है) इत्यादि श्रुति इसप्रकार कहती है ।

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

पदच्छेद—अपि, च, संराधने, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

सूत्रार्थ—(अपि च) और योगी लोग उस अव्यक्त आत्माको (संराधने) ध्यानके समय हैं, (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) क्योंकि 'कश्चिद्धीरः' 'यं विनिद्रा' इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे ऐसा होता है ।

अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः । संरा- भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् । कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति । नुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथा हि श्रुतिः—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्त- ङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (क० ४।१) 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३।१।८) इति चैव- स्मृतिरपि—'यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै नमः ॥ योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्' इति चैवमाद्या ॥२४॥

ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति नेत्युच्यते—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥

पदच्छेद—प्रकाशादिवत्, च, अवैशेष्यम्, प्रकाशः, च, कर्मणि, अभ्यासात् ।

सूत्रार्थ—(प्रकाशादिवत्) जैसे प्रकाश आदि अंगुलि आदि उपाधिमें भिन्न-सा प्रतीत होने वस्तुतः एकरूप है, वैसे (प्रकाशः) परमात्मा भी (कर्मणि) ध्यान आदिमें भिन्न-सा हुआ (अवैशेष्यम्) वस्तुतः एक रूप है, (अभ्यासात्) क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेद अभ्यास है ।

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा

ऽयम्० (यह आत्मा अव्यक्त–इन्द्रियोंका अविषय, यह अचिन्त्य-मनका अविषय और यह रहित कहा जाता है) इत्यादि स्मृति भी ऐसा ही कहती है ॥२३॥

और समस्त प्रपञ्चसे शून्य, अव्यक्त इस आत्माको योगी लोग संराधन समयमें देखते हैं । ध्यान, प्रणिधान आदिका अनुष्ठान संराधन है । परन्तु यह कैसे जाना जाता है कि योगी लोग न कालमें देखते हैं ? प्रत्यक्ष और अनुमानसे–श्रुति और स्मृतिसे [ऐसा अवगत होता है] र्थ है । जैसे कि 'पराञ्चि खानि० (स्वयम्भु ईश्वरने छिद्रोपलक्षित इन्द्रियोंको बहिर्मुखकर हिंसित है, इससे जीव बाह्य विषयोंको देखता है, अन्तरात्माको नहीं । जिसने अमृतत्व-मोक्षकी करते हुए अपनी इंद्रियोंको रोक लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यागात्माको देख पाता है) ज्ञानप्रसादेन० (ज्ञान प्रसादसे पुरुष विशुद्ध चित्त हो जाता है और तभी वह ध्यान करते हुए निष्कल आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है) इत्यादि श्रुति और 'यं विनिद्रा० (निद्रारहित- रहित, श्वासको जीतनेवाले, सन्तुष्ट और संयतेन्द्रिय पुरुष ध्यान करते हुए जिस ज्योतिको है, उस योगलभ्य आत्माको नमस्कार है, उस सनातन भगवान्को योगी लोग सम्यग्रूपसे हैं) इत्यादि स्मृति भी है ॥२४॥

परन्तु संराध्य और संराधकभाव स्वीकार करनेसे पर और अपर आत्माओंमें भेद हो जायगा ? ऐसा कहते हैं—

जैसे प्रकाश, आकाश, सविता आदि अंगुलि, कमण्डलु, जल आदि उपाधि भूत कर्मोंमें से भासते हैं, परन्तु अपने स्वाभाविक साधारणरूपको नहीं छोड़ते, वैसे ही यह आत्मभेद

इवावभासन्ते, नच स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभे स्वतस्त्वैकात्म्यमेव। तथा हि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ॥२५॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥२६॥

पदच्छेद—अतः, अनन्तेन, तथा, हि, लिङ्गम्।

सूत्रार्थ—(अतः) भेदके औपाधिक होनेसे विद्यासे उसकी निवृत्ति होनेपर जीव (अनन्तेन अनन्त परमात्माके साथ एक हो जाता है, क्योंकि (तथा हि लिङ्गम्) वैसा ही लिङ्ग-ज्ञापक है अर्थ 'स यो ह वै०' इत्यादि श्रुति है।

अतश्च स्वाभाविकत्वादभेदस्याविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीव परेणानन्तेन प्राज्ञेनात्मनैकतां गच्छति। तथा हि लिङ्गम्—'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मै भवति' (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इत्यादि ॥२६॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥२७॥

पदच्छेद—उभयव्यपदेशात्, तु, अहिकुण्डलवत्।

सूत्रार्थ–(अहिकुण्डलवत्) जैसे सर्परूपसे अभेद है और कुण्डल आदि रूपसे भेद है वैसे ही (उभयव्यपदेशात्) ध्यातृ और ध्येय भावसे और 'तत्त्वमसि' आदिसे जीव और ईश्वरमें भे और अभेद दोनोंका व्यपदेश है। (तु) शब्द विलक्षणताका द्योतक है।

तस्मिन्नेव संराध्यसंराधकभावे मतान्तरमुपन्यस्यति स्वमतविशुद्धये। क्वचिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदो व्यपदिश्यते 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मुण्ड० ३।१।८) इति ध्यातृध्यातव्यत्वेन द्रष्टृद्रष्टव्यत्वेन च। 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३।२।८) इति गन्तृगन्तव्यत्वेन। 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति नियन्तृनियन्तव्यत्वेन क्वचित्तु तयोरेवाभेदो व्यपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'एष त आत्मा सर्वान्तर (बृ० ३।४।१) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३) इति। तत्रैवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्यते भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्। अत उभयव्यपदेशदर्शना

उपाधि निमित्तक ही है स्वतः तो एक रूप ही है। क्योंकि वेदान्त वाक्योंमें अभ्याससे अनेक वा जीव और प्राज्ञका अभेद प्रतिपादित किया जाता है ॥२ ॥

और इससे–अभेदके स्वाभाविक होनेसे और भेदके अविद्याकृत होनेसे विद्या द्वारा अविद्या निवृत्तिकर जीव पर-अनन्त प्राज्ञात्माके साथ एकताको प्राप्त होता है, क्योंकि 'स यो ह वै० (जो उ परब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि लिङ्ग-ज्ञापक है ॥२६॥

उसी संराध्य-संराधक भावमें स्वमतकी विशुद्धिके लिए अन्य मतका उपन्यास करते हैं 'ततस्तु तं पश्यते० (तो उससे वह ध्यान करता हुआ उस निष्कल आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है इस तरह कहीं पर ध्यातृ–ध्यातव्यरूपसे और द्रष्टृ–द्रष्टव्यरूपसे, और 'परात्परं० (परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है) इस प्रकार कहीं पर गन्तृ–गन्तव्यरूपसे, और 'यः सर्वाणि० (जो स भूतोंका उनके अन्तर रहकर नियमन करता है) इस प्रकार कहीं पर नियन्तृ-नियन्तव्यरूपसे जीव और परमात्माके भेदका व्यपदेश किया जाता है। और 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एष त० (यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है) और 'एष त० (वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है) इस प्रकार कहींपर तो उन दोनोंमें अभेदका ही व्यपदेश किया जाता है। इस प्रकार वहाँ दोनोंके व्यपदेश होनेपर यदि एकान्तत अभेदका ही ग्रहण किया जाय तो भेद व्यपदेश निरालम्बन ही हो जायगा। अतः उभय व्यपदेशके दर्शनसे अहिकुण्डलके समान यहाँ तत्त्व होना युक्त है। जैसे 'सर्प' इस प्रकार अभेद है

डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति। यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति तु भेद हापीति ॥२७॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

पदच्छेद—प्रकाशाश्रयवत्, वा, तेजस्त्वात्।

सूत्रार्थ—(वा) अथवा (प्रकाशाश्रयवत्) जैसे प्रकाश और उसके आश्रय सूर्य दोनोंमें भेद नहीं है, (तेजस्त्वात्) क्योंकि दोनोंमें तेजस्त्व समान है, वैसे जीव और ईश्वरमें भी और अभेद समझना चाहिए।

* अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम्। यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता भिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात्। अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवत हापीति ॥२८॥

पूर्ववद्वा ॥२९॥

पदच्छेद—पूर्ववत्, वा।

सूत्रार्थ—(वा) अथवा (पूर्ववत्) 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्' इस सूत्रमें पहले भेद काल्पनिक अभेद पारमार्थिक कहा गया है, उसके समान यहाँ भी समझना चाहिए।

* यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति तथैवैतद्भवितुमर्हति। तथाह्य- कृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते। यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माहि- लन्यायेन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन चैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत ततः र्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत, न चात्रोभावपि भेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशति। अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति, भेदं तु पूर्व-

---

कुण्डल-वलयाकार, आभोग-वक्राकार, दीर्घाकार आदि तो भेद है, वैसे यहाँ भी दोनोंमें जीव- भेद और ब्रह्मरूपसे अभेद है ॥ २७ ॥

अथवा प्रकाश और उसके आश्रयके समान यह समझना चाहिए। जैसे सूर्यका प्रकाश और का आश्रय सूर्य अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, क्योंकि दोनोंमें भी तेजस्त्व समान है, किन्तु दोनों ही भेद देशके भागी होते हैं, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए ॥ २८ ॥

अथवा प्रकाश आदिके समान जीव और परमात्माका अभेद जैसे पूर्वमें कहा गया है, वैसे ही होना युक्त है, क्योंकि बन्धके अविद्याकृत होनेसे विद्यासे मोक्ष उपपन्न होता है। यदि पुनः र्थरूपसे ही अहिकुण्डल न्यायसे परमात्माका संस्थानभूत अथवा प्रकाशाश्रय न्यायसे एक देश कोई बद्ध जीवात्मा स्वीकार किया जाय, तो पारमार्थिक बन्धका तिरस्कार (निवृत्ति) न हो सकनेसे शास्त्र व्यर्थ हो जायगा, और यहाँ भेद और अभेद इन दोनोंका श्रुति समानरूपसे व्यपदेश नहीं ती। श्रुति अभेदका ही प्रतिपाद्यरूपसे निर्देश करती है, और पूर्व प्रसिद्ध भेदका तो अन्य अर्थकी

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे तेजस्त्व समान धर्मको लेकर सूर्यके प्रकाश और सूर्यमें अभेद है और प्रकाशत्व और त्वको लेकर दोनोंमें भेद भी है, वैसे आत्मत्वको लेकर जीव और परमेश्वरमें अभेद है और जीवत्व ईश्वरत्वको लेकर दोनोंमें भेद भी है ॥ २८ ॥

* भेद और अभेद इन दोनोंका एक स्थलमें स्वीकार करनेसे लोकमें उनकी विरोध कथा लुप्त जायगी, अतः श्रुति तो अभेदका ही प्रतिपाद्यरूपसे उपन्यास करती है और ब्रह्म सिद्धिकी विवक्षासे नावस्थामें लोक प्रसिद्ध भेदका अनुवाद मात्र करती है ॥ २९ ॥

प्रसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया। तस्मात्प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः।

प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

पदच्छेद—प्रतिषेधात्, च।

सूत्रार्थ—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिसे परमात्मासे भिन्न चेतनका और 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसे भिन्न दृश्यमान प्रपञ्चका प्रतिषेध होनेसे अद्वितीय ब्रह्म ही अवशिष्ट है।

❁ इतश्चैष एव सिद्धान्तः। यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यं चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्- 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३ इत्येवमादि। 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद्ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते ॥३०॥

(७ पराधिकरणम्। सू० ३१-३७)

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

पदच्छेद—परम्, अतः, सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः।

सूत्रार्थ—(अतः) इस ब्रह्मसे (परम्) अन्य वस्तु है, क्योंकि (सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः) सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेदके व्यपदेशसे ऐसा ज्ञात होता है।

❁ यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपञ्चं ब्रह्म निर्धारितम्, अस्मात्परमन्यत्तत्त्वमस्ति नास्तीति श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः। कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्तत्त्वं प्रतिपादयन्तीव। तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रमः क्रियते। परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्वं भवितुमर्हति। कुतः? सेतुव्यपदेशादुन्मानव्यपदेशात् संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यप-

---

विवक्षासे अनुवाद करती है। इसलिए 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्' 'प्रकाश आदिके समान अभेद है' यही सिद्धान्त है ॥ २९ ॥

इससे भी यही सिद्धान्त है, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (उस-परमात्मासे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि शास्त्र परमात्मासे अन्य चेतनका प्रतिषेध करता है, और 'अथात०' (अब इसके अनन्तर 'नेति नेति' यह ब्रह्मका आदेश है) और 'तदेतद्ब्रह्म० (वह यह ब्रह्म कारण रहित, कार्य रहित, विजातीय द्रव्यसे रहित और अबाह्य है) इस प्रकार ब्रह्मसे व्यतिरिक्त प्रपञ्चका निराकरण होनेसे ब्रह्ममात्रका परिशेष होनेसे यही सिद्धान्त है, ऐसा ज्ञात होता है ॥ ३० ॥

समस्त प्रपञ्चसे शून्य इस ब्रह्मका जो निर्धारण किया गया है, इससे भिन्न अन्य तत्त्व है कि नहीं? इस प्रकार श्रुतियोंकी विप्रतिपत्तिसे संशय होता है। आपाततः कोई प्रतिभासमान वाक्य ब्रह्मसे भी भिन्न अन्य तत्त्वका प्रतिपादन-सा करते हैं, उनका ही परिहार कहनेके लिए यह उपक्रम किया जाता है। पूर्वपक्षी—इस ब्रह्मसे पर-अन्य तत्त्व हो सकता है। क्यों? सेतुका व्यपदेश, उन्मानका व्यपदेश, सम्बन्धका व्यपदेश और भेदका व्यपदेश है। 'अथ य आत्मा० (जो आत्मा है वह विधारक

सत्यानन्दी दीपिका

* इस प्रकार निषेध वाक्योंका विचार करनेपर निष्प्रपञ्च चिदेकरस ब्रह्म ही 'तत्' पदसे लक्षित सिद्ध होता है, यही सिद्धान्त है ॥ ३० ॥

* 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्म अतिरिक्त वस्तुका प्रतिषेध किया गया है, परन्तु सेतु आदि श्रुतिसे अन्य वस्तुका अस्तित्व प्रतीत होता है, इस प्रकार आक्षेप संगतिसे 'परम' इत्यादिसे पूर्वपक्ष करते हैं। यद्यपि द्युभ्वाद्यधिकरणमें सेतु शब्दको गौण मानकर विधारक रूपसे उसका व्याख्यान किया गया है, तो भी उन्मान आदि श्रुतियोंके तात्पर्यको न समझकर पूर्वपक्षी शंका करता है। इससे

त्वेति। सेतुव्यपदेशस्तावत्—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' (छा० ८।४।१) इत्यात्मभिहितस्य ब्रह्मणः सेतुत्वं संकीर्तयति। सेतुशब्दश्च हि लोके जलसंतानविच्छेदकरे र्वादिप्रचये प्रसिद्धः, इह च सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकसेतोरिवात्मसेतोर वस्तुनोऽस्तित्वं गमयति, 'सेतुं तीर्त्वा' (छा० ८।४।२) इति च तरतिशब्दप्रयोगात्। लौकिकं सेतुं तीर्त्वा जाङ्गलमसेतुं प्राप्नोत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाऽनात्मानमसेतुं प्राप्नो गम्यते। * उन्मानव्यपदेशश्च भवति—'तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमि'ति। लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्षापणादि, ततोऽन्यद्वस्त्वस्तीति प्रसिद्धम्। ब्रह्मणोऽप्युन्मानात्ततोऽन्येन वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते। तथा संबन्धव्यपदेशोऽपि —'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति 'शारीर आत्मा' (तै० २।३।१) नात्मना संपरिष्वक्तः' (बृ० ४।३।२१) इति च। मितानां च मितेन संबन्धो दृष्टो यथा नां नगरेण। जीवानां च ब्रह्मणा संबन्धं व्यपदिशति सुषुप्तौ। अतस्ततः परमन्यदमित ति गम्यते। भेदव्यपदेशश्चैनमेवार्थं गमयति। तथा हि—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिर-

) इस प्रकार सेतु व्यपदेश आत्मशब्दसे अभिहित ब्रह्म सेतु है ऐसा कहता है। और लोकमें जल प्रवाहका विच्छेद करनेवाले मृत्तिका, लकड़ी आदिके समूहमें प्रसिद्ध है। यहाँ तो सेतु आत्मामें प्रयुक्त है, इसलिए वह लौकिक सेतुके समान आत्मसेतुसे अन्य वस्तुके अस्तित्वका राता है। क्योंकि 'सेतुं तीर्त्वा' (सेतुको तैरकर) इस प्रकार 'तरति' शब्दका प्रयोग है। जैसे सेतुको तैरकर असेतु जाङ्गल (वायु प्रधान) स्थलको प्राप्त होता है, वैसे ही आत्मसेतुको तैरकर अनात्माको प्राप्त होता है, ऐसा ज्ञात होता है।

उन्मानका भी व्यपदेश है—'तदेतद्ब्रह्म० (वह ब्रह्म चार पाद वाला, आठखुर वाला और अवयव वाला है) लोकमें जो उन्मित है—यह इतना है, इस प्रकार परिच्छिन्न कार्षापण है उससे अन्य वस्तु है, ऐसा प्रसिद्ध है। उसी प्रकार ब्रह्मके उन्मानसे भी उससे अन्य वस्तु चाहिए, ऐसा ज्ञात होता है। तथा 'सता सोम्य० (हे सोम्य० उस समय सत्के साथ सम्पन्न) और 'शारीर आत्मा० (अन्नमयमें स्थित यही आत्मा है) 'प्राज्ञेनात्मना० (यह पुरुष के साथ संसृष्ट हुआ है) इस प्रकार सम्बन्धका व्यपदेश होता है। और मितों-परिच्छिन्नोंका के साथ सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे मनुष्योंका नगरके साथ। और श्रुति सुषुप्तिमें जीवोंका साथ सम्बन्ध कहती है, इसलिए उससे यह अन्य-अमित-अपरिच्छिन्न है, यह ज्ञात होता है। देश भी इसी अर्थका बोध कराता है, क्योंकि 'अथ य एषो० (तथा यह जो आदित्य के अन्तर्गत सुवर्णमय-सा पुरुष दिखाई देता है) इस तरह आदित्य आधारवाले ईश्वरका

सत्यानन्दी दीपिका

में उन्मान आदि श्रुतियोंके मुख्य होनेसे द्वैत सिद्ध होता है। सिद्धांतमें तो तत् पद लक्ष्य अद्वितीय सिद्धि फल है। 'ब्रह्म, सद्वयं, सेतुत्वात् लौकिकसेतुवत्' 'ब्रह्म सद्वितीय है, क्योंकि सेतु है, लौकिक सेतु' इस अनुमानसे ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तु सिद्ध होती है। और 'सेतुं तीर्त्वा' इत्यादि श्रुति- ऐसा ज्ञात होता है।

* प्रकाशवत्, अनन्तवत्, ज्योतिष्मत् और आयतनवत् ये चार ब्रह्मके पाद हैं। चार दिशाएँ यह प्रकाशवत् पाद है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु और समुद्र यह अनन्तवान्पाद है। सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् यह ज्योतिष्मान् पाद है। चक्षु, श्रोत्र, वाक् और मन यह आयतन पाद है। इसप्रकार ब्रह्म चतुष्पाद है। प्रत्येक पादके दो भाग होनेसे ब्रह्मके आठ खुर होते हैं,

ण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाद्याधारमीश्वरं व्यपदिशति—'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १।७।५) इति। अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु करोति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १।७।५) इति। सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—'ये चामुष्मात्- राञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १।६।८) इत्येकस्य। 'ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।६) इत्येकस्य। यथेदं मागधस्य राज्यमिदं वैदेहस्येति एवमेतेभ्यः सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो ब्रह्मणः परमस्तीति ॥३१॥

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

सामान्यात्तु ॥३२॥

पदच्छेद—सामान्यात्, तु।

सूत्रार्थ—परन्तु जैसे लौकिक सेतुजलका व्यवस्थापक है, वैसे ब्रह्म जगत् मर्यादाका व्यवस्थापक है, इसप्रकार सादृश्यसे ब्रह्म में सेतुत्व उपदिष्ट है।

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि। न ब्रह्मणोऽन्यत्किंचिद्भवितुमर्हति, प्रमाणाभावात्। न ह्यन्यस्यास्तित्वे किंचित्प्रमाणमुपलभामहे। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम्। अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य। नच ब्रह्मव्यतिरिक्त

व्यपदेश कर उसके अनन्तर 'अथ य एष० (तथा यह जो नेत्रोंके अन्तर्गत पुरुष दिखाई देता है) इस प्रकार भेदसे नेत्र आधारवाले ईश्वरका व्यपदेश करती है। और 'तस्यैतस्य० (उस इस पुरुषका वही रूप है जो उस आदित्यान्तर्गत पुरुषका रूप है, जो उसके पर्व हैं वही इसके पर्व हैं, जो उसका नाम है वही इसका भी नाम है) इस प्रकार अक्षिस्थ पुरुषका इस आदित्यस्थ पुरुषके साथ रू आदिमें अतिदेश करती है। और 'ये चामुष्मात्० (जो इस आदित्य लोकसे ऊपरके लोक हैं और जो देवताओंकी कामनाएँ हैं उनका शासन करता है) इस प्रकार एकका, और 'ये चैत० (जो इस अध्यात्म आत्मासे नीचेके लोक हैं उनका तथा मानवीय कामनाओंका शासन करता है) इस प्रकार दूसरेका, इस तरह दोनोंका ईश्वरत्व मर्यादित व्यपदेश करती है। जैसे यह मगधका राज्य है और यह वैदेहका। इस तरह इन सेतु आदि व्यपदेशोंसे ब्रह्मसे अन्य वस्तु है ॥ ३१ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर प्रतिपादन किया जाता है—

सिद्धान्ती—तु शब्दसे प्रदर्शित प्राप्तिका निरोध करते हैं—ब्रह्मसे अन्य कुछ भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाणका अभाव है। अन्यके सद्भावमें हमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। उत्पत्तिम सम्पूर्ण वस्तु समुदायका जन्म आदि ब्रह्मसे होता है, ऐसा निर्धारित है। कारणसे कार्य अनन्य होता

सत्यानन्दी दीपिका

और प्रत्येक पादके उक्त चार-चार भाग होनेसे ब्रह्म सोलह अवयवों वाला है। जैसे सोलह पणोंका कार्षापण होता है। इसप्रकार ब्रह्म परिच्छिन्न होनेसे द्वैतसहित है, और सुषुप्तिमें जीवके साथ ग्रामके समान सम्बन्धी होनेसे भी ब्रह्म द्वैतसहित है। आधारभेदसे भी वस्तुका भेद होता है। आधार, अति देश और अवधिरूपसे भेद तीन प्रकारका कहा गया है। नेत्र और आदित्य मण्डलका आधाररूपसे कथन है। नेत्रस्थ पुरुषका जो नाम आदि है वही आदित्यस्थ पुरुषका है, यह अतिदेश है। इसी प्रकार एक आदित्य लोकसे ऊपरलोकों और देव कामनाओंका शासक है और दूसरा इससे नीचेके लोकों और मनुष्य कामनाओंका शासक है। इसप्रकार शासकत्वकी सीमा निर्धारित है। इसतरह सेतु, सम्बन्ध, उन्मान और भेदके कथनसे ब्रह्मसे भिन्न अन्य कोई अपरिच्छिन्न वस्तु है ॥३१॥

द्वजं संभवति, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यवधारणात्। ज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान्न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वमवकल्पते। ननु सेत्वादिशा ब्रह्मव्यतिरिक्तं तत्त्वं सूचयन्तीत्युक्तम्, नेत्युच्यते—सेतुव्यपदेशस्तावन्न बाह्यस्य सद्भावं प्रतिपादयितुं क्षमते। सेतुरात्मेति ह्याह, न ततः परमस्तीति। तत्र परस्मिन्नसेतुत्वं नावकल्पत इति परं किमपि कल्प्येत। न चैतन्न्याय्यम्, हठो ह्यप्रसिद्धकल्पना। व सेतुव्यपदेशादात्मनो लौकिकसेतुनिदर्शनेन सेतुबाह्यवस्तुतां प्रसञ्जयता मृद्दारुमयप्रासञ्ज्यत। न चैतन्न्याय्यम्, अजत्वादिश्रुतिविरोधात्। सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्द प्रयुक्त इति श्लिष्यते। जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः। सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते। सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतेरतिक्रमासंभवात्प्राप्नो एव वर्तते। यथा व्याकरणं तीर्ण इति प्राप्त इत्युच्यते नातिक्रान्तस्तद्वत् ॥३२॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३३॥

पदच्छेद—बुद्ध्यर्थः, पादवत्।

सूत्रार्थ—(पादवत्) जैसे ब्रह्मके प्रतीक मनकी उपासनाके लिए वाणी आदिकी पादरूपसे की गई है, वैसे 'चतुष्पाद ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिमें उन्मानकी (बुद्ध्यर्थः) उपासनाके लिए की गई है।

* यदप्युक्तम्—उन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति, तत्राभिधीयते उन्मानव्यपदेशोऽपि व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वप्रतिपत्त्यर्थः। किमर्थस्तर्हि ? बुद्ध्यर्थः, उपासनार्थ इति यावत्।

और 'सदेव सोम्य०' (हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था) इस अवधारणसे अतिरिक्त कोई अज नहीं हो सकता। और एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा होनेके कारण अतिरिक्त वस्तुका अस्तित्व नहीं हो सकता। परन्तु यह जो कहा गया है कि सेतु आदि व्यपदेश अतिरिक्त तत्त्व-पदार्थको सूचित करते हैं। नहीं, ऐसा कहते हैं—सेतु-व्यपदेश तो ब्रह्मसे बाह्य सद्भावके प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि 'सेतुरात्मा' (आत्मा सेतु है) ऐसा कहा 'उससे अन्य है' ऐसा नहीं कहा है। वहाँ अन्यके न होनेपर सेतुत्व नहीं हो सकता, इससे भी एक अन्यकी कल्पना करनी चाहिए, परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि अप्रसिद्धकी कल्पना दुराग्रहमात्र है। और सेतु व्यपदेशसे लौकिक सेतु दृष्टान्त द्वारा आत्मामें सेतुसे बाह्य वस्तुका ानेवाला मृण्मयता तथा काष्ठमयताका भी प्रसङ्ग लायेगा, परन्तु यह न्याय नहीं है, क्योंकि अज है' इत्यादि प्रतिपादक श्रुतिसे विरोध होता है। सेतु सामामान्यसे तो आत्मामें सेतु शब्द है, यह सङ्गत है। जगत् और उसकी मर्यादाओंका विधारकत्व सेतु सादृश्य आत्मामें है, अतः समान सेतु, इसप्रकार प्रकृत आत्माकी स्तुति की जाती है। 'सेतुं तीर्त्वा' (सेतु तैर कर) इसमें धातु अतिक्रमणरूप अर्थके सम्भव न होनेसे प्राप्तकरणरूप अर्थमें है। जैसे 'व्याकरण तैर अर्थात् व्याकरणको प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा जाता है, अतिक्रान्त हुआ, ऐसा नहीं कहा जाता वहां भी समझना चाहिए ॥३२॥

यह भी जो कहा गया है कि उन्मान व्यपदेशसे ब्रह्मसे अन्य है, उसपर कहते हैं—उन्मान भी ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुके अस्तित्वकी प्रतिपत्तिके लिए नहीं है, तो किसके लिए है? 'बुद्ध्यर्थः'-के लिए है। चार पैरवाला, आठ खुरवाला और सोलह अवयवोंवाला इसप्रकारकी बुद्धि

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे ब्रह्मके अध्यात्म प्रतीक मनके वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र यह चार पाद और अधिलोक आकाशके अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएँ यह चार पाद उपासनाके लिए कल्पित हैं,

चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमित्येवंरूपा बुद्धिः कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादिति-विकारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनैव क्रियते । न ह्यविकारेऽनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुंभिः शक्या बुद्धिः स्थापयितुम्, मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात्पुंसामिति । पादवत् । यथा मनआकाशयोरध्यात्ममधिदैवतं च ब्रह्मप्रतीकयोराम्नातयोश्चत्वारो वागादयो मनःसंबन्धिनः पादाः कल्प्यन्ते चत्वारश्चाग्न्यादय आकाशसंबन्धिनः आध्यानाय तद्वत् । अथवा, पादवदिति—यथा कार्षापणे पादविभागो व्यवहारप्राचुर्याय कल्प्यते । नहि सकलेनैव कार्षापणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशते, क्रयविक्रये परिमाणानियमात्तद्वदित्यर्थः ॥३३॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥३४॥

पदच्छेद—स्थानविशेषात्, प्रकाशादिवत् ।

सूत्रार्थ—(प्रकाशादिवत्) प्रकाश आदिके समान (स्थान विशेषात्) उपाधिके योगसे ब्रह्में सम्बन्ध और भेद व्यपदेश उपचरित होते हैं ।

इह सूत्रे द्वयोरपि संबन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते । यदप्युक्तं—संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यादिति—तदप्यसत्, यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते । संबन्धव्यपदेशे तावदयमर्थः—बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादुद्भूतस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्युपशमे य उपशमः स परमात्मना संबन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते, न परिमितत्वापेक्षया । तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयोपचर्यते, न स्वरूपभेदा-

---

ब्रह्ममें किस प्रकार स्थिर होगी, इसलिए विकार द्वारा ब्रह्ममें उन्मानकी कल्पना की जाती है, क्योंकि विकार रहित अनन्त ब्रह्ममें सब पुरुष बुद्धिकी स्थापना करनेमें समर्थ नहीं हैं, कारण कि पुरुष मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिवाले हैं । पादवत्–पादके ससान । जैसे मन और आकाश जो अध्यात्म और अधिदैवत ब्रह्मके प्रतीकरूपसे श्रुतिमें पठित हैं । उसमें मन सम्बन्धी वाक् आदि चार पाद और आकाश सम्बन्धी अग्नि आदि चार पाद ध्यानके लिए कल्पित किये जाते हैं, वैसे । अथवा पादवत्–पादके समान । जैसे कार्षापणमें पाद-विभाग व्यवहार प्राचुर्यके लिए कल्पित किया जाता है, क्योंकि समस्त कार्षापणसे ही सभी लोग सर्वदा व्यवहार नहीं कर सकते, कारण कि क्रय और विक्रयमें परिमाणका नियम नहीं है, वैसे ही, ऐसा अर्थ है ॥३३॥

इस सूत्रमें सम्बन्ध व्यपदेश और भेदव्यपदेश इन दोनोंका भी परिहार कहा जाता है। यह भी जो कहा गया है कि सम्बन्धव्यदेश और भेदव्यपदेशसे ब्रह्मसे अन्य होना चाहिए । वह भी ठी नहीं है, क्योंकि स्थानविशेषकी अपेक्षासे एकमें भी ये व्यपदेश उपपन्न होते हैं । सम्बन्धव्यदेशमें य अर्थ-अभिप्राय है–बुद्धि आदि उपाधि रूप स्थान विशेषके योगसे आविर्भूत विशेष विज्ञानका उपाधिके उपशम-लय होनेपर जो उपशम होता है वह परमात्माके साथ सम्बद्ध है, इसप्रकार उपाधिकी अपेक्षासे उपचार किया जाता है, परिमितत्वकी अपेक्षासे नहीं है । इसप्रकार ब्रह्ममें भेद-व्यपदेश भी उपाधिकी अपेक्षासे उपचरित है, स्वरूपभेदकी अपेक्षासे नहीं है । **प्रकाशादिवत्**—प्रकाशादिके समान

सत्यानन्दी दीपिका

वैसे बुद्धि आदि उपाधिसे ब्रह्ममें उन्मान उपासनाके लिए कल्पित है । अथवा जैसे व्यवहारके लिए कार्षापण (मुद्रा) में पाद-विभागकी कल्पनाकी जाती है, वैसे उपासनाके लिए ब्रह्ममें उन्मानकी कल्पना की जाती है ॥ ३३ ॥

* 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इत्यादि श्रुतिमें सम्बन्ध व्यपदेशसे ब्रह्मसे भिन्न वस्तु है, और 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६)

। प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम्। यथैकस्य प्रकाशस्य सौर्यस्य चान्द्रमसस्य वोपाधियुजातविशेषस्योपाध्युपशमात्संबन्धव्यपदेशो भवत्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः। यथा सूचीपाशाकाशादिषूपाध्यपेक्षयैवैतौ संबन्धभेदव्यपदेशौ भवतस्तद्वत् ॥३४॥

उपपत्तेश्च ॥३५॥

पदच्छेद—उपपत्तेः, च।

सूत्रार्थ—सम्बन्ध और भेदव्यपदेश मुख्य नहीं हैं, क्योंकि (उपपत्तेः) 'स्वमपीतो भवति' श्रुतिसे ऐसी ही उपपत्ति होती है।

* उपपद्यते चात्रेदृश एव संबन्धो नान्यादृशः, 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति रूपसंबन्धमेनमामनन्ति, स्वरूपस्य चानपायित्वात्। न नरनगरन्यायेन संबन्धो घटते। कृतस्वरूपतिरोभावात्तु—'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इत्युपपद्यते। तथा भेदोऽपि दृशः संभवति, बहुतरश्रुतिप्रसिद्धैकेश्वरत्वविरोधात्। तथा च श्रुतिरेकस्याप्याकाशस्य कृतं भेदव्यपदेशमुपपादयति - 'योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः' (छा० ३।१२।७), 'योऽयमन्तः आकाशः' (छा० ३।१२।८), 'योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ३।१२।९) इति ॥३५॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥३६॥

पदच्छेद— तथा, अन्यप्रतिषेधात्।

सूत्रार्थ—जैसे सेतुत्व आदि व्यपदेशोंसे अन्य वस्तुकी अप्रतिपत्ति है, (तथा) वैसे ही 'आत्मैत्' इत्यादि श्रुति वाक्योंसे (अन्यप्रतिषेधात्) अन्य वस्तुके प्रतिषेध होनेसे अद्वितीय ब्रह्म अवधारित होता है।

माका ग्रहण है। जैसे सूर्य अथवा चन्द्रमाके एक प्रकाशमें उपाधिके योगसे उत्पन्न हुए विशेषधिके उपशमसे सम्बन्ध व्यपदेश और उपाधिभेदसे भेदव्यपदेश होता है। अथवा जैसे सुईके पाश, आकाश आदिमें उपाधिकी अपेक्षासे ही ये सम्बन्ध व्यपदेश और भेदव्यपदेश होते हैं, ही यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

और यहांपर इसप्रकारका सम्बन्ध उपपन्न होता है अन्य प्रकारका नहीं, क्योंकि 'स्वमपीतो ति' (अपनेको ही अपीत-प्राप्त होता है) इस तरह श्रुति इस स्वरूप सम्बन्धको कहती है, कारण अविनाशी है, अतः नर-नगर न्यायसे सम्बन्ध नहीं घटता। उपाधिकृत स्वरूपके तिरो- 'स्वमपीतो भवति' यह उपपन्न होता है। इसप्रकार भेद भी अन्य प्रकारका सम्भव नहीं है, कि अधिकतर श्रुतियांसे प्रसिद्ध अद्वितीय ईश्वरत्वका विरोध होता है। और 'योऽयं बहिर्धा० यह पुरुषसे बाहर आकाश है) 'योऽयमन्तः० (जो यह पुरुषके भीतर आकाश है) और न्त० (जो यह हृदयके अन्तर आकाश है) इसप्रकार श्रुति एक आकाशमें भी स्थानकृत भेद का उपपादन करती है ॥ ३५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

श्रुतिमें भेदव्यपदेशसे ब्रह्मसे अन्य वस्तु है। ऐसा (ब्र० सू० ३।२।३१) में सिद्ध किया गया न्तु वह युक्त नहीं है, क्योंकि उपाधिकी अपेक्षासे दोनों व्यपदेश होते हैं ॥ ३४ ॥

* 'स्वमपीतो भवति' इस श्रुतिसे जीव और ब्रह्मका स्वरूप सम्बन्ध होता है। वस्तुतः जीव ही है, अतः उपाधिकृत जीवस्वरूपके लयसे यह सम्बन्ध भी उपचरित होता है। जैसे एक शमें उपाधिकृत भेदव्यपदेश है, वैसे ही एक ब्रह्ममें भी बुद्धि आदि उपाधिकृत भेदव्यपदेश है, दोनों मुख्य नहीं हैं ॥ ३५ ॥

एवं सेत्वादिव्यपदेशान्परपक्षहेतूनुन्मथ्य संप्रति स्वपक्षं हेत्वन्तरेणोपसंहरति। वथा न्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते। तथा हि—'स एवाधस्तात्' (छा ७।२५।१), 'अहमेवाधस्तात्' (छा० ७।२५।१), 'आत्मैवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२), 'सर्वं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्,' 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किंचन' (बृ० ४।४।१६), 'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्' (श्वे० ३।६), 'तदेतद्ब्रह्म पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१६) इत्येवमादिवाक्यानि वारयन्ति। सर्वान्तरश्रुतेः न परमात्मनोऽन्योऽन्तरात्माऽस्तीत्यवधार्यते ।।३६।।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।।३७।।

पदच्छेद—अनेन, सर्वगतत्वम्, आयामशब्दादिभ्यः ।

सूत्रार्थ—(अनेन) सेतु आदि व्यपदेशोंमें मुख्यत्व और अन्य वस्तुत्वके निषेधसे ब्रह्म (सर्वगतत्वम्) सर्वगतत्व सिद्ध होता है, और (आयामशब्दादिभ्यः) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नि इसप्रकार व्यापक वाचक शब्द आदिसे भी ब्रह्ममें सर्वगतत्व सिद्ध होता है।

* अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्या त्मनः सिद्धं भवति। अन्यथा हि तन्न सिध्येत्। सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणे परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत, सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात्। तथाऽन्यप्रतिषेधेऽप्यसति व वस्त्वन्तराद्व्यावर्तत इति परिच्छेद एवात्मनः प्रसज्येत। सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्य विज्ञायते। आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आका

उक्त रीतिसे परपक्षके हेतुभूत सेतु आदि व्यपदेशोंका उन्मथनकर अब स्वपक्षका अन्य हे उपसंहार करते हैं। इसीप्रकार अन्यके प्रतिषेधसे भी ब्रह्मसे पर-अन्य वस्तु नहीं है, ऐसा ज्ञात हो है। जैसे कि 'स एवाधस्तात्' (वही नीचे है) 'अहमेवाधस्तात्०' (मैं ही नीचे हूँ) 'आत्मैवाधस्ता (आत्मा ही नीचे है) 'सर्वं तं०' (सभी उसे परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मासे भिन्न देखता 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (ब्रह्म ही यह सब है) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (आत्मा ही यह सब है) 'नेह नाना किञ्चन' (इस ब्रह्ममें नाना कुछ भी नहीं है) 'यस्मात्परं०' (जिस पुरुषसे उत्कृष्ट अन्य कुछ नहीं है) 'तदेतद्ब्रह्म०' (वह यह ब्रह्म कारण रहित, कार्यरहित, अन्तररहित और अबाह्य इत्यादि स्वप्रकरण स्थित वाक्य अन्य अर्थरूपसे नहीं लिए जा सकते, वे ब्रह्मसे व्यतिरिक्त वस्तुका निवारण करते हैं, और सर्वान्तर श्रुतिसे भी ऐसा अवधारण होता है कि परमात्मासे अन्तरात्मा नहीं है ॥ ३६ ॥

इससे—सेतु आदि व्यपदेशोंके निराकरण और अन्य वस्तुके प्रतिषेधके आश्रयणसे आत्मामें गतत्व भी सिद्ध होता है, अन्यथा वह सिद्ध न होगा। सेतु आदि व्यपदेश मुख्यार्थ (मृन्मयत्वादि में अंगीकार किये जांय तो आत्मामें परिच्छिन्नत्व प्रसक्त होगा, क्योंकि सेतु आदि एवमात्मक च्छिन्नात्मक हैं। इसीप्रकार अन्य वस्तुके प्रतिषेध न होनेपर एक वस्तु अन्य वस्तुसे व्यावृत्त होती इससे भी आत्मामें परिच्छिन्नत्व ही प्रसक्त होगा। आत्मामें सर्वगतत्व आयामशब्द आदिसे वि होता है। आयामशब्द व्याप्तिवाचक शब्द है। 'यावान्वा०' (जितना यह भौतिक आकाश है उत ही यह हृदयान्तर्गत आकाश है) 'आकाशवत्०' (आत्मा आकाशके समान सर्वगत और नित्य

सत्यानन्दी दीपिका

* इसप्रकार श्रुति, स्मृति और 'अधिष्ठानेनाध्यस्तं जगत् व्याप्तं', अध्यस्तत्वात् रज्ज्वाध्यस्तसर्प 'अधिष्ठानसे अध्यस्त जगत् व्याप्त है, अध्यस्त होनेसे, रज्जुसे व्याप्त सर्पके समान' इस न्यायसे आत्मामें सर्वगतत्व सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

८।१।३), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'ज्यायान्दिवः' (छा० ३।१४।३) 'ज्यायानाकाशात्', सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (भ० गी० २।२४) इत्येवमादयो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः त्वमात्मनोऽवबोधयन्ति ॥३७॥

(८ फलाधिकरणम् । सू० ३८-४१)

फलमत उपपत्तेः ॥३८॥

पदच्छेद—फलम्, अतः, उपपत्तेः ।

सूत्रार्थ—(फलम्) कर्मका फल (अतः) इस ईश्वरसे ही सबको प्राप्त होता है, (उपपत्तेः) इसप्रकार उपपन्न होता है ।

* तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो ते। यदेतदिष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनाम्, कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा। तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत भवितुमर्हति। कुतः? उपपत्तेः। स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान्विद- कालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं संपादयतीत्युपपद्यते। कर्मणस्त्वनुक्षण- शिनः कालान्तरभावि फलं भवतीत्यनुपपन्नम्, अभावाद्भावानुत्पत्तेः। स्यादेतत्—कर्म स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति, तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत तदपि न परिशुध्यति, प्राग्भोक्तृसंबन्धात्फलत्वानुपपत्तेः। यत्कालं हि यत्सुखं दुःखं त्मना भुज्यते तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम्। नह्यसंबद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा

न्दिवः' (आत्मा द्युलोकसे बड़ा है) 'ज्यायानाकाशात्' (आत्मा आकाशसे बड़ा है) 'नित्यः नः' (यह आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन है) इत्यादि श्रुति, स्मृति न्याय आत्मामें सर्वगतत्व अवबोधित करते हैं ॥ ३७ ॥

उसी ब्रह्मका व्यावहारिक ईशितृ-ईशितव्यरूप विभाग अवस्थामें यह अन्य स्वभाव फल हेतुत्व किया जाता है। जीवोंका इष्ट, अनिष्ट और मिश्रितरूप संसार विषयक त्रिविध जो यह कर्मफल है, क्या यह कर्मसे होता है अथवा ईश्वर से ? ऐसा विचार होता है। उसपर सिद्धान्ती प्रति- करते हैं—फल अतः-ईश्वरसे होना चाहिए, किससे ? इससे कि ऐसी उपपत्ति होती है। वह सर्वाध्यक्ष, विचित्र सृष्टि, स्थिति और संहारका कर्ता है, क्योंकि देश विशेष और काल विशेषका ज्ञाता है, इसलिए वह कर्म कर्ता जीवोंको कर्मके अनुसार फलका संपादन करता है, यह उपपन्न है। प्रतिक्षणमें विनाश शील कर्मसे कालान्तरभावी फल होता है, यह अनुपपन्न है, क्योंकि भावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह हो, परन्तु विनष्ट होता हुआ कर्म अपनी स्थिति कालमें अनुरूप कर्मफल उत्पन्नकर विनष्ट हो जाता है और कर्ता कालान्तरमें उस कर्मफलको भोगेगा। परिशुद्ध (दोषरहित) नहीं है, क्योंकि भोक्ताके सम्बन्धसे पहले फलत्व अनुपपन्न है, कारण कालमें जो सुख अथवा दुःख आत्मासे उपभुक्त होता है वही लोकमें फलरूपसे प्रसिद्ध है।

सत्यानन्दी दीपिका

* इसप्रकार 'तत्' पदके लक्ष्यार्थका संशोधनकर अब 'तत्' पदका वाच्यार्थ 'फलमत इस सूत्रसे कहते हैं। पूर्वपक्षमें 'तत्' पदके वाच्य फलदाता ईश्वरकी असिद्धि होनेके कारण पदके लक्ष्यार्थकी भी स्वतः असिद्धि है, सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि है, इसप्रकार दोनोंका भेद है। ब्रह्ममें सर्वगतत्वके समान फलदातृत्व भी व्यवहार दशामें हो सकता है, तो भी कर्ममें फल- होनेसे ईश्वरमें फलदातृत्व अयुक्त है। इसप्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष है। सिद्धान्ती—

फलत्वं प्रतियन्ति लौकिकाः। अथोच्येत—मा भूत्कर्मानन्तरं फलोत्पादः। कर्मकार्यादपूर्वा त्फलमुत्पत्स्यत इति, तदपि नोपपद्यते, अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठलोष्टसमस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात्। अर्थापत्तिः प्रमाणमिति चेत्—न, ईश्वरसिद्धे र्थापत्तिक्षयात् ॥३८॥

श्रुतत्वाच्च ॥३९॥

पदच्छेद—श्रुतत्वात्, च।

सूत्रार्थ—और 'स वा एष महानज' इत्यादि श्रुतिसे ईश्वरमें फलदातृत्व श्रुत होनेसे ईश्वर फलदाता है।

❀ न केवलमुपपत्तेरेवेश्वरं फलहेतुं कल्पयामः, किं तर्हि? श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे। तथा च श्रुतिर्भवति—'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' (बृ० ४।४।२४) इत्येवंजातीयका ॥३९॥

धर्मं जैमिनिरत एव ४०॥

पदच्छेद—धर्मम्, जैमिनिः, अतः, एव।

सूत्रार्थ—जिस श्रुति और उपपत्तिसे सिद्धान्ती ईश्वरको फलदाता मानते हैं, (अतएव) उस श्रुति और उपपत्तिसे (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य (धर्मम्) धर्मको—यागादिको फलदाता मानते हैं।

❀ जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते। अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च

आत्मासे असम्बद्ध सुख अथवा दुःखको फलरूपसे लोग नहीं जानते हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि कर्मके अनन्तर फलकी उत्पत्ति मत हो, परन्तु कर्म जन्य अपूर्वसे फल उत्पन्न हो जायगा? तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि चेतनसे अप्रवर्तित काष्ठ और लोष्टके समान अचेतन अपूर्वकी प्रवृत्ति नहीं सकती, और उसके अस्तित्वमें प्रमाण भी नहीं है। यदि कहो कि अर्थापत्ति प्रमाण है, तो यह नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी सिद्धिसे अर्थापत्तिका क्षय हो जायगा ॥ ३ ॥

हम केवल उपपत्ति–युक्तिसे ईश्वरको फलका हेतु नहीं कहते, किन्तु श्रुति प्रतिपादित होनेसे भी ईश्वरको ही फलका हेतु हम मानते हैं। क्योंकि 'स वा एष महानज० (वह यह महान् आत्मा अन्न भक्षण करनेवाला और कर्मफल देनेवाला है) इसप्रकारकी श्रुति है ॥३९॥

जैमिनि आचार्य तो 'अत एव'–इसी हेतुसे श्रुति और उपपत्तिसे धर्मको फलदाता मानते हैं और यही अर्थ 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी कामनावाला याग करे) इत्यादि वाक्योंमें सुना

सत्यानन्दी दीपिका

कर्मफलका दाता ईश्वर है, क्योंकि 'स्वर्गादिकं विशिष्टदेशकालकर्माभिज्ञातृकम्, कर्मफलत्वात्, सेवा फलवत्' (स्वर्गादि विशिष्ट देश, काल और कर्मके अभिज्ञ द्वारा प्राप्त होता है, क्योंकि फल है, सेवाफल) यह उपपत्ति-अनुमान है। याग आदि क्रिया जो क्षणिक कर्म है, क्या वह अपने नाशके अनन्तर फल उत्पन्न करता है अथवा अपना फल उत्पन्नकर नष्ट होता है वा अपूर्वसे फल होता है? प्रथम पक्ष तो अयुक्त है, क्योंकि कर्मका नाश अभावरूप है, अतः अभावसे भावकी नहीं होती। शेष दो विकल्पोंका समाधान 'स्यादेतत्' आदिसे करते हैं ॥ ३८ ॥

❀ 'कृतात्ययेऽनुशयवान्' (ब्र० सू० ३।१।८) इस सूत्रमें उदाहृत 'तद्य इह रमणीयचरणाः' इत्यादि श्रुति और स्मृति वाक्योंसे यदि अपूर्व सिद्ध होता है, तो उन वाक्योंसे ईश्वरमें फलदातृत्व भी स्वीकार करना चाहिए। ऐसा भगवान् सूत्रकार 'श्रुतत्वाच्च' से कहते हैं ॥३९॥

* यह पूर्वपक्ष सूत्र है। 'यजेत' इस विध्यात्मक लिङ्गार्थका यागविषय है, उसके भावावगमके

तावदयमर्थः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु । तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावो- यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते । अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत तत्रास्योपदे- र्थ्यं स्यात् । नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यत इति, परित्यक्तोऽयं पक्षः— दोषः, श्रुतिप्रामाण्यात् । श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथाऽयं कर्मफलसंबन्धः श्रुत उपपद्यते तथा यितव्यः । न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति । अतः वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते । उप- चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण । ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम्, अविचित्रस्य कारणस्य त्रकार्यानुपपत्तेर्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गादनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्धर्मादेव फलमिति ॥४०॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

पदच्छेद—पूर्वम्, तु, बादरायणः, हेतुव्यपदेशात् ।

सूत्रार्थ (तु) शंकानिवृत्त्यर्थ है, (बादरायणः) बादरायण आचार्य तो (पूर्वम्) पूर्वोक्त ईश्वरको ता मानते हैं, क्योंकि (हेतुव्यपदेशात्) 'एष ह्येव-साधु कर्म कारयति' 'अन्नादो वसुदानः' 'लभते कामान्' इत्यादि श्रुति और स्मृतिमें ईश्वरका हेतुरूपसे व्यपदेश है ।

* बादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते । केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा त्फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते । कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथा तथाऽस्त्वीश्वरा- ति सिद्धान्तः । कुतः ? हेतुव्यपदेशात् । धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्य-

---

कि उसमें विधि श्रुतिके विषयभावकी अवगतिसे 'याग स्वर्गका उत्पादक है,' ऐसा ज्ञात होता न्यथा अनुष्ठाता न होनेवाला याग होगा, तो ऐसा होनेपर यागका उपदेश व्यर्थ होगा । परन्तु अनु- विनाशी कर्मसे फल उपपन्न नहीं होता, अतः यह पक्ष परित्यक्त है । यह दोष नहीं है, क्योंकि श्रुति है । यदि श्रुतिप्रमाण हो तो जिस प्रकार यह श्रुति प्रतिपादित कर्मफल सम्बन्ध उपपन्न हो कार कल्पना करनी चाहिए, और किसी अपूर्वको उत्पन्न किए विना विनष्ट होता हुआ कर्म न्तरमें फल देनेमें समर्थ नहीं होता, अतः कर्मकी कोई एक सूक्ष्म उत्तरावस्था अथवा फलकी स्था अपूर्व नामक है, ऐसा तर्क किया जाता है । और यह अर्थ उक्त प्रकारसे उपपन्न होता है । ल देता है, यह अनुपपन्न है, क्योंकि अविचित्र कारणका विचित्र कार्य अनुपपन्न है, और और नैर्घृण्य' प्रसंग और अनुष्ठान वैयर्थ्यापत्ति होती है, इसलिए धर्मसे ही फल होता है ॥४०॥

बादरायण आचार्य तो पूर्वोक्त ईश्वरको ही फलका हेतु मानते हैं । केवल कर्मसे अथवा केवल से फल होता है, इस पक्षकी तु शब्द व्यावृत्ति करता है, कर्मकी अपेक्षा वाले अथवा अपूर्वकी वाले ईश्वरसे यथा स्यात् तथा फल होता है, यह सिद्धान्त है । किससे ? इससे कि हेतु रूपसे है । धर्म और अधर्मके भी कारयतृरूपसे और फलदातृरूपसे ईश्वर हेतु कहा गया है—

सत्यानन्दी दीपिका

स्वर्गका साधन है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि यदि याग पुरुषके इष्ट-स्वर्गका साधन न हो तो उपपन्न नहीं होगी, इसलिए अपूर्व द्वारा कर्मसे फल होता है । अत्र 'ईश्वरस्तु' इत्यादिसे को दूषित करते हैं—क्या ईश्वर कर्मकी अपेक्षाके विना ही फल देता है अथवा किसीकी से ? प्रथम पक्षमें 'अविचित्रस्य' इत्यादिसे कहते हैं । द्वितीय पक्षमें—जैसे स्थिति-स्थापक- मात्रसे चटाईमें वेष्टन होता है, वैसे ही कर्म जन्य अपूर्वसे फल सिद्ध होता है, तो ईश्वरका क्या है । अतः धर्मसे ही फल होता है, यह जैमिनि आचार्यका मत है ॥ ४० ॥

* यदि चन्दन, कण्टक आदि दृष्ट पदार्थोंसे सुख आदिका सम्भव है, तो धर्म और अधर्मके करनेका क्या प्रयोजन ? यदि कहो कि श्रुति और स्मृतिके बलसे इनकी अपेक्षा है, तो श्रुति

पदिश्यते। फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति। स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्' (७।२१) इति। सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति। विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते ॥४१॥

इति श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीय पादः ॥२॥

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः।

[अत्र परापराब्रह्मविद्यागुणोपसंहारविवरणम्।]

इस पादमें पर और अपर ब्रह्मविद्याके गुणोंके उपसंहारका विवरण है।

(१ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्। सू० १-४)

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१॥

पदच्छेद—सर्ववेदान्तप्रत्ययम्, चोदनाद्यविशेषात्।

सूत्रार्थ—(सर्ववेदान्तप्रत्ययम्) सब वेदान्तोंमें विहित उपासना भिन्न नहीं है, (चोदनाद्यविशेषात्) क्योंकि चोदना आदिकी अविशेषता-समानता-एकता है।

❀ व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम्, इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि भिद्यन्ते न वेति विचार्यते—ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितमेकरसं सैन्धवघनवदवधारितं, त

'एष ह्येव० (यही जिसे ऊपर ले जाना चाहता है उससे साधु कर्म कराता है और यही जिसे नी ले जाना चाहता है उससे असाधु कर्म कराता है) और यह अर्थ 'यो यो० (जो जो सकामी भ जिस जिस विग्रहकी श्रद्धासे पूजा करना चाहता है, उस उस भक्तकी मैं उसके प्रति अचल श्र उत्पन्न करता हूँ। तथा वह उस श्रद्धासे युक्त हुआ उस देवताके आराधनकी चेष्टा करता है औ उस देवतासे मेरे द्वारा हो विधान किए हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त होता है) इ प्रकार भगवद्गीतामें भी कहा गया है। इसप्रकार सम्पूर्ण वेदान्तोंमें ईश्वर हेतुक सृष्टियोंका व्यपदे है। जो प्रजाओंको अपने कर्म अनुरूप सृजन करता है वही ईश्वरमें फल हेतुत्व है। जीवकृत प्रयत्न अपेक्षा होनेसे ईश्वरको विचित्र कार्य अनुत्पत्ति आदि दोष भी प्रसक्त नहीं होते हैं ॥ ४१ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके तृतीयाध्यायका द्वितीय पाद समाप्त॥

विज्ञेय ब्रह्मके तत्त्वका व्याख्यान किया जा चुका है। अब प्रत्येक वेदान्तमें विज्ञान (उपासना) भिन्न है अथवा नहीं ? इसका विचार किया जाता है। परन्तु पूर्वापर आदि भेदसे रहित, सैन्धवघन

सत्यानन्दी दीपिका

और स्मृति प्रसिद्ध ईश्वरकी अपेक्षा क्यों नहीं हो। यदि ईश्वरकी अपेक्षा नहीं है, तो ईश्वर प्रति पादक श्रुति, स्मृति बाधित होंगी। इसलिए ईश्वरकी अपेक्षाके विना केवल कर्म अथवा अपूर्वसे ही फल हो, यह अयुक्त है। अतः कर्मफलदाता ईश्वर है। इसप्रकार 'तत्' पदवाच्य ईश्वरके सिद्ध होने पर 'तत्' पदका लक्ष्यार्थ भी सिद्ध हुआ समझना चाहिए। इसलिए श्रुति, स्मृति और युक्ति यु होनेसे यह सिद्धान्त दोष रहित है ॥ ४१ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के तृतीयाध्यायका द्वितीय पाद समाप्त ॥

* गत पादमें तत् और त्वं पदार्थका निरूपण किया गया। अब अन्तःकरण शुद्धि द्वार

विज्ञानभेदाभेदचिन्तावसरः ? नहि कर्मबहुत्ववद्ब्रह्मबहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपाद-तमिति शक्यं वक्तुम्, ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च। न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि ज्ञानानि संभवन्ति। न ह्यन्यथाऽर्थोऽन्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति। यदि पुनरेकस्मि-णि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि, तेषामेकमभ्रान्तम्, भ्रान्ता-राणीत्यनाश्वासप्रसङ्गो वेदान्तेषु। तस्मान्न तावत्प्रतिवेदान्तं ब्रह्मविज्ञानभेद आशङ्कितुं ते। * नाप्यस्य चोदनाद्यविशेषादभेद उच्येत, ब्रह्मविज्ञानस्याचोदनालक्षणत्वात्। विधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्मवाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं जन्यत इत्यवोचदाचार्यः 'तत्तु न्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। तत्कथमिमां भेदाभेदचिन्तामारभत इति ? तदुच्यते-णब्रह्मविषया प्राणादिविषया चेयं विज्ञानभेदाभेदचिन्तेत्यदोषः। अत्र हि कर्मवदुपास-ं भेदाभेदौ संभवतः, कर्मवदेव चोपासनानि दृष्टफलान्यदृष्टफलानि चोच्यन्ते। क्रम-फलानि च कानिचित्सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण। तेष्वेषा चिन्ता संभवति--किं प्रतिवेदान्तं ानभेद आहोस्विन्नेति ? तत्र पूर्वपक्षहेतवस्तावदुपन्यस्यन्ते। नाम्नस्तावद्भेदप्रतिपत्तिहेतुत्वं

एक रस विज्ञेय ब्रह्मका अवधारण किया गया है। उसमें विज्ञानके भेद अथवा अभेदके विचार-वतरण ही कहां है ? क्योंकि ब्रह्मके एक और एक रूप होनेसे कर्म बहुतके समान ब्रह्मके प्रतिपादन वेदान्तोंमें अभीष्ट है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और एक रूप ब्रह्ममें अनेक के विज्ञानोंका संभव नहीं है, क्योंकि अन्य प्रकारका अर्थ और अन्य प्रकारका विज्ञान अभ्रान्त-ं नहीं होता। यदि एक ब्रह्ममें अनेक विज्ञानोंका भिन्न-भिन्न वेदान्तोंमें प्रतिपादन अभिष्ट हो तो एक अभ्रांत और अन्य भ्रान्त हैं, इस प्रकार वेदान्तोंमें अविश्वास प्रसङ्ग हो जायगा। इसलिए वेदान्तमें ब्रह्म विज्ञान भेदकी आशङ्का नहीं की जा सकती है। और चोदना आदिके अविशेषसे का अभेद भी नहीं कहा जाता, क्योंकि ब्रह्म-विज्ञान अचोदनात्मक है। अविधि-प्रधान और वस्तु यी ब्रह्मवाक्योंसे ब्रह्म विज्ञान उत्पन्न किया जाता है। इसप्रकार आचार्यने 'तत्तु समन्वयात्' सूत्रमें कहा है। तो फिर इस भेद और अभेद विचारको क्यों आरंभ करते हो ? सि०—इस पर है—यह विज्ञानके भेद और अभेदका विचार सगुण ब्रह्म विषयक और प्राण आदि विषयक है, ए कोई दोष नहीं है। यहां कर्मके समान उपासनाओंका भेद और भेद संभव है, क्योंकि नाएँ कर्मके समान ही दृष्ट फल और अदृष्ट फलवाली कही जाती हैं। और कई एक तत्त्वज्ञानकी द्वारा क्रम मुक्ति फलवाली कही जाती हैं। उनमें यह विचार होता है कि क्या प्रत्येक वेदान्तमें भेद है अथवा नहीं ? यहाँ पूर्वपक्षके हेतुओंका उपन्यास किया जाता है। पूर्वपक्षी—नाम भेद के हेतुरूपसे ज्योतिरादिमें प्रसिद्ध है। अन्य वेदांतोंमें विहित विज्ञानोंमें तैत्तिरीयक, वाजसनेयक,

सत्यानन्दी दीपिका

सि' आदि वाक्यार्थ निर्धारणके उपयोगी सगुण उपासनाके विषयमें विचार किया जाता है। र हेतुहेतुमद्भावसंगतिसे कहते हैं। पूर्वपक्षमें उपासनाओंका भेद है और सिद्धान्तमें ना एक है,- इसपर विचार किया जाता है। परन्तु वेद्य भेद होनेपर विज्ञान भेद होता है किन्तु ने पूर्वापार भेद रहित एक रूप है, अतः उसमें ज्ञान भेदका अवसर ही नहीं है। यदि भेद रहित ज्ञान भेदकी कल्पनाकी जायगी तो वह ज्ञान भेद यथार्थ नहीं होगा, अतः निधर्मक एक ब्रह्ममें की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

• यद्यपि यह विज्ञानके भेद और अभेदका विचार निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्मविषयक नहीं है, तो सगुणब्रह्म विषयक और प्राणादि विषयक हो सकता है, क्योंकि पञ्चाग्निविद्या, प्राणविद्या, दहर-

प्रसिद्धं ज्योतिरादिषु । अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्यदन्यन्नाम तैत्तिरीय वाजसनेयकं कौथुमकं कौषीतकं शाठ्यायनकमित्येवमादि । तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेद प्रतिपादकः प्रसिद्धो वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमित्येवमादिषु । अस्ति चात्र रूपभेदः तद्यथा—केचिच्छाखिनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निमामनन्त्यपरे पुनः पञ्चैव पठन्ति तथा प्राणसंवादादिषु केचिदूनान्वागादीनामनन्ति, केचिदधिकान् । तथा धर्मविशेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु । अस्ति चात्र धर्मविशेषः—यथाथर्वणिकान शिरोव्रतमिति । एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि भेदहेतवो यथासंभवं वेदान्तान्तरेषु योजयितव्याः तस्मात्प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति । ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि

कौथुमक, कौषीतक और शाट्यायन इत्यादि भिन्न-भिन्न नाम हैं । और इसी प्रकार 'वैश्वदेव्यामिक्षा (विश्वदेवोंको अमिक्षा और वाजि देवताओंको वाजिन) इत्यादिमें रूपभेद भी कर्मभेदका प्रतिपाद प्रसिद्ध है । और यहाँ रूपभेद है, जैसे कि कोई शाखावाले पञ्चाग्निविद्यामें अन्य छठवीं अग्नि भी क हैं, और अन्य पाँच ही पढ़ते हैं । इस प्रकार प्राण संवाद आदिमें कोई शाखावाले न्यून वाग् आ कहते हैं और कोई लोग अधिक वाक् आदिका पाठ करते हैं । इस प्रकार धर्म विशेष भी कर्म भेद प्रतिपादक कारीर्यादिमें आशङ्कित है । और यहाँ धर्म विशेष भी है, जैसे कि आथर्वणोंका शिरोव्र इस प्रकार पुनरुक्ति भेदके हेतुओंकी वेदान्तोंमें यथा संभव योजना करनी चाहिए । इसलिए प्रत्ये वेदान्तमें विज्ञानका भेद है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—सब वेदान्त प्रत्यय-विज्ञा

सत्यानन्दी दीपिका

विद्या, वैश्वानर आदि विद्या परस्पर भिन्न हैं, ऐसा 'नानाशब्दादिभेदात्' (ब्र० सू० ३।३।५८) इस सूत्रमें कहा जायगा । यहाँ तो परस्पर भिन्न-भिन्न विद्याएँ क्या प्रत्येक शाखाएँ भिन्न-भिन्न हैं अथवा नहीं ? इसप्रकार नाम आदिके भेदसे और विधि आदिके समान होनेसे सन्देह होता है । पूर्व मीमांसा के शाखान्तर अधिकरणमें पूर्वपक्षका यह सूत्र है—"नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाशक्तिसमाप्ति वचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरे कर्मभेदःस्यात्' (जै० सू० २।४।८) (नाम, रूप, धर्म विशे पुनरुक्ति, निन्दा, अशक्ति, समाप्तिवचन, प्रायश्चित्त, अन्यार्थदर्शन इनसे अन्य शाखामें कर्मभेद होना चाहिए) ये सब कर्मके भेदमें हेतु हैं । जैसे 'अथैष ज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजे (अनन्तर सहस्र दक्षिणासे यह ज्योतिः नामका याग करे) यहाँ नामभेदसे यह ज्योति याग ज्योतिष्टो यागसे भिन्न है । और 'विश्वेदेवोंको अमिक्षा (पनीर) और वाजिदेवोंको वाजिन-द्रव भाग है' यागका रूप-द्रव्य और देवता हैं, उससे ही याग सिद्ध होता है, अतः यहाँ विश्वे देवताके उद्देश्य अमिक्षा द्रव्यवाले यागमें, वाजिन गुण विधि नहीं हो सकती, क्योंकि यागका रूप द्रव्य और देव भिन्न-भिन्न हैं । अतः यह कर्म भिन्न-भिन्न हैं, वैसे प्रकरणमें तैत्तिरीयक, वाजसनेयक आदि नामभे से उपासनाएँ भिन्न-भिन्न हैं । भाष्यमें आदि पदसे 'ऐन्द्रं दधि' 'ऐन्द्रं पयः' इत्यादि द्रव्यभेदसे कर्मभेद ग्राह्य है, उसी प्रकार प्रकरणमें भी नाम और रूपभेदसे वाजसनेयी पञ्चाग्नि और छान्दोग्यों षडग्नि विद्या का भेद है । इसप्रकार छान्दोग्यमें रेत रहित वाग् आदि पाँच अग्नियाँ और रेतसहि वाग् आदि वाजसनेयियोंके मतमें छह अग्नियां हैं, अतः प्राण आदि विद्याका भेद है । कारीरिवाक्यों अध्ययनमें तैत्तिरीय शाखावाले भूमिमें भोजन करते हैं, यह उन्हींका धर्मविशेष है, और अन्य शाखा वाले ऐसा नहीं करते, क्योंकि वह उनका धर्म नहीं है । इसप्रकार अन्य शाखाओंमें धर्म विशेष जैसे कर्मभेद शङ्कित है, वैसे प्रकृतमें भी मुण्डकोपनिषद्के अध्ययनमें जिन लोगोंका माथेपर अङ्गार पात्र (भस्म) धारण करना धर्म विशेष है अन्योंका नहीं, अतः धर्मविशेषसे विद्याका भेदशङ्कित है पुनरुक्ति अभ्यास, जैसे 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' यहांपर 'यजति' के पुनः पुनः कथन

स्मिन्वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति । कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् । आदिग्रहणेन न्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोदिता अभेदहेतव इहाकृष्यन्ते । संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्यर्थः । यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते–जुहुयादिति । यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (बृ० ६।१।१, छा० ५।१।१) इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां

वेदान्तमें वे वे ही हो सकते हैं । किससे ? इससे कि चोदना आदि अविशेष है । आदि पदके शाखान्तर अधिकरणमें सिद्धान्त सूत्रोंमें प्रतिपादित अभेद हेतुओंका यहाँ आकर्षण किया है, क्योंकि संयोग, रूप, चोदना और समाख्याका प्रत्येक शाखामें वैलक्षण्य नहीं है, ऐसा अर्थ एक अग्निहोत्रमें शाखाभेद होनेपर भी 'जुहुयात्' वैसा ही पुरुष प्रयत्न विहित है, वैसे ही वे० (जो ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व गुण विशिष्टको जानता है) इस प्रकार वाजसनेयी और छान्दोगोंकी

सत्यानन्दी दीपिका

जोंका परस्पर भेदसिद्ध होता है, अन्यथा–एक कर्म माननेसे 'यजति' का पुनःपुनः कथन व्यर्थ अन्य शाखामें भी अभ्याससे विद्याका भेद है । आदि पदसे निन्दादिका ग्रहण है ।

निन्दावचन—'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति अग्निहोत्रम्' (जो सूर्योदयसे अग्निहोत्र करते हैं वे प्रातः अनृत बोलनेवाले होते हैं) इससे अनुदित होम की और 'यदुदिते प्रातर्जुहुयात (जो सूर्यके उदित होनेपर प्रातः होम करता है वह अतिथिके चले जानेपर शून्य भोजन ले आता है उसके समान है) इस वाक्यसे उदित होमकी निन्दा श्रुत है, अतः दोनों भेद है, क्योंकि एक पुरुष उदित और अनुदित होमका अनुष्ठान नहीं कर सकता । उदित तथा होमके अतिक्रमणसे प्रायश्चित्तका विधान है । इसप्रकार प्रायश्चित्तके विधानसे भी दोनों होमोंशङ्कित है । यह निन्दा और प्रायश्चित्त वेदान्त विद्यामें नहीं हैं, अतः उनका उदाहरण नहीं गया है । अशक्ति—जैसे सब शाखाओंमें विहित कर्मके जानने और करनेमें एक व्यक्तिकी से कर्मका भेद है, वैसे सब वेदान्तके अध्ययन और ज्ञानमें अथवा उपासना करनेमें एक शक्ति न होनेसे तत् तत् वेदान्तमें विद्याका भेदशङ्कित है । समाप्ति—सब शाखाओंकी एक समाप्ति नहीं कही जाती, किन्तु अन्य शाखाकी अन्यत्र कर्ममें समाप्ति कही जाती है, इसप्रकार वचन भेदसे भी कर्मका भेदशङ्कित है, वैसे किसी वेदान्तगत ओंकारकी सर्वात्मतामें किसीकी समाप्ति है, इससे विद्याका भेद शङ्कित है । अन्यार्थदर्शन—अर्थवादसे जैसे कर्मका भेद है, वैसे प्रकृत में विद्याका भेद शङ्कित है ।

इसप्रकार पूर्वपक्ष सूत्रमें कर्मभेदके लिए कथित हेतुओंको दिखलाया गया । अब उनमेंसे सिद्धान्त और पूर्वपक्ष दोनोंमें यहाँ उपयुक्त होते हैं । वैसे शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, क्रिया और नामधेय कर्मके भेदक हैं । उनमें नाम, गुण, रूप और अभ्यास इन चारोंका न हो चुका है । किञ्च 'यजेत, जुहुयात्' इसप्रकार प्रकृति शब्दके भेदसे तत् तत् अवच्छिन्न कर्मका भेद है, वैसे यहां भी 'वेद, उपास्ते' इत्यादि शब्द भेदसे विद्याका भेद है । 'तिस्र जुहोति' (तीन आहुति करे) इसमें जैसे संख्यासे कर्मभेद है, वैसे 'द्वौ संवर्गौ' (छा० ४।३।४) ओंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण-संवर्ग है) इसमें द्वित्व संख्यासे संवर्गविद्याका भेद है । नित्य के प्रकरणसे अन्य प्रकरणमें कुण्ड पायियोंके अयन नामक संवत्सर सत्रमें 'मासमग्निहोत्रं (म सपर्यन्त अग्निहोत्र करे) इसमें श्रुत अग्निहोत्र अन्य प्रकरणमें स्थित होनेके कारण भिन्न कर्म प्रकार सिद्ध किया गया है, वैसे यहां वेदान्तभेद और प्रकरण भेद होनेसे उपासना का भी भेद है ।

• उक्त नाम आदिसे प्रत्येक शाखामें अग्निहोत्र आदि कर्मोंका भेद प्राप्त होनेपर शाखान्तरामें सिद्धान्त सूत्र है–'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' (जै० सू० २।४।९) (प्रयोजनका

च तादृश्येव चोदना । प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव—ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' । बृ० ६।१।१) इति । रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य, यदुत ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषणान्वितं प्राण तत्त्वम् । यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपम्, एवं विज्ञेयं रूपं विज्ञानस्य, तेन हि तद्रूप्यते समाख्याऽपि सैव—प्राणविद्येति । तस्मात्सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानाम् । एवं पञ्चाग्निविद्या वैश्वानरविद्या शाण्डिल्यविद्येत्येवमादिषु योजयितव्यम् । ये तु नामरूपादयो भेदहेत्वाभा सास्ते प्रथम एव काण्डे 'न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात्' इत्यारभ्य परिहृताः ॥१॥

इहापि कंचिद्विशेषमाशङ्क्य परिहरति—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥२॥

पदच्छेद—भेदात्, न, इति, चेत्, न, एकस्याम्, अपि ।

वैसी एक-सी चोदना है । और 'ज्येष्ठश्च० (वह अपनी ज्ञातिमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है) इस त प्रयोजनका संयोग भी समान है । दोनों स्थलोंमें विज्ञानका रूप भी वही है—जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ आ गुणरूप विशेषणोंसे युक्त प्राण तत्त्व है । जैसे द्रव्य और देवता यागके रूप हैं, वैसे ही विज्ञान विज्ञेय रूप है, क्योंकि उससे उसका निरूपण किया जाता है । इसी प्रकार समाख्या-सज्ञा भी वही प्राण विद्या है । इससे विज्ञानोंमें सर्व वेदान्त प्रत्ययत्व है । एवं पञ्चाग्निविद्या, वैश्वानरविद्या, शांडिल्यवि आदिमें योजना करनी चाहिए । जो नाम, रूप आदि भेद हेतु-से हैं, वे प्रथम काण्डमें ही 'न नाम्ना (नामसे भेद न होगा, क्योंकि चोदनासे अभिधान नहीं है) ऐसा आरम्भकर परिहृत किए गए हैं ॥१॥

यहाँ भी किसी विशेषकी आशङ्काकर परिहार करते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

संयोग, रूप-द्रव्य और देवता, चोदना-पुरुष प्रयत्न और आख्या-नाम समान होनेसे शाखान्तरमें ए ही कर्म है) चोदनाका अर्थ विधिवाक्य अथवा पुरुष प्रयत्न है 'चोदनेति क्रियाप्रवर्तकं वचनमा शबरस्वामिनः' (शबरस्वामी क्रिया प्रवर्तक वचनको चोदना कहते हैं) जैसे 'जुहुयात्' 'हु' धातुका अ होम है, तद्विषयक पुरुष प्रयत्न जैसे यहाँ एक है, वैसे ही 'वेद, उपास्ते' इत्यादिमें भी पुरुष प्रयत्न ए है । जैसे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व आदि गुणोंसे युक्त प्राण विद्या एक है, वैसे फल संयोग आदिके समा होनेसे पञ्चाग्निविद्या भी एक ही है । इस प्रकार शाखा भिन्न होनेपर भी विद्याओंमें भेद नहीं है पूर्वपक्षीसे कर्मके भेदमें प्रतिपादित हेतु वस्तुतः वे हेतु नहीं हेत्वाभास हैं । जैसे—'काठक' आ नामसे कर्म भेद युक्त नहीं है, क्योंकि चोदनाका अभिधान नहीं है । काठक आदि ग्रन्थोंके नाम कर्मके नहीं, अतः पृथक् नामवाले शाखा ग्रन्थोंके भेद होनेपर भी उनसे विहित कर्म एक ही है इससे वे कर्म भी उस ग्रन्थके नामसे कहे जाते हैं । उनमें पृथक् शक्तिकी कल्पना गौरव है । पृथ शाखा ग्रन्थोंमें थोड़ा-सा भेद होनेपर भी कर्म एक ही है । रूप (द्रव्य और देवता) भी कर्म भेदक नहीं है, क्योंकि समान है । इस प्रकार नामके भेदसे विद्याका भी भेद नहीं है । धर्म विशेष भेदक नहीं है, क्योंकि वह अध्ययनका अङ्ग है कर्मका नहीं । पृथक् शाखाओंमें पुनरुक्ति सिद्ध नहीं है निन्दा और अन्यार्थ दर्शन भी कर्म भेदके साधक नहीं हैं, क्योंकि वे तत् तत् विधिमें स्तुति मात्र है अशक्ति भी भेदसाधक नहीं है, क्योंकि अनेक शाखाओंके अध्ययनमें अशक्ति होनेपर भी अपन शाखाओंमें अनुक्तकी अपेक्षा होनेसे अन्य शाखासे उसका ग्रहण सम्भव है । एक भी कर्ममें अङ्गलोप वैगुण्य आदि होनेसे प्रायश्चित्त हो सकता है, अतः प्रायश्चित्त भी कर्मका भेदक नहीं है । इसी प्रका समाप्तिवचनका भेद भी भेद प्रयोजक नहीं है । इस रीतिसे कर्मके अभेद साधक प्रमाणोंका प्राबल्य होनेसे भेद साधक हेतु परिहृत हैं । पूर्वपक्षमें विद्याके भेदसे गुणोंका अनुपसंहार है, सिद्धान्तमें विद्याके एक होनेसे गुणोपसंहार है ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—(इति चेत्) यदि कहो कि (भेदात्) जैसे द्रव्य और देवताके भेदसे यागका भेद है, वैसे वेद्यके भेदसे विद्याका भेद है, (न) तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि (एकस्यामपि) एक में भी इस प्रकारका गुण भेद उपपन्न होता है।

* स्यादेतत्—सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानां गुणभेदान्नोपपद्यते। तथाहि वाज-नः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमपरमग्निमामनन्ति—'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति' (बृ० ६।२।१४) ता। छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पञ्चसंख्ययैव च त उपसंहरन्ति—'अथ ह य एतानेवं वेद' (छा० ५।१०।१०) इति। येषां च स गुणोऽस्ति, येषां च नास्ति, कथमुभयेषा-विद्योपपद्येत ? न चात्र गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुं, पञ्चसंख्याविरोधात्। तथा संवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुरः प्राणान्वाक्चक्षुः श्रोत्रमनांसि छन्दोगा आमनन्ति। वाजस-स्तु पञ्चममप्यामनन्ति—'रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद' (बृ० ६।१।६ आवापोद्वापभेदाच्च वेद्यभेदो भवति, वेद्यभेदाच्च विद्याभेदः, द्रव्यदेवताभेदादिव इति चेत्—नैष दोषः, यत एकस्यामपि विद्यायामेवंजातीयको गुणभेद उपपद्यते। षष्ठस्याग्नेरुपसंहारो न संभवति, तथापि द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभि-

---

यह हो, परन्तु विज्ञानोंमें सर्ववेदान्त प्रत्ययत्व गुणभेदसे उपपन्न नहीं होता, क्योंकि वाजसनेयी वाले पञ्चाग्नि विद्याको प्रस्तुतकर 'तस्याग्निरेव० (उस-आहुति भूत पुरुषका प्रसिद्ध अग्नि ही है) इत्यादिसे अन्य षष्ठ अग्नि कहते हैं। छान्दोग तो उसका कथन नहीं करते किन्तु 'अथ (किन्तु जो इसप्रकार इन पाँच अग्नियोंको जानता है) इसप्रकार वे पाँच संख्यासे उपसंहार हैं। जिनके मतमें वह गुण है और जिनके मतमें वह गुण नहीं है उन दोनोंकी एक विद्या प्रकार उपपन्न होगी। और यहां गुणका उपसंहार भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि पाँच का विरोध है। उसीप्रकार प्राण संवादमें श्रेष्ठ प्राणसे अन्य वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन इन णोंका छान्दोग कथन करते हैं, और वाजसनेयी तो 'रेतो वै प्रजापति० (रेत ही प्रजापति है, जानता है, वह प्रजा और पशुओंसे सम्पन्न होता है) इस तरह पञ्चमका भी कथन करते आवाप (डालना) उद्वाप (निकालना) के भेदसे वेद्यका भेद होता है, वेद्यके भेदसे विद्याका ता है। जैसे द्रव्य और देवताके भेदसे यागका भेद होता है। ऐसा यदि कहो तो यह दोष नहीं क्योंकि एक विद्यामें भी इसप्रकारका गुणभेद उपपन्न होता है। यद्यपि षष्ठ अग्निका उससंहार नहीं है, तो भी द्यु आदि पाँच अग्नियोंका दोनों स्थलों (वाजसनेयी और छान्दोग) में प्रत्यभि-

सत्यानन्दी दीपिका

* वाजसनेयी छः अग्नियाँ मानते हैं और छान्दोग पाँच, अतः संख्या आदिके भेदसे विद्याका होना चाहिए। जैसे एक शाखामें अग्नीषोमीय यागमें एकादश कपालोंका कथन और अन्य में द्वादश कपालोंका निर्वाप प्रतिपादित है, इससे वहां संख्याके भेदसे शाखान्तरका कर्म भी माना गया है ? यह वेदान्त शास्त्र पूर्व मीमांसासे पृथक् शास्त्र है, अतः यहां कर्म न्यायकी ता नहीं है, क्योंकि यह उपासना मानसिक विद्या है, इससे पुनरुक्ति नहीं है। परन्तु उस मृत के दाहके लिए अन्त्येष्टिगत छठवीं अग्निको वाजसनेयियोंने प्रसिद्ध अग्निके समान स्वीकृत किया है, छान्दोगोंने पाँच अग्नियोंमें अन्तर्भाव किया है, अतः रूपका भेद नहीं है। छान्दोग रेतको न यके साथ वाणी, चक्षु, श्रोत्र औ मनको लेकर पाँच अग्नियाँ मानते हैं और वाजसनेयियोंने शक्ति गुण विशिष्ट रेतको अधिक लेकर छः अग्नियाँ स्वीकार की हैं, इस थोड़े भेदको लेकर का भेद सिद्ध नहीं होता। यहां तक तो गुणभेदको मानकर विद्याका अभेद कहा गया है। अब स्वीकार कर 'पच्यते' इत्यादिसे कहते हैं।

ज्ञायमानत्वान्न विद्याभेदो भवितुमर्हति। नहि षोडशिग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रो भिद्यते। पठ्यतेऽपि च षष्ठोऽग्निश्छन्दोगैः—'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एवं हरन्ति' (छा० ५।९।२) इति। ❀ वाजसनेयिनस्तु सांपादिकेषु पञ्चस्वग्निष्वनुवृत्तायाः समिद्धूमादिकल्पनाया निवृत्तये 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्' (बृ० ६।२।१४) इत्यादि समामनन्ति, स नित्यानुवादः। अथाप्युपासनार्थ एष वादस्तथापि स गुणः शक्यते छन्दोगैरप्युपसंहर्तुम्। न चात्र पञ्चसंख्याविरोध आशङ्क्यः, सांपादिकाग्न्यभिप्राया ह्येषा पञ्चसंख्या नित्यानुवादभूता न विधिसमवायिनीत्यदोषः। एवं प्राणसंवादादिष्वप्यधिकस्य गुणस्येतरत्रोपसंहारो न विरुध्यते। न चावापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाशङ्क्यः, कस्यचिद्वेद्यांशस्यावापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात्। तस्मादैकविद्यमेव ॥२॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३॥

पदच्छेद—स्वाध्यायस्य, तथात्वेन, हि, समाचारे, अधिकारात्, च, सववत्, च, तन्नियमः।

सूत्रार्थ—(स्वाध्यायस्य) यह शिरोव्रत स्वाध्यायका धर्म है विद्याका नहीं, (हि) क्योंकि (समाचारे) वेद व्रतोपदेशक सूत्र ग्रन्थमें (तथात्वेन) वह स्वाध्यायके धर्मरूपसे विहित है, (अधिकारात्) कारण कि 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' यह उसका प्रकरण है। (च) और इसप्रकार (सववत्) 'सवहोमके समान' (तन्नियमः) यह आथर्वणिकोंका नियम है।

यदप्युक्तम्—आथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेद इति, तत्प्रत्युच्यते—स्वाध्यायस्यैष धर्मो न विद्यायाः, कथमिदमवगम्यते? यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे. आथर्वणिका इदमपि वेदव्रत-

---

ज्ञान होनेसे विद्या भेद नहीं हो सकता। अतिरात्र यागमें षोडशि पात्रके ग्रहण और अग्रहणसे अतिरात्र यागका भेद नहीं होता। और 'तं प्रेतं० (कर्म वश परलोकमें प्रस्थित हुए उस मृतक जीवको ज्ञातिवाले अग्निके प्रति ही ले जाते हैं) इसप्रकार छान्दोग षष्ठ अग्निको भी पढते हैं। वाजसनेयी तो उपासनाके लिए सांपादिक-आरोपित पाँच अग्नियोंमें अनुवृत्त समिध्, धूम आदि कल्पनाकी निवृत्तिके लिए 'तस्याग्निरेव० (उस मृतक पुरुषके दाहके लिए प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है और प्रसिद्ध समिध ही समिध् है) इत्यादि कहते हैं। वह नित्य अनुवाद है। यदि यह वाद उपासनाके लिए हो तो भी छान्दोग उस गुणका उपसंहार कर सकते हैं, अतः यहां पाँच संख्याके विरोधकी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह पाँच संख्या उपासनाके लिए आरोपित अग्निके अभिप्रायसे नित्य अनुवादरूप है विधि सम्बन्धी नहीं है, इसलिए कोई दोष नहीं है। इसीप्रकार प्राण संवाद आदिमें भी अधिक गुणका अन्यत्र उपसंहार विरुद्ध नहीं है। और न आवाप, उद्वापके भेदसे वेद्यभेद और विद्या भेदकी आशंका करनी चाहिए, क्योंकि किसी वेद्यांशके आवाप और उद्वापमें भी महान् वेद्यराशिका अभेद अवगत होता है, इससे एक ही विद्या है ॥ २ ॥

जो यह भी कहा गया है कि आथर्वणिकोंको विद्याके लिए शिरोव्रत आदिकी अपेक्षा है और अन्य-छान्दोगोंको उसकी अपेक्षा नहीं है, इससे विद्याका भेद है, उसका निराकरण किया जाता है। यह शिरोव्रत आदि स्वाध्यायका धर्म है विद्याका नहीं है, यह कैसे अवगत हो? इससे कि इस-

सत्यानन्दी दीपिका

* अनग्नि द्यु आदि पाँचमें उपासनाके लिए कल्पित अग्नित्व स्वीकार किया गया है, अतः उनका कल्पित पञ्चत्व अनुवाद मात्र है ध्येयरूपसे उनका विधान नहीं है। अतः कोई विरोध नहीं है। अतः वेद्यके एक होनेसे विद्या भी एक ही है ॥ २ ॥

व्याख्यातमिति समामनन्ति। 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' (मु० ३।२।११) इति चाधिकृतदैतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैष इति निर्धार्यते। ननु च 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' (मुण्ड० ३।२।१०) इति ब्रह्मविद्यासंयोगदैकैव सर्वत्र ब्रह्मविद्येति संकीर्येतैष धर्मः, न, तत्राप्येतामिति प्रकृतप्रत्यवमर्शात्। त्वं च ब्रह्मविद्याया ग्रन्थविशेषापेक्षमिति ग्रन्थविशेषसंयोग्येवैष धर्मः। सववच्च तन्नियमनिदर्शननिर्देशः। यथा च सवाः सप्त सौर्याद्यः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यसंबन्धादाथर्वणोदितैकाग्न्यभिसंबन्धाच्चाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते, तथैवायमपि स्वाध्यायविशेषसंबन्धात्तत्रैव नियम्यते। तस्मादप्यनवद्यं विद्यैकत्वम् ॥३॥

दर्शयति च ॥४॥

पदच्छेद—दर्शयति, च।

सूत्रार्थ—और 'सर्ववेदा॰' इसप्रकार वेद भी सब वेदान्तोंमें विद्याका एकत्व दिखलाता है।

* दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु, वेद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वे वेदा यत्पदनन्ति' (क० २।१५) इति। तथा 'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव हाव्रते छन्दोगाः' इति च। तथा 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (क० ६।२) इति काठक उक्तस्येगुणस्य भयहेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शननिन्दार्थे परामर्शो दृश्यते—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० २।७।१) इति। वाजसनेयके प्रादेशमात्रसंपादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम् 'यस्त्वेतमेवं मात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५।१८।१) इति। तथा सर्ववेदान्तप्रत्यय-

---

स्वाध्यायके धर्मरूपसे समाचारमें—वेदके व्रतोंके उपदेश परक सूत्र ग्रंथमें यह भी वेद व्रतरूपसे त है, ऐसा आथर्वणिक लोग कहते हैं। 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीते' (जिसने शिरोव्रतका अनुष्ठान या है वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता) इसप्रकार अधिकृत विषयक 'एतत्' शब्दसे और त' शब्दसे भी यह अपने उपनिषद् अध्ययनका ही धर्म है. ऐसा निर्धारित किया जाता है। तेषामेवैताम्' (जिन्होंने विधिवत् शिरोव्रतका अनुष्ठान किया है उन्होंसे ही यह ब्रह्मविद्या चाहिए) इसप्रकार ब्रह्मविद्याके संयोगका श्रवण होनेसे सब शाखाओंमें एक ही ब्रह्मविद्या है, र यह शिरोव्रत धर्म भी सर्वत्र सम्बधित होगा? ऐसा नहीं, क्योंकि वहां पर भी 'एताम्' इससे ब्रह्मविद्याका परामर्श है, और ब्रह्मविद्यामें प्रकृतत्व ग्रन्थ विशेषकी अपेक्षासे है, इसलिए यह ग्रंथ विशेषका संयोगी-सम्बन्धी होगा। 'सववच्च तन्नियमः' यह दृष्टान्तका निर्देश है। जैसे पर्यन्त सौर्यादि सात होमोंका अन्य वेदमें कथित त्रेताग्नि-दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय के साथ सम्बन्ध न होनेसे और आथर्वण उदित एक ऋषि नामक अग्निके साथ सम्बन्ध होनेसे णिकोंमें ही (वे होम हैं) यह नियम किया गया है, वैसे ही यह धर्म भी स्वाध्याय विशेषके से आथर्वणिकोंमें ही नियमित होता है। इससे भी विद्याका एकत्व निर्दोष है ॥ ३ ॥

और वेद भी विद्याका एकत्व दिखलाता है, क्योंकि 'सर्वे वेदा॰ (सब वेद जिस पदका प्रतिकरते हैं) इसतरह सब वेदान्तोंमें विद्याके एकत्वका उपदेश है, और 'एतं ह्येव॰ (इसीका वेदी महान् उक्थमें विचार करते हैं, अध्वर्यु इसका अग्निमें और छान्दोग इसका महाव्रतमें करते हैं) तथा 'महद्भयं'॰ (वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्रके समान है) इस काठकमें उक्त भयहेतुत्व ईश्वर-गुणका 'यदा ह्येवैष॰ (और जब यह अज्ञानी इस अद्वय आत्मामें भी भेद करता है तो इसे भय प्राप्त होता है, क्योंकि वह ब्रह्म ही भेददर्शी विद्वान्के लिए है) इसप्रकार तैत्तिरीयकमें भेददर्शनकी निन्दाके लिए परामर्श देखा जाता है और वाजस-

त्वेनान्यत्र विहितानामुक्थादीनामन्यत्रोपासनविधानायोपादानात्प्रायदर्शनन्यायेनोपासनानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥४॥

(२ उपसंहाराधिकरणम् । सू० ५)

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥५॥

पदच्छेद—उपसंहारः, अर्थाभेदात्, विधिशेषवत्, समाने, च।

सूत्रार्थ—(विधिशेषवत्) जैसे सर्वत्र अग्निहोत्र एक होनेसे उसके शेष गुणोंका उपसंहा होता है, वैसे ही (समाने) उपासनामें भी (उपसंहार) गुणोपसंहार करना चाहिए, (अर्थाभेदात्) क्योंकि उपास्यके गुणोंसे प्राप्य उपासना रूप अर्थका सब शाखाओंमें अभेद है।

* इदं प्रयोजनसूत्रम्। स्थिते चैवं सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसंहारो भवति, अर्थाभेदात्। य एव हि तेषां गुणानामेकत्रार्थो विशिष्टविज्ञानोपकारकः स एवान्यत्रापि। उभयत्रापि हि तदेवैकं विज्ञानं तस्मादुपसंहारः। विधिशेषवत्। यथा विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहरणमेवमिहापि। यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनि बद्धत्वाद्गुणानां प्रकृतिविकृतिभावाभावाच्च न स्यादुपसंहारः। विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति। अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रस्य प्रपञ्चः सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति ॥५॥

नेयकमें प्रादेशमात्रसे संपादित वैश्वानरका, यस्त्वेतमेवं० (जो कोई 'यही मैं हूँ' इसप्रकार अभिमानक विषय होनेवाले इस प्रादेशमात्र वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है) इसप्रकार छान्दोग्यमें सिद्ध समान उपादान है। इसप्रकार सर्ववेदान्त प्रत्ययरूपसे अन्यत्र विहित उक्थ आदिका अन्यत्र उपासना विधानके लिए ग्रहण होनेसे प्रायदर्शनन्यायसे उपासनाओंमें भी सर्ववेदान्त प्रत्ययत्वकी सिद्धि होती है।

यह प्रयोजन सूत्र है। इसप्रकार सम्पूर्ण विज्ञानोंमें सर्ववेदान्त प्रत्ययत्व सिद्ध होनेपर अ शाखाओंमें उक्त विज्ञानके गुणोंका अन्य शाखामें भी समान विज्ञानमें उपसंहार होता है, क्यों अर्थका अभेद है। उन गुणोंका एक शाखामें विशिष्ट विज्ञानका उपकारकत्व जो एक प्रयोजन वही अन्य शाखामें भी है। दोनों स्थलोंमें भी वही एक विज्ञान है, इसलिए गुणोंका उपसंहार है विधिशेषवत्–विधिशेषके समान। जैसे विध्यङ्ग अग्निहोत्र आदि धर्मोंका वही अग्निहोत्र आदि क सर्वत्र एक है। इसप्रकार अर्थ-प्रयोजनके अभेद होनेसे उन सब धर्मोंका उपसंहार होता है, उसीप्र प्रयोजनके अभिन्न होनेसे यहां भी धर्मोंका उपसंहार है। यदि शाखा भेदसे विज्ञानका भेद हो तो उ विज्ञानसे भिन्न अन्य विज्ञानमें गुणोंके विरुद्ध होनेसे और प्रकृतिविकृतिभावके न होनेसे उपसंहार न होगा। किन्तु विज्ञानके एक होनेपर तो ऐसा नहीं होगा। इसी प्रयोजन सूत्रका विस्तार 'सर्वाभेदा (ब्र० सू० ३।३।२५) इस सूत्रसे आरम्भ होगा ॥ ५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे वेद्य एक होनेसे ब्रह्मविद्या एक है, वैसे उसके समीप पठित होनेसे सगुणविद्या भ सब शाखाओंमें एक ही है। इसको सूत्रकार 'दर्शयति च' इत्यादिसे दिखलाते हैं। जो एक वेदान्तमें विहित उपासनाका अन्य शाखामें सिद्धके समान ग्रहण उसे प्रायदर्शनन्याय कहा जाता है, अत ब्रह्मविद्याके अभिन्न होनेके समान उक्थ आदि उपासनाएँ भी सभी शाखाओंमें एक ही हैं ॥४॥

* शाखाओंका भेद होनेपर भी समान विद्यामें श्रुत गुण श्रुतिके अनुसार व्यवस्थित हैं अथवा एक शाखामें अश्रुत गुणोंका अन्य शाखासे उपसंहार है। इस प्रकार सन्देह होनेपर पूर्वपक्षमें विद्याके एक होनेपर भी तत् तत् शाखामें उक्त गुणोंसे ही उपकारकी सिद्धि होनेसे शाखा-भेदसे गुण व्यवस्थित हैं। सिद्धान्ती—प्रधानके एक होनेपर तत् तत् उपकारक अङ्गोंके उपसंहारमें 'विधिशेषवत्

(३ अन्यथात्वाधिकरणम् । सू० ६-८)

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥६॥

पदच्छेद—अन्यथात्वम् , शब्दात् , इति, चेत् , न, अविशेषात् ।

सूत्रार्थ—(शब्दात्) 'त्वं न उद्गाय' 'तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' इत्यादि श्रुतिसे (अन्यथात्वम्) ा भेद होना चाहिए, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (अविशेषात्) क्योंकि के अभिप्रायमें विशेषता नहीं है, अतः विद्याका भेद नहीं है ।

* वाजसनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्‌गीथेनात्ययामेति' (बृ० १।३।१) 'ते मूचुस्त्वं न उद्‌गाय' (बृ० १।३।२) इति प्रक्रम्य वागादीन्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन त्वा मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्‌गायेति तथेति तेभ्य उद्‌गायत' (बृ० १।३।७) इति । तथा छान्दोग्येऽपि—'तद्ध देवा उद्‌गीथमाजग्मुरने भिभविष्यामः' (छा० १।२।१) इति प्रक्रम्येतरान्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा तथैव णपरिग्रहः पठ्यते—'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्‌गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १।२।७) । उभयत्रापि च प्राणप्रशंसया प्राणविद्याविधिरध्यवसीयते । तत्र संशयः—किमत्र भेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति ? किं तावत्प्राप्तम् ? पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति ।

वाजसनेयकमें 'तेह देवा ऊचुः० (उन देवताओंने कहा, हम इस यज्ञमें उद्गीथसे असुरोंका मण करें) 'तेहवाचमूचुः० (उन देवताओंने वाक्‌से कहा, 'तुम हमारे लिए उद्गान करो, बहुत अच्छा) इस प्रकार उपक्रमकर वाक् आदि प्राण असुर-पापोंसे आक्रान्त हैं, इस प्रकार निन्दा कर 'अथ हेममासन्यं० (फिर अपने मुखमें रहनेवाले प्राणसे कहा, 'तुम हमारे लिए उद्गाता सम्बन्धी कर्म करो' 'तब बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इस प्राणने उनके लिए उद्गान) इस प्रकार मुख्य प्राणका परिग्रह कहते हैं । ऐसे ही छान्दोग्य में भी 'तद्ध देवा० (उनमेंसे ओंने यह सोचकर कि इसके द्वारा इनका पराभव करेंगे, उद्गीथका अनुष्ठान किया) इसप्रकार र अन्य प्राणोंके असुरोंके पापोंसे आक्रान्त होनेसे उनकी निन्दाकर वैसे ही 'अथ हय० (फिर प्रसिद्ध मुख्य प्राण है उसीके रूपमें उद्गीथकी उपासना-उसकी उद्गीथरूपसे उपासना की) इस मुख्य प्राणका परिग्रह करते हैं । वाजयनेयक और छान्दोग्य दोनोंमें भी प्राणकी प्रशंसासे प्राण-विधिका निश्चय होता है । यहाँ संशय होता है कि क्या यहां विद्याका भेद है अथवा विद्या एक क्या प्राप्त होता है ? पूर्व न्यायसे विद्या एक है, यह प्राप्त होता है । परन्तु उपक्रमके भेदसे

सत्यानन्दी दीपिका

से दृष्टान्त कहते हैं । शंका—जैसे आग्नेय यागमें अन्वित गुणोंकी उससे भिन्न सौर्ययागमें प्राप्ति है, वैसे ही एक विद्यास्थित गुणोंका अन्य विद्यामें उपसंहार क्यों न हो ? समाधान—'प्रकृतिवद्वि-कर्त्तव्यः' (प्रकृति यागके समान विकृति याग करना चाहिए) 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' से जिसमें समग्र अङ्गोंका उपदेश हो वह प्रकृति याग है) 'यत्र वैशेषिकाङ्गानामुपदेशः सा ' (प्रकृति यागके समान और विशेष अङ्गोंका जहाँ उपदेश हो वह विकृति याग है) यहाँ याग प्रकृति है और सौर्य याग विकृति है, यह उक्त न्याय कर्मोंमें तो युक्त है । परन्तु इस प्रकृति-विकृति भाव ही विद्याओंमें असिद्ध है, अतः उसकी यहाँ प्राप्ति नहीं है । इस प्रकार एक होनेसे गुणोंका उपसंहार सिद्ध है ।

* पूर्वाधिकरणोंमें विद्याओंके प्रतिपादक वाक्योंमें अविशेष होनेसे समान रूपसे विद्याका कहा गया है । अब इस अधिकरणमें उसका अपवाद करते हैं । यहां पूर्वाधिकरण सिद्धान्त-

ननु न युक्तं विद्यैकत्वं, प्रक्रमभेदात् । अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनोऽन्यथा छन्दोगाः । 'त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इति वाजसनेयिन उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति । छन्दोगास्तूद्गीथत्वेन 'तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १।२।७) इति । तत्कथं विद्यैकत्वं स्यादिति चेत्—नैष दोषः, न ह्येतावता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति, अविशेषस्यापि बहुतरस्य प्रतीयमानत्वात् । तथा हि—देवासुरसंग्रामोपक्रमत्वमसुरात्ययाभिप्राय उद्गीथोपन्यासो वागादिसंकीर्तनं तन्निन्दया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्वीर्याच्चासुरविध्वंसनमश्मलोष्टनिदर्शनेनेत्येवं बहवोऽर्था उभयत्राप्यविशिष्टाः प्रतीयन्ते । वाजसनेयकेऽपि चोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम्—'एष उ वा उद्गीथः' (बृ० १।३।२३) इति । तस्माच्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं लक्षयितव्यम् । तस्माच्च विद्यैकत्वमिति ॥६॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥७॥

पदच्छेद—न, वा, प्रकरणभेदात् , परोवरीयस्त्वादिवत् ।

सूत्रार्थ—(प्रकरणभेदात्) प्रकरण भेदसे (न वा) विद्या एक नहीं है, (परोवरीयस्त्वादिवत्) जैसे 'एष परोवरीयानुद्गीथः' इस श्रुतिसे विहित परोवरीयस्त्वादि गुण विशिष्ट उद्गीथ उपासना चक्षु, आदित्य आदि गत हिरण्यश्मश्रुत्व आदि गुण विशिष्ट उद्गीथोपासनासे भिन्न है ।

❀ न वा विद्यैकत्वमत्र न्याय्यः, विद्याभेद एवात्र न्याय्यः । कस्मात् ? प्रकरणभेदादिति, प्रक्रमभेदादित्यर्थः । तथा हि—इह प्रक्रमभेदो दृश्यते । छान्दोग्ये तावत्-'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमुद्गीथावयवस्योंकारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसत

विद्याका एकत्व युक्त नहीं है । क्योंकि वाजसनेयी अन्य प्रकारसे उपक्रम करते हैं और छान्दोग अन्य रीतिसे 'त्वं न उद्गाय' इसप्रकार वाजसनेयी प्राणको उद्गीथका कर्तारूपसे कहते हैं, और छान्दोग 'तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (उसकी उद्गीथरूपसे उपासना करे) इसतरह प्राणको उद्गीथरूपसे (क रूपसे) कहते हैं, तो इससे विद्याका एकत्व कैसे होगा । ऐसा यदि कहो, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि इतने विशेषसे विद्याका एकत्व निवृत्त नहीं होता, कारण कि बहुत सा अविशेष भी प्रतीत होता है जैसे कि देवासुर संग्रामका उपक्रम, असुरोंके पराभवके लिए संवाद, उद्गीथका उपन्यास, वाक् आदिका संकीर्तन, उनकी निन्दासे मुख्य प्राणका आश्रय और पाषाण लोष्टके दृष्टान्तसे उस प्राणके वी पराक्रम द्वारा असुरोंका विध्वंस, इसप्रकारके बहुत अर्थ दोनों शाखाओंमें भी समान प्रती होते हैं । और 'एष उ वा उद्गीथ' (यह उद्गीथ है) इसप्रकार वाजसनेयकमें भी प्राणकी उद्गी सामानाधिकरण्य श्रुति है । इससे छान्दोग्यमें भी प्राणमें कर्तृत्वकी लक्षणा करनी चाहिए । इस लिए विद्या एक है ॥ ६ ॥

सिद्धान्ती—यहाँ विद्याका एकत्व उचित नहीं है, किन्तु विद्याका भेद ही उचित है, क्योंकि प्रकरणका भेद है, उपक्रमका भेद है ऐसा अर्थ है । जैसे कि 'ओमित्येतदक्षरम॰ (ॐ यह अक्ष उद्गीथ है, इसकी उपासना करनी चाहिए) इस प्रकार उद्गीथके अवयव ओंकारमें उपास्यत्व प्रस्तु

सत्यानन्दी दीपिका

न्यायसे 'उद्गीथविद्या' इसप्रकार एक संज्ञा होनेसे एक विद्या है, इससे पूर्वपक्षमें परस्पर गुणोंका संहार फल है, सिद्धान्तमें संज्ञा एक होनेपर भी विद्याके एकत्वका अपवाद होनेसे गुणोंका अनुप संहार है । इसलिए कर्ता और कर्मरूप उपास्यके भेदसे विद्याका भेद है ॥ ६ ॥

* बहुत-से विरुद्ध रूपोंके भेदसे विद्या एक नहीं है, ऐसा 'न वा' इत्यादिसे सिद्धांत कहते हैं । और 'पृथिव्यादिरसानां रसतम ओङ्कारः' (पृथ्वी आदि रसोंका रसतम ॐ कार है) आप्ति, समृद्धि

णोपव्याख्यानं तत्र कृत्वा 'अथ खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) नरपि तमेवोद्गीथावयवमोंकारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण तम् 'प्राणमुद्गीथमुपा- ' (छा० १।२।२) इत्याह। तत्र यद्युद्गीथशब्देन सकला भक्तिरभिप्रेयेत तस्याश्च कर्तो- त उपक्रमश्चोपरुध्येत लक्षणा च प्रसज्येत। उपक्रमतन्त्रेण चैकस्मिन्वाक्य उप- भवितव्यम्। तस्मादत्र तावदुद्गीथावयव ओंकारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते। वाजसनेयके ब्देनावयवग्रहणे कारणाभावात्सकलैव भक्तिरावेद्यते। 'त्वं न उद्गाय' बृ० १।३।२) स्याः कर्तोद्गातृत्विक्प्राणत्वेन निरूप्यत इति प्रस्थानान्तरम्। यदपि तत्रोद्गीथसामा- रण्यं प्राणस्य तदप्युद्गातृत्वेनैव दिदर्शयिषितस्य प्राणस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थमिति कत्वमावहति। सकलभक्तिविषय एव च तत्राप्युद्गीथशब्द इति वैषम्यम्। ✻ नच द्गातृत्वमसंभवेन हेतुना परित्यज्यते, उद्गीथभाववदुद्गातृभावस्याप्युपासनार्थत्वेनोप- नत्वात्। प्राणवीर्येणैव चोद्गातौद्गात्रं करोतीति नास्त्यसंभवः। तथा च तत्रैव आवि-

---

र वहाँ रसतम आदि गुणोंका उपाख्यानकर अनन्तर 'खल्वेतस्यै० (निश्चय इसी प्रकृत उद्गीथ उपव्याख्यान होता है) इस प्रकार यहाँ छान्दोग्यमें उपक्रम भेद देखनेमें आता है। फिर उद्गीथावयव ॐकारकी अनुवृत्तिकर देवासुर आख्यायिका द्वारा उसको 'प्राणमु० (उन देवोंने स्थित प्राणके रूपमें उद्गीथकी उपासनाकी) इस तरह श्रुति कहती है। वहाँ—छान्दोग्यमें थ शब्दसे सम्पूर्ण साम भक्ति अभिप्रेत हो और उसका कर्ता उद्गाता ऋत्विक् हो, तो उपक्रम- होगा और लक्षणा प्रसक्त होगी। एक वाक्यमें उपक्रमके अनुसार उपसंहार होना चाहिए। उद्गीथावयव ॐकारमें प्राण दृष्टिका उपदेश है। वाजसनेयकमें तो उद्गीथ शब्दसे अवयव नेमें कारणके न होनेसे सम्पूर्ण साम भक्ति कही जाती है, 'त्वं न उद्गाय' इसमें भी उसका ता ऋत्विक् प्राणरूपसे निरूपण किया जाता है, इससे यह अन्य प्रस्थान है। वहाँ भी जो उद्गीथके साथ सामानाधिकरण्य है वह भी उद्गातृरूपसे दिखलानेके लिए अभिलषित प्राणमें प्रतिपादनके लिए है, विद्याके एकत्वका वहन नहीं करता। वहाँ (वाजसनेयकमें) भी ब्द सकल भक्ति विषयक ही है इससे दोनों शाखाओंमें वैलक्षण्य है अर्थात् विद्याका भेद है। में उद्गातृत्वका असम्भव हेतुसे त्याग नहीं किया जाता, क्योंकि उद्गीथभावके समान उद्गातृ- उपासनाके लिए उपदिश्यमान है, और उद्गाता प्राणकी सामर्थ्यसे ही औद्गात्र कर्म करता है,

सत्यानन्दी दीपिका

ोंका कथनकर गुण विशिष्ट ॐकारमें प्राण दृष्टिका विधान करनेके लिए यह आख्यायिका गई है। इसी प्रकार छांदोग्यमें प्राण दृष्टिसे उद्गीथावयव 'ॐ' उपास्य है, और वाजसनेयकमें ास्य कहा गया है, इस प्रकार उपास्यभेदसे विद्याका भेद है।

✻ वाजसनेयकमें उद्गाता प्राण उपास्य है और छान्दोग्यमें ॐकार उपास्य है, इस प्रकार र्थ-अन्तरङ्ग उपास्य भेदके स्पष्ट ग्रहण होनेपर बहिरङ्ग अर्थवादकी समतामात्रसे उपासनाका क्त नहीं है। इसमें 'तथाहि' इत्यादिसे दृष्टान्त कहते हैं। 'वि वा एतं प्रजया पशुभिरर्द्धयति०' अभ्युदयेष्टि प्रतिपादक वाक्य है। (यजमानके चतुर्दशीमें अमावस्याकी भ्रान्तिसे के लिए दर्श सम्बन्धी अग्नि आदि देवताके लिए तण्डुल, दधि और दूध रूप हवि पूर्वमें ही संकल्प किया है, अनन्तर चन्द्रमाको उदय होते हुए देखता है, इसलिए उस यजमानको विपर्यय जन्य अपराधसे वही संकल्पित हवि प्रजा आदिसे रहित करता है और उसके शत्रुओंकी ता है। इससे कालकी भ्रान्तिवाले यजमानसे जो मध्यम आदि भावसे तीन प्रकारके दधि ण्डुल सङ्कल्प किए गए हैं उनका विभाग करे अर्थात् अग्नि आदि देवतासे वियुक्त करे और

तम्—'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत' (बृ० १।३।२४) इति । नच विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छायानुकारमात्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम् । तथा ह्यभ्युदयवाक्ये पशुकामवाक्ये च—'त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्या इत्यादिनिर्देशसाम्येऽप्युपक्रमभेदादभ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः । तथेहाप्युपक्रमभेदाद्विद्याभेदः । परोवरीयस्त्वादिवत् । यथा परमात्मदृष्ट्यध्याससाम्येऽपि 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १।९।१) 'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।९।२) इति परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टमुद्गीथोपासनमक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिन्नम् । न चेतरेतरगुणोपसंहार एकस्याम शाखायां तद्वच्छाखान्तरस्थेष्वप्येवं जातीयकेषूपासनेष्विति ॥७॥

अतः प्राणमें उद्गातृत्वका असम्भव नहीं है । और 'वाचा च ह्येव० (उद्गाताने प्राण प्रधान वाणी और आत्मभूत प्राणसे उद्गान किया) इस प्रकार वहाँ वाजसनेयकमें ही श्रवण कराया गया है और इस प्रकार विवक्षित अर्थके भेदके अवगम होनेपर वाक्य छायाके सादृश्यमात्रसे समानार्थ एकार्थत्वका निश्चय करना युक्त नहीं है, क्योंकि अभ्युदयेष्टि वाक्यमें और पशुकामेष्टि विधायक वाक्य 'त्रेधातण्डुलान्० (तण्डुलके तीन भाग करे उनमें जो मध्यम हों उनका दातृत्व गुण विशिष्ट अग्नि लिए अष्ट कपाल पुरोडाश करे) इत्यादि निर्देश साम्य होनेपर भी उपक्रमके भेदसे अभ्युदयवाक्य [हविका] पूर्व देवतासे अपनय (वियोग) निश्चित किया गया है, और पशु वाक्यमें तो याग विधि निश्चितकी गई है, वैसे ही यहाँ भी उपक्रमके भेदसे विद्याका भेद है । परोवरीयास्त्वादिके समान जैसे परमात्मदृष्टिके अध्यासके समान होनेपर भी 'आकाशो ह्येवैभ्यो० (आकाश ही इन पृ आदिसे बड़ा है, अतः आकाश ही इनका आश्रय है) 'स एष० (वह यह उद्गीथ परम उत्कृष्ट यह अनन्त है) इस प्रकार परोवरीयस्त्व गुणविशिष्ट उद्गीथ उपासना अक्षि, आदित्य आदि हिरण्यश्मश्रुत्वादिगुण विशिष्ट उद्गीथ उपासनासे भिन्न है, और जैसे एक शाखामें भी अन्योन्य गुणों उपसंहार नहीं है, वैसे अन्य शाखामें स्थित इस प्रकारकी उपासनाओंमें भी समझना चाहिए ॥

सत्यानन्दी दीपिका

दातृत्व आदि गुण विशिष्ट अग्नि, इन्द्र और विष्णु जो दर्श देवताओंसे भिन्न देवता हैं उनके उद्देश दधिमें स्थूल तण्डुलोंका चरू बनाकर और गरम दूधमें छोटे तण्डुलोंका चरू बनाकर होम करे) पूर्व मीमांसाके '६।५।१' प्रथमाधिकरण (अभ्युदयाधिकरण) का विषय है । इसमें सन्देह होता है यह अभ्युदयेष्टि दर्शयागसे भिन्न स्वतंत्र कर्म है अथवा दर्शयागमें ही केवल देवताका अपनय-परि है ? पूर्वपक्ष—यहाँ कालके अपराध होनेपर अन्य देवोंसे युक्त दर्शयागसे भिन्न प्रयिश्चित्त रूप कर्म विधान है, जैसे पशुकामेष्टि स्वंत्रविहित कर्म है । सिद्धान्ती—दर्शयागसे भिन्न कर्मका विधान नहीं क्योंकि दर्शयागमें पूर्व निश्चित देवताओंको हटाकर दातृत्व आदि गुण विशिष्ट अग्नि आदि देवताओंका विधान किया जाता है । अतः यहाँ दर्शकर्मका भेद नहीं है और 'यः पशुकामः स्या सोऽमावस्यामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यात्' इस विधिसे दर्शयाग समाप्तिके अनन्तर स्वतन्त्ररूपसे पशुकामेष्टि विधान है, अतः समान प्रकरणमें होनेपर भी अभ्युदयेष्टि प्रतिपादक वाक्यके साथ पशुकामे विधायक वाक्यकी समानता नहीं है । इसी प्रकार प्रकृतिमें समान निर्देश एक विधिका प्रयोजक होता है । इसमें परोवरीयस्त्वगुण विशिष्ट उद्गीथोपासनाको दृष्टान्तरूपसे दिया गया है । जैसे आकाश नाम परमात्माकी दृष्टिके आलम्बनरूपसे उद्गीथको अनन्त शब्दसे कहा गया है । आकाशरूपसे उद्गीथोपासनाका विधान है अन्यत्र हिरण्यश्मश्रुरूपसे उद्गीथोपासनाका विधान है । दोनोंमें उद्गीथोपासना समान होनेपर भी आकाशत्व और हिरण्यश्मश्रुत्व गुण भेदसे विधा

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥८॥

पदच्छेद—संज्ञातः, चेत्, तत्, उक्तम्, अस्ति, तु, तद्, अपि।

सूत्रार्थ—(चेत्) यदि कहो कि (संज्ञातः) दोनों स्थलोंमें 'उद्गीथविद्या' इस एक संज्ञासे विद्या ो (तदुक्तम्) 'न वा प्रकरणभेदात्' इस सूत्रमें कहा गया है। (अस्ति तु तदपि) और जो भिन्न ग्निहोत्र आदि प्रसिद्ध हैं, उनकी भी काठक ग्रन्थमें पठित होनेसे एक काठक संज्ञा होती है।

अथोच्येत—संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वमत्र न्याय्यमुद्गीथविद्ये त्युभयत्राप्येका संज्ञेति—तदपि ते, उक्तं ह्येतत्—'न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्' (ब्र० सू० ३।३।७) इति। तदेव याय्यतरम्, श्रुत्यक्षरानुगतं हि तत्संज्ञैकत्वं तु श्रुत्यक्षरबाह्यमुद्गीथशब्दमात्रप्रयोगाल्लौ- वहर्तृभिरुपचर्यते। अस्ति चैतत्संज्ञैकत्वं प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषूद्गी- ति। तथा प्रसिद्धभेदानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां काठकैकग्रन्थपरिपठितानां संज्ञैकत्वं दृश्यते, तथेहापि भविष्यति। यत्र तु नास्ति कश्चिदेवंजातीयको भेदहेतुस्तत्र संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वं—यथा संवर्गविद्यादिषु ॥८॥

(४ व्याप्त्यधिकरणम्। सू० ९)

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

पदच्छेद—व्याप्तेः, च, समञ्जसम्।

सूत्रार्थ—(व्याप्तेः) ऋक्, यजु और साममें ॐकारकी व्याप्ति है, अतः किस ॐकारकी करनी चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होनेपर 'उद्गीथावयव ॐकारकी' इस प्रकार उद्गीथ विशेषण है, (समञ्जसम्) यही पक्ष दोष रहित है। च शब्द तु शब्दके अर्थमें है, अतः अपवाद और ऐक्य पक्षका निरास होता है।

ॐ 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामा- रण्ये श्रूयमाणेऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणां प्रतिभासनात्कतमोऽत्र पक्षो न्याय्यः

दि ऐसा कहा जाय कि संज्ञाके एकत्वसे विद्याका एकत्व यहाँ उचित है, क्योंकि उभयत्र विद्या' इस प्रकार एक संज्ञा है। वह भी युक्त नहीं है, कारण कि इसका 'न वा प्रकरण- त सूत्रमें निर्णय किया गया है। वही यहाँ प्रकृतमें युक्ततर है, क्योंकि वह श्रुतिके अक्षरोंसे है, और संज्ञा एकत्व तो श्रुतिके अक्षरोंसे वाह्य है, उद्गीथ शब्द मात्रके प्रयोगसे व्यवहार ते लौकिक उसका उपचार करते हैं। इस प्रकार प्रसिद्ध भेदवाली परोवरीयस्त्व आदि उपा- नें 'उद्गीथविद्या' इस तरह यह संज्ञा एकत्व है। और एक ही काठक ग्रन्थमें पठित प्रसिद्ध अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास आदिका भी काठक एक संज्ञात्व देखनेमें आता है। वैसे यहाँ भी हिए। परन्तु जहाँ इस प्रकारका कोई भेदका हेतु नहीं है वहाँ संज्ञाके एकत्वसे विद्याका है, जैसे संवर्ग विद्या आदिमें होता है ॥ ८ ॥

'ओमित्येतद० (इस उद्गीथावयव अक्षरकी उपासना करनी चाहिए) यहां अक्षर और शब्दका समानधिकरण्य श्रूयमाण होनेपर अध्यास, अपवाद, एकत्व और विशेषण इन पक्षों- भास होनेसे इनमें कौन-सा पक्ष उचित है, यह विचार होता है। उनमें दो वस्तुओंमें एक

सत्यानन्दी दीपिका

से ही वाजसनेयक और छान्दोग्यमें समान जातीय विद्याका विधानभेदसे भी भेद ही है ॥७॥

• ॐ अक्षर और उद्गीथके सामानाधिकरण्यको इस अधिकरणका विषय बनाकर 'ओमि- त्यादिसे संशय कहते हैं। सामानाधिकरण्य अध्यास, अपवाद, एकत्व और विशेषण-विशेष्य

स्यादिति विचारः। तत्राध्यासो नाम—द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवान्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यते, यस्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यस्तेतरबुद्धावपि। यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धावध्यस्यमानायामप्यनुवर्तत एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्धया निवर्तते। यथा वा प्रतिमादिषु विष्णवादिबुद्ध्यध्यासः। एवमिहाप्यक्षर उद्गीथबुद्धिरध्यस्येत, उद्गीथे वाऽक्षरबुद्धिरिति। अपवादो नाम—यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति। यथा देहेन्द्रियसंघात आत्मबुद्धिरात्मन्येवात्मबुद्धया पश्चाद्भाविन्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यनया यथार्थबुद्धया निवर्त्यते। यथा वा दिग्भ्रान्तिबुद्धिर्दिग्याथात्म्यबुद्धया निवर्त्यते। एवमिहाप्यक्षरबुद्धयोद्गीथबुद्धिर्निवर्त्येत, उद्गीथबुद्धया वाऽक्षरबुद्धिरिति। ❀ एकत्वं त्वक्षरोद्गीथशब्दयोरनतिरिक्तार्थवृत्तित्वम्—यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूमिदेव इति। विशेषणं पुनः सर्ववेदव्यापिन ओमित्येतस्याक्षरस्य ग्रहणप्रसङ्ग औद्गात्रविशेषस्य समर्पणम्—यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति एवमिहाप्युद्गीथो य ॐकारस्तमुपासीतेति। एवमेतस्मिन्सामानाधिकरण्यवाक्ये विमृश्यमाने एते पक्षाः प्रतिभान्ति, तत्रान्यतमनिर्धारणकारणाभावादनिर्धारणप्राप्ताविदमुच्यते—व्याप्ते

वस्तुकी बुद्धिके निवृत्त हुए विना ही दूसरी बुद्धि अध्यस्त हो वह अध्यास है, जिसमें अन्य बुद्धि अध्यस्त होती है उसमें अन्य बुद्धिके अध्यस्त होनेपर उस वस्तुकी बुद्धि अनुवृत्त होती है। जैसे नाममें ब्रह्मबुद्धिका अध्यास होनेपर भी नामबुद्धि अनुवृत्त होती ही है वह ब्रह्मबुद्धिसे निवृत्त नहीं होती अथवा जैसे प्रतिमा आदिमें विष्णु आदि बुद्धिका अध्यास होता है वह विष्णु बुद्धिसे निवृत्त नहीं होती। वैसे प्रकृतमें भी अक्षरमें उद्गीथ बुद्धिका अध्यास है अथवा उद्गीथमें अक्षर बुद्धिका अध्यास है। जहां किसी वस्तुमें पूर्व निविष्ट मिथ्या बुद्धिका निश्चय होनेपर पश्चात् उत्पन्न होनेवाली यथार्थ बुद्धि पूर्व निविष्ट मिथ्या बुद्धिकी निवर्तक होती है वह अपवाद है। जैसे देह, इन्द्रिय संघातमें आत्म बुद्धि 'तत्त्वमसि' इससे अनन्तर उत्पन्न होनेवाली आत्मामें ही आत्मबुद्धि इस अन्य यथार्थ बुद्धिसे निवृत्त हो जाती है। अथवा जैसे दिशाको भ्रान्ति बुद्धि दिशाकी यथार्थ बुद्धिसे निवृत्त हो जाती है वैसे ही यहांपर भी अक्षर बुद्धिसे उद्गीथ बुद्धि निवृत्त हो जाती है अथवा उद्गीथ बुद्धिसे अक्षर बुद्धि निवृत्त हो जाती है। एकत्व तो अक्षर और उद्गीथ शब्दके अभिन्न अर्थमें वृत्तित्व है, जैसे द्विजोत्तम ब्राह्मण और भूमिदेव। विशेषण—यह उद्गीथ विशेषण सर्व वेदव्यापी ॐ इस अक्षरके ग्रहण प्रसंगमें उद्गाताके कर्म विशेषका समर्पण करता है। जैसे नील जो उत्पल उसे ले आओ अर्थात् नील गुण विशिष्ट कमल ले आओ, वैसे यहां भी उद्गीथ जो ओंकार उसकी उपासना करनी चाहिए इसप्रकार इस सामानाधिकरण्य वाक्यका विचार करनेपर ये पक्ष प्रतीत होते हैं। उनमें किसी एकके निर्धारण कारणके न होनेसे अनिर्धारण प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती यह कहते हैं—'व्याप्तेश्च समञ्जसम्' 'च' शब्द तु शब्दके स्थानमें है, और तीनों पक्षोंकी व्यावृत्ति प्रयोजन वाला है। इसलिए यहां तीन

सत्यानन्दी दीपिका

भावमें होता है। 'भेदबुद्धिपूर्वकाभेदारोप अध्यासः' (भेद बुद्धि पूर्वक अभेदका आरोप अध्यास है जैसे 'सिंहो माणवकः' 'माणवक सिंह है' माणवकमें माणवकत्व बुद्धिके निवृत्त न होते हुए भी उस सिंह बुद्धिसे सिंह शब्दका प्रयोग होता है। जैसे यहां अध्यासमें सामानाधिकरण्य है, वैसे ही प्रकृतमें भी होना चाहिए।

❀ सिद्धान्ती—जिस उद्गीथ बुद्धिका ओंकारमें आरोप किया जाता है, उस उद्गीथ अर्थके वाचक उद्गीथ शब्दकी ओंकारमें लक्षणा प्रसक्त होगी अर्थात् उस उद्गीथ शब्दका लक्षणावृत्तिसे ओंकाररूप लक्ष्यार्थ मानना पड़ेगा, क्योंकि ओंकारमें उद्गीथ बुद्धिका विषयत्व गौणरूपसे प्रतिपादित है। तथा

समिति । चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः । तदिह त्रयः पक्षाः द्या इति पर्युदस्यन्ते । विशेषणपक्ष एवैको निरवद्य इत्युपादीयते । तत्राध्यासे तावद्या रितरत्राध्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत तत्फलं च कल्प्येत । श्रूयत एव फलम् यिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादीति चेत्—न, तस्यान्यफलत्वात् । त्यादिदृष्टिफलं हि तन्नोद्गीथाध्यासफलम् । अपवादेऽपि समानः फलाभावः मिथ्याज्ञान- वृत्तिः फलमिति चेत्—न, पुरुषार्थोपयोगानवगमात् । नच कदाचिदप्योंकारादोंकारबुद्धि- र्वर्तते, उद्गीथाद्वोद्गीथबुद्धिः । न चेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम्, उपासनाविधिपर- म् । * नाप्येकत्वपक्षः संगच्छते, निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात्, एकेनैव विवक्षितार्थसमर्पणात् । नच हौत्रविषय आध्वर्यवविषये वाऽक्षर ओंकारशब्दवाच्य उद्गीथ- प्रसिद्धिरस्ति । नापि सकलायां साम्नो द्वितीयायां भक्तावुद्गीथशब्दवाच्यायामोंकारशब्द- प्रसिद्धिर्येनानतिरिक्तार्थता स्यात् । परिशेषाद्विशेषणपक्षः परिगृह्यते । व्याप्तेः सर्ववेदसाधार- णात् । सर्वव्याप्यक्षरमिह मा प्रसञ्जीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षरं विशेष्यते । कथं नाम ? उद्गी- थावयवभूत ओंकारो गृह्येतेति, नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणा, उद्गीथशब्दस्यावयवल-

---

सदोष हैं, इससे वे पर्युदस्त हैं । केवल एक विशेषण पक्ष ही निर्दोष है, अतः उसका ग्रहण जाता है । उनमेंसे प्रथम अध्यासमें तो जो बुद्धि अन्यत्र अध्यस्त होती है, उस शब्दकी लक्षणा- प्रसक्त होगी और उसके फलकी कल्पना करनी पड़ेगी । यदि कहो कि 'आपयिता ह० (वह नकी कामनाओंको प्राप्त करानेवाला होता है) इत्यादि फल श्रुति है, तो यह युक्त नहीं है, उसका अन्य फल है अर्थात् वह अन्यका फल है । आप्ति आदिरूपसे ओंकारकी दृष्टिका फल उद्गीथके अध्यासका फल नहीं है । अपवादमें भी फलका अभाव समान है । यदि कहो कि मिथ्या- की निवृत्ति उसका फल है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उसका पुरुषार्थ रूप फल उपयोग ज्ञात होता. और कभी भी ओंकारसे ओंकार बुद्धि और उद्गीथसे उद्गीथ बुद्धि निवृत्त नहीं होती, यह [ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत] वस्तु तत्त्व प्रतिपादन परक भी नहीं है, कारण कि वह सना विधि परक है । इसीप्रकार एकत्व पक्ष भी संगत नहीं है, क्योंकि उस पक्षमें दो वार शब्दका च्चारण निरर्थक होगा । एक ही वार उच्चारणसे विवक्षितार्थ समर्पित हो जाता है । होत्रविषयक या आध्वर्यविषयक ओंकार शब्द वाच्य अक्षरमें भी उद्गीथ शब्दकी प्रसिद्धि नहीं है । और नहीं उद्गीथ शब्दवाच्य सम्पूर्ण दूसरी भक्ति-भागमें भी ओंकार शब्दकी प्रसिद्धि नहीं है, जिससे में एकार्थत्व हो । अतः विशेषण पक्ष ही परिशेषसे परिगृहीत होता है, क्योंकि ओंकारकी व्याप्ति वेद साधारण-समान है । सर्वव्यापी ॐ अक्षर यहां प्रसक्त न हो, अतः उद्गीथ शब्दसे ॐ र यहां विशेषित किया जाता है, किसप्रकार उद्गीथके अवयव भूत ओंकारका प्रकृतमें ग्रहण किया

सत्यानन्दी दीपिका

भी असिद्ध होनेसे कल्पनीय होगा, इससे प्रतीकोपासनाका फल भी कल्पनीय होगा, अतः है । यदि कहो कि 'आपयिता ह वै कामानां भवति' इस श्रुतिमें फलका श्रवण है ? तो यह फल सका नहीं है, किन्तु उपासनाका है । इसीप्रकार अध्यासके समान अपवादका भी फल नहीं है ।

* जैसे घटके अवयवों अथवा ग्रामके अवयवरूप कुछ घरोंके जल जानेपर पट जल गया, जल गया, ऐसा व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध है । इसप्रकार सर्व वेदव्यापी ॐ कारका निराकरण उद्गीथके अवयवरूप ॐ कारमें प्राण दृष्टि विधानके लिए विशेषण ही युक्त है, क्योंकि इसमें लाघव है । इससे विशेषण पक्ष निर्दोष है ॥ ६ ॥

क्षणार्थत्वात्। सत्यमेवमेतत्, लक्षणायामपि तु संनिकर्षविप्रकर्षौ भवत एव। अध्यासपक्षे ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्यत इति विप्रकृष्टा लक्षणा विशेषणपक्षे त्ववयविवचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति संनिकृष्टा, समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु। अतश्च व्याप्तेर्हेतोरोमित्येतदक्षरमित्येतस्योद्गीथमित्येतद्विशेषणमिति समञ्जसमेतत्, निरवद्यमित्यर्थः ॥९॥

(५ सर्वाभेदाधिकरणम् । सू० १०)

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥१०॥

पदच्छेद—सर्वाभेदात्, अन्यत्र, इमे।

सूत्रार्थ—किसी शाखामें पठित (इमे) वसिष्ठत्व आदि गुण (अन्यत्र) शाखामें भी गृहीत होते हैं, (सर्वाभेदात्) क्योंकि सब शाखाओंमें प्राण विज्ञानका अभेद है।

* वाजिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपास्यत्वमुक्तम्। वागादयोऽपि हि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः ते च गुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—'यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (बृ० ६।१।१४) इत्यादिना। अन्येषामपि तु शाखिनां कौषीतकिप्रभृतीनां प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानम्', 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' (कौ० २।१४) इत्येवंजातीयकेषु प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुक्तम्, न त्विमे वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः। तत्र संशयः—किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्राप्यस्येरन्नुत नास्येरन्निति। तत्र प्राप्तं तावन्नास्येरन्निति। कुतः ? एवं-शब्दसंयोगात्। 'अथो य एवं विद्वा-

जाय [इस अभिप्रायसे] परन्तु इस पक्षमें भी लक्षणाका प्रसंग समान है, कारण कि उद्गीथ शब्दका अवयव अर्थ लक्षणासे होता है। यह सत्य ही है, परन्तु लक्षणामें भी तो संनिकर्ष और विप्रकर्ष होता ही है। अध्यास-पक्षमें अन्य अर्थ विषयक बुद्धि दूसरे अर्थमें प्रक्षिप्त होती है, अतः विप्रकृष्ट लक्षणा है, विशेषण पक्षमें तो अवयवी वाचक शब्दसे अवयव समर्पित होता है, इससे संनिकृष्ट लक्षणा है। समुदायोंमें प्रवृत्त शब्द अवयवोंमें भी प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। जैसे पट, ग्राम आदिमें। इसलिए व्याप्ति हेतुसे 'ॐ' इस अक्षरका 'उद्गीथ' यह विशेषण है, इसप्रकार यह समञ्जस-निर्दोष है, ऐसा अर्थ है ॥ ९ ॥

वाजसनेयी और छान्दोगोंके प्राण संवादमें श्रेष्ठत्व गुणसे युक्त प्राणको उपास्य कहा गया है, और उसमें वाग् आदि भी वसिष्ठत्व आदि गुणोंसे युक्त कहे गये हैं। और वे गुण 'यद्वा अहं०' (मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस प्रतिष्ठासे युक्त हो, ऐसा नेत्रने कहा) इत्यादिसे पुनः प्राणमें प्रत्यर्पित किये गये हैं। और कोषीतकी आदि अन्य शाखावालोंने भी तो 'अथातो निःश्रेयसादानम्' (अब श्रेष्ठताका निर्धारण होता है ये देवता अपनी श्रेष्ठताके लिए विवाद करते हुए) इसप्रकारके प्राण संवादोंमें प्राण श्रेष्ठ कहा है। परन्तु ये वसिष्ठत्व आदि गुण नहीं कहे गये हैं। वहां संशय होता है कि किसी शाखामें कहे गये ये वसिष्ठत्व आदि गुण क्या वे अन्य शाखामें भी लिए जाते हैं अथवा नहीं लिए जाते ? नहीं लिए जाते, ऐसा वहां प्राप्त होता है। क्यों ? 'एवं' शब्दका संयोग है। 'अथो य एवं विद्वान्०' (प्राण श्रेष्ठ है, इसप्रकार जाननेवाला जो विद्वान् प्राणमें निःश्रेयसको जानकर

सत्यानन्दी दीपिका

* विषय समझानेके लिए वाजसनेयी और छान्दोग उभय सम्मत अर्थ 'वाजिनां' इत्यादिसे कहते हैं। वाणी वसिष्ठत्व गुणवाली है, क्योंकि वाग्मी लोकमें सुखपूर्वक निवासका दर्शन है, नेत्र प्रतिष्ठा गुणसे युक्त हैं, क्योंकि नेत्रवालोंकी पाद प्रतिष्ठा देखनेमें आती है। श्रोत्र सम्पद् गुण विशिष्ट

निःश्रेयसं विदित्वा' (कौ० २।१४) इति तत्र तत्रैवंशब्देन वेद्यं वस्तु निवेद्यते। एवं-संनिहितावलम्बनो न शाखान्तरपरिपठितमेवंजातीयकं गुणजातं शक्नोति निवेद-तुम्। तस्मात्स्वप्रकरणस्थैरेव गुणैर्निराकाङ्क्षत्वमिति। * एवं प्राप्ते प्रत्याह- -अस्येरन्निमे क्वचिदुक्ता वसिष्ठत्वादयोऽन्यत्रापि। कुतः? सर्वाभेदात्। सर्वत्रैव हि तदेवैकं प्राण-ज्ञानमभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते, प्राणसंवादादिसारूप्यात्। अभेदे च विज्ञानस्य कथमिमे गुणाः चिदुक्ता अन्यत्र नास्येरन्? नन्वेवंशब्दस्तत्र तत्र भेदेनैवंजातीयकं गुणजातं वेद्यत्वाय र्पयतीत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यद्यपि कौषीतकिब्राह्मणगतेनैवं-शब्देन वाजसनेयिब्राह्मणगतं जातमसंशब्दितमसंनिहितत्वात्तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनेयिब्राह्मणगतेनैवं-शब्देन संशब्दितमिति न परशाखागतमप्यभिन्नविज्ञानावरुद्धं गुणजातं स्वशाखागताद्विशिष्यते। नैवं सति श्रुतहानिरश्रुतकल्पना वा भवति। एकस्यामपि हि शाखायां श्रुता गुणाः श्रुता सर्वत्र भवन्ति, गुणवतो भेदाभावात्। नहि देवदत्तः शौर्यादिगुणत्वेन स्वदेशे प्रसिद्धो न्तरं गतस्तद्देश्यैरविभावितशौर्यादिगुणोऽप्यतद्गुणो भवति। यथा च तत्र परिचयवि-देशान्तरेऽपि देवदत्तगुणा विभाव्यन्ते। एवमभियोगविशेषाच्छाखान्तरेऽप्युपास्या गुणाः

होता है) इसप्रकार तत्-तत् स्थलोंमें एवं शब्दसे वेद्य वस्तु निवेदित की जाती है और संनिहिता- ‘एवं’ शब्द अन्य शाखाओंमें पठित इसप्रकारके गुण समूहका निवेदन नहीं कर सकता, ए अपने प्रकरणमें स्थित गुणोंसे ही निराकांक्षता है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं- र उक्त ये वसिष्ठत्व आदि गुण अन्यशाखामें भी गृहीत होते हैं, किससे? इससे कि सर्वत्र है। सभी शाखाओंमें वही एक अभिन्न प्राणविज्ञान प्रत्यभिज्ञात होता है, क्योंकि प्राण आदि समान है। विज्ञानका अभेद होनेपर किसी शाखामें कहे गये ये गुण अन्य शाखाओंमें नहीं लिये जायँगे। परन्तु ऐसा कहा गया है कि ‘एवं’ शब्द तत्-तत् स्थलमें इसप्रकारके गुण भेदरूपसे वेद्यत्वके लिए समर्पण करता है। इसपर कहते हैं—यद्यपि कौषीतकिब्राह्मण गत शब्दसे वाजसनेयी ब्राह्मणगत गुण समुदाय प्रतिपादित नहीं है, क्योंकि वे गुण असंनिहित हैं। उसी विज्ञानमें वाजसनेयी ब्राह्मणगत ‘एवं’ शब्दसे वह गुणसमूह प्रतिपादित है। इसलिए विज्ञानसे अवरुद्ध अन्य शाखागत भी गुण समुदाय अपने शाखागत गुण समूहसे भिन्न नहीं और ऐसा होनेपर श्रुतहानि अथवा अश्रुत कल्पना भी नहीं होती। एक शाखामें भी श्रुत गुण ही श्रुत होते हैं, क्योंकि गुणवान्के भेदका अभाव है। अपने देशमें शौर्य आदि गुणरूपसे देवदत्त अन्य देशमें गया हो उस देशवासियों द्वारा उसके शौर्य आदि गुण अज्ञात र भी वह उन गुणोंसे रहित नहीं होता, और जैसे परिचय विशेषसे वहां अन्यदेशमें भी देवदत्त

सत्यानन्दी दीपिका

क्योंकि श्रोत्रवालोंको ही श्रवण करनेसे सब शास्त्रीय अर्थोंकी सम्पत्ति होती है, मन आयतन गुण है, क्योंकि वह वृत्ति द्वारा सब भोग्य पदार्थोंका आश्रय है, वे गुण गुणीकी श्रेष्ठताका निश्चय कर आदिसे प्राणमें ही अर्पित किये गये हैं, ऐसा दोनों शाखाओंमें सम्मत अर्थ है। अब इस करणका ‘अन्येषाम्’ इत्यादिसे विषय कहते हैं। यहाँपर गुणोंका अनुपसंहार पूर्वपक्षका और हार सिद्धान्तका फल है।

* “कौषीतकिश्रुतिस्थ प्राणः, वसिष्ठत्वादिगुणकः, श्रेष्ठप्राणत्वात्, वाजिश्रुतिस्थप्राणवत्” कौषीतकी श्रुतिमें स्थित प्राण वसिष्ठत्व आदि गुणवाला है, श्रेष्ठ प्राण होनेसे, वाजिश्रुतिस्थ प्राणके) इसप्रकार अश्रुत गुणोंका अनुमान होनेपर श्रुतकी हानि नहीं है और अश्रुतकी कल्पना भी है, क्योंकि कोई विरोध नहीं है। इसको ‘न चैवंसति’ इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं ॥ १० ॥

शाखान्तरेऽप्यस्येरन् । तस्मादेकप्रधानसंबद्धा धर्मा एकत्राप्युच्यमानाः सर्वत्रैवोपसंहर्तव्या इति ॥१०॥

(६ आनन्दाद्यधिकरणम् । सू० ११-१३)

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥११॥

पदच्छेद—आनन्दादयः, प्रधानस्य ।

सूत्रार्थ—(प्रधानस्य) ब्रह्मके (आनन्दादयः) आनन्दत्व आदि धर्मोंका सर्वत्र उपसंहार होना चाहिए, क्योंकि सब शाखाओंमें वेद्य ब्रह्म एक है ।

* ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिष्वानन्दरूपत्वं विज्ञानघनत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका ब्रह्मणो धर्माः क्वचित्केचिच्छ्रूयन्ते । तेषु संशयः—किमानन्दादयो ब्रह्मधर्मा यत्र यावन्तः श्रूयन्ते तावन्त एव तत्र प्रतिपत्तव्याः, किं वा सर्वे सर्वत्रेति । तत्र यथाश्रुतिविभागं धर्मप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते—आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रतिपत्तव्याः । कस्मात् ? सर्वाभेदादेव । सर्वत्र हि तदेवैकं प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते । तस्मात्सार्वत्रिकत्वं ब्रह्मधर्माणां, तेनैव पूर्वाधिकरणोदितेन देवदत्तशौर्यादिनिदर्शनेन ॥११॥

नन्वेवं सति प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र संकीर्येरन् । तथा हि - तैत्तिरीयक आनन्दमयमात्मानं प्रक्रम्याम्नायते—'तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति । अत उत्तरं पठति—

के गुण अवभासित होते हैं, वैसे ही सम्बन्ध विशेषसे अन्य शाखाके उपास्य गुण भी दूसरी शाखामें लिए जाते हैं । इसलिए एक शाखामें कहे हुए एक प्रधानके साथ सम्बद्ध धर्मोंका सभी शाखाओंमें उपसंहार होना चाहिए ॥ १० ॥

ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें आनन्दरूपत्व, विज्ञानघनत्व, सर्वगतत्व और सर्वात्मत्व इसप्रकारके ब्रह्मके धर्म कहीं पर कोई सुने जाते हैं । उनमें संशय होता है—क्या ब्रह्मके आनन्द आदि धर्म जहाँ जितने सुने जाते हैं उतने ही वहां प्रतिपत्तव्य हैं अथवा सबकी सर्वत्र प्रतिपत्ति होनी चाहिए ? श्रुतिविभाग के अनुसार धर्मोंकी प्रतिपत्ति प्राप्त होनेपर यह कहते हैं—प्रधानभूत ब्रह्मके आनन्द आदि सब धर्म सर्वत्र जानने चाहिएँ, क्योंकि सबके साथ अभेद ही है । वही एक प्रधान ब्रह्मविशेषरूपसे सर्वत्र भिन्न नहीं है । इसलिए पूर्वाधिकरणमें उक्त उसी देवदत्तके शौर्य आदि दृष्टान्तसे ब्रह्मके धर्म सार्वत्रिक हैं ॥ ११ ॥

परन्तु ऐसा होनेपर प्रियशिरस्त्व आदि सब धर्म भी सर्वत्र संगृहीत होंगे, क्योंकि तैत्तिरीयकमें आनन्दमय आत्माका उपक्रम कर 'तस्य प्रियमेव शिरः' (उस आनन्दमय आत्माका प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठा है) ऐसी श्रुति है, इससे उत्तर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

* 'आनन्दो ब्रह्म' इसप्रकार ब्रह्मके साथ सामानाधिकरण्यसे पठित वे आनन्द आदि पद जड़त्व, दुःखत्व, मिथ्यात्व आदि ब्रह्ममें कल्पित विरुद्ध धर्मोंकी निवृत्ति द्वारा अखण्ड अद्वय ब्रह्मका लक्षणासे बोध कराते हैं, इसलिए व्यर्थ नहीं हैं । 'सच्चिदानन्द अद्वय निर्विशेष ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा विशेष ज्ञान जितने पदोंसे संभव हो उतने पदोंका उपसंहार युक्त है, अतः ब्रह्मके आनन्दत्व आदि सभी धर्मोंका सब शाखाओंमें उपसंहार होना चाहिए ॥ ११ ॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

पदच्छेद—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः, उपचयापचयौ, हि, भेदे ।

सूत्रार्थ—एक शाखामें श्रुत (प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः) प्रियशिरस्त्वादि धर्मोंकी सर्वत्र प्राप्ति
ै, (हि) क्योंकि प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द ये परस्परकी और अन्य भोक्ताकी अपेक्षासे
चयापचयौ) वृद्धि और ह्रासरूपसे उपलब्ध होते हैं, ये (भेदे) भेदमें ही हो सकते हैं, ब्रह्म
क है, अतः उसके धर्म नहीं हो सकते ।

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आम्नातानां नास्त्यन्यत्र प्राप्तिः । यत्कारणं—
मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परापेक्षया भोक्त्रन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा
भ्यन्ते । उपचयापचयौ च सति भेदे संभवतः, निर्भेदं तु ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा०
१) इत्यादिश्रुतिभ्यः । न चैते प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मधर्माः, कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्ट-
भिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यत्र । अपि च परस्मिन्ब्रह्मणि चित्ता-
पायमात्रत्वेनैते परिकल्प्यन्ते, न द्रष्टव्यत्वेन । एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिर-
दीनाम् । ब्रह्मधर्मास्त्वेतान्कृत्वा न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्ति-
। स च न्यायोऽन्येषु निश्चितेषु ब्रह्मधर्मेषूपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु
कामादिषु च । तेषु हि सत्यप्युपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वे, प्रक्रमभेदादुपासनाभेदे सति,
न्योन्यधर्माणामन्योन्यत्र प्राप्तिः । यथा च द्वे नार्यावेकं नृपतिमुपासाते—छत्रेणान्या चा-
रेणान्या, तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवति—एवमिहापीति । उप-
पचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युपपद्यते, न निर्गुणे परस्मिन्ब्रह्मणि ।
न सत्यकामत्वादीनां धर्माणां क्वचिच्छ्रुतानां सर्वत्र प्राप्तिरित्यर्थः ॥१२॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥१३॥

पदच्छेद—इतरे, तु, अर्थसामान्यात् ।

तैत्तिरीयकमें पठित प्रियशिरस्त्वादि धर्मोंकी अन्यत्र प्राप्ति नहीं है, क्योंकि प्रिय, मोद, प्रमोद
आनन्द ये परस्परकी और अन्य भोक्ताकी अपेक्षासे उपचित (वृद्धि) और अपचित (ह्रास)
उपलब्ध होते हैं और उपचय और अपचय भेदके होनेपर संभव हैं । किन्तु ब्रह्म तो 'एकमेव-
यम्' (एक ही अद्वितीय है) इत्यादि श्रुतियोंसे भेद रहित ज्ञात होता है । और ये प्रियशिर-
ब्रह्मके धर्म नहीं है, किन्तु ये कोशोंके धर्म हैं । ऐसा हम 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रमें
चुके हैं । परब्रह्ममें चित्तकी अवस्थितिके साधनमात्ररूपसे परिकल्पित किए गए हैं, द्रष्टव्यरूपसे
। इसप्रकार भी प्रियशिरस्त्व आदिकी सुतरां अन्य शाखामें अप्राप्ति है । इन प्रियशिरस्त्व आदिको
धर्म मानकर प्रियशिरस्त्व आदिकी अप्राप्ति है, यह न्याय मात्र आचार्यने प्रदर्शित किया है ।
न्याय उपासनाके लिए उपदिश्यमान संयद्वामत्व आदि और सत्य कामत्व आदि निश्चित ब्रह्मके
धर्मोंमें लेने चाहिएँ, क्योंकि उनमें उपास्य ब्रह्मके एक होनेपर भी उपक्रमके भेदसे उपासनाका
होनेपर अन्योन्य धर्मोंकी अन्योन्य शाखामें प्राप्ति नहीं है । जैसे दो स्त्रियां एक राजाकी उपासना-
करती हैं, एक छत्रसे और दूसरी चँवरसे । उसमें उपास्यके एक होनेपर भी उपासनाका भेद
धर्मकी व्यवस्था होती है, वैसे यहां भी होना चाहिए । उपचित और अपचित गुणत्व तो भेद
रके होनेपर सगुण ब्रह्ममें उपपन्न होता है, निर्गुण परब्रह्ममें नहीं । इसलिए किसी शाखामें
सत्यकामत्व आदि धर्मोंकी सब शाखाओंमें प्राप्ति नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—(इतरे तु) आनन्द आदि धर्मोंका तो सर्वत्र उपसंहार होना चाहिए, (अर्थ-सामान्यात्) क्योंकि प्रतिपाद्य ब्रह्म सर्वत्र एक है ।

इतरे त्वानन्दादयो धर्मा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात्सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यम्, प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति ॥१३॥

(७ आध्यानाधिकरणम् । सू० १४-१५)

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥१४॥

पदच्छेद—आध्यानाय, प्रयोजनाभावात् ।

सूत्रार्थ—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था' इस श्रुतिमें (आध्यानाय) आध्यान पूर्वक सम्यग्दर्शनके लिए पुरुष परत्वसे प्रतिपादित है, अर्थ आदि नहीं, (प्रयोजनाभावात्) क्योंकि इनके परत्व प्रति-पादनमें कोई प्रयोजन नहीं है ।

❀ काठके हि पठ्यते—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिः' (क० ३।१०) इत्यारभ्य 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (क० ३।११) इति । तत्र संशयः—किमिमे सर्व एवार्थादयस्ततस्ततः परत्वेन प्रतिपाद्यन्त उत पुरुष एवैभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति । तत्र तावत्सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः । तथा हि श्रूयते—'इदमस्मात्परमिदमस्मात्परम्' इति । ननु बहुष्वर्थेषु परत्वेन प्रतिपिपादयिषिते

परन्तु ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए कहे हुए अन्य आनन्द आदि धर्म अर्थ-सामान्यसे प्रतिपाद्य धर्मी ब्रह्मके एक होनेसे सब सर्वत्र प्रतीत होने चाहिएँ यही वैषम्य है, क्योंकि वे ब्रह्मकी प्रतिपत्ति-ज्ञान मात्र प्रयोजन वाले हैं ॥ १३ ॥

काठकमें 'इन्द्रियेभ्यः परा० (इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर-सूक्ष्म अथवा श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन पर है और मनसे बुद्धि पर है) ऐसा आरम्भकर 'पुरुषान्न० (पुरुषसे पर और कुछ नहीं है, वही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा है, वही परागति-उत्कृष्ट गति है) इसप्रकार कहा जाता है। यहाँ संशय होता है—क्या ये सब अर्थ आदि तत् तत्से पररूपसे प्रतिपादित हैं अथवा पुरुष ही इन सबसे पररूपसे प्रतिपादित है ? उसमें इन सबका पररूपसे प्रतिपादन है, ऐसी मति होती है, क्योंकि 'यह इससे पर, यह इससे पर' ऐसा श्रुति कहती है । परन्तु बहुत अर्थोंमें पररूपसे प्रतिपादन करना यदि अभीष्ट हो तो वाक्य भेद होगा ? यह दोष नहीं है, कारण कि वाक्यके बहुत्वकी उपपत्ति होती है। परत्वसे युक्त अनेक विषयोंके प्रतिपादनके लिए ये अनेक ही वाक्य समर्थ होते हैं। इसलिए इनमें प्रत्येकका पररूपसे प्रतिपादन है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—इन सभीसे पुरुष ही पर

सत्यानन्दी दीपिका

* संयद्वामत्व आदि धर्मोंसे आनन्द आदि भिन्न हैं, क्योंकि इनका केवल ब्रह्मका ज्ञान कराना ही प्रयोजन है । अतः सत्य, ज्ञान, आनन्द, आत्मा और ब्रह्म इन शब्दोंका सर्वत्र उपसंहार (संग्रह) करना चाहिए । पूर्वपक्षमें सत्य आदि पदोंके अनुपसंहारसे वाक्यार्थका अनवधारण फल है । सिद्धान्तमें तो सत्य आदि पदोंके उपसंहारसे वाक्यार्थका अवधारण फल है ॥ १३ ॥

* पूर्वपक्षी—अर्थ आदिमें भी परत्व मानना चाहिए, क्योंकि इनका ध्यान भी सप्रयोजन है। 'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वभिमानिकाः ॥ बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः । पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्त चिन्तकाः ॥ पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ।' (विष्णु पुराण) (इंद्रियोंका ध्यान करनेवाले यहाँ दश मन्वन्तर रहते हैं, भौतिक अभिमानके चिन्तक पूर्ण सौ सहस्र मन्वन्तर रहते हैं । बुद्धिके चिन्तक दशसहस्र मन्वन्तर कष्ट रहित रहते हैं, अव्यक्तके चिन्तक पूर्णं सौ सहस्र मन्वन्तर रहते हैं।

भेदः स्यात्, नैष दोषः, वाक्यबहुत्वोपपत्तेः। बहून्येव ह्येतानि वाक्यानि प्रभवन्ति र्थानपरत्वोपेतान्प्रतिपादयितुम्। तस्मात्प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनमिति। ❀ एवं प्राप्ते —पुरुष एव ह्येभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति युक्तम्, न प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपाद- कस्मात्? प्रयोजनाभावात्। न हीतरेषु परत्वेन प्रतिपन्नेषु किंचित्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते पुरुषे त्विन्द्रियादिभ्यः परस्मिन्सर्वानर्थव्रातातीते प्रतिपन्ने दृश्यते प्रयोजनं मोक्षसिद्धिः। च श्रुतिः—'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (क० ३।१५) इति। अपि च परप्रतिषेधेन शब्देन च पुरुषविषयमादरं दर्शयन्पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयति— नायेति। आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनार्थमेव हीहाध्यानमुप- ते, न त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम् ॥१४॥

आत्मशब्दाच्च ॥१५॥

पदच्छेद—आत्मशब्दात्, च।

सूत्रार्थ—'एष सर्वेषु' इत्यादि श्रुतिसे प्रकृत पुरुषमें आत्मशब्दका श्रवण होनेसे यह वाक्य रक ही है, क्योंकि श्रुतिसे आत्मामें मानान्तरावेद्यत्व अपूर्वका प्रतिपादन है।

❀ इतश्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिः। यत्कारणम् 'एष सर्वेषु भूतेषु त्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० ३।१२) इति प्रकृतं मात्मेत्याह। अतश्चानात्मत्वमितरेषां विवक्षितमिति गम्यते। तस्यैव च दुर्विज्ञानतां मतिगम्यतां च दर्शयति। तद्विज्ञानायैव 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (कठ० ३।१३) इत्या-

---

प्रतिपादित है, किन्तु इनमेंसे प्रत्येक अर्थ आदिमें परत्व प्रतिपादन युक्त नहीं है, क्योंकि प्रयोजनका है, अन्योंके पररूपसे ज्ञात होनेपर कोई प्रयोजन देखा अथवा सुना नहीं जाता। इन्द्रियादिसे पर सर्व समुदायसे रहित परपुरुषके ज्ञात होनेपर तो मोक्षसिद्धिरूप प्रयोजन देखा जाता है, क्योंकि 'निचा- नं (उस आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट-मुक्त हो जाता है) ऐसी श्रुति है। और प्रतिषेधसे और काष्ठाशब्दसे पुरुष विषयक आदर दिखलाते हुए पुरुषकी प्रतिपत्तिके लिए ही प्रवाहकी उक्ति है, ऐसा दिखलाते हैं—'आध्यानाय' इति। आध्यानपूर्वक तत्त्वज्ञानके लिए ऐसा है। सम्यग्दर्शनके लिए ही आध्यानका उपदेश किया जाता है, आध्यानका ही स्वप्रधानरूपसे नहीं किया जाता है ॥ १४ ॥

इससे भी इन्द्रिय आदिके प्रवाहकी उक्ति केवल पुरुषकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिए ही है, कि 'एष सर्वेषु भूतेषु' (सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता। यह तो दर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है) यह श्रुति प्रकृत पुरुषको रूपसे कहती है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि अन्योंमें अनात्मत्व विवक्षित है। और उसीमें

सत्यानन्दी दीपिका

ष पुरुषको प्राप्त करता है उसके लिए कालकी संख्या-अवधि नहीं है) इसप्रकार प्रामाणिक से भेद माननेमें कोई दोष नहीं है, अतः उक्त सब वाक्य प्रत्येक अर्थ आदिको पररूपसे न करते हैं।

*पूर्वपक्षमें वाक्यभेद होनेसे विद्याका भेद है, सिद्धांतमें वाक्यकी एकतासे विद्याकी एकता है ॥१४॥

* 'तद्विष्णोः परमं पदम्' और 'पुरुषान्नपरं किञ्चित्' इस प्रकार उपक्रम और उपसंहारके एक होनेसे सब वाक्योंका तात्पर्य पुरुषके प्रतिपादनमें है। इस प्रकार एक वाक्यता निश्चित होनेपर भेद और फल भेदकी कल्पना युक्त नहीं है ॥ १५ ॥

ध्यानं विदधाति । तद्व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १।४।१) इत्यत्र । एवमनेकप्रकार आशयातिशयः श्रुतेः पुरुषे लक्ष्यते, नेतरेषु । अपि च 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्वि ष्णोः परमं पदम्' (क० ३।९) इत्युक्ते, किं तदध्वनः पारं, विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायामिन्द्रियाद्यनुक्रमणात्परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते ॥१५॥

(८ आत्मगृहीत्यधिकरणम् । सू० १६-१७)

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥१६॥

पदच्छेद—आत्मगृहीतिः, इतरवत् , उत्तरात् ।

सूत्रार्थ—(आत्मगृहीतिः) 'आत्मैवेदम' यहाँ आत्मशब्दसे परमात्माका ही ग्रहण है अन्य नहीं, क्योंकि (इतरवत्) अन्यके समान, 'आत्मन आकाशः' इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें भी आत्मशब्द परमात्माका ग्रहण है (उतरात्) 'स ईक्षत' इस प्रकार उत्तर विशेषण वाक्योंसे भी जैसे परमात्मा ही ग्रहण है, वैसे यहाँ भी आत्मशब्दसे परमात्माका ही ग्रहण होना चाहिए।

❋ ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोका सृजा' इति (ऐ० १।१) 'स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० १।२) इत्यादि । त संशयः—किं पर एवात्मेहात्मशब्देनाभिलप्यत उतान्यः कश्चिदिति । किं तावत्प्राप्तम् ? न परमात्मेहात्मशब्दाभिलप्यो भवितुमर्हतीति । कस्मात् ? वाक्यान्वयदर्शनात् । ननु वाक्यान्वयः सुतरां परमात्मविषयो दृश्यते, प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात् , ईक्षणपूर्वकस्रष्टृत्ववचनाच्च । नेत्युच्यते, लोकसृष्टिवचनात् । परमात्मनि हि स्रष्टरि परिगृह्यमाणे महाभूतसृष्टिरादौ वक्तव्या, लोकसृष्टिस्त्विहादावुच्यते । लोकाश्च महाभूतसंनिवेशविशेषाः । तथा चाम्भःप्रभृ

दुर्विज्ञेयता और संस्कृत बुद्धि गम्यता दिखलाती है। उसके विज्ञानके लिए ही 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः०' (विवेकी पुरुष वाणीका मनमें उपसंहार करे) इस प्रकार आध्यानका विधान करती है। उसका 'आनुमानिकम्०' इस सूत्रमें व्याख्यान किया गया है। इस प्रकार श्रुतिसे अनेक प्रकारका आशयातिशय-तात्पर्य पुरुषमें लक्षित होता है, अन्योंमें ही नहीं, और 'सोऽध्वनः० (यह ससार मार्गसे पा होकर उस विष्णु-व्यापक परमात्माके परमपदको प्राप्त करता है) ऐसा कहनेपर मार्गसे पार विष्णु परम पद क्या है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर इन्द्रिय आदिके अनुक्रमणसे परम पदकी प्रतिपत्तिके लिए ही यह प्रयास है, ऐसा निश्चत होता है ॥ १५ ॥

ऐतरेयकमें 'आत्मा वा० (सृष्टिके पहले यह जगत् एकमात्र आत्मा ही था, उसके सिवा और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी। उसने ईक्षण किया कि लोकोंकी रचना करूँ) और 'स इमाँल्लोकान सृजत० (उसने अम्भ-स्वर्ग, मरीचि-अन्तरिक्ष, मर-मर्त्य और आप-पाताल इन लोकोंकी रचना की) इत्यादि श्रुति है। उसमें संशय होता है—क्या यहाँ आत्मशब्दसे परमात्मा कहा जाता है अथवा अन्य कोई ? तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—यहाँ आत्मशब्दसे परमात्माका अभिधान नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्योंका अन्वय ऐसा देखनेमें आता है। परन्तु वाक्यान्वय तो सुतरां परमात्मा विषयक देखनेमें आता है। कारण कि उत्पत्तिके पूर्व आत्मैकत्वका अवधारण है और ईक्षण पूर्वक स्रष्टृत्व वचन है। नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि लोकसृष्टिका वचन है। परमात्माको स्रष्टा परिगृहीत करनेपर महाभूत सृष्टि पहले कहनी चाहिए थी, किन्तु यहां पहले लोकसृष्टि कही जाती है। लोक तो महाभूतोंके आकार विशेष हैं। उसी प्रकार 'अदोऽम्भः०

सत्यानन्दी दीपिका

* आत्मशब्दका प्रयोग ब्रह्म और हिरण्यगर्भ (प्रजापति) दोनोंमें उपलब्ध होनेसे संशय होता है। पूर्वपक्षी-यहां वाक्यान्वयसे तो आत्मशब्दसे हिरण्यगर्भ ग्राह्य है परमात्मा नहीं।

त्वेनैव निर्ब्रवीति—'अदोऽम्भः परेण दिवम्' (ऐ० १।२) इत्यादिना। लोकसृष्टिश्च राधिष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते। तथा हि श्रुति—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्याद्या। स्मृतिरपि 'स वै शरीरी प्रथमः पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' इति। ऐतरेयिणोऽपि 'अथातो रेतसः प्रजापते रेतो देवाः' इत्यत्र पूर्वस्मिन्प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां विचित्रां सृष्टिमामनन्ति। शब्दोऽपि तस्मिन्प्रयुज्यमानो दृश्यते—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) । एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते। ईक्षणमपि तस्य चेतनत्वादुपपन्नम्। अपि च 'ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्' जातीयको भूयान्व्यापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्ध इहानुगम्यते। विशेषवानेव कश्चिदिहात्मा स्यादिति। ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—पर एवात्मेहात्मशब्देन इतरवत्। यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।१) आदिषु परस्यात्मनो ग्रहणम्। यथा चेतरस्मिँल्लौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य शब्देन गृह्यते, तथेहापि भवितुमर्हति। यत्र तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १।४।१) आदौ 'पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्येवमादि विशेषणान्तरं श्रूयते, भवेत्तत्र विशेषवत् नो ग्रहणम्। अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते—'स ईक्षत

अम्भ द्युलोकसे पर है) इत्यादिसे श्रुति अम्भ आदिका लोकरूपसे ही निर्वचन करती है। लोक परमेश्वरसे अधिष्ठित किसी अन्य ईश्वरसे की जाती है, ऐसा श्रुति और स्मृतिमें उपलब्ध होता क्योंकि 'आत्मैवेदम० (सृष्टिके पूर्व यह जगत् पुरुषाकार एक आत्मा ही था) इत्यादि श्रुति है, 'स वै शरीरी० (वही प्रथम शरीरी है, वही पुरुष कहा जाता है, चराचर भूतोंका आदि कर्ता सबसे पूर्वमें था) ऐसी स्मृति भी है। ऐतरेय शाखावाले भी 'अथातो० (अनन्तर इससे सृष्टि हुई, देवता प्रजापतिके रेत-कार्य हैं) यहाँ पूर्व प्रकरणमें विचित्र सृष्टिको प्रज'पति कहते हैं और 'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' इसमें आत्मशब्द भी उसमें प्रयुक्त हुआ देखा है, और एकत्वका अवधारण भी उत्पत्तिके पूर्व अपने विकारकी अपेक्षासे उपपन्न होता है. चेतनत्व स्वीकार होनेसे उसमें ईक्षण भी उपपन्न है। और 'स्रष्टा उन प्रजाओंके लिए गो लाया, लिए अश्व लाया, उनके लिए पुरुष लाया, तदनन्तर प्रजाएँ उससे बोली' इसप्रकारका महान् विशेष विशेषवान् लौकिक आत्माओंमें प्रसिद्ध है, उसका यहां अनुगम होता है। इसलिए यहाँ युक्त कोई स्रष्टा आत्मा होना चाहिए। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम हैं—यहां परमात्मा ही आत्मशब्दसे गृहीत होता है, इतरके समान। जैसे 'तस्माद्वा० (उस से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि अन्य सृष्टि श्रुतियोंमें आत्मशब्दसे परमात्माका ग्रहण है। अन्य लौकिक आत्मशब्दके प्रयोगमें आत्मशब्दसे मुख्य प्रत्यगात्मा ही गृहीत होता है, वैसे ही भी होना चाहिए। जहाँ तो 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इत्यादिमें 'पुरुषविधः' इत्यादि विशेषणान्तर जाता है, वहाँ विशेषयुक्त आत्माका ग्रहण होना चाहिए। परन्तु यहाँ तो परमात्मा ग्रहणके ही 'स ईक्षत० (उसने ईक्षण किया कि मैं लोकोंकी सृष्टि करूँ) 'स इमाँल्लोकानसृजत'

सत्यानन्दी दीपिका

❀ ऐतरेय श्रुति (१।१, १।२) का अर्थ पाठक्रमसे न होकर अर्थक्रमसे होना चाहिए, उसने लोकोंकी सृष्टिकर इन लोकोंकी सृष्टि की, क्योंकि तैत्तिरीय श्रुतिमें भूतोंकी प्रथम सृष्टि है। यहां से अर्थक्रम बलवान् है, अन्यथा सृष्टि उत्पन्न नहीं होगी। इसलिए 'आत्मैवेदग्र आसीत्' आत्मशब्दसे परमात्माका ग्रहण है, हिरण्यगर्भका नहीं ॥ १६ ॥

लोकान्नु सृजा इति' (ऐ० १।१) 'स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐ० १।२) इत्येवमादि । तस्मात्तस्यैव ग्रहणमिति न्याय्यम् ॥१६॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥१७॥

पदच्छेद— अन्वयात्, इति, चेत्, स्यात्, अवधारणात् ।

सूत्रार्थ—(इति चेत्) यदि कहो कि (अन्वयात्) वाक्यान्वयके देखनेसे परमात्माक ग्रहण नहीं है, तो यह (स्यात्) परमात्माका ही ग्रहण है । (अवधारणात्) 'आत्मैवेदम' इत्या श्रुतिमें आत्मैकत्वका ही अवधारण होता है, अतः यहां परमात्माका ग्रहण है ।

❀ वाक्यान्वयदर्शनान्न परमात्मग्रहणमिति पुनर्यदुक्तं तत्परिहर्तव्यमिति । अत्रोच्यते—स्यादवधारणादिति । भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम् । कस्मात् ? अवधारणात् परमात्मग्रहणे हि प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणमाञ्जसमवकल्पते । अन्यथा ह्यनाञ्जसं तत्परि कल्पेत । लोकसृष्टिवचनं तु श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमहाभूतसृष्ट्यनन्तरमिति योजयिष्यामि । यथा 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धवियद्वायुसृष्ट्यनन्तरमित्ययूयुजमेव मिहापि । श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो हि समानविषयो विशेषः श्रुत्यन्तरेषूपसंहर्तव्यो भवति । योऽप्यय व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येवमादिः सोऽपि विवक्षितार्थावधारणानुगुण्येन ग्रहीतव्यः । न ह्ययं सकलः कथाप्रबन्धो विवक्षित इति शक्यते वक्तुम्, तत्प्रतिपत्तौ पुरुषा

(उसने इन लोकोंकी सृष्टि की) इत्यादि आगेका विशेषण भी उपलब्ध होता है । इसलिए यहां आत्मशब्दसे उसीका ग्रहण उचित है ॥१६॥

ऐसा जो कहा गया है कि वाक्यान्वयके दर्शनसे परमात्माका ग्रहण नहीं है, तो उसका परिहार करना चाहिए । इसपर कहते हैं—'स्यादवधारणात्' । परमात्माका ग्रहण उपपन्न होगा, क्योंकि ऐसा अवधारण है । परमात्माके ग्रहण होनेपर उत्पत्तिके पूर्व आत्मैकत्व (एक आत्मा ही था अवधारण संगत हो सकता है, अन्यथा वह असंगत हो जायगा । ऐतरेयमें लोकसृष्टि श्रुतिवाक्य तो अन्य श्रुति-तैत्तिरीय श्रुतिमें प्रसिद्ध महाभूत सृष्टिके अनन्तर योजना करेंगे । जैसे 'तत्तेजोऽसृजत (उसने तेज उत्पन्न किया) इस छान्दोग्य वाक्यकी अन्य तैत्तिरीय श्रुतिमें प्रसिद्ध आकाश और वायु की सृष्टिके अनन्तर तेजकी सृष्टि की, ऐसी योजना हमने की है, वैसे यहां भी योजना करेंगे, क्योंकि एक श्रुतिमें प्रसिद्ध समान विषयक विशेष अन्य श्रुतिमें उपसंहारके योग्य होता है । और 'स्रष्टाने प्रजाके लिए गो का शरीर बनाया' इत्यादि जो यह व्यापारविशेषका अनुगम है वह विवक्षित अर्थके अवधारण अनुसार ही ग्रहण करना चाहिए । यह सम्पूर्ण कथाग्रन्थ विवक्षित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी प्रतिपत्तिमें पुरुषार्थका अभाव है । यहां तो ब्रह्मात्मत्व विवक्षित है

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (प्रज्ञान ब्रह्म है) इस प्रकार उपक्र और उपसंहारमें आत्मा और ब्रह्मके श्रवण होनेसे एकत्वका निश्चय होता है । इससे और इस प्रकारके प्रवेश आदि लिङ्गोंसे लोक स्रष्टृत्व आदि लिङ्गोंके बाध होनेसे प्रत्यग्ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिए स्रष्टा परमेश्वरने जब देवताओंकी सृष्टिकी तब 'ता एनम ब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि' (ऐतरेय) (उन्होंने उनसे कहा कि हमारे लिए स्थान निर्माण करो जिसमें रहकर अन्न आदिका भक्षण कर सकें, तो उनके लिए गौ आदि शरीर बनाये, परन्तु देवताओंने उनको पसन्द नहीं किया) अनन्तर 'ताभ्य पुरुषमानयत्ताअब्रुवन्सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्' (ऐत० १।२।३) (स्रष्टाने उनके लिए मनुष्याकार शरीर बनाया, तब देवता उसे प्राप्तकर बहुत प्रसन्न होकर बोले यह सुन्दर बना है, यह सुकृतमय है, इससे पुण्य आदिका सम्पादन किया जा सकता है) इसी आशयको कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यकके

वात्। ब्रह्मात्मत्वं त्विह विवक्षितम्। ❀ तथा हि—अम्भःप्रभृतीनां लोकानां लोकपा- ग्न्यादीनां सृष्टिं शिष्ट्वा करणानि करणायतनं च शरीरमुपदिश्य स एव स्रष्टा 'कथं ऋते स्यात्' (ऐ० १।३।११) इति वीक्ष्येदं शरीरं प्रविवेशेति दर्शयति—'स एतमेव सीमानं तया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० १।३।१२) इति। पुनश्च 'यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभि- तम्' (ऐ० १।३।११) इत्येवमादिना करणव्यापारविवेचनपूर्वकम् 'अथ कोऽहम्' (ऐ० ११) इति वीक्ष्य 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्' (ऐ० ३।१३) इति ब्रह्मात्मत्व- वधारयति। तथोपरिष्टात् 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (ऐत० ५।३) इत्यादिना समस्तभेदजातं महाभूतैरनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' ५।३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति। तस्मादिहात्मगृहीतिरित्यनपवादम्॥१७॥

❀ अपरा योजना—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥ वाजसनेयके 'कतम आत्मेति विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैव

अम्भ आदि लोकों और अग्नि आदि लोकपालोंकी सृष्टिका उपदेश (रचना) कर इन्द्रियों इन्द्रियोंके आयतन शरीरका उपदेश (रचना) कर उसी स्रष्टाने 'कथं न्विदं० (मेरे विना होगा) ऐसा विचार कर इस शरीरमें प्रवेश किया, ऐसा 'स एतामेव० (वह परमेश्वर इस (मूर्धा) को ही विदीर्णकर ब्रह्मरन्ध्र द्वारसे प्रवेशकर गया) यह श्रुति दिखलाती है। पुनः वाचाभिव्याहृतं० (यदि मेरे विना वाणीसे बोल लिया जाय, यदि प्राणसे प्राणन व्यापार कर जाय) इत्यादिसे करण व्यापार विवेचन पूर्वक 'अथ कोऽहम्' (तो मैं कौन हूँ) ऐसा विचार स एतमेव० (इसप्रकार उसने इस पुरुषको ही पूर्णतम ब्रह्मरूपसे देखा) इसप्रकार श्रुति ब्रह्मात्मत्व अवधारण करती है, उसीप्रकार आगे भी 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (यह ब्रह्म है, यह इन्द्र है) महाभूतोंके साथ समस्त भेद समुदायका उपक्रमकर 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं० (वह सब प्रज्ञानेत्र- जिसका नेत्र है ऐसा है, प्रज्ञामें-चिदात्मामें प्रतिष्ठित है, लोकप्रज्ञानेत्र - प्रज्ञा-चैतन्य जिसका नेत्र- का कारण है ऐसा, प्रज्ञा ही उसका लय स्थान है, अतः प्रज्ञा ही ब्रह्म है) यह श्रुति ब्रह्मात्मत्व- का ही अवधारण करती है, इसलिए यहां परमात्मा ही गृहीत है, यह निरपवाद-बाधरहित है।१७

यह दूसरी योजना है—परमात्माका ग्रहण है, अन्यके समान, उत्तरसे। वाजसनेयकमें 'कतम त्मेति० (आत्मा कौन है ? [याज्ञवल्क्य—] यह जो प्राणोंमें बुद्धि वृत्तियोंके भीतर रहनेवाला मय ज्योतिः स्वरूप पुरुष है) इस प्रकार श्रुति आत्मशब्दसे उपक्रमकर उसीको सर्व संग

सत्यानन्दी दीपिका

भाष्यमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—'यद्यपि मिथुनजन्माः पश्वादि देहाः सर्वेऽप्यन्नमयास्त- मनुष्यदेहस्य ज्ञानकर्माधिकारित्वेन प्राधान्यमभिप्रेत्य तेषु पुरुषसृष्टिरत्राभिहिता' (यद्यपि पशु मिथुन जन्म और सब अन्नमय हैं, तो भी मनुष्य शरीर ज्ञान, कर्ममें अधिकारी होनेसे यहाँ प्रधान कहा गया है) इत्यादि कथाके जाननेसे मोक्ष सिद्ध नहीं होता। यहाँ तो 'ब्रह्म सबका स्वरूप है' केवल यही विवक्षित है, क्योंकि उसके ज्ञानसे परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

* मेरे विना यदि वाणी आदि अपने अपने व्यापार कर लें तो 'मैं कौन हूँ—मैं क्या करने हूँ' इसप्रकार 'त्वं' पदार्थका विचारकर स्वयं ही इसी शोधित आत्माको पूर्ण ब्रह्मरूपसे अनुभव । इसप्रकार अनुप्रवेश आदि लिङ्गोंसे भी ऐतरेयमें आत्मशब्दसे परमात्माका ही ग्रहण है, का नहीं ॥ १७ ॥

❀ इस व्याख्यानमें गुणोंका उपसंहार अस्पष्ट होनेके कारण पाद संगति ठीक नहीं होती, इस से भगवान् भाष्यकार 'अपरा' इत्यादिसे दूसरी व्याख्या करते हैं। परन्तु यहाँ संशय होता है कि

सर्वसङ्गविनिर्मुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति। तथा ह्युपसंहरति—'स वा महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति। छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्ये दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यन्तरेणैवात्मशब्दमुपक्रम्योदर्के 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति तादात्म्यमुपदिशति। तत्र संशयः—तुल्यार्थत्वं किमनयो राम्नानयोः स्यादतुल्यार्थत्वं वेति। अतुल्यार्थत्वमिति तावत्प्राप्तमतुल्यत्वादाम्नानयोः। ह्याम्नानवैषम्ये सत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुम्; आम्नानतन्त्रत्वादर्थपरिग्रहस्य। वाजसनेय चात्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति गम्यते। छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः ननु छान्दोगानामप्यस्त्युदर्के तादात्म्योपदेश इत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्; उपक्रमतन्त्रत्वादु संहारस्य, तादात्म्यसंपत्तिः सेति मन्यते। तथा प्राप्तेऽभिधीयते—आत्मगृहीतिः 'सदे सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हति, इतरवत्। यथा 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव। कस्मात्? उत्तरात् दात्म्योपदेशात् [१६] ॥

विनिर्मुक्तत्व प्रतिपादन द्वारा ब्रह्मात्मत्व अवधारण करती है। और 'स वा एष महानजः (यही महान् अज आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है) ऐसा उपसंहार करती है। छांदोग्यमें 'सदेव सोम्य० (हे सोम्य! उत्पत्तिके पूर्व यह जगत् एक अद्वितीय सद्रूप ही था) इसके अनन्तर आत्मशब्दसे उपक्रमकर उपसंहारमें 'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा है, वह तू है) यह श्रु तादात्म्यका उपदेश करती है। उसमें संशय होता है—क्या इन दोनों श्रुतियोंका तुल्यार्थ है अथवा अतुल्यार्थ है? पूर्वपक्षी—अतुल्यार्थ है 'ऐसा प्राप्त होता है' क्योंकि दोनों श्रुतियाँ अतुल्य हैं श्रुतियोंके विषम होनेपर अर्थकी समानता जानना युक्त नहीं है, कारण कि अर्थका परिग्रह (स्वीकार श्रुतिके अधीन है। वाजसनेयकमें तो यह ज्ञात होता है कि आत्मशब्दके उपक्रमसे आत्मतत्त्व उपदेश है। छान्दोग्यमें तो उपक्रमके विपर्ययसे उपदेश विपर्यय है। परन्तु छान्दोगोंके उपसंहार तादात्म्यका उपदेश है ऐसा कहा गया है। ठीक, कहा गया है। उपसंहार उपक्रमके अधीन है, अतः तादात्म्यसंपत्ति (उपासना) है। ऐसा मानते हैं। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—'सदे सोम्येदमग्र आसीत्' यहाँ पर छान्दोगोंको भी परमात्माका ग्रहण करना चाहिए, अन्यके समान। जै 'कतम आत्मा' यहाँ पर वाजसनेयियोंको परमात्माका ग्रहण है, वैसे ही छन्दोगोंको भी परमात्मा ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि 'उत्तरात्' तादात्म्यका उपदेश है ॥ १६ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

छान्दोग्यमें 'सदेव सोम्य' यह सत् शब्द आत्मवाची है अथवा सत्ता रूप जातिका? कारण कि दोनों समानरूपसे सत् शब्दका प्रयोग देखने आत्मा है। इसे 'तत्र' इत्यादिसे दिखाते हैं। पूर्वपक्षमें उ दोनों श्रुतियोंके अर्थका भेद है, क्योंकि दोनों छांदोग्य श्रुति भिन्न-भिन्न हैं। 'सदेव सोम्य' यह उपक्र है। इसमें सत्ता जाति युक्त सत् और उपसंहारमें 'स आत्मा तत्त्वमसि' आत्मपदार्थ कहा गया है इस प्रकार उपक्रम और उपसंहारमें भेद है, तो उनके अधीन होनेवाला अर्थ एक कैसे हो सकेगा बृहदारण्यकमें तो 'कतम आत्मेति' आत्मशब्दसे उपक्रम है और 'स वा एष महानज आत्मा आत्मशब्दसे ही उपसंहार है, इस प्रकार उपक्रम और उपसंहारके एक होनेसे अर्थ भी एक ही है यद्यपि 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस उपसंहार वाक्यमें छन्दोगोंको भी तादात्म्यका उपदेश है, तथापि यह उपसंहार 'सदेव सोम्य' इस उपक्रमके अधीन है। उपक्रममें 'सत्' शब्दका अन्वय है, आत्मशब्दका नहीं, इसलिए यहाँ 'सत्' शब्दसे परमात्माका उपदेश नहीं है, किन्तु तद्भावसे उपासनाका उपदेश है। पूर्वपक्षमें छान्दोग्यमें 'सत्' शब्द सत्ता जातिका वाचक होनेसे ब्रह्मात्मत्वके-अभेदरूपसे उपासनाका

* अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्। यदुक्तम्—उपक्रमान्वयादुपक्रमे चात्मशब्दाभावान्नात्मगृहीतिरिति तस्य कः परिहार इति चेत्—सोऽभिधीयते—स्यादवधारणाद्भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः। अवधारणात्। तथा हि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्संपिपादयिषया इत्याह। तच्चात्मगृहीतौ सत्यां संपद्यते। अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा स न इति नैव सर्वविज्ञानं संपद्येत। तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं जीवस्य चात्मशब्देन स्वापावस्थायां च तत्स्वभावसंपत्तिकथनं परिचोदनापूर्वकं च पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' ६।८।७) इत्यवधारणम्—इति च सर्वमेतत्तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते, न त्म्यसंपादनायाम्। न चात्रोपक्रमतन्त्रत्वोपन्यासो न्याय्यः। न ह्युपक्रम आत्मत्वमनात्मत्वसंकीर्तनं वाऽस्ति। सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते, काङ्क्षित्वात्सामान्यस्य। सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽन्यः ति, अतोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः। आम्नानवैषम्यमपि

कहो कि अन्वयसे परमात्माका ग्रहण नहीं है, तो हम कहते हैं कि परमात्माका ग्रहण है, क्योंकि है। जो यह कहा गया है कि उपक्रमके अन्वयसे उपक्रममें आत्मशब्दका श्रवण न होनेसे पर ग्रहण नहीं है। यदि कहो कि उसका परिहार क्या है? तो वह कहा जाता है—'स्यादव' अवधारणसे यहां परमात्माका ग्रहण उपपन्न होता है, क्योंकि 'येनाश्रुतं० (जिससे अश्रुत मतं मत, और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है) इसप्रकार एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानका अव उसके संपादन करनेकी इच्छासे 'सदेव' ऐसा कहा है। वह परमात्माका ग्रहण होनेपर होता है, अन्यथा जो यह मुख्य आत्मा है वह विज्ञात नहीं है, अतः सर्व विज्ञान सम्पन्न नहीं। उसीप्रकार उत्पत्तिके पूर्व एकत्व अवधारण, जीवका आत्मशब्दसे [अनेन जीवेनात्मना], सुषुप्ति अवस्थामें जीव सत्से सम्पन्न होता है, यह कथन, प्रश्न पूर्वक पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' र अवधारण, ये सब तादात्म्य प्रतिपादन होनेपर ही संगत होते हैं, तादात्म्यके संपादन) में नहीं। और यहां उपक्रमके अधीन उपन्यास उचित नहीं है, क्योंकि उपक्रममें संकीर्तन अथवा अनात्मत्व संकीर्तन नहीं है और सामान्य उपक्रम वाक्यशेषगत विशेषसे नहीं है, कारण कि सामान्य विशेषकी आकांक्षा वाला होता है। इसप्रकार पर्यालोचन करते मुख्य आत्मासे 'सत्' शब्दका अर्थ अन्य नहीं हो सकता, क्योंकि इससे अन्य वस्तु समूहमें शब्द आदिसे अनृतत्व उपपत्ति होती है, और श्रुति वचनकी विषमता भी अर्थकी विषमता-

सत्यानन्दी दीपिका

है, और बृहदारण्यकमें निर्गुण ब्रह्म विद्याका उपदेश है। इस प्रकारके भेद होनेसे एकके अन्यमें उपसंहार नहीं हो सकता; सिद्धान्तमें दोनों श्रुतियों द्वारा ब्रह्मविद्याका अभेद होनेसे उपसंहार है। सिद्धान्ती—तादात्म्यके उपदेशसे यहाँ परमात्माका ही ग्रहण है ॥ १६ ॥

* यहां 'सदेव सोम्य' इस उपक्रममें 'सत्' शब्द सत्ता जातिका वाचक नहीं, किन्तु सत्ताके। यद्यपि यहां 'सत्' का सामान्य ज्ञान है, तो भी विशेष जिज्ञासा होनेपर वह आत्मा है, ऐसा है, इसलिए अनिर्णीत उपक्रमके अधीन उपसंहार नहीं होता, किन्तु निर्णीत उपसंहारसे र्णीत उपक्रमका अर्थ किया जाता है। इससे उपसंहारमें आत्मशब्द होनेसे उपक्रममें 'सत्' भी आत्मवाची है, अतः दोनों छान्दोग्य श्रुतियोंमें कोई वैषम्य नहीं है। यदि वचनोंमें अथवा में विषमता मानें तो भी अर्थका भेद नहीं है, क्योंकि वाजसनेयकमें 'त्वम्' अर्थ आत्मा लक्ष्य-लक्ष्यार्थ-परब्रह्ममें पर्यवसित है, उसका प्रतिपादन है, छान्दोग्यमें 'तत्' अर्थ 'त्वम्' अर्थमें पर्य-

नावश्यमर्थवैषम्यमावहति, आहर पात्रं पात्रमाहरेत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि तद्दर्शनात्। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थाभेद इति सिद्धम् ॥१७॥

(६ कार्याख्यानाधिकरणम् । सू० १८)

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥१८॥

पदच्छेद—कार्याख्यानात्, अपूर्वम्।

सूत्रार्थ—'श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्ति' इत्यादि श्रुति अनग्नता सूचनका ही (अपूर्वम्) प्राण विद्याके अङ्गरूपसे अपूर्वका विधान करती है, (कार्याख्यानात्) क्योंकि 'द्विजोनित्यमुपस्पृशेत्' इत्यादि स्मृति विधिसे सम्पूर्ण अनुष्ठानाङ्गरूपसे शुद्धिके लिए विधि प्राप्त आचमनका प्राण विद्यामें भी अनग्नता विधानके लिए अनुवाद है।

* छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमाम्नाय तस्यैवापो वास आमनन्ति। अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' (छा० ५।२।२) इति। वाजसनेयिनस्त्वामनन्ति—'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते' इति। तत्र त्वाचमनमनग्नताचिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते। तत्किमुभयमपि विधीयत उताचमनमेवोतानग्नताचिन्तनमेवेति विचार्यते। किं तावत्प्राप्तम्? उभयमपि विधीयत इति। कुतः? उभयस्याप्यवगम्यमानत्वात्। उभयम

को अवश्य नहीं ला सकती, कारण कि 'आहर पात्रम्' (लाओ पात्र) 'पात्रमाहर' (पात्र लाओ) इत्यादि वाक्योंमें अर्थका साम्य होनेपर भी वाक्योंकी विषमता देखनेमें आती है। इसलिए इस प्रकारके वाक्योंमें प्रतिपादन प्रकार (शैली) का भेद होनेपर भी प्रतिपाद्य अर्थका अभेद है, यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

छन्दोग और वाजसनेयी प्राण संवादमें श्वान आदि पर्यन्त प्राणका अन्न कहकर उसीका जल वस्त्र है, ऐसा कहते हैं। और इसके अनन्तर छन्दोग 'तस्माद्वा०' (इसीसे भोजन करनेवाले पुरुष भोजनके पूर्व और पश्चात् इसका जलसे परिधान-आच्छादन करते हैं) ऐसा कहते हैं। वाजसनेयी तो 'तद्विद्वांसः श्रोत्रियाः०' (ऐसा जाननेवाले श्रोत्रिय भोजन करनेसे पूर्व आचमन करते हैं तथा भोजनकर आचमन करते हैं। इसीको वे उस प्राणको अनग्न करना मानते हैं) ऐसा कहते हैं। 'तस्मादेवंविद०' (इसलिए ऐसा जाननेवाला भोजनके पूर्व आचमन करे तथा भोजनकर आचमन करे उसीको वह उस प्राणको अनग्न करता है) इन शाखाओंमें आचमन और प्राणका अनग्नता-चिन्तन प्रतीत होता है। उसपर विचार किया जाता है कि क्या उन दोनोंका विधान किया जाता है अथवा आचमनका वा केवल अनग्नता-चिन्तनका ही? तब क्या प्राप्त होता है? पूर्वपक्षी—दोनोंका ही विधान किया जाता है, क्योंकि दोनोंका ही अवगम होता है। और अपूर्व होनेसे ये दोनो भी विधि

सत्यानन्दी दीपिका

वसित होकर 'तत्त्वमसि' वाक्यसे प्रतिपादित है, अतः इस तरह प्रकारके भेद होनेपर भी वाक्योंके अर्थका ऐक्य होनेसे विद्या भी एक ही है। इस अधिकरणके पूर्वपक्षमें तादात्म्यसे हिरण्यगर्भकी उपासना है, सिद्धान्तमें ब्रह्मभाव प्रतिपादित है ॥ १७ ॥

---

* 'मे किमन्नं किं वासः' (मेरा क्या अन्न है और क्या वस्त्र है) इसप्रकार प्राणने वाणी आदिसे पूछा, वाणी आदिने कहा—'यदिदं किञ्चा श्वभ्य आ कृमिभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वासः' (कृमिसे लेकर श्वान पर्यन्त जो यह प्रसिद्ध अन्न है वह तेरा अन्न है और जल तेरा वस्त्र है) इसप्रकार श्वान

र्वत्वाद्विध्यर्हम्। अथवाऽऽचमनमेव विधीयते, विस्पष्टा हि तस्मिन्विधिविभक्तिस्त-
वंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदिति। तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासंकीर्तनमिति।
वं प्राप्ते ब्रूमः—नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते, कार्याख्यानात्। प्राप्तमेव हीदं कार्यत्वे-
नतं प्रायत्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायते। नन्वियं श्रुतिस्तस्याः स्मृतेर्मूलं स्यात्, नेत्यु-
विषयनानात्वात्। सामान्यविषया हि स्मृतिः पुरुषमात्रसंबद्धं प्रायत्यार्थमाचमनं
ति। श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमनं विदधती विदध्यात्। नच
विषययोः श्रुतिस्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते। न चेयं श्रुतिः प्राणविद्यासंयोग्यपूर्वमा-
विधास्यतीति शक्यमाश्रयितुम्, पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसंयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभि-
ानत्वात्। अत एव च नोभयविधानम्। उभयविधाने च वाक्यं भिद्येत। तस्मात्प्राप्त-
शिषतामशितवतां चोभयत आचमनमनूद्य 'एतमेव तदनमनग्नं' कुर्वन्तो मन्यन्ते (बृ०
१४) इति प्राणस्यानग्नताकरणसंकल्पोऽनेन वाक्येनाचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यासंबन्धि-

---

हैं, अथवा केवल आचमनका ही विधान किया जाता है, क्योंकि उसमें विधि बोधक विभक्ति
से प्रतीत होती है—'तस्मादेवंविद्० (इसीसे ऐसा जाननेवाला पुरुष भोजनके पूर्व आचमन
तथा भोजनकर आचमन करे) और अनग्नताका संकीर्तन भी उसीकी स्तुतिके लिए है।
सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं–आचमन विधेय नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यरूपसे
न है। कार्यरूपसे स्मृतिमें प्रसिद्ध जो यह आचमन शुद्धिके लिए प्राप्त है, उसका अन्वाख्यान-
द करता है। परन्तु यह श्रुति उस स्मृतिकी मूल होगी? नहीं, ऐसा कहते हैं—क्योंकि विषय
भिन्न-भिन्न हैं। सामान्य विषयक स्मृति शुद्धिके लिए पुरुषमात्र संबन्धित आचमन प्राप्त कराती
ति तो प्राणविद्याके प्रकरणमें पठित है, इसलिए तद्विषयक आचमनका ही विधान करती हुई
न करेगी। भिन्न विषयक श्रुति और स्मृतिमें मूल मूलिभाव नहीं हो सकता। और यह श्रुति प्राण
संयोगी अपूर्व आचमनका विधान करेगी, ऐसा आश्रय नहीं किया जा सकता। कारण कि पुरुष-
संयोगी पूर्व आचमनका ही यहाँ प्रत्यभिज्ञान होता है, इससे दोनोंका विधान नहीं है। दोनोंका
न होनेपर वाक्य भेद हो जायगा, इसलिए जो भोजन करना चाहते हैं और जिन्होंने भोजनकर
है, उन दोनोंको ही प्राप्त हुए आचमनका अनुवादकर 'एतमेव० (उसीको उस प्राणको अनग्न
हुए मानते हैं) इस वाक्यसे प्राणको अनग्न करनेका संकल्प आचमनीय जलमें प्राण विद्याके

सत्यानन्दी दीपिका

से उपलक्षित जो सब प्राणी अन्न खाते हैं वह अन्न तेरा अन्न है और जल वस्त्र है। इसप्रकार
को ध्यान करना चाहिए। इस विषयमें दोनों शाखाओंकी किसी समान श्रुतिको कहकर दोनों
ओंकी उक्त विशेष श्रुतियां भी 'अनन्तर' इत्यादिसे उद्धृत की गई हैं। बृहदारण्यक श्रुतिमें आच-
और अनग्नरूपसे चिन्तन ये दोनों ही अपूर्व हैं। अतः 'तत्किम्' इत्यादिसे संशय कहते हैं।
न और अनग्नरूपसे चिन्तन यदि इन दोनोंका विधान मानें तो वाक्य भेद हो जायगा, इस
से 'अथवा' आदिसे अन्य पक्षको कहते हैं। यह आचमन प्रशस्त है, क्योंकि इससे प्राणको
मानते हैं। पूर्वपक्षमें प्राणविद्याके अङ्गरूपसे अपूर्व आचमनका जो विधान है, उसका
शाखाओंमें उपसंहार करना चाहिए, सिद्धान्तमें आचमन विधेय न होनेसे उसका अङ्गरूपसे
हार नहीं है।

* प्रसिद्धका अनुवाद कर अप्रसिद्धका विधान होता है, इस न्यायसे 'एवम्' इत्यादिसे
न कहते हैं। किञ्च अन्य प्रमाणसे अप्राप्त ही विधेय होता है, आचमन तो स्मृति विहित हैं,
यह विधेय नहीं हो सकता। अनग्नतावाद आचमनकी स्तुतिके लिए नहीं है, क्योंकि आचमन स्तुत्य

त्वेनापूर्व उपदिश्यते । न चायमनग्नतावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम्, आचमनस्या विधेयत्वात्, स्वयं चानग्नतासंकल्पस्य विधेयत्वप्रतीतेः । न चैवं सत्येकस्याचमनस्योभयार्थ- ताभ्युपगता भवति—प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेति, क्रियान्तरत्वाभ्युपगमात् । क्रियान्तर- मेव ह्याचमनं नाम प्रायत्यार्थं पुरुषस्याभ्युपगम्यते, तदीयासु त्वप्सु वासःसंकल्पनं नाम क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम् ❀ अपि च 'यदिदं किंचा श्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतंगेभ्यस्तत्तेऽन्नम्' (बृ० ६।१।१४) इत्यत्र तावन्न सर्वान्नाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्यं वक्तुम्, अशब्दत्वादशक्यत्वाच्च. सर्वं तु प्राणस्यान्नमितीयमन्नदृष्टिश्चोद्यते, तत्साह- चर्याच्चापो वास इत्यत्रापि नापामाचमनं चोद्यते, प्रसिद्धास्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधान- दृष्टिश्चोद्यत इति युक्तम् । न ह्यर्धवैशसं संभवति । अपि चाचामनन्तीति वर्तमानापदेशित्वा- न्नायं शब्दो विधिक्षमः । ननु मन्यन्त इत्यपि समानं वर्तमानापदेशित्वम् । सत्यमेव तत्, अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन्वासःकार्याख्यानादपां वासःसंकल्पनमेवापूर्वं विधीयते, नाच- मनं, पूर्ववद्धि तत्—इत्युपपादितम् । यदप्युक्तम्—विस्पष्टा चाचमने विधिविभक्तिरिति,

सम्बन्धिरूपसे अपूर्व उपदेश किया जाता है । और यह अनग्नतावाद आचमनकी स्तुतिके लिए है । यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि आचमन विधेय नहीं है, और अनग्नता संकल्प स्वय विधेय प्रतीत होता है । परन्तु ऐसा होनेपर एक आचमनके एक शुद्धि प्रयोजन और दूसरा परिधान प्रयोजन इस प्रकार दो प्रयोजन स्वीकृत नहीं होते हैं, कारण कि अन्य क्रियाको स्वीकार किया गया है । आचमन अन्य क्रिया है, वह केवल पुरुषकी शुद्धिके लिए अभ्युपगत है और उसीके (आचमन योग्य) जलमें वस्त्र संकल्प अन्य क्रिया है, वही प्राणके परिधानके लिए स्वीकार की जाती है, अतः दोष रहित है । और 'यदिदं किञ्च० (श्वान, कृमि और कीट पतङ्गोंसे लेकर यह जो कुछ भी है, वह सब तेरा अन्न है) यहाँ सब अन्नके भक्षणका विधान किया जाता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह श्रुति प्रतिपादित नहीं है और शक्य भी नहीं है । 'सब प्राणका अन्न है' यह केवल अन्न दृष्टिका विधान किया जाता है । अतः उसके साहचर्यसे 'जल वस्त्र है' यहाँ भी जलके आचमनका विधान नहीं किया जाता, किन्तु आचमनके योग्य प्रसिद्ध जलमें प्राणके परिधान दृष्टिका विधान किया जाता है, यह युक्त है, कारण कि अर्ध विनाशका सम्भव नहीं है । और भी 'आचामन्ति' (आचमन करते हैं) इस प्रकार वर्तमानका कथन होनेसे यह शब्द विधिके योग्य नहीं है । परन्तु 'मन्यन्ते' यहाँ भी तो समान वर्तमानापदेश है ? यद्यपि यह ठीक है, तथापि दोनोंमें से किसी एकके अवश्य विधेय होनेपर वस्त्र कार्यरूपसे कथन होनेसे जलका वस्त्र रूपसे अपूर्व संकल्प ही विधान किया जाता है । आचमन विधेय नहीं है, क्योंकि वह पूर्ववत्—पहले ही स्मृतिसे प्राप्त है, ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है । और यह भी जो कहा गया है कि आचमनमें विधि विभक्ति (प्रत्यय) स्पष्ट है, वह भी आचमनके पूर्व प्राप्त

सत्यानन्दी दीपिका

नहीं है । अनग्नताका संकल्प स्वयं विधेय प्रतीत होता है, इसलिए विधेय किसीकी स्तुतिके लिए नहीं होता । आचमनके दो प्रयोजन भी नहीं है, कारण कि आचमन भिन्न क्रिया है और अनग्नता संकल्प- वस्त्र संकल्प भिन्न क्रिया है । इसलिए उन दोनोंका प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न है ।

* 'यदिदं' यहाँ ध्यान विधि और उत्तर वाक्यमें क्रिया विधि इस प्रकार अर्ध विनाश होगा । इसलिए 'आचमेत्' यह विधि नहीं है, किन्तु 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इसके द्वारा पूर्व ही विहित होनेके कारण 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' (विष्णु याग करना चाहिए) इसके समान अनुवाद है, इसलिए 'एवंवित्० यह वाक्य काण्व शाखामें पठित नहीं है, यही इसे विधिवाक्य न माननेमें लिङ्ग है, अतः आचमन विधेय नहीं है ॥ १८ ॥

पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम् । अत एवाचमनस्याविधित्सितत्वादेतमेव तदनमनग्नं
तो मन्यन्त इत्यत्रैव काण्वाः पर्यवस्यन्ति, नामनन्ति 'तस्मादेवंवित्' इत्यादि । तस्मान्मा-
दिनानामपि पाठ आचमनानुवादेनैवंवित्त्वमेव प्रकृतप्राणवासोवित्त्वं विधीयत इति
तव्यम् । योऽप्ययमभ्युपगमः क्वचिदाचमनं विधीयताम्, क्वचिद्वासोविज्ञानमिति,
पि न साधुः, आपो वास इत्यादिकाया वाक्यप्रवृत्तेः सर्वत्रैकरूप्यात्, तस्माद्वासोवि-
नमेवेह विधीयते, नाचमनमिति न्याय्यम ॥१८॥

(१० समानाधिकरणम् । सू० १९)

समान एवं चाभेदात् ॥१९॥

पदच्छेद—समाने, एवम्, च, अभेदात् ।

सूत्रार्थ - जैसे भिन्न शाखाओंमें विद्या एक और गुणोंका उपसंहार है, (एवम्) वैसे
ाने) एकशाखामें भी हो सकता है, (अभेदात्) क्योंकि उपास्यका अभेद है ।

* वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता । तत्र च
ाः श्रूयन्ते 'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्येवमादयः । तस्यामेव
ायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते 'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा
वा स एषसर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' , बृ० ५।६।१) इति ।
संशयः—किमियमेका विद्याऽग्निरहस्यबृहदारण्यकयोर्गुणोपसंहारश्च, उत द्वे इमे विद्ये
ुपसंहारश्चेति । किं तावत्प्राप्तम् ? विद्याभेदो गुणाव्यवस्था चेति । कुतः ? पौनरुक्त्य-
ात् । भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात्पौनरुक्त्यपरिहारमालोच्य विद्यैकत्वमध्यव-

---

निराकृत है । अतएव (अविधेय होनेसे) आचमनकी विधि अभिष्ट न होनेके कारण 'एतमेव०
-प्राणको अनग्न करते हुए मानते हैं, यहाँ पर काण्व पर्यवसान करते हैं और 'तस्मादेवंवित्'
नहीं मानते हैं । इससे माध्यन्दिन शाखावालोंके पाठमें भी आचमनके अनुवादसे 'एवंवित्त्वम्'
जाननेवालेको ही प्रकृत प्राणको वस्त्र जाननेवाला विधान किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए ।
आचमनका विधान किया जाता है और कहींपर वस्त्र विज्ञानका, यह जो स्वीकार है वह भी
नहीं है, क्योंकि 'जल वस्त्र है' इत्यादि वाक्यकी प्रवृत्ति सर्वत्र एक रूप है । अतः यहाँ वस्त्र-
नका ही अभिधान किया जाता है आचमनका नहीं, यह युक्त है ॥ १८ ॥

वाजसनेयी शाखाके अग्निरहस्यमें शाण्डिल्य नामक अङ्कित विद्या विज्ञात है, उसमें 'स
ानमुपासीत०' (वह मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशरूप आत्माकी उपासना करे) इत्यादि गुण
जाते हैं । और उसी शाखाके बृहदारण्यकमें पुनः 'मनोमयोऽयं पुरुषो० (प्रकाश ही जिसका
स्वरूप है, ऐसा यह पुरुष मनोमय है, वह उस अन्तर्हृदयमें जैसा धान अथवा यव होता है उतने
परिमाणवाला है । वह यह सबका स्वामी और अधिपति है, तथा यह जो कुछ है सभीका प्रकर्ष-
से शासन करता है) इसप्रकार पढ़ा जाता है । यहाँ संशय होता है—अग्निरहस्य और बृहदारण्यक
दोनोंमें क्या यह एक विद्या और गुणोंका उपसंहार है अथवा ये दो विद्या हैं और गुणोंका उप-
संहार नहीं है ? तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—विद्याका भेद और गुणोंकी व्यवस्था है, ऐसा प्राप्त
होता है । किससे ? इससे कि पुनरुक्तिका प्रसङ्ग है । भिन्न शाखाओंमें अध्येता और वेदिताके भेदसे

सत्यानन्दी दीपिका

* जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस अग्निहोत्र वाक्यमें होमरूप कर्मकी विधि है और 'दध्ना
जुहोति' इस वाक्यमें दधि गुणकी विधि है, वैसे यहां भी विद्याका भेद नहीं होना चाहिए । इसका

सायेकत्रातिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंह्रियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम्। एकस्यां पुनः शाखायामध्येतृवेदितृभेदाभावादशक्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्थैका विद्या भवितुमर्हति। न चात्रैकमाम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति विभागः संभवति, तदा ह्यतिरिक्ता एव गुणा इतरत्रेतरत्र चाम्नायेरन्न समाना अपि तूभयत्राम्नायन्ते मनोमयत्वादयः। तस्मान्नान्योन्यं गुणोपसंहार इति। ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमहे--यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखायां भवितुमर्हति, उपास्याभेदात्। तदेव हि ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुभयत्राप्युपास्यमभिन्नं प्रत्यभिजानीमः। उपास्यं च रूपं विद्यायाः। नच विद्यमाने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातुं शक्नुमः। नापि विद्याऽभेदे गुणव्यवस्थानम्। ननु पौनरुक्त्यप्रसङ्गाद्विद्याभेदोऽध्यवसितः, नेत्युच्यते, अर्थविभागोपपत्तेः। एकं ह्याम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति न किंचिन्नोपपद्यते। नन्वेवं सति यदपठितमग्निरहस्ये, तदेव बृहदारण्यके पठितव्यम्—'स एष सर्वस्येशानः' इत्यादि। यत्तु पठितमेव मनोमय इत्यादि, तन्न पठितव्यम्। नैष दोषः, तद्बलेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्याप्रत्यभिज्ञानात्। समानगुणाम्नानेन हि विप्रकृष्टदेशां शाण्डिल्यविद्यां प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते। अन्यथा हि कथं तस्यामयं गुणविधिरभिधीयते? अपि चाप्राप्तांशोपदेशेनार्थवति वाक्ये

पुनरुक्ति परिहारका पर्यालोकनकर विद्याकी एकताका निश्चय कर एक विद्यामें भिन्न गुणोंका अन्य विद्यामें उपसंहार होता है, प्राणसंवाद आदिमें ऐसा कहा गया है, और एक शाखामें अध्येता और वेदिताका भेद न होनेसे पुनरुक्तिका परिहार अशक्य होनेपर दूर स्थानमें स्थित एक विद्या नहीं हो सकती। और यहां एक श्रुति विद्या विधानके लिए और दूसरी श्रुति गुणविधानके लिए हो, ऐसा विभाग भी नहीं हो सकता, ऐसी अवस्थितिमें अतिरिक्त गुणोंकी ही भिन्न-भिन्न स्थलोंमें श्रुति होगी न कि समान गुणोंकी। परन्तु दोनों स्थलोंमें मनोमयत्व आदि समान गुणोंकी श्रुति है, इसलिए एक दूसरेके गुणोंका उपसंहार नहीं हैं। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—जैसे भिन्न-भिन्न शाखाओंमें विद्याका अभेद और गुणोंका उपसंहार होता है, वैसे एक शाखामें भी होना चाहिए, क्योंकि उपास्यका अभेद है। मनोमयत्व आदि गुणोंसे युक्त वही एक ब्रह्म दोनो स्थलोंमें भी उपास्य है, ऐसी हम प्रत्यभिज्ञा करते हैं। और विद्याका रूप उपास्य है, रूपके अभेदके विद्यमान होनेपर विद्या भेदके निश्चय करनेके लिए हम समर्थ नहीं हैं। विद्याके अभेद होनेपर गुणोंकी पृथक् व्यवस्था भी नहीं है। परन्तु पुनरुक्तिके प्रसंगसे विद्याका भेद निश्चित किया गया है। नहीं, ऐसा कहते हैं-क्योंकि अर्थका विभाग हो सकता है। एक श्रुति विद्या विधानके लिए और दूसरी श्रुति गुणविधानके लिए है, इसप्रकार कुछ भी अनुपपन्न नहीं होता। परन्तु ऐसा होनेपर अग्निरहस्यमें जो गुण अपठित हैं उन्हींको बृहदारण्यकमें **'स एष सर्वस्येशानः'** (वह यह सबका स्वामी है) इत्यादि वे ही गुण पढ़ने चाहिएँ, और जो **'मनोमयः'** इत्यादि पठित हैं उनको नहीं पढ़ना चाहिए। यह दोष नहीं है, क्योंकि उसके बलसे ही अन्य प्रदेशमें पठित विद्याका प्रत्यभिज्ञान होता है। समान गुणोंकी श्रुतिसे दूर स्थानमें स्थित शाण्डिल्य विद्याका प्रत्यभिज्ञान कराकर उसमें ईशानत्व-स्वामित्व आदिका उपदेश

सत्यानन्दी दीपिका

समाधान 'न च' इत्यादिसे करते हैं। यदि विद्याका अभेद और गुणोंका उपसंहार मानें तो समान गुणोंकी पुनरुक्ति व्यर्थ होगी, इसलिए अभ्याससे प्रयाज आदि भेदके समान विद्याका भेद है। पूर्वपक्षमें विद्याका भेद और गुणोंका अनुपसंहार है, सिद्धान्तमें विद्याका अभेद और गुणोंका उपसंहार है।

❀ जहां बहुत गुणोंका श्रवण हो वह प्रधान विधि और अन्य स्थलमें उसका अनुवादक गुण विधि होती है, अतः बृहदारण्यकमें प्रधान विधि और अग्निरहस्यमें गुण विधि है। यह न्याय-

ते प्राप्तांशपरामर्शस्य नित्यानुवादतयाऽप्युपपद्यमानत्वान्न तद्बलेन प्रत्यभिज्ञोपोदितुं यते। तस्मादत्र समानायामपि शाखायां विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्चेत्युपपन्नम् ॥१९॥

(११ संबन्धाधिकरणम् । सू० २०-२१)

संबन्धादेवमन्यत्रापि ॥२०॥

पदच्छेद—सम्बन्धात्, एवम्, अन्यत्र, अपि।

सूत्रार्थ—(सम्बन्धात्) एक शाखामें विभागरूपसे अधीत शाण्डिल्य विद्यामें एक विद्या-म्बन्धसे परस्पर गुणोपसंहार जैसे पूर्वमें कहा गया है, (एवम्) वैसे (अन्यत्रापि) अन्य स्थलमें-विद्यामें भी एक विद्यात्व सम्बन्धसे परस्पर गुणोपसंहार हो सकता है।

❀ बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।५।१) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो ए एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५।५।२) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्मणो-दैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदावुपदि-ते। तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्। तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्। तत्र संशयः—किमवि-गेनैवोभे अप्युपनिषदावुभयत्रानुसंधातव्ये, उत विभागेनैकाऽधिदैवतमेकाऽध्यात्ममिति। सूत्रेणैवोपक्रमते। यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां गुणोपसंहार उक्त एव-

जाता है, नहीं तो उसमें यह गुण विधान कैसे कहा जायगा। किञ्च अप्राप्त अंशके उपदेशसे के अर्थवान् होनेपर प्राप्त अंशका परामर्श नित्य अनुवादरूपसे भी उपपन्न होता है, अतः उसके से प्रत्यभिज्ञाका निवारण नहीं किया जा सकता। इसलिए यहां एक शाखामें भी विद्याका एकत्व गुणोंका उपसंहार है ऐसा उपपन्न होता है ॥ १९ ॥

बृहदारण्यकमें 'सत्यं ब्रह्म' (सत्य ब्रह्म है) इसप्रकार उपक्रमकर 'तद्यत्तत्सत्यमसौ० (वह त्य है, सो यह आदित्य है। जो इस आदित्य-मण्डलमें पुरुष है और जो भी यह दक्षिणनेत्रमें है) इसप्रकार उसी सत्य ब्रह्मके अधिदैवत और अध्यात्म स्थान विशेषका उपदेशकर व्याहृति त्वका संपादनकर दो उपनिषदोंका-रहस्यनाकोंका-उपदेश किया जाता है। 'अहः' उसका अधि-उपनिषद्-रहस्य नाम है, 'अहम्' उसका अध्यात्म उपनिषद्-रहस्य नाम है। यहाँ संशय होता क्या अविभागसे ही दोनों उपनिषदोंका दोनों स्थलोंमें अनुसंधान करना चाहिए अथवा विभाग-एक अधिदैवत और एक अध्यात्मका ? उसपर सूत्रसे उपक्रम करते हैं—जैसे विभागसे अधीत र भी शाण्डिल्य विद्यामें गुणोंका उपसंहार कहा गया है, ऐसे इसप्रकारके विषयमें अन्य स्थलमें

सत्यानन्दी दीपिका

का मत है, किन्तु रत्नप्रभामें अग्नि रहस्यमें प्रधान विधि और बृहदारण्यकमें गुण विधि मानी है। इसप्रकार विभागके उपपन्न होनेपर विद्या एक है।

* यहां आदित्यपदसे आदित्यमण्डलका ग्रहण नहीं है, किन्तु उस मण्डलमें इन्द्रियात्मक जो है, वही अध्यात्म नेत्र स्थानमें स्थित है, ऐसा उपदेशकर 'तस्य भूरिति शिरः' भुव इति बाहु, ति प्रतिष्ठा' (बृह० ५।५।३) (उसका 'भूः' यह शिर है, 'भुव' यह बाहु है और 'स्वः' यह है) इसप्रकार व्याहृतिरूप शरीर कहकर दो उपनिषदोंका-देवताके रहस्यनामोंका-श्रुतिसे उपदेश जाता है। उस आदित्य-मण्डलस्थ पुरुषका नाम 'अहः' है, क्योंकि वह प्रकाशक है। नेत्रस्थ का नाम 'अहम्' है, क्योंकि वह प्रत्यक् है। इसप्रकार अधिदैवत और अध्यात्म ये दो नाम अधिकरणके विषय हैं। यहां जिसके ये दो नाम हैं, उस सत्यसंज्ञक ब्रह्मके एक होनेसे और स्थानभेदका कथन होनेसे 'तत्र' इत्यादिसे संशय कहते हैं। जैसे पूर्व अधिकरणमें विद्याके एक

मन्यत्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति, एकविद्याभिसंबन्धात्। एका हीयं सत्यविद्याऽधिदैवमध्यात्मं चाधीता, उपक्रमाभेदाद्व्यतिषक्तपाठाच्च। कथं तस्यामुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात्? यो ह्याचार्ये कश्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति। तस्मादुभयोरप्युपनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति ॥२०॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

न वा विशेषात् ॥२१॥

पदच्छेद—न, वा, विशेषात्।

सूत्रार्थ—(न वा) दोनों उपनिषदोंकी दोनों स्थलोंमें प्राप्ति नहीं है, (विशेषात्) क्योंकि विशेष है अर्थात् उपासनाका स्थान विशेषके साथ सम्बन्ध है।

* न वोभयोरुभयत्र प्राप्तिः। कस्मात्? विशेषात्। उपासनस्थानविशेषोपनिबन्धादित्यर्थः। कथं स्थानविशेषोपनिबन्ध इति? उच्यते—'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' (बृ० ५।५।३) इति ह्याधिदैविकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहरिति श्रावयति। 'योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५।५।४) इति ह्याध्यात्मिकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहमिति। तस्येति चैतत्संनिहितावलम्बनं सर्वनाम, तस्मादायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवैते उपनिषदावुपदिश्येते। कुत उभयोः

होना चाहिए, क्योंकि एक विद्याका सम्बन्ध है। उपक्रमका अभेद होनेसे और परस्पर सम्बद्ध पाठ होनेसे अधिदैवत और अध्यात्मरूपसे अधीत यह सत्य विद्या एक ही है। उस एक विद्यामें कथित धर्म उसीमें क्यों न हों? क्योंकि जो आचार्यके विषयमें कोई अनुगन आदि आचार विहित है, वह ग्रामगत आचार्यमें अथवा अरण्यगत आचार्यमें एक-सा ही होता है। इसलिए दोनों उपनिषदोंकी भी दोनों स्थलोंमें प्राप्ति है ॥ २० ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर समाधान करते हैं—

अथवा दोनोंकी दोनों स्थलोंमें प्राप्ति नहीं है, क्योंकि विशेष है—उपासनाका स्थान-विशेषके साथ सम्बन्ध है। स्थान विशेषके साथ उपनिबन्ध (सम्बन्ध) किस प्रकार है? इस पर कहते हैं—'य एष एतस्मिन्' (जो यह इस मण्डलमें पुरुष है) इस प्रकार अधिदैविक पुरुषको प्रस्तुतकर 'तस्योपनिषदहः' उसका उपनिषद्-रहस्य नाम 'अहः' है, ऐसा श्रुति श्रवण कराती है, और 'योऽयं' (जो यह दक्षिण अक्षिमें पुरुष है) इस प्रकार अध्यात्म पुरुषका उपक्रमकर 'उसका उपनिषद्-रहस्य नाम 'अहम्' है, ऐसा श्रवण कराती है। 'तस्य' यह शब्द संनिहितका आलम्बन करनेवाला सर्वनाम है, इसलिए स्थान विशेषके अवलम्बनसे ये दोनों उपनिषद् रहस्य उपदेश किए जाते हैं। अतः दोनोंकी

सत्यानन्दी दीपिका

होनेसे परस्पर गुणोंका उपसंहार है, वैसे भिन्न स्थलस्थ एक विद्यामें भी गुणोंका उपसंहार हो सकता है। 'सत्यं ब्रह्म' इसप्रकार उपक्रमका अभेद है, और 'तावेतौ अक्ष्यादित्यपुरुषौ अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ०' (बृह० ५।५।१) (वे ये दोनों–अक्षि और आदित्य पुरुष एक दूसरेमें प्रतिष्ठित हैं) सूर्यके किरणोंकी चक्षुमें और चक्षुकी आदित्यमें प्रतिष्ठा है। इस रीतिसे उपक्रमके अभेद और परस्पर सम्बन्धित पाठसे विद्या एक है, अतः दोनों उपनिषदोंकी दोनों स्थलोंमें प्राप्ति है। पूर्वपक्षमें प्रत्येक स्थानमें दोनों नामोंका अनुष्ठान है, सिद्धान्तमें जिस-जिस स्थानमें जो-जो नाम है उस-उसका अनुष्ठान है ॥२०॥

* ये दोनों नाम भिन्न-भिन्न उपासना स्थानके साथ सम्बन्ध रखते हैं। अतः 'तस्योपनिषदहः' और 'तस्योपनिषदहम्' उस आदित्य पुरुषका नाम 'अहः' और 'अक्षिस्थ पुरुषका नाम 'अहम्' है।

प्राप्तिः ? नन्वेक एवायमधिदैवतमध्यात्मं च पुरुषः, एकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतन- तिपादनात् । सत्यमेवमेतत्, एकस्यापि त्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिषद्विशेषोपदेशात्त- त्स्थैव सा भवितुमर्हति । अस्ति चायं दृष्टान्तः—सत्यप्याचार्यस्वरूपानपाये, यदाचार्य- सीनस्यानुवर्तनमुक्तं न तत्तिष्ठतो भवति । यच्च तिष्ठत उक्तं न तदासीनस्येति । ग्रामारण्य- चार्यस्वरूपानपायात्तत्स्वरूपानुबद्धस्य च धर्मस्य ग्रामारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र द्भाव इत्यदृष्टान्तः सः । तस्माद्व्यवस्थाऽनयोरुपनिषदोः ॥२१॥

दर्शयति च ॥२२॥

पदच्छेद—दर्शयति, च ।

सूत्रार्थ—और 'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' इत्यादि श्रुति ऐसा ही दिखलाती है ।

* अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थेति लिङ्गदर्शनं भवति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १।७।५) इति कथमस्य र्गमिति ? तदुच्यते—अद्यादित्यस्थानभेदभिन्नान्धर्मानन्योन्यस्मिन्ननुपसंहार्यान्पश्य- तिदेशेनादित्यपुरुषगतान्रूपादीनक्षिपुरुषे उपसंहरति—'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' (छा०) इत्यादिना । तस्माद्व्यवस्थिते एवैते उपनिषदाविति निर्णयः ॥२२॥

स्थलोंमें कैसे प्राप्ति हो सकती है ? परन्तु अधिदैविक और अध्यात्मरूपसे यह एक ही पुरुष है, एक ही सत्य ब्रह्मका दो स्थानोंमें प्रतिपादन है । हाँ, यह ठीक है, परन्तु एक ब्रह्मके भी विशेषके ग्रहणसे उपनिषद् विशेषका उपदेश होनेसे उस अवस्थामें आए हुएका ही वह द् हो सकता है । और यह दृष्टांत भी है–आचार्यके स्वरूपका अपाय-विनाश न होनेपर भी आचार्यका जो अनुवर्तन कहा गया है वह खड़े हुएका नहीं होता, और जो खड़े हुएका कहा वह बैठे हुएका नहीं होता । परन्तु ग्राम और अरण्यमें तो आचार्यके स्वरूपका अपाय न होनेसे रूपके साथ अनुबद्ध–सम्बन्धित धर्ममें ग्राम और अरण्यकृत विशेष न होनेसे दोनों स्थलोंमें भाव है, इसलिए वह दृष्टान्त नहीं है, अतः इन दोनों उपनिषदोंकी व्यवस्था है ॥ २१ ॥

और इसप्रकारके धर्मोंकी व्यवस्था है–उनका परस्पर उपसंहार नहीं है, इस विषयमें 'तस्यै- (उस इस चक्षुस्थ पुरुषका वही रूप है जो इस आदित्यान्तर्गत पुरुषका रूप है । जो उस के पर्व (गिट्टे) हैं वही इसके पर्व हैं, जो उसका नाम है वही इसका नाम है) यह लिङ्ग दर्शन लिंग दर्शन कैसे है ? उसे कहते हैं—अक्षि और आदित्य इस स्थान भेदसे भिन्न परस्परमें रके अयोग्य इन धर्मोंको देखकर श्रुति आदित्य-पुरुष गत रूप आदिका यहां अतिदेशसे अक्षि 'तस्यैतस्य तेदेव रूपम्' इत्यादिसे उपसंहार करती है । इसलिए ये दोनों उपनिषद्-रहस्य त हैं, ऐसा निर्णय हैं ॥ २२ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

नों वाक्योंमें सर्वनाम 'तत्' पद निकटवर्तीका ही आलम्बन करता है, इसलिए प्रथम 'तत्' शब्द स्थ पुरुषका और द्वितीय 'तत्' पद अक्षिस्थ पुरुषका परामर्श करता है, क्योंकि स्थान भेदसे का भी भेद माना जाता है । विशेष्यके एक होनेपर भी विशेषण युक्त होनेसे विशिष्टमें भेद गया है—इसलिए इन दोनों उपनिषदोंकी–'अहः' और 'अहम्' नामोंकी भिन्न-भिन्न व्यवस्था है सत्य विद्या एक होनेपर भी अधिदैवित और अध्यात्मभेदसे भिन्न है ॥ २१ ॥

* 'अहः' और 'अहम्' इन नामोंकी व्यवस्थामें अतिदेश ही लिङ्ग है, यह 'दर्शयति च' दिखाते हैं । विद्याके अभिन्न होनेसे ही यदि धर्मोंका उपसंहार हो तो 'तस्यैतस्य' यह अतिदेश होगा, इसलिए एक विद्यामें भी स्थान भेदसे कथित गुणोंका उपसंहार नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

(१२ संभृत्यधिकरणम् । सू० २३)

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥२३॥

पदच्छेद—संभृतिद्युव्याप्ति, अपि, च, अतः ।

सूत्रार्थ—(संभृतिद्युव्याप्ति) संभृति, द्युव्याप्ति आदि विभूतियोंका भी शाण्डिल्य विद्या आदिमें उपसंहार नहीं करना चाहिए, (अतश्च) क्योंकि आयतन विशेषका योग है ।

❀ 'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इत्येवं राणायनीयानां खिलेषु वीर्यसंभृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते । तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते । तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसंह्रियेरन्न नेति विचारणायां ब्रह्मसंबन्धादुपसंहारप्राप्तावेवं पठति । संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः शाण्डिल्यविद्याप्रभृतिषु नोपसंहर्तव्याः, अत एव चायतनविशेषयोगात् । तथा हि शाण्डिल्यविद्यायां हृदयायतनत्वं ब्रह्मण उक्तम्—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' (छा० ३।१४।३) इति । तद्वदेव दहरविद्यायामपि 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति । उपकोसलविद्यायां त्वक्ष्यायतनत्वम् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इति । एवं तत्र तत्र तत्तदाध्यात्मिकमायतनमेतासु विद्यासु प्रतीयते । आधिदैविक्यस्त्वेता विभूतयः संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयः, तासां कुत एतासु प्राप्तिः ? नन्वेतास्वप्याधिदैविक्यो विभूतयः श्रूयन्ते—'ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।४) 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्येवमाद्याः । सन्ति चान्या आयतनविशेषहीना

'ब्रह्मज्येष्ठा० (ब्रह्म ही जिनका कारण है, ऐसे पराक्रम विशेष (आकाशको उत्पन्न करना) निर्विघ्न समृद्ध हुए वह ज्येष्ठ ब्रह्म देवताओंकी उत्पत्तिके पूर्व स्वर्गमें व्याप्त हुआ) इस प्रकार राणायनीय शाखावालोंके खिल काण्डमें वीर्य समृद्धि, स्वर्ग व्याप्ति आदि ब्रह्मकी विभूतियाँ कही जाती हैं। और उन्हींके उपनिषद्में शाण्डिल्य विद्या आदि ब्रह्म विद्याएँ पढ़ी जाती हैं । उन ब्रह्मविद्याओंमें उन ब्रह्मविभूतियोंका उपसंहार होना चाहिए अथवा नहीं ? ऐसा विचार उपस्थित होनेपर ब्रह्मके सम्बन्धसे उपसंहार प्राप्त होनेपर ऐसा कहते हैं—संभृति, द्युव्याप्ति आदि विभूतियोंका शाण्डिल्य विद्या आदिमें उपसंहार नहीं होना चाहिए, अतएव च आयन विशेषके सम्बन्धसे । जैसे कि शाण्डिल्यविद्यामें 'एष म आत्मान्तर्हृदये' (यह मेरा आत्मा हृदयके भीतर है) इस प्रकार ब्रह्मका हृदय आयतन कहा गया है । उसी प्रकार दहरविद्यामें भी 'दहरं पुण्डरीकं (इस ब्रह्मपुरके भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है) इस प्रकार ब्रह्मका हृदय स्थान कहा गया है । उपकोसलविद्यामें तो 'य एषो० (जो यह अक्षिमें पुरुष दिखाई देता है) इस तरह ब्रह्मका नेत्र स्थान कहा गया है। इस प्रकार तत्-तत् स्थलमें तत्-तत् आध्यात्मिक आयतन इन विद्याओंमें प्रतीत होता है। परन्तु संभृति, द्युव्याप्ति आदि ये विभूतियाँ आधिदैविकी हैं, उन विभूतियोंकी इन विद्याओंमें प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है । इन विद्याओंमें भी आधिदैविकी विभूतियोंकी 'ज्यायान्दिवो० (आत्मा द्युलोकसे बड़ा, इन लोकोंसे बड़ा है) 'एष उ एव० (यही आत्मा भामनी है, क्योंकि सम्पूर्ण लोकोंमें आदित्य, चन्द्र और अग्नि आदिके रूपमें यही दीप्त होता है) 'यावान्वा० (जितना यह भौतिक आकाश है उतना

सत्यानन्दी दीपिका

* ब्रह्मकी वीर्य समृद्धि-स्वर्ग व्याप्ति आदि विभूतियाँ कही गई हैं, उनका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होनेसे सब ब्रह्मविद्याओंमें उपसंहार पूर्वपक्ष है । सिद्धान्तमें इनका उपसंहार नहीं है ।

ब्रह्मविद्याः षोडशकलाद्याः । सत्यम्, एवमेतत्, तथाप्यत्र विद्यते विशेषः संभूत्याद्यहारहेतुः । समानगुणाम्नानेन हि प्रत्युपस्थापितासु विप्रकृष्टदेशास्वपि विद्यासु विप्रकृष्ट गुणा उपसंह्रियेरन्निति युक्तम्, संभूत्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च मनोमययो गुणाः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वान्न प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनक्षमाः । नच संबन्धमात्रेण प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनमित्युच्यते, विद्याभेदेऽपि तदुपपत्तेः । मपि हि ब्रह्म विभूतिभेदैरनेकधोपास्यत इति स्थितिः, परोवरीयस्त्वादिवद्भेददर्शनात् । ाद्वीर्यसंभूत्यादीनां शाण्डिल्यविद्यादिष्वनुपसंहार इति ॥२३॥

(१३ पुरुषाद्यधिकरणम् । सू० २४)

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥२४॥

पदच्छेद—पुरुषविद्यायाम्, इव, च, इतरेषाम्, अनाम्नानात् ।

सूत्रार्थ—(पुरुषविद्यायामिव) ताण्डी आदिमें पुरुष विद्यामें जिस प्रकार पुरुषकी यज्ञरूपसे की जाती है, उसी प्रकार (इतरेषाम्) तैत्तिरीयोंकी पुरुषविद्यामें (अनाम्नानात्) पठित न ताण्डी आदि गत पुरुष यज्ञ धर्म तैत्तिरीयकमें उपसंहार नहीं करने चाहिएँ ।

* अस्ति ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या । तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः । यमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम् । अशिशिषादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पि। अन्ये च धर्मास्तत्र समधिगता आशीर्मन्त्रप्रयोगादयः । तैत्तिरीयका अपि कंचित्पु-

---

हृदयान्तर्गत आकाश है, द्युलोक और पृथ्वी ये दोनों लोक सम्यक् प्रकारसे इसके भीतर ही स्थित इत्यादि श्रुतियाँ हैं और इस प्रकरणमें स्थान विशेष रहित अन्य षोडश कला आदि ब्रह्मविद्याएँ यह सत्य ही है, तो भी यहाँ संभृति आदिके अनुपसंहारका हेतु है,. क्योंकि समान गुणकी श्रुतिसे स्थापित दूर स्थानमें स्थित विद्याओंमें भी दूर स्थानस्थ गुणोंका उपसंहार होना चाहिए, यह युक्त परन्तु संभृति आदि गुण और शाण्डिल्य आदि वाक्य विषयक मनोमयत्व आदि गुण परस्पर त (भिन्न) स्वरूपवाले होनेसे अन्य प्रदेशमें स्थित विद्याके उपस्थापन करनेमें समर्थ नहीं हैं। उसी र केवल ब्रह्म सम्बन्धसे अन्य प्रदेशवर्ती विद्याका उपस्थापन होता है, ऐसा नहीं कहा जाता है, कि विद्याके भेद होनेपर भी ब्रह्मका सम्बन्ध उपपन्न होता है। एक ब्रह्मकी भी भिन्न-भिन्न विभूतियों अनेक प्रकारसे उपासना की जाती है, ऐसी स्थिति है, क्योंकि परोवरीयस्त्व आदिके समान भेद में आता है। इसलिए वीर्य संभृति आदि गुणोंका शाण्डिल्य विद्या आदिमें उपसंहार नहीं है ॥२३॥

ताण्डी और पैङ्गीके रहस्य ब्राह्मणमें पुरुष विद्या है, वहाँ पुरुष यज्ञरूपसे कल्पित है, उसकी तीन प्रकारसे विभागकर तीन सवन कल्पित किए गए हैं, भोजनकी इच्छा आदि दीक्षा आदि से कल्पित किए गए हैं । आशीर्वाद प्रयोग, मन्त्र प्रयोग आदि अन्य धर्म वहाँ पर समधिगत हैं । ीयक भी 'तस्यैवं विदुषो० (उस ऐसा जाननेवालेके यज्ञका आत्मा यजमान है और श्रद्धा पत्नी है) अनुवाकसे किसी पुरुषयज्ञकी कल्पना करते हैं। यहाँ संशय होता है कि क्या जो पुरुषके धर्म अन्योन्य

सत्यानन्दी दीपिका

* छान्दोग्यगत विद्याको कहते हैं—'पुरुषो वा यज्ञस्तस्य' (छा० ३।१६।१) पुरुष ही यज्ञ है जो चौबीस वर्ष हैं वह प्रातः सवन है, "उसके जो चौवालीस वर्ष हैं वह माध्यन्दिन सवन है, जो अवशिष्ट अड़तालीस वर्ष हैं वह तृतीय सवन है" (छा० ३।१६।३) सोम यागमें सोमरस नेके समयको सवन कहा जाता है । इस प्रसिद्ध यज्ञके सादृश्यके लिए इन तीन सवनोंकी कल्पना- गई है। 'स यदशिशिषति० (वह जो खानेकी अभिलाषा करता है, जो पीना चाहता है जो रमण

रुषयज्ञं कल्पयन्ति—'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी' (नारा० ८०) इत्येतेनानुवाकेन । तत्र संशयः—किं य इतरत्रोक्ताः पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेप्युपसंहर्तव्याः किं वा नोपसंहर्तव्या इति ? पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावाचक्ष्महे—नोपसंहर्तव्या इति । कस्मात् ? तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाभावात् । तदाहाचार्यः—पुरुषविद्यायामिवेति । यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाम्नानं नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणामाम्नानमस्ति । तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसंपादनं दृश्यते, पत्नीयजमानवेदिवेदबर्हिर्यूपाज्यपशृत्विगाद्यनुक्रमणात् । यदपि सवनसंपादनं तदपीतरविलक्षणमेव—'यत्प्रातर्मध्यंदिनँ सायं च तानि' (नारा० ८०) इति । ❀ यदपि किंचिन्मरणावभृथत्वादिसाम्यं, तदप्यल्पीयस्त्वाद्भूयसा

शाखामें उक्त हैं वे तैत्तिरीयकोंमें उपसंहार होने चाहिएँ अथवा क्या उपसंहार नहीं होने चाहिएँ पुरुष यज्ञत्वके अविशेष होनेसे उपसंहार प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपसंहार नहीं होना चाहिए क्योंकि उसके रूपका प्रत्यभिज्ञान नहीं है। उसे आचार्य कहते हैं—'पुरुषविद्यायामिव' जैसे एक शा वालोंकी ताण्डी और पैङ्गियोंकी पुरुषविद्यामें श्रुति है, वैसे अन्य-तैत्तिरीयकोंकी श्रुति नहीं है। उनका य संपादन अन्यसे विलक्षण देखनेमें आता है, क्योंकि उसमें पत्नी, यजमान, वेद, वेदी, बर्हि, यूप, आज् पशु, ऋत्विक् आदिका अनुक्रम है। और जो भी सवन संपादन है वह भी 'यत्प्रातर्मध्यंदिनँ सायं तानि' (जो प्रातः, मध्यदिन और सायंकाल हैं वे सवन हैं) इसप्रकार छांदोग्यगत सवन संपादनसे विलक्ष

सत्यानन्दी दीपिका

(प्रसन्न) नहीं होता वही इसकी दीक्षा है और फिर वह जो खाता है जो पीता है जो रति करता है उपसदोंकी सदृश्यताको प्राप्त होता है [दीक्षणीयेष्टि, प्रायणीयेष्टि, उपसदिष्टि, उदयनीयेष्टि और अव भृथेष्टि इस प्रकार पाँच उपसदिष्टियाँ होती हैं] तथा जो हँसता है, भक्षण करता है जो मैथुन करता वे स्तुत शास्त्रकी समानताको प्राप्त होते हैं, तथा जो तप, दान आदि हैं वह इसकी दक्षिणा है, मर ही अवभृथ स्नान है। (छा० ३।१ ।३,४,५) वसु आदि अथवा ये मेरे प्राण प्रातः सवन और माध्यन्दिन सवन हैं। इस प्रकार ये तीन सवन आयुपर्यन्त चलते रहते हैं। यह आशीर्वा कामना है 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसँशितमसि' (छा० ३।१७।४) (तू अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और अतिसूक्ष्म प्राण है) इस प्रकार एक सौ चालीस वर्ष जीवन फल है ऐसा दिखलाया गया है। संशयके लिए अन्य शाखामें पुरुष विद्याको तैत्तिरीयक' इत्यादि कहते हैं—यहाँ पर 'विदुषो यज्ञस्य' इन षष्ठी विभक्त्यन्त दो पदोंका सामानाधिकरण्य है अथवा वैयधिकरण्य ? इसका निश्चय न होनेसे संशय होता है। पूर्वपक्षमें गुणोंका उपसंहार और सिद्धान्त गुणोंका अनुपसंहार है। 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य' (उस ऐसा जाननेवालेके यज्ञका आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी, शरीर समिधा, उरु स्थल वेदी, रोम बर्हि-कुशा, वेद-कुशमुष्टि शिखा, हृदय यू काम आज्य, मन्यु-क्रोध-पशु, तप अग्नि, शमन करनेवाला दम दक्षिणा, वाणी होता, प्राण उद्गाता नेत्र अध्वर्यु और मन ब्रह्मा है) इसप्रकार अनेक धर्मोंकी विषमता होनेसे एकरूपकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। छान्दोग्यमें तीन प्रकारसे विभक्त किये गये आयुमें सवनत्वकी कल्पना की गई है और तैत्ति रीयकमें प्रातःकाल आदिमें सवनत्वकी कल्पना की गई है, इसप्रकार दोनोंमें वैलक्षण्य है) अतः गुणोंका उपसंहार नहीं होना चाहिए।

* 'यन्मरणं तदवभृथः, यद्रमते तदुपसदः' (तै० ६।५।२।१) ऐसा तैत्तिरीयकमें अल्प सादृश्य अधिक वैषम्यको अपने अनुकूल नहीं कर सकता। जैसे हाथी और ऊँठमें चार पादका अल्प साम्य दोनोंके हाथी अथवा ऊँठ होनेमें समर्थ नहीं है। छान्दोग्यमें पुरुष और यज्ञका ऐक्य है और तैत्तिरीयकमें भेद है, इस दूसरे वैरूप्यको 'न च' इत्यादिसे कहते हैं ॥ २४ ॥

क्षण्येनाभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापनक्षमम् । नच तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं श्रूयते, दुषो यज्ञस्येति हि नचैते समानाधिकरणे षष्ठ्यौ–विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति । नहि पुरुषस्य यज्ञत्वमस्ति । व्यधिकरणे त्वेते षष्ठ्यौ—विदुषो यो यज्ञस्तस्येति । भवति हि पुरुषस्य यज्ञसंबन्धः । सत्यां च गतौ मुख्य एवार्थ आश्रयितव्यो न भाक्तः । आत्मा यजमान च यजमानत्वं पुरुषस्य निब्रुवन्वैयधिकरण्येनैवास्य यज्ञसंबन्धं दर्शयति । अपि च स्यैवंविदुष इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्यां पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च यजमानादिभावं पित्समानस्य वाक्यभेदः स्यात् । अपि च ससंन्यासामात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्यानन्तरं स्यैवंविदुष इत्याद्यनुक्रमणं पश्यन्तः पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीमः । तथा मेव फलमुभयोरप्यनुवाकयोरुपलभामहे—'ब्राह्मणो महिमानमाप्नोति' (नारा० ८०) इति । रेषां त्वनन्यशेषः पुरुषविद्याम्नायः, आयुरभिवृद्धिफलो ह्यसौ, 'स ह षोडशं वर्षशतं जीवति एवं वेद' (छा० ३।१६।७) इति समभिव्याहारात् । तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्या-णामाशीर्मन्त्रादीनामप्राप्तिस्तैत्तिरीयके ॥२४॥

(१४ वेधाद्यधिकरणम् । सू० २५)

वेधाद्यर्थभेदात् ॥२५॥

सूत्रार्थ—इन मन्त्रों और कर्मोंका विद्यामें उपसंहार नहीं होना चाहिए, क्योंकि वेध आदि का भेद है ।

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाम्नायः—'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' इत्यादिः । ताण्डिनाम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यादिः ।

है, और उन दोनों विद्याओंमें जो कुछ थोड़ा-सा भी मरणावभृथत्व आदि साम्य है, वह भी बहुत अल्प से अधिक वैलक्षण्यसे अभिभूत हुआ प्रत्यभिज्ञान करानेमें असमर्थ है, तैत्तिरीयकगत पुरुषमें यज्ञत्व नहीं है । और 'विदुषो यज्ञस्य' ये दोनों सामानाधिकरण्य षष्ठी नहीं हैं, विद्वान् ही जो यज्ञ है का, इसप्रकार, क्योंकि पुरुष मुख्य यज्ञ नहीं है, किन्तु विद्वान् जो यज्ञ उसका, इसप्रकार ये दोनों व्यधिकरणमें हैं । कारण कि पुरुषमें मुख्य यज्ञ सम्बन्ध होता है । व्यवस्था हो सकने पर मुख्य का ही आश्रयण होना चाहिए गौणका नहीं । 'आत्मा यजमानः' (आत्मा यजमान है) यह भी में यजमानत्व कहता हुआ वैयधिकरण्यरूपसे ही उसमें यज्ञत्व दिखलाता है । और भी 'तस्यैवं दुषः' (उस ऐसा जाननेवालेका) ऐसे सिद्धके समान अनुवादरूप श्रुतिके होनेपर पुरुषमें यज्ञभाव आत्मा आदिमें यजमान आदि भावके प्रतिपादनकी इच्छा रखनेवालेके मतमें वाक्य भेद हो गा । और संन्यास सहित आत्मविद्याका पूर्वमें उपदेशकर अनन्तर 'तस्यैवं विदुषः' इत्यादि अनु-क्रमको देखते हुए यह श्रुति पूर्वशेष ही है स्वतन्त्र नहीं है, ऐसा हम जानते हैं । और 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' (ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त होता है) इसप्रकार दोनों अनुवाकोंका एक ही फल हम लब्ध करते हैं । दूसरोंकी—पैङ्गी और ताण्डियोंकी पुरुष विद्या श्रुति तो किसी अन्यकी शेष (अंग) है, 'एष ह० (जो ऐसा जानता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है) इसप्रकार यह श्रुति की अभिवृद्धि फलवाली है, क्योंकि ऐसा समभिव्याहार-सहोच्चारण है । इससे सिद्ध होता है कि शाखाओंमें अधीत आशीर्वाद, मन्त्र आदि पुरुष विद्याके धर्मोंकी तैत्तिरीयकमें प्राप्ति नहीं है ।२४।

आथर्वणिकों (अथर्ववेदियों) के उपनिषद्के आरम्भमें 'सर्वं प्रविध्य० (हे देव ! मेरे शत्रुके अंगोंको छिन्न भिन्नकर, विशेषतः हृदयको विदीर्णकर शिराओंको तोड़ डाल, मस्तकका सर्व नाश कर, इसप्रकार मेरा शत्रु तीन प्रकारसे छिन्न भिन्न हो) इत्यादि मन्त्र-श्रुति है । और

शाठ्यायनिनाम्—'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' इत्यादिः । कठानां तैत्तिरीयाणां च—'शं नो मित्रः शं वरुणः' (तै० १।१।१) इत्यादिः । वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते—'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' इत्यादि । कौषीतकिनामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्—'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपयन्ति' इति । किमिमे सर्वे प्रविध्या- दयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यासूपसंह्रियेरन्किं वा नोपसंह्रियेरन्निति मीमांसामहे । किं तावन्नः प्रतिभाति ? * उपसंहार एवैषां विद्यास्विति । कुतः ? विद्याप्रधानानामुपनिषद्ग्रन्थानां समीपे पाठात् । नन्वेषां विद्यार्थतया विधानं नोपलभामहे, बाढम्—अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे, संनिधिसामर्थ्यात् । नहि संनिधेरर्थवत्त्वे संभवत्यकस्मात्सावनाश्रयितुं युक्तः । ननु नैषां मन्त्राणां विद्याविषयं किंचित्सामर्थ्यं पश्यामः । कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थत्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थत्वेनापि प्रतिपद्यमहीति ? नैष दोषः । सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां विद्याविषयमपि किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्, हृदयादिसंकीर्तनात् । हृदयादीनि हि प्रायेणोपासनेष्वायतनादिभावेनोपदिष्टानि तद्द्वारेण च हृदयं

ताण्डियोंके उपनिषद्के आरम्भमें 'देवः सविता० (हे विश्व प्रकाशक ! हे उत्पत्तिका हेतु भूत सू देव ! तुम यज्ञ और यज्ञपतिको उत्पन्न करो) इत्यादि मन्त्र पाठ है । शाठ्यायनियोंके उपनिषद्के आरम्भमें 'श्वेताश्वो० (श्वेत अश्ववाले हे इन्द्र ! तुम हरितमणिके समान नील हो) इत्यादि श्रुति है । कठ और तैत्तिरीयोंके उपनिषद्के आरम्भमें 'शं नो० (मित्र-आदित्य ! हमारे लिए सुखकर हो, वरुण हमारे लिए सुखकर हो) इत्यादि मंत्र हैं । वाजसनेयी शाखावालोंके उपनिषद्के आरम्भमें 'देवा ह वै० (पूर्वकालमें इन्द्र आदि देवता सत्र-याग करनेको बैठे) इत्यादि प्रवर्ग्य ब्राह्मण पढ़ा जाता है । कौषीतकियोंके भी 'ब्रह्म वा० (अग्निष्टोम ब्रह्म ही है, जिस दिनमें वह किया जाय वह दिन भी ब्रह्म है, ब्रह्मसे वह ब्रह्मको प्राप्त होता है, जो उस दिवसमें कर्म करता है वह अमृतत्वको प्राप्त होता है) इसप्रकार अग्निष्टोम ब्राह्मण है । क्या ये सत्र प्रविध्य आदि मन्त्रों और प्रवर्ग्य आदि कर्मोंका विद्याओंमें उपसंहार करना चाहिए अथवा उपसंहार नहीं करना चाहिए ? इसप्रकार हम विचार करते हैं, तब हमें क्या प्रतीत होता है ? पूर्वपक्षी—इनका विद्याओंमें उपसंहार ही है । किससे ? इससे कि उनका विद्या प्रधान उपनिषद् ग्रन्थोंके समीप पाठ है । परन्तु इनका विद्याके प्रयोजनरूपसे विधान हमें उपलब्ध नहीं होता ? हां, ठीक है । यद्यपि इनका विधान उपलब्ध नहीं होता, तो भी हम संनिधिकी सामर्थ्यसे विधानका अनुमान करेंगे, क्योंकि संनिधिमें प्रयोजनवत्त्व संभव होनेपर बिना कारण उसका अवलम्बन न करना युक्त नहीं है । परन्तु इन मन्त्रोंमें विद्याविषयक कुछ भी सामर्थ्य हम नहीं देखते हैं और प्रवर्ग्य आदि कर्म जो अन्य प्रयोजनके लिए ही प्रयुक्त हैं, वे विद्यारूप प्रयोजनके लिए भी हैं, ऐसा हम कैसे समझें ? यह दोष नहीं है, उन मन्त्रोंमें विद्याविषयक भी कुछ सामर्थ्यकी कल्पना की जा सकती है, क्योंकि हृदय आदिका संकीर्तन है । उपासनाओंमें प्रायः हृदय आदिका स्थान आदि भावसे उपदेश किया गया है, और उसके द्वारा 'हृदयं प्रविध्य' इसप्रकारके

सत्यानन्दी दीपिका

* 'फलवत्संनिधावफलं तदङ्गम्' (फलवालेकी संनिधिमें फल रहित उसका अङ्ग होता है) इस न्यायसे अन्यत्र विनियुक्त भी ये मन्त्र और कर्म विद्याके अङ्ग हो सकते हैं, अतः इनका उपसंहार होता है ! यद्यपि इनका विद्याके प्रयोजनरूपसे विधान नहीं है, तो भी 'मन्त्रादयः तत्तद्विद्याशेषाः फलवद्विद्यासंनिहितत्वात् तैत्तिरीयकगतपुरुषयज्ञवत्' (मंत्र आदि तत् तत् विद्याके अङ्ग हैं, फल वाली विद्याके संनिहित होनेसे, तैत्तिरीय गत पुरुष यज्ञके समान) इसप्रकार हम उसका अनुमान करेंगे । क्योंकि तत् तत् वाक्यसे अन्यत्र विनियुक्त कर्मोंका भी संनिधिसे विद्याओंमें विनियोग विरुद्ध

ध्येत्येवंजातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपासनाङ्गत्वम्। दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनि- गः—'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' (छा० ३।१५।३) इत्येवमादिः। तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणा- त्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो वाजपेय इव बृहस्पतिसवस्येति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—नैषामुपसंहारो विद्यास्विति। कस्मात्? वेधाद्यर्थभेदात्। हृदयं प्रविध्ये- जातीयकानां हि मन्त्राणां येऽर्था हृदयवेधादयो भिन्ना अनभिसंबद्धास्त उपनिषदुदिता- द्याभिः। न तेषां ताभिः संगन्तुं सामर्थ्यमस्ति। ननु हृदयस्योपासनेष्वप्युपयोगात्त- त्क उपासनासंबन्ध उपन्यस्तः, नेत्युच्यते, हृदयमात्रसंकीर्तनस्य ह्येवमुपयोगः कथंचि- येत। नच हृदयमात्रमत्र मन्त्रार्थः। हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्येत्येवंजातीयको हि न तो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसंबध्यते। आभिचारिकविषयो ह्येषोऽर्थः। तस्मादाभिचारि- कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याभिसंबन्धः। तथा 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यस्य सवलिङ्गत्वाद्यज्ञेन कर्मणा संबन्धः, तद्विशेषसंबन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः। एव- षामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन, केषांचिद्वचनेन, केषांचित्प्रमाणान्तरेणेत्येवमर्थान्तरेषु युक्तानां रहस्यपठितानामपि सतां न संनिधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः। दुर्बलो हि

ङ्ग उपासना अङ्गत्व उपपन्न है। उपासनाओंमें भी 'भूः प्रपद्येऽमुना' (इस पुत्रके साथ मैं को प्राप्त होता हूँ) इत्यादि मन्त्रोंका विनियोग देखा गया है। इसीप्रकार अन्यत्र विनियुक्त हुए प्रवर्ग्य आदि कर्मोंका विद्यामें विनियोग वाजपेयमें बृहस्पतिसवके समान अविरुद्ध है।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—इन मन्त्रों और कर्मोंका विद्याओंमें उपसंहार है, क्योंकि वेध आदि अर्थका भेद है। 'हृदयं प्रविध्य' इसप्रकारके मन्त्रोंका जो अर्थ हैं, वे षद्में उक्त विद्याओंसे भिन्न-सम्बन्ध रहित हैं, इसलिए उन मन्त्रोंमें उन विद्याओंके साथ होनेकी र्थ्य नहीं है। परन्तु हृदयका उपासनाओंमें उपयोग होनेसे उनके द्वारा उपासनाके साथ सम्बन्ध ता है? नहीं, ऐसा कहते हैं—हृदयके संकीर्तन मात्रके इसप्रकारके उपयोगकी भले किसी प्रकार ना की जाय, परन्तु यहां केवल हृदय आथर्वण मन्त्रका अर्थ नहीं है। 'हृदयं प्रविध्य धमनीः ' इसप्रकारका सम्पूर्ण मन्त्रार्थ विद्याओंके साथ अभिसम्बन्धित नहीं होता, क्योंकि यह चार विषयक अर्थ है, इसलिए 'सर्वं प्रविध्य' (शत्रुके सब अङ्गोंको विदीरण कर) इस मन्त्रका चारिक कर्मके साथ सम्बन्ध है। उसी प्रकार 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इस मन्त्रका यज्ञप्रसव के यज्ञकर्मके साथ सम्बन्ध है। उसका विशेष सम्बन्ध तो अन्य प्रमाणसे अनुसन्धान करना ए। इसीप्रकार अन्य कुछ मन्त्रोंका भी लिङ्गसे, कुछका वचनसे, कुछका अन्य प्रमाण (प्रक-)से, ऐसे अन्य अर्थोंमें विनियोग हुआ है और रहस्य-उपनिषद्में पठित होते हुए भी संनिधि- से उनका विद्याशेषत्व उपपन्न नहीं होता, क्योंकि 'श्रुतिलिङ्गवाक्य० (श्रुति, लिङ्ग, वाक्य,

सत्यानन्दी दीपिका

है। जैसे 'ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतिसवेन यजेत' (ब्रह्म तेजकी कामनावाला बृहस्पतिसव नामका रे) इस वाक्यसे ब्रह्मवर्चस फलमें विनियुक्त बृहस्पति सवका 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' पेयसे यज्ञकर बृहस्पतिसवसे याग करे) वाजपेय प्रकरणमें स्थित इस वाक्यसे वाजपेयके उत्तर से विरोध नहीं है। पूर्वपक्षमें इन मन्त्रों और कर्मोंका तत् तत् संनिहित विद्यामें उपसंहार है, सिद्धान्तमें उपसंहार नहीं होता।

* पूर्वपक्षीने पहले कहा था कि लिङ्गादिसे यद्यपि प्रवर्ग्यादि कर्म अन्यत्र प्रयुक्त होते हैं तो संनिधिके बलसे विद्यामें भी इनका विनियोग हो सकता है, क्योंकि विरोध नहीं है। इसपर 'तथा' इत्यादिसे आगे कहते हैं—

संनिधिः श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इत्यत्र । ❀ तथा कर्मणामपि प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः । न ह्येषां विद्याभिः सहैकार्थ्यं किंचिदस्ति । वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्—'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति । अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः सकृदुत्पन्नो बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि विनियोगमर्हति । अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेवं स्यान्नतु बलवदबलवतोः प्रमाणयोरगृह्यमाणविशेषता संभवति, बलवदबलवत्त्वविशेषादेव । तस्मादेवंजातीयकानां मन्त्राणां कर्मणां वा न संनिधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कितव्यम् । अरण्यानुवचनादिधर्मसामान्यात्तु संनिधिपाठ इति संतोष्टव्यम ॥२५॥

(१५ हान्यधिकरणम् । सू० २६)

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥२६॥

पदच्छेद हानौ, तु, उपायनशब्दशेषत्वात्, कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्, तत्, उक्तम्।

सूत्रार्थ—(हानौ) जिन श्रुतियोंमें ब्रह्मज्ञानियोंके अन्त समयमें (तु) केवल पापकी हानि सुनी जाती है, वहाँपर पुत्र आदिके द्वारा दाय आदि उपायनका भी उपादान करना चाहिए, (उपायनशब्दशेषत्वात्) क्योंकि उपायन शब्द हान शब्दके अङ्गरूपसे कहा गया है, (कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्) इसे पूर्वमीमांसामें प्रतिपादित कुशा, छन्द स्तुति और उपगानके समान समझना चाहिए, (तदुक्तम्) कारण कि 'अपितु वाक्यशेषत्वात्' इस जैमिनीय सूत्रमें ऐसा ही कहा गया है । अथवा हानि शब्द विधूनन अर्थमें ही समझना चाहिए, क्योंकि उपायन शब्दके समीप पठित विधूनन शब्द उपायन शब्दका अङ्ग है, इसमें पूर्वके समान कुशा आदि दृष्टान्त दिया गया है ।

❀ अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य

प्रकरण, स्थान, समाख्याके समवाय-एक ही विषयमें यथासम्भव एकसे अधिकका समावेश प्राप्त होनेपर पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल होता है—बाधित होता है, क्योंकि अर्थ-अङ्गाङ्गिनिर्णयरू विनियोगको बोधन करानेमें व्यवहित होनेके कारण विलम्बित हो जाता है) इससूत्रमें श्रुति आदिसे संनिधि दुर्बल है, ऐसा पूर्व मीमांसा ग्रन्थमें कहा गया है । इसीप्रकार अन्यत्र विनियुक्त प्रवर्ग्य आदि कर्म भी विद्याके शेष नहीं हो सकते, क्योंकि इनकी विद्याके साथ किञ्चिदपि एकार्थता नहीं है और 'वाजपेयेनेष्ट्वा० (वाजपेय याग कर बृहस्पति सव नामक याग करे) इसप्रकार वाजपेयमें तो बृहस्पतिसवका अन्य प्रयोग स्पष्ट है । और यह एक प्रवर्ग्य कर्म एक वार उत्पन्न होकर बलवान् प्रमाणसे एकत्र विनियुक्त हो पुनः उसका दुर्बल प्रमाणसे अन्यत्र भी विनियोग हो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि दो प्रमाणोंमें विशीषता गृहीत न होनेपर तो ऐसा होगा । परन्तु बलवान् और दुर्बल दो प्रमाणोंमें अगृहीत विशेषता नहीं हो सकती, कारणकि बलवत्त्व और दुर्बलवत्व विशेष है, इसलिए इसप्रकारके मन्त्रोंमें अथवा कर्मोंमें संनिधि पाठमात्रसे विद्या शेषत्वकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए । अरण्यमें उनका अनुवचन आदि समान धर्म होनेसे केवल संनिधिमें पाठ है, ऐसा सन्तोष करना चाहिए ।२५।

'अश्व इव रोमाणि० (जिस प्रकार अश्व अपने रोएँ झाड़कर-रोम कम्पन द्वारा श्रम और धूलि आदि दूर कर निर्मल हो जाता है, वैसे ही हार्द ब्रह्मके ज्ञानसे धर्माधर्म रूप पापको झाड़कर

सत्यानन्दी दीपिका

❀ उपनिषद् वाक्योंके साथ वेध आदि सब वाक्योंका अरण्यमें जाकर आचार्य द्वारा अध्ययन किया जाता है, अतः अरण्यानुवचन (अरण्यमें अध्ययन) आदि धर्मोंकी समानतासे केवल संनिधिमें पाठ है, अन्य कोई प्रयोजन नहीं है । इसलिए वेध आदि मन्त्रों और प्रवर्ग्य आदि कर्मोंका विद्याओंमें उपसंहार नहीं है ॥२५॥

शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' (छा० ८।१३।१) इति । तथाऽऽथर्वणिका- 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुण्ड० ३।२।८) इति । तथा यनिनः पठन्ति—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति । कौषीतकिनः 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' १।४) इति । तदिह क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानं श्रूयते, क्वचित्तयोरेव विभागेन प्रियैर- पायनम्, क्वचित्तूभयमपि हानमुपायनं च । तद्यत्रोभयं श्रूयते तत्र तावन्न किंचिद्वक्त- ति । यत्राप्युपायनमेव श्रूयते, न हानं, तत्राप्यर्थादेव हानं संनिपतति । अन्यैरात्मी- सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरावश्यकत्वात्तद्धानस्य । यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं पायनं संनिपतेद्वा न वेति विचिकित्सायामश्रवणादसंनिपातः । विद्यान्तरगोचरत्वाच्च न्तरीयस्य श्रवणस्य । अपि चात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानम्, परकर्तृकं तूपायनम्, सत्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाक्षिप्येत ? तस्मादसंनिपातो हानावुपायनस्येति । प्राप्तौ पठति—हानौ त्विति । हानौ त्वेतस्यां केवलायामपि श्रूयमाणायामुपायनं तितुमर्हति । तच्छेषत्वात् । हानशब्दशेषो ह्युपायनशब्दः समधिगतः कौषीतकिरहस्ये । न्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः । यदुक्तमश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वादना- त्वाच्चासंनिपात इति, तदुच्यते—भवेदेषा व्यवस्थोक्तिर्यद्यनुष्ठेयं किंचिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र येत । नत्विह हानमुपायनं वानुष्ठेयत्वेन संकीर्त्यते । विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः संकीर्तनम् ।

हुके मुखसे निकले हुए चन्द्रमाके समान अनर्थके आश्रयभूत इस शरीरको त्यागकर कृतकृत्य लोकको प्राप्त होता हूँ) ऐसी ताण्डियोंकी श्रुति है । और 'तथा विद्वान्० (उसी प्रकार विद्वान् से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है) ऐसी आथर्वणिकोंकी श्रुति है । और पुत्रादायम० (उसके-मृतक-विद्वान्के पुत्र-शिष्य धनको प्राप्त करते हैं, सुहृद पुण्य कर्म और कर्मको प्राप्त करते हैं) इसी प्रकार शाट्यायनियोंकी श्रुति है । और 'तत्सुकृतदुष्कृते० (शरीर समय विद्वान् उस विद्याबलसे सुकृत और दुष्कृतका त्याग करता है, उसके प्रिय बंधु सुकृतको दुष्कृतको प्राप्त होते हैं) ऐसी कौषीतकियोंकी श्रुति है । इन उदाहृत वाक्योंमें कहींपर और दुष्कृतके त्यागकी श्रुति है, कहींपर उन दोनोंके ही विभागसे प्रिय और अप्रिय पुरुषोंसे श्रुति है और कहींपर तो हान और उपायन दोनोंका भी श्रवण है । उसमें जहाँ दोनोंकी श्रुति तो कुछ भी वक्तव्य नहीं है । परन्तु जहाँ ग्रहणकी ही श्रुति है और त्यागकी नहीं है, वहाँ भी हो त्याग प्राप्त हो जाता है, क्योंकि दूसरोंसे अपने सुकृत और दुष्कृतके ग्रहण किए जानेपर तो त्याग आवश्यक है । परन्तु जहाँ केवल त्यागका ही श्रवण है उपायन-ग्रहण-का नहीं है, वहाँ प्राप्त होता है कि नहीं ? ऐसा सन्देह प्राप्त होनेपर ग्रहणका श्रवण न होनेसे ग्रहण प्राप्त नहीं अन्य शाखामें ग्रहणका श्रवण अन्य विद्याविषयक है और सुकृत, दुष्कृतका त्याग आत्मकर्तृक उपायन परकर्तृक है, अतः त्याग और ग्रहण इन दोनोंके आवश्यक भाव न होनेसे किस प्रकार उपायनका आक्षेप किया जाय, इससे हानमें उपायनकी प्राप्ति नहीं है । सिद्धान्ती—ऐसी शंकाके नेपर कहते हैं—'हानौ त्विति' इस श्रुतिमें केवल हानके श्रूयमाण होनेपर भी उपायनका होना युक्त है, क्योंकि उपायन हानका शेष है, कौषीतकिरहस्यमें उपायन शब्द हान शब्दके समधिगत है । इसलिए अन्य शाखामें केवल हान शब्दकी श्रुति होनेपर भी उपायनकी होती है । और जो यह कहा गया है कि श्रुत न होनेसे, विद्यान्तरका विषय होनसे, अना- होनेसे उपायनका संनिपात-प्राप्त नहीं है । उसपर कहते हैं—यदि एक स्थानमें श्रुत अनुष्ठेयको शाखामें ले जानेकी इच्छा हो तो यह उक्त व्यवस्था हो सकती है, परन्तु यहाँ तो हान (त्याग)

इत्थं महाभागा विद्या यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते ते चास्य सुहृद्द्विषत्सु निविशेते इति । स्तुत्यर्थं चास्मिन्संकीर्तने हानानन्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वादन्यत्रापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय । * प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षार्थवादान्तरप्रवृत्तिः—'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' (छा० २।१०।५) इत्येवमादिषु । कथं ह्येकविंशतादित्यस्याभिधीयेतानपेक्ष्यमाणेऽर्थवादान्तरे 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' इत्येतस्मिन् । तथा 'त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वा इत्येवमादिवादेषु 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्' इत्येवमाद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते । विद्यास्तुत्यर्थत्वा स्योपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरुपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम् । उपायनशब्दशेषत्वादिति तु शब्दशब्दं समुच्चारयन्स्तुत्यर्थामेव हानावुपायनानुवृत्तिं सूचयति गुणोपसंहारविवक्षायां ह्युपायनार्थस्यैव हानानुवृत्तिं ब्रूयात् । तस्माद्गुणोपसंहारविचा प्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम् । * कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम्

अथवा उपायन (ग्रहण) अनुष्ठेयरूपसे नहीं कहा जाता है, किन्तु इन दोनोंका केवल विद्याकी स्तुति लिए संकीतन है । ऐसी महाभागाविद्या है जिसकी सामर्थ्यसे इस विद्वान्के संसारके कारणभूत सु और दुष्कृत छूट (निवृत्त हो) जाते हैं, वे इसके सुहृद और द्वेषीमें प्रवेश करते हैं । स्तुत्यर्थक संकीर्तनमें हानके अनन्तर भाविरूपसे उपायनके कहीं पर श्रुत होनेसे अन्य शाखामें भी हानके होनेपर स्तुति प्रकर्ष लाभके लिए उपयानकी अनुवृत्ति मानी जाती है, और एक अर्थवादकी अपेक्षा अन्य अर्थवादको प्रवृत्ति 'एकविंशो० (इस लोकसे वह आदित्य निश्चय ही इक्कीसवाँ है) इत्यादि प्रसिद्ध है, क्योंकि 'द्वादशमासाः० (द्वादश मास, पाँच ऋतु, ये तीन लोक और यह आदित्य इक्की है) इस अन्य अर्थवादकी अपेक्षा न होनेपर यहाँ आदित्यको इक्कीसवाँ किस प्रकार अभिधान कि जाता है। इस प्रकार सेन्द्रियत्वके लिए दो त्रिष्टुभ होते हैं । इत्यादि वादोंमें भी 'इन्द्रिय ही त्रिष्टु है' इत्यादि अन्य (स्थानान्तर स्थित) अर्थवादकी अपेक्षा देखी जाती है । विद्या स्तुत्यर्थक होनेसे उपायनवादमें अन्य कृत सुकृत-दुष्कृत अन्योंसे कैसे प्राप्त किए जाते हैं, इस प्रकार अत्यन्त अभिनि नहीं करना चाहिए । क्योंकि 'उपायनशब्दशेषत्वात्' (उपायन शब्द हानका अङ्ग है) इस सू 'शब्द' पदका उच्चारण करते हुए सूत्रकार सूचित करते हैं कि हानमें उपायनकी अनुवृत्ति स्तु लिए ही है । यदि गुणोंके उपसंहारकी विवक्षा होती तो उपायन अर्थकी ही हानमें अनुवृत्ति क इसलिए गुणोंपसंहार विचारके प्रसंगसे स्तुतिके लिए उपसंहारका प्रदर्शन करनेके लिए यह सूत्र है

सत्यानन्दी दीपिका

* यज्ञकी पुरुषाकार कल्पनाकर उसमें 'सेन्द्रियत्वके लिए दो त्रिष्टुभ् होते हैं' ऐसा साम ब्राह्मणमें कहा गया है । यद्यपि 'त्रिष्टुभ्' छन्दोमात्र है इन्द्रिय नहीं, तो भी अन्यप्रकरणस्थ 'इन्द्रि वै त्रिष्टुभ्' इस यजुर्वेदवाक्यके सम्बन्धसे उसमें इन्द्रियत्वकी कल्पनाकी जाती है, त्रिष्टुभ् छन्दमें इन्द्रि यत्वकी कल्पना इसलिए की गई है कि त्रिष्टुभ् छन्दमें एकादश अक्षर हैं और इन्द्रियाँ भी एका हैं । अन्य शाखागत उपायन दूसरी शाखामें भी स्तुति प्रकर्षके लिए गृहीत है । यदि यहाँ उपायन विवक्षा होती है तो सूत्रकार 'उपायनशेषत्वात्' इस प्रकार उसका उपसंहार करते न कि 'उपाय शब्दशेषत्वात्' इस प्रकार उपायन शब्दका । अतः विद्या स्तुतिको सूचित करनेके लिए उपायनश उपसंहार कहा है । यहाँ गुणोंके उपसंहारके विचार प्रसंगसे स्तुतिमें दूसरी स्तुतिके उपसंहारको दिखलाया गया है । एक शाखामें स्थिति विशेष अन्य शाखामें भी ग्राह्य है ।

* उद्गाताओंके स्तोत्र गणनाके लिए दारुमय शिलाकाको कुशा कहा जाता है । छन्दोंमें

भाल्लविनाम्—'कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात' इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण
तियोनित्वेन श्रवणे शाट्यायनिनामौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा
यन्ते । यथा च क्वचिद्देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि'
पैङ्ग्याम्नानात्प्रतीयन्ते । यथा च षोडशिस्तोत्रे केषांचित्कालाविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते
इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषप्रतिपत्तिः । यथैव चाविशेषेणोपगानं केचित्समामनन्ति विशेभाल्लविनः । यथैतेषु कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वयः, एवं हानावप्युपायनान्वय
। श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं श्रुत्यन्तरेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव विकल्पः स्यात् । स
व्यः सत्यां गतौ । तदुक्तं द्वादशलक्षण्याम्—'अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्र-

---

न्दस्तुत्युपगानवत्' कुशा, छन्द, स्तुति और उपगानके समान । इस उपमाका ग्रहण है ।
'कुशा वानस्पत्याः० (हे कुश ! तुम वनस्पतिसे उत्पन्न हुए हो, तुम हमारी रक्षा करो)
ल्लवियोंकी श्रुतिमें कुशोंकी समानरूपसे वनस्पतिसे उत्पत्तिरूपसे श्रवण होनेपर शाट्यायनियोंका
म्बराः कुशाः' (उदम्बरसे उत्पन्न हुए कुशा) इसप्रकार विशेष वचनके श्रवणसे
रसे उत्पन्न हुए कुशोंका आश्रयण किया जाता है । जैसे देव छन्द और असुर छन्दका समान-
पूर्वापर प्रसंग होनेपर 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' (देव छन्द पूर्व हैं) ऐसा पैङ्गियोंकी श्रुतिसे प्रतीत
है। और जैसे षोडशीके स्तोत्रमें कुछको काल विशेष प्राप्त न होनेपर 'समयाध्युषिते सूर्ये'
सूर्यके अस्त होनेके समय षोडशी स्तोत्र करना चाहिए) ऐसी ऋचाका अध्ययन करनेवालोंकी
होनेसे कालविशेष प्रतीत होता है । और जैसे कोई उपगान अविशेषरूपसे कहते हैं और भाल्लवी
रूपसे उपगान कहते हैं । जैसे इन कुशा आदिमें अन्य श्रुति स्थित विशेषका अन्वय है, वैसे ही
उपायनका अन्वय है, ऐसा अर्थ है । एक श्रुतिकृत विशेषका अन्य श्रुतिमें स्वीकार न करने
सर्वत्र ही विकल्प हो जायगा । गति-व्यवस्थाके होनेपर वह विकल्प उचित नहीं है । द्वादश
वाले पूर्वमीमांसा ग्रन्थमें 'अपि तु० (दीक्षितो न ददाति, न जुहोति न पचति-दीक्षितको दान
रना चाहिए, होम नहीं करना चाहिए और पाक नहीं करना चाहिए) ऐसी श्रुति है । उसमें
दद्यात्' (प्रतिदिन दान करना चाहिए) इसका 'न दीक्षितो ददाति' इस वाक्यशेषसे इतर-
से भिन्नका पर्युदास है, क्योंकि यदि पर्युदास न हो, तो प्रतिषेधमें विकल्प होगा, वह अन्याय
सा कहा गया है । अथवा इन्हीं विधूनन श्रुतियोंके विषयमें इस सूत्रसे यह विचार करना

सत्यानन्दी दीपिका

णि छन्दांसि आसुराणि अन्यानि दैवानि' (नौ अक्षरवाले छन्द असुर छन्द हैं और अन्य दैव
हैं) कहीं पर 'छन्दोभिः स्तुवते' (छन्दोंसे स्तवन करते हैं) इन मन्त्रोंमें विशेष न होनेसे
दोंकी प्राप्ति होनेपर 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' ऐसा पैङ्गियोंकी श्रुतिसे विशेष प्रतीत होता है ।
—अतिरात्र यागमें षोडशी पात्रका ग्रहण होनेपर उसके ग्रहणके अङ्गभूत स्तोत्र कब होते हैं ?
र छन्दोगों द्वारा पूछे जानेपर 'समयाध्युषिते सूर्ये' इस श्रुतिसे कालविशेष प्रतीत होता है ।
—'ऋत्विज उपगायन्ति' (ऋत्विज उपगान करें) यह सामान्य श्रुति है । इसमें 'नाध्वर्युरुप-
(अध्वर्यु उपगान न करे) इस दूसरी श्रुतिसे अध्वर्युसे भिन्न ऋत्विज उपगान करें । इस
विशेषका ग्रहण है । कुशा आदि वाक्योंकी दूसरी विशेष श्रुतियोंके साथ एकवाक्यता इसलिए
है कि विकल्प प्राप्त न हो, सामान्य और विशेष इन दोनों श्रुति वाक्योंकी एक वाक्यतारूप
होनेपर वाक्य भेदकर 'अध्वर्यु उपगान न करे' ऐसा निषेध होनेसे और 'ऋत्विज उपगान करें'
सामान्य श्रुतिके होनेसे 'अध्वर्यु उपगान करे' 'अध्वर्यु उपगान न करे' इसप्रकार सर्वत्र विकल्प
उक्त नहीं है । 'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वायजेत' (धान अथवा यवोंसे याग करे) यहां तो अगत्या

तिषेधे विकल्पः स्यात्' इति । ※ अथवा—एतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयि
व्यम्—किमनेन विधूननवचनेन सुकृतदुष्कृतयोर्हानमभिधीयते, किंवाऽर्थान्तरमिति ? त
चैवं प्रापयितव्यम्, न हानं विधूननमभिधीयते—'धूञ् कम्पने' इति स्मरणात्, 'दोधूय
ध्वजाग्राणी'ति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाग्रेषु प्रयोगदर्शनात्, तस्माच्चालनं विधूननमभि
धीयते । चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं फलप्रतिबन्धनादित्येवं प्रापय्य प्रतिवक्तव्यम्
हानावेवैष विधूननशब्दो वर्तितुमर्हति, उपायनशब्दशेषत्वात् । नहि परपरिग्रहभूतयोः सुकृ
दुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं संभवति । यद्यपीदं परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपाय
नाञ्जसं संभाव्यते, तथापि तत्संकीर्तनात्तावत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति नि
शक्यते । क्वचिदपि चेदं विधूननसंनिधावुपायनं श्रूयमाणं कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवद्विधून
श्रुत्या सर्वत्रापेक्षमाणं सार्वत्रिकं निर्णयकारणं संपद्यते । नच चालनं ध्वजाग्रवत्सुकृतदुष्कृ
योर्मुख्यं संभवति, अद्रव्यत्वात् । अश्वश्च रोमाणि विधून्वानस्त्यजत्रजः सहैव तेन रोम

चाहिए कि क्या इस विधूनन वचनसे सुकृत और दुष्कृतके हानका विधान किया जाता है अथ
अन्य अर्थका ? संशय होनेपर ऐसा प्राप्त होना चाहिए कि विधूनन शब्दसे हानका अभिधान न
किया जाता, क्योंकि 'धूञ् कम्पने' (धूञ् धातुका अर्थ कम्पन है) ऐसा पाणिनिकी स्मृति है।
'दोधूयन्ते ध्वजाग्राणि' (ध्वजाके अग्रभाग वार वार हिलते हैं) इसप्रकार वायु द्वारा चलाय
ध्वजाके अग्रभागोंमें विधूनन शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है, इससे चालन ही विधूनन अभिहित
सुकृत और दुष्कृतका चालन तो कुछ समय तक फलके प्रतिबन्धसे अभिहित है । ऐसा पूर्वपक्ष
कर निराकरण करना चाहिए । यह विधूनन शब्द हानमें ही वर्तने योग्य है, क्योंकि उपायन शब्द
शेष है, कारण कि दूसरेसे परिगृहीत होनेवाले अत्यक्त सुकृत दुष्कृतका अन्यसे उपायन नहीं
सकता । यद्यपि अन्यके सुकृत और दुष्कृतका अन्यसे उपायन मुख्यरूपसे सम्भव नहीं होता, तो
उसके संकीर्तनसे उसके अनुकूल हान ही विधूनन है, ऐसा निर्णय किया जा सकता है । विधून
संनिधिमें कहींपर भी श्रूयमाण उपायन कुशा, छन्द, स्तुति और उपगानके समान विधूनन श्रु
सर्वत्र अपेक्ष्यमाण होता हुआ सर्वत्र निर्णयका कारण सम्पन्न होता है । और सुकृत-दुष्कृतका ध्व

सत्यानन्दी दीपिका

विकल्पका अलम्बन युक्त है, क्योंकि विकल्प न्याय संगत नहीं है । ज्योतिष्टोम प्रकरणमें 'दीक्षितो
जुहोति' यह श्रुति है और 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' यह अन्यत्र श्रुति है । यदि यहां 'न दीक्षि
वाक्य होमका प्रतिषेधक हो, तो यज्ञार्थक होनेसे निषेध अनुष्ठेय है अथवा 'यावज्जीवम्' इस वि
होम अनुष्ठेय है ? ऐसा विकल्प होगा । परन्तु वह न्याय संगत नहीं है । यहां 'यावज्जीव' वाक्यके
'न दीक्षित' वाक्यके शेष होनेसे 'न' इतर पर्युदासार्थक है, अतः नकार दीक्षितसे भिन्न लोगोंका उ
है होमका प्रतिषेधक नहीं है । परन्तु मीमांसा शास्त्रमें 'नञ्' के दो अर्थ माने गए हैं—एक प्र
और दूसरा पर्युदास । 'प्रतिषेधः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्' (जहांपर क्रिया-विधि प्रत्य
साथ 'नञ्' का सम्बन्ध हो वहां प्रतिषेध होता है) जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' । 'पर्युदास
विज्ञयो यत्रोत्तरपदेन नञ्' (जहां 'नञ्' विधि प्रत्ययसे भिन्न धात्वर्थके साथ अथवा कर्ता आदि
साथ सम्बन्धित हो वह पर्युदास है) जैसे 'दीक्षितो न जुहोति' इसका विशेष विस्तार मीमां
शास्त्रमें देखना चाहिए । इसलिए 'अदीक्षित जीवन पर्यन्त होम करे' इसप्रकार एक वाक्यता
ऐसा न दीक्षिताधिकरणके सिद्धान्त सूत्रका अर्थ है ।

※ इसप्रकार विधूननका हानि अर्थसिद्ध होनेपर जहाँ केवल हानका श्रवण हो वहाँपर
उपायनका उपसंहार है । यहाँ पूर्वपक्षमें स्तुति प्रकर्षकी असिद्धि है, सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि है ॥

पि जीर्णानि शातयति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति च ब्राह्मणम्।
कार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां न स्मरणविरोधः। तदुक्तमिति व्याख्यातम् ॥२६॥

(१६ सांपरायाधिकरणम् । सू० २७-२८)

सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥२७॥

पदच्छेद—सांपराये, तर्तव्याभावात्, तथा, हि, अन्ये।

सूत्रार्थ—(सांपराये) देह त्यागके समय विद्याकी सामर्थ्यसे सुकृत, दुष्कृतकी हानि होती
(तर्तव्याभावात्) क्योंकि विद्वान्को कुछ मध्यमें प्राप्तव्य नहीं है, (हि) क्योंकि (अन्ये) अन्य
वाले 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (तथा) ऐसा ही कहते हैं।

* देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौषी-
नः पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १।३)
उपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १।४)
। तत्किं यथाश्रुतं व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तव्यमाहोस्विदादावेव देहादपसर्पणे
विचारणायां श्रुतिप्रामाण्याद्यथाश्रुति प्रतिपत्तिप्रसक्तौ पठति—सांपराय इति। सांपराये
न एव देहादपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात्सुकृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते। हेतुं
ष्टे तर्तव्याभावादिति। नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्सतोऽन्तराले सुकृत-
कृताभ्यां किंचित्प्राप्तव्यमस्ति, यदर्थं कतिचित्क्षणानक्षीणे ते कल्प्येयाताम्। विद्याविरुद्ध-

गके समान मुख्य चालन नहीं हो सकता, क्योंकि वे अद्रव्य हैं। रोमोंका विधूनन करनेवाला
रजका त्याग करता हुआ उसके साथ जीर्ण रोमोंको भी झाड़ता है—इस विषयमें 'अश्व इव०
से अश्व रोमोंका विधूनन करता है, वैसे विद्वान् पापका विधूनन कर) ऐसा ब्राह्मण है। धातुओंके
क अर्थ स्वीकार करनेसे उक्त स्मृतिके साथ विरोध नहीं है। 'तदुक्तम्' (वह कहा गया) इसका
ख्यान हो चुका ॥ २६ ॥

देवयान मार्गसे पर्यङ्कस्थ ब्रह्मकी ओर प्रस्थान करनेवाले पुरुषके सुकृत-दुष्कृतका अर्धमार्गमें
ग कौषीतकी शाखावाले पर्यङ्क विद्यामें कहते हैं—'स एतं देवयानं० (वह इस देवयान मार्गको
कर अग्निलोकको प्राप्त होता है) ऐसा आरम्भकर 'स गच्छति० (वह विरजा नदीको प्राप्त होता
उसे मनसे ही लाँघ जाता है, उससे सुकृत, दुष्कृतका त्याग करता है) यहां श्रुतिके अनुसार
(सुकृत-दुष्कृत) का अर्धमार्गमें ही वियोगवचन समझना चाहिए अथवा आरम्भमें ही देहसे
ण करनेपर ऐसा विचार प्राप्त होनेपर श्रुति प्रामाण्यसे श्रुतिके अनुसार प्राप्ति प्रसक्त होनेपर
कार] कहते हैं—'सांपराये'। सांपराय समयमें-गमन कालमें देहसे निकलनेपर विद्याकी
र्थ्यसे यह सुकृत, दुष्कृत हान होता है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। उसका हेतु कहते हैं—'तर्तव्या-
वात्'। विद्यासे ब्रह्म सम्प्राप्तकी इच्छावाले मृत विद्वान्को मध्यमें सुकृत और दुष्कृत द्वारा कुछ
प्राप्तव्य नहीं है, जिसके लिए कुछ एक क्षणोंके लिए सुकृत और दुष्कृतके क्षीण न होनेकी
ना की जाय। परन्तु उनका विद्यासे विरुद्ध फल है, अतः विद्याकी सामर्थ्यसे उन दोनोंका क्षय

सत्यानन्दी दीपिका

* इसमें विद्या सुकृत-दुष्कृतक्षयका हेतु है, इसकी असिद्धि पूर्वपक्षका फल है, सिद्धान्तमें
की सिद्धि फल है। सिद्धान्ती—देहपातसे पूर्व ही विद्याकी सामर्थ्यसे कर्मोंके क्षय होनेपर विद्वान्
र मार्गसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, विना कर्मनाश हुए उत्तर मार्गसे गमन संभव नहीं है, अतः
मसे अर्थ क्रम बलवान् है ॥ २७ ॥

फलत्वात्तु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयः, स च यदैव विद्या फलाभिमुखो तदैव भवितुमर्हति। तस्मात्प्रागेव सन्नयं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात्पठ्यते। तथा ह्यन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानमामनन्ति—'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति, 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति च ।२७॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥२८॥

पदच्छेद—छन्दतः, उभयाविरोधात्।

सूत्रार्थ—(छन्दतः) जीवित पुरुष अपनी इच्छासे विद्याका अनुष्ठान कर सकता है, इस उसका कर्मक्षय भी जीवनकालमें होगा, (उभयाविरोधात्) इसप्रकार उपपत्ति और ताण्डी आदि श्रुति दोनोंके साथ विरोध नहीं होगा।

यदि च देहादपसृप्तस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽभ्युपगम्येत, ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्धेतुकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयस्य स्यात्। तस्मात्पूर्वमेव साधकावस्थायां छन्दतोऽनुष्ठानं तस्य स्यात्। तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानमिति द्रष्टव्यम्। एवं निमित्तनैमित्तिकयोरुपपत्तिस्ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योश्च संगतिरिति ॥२८॥

(१७ गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम्। सू० २९-३०)

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥२९॥

पदच्छेद—गतेः, अर्थवत्त्वम्, उभयथा, अन्यथा, हि, विरोधः।

सूत्रार्थ—(गतेः) देवयान मार्गकी (अर्थवत्त्वम्) अर्थवत्ता (उभयथा) विभागसे हो सकती है। सगुण विद्यामें देवयान मार्ग है निर्गुण विद्यामें नहीं है, (अन्यथा) यदि देवयानमार्ग का सर्वत्र उपसंहार करें तो (विरोधः) 'विद्वान् पुण्यपापे विधूय' इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा।

* क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते, क्वचिन्न। तत्र संशयः—कि

होता है और वह विद्या जब फलाभिमुख होती है तब उनका क्षय होना युक्त है। इसलिए देहपात पहले ही वर्तमान यह सुकृत दुष्कृत क्षय पश्चात् पढ़ा जाता है। इसलिए अन्य ताण्डी और शाट्याय शाखावाले भी 'अश्व इव० (जैसे अश्व रोम झाड़ देता है वैसे विद्वान् पाप मुक्त होकर) और 'तस्य दायमु० (उस मृत विद्वान्के पुत्र धन ग्रहण करते हैं, सुहृद पुण्यकर्म और द्वेषी पापकर्म ग्रह करते हैं) इसप्रकार पूर्वावस्थामें ही सुकृत-दुष्कृतकी हानि कहते हैं ॥ २७ ॥

देहसे निष्क्रमित देवयान मार्गसे प्रस्थान करनेवाले पुरुषके सुकृत, दुष्कृतका क्षय यदि अर्धमार्ग में स्वीकार किया जाय, तो देहपात होनेपर सुकृत-दुष्कृत क्षयके हेतुभूत यम नियम सहित विद्या अभ्यासरूप पुरुष प्रयत्नका अपनी इच्छासे अनुष्ठानकी उपपत्ति न होनेके कारण उससे होनेवाले सुकृत, दुष्कृत क्षयकी अनुपपत्ति ही होगी। इससे पूर्वमें-साधकावस्थामें अपनी इच्छासे उसका अनुष्ठान होना चाहिए और अनुष्ठान पूर्वक सुकृत, दुष्कृतका हान है, ऐसा समझना चाहिए। इसप्रकार निमित्त, नैमित्तककी उपपत्ति ताण्डी और शाट्यायनी इन दोनों श्रुतियोंकी संगति होगी ॥ २८ ॥

कहींपर पुण्य-पापके हानकी संनिधिमें देवयानमार्गकी श्रुति है और कहींपर नहीं है, यहां

सत्यानन्दी दीपिका

* सगुण विद्यामें देवयान गति प्रयोजनवाली है और निर्गुण विद्यामें नहीं, अतः समानरूपसे सर्वत्र गमन इष्ट नहीं है। देशसे व्यवहित वस्तुकी प्राप्तिमें तो मार्ग अपेक्षणीय है, किन्तु ब्रह्मविद्यामें मार्गकी अपेक्षा नहीं है ॥ २९ ॥

विशेषेणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन क्वचित्संनिपतेत् क्वचिन्नेति। यथा नावविशेषेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीत्यस्यां प्राप्तावाच- । गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति—क्वचिदर्थवती गतिः ति, नाविशेषेण। अन्यथा ह्यविशेषेणैवैतस्यां गतावङ्गीक्रियमाणायां विरोधः स्यात्। विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी विरुध्येत। कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत्? गन्तव्यं च परमं साम्यं न न्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे ॥२९॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥३०॥

पदच्छेद—उपपन्नः, तल्लक्षणार्थोपलब्धेः, लोकवत्।

सूत्रार्थ—(उपपन्नः) गतिकी विभागसे व्यवस्था युक्त ही है, (तल्लक्षणार्थोपलब्धेः) क्योंकि गति- त अर्थ सगुण उपासनाओंमें उपलब्ध होता है, (लोकवत्) जैसे लोकमें सेतु वासियोंको ग्रामकी लिए मार्गकी अपेक्षा होती है, किन्तु आरोग्य प्राप्तिमें उसकी अपेक्षा नहीं है, वैसे यहाँ भी है।

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः—क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति, तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। कारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूपासनेषूपलभ्यते। यत्र हि पर्यङ्कारोहणं पर्यङ्क- ब्रह्मणा संवदनं विशिष्टगन्धादिप्राप्तिश्चेत्येवमादि बहु देशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं श्रूयते, वती गतिः। नहि सम्यग्दर्शने तल्लक्षणार्थोपलब्धिरस्ति। न ह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्त- नामिहैव दग्धाशेषक्लेशबीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणापेक्षितव्यं दस्ति, तत्रानर्थिका गतिः। लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यः—यथा लोके ग्रामप्राप्तौ देशा- णः पन्था अपेक्ष्यते, नारोग्यप्राप्तावेवमिहापीति। भूयश्चैनं विभागं चतुर्थाध्याये न्तरमुपपादयिष्यामः ॥३०॥

होता है कि क्या हानमें समानरूपसे ही देवयानमार्गका संनिपात है अथवा विभागसे कहींपर त होता है और कहींपर नहीं होता? जैसे हानमें समानरूपसे उपायनकी अनुवृत्ति कही गई है, यानकी अनुवृत्ति भी होनी चाहिए। सिद्धान्ती—इसके प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—गतिका- मार्गका अर्थवत्त्व उभयथा-विभागसे होना चाहिए, कहींपर अर्थवती गति है और कहींपर नहीं। से सर्वत्र गति नहीं है, अन्यथा-अविशेषसे ही इस गतिके अङ्गीकार करनेपर तो विरोध । 'पुण्यपापे०' (विद्वान् पुण्य-पाप दोनोंको त्यागकर निर्मल हो परम साम्य (ब्रह्म) को प्राप्त है) इस श्रुतिमें अन्य देश प्रापक गति विरुद्ध है, क्योंकि गति आदि रहित ब्रह्मस्वरूप देशा- कैसे जायगा और प्रापणीय परम साम्य देशान्तर प्राप्तिके अधीन नहीं है। इसलिए हम यहाँ विद्यामें गतिको निष्प्रयोजन मानते हैं ॥ २९ ॥

कहीं पर गति प्रयोजनवाली है और कहीं पर नहीं, ऐसा दोनों प्रकारका विभाग युक्ति युक्त है, गति कारणक प्रयोजन उपलब्ध होता है। गति कारणभूत प्रयोजन पर्यङ्कविद्या आदि सगुण नाओंमें उपलब्ध होता है। उनमें पर्यङ्कारोहण, पर्यङ्कस्थ ब्रह्माके साथ संवाद और विशिष्ट गन्ध प्राप्ति, इत्यादि अनेक भिन्न-भिन्न देशोंकी प्राप्तिके अधीन फलकी श्रुति है, वहाँ गति प्रयोजन- है, किन्तु तत्त्वज्ञानमें गति कारणभूत अर्थकी उपलब्धि नहीं है, कारण कि आत्मैकत्वदर्शी, म यहाँ दग्ध हो गये हैं सम्पूर्ण क्लेश और उनके कारणीभूत बीज-अविद्या जिनके, उनको-एता- नुभावोंको प्रारब्ध भोग कर्माशय क्षय करानेके अतिरिक्त कुछ भी फल अपेक्षणीय नहीं हाँ गति प्रयोजन रहित है। और यह विभाग लोक व्यवहारके समान समझना चाहिए, जैसे ग्राम प्राप्तिके लिए देशान्तर प्रापक मार्गकी अपेक्षा होती है, किन्तु आरोग्य प्राप्तिमें नहीं होती।

(१८ अनियमाधिकरणम् । सू० ३१)

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३१॥

पदच्छेद—अनियमः, सर्वासाम्, अविरोधः, शब्दानुमानाभ्याम्।

सूत्रार्थ—(सर्वासाम्) सभी सगुण उपासनाओंमें (अनियः) अविशेषरूपसे देवयान मार्ग होना चाहिए, (अविरोधः) इससे प्रकरणसे विरोध नहीं है, (शब्दानुमानाभ्याम्) क्योंकि 'तद्य इत्थं विदुः' इत्यादि श्रुति और 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते' इत्यादि स्मृति है।

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती, न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम्। सगुणा स्वपि विद्यासु कासुचिद्गतिः श्रूयते—यथा पर्यङ्कविद्यायामुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां दहरविद्यायामिति। नान्यासु—यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति। तत्र संशयः – किं यास्वेवैषा गतिः श्रूयते तास्वेव नियम्येतोतानियमेन सर्वाभिरेवंजातीयकाभिर्विद्याभिरभिसंबध्येतेति। किं तावत्प्राप्तम् ? नियम इति। यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितुमर्हति, प्रकरणस्य नियामकत्वात्। यद्यन्यत्राश्रूयमाणापि गतिर्विद्यान्तरं गच्छेच्छ्रुत्यादीनां प्रामाण्यं हीयेत, सर्वस्य सर्वार्थत्वप्रसङ्गात्। अपि चार्चिरादिकैकैव गति रुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तुल्यवत्पठ्यते, तत्सर्वार्थत्वेऽनर्थकं पुनर्वचनं स्यात् तस्मान्नियम इति * एवं प्राप्ते पठति--अनियम इति। सर्वासामेवाभ्युदयप्राप्तिफलानां सगु णानां विद्यानामविशेषेणैषा देवयानाख्या गतिर्भवितुमर्हति। नन्वनियमाभ्युपगमे प्रकरण विरोध उक्तः। नैषोऽस्ति विरोधः, शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथा हि श्रुतिः 'तद्य इत्थं विदुः' (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्ती

वैसे यहाँ प्रकृतमें भी समझना चाहिए। पुनः इस विभागको चतुर्थ अध्यायमें अधिक निपुणता उपपादन करेंगे ॥ ३० ॥

सगुण विद्याओंमें गति प्रयोजनवाली है, किन्तु निर्गुण परमात्मविद्यामें नहीं, ऐसा पूर्व अधि करणमें कहा गया है। सगुण विद्याओंमें भी कुछ विद्याओंको गति श्रुति है—जैसे पर्यङ्कविद्या, उप कोसलविद्या, पञ्चाग्निविद्या और दहरविद्यामें।' अन्य विद्याओंमें गति श्रुति नहीं है—जैसे मधुविद्या शाण्डिल्यविद्या, षोडशकलविद्या और वैश्वानरविद्यामें। यहाँ संशय होता है कि क्या जिनमें गति श्रुति है उनमें ही नियमित है अथवा अनियमसे इस प्रकारकी सभी विद्याओंके साथ सम्बन्धि है, तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—नियम प्राप्त होता है। जिन विद्याओंमें गति सुनी जाती है उनमें ही होनी चाहिए, क्योंकि प्रकरण नियामक है। अन्य विद्यामें न सुनी हुई गति भी यदि अन्य विद्यामें प्राप्त हो तो श्रुति आदिमें प्रामाण्यकी हानि होगी, कारण कि सबमें सर्वार्थवत्त्व प्रसङ्ग होगा और अर्चिरादि एक ही गति उपकोसलविद्या और पञ्चाग्निविद्यामें समानरूपसे जैसे पढ़ी जाती है वह यदि सब विद्याओंके लिए हो तो पुनर्वचन अनर्थक हो जायगा, इसलिए गतिका नियम है। ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—अनियम है। यह देवयान नामक गति अभ्युदय प्राप्ति फलवाली समस्त सगुण विद्याओंमें समानरूपसे होनी चाहिए। परन्तु अनियमका स्वीकार करनेपर प्रकरणका विरोध कहा गया है ? यह विरोध नहीं है, क्योंकि इसमें शब्द, अनुमान-श्रुति और स्मृति है, ऐसा अर्थ है। जैसे कि

सत्यानन्दी दीपिका

* जो प्रकरणके बलसे गतिका नियम कहा गया है, वह श्रुति और स्मृतिसे बाधित है, क्योंकि श्रुति प्रकरणसे बलवती है। इसलिए समस्त सगुण उपासनाओंमें समानरूपसे गति होनी चाहिए। 'ये चेमेऽ रण्ये०' इस श्रुति वाक्यमें लक्षणाकी गई है, इससे श्रद्धा और तप अन्य सगुण उपासनाके उपलक्षक हैं

त्ये श्रद्धातप इत्युपासते' (का० ५।१०।१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्या- समानमार्गतां गमयति । कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामियं गतिरिति ? ननु पः परायणानामेव स्यात्, तन्मात्रश्रवणात् । नैष दोषः, नहि केवलाभ्यां श्रद्धातपो- न्तरेण विद्याबलमेषा गतिर्लभ्यते, 'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोप- म् । * वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते—'य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति । तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयम्, ब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात् । पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्थंवित्तयैवोपात्तत्वाद्विद्यान्तर- णानामेवैतदुपादानं न्याय्यम् । 'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्द- (बृ० ६।२।१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृ- योरेवैनानन्तर्भावयति । तत्रापि विद्याविशेषादेषां देवयानप्रतिपत्तिः । स्मृतिरपि 'शुक्ल- गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः' (भ० गी० ८।२६)

त्थं विदुः० (वहाँ इस लोकके प्रति उत्थित हुए अधिकारी गृहस्थोंमें जो इस प्रकार पञ्चाग्निको हैं) यह श्रुति पञ्चाग्नि विद्याके उपासकोंके लिए देवयान पथका अवतरण करती हुई 'ये चेमे० जो अरण्यसे उपलक्षित वैखानस और परिव्राजक श्रद्धा और तपसे उपलक्षित ब्रह्मका ध्यान हैं) अन्य विद्याके अनुशीलन करनेवालोंका भी पञ्चाग्निविद्या जाननेवालोंके समान मार्ग ज्ञान ता है । परन्तु यह कैसे अवगत हो कि अन्य विद्याका अनुशीलन करनेवालोंकी यह गति है ? श्रद्धा तपमें संलग्न अरण्यवासियों को ही यह गति प्राप्त होनी चाहिए, क्योंकि केवल उनका श्रवण है । ष नहीं है, कारण कि विद्याबलके विना केवल श्रद्धा और तपसे यह गति प्राप्त नहीं होती, के 'विद्यया तदारोहन्ति० (विद्यासे-उपासनासे उस ब्रह्मलोकको प्राप्त करते हैं, जहाँ जानेवालेकी एँ निवृत्त-शान्त हो जाती हैं, वहाँ दक्षिण मार्गसे उपलक्षित केवल कर्मी नहीं जाते और न्-उपासना रहित तपस्वी भी नहीं जाते) यह अन्य श्रुति है । इससे ज्ञात होता है कि यहाँ श्रद्धा तपसे अन्य विद्याओंका उपलक्षण है । वाजसनेयी तो पञ्चाग्नि विद्याके प्रकरणमें 'य एवमेतद्विदुः० जो गृहस्थ इस प्रकार इस पञ्चाग्नि विद्याको जानते हैं तथा जो संन्यासी अथवा वानप्रस्थ श्रद्धा होकर सत्यकी उपासना करते हैं) ऐसा कहते हैं । वहाँ जो श्रद्धालु सत्य ब्रह्मकी उपासना करते सा व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि सत्य शब्द ब्रह्ममें अनेकवार प्रयुक्त हुआ है । पञ्चाग्निविद्या- का 'य इत्थंविदुः' इस वाक्यसे 'इत्थंवित्त्व' (इस प्रकार जाननेवाला) रूपसे ग्रहण होनेके कारण विद्यामें संलग्न उपासकोंका यह ग्रहण युक्त है । और 'अथ य एतौ० (और जो उत्तर और दोनों मार्गोंको नहीं जानते अर्थात् देवयान एवं दक्षिण मार्गके साधन भूत ब्रह्मोपासना अथवा का अनुष्ठान नहीं करते वे कीट, पतङ्ग और सर्प आदि होते हैं) यह श्रुति दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट हुए को दुःखदायक अधोगतिका बोध कराती हुई देवयान और पितृयानमें ही इन उपासकोंका अन्त- र्भाव करती है । उनमें भी उपासना विशेषसे इन उपासकोंको देवयानकी प्राप्ति होती है । और 'शुक्ल-

सत्यानन्दी दीपिका

* तत् तत् स्थलमें मार्ग श्रुति प्रतिदिन मार्ग ध्यानके लिए है, क्योंकि प्रकरणसे मार्ग ध्यान नाका अंग कहा गया है । जिनमें मार्ग श्रुति नहीं है वे मार्ग ध्यानके विना भी विद्याकी सामर्थ्यसे आदि मार्ग प्राप्त करते हैं । यह सूचित करनेके लिए 'पुनः' कथन है । इसलिए देवयान मार्गकी से भिन्न सम्पूर्ण उपासनाओंमें । समानरूपसे प्राप्ति होती है पूर्वपक्षमें पूर्वके समान गतिका नियम द्धान्तमें गतिका अनिमम है ॥ ३१ ॥

इति । यत्पुनर्देवयानस्य पथो द्विराम्नानमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च, तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम् । तस्मादनियमः ॥३१॥

(१६ यावदधिकाराधिकरणम् । सू० ३२)

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् । ३२॥

पदच्छेद—यावदधिकारम्, अवस्थितिः, आधिकारिकाणाम् ।

सूत्रार्थ—(आधिकारकाणाम्) लोक व्यवस्थाके हेतुभूत अधिकारोमें विनियुक्त, यथार्थ ज्ञानसे क्षीण कर्मवाले अपान्तरतमा आदि तत्त्वज्ञानियोंकी (यावदधिकारम्) प्रारब्ध कर्मों (अवस्थितिः) अवस्थिति है ।

❀ विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तमुत्पद्यते न वेति चिन्त्यते । ननु विद्यायाः साधनभूतायाः संपत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेनि नेयं चिन्तोपपद्यते, नहि पाकसाधनसंपत्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता संभवति, नापि भुञ्जानस्तृप्येन्न वेति चिन्त्यते, उपपन्ना त्वि चिन्ता, ब्रह्मविदामपि केषांचिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात् । तथाहि—अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात्कलिद्वापारयोः संधौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति । वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन्निमिशापादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां संबभूवेति । भृग्वादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते । सनत्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात्स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव । एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन तेन निमित्तेन स्मृतौ

कृष्णे० (उपासना और कर्मके अधिकारी जनोंके लिए देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एकके द्वारा गया हुआ परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरे द्वारा गया हुआ जन्म मृत्युको प्राप्त होता है) ऐसी स्मृति भी है । देवयान मार्गका उपकोसलविद्या और पञ्चाग्निविद्यामें जो दो वार कथन है वह दोनों विद्याओंमें ध्यानके लिए है, अतः गतिका अनियम है ॥ ३१ ॥

विद्वान्‌का वर्तमान शरीर पात होनेपर दूसरा शरीर उत्पन्न होता है कि नहीं ? इसप्रकार विचार किया जाता है । परन्तु साधन भूत विद्याकी प्राप्ति होनेपर मोक्ष निष्पन्न होता है कि नहीं, यह विचार उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि पाककी साधन सम्पत्ति होनेपर ओदन पाक होगा कि नहीं, ऐसा विचार नहीं हो सकता, और भोजन करनेवाला तृप्त होगा कि नहीं, ऐसा भी विचार नहीं किया जाता । किन्तु यह विचार तो युक्त है, क्योंकि कुछ ब्रह्मवेत्ताओंकी भी अन्य शरीरकी उत्पत्ति इतिहास और पुराणमें देखनेमें आती है । जैसे कि अपान्तरतमा नामके वेदाचार्य पुराण ऋषि विष्णुके आदेशसे कलि और द्वापुरकी सन्धिमें कृष्णद्वैपायनरूपमें उत्पन्न हुए, ऐसा स्मृतिकार कहते हैं। और वसिष्ठ ब्रह्माके मानस पुत्र होते हुए निमिके शापसे पूर्व देहका त्यागकर ब्रह्माकी आज्ञासे फिर मित्रा और वरुणसे उत्पन्न हुए । इसीप्रकार ब्रह्माके मानस पुत्र भृगु आदिकी भी वरुणके यज्ञमें पुनः उत्पत्ति सुनी जाती है । ब्रह्माके मानस पुत्र सनत्कुमार भी स्वयं रुद्रको वरदान देनेके कारण कार्तिकेयरूपसे उत्पन्न हुए । इसीप्रकार दक्ष, नारद आदिकी तत् तत् निमित्तसे अनेक शरीरोंकी उत्पत्ति स्मृतिमें कही जाती है । और श्रुति (वेद) में भी मन्त्र और अर्थवादमें प्रायः ऐसा उप-

सत्यानन्दी दीपिका

* 'मेधातिथेर्मेष' इस मन्त्रमें इन्द्रका मेषरूपसे जन्म उपलब्ध होता है । 'वसिष्ठ उर्वशी पुत्रो जातः' (वसिष्ठ उर्वशीका पुत्र उत्पन्न हुआ) यह सामवेदका अर्थवाद है । इसप्रकार मोक्ष ज्ञानका फल न होनेसे ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप फल सगुण विद्या फलके समान होनेके कारण अर्चिरादि मार्गका उपसंहार पूर्वपक्षमें फल है, सिद्धान्तमें उपयुक्त व्यवस्थाकी सिद्धि फल है ।

वपि मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते। ते च केचित्पतिते पूर्वदेहे देहान्तरमाददते, तु स्थित एव तस्मिन्योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन। सर्वे चैते समधिगतसकलर्थाः स्मर्यन्ते। तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्प्राप्तं—ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमत्वं वेति। अत उत्तरमुच्यते:—न, तेषामपान्तरतमः प्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात्स्थितेः। यथाऽसौ भगवान्सविता सहस्रपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसान उदयास्तमयवर्जितं कैवल्यमनुभवति—'अथ ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३।११।१) इति श्रुतेः, यथा च माना ब्रह्मविद आरब्धभोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ त्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति श्रुतेः, एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवन्ते, तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम्। सकृत्प्रवृत्तमेव हि ते फलदानाय कर्माशयमवाहयन्तः स्वातन्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायारिमुषितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय देहान्युगपत्क्रमेण वाऽधितिष्ठन्ति। न ते जातिस्मरा इत्युच्यन्ते, 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः। यथा हि सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुकामाऽव्युदस्य स्वं देहं, जानकं देहमाविश्य, व्युद्य तेन, पश्चात्स्वमेव देहमाविवेशेति स्मर्यते। यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भ-

न होता है। कई एक तो वे पूर्वदेहके पात होनेपर अन्य देह ग्रहण करते हैं, और कई एक तो देहके विद्यमान होते ही योग ऐश्वर्य बलसे अनेक अन्य शरीर धारण-न्यायसे अन्य शरीरका करते हैं। और वे सब समधिगत सकल वेद अर्थवाले सम्यक् ज्ञाता स्मरण किए जाते हैं। लिए इनकी देहान्तरोत्पत्तिके दर्शन होनेसे ब्रह्मविद्या मोक्षकी पाक्षिक हेतु है अथवा अहेतु है, प्राप्त होता है। सिद्धान्ती—इससे उत्तर कहा जाता है—नहीं, लोक स्थितिके हेतुभूत वेद प्रवर्तन दि अधिकारोंमें नियुक्त इन अपान्तरतमा आदिकी अवस्थिति अधिकारके अधीन है। जैसे यह वान् सूर्य सहस्र युग पर्यन्त जगत्का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होनेपर उदय और अस्तसे त कैवल्यका अनुभव करते हैं, क्योंकि 'अथ तत ऊर्ध्वं० (प्राणियोंके न होनेपर प्रारब्ध कर्म होनेपर केवल ब्रह्मस्वरूप हो न उदित ही होगा और न अस्त ही होगा केवल मध्यमें अपनेमें स्थित रहेगा) ऐसी श्रुति है। और जैसे वर्तमान ब्रह्मवेत्ता प्रारब्ध कर्मोंके भोगके क्षय होनेपर ल्यका अनुभव करते हैं, क्योंकि 'तस्य तावदेव० (उसके मोक्षमें उतना ही विलम्ब है जब तक वह देह बन्धन-लिङ्ग शरीरसे मुक्त नहीं होता, उसके पश्चात् वह सत्सम्पन्न-ब्रह्म-को प्राप्त हो ता है) यह श्रुति है। वैसे ही ईश्वर द्वारा तत् तत् अधिकारोंमें नियुक्त होते हुए अपान्तरतमा दि ईश्वर कैवल्यके हेतुभूत तत्त्वज्ञानके होनेपर भी कर्मोंके क्षीण न होनेतक अधिकारमें रहते हैं र कर्मोंके क्षीण होनेपर मुक्त हो जाते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अधिकारका फल नेके लिए एक वार प्रवृत्त हुए कर्माशयको समाप्त करते हुए एक घरसे दूसरे घरके समान स्वतन्त्रतासे ही अन्य अन्य देहमें संचार करते हुए अपने अधिकारको सम्पन्न करनेके लिए पूर्व स्मृतिका हुए विना ही देह, इन्द्रियोंकी प्रकृति (स्वभाव) को अपने अधीन कर युगपत् अथवा क्रमसे नेक देहोंका निर्माणकर उसमें अधिष्ठित होते हैं। वे जातिस्मर नहीं कहे जाते, क्योंकि 'त एवैते० (ये वे ही हैं) ऐसा स्मृतिमें प्रसिद्ध है। जैसे 'सुलभा नामकी ब्रह्मवादिनी जनकके साथ विवादकी कामनासे अपने देहका त्यागकर जनकके शरीरमें प्रवेशकर उसके साथ विवादकर पश्चात् अपने ही शरीरमें प्रवेश किया' ऐसी स्मृति है। यदि एक वार प्रवृत्त हुए उपयुक्त कर्ममें दूसरे देहकी उत्पत्तिके

वेत्ततोऽन्यदप्यदग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वा शङ्क्येत, नत्वियमाशङ्का युक्ता, ज्ञानात्कर्मबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्। * तथा हि श्रुतिः—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८) इति। 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि—'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७) इति, 'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः' इति चैवमाद्या। न चाविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते, नह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते। प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः, 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिक्षेपकरणात्। तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः। नच ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता। तथा च श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १।४।१०) इति। ज्ञानान्तरेषु चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः। ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाः कैवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते, 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। प

कारण भूत अन्य कर्मका आविर्भाव हो तो अन्य भी जिसका बीज दग्ध नहीं हुआ है ऐसा कर्मान्तर उसीप्रकार प्रसक्त होगा। इससे ब्रह्मविद्या-पाक्षिक मोक्षका हेतु है अथवा अहेतु है, ऐसी आशङ्का होगी। परन्तु यह आशङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे कर्म बीजका दाह श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है। जैसे 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः० (कारण-कार्यरूप उस परब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर इस जीवकी हृदय ग्रंथि, जड़-चेतन और उनके धर्मोंके तादात्म्याध्यासरूप गांठ टूट जाती है, आत्मविषयक सब संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं) और 'स्मृतिलम्भे० (तथा स्मृति-'मैं ब्रह्म हूँ' की प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रंथियोंकी निवृत्ति हो जाती है) इत्यादि श्रुति है। और 'यथैधांसि० (हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनको भस्ममयकर देता है, वैसे ही ज्ञान सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म-मय-निर्बीज कर देता है) और 'बीजान्यग्न्युपदग्धानि० (जैसे अग्निसे भूने गए बीज फिर नहीं उगते, वैसे ही ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए क्लेशोंसे पुनः शरीर उत्पन्न नहीं होता) इत्यादि स्मृति भी है। उसीप्रकार अविद्या आदि क्लेशोंके दाह होनेपर क्लेशके बीज कर्माशयके एक देशका दाह हो और एक देशका प्ररोह हो, यह उपपन्न नहीं होता अग्निसे दग्ध शाली बीजके एक देशका प्ररोह नहीं देखा जाता। जैसे छोड़े हुए बाणकी निवृत्ति वेग क्षय होनेसे होती है, वैसे प्रवृत्त फल वाले कर्माशयकी निवृत्ति भी वेग क्षय (भोग क्षय) होनेपर होती है। क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरम्० (उसे तभी तक विलम्ब है) इसप्रकार शरीर पात पर्यन्त विलम्ब होता है, इसलिए अधिकार पर्यन्त आधिकारियोंकी अवस्थिति उपपन्न है। ज्ञानके फलमें व्यभिचार नहीं है, क्योंकि 'तद्यो यो० (उसे देवोंमें से जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। इसीप्रकार ऋषियों और मनुष्योंमें से भी जिसने उसे जाना वह तद्रूप-ब्रह्मरूप हो गया) यह श्रुति समानरूपसे सबका ज्ञानसे मोक्ष दिखलाती है। ऐश्वर्य आदि फलको देनेवाली अन्य उपासनाओंमें महर्षि लोग आसक्त हुए, अनन्तर वे ऐश्वर्य क्षय दर्शनसे विरक्त होकर परमात्माके ज्ञानमें पूर्णरूपसे निष्ठावान् होकर कैवल्यको प्राप्त हुए, ऐसा उपपन्न है, क्योंकि 'ब्रह्मणा

सत्यानन्दी दीपिका

* अज्ञानके दो अंश हैं—एक आवरण और दूसरा विक्षेप। आवरण तो ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है, जैसे प्रकाशसे अन्धकार। दूसरा विक्षेप—प्रारब्ध कर्म, वह भोगसे क्षय होता है। इसलिए ज्ञान होनेपर भी प्रारब्ध जन्य शरीर रहता है, अतः ज्ञानके मोक्षरूप फलमें व्यभिचार नहीं है।

कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति स्मरणात् । ❀ प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहानुपपत्तिः । कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादाशङ्का भवेद्वा न वेति । अनुभवा- ढं तु ज्ञानफलम्, 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) इति श्रुतेः, 'तत्त्वमसि' (६।८।७) इति सिद्धवदुपदेशात् । नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत्त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं परिणेतुं क्यं । 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १।४।१०) इति च सम्यग्दर्शन- लमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति । तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः ॥३२॥

(२० अक्षरध्यधिकरणम् । सू० ३३)

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥३३॥

पदच्छेद—अक्षरधियाम्, तु, अवरोधः, सामान्यतद्भावाभ्याम्, औपसदवत्, तत्, उक्तम् ।

सूत्रार्थ—(अक्षरधियाम्) ब्रह्म विषयक विशेष प्रतिषेधक सब बुद्धियोंका सर्वत्र (अवरोधः) संहार होना चाहिए, (सामान्यतद्भावाभ्याम्) क्योंकि द्वैत निरसन द्वारा ब्रह्म प्रतिपादन प्रकार समान है और वही प्रतिपाद्य ब्रह्म सर्वत्र एकरूपसे प्रत्यभिज्ञात होता है । (औपसदवत्) जैसे इष्टि मन्त्र सर्वत्र समान हैं, (तदुक्तम्) यह जैमिनीय सूत्रमें कहा गया है ।

❀ वाजसनेयके श्रूयते—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदी- लोहितमस्नेहम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादि । तथाऽऽथर्वणे श्रूयते—'अथ परा यया तदक्षरमाधि-

---

ते० (महाप्रलय प्राप्त होनेपर और पर-हिरण्यगर्भका अन्त होनेपर विमल अन्तःकरण वाले ब्रह्माके साथ ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं) ऐसी स्मृति है । प्रत्यक्ष फलवाला होनेसे ज्ञानमें अभावकी आशंका नहीं हो सकती । परन्तु अनुभवमें न आनेवाला कर्म-फल स्वर्ग आदिमें 'होगा नहीं' ऐसी आशंका हो सकती है । ज्ञानका फल तो अनुभवमें आरूढ है अर्थात् सिद्ध है, क्योंकि क्षाद्परोक्षाद्ब्रह्म' (जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है) ऐसी श्रुति है, और 'तत्त्वमसि' इसप्रकार वत् उपदेश है । 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका अर्थ 'वह तू मृत होगा' इसप्रकार परिणित नहीं किया सकता । 'तद्धैतत्' (उसे आत्मरूपसे अनुभव करते हुए ऋषि वामदेवने जाना—मैं मनु हुआ र सूर्य भी) यह श्रुति तत्त्वज्ञान कालमें ही उसका फल सर्वात्मत्व दिखलाती है । इसलिए विद्वान्की ल्य सिद्धि अव्यभिचरित है ॥ ३२ ॥

वाजसनेयकमें 'एतद्वैतदक्षरम्० (याज्ञवल्क्य-हे गार्गी ! जो तुमने मुझसे पूछा कि आकाश में ओत-प्रोत है, वह यह है, ब्रह्मवेत्ता तो उस तत्त्वको अक्षर कहते हैं, वह अस्थूल, अनणु, स्व, अदीर्घ, अलोहित और अस्नेह है) इत्यादि श्रुति कहती है । उसी प्रकार आथर्वणमें 'अथ परा०

सत्यानन्दी दीपिका

* 'तत्त्वमसि' (तस्य, त्वम्, असि-भविष्यसि' तू उपासना करके मरणानन्तर उस ब्रह्मका ा) इस श्रुति वाक्यका यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वर्तमानकालके उपदेशमें भविष्यत्का जीवित दशामें मरणका अध्याहार अयुक्त है और कल्पना गौरव भी है । इसलिए 'तत्त्वमसि' हंब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्योंसे आत्मज्ञानकी उत्पत्ति कालमें ही विद्वान्को सर्वात्मभाव फल होता है । अतः निर्गुणविद्यामें सगुण विद्याके समान अर्चिरादि मार्गका उपसंहार नहीं है ॥३२॥

* इस अधिकरणमें अक्षर ब्रह्मकी प्रमिति करानेवाले निषेध शब्द विषय हैं, उन श्रुतियोंमें हाँ पर जितने निषेधोंका श्रवण है वे सम्पूर्ण द्वैतका निषेध कर सकते हैं कि नहीं ? इस प्रकार संभव और असंभव होनेके कारण 'तासाम्' इत्यादिसे संशय कहते हैं । पूर्वपक्षमें लाघव फल है अर्थात् न निषेध शब्दोंकी तत्-तत् शाखामें व्यवस्था है, सिद्धान्तमें दोनों दोषोंका अभाव फल है, क्योंकि श्रुत निषेध शब्दोंसे अश्रुत निषेध शब्द भी लक्ष्य हों, तो लक्षणा प्रसक्त होगी, यदि ये लक्ष्य न हों

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Saraswati Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु० १।१।५) इत्यादि, तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरण-द्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते। तत्र च कचित्कैचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते। तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये, श्रुतिविभागाद्व्यव-स्थाप्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः, सामान्य-तद्भावाभ्याम्—समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः। तदेव च सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते। तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः। तथा च 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यत्र व्याख्यातम्। तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः। प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः। * औप-सदवदिति निदर्शनम्। यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदान-मन्त्राणाम् 'अग्नेर्वेहोंत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसंबन्धो भवति, अध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य, प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम्। एवमिहाप्यक्षरतन्त्र

(तथा जिससे वह अक्षर परमात्मा अधिगत होता है, वह परा विद्या है। वह जो अद्रेश्य—सब ज्ञाने-इन्द्रियोंका अविषय, अग्राह्य-कर्मेन्द्रियोंका अविषय, अगोत्र-अनन्वय और अवर्ण है) इत्यादि श्रुति कहती है। इसी प्रकार अन्य शाखामें भी विशेष निराकरण द्वारा अक्षर पर ब्रह्मका श्रवण कराया जाता है। उनमें कहींपर कुछ अतिरिक्त-अधिक विशेषोंका प्रतिषेध होता है। क्या उन विशेष प्रतिषेधक बुद्धियोंकी सर्वत्र प्राप्ति है अथवा व्यवस्था है, ऐसा संशय होनेपर श्रुतियोंके विभागसे निषेध बुद्धियोंकी तत् तत् शाखामें व्यवस्था है। ऐसा प्राप्त होनेपर कहा जाता है--अक्षर विषयक सब विशेष प्रतिषेधक बुद्धियोंका सर्वत्र उपसंहार होना चाहिए, क्योंकि सामान्य और तद्भाव है। विशेष निराकरणात्मक ब्रह्मका प्रति-पादन प्रकार सर्वत्र समान है। और वही प्रतिपाद्य ब्रह्म सर्वत्र अभिन्नरूपसे प्रत्यभिज्ञात होता है, वहाँ एक शाखामें की गई बुद्धियाँ अन्य शाखामें क्यों नहीं होनी चाहिएँ। उसी प्रकार 'आनन्दादयः प्रधानस्य' इस सूत्रमें व्याख्यान किया गया है। उसमें विधि रूप विशेषणोंका विचार किया गया और यहाँ निषेधरूप विशेषणोंका विचार किया जाता है। इतना इन दोनों अधिकरणोंमें विशेष (भेद) है। और यह पुनः किये जानेवाला विचार विशेष उसीके विस्तारके लिए है। औपसदके समान। यह दृष्टान्त है। जैसे जमदग्नि द्वारा किए गए अहीन (चार दिनमें अनुष्ठित अहीन नामक सोमयाग) में पुरोडाश युक्त उपसद इष्टियोंका विधान होनेपर 'अग्नेर्वेहोंत्रं वेरध्वरम्' (हे अग्ने देवताओंका होत्र और अध्वर कर्म तुमसे ही सम्पन्न होते हैं) इत्यादि उद्गाताके वेदमें उत्पन्न हुए पुरोडाश प्रदान मन्त्रोंका भी अध्वर्युके साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि पुरोडाश प्रदान अध्वर्यु कर्तृक होता है और अङ्ग प्रधानके अधीन होते हैं। वैसे ही यहाँ भी अक्षरके अधीन होनेसे जहाँ कहींपर भी उत्पन्न हुए उनके विशेषणोंका सर्वत्र अक्षरके साथ सम्बन्ध है, ऐसा अर्थ है। वह प्रथम काण्डमें 'गुणमुख्य

सत्यानन्दी दीपिका

तो सम्पूर्ण द्वैतका निषेध असिद्ध होनेसे निर्विशेष ब्रह्म ज्ञानका अभाव दोष होगा, अतः एक शाखागत निषेध वाक्योंका अन्य शाखागत निषेध वाक्योंके साथ एक वाक्यता होनेसे उपसंहार युक्त है।

* जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजत' (पुष्टिकी कामनावाले जमदग्निने चार दिनमें अनुष्ठित अहीन नामक सोम याग किया) जमदग्निकृत होनेसे इस यज्ञका नाम भी जामदग्न्यहीन पड़ा है। उसमें 'पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्ति' इससे पुरोडाश साध्य उपसद इष्टियोंका तैत्तिरीयमें विधान है, इन इष्टियोंका कर्ता अध्वर्यु है, अतः 'अग्नेर्वेहोंत्रं वेरध्वरम्' इत्यादि सामवेदमें उत्पन्न हुए मन्त्रोंका इन उपसद् इष्टियोंमें विनियोग होनेसे अध्वर्युसे ही उनका प्रयोग होना चाहिए, उद्गातासे नहीं। मन्त्रोंका सामवेदमें उत्पन्न होनेसे उद्गातासे प्रयोग हो और विनियोग विधिसे अध्वर्युसे प्रयोग हो,

द्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसंबन्ध इत्यर्थः। तदुक्तं प्रथमे डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' (जै० सू० ३।३।८) इत्यत्र ॥३३॥

(२१ इयदधिकरणम् । सू० ३४)

इयदामननात् ॥३४॥

सूत्रार्थ—विद्या एक ही है, क्योंकि 'द्वा सुपर्णा' और 'ऋतं पिबन्तौ' इन दोनों मन्त्रोंमें भी ते परिच्छिन्न वेद्य एक ही है ।

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नभिचाकशीति' (मु० ३।१।१) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च ति । तथा कठाः 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो न्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (क० ३।१) इति । किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्व-संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? विद्यानानात्वमिति । कुतः ? विशेषदर्शनात् । द्वा सुपर्णे-कस्य भोक्तृत्वं दृश्यते एकस्य चाभोक्तृत्वं दृश्यते । 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्रोभयोरपि क्तृत्वमेव दृश्यते तद्वेद्यरूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादित्येवं प्राप्ते ब्रवीति—विद्यैकत्वमिति ।

क्रमे० (गुण और मुख्यका विरोध होनेपर मन्त्रात्मक वेदका मुख्य-बलवत्तर अध्वर्युके साथ ग है, क्योंकि उत्पत्ति विधि विनियोगके लिए होती है) यहाँपर कहा गया है ॥ ३३ ॥

'द्वा सुपर्णा० (सुन्दर पंखवाले नियम्यनियामक भाववाले सर्वदा साथ ही रहनेवाले, सखा-आख्यानवाले दो पक्षी शरीर नामक समान-एक वृक्षका आश्रयकर रहते हैं उनमेंसे एक तो स्वादिष्ट कर्मफलका भोग करता है और दूसरा भोग न कर केवल साक्षीरूपसे देखता रहता है) कार अध्यात्मप्रकरणमें आथर्वणिक और श्वेताश्वेतर मंत्र पढ़ते हैं । और 'ऋतं पिबन्तौ० वेत्ता कहते हैं कि शरीरमें बुद्धिरूप गुहाके भीतर प्रकृष्ट ब्रह्म स्थानमें प्रविष्ट हुए अपने कर्म-को भोगनेवाले छाया और आतपके समान परस्पर विलक्षण दो [तत्त्व] हैं । यही बात जिन्होंने बार नाचिकेताग्निका चयन किया है वे पञ्चाग्निकी उपासना करनेवाले भी कहते हैं) इसप्रकार शाखावाले कहते हैं । क्या यहां पर विद्या एक है अथवा नाना है, ऐसा संशय होता है, तब प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—विद्या नाना है । किससे ? इससे कि विशेषका दर्शन है । 'द्वा सुपर्णा' एकमें भोक्तृत्व देखा जाता है और दूसरेमें अभोक्तृत्व देखा जाता है । और 'ऋतं पिबन्तौ' दोनोंमें भी भोक्तृत्व ही देखा जाता है । इसलिए वेद्यका रूप भिन्न होता हुआ विद्याको भिन्न । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—विद्या एक है, किससे ? इससे कि दोनों इन

सत्यानन्दी दीपिका

कार गुण और मुख्यका विरोध होनेपर मुख्य-बलवत्तर अध्वर्युके साथ मंत्रात्मक वेदका संप्रयोग क्योंकि उत्पत्ति विधि विनियोगके लिए होती है, यह सूत्रका अर्थ है । सामवेदीय मन्त्र उत्पत्ति हैं और उनका विनियोग यजुर्वेदमें है, अतः उत्पद्यमान विनियुज्यमानके लिए होता है, इससे अध्वर्युसे ही संप्रयोग होना युक्त है । अधिक शाबर भाष्यमें देखना चाहिए ॥ ३३ ॥

* इन दोनों मंत्रोंमें प्रतिपादनका प्रकार भिन्न है और ज्ञेय एक भान होता है, अतः 'किम्' आदिसे संशय कहते हैं । 'ऋतं पिबन्तौ' इस ऋतपान वाक्यमें 'अक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (कठ० १।३।२) जो परम अक्षर ब्रह्म है) इन गुणोंका श्रवण है । और 'द्वा सुपर्णा' इस सुपर्ण वाक्यमें अनुप-आदि धर्म हैं । पूर्वपक्षमें इन धर्मोंका परस्पर अनुपसंहार फल है, सिद्धांतमें धर्मोंका उपसंहार नेपर ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादक वाक्योंका एक अर्थ होनेसे उपसंहार है ॥ ३४ ॥

कुतः ? यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरियत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति। ननु दर्शितो रूपभेदः—नेत्युच्यते, उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतः, नार्थान्तरम्। 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते। वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते। 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' (श्वे० ४।७) इति। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु जीवे पिबत्यशनायाद्यतीतः परमात्मापि साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते, परमात्मप्रकरणं ह्येतत्—'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्युपक्रमात्। तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति—'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क० ३।२) इति। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १।२।११) इत्यत्र चैतत्प्रपञ्चितम्। तस्मान्नास्ति वेद्यभेदस्तस्माच्च विद्यैकत्वम्। अपि च त्रिष्वप्येतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवावगम्यते। तादात्म्यविवक्षयैव जीवोपादानं नार्थान्तरविवक्षया। नच परमात्मविद्यायां भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम्। तस्मात्प्रपञ्चार्थ एवैष योगः। तस्माच्चाधिकधर्मोपसंहार इति ॥३४॥

(२२ अन्तराधिकरणम् । सू० ३५-३६)

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥३५॥

पदच्छेद—अन्तरा, भूतग्रामवत्, स्वात्मनः।

सूत्रार्थ—'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'य आत्मा सर्वान्तरः' इन दोनों श्रुतियोंमें भी (स्वात्मनः) स्वात्माके (अन्तरा) सर्वान्तरत्वका कथन है। इससे विद्या एक ही है। (भूतग्रामवत्) जैसे भूत-समुदायमें एक ही सर्वान्तर आत्मा प्रतिपादित है।

❀ 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१-३।५।१) इत्येवं द्विरुषस्त-कहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्ति। तत्र संशयः—विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्या-

---

मन्त्रोंमें भी इयत्तासे परिच्छिन्न, द्वित्व युक्त वेद्यरूप अभिन्न ही कहते हैं। परन्तु रूपका भेद दिखलाया गया है ? नहीं, ऐसा कहते हैं—ये दोनों मंत्र भी जीव और द्वितीय ईश्वरका प्रतिपादन करते हैं, भिन्न अर्थका नहीं। 'द्वा सुपर्णा' इस मंत्रमें तो 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' बुभुक्षा आदिसे अतीत परमात्माका प्रतिपादन होता है, और 'जुष्टं यदा०' (जब अनेक योगमार्गोंसे सेवित और देह आदिसे भिन्न परमात्मा और उसकी महिमाको देखता है उस समय शोक रहित हो जाता है) इस वाक्यशेषमें भी वही परमात्मा प्रतिपाद्यमान देखा जाता है। 'ऋतं पिबन्तौ' इस मंत्रमें तो जीवके पान करनेपर भूख आदिसे अतीत परमात्मा भी साहचर्यसे छत्रिन्यायसे पान करता है, ऐसा उपचार होता है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्माद०' (शास्त्रीय धर्मानुष्ठान तथा उसके फल, कर्ता, करण आदिसे पृथक् है, अधर्मसे पृथक् है) इस उपक्रमसे यह परमात्माका प्रकरण है। आथर्वणिक आदि वाक्यके समान यहां भी 'यः सेतुरीजानानामक्षरम्' (जो यजन करनेवालोंके लिए सेतुके समान है, जो अक्षर परब्रह्म है) यह वाक्यशेष परमात्मविषयक ही है। 'गुहा प्रविष्टावात्मानौ हि' इस सूत्रमें इस विषयका विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। इसीसे वेद्यका भेद नहीं है और इससे विद्या एक है। किञ्च पूर्वापरका विचार करनेपर इन तीनों (आथर्वणिक, श्वेताश्वेतर और काठक) वेदान्तोंमें परमात्म-विद्या ही अवगत होती है और जीवका ग्रहण तो तादात्म्यविवक्षासे है अन्य अर्थकी विवक्षासे नहीं है। इससे परमात्मविद्यामें भेद अथवा अभेदके विचार करनेका अवतरण नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है। इसलिए यह सूत्र विस्तारके लिए ही है और इससे अधिक धर्मोंका उपसंहार है ॥ ३४ ॥

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है) 'य आत्मा सर्वान्तरः' (जो आत्मा

त्वं वेति ? विद्यानानात्वमिति तावत्प्राप्तम्, अभ्याससामर्थ्यात्। अन्यथा ह्यन्यूनानकार्थे द्विराम्नानमनर्थकमेव स्यात्। तस्माद्यथाऽभ्यासात्कर्मभेद एवमभ्यासाद्विद्याभेद वं प्राप्ते प्रत्याह—अन्तराम्नानाविशेषात्स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति। सर्वान्तरो हि स्वात्मोप्यविशिष्टः पृच्छ्यते च प्रत्युच्यते च। नहि द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरौ वतः। तदा ह्येकस्याञ्जसं सर्वान्तरत्वमवकल्प्येत। एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्वं त्। यथा च पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्याकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वान्तरत्वं भवति, तथेहापीत्यर्थः। अथवा—भूतग्रामवदिति न्तरं निदर्शयति। यथा—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ११) इत्यस्मिन्मन्त्रे समस्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माम्नायते, एवमनयोरपि णयोरित्यर्थः। तस्माद्वेद्यैक्याद्विद्यैकत्वमिति ॥३५॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥३६॥

पदच्छेद अन्यथा, भेदानुपपत्तिः, इति, चेत्, न, उपदेशान्तरवत्।

सूत्रार्थ—(अन्यथा) यदि विद्याका भेद न माना जाय, तो (भेदानुपपत्तिः) श्रुतिभेद अनुप होता है, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, क्योंकि (उपदेशान्तरवत्) जैसे दोग्यमें 'तत्त्वमसि' इसका नौ वार अभ्यास होनेपर भी विद्याभेद और अनुपपत्ति नहीं है, वैसे मेंं भी समझना चाहिए।

न्तर है) इसप्रकार उषस्त और कहोलके दो वार प्रश्नोंमें नैरन्तर्यसे वाजसनेयी कहते हैं। यहां य होता है कि विद्या एक है अथवा विद्या नाना है? पूर्वपक्षी—विद्या अनेक हैं, ऐसा प्राप्त है, क्योंकि अभ्यासकी सामर्थ्य है। अन्यथा न्यूनता और अधिकतासे रहित अर्थमें दो वार कथन र्थक होगा। इससे जैसे 'यजति' पदके अभ्याससे कर्मका भेद है, वैसे ही अभ्याससे विद्याका भेद । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं-स्वात्मामें सर्वान्तरत्व दोनों श्रुतियोंमें नरूपसे कहा गया है, अतः विद्या एक है, क्योंकि सबके अभ्यन्तर स्वात्माके विषयमें दोनों स्थलों मेंं समानरूपसे प्रश्न और प्रतिवचन है। एक देहमें दो आत्माओंका सर्वान्तरत्व संभव नहीं है, दि एकका कहो तो सर्वान्तरत्व मुख्यरूपसे हो सकता है और दूसरेका भूतग्रामके समान सर्वान्तरत्व नहीं होगा। जैसे पाँच भूतोके समूहदेहमें पृथिवीसे जल अभ्यन्तर है और जलसे तेज अन्तर इसप्रकार आपेक्षिक आन्तरत्व होनेपर भी उनमें मुख्य सर्वान्तरत्व नहीं है, वैसे यहाँ भी समझना हिए, ऐसा अर्थ है। अथवा भूतग्रामवत् अन्य श्रुतिका दृष्टान्त कहते हैं—जैसे 'एको देवः० (सम्पूर्ण णियोंमें स्थित एक देव है, वह सर्वव्यापक और समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है) इस मन्त्रमें समस्त समुदायमें एक ही सर्वान्तर कहा जाता है, वैसे इन दोनों ब्राह्मणोंमें भी एक ही आत्माका न्तरत्व है, ऐसा अर्थ है। इसलिए वेद्यके एक होनेसे विद्या भी एक है ॥ ३५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व ॥ (बृ० ३।४।१) इसप्रकार स्त चाक्रायणने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया उसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने प्राण आदिके प्रेरक सबके रो आत्माका प्रतिपादन किया, और 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।५।१) इसतरह कहोलके नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने भूख आदिसे अतीत ब्रह्मका प्रतिपादन किया है। इसप्रकार इन दोनों ह्मणोंमें प्रश्न आदिके अभ्याससे और सर्वान्तरके प्रत्यभिज्ञानसे एक विद्या है अथवा अनेक? इस कार संशय होनेपर पूर्वपक्षमें अनेक विद्याएँ हैं, क्योंकि 'समिधो यजति' जैसे यहाँ 'यजति' के

अथ यदुक्तम्--अनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्तिरिति, तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः, उपदेशान्तरवदुपपत्तेः । यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे न विद्याभेदो भवत्येवमिहापि भविष्यति । कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न भवति ? उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थतावगमात्, 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।५।४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात्, आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः । एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात् 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२-३।५।१) इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते । 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।५।१) इति द्वितीये प्रश्न एवकारं प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं दर्शयति । पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते, उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते, इत्येकार्थतोपपत्तिः । तस्मादेका विद्येति ॥३६॥

(२३ व्यतिहाराधिकरणम् । सू० ३७)

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥३७॥

पदच्छेद—व्यतिहारः, विशिंषन्ति, हि, इतरवत् ।

सूत्रार्थ (इतरवत्) सर्वात्मत्व आदि गुणोंके समान (व्यतिहारः) यह व्यतिहार भी उपासनाके लिए कहा गया है, (हि) क्योंकि श्रुतिको कहनेवाले 'त्वं वा अहमस्मि' इस प्रकार उभयथा निर्देशकर (विशिंषन्ति) उन्हें विशिष्ट करते हैं ।

❀ तथा —'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्य, ऐतरेयिणः समा-

जो यह कहा गया है कि विद्याभेद स्वीकार न करनेपर मन्त्रोंके भेदकी अनुपपत्ति होती है, उसका परिहार करना चाहिए । इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि अन्य उपदेशके समान उपपत्ति होती है । जैसे ताण्डियोंके उपनिषद्के छठे अध्यायमें 'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा है, श्वेतकेतु ! वह तू है) इसप्रकार पिता उद्दालक द्वारा नौ वार उपदेश किये जानेपर भी विद्याका भेद नहीं है, वैसे यहाँ भी होगा । परन्तु नौ वार उपदेश किये जानेपर भी विद्याका भेद क्यों नहीं होता ? इससे नहीं होता कि उपक्रम और उपसंहारसे एक अर्थ अवगत होता है । 'भूय एव०' (हे भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये) इसप्रकार एक ही अर्थका पुनः-पुनः प्रतिपादनकी इच्छाके विषय होनेसे और अन्य आशङ्काके निवारणसे वार-वार उपदेश उपपन्न होता है, अतः विद्याका भेद नहीं होता । वैसे ही यहाँ भी प्रश्नरूपके अभेद होनेसे विद्याका भेद नहीं है । 'अतोऽन्यदार्तम्' (उस आत्मासे भिन्न विनाशी है) इसप्रकार परिसमाप्तिके भी एकरूप होनेसे उपक्रम और उपसंहार एकार्थविषयक देखनेमें आते हैं । 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' इसप्रकार द्वितीय प्रश्नमें भी 'एव' का प्रयोग करनेवाले ऋषि पूर्वप्रश्नगत अर्थका उत्तर प्रश्नमें अनुकर्षणकर दिखलाते हैं । पूर्व ब्राह्मणमें कार्य-करणसे भिन्न आत्माका अस्तित्व कहा जाता है और उत्तर ब्राह्मणमें उसको ही भूख आदि संसार धर्मोंसे अतीत कहा जाता है, उसप्रकार एकार्थता उपपन्न होती है, इससे एक विद्या है ॥ ३६ ॥

जैसे 'तद्योऽहं० (जो मैं हूँ वही आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है और जो वह है वह मैं हूँ) इस

सत्यानन्दी दीपिका

अभ्याससे कर्मका भेद है, वैसे आत्माके अभ्याससे यहाँ विद्यामें भेद है । इसलिए इनके परस्पर धर्मोंका अनुपसंहार है, सिद्धान्तमें इनके धर्मोंका परस्पर उपसंहार है । सिद्धान्ती—एक विद्या है, क्योंकि दोनों ब्राह्मणोंमें प्रश्न और प्रतिवचन एक आत्मविषयक है । इसलिए वेद्य एक होनेसे विद्या भी एक है ।३५

ति, तथा जाबालाः—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति । तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्योतैकरूपैवेति ? एकरूपैवेति तावदाह । न ह्यत्रात्मन ईश्वरेणैकत्वं मुक्त्वाऽन्यत्किंचिच्चिन्तयितव्यमस्ति । यदि चैवं चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत, संसारिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति । तत्र संसारिणस्तावदीश्वरात्मत्व उत्कर्षो भवेत्, ईश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात्, तस्मादैकरूप्यमेव मतेः । व्यतिहाराम्नायस्त्वेकत्वदृढीकारार्थ इति । * एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते, इतरवत् । यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाम्नायन्ते, तद्वत् । तथा हि विशिंषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति । तच्चोभयरूपायां मतौ कल्प्यायामर्थवद्भवति । अन्यथा हीदं विशेषेणोभयाम्नानमनर्थकं स्यात्, एकेनैव कृतत्वात् । ननूभयाम्नानस्यार्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम्—नैष दोषः, ऐकात्म्यस्यैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात् । नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत । न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः, किं तर्हि ? व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या,

र आदित्य पुरुषको प्रस्तुतकर ऐतरेय शाखावाले कहते हैं, और 'त्वं वा० (हे देवता ! तू ही हूँ और मैं ही तू है) इस प्रकार जाबाल कहते हैं । यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ व्यतिहार (विशेषणविशेष्य भाव) से उभयरूप मति करनी चाहिए अथवा एक रूप ही ? पूर्वपक्षी कहता है कि एक रूप ही मति करनी चाहिए, क्योंकि इस व्यतिहारमें आत्माका ईश्वरके साथ एकत्वके विना अन्य कुछ भी चिन्तनीय नहीं है । यदि जीवकी ईश्वररूपता और ईश्वरमें जीवरूपता इस प्रकार चिन्तन योग्य विशेषकी कल्पनाकी जाय तो संसारी जीवको ईश्वरात्मत्व होनेपर उसका उत्कर्ष होगा और ईश्वरको जीवात्मत्व स्वीकार करनेपर उसका अपकर्ष होगा, इसलिए मति एकरूप ही है। 'त्वं वा' इस व्यतिहार श्रुति तो एकत्वको दृढ़ करनेके लिए है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं—यह व्यतिहार उपासनाके लिए कहा जाता है । अन्यके समान । जैसे सर्वात्मत्व आदि अन्य गुण उपासनाके लिए कहे गए हैं, वैसे यह व्यतिहार भी कहा गया है । क्योंकि श्रुति कहनेवाले 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इसी प्रकार दोनोंके उच्चारणसे उन्हें इस तरह विशिष्ट करते हैं । और वह-उभयोच्चारण उभयरूपसे मति करनेपर सार्थक होता है, नहीं तो इस विशेषसे उभय श्रुति अनर्थक होगी, क्योंकि एकके उच्चारणसे ही एक रूप मति सिद्ध होगी । परन्तु यह कहा गया है कि उभय श्रुतिमें अर्थ विशेषकी कल्पनाकी जानेपर देवतामें संसारी जीवात्मत्व आजानेसे अपकर्षत्व प्रसक्त होगा । यह दोष नहीं है, क्योंकि एक स्वरूपताका ही इस प्रकारसे अनुचिन्तन है । परन्तु ऐसा होनेपर वही एकत्वका

सत्यानन्दी दीपिका

* जीव और ईश्वर दोनोंके परस्पर विशेषण-विशेष्य भावको व्यतिहार कहा जाता है । यह व्यतिहार श्रुति प्रतिपादित होनेसे और 'निकृष्टमें की गई उत्कृष्ट दृष्टि फलवाली होती है' इस न्यायसे संशय होनेपर उक्त न्यायसे जीवमें ईश्वर बुद्धि करनी चाहिए। पूर्वपक्षमें लाघव फल है, सिद्धान्तमें उभय श्रुति सार्थक है ।

सिद्धान्ती—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि" इन दोनोंका अनुवादकर इतरेतर भावका विधान होता है, अतः दोनोंमें दो प्रकारके चिंतनका विधान किया जाता है । यदि एक बुद्धिका विधान होता तो 'तत्त्वमसि' के समान 'योऽसौ सोऽहम्' (जो वह है वह मैं हूँ) 'त्वमहमस्मि' इस प्रकार एक उच्चारण ही पर्याप्त था, तो फिर 'तद्योऽहं सोऽसौ' (जो मैं हूँ सो वह है) 'अहंत्वमसि' (मैं तू है) यह उच्चारण व्यर्थ होगा, अतः दोनों उच्चारणोंकी सार्थकताके लिए दो मति करनी चाहिए। संदिग्ध अर्थमें तो उक्त न्याय चरितार्थ हो सकता है, परन्तु यहाँ तो श्रुति प्रमाण है, अतः

वचनप्रामाण्यात्, नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः। फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति। यथाऽऽध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्ध्यति, तद्वत्। तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषय उपसंहर्तव्यो भवतीति ॥३७॥

(२४ सत्याद्यधिकरणम्। सू० ३८)

सैव हि सत्यादयः ॥३८॥

पदच्छेद—सा, एव, हि, सत्यादयः।

सूत्रार्थ—(सैव) सत्यविद्या एक ही है, (हि) क्योंकि 'तद्यत्तत्सत्यम्' इसमें प्रकृत उपास हिरण्यगर्भका आकर्षण है, अतः विद्याका भेद नहीं है, इसलिए सभी (सत्यादयः) सत्य आदि गुणोंका अन्यत्र भी उपसंहार होना चाहिए।

❀ 'स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।४।१) इत्यादिना वाजसनेयके सत्यविद्यां सनामाक्षरोपासनां विधायानन्तरमाम्नायते—'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य ए एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५।५।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये किं वैकैवेति ? द्वे इति तावत्प्राप्तम्। भेदेन हि फलसंयोगो भवति—'जयतीमाँल्लोकान्' (बृ० ५।४।१) इति पुरस्तात्, 'हन्ति पाप्मानं जहाति च' (बृ० ५।५।३।४) इत्युपरिष्टात्। प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति। ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति। कुतः ?

दृढीकार प्रसक्त होगा। हम एकत्वके दृढीकरणका वारण नहीं करते, किन्तु यहाँ श्रुतिवचन प्रामाण्यसे व्यतिहारसे द्विरूप मति करनी चाहिए एक रूप नहीं, केवल यही हम उपपादन करते हैं। फलतः अर्थतः तो एकत्व भी दृढ होता है। जैसे सत्यकामत्व आदि गुणोंका उपदेश आध्यानके लिए होनेपर भी उन गुणोंवाला ईश्वर प्रसिद्ध होता है, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। इसलिए यह व्यतिहार ध्यान करने योग्य है और समान विषयमें उपसंहार करने योग्य है ॥ ३७ ॥

'स यो हैतं० (जो भी इस महत्, यक्ष-पूज्य प्रथम उत्पन्न हुएको 'यह सत्य ब्रह्म है' ऐसा जानता है वह इन लोकोंको जीत लेता है) इत्यादिसे वाजसनेयकमें नाम अक्षरकी उपासनाके साथ सत्य विद्याका विधानकर अनन्तर 'तद्यत्तत्सत्यमसौ (वह जो सत्य है वह यह आदित्य है। जो इस आदित्य मण्डलमें पुरुष है और जो भी यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है) इत्यादि श्रुति है। उसमें संशय होता है कि क्या ये दो सत्य विद्याएँ है अथवा एक ही है ? पूर्वपक्षी —दो हैं, ऐसा प्राप्त होता है। क्योंकि 'जयतीमाँल्लोकान्' (वह इन लोकोंको जीत लेता है अर्थात् प्राप्त करता है) इस प्रकार पूर्वकी उपासानमें और 'हन्ति पाप्मानं० (जो ऐसा जानता है वह पापका नाश करता है और उसे त्याग देता है) ऐसा अन्तिम उपासनामें फलका संयोग भिन्न रूपसे है। प्रकृतका आकर्षण तो उपास्यके एकत्वसे है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं यह सत्य विद्या एक ही है, किससे ? इससे कि

सत्यानन्दी दीपिका

अन्योन्यात्मकत्वका ध्यान करना चाहिए। ब्रह्ममें मनोमयत्व आदिके समान 'जीवात्मत्वका ध्यानके लिए आरोप होनेपर भी अपकर्षत्व प्रसक्त नहीं होता। जहाँ उभय मति होती है, वहाँ एकत्व अर्थसे सिद्ध होता है। इसलिए अहंग्रहोपासनामें इस व्यतिहारका उपसंहार करना चाहिए ॥ ३७ ॥

* 'सत्यम्' यह नाम 'तत्, यत्, तत्' इन तीन अक्षरोंका है। प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य हैं और मध्य अक्षर अनृत है। वह दोनों ओरसे सत्यके साथ संपुटित होनेसे सत्य प्रायः ही होता है, ऐसी सत्यविद्याके अङ्गरूपसे नाम अक्षरकी उपासना की गई है। जो वह पूर्वमें कहा गया हृदयाख्य है, वह पूर्वोक्त यक्षत्व आदि गुणवाला ब्रह्म है, वह आदित्य मण्डलमें अक्षिमें जो पुरुष है वह है।

त्सत्यम्' (बृ॰ ५।५।२) इति प्रकृताकर्षणात्। ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यै- दुपपद्यत इत्युक्तम्। नैतदेवम्, यत्र तु विस्पष्टात्कारणान्तराद्विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं । अत्र तूभयथा संभवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासंबद्धमेव सत्यमुत्तरत्रा- इत्येकविद्यात्वनिश्चयः। यत्पुनरुक्तं—फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमिति, अत्रोच्यते— पनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः। अपि वादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्य- विन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति। तस्मात्सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशे- पेताम्नातेत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोग उपसंहर्तव्याः। * केचि- स्मिन्सूत्र इदं च वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यम्, छान्दोग्ये च—'अथ य न्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा॰ १।६।६), 'अथ य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा॰ ।५।४) इत्युदाहृत्य सैवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकैवेति कृत्वा सत्यादीन्गुणा- जसनेयिभ्यश्छन्दोगानामुपसंहार्यान्मन्यन्ते। तन्न साधु लक्ष्यते। छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टो-

त्सत्यम्' इस प्रकार प्रकृतका आकर्षण है। परंतु ऐसा कहा गया है कि विद्याका भेद होनेपर भी का आकर्षण उपास्यके एक होनेसे उपपन्न होता है। किन्तु ऐसा नहीं, यहाँ तो विस्पष्ट अन्य कारण रण) से विद्याका भेद प्रतीत होता है, वहाँ प्रकृतका आकर्षण उपास्यके एक होनेसे भले ही हो, परंतु तो विद्याका भेद और अभेद दोनों प्रकारोंसे संभव होनेपर 'तद्यत्तत्सत्यम्' इसप्रकार प्रकृतका आक- होनेसे पूर्व विद्यासे सम्बद्ध सत्यका ही उत्तर विद्यामें आकर्षण होता है, इससे एक विद्याका निश्चय है। और जो यह कहा गया है कि अन्य फलकी श्रुति होनेसे विद्याका भेद है, उसपर कहा जाता —उसके रहस्य नाम 'अहः' और 'अहम्' इसप्रकार अन्य अङ्गके उपदेशमें यह अन्य फलका श्रवण स्तुतिमात्र है, अतः दोष नहीं है। किञ्च अर्थवादसे ही फलकी कल्पना होनेपर विद्याके एकत्व- अवयवों (अङ्गों) में श्रूयमाण बहुत फलोंका भी अवयविनी विद्यामें उपसंहार होना चाहिए। लिए वही एक सत्य विद्या तत्-तत् विशेषणसे युक्त कही जाती है। अतः सत्य आदि सभी गुणों- एक ही प्रयोगमें उपसंहार होना चाहिए। दूसरे कई टीकाकार इस सूत्रमें वाजसनेयियोंका वाक्य अक्षिपुरुष और आदित्य पुरुष विषयक है, और छान्दोग्यमें 'अथ य एषो॰ (तथा यह आदित्य मण्डलके अन्तर्गत सुवर्णमय-सा पुरुष दिखाई देता है) 'अथ एषो॰ (जो यह अक्षिमें दिखाई देता है) इन दोनों वाक्योंका उदाहरण देकर वही यह अक्षि पुरुष और आदित्य विषयक विद्या दोनों स्थलोंमें एक ही है, ऐसा मानकर वाजसनेयियोंके उपसंहार योग्य सत्य

सत्यानन्दी दीपिका

के 'अहः' और 'अहम्' दो रहस्य नाम जाननेसे पाप क्षयरूप फल होता है। यहाँ पूर्व वाक्यमें और र वाक्यमें फल भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार श्रुति प्रमाण होनेसे और पूर्व वाक्यमें जो प्रकृत है का उत्तर वाक्यमें आकर्षण होनेसे 'तत्र' इत्यादिसे संशय कहते हैं। पूर्वपक्षमें गुणोंकी व्यवस्थासे ष्ठान है, सिद्धान्तमें एक अनुष्ठान है।

* सिद्धान्ती—केवल विशेष्य ब्रह्मका आकर्षण ठीक नहीं है, क्योंकि 'तत्, यत्, तत्' इन नामोंसे पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त ब्रह्मका आकर्षण कर आदित्यस्थान और अक्षिस्थान आदि गुणोंका धान है। इसलिए उपास्यके एक होनेसे विद्या एक है।

* इसप्रकार दोनों शाखाओंमें उपक्रमके भेदसे विद्याका भेद है। इसलिए अङ्गभूत विद्यासे विद्या-हिरण्यगर्भ विद्या भिन्न होनेसे सत्य आदि गुणोंका उपसंहार नहीं है, यह एक देशीका शय है। सिद्धान्त तो पूर्वमें कहा गया है ॥ ३८ ॥

मकमसंबन्धिनीयमुद्गीथव्यपाश्रया विद्या विज्ञायते। तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसं-न्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, 'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः' (छा० १।६।८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १।७।९) इत्यु-पसंहारे। नैवं वाजसनेयके किंचित्कर्मसंबन्धि चिह्नमस्ति। तत्र प्रकमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥३८॥

(२५ कामाद्यधिकाराधिकरणम्। सू० ३९)

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३९॥

पदच्छेद—कामादि, इतरत्र, तत्र, च, आयतनादिभ्यः।

सूत्रार्थ—(कामादि) सत्यकामत्व आदि गुण समूहका (इतरत्र) अन्यत्र-बृहदारण्यकमें सर्व वशित्व आदि गुण समूहका भी (तत्र) छान्दोग्यमें उपसंहार होना चाहिए, (आयतनादिभ्यः) क्योंकि उन दोनोंमें आयतन आदि समान है।

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्यादि। तथा वाजसनेयिनः—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४।४।२२) इत्यादि। तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च, किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति। तत्रेदमुच्यते-कामादीति, सत्यकामादीत्यर्थः। यथा देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति। यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते, तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र संबध्यते, यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र छान्दोग्ये 'एष

आदि गुणोंका छन्दोगोंको उपसंहार करना चाहिए, ऐसा मानते हैं। परन्तु यह ठीक ज्ञात नहीं होता, क्योंकि छान्दोग्यमें ज्योतिष्टोम कर्म सम्बन्धी यह उद्गीथाश्रित विद्या ज्ञात होती है, कारण कि उसमें आदि, मध्य और अन्तमें कर्म सम्बन्धी चिह्न हैं—'इयमेवर्गग्निः सामः' (यह पृथिवी ऋक् और अग्नि साम है) यह उपक्रममें, 'तस्यर्क्च० (ऋक् और साम उसके पर्व हैं, इसीसे वह देव उद्गीथरूप है) यह मध्यमें और 'य एवं विद्वान्० (जो इसप्रकार जाननेवाला होकर साम गान करता है) इसप्रकार उपसंहारमें है। किन्तु इसप्रकार वाजसनेयकमें कोई कर्म सम्बन्धी चिह्न नहीं है। इसलिए यहां उप-क्रमके भेदसे विद्याका भेद होनेपर गुणोंकी व्यवस्था ही युक्त है ॥ ३८ ॥

'अथ यदिदम० (अब इस ब्रह्मपुरके भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है) इसप्रकार उपक्रम कर छान्दोग 'एष आत्मा० (यह आत्मा धर्माधर्मसे शून्य, जराहीन, मृत्युरहित, शोकातीत, भोजनेच्छारहित, पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है) इत्यादि पाठ करते हैं। उसीप्रकार वाजसनेयी 'स वा एष महानज० (वह यह महान् अजन्मा आत्मा जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो यह हृदयमें आकाश है उसमें शयन करता है, वह सबको वशमें रखनेवाला है) इत्यादि अध्ययन करते हैं। उनमें विद्याका एकत्व और परस्पर गुणोंका योग-उपसंहार है अथवा नहीं? ऐसा संशय होनेपर विद्या एक है, यह सिद्धान्त है। उसपर यह कहते हैं—'कामादि' सत्यकाम आदि, ऐसा अर्थ है। जैसे कि 'देवदत्त' 'दत्त' कहा जाता है और सत्यभामा भामा कही जाती है। छान्दोग्यमें हृदयाकाशके जो यह सत्यकामत्व आदि गुण समूह उपलब्ध होता है वह अन्यत्र 'स वा एष महानज आत्मा' इस वाजसनेयकमें सम्बद्ध होता है और जो वाजसनेयकमें वशित्व आदि गुण समूह उपलब्ध होता है वह भी अन्यत्र-छान्दोग्यमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा' यहाँ

ऽपहतपाप्मा' (छा० ८।१।५) इत्यत्र संबध्यते। कुतः ? आयतनादिसामान्यात्। समानं त्रापि हृदयमायतनं समानश्च वेद्य ईश्वरः समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासंभेदप्रयोजनवमादि बहु सामान्यं दृश्यते। ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण इति। न। 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात्। अयं त्वत्र विद्यते विशेषः—हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्य उपदिश्यते, 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्का-(छा० ८।१।६) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात्। वाजसनेयके तु निर्गुणमेव ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते, 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' (बृ० ४।३।१४), 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' ४।३।१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात्। वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं सनेयके संकीर्त्यते। तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिना गुणमेव ब्रह्मोपसंहरति। गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायायं गुणोपसंहारः तो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ।।३९।।

(२६ आदराधिकरणम्। सू० ४०-४१)

आदरादलोपः ।।४०।।

पदच्छेद—आदरात्, अलोपः।

सूत्रार्थ—भोजनका लोप होनेपर भी अग्निहोत्रका (अलोपः) लोप नहीं है, (आदरात्) 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यादि जाबाल श्रुतिने प्राणाग्नि होत्रका आदर किया है।

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमा-हुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा' (छा० ५।१९।१) इत्यादि। तत्र पञ्च प्राणाहुतयो हिताः, तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः—'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (छा०

न्वित होता है, क्योंकि दोनोंमें आयतन आदि समान है। दोनों शाखाओंमें हृदय स्थान समान है, वेद्य ईश्वर समान है और लोक मर्यादाके असंकर प्रयोजन वाला उसका सेतुत्व समान है, दि बहुत सामान्य देखा जाता है। परन्तु विशेष भी दिखाई देता है—छान्दोग्यमें हृदयाकाशमें ोंका योग है और वाजसनेयकमें आकाशके आश्रय ब्रह्ममें गुणोंका योग है। ऐसा नहीं, क्योंकि र उत्तरेभ्यः' इस सूत्रमें छान्दोग्यमें भी आकाशशब्द ब्रह्म वाचक ही है, ऐसा सिद्धान्त प्रतिष्ठापित ा गया है। परन्तु यहाँ यह विशेष विद्यमान है—छान्दोग्यमें सगुण ब्रह्म विद्या उपदिष्ट है—'अथ ० (जो यहाँ आत्माको और सत्यकामोंको जानकर परलोक जाते हैं) इसप्रकार आत्माके समान कामोंमें वेद्यत्वका श्रवण है। वाजसनेयकमें तो 'अत ऊर्ध्वं० (अब आगे मुझे मोक्षके लिए उप-ा कीजिए) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (यह पुरुष असङ्ग है) इत्यादि प्रश्न और प्रतिवचनके समन्वयसे गुण परब्रह्म ही उपदिश्यमान दिखाई देता है। इसलिए वशित्व आदि गुण समूह तो उसकी स्तुति-लिए वाजसनेयकमें कहा गया हैं। उसीप्रकार आगे भी 'स एष' (नेति-नेति, ऐसा कहकर जो करण किया गया है, वह यह आत्मा है) इत्यादिसे श्रुति निर्गुण ब्रह्मका ही उपसंहार करती है। गुण ब्रह्मके एक होनेसे उसकी विभूति प्रदर्शनके लिए यह गुणोपसंहार सूत्रित किया गया है उपा-नाके लिए नहीं, ऐसा समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

छान्दोग्यमें वैश्वानर विद्याको प्रस्तुतकर 'तद्यद्भक्तं० (अतः भोजनके समय जो अन्न पहले आये, उसका हवन करना चाहिए, उस समय वह भोक्ता जो पहली आहुति दे उसे 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर दे) इत्यादि श्रुति है। उसमें पाँच प्राण आहुतियाँ विहित हैं। और उनमें आगे 'य एतदेवं०

मकमसंबन्धिनीयमुद्गीथत्र्यपाश्रया विद्या विज्ञायते । तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसंबन्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, 'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथः' (छा० १।६।८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १।७।९) इत्युपसंहारे । नैवं वाजसनेयके किंचित्कर्मसंबन्धि चिह्नमस्ति । तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥३८॥

(२५ कामाद्यधिकाराधिकरणम् । सू० ३९)

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३९॥

पदच्छेद—कामादि, इतरत्र, तत्र, च, आयतनादिभ्यः ।

सूत्रार्थ—(कामादि) सत्यकामत्व आदि गुण समूहका (इतरत्र) अन्यत्र-बृहदारण्यकमें सर्व वशित्व आदि गुण समूहका भी (तत्र) छान्दोग्यमें उपसंहार होना चाहिए, (आयतनादिभ्यः) क्योंकि उन दोनोंमें आयतन आदि समान है ।

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्यादि । तथा वाजसनेयिनः—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४।४।२२) इत्यादि । तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च, किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति । तत्रेदमुच्यते-कामादीति, सत्यकामादीत्यर्थः । यथा देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति । यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते, तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र संबध्यते, यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र छान्दोग्ये 'एष

आदि गुणोंका छन्दोगोंको उपसंहार करना चाहिए, ऐसा मानते हैं । परन्तु यह ठीक ज्ञात नहीं होता, क्योंकि छान्दोग्यमें ज्योतिष्टोम कर्म सम्बन्धी यह उद्गीथाश्रित विद्या ज्ञात होती है, कारण कि उसमें आदि, मध्य और अन्तमें कर्म सम्बन्धी चिह्न हैं—'इयमेवर्गग्निः सामः' (यह पृथिवी ऋक् और अग्नि साम है) यह उपक्रममें, 'तस्यर्क्च० (ऋक् और साम उसके पर्व हैं, इसीसे वह देव उद्गीथरूप है) यह मध्यमें और 'य एवं विद्वान्० (जो इसप्रकार जाननेवाला होकर साम गान करता है) इसप्रकार उपसंहारमें है । किन्तु इसप्रकार वाजसनेयकमें कोई कर्म सम्बन्धी चिह्न नहीं है । इसलिए यहां उपक्रमके भेदसे विद्याका भेद होनेपर गुणोंकी व्यवस्था ही युक्त है ॥ ३८ ॥

'अथ यदिदम० (अब इस ब्रह्मपुरके भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है) इसप्रकार उपक्रम कर छान्दोग 'एष आत्मा० (यह आत्मा धर्माधर्मसे शून्य, जराहीन, मृत्युरहित, शोकातीत, भोजनेच्छारहित, पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है) इत्यादि पाठ करते हैं । उसीप्रकार वाजसनेयी 'स वा एष महानज० (वह यह महान् अजन्मा आत्मा जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो यह हृदयमें आकाश है उसमें शयन करता है, वह सबको वशमें रखनेवाला है) इत्यादि अध्ययन करते हैं । उनमें विद्याका एकत्व और परस्पर गुणोंका योग-उपसंहार है अथवा नहीं ? ऐसा संशय होनेपर विद्या एक है, यह सिद्धान्त है । उसपर यह कहते हैं—'कामादि' सत्यकाम आदि, ऐसा अर्थ है । जैसे कि 'देवदत्त' 'दत्त' कहा जाता है और सत्यभामा भामा कही जाती है । छान्दोग्यमें हृदयाकाशके जो यह सत्यकामत्व आदि गुण समूह उपलब्ध होता है वह अन्यत्र 'स वा एष महानज आत्मा' इस वाजसनेयकमें सम्बद्ध होता है और जो वाजसनेयकमें वशित्व आदि गुण समूह उपलब्ध होता है वह भी अन्यत्र-छान्दोग्यमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा' यहाँ

ताऽपहतपाप्मा' (छा० ८।१।५) इत्यत्र संबध्यते। कुतः ? आयतनादिसामान्यात्। समानं त्रापि हृदयमायतनं समानश्च वेद्य ईश्वरः समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासंभेदप्रयोजनवमादि बहु सामान्यं दृश्यते। ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणणो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण इति। न। 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) त्र छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात्। अयं त्वत्र विद्यते विशेषः—णा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्य उपदिश्यते, 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्का(छा० ८।१।६) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात्। वाजसनेयके तु निर्गुणमेव ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते, 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' (बृ० ४।३।१४), 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' ४।३।१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात्। वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं सनेयके संकीर्त्यते। तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिना णमेव ब्रह्मोपसंहरति। गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायायं गुणोपसंहारः तो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥३९॥

(२६ आदराधिकरणम्। सू० ४०-४१)

आदरादलोपः ॥४०॥

पदच्छेद—आदरात्, अलोपः।

सूत्रार्थ—भोजनका लोप होनेपर भी अग्निहोत्रका (अलोपः) लोप नहीं है, (आदरात्) 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यादि जाबाल श्रुतिने प्राणाग्नि होत्रका आदर किया है।

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा' (छा० ५।१९।१) इत्यादि। तत्र पञ्च प्राणाहुतयो हिताः, तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः—'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (छा०

न्वित होता है, क्योंकि दोनोंमें आयतन आदि समान है। दोनों शाखाओंमें हृदय स्थान समान है, वेद्य ईश्वर समान है और लोक मर्यादाके असंकर प्रयोजन वाला उसका सेतुत्व समान है, दि बहुत सामान्य देखा जाता है। परन्तु विशेष भी दिखाई देता है—छान्दोग्यमें हृदयाकाशमें का योग है और वाजसनेयकमें आकाशके आश्रय ब्रह्ममें गुणोंका योग है। ऐसा नहीं, क्योंकि उत्तरेभ्यः' इस सूत्रमें छान्दोग्यमें भी आकाशशब्द ब्रह्म वाचक ही है, ऐसा सिद्धान्त प्रतिष्ठापित गया है। परन्तु यहाँ यह विशेष विद्यमान है—छान्दोग्यमें सगुण ब्रह्म विद्या उपदिष्ट है—'अथ (जो यहाँ आत्माको और सत्यकामोंको जानकर परलोक जाते हैं) इसप्रकार आत्माके समान मोंमें वेद्यत्वका श्रवण है। वाजसनेयकमें तो 'अत ऊर्ध्वं० (अब आगे मुझे मोक्षके लिए उपकीजिए) 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (यह पुरुष असङ्ग है) इत्यादि प्रश्न और प्रतिवचनके समन्वयसे ण परब्रह्म ही उपदिश्यमान दिखाई देता है। इसलिए वशित्व आदि गुण समूह तो उसकी स्तुतिलिए वाजसनेयकमें कहा गया है। उसीप्रकार आगे भी 'स एष' (नेति-नेति, ऐसा कहकर जो किया गया है, वह यह आत्मा है) इत्यादिसे श्रुति निर्गुण ब्रह्मका ही उपसंहार करती है। ब्रह्मके एक होनेसे उसकी विभूति प्रदर्शनके लिए यह गुणोपसंहार सूत्रित किया गया है उपाके लिए नहीं, ऐसा समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

छान्दोग्यमें वैश्वानर विद्याको प्रस्तुतकर 'तद्यद्भक्तं० (अतः भोजनके समय जो अन्न पहले आये, हवन करना चाहिए, उस समय वह भोक्ता जो पहली आहुति दे उसे 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा दे) इत्यादि श्रुति है। उसमें पाँच प्राण आहुतियाँ विहित हैं। और उनमें आगे 'य एतदेवं०

५।२४।२) इति, 'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते' (छा॰ ५।२४।५) इति च । तत्रेदं विचार्यते—किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्योतालोप इति । तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति । एवं प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह । कस्मात् ? आदरात् । तथा हि वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतिः—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात् । यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' इत्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्र आदरं करोति । या हि न प्राथम्यलोपं सहते नेतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं सहेतेति मन्यते । ❀ ननु भोजनार्थभक्तागमनसंयोगाद्भोजनलोपे लोपः प्रापितः—न, तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात् । प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात्कौण्डपायिनामयनवत्तद्धर्मप्राप्तौ सत्यां भक्तद्रव्यैकतागुणविशेषविधानार्थमिदं वाक्यं तद्यद्भक्तमिति । अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्येवं प्राप्तम्, भोजनलोपेऽप्यद्भिर्वाऽन्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्यानुष्ठानमिति ॥४०॥

अत उत्तरं पठति—

(जो इस-वैश्वानरको उस प्रकार जाननेवाला पुरुष अग्निहोत्र करता है) और 'यथेह क्षुधिता बाला॰ (जिस प्रकार इस लोकमें भूखे बालक सब प्रकार माताकी उपासना करते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी इस ज्ञानीके भोजनरूप अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं कि यह भोजन कब करेगा) इस प्रकार अग्निहोत्र शब्द प्रयुक्त है । उसपर यह विचार किया जाता है कि भोजनका लोप होनेपर क्या अग्निहोत्र होमका लोप होता है अथवा लोप नहीं होता ? परन्तु 'तद्यद्भक्तम्' इस प्रकार अन्न आगमन सम्बन्धका श्रवण होनेसे और अन्न आगमनको भोजनके लिए होनेसे भोजनका लोप होनेपर प्राणाग्नि होत्रका लोप होना चाहिए ? ऐसा प्राप्त होनेपर पूर्वपक्षी कहता है—प्राणाग्निहोत्रका लोप नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसका श्रुतिमें आदर है । उसी प्रकार वैश्वानर विद्यामें जाबालोंकी 'पूर्वोऽतिथिभ्यो॰ (उसको अतिथियोंसे पूर्व भोजन करना चाहिए, जैसे वह अपना अग्निहोत्र होम न कर अन्यका अग्निहोत्र होम करे, वैसे ही वह है) यह श्रुति अतिथि भोजनकी प्रथमताकी निन्दाकर स्वामी भोजनको प्रथम प्राप्त कराती हुई प्राणाग्नि होत्रहोममें आदर करती है, क्योंकि जो श्रुति प्रथमताका लोप नहीं सह सकती ऐसे प्रथमतावाले अग्निहोत्रका लोप तो बिल्कुल नहीं सह सकेगी, ऐसा माना जाता है । परन्तु भोजनके लिए अन्नके आगमनका प्राणाग्निहोत्रके साथ सम्बन्ध होनेसे भोजन लोप होनेपर उसका लोप प्राप्त है ? नहीं, क्योंकि वह द्रव्य विशेषके विधानके लिए है । प्राकृत अग्निहोत्रमें दूध आदि द्रव्योंके नियत होनेसे यहाँ भी अग्निहोत्र शब्दसे कुण्डपायियोंके अयनके समान उसके धर्मकी प्राप्ति होनेपर अन्नरूप द्रव्यके एकतारूप गुण विशेषके विधानके लिए 'तद्यद्भक्तम्' यह वाक्य है । इसलिए गुणके लोप होनेपर मुख्यका लोप नहीं है, ऐसा प्राप्त हुआ । भोजनका लोप होनेपर भी जलसे अथवा अविरुद्ध अन्य द्रव्यसे प्रतिनिधि न्यायसे प्राणाग्निहोत्रका अनुष्ठान है ॥४०॥

इसपर उत्तर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

❀ जैसे कुण्डपायियोंके सत्रगत 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इस मास अग्निहोत्र होममें नित्य अग्निहोत्र वाचक गौण अग्निहोत्र शब्दसे नित्य अग्निहोत्रके धर्म पयः, दधि द्रव्य आदि अतिदेशसे प्राप्त होते हैं, वैसे यहाँ भी प्राणाहुतिमें अग्निहोत्र शब्दके बलसे पयः, दधि द्रव्य आदि उत्सर्गसे प्राप्त होनेपर भोजनार्थं अन्न द्रव्यकी विधिसे उसका अपवाद किया जाता है, अतः अन्न विधिके अपवादार्थक होनेसे अन्नका लोप होनेपर मुख्य अग्निहोत्रका लोप नहीं होता, क्योंकि अपवादके अभाव-

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥४१॥

पदच्छेद – उपस्थिते, अतः, तद्वचनात् ।

सूत्रार्थ—(उपस्थिते) भोजन द्रव्यके उपस्थित होनेपर (अतः) इसी प्रथम प्राप्त भोजन प्राणाग्निहोत्र करना चाहिए, (तद्वचनात्) क्योंकि 'तद्यद्भक्तम्' इत्यादि वाक्य है, और आदर तो भोजन प्राप्ति दशाको लेकर है ।

* उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्रथमोपनिपतितात्प्राणाग्निहोत्रं निर्व-र्त्यम् । कस्मात् ? तद्वचनात् । तथा हि—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ।१) इति । सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्यसाध्यतां प्राणाहुतीनां विदधाति । प्रयोजकलक्षणापन्नाः सत्यः कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः । न चात्र ग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति । कुण्डपायिनामयने हि 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इति विध्युद्देश-ग्निहोत्रशब्दस्तद्वद्भावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः । इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्र-न तद्वद्भावं विधापयितुमर्हति । तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणादयोऽपि रन् । न चास्ति संभवः । अग्न्युद्धरणं तावद्धोमाधिकरणभावाय । न चायमग्नौ होमः, नार्थताव्याघातप्रसङ्गात् । भोजनोपनीतद्रव्यसंबन्धाच्चास्य एवैष होमः । तथा च जाबा-

---

सिद्धान्ती—भोजनके उपस्थित होनेपर उस प्रथम प्राप्त भोजन द्रव्यसे ही अग्निहोत्र सम्पन्न चाहिए, क्योंकि उसका वचन है । जैसे कि 'तद्यद्भक्तं० (अतः जो अन्न-भोजन प्रथम प्राप्त हो हवन करना चाहिए) यह श्रुति सिद्धवत्-प्रकृत प्राप्त भक्त-भोजनका जो आगमन उसके (तत्) परामर्शसे परार्थ (भोजनार्थ-तृप्तिके लिए) द्रव्यसे साध्य प्राण आहुतियोंका विधान करती आहुतियाँ तृप्तिरूप अर्थकी अप्रयोजक-प्रयोजक लक्षण (आक्षेपत्व) के अभावसे युक्त होती जनके लोप होनेपर किस प्रकार अन्य द्रव्यका प्रतिनिधापन (प्रतिनिधि न्यायसे आक्षेप) कर । और यहाँ प्राकृत अग्निहोत्र धर्मकी प्राप्ति नहीं है । कुण्डपायियोंके अयनमें तो 'मासपर्यन्त होम करे' इस विधिके उद्देश्यमें प्राप्त जो अग्निहोत्र शब्द है वह 'तद्वद्भाव' प्राकृत अग्निहोत्रके भाव-धर्म विधान कराएगा, इससे उसमें उसके धर्मकी प्राप्ति युक्त है । परन्तु यहाँ-प्राणाग्नि अर्थवाद गत अग्निहोत्र शब्द प्रकृत अग्निहोत्रके सदृश धर्मोंका विधान नहीं करा सकता । यदि अग्निहोत्रके धर्मकी प्राप्ति स्वीकार की जाय तो उस अग्निके उद्धरण आदि भी प्राप्त होने चाहिएँ । यहाँ (प्राणाग्निहोत्रमें) उनका संभव नहीं है, क्योंकि अग्निका उद्धरण होमके अधिकरणत्वके है, और यह द्रव्यरूप होम प्रकृत अग्निमें नहीं होता, क्योंकि भोजनके लिए है, उसका [प्रकृत सदृश धर्मोंके स्वीकार करनेपर] व्याघात प्रसङ्ग होगा, इसलिए भोजनार्थ प्राप्त द्रव्यके साथ होनेसे मुखमें ही यह होम होता है । उसी प्रकार 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' यह जाबाल श्रुति

सत्यानन्दी दीपिका

र्गसे प्राप्त पय आदि द्रव्यसे अग्निहोत्रकी निष्पत्ति संभव नहीं है । 'गुणलोपे न मुख्यस्य' (अङ्ग-होनेपर मुख्यका लोप नहीं होता) यह जैमिनि सूत्र है । आरब्ध नित्य आदि कर्म अवश्य होते हैं । यदि उनमें श्रुत द्रव्यकी प्राप्ति न हो तो प्रतिनिधि द्रव्यसे भी कर्म कर्तव्य है । जैसे कुशाके अभावमें शरसे कर्म किया जाता है, यह प्रतिनिधि न्याय है । अतः भोजनके लोप होनेपर अन्य पय आदि द्रव्यसे प्राणाग्निहोत्रका अनुष्ठान करना युक्त है । पूर्वपक्षमें भोजन लोप होनेपर भी द्रव्यसे प्राणाग्निहोत्रका अनुष्ठान है, सिद्धान्तमें उसका लोप है ॥ ४० ॥

* 'तद्धोमीयम्' यहाँ 'तत्' शब्दसे भोजनके लिए जो सिद्ध अन्न है उसका आश्रयकर मुखगत विधान है । इसलिए प्रकृत अन्नका 'तत्' पदसे परामर्शकर भोजनके लिए प्राप्त द्रव्यसे

लश्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यस्याधारामेवेमां होमनिर्वृत्तिं दर्शयति । * अत ए
चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यं
मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५।१८।२) इति । वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपल
क्षणार्था द्रष्टव्या, मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात्, तदङ्गानां चेह संपिपादयिषितत्वात् । भोजनेनै
च कृतकालेन संयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः । एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचि
त्कथंचिद्विरुध्यन्ते । तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्या
यत्त्वादरदर्शनवचनं, तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम् । न ह्यस्ति वचनस्यातिभारः । न ह्ये
नास्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम् । तस्माद्भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥४१॥

(२७ तन्निर्धारणाधिकरणम् । सू० ४२)

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

पदच्छेद—तन्निर्धारणानियमः, तद्दृष्टेः, पृथक्, हि, अप्रतिबन्धः, फलम् ।

सूत्रार्थ—(तन्निर्धारणानियमः) कर्माङ्गोंके आश्रित उपासनाओंका नित्यके समान अनुष्ठा
नहीं है, क्योंकि यह अनियम (तद्दृष्टेः) 'तेनोभौ कुरुतः' इत्यादि श्रुतिमें प्रतिपादित है
(पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम्) उन उपासनाओंका कर्मफलसे पृथक् अप्रतिबंध फल विशेष उपलब्ध होता है

भी मुखमें ही इस होमकी निष्पत्ति दिखलाती है । इसीसे यहाँ भी कल्पनासे संपादन किए गए अग्निहोत्र
अङ्गोंको 'उर एव०' (इस वैश्वानर उपासकका वक्षःस्थल वेदी है, लोम दर्भ है, हृदय गार्हपत्याग्नि है
मन अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) और मुख आहवनीय अग्नि है) यह श्रुति दिखलाती है ।
प्राणाग्निहोत्रमें वेदीकी श्रुति स्थण्डिलमात्र उपलक्षणार्थक समझनी चाहिए, क्योंकि मुख्य अग्निहोत्र
वेदीका अभाव है और प्राणाग्निहोत्रमें उसके अङ्गोंका संपादन करना अभीष्ट है । भोजनके द्वारा
निश्चित होनेवाले कालके साथ [प्राणाग्निहोत्रका] सम्बन्ध होनेसे मुख्य अग्निहोत्रके कालके सा
अवरोध सम्भव नहीं है । इसी प्रकार उपस्थान आदि अन्य भी कई एक धर्म कथंचित् विरुद्ध होते हैं
इसलिए मन्त्र, द्रव्य और देवताके सम्बन्धसे भोजन पक्षमें ये पाँच होम निष्पन्न होने चाहिएँ । और
आदर दर्शन वचन है, वह तो भोजन पक्षमें प्रथमता विधान करनेके लिए है । इसमें वचनका को
भार नहीं है, क्योंकि इस (प्रथमता वचन) से इस प्राणाग्निहोत्रकी नित्यता नहीं दिखाई जा सकती
इसलिए भोजनके लोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप ही होता है ॥ ४१ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

'प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा' इत्यादि पाँच आहुतियाँ सिद्ध होती हैं । भोजनके लोप होनेपर उनका
भी लोप ही होता है, इससे ये आहुतियाँ अन्य द्रव्यका आक्षेप नहीं करतीं । जैसे क्रतुसे प्रयुक्त अ
आनयनके आश्रित गोदोहन पात्रका क्रतुके लोप होनेपर लोप ही होता है ।

* अतएव-नित्य अग्निहोत्रके धर्मोंकी प्राप्ति न होनेसे ही प्राणाग्निहोत्रमें कल्पनासे अग्निहोत्रके
अङ्गोंका संपादन किया गया है, अन्यथा संपादन व्यर्थ हो जायगा । परन्तु जिन श्रुति और स्मृतियों
स्वामी (उपासक) का भोजनकाल अतिथि भोजनकालके पश्चात् विहित है, वह 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नी
यात्' इस वचनसे कैसे बाधित होगा ? इस विशेष वाक्यसे सामान्य वाक्य बाधित होता है, क्योंकि
विशेष वचनको सामान्य वचनके बाधमें कोई भार नहीं है । सामान्य वचन उपासकसे भिन्न भोक्ताके
लिए है । इस प्राथम्यवचनसे प्राणाग्निहोत्रकी नित्यता सिद्ध नहीं होती । प्राण उपासकको भोजन प्राप्त
होनेपर प्राथम्यके अर्थमें आदर होनेसे आदर शब्द अन्यथासिद्ध है । इससे यह सिद्ध हुआ कि
भोजनके लोप होनेपर प्राणाग्निहोत्रका लोप ही होता है ॥ ४१ ॥

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा०
।१) इत्येवमादीनि। किं तानि नित्यान्येव स्युः कर्मसु, पर्णमयीत्वादिवदुतानित्यानि,
हनादिवदिति विचारयामः। किं तावत्प्राप्तम् ?—नित्यानीति। कुतः ? प्रयोगवचन-
हात्। अनारभ्याधीतान्यपि ह्येतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसंबन्धात्क्रतुप्रयोगवचनेनैवाङ्गा-
वत्संस्पृश्यन्ते। यत्त्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम्—'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा०
।) इत्यादि, तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेवापापश्लोकश्रवणादिवन्न फलप्रधा-
। तस्माद्यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्येवमादीनामप्रकरण-
नानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात्प्रकरणपठितवन्नित्यतैवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति।
ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति। यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि
म आप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्य इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन्।
? तद्दृष्टेः। तथाह्यनियतत्वमेवंजातीयकानां दर्शयति श्रुतिः—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं
न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात्। प्रस्तावादिदेवताविज्ञान-
नानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां
द्वान्प्रस्तोष्यसि' (छा० १।१०।९), 'तां चेदविद्वानुद्गास्यति' (छा० १।१०।१०) 'तां चेद-
प्रतिहरिष्यसि' (छा० १।१०।११) इति च। अपि चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य

'ओमित्येतदक्षरमु० (उद्गीथके अवयव इस ॐ अक्षरकी उपासना करनी चाहिए)
कर्म-ज्योतिष्टोम आदिके अङ्गोंका आश्रयण करनेवाली उपासनाएँ हैं। क्या ये उपासनाएँ कर्मोंमें
यीत्व आदिके समान नित्य हैं अथवा गोदोहन आदिके समान अनित्य हैं ? इस विषयपर हम
र करते हैं, तो क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—नित्य हैं। किससे ? इससे कि प्रयोग वचनका
है। क्रतुके प्रकरणमें न पठित होनेवाली इन उपासनाओंका उद्गीथ आदि द्वारा क्रतुके साथ
होनेसे क्रतु प्रयोग वचनसे ही अन्य अङ्गके समान ये भी सम्बन्धवाली होती हैं। जो इन
ओंका अपने वाक्योंमें 'आपयिता ह वै० (जो विद्वान्-उपासक इस प्रकार इस उद्गीथरूप अक्षरकी
ना करता है वह (यजमानकी) सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त करानेवाला होता है) इत्यादि फलका
है। वह फल श्रवण वाक्यमें वर्तमान कालका उपदेश होनेसे अर्थवाद मात्र ही है। अपाप-
श्रवण आदिके समान फल प्रधान नहीं है। इसलिए जैसे 'यस्य पर्णमयी० (जिसकी पर्णमयी
ाकी) जुहू होती है वह लोकमें पाप श्लोकका श्रवण नहीं करता) इत्यादि क्रतुके प्रकरणमें
ोंका भी जुहू आदि द्वारा क्रतुमें प्रवेश-सम्बन्ध होनेसे प्रकरणमें पठितके समान नित्यत्व है,
उद्गीथ आदि उपासनाओंको भी समझना चाहिए।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—उपासनाके निर्धारणका अनियम है, 'रसोंमें
, कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला, समृद्धि देनेवाला, मुख्य प्राण आदित्य है' इत्यादि उद्गीथ
कर्माङ्गोंके यथावत् स्वरूप 'रसतमत्व आदि' का निर्धारण करनेवाली जो ये उपासनाएँ हैं,
कर्माङ्गोंके समान [पर्णमयीत्वके समान] कर्मोंमें नियमित नहीं होनी चाहिएँ, क्योंकि
ऐसा ही दृष्ट है। कारण कि इसीप्रकारकी उपासनाएँ अनित्य हैं, ऐसा श्रुति दिखलाती है—
कुरुतः० (जो उद्गीथावयव भूत इस ॐ अक्षरको रसतमत्व आदि विशिष्ट जानता है और जो
जानता है वे दोनों ही उसके द्वारा कर्म करते हैं) इसप्रकार अविद्वान्के लिए भी कर्मकी
है। और 'प्रस्तोतर्या० (हे प्रस्तोता ! जो देवता प्रस्ताव-भक्तिमें अनुगत है यदि तू उसे विना
प्रस्तवन करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा) 'तां चेदविद्वानुद्गास्यति० (हे उद्गाता ! यदि तू

विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्ध्यप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशे
कश्चित् 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करो
श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति । तत्र 'नाना तु' इति विद्वदवि
त्प्रयोगयोः पृथक्करणाद्वीर्यवत्तरमिति च तरप्प्रत्ययप्रयोगाद्विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदि
गम्यते । तच्चानित्यत्वे विद्याया उपपद्यते । नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुज्ञायेत
सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति स्थितिः । ❀ तथा लोकसामादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपास
फलानि शिष्यन्ते—'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्येवमादीनि, ने
फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम् । तथा हि गुणवाद आपद्येत । फलोपदेशे तु मुख्य
वादोपपत्तिः । प्रयाजादिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुते
रर्थवादत्वम् । तथानारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु । नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्म

उसे विना जाने उद्गान करेगा) और 'तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यति० (हे प्रतिहर्ता ! यदि तू उसे वि
जाने प्रतिहार भक्तिका गान करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा) इसप्रकार प्रस्ताव आदिके देवता
विज्ञानसे रहित प्रस्तोता आदिमें याजनका निश्चय देखा जाता है । और इसप्रकारके कर्मके आश्रि
विज्ञानका कर्मफलसे पृथक् फल उपलब्ध होता है—कर्मफल सिद्धिके प्रतिबन्धसे रहित उसका को
समृद्धिरूप अतिशय विशेष फल विज्ञानमें उपलब्ध होता है—'तेनोभौ कुरुतो० (जो उद्गीथके अ
यव भूत इस ॐ अक्षरको रसतमत्वादि विशिष्ट जानता है अथवा जो नहीं जानता वे दोनों ही उस
द्वारा कर्म करते हैं, किन्तु विद्या और अविद्या दोनों भिन्न भिन्न हैं । जो कर्म विद्या-श्रद्धा और योग
युक्त होकर किया जाता है वही अविद्वान् कर्मसे वीर्यवत्तर—अधिक फलवाला होता है । इस श्रुति
'नाना तु' इस शब्दसे विद्वान् और अविद्वान् कृत प्रयोगोंमें पृथक्करण होनेसे 'वीर्यवत्तरम्' इस
तरप्प्रत्ययका प्रयोग होनेके कारण उपासना हीन कर्म भी वीर्यवत् फलवाला होता है, ऐसा ज्ञा
होता है । वह विद्याके अनित्य होनेपर उपपन्न होता है । यदि विद्या नित्य हो तो उससे विहीन क
वीर्यवत् है, ऐसी अनुज्ञा किस प्रकार होती, क्योंकि सब अंगोंका उपसंहार होनेपर कर्म वीर्यवत् हो
है, ऐसी स्थिति है । तथा लोक दृष्टि आदिसे साम आदिकी प्रत्येक उपासनामें—'कल्पन्ते हास्मै
(जो इसे इसप्रकार जाननेवाला पुरुष लोकोंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है उसके
ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग्यरूपसे उपस्थित होते हैं) इत्यादि प्रतिनियत फल उपदिष्ट हैं । और
यह फल श्रुति अर्थवाद मात्र समझना युक्त नहीं है, क्योंकि उसे अर्थवाद माननेपर गुणवाद प्रस
होगा । किन्तु फलके उपदेशमें तो मुख्यवाद उपपन्न होता है । प्रयाज आदिमें तो इतिकर्तव्यता
आकांक्षा रखनेवाले क्रतुके प्रकृत होनेसे प्रयाज आदि क्रतुके लिए होनेपर उनमें फल श्रुति अर्थवा
हो यह युक्त है । इसीप्रकार कर्मप्रकरणके आरम्भमें पठित न होनेवाले पर्णमयीत्व आदिमें भी फल
श्रुति अर्थवाद है । अक्रियात्मक पर्णमयीत्व आदिमें आश्रयके विना फल सम्बन्ध नहीं हो सकता

सत्यानन्दी दीपिका

* 'तेनोभौ कुरुतः' इससे भी विद्या कर्मका अंग नहीं है । और साम आदिमें 'यह पृथिवी
ऋक् है अग्नि साम है' इसप्रकार लोक दृष्टिरूप उपासनाओंमें कर्म-समृद्धिसे भिन्न लोक आदि फल
श्रुतिमें प्रतिपादित हैं । किञ्च यूपके लिए प्रथम 'खदिरो यूपो भवति' इस विधिसे यूप विहित होने
कारण क्रतुको अंगरूप यूपकी आकांक्षा नहीं है, 'बैल्वमन्नाद्यकामस्य खादिरं वीर्यकामस्य' (अन्नाद्य
कामनावालेका बैल्व यूप और वीर्यकामनावालेका खदिर यूप हो) अतः यूपके लिए पुनः बैल्व आदिका
विधान फलके लिए ही है । इसलिए यह फलार्थ विधि है अर्थवाद नहीं है । इसके अतिरिक्त पर्ण
मयीत्वको कोई प्रकृतका आश्रय नहीं है, यदि जुहूको आश्रय मानें तो जुहूको प्रकृति द्रव्यकी आकांक्षा

णामाश्रयमन्तरेण फलसंबन्धोऽवकल्पते। गोदोहनादीनां हि प्रकृताप्प्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः। तथा बैल्वादीनामपि प्रकृतयूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः, नतु मयीत्वादिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति। वाक्येनैव तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा ऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात्। उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानोपद्गीथाद्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते। तस्माद्यथा क्रत्वाश्रयाण्यपि गोदोहनादीनि संयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम्। अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंतीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥४२॥

(२८ प्रदानाधिकरणम्। सू० ४३)

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥

पदच्छेद—प्रदानवत्, एव, तत्, उक्तम्।

सूत्रार्थ—(प्रदानवत्) 'यथेन्द्राय राज्ञे' इससे उक्त इन्द्र देवताके एक होनेपर भी राजा, राज आदि गुण भेदसे देवताका भेद होता है, वैसे एक विद्यामें भी वायु, प्राणका स्वरूप अभेद र भी आध्यात्मिक आदि अवस्था भेदसे गुणभेद है, अतः प्रयोग भेद है। (तदुक्तम्) 'नाना इत्यादि सूत्रसे जैमिनि मुनिमें पूर्व काण्डमें कहा है।

* वाजसनेयके—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १।५।२१) इत्यत्राध्यात्मं वागानां प्राणः श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः। तथा छान्दोग्ये—'वायुर्वाव संवर्गः' छा० ४।३।१) इत्यत्राधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारितः 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा०

तु गोदोहन आदिमें तो प्रकृत जल प्रणयन आदि आश्रय लाभ होनेसे फलार्थ विधि उपपन्न है। प्रकार बैल्व आदिमें भी प्रकृत यूप आदि आश्रय लाभ होनेसे फलार्थ विधि उपपन्न है, परन्तु पर्ण-त्व आदिमें इसप्रकारका कोई आश्रय प्रकृत नहीं है, वाक्यसे ही जुहू आदिको आश्रय कहनेकी कर फलमें भी विधिकी विवक्षा करनेवालेको वाक्य भेद होगा। क्रियात्मक होनेसे उपासनाओंका ष्ट विधान हो सकता है, अतः उद्गीथ आदिके आश्रित इन उपासनाओंका विधान कर्म फलमें द्ध नहीं है। इसलिए जैसे यज्ञके आश्रित गोदोहन आदि पृथक् फलके सम्बन्धसे अनियमित हैं, ही उद्गीथ आदि उपासनाएँ भी अनियमित हैं, ऐसा समझना चाहिए। अतएव-अनित्य होनेसे ल्पसूत्रकारोंने इसप्रकारकी उपासनाओंकी क्रतुमें कल्पना नहीं की है ॥ ४२ ॥

वाजसनेयकमें 'वदिष्याम्येवाहमिति० (ऐसा वाणीने व्रत किया कि 'मैं बोलती ही रहूँगी') अध्यात्म वाणी आदिमें प्राण श्रेष्ठ अवधारित है और अधिदैवत अग्नि आदिमें वायु श्रेष्ठ अवधारित है। तथा छान्दोग्यमें 'वायुर्वाव संवर्गः' (वायु ही संवर्ग है) यहां अधिदैवत अग्नि आदिमें संवर्गरूपसे अवधारित है और 'प्राणो वाव संवर्गः' (प्राण ही संवर्ग है) यहां अध्यात्म वाग्

सत्यानन्दी दीपिका

के कारण इसी वाक्यसे क्रतुके अंगरूपमें जुहूका प्रकृति द्रव्यके साथ सम्बन्ध विधेय होता है त् निराकांक्ष जुहूका आश्रयण करके उसी प्रकृति जुहू द्रव्यका फल सम्बन्ध विधेय होता है, इसप्रकार भेद हो जायगा। और जैसे स्वयं क्रियात्मक होनेसे यागका विधान है, वैसे उपासनाओंका भी त्मक (मानसिक क्रियारूप) होनेसे विशिष्ट विधान युक्त है। इसलिए उपासनाएँ गोदोहन के समान अनित्य होनेसे याग आदि कर्मोंके अंग नहीं हो सकतीं। पूर्वपक्षमें उपासनाएँ प्रयोगमें त हैं और सिद्धान्तमें अनित्य हैं ॥ ४२ ॥

* 'वायुर्वाव संवर्गः' 'प्राणो वाव संवर्गः' इत्यादि श्रुति वाक्योंसे वायु और प्राण दोनोंका और 'य प्राणः स वायुः' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे दोनोंका अभेद प्रतिपादित होनेसे 'तत्र' इत्यादिसे

४।३।२) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः । तत्र संशयः—किं पृथगेवेमौ वायुप्राणावुपगन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति । अपृथगेवेति तावत्प्राप्तम्, तत्त्वाभेदात् । न ह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम् । दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यारभ्य । तथा 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ० १।५।१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां दर्शयति । तथाऽन्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति । क्वचिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति स्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति । तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयिब्राह्मणे 'यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १।५।२३) इत्यस्मिन्नुपसंहारश्लोके 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' (बृ० १।५।२३) इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्शयति । 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १।५।२३) इति च प्राणव्रतेनैकेनोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति । तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' (छा० ४।३।६) इत्येकमेव संवर्गं गमयति, न ब्रवीत्येक एकेषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति । तस्मादपृथक्त्वमुपगमनस्येति । ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथगेव वायु-

---

आदिमें प्राण संवर्गरूपसे अवधारित है । यहां संशय होता है कि क्या ये वायु और प्राण पृथ स्वीकार करने चाहिएँ अथवा अपृथक्-एक ही ? पूर्वपक्षी—स्वरूपके अभेदसे अपृथक् ही है, ऐसा प्राप होता है । अभिन्न तत्त्व (एक स्वरूप) में पृथक्रूपसे अनुचिन्तन युक्त नहीं है, 'अग्निर्वा' (अग्निने वागिन्द्रिय होकर मुखमें प्रवेश किया) ऐसा आरम्भकर श्रुति अध्यात्म और अधिदैवतका स्वरूपाभेद दिखलाती है । उसीप्रकार 'त एते सर्व० (ये वाक्, मन और प्राण सभी तुल्य हैं, अध्यात्म और अधिभूत समस्त जगत् इन तीनोंसे व्याप्त है, इन तीनोंसे अतिरिक्त कार्यात्मक अथवा करणात्मक कुछ नहीं है, ये सब अनन्त हैं) यह श्रुति वाक्य आध्यात्मिक प्राणोंकी स्वरूपभूत आधिदैविक विभूति दिखलाता है । इसीप्रकार अन्यत्र भी तत् तत् स्थलमें अध्यात्म और अधिदैवतका बहुधा तत्त्वाभे दर्शन होता है । और कहीं पर 'यः प्राणः स वायुः' (जो प्राण है वह वायु है) यह श्रुति वाक्य स्पष्टरूपसे प्राण और वायुमें एकत्वका प्रतिपादन करता है । इसप्रकार उदाहृत वाजसनेयी ब्राह्मणमें भी 'यतश्चोदेति सूर्यः' (जिस वायुसे सूर्य उदय होता है) इस उपसंहार श्लोकमें 'प्राणाद्वा० (य प्राणसे उदित होता है यह प्राणमें अस्त होता है) इसप्रकार प्राणसे ही उपसंहार करते हुए एकत्व दिखलाता है । 'तस्मादेकमेव० (अतः एक ही व्रतका आचरण करे, प्राण व्यापार करे और अपान व्यापार करे) इसप्रकार एक प्राण व्रतसे ही उपसंहार करते हुए उसको ही दृढ करता है । इसप्रकार छान्दोग्यमें भी आगे 'महात्मनश्चतुरोवेद० (भुवनोंके रक्षक उस एक प्रजापतिने चार [अग्नि, सूर्य, दिक, चन्द्रमा और वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन] महात्माओंको ग्रस लिया) यह श्रुति एक ही संवर्गका बोध कराती है ऐसा नहीं कहती है कि एक चारोंका एक संवर्ग है और दूसरे चारोंका दूसरा, इसलिए उपगमन-अनुचिन्तन पृथक् नहीं है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वायु और प्राणका पृथक् ही अनुचिन्तन स्वीकार

सत्यानन्दी दीपिका

संशय कहते हैं । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' ऐसा आरम्भ कर 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (वायुने प्राण होकर नासिकामें प्रवेश किया) इसप्रकार पूर्वापरका विचार करनेपर वायु और प्राण एक ही तत्त्व प्रतीत होते हैं । अतः दोनोंका अपृथक्रूपसे ही अनुचिन्तन है ।

सिद्धान्ती—जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इससे उत्पन्न एक ही अग्निहोत्रका दधि, तण्डुल आदि भेदसे और सायं प्रातः कालभेदसे प्रयोगका भेद है, वैसे 'अन्नादो भवति य एवं वेद' (तै० ३।६।१) इसप्रकार उत्पन्न संवर्गविद्या एक है, तो भी उत्पन्न विशिष्ट वायु और प्राण नामक गुणोंका भेद

ुपगन्तव्याविति । कस्मात् । पृथगुपदेशात् । आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागो-
ोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात् । ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदादिति–
दोषः, तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनानुचिन्तनभेदोपपत्तेः । श्लोकोपन्यासस्य
तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात् । स
प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः' (बृ० १।५।२२) इति चोपमानोपमेय-
ात् । एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः । 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १।५।२३) इति चैवकारो
ादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः । भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः
भूत्वोपयेमे' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः । न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ०
२१) इति प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात् । 'एकमेव व्रतं चरेत्'
१।५।२३) इति चोक्त्वा 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३)
वायुप्राप्तिं फलं ब्रुवन्वायुव्रतमनिवर्तितं दर्शयति । देवतेत्यत्र वायुः स्यात्, अपरिच्छि-
न्नत्वस्य प्रेप्सितत्वात् । पुरस्तात्प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२)
। तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४।३।४) इति भेदेन
दिशति 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' (छा० ४।३।८) इति च भेदेनैवो-

---

चाहिए, क्योंकि उनका पृथक् उपदेश है । अध्यात्म और अधिदैवत विभागका उपदेश ध्यान-
ए है, किन्तु वह ध्यानके पृथक् न होनेपर व्यर्थ ही होगा । परन्तु यह जो कहा गया है कि
के अभेद होनेसे पृथक् अनुचिन्तन नहीं है । यह दोष नहीं है, क्योंकि तत्त्वके अभेद होनेपर
अवस्थाभेदसे और उपदेश भेदके बलसे अनुचिन्तनका भेद उपपन्न होता है । तत्त्वाभेदके अभि-
े उपपद्यमान श्लोक उपन्यासमें भी पूर्वकथित ध्येय भेदके निराकरणकी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि
ंषां० (जिसप्रकार इन वागादि प्राणोंमें प्राण मध्यम है, उसी प्रकार इन देवताओंमें वायु है)
कार उपमान और उपमेयकरण है । इससे व्रतोपदेशका भी व्याख्यान हुआ । 'एकमेव व्रतम्'
ही व्रत करना चाहिए) इसमें 'एव' वागादिका व्रत निवृत्तकर प्राण व्रतकी प्रतिपत्तिके लिए
योंकि 'तानि मृत्युः० (मृत्युने श्रमरूप होकर उन इन्द्रियोंका संग्रहण किया) इस श्रुतिसे
ि इन्द्रिय भग्नव्रत कही गई हैं । परन्तु वह 'एवकार' वायुव्रतकी निवृत्तिके लिए नहीं है, कारण
अथातो व्रतमीमांसा' (अब यहांसे व्रतका विचार किया जाता है) इसप्रकार प्रस्तुत कर वायु और
ा समानरूपसे अभग्नव्रतत्व निर्धारित किया गया है । 'एकमेव व्रतं चरेत्' (एक ही व्रतका आच-
रे) ऐसा कहकर 'तेनो एतस्यै' (उस व्रतसे वह इस देवता की ही एकरूपताको और समान
ताको प्राप्त करता है) इसतरह श्रुति वायु प्राप्ति फलको कहती हुई वायुव्रतको अनिवर्तित दिख-
ी है । यहाँ देवता वायु ही होना चाहिए, क्योंकि अपरिच्छिन्नात्मत्व प्रेप्सित है, कारण कि
ऽनस्तमिता० (यह जो वायु है वह अस्त न होनेवाला देवता है) ऐसा पहले प्रयोग किया है ।
'तौ वा एतौ० (ये दो संवर्ग हैं, अग्नि आदि देवताओंमें वायु और वागादि इन्द्रियोंमें मुख्य
संवर्ग है) इसप्रकार भेदसे व्यपदेश करती है । 'ते वा एते० (जिनका ग्रसन होता है, ऐसे अग्नि
चार और उनका ग्रसन करनेवाला वायु ये पाँच वागादिसे अन्य हैं, और इनसे वाग् आदि

सत्यानन्दी दीपिका

प्रयोगका भेद है, ऐसा सूत्रसे बाहर 'पृथगेव' इत्यादिसे सिद्धान्त करते हैं और 'तौ वा एतौ द्वौ
गौ' (छा० ४।३।३) (वे ये दो संवर्ग हैं) यह उपास्य भेद वाक्य प्रयोग भेद परक है, इससे
े सिद्ध होता है ।

पसंहरति। तस्मात्पृथगेवोपगमनम्। ॐ प्रदानवत्। यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञ इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्यच्छंवट्कारमिति। अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सहप्रदानाशङ्कायां राजादिगुणभेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात्प्रदानपृथक्त्वं भवति। एवं तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः। तदुक्तं संकर्षे—'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' इति। तत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदो विद्यते, नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति, उपक्रमोपसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतेः। विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात्प्रवृत्तिभेदो भवति, अग्निहोत्र इव सायंप्रातःकालभेदात्। इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम्॥४३॥

(२६ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् । सू० ४४-५२)

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥४४॥

पदच्छेद—लिङ्गभूयस्त्वात्, तत्, हि, बलीयः, तद्, अपि।

सूत्रार्थ—वाजसनेयक अग्नि रहस्यमें अग्निविद्या स्वतन्त्ररूपसे प्रतिपादित है, (लिंगभूयस्त्वात्) क्योंकि इसमें 'यत्किञ्चेमानि भूतानि' इत्यादि अनेक लिंग प्रमाण हैं, और प्रकरण आदिकी अपेक्षासे (तद्धि) लिंग ही (बलीयः) बलवान् है। (तदपि) इसको भी 'श्रुति लिंग' इस सूत्रमें जैमिनि मुनिने कहा है।

और प्राण ये पाँच अन्य हैं इसप्रकार ये सब दश होते हैं, ये दश कृत (कृत नामक पासोंसे उपलक्षित द्यूत) हैं, इसप्रकार भेदसे ही उपसंहार करती है। इसलिए वायु और प्राणका पृथक् ही अनुचिन्तन है। प्रदानके समान—जैसे 'इन्द्र राजाके लिए, इन्द्र अधिराजके लिए और इन्द्र स्वराजके लिए ग्यारह कपाल वाला पुरोडाश—इन तीन पुरोडाश वाली इष्टि व्यर्थ न हो इस निमित्तसे सब देवताओंको हवि प्राप्त करानेके लिए एक साथ ही पुरोडाशोंका अवदान करता है, इस वचनसे और इन्द्रका अभेद होनेसे सह प्रदानकी आशङ्का होनेपर राजा आदि (राजा, अधिराज और स्वराज) गुण भेदसे और याज्या और अनुवाक्याके व्यत्यासके विधान होनेसे लेखक्रमके अनुसार ही देवताके पृथक् होनेसे प्रदान पृथक् है। वैसे ही [वायु और प्राणके] स्वरूप अभेद होनेपर भी उपास्य अंशके पृथक् होनेसे अनुचिन्तन (उपासना) पृथक् है, ऐसा अर्थ है। वह संकर्ष (देवता) काण्डमें कहा गया है—'नाना वा देवता० (देवता भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनका पृथक् ज्ञान होता है) वहाँ द्रव्य और देवताके भेदसे यागका भेद है, ऐसा यहां विद्याभेद नहीं है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे अध्यात्म और अधिदैव उपदेशोंमें एक विद्याका विधान प्रतीत होता है। जैसे सायं और प्रातःकालके भेदसे अग्निहोत्रमें प्रवृत्तिका भेद होता है, वैसे ही विद्याके एक होनेपर भी अध्यात्म और अधिदैव भेदसे प्रवृत्तिका भेद है। इस अभिप्रायसे 'प्रदानके समान' ऐसा कहा गया है ॥४३॥

सत्यानन्दी दीपिका

* 'इन्द्राय राज्ञे' यहाँ तीन पुरोडाश जिसमें हों वह त्रिपुरोडाशिनी कहलाती है। उस इष्टिमें सह प्रदान इष्ट है अथवा भेदसे प्रदान इष्ट है? ऐसा सन्देह होनेपर 'सर्वेषाम्' इत्यादिसे पूर्वपक्ष करते हैं। अब 'राजा' इत्यादिसे सिद्धान्त कहते हैं—'राजा, अधिराज और स्वराज' इसप्रकार विशेषणके भेदसे विशिष्ट देवताका भेद होता है। अध्वर्युसे 'अनुब्रूहि' ऐसा प्रेष करनेपर होतासे जो मन्त्र पढ़ा जाता है वह अनुवाक्या है। 'यज' 'याज्यां पठ' (याज्य मन्त्र पढ़ो) इस प्रेषके अनन्तरका मन्त्र अनुयाज्या है; ऐसा भेद है। तीन पुरोडाशवाली इष्टिमें प्रथम पुरोडाशमें जो याज्यारूपसे निर्णीत है वह द्वितीय प्रदानमें अनुवाक्या है और जो पूर्वमें अनुवाक्या है वह पश्चात् याज्या होती है।

❀ वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—'नैव वा इदमग्रे सदासीत्' इत्येतस्मिन्ब्राह्मणे मनोऽधि- ीयते—'तत्षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः' इत्यादि। तथैव तः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नीनामनन्ति सांपादि- । तेषु संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूताः, उत स्वतन्त्राः विद्यात्मका इति। तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजानीते—लिङ्ग- ादिति। भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन्ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्बलयन्ति ते—'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इति, 'तान्हैतानेवंविदे सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि। तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः, क्तं पूर्वस्मिन्काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्र- ' (जै० सू० ३।३।१३) इति ॥४४॥

वाजसनेयियोंके अग्निरहस्यमें—'नैव वा इदमग्रे० (उत्पत्तिके पूर्वमें यह न सत् ही था) इस में मनको प्रस्तुतकर 'उस मनने अपने अर्चनीय [मनोवृत्ति भावित] मनोमय मनश्चित् छत्तीस अग्नियोंको देखा' इत्यादि कहते हैं। और 'वाक्से सम्पादित, प्राण-घ्राणसे सम्पादित, चक्षुसे दित, श्रोत्रसे सम्पादित, कर्मसे सम्पादित, अग्निसे सम्पादित अपनी अपनी वृत्तिरूप अग्नियोंको प्राण आदिने देखा' इसीप्रकार भिन्न भिन्न सांपादिक अग्नियोंको कहते हैं। उनमें संशय होता क्या ये मनश्चित् आदि क्रियामें अनुप्रवेशकर उस कर्मके अंगभूत हैं अथवा स्वतन्त्र केवल क हैं ? यहां प्रकरणसे क्रियामें अनुप्रवेश प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती—स्वतन्त्रताकी प्रतिज्ञा करते ारण कि बहुतसे लिंग हैं। 'तद्यत्किञ्चेमानि० (उसमें ये भूत-प्राणी मनसे जो कुछ संकल्प करते हैं उन अग्नियोंकी ही कृति-कर्म है) और 'तान्हैतानेवं० (ऐसी उपासना करनेवाला यदि सोता हे जागता हो तो भी उसके लिए सर्वदा सब भूत उन-उन अग्नियोंका चयन-सम्पादन करते हैं) ारके बहुतसे लिंग इस ब्राह्मणमें 'ये अग्नियां केवल विद्यात्मक हैं' ऐसा समर्थन करते हुए ाते हैं। क्योंकि वह लिंग प्रकरणसे बलवान् होता है। वह भी 'श्रुतिलिंग० (श्रुति, लिंग, , प्रकरण, स्थान और समाख्या इनके एक विषयमें परस्पर विरोध होनेपर उत्तरोत्तर पूर्व पूर्वसे हैं, क्योंकि स्वार्थ-अपने अर्थका बोध करानेमें उत्तर-उत्तरको पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा होनेके कारण होता है) इसप्रकार पूर्व काण्डमें कहा गया है ॥ ४४ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

'व्यत्यासमन्वाह' यह श्रुति व्यत्याससे विधान करती है, इसलिए श्रुतिके अनुसार पुरोडाशका प्रक्षेप है ॥ ४३ ॥

❀ 'उत्पत्तिके पूर्व यह जगत् न सत् था और न असत्' ऐसा उपक्रम कर मनकी सृष्टिको 'उस मनने अपनेको देखा' इसप्रकार ईक्षण पूर्वक अग्नियोंको देखा, इस तरह मनके उद्देश्य षट्त्रिंशत' इत्यादि मन्त्र कहा गया है। इस मन्त्रमें पुरुषके आयुरूपसे कल्पित सौ वर्षके छत्तीस सहस्र दिन और रात्रिसे मनोवृत्तियां अवच्छिन्न हैं, मनोवृत्तियां असंख्य होनेपर भी सहस्र ही कही गई हैं, क्योंकि मनोवृत्तियोंकी इष्टकारूपसे ही कल्पनाकी गई है। अतः मनो- द्वारा मनसे सम्पादित अग्नियाँ मनश्चित् अग्नियाँ कही जाती हैं। पूर्वपक्षमें प्रकरणसे ये कर्मके अंगभूत हैं और सिद्धान्तमें इनका पुरुषार्थत्व फल है। जो क्रियाका अंग होता है वह कालमें ही अनुष्ठेय होता है, उसका सर्वदा सबसे अनुष्ठान नहीं हो सकता। परन्तु इस मन्त्रमें 'सर्वदा' शब्दसे सब कालके लिए विधान किया गया है, और छत्तीस सहस्र इतनी बड़ी संख्या मनश्चित् आदि संपादित अग्नियोंको क्रियाके अंग न होनेमें लिंग है। लिंग प्रकरणसे बलवान्

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥४५॥

पदच्छेद—पूर्वविकल्पः, प्रकरणात्, स्यात्, क्रिया, मानसवत्।

सूत्रार्थ—ये मनश्चित् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु (प्रकरणात्) प्रकरणसे (पूर्वविकल्पः) पूर्वमें प्रकृत क्रियामय अग्निका यह संकल्पात्मक अग्नि (क्रिया स्यात्) अङ्ग है। (मानसवत्) जैसे 'मनोग्रहं गृह्णाति' इत्यादि द्वादशाहमें श्रुत मानस ग्रह बारह दिनके मध्यवर्ती दशम अहका अङ्ग है।

* नैतद्युक्तम्—स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता इति। पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवायं विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः। ननु प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः—सत्यमेवमेतत्, लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्बलीयो भवति। अन्यार्थदर्शनं ह्येतत्, सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात्। अन्यार्थदर्शनं चासत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते। तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः, मानसवत्। यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाम्नायन्ते। स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात्क्रियाशेष एव भवत्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥४५॥

यह जो कहा गया है कि ये अग्नियाँ अन्यका अङ्ग न होकर स्वतन्त्र हैं, यह युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्व क्रियामय अग्निका प्रकरण होनेसे तद्विषयक ही यह विकल्प विशेषका उपदेश होना चाहिए स्वतन्त्र नहीं। परन्तु लिङ्ग प्रकरणसे बलवान् है ? यह कथन ठीक ही है। किन्तु इसप्रकारका लिंग भी प्रकरणसे बलवान् नहीं होता, यह लिंग अन्यार्थ दर्शन है, क्योंकि सांपादिक अग्निका प्रशंसारूप है। अन्यार्थ दर्शन तो अन्य प्राप्ति न होनेपर गुणवादसे भी उपपन्न होता हुआ प्रकरणका बाध करनेमें समर्थ नहीं होता। इसलिए सांपादिक होती हुई भी ये अग्नियाँ प्रकरणसे क्रियामें अनुप्रवेश करनेवाली ही होनी चाहिएँ। मानसके समान। जैसे दशरात्र क्रतुके दसवें दिनमें अविवाक्यमें पृथिवीरूप पात्रसे गृह्यमाण समुद्ररूप सोमका प्रजापति देवताके लिए ग्रहण, आसादन, हवन, आहरण, उपह्वान और भक्षण ये मानस ही श्रुतिमें कहे जाते हैं। जैसे वह मानस ग्रहकल्प भी क्रियाप्रकरणसे क्रियाका अङ्ग ही होता है, इसप्रकार यह अग्निकल्प भी, ऐसा अर्थ है ॥ ४५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

है। अतः यह भावनात्मक उपासनाएँ किसी कर्मके अंग भूत न होकर स्वतन्त्र हैं ॥ ४४ ॥

* सिद्धान्तका उपक्रमकर पूर्वपक्ष करते हैं—मनश्चित् आदि अग्निके विधान करनेके पूर्वमें 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' (ईंटोंसे अग्निका चयन करते हैं) इसप्रकार जो कहा गया है, और 'स एष लिष्टकाग्निः' (यह तो ईंटोंके द्वारा संपादित अग्नि है) इसप्रकार यज्ञका अङ्गभूत अग्नि सन्निहित है। उसका यह विकल्प-संकल्प विशेषोपदेश है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे क्रियात्मक अग्नि यागका अङ्ग है, वैसे संकल्पमय अग्नि भी यागका अङ्ग है। जो यह गया है कि लिङ्ग प्रकरणसे अधिक बलवान् है। क्या विधि वाक्यगत लिङ्ग प्रकरणसे बलवान् है अथवा अर्थवादगत ? प्रथम पक्ष तो स्वीकार्य है। द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि मानस अग्नि विधिके अर्थवादगत लिङ्ग अपने अर्थ प्राप्तिमें प्रमाणके न होनेसे प्रकरणसे दुर्बल है। इसलिए यह अन्यार्थ दर्शन लिंग (अर्थवादरूप) है, इसलिए प्रकरणसे यह संकल्पमय अग्नि भी क्रियामय अग्निके समान कर्मका अङ्ग है। 'मानसवत' द्वादशाहे श्रूयते 'अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति' (बारह दिनमें होनेवाले सोम यागमें सुना जाता है—हे समुद्र ! इस पृथ्वीरूप पात्रसे सोमरससे कल्पित जिसका प्रजापति देवता है ऐसे तुझे

अतिदेशाच्च ॥४६॥

पदच्छेद—अतिदेशात्, च ।

सूत्रार्थ—'एकैक एव तावान्' इसप्रकार अतिदेशसे भी ये सांपादिक अग्नियाँ क्रियाके अङ्ग हैं ।

अतिदेशश्चैषामग्नीनां क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलयति—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेव तावान्यावानसौ पूर्वः' इति । सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तते । ततश्च पूर्वेणेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निना सांपादिकानग्नीनतिदिशन्क्रियानुप्रवेशमेवैषां द्योतयति ॥४६॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥४७॥

पदच्छेद—विद्या, एव, तु, निर्धारणात् ।

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्षके निवृत्त्यर्थ है, (विद्या एव) विद्यात्मक मनश्चित् आदि अग्नियाँ स्वतंत्र हैं, (निर्धारणात्) क्योंकि श्रुतिमें ऐसा ही निर्धारण किया गया है ।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः । तथा हि निर्धारयति—'ते हैते विद्याचित एव' इति, 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति च ॥४७॥

दर्शनाच्च ॥४८॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च ।

सूत्रार्थ—और इन मनश्चित् आदि अग्नियोंके स्वातन्त्र्यमें लिङ्ग भी देखनेमें आता है ।

और 'षट्त्रिंशत्० (छत्तीस सहस्र पूज्य अग्नियाँ हैं, उनमेंसे एक-एक उतनी है जितनी कि पूर्व अग्नि है) इस प्रकार इन अग्नियोंका अतिदेश क्रियानुप्रवेशकी पुष्टि करता है । क्योंकि सादृश्य होनेपर ही अतिदेश प्रवृत्त होता है । इसलिए पूर्व इंटोंसे चित् क्रियानुप्रवेशी अग्निसे सांपादिक अग्नियोंका अतिदेश करती हुई श्रुति इनका क्रियानुप्रवेश ही सूचित करती है ॥ ४६ ॥

'तु' शब्द पूर्व पक्षकी व्यावृत्ति करता है । विद्यात्मक ये मनश्चित् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र ही होनी चाहिएं, क्रियाके अङ्गभूत नहीं, क्योंकि 'ते है ते० (वे ये विद्या-भावनासे ही सम्पादित हैं, और 'विद्यया० (इसप्रकार जाननेवाले उपासकको ये अग्नियाँ विद्यासे ही संपादित होती हैं) इसप्रकार श्रुति निर्धारण करती है ॥ ४७ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

ग्रहं गृह्णाति ग्रहण करता है) यहाँ यह मानस कर्म उक्त बारह दिनके मध्यवर्ती दसवें दिन अर्थात् आदि और अन्त दिन छोड़कर मध्यके दशरात्रही द्विरात्र आदिमें प्रकृति है उसके धर्मोंका ही उनमें अतिदेश होनेके कारण उस मध्यरात्रके दशमदिनमें-ग्यारहवें दिनमें उक्त मानस ग्रह सुना जाता है । इसलिए ऋत्विजोंका ध्यायीरूपसे विधि वाक्यका उच्चारण न होनेके कारण अहः (दशम दिन) की अविसंज्ञा है। अतः दशम दिन-अविवाक्यमें यह भावनामय मानस कहा है । इसमें ग्रहण-सोम आधारभूत पात्रका आदान, आसादन-गृहीत पात्रका शास्त्र विहित स्थानमें स्थापन, सोमका होम-हवन है, हुत शेषका आहरण है, हवनसे बच्चे हुए भागका भक्षण करनेके लिए ऋत्विजोंका परस्पर अनुज्ञाकरण उपह्वान है, उसके अनन्तर शेष भागका भक्षण यह सब मानस ही है अर्थात् यह सब संकेतसे होता है । वह मानसग्रह द्वादशाह सोमयागसे भिन्न स्वतन्त्र दिन हैं । इस प्रकार शंका कर द्वादशाह संज्ञाके साथ विरोध होनेसे पृथक् दिन नहीं है, किन्तु प्रकरणके बलसे अविवाक्य अहिन्का अङ्ग है । जैसे मानसग्रह प्रकरणके बलसे क्रियाका अङ्ग है, वैसे सांपादिक अग्नियाँ भी प्रकरणसे क्रिया अङ्ग हैं ॥४५॥

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम् । तत्पुरस्तादर्शितम्—'लिङ्गभूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।३।४४) इत्यत्र ॥४८॥

ननु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य तत्प्रकरणसामर्थ्या-त्क्रियाशेषत्वमध्यवसितमित्यत उत्तरं पठति—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥४९॥

पदच्छेद—श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्, च, न, बाधः ।

सूत्रार्थ—(च) और (श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्) श्रुति आदिके बलवान् होनेसे दुर्बल प्रकरणसे मनश्चित् आदि अग्नियोंके स्वातन्त्र्यका (न बाधः) बाध नहीं होता ।

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो बाधितव्यः, श्रुत्यादेर्बली-यस्त्वात् । बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे । तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते । कथम् ? श्रुतिस्तावत् । 'ते हैते विद्याचित एव' इति । तथा लिङ्गम्—'सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति । तथा वाक्यमपि—'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति । 'विद्याचित एव' इति हि सावधारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽमीषा-मभ्युपगम्यमाने पीडिता स्यात् । नन्वबाह्यसाधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति । नेत्युच्यते, तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता स्वरूपसंकीर्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत् । स्वरूपमेव ह्येषामबाह्यसाधनमिति । अबाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत्क्रियानु-प्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भविष्यति । तथा 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शनमेषां स्वातन्त्र्येऽवकल्पते । यथा सांपादिके

और इन अग्नियोंकी स्वतन्त्रतामें लिङ्ग भी देखा जाता है, वह 'लिङ्गभूयस्त्वात्' इस सूत्रमें पहले दिखलाया गया है ॥ ४८ ॥

परन्तु अन्य प्राप्ति न होनेपर लिङ्ग भी किसी अर्थका साधक नहीं होता, इस प्रकार लिङ्गको त्यागकर प्रकरणकी सामर्थ्यसे ये अग्नियाँ क्रियाके अङ्गरूपसे निश्चितकी गई हैं, इससे उत्तर कहते हैं—

इसप्रकार प्रकरणकी सामर्थ्यसे मनश्चित् आदि अग्नियोंमें क्रियाङ्गत्व निश्चितकर स्वातन्त्र्य पक्षका बाध नहीं करना चाहिए, क्योंकि श्रुति आदि बलवान् हैं । श्रुति, लिङ्ग, वाक्य ये प्रकरणसे बलवान् हैं। यह 'श्रुतिलिङ्ग०' इस सूत्रमें सिद्ध किया गया है । और ये (श्रुति आदि) यहाँ पर स्वातन्त्र्य पक्षको सिद्ध करते हुए देखे जाते हैं । किस प्रकार ? इस प्रकार कि 'ते है ते विद्याचित एव' (वे ये अग्नियाँ विद्यासे संपादित ही हैं) यह श्रुति है । 'सर्वदा सब प्राणी उपासक जागता हो चाहे सोता हो उसके लिए इन अग्नियोंका चयन करते हैं' इस प्रकार यह लिङ्ग है । और 'विद्यया हैवैत० (ऐसा जाननेवाले उपासककी ये अग्नियाँ विद्यासे ही संपादित होती हैं) इस प्रकार यह वाक्य भी है। 'विद्यया चित्त एव' अवधारण (एव) सहित यह श्रुति इन अग्नियोंका क्रियामें अनुप्रवेश स्वीकार करनेपर बाधित हो जायगी । परन्तु यह अवधारण बाह्य साधनाभावके अभिप्रायसे होगा ? नहीं, ऐसा कहते हैं यदि उसके अभिप्रायमें हो तो 'विद्याचित' इतने स्वरूप संकीर्तनसे ही 'अबाह्य-साधनत्व' सिद्ध होनेसे 'एव' यह अवधारण अनर्थक होगा, क्योंकि बाह्य साधनका अभाव तो इन अग्नियोंका स्वरूप ही है। परन्तु इन अग्नियोंके बाह्य साधनका अभाव होनेपर भी मानसग्रहके समान क्रिया अनुप्रवेशकी शंका होनेपर उसकी निवृत्तिरूप प्रयोजन होनेसे अवधारण सार्थक हो जायगा । इसी प्रकार 'ऐसा जाननेवाला जागता हो चाहे सोता हो उस उपासकके लिए सर्वदा सब प्राणी इन अग्नियोंका सम्पादन करते हैं' यह सातत्य दर्शन इन अग्नियोंके स्वातन्त्र्य होनेपर संगत होता है । जैसे

णमयेऽग्निहोत्रे 'प्राणं तदा वाचि जुहोति वाचं तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २।५) इति वोच्यते—'एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' (कौषी० २।५) इति, । क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वेन न सातत्येनैषां प्रयोगः कल्पेत । न चेद्वादमात्रमिति न्याय्यम् । यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङ्गादिरुपलभ्यते युक्तं तत्र संकीर्तनस्यार्थवादत्वम्, इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धेः संकीर्तनादेवैषां विज्ञानविधानं कल्प्यम् । तच्च यथासंकीर्तनमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव कल्प्यते । सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः । एतेन 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव कृतिः' इत्यादि—व्याख्यातम् । तथा वाक्यमपि 'एवं विदे' इति पुरुषविशेषसंबन्धमेवैषाणां न क्रतुसंबन्धं मृष्यते । तस्मात्स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति ॥४९॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

पदच्छेद—अनुबन्धादिभ्यः, प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्, दृष्टः, च, तत्, उक्तम् ।

सूत्रार्थ—(अनुबन्धादिभ्यः) अनुबन्ध आदि हेतुओंसे मनश्चित् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं, न्तरपृथक्त्ववत्) जैसे शाण्डिल्य आदि अन्य विद्याएँ स्वतन्त्र हैं । क्योंकि (दृष्टश्च) राजसूय में पठित होनेपर भी अवेष्टि यागका वर्ण त्रयसे सम्बन्धित होनेके कारण प्रकरणसे पृथक्त्व गया है, (तदुक्तम्) इस बातको पूर्वमीमांसामें 'क्रत्वर्थायामिति' इस सूत्रमें कहा गया है ।

* इतश्च प्रकरणमुपमृद्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम् । यत्क्रियावयवान्मनव्यापारेष्वनुबध्नाति—'ते मनसैवाधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तु-

---

क वाक् प्राणमय अग्निहोत्रमें 'प्राणं तदा वाचि० (ध्यान कालमें प्राणका वाणीमें होम है, और ध्यानकालमें वाणीका प्राणमें होम करता है) ऐसा कहकर 'एते अनन्तेऽमृते० (इन अमृत आहुतियोंका - वह जागते अथवा सोते निरन्तर होम करता है) ऐसा कहा जाता है । समान इन अग्नियोंका क्रियाङ्गत्व नहीं है । क्रिया अनुप्रवेशमें तो क्रियाके प्रयोगका अल्प होनेसे इन मनश्चित् आदि अग्नियोंका नैरन्तर्य प्रयोग नहीं हो सकेगा । यह अर्थवाद मात्र है, थन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ पर लिङ् आदि विधायक विस्पष्ट उपलब्ध होते हों वहांपर न मात्रका अर्थवाद युक्त है । परन्तु यहां तो विस्पष्ट-प्रत्यक्षरूपसे अन्य विधिकी उपलब्धि न संकीर्तनसे ही इन अग्नियोंके विज्ञान विधानकी कल्पना करनी चाहिए । उसकी संकीर्तनके र ही कल्पना की जा सकती है, इसलिए सातत्य-दर्शन होनेसे वैसे ही [विज्ञान विधिकी] ना की जाती है । उससे-सामर्थ्यसे इनकी स्वातन्त्र्य सिद्धि होती है । इस उक्त न्यायसे 'तद्यत्किंचे-० (ये प्राणी मनसे जो कुछ संकल्प करते हैं वह उन अग्नियोंकी ही कृति है) इत्यादि ान हुआ । इसीप्रकार 'एवं विदे' यह वाक्य भी इन अग्नियोंका पुरुष विशेषके साथ सम्बन्ध हुआ यागके साथ इनके सम्बन्धकी खोज नहीं करता । इसलिए स्वतन्त्र पक्ष ही अधिक है ॥ ४९ ॥

और इससे भी प्रकरणका उपमर्दनकर मनश्चित् आदि अग्नियोंका स्वातन्त्र्य समझना चाहिए, के श्रुति क्रियाके अवयवोंको मन आदिके व्यापारोंमें 'ते मनसैवाधीयन्त० (उन अग्नियोंका से ही आधान करे, मनसे ही ईंटोंका चयन करे मनसे ही यज्ञ पात्र ग्रहण करे, मनसे

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि मनोवृत्तियोंमें अग्निका ध्यान क्रियाका अङ्ग नहीं है, तो भी वह उद्गीथ ध्यानके न क्रियाङ्गके आश्रित मानना चाहिए ? परन्तु अङ्गाश्रित श्रुतिसे इस श्रुतिका भेद है । अतः ङ्गरहित मनोवृत्तियोंमें साङ्ग यज्ञका संपादन पुरुषमें यज्ञ ध्यानके समान स्वतन्त्र है ।

वन्मनसाऽशंसन्यत्किंच यज्ञे कर्म क्रियते यत्किंच यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चि मनोमयमेव क्रियते' इत्यादिना। संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः। न च प्रत्यक्षाः क्रियावयवाः सम् संपदा लिप्सितव्याः। न चात्रोद्गीथाद्युपासनवत्क्रियाङ्गसंबन्धात्तदनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यम् श्रुतिवैरूप्यात्। नह्यत्र क्रियाङ्गं किंचिदादाय तस्मिन्नदो नामाध्यवसितव्यमिति वदति षट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्तिभेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति, पुरुषयज्ञादिवत् संख्या चेयं पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्संबन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम् एवमनुबन्धात्स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। ॐ आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासंभवं योजयि तव्यम्। तथा हि—'तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञान मयानामेकैकस्यातिदिशन्क्रियायामनादरं दर्शयति। नच सत्येव क्रियासंबन्धे विकल्पः पू णोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम्। नहि येन व्यापारेणाहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामु

ही उद्गाता स्तुति करे, मनसे ही होता शंसन-स्तुति करे। जो कुछ यज्ञमें कर्म किया जाता है और यज्ञ सम्बन्धी कर्म किया जाता है, वह सब मनसे ही [किया जाता है] उन मनश्चित् मनोमय अग्नि में मनोमय ही किया जाता है) इत्यादिसे सम्बद्ध करती है। कारण कि यह अनुबन्ध सम्पत्‌रूप फल वाला है। प्रत्यक्ष सिद्ध क्रियाके अवयवोंको सम्पत्‌के साथ सम्बन्धित नहीं करना चाहिए। और उद्गीथ आदि उपासनाके समान क्रिया अङ्गके साथ सम्बन्ध होनेसे क्रिया अनुप्रवेशत्वकी आश नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रुतियाँ विरूप-असमान हैं। यहाँ किसी क्रिया अङ्गको लेकर उसमें इस अध्यवसाय करना चाहिए, ऐसा श्रुति नहीं कहती, किन्तु छत्तीस सहस्र मनोवृत्ति भेदोंको लेकर उन अग्नित्व और ग्रह आदिकी पुरुषयज्ञ आदिके समान कल्पना करती है और यह छत्तीस सहस्र संख्या पुरुषके आयुष्यके दिनोंमें प्रत्यक्ष अनुभूत होती हुई तत्सम्बन्धी मनोवृत्तियोंमें आरोपित की जाती है, ऐसा समझना चाहिए। इसप्रकार अनुबन्धसे मनश्चित् आदि स्वतन्त्र हैं। सूत्रस्थ आदि शब्द अतिदेश आदिकी भी यथा सम्भव योजना करनी चाहिए। जैसे कि 'तेषामेकैक० (उन सांपादि अग्नियोंमें एक-एक उतनी है जितनी कि वह पूर्व अग्नि है।) इसप्रकार यह श्रुति क्रियामय अग्नि महात्म्यका ज्ञानमय अग्निमेंसे एक एकमें अतिदेशकर क्रियामें अनादर दिखलाती है। और क्रिया सम्बन्ध होनेपर उत्तर अग्नियोंका (सांपादिक अग्नियोंका) पूर्व अग्निके साथ विकल्प है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस आहवनीय हविष्‌के धारण आदि व्यापारसे पूर्व अग्नि क्रियामें उपकार

सत्यानन्दी दीपिका

ॐ यहाँ अतिदेश विकल्पके लिए नहीं है, क्योंकि साध्य वस्तुके एक होनेपर परस्पर अपेक्षा रहित साधनोंका विकल्प हो सकता है। जैसे व्रीहि और यवका होता है। परन्तु यहाँ तो क्रियाग्नि और ध्यानाग्निका साध्य-फल भिन्न-भिन्न है। इससे समुच्चयका भी निराकरण समझना चाहिए। किञ्च यहाँ क्रियाङ्गत्वको लेकर भी सादृश्य नहीं है, किन्तु अग्नित्व सादृश्यको लेकर अतिदेश है, क्योंकि इसमें श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, अनुबन्ध, अतिदेश भी प्रमाणरूप हैं। इसका पूर्व मीमांसाके एकादश अध्याय विचार किया गया है—'राजा स्वराज्यकामो राजसूयेन यजेत' (स्वराजकी कामना करनेवाला राजा राजसूय याग करे) इसप्रकार उपक्रम कर आगे 'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा' 'वैश्वदेवं चरुं पिशङ्गी पष्ठौही दक्षिणा' 'मैत्रावरुणीमामिक्षां वशा दक्षिणा' 'बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणा' 'ऐन्द्रमेकादश कपालमृषभो दक्षिणा' इसप्रकार अवेष्टि नामकी पाँच इष्टियोंका विधान है। इनमें वर्णके भेदसे प्रयोगका भेद सुना जाता है। यदि 'ब्राह्मणो यजेत०' (यदि ब्राह्मण याग करे तो बार्हस्पत्य चरुको मध्यमें (तृतीय) रखकर आहुति करे और अवशिष्ट घृतका अभिधारण करे-घृतकी धारा दे) इसप्रकार यदि 'वैश्य हो तो वैश्वदेव चरुको मध्यमें रखकर आहुति करे' 'यदि क्षत्रिय राजा

तेनोत्तर उपकर्तुं शक्नुवन्ति। यत्तु पूर्वपक्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं-सति हि ऽतिदेशः प्रवर्तत इति—तदस्मत्पक्षेऽग्नित्वसामान्येनातिदेशसंभवात्प्रत्युक्तम्। अस्ति पादिकानामप्यग्नीनामग्नित्वमिति। श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि। एवमनु- दिभ्यः कारणेभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्। यथा प्रज्ञान्तराणि ण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुबन्धेनानुबध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रज्ञान्तरेभ्यश्च राणि भवन्त्येवमिति। दृष्टश्चावेष्टे राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानु- राजयज्ञत्वाच्च राजसूयस्य। तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्' सू० ११।४।१०) इति ॥५०॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥५१॥

पदच्छेद—न, सामान्यात्, अपि, उपलब्धेः, मृत्युवत्, नहि, लोकापत्तिः।

सूत्रार्थ—(सामान्यादपि) मनश्चित् आदि अग्नियोंका मानस ग्रहके साथ [मानसत्व] सादृश्य भी (न) वे क्रिया अङ्ग नहीं हैं, (उपलब्धेः) क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति आदि हेतुओंसे स्वतन्त्र होती हैं। (मृत्युवत्) जैसे 'स वा एष' 'अग्निर्वै मृत्युः' इत्यादिसे आदित्य पुरुष और अग्नि मृत्यु शब्द समान होनेपर भी उनका अत्यन्त साम्य नहीं है। अथवा (नहि लोकापत्तिः) वाव लोको०' इत्यादिमें समिध्' आदिके सादृश्य होनेपर भी द्युलोकमें अग्नित्वकी प्राप्ति नहीं है।

यदुक्तं मानसवदिति, तत्प्रत्युच्यते। न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां रोपत्वं कल्प्यम्, पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः। नहि किंचि- चित्केनचित्सामान्यं न संभवति। नच तावता यथास्वं वैषम्यं निवर्तते। मृत्युवत्।

है, उस व्यापारसे उत्तर अग्नियाँ उपकारक नहीं हो सकतीं ? सादृश्य होनेपर ही अतिदेश प्रवृत्त है। इसप्रकार पूर्वपक्षमें भी अतिदेश [क्रियानुप्रवेशका] पोषक है, ऐसा जो कहा गया हमारे पक्षमें भी अग्नित्व सादृश्यसे अतिदेशका सम्भव होनेसे निराकृत हुआ, क्योंकि सांपा- अग्नियोंमें अग्नित्व है। इसमें श्रुति आदि कारण दिखलाये गये हैं। इसप्रकार अनुबन्ध आदि से मनश्चित् आदि अग्नियां स्वतन्त्र हैं, अन्य प्रज्ञाओंकी स्वतन्त्रताके समान। जैसे अपने-अपने न्धसे सम्बन्धित हुई शाण्डिल्यविद्या आदि अन्य प्रज्ञाएँ कर्मों और अन्य प्रज्ञाओंसे पृथक्-स्वतन्त्र इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। राजसूय प्रकरणमें पठित अवेष्टि नामक इष्टिका प्रकरणसे दृष्ट है, क्योंकि तीनों वर्णोंके साथ सम्बन्धित होनेसे राजसूय क्षत्रिययज्ञ है। इस बातको र्थामिति० (यदि यह कहो कि यह लिङ्गदर्शन क्रत्वर्थ अवेष्टिमें हो तो युक्त नहीं है, क्योंकि में ब्राह्मण आदि वर्णत्रयका सम्बन्ध है) इसप्रकार पूर्वमीमांसामें कहा गया है ॥ ५० ॥

जो यह कहा गया है कि मानसके समान, उसका निराकरण किया जाता है। मानस ग्रहके सादृश्य होनेपर भी मनश्चित् आदि अग्नियोंमें क्रियाङ्गत्वकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रुति आदि हेतुओंसे उनमें केवल पुरुषार्थत्व उपलब्ध होता है। किसीका किसीके साथ कुछ

सत्यानन्दी दीपिका

ऐन्द्र चरु मध्यमें रखकर आहुति करे और अवशिष्ट घृतका अभिधारण करे।' उसमें आग्नेय चरुओंमें अङ्गोंका विधि शास्त्रसे प्रयोग है। इसीप्रकार 'एतयान्नाद्यकामं याजयेत्' (इस द्वारा अन्नादि कामनावाला यजन करे) यह एक वचन है। और वह विधि वाक्यसे क्रिया प्रयोग राजसूय यागसे बहिर्भूत अन्न आदिकी अभिलाषासे तीन वर्णों द्वारा की जाने वाली अवेष्टि जानना चाहिए, राजसूय यज्ञके अन्तर्गत नहीं। इसका 'क्रत्वर्थायां' इस जैमिनि सूत्रमें निर्णय गया है। इसलिए मनश्चित् आदि अग्नियाँ स्वतन्त्र हैं ॥ ५० ॥

यथा 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति 'अग्निर्वै मृत्युः' (बृ० ३।२।१०) इति चाग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसाम्यापत्तिः। यथा च 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' (छा० ५।४।१) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकस्याग्निभावापत्तिस्तद्वत् ॥५१॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

पदच्छेद—परेण, च, शब्दस्य, ताद्विध्यम्, भूयस्त्वात्, तु, अनुबन्धः।

सूत्रार्थ--(परेण) 'अयं वाव लोकः०' इस उत्तर ब्राह्मणके साथ साम्य होनेके कारण (शब्दस्य) मध्य ब्राह्मणका (ताद्विध्यम्) विद्या विधित्व प्रयोजन लक्षित होता है, क्योंकि (भूयस्त्वात्वनुबन्धः) मानस अग्निमें बहुतसे अग्निके अवयव संपाद्य होनेसे क्रिया अग्निके साथ उसका पाठ है।

परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्यस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे, ताद्विध्यं केवलविद्याविधित्वं शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते, न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम्। तत्र हि—'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इत्यनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दन्विद्यां च प्रशंसन्निदं गमयति। तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन्ब्राह्मणे विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते, 'सोऽमृतो भवति मृत्युर्ह्यस्यात्मा भवति' इति विद्याफलेनैवोपसंहारान्न कर्मप्रधानता। तत्सामान्यादिहापि तथात्वम्। भूयांसस्त्वग्न्यवयवाः संपादयितव्या विद्यायामित्येतस्मात्कारणादग्निनाऽनुबध्यते विद्या, न कर्माङ्गत्वात्। तस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्वसिद्धिः ॥५२॥

(३० ऐकात्म्याधिकरणम्। सू० ५३–५४)

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥५३॥

पदच्छेद— एके, आत्मनः, शरीरे, भावात्।

सामान्य न हो, ऐसा संभव नहीं है, और इतने मात्रसे प्रत्येक वस्तुकी अपनी स्वाभाविक विषमता निवृत्त नहीं हो जाती। मृत्युके समान—जैसे 'स वा एष० (वह यही मृत्यु है जो यह इस मण्डलमें पुरुष है) और 'अग्निर्वै मृत्युः' (अग्नि ही मृत्यु है) इसमें अग्नि और आदित्य पुरुषमें मृत्यु शब्दका प्रयोग समान होनेपर भी दोनोंमें अत्यन्त साम्यकी प्राप्ति नहीं होती। और जैसे 'असौ वाव लोको० (हे गौतम ! यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है, उसका आदित्य ही समिधा है) इसमें समिधा आदिके सादृश्यसे द्युलोकमें अग्निभावकी प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही प्रकरणमें समझना चाहिए ॥ ५१ ॥

आगे भी 'अयं वाव लोको० (यही लोक यह अग्निश्चित् है) इस अनन्तर ब्राह्मणमें श्रुतिका प्रयोजन ताद्विध्य केवल विद्याविधित्व लक्षित होता है, शुद्ध कर्माङ्गविधित्व नहीं, क्योंकि उसमें 'विद्यया तदारोहन्ति० (विद्यासे उस स्थानको प्राप्त होते हैं जहाँ मनोरथ प्राप्त होते हैं, वहाँ कर्म कुशल नहीं जाते और अविद्वान् तपस्वी भी नहीं जाते) इस श्लोकसे केवल कर्मकी निन्दा करती हुई और विद्याकी प्रशंसा करती हुई श्रुति यह (विद्याका प्राधान्य) बोधित करती है। उसी प्रकार पूर्वमें भी 'यदेतन्मण्डलं तपति' (जो यह मण्डल तपता है) इस ब्राह्मणमें विद्याका प्रधानत्व ही लक्षित होता है। 'सोऽमृतो भवति० (वह अमृत होता है, क्योंकि मृत्यु उसकी आत्मा है) इस प्रकार विद्याफलसे ही उपसंहार होनेसे कर्म प्रधानता नहीं है। पूर्व और उत्तर ब्राहाणके सादृश्यसे यहाँ (मध्यस्थ ब्राह्मणमें) भी विद्याकी प्रधानता है। परन्तु विद्यामें अग्निके बहुतसे अवयव संपादन करने योग्य हैं, इसकारणसे विद्या अग्निसे सम्बद्ध होती है, कर्मके अङ्गरूप होनेसे नहीं है। इसलिए मनश्चित् आदि अग्नियाँ केवल विद्यात्मक हैं, ऐसी सिद्धि होती है ॥ ५२ ॥

सूत्रार्थ—(एके) चार्वाक् लोग (आत्मनः) देहसे अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व नहीं है, (शरीरे) क्योंकि शरीरके होनेपर ही (भावात्) आत्माके धर्मोंका अस्तित्व है।

इह देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये। न ह्यसति तिरिक्ते आत्मनि परलोकफलाश्चोदना उपपद्येरन् कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत ? ालप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुक्तम्। क्तं भाष्यकृता, नतु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति, इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदस्तित्वमाक्षेप- र्वं प्रतिष्ठापितम्। इत एव चाकृष्याऽऽचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम ार: कृतः। इह चेदं चोदनालक्षणेषूपासनेषु विचार्यमाणेष्वात्मास्तित्वं विचार्यते, ास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय। अपि च पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदा- पुरुषार्थत्वं वर्णितम्, कोऽसौ पुरुषः ? यदर्था एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं तिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते। तदस्तित्वाक्षेपार्थं चेदमादिमं सूत्रम्। आक्षेपपूर्विका रिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यायेन दृढां बुद्धिमुत्पादयति। * अत्रैके देह- ात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु थिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं क्तिवद्विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाहुः। न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय

इस अधिकरणमें बन्ध और मोक्षके अधिकारकी सिद्धिके लिए देहसे पृथक् आत्माके त्वका समर्थन किया जाता है। देहसे अतिरिक्त आत्माके न होनेपर परलोक फलवाले विधि की उपपत्ति नहीं होगी और शास्त्र किसको ब्रह्मात्मत्वका उपदेश करेगा। परन्तु शास्त्रके में [पूर्वमीमांसाके] प्रथम पादमें ही शास्त्रोक्त फलके उपभोगके योग्य, देहसे व्यतिरिक्त का अस्तित्व कहा गया है। ठीक भाष्यकार (शबर स्वामी) ने ऐसा कहा है। परन्तु वहां अतिरिक्त आत्माका सद्भाव विषयक सूत्र नहीं है। यहां तो स्वयं ही सूत्रकारने आक्षेप पूर्वक अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व प्रतिष्ठापित किया है। आचार्य शबर स्वामीने यहांसे ही आकर्षण माण लक्षण (प्रथम अध्याय) में देहसे पृथक् आत्माका वर्णन किया है। अतएव भगवान् ने पूर्वमीमांसामें आत्माके अस्तित्वके कथनका प्रसंग आनेपर हम इसे शारीरकमें कहेंगे, कहकर उपरत हुए हैं अर्थात् प्रकरण समाप्त किया है। और यहां चोदनालक्षण–विधिसे विचार्यमाण उपासनाओंमें समस्त शास्त्रका आत्मास्तित्व अंग है। इस प्रदर्शनके लिए आत्मा- स्तित्वका विचार किया जाता है। किञ्च पूर्व अधिकरणमें क्रतुके प्रकरणसे उत्कर्ष स्वीकारकर त् आदि अग्नियोंमें पुरुषार्थत्व वर्णित किया गया है। वह पुरुष कौन है, जिसके लिए ये त् आदि अग्नियां हैं ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर देहसे अतिरिक्त यह आत्माका अस्तित्व जाता है। उस अस्तित्वके आक्षेपके लिए यह प्रथम सूत्र है। आक्षेप पूर्वक कहा गया परिहार निखनन न्यायसे विवक्षित अर्थमें दृढ बुद्धि उत्पन्न करेगा। आत्मविचारके प्रसंगमें देहमात्रको देखनेवाले कुछ लोकायतिक लोग देहसे व्यतिरिक्त आत्माका अभाव मानते हुए समस्त और बाह्य पृथिवी आदिमें अदृष्ट भी चैतन्य शरीरके आकारमें परिणत भूतोंमें होना चाहिए। इस उन भूतोंसे चैतन्यकी संभावना करते हुए मदशक्तिके समान विज्ञान है और चैतन्य विशिष्ट-

सत्यानन्दी दीपिका

* चैतन्य विशिष्ट यह भूतोंका संघातमक देह ही आत्मा है। इसमें 'यद्धि' इत्यादिसे अन्वय- द्वारा देहको आत्मा सिद्ध करते हैं। किञ्च 'मैं गोरा हूँ, मैं कृष्ण हूँ, मैं जाता हूँ' इत्यादि

वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, यत्कृतं चैतन्यं देहे स्यात्। देह एव तु चेतनश्चात्म चेति प्रतिजानते। हेतुं चाचक्षते शरीरे भावादिति। यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च भवति तत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते यथाऽग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ। प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चात्म धर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असि देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति, तस्माद्व्यतिरेको देहादात्मन इति ॥५

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥५४॥

पच्छेद—व्यतिरेकः, तद्भावाभावित्वात्, न, तु, उपलब्धिवत्।

सूत्रार्थ—(व्यतिरेकः) आत्मा देहसे व्यतिरिक्त है, (तद्भावाभावित्वात्) क्योंकि मृत वस्थामें देहके होनेपर भी आत्माके चैतन्य आदि धर्मोंका अस्तित्व नहीं है। (नतूपलब्धिवत्) भूतोंकी उपलब्धि भूतोंका धर्म नहीं है, वैसे भौतिक देहकी उपलब्धि भी देहका धर्म नहीं है, भि उससे भिन्न है।

* नत्वेतदस्ति यदुक्तम्—अव्यतिरेको देहादात्मन इति, व्यतिरेक एवास्य देहा वितुमर्हति, तद्भावाभावित्वात्। यदि देहभावे भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत, त देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत ? देहधर्मवैलक्षण्यात्। ये हि देहध रूपादयस्ते यावद्देहं भवन्ति। प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति। दे

काय पुरुष है, ऐसा कहते हैं। स्वर्गमें जानेके लिए अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए देहसे अतिरि समर्थ आत्मा नहीं है, जिसके प्रभावसे देहमें चैतन्य हो, देह ही चेतन और आत्मा है, ऐसी प्रति करते हैं। इस प्रतिज्ञात अर्थमें हेतु कहते हैं—'शरीरे भावात्' शरीरके होनेपर ही आत्माके धर्मों अस्तित्व है। क्योंकि जिसके होनेपर होता है और न होनेपर नहीं होता, वह उसका धर्म निश्चित किया जाता है। जैसे अग्निके धर्म औष्ण्य और प्रकाश निश्चित किए जाते हैं। प्राण, चे चैतन्य और स्मृति आदि जो आत्मवादियोंके आत्मधर्मरूपसे अभिमत हैं, वे भी देहके अन्दर उपलब्ध होते हुए बाहर उपलब्ध नहीं होते हुए देहसे व्यतिरिक्त धर्मोंके असिद्ध होनेपर देहके धर्म होने चाहिएँ। इसलिए देहरूप आत्मासे अतिरिक्त आत्मा नहीं है ॥ ५३ ॥

ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—

सिद्धान्ती—यह जो कहा गया है कि देहरूप आत्मासे पृथक् आत्मा नहीं है। वह ठीक न है। आत्माका देहसे अतिरिक्त होना ही युक्त है, क्योंकि देहके होनेपर आत्माके धर्मोंका अभाव है यदि देहके अस्तित्वमें आत्मधर्मोंका सद्भाव होनेसे आत्मधर्म देह धर्म मानें जाय तो देहके अस्तित्व भी आत्माके चैतन्य आदि धर्मोंका अभाव होनेसे ये आत्मधर्म देहके धर्म नहीं है, ऐसा क्यों न माना जाय ? क्योंकि वे देहके धर्मोंसे विलक्षण हैं। जो रूप आदि देहके धर्म हैं वे देह पर्यन्त और प्राण, चेष्टा आदि तो मरणावस्थामें देहके होनेपर भी नहीं होते। रूप आदि देहके धर्म दूसरों

सत्यानन्दी दीपिका

प्रसिद्ध प्रतीतियोंका विषय भी यह देह ही है। अतः देह ही आत्मा है। विशेष विस्तार (ब्र० सू० १।१।१) में है ॥ ५३ ॥

* देहके रूपादि धर्म बाह्य और नेत्र आदि इन्द्रियोंसे ग्राह्य हैं और आत्मधर्म आन्तर है वे स्वयं जाने जाते हैं अथवा दूसरेसे अनुमेय हैं। इसलिए तुमको विना इच्छाके भी अनुमान आदि प्रमाण मानने पड़ेंगे, नहीं तो व्यवहारकी सिद्धि नहीं होगी। जैसे कि मुखाकृति देखनेसे परपुरुषवर्ती

रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते, नत्वात्मधर्मांश्चैतन्यस्मृत्यादयः। अपि च सति हि ताव-
जीवदवस्थायामेषां भावः शक्यते निश्चेतुं, न त्वसत्यभावः। पतितेऽपि कदाचिदस्मि-
देहान्तरसंचारेणात्मधर्मा अनुवर्तेरन्। संशयमात्रेणापि परपक्षः प्रतिषिध्यते। * किमा-
च पुनरिदं चैतन्यं मन्यते, यस्य भूतेभ्य उत्पत्तिमिच्छतीति परः पर्यनुयोक्तव्यः। नहि
तुष्टयव्यतिरेकेण लोकायतिकः किंचित्तत्त्वं प्रत्येति। यदनुभवनं भूतभौतिकानाम्,
न्यमिति चेत्—तर्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न
ष्णः सन्स्वात्मानं दहति। नहि नटः शिक्षितः सन्स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति। नहि भूत-
धर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन्। नहि रूपादिभिः स्वरूपं पररूपं
षयीक्रियते। विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन। अतश्च
त्या भूतभौतिकविषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यते, एवं व्यतिरेकोऽप्यस्यास्तेभ्योऽ-
न्तव्यः। उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मेत्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम्, नित्यत्वं चोप-

---

लब्ध होते हैं। परन्तु चैतन्य, स्मृति आदि आत्मधर्म अन्योंसे उपलब्ध नहीं होते। इसप्रकार
वस्थामें देहके विद्यमान होनेपर इन धर्मोंका अस्तित्व निश्चित किया जा सकता है। परन्तु
न होनेपर इनका अभाव निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि कदाचित् देहके पतित होने-
आत्मधर्म अन्य देहमें संचारसे अनुवृत्त हो सकते हैं। इसप्रकार केवल संशयसे भी परपक्षका
किया जाता है। जिस चैतन्यकी भूतोंसे उत्पत्तिकी इच्छा करते हो उस चैतन्यका स्वरूप
मानते हो ऐसा वादिसे पूछना चाहिए, क्योंकि लोकायतिक चार भूतोंसे अतिरिक्त किसी पदार्थको
मानता। यदि कहो कि भूत और भौतिकोंका जो अनुभव है वही चैतन्य है, तो उन भूत और
में चैतन्यका विषयत्व होनेसे चैतन्य उनका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि अपनेमें क्रियाका
है। जैसे अग्नि उष्ण होती हुई अपनेको नहीं जलाती, नट शिक्षित होता हुआ भी अपने कंधों-
ीं चढ़ सकता, वैसे भूत और भौतिकका धर्म होते हुए चैतन्यसे भूत भौतिक विषय नहीं किए
ते। जैसे रूप आदिसे (भूत-भौतिक धर्मसे) अपना रूप अथवा अन्यका रूप विषय नहीं किया
। परन्तु बाह्य और आध्यात्मिक भूत-भौतिक पदार्थ चैतन्यसे विषय किये जाते हैं। इसलिए
त-भौतिक विषयक इस उपलब्धिका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, वैसे ही उनसे इस उप-
का व्यतिरेक भी स्वीकार करना चाहिए। 'हमारे मतमें तो आत्मा उपलब्धि स्वरूप ही है' इस
आत्मा देहसे व्यतिरिक्त है। और एक रूप होनेसे उपलब्धि नित्य है, कारण कि 'मैंने यह

सत्यानन्दी दीपिका

आदिका ज्ञान, पर्वत आदिमें धूम आदिसे अग्नि आदिका ज्ञान आदि नहीं होंगे, इसलिए
दयः देहव्यतिरिक्ताश्रयाः देहसत्त्वेऽप्यसत्त्वात्, व्यतिरेकेण देहरूपादिवत्' (ज्ञान आदि देहसे
क्तके आश्रित हैं, क्योंकि देहके अस्तित्वमें भी उनका अभाव है, व्यतिरेकसे जैसे देहके रूपादि)
र प्रत्यक्षसे भिन्न अनुमान प्रमाणसे भी आत्मा देहसे पृथक् सिद्ध होता है। मरणकालमें
आदि धर्मोंके देहमें उपलब्ध न होनेसे उनका अभाव निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि
मतमें अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है और उनके धर्मी आत्माका देहान्तर प्राप्तिसे भी अनुपलम्भ
होता है। इसप्रकार संशय मात्रसे भी परपक्षका प्रतिषेध किया जाता है। 'उपलब्धिवत्'
स्थ पदका व्याख्यान करनेके लिए अब 'किमात्मकम्' इत्यादि भूमिका रचते हैं।

* क्या यह चैतन्यं भूतोंसे भिन्न तत्त्व है अथवा रूप आदिके समान भूतोंका धर्म है? प्रथम
युक्त नहीं है, क्योंकि तुमने चारों भूतोंसे अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार नहीं किया है, इसलिए
सिद्धान्तकी हानि होगी। द्वितीय पक्षका 'यदनुभवनम्' इत्यादिसे निराकरण करते हैं। अनुभव

लब्धेरैकरूप्यात्, अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञाना
स्मृत्याद्युपपत्तेश्च। यत्तूक्तं—शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिरिति, तद्वर्णितेन प्रकारे
प्रत्युक्तम्। अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति। न चैताव
प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति। एवं सति देह उपलब्धिर्भवत्यसति च न भवतीति न दे
धर्मो भवितुमर्हति, उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद्देहोपयोगोपपत्तेः। न चात्यन्तं देहस्य
पलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते, निश्चेष्टेऽप्यस्मिन्देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात्। तस्मा
दनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम् ॥५४॥

(३१ अङ्गावबद्धाधिकरणम्। सू० ५५–५६)

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

पदच्छेद—अङ्गावबद्धाः, तु, न, शाखासु, हि, प्रतिवेदम्।

सूत्रार्थ—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है, (अङ्गावबद्धाः) अङ्गाश्रित उद्गीथ आ
उपासनाएँ (प्रतिवेदम्) प्रत्येक वेदमें (शाखासु) अपनी-अपनी शाखामें व्यवस्थित (न) नहीं हो
चाहिएं, किन्तु सर्व शाखाओंमें अनुवृत्त होनी चाहिएं, (हि) क्योंकि 'उद्गीथमुपासीत' इस प्र
उद्गीथ आदिकी अविशेष श्रुति है।

* समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा, संप्रति तु प्रकृतामेवानुवर्तामहे—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपा
सीत' (छा० १।१।१) 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) 'उक्थमुक्थमिति वै प्र

देखा' इस प्रकार अन्य अवस्थाका सम्बन्ध होनेपर भी उपलब्धारूपसे प्रत्यभिज्ञान होता है औ
स्मृति आदिकी उपपत्ति होती है। जो यह कहा गया कि शरीरमें अस्तित्व होनेसे उपलब्धि शरीर
धर्म है, वह भी वर्णित प्रकारसे निराकृत हुआ। किञ्च प्रदीप आदि उपकरणोंके विद्यमान होने
उपलब्धि होती है उनके विद्यमान न होनेपर नहीं होती, इतनेमात्रसे उपलब्धि प्रदीपका धर्म नहीं
जाती। इस प्रकार देहके होनेपर उपलब्धि होती है उनके न होनेपर नहीं होती, इससे देहका ध
नहीं हो सकती, क्योंकि उपलब्धिके उपकरणमात्रसे भी प्रदीप आदिके समान देहका उपयोग
सकता है। किन्तु उपलब्धिमें देहका अत्यन्त उपयोग नहीं देखा जाता, कारण कि इस देहके नि
होनेपर भी स्वप्नमें अनेक प्रकारकी उपलब्धि देखनेमें आती है। इसलिए देहसे अतिरिक्त आत्मा
अस्तित्व दोष रहित है ॥ ५४ ॥

प्रासङ्गिक कथा समाप्त हुई। अब हम प्रकृत कथाकी अनुवृत्ति करते हैं—'ओमित्येदक्षर
(ॐ इस अक्षर उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए) 'लोकेषु० (पृथ्वी आदि लोकोंमें पाँच प्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

तो चैतन्य है और भूत जड़ हैं, ऐसी स्थितिमें चैतन्य जड़ भूतोंका धर्म नहीं हो सकता है। वेदा
सिद्धान्तमें उपलब्धि ही आत्मा है। 'आत्मा, देहाद्भिन्नः, उपलब्धिरूपत्वात् उपलब्धिवत्' (आत्
देहसे भिन्न है उपलब्धिरूप होनेसे उपलब्धिके समान) इससे आत्मा भी उपलब्धिरूप होनेसे नि
ही है। अब तक तो पूर्वपक्षके मतका अवलम्बन कर कहा गया है। परन्तु आगे अपना अभिम
'न चात्यन्तं' इत्यादिसे स्पष्ट करते हैं। 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि देह विषयक अभेद ज्ञान भ्रमात्मक है
अतः वह देहको आत्मा सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। इसलिए उपलब्धि स्वरूप आत्माका देहसे पृथ
अस्तित्व सिद्ध है ॥ ५४ ॥

* देहके विद्यमान होनेपर चैतन्य है, किन्तु देहके विद्यमान होनेपर जैसे चैतन्यका अभा
भी है, वैसे उद्गीथ आदिके सद्भावमें उपासना है, किंतु उद्गीथ आदिके सद्भावमें उपासनाके अभाव

तदिदमेवोक्थम्’, ‘इयमेव पृथिवी,’ ‘अयं वाव लोकः’ ‘एषोऽग्निश्चितः’ इत्येवमाद्या य थादिकर्माङ्गावबद्धाः प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते तत्तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथा- भवेयुरथवा सर्वशाखागतेष्विति विषयः। प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदानु- ायमुपन्यासः। किं तावत्प्राप्तम्? स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधीयेरन्निति। कुतः? धानात्, ‘उद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) इति हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां कृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः। तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशे- ादाने कारणं नास्ति। तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति। एवं प्राप्ते ब्रवीति—अङ्गावबद्धा- ति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन्। अपि तु सर्व- ास्वनुवर्तेरन्। कुतः? उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात्। स्वशाखाव्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति ान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीडिता स्यात्। वैतन्न्याय्यम्, संनिधानात्तु श्रुतिर्बलीयसी। नच सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते। ात्स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात्सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्य- युः ॥५५॥

की उपासना करनी चाहिए) ‘उक्थमुक्थमिति०’ (प्रजा उक्थ-उक्थ ऐसा कहती हैं, वह उक्थ वक्ष्यमाण है, जो उक्थ है, वह यही पृथ्वी है) ‘अयं वाव लोकः०’ (यह लोक है, यह अग्निश्चित्) इत्यादि कर्माङ्गसे सम्बन्धित उद्गीथ आदि उपासनाएँ जो प्रत्येक वेदमें भिन्न-भिन्न शाखाओंमें हैं, क्या वे तत्-तत् शाखागत उद्गीथ आदिमें होनी चाहिएं अथवा सर्वशाखागत उद्गीथ आदिमें ी चाहिएं? ऐसा संशय होता है। प्रत्येक शाखामें स्वर आदि भेदसे उद्गीथ आदि भेदोंको लेकर उपन्यास है। तब क्या प्राप्त होता है? पूर्वपक्षी—अपनी शाखागत उद्गीथ आदिमें ही विद्याओंका ान करना चाहिए। किससे? इससे कि संनिधान है। ‘उद्गीथमुपासीत’ (उद्गीथकी उपासना ी चाहिए) इस प्रकार सामान्यसे विहित विद्याओंको विशेषकी आकांक्षा होनेपर संनिकृष्ट स्व ागत विशेषसे ही विशेष आकांक्षा आदिकी निवृत्ति होती है, अतः उसका अतिक्रमणकर अन्य ामें विहित विशेषके उपादानमें कारण नहीं है, इसलिए प्रत्येक शाखामें व्यवस्था है। सिद्धान्ती— प्राप्त होने कहते हैं—‘अङ्गावबद्धास्तु’। ‘तु’ शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। ये उपासनाएँ क वेदमें अपनी शाखामें ही व्यवस्थित नहीं होनी चाहिएं, किन्तु सर्व शाखाओंमें अनुवृत्त होनी एं, क्योंकि उद्गीथ आदि श्रुति अविशेष है। अपनी शाखामें व्यवस्था होनेपर ‘उद्गीथमुपासीत’ सामान्य श्रुति अविशेषरूपसे प्रवृत्त होती हुई संनिधिके बलसे विशेषमें व्यवस्थापित होकर बाधित यह युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति संनिधिसे बलवती है। और सामान्यके आश्रयसे विद्या उपपन्न नहीं ी ऐसा भी नहीं है। इससे स्वर आदिके भेद होनेपर भी उद्गीथत्व आदिके अविशेष होनेसे सब ागत उद्गीथ आदिमें इस प्रकारकी उपासनाएँ होनी चाहिएं ॥ ५५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

शङ्काकर ‘अङ्गावबद्धा’ इत्यादिसे कहते हैं। इस प्रकार प्रासङ्गिक कथा समाप्तकर अब प्रकृत उद्गीथ ि उपासनाओंकी ‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ इत्यादिसे अनुवृत्ति करते हैं। ‘लोकेषु पञ्चविधं ोपासीत’ यथा ‘पृथ्वी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथं आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम्’ ० २।२।१) (हिंकार पृथ्वी है, प्रस्ताव अग्नि है, उद्गीथ अन्तरिक्ष है, प्रतिहार आदित्य है और न द्युलोक है, इस प्रकार हिंकार आदि पाँच प्रकारके सामकी पृथ्वी आदि दृष्टिसे उपासना करनी ए) उक्थ नामके शस्त्र-अप्रगीत ऋक्में पृथ्वी दृष्टि करनी चाहिए, इष्टिकाचित् अग्निमें लोकदृष्टि नी चाहिए, इस प्रकार कर्माङ्गके आश्रित उपासनाएं हैं। ‘उद्गीथमुपासीत’ इस प्रकार उद्गीथादि

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥५६॥

पदच्छेद— मन्त्रादिवत्, वा, अविरोधः ।

सूत्रार्थ—(अविरोधः) एक शाखामें विहित उद्गीथ आदिकी अन्य शाखागत उद्गीथ आदि प्राप्ति होनेपर भी विरोध नहीं है, (मन्त्रादिवत्) जैसे एक शाखागत मन्त्र, कर्म और गुणोंका अन्य-शाखामें उपसंग्रह देखा जाता है ।

❀ अथवा, नैवात्र विरोधः शङ्कितव्यः—कथमन्यशाखागतेषूद्गीथादिष्वन्यशाखा विहिताः प्रत्यया भवेयुरिति, मन्त्रादिवदविरोधोपपत्तेः । तथा हि मन्त्राणां कर्मणां गुणानां च शाखान्तरोत्पन्नानामपि शाखान्तर उपसंग्रहो दृश्यते । येषामपि हि शाखिनां कुटरुरसी त्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातस्तेषामप्यसौ विनियोगो दृश्यते—'कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमादत्ते कुटरु सीति वा' इति । येषामपि समिदादयः प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधिराम्नायते—

अथवा यहां ऐसी विरोधकी शंका नहीं करनी चाहिए कि अन्य शाखामें विहित उद्गीथ आदि उपासनाएँ अन्य शाखागत उद्गीथ आदिमें किस प्रकार होंगी ? क्योंकि मन्त्र आदिके समान अविरोध उपपन्न होता है । जैसे कि एक शाखामें विहित मंत्र, कर्म और गुणोंका अन्य शाखामें उपसंहार देखा जाता है । जिन शाखावालोंके 'कुटरुरसि' (काण्व संहिता) (तू कुक्कुट है) इसप्रकार अश्मादान (पत्थरादान) मन्त्र पठित नहीं है । उनके भी 'कुक्कुटोऽसि' (शु, यजु, माध्यन्दिन) (तु कुक्कुट है) इस मन्त्रका अश्मादानमें विनियोग देखा जाता है अर्थात् इस मंत्रको पढ़कर अश्मका ग्रहण करना चाहिए । अथवा 'कुटरुरसि' इस मंत्रको पढ़कर अश्मका ग्रहण करना चाहिए । इसप्रकार जिन शाखावालोंके समिध् आदि प्रयाज पठित नहीं है, उनकी शाखाओंमें भी 'ऋतवो वै०

सत्यानन्दी दीपिका

साधारण श्रुतिसे और विशेष संनिधिसे संशय होनेपर पूर्वपक्षी—'स्व शाखागते' इत्यादिसे कहते हैं ॥५५॥

* पूर्व सूत्रमें—एक शाखामें विहित उद्गीथ आदि उपासनाओंका अन्य शाखागत अंगके साथ सम्बन्ध होनेमें जो विरोध प्रतीत हुआ था, उसे अंगीकारकर उनका सम्बन्ध कहा गया है । अब उनका विरोध ही नहीं है, क्योंकि एक शाखामें विहित अंगोंका अन्य शाखामें स्थित अंगोंके साथ सम्बन्ध जैसे उपपन्न होता है, वैसे ही यह सम्बन्ध उपपन्न है । अब इसे 'अथवा' इत्यादिसे कहते हैं । अविरोधमें क्रमशः मंत्र, कर्म और गुणोंका 'तथा येषामपि' इत्यादिसे उदाहरण देते हैं । मन्त्र—यद्यपि यजुर्वेदियोंका 'कुक्कुटोऽसि' ऐसा मंत्र है 'कुटरुरसि' ऐसा मन्त्र नहीं है, तो भी तण्डुलपेषणके लिए अश्मादानमें (पत्थर ग्रहणमें) दोनों मन्त्रोंका विकल्पसे विनियोग होनेके कारण 'कुटरुरसि' यह मन्त्र भी प्राप्त होता है । शाखा भेदसे इन दोनों मंत्रोंकी आनुपूर्वी भिन्न भिन्न होनेपर भी दोनोंके अर्थमें भेद नहीं है । भगवान् भाष्यकारने सूत्रस्थ आदि पदसे कर्म और गुणका ग्रहण किया है । कर्मका उदाहरण—मैत्रायणी शाखावालोंके 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, ईडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति' इसप्रकार यागके अङ्गभूत समिध् आदि पाँच प्रयाज नहीं पढ़े गए हैं । हेमन्त और शिशिर इन दोनों ऋतुओंको मिलाकर द्वादशमासमें पाँच ऋतु हैं, इसप्रकार प्रयाज भी पाँच हैं, उनका समानदेशमें गुणविधिसे होम करना चाहिए । इसप्रकार एक शाखामें विहित कर्मोंका अन्य शाखामें संग्रह देखनेमें आता है । गुणका उदाहरण—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इसप्रकार यजुर्वेदियोंकी श्रुतिमें सामान्यरूपसे अग्नीषोमीय पशु कहा गया है, 'अज' ऐसा जाति विशेष नहीं । 'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' 'छागो वा मन्त्रवर्णात्' (जै० सू० ६।६) (मन्त्र वर्णसे अज लेना चाहिए) इस मन्त्रके आधार पर यह जैमिनि सूत्र है । इसप्रकार प्रैषमन्त्र-

वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः' इति। तथा येषामपि 'अजोऽग्नीषोमीयः' इति जातिविशेषो- नास्ति तेषामपि तद्विषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इति। वेदान्तरोत्पन्नानामपि 'अग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो दृष्टः। बह्वृचपठितस्य सूक्तस्य 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० सं० २।६।७) इत्यस्य र्यवे सजनीयं शस्यम्' इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः। तस्माद्यथाऽऽश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्रानु- रेवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥५६॥

(३२ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्। सू० ५७)

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥५७॥

पदच्छेद—भूम्नः, क्रतुवत्, ज्यायस्त्वम्, तथा, हि, दर्शयति।

सूत्रार्थ (भूम्नः) 'प्राचीनशाल औपमन्यवः' इत्यादिमें समस्तोपासनाका ही (ज्यायस्त्वम्) रूपसे प्रतिपादन है। (क्रतुवत्) जैसे दर्शपूर्णमास यागमें एक ही साङ्गप्रधानका प्रयोग होता (हि) क्योंकि 'तस्य ह वा' यह श्रुति भी व्यस्त उपासनाकी निन्दाकर (तथा) उसीप्रकार त उपासनाकी प्रतिपत्ति (दर्शयति) दिखलाती है।

* 'प्राचीनशाल औपमन्यवः' (छा० ५।११।१) इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते। व्यस्तोपासनं तावत्–'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिव- भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से' (छा० ५।१२।१)

तु ही प्रयाज है, समान देश-एक स्थानमें ही उनका होम करना चाहिए) इसप्रकार उनमें विधि कही जाती है। और जिन शाखावालोंमें 'अजोऽग्नीषोमीयः' (अज अग्नीषोमीय है) जाति विशेषका उपदेश नहीं है, उन शाखावालोंमें भी 'छागस्य वपाया० (छाग-बकराकी मेदके होमार्थ अनुवाक्या कहो) ऐसा तद्विषयक मंत्रवर्ण उपलब्ध होता है। तथा अन्य वेदमें हुए 'अग्ने र्वैर्होत्रं वेरध्वरम्' (हे अग्ने! देवताओंके होत्र वेध्वर कर्म तुमसे सम्पन्न होता है) मंत्रोंका भी अन्य वेदमें परिग्रह देखा गया है। इसीप्रकार 'यो जात एव० (जो उत्पन्न हुआ क ही गुणोंसे श्रेष्ठ और मनस्वी हुआ, हे जनो! वह इन्द्र है) इस बह्वृचों-होताओं द्वारा सूक्तका 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' (अध्वर्यु द्वारा किए गए प्रयोगमें सजनीय–'स जनास [हे जनो! वह इन्द्र है] यह सूत्र कहना चाहिए) इसमें परिग्रह देखा जाता है। इसलिए आश्रय कर्मांगोंकी सर्वत्र अनुवृत्ति है, वैसे ही आश्रित उपासनाओंकी भी सर्वत्र अनुवृत्ति है, अतः कोई विरोध नहीं है ॥ ५६ ॥

'प्राचीनशाल औपमन्यवः' (उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल) इस आख्यायिकामें व्यस्त और रूपसे वैश्वानरकी उपासना श्रुति है। 'औपमन्यव कं० (हे उपमन्युकुमार! तुम किस आत्माकी ना करते हो? इसप्रकार राजा अश्वपतिके प्रश्न करनेपर हे पूज्य राजन्! मैं द्युलोककी उपासना

सत्यानन्दी दीपिका

'अज' जाति विशेषका संग्रह होता है। मन्त्रोंका 'तथा' इत्यादिसे दूसरा उदाहरण कहते हैं— वैर्होत्रं वेरध्वरम्' इसप्रकार साम वेदस्थ मंत्रोंका यजुर्वेदमें ग्रहण होता है। इसप्रकार जैसे एक विहित मन्त्र आदिका अन्य शाखामें परिग्रह होता है, वैसे ही एक शाखामें विहित उद्गीथ उपासनाओंका भी अन्य शाखामें ग्रहण होता है ॥ ५६ ॥

* इसमें अश्वपति कैकेय और प्राचीन शाल आदि मुनिगणोंका वैश्वानर विषयक विचार है। आदिमें से जो प्रत्येक अवयवकी वैश्वानररूपसे उपासना वह व्यस्तोपासना है, और उनके

इत्यादि, तथा समस्तोपासनमपि 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० ५।१८।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिहोभयथाप्युपासनं स्याद्व्यस्तस्य समस्तस्य चोत समस्तस्यैवेति ? किं तावत्प्राप्तम् ? प्रत्यवयवं सुतेजः प्रभृतिषूपास्स इति क्रियापदश्रवणात्, 'तस्मात्तव सुतं प्रसुत मासुतं कुले दृश्यते' (छा० ५।१२।१) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च, व्यस्तान्यप्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम्। ततोऽभिधीयते—भूम्नः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्व प्राधान्यमस्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि। क्रतुवत्। यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु सामस्त्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते, न व्यस्तानामपि प्रयोगः प्रयाजादीनाम्। नाप्येकदेशाङ्गयुक्तस्य प्रधानस्य तद्वत्। कुत एतद्भूमैव ज्यायानिति ? तथा हि श्रुतिर्भूम्नो ज्यायस्त्वं दर्शयति; एकवाक्यतावगमात्। एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात्प्रतीयते। तथा हि—प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षडृषयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अश्वपतिं कैकेयं राजानमभ्याजग्मुरित्युपक्रम्यैकैकस्यर्षेरुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः'

करता हूँ, ऐसा उसने उत्तर दिया। राजा—तुम जिस आत्माकी उपासना करते हो यह निश्चय ही सुतेजा' नामसे प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है) इत्यादि व्यस्तोपासना है। इसीप्रकार 'तस्य ह वा० (उस वैश्वानर आत्माका मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है, चक्षु विश्वरूप-सूर्य है, प्राण पृथग्वर्त्मा वायु है, देहका मध्य भाग बहुल-आकाश है, बस्ति ही रयि-जल है, पृथिवी ही दोनों पाद हैं) इत्यादि समस्तोपासना भी है ! यहां संशय होता है कि क्या वैश्वानर वाक्यमें व्यस्त और समस्त दोनों प्रकारकी उपासना होनी चाहिए अथवा समस्त ही, तो क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—सुतेजा आदि प्रत्येक अवयवमें 'उपास्से' इसप्रकार क्रियापदके श्रवणसे और 'तस्मात्तव० (इसीसे तुम्हारे कुलमें सुत (खण्डित सोमद्रव्य) प्रसुत और आसुत दिखाई देते हैं) इत्यादि फल भेदके श्रवणसे व्यस्त उपासनाएँ होनी चाहिएँ। ऐसा प्राप्त होता है। सिद्धान्ती—इसपर कहते हैं—भूमाका-पदार्थोपचयात्मक समस्त वैश्वानर उपासनाका ज्यायस्त्व-प्राधान्यसे इस वाक्यमें विवक्षित होना युक्त है, किन्तु प्रत्येक अवयवोपासनाका ज्यायस्त्व विवक्षित नहीं है। क्रतुके समान—जैसे दर्शपूर्णमास आदि क्रतुओंमें समस्तरूपसे अङ्गोंसहित प्रधानका एक ही प्रयोग विवक्षित है, व्यस्त प्रयाज आदिका प्रयोग विवक्षित नहीं है, और एकदेशरूप अङ्गसे युक्त प्रधानका भी प्रयोग विवक्षित नहीं है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए। परन्तु भूमा ही ज्यायान् है, यह किससे ज्ञात होता है ? इससे कि श्रुति भूमाका ज्यायस्त्व दिखलाती है, क्योंकि एकवाक्यता अवगत होती है। यह वैश्वानर विद्या विषयक वाक्य पौर्वापर्य पर्यालोचनसे एक ही प्रतीत होता है। जैसे कि प्राचीन शाल आदि उद्दालक पर्यन्त छः ऋषिगण वैश्वानर विद्यामें परिनिष्ठाको न प्राप्त होते हुए राजा अश्वपति कैकेयके पास गये, ऐसा उपक्रम कर उसने एक-एक ऋषिको द्यु आदिमेंसे एक-एक उपास्य सुनाकर 'मूर्धा त्वेष० (यह तो वैश्वानर आत्माका मूर्धा है) इत्यादिसे श्रुति उन द्यु आदिका मूर्धा आदि रूपसे विधान करती है। और 'मूर्धा ते० (यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता) इत्यादिसे व्यस्तोपासनाओं

सत्यानन्दी दीपिका

अवयवीकी उपासना समस्तोपासना है। यहाँ दोनों उपासनाओंमें विधि और फलका श्रवण होनेसे और एक वाक्यताकी उपपत्ति होनेसे 'तत्र' इत्यादिसे संशय कहते हैं। पूर्वपक्षमें फलभेद और 'उपास्से' क्रियापदके श्रवणसे व्यस्तोपासनाएँ हैं।

५।१२।२) इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति। ❀ पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य स्तोपासनमेवानुवर्त्य 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' (छा० ५।१८।१) भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति। यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणं तदेवं सत्यङ्ग- नि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम्। तथोपास्स इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं भिप्रायानुवादार्थं न व्यस्तोपासनविधानार्थम्। तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयानिति। त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासनपक्ष- सूत्रकारोऽनुमन्यत इति कथयन्ति। तदयुक्तम्, एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेद- नस्यान्याय्यत्वात्, 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० ५।१२।२) इति चैवमादिनिन्दावचन- धात्; स्पष्टे चोपसंहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात्, स्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात् ॥५७॥

(३३ शब्दादिभेदाधिकरणम् । सू० ५८)

नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥

पदच्छेद—नाना, शब्दादिभेदात्।

सूत्रार्थ—(नाना) विद्या भिन्न-भिन्न है, (शब्दादिभेदात्) क्योंकि 'वेद' 'उपासीत' दि शब्दोंका भेद है।

❀ पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ समस्तोपासनं ज्याय

वाद करती है। और फिरसे व्यस्तोपासनाकी व्यावृत्ति कर और समस्तोपासनाकी अनुवृत्तिकर 'स षु० (वह समस्त लोकोंमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त आत्माओंमें अन्न भक्षण करता है) कार भूमाके आश्रित ही फल दिखलाती है। और जो सुतेजा आदि प्रत्येक अङ्गमें फलभेदका है, ऐसा होनेपर भी वह अङ्गोंका फल प्रधानमें ही स्वीकार किया गया है, ऐसा समझना हिए। और 'उपास्से० यह भी प्रत्येक अवयवमें जो क्रिया पदका श्रवण है, वह भी अन्यके अभि- का अनुवाद करनेके लिए है। व्यस्त उपासनाके विधानके लिए नहीं है। इसलिए समस्त ना पक्ष ही अधिक श्रेष्ठ है। वेदान्त एक देशी कुछ लोग तो इस अधिकरणमें समस्त उपासना त्व पक्ष स्थापनकर ज्यायस्त्व वचनसे ही व्यस्त उपासना पक्ष भी सूत्रकारको अनुमत है, ऐसी ना करते हैं। वह युक्त नहीं हैं, क्योंकि एकवाक्यताकी अवगति होनेपर वाक्यभेदकी कल्पना त नहीं है। कारण कि 'मूर्धा ते० (तुम्हारा मस्तक गिर जायगा) इत्यादि निन्दा वचनका ध भी होता है। और उपसंहारमें समस्त उपासनाका अवगम स्पष्ट होनेपर पूर्वपक्षमें उसका अभाव हीं कहा जा सकता और सूत्रमें ज्यायस्त्व वचन प्रमाणवत्त्वके अभिप्रायसे भी उपपद्यमान है ॥५७॥

पूर्व अधिकरणमें सुतेजा आदिमें फलभेदकी श्रुतिके विद्यमान होनेपर भी समस्त उपासना

सत्यानन्दी दीपिका

❀ भगवान भाष्यकार वेदान्त एक देशी मतको दूषित करनेके लिए उसका 'केचित्' इत्यादिसे वाद करते हैं। 'आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इसप्रकारके वाक्य और प्रकरणसे व्यस्त सनाका समस्त उपासनामें अन्तर्भाव है। जैसे प्रयाज आदि अङ्गोंका प्रधान दर्शपूर्णमासके फल- ही उपसंहार हैं। यदि प्रयाज आदि अङ्गोंका पृथक् फल मानें तो वे दर्शपूर्णमास यागके अङ्ग न र पृथक् कर्म होंगे और दर्श आदिसे पृथक् वाक्य होंगे। इसप्रकार वाक्यभेद प्रसक्त होगा। तु ऐसा नहीं माना गया है। ऐसा प्रकृतमें भी समझना चाहिए। सूत्रमें जो 'ज्यायस्त्व' पद है व्यस्त उपासनाओंको अप्रामाणिक बोध करानेके लिए है। अतः यह सिद्ध हुआ कि समस्त उपा- ना ही करनी चाहिए ॥ ५७ ॥

इत्युक्तम् । अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपाशिष्यन्त इति । अ
च नैव वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते । वेद्यं हि रूपं विद्याया द्रव्यदैवतमिव यागस्य
वेद्यश्चैक एवेश्वरः श्रुतिनानात्वेऽप्यवगम्यते 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) 'कं ब्रह्म
ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमादिषु । तथा 'एक
प्राणः' 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।३) 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) 'प्रा
ह पिता प्राणो माता' (छा० ७।१५।१) इत्येवमादिषु । वेद्यैकत्वाच्च विद्यैकत्वम् । श्रुतिना
त्वमप्यस्मिन्पक्षे गुणान्तरपरत्वान्नानर्थकम् । तस्मात्स्वपरशाखाविहितमेकवेद्यव्यपाश्रयं गु
जातमुपसंहर्तव्यं विद्याकार्त्स्न्यायेति । * एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—नानेति । वेद्याभेदेऽप्ये
जातीयका विद्या भिन्ना भवितुमर्हति, कुतः ? शब्दादिभेदात् । भवति हि शब्दभेदः—वे
'उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवमादिः । शब्दभेदश्च कर्मभेदहेतुः समधि
गतः पुरस्तात् 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्' (जै० सू० २।२।१) इति । आदिग्रहणाद्गुण
दयोऽपि यथासंभवं भेदहेतवो योजयितव्याः । ननु वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवावगम्यते,

---

श्रेष्ठ है, ऐसा कहा गया है । इससे भिन्न श्रुतिवाली अन्य उपासनाएँ भी समस्तरूपसे उपासना
होंगी, ऐसी बुद्धि प्राप्ति होती है । और वेद्यका अभेद होनेपर भी विद्याका भेद नहीं जाना जा सक
क्योंकि जैसे द्रव्य और देवता यागके रूप हैं, वैसे ही वेद्य विद्याका रूप है । 'मनोमयः प्राणशरी
(वह ब्रह्म मनोमय और प्राणशरीर-लिङ्गात्मा शरीर वाला है) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (सुख ब्रह्म
आकाश ब्रह्म है) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (ईश्वर सत्यकाम और सत्यसंकल्प है) इत्या
और इसीप्रकार 'एक एव प्राणः' (प्राण एक ही) 'प्राण वाव० (प्राण ही संवर्ग है) 'प्राणो वा
(प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है) 'प्राणो ह० (प्राण पिता और प्राण माता है) इत्यादि स्थलोंमें श्रुति
भेद होनेपर भी वेद्य एक ही ईश्वर अवगत होता है । वेद्यके एक होनेसे विद्या भी एक ही श्रुत है
श्रुतिभेद भी इस पक्षमें अन्य गुणपरक होनेसे अनर्थक नहीं है । इसलिए अपनी शाखा और अ
शाखाओंमें विहित एक वेद्यके आश्रित गुण समूहका विद्याकी पूर्णताके लिए उपसंहार करना चाहिए

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर प्रतिपादन किया जाता है—'नाना' वेद्यका अभेद होनेपर
इसप्रकारकी विद्याका भेद होना युक्त है, क्योंकि शब्दका भेद है । 'वेद' 'उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वी
(वह निश्चय करे) इत्यादि शब्द भेद है । और शब्द भेद कर्म-भेदका निमित्त है । इसप्रकार पू
काण्डमें—'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्' (जै० सू० २।२।१) (भिन्न भिन्न शब्दके होने
कर्मका भी भेद होता है, क्यों भिन्नरूपसे उनका विषय माना जाता है अर्थात् धात्वर्थमें भेद होता है
इस सूत्रमें ज्ञात होता है । आदि पदके ग्रहणसे गुण आदिकी भी यथासंभव भेदके हेतुरू
योजना होनी चाहिए । परन्तु 'वेद' इत्यादिमें शब्द भेद ही प्रतीत होता है ? 'यजति' ददाति' इत्यादि

सत्यानन्दी दीपिका

* दहर विद्या आदि ब्रह्मविषयक समस्त उपासनाएँ वेद्यके एक होनेपर एक हैं अथवा श्रुति
भेदसे भिन्न हैं, तथा संवर्ग प्राण उपासना एक है अथवा भिन्न है ? इसप्रकार संशय होनेपर दृष्टान्त
संगतिसे 'पूर्वस्मिन्' आदिसे पूर्वपक्ष करते हैं । पूर्वपक्षमें—वेद्यके एक होनेसे विद्या भी एक है । यदि
विद्याका भेद हो तो एक श्रुति विहित विद्याका अन्य श्रुतिमें कथन व्यर्थ होगा । परन्तु विद्याके एक
होनेसे अन्य श्रुतिमें कथन अन्य गुणोंके प्रतिपादनके लिए होनेसे व्यर्थ नहीं होगा । इसलिए अपनी
शाखा अथवा अन्य शाखामें एक वेद्यके आश्रित 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' आदि गुण समुदाय
भी उपसंहार होना चाहिए ।

* जैसे 'एक नारीकाय' अभिन्न होनेपर भी गुण भेद और भावना भेदसे भिन्न भिन्नरूपसे

त्यादिवदर्थभेदः सर्वेषामेवैषां मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात्, अर्थान्तरासंभवाच्च। तत्कथं
भेदाद्विद्याभेद इति ? नैष दोषः, मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्या-
पत्तेः। एकस्यापीश्वरस्योपास्यस्य प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते। तथैकस्यापि
स्य तत्र तत्रोपास्यत्वाभेदेऽप्यन्यादृग्गुणोऽन्यत्रोपासितव्योऽन्यादृग्गुणश्चान्यत्रेत्येवमनु-
भेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभेदो विज्ञायते। ❀ न चात्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय
शक्यं वक्तुम्, विनिगमनायां हेत्वभावात्, अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्या-
न विधानानुपपत्तेः। न चास्मिन्पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रा-
व्याः। प्रतिप्रकरणं चेदंकामेनेदमुपासितव्यमिदंकामेन चेदमिति नैराकाङ्क्ष्यावगमान्नै-
क्यतापत्तिः। न चात्र वैश्वानरविद्यायामिव समस्तचोदनापरास्ति यद्बलेन प्रतिप्रकरण-
वयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामियुः। वेद्यैकत्वनिमित्ते च विद्यैकत्वे सर्वत्र निरङ्कु-
प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः प्रतिज्ञायेत। तस्मात्सुष्ठूच्यते—नाना शब्दादि-
दिति। स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥५८॥

अर्थ भेद तो अवगत नहीं होता। क्योंकि 'वेद, उपासीत' इन सभी शब्दोंका मनोवृत्तिरूप एक
र्थ है और अन्य (ज्ञान) अर्थका असम्भव है, तो शब्द भेदसे विद्या भेद किस प्रकार होगा ?
दोष नहीं है, क्योंकि मनोवृत्तिरूप अर्थका अभेद होनेपर भी अनुबन्धके भेदसे वेद्यका भेद होने
विद्या भेदकी उपपत्ति होती है। उपास्य ईश्वरके एक होनेपर भी उसके गुण प्रत्येक प्रकरणमें
(भिन्न भिन्न) कहे जाते हैं। उसीप्रकार एक ही प्राण तत् तत् स्थलमें उपास्यरूपसे अभिन्न
भी एक प्रकारके गुणोंसे युक्त एक स्थलमें उपासनीय है और अन्य प्रकारके गुणोंसे युक्त
स्थलमें उपासनीय है, इसप्रकार अनुबन्ध भेदसे वेद्यका भेद होनेपर विद्याका भेद ज्ञात होता है।
यहां एक विद्या विधि है और अन्य गुण विधियाँ हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस-
व्यवस्थामें कोई हेतु नहीं है। प्रत्येक प्रकरणमें गुणोंके अनेक होनेसे प्राप्त विद्याके अनु-
गुणोंके विधानकी उपपत्ति नहीं है। इस पक्षमें समान होते हुए सत्यकाम आदि गुणोंका
वार श्रवण नहीं होना चाहिए। प्रत्येक प्रकरणमें इस फलकी कामनावालेसे इस उपास्यकी
करनी चाहिए। और इस फलकी कामनावालेसे इसकी। इसप्रकार इन उपासनाओंमें नैरा-
अवगत होनेसे एक वाक्यता नहीं हो सकती। जैसे वैश्वानर विद्यामें अन्य-समस्त उपासना
है, वैसे यहां प्रकृत शाण्डिल्य आदि उपासनाओंमें अन्य समस्त उपासना विधि नहीं है, जिसके
प्रत्येक प्रकरणवर्ती अवयव उपासनाएँ होकर एकवाक्यताको प्राप्त करें। वेद्यके एकत्व निमित्तसे
एक होनेपर सर्वत्र सब विद्याओंमें यदि बिना अंकुशके प्रतिज्ञाकी जाय तो समस्त गुणोंका
संहार जो अशक्य है उसकी प्रतिज्ञा हो जायगी। इसलिए 'नानाशब्दभेदात्' इसप्रकार सूत्रकार
ही कहा है। इस अधिकरणके स्थित होनेपर 'सर्ववेदान्तप्रत्ययम्' इत्यादि अधिकरण
चाहिए ॥ ५८ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

होती है; वैसे 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' आदि गुण भेदसे और भावनाके अधीन उपासना
उपास्यके एक होनेपर भी उपासना भिन्न भिन्न है।

यह जो कहा गया है कि श्रुतिका भेद अन्य गुणोंके विधानके लिए है। इसका समाधान
चात्रैको' इत्यादिसे कहते हैं। किञ्च फलके भेदसे 'वेद, उपासीत' इत्यादि विधिके भेदसे और सब
ध्यान न हो सकनेके कारण विद्या भिन्न भिन्न है। जैसे दहरका ध्यान करनेवालोंका सब
यथेष्ट गमन है और वैश्वानर उपासक सर्वत्र अन्न भक्षक होते हैं, इसप्रकार फलका भेद है।

(३४ विकल्पाधिकरणम् । सू० ५९)

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५८॥

पदच्छेद—विकल्पः, अविशिष्टफलत्वात् ।

सूत्रार्थ—(विकल्पः) सगुण विद्याओंका विकल्प ही युक्त है, (अविशिष्टफलत्वात्) क्योंकि वेद्य वस्तुका साक्षात्काररूप समान फल है ।

❀ स्थिते विद्याभेदे विचार्यते—किमासामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा स्यात् अथवा विकल्प एव नियमेनेति ? तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किंचि त्कारणमस्ति । ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते । नैष दोषः । नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं नैवं विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति । तस्मान्न समुच्च नियमः । नापि विकल्पनियमः । विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात् । परिशेष्याद्या थाकाम्यमापद्यते । नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः । तथाहि—'मनोमयः प्राण शरीरः' (छा० ३।१४।२) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफला लक्ष्यन्ते । नैष दोषः, समानफलेष्वपि स्वर्गादि साधनेषु कर्मसु याथाकाम्यदर्शनात् । ❀ तस्माद्याथाकाम्यप्राप्तावुच्यते विकल्प एवासां भवि तुमर्हति, न समुच्चयः । कस्मात् ? अविशिष्टफलत्वात् । अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषय

इसप्रकार विद्या भेदके सिद्ध होनेपर यह विचार किया जाता है कि क्या इन विद्याओं उपासकको इच्छासे समुच्चय है अथवा विकल्प है वा नियमसे विकल्प ही है । पूर्वपक्षी—उसमें विद्या भेदके सिद्ध होनेसे समुच्चयके नियममें कोई कारण नहीं है । परन्तु अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि इन भिन्नोंका भी समुच्चयनियम देखा जाता है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि अग्निहोत्र आदि नित्यत्व श्रुति उनके समुच्चय नियममें कारण है, किन्तु विद्याओंमें ऐसी कोई नित्यत्व श्रुति नहीं है, इसलिए उनमें समुच्चयका नियम नहीं, और इसीप्रकार विकल्पका नियम भी नहीं है, क्योंकि एक विद्यामें अधिकृतका अन्य विद्यामें प्रतिषेध नहीं है । परिशेषसे स्वेच्छा पक्ष प्राप्त होता है । परन्तु इन विद्याओंका समान फल होनेसे विकल्प उचित है । क्योंकि 'मनोमय प्राणशरीरः' 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादि श्रुति समानरूपसे ईश्वर प्राप्तिरूप फलवाली देखी जाती है । यह दोष नहीं है, क्योंकि समान फलवाले स्वर्ग आदिके साधनभूत कर्मोंमें भी यथाकाम्य देखनेमें आता है

सिद्धान्ती—इसलिए यथाकाम्य पक्षके प्राप्त होनेपर कहते हैं—इन उपासनाओंका विकल्प ही होना चाहिए, समुच्चय नहीं, क्योंकि अविशिष्ट फल है । इन उपासनाओंका उपास्य विषयक साक्षात्कार करना ही समान (एक फल) है । एक ही उपासनासे उपास्य ईश्वर आदि विषयक साक्षात्कार होनेपर

सत्यानन्दी दीपिका

इसलिए शब्द आदि भेदसे विद्या नाना है । विद्या नानात्व अधिकरण पादके आरम्भमें ही संगत है, यहां तो प्रासङ्गिक है ॥ ५८ ॥

❀ इस अधिकरणमें विद्याओंके अनुष्ठानका प्रकार निरूपण किया जाता है । अहंग्रह, तटस्थ और अङ्गाश्रित भेदसे उपासनाएँ तीन प्रकारकी हैं । उनमेंसे अहंग्रहोपासनाका यहां विचार किया जाता है । अहंग्रहोपासना (उपास्य स्वरूपका स्वाभिन्नरूपसे चिन्तन) में इच्छानुसार और विकल्प दोनोंका विद्या नानात्वके साथ साम्य होनेसे 'किम्' इत्यादिसे संशय कहते हैं । पूर्वपक्षमें स्वेच्छासे अनुष्ठान है, ऐसा अनियम है और सिद्धान्तमें विकल्पसे अनुष्ठान है, ऐसा नियम है ।

❀ जैसे पुरोडाशरूप एक फल होनेसे व्रीहि और यवका विकल्प है, वैसे ही इन विद्याओंमें विकल्प युक्त है । ईश्वरके साक्षात्कारके अनन्तर फल भेद होनेपर भी इन अहंग्रहोपासनाओंका

करणम् । एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम् । वासंभवः, साक्षात्करणस्य समुच्चयपक्षे चित्तविक्षेपहेतुत्वात् । साक्षात्करणसाध्यं च फलं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यस्य स्याद्द्धा न विचिकित्सास्ति' (छा० ३।१४।४) इति, 'देवो देवानप्येति' (बृ० ४।१।२) इति चैवमाद्याः । स्मृतयश्च—'सदा तद्भावभावितः' (भ० गी० इत्येवमाद्याः । तस्मादविशिष्टफलानां विद्यानामन्यतमामादाय तत्परः स्याद्यावदुपास्य- साक्षात्करणेन तत्फलं प्राप्तमिति ॥५९॥

(३५ काम्याधिकरणम् । सू० ६०)

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

पदच्छेद—काम्याः, तु, यथाकामम्, समुच्चीयेरन्, न, वा, पूर्वहेत्वभावात् ।

सूत्रार्थ—(काम्यास्तु) काम्यविद्याओंका तो (यथाकामम्) यथेच्छ (समुचीयेरन्नवा) समुच्चय करे न करे, (पूर्वहेत्वाभावात्) क्योंकि समान फलरूप विकल्पके प्रयोजक हेतुका अभाव है ।

* 'अविशिष्टफलत्वात्' इत्यस्य प्रत्युदाहरणम् । यासु पुनः काम्यासु विद्यासु 'स य एतमेवं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति' (छा० ३।१५।२) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) इति चैवमाद्यासु क्रियावददृष्टेनात्मनात्मीयं साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति । ता यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा समुच्चीयेरन्, हेत्वभावात् । पूर्वस्याविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥६०॥

उपासनाएँ प्रयोजन रहित हैं । समुच्चय पक्षमें तो साक्षात्कारका असंभव ही है, क्योंकि समुच्चय विक्षेपका हेतु है । और 'यस्य स्याद्द्धा० (मैं मरकर इसीको प्राप्त होऊँगा, ऐसा जिसका निश्चय विषयमें कोई सन्देह नहीं है, उसे ईश्वर भावकी प्राप्ति होती है) और 'देवो भूत्वा० (वह इस देव होकर शरीर पातानन्तर देवोंको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतियाँ और 'सदा तद्भावभवितः० उसके भावसे भावित होकर उस उसको प्राप्त होता है) इत्यादि स्मृतियाँ भी साक्षात्कार द्वारा विद्या फल दिखलाती हैं । इससे समान फल वाली उन विद्याओंमेंसे एकको लेकर तत्पर हो उपास्य विषयक साक्षात्कारसे उसका फल प्राप्त हो ॥ ५९ ॥

'समान फल होनेसे' इस पूर्वोक्त हेतुका यह प्रत्युदाहरण है । परन्तु 'स य एतमेव' (वह जो पुत्रका दीर्घ जीवन चाहनेवाला इस प्रकार इस वायुको गोरूपसे कल्पित दिशाओंके वत्सरूपसे है पुत्र निमित्तसे रोदन नहीं करता—पुत्र मरण जन्य रोदन नहीं करता) 'स यो नाम ब्रह्म० जो कोई 'नाम ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी जहाँ तक नामकी गति होती है वहाँ तक गति हो जाती है) इत्यादि जिन काम्य विद्याओंमें क्रिया कर्मके समान अदृष्टरूपसे अपना तत् सिद्ध करती हुई साक्षात्कारकी अपेक्षा नहीं है । वे यथेच्छ समुचित होनी चाहिएं अथवा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यहाँ पूर्व हेतुका अभाव है । 'अविशिष्ट फल होनेसे' इस पूर्व हेतुका अभाव है ॥ ६० ॥

सत्यानन्दी दीपिका

कारूप फल समान है । किञ्च सब उपासनाओंका एक साथ होना असंभव है । अतः यहाँ ही युक्त है ॥ ५९ ॥

* गत अधिकरणमें अहंग्रहोपासनाका विचार किया गया । अत्र इस अधिकरणमें तटस्थ- उपासना 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' आदिके विषयमें विचार किया जाता है । पूर्व अधिकरणमें जैसे उपासनाएं विकल्पसे अनुष्ठेय कही गई हैं, वैसे ही प्रतीकोपासनाएं भी विकल्पसे ही अनुष्ठेय

(३६ यथाश्रयभावाधिकरणम् । सू० ६१–६६)

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

पदच्छेद—अंगेषु, यथाश्रयभावः ।

सूत्रार्थ—(अंगेषु) कर्माङ्गोद्गीथ आदि आश्रित उपासनाओंमें (यथाश्रयभावः) समुच्च अनुष्ठानका नियम है, जैसे क्रतुओंमें आश्रित अंङ्गोंके अनुष्ठानका नियम है ।

* कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु य आश्रिताः प्रत्यया वेदत्रयविहिताः किं ते समुच्चीयेरन्कि यथाकामं स्युरिति संशये यथाश्रयभाव इत्याह । यथैवैषामाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्त्ये प्रत्यया अपि आश्रयतन्त्रत्वात्प्रत्ययानाम् ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

पदच्छेद—शिष्टेः, च ।

सूत्रार्थ—विधान होनेसे भी अङ्गके समान समुच्चय है ।

* यथा वाश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिषु शिष्यन्त एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः । नोपदेशकृतोऽपि कश्चिद्विशेषोऽङ्गानां तदाश्रयाणां च प्रत्ययानामित्यर्थः ॥ ६२ ॥

समाहारात् ॥ ६३ ॥

सूत्रार्थ–अन्य वेदोक्त प्रणवका अन्यत्र समाहार होनेसे भी अङ्गाश्रित उपासनाओंका समुच्चय है।

* 'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति' (छा० १।५।५) इति च प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञान माहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नं क्षतं हौत्रात्कर्मणः प्रतिसमादधातीति ब्रुवन्वेदान्तरोदित

कर्मके अङ्गभूत उद्गीथ आदिके आश्रित तीनों वेदोंमें विहित जो उपासनाएँ हैं, क्या उन समुच्चय होना चाहिए अथवा यथेच्छ अनुष्ठान होना चाहिए ? ऐसा संशय होनेपर 'यथाश्रयभाव' ऐसा कहते हैं । जैसे इन उपासनाओंके आश्रयभूत स्तोत्र आदि समुच्चयसे होते हैं, वैसे उपासनाएँ भ समुच्चयसे होती हैं, क्योंकि उपासनाएं आश्रयके अधीन हैं ॥ ६१ ॥

जैसे स्तोत्र आदि आश्रय तीनों वेदोंमें कहे जाते हैं, वैसे आश्रित उपासनाएँ भी कही जाती हैं। अङ्गों और उनके आश्रित उपासनाओंमें उपदेशकृत कोई विशेष नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ ६२ ॥

'हेतृषदनाद्धैवापि० (स्वर, व्यञ्जन आदिके प्रमादसे दुष्ट किए गए उद्गीथको भी उद्गा सम्यक्कृत होताके शंसनसे निर्दोष करता है) यह श्रुति वाक्य प्रणव और उद्गीथके एकत्व विज्ञानके माहात्म्यसे उद्गाता अपने कर्ममें उत्पन्न हुए दोषका होत्र कर्मसे प्रतिसमाधान (निर्दोष) करता है,

सत्यानन्दी दीपिका

होनी चाहिएं, क्योंकि उनमें भी उपासनत्व समान है, इस प्रकार दृष्टांत संगतिसे यह पूर्वपक्ष करते हैं। 'यथा कामाचारः' 'पुत्रका अमरण' इत्यादि प्रत्येक प्रतीकोपासनाका भिन्न-भिन्न फल है, इसलिए यहाँ विकल्पका नियम नहीं है ॥ ६० ॥

* पूर्व अधिकरणमें जैसे प्रतीकोपासनाओंका स्वतन्त्र होनेसे यथेच्छ अनुष्ठान कहा गया है, वैसे यहाँ अङ्गाश्रित उपासनाओंका नहीं है, क्योंकि वे अङ्गोंके अधीन हैं । इस प्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे —'अङ्गेषु' इत्यादिसे पूर्वपक्ष करते हैं ॥ ६१ ॥

* क्रतुके अङ्ग और उनके आश्रित उपासनाएँ तीनों वेदोंमें समान भावसे विहित हैं, अतः अङ्गोंके समान उपासनाओंका भी समुच्चयसे अनुष्ठान है । परन्तु गोदोहनके अनुष्ठानका नियम नहीं है, क्योंकि वह तो चमसके स्थानमें विहित है ॥ ६२ ॥

* समाहरणं-समताकरणं-दोषका संधान करना समाहार है । इस समाहार लिङ्गसे भी उपा-

त्य वेदान्तरोदितपदार्थसंबन्धसामान्यात्सर्ववेदोदितप्रत्ययोपसंहारं सूचयतीति र्शनम् ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

पदच्छेद—गुणसाधारण्यश्रुतेः, च ।

सूत्रार्थ—'तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते' इत्यादि उद्गीथ उपासनामें गुणभूत ओंकार तीनों वेदोंमें रणरूपसे सुना जाता है ।

* विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तमोंकारं वेदत्रयसाधारणं श्रावयति–'तनेयं त्रयी विद्या ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति' (छा० १।१।९) इति च । ततश्चाश्रयसाधा- दाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव । अथवा—गुणसाधारण्यश्रुतेश्चेति । यदीमे गुणा उद्गीथादयः सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणा न स्युर्न स्यात्ततस्तदाश्रयाणां प्रत्ययानां सह- ः। ते तूद्गीथादयः सर्वाङ्गग्राहिणा प्रयोगवचनेन सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः श्राव्यन्ते । आश्रयसहभावात्प्रत्ययसहभाव इति ॥ ६४ ॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

पदच्छेद—न, वा, तत्सहभावाश्रुतेः ।

सूत्रार्थ—(न वा) अङ्गाश्रित उपासनाओंका समुचय नहीं है, (तत्सहभावाश्रुतेः) क्योंकि गृहीत्वा' इसप्रकार जैसे अङ्गोंके सहभावकी श्रुति है, वैसे अङ्गाश्रित उपासनाओंके सहभावकी नहीं है ।

ना कहता हुआ अन्य वेदमें कथित उपासनाका अन्य वेदमें उक्त पदार्थके साथ समान सम्बन्ध से सर्व वेदोक्त उपासनाका उपसंहार सूचित करता है, ऐसा लिङ्ग दर्शन है ॥ ६३ ॥

'तेनेयं त्रयी० (उस अक्षरसे ही यह ऋग्वेद आदि रूप त्रयीविद्या प्रवृत्त होती है । 'ॐ' कहकर ही अध्वर्यु श्रवण कराता है. 'ॐ' ऐसा कहकर ही होता शंसन करता है तथा 'ॐ' कहकर ही उद्गाता उद्गान करता है) यह श्रुति विद्याके गुण-विद्याके आश्रयभूत 'ॐ'कारको नों वेदोंमें समानरूपसे श्रवण कराती है । उससे आश्रय 'ॐ'कारके साधारण होनेसे उसके आश्रित ासनाएँ भी साधारण हैं, यह लिङ्गदर्शन ही है । अथवा 'गुणसाधारण्यश्रुतेः' यदि उद्गीथ आदि सब कर्मगुण सब प्रयोगोंमें न होते, तो उनके आश्रित उपासनाओंका सर्वत्र सहभाव न होता । परन्तु उद्गीथ आदि सर्वाङ्गग्राही प्रयोग वचनसे सब प्रयोगोंमें समानरूपसे श्रवण कराये जाते हैं । उससे श्रयके सहभावसे आश्रित उपासनाओंका सहभाव है ॥ ६४ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

ओंका समुचय प्रतीत होता है । जैसे 'जो ऋग्वेदियोंका प्रणव है वह सामवेदियोंका उद्गीथ है' छा० १।५।५) इस प्रकार छान्दोग्यमें प्रणव और उद्गीथकी एक ध्यान विधि है । उसका 'होतृषद- त्' इत्यादि फलार्थवाद है । सामवेदस्थ उद्गीथ ध्यानका ऋग्वेदोक्त प्रणवके साथ सम्बन्ध देखा ता है वही सर्व वेदान्त विहित उपासनाओंके समुचयमें लिङ्ग है । इस प्रकार दोनों वेदोंमें प्रणव र उद्गीथके ऐक्य ज्ञानसे सर्ववेदस्थ उपासनाओंका सर्वत्र समुचय होना चाहिए ॥ ६३ ॥

• उपास्य ओंकारके साधारण होनेसे उसके आश्रित उपासनाओंका समुचयसे अनुष्ठान प्रतीत ता है। इसमें 'गुण' इत्यादिसे अन्य हेतु कहते हैं । अन्वय मुखसे उक्त अर्थका 'अथवा' इत्यादिसे तिरेक मुखसे व्याख्यान करते हैं । इसप्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे आश्रयके समुचय से आश्रित उपा- नाओंका भी समुचय है ॥ ६४ ॥

* न वेति पक्षव्यावर्तनम् । न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपासनानां भवितुमर्हति कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः । यथा हि त्रिवेदीविहितानामङ्गानां स्तोत्रादीनां सहभावः श्रुतो 'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तोत्रमनुशंसति प्रस्तोतः साम गाय होतरेत इत्यादिना । नैवमुपासनानां सहभावश्रुतिरस्ति । ननु प्रयोगवचन एषां सहभावं प्रापयेत् नेति ब्रूमः, पुरुषार्थत्वादुपासनानाम् । प्रयोगवचनो हि क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभा प्रापयेत् । उद्गीथाद्युपासनानि क्रत्वर्थाश्रयाण्यपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्थानीत्यवोचाम 'पृ ग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्' (ब्र० सू० ३।३।४२) इत्यत्र । अयमेव चोपदेशाश्रयो विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां चोपासनानां यदेकेषां क्रत्वर्थत्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति । परं च लिङ्गद्वय कारणमुपासनसहभावस्य श्रुतिन्यायाभावात् । नच प्रतिप्रयोगमाश्रयकार्त्स्न्योपसंहारादाश्रि तानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम् । अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम् । आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपास नानि काममाश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावेन सहभावनियममर्हन्ति, तत्सहभावा श्रुतेरेव । तस्माद्यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥६५॥

'न वा' ये शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करते हैं। आश्रित उपासनाओंका आश्रय भावके अनु सार समुच्चय नहीं हो सकता, क्योंकि उनके सहभावकी श्रुति नहीं है। जैसे तीनों वेदोंमें विहित स्तो आदि अङ्गोंका सहभाव 'ग्रहं गृहीत्वा० (ग्रह पात्रको ग्रहण कर अथवा चमस पात्रको सोमसे भरकर वह स्तोत्रका आरम्भ करता है, स्तोत्रका अनुशंसन करता है, हे प्रस्तोता ! तुम सामका गा करो, हे होता ! तुम इसका याग करो) इत्यादि श्रुति कहती है, वैसे उपासनाओंके सहभावकी श्रु नहीं है। परन्तु प्रयोग वचन-विधि ही इनका सहभाव प्राप्त कराएगा, नहीं, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि उपासनाएँ पुरुषार्थ हैं। प्रयोग विधि क्रत्वर्थ उद्गीथ आदिका सहभाव प्राप्त करावे, परन्तु क्रतु अर्थ आश्रय उद्गीथ आदि उपासनाएँ गोदोहन आदिके समान पुरुषार्थ हैं, ऐसा 'पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्' इस सूत्रमें हम कह चुके हैं। अङ्ग और उनके आश्रित उपासनाओंमें उपदेशके आश्रय यही विशेष है कि इनमें एक क्रत्वर्थ हैं और दूसरे पुरुषार्थ हैं। और दूसरे दो लिङ्ग उपासनाओंके सहभावमें कारण नहीं हैं, क्योंकि श्रुति और न्यायका अभाव है। और प्रत्येक प्रयोगमें सम्पूर्ण आश्रयों का उपसंहार होनेसे आश्रितोंका भी वैसा ही उपसंहार हो ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उपासनाएँ उनसे प्रयुक्त नहीं है। आश्रयके अधीन होती हुई भी उपासनाएँ आश्रयके अभावमें भले ही न हों, परन्तु आश्रयोंके सहभाव होनेपर सहभावका नियम नहीं हो सकता, कारण कि उनके सहभाव की श्रुति नहीं है। इसलिए अपनी इच्छाके अनुसार ही उपासनाओंका अनुष्ठान करना चाहिए ॥६५॥

सत्यानन्दी दीपिका

* उपासनाओंका फल भिन्न भिन्न होनेसे उनके समुच्चय अनुष्ठानमें कोई प्रमाण नहीं है, इस बातको सिद्धान्ती 'न वा' इत्यादिसे कहते हैं। 'विमतोपास्तयः क्रतौ न समुच्चित्यानुष्ठेयाः; भिन्न फलत्वात् गोदोहनवत्' (उक्त उपासनाएँ क्रतुमें समुच्चयसे अनुष्ठेय नहीं है, क्योंकि भिन्न फलवाली हैं, जैसे गोदोहन) 'वीर्य कामना वाला गोदोहन पात्रसे जलानयन करे' यहाँ चमसके स्थानमें विशेष फलके लिए गोदोहन पात्रका ग्रहण किया जाता है। जैसे यहाँ गोदोहन पात्रका भिन्न फल है, अतः वह क्रतुमें समुच्चयसे अनुष्ठेय नहीं है, वैसे उपासनाओंके विषयमें भी समझना चाहिए। 'शिष्टेश्च' (ब्र० सू० ३।३।६२) इसमें उक्त अर्थका 'अयमेव' इत्यादिसे निराकरण करते हैं। और 'समाहारात्' (ब्र० सू० ३।३।६३) 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च' (ब्र० सू० ३।३।६४) इन सूत्रोंमें उक्त दो लिङ्ग अन्य प्रमाणसे प्राप्त अर्थके द्योतक हैं। अर्थवाद वाक्यमें स्थित होनेके कारण स्वयं साधक नहीं है, इसप्रकार 'परंच' इत्यादिसे कहते हैं। 'गुणसाधारण्यश्रुतेश्च' इससूत्रकी दूसरी व्याख्या 'न च' इत्यादिसे दूषित

दर्शनाच्च ॥६६॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च ।

सूत्रार्थ—'एवं विद्ध वै ब्रह्मा' इत्यादि श्रुति अङ्गाश्रित उपासनाओंका असहभाव दिखलाती है।

दर्शयति च श्रुतिरसंहभावं प्रत्ययानाम्—'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्वि-ज्ञति' (छा० ४।१७।१०) इति । सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि सर्वे सर्वविद इति न विज्ञान-णा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत । तस्माद्यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो ६६॥

श्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारः]

(इस पादमें निर्गुण विद्याके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधनोंका विचार है)

(१ पुरुषार्थाधिकरणम् । सू० १-१७)

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥१॥

पदच्छेद—पुरुषार्थः, अतः, शब्दात्, इति, बादरायणः ।

सूत्रार्थ—(बादरायणः) बादरायण आचार्यका मत है कि (अतः) इसी औपनिषद् आत्म-(पुरुषार्थः) मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, (शब्दात्) क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' इस श्रुति है ।

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वि-मेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते—पुरुषार्थोऽत

'एवं विद्ध वै ब्रह्मा०' (ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान और अन्य समस्त ऋत्विजोंकी ओरसे रक्षा करता है) यह श्रुति उपासनाओंका असहभाव दिखलाती है। क्योंकि सब ओंका उपसंहार-समुच्चय होनेपर सब (ऋत्विजआदि) के सर्वज्ञ होनेके कारण विज्ञानवाले परिपालय हैं, ऐसा न कहा जाता । इसलिए [उपासकके लिए] उपासनाओंका इच्छा-नुच्चय अथवा विकल्प है, यह सिद्ध होता है ॥६६॥

सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके तृतीयाध्यायका तृतीय पाद समाप्त ॥

इसके अनन्तर औपनिषद् आत्मज्ञान अधिकारी पुरुष द्वारा क्या कर्ममें ही अनुप्रवेश करता स्वतन्त्र ही पुरुषार्थका साधन है ? अब ऐसा विचार करते हुए सूत्रकार प्रथम सिद्धान्तसे ही

सत्यानन्दी दीपिका

। इसलिए पुरुषको अपने इच्छानुसार ही उपासनाओंका अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ६५ ॥

तीनों वेदोंके ज्ञाता ब्रह्मासे ऋत्विज आदिकी रक्षा होती है, इससे सब उपासनाओंका सह-है। ऐसा 'दर्शनाच्च' इत्यादिसे कहते हैं। ऋग्वेद आदि विहित अङ्गोंका लोप होनेपर व्याहृति, श्चित्त आदिको जानना ही ब्रह्मका 'एवंवित्त्व' है ॥६६॥

सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के तृतीयाध्यायका तृतीय पाद समाप्त ॥

पूर्वपादमें पर और अपरविद्याके गुणोंका उपसंहार कहकर स्वरूपका निश्चय किया गया है। पादमें कर्मानपेक्ष उन विद्याओंमें पुरुषार्थ हेतुत्व निरूपण करनेके लिए उसके यज्ञादि बहि-

इति । अस्माद्वेदान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुत एतदवगम्यते ? शब्दादित्याह । तथा हि—'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।६), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) 'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति, आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्युपक्रम्य 'सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मान मनुविद्य विजानाति' (छा० ८।७।१) इति, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० ४।५।१५) इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलाया विद्यायाः पुरुषार्थ हेतुत्वं श्रावयति ॥१॥

अथात्र प्रत्यवतिष्ठते—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥२॥

पदच्छेद—शेषत्वात्, पुरुषार्थवादः, यथा, अन्येषु, इति, जैमिनिः ।

सूत्रार्थ—(शेषत्वात्) कर्तृरूपसे आत्मा कर्मका अङ्ग है, अतः उसका ज्ञान भी व्रीहि प्रोक्षण आदिके समान कर्मके अङ्गभूत आत्मा द्वारा क्रतुका अंग है । (यथा) जैसे (अन्येषु) अन्य द्रव्य संस्कार कर्मोंमें अपाप आदि फल श्रुति अर्थवाद है, वैसे (पुरुषार्थवादः) ज्ञानसे पुरुषार्थ श्रुति भी अर्थवाद है, (जैमिनिः) यह आचार्य जैमिनिका मत है ।

* कर्तृत्वेनात्मनः कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसंबन्धे

'पुरुषार्थोऽतः' इस प्रकारसे उपक्रम करते हैं । बादरायण आचार्य ऐसा मानते हैं कि इस वेदान्त विहित स्वतन्त्र आत्मज्ञानसे पुरुषार्थ सिद्ध होता है । यह कैसे अवगत हो ? श्रुतिसे, ऐसा कहते हैं जैसे कि 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मवेत्ता शोकका अतिक्रमण करता है) 'स यो ह वै० (जो उस पर ब्रह्मको जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त होता है) 'आचार्यवान्० (आचार्यवान् पुरुष ही सत्‌को जानता है, उसके लिए मोक्ष होनेका उतना ही विलम्ब है जब तक वह देह बंधनसे मुक्त नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न-ब्रह्म प्राप्त हो जाता है) 'य आत्मापहतपाप्मा' (जो आत्मा पप शून्य है) ऐसा उपक्रम कर 'स सर्वांश्च (जो उस आत्माको शास्त्र और गुरुके उपदेशानुसार अन्वेषणकर जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोकों और समस्त कामानाओंको प्राप्त कर लेता है) 'आत्मा वा० (हे मैत्रेयी ! आत्माका दर्शन करना चाहिए) ऐसा आरम्भकर 'एतावदरे० (अरे मैत्रेयी ! इतना ही अमृतत्त्वका उपदेश है) इस प्रकारके श्रुतियाँ केवल विद्या (आत्मज्ञान) को पुरुषार्थ हेतुत्व श्रवण कराती हैं ॥ १ ॥

अब उक्त सिद्धान्तपर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—

सत्यानन्दी दीपिका

रङ्ग और शम आदि अन्तरङ्ग साधनोंका निरूपण किया जाता है । इस प्रकार एक विद्याविषय संगतिसे यह चतुर्थपाद आरम्भ किया जाता है । गत पादके अन्तिम अधिकरणमें कर्मकी अंगभूत विद्याका विचार किया गया । अब उसके प्रसंगसे ब्रह्मज्ञान कर्मका अंग है, ऐसी आशंका कर उसका समाधान करते हैं । इस प्रकार प्रसंगसंगतिसे इस अधिकरणको कहते हैं । पूर्वपक्षमें ज्ञान और कर्मका अङ्गाङ्गिभावसे समुच्चय है, सिद्धांतमें केवल ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे मोक्ष है । 'य आत्मापहतपाप्मा' इस प्रकार प्रजापतिसे उपदिष्ट ब्रह्मविद्यामें सगुणविद्याके फलरूप समस्त लोक आदिकी प्राप्तिका कथन इसलिए किया गया है कि मोक्षानन्दमें इन सबसे प्राप्त होनेवाले आनन्दका अंतर्भाव है । इसलिए किसी प्रकार की शङ्काका अवसर नहीं है ॥ १ ॥

त्तस्मिन्नवगतप्रयोजन आत्मज्ञाने या फलश्रुतिः साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते, न्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापँ श्लोकँ शृणोति। यदङ्क्ते भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते। यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य त्वाभिभूत्यै' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः, तद्वत्। कथं पुनरस्यानारभ्याधीतस्यात्म- प्रकरणादीनामन्यतमेनापि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते? कर्तृद्वारेण वाक्या- ज्ञानस्य क्रतुसंबन्ध इति चेत्—न, वाक्याद्विनियोगानुपपत्तेः। अव्यभिचारिणा हि द्वद्द्वारेणानारभ्याधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसंबन्धोऽवकल्पते। कर्ता तु व्यभि- द्वारम्, लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्। तस्मान्न तद्द्वारेणात्मज्ञानस्य क्रतुसंबन्ध- रीति—न, व्यतिरेकविज्ञानस्य वैदिकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात्। नहि देहव्यति- त्मज्ञानं लौकिकेषु कर्मसूपयुज्यते, सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः। वैदिकेषु तु देहपातोत्तर- फलेषु देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानमन्तरेणप्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम्।

कर्तृरूपसे आत्मा कर्मका अंग है, अतः उसका ज्ञान भी व्रीहि प्रोक्षण आदिके समान विषय- ा द्वारा कर्म सम्बन्धी ही है, इससे उस कर्मका प्रयोजन अवगत होनेपर आत्मज्ञानमें जो फल है वह अर्थवाद है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। जैसे अन्य द्रव्य संस्कार कर्मोंमें 'यस्य पर्ण- , (जिसकी पर्णमयी जुहू होता है वह पाप वचनका श्रवण नहीं करता वह जो अपने नेत्रोंमें लगाता है, उससे शत्रुके नेत्रोंका नाश करता है, जो प्रयाज और अनुयाज किये जाते हैं, वे कवच किये जाते हैं, शत्रुके अभिभवके लिए वे यजमानके कवच होते हैं) इस प्रकारकी फल अर्थवाद है, वैसे ही आत्मज्ञानमें फल श्रुति अर्थवाद है। परन्तु यज्ञके प्रकरणमें अनधीत आत्म- के प्रकरण आदिमें से किसी एक हेतुके विना भी क्रतु प्रवेशकी आशंका किस प्रकारकी जाती है? कहो कि कर्ताद्वारा वाक्यसे उसके विज्ञानका क्रतुके साथ सम्बन्ध है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि से विनियोग नहीं हो सकता। किसी एक अव्यभिचारी-नित्यसम्बद्ध क्रतुके द्वारसे अप्रकरणमें का भी वाक्य निमित्तक क्रतु सम्बन्ध हो सकता है। परन्तु कर्ता तो लौकिक और वैदिक कर्मोंमें रण होनेसे व्यभिचारी द्वार है, इसलिए उसके द्वारा आत्मज्ञानका क्रतुके साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं । यह ठीक नहीं है, क्योंकि देहसे अतिरिक्त आत्मा है इस ज्ञानका वैदिक कर्मोंसे अन्यत्र उपयोग है। देहसे व्यतिरिक्त आत्मज्ञानका लौकिक कर्मोंमें उपयोग नहीं होता, क्योंकि सर्वथा देहसे व्यति- आत्मज्ञान हो चाहे न हो तो भी प्रत्यक्ष प्रयोजनवाले कर्मोंमें प्रवृत्ति हो सकती है। परन्तु देह- के अनंतर फल देनेवाले वैदिक कर्मोंमें देह व्यतिरिक्त आत्मज्ञानके विना प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती। ए मरणानन्तर फल देनेवाले वैदिक कर्मोंमें देह व्यतिरिक्त आत्मा है, इस ज्ञानका उपयोग है।

सत्यानन्दी दीपिका

* सूत्रमें अर्थवाद पदकी आवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् ज्ञानसे पुरुषार्थवाद अर्थवाद है। विद्ब्रह्मैव भवति' इत्यादि मोक्ष प्रतिपादक श्रुतियाँ अर्थवाद मात्र हैं। और कर्मरूप अङ्गीके फलका होनेसे अंगभूत आत्माका प्रयोजन भी ज्ञात है, अतः आत्माके आश्रय उसके संस्कारभूत ज्ञानमें ति अर्थवाद है। जैसे 'पर्णमयी' (पलाश) यह द्रव्य है, यजमानका अञ्जन संस्कार है और आदि कर्म हैं, इनमें क्रमशः फल श्रुति अर्थवाद है। जैसे प्रोक्षण आदिसे संस्कृत व्रीहि आदि के अंग हैं, वैसे उपनिषद् प्रतिपादित आत्मज्ञानसे संस्कृत कर्ता मैं पारलौकिक फलोपभोगके योग्य ऐसा विद्वान्, श्रद्धावान् क्रतुका अंग है, अतः कर्ता द्वारा आत्मज्ञान भी कर्मका अंग है। सिं०— ा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यमात्रसे आत्मज्ञानका क्रतुके साथ सम्बन्ध अनुपपन्न है, क्योंकि पर्णमयी' इस वाक्यसे पर्णमयीत्वका जुहू द्वारा क्रतुके साथ जो सम्बन्ध कहा गया है, वह

❀ नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात्, प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात्। अपहतपाप्मत्वादि विशे
तु स्तुत्यर्थं भविष्यति। ननु तत्र तत्र प्रसाधितमेतदधिकमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं तदेव संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति। सत्यं प्रसाधितम्, तस्यै
तु स्थूणानिखननवत्फलद्वारेणाक्षेपसमाधाने क्रियेते दार्ढ्याय ॥२॥

आचारदर्शनात् ॥३॥

सूत्रार्थ—'जनको ह वैदेहो' इसप्रकार जनक आदि ब्रह्मज्ञानियोंका विद्याके साथ कर्मका आ
रण देखा जाता है, अतः आत्मज्ञान कर्मका अङ्ग है।

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (बृ० ३।१।१), 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि
(छा० ५।११।५) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसंबन्धदर्शनानि भवन्ति
तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद्गार्हस्थ्यसंबन्धोऽवगम्यते। केवलाच्चेज्ज्ञानात्पुरु
षार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः? 'अर्के चेन्मधु विन्दे
किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति न्यायात् ॥३॥

तच्छ्रुतेः ॥४॥

सूत्रार्थ 'यदेवविद्यया करोति' इत्यादि तृतीया श्रुतिसे विद्यामें कर्माङ्गत्व श्रवण होनेसे ज्ञा
कर्माङ्ग प्रतीत होता है।

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च

परंतु 'अपहतपाप्मत्व' आदि विशेषणोंसे असंसारी आत्मविषयक औपनिषद् ज्ञान वैदिक कर्म
प्रवृत्तिका अङ्ग नहीं होगा। ऐसा नहीं, क्योंकि प्रिय आदिसे संसूचित संसारी आत्माका ही द्रष्टव्यरू
उपदेश है। अपहतपाप्मत्व आदि विशेषण तो स्तुतिके लिए होगा। परन्तु जीवसे भिन्न असंसारी
ब्रह्म जगत्का कारण है और वही संसारी आत्माका पारमार्थिक स्वरूप है। ऐसा उपनिषदोंमें उपदे
किया जाता है। यह तत् तत् स्थलमें भली-भाँति सिद्ध किया गया है। हाँ, ठीक भली-भाँति सिद्ध कि
गया है। किन्तु स्थूणानिखननके समान फल द्वारा उसकी ही दृढ़ताके लिए आक्षेप और समाधा
किये जाते हैं ॥ २ ॥

'जनको ह वैदेहो० (विदेह देश अधिपति राजा जनकने बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ द्वारा यज
किया) 'यक्ष्यमाणो वै० (हे पूज्य ऋषि वृन्द! मैं भी यज्ञ करनेवाला हूँ) इत्यादि विद्या विधि
परक वाक्योंमें भी ब्रह्मवेत्ताओंके कर्म सम्बन्ध दर्शन होते हैं। उसीप्रकार उद्दालक आदिका भी पुत्र
उपदेश आदि दर्शनसे गार्हस्थ्य सम्बन्ध अवगत होता है। यदि केवल ज्ञानसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि
हो तो वे विद्वान् अनेक प्रकारके आयास युक्त कर्म क्यों करें, क्योंकि 'अर्के चेन्'० (यदि समीपमें घरके
कोने अथवा आकके छोटे पोदेमें मधु मिले तो मधु अभिलाषी पर्वतमें क्यों जाय) ऐसा न्याय है।३।

'यदेव विद्यया० (जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योगसे युक्त होकर किया जाता है वही कर्म

सत्यानन्दी दीपिका

अव्यभिचारी है। परन्तु यहां तो कर्ता सब कर्मोंमें साधारण होनेसे व्यभिचारी है, इसलिए व्यभिचारी कर्ता द्वारा आत्मज्ञानमें क्रतु सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वपक्षी 'न, व्यतिरेकविज्ञानस्य' इत्यादिसे कहता है।

* वेदान्त मतमें जो स्वरूप ज्ञान है वह क्रत्वर्थ है अथवा पुरुषार्थ है, इसप्रकार विचारसे ही क्रत्वर्थत्व दृढ़ हो सकता है, अतः कर्ता आत्मा द्वारा आत्मज्ञान क्रतुका अङ्ग है ॥ २ ॥

षत्वश्रवणाद्विद्याया न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥४॥

समन्वारम्भणात् ॥५॥

सूत्रार्थ—'तं विद्याकर्मणी' इत्यादिसे विद्या और कर्मका समुच्चय देखा जाता है, इससे भी कर्मका अङ्ग है।

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहत्वदर्शनान्न स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥५॥

तद्वतो विधानात् ॥६॥

पदच्छेद—तद्वतः, विधानात्।

सूत्रार्थ—(तद्वतः) 'आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य' इत्यादि श्रुतिसे समस्त वेदार्थ जाननेवालेके (विधानात्) कर्मका विधान किया जाता है, इससे भी विद्या कर्मका अंग है।

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे यमधीयानः' (छा० ८।१५।१') इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्तवेदार्थविज्ञानवतः धिकारं दर्शयति। तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वम्। नन्वत्राधीत्येत्यनमात्रं वेदस्य श्रूयते, नार्थविज्ञानम्। नैष दोषः, दृष्टार्थत्वाद्वेदाध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तं स्थितम् ॥६॥

नियमाच्च ॥७॥

पदच्छेद—नियमात्, च।

सूत्रार्थ—और 'कुर्वन्नेवेह' इत्यादि श्रुतिसे जीवन पर्यन्त कर्माचरणका नियम होनेसे भी कर्मका अंग है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' शा० २) इति, तथा 'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' वंजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति ॥७॥

तर होता है अर्थात् अविद्वान्से किए गए कर्मसे अधिक फलवाला होता है) इसप्रकार कर्मके पसे विद्याका श्रवण होनेसे केवल-कर्म रहित विद्या मोक्षका हेतु नहीं है ॥ ४ ॥

'तं विद्याकर्मणी० (मरणानन्तर परलोकमें जानेवालेके पीछे पीछे फलोत्पादनके लिए विद्या कर्म जाते हैं) इसप्रकार विद्या और कर्ममें फलके आरम्भमें सहकारित्व देखनेसे ज्ञात होता है द्या स्वतन्त्र नहीं है ॥ ५ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य० (नियमानुसार गुरुके कर्तव्य कर्मोंको समाप्त कर वेदका अध्ययन-आचार्यकुलसे समावर्तनकर कुटम्बमें स्थित हो पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करता हुआ) इसप्रकारकी समस्त वेदार्थ जाननेवालेका कर्ममें अधिकार दिखलाती है। इससे भी आत्मज्ञान स्वतन्त्ररूपसे का हेतु नहीं है। परन्तु यहां श्रुतिमें 'अधीत्य' (अध्ययनकर) इसप्रकार वेदका अध्ययन मात्र जाता है अर्थ विज्ञान नहीं। यह दोष नहीं है, वेदाध्ययनके दृष्टार्थ होनेसे वेदका अध्ययन अर्थ-पर्यन्त है, ऐसा सिद्ध है ॥ ६ ॥

'कुर्वन्नेवेह० (इस लोकमें कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे। इसप्रकार मनु-ष्य अभिमान रखनेवाले तेरे लिए इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे अशुभ का लेप न हो) इसीप्रकार 'एतद्वै' (जो अग्निहोत्र है वही जरा और मरणपर्यन्त सत्र है। इस नेसे पुरुष जरा अथवा मृत्युसे मुक्त होता है) इसप्रकारके नियमसे भी विद्या कर्मका अंग है।७

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥८॥

पदच्छेद—अधिकोपदेशात्, तु, बादरायणस्य, एवम्, तद्दर्शनात्।

सूत्रार्थ—(तु) सूत्रस्थ तु शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति करता है। यह जो कहा गया है तत्त्वज्ञान कर्मका अंग है, वह युक्त नहीं है, (अधिकोपदेशात्) क्योंकि संसारी जीवसे अन्य चिन्मा भोक्तृत्व आदि रहित ब्रह्मका उपदेश है, इसलिए तत्त्वज्ञानकी फल श्रुति अर्थवाद नहीं है, (एवम् इसप्रकार (बादरायणस्य) बादरायण आचार्यका मत है, (तद्दर्शनात्) कारण कि 'यः सर्व सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिमें उस संसारी जीवात्मासे अन्य ईश्वर परमात्माका दर्शन होता है।

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तम्—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' (ब्र० सू० ३।४।२) इति तन्नोपपद्यते, कस्मात्? अधिकोपदेशात्। यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च शरीर मात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात् अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशे षणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु। नच तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति, प्रत्यु कर्माण्युच्छिनत्तीति वक्ष्यति 'उपमर्दं च' (ब्र० सू० ३।४।१६) इत्यत्र। तस्मात् 'पुरुषार्थोऽत शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इति यन्मतं भगवतो बादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति, न शेषत्व प्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते। तथा हि—तमधिकं शारीरादीश्वरमात्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' (तै० २।८।१) 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठ० ६।२) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृ० ३।८।९) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येवमाद्याः। * यत्तु प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम्—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'

इसप्रकार छः सूत्रोंसे पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर उसका निराकरण करते हैं—

'तु' शब्दसे पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति होती है। 'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' ऐसा जो कहा गया है, वह उपपन्न नहीं होता, क्योंकि अधिकका उपदेश है। यदि संसारी जीवात्मा ही शारीर कर्ता, भोक्ता शरीर मात्रसे अतिरिक्त वेदान्तोंमें उपदिष्ट होता तो वर्णित प्रकारसे फल श्रुति अर्थवाद होती। कि शारीर-जीवात्मासे अधिक-अतिरिक्त असंसारी, ईश्वर कर्तृत्व आदि जीवात्माके धर्मोंसे रहित अपहत-पाप्मत्व आदि विशेषणोंसे युक्त परमात्मा वेद्यरूपसे उपनिषदोंमें उपदिष्ट है। और उसका ज्ञान कर्मोंका प्रवर्तक नहीं होता, प्रत्युत कर्मोंका उच्छेद करता है, ऐसा आगे 'उपमर्दं च' इस सूत्रमें कहेंगे। इससे 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' यह जो भगवान् बादरायणका मत है वह वैसे ही अवस्थित है, शेषत्व आदि हेत्वाभासोंसे वह विचलित नहीं किया जा सकता। क्योंकि 'यः सर्वज्ञ सर्ववित्' 'भीषाऽस्माद्वातः' (इसके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य उदय होता है) 'महद्भयम्' (वह ब्र महान् भयरूप उठाए हुए वज्रके समान है) 'एतस्य वा' (हे गार्गी! इस अक्षरके प्रशासनमें सू और चन्द्रमा अवधृत होकर स्थित हैं) 'तदैक्षत' (उस सद्रूप ब्रह्मने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊँ अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ। इसप्रकार ईक्षणकर उसने तेज उत्पन्न किया) इत्यादि श्रुतियाँ उस ईश्वर परमात्माको जीवात्मासे भिन्न दिखलाती हैं। और 'आत्मनस्तु कामाय' (आत्मा-अपने ही प्रयो-

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वपक्षीने जो यह कहा है कि ब्रह्मज्ञान फल शून्य होनेसे कर्मका अंग है, वह भी निराकृत हुआ समझना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्ररूपसे मोक्षका हेतु है। और 'आत्मनस्तु कामाय'

२।४।५) 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो (छा० ८।७।४) इत्युपक्रम्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति आदि, तदपि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २।४।१०) 'योऽशनायापिपासे मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३।५।१) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः (छा० ८।१२।३) इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायामत्यन्ताभेदायमित्यविरोधः। पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु रत्वम्, 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतिभ्यः। चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम् ॥८॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥९॥

पदच्छेद—तुल्यम्, तु, दर्शनम्।

सूत्रार्थ—तत्त्वज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं है, क्योंकि इसमें भी 'एतद्ध स्म वै० इत्यादि श्रुतिसे ल्यम्) समान ही (दर्शनम्) आचारदर्शन है। (तु) शब्द कर्माङ्ग लिङ्गदर्शनका प्राबल्य करता है।

* यत्तूक्तम्—आचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति, अत्र ब्रूमः—तुल्यमाचारदर्शनमकर्मत्वेऽपि विद्यायाः। तथा हि श्रुतिर्भवति—'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः र्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे',

---

के लिए सब प्रिय होते हैं, हे मैत्रेयी! आत्माका दर्शन करना चाहिए) 'यः प्राणेन' (मुख- संचारी प्राणसे जो चेष्टा करता है वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है) 'य एषोऽक्षिणि' (यह जो नेत्रोंमें दिखाई देता है, यह आत्मा है) इसप्रकार उपक्रमकर 'एतं त्वेव' (मैं तुम्हारे प्रति उस का पुनः व्याख्यान करूँगा) इत्यादि श्रुतिमें प्रिय आदिसे संसूचित संसारी आत्माका ही वेद्य- जो अनुकर्षण है, वह भी 'अस्य महतो' (हे मैत्रेयी! यह जो ऋग्वेद है वह इस महद्भूतका श्वास है) 'योऽशनायापिपासे' (याज्ञवल्क्य—जो बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे है) 'परं ज्योतिरूपसंपद्य' (इस शरीरसे समुत्थानकर परं ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें हो जाता है। वह उत्तम पुरुष है) इत्यादि वाक्यशेषोंसे अधिक उपदेशकी इच्छा होनेपर ही अभेदके अभिप्रायसे है, अतः विरोध नहीं है, क्योंकि परमेश्वरका स्वरूप ही जीवात्माका पारमा- स्वरूप है, शारीरत्व तो उपाधिकृत है, कारण कि 'तत्त्वमसि' 'नान्यदतोऽस्तिद्रष्टृ' (उससे अन्य नहीं है) इत्यादि श्रुतियां हैं। इन सबका तत् तत् स्थलमें विस्तारसे हम वर्णन करचुके हैं ॥८॥

जो यह कहा गया है कि 'आचारदर्शनात्' आचारदर्शनसे ज्ञान कर्मका अङ्ग है। इसपर कहते हैं—विद्याके अकर्मशेषत्वमें भी आचारदर्शन समान है, क्योंकि 'एतद्ध स्म० (यह जानकर के पुत्र ऋषियोंने कहा कि हम अध्ययन किस लिए करेंगे, हम किसलिए यज्ञ करेंगे, निःसन्देह वाक् और प्राणके परस्पर होमात्मक अग्निहोत्रको जाननेवाले प्राचीन उपासकोंने अग्निहोत्र होम

सत्यानन्दी दीपिका

श्रुतिमें प्रिय आदि संसारी धर्मोंसे लोक प्रसिद्ध कर्ता भोक्ता जीवात्माका जो अनुकर्षण है वह अभेद प्रतिपादनके अभिप्रायसे है, कारण कि उसका ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि से उपदेश है ॥८॥

* जैसे जनक आदि ब्रह्मवेत्ताओंका कर्माचरण दर्शन है, वैसे याज्ञवल्क्य, शुकदेव आदि ज्ञानियोंका अकर्माचरण दर्शन है। इससे कर्म दर्शनात्मक लिङ्ग लोकसंग्रहके लिए होनेसे अन्यथा

'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३।५।१) इत्येवंजातीयका। याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते--'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अपि च 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५।११।५) इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम्। संभवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम्। नत्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति, प्रकरणाद्यभावात् ॥ ६ ॥'

यत्पुनरुक्तम्—'तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ३।४।४) इति, अत्र ब्रूमः—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—'यदेव विद्यया करोति' यह श्रुति सर्व विद्या विषयक नही हूँ, किन्तु केवल उद्गीथ विद्या विषयक है।

'यदेव विद्यया करोति' (छा० १।१।१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया, प्रकृतविद्याभिसंबन्धात्। प्रकृता चोद्गीथविद्या–'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्र॥१०॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

पदच्छेद—विभागः, शतवत्।

सूत्रार्थ, (विभागः) 'तं विद्याकर्मणी' इस श्रुतिमें प्रतिपादित विद्या अन्य पुरुषका और कर्म अन्य पुरुषका अनुगम करते हैं, इसप्रकार विभाग है। (शतवत्) जैसे इन दो मनुष्योंको सौ मुद्रा दिये जायँ, ऐसा कहनेपर पचास-पचास मुद्रा बाँट दिये जाते हैं।

* यदप्युक्तम्—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इत्येतत्समन्वारम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्याया लिङ्गमिति, तत्प्रत्युच्यते। विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्याऽन्यं पुरुषमन्वा-

नही किया था) 'एतं वै० (इस आत्माको मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ, ऐसा जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे अलग हटकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं) इसप्रकारकी श्रुति है। 'एतावदरे० (अरी मैत्रेयी! निश्चय जान इतना ही अमृतत्व है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण किया) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य आदि भी अकर्मनिष्ठ देखे जाते हैं। और 'यक्ष्यमाणो० (हे पूज्य ऋषियों! मैं भी यज्ञ करनेवाला हूँ) यह लिङ्गदर्शन वैश्वानर विद्याविषयक हैं। सोपाधिक–सगुणब्रह्म विद्यामें तो कर्म साहित्यदर्शन संभव है। परन्तु यहाँ तो विद्यामें कर्माङ्गत्व नहीं है, क्योंकि प्रकरण आदिका अभाव है ॥ ६ ॥

'तच्छ्रुतेः' इस सूत्रमें जो पूर्वपक्षीसे कहा गया है, उसपर हम कहते हैं—

'यदेव विद्यया करोति' (पुरुष विद्यासे युक्त होकर जो कर्म करता है) यह श्रुति सर्वविद्याविषयक नहीं है, क्योंकि उसका प्रकृत विद्याके साथ सम्बन्ध है। 'ओमित्येदक्षर० (ॐ इस अक्षर उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए) यहाँ उद्गीथ विद्या प्रकृत है ॥ १० ॥

और 'तं विद्याकर्मणी० (विद्या और कर्म परलोकमें जानेवालेका अनुगमन करते हैं) यह अनुगमन वचन विद्याकी अस्वतन्त्रतामें लिङ्ग है, ऐसा जो कहा गया है, उसका निराकरण किया

सत्यानन्दी दीपिका

सिद्ध है। इसको 'तुल्यं तु दर्शनम्' इससे कहते हैं। जो कर्मठ है वह ब्रह्मवित् नही है, ऐसा भाष्यकार 'अपि च' इत्यादिसे कहते हैं। वस्तुतः वैश्वानर विद्या भी कर्मका अङ्ग नहीं है, क्योंकि उसकी स्वतन्त्र फलश्रुति है, और उसमें कर्माङ्गत्व प्रतिपादक प्रकरण आदि नहीं है ॥ ६ ॥

* 'तं विद्याकर्मणी' श्रुति प्रतिपादित यह सहानुगमन वचन मुमुक्षुको भी विषय करता है, ऐसा

कर्मान्यमिति । शतवत् । यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदे- पञ्चाशदपरस्मै, तद्वत् । न चेदं समन्वारम्भवचनं मुमुक्षुविषयम्, 'इति नु कामयमानः' ४।४।६) इति 'संसारिविषयत्वोपसंहारात्, अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति च मुमुक्षोः पक्रमात् । तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिषिद्धा च परिगृह्यते, विशेषाभावात् । पि विहितं प्रतिषिद्धं च, यथाप्राप्तानुवादित्वात् । एवं सत्यविभागेनापीदं समन्वारम्भ मवकल्पते ॥ ११ ॥

यच्चैतत्—'तद्वतो विधानात्' (ब्र० सू० ३।४।६) इति, अत उत्तरं पठति—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—'आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य' इस वाक्यमें केवल वेद अध्ययन करनेवालेके लिए विधान किया जाता है, औपनिषद् आत्मज्ञानवालेके लिए नहीं ।

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८।१५।१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्ययनमात्रवत र्मविधिरित्यध्यवस्यामः । नन्वेवं सत्यविद्यत्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्येत, नष दोषः, यमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः, किं तर्हि ? औपनिषदमात्मज्ञानं त्र्येणेव प्रयोजनवत्प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपाद- : । यथा च न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणापेक्ष्यत एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥१२॥

यदप्युक्तम्—'नियमाच्च' (ब्र० सू० ३।४।७) इति, अत्राभिधीयते—

है। विद्या अन्य पुरुषका अनुगमन करती है और कर्म अन्यपुरुषका, इसप्रकार यहाँ विभाग ना चाहिए । शतके समान । जैसे इन दोनोंको सौ मुद्रा दीजिए, ऐसा कहनेपर विभाग कर मुद्रा एकको और पचास मुद्रा अन्यको दिये जाते हैं, वैसे ही प्रकृतमें समझना चाहिए । और ानुगमन वचन मुमुक्षुविषयक नहीं है, क्योंकि 'इति नु कामयमानः' (इसप्रकार कामना करने पुरुष ऐसा करता है अर्थात् संसारमें कर्म करनेको आता है) इसप्रकार संसारिविषयत्वका हार है, और 'अथाकासयमानः' (अब जो कामना न करनेवाला पुरुष है, वह ब्रह्मको प्राप्त है) इसप्रकार मुमुक्षुका पृथक् उपक्रम है । उस संसारिविषयक वाक्यमें उद्गीथ आदि विषयक और नग्नस्त्रीदर्शनरूप प्रतिषिद्ध विद्याका ग्रहण किया जाता है, क्योंकि विद्या विशेषका अभाव उसीप्रकार कर्म भी विहित और प्रतिषिद्ध हैं, क्योंकि वह वाक्य यथाप्राप्तका अनुवादक है । होनेपर यह सहानुगमन वचन अविभागसे भी उपपन्न हो सकता है ॥ ११ ॥

और 'तद्वतो विधानात्' इस सूत्रसे पूर्वपक्षीने जो कहा है. उसका उत्तर कहते हैं—

'आचार्यकुलाद्० (आचार्य कुलसे वेदका अध्ययन करके) इस श्रुतिमें अध्ययनमात्रका होनेसे केवल वेद अध्ययन करनेवालेके लिए ही कर्म विधि है, ऐसा हम मिश्चय करते हैं । ऐसा होनेपर विद्याहीन (वेदार्थ ज्ञानशून्य) होनेसे उसका कर्मोंमें अनधिकार प्रसक्त होगा ? ोष नहीं है । हम वेदाध्ययनसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंमें अधिकारके कारणभूत कर्माववोधका नहीं करते, किन्तु औपनिषद् आत्मज्ञान स्वतन्त्ररूपसे प्रयोजनवाला प्रतीत होता हुआ कर्मोंमें कारकारणत्वको प्राप्त नहीं होता, इतना मात्र हम प्रतिपादन करते हैं । जैसे एक क्रतुका ज्ञान क्रतुके अधिकारके द्वारा अपेक्षित नहीं है, ऐसे यह भी समझना चाहिए ॥ १२ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

र विद्या मुमुक्षुको अमृतरूपसे और कर्म अन्यको परलोक फलोपभोगार्थ अनुगमन करते हैं । कार सूत्रकारने विभाग किया है । वस्तुतः यह सहानुगमन वचन मुमुक्षु विषयक नहीं है, इसको इत्यादिसे कहते हैं ॥ ११ ॥

नाविशेषात् ॥१३॥

पदच्छेद—न, अविशेषात् ।

सूत्रार्थ—(न) 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि श्रुति तत्त्वज्ञानी विषयक नहीं है, (अविशेषात् क्योंकि 'विद्वान्' विशेषका अभाव है ।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ईशा० २) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विद्‍ इति विरोधोऽस्ति, अविशेषेण नियमविधानात् ॥१३॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥१४॥

पदच्छेद—स्तुतये, अनुमतिः, वा ।

सूत्रार्थ—(वा) अथवा (अनुमतिः) तत्त्वज्ञानीके लिए जो अनुमति-कर्मानुज्ञा है, (स्तुतये वह केवल स्तुतिके लिए है ।

* 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशा० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते । यद्यप्यत्र प्रकरण सामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति संबध्येत, तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद्द्रष्टव्यम् । कर्म लिप्यते नरे' (ईशा० २) इति हि वक्ष्यति । एतदुक्तं भवति—यावज्जीवं कर्म कुर्वत्य विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति, विद्यासामर्थ्यादिति तदेवं विद्या स्तूयते ॥१४॥

कामकारेण चैके ॥१५॥

पदच्छेद—कामकारेण, च, एके ।

सूत्रार्थ—(च) और (एके) 'एतद्ध स्म वै० ' इत्यादि श्रुतिसे ज्ञात होता है कि कु विद्वानोंने भी (कामकारेण) स्वेच्छासे कर्मके साधनभूत प्रजा आदिका त्याग किया है ।

* अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तदवष्टम्भात्फलान्तरसाधने प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति । कामकारेणेति श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम् 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ०४।४।२२

और 'नियमाच्च' इस सूत्रसे जो पूर्वपक्षीसे कहा गया है, उसपर कहा जाता है

'कुर्वन्नेवेह० (इस लोकमें अग्निहोत्र आदि कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे) इत्या नियमोंके श्रवणमें विद्वान्के लिए है ऐसा विशेष नहीं है, क्योंकि अविशेषरूपसे नियमका विधान है ।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि० इस श्रुतिमें अन्य विशेष कहा जाता है । यद्यपि यहाँ प्रकरणकी सामर्थ्य विद्वान् ही 'करता हुआ' इस प्रकार सम्बन्धित किया जाय, तो भी यह कर्मानुज्ञा विद्यास्तुतिके लि समझनी चाहिए, क्योंकि आगे 'न कर्म लिप्यते नरे' ऐसा ही श्रुति कहेगी । तात्पर्य यह है—जीव पर्यन्त कर्म करते हुए भी तत्त्ववित् पुरुषमें विद्याकी सामर्थ्यसे कर्म लेप (फल बन्धन) के लिए न होता । इससे इस प्रकार विद्याकी स्तुति की जाती है ॥ १४ ॥

और विद्याके फलका साक्षात्कार करनेवाले कुछ एक विद्वान् लोग विद्याका अवलम्बन अन्य फलके साधन प्रजा आदिमें प्रयोजनाभावका परामर्श करते हैं अर्थात् प्रयोजनाभाव देखते हैं क्योंकि 'एतद्ध स्म वै० (पूर्ववर्ती विद्वान् सन्तान तथा कर्म आदिकी इच्छा नहीं करते थे, वे सोचते कि हम इस प्रजासे क्या करेंगे अर्थात् इनसे क्या प्रयोजन है, जिन हमको यह आत्मलोक अभीष्ट है

सत्यानन्दी दीपिका

* 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यह नियम श्रुति केवल अविद्वान्के लिए है, ऐसा कहा गया है । अ इस श्रुतिको विद्वद् विषयक मानकर उसका 'स्तुतये' इस सूत्रसे परिहार करते हैं ॥ १४ ॥

* स्वेच्छासे अग्निहोत्र आदि कर्मके साधनभूत प्रजा आदिके त्याग रूप लिङ्गसे भी विद्या स्वतं

। अनुभवारूढमेव च विद्याफलं न क्रियाफलवत्कालान्तराभावीत्यसकृदवोचाम । पि न विद्यायाः कर्मशेषत्वं नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ।१५।

उपमर्दं च ॥१६॥

पदच्छेद—उपमर्दम्, च ।

सूत्रार्थ—और 'यत्र वा अस्य' इत्यादिसे ज्ञात होता है कि तत्त्वज्ञान कर्मानुष्ठानके हेतु भूत कृत क्रिया, कारक, फल विभागका उपमर्दन करता है ।

अपि च कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य सामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्' २।४।१४) इत्यादिना । वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य धिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥१६॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥१७॥

पदच्छेद—ऊर्ध्वरेतःसु, च, शब्दे, हि ।

सूत्रार्थ—(च) और (ऊर्ध्वरेतःसु) संन्यासाश्रममें ही ब्रह्मविद्याका श्रवण है, इससे भी विद्या नहीं है, (हि) क्योंकि (शब्दे) 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि श्रुतिमें संन्यासाश्रम प्रतिपादित है ।

ॐ ऊर्ध्वरेतःसु चाश्रमेषु विद्या श्रूयते । नच तत्र कर्माङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते, कर्मा- भात । न ह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति । स्यादेतत्—ऊर्ध्वरेतस आश्रमा यन्ते वेद इति तदपि नास्ति । तेऽपि हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते—'त्रयो धर्मस्कन्धाः'

अपनी इच्छासे त्याग करनेकी वाजसनेयी शाखावालोंकी श्रुति है । विद्या फल तो अनुभव सिद्ध , कर्मफलके समान कालान्तर-जन्मान्तर भावी नहीं है, ऐसा हम अनेक वार कह चुके हैं । इससे द्या कर्मशेष नहीं है और विद्या-विषयक फल श्रुति अयथार्थ है, ऐसा भी आश्रयण नहीं किया कता ॥ १५ ॥

और कर्माधिकारके हेतु क्रिया, कारक और फलरूप अविद्याकृत समस्त प्रपञ्चकी विद्याकी से स्वरूप निवृत्ति 'यत्र वा अस्य० (जिस विद्यावस्थामें इस ब्रह्मवेत्ताके लिए सब आत्मा हो ा उस अवस्थामें किस करणसे किस विषयको देखे और किस करणसें किस विषयको सूंघे) दे श्रुतिसे कहते हैं । वेदान्तसे उत्पन्न आत्मज्ञानसे जो पूर्व है ऐसे कर्माधिकार सिद्धिकी प्रत्याशा लेको तो कर्माधिकारका उच्छेद हो प्रसक्त होगा । इससे भी विद्या स्वतन्त्र है ॥ १६ ॥

और ऊर्ध्वरेतः संन्यासाश्रमोंमें विद्याका श्रवण है । वहाँ विद्यामें कर्माङ्गत्व उपपन्न नहीं होता, उक्त आश्रमोंमें कर्मका अभाव है—अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म उन आश्रमोंमें नहीं है । ऐसा न्तु ऊर्ध्वरेतः आश्रम वेदमें नहीं सुने जाते, यह भी नहीं है, क्योंकि वे भी 'त्रयो धर्मस्कन्धाः'

सत्यानन्दी दीपिका

सी होनेसे कर्माङ्ग नहीं है, ऐसा 'कामकारेण चैके' इस सूत्रसे कहते हैं । आत्मविद्याका अनुभव अनावृत्त आत्मस्वरूप मोक्ष फल है । यह कर्मफलके समान कालान्तरभावी, सातिशय और नहीं है । और 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि विद्या फल श्रुति भी अर्थवाद नहीं है, किन्तु है ॥ १५ ॥

विद्याकी स्वतन्त्रतामें 'ऊर्ध्वरेतःसु' इत्यादिसे अन्य हेतु कहते हैं । 'कर्मतत्त्वज्ञाने नाङ्गाङ्गिभूते धिकारिस्थितत्वात् राजसूयबृहस्पतिसववत्' (कर्म और तत्त्वज्ञान अङ्गाङ्गिभूत नहीं हैं, क्योंकि -भिन्न अधिकारी स्थित हैं, जैसे राजसूय और बृहस्पतिसव) इसलिए कर्म विधिसे रहित संन्यासा-

(छा० २।२३।१), 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१), 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये (मुण्ड० १।२।११), 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२), 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इत्येवमादिषु । प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृतर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥१७॥

(२ परामर्शाधिकरणम् । सू० १८-२०)

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥१८॥

पदच्छेद—परामर्शम्. जैमिनिः, अचोदना, च, अपवदति, हि ।

सूत्रार्थ—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इत्यादि शास्त्र (परामर्शम्) अन्ध परम्परान्यायसे प्र संन्यासाश्रमका अनुवादक है, (जैमिनिः) ऐसा आचार्य जैमिनिका मत है, (हि) क्योंकि दना) इसवाक्यमें विधायक लिङ् आदि नही है, (च) और (अपवदति) 'वीरहा' इत्यादि शा भी संन्यासाश्रमका प्रतिषेध करता है ।

❀ 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावायोदाहृताः न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति । यतः परामर्शमेषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां

(धर्मके तीन स्कन्ध-प्रविभाग हैं) 'ये चेमे० (वे जो कि ज्ञान युक्त वानप्रस्थ और संन्यासी अरण्य श्रद्धा और तप इनकी उपासना करते हैं) 'तपः श्रद्धे० (जो विद्वान् लोग अरण्यमें तपः और श्रद्धा सेवन करते हैं) 'एतमेव० (इसी आत्मलोकको चाहते हुए संन्यासी सब कर्मोंका संन्यास करते हैं 'ब्रह्मचर्यादेव० (ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण करे) इत्यादि वैदिक शब्दोंमें अवगत होने हैं। प्र गार्हस्थ्य अप्राप्त गार्हस्थ्य, अपाकृत तीन ऋण और अनपाकृत तीन ऋण वालोंका अर्ध्वरेतस्त्व श्रु और स्मृतिमें प्रसिद्ध है । इससे भी विद्या स्वतन्त्र है !। १ ॥

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (धर्मके तीन स्कन्ध-प्रविभाग हैं) इत्यादि श्रुतियाँ जो संन्यासाश्रमों सद्भावके लिए उदाहृत हैं, वे उनके प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि जैमिनि आचार्य इ

सत्यानन्दी दीपिका

श्रममें ही विद्याका श्रवण होनेसे ब्रह्मज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं है । अब संन्यासाश्रमके अभावकीशङ्का 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादिसे निवृत्त करते हैं । 'तीन कर्म प्रधान आश्रम हैं और चौथा ब्रह्मसंस्था संन्यासाश्रम है' 'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणः' (ब्रह्मचर्य यु वेदाध्ययनसे ऋषिऋण, यज्ञ आदिसे देवऋण और प्रजा द्वारा पितृऋणसे मुक्त होकर यह ऋण रहि होता है) ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम इनके लिए श्रौत और स्मार्त कर्मोंका विधान है और केवल ब्रह्म प्राप्तिके लिए गृहीत संन्यासके लिए कर्मका विधान नहीं है । परन्तु 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत् । अनापकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥' (तीनों ऋणोंका अपा करणकर मनको मोक्षमें प्रविष्ट करे। ऋणोंका अपाकरण किए विना मोक्षका सेवन करनेवाला अधोगतिको प्राप्त होता है) इस प्रकारकी मनुस्मृति है । इसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थाश्रममें रहकर तीनों ऋणोंसे मुक्त हो संन्यास ग्रहण करे ! 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेवप्रव्रजेत गृहाद्वा वनाद्वा' 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (जाबा० ३।४) इत्यादि श्रुति है । श्रुति और स्मृतिमें विरोध हो तो स्वतन्त्र प्रमाणभूत श्रुति बलवती होती है । और 'द्वितीयाश्रममिच्छेत्तमावसेद्' (द्वितीय आश्रम-की इच्छा करे और उसमें रहे) यह स्मृति है । इस प्रकार श्रुतिमें और स्मृतिमें संन्यासाश्रम प्रसिद्ध है। इसलिए ब्रह्मविद्या संन्यासाश्रम निष्ठ होनेसे स्वतन्त्र है ॥ १७ ॥

* पूर्व अधिकरणमें 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि श्रुति जो यति आश्रमके सद्भावमें प्रमाणरूपसे कही गई है, उसका असंभव है, इसप्रकार आक्षेप संगतिसे 'परामर्शं जैमिनिः' इत्यादिसे पूर्वपक्ष

निराचार्यो मन्यते, न विधिम् । कुतः ? न ह्यत्र लिङ्गादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति ।
न्तरपरत्वं चैषु प्रत्येकमुपलभ्यते । त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावद्यज्ञोऽध्ययनं दानमिति
मस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसाद-
र्व एते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्यात्य-
कफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूयते—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २।२३।१) इति । ननु परा-
ऽप्याश्रमा गम्यन्त एव । सत्यं गम्यन्ते, स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः ।
श्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति, अनधिकृतविषया वा । ननु गार्ह-
मपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति । सत्यमेवम्, तथापि
गृहस्थं प्रत्येवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम् । तस्मात्स्तुत्यर्थ
यं परामर्शो न चोदनार्थः । अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम्—'वीरहा वा
देवानां योऽग्निमुद्वासयते', 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' (तै० १।११।१),
पुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' इत्येवमाद्या । तथा 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते'

र्यामें अन्य आश्रमोंका परामर्श मानते हैं, विधि नहीं, किससे ? इससे कि लिङ् आदिमेंसे एक भी
शब्द यहाँ नहीं है । और इनमें प्रत्येक अन्य अर्थपरक उपलब्ध होता है । 'त्रयो धर्मस्कन्धाः'
तो 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति' (यज्ञ, वेदाध्ययन और दान यह प्रथम धर्मस्कन्ध है, तप द्वियीय धर्म
और आचार्यकुलमें वास करनेवाला, जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक आचार्यकुलमें देहको क्षीण
नेवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी, यह तृतीय धर्म स्कन्ध है, ये सब तीनों आश्रमी यथोक्त धर्मसे पुण्यलोक
होते हैं) इसप्रकार आश्रमोंका परामर्शपूर्वक व्यभिचरित फल कहकर 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'
ह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित चतुर्थाश्रमी संन्यासी अमृतत्वको प्राप्त होता है) इसप्रकार अव्यभि-
रित फलत्वसे ब्रह्म संस्थताकी स्तुति की जाती है । परन्तु परामर्शमें भी आश्रम अवगत होते ही हैं ।
तु उनकी स्मृति और आचारसे तो प्रसिद्धि है, प्रत्यक्ष श्रुतिसे प्रसिद्धि नहीं है, अतः प्रत्यक्ष श्रुतिके
ोध होनेपर वे अनादरणीय होंगे अथवा अनधिकारी विषयक होंगे अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें
धिकारी लूले-लंगड़े होंगे । परन्तु 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः' इसप्रकार गार्हस्थ्यका भी
न्यासियोंके साथ परामर्श किया गया है । ऐसा ठीक है, तो भी गृहस्थाश्रमके प्रति तो अग्निहोत्र
दि कर्मोंका विधान होनेसे उसका अस्तित्व श्रुति प्रसिद्ध ही है । इसलिए यह परामर्श स्तुत्यर्थक ही
विध्यर्थक नहीं है । और 'वीरहा वा एष० (अग्निका उद्वासन (बुझाना) करता है वह
ओंका वीरहा-पुत्र घाती होता है) 'आचार्याय० (आचार्यको अभीष्ट धन लाकर (उसकी आज्ञासे
परिग्रह कर) सन्तान परम्पराका उच्छेद न करे) 'नापुत्रस्य० (अपुत्रवालेको लोकप्राप्त नहीं
, ऐसा सब पशु भी जानते हैं) इत्यादि प्रत्यक्ष श्रुति आश्रमान्तरका प्रतिषेध करती है । इसी

सत्यानन्दी दीपिका

ते हैं । अर्ध्वरेतः शब्दसे यहाँ संन्यासाश्रम समझना चाहिए । भाष्यमें 'आश्रमान्तराणां' यह
चन अवान्तर भेदके अभिप्रायसे है, इसलिए काण्वायन स्मृतिसे अर्थतः अनुवृत्ति करते हैं—
, ब्राह्म, प्राजापत्य और बृहन् भेदसे ब्रह्मचारी चार प्रकारके हैं । इसीप्रकार वार्त्ताक, यायावर,
ीन और घोरसंन्यासिक भेदसे गृहस्थ भी चार प्रकारका है । वैखानस, औदुम्बर, बालखिल्य
फेनप भेदसे वानप्रस्थ चार प्रकारका है । इसीप्रकार कुटीचक बहूदक, हंस औरपरम हंस भेदसे
व्राजक चार प्रकारके हैं । इन सबका स्वरूप आदि रत्नप्रभा आदिमें विस्तारसे लिखा गया है, विस्तार
से यहाँ नहीं लिखा है । परन्तु ऊपर वर्णित पूर्वपक्षमें संन्यासका अभाव होनेसे ज्ञानमें स्वतन्त्र
स्वरूपफल की असिद्धि है और सिद्धान्तमें संन्यासाश्रमके सिद्ध होनेपर ज्ञानमें फलकी सिद्धि है ॥१८॥

(छा० ५।१०।१) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मुण्ड० १।२।११) इति च देवयानोपदेशो नाश्रमान्तरोपदेशः । संदिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम्—'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्येवमादिषु । तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति लोकसंस्तवोऽयं न पारिव्राज्यविधिः । ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम् । सत्यमेवमेतत्, अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम् ॥१८॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥

पदच्छेद—अनुष्ठेयम्, बादरायणः, साम्यश्रुतेः ।

सूत्रार्थ—(बादरायणः) बादरायणका मत है कि (अनुष्ठेयम्) संन्यासाश्रम अनुष्ठेय है, (साम्यश्रुतेः) क्योंकि 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इसप्रकार गृहस्थाश्रमके साथ संन्यासाश्रमकी भी समान परामर्श श्रुति है ।

❋ अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते, वेदे श्रवणात् । अग्निहोत्रादीनां चावश्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमिति हीमां मतिं निराकरोति, गार्हस्थ्यवदेवाश्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः । कुतः ? साम्यश्रुतेः । समा हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्याद्या । यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम् । यथा च शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोः परामर्श उपवीतविधिपरे वाक्ये । तस्मात्तुल्य-

प्रकार 'ये चेमेऽरण्ये० (जो ये अरण्यमें श्रद्धा और तपकी उपासना करते हैं) 'तपः श्रद्धे० (जो त और श्रद्धाका अरण्यमें रहकर सेवन करते हैं) यह देवयान मार्गका उपदेश है, आश्रमान्तरका उपदेश नही है । और 'तप एव द्वितीयः' (तप ही द्वितीय धर्म है) इत्यादि श्रुतियोंमें अन्य आश्रमों का कथन संदिग्ध है । उसीप्रकार 'एतमेव० (उसी आत्मलोकके अभिलाषी परिव्राजक सब कर्मोंका त्याग करते हैं) यह आत्मलोककी स्तुति है परिव्राज्य विधि नहीं है । परन्तु 'ब्रह्मचर्यादेव' (ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करे) इसप्रकार जाबालोंमें यह स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष परिव्राज्यका विधान है। यह ठीक है । परन्तु इस श्रुतिकी अपेक्षा किये बिना यह विचार है, ऐसा समझना चाहिए ॥१८॥

सिद्धान्ती—बादरायण आचार्यका मत है कि अन्य आश्रम अनुष्ठेय है, क्योंकि उसका वेदमें श्रवण है । अग्निहोत्र आदिके अवश्य अनुष्ठेय होनेसे उसके विरोधसे अन्य आश्रम कर्मोंमें अनधिकृत अन्ध आदिसे अनुष्ठेय है, इसप्रकारकी बुद्धिका गार्हस्थ्यके समान ही अन्य आश्रमकी इच्छा न करनेवालोंको भी स्वीकार करना चाहिए । ऐसा मानने वाले आचार्य बादरायण निराकरण करते हैं। किससे ? इससे कि साम्य श्रुति है । गार्हस्थ्यके साथ अन्य आश्रमकी भी 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि समान परामर्श श्रुति देखी जाती है । जैसे यहां अन्य श्रुतिमें विहित ही गार्हस्थ्यका परामर्श किया गया है, वैसे ही अन्य श्रुतिमें विहित अन्य आश्रमका भी परामर्श किया गया है, ऐसा समझना चाहिए । जैसे अन्य शास्त्रसे ही प्राप्त निवीत और प्राचीनावीतका उपवीत विधि परक वाक्योंमें परा-

सत्यानन्दी दीपिका

❋ जैसे अन्य श्रुतिमें विहित गार्हस्थ्यका 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' यहां परामर्श (अनुवाद) किया गया है, वैसे ही यहां अन्य श्रुतिसे विहित अन्य आश्रमोंका भी परामर्श है । अनुवाद अन्यत्र विहित-का होता है । जैसे 'निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानाम्' (निवीत मनुष्योंका, प्राचीनावीत पितरोंका और उपवीत देवोंका होता है) इत्यादि वाक्यमें दैव कर्ममें उपवीतका विधान है और उसकी स्तुतिके लिए इन दोका अनुवाद है, क्योंकि मनुष्य सम्बन्धी क्रियामें निवीत-अर्थ देहका वस्त्रसे बन्धन प्राप्त है और पितृ-सम्बन्धी क्रियामें प्राचीनावीत भी अन्य विधिसे प्राप्त है । इस

ष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ।२२) इत्यस्य वेदानुवचनादिभिः समभिव्याहारः। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' छा० ५।१०।१) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्यया। यत्तूक्तम्—'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) त्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धमिति, नैष दोषः. निश्चयकारणसद्भावात्। 'त्रयो धर्म- न्धाः' (छा० २।२३।१) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम्। नच यज्ञादयो भूयांसो धर्मा त्पत्तिभिन्नाः सन्तोऽन्यत्राश्रमसंबन्धात्त्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते। तत्र यज्ञादिलिङ्गो श्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टो ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽन्य- प्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्येत ? 'ये चेमेऽरण्ये' (छा० ५।१०।१) इति चारण्य- ङ्गाच्छ्रद्धातपोभ्यामाश्रमगृहीतिः। तस्मात्परामर्शेऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥१९॥

विधिर्वा धारणवत् ॥२०॥

पदच्छेद—विधिः, वा, धारणावत्।

होता है। इसलिए अन्य आश्रमका गार्हस्थ्यके साथ अनुष्ठेयत्व समान है। उसीप्रकार 'एतमेव' आत्मलोककी इच्छा करनेवाले संन्यासी सब कुछ त्यागकर चले जाते हैं) इसका वेदके अनु- आदिके साथ सहोच्चारण है। 'ये चेमेऽरण्ये० (वे जो कि वनमें श्रद्धा और तप इनकी उपा- करते हैं) इसका पञ्चाग्नि विद्याके साथ सहोच्चारण है। और यह जो कहा गया है कि 'तप एव यः' इत्यादिमें अन्य आश्रमका विधान संदिग्ध है। यह दोष नहीं है, क्योंकि निश्चय कारणका व है। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इसप्रकार धर्मस्कन्ध तीन हैं, ऐसी प्रतिज्ञाकी गई है। बहुत-से यज्ञ दि धर्म उत्पत्ति विधि [यजेत इत्यादि] से भिन्न होते हुए आश्रम सम्बन्धसे अन्यत्र त्रित्वमें र्भाव नहीं किए जा सकते। उनमें यज्ञादि-लिंगक गृहस्थाश्रम यह एक धर्मस्कन्ध निर्दिष्ट है। चारी' इसप्रकार स्पष्ट आश्रमका निर्देश है, 'तपः' यह भी तप प्रधान आश्रमसे कौन-सा दूसरा कन्ध स्वीकार किया जाता है। 'येचेमेऽरण्ये' इसमें अरण्यलिंगसे-श्रद्धा और तपसे आश्रमका होता है। इसलिए परामर्शमें भी अन्य आश्रम अनुष्ठेय है ॥ १९ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' यह वाक्य भले 'यज्ञाऽध्ययनं दानमिति' इसप्रकार अन्य अर्थ परक हो, तु इस वाक्यमें परामर्शसे अन्य आश्रमोंकी प्रतीतिका वारण नहीं किया जा सकता है। मेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इत्यादि साक्षात् श्रुति पारिव्राज्य आश्रमका विधान करती है। नुवचन आदि विधेयोंके साथ सहोच्चारण होनेसे पारिव्राज्यमें भी विधेयता है। 'ये चेमे०' इत्यादि से वानप्रस्थका विधान है, क्योंकि पञ्चाग्नि विद्यारूप विधेयके साथ कथन होनेसे वानप्रस्थ भी है। इसलिए श्रुतिमें त्रित्वकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे स्कन्ध शब्दको आश्रमपरक मानना ए। और 'स्वर्गकामो यजेत' 'दद्यात्' 'अध्येतव्यम्' इत्यादि उत्पत्ति विधिसे भिन्न बहुत-से यज्ञ दि धर्म हैं, उनका आश्रम सम्बन्धके विना 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इसमें तीन संख्यामें अन्तर्भाव हो सकता। इसलिए इनमें यज्ञादि लिंगवाला गृहस्थाश्रम एक धर्मस्कन्ध है। 'ब्रह्मचारीति द्वितीयः' इससे तप प्रधान तृतीय वानप्रस्थ आश्रमका ग्रहण है। इसप्रकार 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' यहां से 'ब्रह्मसंस्थ' से संन्यासका ही ग्रहण होता है। पूर्वपक्षीने अन्य आश्रमके प्रतिषेधमें जो 'वीरहा एष' यह श्रुति प्रमाण दिया है, वह भी गृहस्थाश्रम युक्त पुरुषके लिए है अर्थात् जो गृहस्थ अज्ञान था परमाद आदिसे यज्ञीय अग्निको बुझा देता है वह देवोंका पुत्रघाती होता है, यह अभिप्राय है। श्रुतिसे अविरोध और परामर्श होनेसे (संन्यासाश्रम) का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ--(वा) अथवा (विधिः) अन्य आश्रमकी विधि माननी चाहिए, (धारणवत्) जैसे 'अधस्तात् समिधम्' इत्यादि श्रुतिमें समिध् धारणकी विधि है।

* विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य, न परामर्शमात्रम्। ननु विधित्वाभ्युपगम एकवाक्यता प्रतीतिरुपरुध्येत, प्रतीयते चात्रैकवाक्यता—पुण्यलोकफलास्त्रयो धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्थता त्वमृतत्वफलेति। सत्यमेतत्, सतीमपि त्वेकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्यः अपूर्वत्वात्, विध्यन्तरस्यादर्शनात्, विस्पष्टाच्चाश्रमान्तरप्रत्ययाद्गुणवादकल्पनयैकवाक्यत्व योजनानुपपत्तेः। धारणवत्। यथा—अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवोपरिधारणम्, अपूर्वत्वात् तथा चोक्तं शेषलक्षणे—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति, तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेति कल्प्यते॥ यद्यपि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां, तद्यपि ब्रह्मसंस्थता तावत्संस्तवसामर्थ्यादवश्यं विधेयाऽभ्युपगन्तव्या। सा च किं चतुर्ष्वाश्रमेषु यस्य कस्यचिदाहोस्वित्परिव्राजकस्यैवेति विवेक्तव्यम्। यदि च ब्रह्मचार्यन्तेष्वाश्रमेषु परामृश्यमानेषु परिव्राजकोऽपि

अथवा यह अन्य आश्रमकी विधि है केवल अनुवाद नहीं है। परन्तु विधित्व स्वीकार करनेसे एकवाक्यताकी प्रतीतिका बाध होगा और यहां तीन धर्मस्कन्ध पुण्यलोक फलवाले हैं और ब्रह्म-संस्थता अमृतत्व फलवाली है, इसप्रकार यहां एकवाक्यता प्रतीत होती है। यह ठीक है। सिद्धान्ती-परन्तु यहां एकवाक्यताकी प्रतीति होनेपर भी उसका परित्यागकर अपूर्व होनेसे विधि ही स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि इनकी अन्य विधि नहीं देखी जाती। कारण कि अन्य आश्रमोंका स्पष्ट ज्ञान होनेसे गुणवाद कल्पनासे एकवाक्यताकी योजना नहीं हो सकती। धारणके समान। जैसे 'अधस्तात्समिधम्' (स्रुवामें रखी हुई हविष्यके नीचे समिधाको धारणकर अनुद्रवण करे-आहवनीयाग्निके समीप जाय, क्योंकि उन देवताओंके लिए हविपूर्ण जुहूके ऊपर समिधाका धारण करता है) इससे नीचे धारणके साथ एकवाक्यता प्रतीत होनेपर भी अपूर्व होनेसे ऊपर धारणका विधान किया जाता है अर्थात् ऊपर धारणकी विधि मानी जाती है। जैसे कि 'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' (दैविक हविष्यमें जुहू-स्रुवाके ऊपर समिधाका धारण अपूर्व होनेसे विधि है) इसप्रकार शेष लक्षणमें कहा गया है। वैसे ही यहां भी आश्रमकी परामर्श श्रुति भी विधि है ऐसी कल्पनाकी जाती है। यद्यपि यह अन्य आश्रमोंका परामर्श ही है, तो भी ब्रह्मसंस्थता स्तुतिकी सामर्थ्यसे विधेयरूपसे स्वीकार करनी चाहिए। और वह स्तुति क्या चार आश्रमोंमें चाहे जिस किसी आश्रमकी है अथवा परिव्राजककी है? इसका विवेचन करना चाहिए। यदि ब्रह्मचारी पर्यन्त अनुवाद किए जानेवाले आश्रमोंमें परिव्राजक

सत्यानन्दी दीपिका

* 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' यह श्रुति अन्य आश्रमोंकी अनुवादक कही गई है विधि नहीं है। अतः इसे अन्य आश्रमोंमें विधि कहते हैं अनुवादक नहीं है, क्योंकि इसमें लाघव है। पूर्वपक्षी—यदि 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इसको अन्याश्रमोंको विधि मानें तो 'त्रयो० और ब्रह्मसंस्थो०' इन दोनोंकी एकवाक्यताका बाध होगा, अतः इसको चारों आश्रमोंकी विधि मानना अयुक्त है। सिद्धान्ती—अन्य आश्रमोंकी किसी अन्य विधिसे पूर्व सिद्धि न होनेसे उनका अनुवाद भी सम्भव नहीं है। 'ब्रह्मसंस्थो' इस वाक्यको स्तुति परक माननेसे लक्षणा दोष है, इसलिए एकवाक्यता प्रतीतिका त्यागकर अन्य आश्रमोंको प्रथम किसी अन्य विधिसे सिद्धि न होनेके कारण उनकी विधि मानना युक्त है। जैसे 'धारणवत्' यजमानकी मृत्यु होनेपर आहिताग्निमें अग्निहोत्र होमकर उस अग्निसे उसका दाह संस्कार किया जाता है, अतः उसे प्रेताग्निहोत्र कहते हैं। उसमें जुहूमें हविको भरकर हवनके लिए जब आहवनीय अग्निके पास ले जाय, तब उस हविको 'अधस्तात्समिधम्' इससे विहित अधोधारणका

स्ततश्चतुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषादनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्णां ब्रह्मसंस्थो भविष्यति । अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति ति । तत्र तपःशब्देन वैखानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राडपीति केचित् । तदयुक्तम्, नहि गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति, यथाऽत्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनाव- णेनैव स्वेन स्वेन विशेषणेन विशेषितावेवं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम् । तपश्चा- णो धर्मो वानप्रस्थानाम्, कायक्लेशप्रधानत्वात्, तपःशब्दस्य तत्र रूढेः । भिक्षोस्तु इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते । चतुष्ट्वेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन यन्त इत्यन्याय्यम् । अपि च भेदव्यपदेशोऽत्र भवति—'त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽ- भाक्' इति । पृथक्त्वे चैष भेदव्यपदेशोऽवकल्पते । न ह्येवं भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ ज्ञावन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञ इति । भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ, विष्णुमित्रस्तु ज्ञ इति । तस्मात्पूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः, परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृत- क् । * कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात्प्रवर्तमानः सर्वत्र संभवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत ? भ्युपगमे चाश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति । अत्रोच्यते—ब्रह्मसंस्थ इति ह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वमभिधीयते । तच्च त्रयाणामाश्रमाणां

मृष्ट हो तो चारों आश्रमोंका भी समानरूपसे परामर्श हो जानेसे और अनाश्रमित्व [अनाश्रमी त्व] की अनुपपत्ति होनेसे चारों आश्रमोंमें जो कोई ब्रह्मसंस्थ होगा । और यदि परिव्राजकका र्श न हो तो अवशिष्ट परिव्राजक ही ब्रह्मसंस्थ है, ऐसा सिद्ध होगा । उनमें वैखानसग्राही तपः से परिव्राजकका भी परामर्श होता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं । वह युक्त नहीं है, क्योंकि गतिके र वानप्रस्थके विशेषणसे (तपः शब्दसे) परिव्राजकका ग्रहण नहीं हो सकता । जैसे यहाँ ब्रह्मचारी गृहस्थी अपने-अपने असाधारण विशेषणसे विशेषित होते हैं, वैसे भिक्षु और वानप्रस्थ भी त हों, यह युक्त है । तपः वानप्रस्थोंका असाधारण धर्म है, क्योंकि उनमें कायक्लेश प्रधान हैं । शब्द कायक्लेश आदिमें रूढ है । परन्तु परिव्राजकका इन्द्रिय संयम आदि धर्म तपः शब्दसे नहीं जाता । और चार रूपसे प्रसिद्ध आश्रमोंका तीनरूपसे अनुवाद अयुक्त है । और 'यत्र एते० ये तीन पुण्यलोकके भागी हैं और एक अमृतत्वका भागी है) इस प्रकार यहाँ भेदका व्यपदेश और (वानप्रस्थ और परिव्राजक) पृथक् होनेपर यह भेद व्यपदेश भी उपपन्न होता है । और यज्ञदत्त मन्दबुद्धि हैं किन्तु इन दोनोंमें से एक महाप्राज्ञ है, ऐसा कभी नहीं होता । ऐसा तो होता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त मन्दबुद्धि हैं पर विष्णुमित्र महाप्राज्ञ है । इसलिए तीन आश्रमी पुण्यलोकके भागी होते हैं और परिशिष्यमाण परिव्राजक ही अमृतत्वका भागी है । किन्तु योगसे प्रवृत्त होता हुआ ब्रह्मसंस्थ शब्द सब आश्रमोंमें सम्भव होता हुआ फिर जकमें ही क्यों अवस्थित हो ? और रूढ़िका स्वीकार होनेपर केवल आश्रममात्रसे अमृतत्वकी होनेसे ज्ञानमें अनर्थक प्रसङ्ग होगा ? इसपर कहते हैं—'ब्रह्मसंस्थः' इस शब्दसे ब्रह्ममें परि-

सत्यानन्दी दीपिका

मानकर 'ऊपरि हि' इस वाक्यकी एकवाक्यता हो सकती है, तो भी दैवहोममें जुहू दण्डके समिधाके धारणमें ही अपूर्व होनेसे विधि है । इसप्रकार जैमिनि आचार्यने वाक्यभेद तृतीया- कहा है । इसप्रकार यहाँ भी चारों आश्रमोंकी विधि है । अब तीन आश्रमोंका अनुवादकर विधिमें 'यदापि' इत्यादिसे अन्य पक्ष कहा जाता है ।

---

* क्या यह 'ब्रह्मसंस्थः' शब्द यौगिक है कि रूढ़ि ? इसको 'कथम्' आदिसे कहते हैं । यद्यपि

न संभवति, स्वाश्रमविहितकर्माननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्, परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसं सात्प्रत्यवायो न संभवत्यननुष्ठाननिमित्तः। शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उ द्बलको न विरोधी। ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म, य दीनि चेतरेषां, तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः। तथा च 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः हि ब्रह्मा। तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत' (नारा० ७८), 'वेदान्तविज्ञ सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' (मुण्ड० ३।२।६, नारा० १२।३, कैवल्य० ३) इत्या श्रुतयः। स्मृतयश्च—'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' (गी० ५।१७) इत्याद्या ब्रह्मसंस्थ कर्माभावं दर्शयन्ति। तस्मात्परिव्राजकस्याश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येषो दोषो नावतरति। तदेवं परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां पारिव्राज्यं तावद्ब्रह्मसंस्थताल लभ्येतैव। अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तित विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा—'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' (जाबा० ४) इति। चेयं श्रुतिरनधिकृतविषया शक्या वक्तुम्, अविशेषश्रवणात्। पृथग्विधानाच्चानधिकृतान 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा' (जाबा० ४) इत्यादि

समाप्ति-अनन्य व्यापारतारूप ब्रह्मनिष्ठत्व कहा जाता है, वह तीनों आश्रमोंमें नहीं हो सकता, क्यों अपने आश्रम विहित कर्मानुष्ठान न होनेपर प्रत्यवायका श्रवण है। परन्तु परिव्राजकमें सब कर्मो संन्यास होनेसे कर्माननुष्ठान निमित्तक प्रत्यवाय-पापका संभव नहीं है। शम, दम आदि तो उस व्राजकका धर्म है वह ब्रह्म संस्थताका पोषक है विरोधी नहीं है क्योंकि शम, दम आदिसे सुदृढ़ ब्र निष्ठत्व ही उसका स्वाश्रम-विहित कर्म है और यज्ञ आदि अन्य आश्रमोंके कर्म हैं। स्वाश्रम वि कर्मके उल्लङ्घन होनेपर उसको प्रत्यवाय होता है, क्योंकि 'न्यास इति० (यह संन्यास ब्रह्म है, क्यों ब्रह्म ही श्रुति-स्मृतिमें श्रेष्ठ है, इसलिए ब्रह्म-संन्यास ही श्रेष्ठ है, ये जो तप हैं वे अल्प हैं, संन्यास इन सबसे अधिक श्रेष्ठ है) 'वेदान्तविज्ञान० (जिन्होंने वेदान्त जनित विज्ञानसे ज्ञेय अर्थका अ तरह निश्चय कर लिया है वे संन्यासयोगसे यत्न करनेवाले समस्त शुद्ध चित्त पुरुष ब्रह्मलोकमें त्याग करते समय परम अमर भावको प्राप्त हो सब ओरसे मुक्त हो जाते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ औ 'तद्बुद्धय० (तद्रूप 'मैं ब्रह्म हूँ' बुद्धिवाले, तद्रूप मनवाले, तत् निष्ठावाले और तत् परायण पुरुष प गतिको प्राप्त होते हैं) इत्यादि स्मृतियाँ ब्रह्मसंस्थमें कर्मका अभाव दिखलाती हैं। इससे परिव्राजक आश्रम मात्रसे मोक्षकी प्राप्ति होनेसे ज्ञानमें अनर्थ प्रसङ्ग है। यह दोष भी अवतरित नहीं होता. अ इस प्रकार अन्य आश्रमोंका परामर्श होनेपर ब्रह्मसंस्थतारूप पारिव्राज्य प्राप्त ही होना चाहिए। अ आश्रमका विधान करनेवाली जाबाल श्रुतिकी अपेक्षा किये विना ही आचार्य जैमिनिने यह विच प्रवृत्त किया है। किन्तु 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य० (ब्रह्मचर्य भली-भाँति समाप्त कर गृहस्थाश्रमी हो गृहस्थ होकर वानप्रस्थ हो, वानप्रस्थ होकर परिव्राजक हो, अथवा इसके विपरीत ब्रह्मचर्यसे, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थसे ही परिव्राजक हो) इस प्रकार अन्य आश्रमकी प्रत्यक्ष विधि श्रुति विद्यमान है यह श्रुति अनधिकृत विषयक नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह अविशेष श्रुति है। और 'अथ पुनरे व्रती० (व्रती अथवा अव्रती, स्नातक अथवा अस्नातक, उत्सन्नाग्नि-नष्ट हुई अग्निवाला वा अग्निरहि पुरुष संन्यास ग्रहण करे) इत्यादिसे कर्ममें अनधिकारियोंका पृथक् विधान है। और पारिव्राज्य ब्रह्म

सत्यानन्दी दीपिका

'ब्रह्मसंस्थः' शब्द संन्यासाश्रममें रूढ़ नहीं है, तो भी यौगिक अर्थसे उसी अर्थकी उपस्थिति करता है क्योंकि अन्य आश्रमोंमें यौगिक अर्थका संभव नहीं है ॥२०॥

नपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नानधिकृतविषयत्वम्। तच्च दर्शयति—'अथ परिव्रा-
वासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति' (जाबा० ५) इति। तस्मात्सिद्धा
तसामाश्रमाः। सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति ॥२०॥

(३ स्तुतिमात्राधिकरणम्। सू० २१-२२)

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥२१॥

पदच्छेद—स्तुतिमात्रम्, उपादानात्, इति, चेत्, न, अपूर्वत्वात्।

सूत्रार्थ—उद्गीथ आदि उपासनाओंमें श्रूयमाण 'स एष रसानां' इत्यादि श्रुतियाँ (स्तुति-
) केवल स्तुति मात्र हैं, (उपादानात्) क्योंकि उद्गीथ आदि कर्माङ्गोंका ग्रहण है, (इति-
ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (अपूर्वत्वात्) क्योंकि वे अपूर्व हैं, अतः उनका विधान है।

* 'स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः' (छा० १।१।३) 'इयमेवर्गग्निः
(छा० १।६।१) 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः। तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी' इत्येवंजाती-
श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये, स्तुत्यर्था इति
उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात्। यथा—'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक
नीयः' इत्याद्या जुह्वादिस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत्, नेत्याह, नहि स्तुतिमात्रमासां श्रुतीनां
नं युक्तम्, अपूर्वत्वात्। विध्यर्थतायां ह्यपूर्वोऽर्थो विहितो भवति, स्तुत्यर्थतायां त्वान-
मेव स्यात्। विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरुपयुज्यत इत्यु-
'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यत्र। प्रदेशान्तरविहितानां तूद्गीथादीना-

पाक द्वारा ब्रह्म साक्षात्कारका अङ्ग होनेसे अनधिकृत विषयक नहीं है। उसे 'अथ परिव्राड्०'
रहित वस्त्र वाला, मुण्डी, परिग्रह रहित, पवित्र, द्रोह रहित, भिक्षा करनेवाला परिव्राजक ब्रह्म-
कारके लिए समर्थ होता है) यह श्रुति दिखलाती है। इसलिए ऊर्ध्वरेताओंके आश्रम सिद्ध हैं
विद्याका ऊर्ध्व रेताओंके लिए विधान होनेसे विद्यामें स्वातन्त्र्य सिद्ध है ॥ २० ॥

'स एष रसानां० (यह जो उद्गीथ संज्ञक ओंकार है वह सम्पूर्ण भूतादि रसोंमें रसतम,
, परमात्माका प्रतीक होनेसे परम परमात्माके समान उपास्य होनेसे परमात्माके स्थानके योग्य
गीथ पृथिवी आदि रसोंमें आठवाँ है) 'इयमेवर्गग्निः' (यह पृथिवी ही ऋक् है और साम
है अर्थात् ऋक्में पृथिवी दृष्टि और साममें अग्निदृष्टि करनी चाहिए) 'अयं वाव लोकः०
लोक निश्चित यह अग्निचित है) 'तदिदमेवोक्थ० (वह उक्थ यही है जो यह पृथिवी है)
कारकी श्रुतियाँ क्या उद्गीथ आदिकी स्तुतिके लिए हैं अथवा उपासना विधिके लिए हैं? ऐसा
होनेपर स्तुतिके लिए हैं, यह युक्त है, क्योंकि उद्गीथ आदि कर्माङ्गोंको लेकर इनका श्रवण है।
इयमेव० (यह पृथिवी जुहू है, आदित्य चयनस्थ कूर्म-पुरोडाश है और स्वर्गलोक आहवनीय
है) इत्यादि श्रुति जुहू आदिकी स्तुतिके लिए हैं, वैसे प्रकृतमें भी। ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं
ता [सूत्रकार] कहते हैं। इन श्रुतियोंका केवल स्तुति मात्र प्रयोजन मानना युक्त नहीं है,
वे अपूर्व हैं। इन श्रुतियोंको विध्यर्थक होनेपर अपूर्व अर्थका विधान होता है। इनको स्तुत्यर्थक
र तो अनर्थक ही होंगी, क्योंकि विध्यर्थक शब्दके वाक्यशेषत्वको प्राप्त होनेवाली स्तुति उप-
होती है, ऐसा 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्० (विधियोंके स्तावकरूपसे विधि वाक्योंके साथ एक

सत्यानन्दी दीपिका

* पृथिवी, जल, ओषधि, पुरुष, वाक्, ऋक् और साम इन सात रसोंका आठवाँ उद्गीथका
ओंकार परम रसतम है, क्योंकि वह परमात्माकी प्रतीक है। और पर-ब्रह्मके अर्ध-स्थानको

मियं प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानाऽनर्थिकैव स्यात्। इयमेव जु रित्यादि तु विधिसंनिधावेवाम्नातमिति वैषम्यम् । तस्माद्विध्यर्था एवैवंजातीयकाः श्रुतयः ।२

भावशब्दाच्च ॥२२॥

पदच्छेद—भावशब्दात् , च ।

सूत्रार्थ—और 'उद्गीथमुपासीत' इत्यादि विधि वाक्योंके होनेसे 'स एष' इत्यादि श्रुतिवा विधि परक ही हैं ।

'उद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१), 'सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'अहमुक्थमस्मी विद्यात्' इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिशब्दाः श्रूयन्ते । ते च स्तुतिमात्रप्रयोजनतायां व्याहन्येरन् तथा च न्यायविदां स्मरणम्- -'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम् । एतत्स्यात्सर्ववे नियतं विधिलक्षणम्' इति, लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एवं स्मरन्ति । प्रतिप्रकरणं फलानि श्राव्यन्ते—'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७), 'एष ह्येव कामागानस्ये (छा० १।७।९), 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्यादीनि । तस्मा प्युपासनविधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः ॥२२॥

(४ पारिप्लवाधिकरणम् । सू० २३-२४)

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥२३॥

पदच्छेद—पारिप्लवार्थाः, इति, चेत् , न, विशेषितत्वात् ।

सूत्रार्थ—(पारिप्लवार्थाः) 'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये' इत्यादि आख्यायिकाएँ पारि

वाक्यता होनेसे अर्थवाद वाक्योंकी सार्थकता होती है) इस सूत्रमें कहा गया है । परन्तु अन्य स्थल विहित उद्गीथ आदिकी अन्य प्रदेशमें पठित यह स्तुति वाक्यशेषत्वको न प्राप्त होती हुई अनर्थक होगी । 'इयमेव जुहूः० (यह पृथिवी ही जुहू है) इत्यादि तो विधिकी सन्निधिमें कहा गया है, वैलक्षण्य है । इसलिए इसप्रकारकी श्रुतियाँ विधिके लिए ही हैं ॥ २१ ॥

'उद्गीथमुपासीत' (उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए) 'सामोपासीत' (सामकी उपासन करनी चाहिए) 'अहमुक्थमस्मीतिविद्यात्' (मैं उक्थ हूँ, ऐसा ध्यान करे) इत्यादि स्पष्टरूप विधि श्रुतियाँ सुनी जाती हैं, वे केवल स्तुति प्रयोजन वाली माननेपर बाधित होंगी । और 'कुर्यात् क्रियेत० (कुर्यात्–करे, क्रियेत–किया जाय, कर्तव्यम्–करना चाहिए, भवेत्–हो और पाँचवा स्यात्- हो, सब वेदोंमें यह निश्चित विधि लक्षण है) इसप्रकार यह न्यायवेत्ताओंकी स्मृति है । लिङ् आदि अर्थ विधि है ऐसा मानते हुए वे इसप्रकार स्मरण करते हैं । और प्रत्येक प्रकरणमें 'आपयित ह वै० (जो विद्वान् उपासक इसप्रकार इस उद्गीथरूप अक्षरकी उपासना करता है, वह सम्पू कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला होता है) 'एष ह्येव० (क्योंकि यह उद्गाता कामना सम्बन्धी आगान के उद्गानसे उन कामनाओंको सम्पन्न करनेमें समर्थ होता है) 'कल्पन्ते हास्मै० (उस उपासक प्रति ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग्यरूपसे उपस्थित होते हैं) इत्यादि फलोंका श्रवण कराया जाता है । उससे भी उद्गीथ आदि श्रुतियाँ उपासनाका विधान करनेके लिए हैं ॥ २२ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

पाता है, अतः ओंकार पराध्यं है अर्थात् परब्रह्मके समान उपास्य है । इन उद्धृत श्रुतियोंमें ओंकार- का उपादान और अपूर्वार्थता होनेसे 'किम्' इत्यादिसे संशय कहते हैं । इसपर 'न हि' इत्यादिसे सिद्धान्त कहते हैं । पूर्वपक्षमें इनको स्तावक होनेसे अनुष्ठानका अभाव है, सिद्धान्तमें इनके विधायक होनेसे अनुष्ठान है ॥ २१ ॥

कर्मकी अङ्ग हैं, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (विशेषित्वात्) क्योंकि
वमाचक्षीत' इसप्रकार श्रुतिमें विशेषित की गई हैं।

❀ 'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च' (बृ० ४।५।१), 'प्रतर्दनो दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' (कौषी० ३।१) 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी
पाक्य आस' (छा० ४।१।१) इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वाख्यानेषु संशयः—किमिमानि
प्लवप्रयोगार्थान्याहोस्वित्संनिहितविद्याप्रतिपत्त्यर्थानीति। पारिप्लवार्था इमा आख्यान-
यः, आख्यानसामान्यात्, आख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात्। ततश्च विद्या-
नत्वं वेदान्तानां न स्यात्, मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत्। तन्न, कस्मात्? विशेषित-
त्। 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति हि प्रकृत्य 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्येवमादीनि कानिचिदेवाख्या-
नि तत्र विशेष्यन्ते। आख्यानसामान्याच्चेत्सर्वगृहीतिः स्यादनर्थकमेवेदं विशेषणं भवेत्।
स्मात् पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतयः ॥२३॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥२४॥

पदच्छेद —तथा, च एकवाक्यतोपबन्धात्।

'अथ ह० (यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्यकी मैत्रेयी और कात्यायनी ये दो भार्याएँ थीं) दर्नो ह० (दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन इन्द्रके प्रिय स्थान-स्वर्गमें गया) 'जानश्रुतिः हि पौत्रायणः०' नश्रुतिकी सन्तान-परम्परामें उत्पन्न एवं उसके पुत्रका पौत्र श्रद्धापूर्वक देनेवाला एवं बहुत दान नेवाला था और उसके यहां भोजनार्थियोंके लिए बहुत-सा अन्न पकाया जाता था) इत्यादि न्त पठित आख्यानोंमें संशय होता है कि क्या ये आख्यान पारिप्लवके प्रयोगके लिए हैं अथवा निहित विद्याकी प्रतिपत्तिके लिए हैं? ये आख्यानश्रुतियाँपारिप्लवार्थक हैं, क्योंकि इनमें आख्यानत्व न है और आख्यानका प्रयोग पारिप्लवमें विहित है। उससे वेदान्त वाक्योंमें मन्त्रों (देवस्य त्वा तुः) के समान प्रयोगका शेष होनेसे विद्या प्रधानत्व नहीं है। सिद्धान्ती—ऐसा यदि कहो तो यह नहीं है, क्योंकि वे विशेषित हैं। कारण कि 'पारिप्लवमाचक्षीत० (पारिप्लव कहे ऐसा उपक्रम 'मनुर्वैवस्वतो राजा' (विवस्वान्का पुत्र राजा मनु) इत्यादि कितने ही आख्यान श्रुतिमें विशे- किए जाते हैं। यदि आख्यानत्व समान धर्मसे सब आख्यानोंका ज्ञान हो तो [पारिप्लवमाचक्षीत] विशेषण निष्फल ही होगा। इसलिए ये आख्यान श्रुतियां पारिप्लवार्थक नहीं हैं ॥ २३ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ अश्वमेध यागमें पुत्र आदि परिवार सहित राजाको रातमें सन्मुख बैठाकर अध्वर्यु 'पारि- माचक्षीत' (पारिप्लव-अनेक प्रकारके वैदिक उपाख्यान कहे) इसप्रकार पारिप्लव नामक प्रयोगका न किया गया है। उसीप्रकार वेदान्तोंमें उक्त कथाएँ भी इन आख्यानोंके समान हैं और विद्या- संनिधान भी है, अतः 'किम्' इत्यादिसे संशय होनेपर पूर्वपक्षी—'पारिप्लवार्थाः' आदिसे कहते हैं। द्धान्ती—कथाएँ गुरु और शिष्यके समाचार प्रदर्शनसे बुद्धिमें सरलतासे बोध द्वारा संनिहित की अंग हैं, अतः पारिप्लार्थक नहीं हैं, क्योंकि सामर्थ्यरूप लिंग विद्यमान है, इससे विद्याका प्राधान्य है। अध्वर्यु प्रथम दिनमें 'मनुर्वैवस्वतो राजा' दूसरे दिन 'यमो वैवस्वतः' तीसरे दिन रुण आदित्यः' इत्यादि आख्यायिका कहे। इसप्रकार वाक्यशेषमें विशेष आख्यायिकाओंका कथन । यद्यपि 'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे' इस सर्व शब्दसे समस्त आख्यानोंका ग्रहण हो सकता है, भी 'पारिप्लवमाचक्षीत' इस विशेषके ग्रहणसे यह सिद्ध होता है कि आख्यान श्रुतियाँ पारिप्लवार्थक हैं, किन्तु विद्याकी स्तुतिके लिए हैं ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—(च) और (तथा) वैसे ही ये आख्यायिकाएँ विद्याके के लिए हैं, (एकवाक्यतपोबन्धात्) क्योंकि सन्निहित तत्-तत् विद्याके साथ एकवाक्यताका उपबन्ध-उपपत्ति है।

असति च पारिप्लवार्थत्वं आख्यानानां संनिहितविद्याप्रतिपादनोपयोगितैव न्याय्या, एकवाक्यतोपबन्धात्। तथा हि—तत्र तत्र संनिहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते, प्ररोचनोपयोगात्प्रतिपत्तिसौकर्योपयोगाच्च। मैत्रेयीब्राह्मणे तावत्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्याद्यया विद्ययैकवाक्यता दृश्यते। प्रातर्दनेऽपि 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्याद्यया। जानश्रुतिरित्यत्रापि 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१) इत्याद्यया। यथा 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इत्येवमादीनां कर्मश्रुतिगतानामाख्यानानां संनिहितविधिस्तुत्यर्थता, तद्वत्। तस्मान्न पारिप्लवार्थत्वम् ॥२४॥

(५ अग्नीन्धनाद्यधिकरणम्। सू० २५)

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥२५॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा।

सूत्रार्थ—(अतएव) अतएव विद्या पुरुषार्थका हेतु होनेसे (अग्नीन्धनादि) अग्नीन्धन आदि आश्रम कर्मोंकी (अनपेक्षा) अपेक्षा नहीं करती।

७ 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इत्येतद्व्यवहितमपि संभवादत इति परामृश्यते। अत एव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया ॥२५॥

आख्यानोंके पारिप्लवार्थक न होनेपर उनकी सन्निहित विद्या प्रतिपादनकी उपयोगिता ही उचित है, क्योंकि एकवाक्यताका उपबन्ध-उपपत्ति है। कारण कि उसी प्रकार तत्-तत् प्रदेशमें संनिहित विद्याओंके साथ तत्-तत् आख्यानोंकी, प्रीति उत्पन्न करनेके उपयोगसे और ज्ञान सौकर्यके उपयोगसे एकवाक्यता देखी जाती है। मैत्रेयी ब्राह्मणमें तो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (हे मैत्रेयी! (आत्माका दर्शन करना चाहिए) इत्यादि विद्याके साथ आख्यानोंकी एकवाक्यता देखी जाती है। प्रातर्दन ब्राह्मणमें भी 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' (मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ) इत्यादि विद्याके साथ एकवाक्यता देखी जाती है। और 'जानश्रुतिः' यहाँ भी 'वायुर्वाव संवर्गः' (वायु ही संवर्ग है) इत्यादि विद्याके साथ एकवाक्यता देखनेमें आती है। जैसे 'स आत्मनो० (उस प्रजापतिने होमके लिए अपनी वपा-हृदयके भीतरके भागका उद्धरण किया) इत्यादि कर्म श्रुतिमें स्थित आख्यान संनिहित विधिकी स्तुतिके लिए हैं, वैसे ही प्रकरणमें समझना चाहिए। इससे ये आख्यान पारिप्लवार्थक नहीं हैं ॥२४॥

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (इस औपनिषद् आत्मज्ञानसे पुरुषार्थ-मोक्ष होता है) यद्यपि यह पुरुषार्थ अधिकरण व्यवहित-दूरस्थ है, तो भी संभव होनेसे सूत्रस्थ 'अतः' शब्दसे उसका परामर्श किया जाता है। अतएव—विद्याके मोक्षका हेतु होनेसे ही अग्नि, इन्धन आदि आश्रम कर्म विद्या द्वारा अपने फल सिद्धिमें अपेक्षितव्य नहीं हैं। इसप्रकार आद्य अधिकरणके फलका अधिक कहनेकी इच्छासे उपसंहार करते हैं ॥२५॥

सत्यानन्दी दीपिका

* विद्या स्वतन्त्ररूप प्रमेयका तीन अधिकरणोंसे दृढीकरणकर आद्य अधिकरणका 'अतएव' इत्यादिसे फल कहते हैं। ब्रह्मविद्या मोक्षरूप अपने फलके संपादनमें सहकारिरूपसे कर्मोंकी अपेक्षा करती है कि नहीं? इसप्रकार संशय होनेपर 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसः' (शुद्धान्तःकरणवाला ब्रह्मवित् होकर आत्मज्ञानसे मोक्षको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतिसे ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे मोक्षप्राप्ति वर्णित है, अतः 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' इत्यादिसे सिद्धान्त कहते हैं ॥२५॥

(६ सर्वापेक्षाधिकरणम् । सू० २६–२७)

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥२६॥

पदच्छेद—सर्वापेक्षा, च, यज्ञादिश्रुतेः, अश्ववत् ।

सूत्रार्थ—विद्या अपनी उत्पत्तिमें (सर्वापेक्षा) सभी आश्रम कर्मोंकी अपेक्षा करती है, ज्ञादिश्रुतेः) क्योंकि 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिसे यज्ञ आदिमें ज्ञानोत्पत्ति हेतुता प्रतिपादित । (अश्ववत्) जैसे अश्व योग्यतावश रथमें जोता जाता है, हलमें नहीं, वैसे ही कर्म भी योग्यता-ज्ञानोत्पत्तिमें अपेक्षित है मोक्षमें नहीं ।

❀ इदमिदानीं चिन्त्यते—किं विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाऽऽश्रमकर्मणामुतास्ति काचिद-र्ति । तत्रात एवाग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते । एवमत्यन्त-नपेक्षायां प्राप्तायामिदमुच्यते—सर्वापेक्षा चेति । अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि त्यन्तमनपेक्षव । ननु विरुद्धमिदं वचनमपेक्षते चाश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति । ति ब्रूमः - उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किंचिदन्यदपेक्षते, उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते । ? यज्ञादिश्रुतेः । तथा हि श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तसाऽनाशकेन' (बृ० ४।४।२२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति । विविदिषा-संयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते । 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ।१) इत्यत्र च विद्यासाधनभूतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद्यज्ञादीनामपि हि धनभावः सूच्यते । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो चर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि' (कठ० २।१५) इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां

अब यह विचार किया जाता है कि क्या विद्याको आश्रमविहित कर्मोंकी बिल्कुल अपेक्षा नहीं है अथवा कुछ अपेक्षा है ? उसमें अतएव अग्नीन्धन-यज्ञादि आश्रम कर्मोंकी विद्याको अपने सिद्धिमें अपेक्षा नहीं है, इसप्रकार अत्यन्त अनपेक्षा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं–'सर्वापेक्षाच' द्या सर्व आश्रम कर्मोंकी अपेक्षा करती है उसे अत्यन्त अनपेक्षा नहीं है । परन्तु यह तो विरुद्ध न है कि विद्या आश्रम कर्मोंकी अपेक्षा करती है और अपेक्षा नहीं करती ! विरुद्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि उत्पन्न हुई विद्या फल सिद्धिके लिए किसी अन्यकी अपेक्षा नही करती, किन्तु नी उत्पत्तिके लिए तो अपेक्षा करती है, क्योंकि इसमें यज्ञादि श्रुति है । जैसे कि 'तमेतं वेदानु-चनेन० (उस आत्माको ब्राह्मण यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करें) यह ति यज्ञ आदिको विद्याके साधनरूपसे दिखलाती है और विविदिषाके सम्बन्धसे इन यज्ञादिमें विद्या-उत्पत्तिके प्रति साधनत्व निश्चित किया जाता है । 'अथ यद्यज्ञ० (अब लोकमें जिसे 'यज्ञ' परम पुरुषार्थका साधन कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है) इसमें विद्याके साधनभूत ब्रह्मचर्यकी यज्ञ आदि द्वारा ति होनेसे यज्ञ आदि भी विद्याके लिए साधन हैं ऐसा सूचित होता है । 'सर्वे वेदा० (सब वेद स पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिके लिए कहते हैं, जिसकी इच्छासे [मुमुक्षु-] ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं । उस पदको मैं तुमसे संक्षेपसे कहता हूँ) इत्यादि श्रुति आश्रम

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि विद्याको अपने फलके संपादनमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं है, तो भी उसे अपनी उत्पत्ति में आश्रम कर्मोंकी अपेक्षा है । जैसे–'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥' (पाप कर्मके क्षय होनेसे पुरुषोंको ज्ञान उत्पन्न होता है और कर्मोंसे पापके क्षय होनेपर ज्ञान प्रवृत्त होता है) इत्यादि स्मृति और 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते'

विद्यासाधनभावं सूचयति। स्मृतिरपि—'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्येवमाद्या। अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम्। यथा च योग्यतावशेनाश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते, रथचर्यायां तु युज्यते। एवमाश्रमकर्माणि विद्यय फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते, उत्पत्तौ चापेक्ष्यन्त इति ॥२६॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

पदच्छेद-शमदमाद्युपेतः, स्यात्, तथापि, तु, तद्विधेः, तदङ्गतया, तेषाम्, अवश्यानुष्ठेयत्वात्।

सूत्रार्थ—यद्यपि 'विविदिषन्ति' इत्यादिमें वर्तमान कालका प्रयोग होनेसे विधि नहीं है, (तथापि) तो भी ब्रह्मविद्याके अभिलाषीको (शमदमाद्युपेतः स्यात्) शम दम आदिसे युक्त होना चाहिए, क्योंकि (तदङ्गतया) विद्याके अङ्गरूपसे (तद्विधेः) 'तस्मादेवंवित्'० इत्यादि श्रुतिसे (तेषाम्) शम आदिका विधान है, और विहित होनेके कारण (अवश्यानुष्ठेयत्वात्) वे अवश्य अनुष्ठेय हैं।

* यदि कश्चिन्मन्येत—यज्ञादीनां विद्यासाधनभावो न न्याय्यः, विध्यभावात्। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा, न यज्ञादिविधिपरा—इत्थं महाभागा विद्या यद्यज्ञादिभिरेतामवाप्तुमिच्छन्तीति। तथापि तु शमदमाद्युपेतः स्याद्विद्यार्थी, 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० ४।४।२३) इति विद्यासाधनत्वेन शमदमादीनां विधानाद्विहितानां चावश्यानुष्ठेयत्वात्। नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति वर्तमानापदेश उपलभ्यते न विधिः,

कर्मोंमें विद्याके प्रति साधनभाव सूचित करती है। और 'कषायपक्तिः०' (कर्म-राग द्वेष आदि पापको निवृत्ति करनेवाले हैं, ज्ञान तो परम गति-मोक्षका साधन है। कर्मोंसे पापका नाश होनेपर तदनन्तर ज्ञान प्रवृत्त होता है) इत्यादि स्मृति भी है। 'अश्वके समान' यह योग्यता विषयक दृष्टान्त है। जैसे योग्यतावश अश्व हल खींचनेमें नियुक्त नहीं किया जाता है, किन्तु रथ खींचनेमें तो नियुक्त किया जाता है, वैसे आश्रम कर्म विद्यासे फल सिद्धिमें अपेक्षित नहीं, किन्तु उसकी उत्पत्तिमें तो अपेक्षित हैं ॥२६

यदि कोई ऐसा मानें कि यज्ञ आदिमें विद्याके प्रति साधन भाव उचित नहीं है, क्योंकि विधिका अभाव है। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' (यज्ञ द्वारा जाननेकी इच्छा करें) इस प्रकारकी श्रुति अनुवादरूप है, अतः वह विद्याकी स्तुति परक है यज्ञादि विधि परक नहीं है। यह ऐसी महाभागा विद्या है कि मुमुक्षु लोग उसे यज्ञ आदिसे प्राप्त करना चाहते हैं। यद्यपि ऐसा है, तथापि ब्रह्मविद्यार्थीको शम दम आदिसे युक्त होना चाहिए, क्योंकि 'तस्मादेवंविच्छान्तो०' (अतः इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें-कार्यकरणसंघातमें ही आत्माको देखता है) इस प्रकार शम, दम आदिका विद्याके प्रति साधनरूपसे विधान है और विहित होनेसे शम, दम आदि अवश्य अनुष्ठेय हैं। परन्तु यहाँ पर भी 'शम आदि युक्त होकर अनुभव करता है' 'पश्यति' यह वर्तमान कालका प्रयोग उपलब्ध होता है विधि उपलब्ध नहीं होती। हम कहते हैं कि ऐसा नहीं, क्योंकि 'तस्मात्'० इस श्रुतिस्थ पदसे प्रकृत (ब्रह्मविद्या) की प्रशंसा ग्रहण किये जानेसे यह विधि

सत्यानन्दी दीपिका

(अविद्या-कर्मसे मृत्यु-पापका अतिक्रमणकर ज्ञानसे अमृतत्व मोक्षको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति कर्मसे पापकी निवृत्ति होनेपर ज्ञानसे मोक्षका प्रतिपादन करती है। पूर्वपक्षमें विद्याके लिए कर्मोंके अनुष्ठानकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें कर्मानुष्ठानकी सिद्धि फल है ॥२६॥

* इस प्रकार विद्याकी उत्पत्तिमें बहिरङ्ग कर्मोंका वर्णन कर अब अन्तरङ्ग साधनोंका 'शम' आदिसे प्रतिपादन करते हैं।

म:, तस्मादिति प्रकृतप्रशंसापरिग्रहाद्विधित्वप्रतीतेः । पश्येदिति च माध्यंदिना विस्पविधिमधीयते । तस्माद्यज्ञाद्यनपेक्षायामपि शमादीन्यपेक्षितव्यानि । यज्ञादीन्यपि क्षितव्यानीति यज्ञादिश्रुतेरेव । ❀ ननूक्तं—यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीत्यत्र न विधिरुपलभ्यत सत्यम्, तथापि त्वपूर्वत्वात्संयोगस्य विधिः परिकल्प्यते । न ह्ययं यज्ञादीनां विविदियोगः पूर्वं प्राप्तो येनानूद्येत । 'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इत्येवमादिषु चाश्रुतकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वाद्विधिं परिकल्प्य, पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादिविचारः तन्त्रे प्रवर्तितः । तथा चोक्तम् 'विधिर्वा धारणवत्' (ब्र० सू० ३।४।२०) इति । स्मृतिष्वपि गीताद्यास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति तम् । तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावव्यानि । तत्राप्येवंविदिति विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, दिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम् ॥२७॥

होती है । और माध्यन्दिन शाखावाले तो 'पश्येत्' इस प्रकार स्पष्टरूपसे ही विधिका अध्ययन हैं। इससे यज्ञ आदिकी अपेक्षा न होनेपर भी शम आदिकी अपेक्षा होनी चाहिए । यज्ञ आदिकी अपेक्षा होनी चाहिए, क्योंकि यज्ञ आदि श्रुति है । परन्तु यह कहा गया है कि 'यज्ञादिसे की इच्छा करते हैं' इसमें विधि उपलब्ध नहीं होती । ठीक, कहा गया है, तथापि संयोग-सम्बन्धके होनेसे विधिकी कल्पनाकी जाती है, क्योंकि यज्ञ आदिका विविदिषाके साथ यह सम्बन्ध पहले अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है, जिससे उसका अनुवाद माना जाय । 'तस्मात्पूषा० (इससे पूषा के उद्देश्यसे भली-भाँति पिष्ट भाग करना चाहिए, क्योंकि वह दान्तोंसे रहित है) इत्यादि अश्रुत वाक्योंमें अपूर्व होनेसे विधिकी कल्पनाकर पूषा सम्बन्धी पेषण-पिष्ट भाग विकृति यागमें जानना ए, [कारण कि प्रकृतिमें उसका विधान नहीं है] इत्यादि विचार पूर्व मीमांसा शास्त्रमें प्रवृत्त गया है । और उसी प्रकार 'विधिर्वा धारणवत्' इस सूत्रमें सूत्रकारने कहा है । भगवद्गीता स्मृतियोंमें भी फलके अनुसंधानके विना अनुष्ठित यज्ञ आदि कर्म मुमुक्षुके लिए ज्ञानके साधन हैं, ऐसा विस्तारसे कहा गया है । इसलिए आश्रमके अनुसार यज्ञादि और शम, दम आदि सब कर्म विद्याकी उत्पत्तिमें अपेक्षितव्य हैं । उसमें भी 'एवंवित्' (ऐसा जाननेवाला) इस प्रकार के साथ सम्बन्ध होनेसे शम आदि विद्याके अन्तरङ्ग साधन हैं, और 'विविदिषा' के सम्बन्धसे आदि कर्म और भी बहिरङ्ग साधन हैं, ऐसा भेद समझना चाहिए ॥२७॥

सत्यानन्दी दीपिका

* दर्शपूर्णमासके प्रकरणमें 'पूषाप्रपिष्टभागः' ऐसा सुना जाता है । परन्तु उसमें पूषा देवता पिष्टभाग नहीं सुना जाता है । उसका 'पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताचोदनात्प्रकृतौ' (पूषा की पिष्टभाग विकृतियागमें जानना चाहिए, क्योंकि प्रकृति यागमें विधि नहीं है) इस सूत्रमें किया गया है । 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्यः' (प्रकृति यागके समान विकृति याग करना चाहिए) प्रकरणके बलसे प्रकृति यागमें विधिकी कल्पनाकी जाती है, वैसे विद्याके प्रकरणसे यज्ञ भी विधिकी कल्पना की जा सकती है । किञ्च 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' द्गीता० १८।४६।) (अपने अपने आश्रम कर्मोंसे उस ईश्वरकी आराधनाकर मानव ज्ञान सिद्धिको प्राप्त होता है) इत्यादि स्मृति भी प्रमाण है । दृष्ट चित्तविक्षेपके निराकरण द्वारा आदि ज्ञानार्थक हैं, अतः उनकी अनुवृत्ति होती है, परन्तु कर्मोंकी नहीं, क्योंकि वे अदृष्ट द्वारा लिए हैं । इसलिए शम आदि अन्तरङ्ग साधन हैं और यज्ञ आदि कर्म बहिरङ्ग साधन हैं ।२७

(७ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् । सू० २८-३१)

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥२८॥

पदच्छेद—सर्वान्नानुमतिः, च, प्राणात्यये, तद्दर्शनात् ।

सूत्रार्थ—(प्राणात्यये) 'न ह वाऽस्य' इत्यादिसे प्राण निर्गमन कालमें (सर्वान्नानुमति सर्व अन्न भक्षणकी अनुज्ञा है, (तद्दर्शनात्) क्योंकि उसको 'मटचीहतेषु कुरुषु' इत्यादि श्रुति देखा जाता है ।

प्राणसंवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ५।२। इति । तथा वाजसनेयिनाम्—'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' (६।१।१४) इति । सर्वमेवास्यादनीयमेव भवतीत्यर्थः । किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिव द्याङ्गं विधीयत उत स्तुत्यर्थं संकीर्त्यत इति संशये—विधिरिति तावत्प्राप्तम् । तथा हि प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवति, अतः प्राणविद्यासंनिधानात्तदङ्गत्वेनेयं नियमनिवृत्ति दिश्यते । नन्वेवं सति भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रव्याघातः स्यात्—नैष दोषः, सामान्यविशे भावाद्बाधोपपत्तेः । यथा प्राणिहिंसाप्रतिषेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना बाधः । यथा च कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्' (छा० २।१३।२) इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वस्त्र्यपरिहा वचनेन तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्रं बाध्यते । एवमनेनापि प्राणविद्याविषये सर्वान्नभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं बाध्येतेति । ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः नेदं सर्वान्न

छन्दोगोंके प्राण संवादमें 'न ह वा एवं विदि० (यथोक्त प्राणके जाननेवालेको खा जानता है कि मैं सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित सारे अन्नोंका भोक्ता प्राण हूँ, कुछ भी अनन्न-अभक्ष्य नहीं ऐसी श्रुति है । इसीप्रकार वाजसनेयियोंके प्राण संवादमें 'न ह वाऽस्य० (जो इसप्रकार प्राण अन्नको जानता है उसके द्वारा अभक्ष्य भक्षण नहीं होता और अभक्ष्यका प्रतिग्रह-संग्रह भी न होता) ऐसी श्रुति है । सब इसका अदनीय (भक्षणीय) होता ही है, ऐसा अर्थ है । क्या सर्वान्न भक्षणकी अनुज्ञा शम आदिके समान विद्याके अङ्गरूपसे विधानकी जाती है अथवा विद्या स्तुतिके लिए इसका संकीर्तन किया जाता है । इसप्रकार संशय होनेपर पूर्वपक्षी—विधि है, ऐ प्राप्त होता है, क्योंकि विशेष प्रवृत्ति करनेवाला उपदेश होता है, अतः प्राण विद्याके संनिधान विद्याके अंगरूपसे इस नियम निवृत्तिका उपदेश किया जाता है । परन्तु ऐसा होनेपर भक्ष्य औ अभक्ष्यका विभाग करनेवाले शास्त्रका व्याघात होगा ? यह दोष नहीं है, क्योंकि सामन्य और विशे भावसे बाध उपपन्न होगा । जैसे यावत् प्राणी हिंसा प्रतिषेधक शास्त्रका पशु हिंसा बोधक विधि बाध होता है, और जैसे 'न काञ्चन० (किसी स्त्रीका परित्याग नहीं करना चाहिए यह व्रत है) इ वामदेव्य विद्या विषयक सर्व स्त्री अपरित्याग वचनसे उस सामान्य विषयक गम्य और अगम् विभाग शास्त्रका बाध होता है । इसप्रकार इस प्राण विद्या विषयक सर्व अन्न भक्षण वचनसे भ

सत्यानन्दी दीपिका

❀ सिद्धान्ती—'नेदम्' इत्यादिसे सूत्रसे बाहर ही सिद्धान्त कहते हैं । यद्यपि 'यस्य पर्णम जुहूर्भवति' यहां अगत्या विधिकी कल्पना की गई है, तो भी यहां प्रकरणमें काल्पनिकी विधिकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा कोई विधायक शब्द नहीं है । विरोध होनेपर विशेष विधि सामान्य विधिका बाध होता है, परन्तु काल्पनिक विधिसे बाध नहीं होता । इसलिए 'एवं विदि० इत्यादि प्राणविद्याकी प्रशंसाके लिए अर्थवाद है विधि नहीं । पूर्वपक्षमें भक्ष्याभक्ष्य नियमका त्याग सर्वान्न भक्षणकी अनुज्ञा विद्याके अंगरूपसे विधि है, सिद्धान्तमें सर्वान्नभक्षणकी अनुज्ञा प्राणविद्याक स्तुतिके लिए है ॥२८॥

विधीयत इति । न ह्यत्र विधायकः शब्द उपलभ्यते, 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं (छा० ५।२।१) इति वर्तमानापदेशात् । नचासत्यामपि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेष- लोभेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते । अपि च श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते विदः किंचिदनन्नं भवति' इति । नच श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते । ते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम् । तस्मात्प्राणान्नविज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थ- न सर्वान्नानुज्ञानविधिः । तद्दर्शयति 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इति । एतदुक्तं भवति– त्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्युनुज्ञायते, तद्दर्शनात् । तथा हि— चाक्रायणस्यर्षेः कष्टायामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति—'मटचीहतेषु कुरुषु' (छा० ।१) इत्यस्मिन्ब्राह्मणे । चाक्रायणः किलर्षिरापद्गत इभ्येन सामिखादितान्कुल्माषांश्च- । अनुपानं तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचचक्षे । कारणं चात्रोवाच 'न वा अजीविष्यमि- दन्' (छा० १।१०।४) इति, 'कामो म उदपानम्' (छा० १।१०।४) इति च । पुनश्चोत्त- तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युषितान्कुल्माषान्भक्षयांबभूवेति । तदेतदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युषित- णं दर्शयन्त्याः श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते–प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणसंधारणायाभक्ष्यमपि यितव्यमिति । स्वस्थावस्थायां तु तन्न कर्तव्यं विद्यावतापीत्यनुपानप्रत्याख्यानाद्गम्यते । दर्थवादो 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्येवमादिः ॥२८॥

अबाधाच्च ॥२९॥

पदच्छेद—अबाधात् , च ।

अभक्ष्य विभाग शास्त्र बाधित होना चाहिए। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं— र्वान्न अनुज्ञाकी विधि नहीं की जाती, कारण कि यहां विधायक शब्द उपलब्ध नहीं होता, 'न ह वा० (प्राणोपासकके लिए कुछ भी अनन्न-अभक्ष्य नहीं है) इसप्रकार वर्तमानका है। और यहा विधिकी प्रतीति न होनेपर भी प्रवृत्ति विशेषकरत्वके लोभसे विधि स्वीकार की जा सकती। और श्वान आदि पर्यन्त प्राणका अन्न है ऐसा कहकर 'नैवं विदः० (ऐसा नेवाले प्राणोपासकका कुछ अभक्ष्य नहीं होता) इसप्रकार कहा है। श्वान आदि पर्यन्त अन्नका देहसे उपभोग नहीं किया जा सकता। परन्तु यह सब प्राणका अन्न है ऐसा चिन्तन-ध्यान जा सकता है। इसलिए प्राणान्नविज्ञानकी प्रशंसाके लिए यह अर्थवाद है किन्तु सर्वान्न की अनुज्ञा विधि नहीं है। उसे 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इस सूत्रसे दिखलाते हैं। तात्पर्य है—प्राण नाश होनेपर ही महती आपत्तिमें सर्वान्न भक्षणीयरूपसे अनुज्ञा दी जाती है, क्योंकि श्रुतिमें दर्शन है। जैसे कि 'मटचीहतेषु कुरुषु' (शलभोंसे कुरुदेशके खेतस्थ अन्नोंका नाश । इस ब्राह्मणमें श्रुति चाक्रायण ऋषिकी कष्ट अवस्थामें अभक्ष्य भक्षणमें प्रवृत्ति दिखलाती है। ऐसा है कि आपद् ग्रस्त चाक्रायण ऋषिने हस्तिपालकके अर्धभुक्त उड़द खाये, अनन्तर का उच्छिष्ट दोषसे निषेध किया और उसमें कारण कहा - 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' उड़दोंको खाये विना तो मैं जीवित नहीं रह सकता था) और 'जलपान तो मुझे यथेच्छ मिलता है, और पुनः दूसरे दिन उसने अपने और अन्यके उच्छिष्ट तथा वासी उड़द खाये। उच्छिष्टोच्छिष्ट-परोच्छिष्ट, स्वोच्छिष्ट और वासीका भक्षण दिखलाती हुई श्रुतिका आशयातिशय होता है कि प्राण नाशके प्रसंग होनेपर प्राण संधारणके लिए अभक्ष्य भी भक्षणके योग्य है। अवस्थामें विद्वान्को भी ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा जलपानके प्रतिषेधसे अवगत है। इसलिए 'न ह वा एवं विदि० इत्यादि अर्थवाद है ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—भक्ष्य और अभक्ष्य विभाग शास्त्रका अबाध होनेसे भी 'न ह वा एवं विदि' इत्या शास्त्र अर्थवाद मात्र है।

एवं च सत्याहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रमबाधि भविष्यति ॥२९॥

अपि च स्मर्यते ॥३०॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते।

सूत्रार्थ—(अपि च) और 'जीवितात्ययमापन्नो' इत्यादि स्मृति भी आपत्ति कालमें विद्वा और अविद्वान्‌के लिए सर्वान्न भक्षणका प्रतिपादन करती है।

अपि चापदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चाविशेषेण—'जीवितात्ययम पन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति। तथा 'मद्यं नि ब्राह्मणः', 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिंचेयुः', 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' इति स्मर्यते वर्जनमन्नस्य ॥३०॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३१॥

पदच्छेद—शब्दः, च, अतः, आकामकारे।

सूत्रार्थ—(अकामकारे) स्वेच्छा प्राप्त प्रवृत्तिके निराकरणमें ही (शब्दः) 'तस्माद्ब्राह्म इत्यादि श्रुति है, (अतः) अतएव प्राणविद्‌के लिए सर्वान्न भक्षणकी अनुज्ञा अर्थवाद मात्र है।

शब्दश्चानन्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां श्रूयते 'तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति। सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्यस्यार्थवा त्वादुपपन्नतरो भवति। तस्मादेवंजातीयका अर्थवाद न विधय इति ॥३१॥

(८ आश्रमकर्माधिकरणम्। सू० ३२-३५)

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥३२॥

पदच्छेद—विहितत्वात्, च, आश्रमकर्म, अपि।

सूत्रार्थ—तु शब्दार्थक च शब्द पूर्वपक्षकी निवृत्तिके लिए है, (अपि) आश्रममात्र नि

ऐसा होनेपर स्वस्थ अवस्थामें भक्ष्य और अभक्ष्यका भेद होनेपर 'अहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि 'आहारके शुद्ध होनेपर सत्त्व-अन्तःकरणकी शुद्धि होती है' इत्यादि भक्ष्य, अभक्ष्य विभाग शा अबाधित होगा ॥ २९ ॥

और आपत्तिकालमें विद्वान् और अविद्वान् दोनोंके लिए समानरूपसे सर्वान्न भक्षण 'जीवितात्ययमापन्नो० (जीवन नाशको प्राप्त होनेवाला पुरुष जहाँ तहाँसे जो कुछ अन्न खाता है वह अभक्ष्य भक्षण द्वारा उत्पन्न पापसे उस प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे जलसे कमल पत्र लिप्त-गीला नहीं होता) ऐसी स्मृति है। इसी प्रकार 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः' (ब्राह्मण नित्य सुराका त्याग करे और 'सुरापस्य० (सुरा पान करनेवाले ब्राह्मणके कण्ठमें अतितप्त सुरा डालनी चाहिए) 'सुरापा (अभक्ष्यका भक्षण करनेसे सुरा पान करनेवाले कृमि होते हैं) इस प्रकार अभक्ष्य अन्नका स्मृति प्रतिषेध किया गया है ॥ ३० ॥

यथेच्छ प्रवृत्तिकी निवृत्ति प्रयोजनवाली अभक्ष्य प्रतिषेधक 'तस्माद्ब्राह्मणः० (उससे ब्राह्मणको सुरापान नहीं करना चाहिए) इत्यादि श्रुति काठकोंकी संहितामें सुनी जाती है। वह भी 'न ह वा एवं विदि० (इससे अर्थवाद होनेसे उपपन्नतर होती है) इसलिए इस प्रकारके श्रुति वाक्य अर्थवाद हैं विधि नहीं ॥ ३१ ॥

क्षुको भी (आश्रमकर्म) नित्य कर्म करने चाहिएं, (विहितत्वात्) क्योंकि 'यावज्जीवम्' इत्यादि से विहित हैं।

❀ 'सर्वापेक्षा च' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत्राश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम्, नीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताहो नेति त्यते। तत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिनाश्रमकर्मणां साधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि। तस्याप्यनुष्ठेयानि न तर्ह्येषां विद्यासाधनत्वं नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति। अस्यां प्राप्तौ ति—आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं ति' इत्यादिना विहितत्वात्। नहि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥३२॥

अथ यदुक्तं—नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादिति, अत उत्तरं पठति—

सहकारित्वेन च ॥३३॥

पदच्छेद—सहकारित्वेन, च।

सूत्रार्थ—और विद्याकी उत्पत्तिमें सहकारिरूपसे यज्ञ आदि कर्म अनुष्ठेय हैं, क्योंकि 'तमेतं नुवचनेन' इत्यादि श्रुतिसे विहित हैं।

❀ विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिना। तदुक्तम्—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६)

'सर्वापेक्षा च' इस सूत्रमें आश्रमकर्म विद्याके प्रति साधनरूपसे निश्चित किए गए हैं। अत्र श्रममात्रनिष्ठ विद्याकी कामना न करनेवाले अमुमुक्षुको वे आश्रमकर्म अनुष्ठेय हैं अथवा नहीं ? विचार किया जाता है ? पूर्वपक्षी—ऐसा सन्देह होनेपर 'तमेतं वेदानुवचनेन० (उस उपनिषद् पुरुषको ब्राह्मण वेदके नित्य स्वाध्यायसे जाननेकी इच्छा करें) इत्यादि श्रुतिसे आश्रमकर्म विद्याके नरूपसे विहित हैं। अतः विद्याकी इच्छा न करनेवाले और अन्य फलकी कामना करनेवालेको कर्म अनुष्ठेय नहीं है। यदि उसके लिए भी नित्यकर्म अनुष्ठेय हों तो वे विद्याके साधन नहीं होंगे, के नित्य और अनित्यके संयोगका विरोध है। सिद्धान्ती—इसके प्राप्त होनेपर कहते हैं—आश्रमनिष्ठ अमुमुक्षुको भी नित्यकर्म कर्तव्य ही हैं, क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्र जहोति' (जीवन पर्यन्त होत्र होम करे) इत्यादिसे विहित हैं, कारण कि वचनपर कोई अतिभार नहीं होता ॥ ३२ ॥

जो यह कहा गया है कि यदि आश्रम कर्म अमुमुक्षुको भी नित्यानुष्ठेय हैं, तो यज्ञ आदि के साधन नहीं होंगे ? इसका उत्तर कहते हैं—

सिद्धान्ती ये कर्म विद्याके सहकारी होने चाहिएं, क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि से विहित हैं। यह 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इस सूत्रमें कहा गया है। और 'आश्रमकर्म

सत्यानन्दी दीपिका

* सिद्धान्ती—संयोगपृथकत्वन्यायसे यह दोष नहीं है, क्योंकि 'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं कामस्य यूपं कुर्वीत' इत्यादि स्थलोंमें वचन भेदसे नित्यत्व और काम्यत्व स्वीकृत हैं, वैसे ही णमें भी श्रुतिभेदसे दोनों प्रकारसे यज्ञादिका एक साथ सम्बन्ध अभीष्ट है, क्योंकि वचनको व्यवस्था में कुछ भार नहीं होता है। पूर्वपक्षमें यज्ञादि श्रुति विद्याकी स्तुति परक है और सिद्धान्तमें उसका था अनुष्ठान है ॥ ३२ ॥

* 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस श्रुतिसे दर्शपूर्णमास याग विहित है, अतः उसे फल सिद्धिके लिए प्रयाज आदिकी अपेक्षा होती है। किन्तु 'मोक्षकामो विद्यामाप्नुयात' इस

इति । न चेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिवद्विद्याफलविषयं मन्तव्यम्, अविधिलक्षणत्वाद्विद्यायाः, असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य । विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्णमासादि स्वर्गफलसिषाधयिषया सहकारिसाधनान्तरमपेक्षते, नैवं विद्या । तथा चोक्तम्—'अ एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३।४।२५) इति । तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैषां सहकारित्ववाचोयुक्तिः । न चात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः, कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात् । नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम् । अनित्यस्त्वपरः संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम् । यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं तद्वत् ॥३३॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥३४॥

पदच्छेद—सर्वथा, अपि, ते, एव, उभयलिङ्गात् ।

सूत्रार्थ—(ते एव) यज्ञादि कर्म, (सर्वथापि) आश्रमत्वपक्षमें और विद्यासहकारित्व पक्षमें दोनों प्रकारसे अनुष्ठेय ही हैं, (उभयलिङ्गात्) क्योंकि 'यज्ञेन विविदिषन्ति' और 'अनाश्रितः कर्मफलम्' इत्यादि श्रुति और स्मृति दोनों लिङ्ग हैं ।

* सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः । त एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निवर्तयति ? कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूमः । यथा कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुपदिश्यते, नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः । कुतः ? उभयलिङ्गात्, श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्च । श्रुतिलिङ्गं तावत्—तमेतं

विद्याके सहकारी हैं' यह वचन प्रयाज आदिके समान विद्या फल विषयक है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि विद्या विधिरूप नहीं है और विद्यका फल असाध्य है । जैसे विधिरूप दर्शपूर्णमास आदि साधन स्वर्गरूप फल सिद्ध करनेकी इच्छासे अन्य सहकारी साधनकी अपेक्षा करता है; वैसे विद्या नहीं करती । उसीप्रकार 'अतएव चाग्नीन्धनाद्यपेक्षा' इस सूत्रमें कहा गया है । इसलिए विद्याकी उत्पत्ति साधनत्वमें ही इन कर्मोंके सहकारीत्व वचनकी उपपत्ति होती है । और यहाँ नित्यानित्य संयोगके विरोधकी भी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कर्मके एक होनेपर भी संयोग भेद है । यावज्जीवादि वाक्यसे कल्पित एक संयोग (विधि) नित्य है, उसका फल विद्या नहीं है । और 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि वाक्यसे कल्पित दूसरा संयोग (विधि) अनित्य है उसका फल विद्या है । जैसे एक खादिरमें भी नित्यसंयोगसे क्रत्वर्थत्व और अनित्यसंयोगसे पुरुषार्थत्व है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए ॥३३॥

सर्वथा—नित्यत्व और काम्यत्व—आश्रम कर्मत्व पक्षमें और विद्यासहकारित्व पक्षमें वे अग्निहोत्र आदि कर्म अनुष्ठेय ही हैं । 'त एव—वे ही' इसप्रकार अवधारण करते हुए आचार्य किसकी निवृत्ति करते हैं ? कर्मभेदकी शङ्का निवृत्त करते हैं, ऐसा हम कहते हैं । जैसे कुण्डपायियोंके अयनमें 'मासमग्निहोत्रं०' (वे एक मास पर्यन्त अग्निहोत्र होम करें) इसमें नित्य अग्निहोत्रसे अन्य कर्मका

सत्यानन्दी दीपिका

प्रकार विद्याकी विधि नहीं है । और समान बलवाली 'यावज्जीव' और 'तमेतं' इन दोनों श्रुतियोंसे विनियोग पृथक्त्व-संयोग (विधि) भेद है, अतः विरोध नहीं है ।

* अपनी धर्मपत्नीके साथ सम्भोग पर्यन्त गर्भाधान आदि चौदहां, महायज्ञ पाँच, सोमसंस्थ सात, हविःसंस्थ सात, पाक संस्थ सात, भोजन रहित संहिताका अध्ययन, प्रायण, कर्म, जप, शरीरके उत्क्रमण, दैहिक भस्ममय, अस्थि संचय और श्राद्ध इसप्रकार अड़तालीस संस्कारकी प्रसिद्धि है, वह भी शुद्धिरूप संस्कार द्वारा ज्ञानार्थक स्मृतिमें है । अतः कर्मोंके अभेदका अवधारण उचित ही है ।३४

वचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विदिषायां विनियुङ्क्ते, नतु जुह्वतीत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति। स्मृतिलिङ्गमपि-श्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (गी० ६।१) इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्यो-त्यर्थं दर्शयति। यस्यैतेऽष्टा चत्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्या च संस्कारत्वप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु स्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृतौ भवति। तस्मात्साध्विदमभेदावधारणम् ॥३४॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥३५॥

पदच्छेद—अनभिभवम्, च, दर्शयति।

सूत्रार्थ—(च) और भी, (अनभिभवम्) ब्रह्मचर्य आदि साधन सम्पन्न पुरुषका राग-आदि क्लेशोंसे अभिभव नहीं होता, (दर्शयति) 'एष ह्यात्मा' इत्यादि श्रुति दिखलाती है।

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादिसाधन-न्नस्य रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा० ८।५।३) वादिना। तस्माद्यज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च भवन्ति विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम् ॥३५॥

(विधुराधिकरणम्। सू० ३६-३९)

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३६॥

पदच्छेद—अन्तरा, च, अपि, तु, तद्दृष्टेः।

सूत्रार्थ—(तु) पूर्वपक्षकी व्यावृत्तिके लिए है, (अन्तरा) आश्रम रहित पुरुषोंका (अपि) भी विद्यामें अधिकार है, (तद्दृष्टेः) क्योंकि रैक्व आदिकी श्रुति उपलब्ध होती है।

विधुरादीनां द्रव्यादिसंपद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानामन्तरालवर्तिनां किं द्यायामधिकारोऽस्ति, किं वा नास्तीति संशये, नास्तीति तावत्प्राप्तम्, आश्रमकर्मणां द्याहेतुत्वावधारणादाश्रमकर्मासंभवाच्चैतेषामिति। एवं प्राप्त इदमाह--अन्तरा चापि नाश्रमित्वेन वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते। कुतः? तद्दृष्टेः। रैक्ववाचक्नवीप्रभृतीना-

---

देश किया जाता है, वैसे यहाँ कर्मभेद नहीं है, ऐसा अर्थ है। किससे? उभय लिङ्गसे—श्रुति-ङ्गसे और स्मृतिलिङ्गसे। 'तमेतं वेदानुवचनेन०' (ब्राह्मण इस उपनिषद्गम्य पुरुषको वेदके स्वाध्यायसे जाननेकी इच्छा करें) यह श्रुतिलिङ्ग सिद्धवत् उत्पन्नरूपवाले यज्ञ आदिका विवि-षामें विनियोग करता है और 'जुह्वति' इत्यादिके समान इन यज्ञ आदिके अपूर्वरूपका उत्पादन हीं करता। इसप्रकार 'अनाश्रितः कर्मफलं० (जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ करने योग्य र्म करता है) यह स्मृतिलिङ्ग भी विज्ञात कर्तव्यतावाले कर्मको विद्याकी उत्पत्तिके लिए दिखलाता है। 'जिसके ये अड़तालीस संस्कार होते हैं' इत्यादि वैदिक कर्मोंमें संस्कारत्व प्रसिद्धि उनसे संस्कृत रुषकी विद्याकी उत्पत्तिको अभिप्रेत कर स्मृतिमें है। इसलिए यह अभेदका अवधारण उचित है।३४

[आश्रमकर्म विद्याके] सहकारी हैं इसका ही समर्थक यह लिङ्गदर्शन है 'एष ह्यात्मा० (जिसे साधक ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होता है वह यह आत्मा नष्ट नही होता) इत्यादिसे श्रुति ब्रह्मचर्य आदि साधन सम्पन्न पुरुषका राग आदि क्लेशोंसे अनभिभव दिखलाती है। इससे यज्ञ आदि आश्रम र्म हैं और विद्याके सहकारी भी हैं, ऐसा निश्चित होता है ॥३५॥

विधुरादि, द्रव्य आदि संपत्से रहित किसी एक आश्रमकी प्राप्तिसे हीन मध्यवर्ती पुरुषोंका का विद्यामें अधिकार है अथवा नहीं है? ऐसा संशय होनेपर, पूर्वपक्षी—उनका विद्यामें अधिकार-हीं है ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि आश्रमकर्म विद्याके हेतुरूपसे निश्चत हैं और उन पुरुषोंमें आश्रम र्मोंका संभव भी नहीं है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर यह कहते हैं–'अन्तरा चापि तु' अनाश्रमी

मेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः ॥३६॥

अपि च स्मर्यते ॥३७॥

पदच्छेद—अपि, च, स्मर्यते ।

सूत्रार्थ—और अनाश्रमी संवर्त आदि भी महायोगीरूपसे इतिहासमें स्मरण किये जाते हैं।

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यते इतिहासे ॥३७॥

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं का नु खलु प्राप्तिरिति साऽभिधीयते—

विशेषानुग्रहश्च ॥३८॥

पदच्छेद—विशेषानुग्रहः, च ।

सूत्रार्थ—और रैक्व आदि अनाश्रमियोंका जप आदि ज्ञानके हेतुभूत कर्म विशेषोंसे विद्यामें अधिकार सुना जाता है।

तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसंबन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः संभवति । तथा च स्मृतिः—'जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इत्यसंभवदाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति । जन्मान्तरानुष्ठितैरपि चाश्रमकर्मभिः संभवत्येव विद्याया अनुग्रहः । तथा च स्मृतिः—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६।४५) इति जन्मान्तरसंचितानपि संस्कारविशेषाननुग्रहीतॄन्विद्यायां दर्शयति । दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु । तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो न विरुध्यते ॥३८॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३९॥

पदच्छेद—अतः, तु, इतरत्, ज्यायः, लिङ्गात्, च ।

सूत्रार्थ—(अतस्तु) अनाश्रमित्वकी अपेक्षासे तो (इतरत्) आश्रमित्व (ज्यायः) श्रेष्ठ शीघ्र विद्याका साधन है, (लिङ्गाच्च) क्योंकि 'तेनैतिब्रह्मवित्' इसप्रकार श्रुति और स्मृतिरूप लिङ्ग हैं।

रूपसे वर्तमान पुरुष भी विद्यामें अधिकृत हैं। किससे ? इससे कि उनकी श्रुति देखी जाती है-रैक्व, वाचक्नवी आदि इसप्रकारके प्राणियोंमें भी ब्रह्मवित्त्व श्रुति उपलब्ध होती है ॥ ३६ ॥

नग्नचर्या आदि योगसे आश्रम कर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखनेवाले संवर्त आदिका भी महायोगी रूपसे इतिहासमें स्मरण किया जाता है ॥३ ॥

परन्तु यहां यह लिङ्गरूप श्रुति और स्मृति दर्शन उपन्यस्त किया है, उसकी प्राप्ति-विधिवाक्य कौन है ? उसका अभिधान करते हैं—

उन विधुर आदिका भी अनाश्रमियोंके अविरुद्ध पुरुषमात्र सम्बन्धी जप, उपवास, देवाराधन आदि धर्मविशेषोंसे विद्यामें अधिकार संभव है। इसीप्रकार 'जाप्येनैव तु० (ब्राह्मण जपसे ही संसिद्ध हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। वह अन्य कर्म करे अथवा न करे दयावान् ब्राह्मण कहा जाता है) यह स्मृति जिनसे आश्रमकर्मका संभव नहीं है उनका भी जपमें अधिकार दिखलाती है। जन्मान्तरमें अनुष्ठित आश्रम कर्मोंसे भी विद्यामें अधिकार संभव ही है। इसीप्रकार 'अनेकजन्म०' (अनेक जन्मके संस्कारके उपचयसे संसिद्ध होकर शुद्ध अन्तःकरणवाला होकर पुरुष सम्यग्दर्शनसे मोक्षको प्राप्त होता है) यह स्मृति-वचन जन्मान्तरोंमें संचित और अनुग्रह करनेवाले संस्कार विशेषोंको भी विद्यामें दिखलाता है। दृष्ट फलवाली विद्या प्रतिषेधके अभावमात्रसे भी विद्यार्थीको श्रवण आदिमें अधिकृत करती है। इसलिए विधुर आदिका भी विद्यामें अधिकार विरुद्ध नहीं है ॥ ३८ ॥

❀ अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम, श्रुतिस्मृतिसंदृ-ति, श्रुतिलिङ्गाच्च 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ० ४।४।६) इति, 'अनाश्रमी न तिष्ठेत नेकमपि द्विजः । संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्' इति च स्मृतिलिङ्गात् ॥३६॥

(१० तद्भूताधिकरणम् । सू० ४०)

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥४०॥

पदच्छेद--तद्भूतस्य, तु, न, अतद्भावः, जैमिनेः, अपि, नियमातद्रूपाभावेभ्यः ।

सूत्रार्थ--(तद्भूतस्य) उत्तमाश्रमको प्राप्त हुए पुरुषकी (अतद्भावः) उत्तमाश्रमसे च्युति (न) हो सकती, (जैमिनेरपि) यह आचार्य जैमिनिको भी सम्मत है, (नियमातद्रूपाभावेभ्यः) कि नियम, अतद्रुप और अभाव ये कारण हैं ।

❀ सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम् । तांस्तु प्राप्तस्य कथंचित्ततः प्रच्युतिरस्ति वेति संशयः । पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्याद्वि-भावादिति । एवं प्राप्त उच्यते तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो तः प्रच्युतिः स्यात् । कुतः ? नियमातद्रूपाभावेभ्यः । तथा हि—'अत्यन्तमात्मानमाचार्य-कुलेऽवसादयन्' (छा० २।२।३।१) इति 'अरण्यमियादिति पदं ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' इति, चार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् । आ विमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि' इति चैवं-

---

परन्तु इससे अन्तरालवर्तित्व-अनाश्रमित्वसे अन्याश्रमवर्तित्व (आश्रमित्व) श्रेष्ठ विद्याका न है, क्योंकि श्रुति और स्मृतिमें ऐसा देखा जाता है । कारण कि 'तेनैति ब्रह्मवित्' (पुण्यकृत्-सत्व तेजःस्वरूप ब्रह्मवेत्ता उस ज्ञानमार्गसे जाता है–ब्रह्मको प्राप्त होता है) ऐसा श्रुतिलिङ्ग है 'अनाश्रमी न तिष्ठेत० (द्विज एक दिन भी अनाश्रमी न रहे, एक वर्षतक अनाश्रमी रहकर कृच्छ्र करना चाहिए) ऐसा स्मृतिलिङ्ग भी है ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वरेता आश्रम हैं. ऐसा पहले सिद्ध किया जा चुका है । परन्तु उन आश्रमोंको प्राप्त हुए रोंकी किसी कारणसे उन आश्रमोंसे च्युति होती है कि नहीं ? ऐसा संशय होता है । पूर्वपक्षी—आश्रमविहित कर्मोंके अनुष्ठान करनेकी इच्छासे अथवा राग आदिके वशसे वह ऊर्ध्वरेता प्रच्युत होगा, क्योंकि विशेषका अभाव है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—तद्भूतका-ऊर्ध्वरेत मों प्राप्त हुए पुरुषका किसी प्रकार भी अतद्भाव–उस आश्रमसे प्रच्युति नहीं हो सकती । किससे ? कि उसके लिए नियम, अतद्रूप और अभाव हैं । जैसे कि 'अत्यन्तमात्मानमा० (आचार्य में रहनेवाला ब्रह्मचारी जो आचार्य कुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण करता हुआ) 'अरण्य-यादिति' (अरण्य-पारिव्राज्य प्राप्त करे यह पद-शास्त्र मार्ग है, उस पारिव्राज्यसे प्रच्युत न हो, यह निषद्-रहस्य है) 'आचार्येणाभ्यनुज्ञातः० (आचार्यसे अनुज्ञा प्राप्तकर शरीर विमोक्षपर्यंन्त चारों मोंमें एकका वह यथाविधि अनुष्ठान करे) इस प्रकारका नियम प्रच्युतिका अभाव दिखलाता है ।

सत्यानन्दी दीपिका

* 'तमेतं वेदानुवचनेन०' इत्यादि श्रुति और 'अनाश्रमी न तिष्ठेत' इत्यादि स्मृतिसे अनाश्रमी-अपेक्षा आश्रमीको श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि पुण्यकी वृद्धि होनेसे शीघ्र विद्याकी प्राप्ति होती है । 'अनाश्रमी न तिष्ठेत' इत्यादि स्मृतिसे अनाश्रमीकी निन्दा भी की गई है ॥ ३६ ॥

* जैसे 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत' इन आश्रमोंका आरोह इच्छा अधीन है, वैसे राग अथवा पूर्वाश्रमके यज्ञ आदि कर्मोंके अनुष्ठान करनेकी इच्छासे संन्याससे वानप्रस्थ आदि सकता है तब वानप्रस्थादि आश्रममें किए गए कर्म भी विद्याके हेतु हो सकते हैं, यह पूर्वपक्षका

जातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति। यथा च 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जा० 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते, नैवं प्रत्य रोहरूपाणि। न चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते। यत्तु--पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्य रोहणमिति, तदसत्, 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' (गी० ३।३५) इति स्मरणा न्यायाच्च। यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मो नतु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते, चोद लक्षणत्वाद्धर्मस्य। नच रागादिवशात्प्रच्युतिः, नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। जैमिनेरपी पिशब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदार्ढ्याय ॥४०॥

(११ अधिकाराधिकरणम् । सू० ४१-४२)

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥४१॥

पदच्छेद—न, च, आधिकारिकम्, अपि, पतनानुमानात्, तदयोगात्।

सूत्रार्थ—(आधिकारिकमपि) अधिकार शास्त्रसे प्राप्त आधिकारिक प्रायश्चित्त नैष्ठिक ब्र चारीके लिए (न) नहीं है, (पतनानुमानात्) क्योंकि 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मम्' इत्यादिसे पाति श्रुति अनुमापक स्मृति है, (तदयोगात्) क्योंकि उस-प्रायश्चित्तका अयोग-असम्भव है।

❀ यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत, किं तस्य 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्द मालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत नेति ? नेत्युच्यते, यदप्यधिकारलक्षणे निर्णीतं-प्रायश्चि 'अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्' (जै० सू० ६।८।२१) इति, तदपि न नैष्ठिक

और जैसे 'ब्रह्मचर्यं समाप्य० (ब्रह्मचर्य समाप्तकर गृहस्थाश्रमी हो) 'ब्रह्मचर्यादेव० (ब्रह्मचर्यसे संन्यास ग्रहण करे) इसप्रकारके आरोहरूप वचन उपलब्ध होते हैं, वैसे प्रत्यवरोहरूप नहीं। ऐसा आचारण करनेवाले शिष्ट नहीं है। और जो पूर्व आश्रमकर्मोंके अनुष्ठान करनेकी इच्छा प्रत्यवरोहण कहा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'श्रेयान्स्वधर्मो० (भली-भांति अनुष्ठान किए गए धर्मसे विगुण भी स्वकीय धर्म अत्युत्तम है) यह स्मृति है और न्याय भी है। जो ही जिसके विधान किया जाता है वह उसका धर्म है, जिससे जो स्वयं अनुष्ठान किया जा सकता है वह उस धर्म नहीं है, क्योंकि धर्म तो चोदनारूप-विधिरूप है। और राग आदि वश भी प्रच्युति नहीं हो कारण कि नियम शास्त्र बलवान् है। 'जैमिनेरपि' (जैमिनिकी भी) इस अपि शब्दसे इस विष प्रतिपत्ति दृढ करनेके लिए जैमिनि और बादरायणकी सम्प्रतिपत्तिका उपदेश करते हैं ॥ ४० ॥

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रमादसे ब्रह्मचर्य व्रतसे प्रच्युत हो तो उसका 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी' (ब्र चर्यसे भ्रष्ट हुए ब्रह्मचारीको नैर्ऋत गर्दभका आलभन करना चाहिए) यह प्रायश्चित्त होगा अ नहीं ? नहीं, ऐसा कहते हैं—अधिकार लक्षणमें 'अवकीर्णिपशुश्च० (जैसे उपनयनकालमें लौ अग्निमें होम किया जाता है, वैसे ही अवकीर्णिपशुका भी लौकिक अग्निमें होम करना चा क्योंकि आधान अप्राप्त काल है) ऐसा जो प्रायश्चित्तका निर्णय किया गया है, वह भी नैष्ठिक

सत्यानन्दी दीपिका

फल है। सिद्धान्तमें-ऊर्ध्वरेताओंकी प्रच्युतिमें प्रमाणके न होनेसे आश्रमित्वमें श्रेष्ठता सिद्ध केवल अपनी इच्छासे आश्रमोंका ग्रहण नहीं होता, किन्तु 'ब्रह्मचर्यं समप्य' इत्यादि निय शास्त्र द्वारा सविधि आश्रमोंका ग्रहण होता है, अतः उक्त हेतुओंसे ऊर्ध्वरेताओंकी अपने आश्र च्युति नहीं होती ॥ ४० ॥

❀ स्त्री प्रसंग करनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारीको शास्त्रमें अवकीर्णी कहा गया है। इस व्य चारको उपपातक कहनेसे और स्मृतिमें पातित्यका कथन होनेसे संशय होता है कि प्रच्युतका प्रायश्चि होता है कि नहीं ? पूर्वपक्षमें प्रायश्चित्त नहीं होता, क्योंकि जैसे 'यज्ञोपवीतकालमें लौकिक अग्निमें

र्हति। किं कारणम् ? 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि च्येत स आत्महा' इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुपपत्तेः, उपत्य तु तादृक्पतनस्मरणाभावादुपपद्यते तत्प्रायश्चित्तम् ॥४१॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥४२॥

पदच्छेद—उपपूर्वम्, अपि, तु, एके, भावम्, अशनवत्, तदुक्तम्।

सूत्रार्थ—(अपि तु एके) कई आचाय इसे (उपपूर्वम्) उप उपसर्गपूर्वक उपपातक मानते हैं, नवत्) जैसे उपकुर्वाण ब्रह्मचारी यदि मद्य-माँस खाए तो उसका व्रतलोप और पुनः संस्कार है, वैसे प्रच्युत नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिए भी प्रायश्चितका (भावम्) विधान है। (तदुक्तम्) विचार पूर्वमीमांसाके 'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' इत्यादि सूत्रोंमें किया गया है।

* अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते, यन्नैष्ठिकस्य गुरुदारादिभ्योऽब्रह्मचर्यं विशीर्येत, न तन्महापातकं भवति, गुरुतल्पादिषु महापातकेष्वपरिगणनात्। उपकुर्वाणवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति, ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वात्। अशनवत्। यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनःसंस्कारश्चैवमिति। प्रायश्चित्तस्याभावमिच्छन्ति तेषां न मूलमुपलभ्यते, ये तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्य-

---

नहीं हो सकता। क्या कारण ? 'आरूढो नैष्ठिकं०' (नैष्ठिक धर्ममें आरूढ होकर जो पुनः प्रच्युत होता है, वह आत्मघाती जिससे शुद्ध हो ऐसा प्रायश्चित्त नहीं देखता हूँ) इसप्रकार अप्रतिकार्य पतन कहा गया है। अतः जैसे कटे हुए शिरका पुनः प्रतिसन्धान नहीं हो सकता, इस पतनका भी प्रतिकार नहीं हो सकता। उपकुर्वाणके इसप्रकारको पतनकी स्मृति न होनेसे प्रायश्चित्त हो सकता है ॥ ४१ ॥

और दूसरे आचार्य ऐसा मानते हैं कि जो नैष्ठिक ब्रह्मचारीका गुरुपत्नी आदिसे अन्यत्र विशीर्ण हो तो वह उपपातक ही है महापातक नहीं है, क्योंकि उसकी गुरुतल्प आदि महागणना नहीं है। इसलिए उपकुर्वाणके समान नैष्ठिकको भी प्रायश्चित्तके अस्तित्वकी इच्छा है, क्योंकि ब्रह्मचारीत्व अविशेष है और अवकीर्णित्व अविशेष है अर्थात् दोनों समानरूपसे री और अवकीर्णी हैं। अशनके समान। जैसे मधु-मद्य और मांसके भक्षणसे ब्रह्मचारीके और पुनः संस्कार होते हैं, वैसे यहाँ पर भी समझना चाहिए। जो प्रायश्चित्तका अभाव

सत्यानन्दी दीपिका

चाहिए, क्योंकि विवाहके समय जो विहित अग्निका आधान है यही आहवनीय अग्नि है, उपनयन उसका अभाव है, इससे लौकिक अग्निमें होमका विधान है, वैसे व्यभिचारी नैष्ठिक ब्रह्मचारीश्चित्त-पशु गदर्भका लौकिक अग्निमें होम करना चाहिए, क्योंकि उसको भी अविवाहित होनेसे नीयाग्नि अप्राप्त है; ऐसा मीमांसा शास्त्रके छठे अध्यायमें निर्णय किया गया है। यह जो त लिखा गया है वह भी उपकुर्वाण ही के लिए है। परन्तु व्यभिचारी नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिए नहीं है ॥ ४१ ॥

* 'सिद्धान्ती—'उप' पद पूर्वक पातक उपपातक कहा जाता है। "ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह" (ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णकी चोरी, सङ्गम और उनसे वर्पतक सङ्ग इनको महापातक कहते हैं) यह स्मृति है, और स्मृतिकी श्रुति भी है—'स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः चरँ स्तैरिति" (छा० ५।१०।९) (ब्राह्मणके सुवर्णका चोर, मद्य पीनेवाला, गुरुस्त्रीगामी,

वकीर्णीत्येतदविशेषश्रवणं मूलम् । तस्माद्भावो युक्ततरः । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (जै० सू० १।३।८) 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १।३।९) इति प्रायश्चित्ताभावस्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यातव्यम् । एवं भिक्षुवैखानसयोरपि 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्', 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवल्लिवर्जंस्वशास्त्रसंस्कारश्च' इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्तव्यम् ॥४२॥

(१२ बहिरधिकरणम् सू० ४३)

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥४३॥

चाहते हैं उनके मतका मूल प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। और जो प्रायश्चित्तका भाव चाहते उनके मतमें 'ब्रह्मचारी अवकीर्णी' यह अविशेष श्रुतिमूल है। इसलिए प्रायश्चित्तका अस्तित्व युक्ततर है। वह 'समा विप्रतिपत्तिः स्यात' (यवमयश्चरुः) यहांपर कुछ लोग यव शब्दका दीर्घ शूक 'जौ में प्रयोग करते हैं और कुछ 'त्रयंगु' देशविशेषमें प्रयोग करते हैं, तो किसका चरु होना चाहिए। ऐसा सन्देह होनेपर वृद्ध प्रयोगके दोनों अर्थोंमें समान होनेसे विकल्पसे तुल्य प्रतिपत्ति होगी, ऐसा प्राप्त होनेपर सिद्धान्त 'शास्त्रीय प्रतिपत्ति ही अधिक बलवती होती है. क्योंकि धर्मविज्ञान शास्त्रनिमित्तक है' इसप्रकार प्रमाण लक्षणमें कहा गया है। ऐसा होनेपर प्रायश्चिताभाव प्रतिपादिक स्मृति तो [नैष्ठिकमें] यत्नगौरव उत्पादन करनेके लिए है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। इसप्रकार 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे० (वानप्रस्थव्रतका लोप होनेपर बारह रात्रितक प्राजापत्यकर बहुत तृण और वृक्ष वाले देशकी जलदान आदिसे वृद्धि करे 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत० (भिक्षु वानप्रस्थके समान सोमलताको छोड़कर बहुत तृण और वृक्षवाले देशकी जलदान आदिसे वृद्धि करे और स्वशास्त्र विहित संस्कार-ध्यान प्राणायाम आदि भी करे) इत्यादि प्रायश्चित स्मृतिका भिक्षु और वानप्रस्थमें भी अनुस्मरण करना चाहिए ॥४२॥

सत्यानन्दी दीपिका

ब्रह्महत्यारा ये चारों पतित होते हैं और पांचवां उनके साथ संसर्ग करनेवाला भी) ये महापातक हैं। अतः उपकुर्वाण (समावर्तनके अनन्तर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले) ब्रह्मचारीके समान नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिए भी प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि प्रायश्चित्त श्रुतिमूलक है। जैसे 'यवमयश्चरुः' यहां यव शब्दका सन्देह होनेपर "यदान्या ओषधयोम्लायन्त्यथैते यवा मोदमानास्तिष्ठन्ति" (जब अन्य औषधियाँ सूखने लगती हैं तब ये यव मोदमान-हरे भरे रहते हैं) इसप्रकार शास्त्रमूलक होनेसे दीर्घ शूक रूप अर्थमें यव शब्दका प्रयोग आदरणीय है, वैसे श्रुतिमूलक प्रायश्चित्त भी आदरणीय है। 'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावन एव च।' 'उपपातकसंघेषु पातकेषु महत्सु च। प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत्' (सर्व पापोंसे प्रसक्त होनेवाला भी अच्युत भगवानका निमिष मात्र ध्यान करता हुआ पुनः तपस्वी और पंक्तिपावन हो जाता है। उपपातकोंके समुदायमें और महापातकोंमें रात्रिके चौथे प्रहरमें ब्रह्मका चिन्तन करे) और "मनोवाक्कायजान्दोषानज्ञानोत्थान्प्रमादजान् । सर्वान् दहति योगाग्निस्तूलराशिमिवाऽनलः । नित्यमेव तु कुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडशः । अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥" (जैसे अग्नि तूलराशिको जलाकर भस्ममय कर देती है, वैसे अज्ञानसे, प्रमादसे, मन-वाणी और शरीरसे हुए सब दोषोंको योगाग्नि जला देती है। नित्य सोलह प्राणायाम करने चाहिएँ, एकमास तक प्रतिदिन किये गये प्राणायाम भ्रूणहत्या करनेवालेको भी पावन करते हैं) इत्यादि वाक्योंका ग्रहण करना चाहिए। इसप्रकार उत्तम आश्रमसे प्रच्युत ऊर्ध्व रेताओंके लिए भी प्रायश्चित्तका विधान है। अतः प्रायश्चित्तानन्तर उनका भी विद्यामें अधिकार है ॥४२॥

पदच्छेद—बहिः, तु, उभयथा, अपि, स्मृतेः, आचारात्, च।

सूत्रार्थ—(उभयथापि) ऊर्ध्वरेताकी अपने आश्रमसे प्रच्युति उपपातक हो चाहे महापातक प्रकारसे भी उसका शिष्टों द्वारा (बहिस्तु) बहिष्कार करना चाहिए, (स्मृतेराचाराच्च) क्योंकि श्चित्तं न पश्यामि' इत्यादि निन्दास्मृति और शिष्टाचार हैं।

* यद्यूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवनं महापातकं, यदि वोपपातकमुभयथापि शिष्टैस्ते कर्तव्याः। 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स हा' इति, 'आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम्। उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः, शिष्टाचाराच्च। नहि यज्ञाध्ययनविवाहादीनि तैः वरन्ति शिष्टाः ॥४३॥

(१३ स्वाम्यधिकरणम् । सू० ४४-४६)

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४४॥

पदच्छेद—स्वामिनः, फलश्रुतेः, इति, आत्रेयः।

सूत्रार्थ—(स्वामिनः) यजमान ही साङ्ग प्रधान उपासनाओंका कर्ता है, (इति आत्रेयः) आत्रेय आचार्यका मत है, (फलश्रुतेः) क्योंकि 'वर्षति हास्मै' इत्यादि फलश्रुति है।

* अङ्गेषूपासनेषु संशयः—किं तानि यजमानकर्माण्याहोस्विदृत्विक्कर्माणीति। किं प्राप्तम्? यजमानकर्माणीति। कुतः? फलश्रुतेः, फलं हि श्रूयते—'वर्षति हास्मै वर्षयति ह एवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।३।२) इत्यादि। तच्च स्वामिगामि न्याय्यम्, साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात्, अधिकृताधिकारत्वाच्चैवंजातीयकस्य। फलं च कर्तर्युपास-

---

यदि ऊर्ध्व रेताओंका अपने आश्रमसे प्रच्युत होना महापातक हो अथवा यदि उपपातक हो प्रकारसे उनका शिष्ट पुरुषों द्वारा बहिष्कार करना चाहिए, क्योंकि 'आरूढो नैष्ठिकं०' (जो धर्ममें आरूढ होकर पुनः प्रच्युत होता है, वह आत्मघाती जिससे शुद्ध हो ऐसा प्रायश्चित्त नहीं ता हूँ) और 'आरूढपतितं० (आश्रममें आरूढ हुए पतित विप्रको और मण्डलसे बहिष्कृत फाँसीसे स्वयं मरनेवाले ब्राह्मणको और कृमियोंसे दष्ट ब्राह्मणको स्पर्श कर चान्द्रायण व्रत करे) दि अतिशय निन्दा करनेवाली स्मृतियाँ हैं और शिष्टाचार भी है। इसलिए शिष्ट पुरुष उनके यज्ञ, अध्ययन, विवाह आदि व्यवहार नहीं करते ॥४३॥

अङ्गोंसे सम्बद्ध उपासनाओंमें संशय होता है कि क्या वे उपासनाएँ यजमानके कर्म हैं अथवा के कर्म हैं? तब क्या प्राप्त होता है? पूर्वपक्षी—वे यजमानके कर्म हैं, क्योंकि ऐसी फलश्रुति वर्षति हास्मै० (जो इसे इसप्रकार जाननेवाला पुरुष वृष्टिमें पांच प्रकारके सामकी उपासना है उसके लिए वर्षा होती है वह स्वयं भी मेघोंसे वर्षा करा लेता है) इत्यादि फलश्रुति है। स्वामी-यजमान को प्राप्त हो यह उचित है, क्योंकि वह साङ्ग प्रयोगमें अधिकृत है। इस को उपासनामें वह अधिकृत अधिकार है। और 'वर्षत्यस्मै०' (जो उपासना करता है उसके

सत्यानन्दी दीपिका

* जिन नैष्ठिक आदि पुरुषोंने प्रायश्चित्त कर लिया है, उनके साथ किया गया श्रवण आदि द्याका साधन है कि नहीं? ऐसा सन्देह होनेपर पूर्वपक्षमें उनके साथ किया गया श्रवण आदि का साधन होता है। सिद्धान्तमें उनकी प्रायश्चित्त आदिसे पारलौकिक शुद्धि होनेपर भी यहां नहीं होती, इससे उनके साथ किया गया श्रवण आदि विद्याका साधन नहीं होता ॥४३॥

* अङ्गाश्रित उपासनाओंमें यजमान और ऋत्विक् दोनोंके कर्तृत्वका संभव होनेसे संशय

नानां श्रूयते—'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' इत्यादि। नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम्—'आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' (बृ० १।३।२८) इति। न, तस्य वाचनिकत्वात्। तस्मात्स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥४४॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥४५॥

पदच्छेद—आर्त्विज्यम्, इति, औडुलोमिः, तस्मै, हि, परिक्रीयते।

सूत्रार्थ—(आर्त्विज्यम्) इन उपासनाओंका कर्ता ऋत्विक् है, (इति औडुलोमिः) ऐसा औडुलोमि आचार्यका मत है, (हि) क्योंकि (तस्मै) उस साङ्ग कर्मके लिए (परिक्रीयते) दक्षिणासे ऋत्विक् खरीदा जाता है।

नैतदस्ति—स्वामिकर्माण्युपासनानीति, ऋत्विक्कर्माण्येतानि स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। किं कारणम्? तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेनर्त्विक्परिक्रीयते, तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनान्यधिकृताधिकारत्वात्। तस्माद्गोदोहनादिनियमवदेवर्त्विग्भिर्निर्वर्त्येरन्। तथा च 'तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव' (छा० १।२।१३) इत्युद्गातृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति। यत्तूक्तं—कर्त्राश्रयं फलं श्रूयत इति—नैष दोषः, परार्थत्वादृत्विजोऽन्यत्र वचनात्फलसंबन्धानुपपत्तेः ॥४५॥

श्रुतेश्च ॥४६॥

पदच्छेद—श्रुतेः, च।

सूत्रार्थ—क्योंकि 'यां वै काञ्चन' इत्यादि श्रुति ऋत्विक् कर्तृक उपासनाका फल यजमानके लिए दिखलाती है।

लिए मेघ यथेष्ट वृष्टि करता है) इत्यादि फल उपासनाओंके कर्तामें सुना जाता है। परन्तु 'आत्मने वा यजमानाय॰ (अपने लिए अथवा यजमानके लिए जिस मनोरथकी वह उद्गाता कामना करता है उसे सामके उद्गानसे सिद्ध करता है) इसप्रकार ऋत्विक्को भी फल प्राप्त हुआ देखा गया है। नहीं, क्योंकि वह वाचनीक है, इसलिए यजमान ही फलवाली उपासनाओंका कर्ता है, ऐसा आत्रेय आचार्य मानते हैं ॥ ४४ ॥

सिद्धान्ती—उपासनाएँ स्वामी कर्म हैं, ऐसा नहीं है, ये ऋत्विक्के कर्म होने चाहिएँ, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं, क्योंकि उस साङ्ग कर्मके लिए यजमानसे ऋत्विक्का परिक्रयण किया जाता है। और उद्गीथ आदि उपासनाएँ उस प्रयोगके अन्तर्भूत हैं, क्योंकि अधिकृतका अधिकार है। इसलिए गोदोहन आदिके समान ही वे साङ्ग उपासनाएँ ऋत्विकोंसे ही संपादन होनी चाहिएँ। उसी प्रकार 'तं ह बको दाल्भ्यो॰ (अतः दाल्भ्यके पुत्र बकने उसे जाना—पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणदृष्टिसे उद्गीथकी उपासनाकी वह नैमिषारण्यमें यज्ञ करनेवालोंका उद्गाता हुआ) यह श्रुति विज्ञानको उद्गाता कर्तृक दिखलाती है। जो यह कहा गया है कि कर्ता आश्रय फलश्रुति है, यह दोष नहीं है, क्योंकि ऋत्विक् यजमानके लिए है, अतः वचनसे अन्यत्र ऋत्विक्का फल सम्बन्ध अनुपपन्न है ॥ ४५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

होता है। पूर्वपक्षमें इन उपासनाओंका कर्ता यजमान है, क्योंकि 'वर्षति हास्मै' इत्यादि फलश्रुति है. कारण कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व एकमें ही युक्त है। जैसे साङ्ग क्रतुमें अधिकृतके अधिकार होनेसे गोदोहनका फल क्रतुके अधिकारीको प्राप्त होता है, वैसे अङ्गाश्रित उपासनाओंका फल भी यजमानको प्राप्त होता है, क्योंकि अधिकृत अधिकारी है। यद्यपि ऋत्विक्के लिए भी फलका श्रवण है, तो भी यजमान कर्तृक भोक्तृक फलका बाधक न होनेसे उपासनाओंका फल कर्ता यजमान को ही प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

'यां वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाच' 'तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि' (छा० १।७।८-९) इति । तच्चर्त्विक्कर्तृकविज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति । तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥४६॥

(१४ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् । सू० ४७-४९)

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।४७॥

पदच्छेद—सहकार्यन्तरविधिः, पक्षेण, तृतीयम् , तद्वतः, विध्यादिवत् ।

सूत्रार्थ—(सहकार्यन्तरविधिः) 'बाल्यं च पाण्डित्यं०' इस श्रुतिमें विद्याके सहकारी मौनको अपूर्व होनेसे विधि समझना चाहिए, (तृतीयम्) और श्रवण आदि साधनोंमें तृतीय साधन निर्दिष्ट मौन शब्दसे विहित है, (तद्वतः) परोक्ष ज्ञानयुक्त संन्यासियोंके लिए साक्षात्कार निमित्त यह विधि है, (पक्षेण ; जिस पक्षमें भेद दर्शनकी प्राप्ति है उस पक्षसे साक्षात्कारकी प्राप्ति न होनेसे यह विधि सार्थक है । (विध्यादिवत्) जैसे दर्शपूर्णमास प्रधान विधिमें अन्वाधान अङ्गोंकी विधि होती वैसे यहाँ मौनकी विधि है ।

* 'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' (बृ० ३।५।१) इति बृहदारण्यके श्रूयते । तत्र संशयः–मौनं विधीयते न वेति । न विधीयत इति तावत्प्राप्तम् , बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधेरवगतत्वात् । न ह्यथ मुनिरित्यत्र विधायिका विभक्तिरुपलभ्यते, तस्मादयमनुवादो युक्तः । कुतः प्राप्तिरिति चेत्—मुनिपण्डितशब्दयोर्ज्ञानार्थत्वात्पाण्डित्यं निर्विद्येत्येवं प्राप्तं मौनम् । अपि च—'अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इत्यत्र तावन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते, प्रागेव

'यां वै कांचन० (ऋत्विक् यज्ञमें जिस किसी कामकी प्रार्थना करते हैं यजमानके लिए ही उसकी प्रार्थना करते हैं, ऐसा उसने कहा) 'तस्मादु० (अतः इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता यजमानसे इस प्रकार कहे कि मैं तेरे लिए किन इष्ट कामनाओंका आगान करूँ) इस प्रकार श्रुतियाँ ऋत्विक्कर्तृक उपासनाका फल यजमानगामी दिखलाती हैं । इसलिए अङ्गोपासनाओंमें ऋत्विक्कर्मत्व सिद्ध होता है ॥४६॥

'तस्माद्ब्राह्मणः० (अतः ब्राह्मण आत्मज्ञानका पूर्णतया संपादन कर आत्मज्ञानरूप बलसे स्थित रहनेकी इच्छा करे । फिर बाल्य और पाण्डित्यको पूर्णतया प्राप्त कर वह मुनि होता है । तथा अमौन और मौनका पूर्णतया संपादन कर ब्राह्मण कृतकृत्य होता है) ऐसी बृहदारण्यकमें श्रुति है । इसमें संशय होता है कि मौनका विधान किया जाता है अथवा नहीं ? पूर्वपक्षी—मौनका विधान नहीं किया जाता, ऐसा प्राप्त होता है । क्योंकि 'बाल्येन तिष्ठासेत्' यहाँ पर ही विधि समाप्त हो जाती है । कारण कि 'अथ मुनिः' इसमें विधायक विधि प्रतिपादक विभक्ति उपलब्ध नहीं होती, इससे यह अनुवाद युक्त है । ऐसा यदि कहो कि मौनकी कहाँसे प्राप्ति हुई, तो मुनि और पाण्डित्य शब्दोंके समानार्थक होनेसे 'पाण्डित्यं निर्विद्य' इससे मौन प्राप्त होता है । और 'अमौनं च मौनं च' (अमौन और मौनका पूर्णतया संपादनकर ब्राह्मण कृतकृत्य होता है) यहाँ ब्राह्मणत्वका विधान नहीं किया

सत्यानन्दी दीपिका

* विधुर आदि मन्द अधिकारियोंके लिए ज्ञानका साधन जप, तप आदि और मध्यम अधिकारियोंके लिए ज्ञानका साधन अङ्गोपासनाको कहकर अब प्रसङ्गवश उत्तम अधिकारियोंके लिए ज्ञानका साधन 'सहकार्यन्तरविधिः' इत्यादिसे कहते हैं । पूर्वपक्षमें मुमुक्षुको मौन अनुष्ठेय नहीं है, सिद्धान्तमें मौन अनुष्ठेय है ॥४७॥

प्राप्तत्वात् । तस्मात् 'अथ ब्राह्मणः' इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति, समाननिर्देशत्वादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः- -सहकार्यन्तरविधिरिति । विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरेवाश्रयितव्यः, अपूर्वत्वात् । ननु पाण्डित्यशब्देनैव मौनस्यावगतत्वमुक्तम् नैष दोषः, मुनिशब्दस्य ज्ञानातिशयार्थत्वात्, मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिसंभवात्, 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (गी० १०।३७) इति च प्रयोगदर्शनात् । ननु मुनिशब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि श्रूयते—'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' इत्यत्र, न, 'वाल्मीकिर्मुनिपुंगवः' इत्यादिषु व्यभिचारदर्शनात् । इतराश्रमसंनिधानात्तु पारिशेष्यात्तत्रोत्तमाश्रमोपादानं ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य । तस्माद्बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते । यत्तु बाल्य एव विधेः पर्यवसानमिति, तथाप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयते—मुनिः स्यादिति । निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम् । तद्वतो विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते ? तदधिकारात्, 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति । ननु सति विद्यावत्त्वे प्राप्नोत्येव तत्रातिशयः किं मौनविधिनेत्यत आह-पक्षेणेति । एतदुक्तं भवति यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति, तस्मिन्नेष विधिरिति । विध्यादिवत् । यथा—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाग्न्यन्वाधानादिकमङ्गजातं विधीयते । एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः ॥४७॥

जाता, क्योंकि वह [विविदिषन्ति ब्राह्मणाः] पूर्वसे प्राप्त है । इसलिए 'अथ ब्राह्मणः' यह प्रशंसावाद है । इसीप्रकार 'अथ मुनिः' यह भी प्रशंसावाद ही हो सकता है, क्योंकि दोनोंमें समानरूपसे निर्देश है ।

सिद्धान्ती— ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'सहकार्यन्तरविधिः' विद्याके सहकारी मौनकी बाल्य और पाण्डित्यके समान विधि ही आश्रयण करनी चाहिए, क्योंकि वह अपूर्व है । परन्तु यह कहा गया है कि पाण्डित्य शब्दसे ही मौन अवगत है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि मुनि शब्द ज्ञानातिशयार्थक है और मननसे 'मुनि' इस व्युत्पत्तिका संभव है और 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (मुनियोंमें भी मैं व्यास हूँ) इस प्रकार प्रयोग देखनेमें आता है । परन्तु 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं०' (गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन और वानप्रस्थ) इस श्रुतिमें मुनिशब्द उत्तमाश्रमका वाचक भी है ? नहीं, क्योंकि 'बाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः' इत्यादिमें व्यभिचार दिखाई देता है । परन्तु अन्य आश्रमोंके सन्निधानसे और परिशेषसे इस वचनमें उत्तम आश्रमका ग्रहण है, कारण कि उत्तम आश्रम ज्ञान प्रधान है । इसलिए बाल्य और पाण्डित्यकी अपेक्षासे इस ज्ञानातिशयरूप तृतीय मौनका विधान किया जाता है । यद्यपि बाल्यमें ही विधिका पर्यवसान किया गया है, तो भी मुनित्वका अपूर्व होनेसे 'मुनिः स्यात' इस प्रकार विधेयत्व आश्रयण किया जाता है । मौनका निर्वेदनीयरूपसे निर्देश होनेसे भी बाल्य और पाण्डित्यके समान विधेयत्व आश्रयण है । 'तद्वतो' विद्यावान्-संन्यासीका । विद्यावान्-संन्यासीका, ऐसा किससे अवगत होता है ? इससे कि 'आत्मानं विदित्वा० (आत्माको जानकर पुत्र आदि एषणाका त्यागकर अनन्तर भिक्षाचर्य करते हैं) इस प्रकार संन्यासीका अधिकार है । परन्तु विद्यावत्त्व होनेपर उसमें अतिशय प्राप्त होता ही है, तो मौन विधिका क्या प्रयोजन ? इसपर कहते हैं—'पक्षेण' अभिप्राय यह है—जिस पक्षमें भेद-दर्शनकी प्रधानतासे [ज्ञानातिशय] प्राप्त नहीं होता उस पक्षमें यह विधि है । विधि आदिके समान । जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस प्रकारकी विधि आदिमें सहकारीरूपसे अग्निके अन्वाधान आदि अङ्ग समूहका विधान किया जाता है । इस प्रकार अविधि प्रधान इस विद्यावाक्यमें भी मौन विधि है, ऐसा अर्थ है ॥ ४७ ॥

एवं बाल्यादिविशिष्टे कैवल्याश्रमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोप- 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' (छा० ८।१५।१) इत्यत्र ? तेन ह्युपसंहरंस्तद्विषयमादरं दर्शयतीति । उत्तरं पठति —

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥४८॥

पदच्छेद—कृत्स्नभावात्, तु, गृहिणा, उपसंहारः ।

सूत्रार्थ (कृत्स्नभावात्) गृहस्थाश्रममें विशेषरूपसे विद्यमान हैं, अतः यज्ञ आदि और न्तर विहित शम आदिका (गृहिणा) गृहस्थाश्रमसे (उपसंहारः) उपसंहार किया गया है, शब्द विशेषणार्थक है ।

* तुशब्दो विशेषणार्थः । कृत्स्नभावोऽस्य विशेष्यते । बहुलायासानि हि बहून्या- र्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टानि, आश्रमान्तरकर्माणि च यथासंभव- न्द्रियसंयमादीनि तस्य विद्यन्ते । तस्माद्गृहमेधिनोपसंहारो न विरुध्यते ॥४८॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥४९॥

पदच्छेद—मौनवत्, इतरेषाम्, अपि, उपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(मौनवत्) जैसे मौन और गृहस्थाश्रम श्रुति सम्मत हैं, वैसे (इतरेषामपि) वानप्रस्थ ह्मचार्याश्रम भी श्रुति सम्मत हैं, (उपदेशात्) क्योंकि चारों आश्रमोंका श्रुतिमें उपदेश है ।

* यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिमन्तावेवमितरावपि वानप्रस्थगुरुकुलावासौ । ता हि पुरस्ताच्छ्रुतिः—'तप एव द्वितीतो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः' (छा० २।२३।१) था। तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषात्तुल्यवद्विकल्पसमुच्चयाभ्यां प्रतिपत्तिः । ामिति द्वयोराश्रमयोर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठातृभेदापेक्षया वेति द्रष्टव्यम् ॥४९॥

इस प्रकार बाल्य आदि विशिष्ट श्रुति प्रतिपादित कैवल्याश्रमके विद्यमान होनेपर छान्दोग्यो- में 'अभिसमावृत्यकुटुम्बे' (आचार्यकुलसे समावर्तनकर कुटुम्ब-गृहस्थाश्रममें स्थित हो पवित्र स्वाध्याय करता हुआ) इस वाक्यमें गृहीसे किस प्रकार उपसंहार किया जाता है ? इससे र करता हुआ श्रुति वाक्य गृहस्थाश्रम विषयक आदर दिखलाता है । अतः उत्तर कहते हैं— सूत्रस्थ 'तु' शब्द विशेषणार्थक है । उससे गृहस्थाश्रमकी पूर्णता विशेषण विशिष्ट की जाती है, बहुत आयासवाले बहुतसे यज्ञ आदि आश्रम कर्म गृहस्थाश्रमके लिए कर्तव्यरूपसे उपदिष्ट हैं हिंसा, इन्द्रियसंयम आदि अन्य आश्रमके कर्म भी यथासंभव उसमें विद्यमान हैं, अतः ससे उपसंहार विरुद्ध नहीं है ॥ ४८ ॥

जैसे मौन-संन्यासाश्रम और गृहस्थाश्रम ये दो आश्रम श्रुतिसम्मत हैं, वैसे वानप्रस्थ और वास-ब्रह्मचर्याश्रम ये अन्य दो आश्रम भी श्रुतिसम्मत हैं, क्योंकि 'तप एव द्वितीयो० (तप धर्मस्कन्ध है और ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासी यह तृतीय धर्मस्कन्ध है) इत्यादि श्रुति खलाई गई है । इसलिए चारों आश्रमोंका भी अविशेष उपदेश होनेसे उनकी समानरूपसे और समुच्चयसे प्रतीति होती है । इतरेषाम् (अन्योंका) इसप्रकार दो आश्रमोंके लिए बहु- भेदसे अथवा अनुष्ठाताके भेदसे है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ४९ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

यहाँ संन्यासाश्रमके अभावको लेकर गृहस्थाश्रमसे उपसंहार नहीं है, क्योंकि संन्यासाश्रम अनेक श्रुति, स्मृतिवाक्य हैं ॥ ४८ ॥

सूत्रकारने प्रथम दो सूत्रोंसे संन्यास और गृहस्थ आश्रमोंका प्रतिपादन किया है, अतः

(१५ अनाविष्काराधिकरणम् । सू० ५०)

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥५०॥

पदच्छेद—अनाविष्कुर्वन्, अन्वयात् ।

सूत्रार्थ—(अनाविष्कुर्वन्) बालकके समान अपने ज्ञान आदिको लोगोंमें प्रकट न कर हुआ 'केवल शुद्ध भाव हो' इतना ही 'अव्यक्तलिंगाः' इत्यादि श्रुतिसे विहित है । (अन्वयात् क्योंकि तावन्मात्र ही ज्ञानके अभ्यासमें अनुगत है ।

* 'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ० ३।५।१) इति बाल्यमनुष्ठे तया श्रूयते । तत्र बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशे स्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्यथोपपादमूत्रपुरीषत्वादिबालचरितमन्तर्गता वा भावविशु द्धिरप्ररूढेन्द्रियत्वं दम्भदर्पादिरहितत्वं वा बाल्यं स्यादिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? काम चारवादभक्षणता यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसिद्धतरं लोके बाल्यमिति तद्ग्रहणं युक्तम् ननु पतितत्वादिदोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम् , न, विद्यावतः संन्यासिनो वच सामर्थ्याद्दोषनिवृत्तिः, पशुहिंसादिष्विवेति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते —न, वचनस्य गत्यन्तर संभवात् । अविरुद्धे ह्यन्यस्मिन्बाल्यशब्दाभिलप्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पन युक्ता । प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते । ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम् । न

'तस्माद्ब्राह्मणः० (इसलिए ब्राह्मणको पाण्डित्य-आत्मज्ञानका पूर्णतया सम्पादनकर बाल्य ज्ञान-बलभावसे स्थित रहना चाहिए) इसप्रकार बाल्यकी अनुष्ठानरूपसे श्रुति है । यहां बाल भाव अथवा बालका कर्म बाल्य है इसप्रकार तद्धित प्रत्यय होनेपर बालभाव-वयोविशेषका इच्छा सम्पादन नहीं किया जा सकता, अतः यथासम्भव मूत्र, पूरीषत्वका त्याग आदि बालचरित बाल्य अथवा अन्तर्गत भावविशुद्धि अथवा दम्भ दर्प और इन्द्रिय प्ररूढ आदिसे रहित बाल्य होना चाहि ऐसा संशय होता है । तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—इच्छानुसार वदन, भक्षण, यथेच्छ मू पुरीषका त्याग, ऐसा बाल्य लोकमें अतिप्रसिद्ध है, उसका ग्रहण युक्त है । परन्तु पतितत्व आदि दोष प्राप्ति होनेसे कामचारता आदिका आश्रयण युक्त नहीं है । ऐसा नहीं, क्योंकि विद्यवान् संन्यासी वचनकी सामर्थ्यसे दोष निवृत्त हो जाता है, जैसे विधि प्राप्त पशु हिंसा आदिमें दोष नहीं होता ।

सिद्धान्ती - ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—नहीं, क्योंकि [बाल्येन तिष्ठासेत्] इस वचन अन्य गति हो सकती है । बाल्य शब्द वाच्य अन्य अविरुद्ध अर्थके उपलब्ध होनेपर अन्य विधि व्याघातकी कल्पना अयुक्त है । प्रधानके उपकारके लिए अङ्गका विधान किया जाता है । यहां ज्ञा भ्यास यतियोंके लिए प्रधान अनुष्ठेय है । परन्तु सम्पूर्ण बालचर्या अंगीकार किए जानेपर ज्ञानाभ्य

सत्यानन्दी दीपिका

इनसे अतिरिक्त अन्य दो आश्रमोंके न होनेका यदि किसीको भ्रम हो तो 'मौनवत्' इत्यादिसे निवृ करते हैं । प्रत्येक आश्रमका भेद (ब्र० सू० ३, ४, १८) इस सूत्रके 'सत्यानन्दी दीपिका' में द्रष्ट है । इसप्रकार चार आश्रमोंका विशेषरूपसे उपदेश होनेसे 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा' यह विकल्प और 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहीभूत्वा वनी भवेत्, वनीभूत्वा प्रव्रजेत्' य समुच्चय समानरूपसे समझना चाहिए ॥ ४९ ॥

* पूर्वपक्षमें—'बाल्येन तिष्ठासेत्' इस विधि वाक्यमें बाल्य शब्दसे लोक प्रसिद्ध यथेच्छ खान पान आदि ग्राह्य है । इसलिए इसप्रकारका यथेच्छ बालव्यवहार विद्वान् द्वारा विद्याअङ्गरूपसे अनुष्ठेय है, सिद्धान्तमें—बाल्य शब्दसे भावशुद्धि विद्वान्के लिए अनुष्ठेय है ।

यां बालचर्यायामङ्गीक्रियमाणायां ज्ञानाभ्यासः संभाव्यते। तस्मादान्तरो भावविशेषो प्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। * तदाह —अनाविष्कुर्वन्निति। ज्ञानाध्ययन-कत्वादिभिरात्मानमविख्यापयन्दम्भदर्पादिरहितो भवेत्। यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया पामात्मानमाविष्कर्तुमीहते, तद्वत्। एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते। वोक्तं स्मृतिकारैः—'यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृत्तं न दुर्वृत्त वेद न ब्राह्मणः। गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्। अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्'। कलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' इति चैवमादि ॥५०॥

(१६ ऐहिकाधिकरणम्। सू० ५१)

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥५१॥

पदच्छेद ऐहिकम्, अपि, अप्रस्तुतप्रतिबन्धे, तद्दर्शनात्।

सूत्रार्थ—(अप्रस्तुतप्रतिबन्धे) प्रस्तुत प्रतिबन्धके न होनेपर (ऐहिकमपि) इस जन्ममें भी उत्पत्ति होती है, (तद्दर्शनात्) क्योंकि 'गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव' इत्यादि श्रुतियोंमें उसे जाता है।

* 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत आरभ्योच्चावचं विद्या-सवधारितम्, तत्फलं विद्या सिध्यन्ती किमिहैव जन्मनि सिध्यत्युत कदाचिदमुत्रा-चिन्त्यते। किं तावत्प्राप्तम्? इहैवेति। किं कारणम्? श्रवणादिपूर्विका हि विद्या। कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसंधाय श्रवणादिषु प्रवर्तते। समान एव तु जन्मनि

संभवना नहीं होगी। इसलिए बालका अंतर भावविशेष अप्ररूढ इन्द्रियत्व आदि बाल्य यहां किया जाता है। उसे कहते हैं—'अनाविष्कुर्वन्' ज्ञान, अध्ययन, धार्मिकत्व आदिसे अपनी न करता हुआ दम्भ, दर्प आदिसे रहित हो, जैसे बालक इन्द्रियके प्ररूढ न होनेसे अपनेको आगे प्रकट करनेकी चेष्टा नहीं करता, वैसे विद्वान्के विषयमें समझना चाहिए। इसप्रकार तिष्ठासेत्] इस वाक्यका प्रधानोपाकारी-ज्ञानाभ्यासोपकारी अर्थानुगम उपपन्न होता है। इसीप्रकार 'यं न सन्तं०' (जिसे कोई न सत्, न असत्, न अश्रुत, न बहूश्रुत, न सुवृत्त और जानता है वह ब्राह्मण है। गूढ धर्मका आश्रय करता हुआ विद्वान् दूसरोंसे अज्ञात चरित विचरण करे। अन्धके समान, जड़के समान और मूकके समान पृथिवी पर विचरण करे) लिङ्ग और अव्यक्त आचार वाला हो) इत्यादि स्मृतिकारोंने कहा है ॥ ५० ॥

'सर्वापेक्षा च' इस सूत्रसे आरम्भकर नाना प्रकारके विद्यासाधनोंका निश्चय किया गया है। नोंके फलरूपसे सिद्ध होती हुई विद्या इसी जन्ममें सिद्ध होती है अथवा क़दाचित् अन्य जन्ममें इसपर विचार किया जाता है। तब क्या प्राप्त होता है? पूर्वपक्षी - इसी जन्ममें विद्या सिद्ध है, क्योंकि विद्या श्रवण आदि पूर्विका है। मुझे अन्य जन्ममें विद्या उत्पन्न हो ऐसा संकल्पकर श्रवण आदिमें प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु इसी जन्ममें विद्याजन्मका संकल्पकर इन साधनोंमें

सत्यानन्दी दीपिका

* सिद्धान्ती—बालके यावत् बाह्य चरित ग्राह्य नहीं हैं, क्योंकि 'यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः शुचिः' (कठ० १।३।७) (किन्तु जो बुद्धि युक्त नहीं है, स्थिर चित्त नहीं है और सदा अपवित्र है वह उस ब्रह्मलोकको प्राप्त नहीं होता) इत्यादि शौच आदिका नियामक शास्त्र है ॥ ५० ॥

* ऐहिक और पारलौकिक साधनोंका फल दो प्रकारका होता है। जैसे कारीरियागका ऐहिक है और दर्शपूर्णमास आदि यागका अदृष्ट द्वारा जन्मान्तरमें फल है। इस प्रकार विद्या भी

विद्याजन्माभिसंधायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते । यज्ञादीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्यां जनयन्ति
प्रमाणजन्यत्वाद्विद्यायाः । तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति । एवं प्राप्ते वदामः—ऐहिकं विद्या
जन्म भवत्यसति अप्रस्तुतप्रतिबन्ध इति । एतदुक्तं भवति—यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्
कश्चित्प्रतिबन्धो न क्रियत उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण, तदेहैव विद्योत्पद्यते, यदा तु ख
तत्प्रतिबन्धः क्रियते तदामुत्रेति । उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाता
वति । यानि चैकस्य कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि, तान्येवान्यस्यापीति
नियन्तुं शक्यते । यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति । शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फ
भवतीत्येतावति पर्यवसितम्, न देशकालनिमित्तविशेषमपि संकीर्तयति । साधनवीर्यविशे
त्त्वतीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति, तत्प्रतिबद्धा परस्य तिष्ठति न चाविशेषेण विद्याया
भिसंधिर्नोत्पद्यते, इहामुत्र वा मे विद्या जायतामित्यभिसंधेर्निरङ्कुशत्वात् । श्रवणादिद्वारे
णापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते । ❀ तथा च श्रुतिर्दुर्बोधत्वमात्मनो
दर्शयति—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः । आश्चर्योऽस्य वक्
कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (क० २।७) इति । गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिपे
ब्रह्मभावमिति वदन्ती जन्मान्तरसंचितात्साधनाज्जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति । नहि

प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है । यज्ञ आदि भी श्रवण आदि द्वारा ही विद्याको उत्पन्न करते है
क्योंकि विद्या प्रमाणजन्य है । इसलिए विद्याका जन्म इसी जन्ममें ही है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त
होनेपर हम कहते हैं—प्रस्तुत प्रतिबन्धके न होनेपर इसी जन्ममें विद्या उत्पन्न होती है । अभिप्राय
यह है कि जब प्रक्रान्त-पूर्ववर्णित विद्यासाधनका उपस्थित विपाकवाले अन्य कर्मसे कोई प्रतिबन्
नहीं किया जाता, तब इसी जन्ममें विद्या उत्पन्न होती है और यदि उसका प्रतिबन्ध किया जाता है तो
अन्य जन्ममें उत्पन्न होती है । कर्ममें उपस्थित विपाकत्व देश-काल और निमित्तोंके प्राप्त होने
होता है । जो देश, काल और निमित्त एक कर्मके विपाचक हैं, वे अन्य कर्मके भी हैं, ऐसा निय
नहीं किया जा सकता, क्योंकि विरुद्ध फलवाले भी कर्म होते हैं । शास्त्र भी इस कर्मका यह फल होत
है, इतने मात्रमें पर्यवसित होता है । देश-काल और निमित्त विशेषका संकीर्तन नहीं करता । साध
सामर्थ्यविशेषसे किसीकी अतीन्द्रिय शक्ति आविर्भूत होती है और अन्यकी उससे प्रतिबद्ध होती हु
स्थित रहती है । और अविशेषरूपसे विद्यामें अभिसन्धि उत्पन्न नहीं होती, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि
इस जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें मुझे विद्या उत्पन्न हो, ऐसी अभिसन्धि निरंकुश है । श्रवण आदि
द्वारा भी उत्पन्न होनेवाली विद्या प्रतिबन्धक्षयकी अपेक्षासे ही उत्पन्न होती है । और इसी प्रकार श्रुति
आत्माका दुर्बोधत्व दिखलाती है—'श्रवणायापि० (जो बहुतोंको श्रवणके लिए भी प्राप्त होने योग्य
नहीं है, जिसे बहुत श्रवण करते हुए भी नहीं समझते उस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाला भी
आश्चर्यरूप है, उसे प्राप्त करनेवाला भी निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदे
किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप ही है) और गर्भस्थित ही वामदेवने ब्रह्मभाव प्राप्त किया, ऐसा

सत्यानन्दी दीपिका

इसी जन्ममें उत्पन्न होती है अथवा जन्मान्तरमें ? पूर्वपक्षमें कारीरियागफलके समान विद्या इसी
जन्ममें उत्पन्न होती है । यज्ञ आदि भी चित्तशुद्धि द्वारा विविदिषा उत्पन्नकर श्रवणादिसे विद्याको उत्पन्न
करते हैं । यदि इसी जन्ममें विद्याकी उत्पत्ति न मानें तो श्रवण आदि विद्याके हेतु सिद्ध नहीं होंगे ।

❀ प्रतिबंधके सद्भावमें 'शृण्वन्तोऽपि बहुवो यं न विद्युः०' (कठ० २, ७) (बहुतसे लोग सुनते हुए भी उस आत्मतत्त्वको यथार्थरूपसे नहीं जानते) 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' (गीता २।२९) (कोई-कोई सुनकर भी इस आत्मतत्त्वको नहीं जानता) इत्यादि श्रुति और स्मृति प्रमाण हैं ॥५१॥

स्थस्यैवैहिकं किंचित्साधनं संभाव्यते। स्मृतावपि—'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गति' (गी० ६।३७) इत्यर्जुनेन पृष्टो भगवान्वासुदेवः 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति' (गी० ६।४०) इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले संभूतिं चाभिधायानन्तरम्—तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' (गी० ६।४३) इत्यादिना 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति गतिम्' (गी० ६।४५) इत्यन्ततेनैतदेव दर्शयति। तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म बन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम् ॥५१॥

(१७ मुक्तिफलाधिकरणम् । सू० ५२)

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥५२॥

पदच्छेद—एवम्, मुक्तिफलानियमः, तदवस्थावधृतेः, तदवस्थावधृतेः।

सूत्रार्थ—(एवम्) ब्रह्म साक्षात्कारके समान, (मुक्तिफलानियमः) मुक्तिफलमें भी विशेष नहीं है, (तदवस्थावधृतेः) क्योंकि उस मुक्त्यवस्थाका सब वेदान्तोंमें एकरूप ही अवधारण गया है। 'तदवस्थावधृतेः' इस पदका दो वार उच्चारण अध्यायकी परिसमाप्तिका सूचक है।

* यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बिनः साधनवीर्यविशेषाद्विद्यालक्षणे फल ऐहिकामुष्मिकफलत्वकृतो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः। एवं मुक्तिलक्षणेऽप्युत्कर्षापकर्षकृतः कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः स्यादित्याशङ्क्याह—एवं मुक्तिफलानियम इति। न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशङ्कितव्यः। कुतः? तदवस्थावधृतेः। मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते। ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, नच ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति, एकलिङ्गत्वावधारणात्, 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा'

ती हुई श्रुति जन्मान्तर संचित साधनसे भी जन्मान्तरमें विद्याकी उत्पत्ति दिखलाती है। गर्भमें किसी ऐहिक साधनकी संभावना नहीं की जाती। स्मृतिमें भी 'अप्राप्य योगसंसिद्धिं०' कृष्ण! योगफल-सम्यग्दर्शनको प्राप्त किए विना वह किस गतिको प्राप्त होता है) इस प्रकार द्वारा पूछे गए भगवान् वासुदेव 'नहि कल्याणकृत्०' (हे तात! कोई भी कल्याणकृत् कुत्सित को प्राप्त नहीं होता) ऐसा कहकर पुनः उसकी पुण्यलोक प्राप्ति और साधुकुलमें उत्पत्ति कहकर न्तर 'तत्र तं०' (उस योगी कुलमें पूर्व देहमें स्थित बुद्धि संयोगको प्राप्त करता है) इत्यादिसे लेकर कजन्मसंसिद्धस्ततो०' (अनेक जन्मोंमें उपचित हुए संस्कारोंसे सम्यग्ज्ञानी होकर श्रेष्ठगतिको होता है) यहाँ तक यही बात दिखलाते हैं। इसलिए इस जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें प्रतिबन्ध की अपेक्षासे विद्याजन्म होता है, यह सिद्ध हुआ ॥ ५१ ॥

जैसे विद्याके साधनका अवलम्बन करनेवाले मुमुक्षुका साधनके सामर्थ्यविशेषसे विद्यारूप में ऐहिक फलत्व और जन्मान्तरीय फलत्व कृत विशेष प्रतिनियम देखा गया है, वैसे मुक्ति में भी उत्कर्ष और अपकर्षकृत कोई विशेष प्रतिनियम होना चाहिए, ऐसी आशङ्काकर कहते हैं—मुक्तिफलानियमः' मुक्तिफलमें इसी प्रकारके किसी भी विशेष प्रतिनियमकी आशङ्का नहीं करनी ए, क्योंकि उसी अवस्थाका अवधारण किया गया है। मुक्ति अवस्था सब वेदान्तोंमें एक रूप ही की जाती है। ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है, ब्रह्ममें अनेक आकारोंका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि लमनणु०' (न स्थूल है और न अणु है) 'स एष०' (यह आत्मा ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इस निर्दिष्ट है) 'यत्र नान्यत्पश्यति' (जिसमें अन्य नहीं देखता है) 'ब्रह्मैवेदममृतं०' (यह अमृत ब्रह्म आगे है) 'इदं सर्वं०' (यह सब जो कुछ भी है यह सब आत्मा ही है) 'स वा एष०' (वही यह

(बृ० २।४।६), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ❀ अपि च विद्यासाधनं स्ववीर्यविशेषात्स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशयमासञ्जयेन्न विद्याफले मुक्तौ । तद्ध्यसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावमेव विद्ययाधिगम्यत इत्यसकृदवादिष्म । न च तस्यामप्युत्कर्षनिकर्षात्मकोऽतिशय उपपद्यते, निकृष्टाया विद्यात्वाभावादुत्कृष्टैव हि विद्या भवति । तस्मात्तस्यां चिराचिरोत्पत्तिरूपोऽतिशयो भवन्भवेत्, नतु मुक्तौ कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति । विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनियमाभावः, कर्मफलवत् । नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति । सगुणासु तु विद्यासु—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्याद्यासु गुणावापोद्वापवशाद्भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः, कर्मफलवत् । तथा च लिङ्गदर्शनम्—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति । नैवं निर्गुणायां विद्यायाम्, गुणाभावात् । तथा च स्मृतिः—'नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्' इति । तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥५२॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

महान् अज आत्मा अजर, अमृत, अमर एवं अभय ब्रह्म है) 'यत्र त्वस्य०' (जहाँ उसका सब आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसे देखे) इत्यादि श्रुतियोंसे उसका एक लिङ्गत्व (रूप) निश्चय होता है। और विद्याका साधन अपने सामर्थ्य विशेषसे अपने फल विद्यामें ही किसी एक अतिशयका आधान करेगा किन्तु विद्याके फल मुक्तिमें नहीं, क्योंकि वह असाध्य है और नित्य सिद्ध स्वभाव विद्यासे अधिगत होता है, ऐसा हम अनेक वार कह चुके हैं। उस विद्यामें भी उत्कर्षात्मक और निकृष्टात्मक अतिशय उपपन्न नहीं होता, क्योंकि निकृष्टमें विद्यात्व नहीं है, किन्तु उत्कृष्ट ही विद्या होती है, इसलिए उस विद्यामें विलम्ब और अविलम्बरूप अतिशय होता हो तो भले हो, किन्तु मुक्तिमें कोई अतिशय संभव नहीं है। विद्याके भेदका अभाव होनेसे भी उसके फलभेद नियमका अभाव है, कर्मफलके समान। मुक्तिके साधनभूत विद्यामें कर्मोंके समान भेद नहीं है। परन्तु 'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्यादि सगुण विद्याओंमें गुणोंके आवाप और उद्वापके दर्शनसे भेदकी उपपत्ति होनेपर उसके अनुसार कर्मफलके समान फलभेदका नियम उपपन्न होता है। उसीप्रकार ' 'तं यथा० (उसकी जिस प्रकार उपासना करता है वही होता है) ऐसा लिङ्गदर्शन है। परन्तु इसप्रकार निर्गुण विद्यामें फलभेदका नियम नहीं है, क्योंकि उसमें गुणोंका अभाव है। और 'नहि गतिरधिका० (किसी निर्गुणवेत्ताकी अधिक गति नहीं है, क्योंकि गुणके होनेपर ही अतुल्यता कहते हैं) इसप्रकार स्मृति भी है। 'तदवस्थावधृतेः' इस पदका दो वार कथन अध्यायकी परिसमाप्तिका द्योतन करता है ॥५२॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके तृतीयाध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त ॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ पूर्वपक्षी मुक्तिमें अतिशय विशेष मानकर उसे कर्म साध्य सिद्ध करना चाहता है। परन्तु सिद्धान्तमें मुक्ति सभी उपनिषदोंमें एक रूप प्रतिपादित है, क्योंकि ब्रह्मरूप ही तो मुक्ति है। निरवयव एक ब्रह्ममें उत्कर्ष और अपकर्षका असम्भव है। केवल विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति द्वारा ब्रह्म स्वरूप मोक्षकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। यहां तो विद्याकी निवृत्ति भी ब्रह्मरूप है। अतः ब्रह्मरूप मोक्षमें किसी प्रकारका अतिशय विशेष नहीं है।

* जैसे वायु आदि प्रतिबन्ध होनेपर दीपोत्पत्तिमें विलम्ब होता है परन्तु उसके उत्पन्न होनेपर अन्धकार निवृत्तिरूप फलमें नहीं, वैसे तत्त्वज्ञान होनेपर अज्ञानकी निवृत्तिरूप फलमें विलम्ब नहीं

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

[अत्रास्मिन् फलाध्याये प्रथमपादे जीवन्मुक्तिनिरूपणम् ।]

(इस फल अध्यायके प्रथम पादमें जीवन मुक्तिका निरूपण है)

(१ आवृत्त्यधिकरणम् । सू० १-२)

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१॥

पदच्छेद—आवृत्तिः, असकृत्, उपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(आवृत्तिः) प्रत्ययकी आवृत्ति करनी चाहिए, (असकृदुपदेशात्) क्योंकि व्यो मन्तव्यः' आदि श्रुतियोंमें इसप्रकारका वार-वार उपदेश है ।

* तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्रायेणात्यगात् । अथेह र्थे फलाश्रय आगमिष्यति । प्रसङ्गागतं चान्यदपि किंचिच्चिन्तयिष्यते । प्रथमं तावत्कति- दधिकरणैः साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसरामः । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो ध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६), 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१), 'सोऽन्वेष्टव्यः जिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१), इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—किं सकृत्प्रत्ययः कर्तव्यः, स्विदावृत्त्येति । किं तावत्प्राप्तम् ? सकृत्प्रत्ययः स्यात्प्रयाजादिवत्, तावता शास्त्रस्य र्थत्वात् । अश्रूयमाणायां ह्यावृत्तौ क्रियमाणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत् । नन्वसकृदु- शा उदाहृताः—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवमादयः । एवमपि यावच्छब्द-

तृतीय अध्यायमें पर और अपर विद्याओंमें साधनाश्रय विचार प्रायः किया जा चुका है । इस चतुर्थ अध्यायमें फलाश्रय विचार आयेगा । और प्रसंगतः कुछ अन्य विषयक भी विचार जायगा । प्रथम तो कुछ अधिकरणोंसे साधनाश्रय अवशिष्ट विचारका हम अनुसरण करते हैं । त्मा वा अरे द्रष्टव्यः०' (अरे मैत्रेयी ! आत्माका दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, न करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिए) 'तमेव धीरो० (बुद्धिमान् ब्राह्मण उपदेश शास्त्रसे उस आत्माका परोक्षज्ञान प्राप्त कर प्रज्ञा (साक्षात्कार) के लिए शम दम आदि न करे) 'सोऽन्वेष्टव्यः० (उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी विशेष जिज्ञासा करनी ए) इत्यादि श्रवणोंमें संशय होता है कि क्या एक वार ही प्रत्यय करना चाहिए अथवा वृत्तिसे-इन श्रवण आदि साधनोंका एक वार ही अनुष्ठान करना चाहिए अथवा साक्षात्कार पर्यन्त पुनः-पुनः आवृत्ति करनी चाहिए ? तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—प्रयाज आदिके समान ही वार प्रत्यय करना चाहिए, क्योंकि इतनेमें ही शास्त्र कृतार्थ होता है, आवृत्तिके अश्रूयमाण र भी उसकी आवृत्ति किये जानेपर तो शास्त्रार्थसे विरुद्ध किया जायगा । परन्तु 'श्रोतव्यो व्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि असकृत् उपदेश उदाहृत हैं ? ऐसा होनेपर भी जिसका शब्द है

सत्यानन्दी दीपिका

। इसलिए विद्यामें अन्य प्रकारका कोई अतिशय नहीं है । जैसे गुणभेदसे कर्म और उपासनाके ान होनेसे उनके अनुष्ठाताओंकी भी असमान गति होती है, वैसे निर्गुण विद्यामें नहीं होती, े उसमें कोई गुण नहीं है । इसलिए ब्रह्मवेत्ताओंकी ब्रह्म प्राप्तिरूप एक-सी गति होती है ॥५२॥

ामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के तृतीयाध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त ॥

---

* तृतीय अध्यायमें पर विद्या–ब्रह्मात्मसाक्षात्कारका साधनीभूत ब्रह्मविद्या और अपर-सगुण ओंमें साधन सम्बन्धी विचार प्रायः समाप्त किया गया है । अब हेतुहेतुमद्भाव संगतिसे इस चतुर्थ यमें तत्फल सम्बन्धी विचार किया जाता है । और फलके प्रसङ्गसे उत्क्रान्ति एवं अर्चिरादि

मावर्तयेत्सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति, नातिरिक्तम् । सकृदुपदेशेषु तु वेदोपासीतेत्येवमादिष्वनावृत्तिरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या । कुतः ? असकृदुपदेशात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवंजातीयको ह्यसकृदुपदेशः प्रत्ययावृत्ति सूचयति । ननूक्तं—यावच्छब्दमेवावर्तयेन्नाधिकमिति—न, दर्शनपर्यवसितत्वादेषाम् । दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति । यथाऽवघातादीनि तण्डुलादिनिष्पत्तिपर्यवसानानि हि तद्वत् । अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाभिधीयते । तथा हि—लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते । तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा, सैवमभिधीयते । विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते । कचिद्विदिनोपक्रम्योपासिनोपसंहरति, यथा—'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः' (छा० ४।१।४) इत्यत्र 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' (छा० ४।२।२) इति । कचिच्चोपासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति, यथा—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यत्र 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' (छा० ३।१८।३) इति । तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः । असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः ॥१॥

उसकी आवृत्ति करनी चाहिए—एक वार श्रवण, एक वार मनन और एक वार निदिध्यासन, इससे अधिक नहीं, 'वेद' 'उपासीत' इत्यादि सकृत् उपदेशोंमें आवृत्ति नहीं है । ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रत्ययकी आवृत्ति करनी चाहिए । किससे ? इससे कि असकृत् उपदेश है । 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस प्रकारका अनेक वार उपदेश प्रत्यय आवृत्ति सूचित करता है । परन्तु ऐसा कहा गया है कि श्रुतिके अनुसार ही आवृत्ति करनी चाहिए, अधिक नहीं । ऐसा नहीं, क्योंकि ये दर्शन पर्यवसायी हैं । साक्षात्कार पर्यवसायी वार-वार आवृत्ति किये जानेवाले श्रवण आदि साधन दृष्ट फलवाले होते हैं । जैसे अवघात आदि तण्डुल आदि निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) पर्यवसायी होते हैं, वैसे प्रकरणमें भी समझना चाहिए । और उपासना और निदिध्यासन आवृत्ति गुण गर्भित क्रिया का ही अभिधान करते हैं । जैसे कि लोकमें 'गुरुमुपास्ते'० (गुरुकी उपासना करता है, राजाकी उपासना करता है) जो तत्परतासे गुरु आदिका अनुवर्तन करता है वह ऐसा ही कहा जाता है । वैसे 'ध्यायति' 'जिसका पति परदेश गया है वह स्त्री पतिका ध्यान करती है' जो निरन्तर स्मरण करती पतिके प्रति सोत्कण्ठा है वह ऐसी कही जाती है । विद् और उप पूर्वक अस् धातुका उपनिषदोंमें (समान अर्थसे) प्रयोग देखा जाता है । कहीं 'विदि' से आरम्भकर उपास्तिसे उपसंहार करते हैं । जैसे कि 'यस्तद्वेद०' (जिसे रैक्व जानता है उसे जो जानता है वह मैंने जैसे कहा है वैसे ही रैक्व सदृश होता है) इसमें विदिसे उपक्रम है और 'अनु मे एतां०' (हे भगवन् रैक्व ! आप मुझे उस देवताका उपदेश कीजिए जिसकी आप उपासना करते हैं) इसप्रकार उपास्तिसे उपसंहार है । और कहीं उपास्तिसे उपक्रम कर विदिसे उपसंहार करते हैं—जैसे 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिए) इसमें उपास्तिसे उपक्रम है और 'भाति च०' (जो ऐसा जानता है वह कीर्ति-यश और ब्रह्मतेजके कारण देदीप्यमान होता और तपता है) इसप्रकार विदिसे उपसंहार है । इससे एक वार उपदेशोंमें भी आवृत्ति सिद्ध होती है, वार-वार उपदेश तो आवृत्तिका सूचक है ॥१॥

सत्यानन्दी दीपिका

मार्गका भी विचार किया जायगा । प्रथम साक्षात् श्रुतिमें कथित संन्यास आदि साधनोंका विचार किया जा चुका है । अब 'अघाश्लेष' इस अधिकरणके पूर्वतक फलार्थापत्तिसे गम्य आवृत्ति आदिका विचार है । 'अघाश्लेष' अधिकरणसे लेकर पाद समाप्तितक जीवनमुक्तिका, द्वितीय पादमें उत्क्रान्तिका,

लिङ्गाच्च ॥२॥

पदच्छेद—लिङ्गात्, च ।

सूत्रार्थ—और 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' यह लिङ्ग प्रमाण भी बहुत-सी किरणोंका विधान
हुआ प्रत्ययोंकी आवृत्ति दिखलाता है, इससे श्रवण आदि प्रत्ययोंकी भी आवृत्ति होनी चाहिए ।

* लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति । तथा ह्युद्गीथविज्ञानं प्रस्तुत्य 'आदित्य उद्गीथः'
१।५।१) इत्येतदेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (छा० १।५।२) इति रश्मि-
विज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत्सिद्धवत्प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति । तस्मात्तत्सामान्यात्सर्वप्रत्यये-
वृत्तिसिद्धिः । अत्राह--भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तिः, तेष्वावृत्तिसाध्यस्याति-
संभवात् । यस्तु परब्रह्मविषयः प्रत्ययो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेवात्मभूतं परं ब्रह्म
यति, तत्र किमर्थावृत्तिरिति ? सकृच्छ्रुतौ च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरावृत्त्यभ्युपगम
चेत्--न, आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः । यदि हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवंजातीयकं
सकृच्छ्रूयमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्, ततस्तदेवावर्त्यमानमुत्पादयिष्यतीति
प्रत्याशा स्यात् ? * अथोच्येत–न केवलं वाक्यं कंचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्य-

लिंग भी प्रत्ययोंकी आवृत्तिका ज्ञान कराता है, क्योंकि 'आदित्य उद्गीथः' इसप्रकार उद्गीथ
को प्रस्तुत कर एवं एक पुत्रताके दोषसे उसका प्रतिषेध कर 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (अतः
! तू सूर्य रश्मियोंका आदित्यसे भेदरूपसे चिन्तन कर) इसप्रकार बहुत पुत्रता प्राप्तिके लिए
रश्मियोंके विज्ञानका विधान करता हुआ लिंग सिद्धवत् प्रत्ययोंकी आवृत्ति दिखलाता है । प्रकृत
प्रत्ययके साथ सब प्रत्ययोंकी साक्षात्कार हेतुरूपसे अथवा ध्यानरूपसे समानता होनेके कारण
उपासना और श्रवण आदि सब प्रत्ययोंमें आवृत्तिकी सिद्धि होती है । पू०—यहां कहता है कि
फलवाले प्रत्ययोंमें आवृत्ति भले हो, क्योंकि उनमें आवृत्तिसे साध्य अतिशयका संभव है ।
जो परब्रह्मविषयक प्रत्यय नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव आत्मभूत परब्रह्मका बोध कराता है,
आवृत्तिका क्या प्रयोजन ? यदि कहो कि केवल एक वार श्रवण होनेपर ब्रह्मात्मत्व प्रतीतिकी
त्ति होनेसे आवृत्तिका स्वीकार है । तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आवृत्ति होनेपर भी उसकी
नहीं होती । यदि 'तत्त्वमसि' इसप्रकारका एक वार श्रूयमाण वाक्य ब्रह्मात्मत्व प्रतीतिको
नहीं कर सका तो वही आवृत्त होता हुआ प्रतीतिको उत्पन्न करेगा इसकी क्या आशा हो सकती है ?
कि केवल वाक्य किसी अर्थका साक्षात्कार करनेके लिए समर्थ नहीं है, अतः युक्तिकी
रखता हुआ वाक्य ब्रह्मात्मत्वका अनुभव कराएगा । तथापि—ऐसा माननेपर भी श्रवण

सत्यानन्दी दीपिका

दमें अर्चिरादि गन्तव्य मार्गके निर्णयका और चतुर्थ पादमें ज्ञान और उपासनाके फलके निर्ण-
विचार है । पू०—असकृत् उपदेश होनेपर भी उसका आवृत्तिमें तात्पर्य नहीं है । सिद्धान्तमें
आदिको दृष्टार्थ होनेसे ब्रह्म साक्षात्पर्यन्त आवृत्ति होनी चाहिए ॥१॥

* विषय साक्षात्कार फलवाले श्रवण आदि प्रत्ययोंकी आवृत्तिमें 'लिङ्गाच्च' यह दूसरा हेतु
है । निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कार उत्पन्न करनेकी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें शक्ति है कि नहीं ?
पक्ष तो एक वार श्रवण किए गए वाक्यसे साक्षात्कार सिद्ध होनेसे आवृत्ति निष्फल है ।
पक्ष—तो उसकी वार वार आवृत्ति भी निष्फल है ।

* मैं आत्मा हूँ और परमात्मासे भिन्न हूँ' इस प्रकारका सामान्य ज्ञान तो प्रायः सभीको है,
उससे अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती, उसकी निवृत्ति तो 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि

पेक्षं वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति, तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव। साऽपि हि युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति। अथापि स्याद्युक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते, न विशेषविषयम्। यथास्ति मे हृदये शूलमित्यतो वाक्याद्गात्रकम्पादि लिङ्गाच्च शूलसद्भावसामान्यमेव परः प्रतिपद्यते, न विशेषमनुभवति। यथा स एव शूली विशेषानुभवश्चाविद्याया निवर्तकस्ततस्तदर्थावृत्तिरिति चेत्—न, असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसंभवात्। नहि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्तिभ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामवगन्तुं शक्यते। तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्येत यदि वा सामान्यमेव, उभयथापि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत इत्यावृत्त्यनुपयोगः। न च सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुम्, विचित्रप्रज्ञत्वात्प्रतिपत्तॄणाम्। अपि चानेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्येकेनावधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो यथा दीर्घप्रपाठकग्रहणादिषु, नतु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति। * अत्रोच्यते—भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्नु-

---

आदि प्रत्ययोंकी आवृत्ति निरर्थक ही है। क्योंकि वह युक्ति भी एक वार प्रवृत्त हुई अपने अर्थका बोध करायेगी। और यदि ऐसी शंका करो कि युक्ति और वाक्यसे सामान्य विषयक ही ज्ञान किया जाता है विशेष विषयक नहीं। जैसे मेरे हृदयमें शूल है, इस वाक्यसे और गात्रकम्पन आदि लिंगसे शूलका अस्तित्व सामान्य अन्यको ज्ञान होता है विशेष अनुभव नहीं होता। जैसा कि वही शूलवान् विशेष शूलका स्वयं अनुभव करता है। यदि कहो कि विशेष अनुभव अविद्याका निवर्तक है, अतः उसके लिए आवृत्ति है। तो ठीक नहीं है, क्योंकि कितने ही पुनः पुनः भी श्रवण आदि किए जायँ तो भी विशेष विज्ञानकी उत्पत्तिका संभव नहीं है। कारण कि एक वार प्रयुक्त शास्त्र और युक्तिसे अनवगत विशेष सौवार प्रयुक्त हुए शास्त्र और युक्तिसे भी विशेष अवगत नहीं किया जा सकता। इसलिए यदि कहो कि शास्त्र और युक्तिसे विशेष प्रतिपादन किया जाता है अथवा यदि कहो कि उनके योगसे सामान्यका प्रतिपादन किया जाता है, तो भी दोनों प्रकारसे एक वार प्रवृत्त होनेपर ही वे अपना कार्य करते हैं, इसलिए वृत्तिका उपयोग नहीं है। एक वार प्रयुक्त हुए शास्त्र और युक्ति किसीके भी अनुभवको उत्पन्न नहीं करते, ऐसा नियमन नहीं किया जा सकता। क्योंकि अनुभविताओंकी बुद्धि विचित्र है। और इसीप्रकार अनेक अंशोंसे युक्त सामान्य और विशेष वाले लौकिक पदार्थमें एक अवधान (एक वार मनकी एकाग्रता) से एक अंशका और दूसरे अवधानसे दूसरे अंशका निश्चय करनेवालोंमें आवृत्तिका उपयोग भले ही हो। जैसे दीर्घ प्रपाठकके ग्रहण आदिमें आवृत्तिका उपयोग होता है। परन्तु सामान्य विशेषसे रहित चैतन्यमात्ररूप निर्विशेष ब्रह्ममें प्रमाकी उत्पत्तिके लिए आवृत्तिकी अपेक्षा युक्त नहीं है। सिद्धान्ती —इसपर कहते हैं—जो पुरुष 'तत्त्वमसि' इसप्रकार एक वार ही उक्त ब्रह्मात्मत्व अनुभव करनेमें समर्थ हो उसके प्रति आवृत्ति भले निरर्थक हो।

सत्यानन्दी दीपिका

वेदान्त वाक्योंके श्रवण आदिके अभ्याससे उत्पन्न हुए 'मैं ब्रह्मात्मा हूँ' इस विशेष ज्ञानसे होती है। इसलिए आवृत्ति सार्थक है। पू०—'न, असकृदपि' आदिसे कहता है।

* जैसे उद्दालकने श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि' का नौ वार उपदेश किया है। जैसे षड्ज आदि स्वर भेदके साक्षात्कारके लिए श्रोत्र समर्थ हैं, तो भी उसके अभ्यासकी अपेक्षा है, वैसे ही ब्रह्म साक्षात्कार करनेकी वाक्यमें सामर्थ्य होनेपर भी अभ्यासकी अपेक्षा है। इस विषयमें अनुभव प्रमाण भी है। जैसे अध्ययन आदिमें एक वार श्रवणसे अल्पज्ञान होता है वार-वार वाक्यार्थका अभ्यास करनेपर विशेष ज्ञान

। यस्तु न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवावृत्तिः। तथा हि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'
६।८।७) इत्युपदिश्य 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।८।७) इति पुनः पुनः
बोध्यमानस्तत्तदाशङ्काकारणं निराकृत्य तत्त्वमसीत्येवासकृदुपदिशति। तथा च 'श्रोतव्यो
व्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्यादि दर्शितम। ननूक्तं—सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसि-
यं स्वमर्थमनुभावयितुं न शक्नोति, तत आवर्त्यमानमपि नव शक्ष्यतीति, नैष दोषः,
दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुताद्वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्त-
भासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः। अपि च 'तत्त्वमसि' इत्येतद्वाक्यं त्वंपदार्थस्य तत्प-
भावमाचष्टे। तत्पदेन च प्रकृतं सद्ब्रह्मेक्षितृ जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते—'सत्यं
मनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८), 'अदृष्टं द्रष्टृ' (बृ० ३।
१), 'अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११), 'अजमजरममरम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'
३।८।८) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम्। ❀ तत्राजादिशब्दैर्जन्मादयो भावविकारा निवर्तिताः।
थूलादिशब्दैश्च स्थौल्यादयो द्रव्यधर्माः। विज्ञानादिशब्दैश्च चैतन्यप्रकाशात्मकत्वमुक्तम्।
व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभियुक्तानां प्रसिद्धः।

तु जो इस प्रकार समर्थ न हो उसके प्रति आवृत्ति उपयुक्त ही है। जैसे कि छान्दोग्यमें 'तत्त्वमसि
केतो' इस प्रकार उपदेश कर 'भूय एव० (श्वेतकेतु–हे भगवन्! पुनः मुझे समझाइए) इस प्रकार
-पुनः प्रेरित होते हुए तत्-तत् आशङ्का कारणका निराकरण कर 'तत्त्वमसि' इस प्रकार अनेक वार
देश करते हैं। और उसी प्रकार 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि दिखलाया गया है।
तु ऐसा कहा गया है कि यदि एक वार श्रुत 'तत्त्वमसि' वाक्य अपने अर्थ अनुभव करानेमें समर्थ
हीं है तो आवर्त्यमान होनेपर भी समर्थ नहीं होगा ? यह दोष नहीं है, क्योंकि दृष्ट-अनुभवमें आनेपर
भी अनुपपन्न नहीं है। एक वार श्रुत वाक्यसे मन्दप्रतीत-सामान्य ज्ञात वाक्यार्थकी आवृत्ति
नेवाले तत्-तत् आभासोंका निराकरणकर सम्यग्ज्ञान करते हुए देखे जाते हैं। और 'तत्त्वमसि'
वाक्य 'त्वं' पदार्थका 'तत्' पदार्थ भाव कहता है, और 'तत्' पदसे प्रकृत ईक्षितृ सद्ब्रह्म जगत्के
न्म आदिका कारण कहा जाता है, जो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'अदृष्टं द्रष्टृ'
अक्षर ब्रह्म स्वयं दृष्टिका विषय नहीं है, किन्तु स्वयं द्रष्टा है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरोंका
ाता है) 'अजमजरममरम्'० (ब्रह्म अज, अजर और अमर है) 'अस्थूलम०' (वह न स्थूल है,
अणु है, न ह्रस्व है और न दीर्घ है) इत्यादि शास्त्रसे प्रसिद्ध है। उस ब्रह्ममें अज आदि शब्दोंसे
न आदि भाव विकार निवृत्त किए गए हैं, अस्थूल आदि शब्दोंसे स्थौल्य आदि द्रव्यके धर्म निवृत्त
र गए हैं। विज्ञान आदि शब्दोंसे ब्रह्म चैतन्य प्रकाशात्मक कहा गया है। समस्त संसारके धर्मोंसे

सत्यानन्दी दीपिका

ा है। और 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें 'तत्' पदसे 'तत्' पद वाच्य ईक्षितृ सद्ब्रह्म जगत्के जन्म
का कारण कहा गया है, और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इससे तत् पदका लक्ष्यार्थ कहा गया है।

* अब 'त्वं' पदका अर्थ 'तथा' इत्यादिसे कहते हैं–स्थूल देह अन्नमय कोशसे लेकर आनंदमय
पर्यन्त 'यह मैं नहीं हूँ' इस प्रकार सबकी निवृत्तिकर 'शुद्ध ब्रह्मात्मा मैं हूँ' यह निश्चय 'त्वं' पदका
र्थ है। इसी अर्थको 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्य प्रतिपादन करते हैं। किन्तु जिनको
और 'त्वम्' पदका वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ अविद्याकृत संशय आदिसे प्रतिबद्ध हैं, उनके प्रति
मसि' आदि वाक्य अपने वाच्य और लक्ष्यार्थ आत्मैकत्वका बोध करानेमें समर्थ नहीं हैं। उनके
शास्त्र और युक्तिका अभ्यास अपेक्षित है। इस प्रकार प्रथम 'तत्' पदका लक्ष्यार्थ निश्चित होनेपर
त् 'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ निश्चित होता है। इस प्रकार क्रमिक ज्ञान आत्मज्ञानमें हेतु है।

तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोता देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनावधारितः। तत्र येषामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ तेषां 'तत्त्वमसी'त्येतद्वाक्यं स्वार्थे प्रमां नोत्पादयितुं शक्नोति, पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थस्येत्यतस्तान्प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः। यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशस्तथाप्यध्यारोपि तस्मिन्बह्वंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणम्। तत्रैकेनावधानेनैकमंशमपोहत्यापरेणापरमिति युज्यते। तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः। तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः। * येषां पुनर्निपुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति, ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति, तान्प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव। सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति, नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते। सत्यमेवं युज्येत—यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत्। बलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादि प्रतिपत्तिः। अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिपद्यत इति चेत्—न, देहाद्यभिमानवद्दुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभिमानत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दह्यमाने वाऽहं छिद्ये दह्य इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः। तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु संतप्यमानेष्वहमेव संतप्य इत्यध्यारोपो दृष्टः। तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात्। देहादिवदेव चैतन्याद्बहिरुपलभ्यमानत्वाद्दुःखित्वा-

रहित ज्ञानात्मक तत् पद वाच्य यह ब्रह्म वेदान्तियोंमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'त्वं' पदार्थ भी प्रत्यगात्मा, श्रोताके देहसे आरम्भ कर प्रत्यगात्मरूपसे संभाव्यमान चैतन्यावधित्वसे निश्चित किया गया है। ऐसी अवस्थामें जिनके ये दोनों पदार्थ अज्ञान, संशय और विपर्ययसे प्रतिबद्ध होते हैं, उनके लिए 'तत्त्वमसि' यह वाक्य स्वार्थमें प्रमा उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थज्ञान पदार्थ ज्ञानपूर्वक होता है, अतः उनके प्रति पदार्थोंके विवेक प्रयोजनवाले शास्त्र और युक्तिका अभ्यास होना चाहिए। यद्यपि प्रतिपत्तिके योग्य आत्मा निरंश है, तो भी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना आदिरूप बहुतसे अंश उसमें अध्यारोपित हैं, उनमें एक अवधानसे एक अंशका और दूसरेसे दूसरे अंशका निषेधकर उसमें क्रमिक प्रतिपत्ति युक्त है। वह आत्मप्रतिपत्तिका पूर्वरूप है अर्थात् आत्मज्ञानमें कारण है। परन्तु जिन निपुण मतिवालोंके अज्ञान, संशय और विपर्यय 'तत्, त्वम्' पदार्थ विषयक प्रतिबन्ध नहीं है वे एक वार ही उक्त 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ ज्ञान करनेमें समर्थ होते हैं। उनके प्रति आवृत्तिकी अनर्थकता इष्ट ही है, क्योंकि एक वार उत्पन्न हुआ ज्ञान हो अविद्याकी निवृत्ति करता है, इससे इसमें कोई क्रम स्वीकार नहीं किया जाता। ठीक है, यदि किसको इस प्रकार आत्मज्ञान हो तो आवृत्ति की निरर्थकता युक्त है। यदि कहो कि आत्मामें दुःखित्व आदिका ज्ञान बलवान् है, अतः कोई भी दुःखित्व आदि अभावको प्राप्त नहीं होता, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मामें देह आदि अभिमानके समान दुःखित्व अभिमानमें भी मिथ्याभिमानत्व उपपन्न होता है। देहका छेदन किए जानेपर अथवा दहन किए जानेपर मैं काटा जाता हूँ, मैं जलाया जाता हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष मिथ्याभिमान देखा गया है। इसी प्रकार देहसे भिन्न बाह्य पुत्र, मित्र आदिके संतप्त होनेपर मैं ही संतप्य हूँ ऐसा अध्यारोप देखा जाता है। उसी प्रकार दुःखित्व आदि अभिमान होना चाहिए, क्योंकि देह आदिके समान ही दुःखित्व आदि चैतन्यरूपसे बाहर (पृथक्) उपलब्ध होते हुए सुषुप्ति आदिमें अनुवृत्त नहीं होते।

सत्यानन्दी दीपिका

* मन्द और मध्यम अधिकारियोंके लिए अभ्यास सार्थक कहकर अब उत्तम अधिकारियोंके लिए 'येषाम्' इत्यादिसे कहते हैं। जैसे एक वार उत्पन्न हुआ रज्जु ज्ञान सर्प आदि भ्रान्तिको निवृत्त करता है, वैसे उत्तम अधिकारियोंके लिए एक वार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे उत्पन्न ज्ञान अविद्याको निवृत्त करता है।

म्, सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेः । चैतन्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति—'यद्वै तन्न पश्यति
वै तन्न पश्यति' (बृ० ४।३।२३) तस्मात्सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मा-
: । * न चैवमात्मानमनुभवतः किंचिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते । तथा च श्रुतिः—'किं
ा करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४।४।२२) इत्यात्मविदः कर्तव्याभावं दर्श-
। स्मृतिरपि—'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न
' (गी० ३।१७) इति । यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थ एवा-
भ्युपगमः । तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थात्प्रच्याव्यावृत्तौ प्रवर्तयेत् । नहि वरघाताय
मुद्वाहयन्ति । नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेदं कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्यया-
तीतप्रत्यय उत्पद्यते । यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात्तं वाक्यार्थं जिहासेत्तस्यैतस्मि-
वाक्यार्थे स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचोयुक्त्याऽभ्युपेयते । तस्मात्परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये
ायोपदेशेष्वावृत्तिसिद्धिः ॥ २ ॥

(२ आत्मत्वोपासनाधिकरणम् । सू० ३)

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

पदच्छेद—आत्मा, इति, तु, उपगच्छन्ति, ग्राह्यन्ति, च

'यद्वै० (वह जो सुषुप्तिमें नहीं देखता सो निश्चय देखता हुआ नहीं देखता) इत्यादि श्रुतिसे
की अनुवृत्ति सुषुप्तिमें कहते हैं । इसलिए सब दुःखोंसे विनिर्मुक्त एक चैतन्य स्वरूप मैं हूँ यह
नुभव है । और इस प्रकार आत्माका अनुभव करनेवालोंके लिए कुछ अन्य कृत्य अवशिष्ट नहीं
। जैसे कि 'किं प्रजया० (परमार्थदर्शी जिन हम लोगोंका यह आत्मा ही लोक है वे हम इस
संततिसे क्या करेंगे) यह श्रुति आत्मवेत्ताके लिए कर्तव्याभाव दिखलाती है । और 'यस्त्वात्मरति
' (परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रति-प्रीतिवाला है विषयमें नहीं, और आत्मामें ही तृप्त है अन्न
आदिसे नहीं, आत्मामें ही सन्तुष्ट है बाह्यार्थ लाभसे नहीं उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है) यह
भी है । परन्तु जिसको [तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे मैं ब्रह्म हूँ] यह अनुभव शीघ्र नहीं होता,
के प्रति अनुभवके लिए ही आवृत्तिका स्वीकार है । उसमें भी उसको 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थसे
कर आवृत्तिमें प्रवृत्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि वर नाशके लिए कन्याका विवाह नहीं करते ।
अधिकृत हुआ मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्तव्य है, इस प्रकार नियुक्त पुरुषको ब्रह्मज्ञानसे अवश्य
त ज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु जो स्वयं ही मन्दमति वाक्यार्थके प्रतिभान न होनेसे उसके
करनेकी इच्छा करता हो तो उसको इसी वाक्यार्थमें आवृत्ति आदि वचन [श्रोतव्यः] और
से स्थिर करना स्वीकार है । इसलिए परब्रह्म विषयक ज्ञानमें भी उसके साधनभूत उपदेशोंमें
त्ति सिद्ध होती है ॥ २ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* जिसको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा शीघ्र ज्ञान उत्पन्न नहीं होता उसके
आवृत्ति स्वीकृत है । परन्तु जो 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ ज्ञानमें संलग्न है उसको वहाँसे हटाकर
यो मन्तव्यः' इस प्रकार आवृत्तिमें प्रवृत्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'श्रोतव्यः' आदिकी आवृत्ति
प्रधान 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ ज्ञानके लिए है । यहाँपर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थ ज्ञान प्रधान
और 'श्रोतव्यः' आदि उसके अङ्ग हैं । अङ्गोका ग्रहण प्रधानकी सिद्धिके लिए होता है । इसप्रकार
और निर्गुण साक्षात्कार फलके साधन भूत अहंग्रहोपासना और श्रवण आदिमें आवृत्ति सिद्ध
है ॥२॥

सूत्रार्थ - (आत्मेति) 'आत्मरूपसे परमेश्वरका ग्रहण युक्त है' (तु) क्योंकि (उपगच्छन्ति जाबाल 'त्वं वा अहमस्मि' इसप्रकार स्वीकार करते हैं (च) और (ग्राह्यन्ति) 'एष त आत्मा सर्वान्तर इत्यादि श्रुति आत्मरूपसे ईश्वरका ग्रहण कराती हैं।

* यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा स किमहमिति ग्रहीतव्यः, किं वा मदन्य इत्ये द्विचारयति। कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगात्मविषये श्रूयमाणे संशय इति ? उच्यते,—अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं सति जीवेश्वरयोरभेदसंभव इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते। किं तावत्प्राप्तम् ? नाहमिति ग्राह्यः। न ह्यपहतपाप्मत्वादिगुण विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुं, विपरीतगुणो वाऽपहतपाप्मात्वदिगुणस्वेन। अपहतपाप्म दिगुणश्च परमेश्वरः, तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः। ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्व ईश्वराभावप्रसङ्गः। ततः शास्त्रानर्थक्यम्। संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव, प्रत्यक्षादिविरोधश्च। अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात्कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विष्णवादिदर्शनमिति चेत्, काममेवं भवतु। नतु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वर इत्येतन्नः प्रापयितव्यम्। एव प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। तथा हि—परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाल आत्मत्वेनैवैतमुपगच्छन्ति—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि भगवो देवते इति। तथाऽन्येपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येवमादय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः। ग्राहयन्ति चात्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि—'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१), 'एष त आत्माऽ

जो शात्रोक्त विशेषण विशिष्ट परमात्मा है क्या यह 'मैं हूँ' इसप्रकार ग्रहण करना चाहि अथवा क्या वह 'मुझसे अन्य है' ऐसा ग्रहण करना चाहिए, इसका विचार करते हैं। परन्तु प्रत्यगात्म विषयक आत्मशब्द श्रूयमाण होनेपर पुनः संशय कैसे ? कहते हैं—जीव और ईश्वरका अभेद संभव होनेपर यह आत्मशब्द मुख्यरूपसे स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा यह आत्मशब्द गौण स्वीकार करना चाहिए, ऐसा मानते हैं। तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी–'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपहतपाप्मत्व आदि गुण वाला विपरीत गुणरूपसे ग्रहण नहीं किया ज सकता अथवा विपरीत गुण-पाप आदि विशिष्ट अपहतपाप्मत्व आदि गुणरूपसे ग्रहण नहीं किया ज सकता। अपहतपाप्मत्व आदि गुण विशिष्ट परमेश्वर है और उससे विपरीत गुण विशिष्ट जीवात्मा है ईश्वरमें संसार्यात्मत्व स्वीकार होनेपर ईश्वरका अभाव प्रसङ्ग होगा, उससे शास्त्र अनर्थक होगा। और संसारीमें भी ईश्वरात्मत्व स्वीकार होनेपर अधिकारीके न होनेसे शास्त्र अनर्थक ही होगा। और दोनोंके अभेद पक्षमें प्रत्यक्ष आदिका विरोध भी होता है। यदि ऐसा कहो कि दोनोंका भेद होनेपर भी प्रतिमा आदिमें विष्णु आदि दर्शन (ध्यान) के समान शास्त्र प्रामाण्यसे तादात्म्यदर्शन (अभेद ध्यान) करना चाहिए, तो भले ऐसा हो। परन्तु संसारी जीव मुख्यरूपसे परमात्मा ईश्वर है, ऐसा हमें प्राप्त नहीं कराना चाहिए। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—यह आत्मा ही परमेश्वर समझना चाहिए, क्योंकि परमेश्वरके प्रकरणमें 'त्वं वा अहमस्मि' (हे भगवन् देवता ! तू ही मैं हूँ, और हे भगवन् देवता ! मैं ही तू है) इसप्रकार जाबाल उसे आत्मरूपसे स्वीकार करते हैं। वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि अन्य भी आत्मत्व स्वीकार जानना चाहिए। 'एष त आत्मा० (यह तेरा आत्मा

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्व अधिकरणमें श्रवण आदि साधनोंकी आवृत्ति कही गई है। अब इस अधिकरणमें ध्यानके समय आवृत्ति विषयक विचार किया जाता है। तत्त्वज्ञानके लिए ध्यानकी आवृत्तिके समय 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ध्यान करना चाहिए, अथवा 'मेरा स्वामी ईश्वर है' ऐसा ध्यान करना चाहिए ? इसप्रकार ऐक्य और भेदविषयक प्रमाणके होनेसे 'यः' इत्यादिसे संशय कहते हैं। 'शब्दादेव प्रमितः'

मृतः' (बृ० ३।७।३), 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवमादीनि । प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यतीति, तदयुक्तम् , गौणत्वप्रसङ्गात् , वैरूप्याच्च । यत्र हि प्रतीकदृष्टिरभिप्रेयते, सकृदेव तत्र वचनं भवति । यथा—'मनोब्रह्म' ३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्म' (छा० ३।१९।१) इत्यादि, इह पुनस्त्वमहमस्म्यहं च त्वम-हं, अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्यादभेदप्रतिपत्तिः, भेददृष्ट्यपवादाच्च । तथा हि—'अथ योऽन्यां पास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ० १।४।१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह पश्यति' (बृ० ४।४।१९, कठ० ४।१०), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ ४।५।७) माद्या भूयसी श्रुतिर्भेददर्शनमपवदति । यत्तूक्तं—न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वसंभव नायं दोषः, विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः । यत्पुनरुक्तम्—ईश्वराभावप्रसङ्ग इति, त्, शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च । नहीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपग-

---

है) 'एष त आत्मा० (यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है) 'तत्सत्यं० (वह सत्य आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! वह तू है) इत्यादि वेदान्तवाक्य ईश्वरको आत्मरूपसे ग्रहण कराते यह कहा है कि विष्णुप्रतिमा न्यायसे यह प्रतीक दर्शन होगा, वह अयुक्त है, क्योंकि ऐसा गौणत्व प्रसङ्ग और वाक्यविरूपत्व-विरुद्धत्व होता है । जहाँ प्रतीक दृष्टि अभिप्रेत होती है क ही वार वचन होता है । जैसे कि 'मनो ब्रह्म' (मन ब्रह्म है) 'आदित्यो ब्रह्म' (आदित्य) इत्यादि । परन्तु यहाँ तो 'तू मैं हूँ और मैं तू है' ऐसा कहते हैं । अतः प्रतीक श्रुतिके विरुद्ध अभेद प्रतिपत्ति है, क्योंकि भेद दृष्टिका अपवाद है । जैसे कि 'अथ योऽन्यां० (और जो अन्य 'यह अन्य है और मैं अन्य हूं' इसप्रकार उपासना करता है वह नहीं जानता) 'मृत्योः स०' पुरुष इस अभिन्न तत्त्वमें नाना-भेद देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है) 'सर्वं तं०' बको आत्मासे भिन्न जानता है उसे सब परास्त कर देते हैं—कैवल्य सम्बन्धसे रहित कर देते इत्यादि बहुत-सी श्रुति भेद दर्शनका निषेध करती हैं । और यह कहा गया है कि विरुद्ध गुणवालों और ईश्वर) का अन्योन्यात्मत्व-ऐक्य संभव नहीं है । यह दोष नहीं है, क्योंकि विरुद्ध गुणतामें उपपन्न है । और जो यह कहा गया है कि ईश्वरका अभाव प्रसङ्ग होगा । वह ठीक नहीं है, शास्त्रप्रमाण है और उसे हम स्वीकार नहीं करते । ईश्वरमें संसारी आत्मत्वका प्रतिपादन किया

सत्यानन्दी दीपिका

सू० १।३।२३) इत्यादि सूत्रमें और 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१९) (यह आत्मा ब्रह्म है) श्रुतियोंसे अभेदका प्रतिपादन किया गया है । तो फिर संशय क्यों किया जाता है ? 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि भेद श्रुति और मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी पुण्यी-पापी हूँ और ईश्वरसे भिन्न हूँ प्रत्यक्ष भेद प्रतीतिसे संशय होता है । जीव और ईश्वरका अभेद होनेपर तो जीवमें परमात्म-मुख्यरूपसे उपयुक्त हो सकता है । परन्तु 'द्वा सुपर्णा सयुजा' इत्यादि भेद प्रतिपादक श्रुति 'अप-मा' इत्यादि ईश्वर स्वरूप प्रतिपादक श्रुतियोंके विद्यमान होनेपर अभेद सम्भव नहीं है, इसलिए स्मि' इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुतिवाक्य गौण हैं । यदि दोनोंका अभेद माना जाय तो ईश्वरको प्राप्त होनेपर 'यः सर्वज्ञः सर्ववित' इत्यादि ईश्वर प्रतिपादक शास्त्र निष्फल होगा, और ईश्वरभाव प्राप्त होनेपर अधिकारीके न होनेसे कर्म, उपासना और ज्ञान प्रतिपादक शास्त्र होगा । इसलिए दोनोंका भेद मानना युक्त है । और अभेद प्रतिपादक 'तत्वमसि' आदि ही अभेद ध्यान करना चाहिए । जैसे प्रतिमा आदिमें विष्णु आदिका अभेद बुद्धिसे ध्यान जाता है । अतः जीवको मुख्यरूपसे परमात्मा मानना युक्त नहीं है । पूर्वपक्षमें 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियोंका अभेद अर्थ गौण है, सिद्धान्तमें अभेद अर्थ मुख्य है ॥३॥

च्छामः, किं तर्हि ? संसारिणः संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति। एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिगुणता विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते। यद प्युक्तम्—अधिकार्यभावः प्रत्यक्षादिविरोधश्चेति, तदप्यसत्, प्राक्प्रबोधात्संसारित्वाभ्युपग मात्, तद्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ २।४।१४) इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्यभावं दर्शयति। प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रसङ्ग इति चेत्—न, इष्टत्वात्। 'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४।३।२२) इत्युपक्रम्य 'वेदा अवेदाः' (बृ० ४।३।२२) इति वचनादिष्यत एवास्माभिः श्रुतेरप्यभावः प्रबोधे। कस्य पुनरयमप्रबोध इति चेत्—यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति वदामः। नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्या, यद्येवं प्रति- बुद्धोऽसि, नास्ति कस्यचिदप्रबोधः। योऽपि दोषश्चोद्यते कैश्चित्—अविद्यया किलात्मनः सद्वितीयत्वाददद्वैतानुपपत्तिरिति, सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः। तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत ॥३॥

(३ प्रतीकाधिकरणम् । सू० ४)

न प्रतीके न हि सः ॥४॥

पदच्छेद—न, प्रतीके, नहि, सः।

सूत्रार्थ—(प्रतीके) प्रतीकोंमें (न) आत्मबुद्धि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि (सः) उपासक को व्यस्त प्रतीकोंका आत्मरूपसे आकलन नहीं करना चाहिए।

❀ 'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' (छा० ३।१८।१) तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।१।५) इत्येवमादिषु

जाता है, ऐसा हम स्वीकार नहीं करते, किन्तु संसारी जीवका संसारित्व निरासकर ईश्वरभाव प्रतिपादन करना अभीप्सित है। ऐसा होनेपर अद्वैत ईश्वरका अपहतपाप्मत्व आदि गुणत्व और जीवका विपरीत गुणत्व मिथ्या है, ऐसा व्यवस्थित होता है। जो यह भी कहा गया है कि अधिकारीका अभाव और प्रत्यक्ष आदिका विरोध है। वह भी अयुक्त है, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे पूर्व जीवका संसारी आत्मत्व स्वीकार है और प्रत्यक्ष आदि व्यवहार तद्विषयक है। 'यत्र त्वस्य०' (जहां इसका सब आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसे देखे) इत्यादिसे श्रुति प्रबोध-तत्त्वज्ञान होनेपर प्रत्यक्ष आदिका अभाव दिखलाती है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष आदिके अभाव होनेपर श्रुतिका भी अभाव प्रसङ्ग हो जायगा, तो नहीं, क्योंकि ऐसा हमें इष्ट है। 'अत्र पिताऽपिता भवति' (इस अवस्थामें पिता अपिता हो जाता है) ऐसा आरम्भकर 'वेदा अवेदाः' (वेद अवेद हो जाते हैं) इस वचनसे प्रबोधमें श्रुतिका अभाव हमें भी इष्ट है। यदि कहो कि यह अज्ञान किसका है, तो हम कहते हैं कि तुम पूछते हो वह उस तुम्हारा ही है। परन्तु मैं ईश्वर हूँ ऐसा श्रुतिने कहा है। यदि इसप्रकार प्रतिबुद्ध हुए हो तो किसीका अज्ञान नहीं है। और कुछ लोग जो दोष देते हैं कि अविद्यासे आत्मामें सद्वितीयत्व होनेसे अद्वैतकी अनुपपत्ति है, वह भी इससे प्रत्यख्यात हुआ। इससे आत्मा ही ईश्वर है, उस ईश्वरमें मन लगाना चाहिए ॥३॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीत०' (मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिए, यह अध्यात्म दृष्टि है आकाश ब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिए, यह अधिदैवत है) इसीप्रकार 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः०' (आदित्य ब्रह्म है ऐसा उपदेश है) 'स यो नाम० (वह जो कि नाम ब्रह्म है ऐसी उपासना करता

सत्यानन्दी दीपिका

जैसे पूर्व अधिकरणमें ब्रह्ममें जीवका अभेद होनेसे अहंग्रह कहा गया है, वैसे ही प्रतीक भी ब्रह्मविकार होनेसे जीवसे अभिन्न ब्रह्म है, उससे अभिन्न होनेसे जीवसे अभिन्न हैं। उनमें भी अहंग्रह होना चाहिए। इसप्रकार दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष कहते हैं—पूर्वपक्षमें प्रतीकोपासनाका अहंग्रहोपासना

ोपासनेषु संशयः— किं तेष्वप्यात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति । किं तावत्प्राप्तम् ? तेष्वप्या-
एव युक्तः कर्तुम् । कस्मात् ? ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्म-
त्वाद्ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति । एव प्राप्ते ब्रूमः—न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात् ।
स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत् । यत्पुनः—ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां
ं ततश्चात्मत्वमिति—तदसत्, प्रतीकाभावप्रसङ्गात् । विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादि-
्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति । स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा ?
ब्रह्मण आत्मत्वाद्ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्प्या, कर्तृत्वाद्यनिराकरणात् । कर्तृत्वा-
संसारधर्मनिराकरणे हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः । तदनिराकरणेन चोपासनविधानम् ।
ोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते । नहि रुचकस्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्व-
सुवर्णात्मत्वेनेव तु ब्रह्मात्मत्वेनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम । अतो न प्रतीकेष्वा-
ष्टिः क्रियते ॥४॥

(४ ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् । सू० ५)

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

पदच्छेद—ब्रह्मदृष्टिः, उत्कर्षात् ।

इत्यादि प्रतीकोपासनाओंमें संशय होता है कि क्या उनमें भी आत्मग्रह करना चाहिए अथवा
! तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—उनमें भी आत्मग्रह युक्त ही है, क्योंकि ब्रह्म आत्मरूपसे
में प्रसिद्ध है, प्रतीक भी ब्रह्मके विकार हैं, अतः उनमें ब्रह्मत्व होनेपर आत्मत्वकी उपपत्ति
है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—प्रतीकोंमें आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए,
उपासकको व्यस्त प्रतीकोंका आत्मरूपसे आकलन (ग्रहण) नहीं करना चाहिए, और जो
गया है कि ब्रह्मका विकार होनेसे प्रतीक ब्रह्म हैं उससे आत्मा हैं। वह युक्त नहीं है, क्योंकि
ेनेपर प्रतीकका अभाव प्रसङ्ग होगा । कारण कि विकारके स्वरूपका नाश होनेपर नाम आदि
ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है । नाम आदिके स्वरूपका नाश होनेपर उनमें प्रतीकत्व और
ग्रह कैसे हो सकता है । ब्रह्मके आत्मत्व होनेसे ब्रह्मदृष्टि उपदेशोंमें आत्मदृष्टिकी कल्पना नहीं
चाहिए, क्योंकि कर्तृत्व आदिका निराकरण नहीं किया गया है । कर्तृत्व आदि समस्त संसार
निराकरणसे ही ब्रह्ममें आत्मत्व उपदेश है, और उसके अनिराकरणसे उपासनाका विधान
अतः उपासककी प्रतीकोंके साथ समानता होनेसे प्रेतिकोंमें आत्मग्रह उपपन्न नहीं होता । रुचक
स्तिकोंमें अन्योन्यात्मकत्व नहीं है । जैसे ये दोनों सुवर्णरूपसे एक हैं, वैसे प्रतीक और उपा-
ोनों ब्रह्मरूपसे एक होनेपर प्रतीकका अभाव प्रसङ्ग आ जायगा, ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए
में आत्मदृष्टि नहीं की जाती है ४॥

सत्यानन्दी दीपिका

विशेष नहीं है, इसलिए 'मनो ब्रह्म' (ब्रह्मरूप मन मैं हूँ) 'आदित्यो ब्रह्म' (ब्रह्मरूप आदित्य
इसप्रकार प्रतीकोंमें आत्मरूपसे अहंग्रह करना चाहिए। सिद्धान्ती विकल्प कर पूर्वपक्षका
करते हैं—प्रतीकोंमें यह आत्मा है, ऐसे अनुभवके बलसे अहंग्रह होता है अथवा वस्तुतः
प्रतीक अभिन्न हैं, अतः अहंग्रह होता है। प्रथमपक्ष युक्त नहीं है, इसको 'न हि सः' आदिसे
है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतीक ब्रह्मका विकार होनेसे ब्रह्म है, इससे वह आत्मा
ऐसा होनेसे प्रतीकका अभाव प्रसङ्ग होगा। नाम-रूप विकारका स्वरूपनाश होनेपर उसमें
और आत्मग्रह संभव नहीं हैं। अतः प्रतीकोंमें आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए ॥४॥

सूत्रार्थ—(ब्रह्मदृष्टिः) आदित्य आदि प्रतीकोंमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए, (उत्कर्षात्) क्योंकि ब्रह्मदृष्टि उत्कर्ष है।

* तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्याः, किं ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति । कुतः संशयः ? सामानाधिकरण्ये कारणानवधारणात् । अत्र ब्रह्मशब्दस्यादित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते, आदित्यो ब्रह्म प्राणो ब्रह्म वि दुद्ब्रह्मेत्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात् । न चात्राञ्जसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते, अर्थान्त वचनत्वाद्ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम् । नहि भवति गौरश्व इति सामानाधिकरण्यम् । न प्रकृतिविकारभावाद्ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादिवत्सामानाधिकरण्यं स्यात् नेत्युच्य विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामानाधिकरण्यात्स्यात् । ततश्च प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्, ततश्चोपासनाधिकारो बाध्येत । परिमितविकारोपाद च व्यर्थम् । तस्माद्ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानर इत्यादिवदन्यत्रान्यदृष्ट्यध्यासे सति क्व किंदृ ध्यस्यतामिति संशयः । तत्रानियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्तम् । अथवा

उन्हीं उदाहरणोंमें अन्य संशय होता है कि क्या आदित्य आदि दृष्टिका ब्रह्ममें अध्या होना चाहिए अथवा क्या ब्रह्मदृष्टिका आदित्य आदिमें अध्यास होना चाहिए ? किससे संशय हो है ? इससे कि सामानाधिकरण्यमें कारणका निश्चय नहीं होता। और यहींपर ब्रह्म शब्दका आदि आदि शब्दोंके साथ सामानाधिकरण्य उपलब्ध होता है, क्योंकि 'आदित्यो ब्रह्म०' (आदित्य ब्रह्म है प्राण ब्रह्म है, विद्युत् ब्रह्म है) इत्यादि समान विभक्तिका निर्देश है और यहाँ मुख्य सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता, कारण कि ब्रह्म और आदित्य शब्द भिन्न-भिन्न अर्थके वाचक हैं। 'गौरश्वः' अश्व' इसप्रकार सामानाधिकरण्य नहीं होता। परन्तु मृत्तिका और शराव (सिकोरा) के समान ब्रह्म और आदित्य आदिका प्रकृति-विकारभाव होनेसे सामानाधिकरण्य होना चाहिए ? नहीं, ऐसा कहते हैं—क्योंकि इसप्रकार प्रकृतिके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे विकारका प्रविलय ही होगा, उससे प्रतीकका अभाव प्रसङ्ग आ जायेगा, ऐसा हम कह चुके हैं। और ऐसा माननेपर तो यह [आदित्यो ब्रह्म परमात्मवाक्य होगा, उससे उपासना अधिकारका बाध हो जायगा। परिमित-सीमित विकारका ग्रहण भी व्यर्थ है। इसलिए 'ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानरः' (ब्राह्मण वैश्वानर अग्नि है) इत्यादिके समान अन्योन्य में अन्य दृष्टिका अध्यास होनेपर कहां किस दृष्टिका अध्यास होना चाहिए, ऐसा संशय होता है पूर्वपक्षी—इस विषयमें कोई नियम नहीं है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि नियम करनेवाले शास्त्रका अभाव है। अथवा आदित्य दृष्टि ही ब्रह्ममें करनी चाहिए, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि इसप्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्व अधिकरणमें यह कहा गया कि आदित्य आदि प्रतीकोंका आत्मरूपसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। अब इस अधिकरणमें आदित्य आदि प्रतीकोपासनाओंमें कहाँ किस दृष्टिका अध्यास करना चाहिए, यह विचार किया जाता है। यहाँ संशयका कारण 'आदित्यो ब्रह्म' यह आदित्य और ब्रह्म दोनोंमें समान विभक्तिरूप सामानाधिकरण्य है। और यह समानाधिकरण्य मुख्य नहीं है, क्योंकि दोनोंका भिन्न भिन्न अर्थ है। व्यापक चेतन्यरूप ब्रह्म शब्दका अर्थ है और आकाशस्थ प्रदीप्त तेजोमय मण्डल आदित्य शब्दका अर्थ है। किञ्च यदि 'आदित्यो ब्रह्म' यह ब्रह्म वाचक मानें तो 'सर्वं ब्रह्म' ऐसा कहना होगा। इसलिए यहाँ परिशेषसे अध्यास ही सामानाधिकरण्यका कारण सिद्ध होता है। अध्यासमें निश्चायक न होनेसे संशय होता है कि किसका किसमें अध्यास करना चाहिए। पूर्वपक्षी—'तत्रानियमः' आदिसे कहते हैं। पूर्वपक्षमें विकारदृष्टिसे ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, इससे फलकी सिद्धि होती है, सिद्धान्तमें ब्रह्मदृष्टिसे आदित्य आदिकी उपासना करनी चाहिए।

ादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्तव्या इत्येवं प्राप्तम् । एवं ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति,
ासन च फलवदिति शास्त्रमर्यादा । तस्मान्न ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति । ❀ एवं प्राप्ते
-ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति । कस्मात् ? उत्कर्षात् । एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा
ं, उत्कृष्टदृष्टेष्वध्यासात् । तथा च लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति । उत्कृष्टदृष्टिर्हि
ऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः । यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि । स चानुसर्तव्यः, विपर्यये
ायप्रसङ्गात् । नहि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात् । ननु
ामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गः, न च लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नि-
युक्तेति । अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थ एतदेवं स्यात्, संदिग्धे तु तस्मिंस्तन्निर्णयं
ौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते । तेन चोत्कृष्टदृष्ट्यध्यासे शास्त्रार्थेऽव-
ाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्यन्प्रत्यवेयादिति श्लिष्यते । प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानां मुख्यार्थ-
िरोधाद्ग्रहीतव्यम् । तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ, पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य
ा वृत्त्या सामानाधिकरण्यासंभवाद्ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवावनिष्ठते । इतिपरत्वादपि
ब्दस्यैष एवार्थो न्याय्यः । ❀ तथा हि—'ब्रह्मेत्यादेशः', 'ब्रह्मेत्युपासीत', 'ब्रह्मेत्युपास्ते' इति

य आदि दृष्टिसे ब्रह्म उपासित होता है और ब्रह्मोपासना सप्रयोजन है, ऐसी शास्त्र-मर्यादा है ।
ए ब्रह्मदृष्टि आदित्य आदिमें नहीं है । सिद्धान्ती— ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ब्रह्मदृष्टि
ादित्य आदिमें होनी चाहिए, क्योंकि उत्कर्ष है । इस प्रकार उत्कर्षसे आदित्य आदि दृष्ट होते हैं,
े उत्कृष्ट दृष्टिका उनमें अध्यास है । ऐसे लौकिक न्याय अनुगत होता । उत्कृष्ट दृष्टिका ही
में अध्यास करना चाहिए, यह लौकिक न्याय है । जैसे सारथिमें राजदृष्टि । इस लौकिक न्यायका
ीं अनुसरण करना चाहिए । कारण कि विपर्यय होनेपर प्रत्यवायका प्रसङ्ग है । सारथि दृष्टिसे
ीत होनेसे निकृष्टताको प्राप्त हुआ राजा श्रेयके लिए नहीं होता । परन्तु शास्त्रप्रामाण्यसे यहाँ
ाय प्रसङ्गकी शङ्का नहीं होनी चाहिए और लौकिक न्यायसे शास्त्रीय दृष्टिका नियमन होना युक्त
है ? इसपर कहते हैं—शास्त्रार्थके निर्धारित होनेपर यह ऐसा हो सकता है । परन्तु उसके संदिग्ध
र उसके निर्णयके प्रति आश्रीयमाण लौकिक न्याय भी विरुद्ध नहीं है । इससे उत्कृष्टदृष्टिके
तरूप शास्त्रार्थका निश्चय होनेपर निकृष्टदृष्टिका अध्यास करता हुआ प्रत्यवायको प्राप्त होगा,
ता है । और आदित्य आदि शब्दोंके प्रथम निर्दिष्ट होनेसे वे मुख्यार्थक हैं ऐसा अविरोधसे
करना चाहिए । अपने अर्थमें वृत्तिवाले उन शब्दोंसे बुद्धिके अवरुद्ध होनेपर पश्चात् बुद्धिमें
े हुए ब्रह्म शब्दका मुख्य वृत्तिसे सामानाधिकरण्य संभव न होनेसे ब्रह्मदृष्टि विधानार्थता अवस्थित
है । और 'इति' पर होनेसे भी ब्रह्मशब्दका यही अर्थ उचित है । जैसे कि 'ब्रह्मेत्यादेशः' (आदित्य
है, ऐसा उपदेश है) 'ब्रह्मेत्युपासीत' (ब्रह्म है, ऐसी उपासना करनी चाहिए) 'ब्रह्मेत्युपास्ते'

सत्यानन्दी दीपिका

❀ 'आदित्य आदि दृष्टिसे ब्रह्म उपास्य है अथवा ब्रह्मदृष्टिसे आदित्य आदि उपास्य हैं' इस
हाँ शास्त्रार्थमें सन्देह हो वहाँपर लौकिक न्यायका ग्रहण अयुक्त नहीं है । केवल लौकिक न्याय
अर्थमें हेतु नहीं है, अपितु 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिमें आदित्य आदिका प्रथम प्रतिपादन
के निश्चयमें हेतु है । और यहाँ विरोध न होनेसे आदित्य आदिका मुख्यार्थ ग्रहण करना युक्त है ।
का मुख्यार्थ बुद्धिमें त्वरित नहीं आता, इसलिए ब्रह्म शब्दकी ब्रह्मदृष्टिमें लक्षणा करनी होगी ।
'आदित्य आदि ब्रह्म दृष्टिसे उपास्य हैं, ऐसा वाक्यार्थ है । और 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' ब्रह्म-
'इति' परे होनेसे भी ब्रह्मशब्दका ब्रह्मदृष्टि अर्थ युक्त है ।

❀ यहाँ द्वितीया विभक्तिका श्रवण, 'इति' शब्दपर और उक्त लौकिक न्याय [उत्कृष्ट और निकृष्टके

च सर्वत्रेतिपरं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति, शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दान्। ततश्च यथा शुक्तिकां रज मिति प्रत्येतीत्यत्र, शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति, नतु तत्र रजतमस्ति। एवमत्राप्यादित्यादीन्ब्रह्मेति प्रतीयादि गम्यते। वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिर्देशेनादित्यादीनेवोपास्तिक्रियया व्याप्यमानान्दर्शयति 'स य एतमेव विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ३।१९।४), 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।२।२ 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।४।३) इति च। यत्तूक्तम्—ब्रह्मोपासनमेवात्रादरणीयं फलवत्त्व येति—तदयुक्तम्, उक्तेन न्यायेनादित्यादीनामेवोपास्यत्वावगमात्। फलं त्वतिथ्याद्युपास इव आदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति, सर्वाध्यक्षत्वात्। वर्णितं चैतत्—'फलमत उपपत्ते (ब्र० सू० ३।२।३८) इत्यत्र। ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं, यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोप प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम् ॥५॥

(५ आदित्यादिमत्यधिकरणम् । सू० ६)

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥६॥

पदच्छेद—आदित्यादिमतयः, च, अङ्गे, उपपत्तेः।

सूत्रार्थ—(अङ्गे) उद्गीथ आदि कर्माङ्गोंमें (आदित्यादिमतयः) आदित्य आदि बु कहनी चाहिए, (उपपत्तेश्च) क्योंकि ऐसा होनेसे कर्म समृद्धिरूप फलकी उपपत्ति होती है।

❀ 'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।३।१), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत (छा० २।२।१), 'वाचि सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।८।१), 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१

(ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है) इस प्रकार सर्वत्र 'इति' परक ब्रह्मशब्दका उच्चारण करते और आदित्य आदि शुद्ध शब्दोंका उच्चारण करते हैं। उससे जैसे शुक्तिकाको यह रजत है, ऐसे जानता है। यहाँ शुक्तिका शब्द शुक्तिवाचक है और रजतशब्द तो रजत प्रतीति लक्षणार्थक क्योंकि 'रजत है' यह केवल प्रतीति करता है, वहाँ तो रजत नहीं है। इस प्रकार उदाहरणोंमें आदित्य आदिको यह ब्रह्म है ऐसा जाने, ऐसा ज्ञात होता है। और 'स य एतमेवं०' (वह जो प्रकार जाननेवाला होकर आदित्यकी यह ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है) 'स यो वाचं०' (वह जो वा की ब्रह्मरूपसे उपासना करता है) 'यः संकल्पं०' (जो संकल्पकी ब्रह्म बुद्धिसे उपासना करता है इस प्रकार वाक्यशेष भी द्वितीया विभक्तिके निर्देशसे आदित्य आदिको उपासना क्रिया द्वारा व्याप विषय किए हुए दिखलाता है। और जो यह कहा गया है कि फलवत्त्वके लिए यहाँ ब्रह्मोपासना आदरणीय है; वह अयुक्त है, क्योंकि उक्त न्यायसे आदित्य आदि ही उपास्य अवगत होते हैं। फ तो अतिथि आदिकी उपासनाके समान आदित्य आदि उपासनामें भी ब्रह्म ही देगा, क्योंकि व सर्वाध्यक्ष है। और इसका 'फलमत उपपत्तेः' इससूत्रमें वर्णन किया गया है। यहाँ ब्रह्मका इसप्रकार उपास्यत्व है जो प्रतिमा आदिमें विष्णु आदिके अध्यारोप समान प्रतीकोंमें ब्रह्मदृष्टिका अध्यारोप है ॥५॥

'य एवासौ०' (जो कि यह आदित्य तपता है उसके रूपमें उद्गीथकी उपासना करे अर्थात् आदित्य दृष्टिसे उद्गीथकी उपासना करनी चाहिए) 'लोकेषु०' (पृथिवी आदि लोकोंमें पाँच प्रकार सामकी उपासना करनी चाहिए अर्थात् लोक दृष्टिसे पाँच प्रकार सामकी उपासना करनी चाहिए 'वाचि सप्तविधं०' (वाणी दृष्टिसे सात प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिए) 'इयमेव०' (यह

सत्यानन्दी दीपिका

मध्यमें उत्कृष्ट दृष्टिसे निकृष्ट उपास्य है] से यही सिद्ध होता है कि आदित्य आदि ब्रह्मदृष्टिसे उपास्य है।

❀ आदित्यादि और उद्गीथ आदिमें कौन किस दृष्टिसे उपास्य है, इस अधिकरणमें यह विचार

मादिष्वङ्गावबद्धेषूपासनेषु संशयः—किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्ते, किं थादिष्वेवादित्यादिदृष्टय इति । तत्रानियमः, नियमकारणाभावादिति प्राप्तम् । नह्यत्र इव कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधार्यते । ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपाप्मत्वादि-योगाच्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुम्, न त्वादित्योद्गीथादीनां विकार-शेषात्किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारणमस्ति । ❀ अथवा—नियमेनोद्गीथादिमतय त्यादिष्वध्यस्येरन् । कस्मात् ? कर्मात्मकत्वादुद्गीथादीनां कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः । ादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति । तथा इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्यत्र 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १।६।१) शब्देन पृथिवीं निर्दिशति सामशब्देनाग्निम्, तच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामदृष्टिचिकीर्षा-वकल्पते, न ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षायाम् । क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणाद्राज- उपचर्यते, न राजनि क्षत्तृशब्दः । अपि च 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) धिकरणनिर्देशाल्लोकेषु सामाध्यसितव्यमिति प्रतीयते । 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा०

ी ऋक है और अग्नि साम है) इत्यादि अंगोंसे सम्बन्धित उपासनाओंमें संशय होता है कि आदित्य आदिमें उद्गीथादि दृष्टिका विधान किया जाता है अथवा क्या उद्गीथ आदि दृष्टिका त्य आदिमें विधान किया जाता है ? पूर्वपक्षी—उसमें नियमका कारण न होनेसे अनियम है, प्राप्त होता है । यहां ब्रह्मके समान किसीका उत्कर्ष विशेष निश्चित नहीं किया जाता । ब्रह्म समस्त का कारण और अपहतपाप्मत्वादि गुणयोगसे आदित्य आदिसे उत्कृष्ट है, ऐसा अवधारण किया कता है । परन्तु आदित्य और उद्गीथादिमें विकारत्व समान होनेसे उत्कर्ष विशेष अवधारणमें ई कारण नहीं है । अथवा उद्गीथ आदि बुद्धिका नियमसे आदित्य आदिमें अध्यारोप होना चाहिए, कि उद्गीथ आदि कर्मात्मक हैं और कर्मसे फल प्राप्ति प्रसिद्ध है । उद्गीथ आदि बुद्धिसे उपास्यमान त्य आदि कर्मात्मक होते हुए फलके हेतु होंगे । और इसीप्रकार 'इयमेव०' (यह पृथिवी ही है और अग्नि साम है) इसमें 'तदेतदेतस्या० (वह यह अग्निसंज्ञक साम इस पृथिवीरूप ऋक्में ूढ-ऊपरिभावसे स्थित है) इसप्रकार श्रुति ऋक् शब्दसे पृथिवीका और सामशब्दसे अग्निका श करती है । और वह निर्देश क्रमशः पृथिवी और अग्निमें ऋक् और सामदृष्टि करनेकी छा होनेपर उपपन्न होता है, किन्तु ऋक् और साममें पृथिवीदृष्टि और अग्निदृष्टि करनेकी इच्छा र उपपन्न नहीं होता । सारथिमें राजदृष्टि करनेसे सारथिमें राजशब्द गौणीवृत्तिसे उपचरित ता है, किन्तु राजामें सारथिशब्द उपचरित नहीं होता । और 'लोकेषु०' (लोकोंमें पाँच प्रकारके की उपासना करनी चाहिए) इसप्रकार अधिकरणके निर्देशसे लोकोंमें सामका अध्यास करना ए, ऐसा प्रतीत होता है । 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (यह गायत्रसंज्ञक साम प्राणों में प्रतिष्ठित

सत्यानन्दी दीपिका

या जाता है । यहां पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यु दृष्टिसे क्रमशः हिंकार, प्रस्ताव, थ, प्रतिहार और निधन इस पांच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिए एव हिंकार, प्रस्ताव, थ, प्रतिहार, निधन, आदि और उपद्रव इस सात प्रकारके सामकी वाणी दृष्टिसे उपासना करनी हिए' इत्यादि अंगोंसे सम्बन्धित उपासनाओंमें किसकी किसमें दृष्टि करनी चाहिए, इसका निया- न होनेसे संशय होता है । पूर्वपक्षी 'तत्रानियमः' आदिसे कहते हैं ।

* यहां आदित्यादि सिद्धरूप हैं और उद्गीथ आदि कर्मका अङ्गरूप होनेसे फलवाले हैं, अतः थ आदि आदित्य आदिसे उत्कृष्ट हैं, इसलिए उत्कृष्ट उद्गीथ आदि दृष्टिसे आदित्य आदि उपास्य । और 'इयमेचर्गग्निःसाम' यहां भी पृथिवीमें ऋक्दृष्टि और अग्निमें सामदृष्टिका निर्देश है ।

२।११।१) इति चैतदेवं दर्शयति । प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु चरमनिर्दिष्टं ब्रह्माध्यस्तम्—'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इत्यादिषु । प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकारादयः 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिश्रुतिषु । अतोऽनङ्गेष्वादित्यादिष्वङ्गमतिनिक्षेप इति । ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन् । कुतः उपपत्तेः । उपपद्यते ह्येवमपूर्वसंनिकर्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषूद्गीथादिषु कर्मसमृद्धिः । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं दर्शयति । भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं, स्वतन्त्रफलेषु तु कथम्, 'य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।२।३) इत्यादिषु ? तेष्वप्यधिकृताधिकारात्प्रकृतापूर्वसंनिकर्षेणैव फलकल्पना युक्ता, गोदोहनादिनियमवत् । फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामुद्गीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः । आदित्यादिप्राप्तिलक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिषु । अपि च 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्यादित्यादिमतीर्विदधाति । ❀ यत्तूक्तम्—उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूयं भूत्वा फलं करिष्यन्तीति ।

है) यह श्रुति भी ऐसा ही दिखलाती है । और 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (आदित्य ब्रह्म है, ऐसा उपदेश है) इत्यादि प्रथम निर्दिष्ट आदित्य आदिमें अन्तिम निर्दिष्ट ब्रह्म अध्यस्त है । और 'पृथिवी हिंकारः' (पृथिवी हिंकार है) इत्यादि श्रुतियोंमें पृथिवी आदि प्रथम निर्दिष्ट हैं और हिंकार आदि अन्तिम निर्दिष्ट हैं । इसलिए अनंग आदित्यादिमें अङ्गमतिका निक्षेप है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—आदित्य आदि बुद्धि ही उद्गीथ आदि अङ्गोंमें करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी उपपत्ति होती है । इसप्रकार अपूर्व सन्निकर्षसे आदित्य आदि बुद्धि द्वारा संस्क्रियमाण उद्गीथ आदिमें कर्म समृद्धि उपपन्न होती है । 'यदेव विद्यया० (जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योगसे युक्त होकर करता है वह बलवत्तर होता है) इसप्रकार श्रुति विद्याको कर्म समृद्धिका हेतु दिखलाती है । कर्म समृद्धि फलवाली उपासनाओंमें भले ऐसा (अङ्गोंमें अनङ्ग बुद्धिका अध्यास) हो, परन्तु 'य एतदेवं०' (जो इसे इसप्रकार जाननेवाला पुरुष लोकोंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है उसके लिए ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग्यरूपसे उपस्थित होते हैं) इत्यादि स्वतन्त्र फलवाली उपासनाओंमें अङ्गोंमें अनङ्ग आदित्य आदिका अध्यास कैसे होगा ? उन उपासनाओंमें भी अधिकृतका अधिकार होनेसे प्रकृत अपूर्व सन्निकर्षसे ही गोदोहन आदि नियमके समान फलकी कल्पना युक्त है । आदित्य आदि फलात्मक होनेसे कर्मात्मक उद्गीथ आदिसे उनमें उत्कर्षत्व उपपन्न होता है, क्योंकि आदित्य आदि प्राप्ति रूप कर्मफल श्रुतियोंमें उपदिष्ट है । और 'ओमित्येतदक्षरम०' (ॐ यह अक्षर उद्गीथ है इसकी उपासना करनी चाहिए) 'खल्वेतस्यै०' (निश्चय ही यह सब इस अक्षरका उपव्याख्यान है) इस प्रकार श्रुति उद्गीथका उपास्यरूपसे उपक्रमकर आदित्य आदि बुद्धिका विधान करती है । जो यह कहा

सत्यानन्दी दीपिका

क्योंकि निकृष्टमें ही उत्कृष्ट शब्द उपचरित होता है । जैसे सारथिमें राजशब्द और पूर्वाधिकरणमें दर्शित न्यायसे भी ऐसा ही होता है ।

सिद्धान्ती—अनङ्ग आदित्य आदि दृष्टिसे अङ्गरूप उद्गीथ आदि उपास्य हैं । जैसे प्रोक्षण आदिसे संस्कृत व्रीहि आदि कर्ममें अपूर्वको उत्पन्न करते हैं, वैसे आदित्य आदि बुद्धिसे संस्कृत उद्गीथ आदि कर्ममें अपूर्वके सम्बन्धसे कर्म समृद्धि रूप फल उत्पन्न होता है, क्योंकि संस्कृत अङ्ग कर्म समृद्धि रूप फलके अनुकूल प्रकृत कर्ममें अपूर्व-अदृष्ट उत्पन्न करते हैं ।

* अथवा नियमसे उद्गीथ आदि बुद्धि आदित्य आदिमें करनी चाहिए, अब इस दूसरे पक्षका

कम्, स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः, आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमाना-
थादीनां कर्मात्मकत्वानपायात्। 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १।६।१) इति तु
णिक एव पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगः। लक्षणा च यथासंभवं संनिकृष्टेन विप्र-
वा स्वार्थसंबन्धेन प्रवर्तते। तत्र यद्यप्यृक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षा, तथापि
द्धयोर्ऋक्सामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्यग्न्योश्च संनिधानात्तयोरेवैष ऋक्सामशब्दप्रयोग
सामसंबन्धादिति निश्चीयते। क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्राजानमुपसर्पन्न निवार-
पार्यते। 'इयमेवर्क्' (छा० १।६।१) इति च यथाक्षरन्यासमृच एव पृथिवीत्वमवधार-
। पृथिव्या ऋक्त्वेऽवधार्यमाण इयमृगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात्। 'य एवं विद्वान्साम गायति'
० १।७।७) इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञानमुपसंहरति, न पृथिव्याद्याश्रयम्। तथा 'लोकेषु
विधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इति यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टा लोकाः, तथापि साम्न्येव
ध्यस्येरन्द्वितीयानिर्देशेन साम्न उपास्यत्वावगमात्। सामनि हि लोकेष्वध्यस्यमानेषु साम

है कि उद्गीथ आदि बुद्धिसे उपास्यमान आदित्य आदि कर्मात्मकत्व प्राप्तकर फल करेंगे। वह
है, क्योंकि उपासना कर्म होनेसे स्वयं फलवाली हो सकती है। उसी प्रकार आदित्य आदि
दृश्यमान उद्गीथ आदिका कर्मात्मकत्व नष्ट नहीं होता। 'तदेतदेतस्या०' (वह यह अग्निनामक
पृथ्वीरूप ऋक्के ऊपर स्थित है) यह तो पृथ्वी और अग्निमें ऋक् और साम शब्दोंका प्रयोग
णिक है। लक्षणा यथासंभव संनिकृष्ट अथवा विप्रकृष्ट स्वार्थके साथ सम्बन्ध होनेसे प्रवृत्त होती
उसमें यद्यपि ऋक् और साममें पृथ्वीदृष्टि और अग्निदृष्टि करनेकी इच्छा है, तो भी प्रसिद्ध ऋक्
और सामका भेदसे अनुकीर्तन होनेसे एवं पृथ्वी और अग्निका सनिधान होनेसे ऋक् और साम शब्दोंका
प्रयोग उनमें ही है, ऋक् और सामके सम्बन्धसे ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि सारथि शब्द भी
कारणसे राजानुगामी होता हो तो उसका निवारण नहीं किया जा सकता। 'इयमेवर्क्०' (यही
है) यह श्रुति अक्षरोंके न्यासके अनुसार ऋक्में ही पृथ्वीत्वका अवधारण करती है। यदि
में ही ऋक्त्व होता तो यह ऋक् ही है इस प्रकार अक्षरोंका न्यास होगा। 'य एवं विद्वान्०' (जो
प्रकार जानकर सामका गायन करता है) यह श्रुति अङ्गाश्रय विज्ञानका ही उपसंहार करती है
आदि आश्रय विज्ञानका नहीं। इसप्रकार 'लोकेषु पञ्चविधं० (लोकोंमें पञ्चविध सामकी उपासना
नी चाहिए) इसमें यद्यपि सप्तमी विभक्तिसे लोक निर्दिष्ट हैं तो भी उनका साममें अध्यास होना
ए, क्योंकि द्वितीया विभक्तिके निर्देशसे साम ही उपास्य अवगत होता है। साममें लोकोंके

सत्यानन्दी दीपिका

करण 'यत्तूक्तम्' आदिसे किया जाता है। 'माणवक अग्नि है' जैसे माणवकमें अग्निदृष्टि करनेसे
वकत्व नष्ट नहीं होता, वैसे आदित्य आदि दृष्टिसे दृश्यमान उद्गीथ आदिमें भी कर्मात्मकत्व नष्ट
होता। पूर्वोक्त गौण प्रयोगकी अनुपपत्ति भी नहीं है, क्योंकि यह लाक्षणिक प्रयोग है। 'गंगायां
' यहाँ गङ्गाशब्द वाच्य प्रवाहका सन्निकृष्ट संयोग सम्बन्ध तीरके साथ है, इससे यह सन्निकृष्ट
धरूप लक्षणा है। 'माणवक अग्नि है' यहाँपर अग्नि स्थित शुचित्व, तेजस्त्व आदि गुणवत्त्व
रा सम्बन्धसे माणवकमें देखा जाता है, यह विप्रकृष्ट सम्बन्धरूप लक्षणा है। वैसे यहाँ ऋक् और
में पृथ्वीदृष्टि और अग्निदृष्टिके पक्षमें भी ऋक् और सामपदसे अपने वाच्यार्थमें द्रष्टव्यता नामक
रासे पृथ्वी और अग्नि अर्थमें लक्षणा युक्त है। इसलिए 'इयमेवर्गग्निः सामः' इसप्रकार पृथ्वी और
में ऋक् और सामशब्दका प्रयोग गौण है, इसलिए यहाँ ऋक्की पृथ्वी दृष्टिसे और सामकी अग्नि-
से उपासना है। इसीप्रकार 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' यहाँ सप्तमीका तृतीयार्थ करना चाहिए
त्मना पञ्चविधं सामोपासीत' लोकदृष्टिसे पाँच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिए।

लोकात्मनोपासितं भवति । अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः । एतेन 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।११।१) इत्यादि व्याख्यातम् । ❁ यत्रापि तुल्यो द्वितीयानिर्देशः— 'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।९।१) इति, तत्रापि 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' (छा० २।१।१) 'इति तु पञ्चविधस्य' (छा० २।७।२) 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २।८।१) इति च साम्न एवोपास्यत्वोपक्रमात्तस्मिन्नेवादित्याद्यध्यासः, एतस्मादेव च साम्न उपास्यत्वावगमात् 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारादिष्वेव पृथिव्यादिदृष्टिः । तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्निति सिद्धम् ॥६॥

(६ आसीनाधिकरणम् । सू० ७-१०)

आसीनः संभवात् ॥७॥

पदच्छेद—आसीनः, संभवात् ।

सूत्रार्थ—(आसीनः) बैठकर ही उपासना करनी चाहिए, (संभवात्) क्योंकि इसप्रकार उसका संभव है ।

❁ कर्माङ्गसंबद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वान्नासनादिचिन्ता, नापि सम्यग्दर्शने, वस्तुतन्त्रत्वाद्विज्ञानस्य । इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्तेतोत नियमेनासीन एवेति चिन्तयति । तत्र मानसत्वादुपासनस्यानियमः शरीरस्थितेरिति । एवं

अध्यस्यमान होनेपर साम लोकरूपसे उपासित होता है, नहीं तो लोक सामरूपसे उपासित होंगे। इससे—लोकरूपसे सामकी उपासना होनेसे 'एतद्गायत्रं० (यह गायत्र साम प्राणोंमें प्रतिष्ठित है - गायत्र साम प्राणरूपसे उपासित है) इत्यादिका भी व्याख्यान हुआ। और जहाँ भी 'अथ खल्वमुमादित्यं०' (अब उस आदित्यके रूपमें सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिए) इसप्रकार द्वितीयाका निर्देश तुल्य हो, वहाँ भी 'समस्तस्य० (समस्त सामकी उपासना श्रेष्ठ है) 'इति तु पञ्चविधस्य० (यहाँ पाँच प्रकारकी सामोपासनाका निरूण है) 'अथ सप्तविधस्य० (अब सात प्रकारके सामका) इस प्रकार सामका ही उपास्यरूपसे उपक्रम होनेसे उसीमें आदित्यादिका अध्यास है। क्योंकि इसीसे साम उपास्य अवगत होता है, 'पृथ्वी हिंकारः' इत्यादि निर्देशके विपर्यय होनेपर भी हिंकार आदिमें ही पृथ्वी आदि दृष्टि है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अनङ्गाश्रय आदित्यादि बुद्धि उद्गीथ आदि अङ्गोंमें करनी चाहिए ॥ ६ ॥

कर्माङ्गोंके साथ सम्बद्ध उपासनाएँ कर्मके अधीन हैं, अतः उनमें आसन आदिका विचार नहीं है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शनमें भी यह विचार नहीं है, क्योंकि ज्ञान वस्तुके अधीन है। परन्तु अन्य उपासनाओंमें क्या अनियमसे खड़ा होकर, बैठकर अथवा सोता हुआ प्रवृत्त होता है अथवा नियमसे बैठकर ही, ऐसा विचार करते हैं। परन्तु उसमें उपासनाके मानसिक होनेसे शरीर स्थितिका अनियम

सत्यानन्दी दीपिका

* यद्यपि हिंकारके उद्देश्यसे पृथिवी दृष्टिका विधान है इससे उद्देश्यका 'हिंकारः पृथिवी' इसप्रकार प्रथम प्रयोग होना चाहिए, किन्तु यहां 'पृथिवी हिंकारः' ऐसा विपर्यय निर्देश है, तो भी उक्त न्यायके बलसे 'समस्त सामकी उपासना श्रेष्ठ है अथवा उत्कर्ष दृष्टिसे निकृष्ट उपास्य है' व्यत्यय ग्राह्य है। अतः पृथिवी आदि दृष्टि हिंकार आदिमें करनी चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि अनङ्ग (सिद्धरूप) आदित्य आदि दृष्टिसे अङ्गभूत उद्गीथ आदि उपास्य हैं ॥ ६ ॥

* पूर्व अधिकरणमें आसन नियमकी अपेक्षा रहित अङ्गाश्रित उपासनाओंका अनुष्ठान प्रकार कहा गया है। वैसे अङ्ग अनाश्रित उपासनाओंमें भी अनियम होना चाहिए। इसप्रकार दृष्टान्त संगतिसे 'तत्र' आदिसे पूर्वपक्ष है ॥ ७ ॥

ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति । कुतः ? संभवात् । उपासनं नाम समानप्रत्यय-
हकरणम्, नच तद्गच्छतो धावतो वा संभवति, गत्यादीनां चित्तविक्षेपकत्वात् । तिष्ठतोऽ-
देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति । शयानस्याप्यकस्मादेव निद्रया-
भूयेत । आसीनस्य त्वेवंजातीयको भूयान्दोषः सुपरिहर इति संभवति तस्योपासनम् ॥७॥

ध्यानाच्च ॥८॥

पदच्छेद—ध्यानात्, च ।

सूत्रार्थ—और उपासना ध्यानरूप होनेसे बैठकर ही करनी चाहिए ।

* अपि च ध्यायत्यर्थ एषः, यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम् । ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्ग-
षु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते ध्यायति बको ध्यायति प्रोषित-
धुरिति । आसीनश्चानायासो भवति । तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम् ॥८॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥९॥

पदच्छेद—अचलत्वम्, च, अपेक्ष्य ।

सूत्रार्थ—(अचलत्वं च) और 'ध्यायतीव पृथिवी' इत्यादिमें पृथिवी आदिकी अचलताकी
पेक्ष्य) अपेक्षाकर ध्यान शब्द उपचरित होता है ।

अपि च 'ध्यायतीव पृथिवी' (छा० ७।६।१) इत्यत्र पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवापेक्ष्य
यतिवादो भवति, तच्च लिङ्गमुपासनस्यासीनकर्मत्वे ॥९॥

स्मरन्ति च ॥१०॥

पदच्छेद—स्मरन्ति, च ।

सूत्रार्थ—और 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' इसप्रकार शिष्टपुरुष आसनका उपासनाके लिए स्मृति
प्रतिपादन करते हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—बैठकर ही उपासना करनी चाहिए, क्योंकि इसप्रकार
व है । एक प्रकारकी वृत्तिका प्रवाह करना उपासना है । उसका चलते अथवा दौड़ते हुए पुरुष
ंभव नहीं है, क्योंकि गति आदि चित्तके विक्षेप करनेवाले हैं । खड़े होनेवाले पुरुषका देह
णमें व्यापृत हुआ मन सूक्ष्म वस्तुके निरीक्षण करनेमें समर्थ नहीं होता । शयन किए हुए का
भी अकस्मात् ही निद्रासे अभिभूत हो जाता है । किन्तु बैठे हुएके इसप्रकारके बहुत-से दोषोंका
हार हो जाता है, इसलिए उसकी उपासना संभव है ॥ ७ ॥

जो एक समान वृत्तिका ही प्रवाह करना है वही 'ध्यायति' (ध्यै धातु) का अर्थ है । और
यति' शब्द प्रशिथिल अङ्ग चेष्टावालों, प्रतिष्ठित दृष्टिवालों और एक विषयमें आक्षिप्त चित्तवालोंमें
चरित होता हुआ देखा जाता है । जैसे कि बगुला ध्यान करता है, परदेशमें गए हुए बन्धुका
मित्र ध्यान करता है । बैठा हुआ पुरुष आयास रहित होता है । इससे भी उपासना बैठे हुए
का कर्म है ॥ ८ ॥

और 'ध्यायतीव पृथिवी' (पृथिवी मानो ध्यान करती है) यहांपर पृथिवी आदिमें अचलताकी
क्षाकर 'ध्यायति' शब्दका प्रयोग होता है । वह उपासना बैठे हुए का कर्म है इसमें लिंग है ॥९॥

सत्यानन्दी दीपिका

* तैलधाराके समान विजातीय प्रवाहसे रहित एकाकार चित्तकी अवस्थाको ध्यान कहा जाता
। इसप्रकार बाह्य हस्त, पाद आदि अङ्गोंकी चेष्टासे रहित एक विषयमें ही स्थिर चित्तवालेमें 'ध्यायति'
का प्रयोग होता है । अतः उपासना मानसिक कर्म होनेसे बैठ कर ही करनी चाहिए ॥ ८ ॥

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनासनम्—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी० ६।११) इत्यादिना। अत एव पद्मकादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥१०॥

(७ एकाग्रताधिकरणम् । सू० ११)

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

पदच्छेद—यत्र, एकाग्रता, तत्र, अविशेषात् !

सूत्रार्थ—(यत्र) जिस देश और कालमें (एकाग्रता) मनकी एकाग्रता-स्थिरतासे (तत्र) उस देश आदिमें उपासना करनी चाहिए, (अविशेषात्) क्योंकि श्रुतिमें देश विशेषका श्रवण नहीं है।

* दिग्देशकालेषु संशयः—किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति वेति। प्रायेण वैदिकेष्वारम्भेषु दिगादिनियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः। यत्रैवास्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत, प्राचीदिक्पूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात्, एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात्। ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोनुकूले नतु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' (श्वे० २।१०) इति यथेति उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः। सति त्वेतस्मिंस्तद्गतेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भूत्वाऽऽचार्य आचष्टे। 'मनोनुकूले' इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति ॥११॥

'शुचौ देशे०' (पवित्र देशमें अपना स्थिर आसन स्थापित कर) इत्यादि स्मृति वचनसे शिष्ट पुरुष उपासनाके अङ्गरूपसे आसनका प्रतिपादन करते हैं। अतएव पद्म आदि आसन-विशेषों योगशास्त्रमें उपदेश है ॥ १० ॥

दिशा, देश और काल इनके विषयमें क्या कोई नियम है अथवा नहीं, ऐसा संशय होता है। वैदिक आरम्भोंमें प्रायः दिशा आदिका नियम देखा जाता है। अतः यहां भी कोई नियम हो, ऐसा जिसका विचार हो उसके प्रति कहते हैं–दिशा, देश और कालमें अर्थलक्षण-प्रयोजनात्मक ही नियम है। जिस दिशा, देश अथवा कालमें इस उपासकके मनकी सहजमें एकाग्रता हो वहींपर उपासना करनी चाहिए, क्योंकि पूर्वदिशा, पूर्वाह्ण आदिके समान यहां विशेषका श्रवण नहीं है। कारण कि एकाग्रता सर्वत्र समान है। परन्तु 'समे शुचौ'० (समतल, पवित्र, सूक्ष्म पाषाण, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल-पनघट और आश्रय-जनसाधारणका निवास आदिसे भी शून्य, मनके अनुकूल एवं नेत्रोंको पीड़ा पहुँचानेवाले मच्छक आदिसे वर्जित, गुहा-एकान्त आदि वायुवर्जित स्थानमें बैठकर मनको परमात्मामें नियुक्त करना चाहिए) इसप्रकार कुछ लोग विशेष भी कहते हैं। जैसे यह देश विशेषका नियम है, वैसे काल विशेषका भी है। इसपर कहते हैं ठीक, इस प्रकारका नियम है। परन्तु ऐसे नियमके होनेपर भी तद्गत विशेषोंमें नियम नहीं है। इसप्रकार सुहृद होकर आचार्य कहते हैं। 'मनोऽनुकूले' यह श्रुति जहां एकाग्रता हो वहांपर ही यही दिखलाती है ।११

सत्यानन्दी दीपिका

* मनकी एकाग्रतामें दिशा आदि नियमका विचार किया जाता है। पूर्वपक्षी—नियम होना चाहिए, क्योंकि 'ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि' (पूर्वदिशामें ब्रह्मयज्ञ करे) 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' (पूर्व दिशामें क्रमशः निम्न स्थलमें वैश्वदेव यज्ञ करे) 'अथ यदपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' (अपराह्णमें पिण्डपितृयज्ञ करे) इन श्रुतियोंमें जैसे क्रमशः ब्रह्मयज्ञ, वैश्वदेव और पिण्डपितृयज्ञमें पूर्वदिशा, निम्नदेश और अपराह्ण कालका विशेषरूपसे नियम देखा जाता है, वैसे इन उपासनाओंमें भी पूर्वदिशा, तीर्थ आदि देश, प्रदोष आदि कालका नियम होना चाहिए। सिद्धान्ती—ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि यहां मनकी एकाग्रता ही प्रयोजन है ॥११॥

(८ आ प्रायणाधिकरणम् । सू० १२)

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

पदच्छेद—आ, प्रायणात्, तत्र, अपि, हि, दृष्टम्।

सूत्रार्थ—(आप्रायणात्) मरणपर्यन्त प्रत्यय-उपासनाकी आवृत्ति करनी चाहिए, (हि) (तत्रापि) मरणकालमें भी 'स यावत्क्रतु०' इत्यादि श्रुतिमें भी (दृष्टम्) ऐसा ही देखा गया है।

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वादर्तव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे। तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्श- न्युपासनानि तान्यवघातादिवत्कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम्। नहि दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तर किंचिच्छासितुं शक्यम्, अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः स्याविषयत्वात्। यानि पुनरभ्युदयफलानि तेष्वेषा चिन्ता किं कियन्तंचित्कालं प्रत्यय- र्त्योपरमेदुत यावज्जीवमावर्तयेदिति। किं तावत्प्राप्तम्? कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमभ्य- सृजेदावृत्तिविशिष्टस्योपासनाशब्दार्थस्य कृतत्वादिति। * एवं प्राप्ते ब्रूमः—आ प्रायणा- वर्तयेत्प्रत्ययम्, अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफलप्राप्तेः। कर्माण्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्यं फल- भमाणानि तदनुरूपं भावनाविज्ञानं प्रायणकाल आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञान- न्ववक्रामति', 'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति', 'प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं ' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः, तृणजलूकानिदर्शनाच्च। प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा

सब उपासनाओंमें आवृत्ति आदरणीय है, ऐसा आद्य अधिकरणमें निश्चय किया गया है। जो तत्त्वज्ञानके लिए उपासनाएँ हैं वे अवघात आदिके समान कार्य पर्यवसायी-कार्य निष्पत्ति हैं। उन उपासनाओंकी आवृत्तिका परिमाण ज्ञात है। सम्यग्दर्शन रूप कार्यके निष्पन्न होनेपर अन्य यत्नका शासन-उपदेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनियोज्य ब्रह्मात्मत्व प्रतिपत्ति विषय नहीं है। परन्तु जो अभ्युदय फलवाली हैं उनमें यह विचार होता है कि कितने समय त्ययका आवृत्तिकर उपराम होना चाहिए अथवा जीवन पर्यन्त आवृत्ति होनी चाहिए। तब क्या होता है? पूर्वपक्षी—कुछ कालतक प्रत्ययकी आवृत्ति कर छोड़ देना चाहिए, क्योंकि आवृत्ति उपासना शब्दका अर्थ गतार्थ हो जाता है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं— र्यन्त प्रत्ययोंकी आवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि अन्तिम प्रत्यय-वृत्तिके बलसे अदृष्ट फलकी प्राप्ति है। क्योंकि 'सविज्ञानो भवति० (भावनामय विज्ञानसे-फलके स्फुरणसे युक्त होता है वह न सहित फलका ही अनुगमन करता है।) 'यच्चित्तस्तेनैष० (मरणकालमें जैसा चित्तवाला है उसी चित्त-संकल्पसे इन्द्रियोंके साथ मुख्य प्राणवृत्तिको प्राप्त होता है, वह प्राण तेज-उदानसे ति होकर जीवात्माके साथ संकल्प किये हुएके अनुसार उस लोकको ले जाता है) इत्यादि से और तृणजलूकाके दृष्टान्तसे यह ज्ञात होता है कि अन्य जन्ममें उपभोगके योग्य फलको करनेवाले कर्म उसके अनुरूप भावना विज्ञानका मरण कालमें आक्षेप करते हैं। और ये तो स्वरूप अनुवृत्तिको छोड़कर मरणकालमें किस अन्य भाविभावना विज्ञानकी अपेक्षा करें?

सत्यानन्दी दीपिका

* पूर्वपक्षी—जैसे कर्म अदृष्ट द्वारा फल विज्ञानमें कारण होते हैं, वैसे उपासनाएं भी अदृष्ट अन्तिम फल विज्ञानमें कारण होंगी? इससे मरणपर्यन्त उनकी आवृत्तिका क्या प्रयोजन है? न्ती—ये प्रत्यय अपने सजातीय प्रत्ययोंकी अनुवृत्तिको छोड़कर मरणकालमें किसी अन्य भावि-भावना विज्ञानका आक्षेप नहीं करेंगे, क्योंकि सजातीय प्रत्ययोंकी धारावाहिक अनु- ही तो उपासना है। उन प्रत्ययोंकी स्वरूपतः अनुवृत्ति ही अन्तिम विज्ञान भावना है। कोई

किमन्यत्प्रायणकालभावि भावनाविज्ञानमपेक्षेरन् । तस्माद्ये प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मका प्रत्ययास्तेष्वाप्रायणादावृत्तिः । तथा च श्रुतिः—'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' इति प्रायणकालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति । स्मृतिरपि—'यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' (गी० ८।६) इति, 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' (गी० ८।१ इति च । 'सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत' इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति ।१

(९ तदधिगमाधिकरणम् । सू० १३)

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

पदच्छेद—तदधिगमे, उत्तरपूर्वाघयोः, अश्लेषविनाशौ, तद्व्यपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(तदधिगमे) ब्रह्मज्ञान होनेपर (उत्तरपूर्वाघयोः) उत्तर और पूर्व पापोंक (अश्लेषविनाशौ) अश्लेष और विनाश होता है, (तद्व्यपदेशात्) क्योंकि 'यथा पुष्करपलाश इत्यादि श्रुतिमें उसका व्यपदेश है ।

❀ गतस्तृतीयशेषः । अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रतायते । ब्रह्माधिगमे सति तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते, न क्षीयते वेति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? फलार्थत्वात्कर्मणः फलमदत्त्वा न संभाव्यते क्षयः । फलदायिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता । यदि तदन्तरेणैव फलोपभोगमपवृज्येत, श्रुतिः कदर्थिता स्यात् । स्मरन्ति च—'नहि कर्म क्षीयते

इसलिए प्राप्त करनेयोग्य फलके अनुरूप भावनात्मक जो प्रत्यय है उनकी मरण पर्यन्त आवृत्ति है और इसप्रकार 'स यावत्क्रतु०' (वह जैसे संकल्प विशेष वाला इस शरीररूपी लोकसे प्रयाण करता है) यह श्रुति प्रायणकालमें भी प्रत्ययकी अनुवृत्ति दिखलाती है । और 'यं यं वाऽपि०' (हे कुन्ति पुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, सदा उसी भावसे भावित होकर उस-उसको ही प्राप्त होता है) 'प्रयाणकाले०' (मरणकालमें अचल मनसे) ऐसी स्मृति भी है । और 'सोऽन्तवेलायाम०' (वह उपासक अन्त समयमें 'अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि' इन तीन मन्त्रोंको स्मरण करे) इसप्रकार यह श्रुति मरणकालमें भी कर्तव्यशेषका स्मरण कराती है ॥ १२ ॥

तृतीय अध्यायका शेष भाग समाप्त हुआ । अब ब्रह्मविद्याके फलका विचार किया जाता है ब्रह्मज्ञान होनेपर उससे विपरीत (बन्ध) फलवाला पाप क्षय होता है अथवा क्षय नहीं होता, ऐसा संशय होता है । तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—कर्म फलार्थक होनेसे फल दिए विना उसका क्षय नहीं हो सकता, क्योंकि फल देनेवाली उसकी शक्ति श्रुतिसे समधिगत होती है । यदि कर्म फलोपभोगके विना ही क्षय हो, तो फल बोधक श्रुति बाधित हो जायगी । और 'न हि कर्म क्षीयते

सत्यानन्दी दीपिका

अदृष्ट द्वारक अन्य अपेक्षित नहीं है, क्योंकि सभी भाव समान जातीय भावोंकी द्वाररूपसे अपेक्षा नहीं करते हैं । इसलिए उपासना प्रत्यय भी अन्य-विजातीय प्रत्ययकी अपेक्षा नहीं करेगा । कर्म तो दृष्ट द्वारा अन्तिम विज्ञानरूप फलमें कारण नहीं हो सकते, इसलिए अगत्या उनका द्वारीभूत अदृष्ट कल्पना करना पड़ता है । इसलिए उपासकको मरणपर्यन्त प्रत्ययोंकी आवृत्ति करनी चाहिए ॥ १२ ॥

❀ पूर्व अधिकरणमें जैसे उपासकको मरणपर्यन्त उपासनाकी आवृत्ति कर्तव्य कही गई है, वैसे ब्रह्मवेत्ताओंके लिए नहीं है । इसप्रकार प्रत्युदाहरण संगतिसे शङ्का कर कर्मक्षयरूप जीवन्मुक्तिको कहते हैं—ज्ञानके साधनोंमें अधिक यत्न करना चाहिए, इसलिए इस फलाध्यायमें अब तक उनका विचार किया गया है । अब फलाध्यायके उपयुक्त फल सम्बन्धी विचार किया जाता है—'अवश्यमेव भोक्तव्यं

।नन्वेवं सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति, नैष दोषः, प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वो-
र्गृहदाहेष्ट्यादिवत्। अपि च प्रायशिचत्तानां दोषसंयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणा-
नन्वेवं ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति। नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्या-
भोक्तव्यत्वादनिर्मोक्षः स्यात्। नेत्युच्यते। देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भ-
ति। तस्मान्न ब्रह्माधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे
त्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवत, उत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः। कस्मात्? तद्व्य-
शात्। तथा हि—ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्यागामिनो दुरितस्यानभिसं-
विदुषो व्यपदिशति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'
० ४।१४।३) इति। तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—'तद्यथेषीका-
ग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) इति। अयमपरः कर्मक्षय-
देशो भवति—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे

क्षय नहीं होता) इस प्रकार स्मृतिकार भी कहते हैं। परन्तु ऐसा होनेपर प्रायश्चित्तका उपदेश
र्थक हो जायगा? यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रायश्चितोंको गृहदाहेष्टि आदिके समान नैमित्तिकत्व
होता है। और दोषके संयोगसे प्रायश्चित्तोंका विधान होनेसे दोष नाश प्रयोजनवत्ता उनमें भले
परन्तु इस प्रकार ब्रह्मविद्यामें विधान नहीं है। परन्तु ब्रह्मज्ञानीके कर्मका क्षय स्वीकार न करनेपर
का फल अवश्य भोक्तव्य होनेसे मोक्ष नहीं होगा। नहीं, ऐसा कहते हैं—देश, काल और निमित्त
अपेक्षा करनेवाला मोक्ष कर्म फलके समान होगा। इससे तो ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर भी पापकी निवृत्ति
हीं होती। ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'तदधिगमे' ब्रह्मज्ञान होनेपर उत्तर और पूर्व पापोंका
लेष और विनाश होता है। उत्तर—देह धारणकर किए जानेवाले पापोंका अश्लेष और पूर्व
ोंका विनाश होता है, क्योंकि उसका व्यपदेश है। जैसे कि 'यथा पुष्करपलाश०' (जैसे कमलका
जलसे सम्बन्धित नहीं होता, वैसे 'एवंवित' 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाननेवाले विद्वान्को पापका
न्ध नहीं होता) यह श्रुति ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें संभाव्यमान सम्बन्धवाले आगामी पापके सम्बन्ध
अभाव विद्वान्के लिए कहती है। इसी प्रकार 'तद्यथेषीका० (जिस प्रकार सींकका अग्रभाग अग्निमें
क्षिप्त करनेसे तत्काल जल जाता है, इसी प्रकार इस विद्वान्के सब पाप दग्ध हो जाते हैं) यह श्रुति

सत्यानन्दी दीपिका

कर्म शुभाशुभम्' (पुण्य अथवा पापकर्म अवश्य ही भोक्तव्य है) और 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'
ब्रह्मवित्के समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं) इस प्रकार शास्त्र द्वारा विरोध उपस्थित होनेपर सन्देह
ता है कि ब्रह्मज्ञान होनेपर कर्मका क्षय होता है कि नहीं? पूर्वपक्षी—कर्म फलवाला होता है।
योंकि 'मा हिंस्यात्सर्वाभूतानि' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निषेध श्रुतिसे ज्ञात होता है कि पाप
में फल देनेकी शक्ति है। और 'नाभुक्तं क्षीयते' यह स्मृति वाक्य भी है। अतः कर्म फलोपभोगके
ना ज्ञानसे नष्ट नहीं होता, अन्यथा फल श्रुति बाधित होगी। सि०—परन्तु 'ब्रह्महा द्वादशिकवार्षिकं
रेत्' इत्यादि प्रायश्चित्त विधायक शास्त्र निष्फल होगा? पू०—जैसे आहिताग्निद्वारा गृहदाह निमित्तको
कर आहिताग्नि पुरुष 'अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत' (क्षामवति अग्निके लिए अष्ट-
पालवाले पुरोडाशका होम करना चाहिए) इस प्रकार क्षामवति इष्टिका विधान है, वैसे दोषके
मित्त मात्रसे प्रायश्चित्तका विधान है। सि०—तो भी 'दोषवान् प्रायश्चित्तं कुर्यात' (दोष युक्त व्यक्ति
यश्चित्त करे) और 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' (जो अश्वमेध याग करता है वह ब्रह्महत्यासे
क्त हो जाता है) इस प्रकार प्रायश्चित्तसे पाप निवृत्तिके श्रवणसे प्रायश्चित्त कर्मको नैमित्तिक कहना
संगत है। पू०—'अपि च' आदिसे कहते हैं।

परावरे' (मु० २।२।८) इति। यदुक्तम्—अनुपभुक्तफलस्य कर्मणः क्षयकल्पनायां शास्त्र कदर्थितं स्यादिति—नैष दोषः, नहि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे, विद्यत एव सा, सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः। शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्रं व्याप्रियते, न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि। * 'नहि कर्म क्षीयते' इत्येतदपि स्मरणमौ त्सर्गिकं न भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति। इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना तस्य क्षयः- सर्वं पाप्मानं तरति', 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' 'य उ चैनमेव वेद' इत्यादिश्रुतिस्मृ- तिभ्यः। यत्तूक्तम्-नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति-तदसत्, दोषसंयोगेन चोद्य- मानानामेषां दोषनिर्घातफलसंभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्तेः। यत्पुनरेतदुक्तम्-न प्रायश्चित्त- वद्दोषक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति-अत्र ब्रूमः-सगुणासु तावद्विद्यासु विद्यत एव विधानम्। तासु च वाक्यशेष ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते। तयोश्चाविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते। निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति, तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्कर्मप्रदाहसिद्धिः। अश्लेष इति चागामिषु

पूर्वोपचित-पूर्व सञ्चित पापका विनाश भी कहती है। और 'भिद्यते हृदयग्रन्थि०' (उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर इस जीवकी हृदय ग्रन्थि टूट जाती है, सम्पूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं) यह दूसरा कर्मक्षयका व्यपदेश है। और यह जो कहा गया है कि अभुक्त फलवाले कर्मके क्षयकी कल्पना होनेपर फल बोधक शास्त्र बाधित होगा। यह दोष नहीं है, क्योंकि हम कर्मकी फल देनेवाली शक्तिकी अवहेलना नहीं करते, वह भले विद्यमान हो, परन्तु वह विद्या आदि अन्य कारणसे प्रतिबद्ध होती है, केवल हम ऐसा कहते हैं। कर्ममें फलदायक शक्तिके सद्भावमात्रमें शास्त्रका व्यापार है न कि शक्तिके प्रतिबन्ध और अप्रतिबन्धमें भी। 'न हि कर्म क्षीयते० (कर्म क्षय नहीं होता) यह स्मृति भी औत्सर्गिक-सामान्य नियमरूप है। कर्म भोगके लिए है, अतः भोगके बिना कर्म क्षय नहीं होता, क्योंकि 'सर्वं पाप्मानं तरति' (सम्पूर्ण पापोंको तैरता है) 'तरति ब्रह्महत्यां०' (जो अश्वमेध यज्ञ करता है और जो इसे इस प्रकार जानता है वह ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है) इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे प्रायश्चित्त आदि द्वारा दुरितका क्षय इष्ट ही है। जो यह कहा गया है कि प्रायश्चित्त नैमित्तिक होंगे। वह ठीक नहीं है, क्योंकि दोषके सम्बन्धसे शास्त्र द्वारा विहित इन प्रायश्चित्तों का दोष नाशरूप फलके संभव होनेपर अन्य फलकी कल्पना अनुपपन्न है। और जो पुनः यह कहा गया है कि प्रायश्चित्तके समान दोषक्षयके उद्देश्यसे विद्याका विधान नहीं है। उसपर हम कहते हैं— सगुण विद्याओंमें तो विधान विद्यमान ही है, क्योंकि उन सगुण विद्याओंके वाक्यशेषमें विद्यावान्की ऐश्वर्यप्राप्ति और पापनिवृत्ति कही जाती है। और उन दोनोंकी अविवक्षाका कारण नहीं है, अतः पाप क्षय पूर्वक ऐश्वर्य प्राप्ति उनका फल है, ऐसा निश्चय किया जाता है। निर्गुण विद्यामें तो यद्यपि

सत्यानन्दी दीपिका

* 'न हि क्षीयते कर्म' यह सामान्य शास्त्र 'सर्वं पाप्मानं तरति० 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि०' इत्यादि विशेष शास्त्रसे बाधित हो जाता है। यद्यपि ऐश्वर्यप्राप्ति और पापनिवृत्तिका विधान सगुणविद्या के समान निर्गुणविद्यामें दोष निवृत्तिका स्पष्ट विधान नहीं है, तो भी विद्यात्व दोनोंमें समान होनेसे निर्गुणविद्यामें भी पापनिवृत्तिरूप फल मानना युक्त है, क्योंकि कर्तृत्व आदि अभिमान पाप आदि कर्मका कारण है। ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर तत्कृत कर्तृत्व आदिकी निवृत्तिसे तदाश्रित पापकर्मका क्षय भी हो जाता है। इसविषयमें 'ज्ञानिनः सर्वपापानि शीर्यन्ते नात्र संशयः। क्रीडन्नपि न श्लिश्येत पापैर्नानाविधैरपि ॥' (ज्ञानसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, इस विषयमें संशय नहीं है। ज्ञानी संसारमें क्रीडा करता हुआ भी नानाप्रकारके पापोंसे लिप्त नहीं होता) यह स्मृति प्रमाण भी है।

कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति दर्शयति । ❀ अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञा- र्तृत्वं प्रतिपेद इव, तथापि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि प्रविलीयन्त इत्याह—ाश इति । पूर्वसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं हमस्मि नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता वाऽहमासं नेदानीं नापि भविष्यत्काल इति ब्रह्म- वगच्छति । एवमेव च मोक्ष उपपद्यते । अन्यथा ह्यनादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे ाभावः स्यात् । नच देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवितुमर्हति, अनित्यत्वप्रस- । परोक्षत्वानुपपत्तेश्च ज्ञानफलस्य । तस्माद्ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थितम् ॥१३॥

(१० इतरासंश्लेषाधिकरणम् । सू० १४)

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥१४॥

पदच्छेद—इतरस्य, अपि, एवम्, असंश्लेषः, पाते, तु ।

सूत्रार्थ—(इतरस्यापि) ज्ञानवान्के पुण्यका भी (एवम्) पापके समान (असंश्लेषः) लेष और विनाश होता है, (पाते तु) इसप्रकार ब्रह्मज्ञानसे बन्धके हेतुभूत पुण्य और पापके न्ध और विनाश सिद्ध होनेसे ब्रह्मवेत्ताका शरीरपात होनेपर ही मोक्ष होता है ।

❀ पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोर्घस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविनाशौ ज्ञाननिमित्तौ शास्त्र- देशान्निरूपितौ । धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इत्याशङ्क्य तन्नि-

---

न नहीं है, तो भी अकर्ता आत्मत्व (आत्मा अकर्ता है) ज्ञानसे कर्म प्रदाह सिद्ध होता है । ' यह शब्द आगामी कर्मोंमें ब्रह्मवित् कर्तृत्वको हो प्राप्त नहीं होता, ऐसा दिखलाता है । और अतिक्रान्त-अतीत कर्मोंमें यद्यपि मिथ्याज्ञानसे कर्तृत्वको मानो प्राप्त हुआ-सा है, तो भी की सामर्थ्यसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेसे वे अतीत कर्म भी प्रविलीन हो जाते हैं, ऐसा सूत्रस्थ नाश' शब्दसे कहते हैं । पूर्वसिद्ध कर्तृत्व, भोक्तृत्वसे विपरीत, तीनों कालमें भी अकर्तृत्व, अभो- स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, इससे पूर्व भी कर्ता वा भोक्ता मैं नहीं था, अब भी नहीं हूँ, इसीप्रकार ष्यत्कालमें भी नहीं होऊँगा. इसप्रकार ब्रह्मवित् जानता है, और इसप्रकार मोक्ष उपपन्न होता । अन्यथा–ब्रह्मज्ञानसे कर्मका क्षय न मानें तो अनादिकालसे प्रवृत्त हुए कर्मोंके क्षयका अभाव से मोक्षाभाव होगा । और कर्मफलके समान मोक्ष देशकाल निमित्तकी अपेक्षा करनेवाला नहीं हो ा, क्योंकि ऐसा माननेसे कर्म फलके समान मोक्षमें अनित्यत्व प्रसङ्ग आ जायगा । और ज्ञानके में परोक्षत्व अनुपपन्न है । इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मज्ञान होनेपर पापका क्षय होता है ॥१३॥

पूर्व अधिकरणमें स्वाभाविक बन्धके हेतुभूत पापका ज्ञाननिमित्तिक असम्बन्ध और विनाश त्र व्यपदेशसे निरूपित किए गए हैं, और धर्म तो शास्त्रीय है । अतः उसका शास्त्रीय ज्ञानसे रोध है । ऐसी आशंका कर उसके निराकरण करनेके लिए पूर्व अधिकरणके न्यायका अतिदेश

सत्यानन्दी दीपिका

* कर्मोंका दृष्ट फल न होनेसे श्रुतिप्रमाणसे अदृष्ट स्वर्ग आदि फल मानना पड़ता है । परन्तु तो केवल ब्रह्मात्मत्व ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्तिमात्र होती है, ब्रह्म तो स्वयं सिद्ध है । अतः ज्ञानका मोक्षरूप अपरोक्ष फल जब सम्भव है तो अदृष्ट फलकी कल्पना अन्याय है । इसलिए न होनेपर पूर्व सञ्चित कर्मोंका नाश और आगामी कर्मोंका सम्बन्ध नहीं होता, यह श्रुति और से सिद्ध है ॥ १३ ॥

* तत्त्वज्ञानसे पापकी निवृत्ति कहकर अब पुण्यकी निवृत्तिमें 'इतरस्याप्येवम' इत्यादिसे अति- शते हैं । जैसे याग आदि अदृष्ट द्वारा पापका क्षय करते हैं, वैसे ब्रह्मविद्या नहीं करती, किन्तु

राकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशः क्रियते । इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः । कुतः ? तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात्, 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिषु च दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात् । अकर्त्रात्मत्वबोधनिमित्तस्य च कर्मक्षयस्य सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात्, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २।२।८) इति चाविशेषश्रुतेः । यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो दृश्यते तत्रापि तेनैव पुण्यमप्याकलितमिति द्रष्टव्यम्, ज्ञानफलापेक्षया निकृष्टफलत्वात् । अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः, 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (छा० ८।४।१) इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात्, पाते त्विति तुशब्दोऽवधारणार्थः । एवं धर्माधर्मयोर्बन्धहेत्वोर्विद्यासामर्थ्यादश्लेषविनाश सिद्धेरवश्यंभाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधारयति ॥१४॥

(११ अनारब्धाधिकरणम् । सू० १५)

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥१५॥

पदच्छेद—अनारब्धकार्ये, एव, तु, पूर्वे, तदवधेः ।

सूत्रार्थ—(अनारब्धकार्ये एव) अनारब्ध फलवाले ही (पूर्वे) पूर्व संचित पुण्य-पापका ही ज्ञान से क्षय होता है, (तदवधेस्तु) क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादि श्रुतिसे देहपातरूप अवधि श्रुत है

❁ पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्तः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारितः । स किम विशेषेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति विचार्यते।

किया जाता है । ज्ञानवान्के अन्यका भी—पुण्य कर्मका भी इसप्रकार पापके समान असंश्लेष औ विनाश होता है, क्योंकि उसको भी अपने फलके हेतुरूपसे ज्ञान फलमें प्रतिबन्धत्व प्रसंग होगा 'उभे उ है वैष० (यह ब्रह्मवेत्ता पुण्य और पापरूप इन दोनों कर्मोंको तर जाता है) इत्यादि श्रुतियो में पापके समान पुण्यका भी प्रणाश व्यपदेश है । आत्मा अकर्ता है, इस बोध निमित्तिक कर्मक्ष सुकृत और दुष्कृत दोनोंमें समान है, कारण कि 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि०' (इसके कर्म क्षीण होते हैं ऐसी अविशेष श्रुति है । जहां केवल ही पाप्म-पाप शब्द दिखाई देता है वहां भी उसीसे पुण्यका भ ग्रहण होता है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि ज्ञानफलकी अपेक्षासे पुण्य निकृष्ट फलवाला है और श्रुतिमें पुण्यमें भी पापशब्दका प्रयोग है, 'नैतं सेतुमहोरात्रे०' (इस सेतुरूप आत्माका दिन पुण्य और रात-पाप अतिक्रमण नहीं करते अर्थात् आत्माको परिच्छिन्न नहीं करते) इसमें दुष्कृतके साथ सुकृतका भी उपक्रमकर 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' (इस आत्मारूप सेतुसे सब पाप निवृत्त होते हैं) इसप्रकार अविशेषसे ही प्रकृत पुण्यमें पाप शब्दका प्रयोग है । 'पाते तु' 'तु' शब्द अवधारणार्थक है । इसप्रकार बन्धके हेतुभूत धर्म और अधर्मका विद्याकी सामर्थ्यसे असंश्लेष और विनाश सिद्ध होनेसे विद्वान्के शरीरपात होनेपर मुक्ति अवश्यंभावी है, ऐसा निश्चय करते हैं ॥१४॥

गत दो अधिकरणोंमें ज्ञानसे सुकृत और दुष्कृतका विनाश निश्चित किया गया है । क्या वह आरब्ध कार्यवाले और अनारब्ध कार्यवाले दोनोंका अविशेषरूपसे होता है अथवा अनारब्ध कार्य-वालोंका ही विशेषरूपसे होता है, इसपर विचार किया जाता है । पूर्वपक्षी—उसमें 'उभे उ हैवैष०'

सत्यानन्दी दीपिका

दृष्ट भोक्तृत्व आदिकी निवृत्ति करती है । इसलिए विद्याकी सामर्थ्यसे ब्रह्मज्ञानीके जैसे पापका असंश्लेष और विनाश होता है, वैसे ही पूर्व संचित पुण्यका विनाश और आगामी पुण्यका असंश्लेष होता है।१४

---

* पूर्व अधिकरणोंमें ज्ञानसे अशेष कर्मोंका क्षय और असंश्लेष निश्चित किया गया है। परन्तु

उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्येवमादिश्रुतिष्वविशेषश्रवणादविशेषेणैव इति। एवं प्राप्ते प्रत्याह अनारब्धकार्ये एव त्विति। अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तर-ते, अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः संचिते, सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात्क्षीयेते, रब्धकार्ये सामिभुक्तफले, याभ्यामेतद्ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम्। कुत एतत्? तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिकरणा-प्राप्तेः। इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेम-वीत। तत्र शरीरपातप्रतीक्षां नाचक्षीत। * ननु वस्तुबलेनैवायमकर्त्रात्मावबोधः कर्माणि कथं कानिचित्क्षपयेत्कानिचिच्चोपेक्षेत? नहि समानेऽग्निबीजसंपर्के केषांचिद्बीजशक्तिः ते, केषांचिन्न क्षीयत इति शक्यमङ्गीकर्तुमिति। उच्यते—न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं शयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते च तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रति-संभवाद्भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्। अकर्त्रात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्मा-

---

ब्रह्मवेत्ता इन दोनों—पुण्य और पाप कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है) इत्यादि श्रुतियोंमें अवि-रूपसे श्रवण होनेसे अविशेषरूपसे ही क्षय होता है। सिद्धान्ती— ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण ते हैं— 'अनारब्धकार्ये एव तु" पूर्व जन्ममें संचित और ज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व तक इस जन्ममें संचित वृत्त फलवाले सुकृत, दुष्कृतका ज्ञानकी प्राप्तिसे क्षय होता है, किन्तु आरब्ध कार्य अर्धभुक्त फल जिन पुण्य पापोंसे इस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिका स्थान यह जन्म निर्मित हुआ है, वे क्षय नहीं होते। किससे? इससे कि 'तस्य तावदेव चिरं०' (उस विद्वान्के मोक्षमें उतना ही विलम्ब है जब तक वह देह बन्धनसे मुक्त नहीं होता। उसके अनन्तर तो वह सत्सम्पन्न हो जाता है) इसप्रकार रात मोक्ष प्राप्तिकी अवधि किया गया है, अन्यथा-ज्ञानसे समस्त कर्मोंके क्षय होनेपर शरीर स्थिति कारण न होनेसे ज्ञान प्राप्तिके अनन्तर ही विद्वान्को मोक्ष प्राप्त होगा, तो फिर शरीरपातकी क्षा नहीं कहनी चाहिए। परन्तु 'आत्मा अकर्ता है' यह बोध वस्तु सामर्थ्यसे ही कर्मोंका क्षय ना हुआ कुछ कर्मोंको क्षय करे और कुछ कर्मोंकी उपेक्षा करे, यह कैसे होगा? अग्नि और जोंका संपर्क समान होनेपर कुछकी बीजशक्ति क्षय होती है और कुछकी बीजशक्ति क्षय नहीं , ऐसा अङ्गीकार नहीं किया जा सकता? कहते हैं- आरब्ध कार्यवाले कर्माशयका आश्रय किए ना ज्ञानकी उत्पत्ति उपपन्न नहीं होती। उसके आश्रित होनेपर कुलालचक्रके समान प्रवृत्त वेग के मध्यमें प्रतिबन्धके सम्भव न होनेसे वेग क्षयकी प्रतीक्षा होती है। अकर्तृ आत्मबोध भी

सत्यानन्दी दीपिका

न्ते चास्य कर्माणि०' यह श्रुति ज्ञानीके अशेष कर्मोंका क्षय कहती है और 'तस्य तावदेव चिरं०' श्रुति मोक्षके लिए शरीरपातकी प्रतीक्षा कहती है, इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ अवशेष हैं जिनका ज्ञानसे भी नाश नहीं होता। इस संदिग्ध विषयको 'अनारब्धकार्ये' इत्यादिसे स्पष्ट है। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' यह उत्सर्ग श्रुति है, क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरम्' यह अपवाद विद्यमान है। इससे 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इस श्रुतिका प्रारब्ध कर्मोंको छोड़कर शेष कर्मोंके तात्पर्य समझना चाहिए। ऐसा माननेसे दोनों श्रुतियोंका समन्वय होता है।

* यद्यपि अद्वैतात्मज्ञान अनादि अविद्या और तत्कृत समस्त प्रपञ्चका विरोधी होनेसे तन्मध्य-अशेष कर्मोंका भी विरोधी है, तो भी जैसे अनारब्ध कार्यवाले कर्मोंका शीघ्रतासे विनाश करता वैसे आरब्ध कार्यवाले प्रारब्ध कर्मोंका नहीं। यदि दोनों प्रकारके कर्मोंका ज्ञान द्वारा समानरूपसे नाश मानें तो हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, व्यास, शुकदेव, उद्दालक आदि जीवन मुक्त महा-ओंका जो श्रुति, स्मृति आदिमें गुरु शिष्य आदिरूपसे संवाद प्रसिद्ध है, वह काल्पनिक सिद्ध होगा।

एयुच्छिनत्ति। बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव। अपि च नैवात्र विवदितव्यम्—ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियत इति। कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत? श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते। तस्मादनारब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः ॥१५॥

(१२ अग्निहोत्राद्यधिकरणम्। सू० १६-१७)

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥१६॥

पदच्छेद—अग्निहोत्रादि, तु, तत्कार्याय, एव, तद्दर्शनात्।

सूत्रार्थ—(अग्निहोत्रादि) अग्निहोत्र आदि नित्य नैमित्तिक कर्म समुदाय तो (तत्कार्यायैव) तत्त्वज्ञान साध्य मोक्षरूप कार्यके लिए ही हैं, (तद्दर्शनात्) क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन०' इत्यादि श्रुतिमें कर्म आदिमें ज्ञान हेतुता देखी जाती है। (तु) शब्द शङ्का निवृत्त्यर्थ है।

❀ पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशयोरघन्यायोऽतिदिष्टः, सोऽतिदेशः सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रतिवक्ति—अग्निहोत्रादि त्विति। तुशब्द आशङ्कामपनुदति, यन्नित्यं कर्म वैदिकम

मिथ्याज्ञानके बाधसे कर्मोंका उच्छेद करता है। बाधित हुआ भी मिथ्याज्ञान दो चन्द्रज्ञानके समान संस्कारके बलसे कुछ समय तक अनुवर्तित होता ही है। और इस विषयमें विवाद नहीं करना चाहिए कि ब्रह्मज्ञानी कितने समय तक शरीर धारण करता है अथवा नहीं धारण करता है। एक ही पुरुषके स्वहृदय-स्वसंवेद्य प्रत्यय-ब्रह्मज्ञान और देह धारण उसपर अन्य पुरुष द्वारा आक्षेप कैसे किया जा सकता है? अर्थात् नहीं किया जा सकता है। श्रुति और स्मृतिमें स्थितप्रज्ञके लक्षणके उपदेशसे यही कहा जाता है। इसलिए अनारब्ध कार्यवाले सुकृत और दुष्कृतका ही विद्याकी सामर्थ्यसे क्षय होता है, ऐसा निर्णय है ॥ १५ ॥

पुण्यके भी अश्लेष और विनाशमें पाप न्यायका अतिदेश किया गया है। क्या वह अतिदेश सर्व पुण्य विषयक है? ऐसी आशङ्का कर उसका निराकरण कहते हैं—'अग्निहोत्रादि तु' 'तु' शब्द आशङ्काका परिहार करता है। जो वैदिक अग्निहोत्रादि नित्य कर्म हैं वे तत् तत् कार्यके लिए ही होते

सत्यानन्दी दीपिका

इससे अद्वैत आत्मैकत्व ज्ञानकी सांप्रदाय भी उच्छिन्न हो जायगी। इत्यादि अनेक आपत्तियां प्रसक्त होंगी। इससे भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें विस्तरा पूर्वक स्थितप्रज्ञके लक्षणोंके उपदेशसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानीके प्रारब्ध कर्मके होनेपर ही उसकी जीवनमुक्त अवस्था सिद्ध होती है और मुमुक्षु पुरुषोंको उनके उपदेशोंसे लाभ होता है। यदि यह मानें कि ब्रह्मज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेसे अशेष कर्म नष्ट हो जाते हैं, तो उसको 'आश्रिते' आदिसे कहते हैं। किञ्च यह भी एक मत है कि आवरण और विक्षेप नामक अविद्याकी दो शक्तियाँ हैं। आवरणशक्ति तो विद्यासे निवृत्त हो जाती है किन्तु विक्षेपशक्ति नहीं। अतः विक्षेपशक्तिसे निर्मित ब्रह्मवेत्ताका शरीर भी विद्यमान रहता है। वह भोगके समाप्त होनेपर नष्ट हो जाती है, अनन्तर ज्ञानीका मोक्ष होता है, क्योंकि वस्तुकी सामर्थ्य समान होनेपर भी कार्यलिंगसे यही सिद्ध होता है कि विद्याकी सामर्थ्यसे अनारब्ध कार्यवाले सुकृत और दुष्कृतका ही क्षय होता है ॥ १५ ॥

❀ पुण्यका भी पापके समान अश्लेष और विनाश कहा गया। क्या वह सब पुण्य विषयक है अथवा नहीं? ऐसा सन्देह होता है। परन्तु पुण्यका अश्लेष और विनाश होनेसे ज्ञानीको वेदविहित अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म भी नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि उनका भी पुण्यके समान विद्यासे नाश होगा, इसलिए 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' (अङ्गोंको पङ्क लगाकर उसे धोनेकी अपेक्ष

त्रादि, तत्तत्कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि कार्यमित्यर्थः। कुतः ? 'तमेतं वचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिदर्शनात्। ननु ज्ञानणोर्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैकत्वानुपपत्तिः, नैष दोषः, ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविषयोमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात्, तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षकार्योपपत्तेः। नारभ्यो मोक्षः, कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते ? नैष दोषः, आरादुपकारकत्वात्कर्मणः। त्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते। अत एव चातिक्रान्तविषयकार्यैकत्वाभिधानम्। नहि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि संभवति, अनियोज्यब्रह्मात्मत्वत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्। सगुणासु तु विद्यासु कर्तृत्वानतिवृत्तेः संभवत्यागाम्यप्यग्निादि। तस्यापि निरभिसंधिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासंगत्युपपत्तिः ॥१६॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं, किंविषयं वाऽदो विनियोगवचनमेकेषां शाखि— 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति ? अत उत्तरं पठति—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

पदच्छेद—अतः, अन्या, अपि, हि, एकेषाम्, उभयोः।

सूत्रार्थ—(एकेषाम् कुछ शाखावालोंके मतमें (अतः) अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मसे न्या) स्वर्गादिकी साधनीभूत क्रिया अन्य है। (उभयोरपि) वह क्रिया जैमिनि और बादरायण कोंको भी सम्मत है।

* अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यस्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या, या फलमभिसंधाय

जो ज्ञानका कार्य है वही इसका भी कार्य है, ऐसा अर्थ है। किससे ? इससे कि 'तमेतं वेदानुवच०' (ब्राह्मण उस आत्माको वेदाध्ययनसे, यज्ञसे, और दानसे जाननेकी इच्छा करें) इत्यादि देखा ता है। परन्तु ज्ञान और कर्म विलक्षण कार्यवाले होनेसे उनमें कार्यैकत्व उपपत्ति नहीं होती। यह नहीं है, क्योंकि ज्वर और मृत्यु कार्यवाले दधि और विषमें भी गुड़ और मन्त्र संयुक्त होनेपर और पुष्टिरूप कार्य देखे जाते हैं, वैसे ज्ञान संयुक्त कर्मका भी मोक्ष कार्य हो सकता है। परन्तु तो अनारभ्य है उसको कर्मका कार्य कैसे कहा जाता है। यह दोष नहीं है, क्योंकि कर्म ज्ञानका ाद (दूरसे) उपकारक है। ज्ञानका ही प्रापक होता हुआ कर्म परम्परा-अन्तःकरण शुद्धि द्वारा क्षका कारण है, ऐसा उपचार किया जाता है। अतएव यह कार्यैकत्वका अभिधान अतिक्रान्त नसे पूर्व) कर्म विषयक है। कारण कि ब्रह्मवित्के लिए आगामी अग्निहोत्रादि संभव नहीं है। के अनियोज्य ब्रह्मात्मत्व ज्ञान शास्त्रका विषय नहीं है। सगुणविद्याओंमें तो कर्तृत्वकी अनिवृत्ति से आगामी अग्निहोत्र आदि कर्म हो सकते हैं। फल अभिलाषा रहित उस कर्मको भी अन्य कार्यके होनेसे विद्याकी संगति (सम्बन्ध) उपपन्न होती है ॥ १६ ॥

तो फिर यह अश्लेष और विनाश वचन किं विषयक है, और इस प्रकार इन शाखावालोंका पुत्रा०' (उसके पुत्र दाय-धन प्राप्त करते हैं, मित्र साधुकर्म और शत्रु पापकर्म प्राप्त करते हैं) विनियोग वचन किसके लिए है ? इसके लिए उत्तर कहते हैं—

* अतः-अग्निहोत्रादि नित्यकर्मसे अन्य भी साधुकृत्य है, जो फलके उद्देश्यसे किया जाता है।

सत्यानन्दी दीपिका

दूरसे अस्पर्श ही श्रेष्ठ है) इस प्रकार पङ्कप्रक्षालन न्यायसे अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म न श्रेष्ठ है। पूर्वपक्षमें पङ्कप्रक्षालन न्यायसे ज्ञानके लिए नित्य कर्मोंका अनुष्ठान असिद्ध है और सिद्धान्तमें ज्ञानोत्पत्तिके लिए नित्यकर्म अनुष्ठेय हैं ॥ १६ ॥

क्रियते, तस्या एष विनियोग उक्त एकेषां शाखिनाम्— 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति। तस्य एव चेदमघवदश्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति। तथाजातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे संप्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिबादरायणयोराचार्ययोः ॥ १७

(१३ विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् । सू० १८)

यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

पदच्छेद—यद्, एव, विद्यया, इति, हि ।

सूत्रार्थ–(विद्यया) विद्या संयुक्त (यद्) अग्निहोत्रादि नित्य कर्म और केवल अग्निहोत्रादि नित्यकर्म दोनों इस जन्ममें ब्रह्मज्ञानके साधन हो सकते हैं, (एव ही) क्योंकि 'यदेव विद्यया' ऐसी श्रुति है।

समधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्यमग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति। तत्राग्निहोत्रादि कर्माङ्गव्यपाश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति। 'य एवं विद्वान्यजति', 'य एवं विद्वाञ्जुहोति', 'य एवं विद्वाञ्छंसति', 'य एवं विद्वान्गायति', 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवं विदं' (छा० ४।१७।१०), 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति, केवलमप्यस्ति। तत्रेदं विचार्यते—किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तथा

उसका कुछ शाखावालोंके मतमें 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' (मित्र इसके साधुकृत्यको प्राप्त होते हैं) इस प्रकार यह विनियोग कहा गया है। उसका ही पापके समान यह अश्लेश और विनाश है, ऐसा 'इतरस्याप्येवमश्लेष' इस सूत्रमें निरूपण है। इस प्रकारके काम्य कर्मके विद्याके प्रति अनुपकारकत्व होनेमें जैमिनि और बादरायण दोनों आचार्योंकी भी सम्मति है ॥ १७ ॥

मुमुक्षु द्वारा मोक्षरूप प्रयोजनके उद्देश्यसे किये गये नित्य अग्निहोत्र आदि कर्म संचित पापक्षय हेतु द्वारा अन्तःकरण शुद्धिकी कारणताको प्राप्त होकर मोक्ष प्रयोजनवाले ब्रह्मज्ञानके निमित्तरूपसे ब्रह्मविद्याके साथ एक कार्यवाले होते हैं, ऐसा गत अधिकरणमें भली-भान्ति अधिगत हुआ है। उसमें अग्निहोत्रादि कर्म अङ्गोंसे सम्बद्ध उपासना संयुक्त हैं और केवल-उपासना असंयुक्त भी हैं–'य एवं विद्वान्यजति' (जो ऐसा जाननेवाला होकर याग करता है, जो ऐसा जाननेवाला होकर होम करता है, जो ऐसा जाननेवाला होकर शंसन करता है, जो ऐसा जाननेवाला होकर उद्गान करता है) 'तस्मादेवं०' (अतः इसप्रकार जाननेवालेको ही ब्रह्मा बनावे, ऐसा न जाननेवालेको नहीं) 'तेनोभौ कुरुतो० (जो इस अक्षरको इसप्रकार जानता है और जो नहीं जानता वे दोनोंही उसके द्वारा कर्म करते हैं) इत्यादि श्रुति वचनोंसे अग्निहोत्र आदि कर्म विद्या संयुक्त हैं और केवल भी हैं। उसपर यह विचार किया जाता है कि क्या विद्या संयुक्त ही अग्निहोत्र आदि कर्म मुमुक्षुकी विद्याके हेतुरूपसे उसके साथ एककार्यत्वको प्राप्त होते हैं केवल नहीं अथवा अविशेषसे विद्या संयुक्त और

सत्यानन्दी दीपिका

* यह अश्लेष और विनाश वचन काम्य कर्मोंके विषयमें है। काण्वशाखावालोंका 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' यह विनियोगवचन भी काम्यकर्म विषयक है, क्योंकि ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म विद्याके उपकारक नहीं होते, अतः काम्य कर्म विषयक ही अश्लेष, विनाश और विनियोग ये दोनों वचन समझने चाहिएँ ॥ १७ ॥

* पूर्वपक्षमें विद्या संयुक्त अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म विद्योत्पत्तिमें हेतु हैं, क्योंकि वे विद्याहीन कर्मोंसे विशिष्ट अवगत होते हैं। सिद्धान्तमें दोनों प्रकारके कर्म विद्योत्पत्तिमें हेतु हैं।

कार्यत्वं प्रतिपद्यते, न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणेति। कुतः संशयः ? मात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इति यज्ञादीनामविशेषेणात्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात्। संयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावगमात्। किं तावत्प्राप्तम् ? विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्नि- द्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते, न विद्याहीनम्, विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविही- 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'बुद्ध्या युक्तो यया कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी० २।३९), 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी० २।४९) दिस्मृतिभ्यश्चेति। एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—यदेव विद्ययेति हि, सत्यमेतत्, विद्यासंयुक्तं ग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टम्, विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविही- ब्राह्मणात्, तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम्। कस्मात् ? 'तमेत- नं यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यविशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात्। ननु विद्या- स्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्राद्यात्मविद्याहेतुत्वेना- मेवेति युक्तम्. नैतदेवम्। विद्यासहायस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन दात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति, न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं यितुम्, नतु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यत्राविशेषेणात्मज्ञानाङ्गत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरन- शक्यमभ्युपगन्तुम्। तथा हि श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं ति' (छा० १।१।१०) इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन कार्यं प्रति कंचिदतिशयं ब्रुवाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्श-

---

कर्म एक कार्यत्वको प्राप्त होते हैं। ऐसा संशय किससे होता है ? इससे कि 'तमेतमात्मानं०' इस उपनिषद्गम्य आत्माको यज्ञसे जाननेकी इच्छा करें) इसप्रकार यज्ञ आदिका अविशेष- आत्मज्ञानके अङ्गरूपसे श्रवण है, अतः विद्या संयुक्त अग्निहोत्र आदिमें विशिष्टत्व अवगत होता क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—विद्या संयुक्त ही अग्निहोत्र आदि कर्म आत्मविद्या शेषत्वको होते हैं उपासना हीन कर्म नहीं। क्योंकि 'यदहरेव जुहोति०' (जो ऐसा जाननेवाला जिस दिन करता है उसी दिन मृत्युको जीत लेता है) इत्यादि श्रुतिसे और 'बुद्ध्या युक्तो०' (हे पार्थ ! बुद्धिसे युक्त हुआ तूं कर्मोंके बन्धनको भली-भान्ति नाश करेगा) 'दूरेण ह्यवरं० (इस समत्व- बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं) इत्यादि स्मृतिसे विद्या युक्त कर्म विद्याहीन कर्मसे अवगत होते हैं। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर प्रतिपादन किया जाता है। 'यदेव विद्ययेति हि' ठीक है। विद्या संयुक्त अग्निहोत्र आदि कर्म विद्याहीन अग्निहोत्रादि कर्मसे विशिष्ट हैं। जैसे ब्राह्मण विद्याहीन ब्राह्मणसे विशिष्ट है। तो भी विद्या विहीन अग्निहोत्र आदि कर्म अत्यन्त नहीं हैं, क्योंकि 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इसप्रकार अविशेषसे अग्निहोत्रादि विद्याके हेतुरूपसे श्रुत हैं। पू०—परन्तु विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्मोंमें विद्याविहीन अग्निहोत्र कर्मसे विशिष्ट अवगम होनेसे विद्याविहीन अग्निहोत्रादि कर्म आत्मविद्याके हेतुरूपसे अनपेक्ष यह युक्त है। सि०—यह ऐसा नहीं, क्योंकि विद्या सहायवाले अग्निहोत्र आदिमें विद्या सामर्थ्य अतिशयके योगसे आत्मज्ञानके प्रति कोई कारणरूपसे अतिशय होगा, विद्याविहीन आदिमें ऐसा अतिशय नहीं होगा, ऐसी कल्पना करना युक्त है। परन्तु 'यज्ञेन विविदि- इसमें अविशेषसे आत्मज्ञानके अङ्गरूपसे श्रुत अग्निहोत्र आदिमें अनङ्गत्व स्वीकार नहीं किया क्योंकि 'यदेव विद्यया०' (जो कर्म विद्यासे, श्रद्धासे और योग युक्त होकर करता है वह होता है) यह श्रुति विद्या संयुक्त अग्निहोत्र आदि कर्म अधिक वीर्यवान् हैं, इस कथनसे के प्रति कुछ अतिशय कहती हुई विद्या विहीन उसी कर्मको उस प्रयोजनके प्रति वीर्यवत्

यति । कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं तत्, यत्स्वप्रयोजनसाधनप्रसहत्वम् । तस्माद्विद्यासंयुक्तं नित्यम ग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्, तद्यथासामर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारे ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धातात्पर्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्य सहैककार्यं भवतीति स्थितम् ॥१८॥

(१४ इतरक्षपणाधिकरणम् । सू० १९)

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥१९॥

पदच्छेद—भोगेन, तु, इतरे, क्षपयित्वा, सम्पद्यते ।

सूत्रार्थ—(इतरेतु) आरब्ध पुण्यपापोंका तो (भोगेन) भोगसे (क्षपयित्वा) नाशक (सम्पद्यते) ब्रह्मको प्राप्त होता है ।

* अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय उक्तः, इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्य पापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म संपद्यते, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६।१४।२) इति 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः । ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथ प्राग्देहपाताद्भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेवं पश्चादप्यनुवर्तेत—न, निमित्ताभावात् उपभोगशेषक्षपणं हि तत्रानुवृत्तिनिमित्तम्, नच तादृशमत्र किंचिदस्ति । नन्वपरः कर्मा शयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते, न, तस्य दग्धबीजत्वात् । मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मान्तर

दिखलाती है । वही कर्ममें वीर्यवत्त्व है जो अपने प्रयोजनके सिद्ध करनेमें क्षमता हो । इसलिए विद्या संयुक्त नित्य अग्निहोत्र आदि कर्म और विद्या रहित कर्म दोनों भी मुमुक्षुसे मोक्ष प्रयोजनके उद्देश्य इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व जो किये गये हैं वे अपनी सामर्थ्यके अनुसार ब्रह्म ज्ञानके प्रतिबन्ध कारणरूपसे प्राप्त पापक्षयके हेतुरूप द्वारसे ब्रह्मज्ञानके कारणत्वको प्राप्त होकर श्रवण, मनन, श्रद्धा, तात्पर्य आदि अन्तरङ्ग कारणोंकी अपेक्षासे ब्रह्मविद्याके साथ मोक्षरूप एक कार्य वाले होते हैं, यह सिद्ध होता है ॥१८॥

अनारब्ध कार्यवाले पुण्य और पापका विद्याकी सामर्थ्यसे क्षय कहा गया । अन्य तो—आरब्ध कार्यवाले पुण्य-पापका उपभोगसे क्षपणकर ब्रह्मको प्राप्त होता है, क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरं०' (उसके लिए मोक्ष होनेमें उतना-ही विलम्ब है जब तक कि वह देहबन्धनसे मुक्त नहीं होता । उसके अनन्तर तो वह सत्सम्पन्न-ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है) 'ब्रह्मैव सन्०' (ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं । परन्तु सम्यग्दर्शनके होनेपर भी जैसे देहपातके पूर्व भेददर्शन द्विचन्द्रदर्शन न्यायसे अनुवृत्त होता है, वैसे देदपातके पश्चात् भी भेददर्शन अनुवृत्त होना चाहिए ? नहीं, क्योंकि उसके कारणका अभाव है । उपभोग शेषका क्षपण ही ब्रह्मज्ञानीके भेददर्शनकी अनुवृत्तिमें कारण है । किन्तु देहपात होनेपर ऐसा कोई निमित्त नहीं है । परन्तु दूसरा कर्माशय नवीन उपभोगको आरम्भ करेगा ? नहीं, क्योंकि उसका बीज दग्ध हो गया है । मिथ्याज्ञानका अवलम्बन करनेवाला

सत्यानन्दी दीपिका

* अनारब्ध कर्म ब्रह्मविद्याकी सामर्थ्यसे क्षय होते हैं, यह पूर्व अधिकरणमें कहा गया है । अब इस अधिकरणमें यह विचार किया जाता है कि ब्रह्मवित्के प्रारब्धकर्म क्षय होते हैं कि नहीं ? इसप्रकार संदेह कर 'भोगेन त्वितरे' इत्यादिसे सिद्धान्त कहते हैं । मिथ्याज्ञान ही कर्मोंका बीज है । 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (यो० सू० २।१३) (कर्मोंकी बीजभूत अविद्याके होनेपर ही उसके फल जन्म, आयु और भोग होते हैं) इसलिए अनारब्ध कर्म ब्रह्मविद्याकी सामर्थ्यसे निवृत्त होते हैं और प्रारब्ध कर्म भोगसे क्षय होते हैं । 'तस्य तावदेव चिरम्०' इत्यादि श्रुतिवचनसे सिद्ध

त उपभोगान्तरमारभते, तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्ध-क्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति ॥१९॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ।

[अत्र पादे उत्क्रान्तिगतिनिरूपणम्]

(इस पादमें उत्क्रान्ति और गतिका निरूपण है)

(१ वागधिकरणम् । सू० १-२)

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥१॥

पदच्छेद—वाक्, मनसि, दर्शनात्, शब्दात्, च ।

सूत्रार्थ—(वाक्) वाणीकी वृत्ति (मनसि) मनमें लीन होती है, (दर्शनात्) क्योंकि की वृत्तिके विद्यमान होनेपर वाग्वृत्तिका लय देखा जाता है, (च) और (शब्दात्) वृत्ति और मान्के अभेदकी विवक्षासे यहां उपचारसे वाक् शब्दका प्रयोग किया गया है कि वाक् मनमें होती है ।

※ अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्यन्प्रथमं तावद्यथा-स्त्रमुत्क्रान्तिक्रममन्वाचष्टे । समाना हि विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरिति वक्ष्यति । अस्ति प्राय-विषया श्रुतिः ‘अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः स्यां देवतायाम्’ (छा० ६।८।६) इति । किमिह वाच एव वृत्तिमत्या मनसि संपत्तिरुच्यते, वाग्वृत्तेरिति विशयः । तत्र वागेव तावन्मनसि संपद्यत इति प्राप्तम् । तथा हि—श्रुतिर-

---

न्तर देहपात होनेपर अन्य उपभोगको आरम्भ करता है । वह मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञानसे दग्ध हो , अतः अन्य-आरब्ध कार्यका क्षय होनेपर विद्वान्को अवश्य कैवल्य होता है, यह ठीक है ॥१९॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके चतुर्थाध्यायका प्रथम पाद समाप्त ॥

निर्गुण विद्याके फल कथनानन्तर सगुण विद्याओंमें फल प्राप्तिके लिए देवयान मार्गका अव- करते हुए सूत्रकार प्रथम शास्त्रानुसार उत्क्रान्तिका क्रम कहते हैं । उपासक और अनुपासक उत्क्रान्ति तुल्य ही है, ऐसा आगे कहेंगे । ‘अस्य सोम्य पुरुषस्य०’ (हे सोम्य ! इस म्रियमाण की वाक् मनमें लीन हो जाती है, तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो ा है) ऐसी प्रायण विषयक श्रुति है । क्या यहां वृत्तिवाली वाणीकी ही मनमें सम्पत्ति (लय) जाती है अथवा वाणीकी वृत्ति की । इसप्रकार संशय होता है । पूर्वपक्षी—उसमें वाणी ही मनमें होती है, ऐसा प्राप्त होता है । क्योंकि ऐसा माननेपर श्रुति अनुगृहीत होती है, अन्यथा लक्षणा

सत्यानन्दी दीपिका

है कि विद्वान्के देहपातके अनन्तर अवश्य कैवल्य मुक्ति होती है । पूर्वपक्षमें कैवल्य-विदेह असिद्ध है, सिद्धान्तमें विदेह-कैवल्यमुक्ति सिद्ध है । इस पादमें साधन अनुष्ठानका क्रम और ब्रह्मविद्याका फल कहा गया है ॥ १९ ॥

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत ‘सत्यानन्दी दीपिका’ के चतुर्थाध्यायका प्रथम पाद समाप्त ॥

※ गत पादमें ब्रह्मविद्याका जीवन मुक्ति और विदेह मुक्तिरूपी फल कहा गया है । अब इस में फलविचारके प्रकरणमें सगुणविद्याका ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप फल अर्चिरादि मार्ग द्वारा ही हो है, वह उत्क्रान्तिके विना संभव नहीं है, इसलिए उसकी सिद्धिके लिए शास्त्रानुसार प्रथम

नुगृहीता भवति। इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तस्माद्वाच एवायं मनसि प्रलय इति। ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यत इति कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते? यावता वाङ्मनसीत्येवाचार्यः पठति। सत्यमेतत्, पठिष्यति तु परस्तात् 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४।२।१६) इति। तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते। तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परत्रैव विशिष्यादविभाग इति। तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षा। वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः। कस्मात्? दर्शनात्। दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम्, नतु वाच एव वृत्तिमत्त्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते। ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यप्ययो युक्त इत्युक्तम्—नेत्याह, अतत्प्रकृतित्वात्। यस्य हि यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य। नच मनसो वागुत्पद्यत इति किंचन प्रमाणमस्ति। वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते। पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तैजसस्याग्नेर्वृत्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति। कथं तर्ह्यस्मिन्पक्षे शब्दो वाङ्मनसि संपद्यत इति? अत आह

होगी। श्रुति और लक्षणामें सन्देह होनेपर श्रुति ही न्याय है लक्षणा नहीं। इसलिए वाणीका ही मनमें प्रलय है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वाणीकी वृत्ति मनमें लय होती है। परन्तु जब कि आचार्य 'वाङ् मनसि' (वाणी मनमें) ऐसा पढ़ते हैं तब 'वाणीकी वृत्ति' यह व्याख्यान कैसे किया जाता है? यह ठीक है। परन्तु 'अविभागो वचनात्' इसप्रकार आगे कहेंगे। इसलिए यहां वृत्ति उपशम मात्र विवक्षित है, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु तत्त्वोंके प्रलयकी विवक्षा होनेपर तो सर्वत्र ही अविभागके साम्य होनेसे 'परत्र ही' आगे ['अविभागो वचनात्' यहां ही] 'अविभाग' ऐसा विशेषण क्यों देते? इसलिए यहां वृत्ति उपसंहारकी विवक्षा होनेपर मनकी वृत्तिकी अवस्थिति होनेके पूर्व वाग्वृत्तिका उपसंहार होता है, ऐसा अर्थ है। किससे? इससे कि ऐसा दर्शन होता है। मनोवृत्तिके विद्यमान होनेपर पूर्व वागवृत्तिका उपसंहार देखा जाता है। किन्तु वृत्तिवाली वाणीका ही मनमें उपसंहार तो किसीसे भी नहीं देखा जा सकता है। परन्तु यह जो कहा गया है कि श्रुतिकी सामर्थ्यसे वाणीका यह मनमें प्रलय युक्त है। नहीं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि अतत्प्रकृति है—वह वाणीकी प्रकृति नहीं है, जिसकी जिससे उत्पत्ति होती है उसका उसमें प्रलय युक्त है। जैसे सिकोराका मृत्तिकामें। वाणी मनसे उत्पन्न होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वृत्तिका उद्भव और अभिभव तो अप्रकृति-अनुपादन आश्रय भी देखे जाते हैं। जैसे पार्थिव इंधनसे तैजस अग्निकी वृत्ति उत्पन्न होती है और जलमें उपशान्त होती है। तब इस पक्षमें 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' यह श्रुति किसप्रकार संगत होगी?

सत्यानन्दी दीपिका

उत्क्रान्तिका विचार किया जाता है। अतः इस फलाध्यायके दूसरे पादमें उपासनाकी फल सिद्धिके लिए 'वाङ्मनसि' यह विचार संगत है। यहां उत्क्रान्तिके विषयमें 'वाणी मनमें लीन होती है' ऐसा कहा गया है। क्या यहां वाणीका स्वरूपसे मनमें लय है कि वाणीकी वृत्तिका? संशय होनेका कारण यह है कि 'उच्यतेऽनेन' (जिससे कहा जाय) यह करणव्युत्पत्ति और 'उक्ति इति वाक्' (जो कही जाय) यह भावव्युत्पत्ति दोनों विद्यमान हैं। पूर्वपक्षमें 'वाङ् मनसि' और 'वाङ् मनसि सम्पद्यते' इसप्रकार सूत्र और श्रुतिके आधार पर वाणीका स्वरूपसे ही मनमें लय होता है। इसप्रकार करणमात्रका स्वरूपसे लय होनेपर यावत् म्रियमाणकी मुक्ति सिद्ध है, सिद्धान्तमें करणोंकी वृत्तिका लय होता है, अतः म्रियमाण मुक्त नहीं होता।

❀ सिद्धान्ती—वाणीकी वृत्तिका ही मनमें लय होता है। यद्यपि सूत्रकारने 'वाङ्मनसि' ऐसा कहा है, तो भी यहाँ वृत्तिका ग्रहण युक्त है, क्योंकि स्वयं सूत्रकार धर्मी प्रलयकी विवक्षामें 'अविभागो-

वेति । शब्दोऽप्यस्मिन्पक्षेऽवकल्पते, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः ॥१॥

अत एव च सर्वाण्यनु ॥२॥

पदच्छेद — अतः, एव, च, सर्वाणि, अनु ।

सूत्रार्थ —(अत एव) उक्त दर्शन आदि हेतुओंसे ही वाणीके समान (सर्वाण्यनु) समस्त आदि इन्द्रियोंकी वृत्ति (च) भी वृत्तिविशिष्ट मनमें लय होती है ।

'तस्मादुपशान्ततेजाः । पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः' (प्रश्न० ३।९) इत्यत्राविशेषेण णामेवेन्द्रियाणां मनसि संपत्तिः श्रूयते । तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृत्तिके वस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तत्त्वप्रलयासंभवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि ऽनुवर्तन्ते । सर्वेषां करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाचः पृथग्ग्रहणं वाङ्मनसि त इत्युदाहरणानुरोधेन ॥२॥

(२ मनोधिकरणम् । सू० ३)

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥३॥

पदच्छेद—तत्, मनः, प्राणे, उत्तरात् ।

सूत्रार्थ—(तत्) सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तिके लयका आधारभूत (मनः) वह मन भी (प्राणे) द्वारा प्राणमें लीन होता है, (उत्तरात्) क्योंकि 'मन प्राणे' इस उत्तर वाक्यसे अवगत होता है ।

* समधिगतमेतत्—'वाङ्मनसि संपद्यते' (छा० ६।८।६) इत्यत्र वृत्तिसंपत्तिविवक्षेति । यदुत्तरवाक्यम्—'मनः प्राणे' (छा ६।८।६) इति, किमत्रापि वृत्तिसंपत्तिरेव विवक्ष्यत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम्, श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृति-पपत्तेश्च । तथा हि—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६।५।४) इत्यन्नयोनि

र कहते हैं—'शब्दाच्च' शब्द-श्रुति भी इस पक्षमें संभव है, क्योंकि वृत्ति और वृत्तिमान्में का उपचार है, ऐसा अर्थ है ॥ १ ॥

'तस्मादुपशान्ततेजाः० (अतः जिसका तेज (शारीरक ऊष्मा) शान्त हो जाता है वह मनमें हुई इन्द्रियोंके सहित पुनर्जन्मको प्राप्त हो जाता है) इसमें सब इन्द्रियोंका समानरूपसे मनमें सुना जाता है । उसमें भी इसीसे--वाणीके समान चक्षु आदिका भी सवृत्तिक मनके अवस्थित र वृत्तिलयका दर्शन होता है, अतः तत्त्व प्रलयका असंभव होनेसे और शब्दोपपत्ति होनेसे सब वृत्ति द्वारा ही मनका अनुवर्तन करती हैं। सब इन्द्रियोंका समानरूपसे मनमें उपसंहार होनेपर नसि सम्पद्यते०' इस समय वाणीका पृथक् ग्रहण उदाहरणके अनुरोधसे है ॥ २ ॥

'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इस श्रुतिमें वृत्तिलयकी विवक्षा है यह निश्चित किया गया । अब जो वाक्य है 'मनः प्राणे' (मन प्राणमें लय होता है) क्या यहाँ भी वृत्तिलय ही विवक्षित है वृत्तिवान्का लय विवक्षित है । इस प्रकार संशय होनेपर पूर्वपक्षी —यहाँ वृत्तिवाले मनका ही है, ऐसा प्राप्त होता है । कारण कि श्रुतिके अनुग्रहसे प्राण मनकी प्रकृति उपपन्न होता है । जैसे

सत्यानन्दी दीपिका

' यह सूत्र आगे कहेंगे । यदि स्वरूपसे वाणीका लय मानें तो 'अविभागो वचनात्' इस पृथक् रचना व्यर्थ होगी और तत्त्वज्ञ और अज्ञमें कोई भेद नहीं रहेगा । इसलिए म्रियमाणकी वृत्ति ही मनमें लय होती है ॥ १ ॥

कार्य अपने उपादानमें लय होता है अनुपादानमें नहीं, इस न्यायसे मनका प्राणमें लय नहीं उसकी वृत्तिका लय होना चाहिए, इससे 'मनः प्राणे' इस श्रुति और न्यायका विरोध उपस्थित

पदच्छेद—सः, अध्यक्षे, तदुपगमादिभ्यः ।

सूत्रार्थ—(सः) वह प्राण वृत्तिरहित होकर (अध्यक्षे) जीवात्मामें अवस्थित होता है (तदुपगमादिभ्यः) क्योंकि जीवमें प्राणके उपगम, अनुगम और अवस्थान श्रुत हैं ।

❀ स्थितमेतत् यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः, कि वा देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीव इति । तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्प्राणस्य तेजस्येव संपत्तिः स्यान अश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति । एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—सोऽध्यक्ष इति । स प्रकृ प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते । तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवती त्यथः । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः । 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रै दूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्शयति विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४।४।२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानु गामितां दर्शयति, तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ ४।४।२) इति । 'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरण ग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति । ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते, कथं प्राणोऽध्यक्ष इत्यधि कावपः क्रियते ? नैष दोषः, अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य, श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥४॥

यह सिद्ध हुआ कि जिसकी जिससे उत्पत्ति नहीं होती उसका उसमें वृत्तिलय होता है स्वरू लय नहीं । अब 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें लीन होता है) इस श्रुति वाक्यपर यह विचार कि जाता है कि क्या श्रुतिके अनुसार प्राणका तेजमें ही वृत्तिलय होता है अथवा देह, इन्द्रियरूप पञ्जर अध्यक्ष जीवमें वृत्तिलय होता है ? पूर्वपक्षी—उसमें श्रुतिके विषयमें अतिशंका युक्त न होनेसे प्राणक तेजमें ही लय होना चाहिए, क्योंकि अश्रुतकी कल्पना अन्याय है । सिद्धान्ती —ऐसा प्राप्त होने प्रतिपादन करते हैं—'सोऽध्यक्षे' वह प्रकृत प्राण अविद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञारूप उपाधिवाले विज्ञान स्वरूप अध्यक्षमें अवस्थित होता है । वह अध्यक्ष प्रधान प्राणवृत्ति होती है, ऐसा अर्थ है । किससे इससे कि उसके उपगमादि हैं । 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले०' (इसीप्रकार अंतकालमें जब वह ऊर्ध्व उच्छ्वासी होता है तब सब वाक् आदि प्राण इस आत्माके अभिमुख जाते हैं) यह दूसरी श्रुति अवि शेषसे सब प्राणोंको अध्यक्षोपगामी दिखलाती है। और 'तमुत्क्रामन्तं०' (उसके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ हो प्राण उत्क्रमण करता है) यह श्रुति वाक्य विशेषरूपसे पाँच वृत्तिवाले प्राणमें अध्यक्षकी अनुगामिता दिखलाता है । और 'प्राणमनुत्क्रामन्तं०' (प्राणके उत्क्रमण करनेपर सब वागदि प्राण उत्क्रमण करते हैं) इसप्रकार अन्य प्राणोंमें उस प्राणकी अनुवृत्तिता दिखलाता है 'सविज्ञानो भवति' (तब यह विज्ञानवाला होता है) इसप्रकार अध्यक्षको अन्तर्विज्ञानवत्त्व प्रदर्शनसे उसमें विलय करण समुदायवाले प्राणका अवस्थान बोधन करती है । परन्तु 'प्राणस्तेजसि' ऐसी श्रुति है तब 'प्राण अध्यक्षमें लीन होता है' यह अधिक ग्रहण क्यों किया जाता है ? यह दोष नहीं है, क्योंकि उत्क्रमण आदि व्यवहार अध्यक्ष प्रधान है और अन्य श्रुतिगत विशेषकी भी अपेक्षा होनी चाहिए ।४।

सत्यानन्दी दीपिका

* अब उक्त न्यायसे प्राणवृत्तिलयके विषयमें विचार किया जाता है—'प्राणस्तेजसि' यह श्रुति प्राणका तेजमें और 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले' इत्यादि श्रुतियाँ उपगमन आदि हेतुओंसे जीव में लय कहती हैं । इन दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके विद्यमान होनेपर संशय होता है । पूर्वपक्षी— 'प्राणस्तेजसि' आदिसे कहते हैं । सिद्धान्ती—इस प्रकृत प्राणकी वृत्ति जीवात्मामें ही लय होती है

आमनन्त्यब्योनिं च प्राणम् । 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः । अतश्च यन्मनः प्राणे तेऽन्नमेव तदप्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति । ❀ एवं ब्रूमः—तदप्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयते इत्युत्तराद्वाक्या- न्तव्यम् । तथा हि—सुषुप्सोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परिस्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनो- नामुपशमो दृश्यते । न च मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति, अतत्प्रकृतित्वात् । ननु तं मनसः प्राणप्रकृतित्वम्—नैतत्सारम्, न हीदृशेन प्राणाडिक्केन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे मर्हति । एवमपि ह्यन्ने मनः संपद्येताप्सु चान्नमप्स्वेव च प्राणः । न ह्येतस्मिन्नपि पक्षे भावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायत इति किंचन प्रमाणमस्ति तस्मान्न मनसः प्राणे स्व- प्ययः । वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति दर्शितम् ॥३॥

(३ अध्यक्षाधिकरणम् । सू० ४-६)

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

अन्नमयं हि सोम्य०' (हे सोम्य ! मन अन्नमय है और प्राण जलमय है) इस प्रकार अन्न कारणक और जल कारणक प्राण है ऐसा श्रुति कहती है । और 'आपश्चान्नमसृजन्त' (जलने अन्न उत्पन्न) ऐसी श्रुति है । इस कारण मनका जो प्राणमें विलय होता है वह अन्नका ही जलमें लय होता मन ही अन्न है और प्राण ही जल है, क्योंकि प्रकृति और विकारका अभेद है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—तो भी बाह्य इन्द्रियोंकी वृत्तिको ग्रहण करनेवाला वृत्ति द्वारा ही प्राणमें लय होता है, ऐसा उत्तर वाक्य (मनः प्राणे) से जानना चाहिए, क्योंकि और मुमुर्षु पुरुषकी चलनात्मक प्राणवृत्तिके अवस्थित होनेपर मनकी वृत्तियोंका उपशम देखा है। इसलिए मनका प्राणमें स्वरूप लय नहीं हो सकता, क्योंकि अतत्प्रकृति है—प्राण मनकी नहीं है। परन्तु ऐसा दिखलाया गया है कि प्राण मनकी प्रकृति है ? उसमें कोई सार नहीं है, इस प्रकारकी परम्परा प्रणालीसे प्राण मनकी प्रकृति होनेसे मनका प्राणमें लय होना युक्त है। परन्तु ऐसी परम्परा प्रणाली होनेपर भी मन अन्नमें लय हो, और अन्न जलमें और प्राण लय होना चाहिए । इस पक्षमें भी प्राणरूपसे परिणत जलसे मन उत्पन्न होता है, इसमें कोई नहीं है । इसलिए मनका प्राणमें स्वरूप लय नहीं है । वृत्तिका लय होनेपर भी तो [मनः प्राणे] श्रुति उपपन्न होती है, क्योंकि वृत्ति और वृत्तिमान्का अभेदोपचार है, ऐसा दिखलाया गया है ॥ ३ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

संशय होता । पूर्वपक्षी—मनका स्वरूपसे ही प्राणमें लय होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होनेसे और न्याय दोनोंकी उपपत्ति होती है । जैसे कि अन्न मनकी प्रकृति है और जल अन्नकी प्रकृति है । जलका विकार है और मन अन्नका है । इस प्रकार प्रकृति और विकारका अभेद होनेसे मन त्मक है और प्राण जलात्मक है । जैसे जल अन्नात्मक मनकी परम्परा प्रकृति है, वैसे जलात्मक भी मनकी प्रकृति है । इसप्रकार श्रुति और न्यायका अविरोध होनेसे मनका प्राणमें लय युक्त है ।

सिद्धान्ती—'आपोऽन्नमसृजन्त' इससे जल और अन्नका केवल कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है उनके विकार प्राण और मनका भी । यदि इस कारणप्रणालीसे जल और अन्नके विकार प्राण मनका भी प्रकृति-विकृतिभाव माना जाय तो जल और पृथ्वीके विकार हिम और घटका भी विकारभाव होनेसे अतिप्रसङ्ग होगा । जिस विकारका जो साक्षात् उपादान होता है वह उसमें होता है अन्यमें नहीं, इसलिए इस न्यायसे श्रुत्यर्थका बाधकर मन पदसे लक्षणा द्वारा मनकी ग्रहण करना चाहिए ॥ ३ ॥

कथं तर्हि 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥५॥

पदच्छेद—भूतेषु, तच्छ्रुतेः।

सूत्रार्थ—(भूतेषु) प्राण संयुक्त वह अध्यक्ष तेजके सहचारी देहके बीजभूत सूक्ष्म भूतों अवस्थित होता है। (तच्छ्रुतेः) क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' ऐसी श्रुति है।

❀ स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेज:सहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम्। 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेः। ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति, प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य—नैष दोषः, सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तराल उपसंख्यातत्वात्। योऽपि हि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति, सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपु यातीति शक्यते वदितुम्। तस्मात् 'प्राणस्तेजसी'ति प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्यैवैतत्तेज:सहचरिते भूतेष्ववस्थानम् ॥५॥

कथं तेज:सहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते ? यावतैकमेव तेजः श्रूयते 'प्राणस्तेजसी'ति अत आह—

तत्र 'प्राणस्तेजसि' यह श्रुति कैसे है अर्थात् इसका क्या अर्थ है ? इसपर कहते हैं—

प्राण संयुक्त वह जीवात्मा तेज सहचरित देहके बीज भूत सूक्ष्म भूतोंमें अवस्थित होता है ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि 'प्राणस्तेजसि' (प्राण तेजमें लीन होता है) ऐसी श्रुति है। परन्तु यह श्रुति प्राणकी तेजमें स्थिति दिखलाती है न कि प्राणसम्बद्ध जीवात्माकी ? यह दोष नहीं है, कारण कि 'सोऽध्यक्षे' इस प्रकार अध्यक्षका भी मध्यमें कथन है। जो भी स्रुघ्नसे मथुरा जाकर मथुरासे पाटलिपुत्र जाता है वह भी स्रुघ्नसे पाटलिपुत्र जाता है, ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए 'प्राणस्तेजसि' इससे प्राण सम्बद्ध जीवका भी तेज सहचरित भूतोंमें यह अवस्थान है ॥ ५ ॥

परन्तु तेज सहचारी भूतोंमें जीवकी अवस्थिति है यह कैसे कहा जाता है जब कि 'प्राणस्तेजसि' इस प्रकार एक ही तेजकी श्रुति है ? इसपर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

क्योंकि जीवप्रधान ही प्राण वृत्ति होती है। जबतक जीव शरीरमें विद्यमान है तबतक प्राणकी श्वासोच्छ्वासरूप वृत्ति शरीरमें रहती है अन्यथा नहीं। अब इसको उपगमन आदि श्रुति द्वारा दिखाया जाता है—'एवमेवेममात्मानमन्तकाले' यह श्रुति जीवात्माके प्रयाणकालमें वाणी आदि सम्पूर्ण प्राणोंका उसके प्रति उपगमन-अभिमुखत्व दिखलाती है। जैसे राजाकी यात्रामें साथ चलनेवाले सभी सेवक उसके प्रति अभिमुख हो जाते हैं और प्रस्थान करनेपर पीछे-पीछे चलते हैं। इसप्रकार 'तमुत्क्रामन्तं०' यह श्रुतिवाक्य प्राणको विशेषरूपसे जीवात्माका अनुगामी बतलाता है। और 'प्राणमनुत्क्रामन्तं' यह श्रुतिवाक्य प्राणमें विशेषरूपसे जीवात्माका अनुगमन दिखलाता है। इसप्रकार 'स विज्ञानो भवति' यह श्रुति प्राणकी जीवात्मामें अवस्थिति दिखलाती है। यद्यपि 'प्राणस्तेजसि' यह श्रुति प्राणवृत्तिका तेजमें लय कहती है, तो भी प्राण आदिका उत्क्रमण आदि व्यवहार देह आदिके अध्यक्ष जीवात्माके अधीन होता है। इस हेतुसे और 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति' इस अन्य श्रुतिमें विशेष कथन भी अपेक्षणीय होनेसे प्राणवृत्तिका जीवात्मामें ही लय होता है ॥ ४ ॥

* यद्यपि 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुति वाक्यसे प्राणवृत्तिका तेजमें लय प्रतीत होता है, तो भी सर्व शाखाओंके विचारसे तेज शब्दसे उपलक्षित तेज सहचारी देहके हेतुभूत सूक्ष्म पाँच भूतोंके स्वामी जीवका ग्रहण है, उसमें प्राणवृत्ति लय होती है। परन्तु ऐसा माननेपर उक्त श्रुतिका क्या अर्थ

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥६॥

पदच्छेद—न, एकस्मिन्, दर्शयतः, हि।

सूत्रार्थ—(एकस्मिन्) जीवकी उत्क्रमण कालमें एक ही तेजमें अवस्थिति (न) नहीं है, ु देहके पाँच भौतिक होनेसे उसकी पाँच भूतोंमें स्थिति है, (हि) क्योंकि (दर्शयतः) श्रुति स्मृति इसी अर्थको दिखलाती हैं।

❀ नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते, कार्यस्य शरीरस्यानेकत्वदर्शनात्। दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५।३।३) इति। व्याख्यातम्—'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।१।२) इत्यत्र। श्रुतिस्मृती चैतमर्थं यतः। श्रुतिः—'पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या। स्मृतिरपि—ण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः। ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः' द्या। ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' ० ३।२।१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति—'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः' (बृ० ३।२।१३) इति। अत्रोच्यते–तत्र कर्मप्रयुक्तस्य तिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रियविषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता, इह पुनर्भूतोपानाद्देहान्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम्। प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः र्शितम्, नत्वाश्रयान्तरं निवारितम्, तस्माद्विरोधः ॥६॥

अन्य शरीर प्राप्त करनेकी इच्छाके समय जीव एक ही तेजमें अवस्थित नहीं होता, क्योंकि शरीर अनेकात्मक देखनेमें आता है। 'आपः पुरुषवचसः' (आप-सोम घृतादि-'पुरुष' संज्ञाको प्राप्त होता है) यह प्रश्न और उत्तर इस अर्थको दिखलाता है। इसका 'त्र्यात्मकत्वात्तु' इस में व्याख्यान किया गया है। श्रुति और स्मृति भी इस अर्थको दिखलाती हैं। 'पृथिवीमय०' थिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय) इत्यादि श्रुति है। और 'अण्व्यो०' पर्यन्त पाँच भूतोंके जो सूक्ष्म अविनाशी भाग कहे गए हैं, उनके साथ यह सब क्रमसे उत्पन्न है) इत्यादि स्मृति भी है। परन्तु शरीरान्तर प्राप्त करनेकी इच्छाके समय वाक् आदि इन्द्रियों आत्मामें उपसंहार होनेपर 'क्वायं पुरुषो०' (आर्तभाग–उस समय यह पुरुष कहां रहता है) ऐसा म्भकर 'तौ ह यदूचतुः०' (तब याज्ञवल्क्य और आर्तभाग दोनोंने उठकर एकान्तमें विचार किया। नें जो कुछ कहा वह कर्म ही कहा, तथा जिसकी प्रशंसा की वह कर्मकी प्रशंसाकी) इस प्रकार श्रुति आत्माको कर्माश्रयता निरूपण करती है। इसपर कहते हैं—उसमें कर्म प्रयुक्त ग्रह और ग्रह नामक इन्द्रिय और विषयात्मक बन्धनकी प्रवृत्ति होती है, अतः कर्म आश्रयरूपसे कहा गया और यहाँ तो भूतोपादानसे अन्य देहकी उत्पत्ति होती है, इसलिए भूताश्रयत्व कहा गया है। वहाँ शब्दसे भी प्राधान्यमात्र कर्मको दिखलाया गया है अन्य आश्रयका निवारण नहीं किया गया इससे कोई विरोध नहीं है ॥ ६ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

! इसमें 'योऽपि' आदिसे उदाहरण देते हैं। यह प्राण भी प्रथम अध्यक्षको प्राप्त होकर उसके तेजको प्राप्त होता है तो ऐसा उपपन्न होता है कि 'प्राण तेजमें लीन होता है' इस प्रकार सूत्र श्रुतिके बलसे प्राणवृत्तिका जीवात्मामें लय युक्त है ॥ ५ ॥

* 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' इस प्रश्नके उत्तरमें 'तौ ह यदूचतुः' यह श्रुति कर्माश्रयता कहती है देहका उपादानरूपसे पाँच भूत आश्रय हैं। इस प्रकार दोनोंको भिन्न-भिन्नरूपसे आश्रयत्व प्राप्त

(४ आसृत्युपक्रमाधिकरणम् । सू० ७)

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥७॥

पदच्छेद—समाना, च, आसृत्युमक्रमात्, अमृतत्वम्, च, अनुपोष्य।

सूत्रार्थ—(आसृत्युपक्रमात्) देवयान मार्गके उपक्रमसे पूर्व विद्वान् और अविद्वान्की (समाना) उत्क्रान्ति समान है, क्योंकि 'वाङ्मनसि' यह अविशेष श्रुति है, और सगुण विद्यामें (अमृतत्वं चानुपोष्य) जो अमृतत्व है वह अपेक्षित है।

❀ सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना, किं वा विरोषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम्। भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा। पुनर्भवाय च भूतान्याश्रीयन्ते। नच विदुषः पुनर्भवः संभवति। 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' इति स्थितिः। तस्मादविदुष एवैषोत्क्रान्तिः। ननु विद्याप्रकरणे समाम्नानाद्विदुष एवैषा भवेत्-न, स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात्। यथा हि-'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम', 'अशिशिषति नाम', 'पिपासति नाम' (छा० ६।८।१,३,५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन, नतु विदुषो विशेषवन्तो विधित्स्यन्ते। एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते, यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः संपद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम्। प्रतिषिद्धा चैषा विदुषः-'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।६) इति।

क्या यह पूर्वोक्त उत्क्रान्ति विद्वान् और अविद्वान्की समान होती है अथवा क्या विशेष युक्त होती है? पूर्वपक्षी—ऐसा सन्देह करनेवालोंके मतमें विशेष युक्त होती है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि यह उत्क्रान्ति भूताश्रय विशिष्ट है। और पुनर्जन्मके लिए भूतोंका आश्रय किया जाता है। और विद्वान्का पुनर्जन्म संभव नहीं है। क्योंकि 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' (विद्वान् मोक्षको प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है। इसलिए यह उत्क्रान्ति अविद्वान्की ही है। परन्तु विद्याके प्रकरणमें इसका श्रवण होनेसे यह उत्क्रान्ति विद्वान्की ही होनी चाहिए? नहीं, कारण कि स्वाप आदिके समान यहाँपर यथाप्राप्तका अनुकीर्तन है। जैसे कि 'यत्रैतत्पुरुषः०' (जिस अवस्थामें यह पुरुष 'सोता है' ऐसा कहा जाता है, जिस समय यह भोजन करना चाहता है, पीना चाहता है) इस प्रकार विद्याके प्रकरणमें भी प्रतिपादनके अभीप्सित वस्तुके प्रतिपादनके अनुगुणसे सर्वप्राणी साधारण ही स्वाप आदि कहे जाते हैं न कि विद्वान्के लिए विशेषरूपसे विधान करना अभीष्ट है, इस प्रकार जो जिस परदेवतामें प्रयाण करनेवाले पुरुषका तेज सम्पन्न होता है 'वह आत्मा है वह तू है' उसे प्रतिपादन करनेके लिए महाजन-जनसाधारणगत ही इस उत्क्रान्तिका अनुकीर्तन है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (उसके प्राण होनेसे दोनों श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं है ॥ ६ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ इस प्रकार प्रयाण समय प्रथम बाह्येन्द्रियोंका मनमें वृत्तिलय होता है, पश्चात् बाह्येन्द्रियवृत्तिसहित मनोवृत्तिका प्राणमें और प्राणवृत्तिका तेज सहचारी भूतोपाधि विशिष्ट जीवमें लय होता है। इसप्रकार उत्क्रान्तिकी व्यवस्था कही गई है। वह सब प्राणियोंमें समान है। यह 'समाना च' इत्यादिसे कहते हैं। 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते' (छा० ६।८।६) (हे श्वेतकेतु! प्रयाण करनेवाले इस पुरुषकी प्रथम वाणीकी वृत्ति मनमें लय होती है) यह श्रुति विद्वान् और अविद्वान्का समानरूपसे उत्क्रमण प्रकार कहती है। और 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' यह श्रुति विद्वान्के उत्क्रमणका निषेध करती है। इस प्रकार दोनों श्रुतियोंका परस्पर विरोध होनेसे संशय होता है कि विद्वान् और अविद्वान्की उत्क्रान्ति समान होती है अथवा कुछ विषमता है? पूर्वपक्षी—सगुण ब्रह्मज्ञानवाले

दविदुष एवैषेति । ❀ एवं प्राप्ते ब्रूमः--समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति, अविशेषश्रवणात् । अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याकर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवितुं संसरति, विद्वांस्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते । तत्-आसृत्युपक्रमादित्युक्तम् । नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यम्, नच तद्देशान्तरायत्तम्, कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति ? अत्रोच्यते-अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमदीन्क्लेशानपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते संभवति तत्र सृत्युपक्रमो भूतात्वं च । नहि निराश्रयाणां प्राणानां गतिरुपपद्यते । तस्माददोषः ॥७॥

(५ संसारव्यपदेशाधिकरणम् । सू० ८-११)

तदाऽऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

पदच्छेद - तद्, आपीतेः, संसारव्यपदेशात् ।

सूत्रार्थ—(तत्) वह तेज आदि सूक्ष्मभूत (आपीतेः) मोक्ष पर्यन्त रहते हैं, (संसारदेशात्) क्योंकि 'योनिमन्ये' इत्यादिसे संसारका व्यपदेश है ।

मण नहीं करते) इस प्रकार यह उत्क्रान्ति विद्वान्‌में प्रतिषिद्ध है । इसलिए यह उत्क्रान्ति विद्वान्‌की ही है । ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'वाङ्मनसि' (वाणी मनमें लीन होती है) आदि यह उत्क्रान्ति विद्वान् और अविद्वान् दोनोंकी मार्गके आरम्भ तक समान होनी चाहिए, क्योंकि का समानरूपसे श्रवण है । अविद्वान् देहके बीजरूप भूतसूक्ष्मोंका आश्रयकर कर्मसे प्रयुक्त हुआ ह ग्रहणकर अनुभव करनेके लिए संसारमें आता है । विद्वान् तो सगुण ब्रह्मज्ञानसे आलोकित हुए नाड़ीके द्वारका आश्रयण करता है । यह 'आसृत्युपक्रमात्' इस सूत्रावयवसे कहा गया है । नु विद्वान्‌को तो अमृतत्व प्राप्त होना चाहिए वह अन्य देशके अधीन नहीं है, तो पुनः उस द्वान्‌के लिए भूतोंका आश्रय अथवा मार्गका उपक्रम कैसे ? इसपर कहते हैं—यह अमृतत्व आपेक्षिक । उपासक अविद्या आदि क्लेशोंको अत्यन्त दग्ध न कर अपरविद्या-सगुण ब्रह्मविद्याकी सामर्थ्यसे पेक्षिक अमृतत्व प्राप्त करना चाहता है । इसलिए उस अवस्थामें उस विद्वान्‌के लिए मार्गका क्रम और भूतोंका आश्रय संभव है, क्योंकि निराश्रय प्राणोंकी गति उपपन्न नहीं होती, इसलिए नहीं है ॥ ७ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

द्वान्‌की उत्क्रान्ति नहीं होती है किन्तु उसकी मुक्ति हो जाती है । क्योंकि 'विद्ययाऽमृतमश्नते' र 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि श्रुति प्रमाण है । अतः अविद्वान्‌की ही उत्क्रान्ति होती है ।

* 'वाङ्मनसि' यह श्रुति विद्वान् और अविद्वान् दोनोंकी समानरूपसे उत्क्रान्ति कहती है । समान उत्क्रान्ति मार्गके उपक्रम तक है और उपक्रम अर्चिरादिसे होता है । भेद इतना है कि ब्रह्मोपासक उपासनासे प्रकाशित मोक्ष नाड़ी-मूर्धन्य नाड़ीका आश्रयकर ब्रह्मलोकमें जाता है, विद्वान् इस प्रकार नहीं जाता । और 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इस श्रुतिसे विद्वान्‌के लिए जो तत्व कहा गया है, वह आपेक्षिक है, क्योंकि 'यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेवसमुत्तिष्ठति' ह उपासक जिस भोगकी कामना करता है वह उसके संकल्पमात्रसे ही समुपस्थित हो जाताहै) श्रुति उसके लिए भोगका कथन करती है । 'आभूतसम्प्लवममृतत्वं प्रचक्षते' (भूतोंके प्रलयपर्यन्त लोक आदिकी प्राप्तिको अमृतत्व कहते हैं) इसलिए ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति आपेक्षिक अमृतत्व । और 'अमृतत्वं हि विद्याऽश्नुते' 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इत्यादि श्रुतियोंसे जो अमृतत्वका प्रतिपादन वस्तुतः वह निर्गुणविद्या-ब्रह्मात्मैकत्व जाननेवाले विद्वान् लिए है । उसके लिए ही 'न तस्य प्राणा-

❀ 'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्यात्तद्यथाप्रकृतं तेजः साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यत इत्येतदुक्तं भवति । कीदृशी पुनरियं संपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते । तत्रात्यन्तिक एव तावत्स्वरूपप्रविलय इति प्राप्तम्, तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः । सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परदेवतेति प्रतिष्ठापितम् । तस्मादात्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेजआदिभूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽऽपीतेरा संसारमोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते । 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' (क० ५।७) इत्यादिसंसारव्यपदेशात् । अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्येत । तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च । मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्रंसितुमर्हति । तस्मात्तत्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्बीजभावावशेषैवैषा सत्संपत्तिरिति ॥८॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

पदच्छेद—सूक्ष्मम्, प्रमाणतः, च, तथा, उपलब्धेः ।

सूत्रार्थ—अन्य भूतों सहित वह तेज (प्रमाणतः) प्रमाणसे (च) और (स्वरूपतः) स्वरूपसे (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म है, (तथोपलब्धेः) क्योंकि इसप्रकार ही उपलब्ध होता है ।

'तेजः परस्यां देवतायाम्' (तेज परदेवतामें लीन होता है) इस वाक्यमें प्रकरणकी सामर्थ्यसे उस प्रयाण करनेवाले पुरुषका जो प्रकृत तेज है वह अध्यक्ष सहित, प्राण सहित, करणग्राम सहित, भूतान्तरसहित परदेवतामें लीन होता है, ऐसा कहा जा चुका है । परन्तु यह संपत्ति किसप्रकारकी होनी चाहिए ? इसका विचार किया जाता है । पूर्वपक्षी -- ऐसी शंका होनेपर आत्यन्तिक ही स्वरूप विलय है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि वह परदेवता उस तेजकी प्रकृति हो सकता है । और सब उत्पन्न होनेवाले वस्तु समुदायकी परदेवता प्रकृति है. ऐसा प्रतिष्ठापित किया गया है । इसलिए यह अविभागापत्ति आत्यन्तकी है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—वह तेज आदि सूक्ष्मभूत श्रोत्र आदि करणोंके आश्रयरूप सम्यग्ज्ञान निमित्तिक संसार मोक्ष पर्यन्त अवस्थित होते हैं, क्योंकि 'योनिमन्ये० (कुछ अविद्यावान् मूढ जीव अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार शरीर धारण करनेके लिए वीर्यरूप बीजसे संयुक्त होकर योनिद्वारको प्राप्त होते हैं किसी योनिमें प्रविष्ट हो जाते हैं और कुछ अधम जीव मरकर स्थावर भावको प्राप्त होते हैं) इत्यादि संसारका व्यपदेश है । अन्यथा-यदि स्वरूपतः भूतोंका लय माना जाय तो प्रयाणके समयमें ही उपाधिके अस्तमयसे सब ब्रह्मके साथ अत्यन्त सम्पन्न हो जायंगे । ऐसा होनेपर विधि शास्त्र और विद्याशास्त्र अनर्थक हो जायंगे । मिथ्याभूत अज्ञान निमित्तिक बन्ध सम्यग्ज्ञानके विना विच्छिन्न नहीं हो सकता । इसलिए परदेवता तेजकी प्रकृति होनेपर भी सुषुप्त और प्रलयके समान बीजभाव अवशेष ही यह सत्संपत्ति है ॥ ८ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

उत्क्रामन्ति' यह श्रुति देहसे प्राणोत्क्रांतिका निषेध करती है । इसलिए विद्याके प्रकरणमें 'वाङ्मनसि' यह श्रुति कही गई है, वह उपासक और अनुपासक दोनोंके लिए समानरूपसे उत्क्रान्ति कहती है ॥७॥

* पूर्व अधिकरणमें विद्वान् और अविद्वान्की समानरूपसे उत्क्रान्ति कही गई है । अब उत्क्रान्तिके समय लिंग शरीर आश्रित उत्क्रान्त तेज आदि सूक्ष्म भूत परमात्मामें स्वरूपसे लय होते हैं अथवा बीज भावको लेकर लय होते हैं ? यह संशय इसलिए होता है कि दोनों प्रकारका विलय अवगत होता है । जैसे सुषुप्ति और प्रलयमें बीज भाव युक्त विलय होता है, वैसे उत्क्रान्तिके समय

* तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः प्रमाण-सूक्ष्मं भवितुमर्हति । तथा हि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य सौक्ष्म्यमुपलभ्यते । तनुत्वात्संचारोपपत्तिः । स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः । अत एव च देहान्निर्गच्छन्पार्श्व-र्नोपलभ्यते ॥९॥

नोपमर्देनातः ॥१०॥

पदच्छेद—न, उपमर्देन, अतः ।

सूत्रार्थ—(अतः) तेज--सूक्ष्म शरीर अतिसूक्ष्म होनेके कारण (उपमर्देन) स्थूल शरीरके र्दनसे भी (न) उपमर्दित नहीं होता ।

अत एव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेतरत्सूक्ष्मं रमुपमृद्यते ॥१०॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥११॥

पदच्छेद—अस्य, एव, च, उपपत्तेः, एष, ऊष्मा ।

सूत्रार्थ—(अस्यैव) इस सूक्ष्म शरीरकी ही (एष ऊष्मा) यह ऊष्मा है, (उपपत्तेः) क्योंकि की स्थूलशरीरके स्पर्श होनेसे उपपत्ति होती है ।

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैव ऊष्मा, यमेतस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्माणं विजा-न्ति । तथा हि—मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु ष्मोपलभ्यते, जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यत इत्यत उपपद्यते प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तव्यपा-श्रय एवैष ऊष्मेति । तथा च श्रुतिः 'उष्ण एव जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति ॥११॥

इस देहसे प्रयाण करनेवाले जीवके अन्य भूतों सहित आश्रय भूत वह तेज स्वरूपसे और णसे सूक्ष्म होने योग्य है, क्योंकि नाड़ी मार्गसे निष्क्रमण प्रतिपादक श्रुति आदिसे इसकी मता उपलब्ध होती है । ऐसा होनेपर सूक्ष्म होनेसे उसकी संचारोपपत्ति और स्वच्छ होनेसे तिघातोपपत्ति होती है । अतएव देहसे निष्क्रमण करता हुआ वह मुमुर्षु पार्श्वस्थ लोगोंसे उप-नहीं होता ॥ ९ ॥

अत एव–उस तेज–लिंगात्मक देहके सूक्ष्म होनेसे ही इस स्थूल शरीरके दाह आदि निमित्तसे र्दन होनेसे अन्य सूक्ष्म शरीर उपमर्दित नहीं होता ॥१०॥

और इस सूक्ष्म शरीरकी ही यह ऊष्मा है । जिस उष्माको इस शरीरमें संस्पर्शसे जानते हैं, कि मृतावस्थामें देहके अवस्थित होनेपर और देहके रूप आदि गुण विद्यमान होनेपर भी ऊष्मा नहीं होती जीवितावस्थामें ही तो उपलब्ध होती है । इस अन्वय-व्यतिरेकसे यह उपपन्न होता कि यही ऊष्मा प्रसिद्ध स्थूल शरीरसे भिन्न शरीराश्रय है । उसीप्रकार 'ऊष्ण एव० (जीवित होते शरीर ऊष्ण होता है और मृतक होते यह शीतल होता है) यह श्रुति है ॥११॥

सत्यानन्दी दीपिका

ज आदि सूक्ष्मभूत बीज सहित परमात्मामें विलय होते हैं । पूर्वपक्षमें मृतकमात्रकी मुक्ति सिद्ध सिद्धान्तमें शास्त्रबलसे सावशेष लय होता है ॥ ८ ॥

* संसारके मोक्ष पर्यन्त बीजभाव युक्त सूक्ष्म-अन्य भूतोंके साथ सूक्ष्म तेजका परमात्मामें कहा गया । अब एक और शंका उत्पन्न होती है कि लिंगात्मक तेजकी सूक्ष्म नाड़ीसे गति कैसे है, और किसी मूर्त पदार्थसे उसका प्रतिघात क्यों नहीं होता, और देहसे उत्क्रमण करते समय दिखाई क्यों नहीं देता ? इसपर सूत्रकार 'सूक्ष्मम्' इत्यादिसे कहते हैं । अतिसूक्ष्म होनेके कारण

(६ प्रतिषेधाधिकरणम् । सू० १२-१४)

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥

पदच्छेद—प्रतिषेधात्, इति, चेत्, न, शारीरात्।

सूत्रार्थ—(प्रतिषेधात्) 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इत्यादि श्रुतिसे निर्गुण ब्रह्मवित्के शरीरसे उत्क्रमणका प्रतिषेध होनेसे उसकी उत्क्रान्तिका प्रतिषेध है, (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं है, (शारीरात्) क्योंकि यह उत्क्रमण निषेध जीवसे है शरीरसे नहीं। इससे प्राणादि युक्त जीव और ब्रह्मवित्की उत्क्रान्ति है।

* 'अमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगतः। तत्रापि केनचित्कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति—'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इत्यतः परविद्याविषयात्प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत्—नेत्युच्यते, यतः शारीदात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां, न शरीरात्। कथमवगम्यते? 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति' इति शाखान्तरे पञ्चमीप्रयोगात्। संबन्धसामान्यविषया हि षष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या संबन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते। तस्मादिति च प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही संबध्यते, न देहः। न तस्मादुच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति, सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥१२॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

'अमृतत्वं चानुपोष्य' (अविद्या आदि क्लेश समुदायका अत्यन्त दाह किए विना अमृतत्व आपेक्षिक है) इस विशेषणसे आत्यन्तिक अमृतत्वमें गति और उत्क्रान्तिका अभाव स्वीकार किया गया है। उसमें भी किसी कारणसे उत्क्रान्ति विषयक आशंकाकर प्रतिषेध करते हैं–'अथाकामयमानो' (अथ–सकामकी संसारोक्तिके अनन्तर जो कामना करनेवाला नहीं है, अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है) अतः परविद्या विषयक प्रतिषेध होनेसे ब्रह्मज्ञानीकी देहसे प्राणोंकी उत्क्रान्ति नहीं है, ऐसा कहो, तो नहीं, ऐसा कहते हैं—क्योंकि प्राणोंकी यह उत्क्रान्तिका प्रतिषेध जीवात्मासे है शरीरसे नहीं। यह कैसे अवगत हो? इससे कि 'न तस्मात्प्राणा० (उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते) इसप्रकार अन्य शाखामें पञ्चमीका प्रयोग है। सम्बन्ध सामान्य विषयक षष्ठी हो शाखान्तरगत पञ्चमीसे सम्बन्ध विशेषमें व्यवस्थापित होती है। 'तस्मात्' (उससे) उसके साथ प्राधान्यसे अभ्युदय और निःश्रेयसमें अधिकृत देही सम्बन्धित होता है, देह नहीं। उस उत्क्रमणकी इच्छा करनेवाले जीवसे प्राण चले नहीं जाते, किन्तु उस जीवके साथ ही होते हैं, ऐसा अर्थ है ॥१२॥

प्रयाण करनेवाले पुरुषके प्राणकी वह उत्क्रान्ति देहसे होती है, ऐसा प्राप्त होनेपर उसका निराकरण करते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

उसका सूक्ष्म नाड़ीसे गमन होता है। उद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्श न होनेके कारण और अतिस्वच्छ होनेसे दर्शन और प्रतिघातके योग्य नहीं है ॥ ९ ॥

* 'अमृतत्वं चानुपोष्य' इस अनुपोष्य पदसे यह सिद्ध होता है कि जिसके अविद्या आदि क्लेश ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त नहीं हुए हैं, ऐसे सगुण उपासककी गति और उत्क्रान्ति हैं और जिसके अविद्या आदि क्लेश तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो गए हैं उस ब्रह्मवित्की गति और उत्क्रान्ति नहीं हैं, क्योंकि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' यह श्रुति है, ऐसा सिद्धान्त कहा गया है। अब इसपर

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥१३॥

पदच्छेद—स्पष्टः, हि, एकेषाम्।

सूत्रार्थ—(एकेषाम्) काण्व शाखावालोंके मतमें परब्रह्मवित्के प्राणोंके शरीरसे उत्क्रमणका तिषेध (स्पष्टः) स्पष्ट उपलब्ध होता है (हि) क्योंकि ब्रह्मवेत्ताके प्राणोंका देहसे उत्क्रमण नहीं होता।

* नैतदस्ति, यदुक्तम्—परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिरुत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य देह्यपानत्वादिति। यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नातॄणां स्पष्ट उपलभ्यते। था हि-आर्तभागप्रश्ने 'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' (बृ० ३।२।११) त्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (बृ० ३।२।११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु णेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्कायाम्—'अत्रैव समवनीयन्त' इति प्रविलयं प्राणानां प्रतिज्ञाय सिद्धये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' (बृ० ३।२।११) इति सशब्दपरामृष्टस्य

सिद्धान्ती—जो यह कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ताकी भी देहसे उत्क्रान्ति होती है, क्योंकि उत्क्रान्ति तिषेधमें जीव अपादान है, यह युक्त नहीं है, क्योंकि कुछ शाखावालोंके मतमें देह अपादान-देहसे उत्क्रान्तिका प्रतिषेध स्पष्टरूपसे उपलब्ध होता है। जैसे कि 'यत्रायं पुरुषो म्रियत० (हे याज्ञवल्क्य! स समय यह ब्रह्मवित् पुरुष मरता है उस समय इसके प्राणोंका उत्क्रमण होता है वा नहीं?) समें इसप्रकार आर्तभागके प्रश्न होनेपर 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' (याज्ञवल्क्यने कहा कि प्राण त्क्रमण नहीं करते) इसप्रकार अनुत्क्रान्ति पक्षका परिग्रहकर तब क्या यह प्राणोंके अनुत्क्रान्त होने र मरता नहीं? इस आशंकाके होनेपर 'अत्रैव समवनीयन्ते' (वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं) इसप्रकार प्राणोंके प्रविलयकी प्रतिज्ञाकर उसकी सिद्धिके लिए 'स उच्छ्वयत्य० (वह फूल जाता है अर्थात् ह्य वायुको भीतर खींचता है और वायुसे पूर्ण हुआ ही मृत होकर निश्चेष्ट हो जाता है) इस 'सः'

सत्यानन्दी दीपिका

पूर्वपक्षी आक्षेप संगतिसे 'प्रतिषेधादिति' इत्यादिसे आक्षेप करते हैं। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (उस ब्रह्मवित्के शरीरसे प्राण उत्क्रमण नहीं करते) यह सिद्धान्तके अनुसार काण्व श्रुतिका अर्थ है। और 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति' (उस जीवसे प्राण उत्क्रमण नहीं करते) यह पूर्वपक्षके अनुसार माध्यन्दिन श्रुतिका अर्थ है। इसप्रकार श्रुतियोंमें षष्ठी और पञ्चमीके श्रवणसे सन्देह होता कि ब्रह्मवित्की उत्क्रान्ति होती है कि नहीं? सिद्धान्तमें 'न तस्य' इस श्रुतिके अनुसार उत्क्रान्तिका तिषेध देहसे है, और पूर्वपक्षमें 'न तस्मात्' इस श्रुतिके अनुसार उत्क्रान्तिका प्रतिषेध देही-जीवात्मा है। इसलिए 'न तस्मात्' यह माध्यन्दिन श्रुति 'न तस्य' इस सामान्य संबन्ध प्रतिपादक काण्व तिकी अपादान सम्बन्ध विशेषमें व्यवस्थापना करती है अर्थात् 'उस ब्रह्मवित्के प्राण जीवात्मासे त्क्रमण नहीं करते किन्तु देहसे करते हैं' इसप्रकार दोनों श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता कि जीवसे प्राण त्क्रमण नहीं करते। इसलिए ब्रह्मवित् की भी देहसे उत्क्रान्ति होती है ॥१२॥

* यद्यपि 'न तस्मात्' इस श्रुति वालोंके मतमें प्रधानरूपसे जीवका अपादानरूपसे ग्रहण है, तो भी देह और देहीकी अभेद विवक्षासे 'तस्मात्' कहा गया है। 'तस्मात्' इस पञ्चम्यन्त सर्वनाम 'तत्' शब्दसे देहका परामर्शकर देहापादानक उत्क्रान्तिका प्रतिषेध है। इसलिए माध्यन्दिन शाखावालोंको भी 'न तस्मात्' इस 'तत्' पदसे देहका ग्रहणकर उससे उत्क्रान्तिका प्रतिषेध करना चाहिए। 'न तस्य' यहां काण्व शाखावालोंको अभेदोपचारकी अपेक्षा नहीं है। 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' (प्राप्ति होनेपर निषेध होता है) इस न्यायसे भी देहसे उत्क्रान्ति प्राप्त है, अतः उससे प्रतिषेध युक्त है। जीवसे नहीं। इसलिए 'ब्रह्मवित्के प्राणोंकी देहसे उत्क्रान्ति नहीं होती' यह दोनोंका श्रुतियोंका एक अर्थ है।

प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनादीनि समामनन्ति । देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः । तत्सामान्यात्, 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहापादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः । यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येयं येषां पञ्चमीपाठः । येषां तु षष्ठीपाठस्तेषां विद्वत्संबन्धिन्युत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राप्ता न देहिनः । ❀ अपि च 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्येवमविद्वद्विषये सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४।४।६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम्, 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति व्यपदिश्य विद्वांसं यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेशः स्यात् । तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयम्, व्यपदेशार्थवत्त्वाय । नच ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्यप्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते, निमित्ताभावात्। 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति चैवं जातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥१३॥

(वह) शब्दसे परामृष्ट प्रकृत उत्क्रान्तिकी अवधिके उच्छ्वयन आदि-फूलना आदि कार्य श्रुति कहती है । ये देहके होने चाहिएँ देहीके नहीं । तत्सामान्यात्--विद्या प्रकरणरूप साधर्म्य होनेसे उक्त श्रुतिके साथ एकार्थक होनेसे 'तस्मात्प्राणा० (उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते किन्तु परमात्मामें ही पूर्णरूपसे विलीन हो जाते हैं) यहां भी अभेदोपचारसे देह अपादानक ही उत्क्रमणका प्रतिषेध है। जिनको पञ्चमी विभक्ति पाठ है उनको यद्यपि देहीका प्राधान्य है तो भी यह व्याख्या करनी चाहिए। जिनके मतमें षष्ठी विभक्ति पाठ है उनके मतमें विद्वत्सम्बन्धी उत्क्रान्तिका प्रतिषेध है । इसलिए 'तस्य' इस वाक्यको प्राप्त उत्क्रान्तिका प्रतिषेधार्थक होनेसे वह देहापादानक प्रतिषिद्ध होती है, क्योंकि देहसे उत्क्रान्ति प्राप्त है देहीसे नहीं । और 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा० (यह आत्मा नेत्रसे, मूर्धासे अथवा शरीरके किसी अन्य भागसे बाहर निकलता है । उसके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, उत्क्रमण करते हुए उस प्राणके पीछे सब वागादि प्राण उत्क्रमण करते हैं) इसप्रकार अविद्वान् विषयक विस्तार सहित उत्क्रमण और संसार गमन दिखलाकर 'इति नु कामयमानः' (इसप्रकार कामना करनेवाला संसारको प्राप्त होता है) इसप्रकार अविद्वान्की कथाका उपसंहारकर 'अथाकामयमानः' (अब जो न कामाना करनेवाला है) इस रीतिसे विद्वान्का व्यपदेशकर यदि उसके विषयमें भी उत्क्रान्ति ही प्राप्त कराए तो यह व्यपदेश असंगत-अयुक्त ही होगा । इसलिए अविद्वान्के विषयमें प्राप्त हुई गति और उत्क्रान्तिका विद्वान्के विषयमें प्रतिषेध है । अतः व्यपदेशकी सार्थकताके लिए ऐसा व्याख्यान करना चाहिए । सर्वगत ब्रह्मात्मभूत प्रक्षीण काम कर्मवाले ब्रह्मवित्की उत्क्रान्ति अथवा गति उपपन्न नहीं होती, क्योंकि उसके निमित्तका अभाव है । 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (यहांपर ब्रह्म प्राप्त करता है) इसप्रकारकी श्रुतियाँ गति और उत्क्रान्तिका अभाव सूचित करती हैं।१३

सत्यानन्दी दीपिका

❀ यदि अविद्वान्के समान विद्वान्की भी गति और उत्क्रान्ति मानी जायं तो 'अथाकामयमान योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैवसन्ब्रह्माप्येति' 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' (जिस ज्ञानावस्थामें इस विद्वान्की हृदयस्थित समस्त कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं तब वह विद्वान् पुरुष अमृत होता है यहीं ब्रह्म होता हुआ ब्रह्मको प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिपादित गति और उत्क्रान्तिका अभाव असंगत होगा । इसलिए अविद्वान्में प्राप्त गति और उत्क्रान्तिका विद्वान्में अभाव है, क्योंकि

स्मर्यते च ॥१४॥

पदच्छेद—स्मर्यते, च ।

सूत्रार्थ—और 'देवा अपि मार्गे मुह्यन्ति' यह स्मृति भी ब्रह्मज्ञानीकी गति और उत्क्रान्तिका कहती है ।

* स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि त:। देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः' इति । ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्म-य स्मर्यते—'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति श्राव' इति । न, सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति म, सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात् । न ह्यशरीरं गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः । तथा त्रैवोपसंहृतम्—'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः । दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूत-भवत्' इति । तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः । गतिश्रुतीनां तु विषयमुपरिष्टा-ख्यास्यामः ॥१४॥

(७ वागादिलयाधिकरणम् । सू० १५)

तानि परे तथा ह्याह ॥१५॥

पदच्छेद—तानि, परे, तथा, हि, आह ।

और महाभारतमें 'सर्वभूतात्मभूतस्य० (सब भूतोंका जो आत्मरूप है और जिसको भूतोंका अर्थात् आत्मभावसे ज्ञान है उसके लिए प्राप्य स्थान नहीं है, ऐसे प्राप्य पदरहित ब्रह्मवेत्ताके इच्छा करनेवाले देवगण भी उसके मार्गमें मोह प्राप्त करते हैं अर्थात् उसके मार्गका अभाव उसे देव नहीं जानते) इसप्रकार गति और उत्कान्दिके अभावकी यह स्मृति भी है । परन्तु किल० (महर्षि वेदव्यासके पुत्र मुमुक्षु शुकदेवने आदित्य की ओर प्रस्थान किया उसके पीछे पिताने बुलाया तब उन्होंने 'भो' ऐसा उत्तर दिया और उसने सुना) इसप्रकार सर्वगत भूत ब्रह्मवेत्ताकी गतिकी भी स्मृति है । नहीं, योगबलसे—अपरविद्या बलसे शरीर सहितका ही देश प्राप्ति पूर्वक यह शरीरका त्याग है, ऐसा समझना चाहिए । क्योंकि सब प्राणियोंसे आदिका उपन्यास है । अशरीर जाते हुएको सब प्राणी देख नहीं सकते । और 'शुकस्तु०' देव तो अन्तरिक्षमें जाकर पवनसे भी त्वरितगति कर और अपना प्रभाव दिखलाकर सर्वभूत ए) इसप्रकार वहाँपर ही उपसंहृत किया है । इससे ब्रह्मवेत्ताकी गति और उत्क्रान्तिका अभाव ति श्रुतियोंका विषय हम आगे व्याख्यान करेंगे ॥१४॥

सत्यानन्दी दीपिका

और उत्क्रान्तिका हेतु मिथ्याज्ञान ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है, तब सर्वगत ब्रह्मस्वरूप की गति और उत्क्रान्तिका असम्भव है ॥१३॥

क्रामन्ति मुनेः प्राणा व्यापी सर्वगतो हि सः । तेन व्याप्तमिदं सर्वं कुत उत्क्रम्य यास्यति ॥' (ब्रह्मवित् पुरुषके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, क्योंकि वह सर्वगत व्यापी है । उस से यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है, तो वह कहांसे उत्क्रमण कर कहां जायगा) इत्यादि भी विद्वान्की गति और उत्क्रान्तिका अभाव स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है । परन्तु 'तयोर्ध्वमायन्न-मेति' (उस सुषुम्ना नाड़ीसे ऊर्ध्व जाकर अमृत्वको प्राप्त होता है) 'स एवैतान्ब्रह्म गमयति' उनको ब्रह्माके पास पहुँचाता है) इत्यादि गति विषयक श्रुतियोंका विचार इस अध्यायके तृतीय करेंगे ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—(तानि) वे प्राणात्मक इन्द्रियाँ और भूत (परे) परमात्मामें ही लय होते (हि) क्योंकि (तथा आह) वैसे ही 'एवमेवास्य' इत्यादि श्रुति कहती है।

❀ तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मि न्नात्मनि प्रलीयन्ते, कस्मात्? तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश क पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्रश्न० ६।५) इति। ननु 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठ (मु० ३।२।७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स न, सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति, इत तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा, कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव संपद्यत इति। तस्माददोषः ॥१

(८ अविभागाधिकरणम् । सू० १६)

अविभागो वचनात् ॥१६॥

पदच्छेद—अविभागः, वचनात्।

पर ब्रह्मवेत्ताकी प्राण शब्दसे कथित वे इन्द्रियाँ और भूत उस परमात्मामें ही विलीन हैं। क्योंकि 'एवमेवास्य०' (जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें पहुँचकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्र इस सर्वद्रष्टाकी ये सोलह कलाएँ जिनका अधिष्ठान पुरुष ही है उस पुरुषको प्राप्त होकर लीन जाती हैं) ऐसी श्रुति है। परन्तु 'गताः कलाः०' (मोक्षकालमें देहारम्भक प्राण आदि पन्द्रह कला अपने-अपने आश्रयोंमें स्थित हो जाती हैं) इसप्रकार विद्वद्विषयक अन्य श्रुतिने परमात्मासे अन्य भी कलाओंका प्रलय कहा है। नहीं, क्योंकि पार्थिव आदि कलाएँ अपनी प्रकृति पृथिवी आदि ही विलन होती हैं वह श्रुति व्यवहारकी अपेक्षासे है। परब्रह्म वेत्ताका सम्पूर्ण कलासमूह ब्रह्ममें विलीन होता है इसप्रकार दूसरी श्रुति तो विद्वत् प्रतिपत्तिकी अपेक्षासे है। इसलिए दोष नहीं है।१

सत्यानन्दी दीपिका

❀ गत सूत्रमें परब्रह्मवेत्ताकी गति और उत्क्रान्तिका प्रतिषेध होनेसे उसके प्राण आदि कला का भी यहींपर विलय कहा गया है। इससे संशय होता है कि क्या यह प्राण आदि इन्द्रियोंका ल अपने-अपने उपादान पृथिवी आदिमें होगा कि परमात्मामें? क्योंकि विलय और प्रतिष्ठा प्रतिपाद दो विरोधी श्रुतियोंकी उपलब्धि होती है। एसी परिस्थितिमें विकारका अपने-अपने उपादान करण ही लय होता है। इस न्यायसे अनुग्रहीत 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इत्यादि श्रुतिसे पूर्वपक्ष प्राण आदि अपने-अपने उपादानमें लय होते हैं। इस पूर्वपक्षको आगेके लिए छोड़कर प्रथम 'तानि इत्यादिसे सिद्धान्त कहते हैं। 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽ मन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च ॥' (प्रश्न० ६।४) (उस अन्तर्यामी पुरुषने प्राण (हिरण्यगर्भ) को उत्पन्न किया। उस प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय- पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, व्रीहि, यव आदि अन्न, अन्नसे वीर्य-सामर्थ्य, तप, कर्मके साधनभूत ऋक्, यजु आदि मन्त्र, अग्निहोत्र आदि कर्म, कर्मोंके फलरूप लोक, उन लोकोंमें रहने वालोंके यज्ञदत्त आदि नाम, उनको रचना की) इसप्रकार षोडश कलाएँ हैं। 'गताः कलाः' इस श्रुतिमें मन और प्राणको एक कर पन्द्रह कलाएँ कही गई हैं। वस्तुतः विद्वान्की दृष्टिसे कलाओंका परमात्मामें विलय होनेपर भी लोकदृष्टिसे प्रतिष्ठामें—प्रकतिरूप पृथिवी आदिमें लय कथनका विरोध नहीं है। इससे कलाओंका अपनी-अपनी प्रकृतिमें लयके अनन्तर उन उपादानोंके साथ पुरुषमें लय होती हैं, यह दोनों श्रुतियोंका तात्पर्य है। इसलिए 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' यह श्रुति व्यवहार दृष्टिकी अपेक्षासे है और 'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः' यह श्रुति परमार्थ दृष्टिकी अपेक्षासे है। इस प्रकार दोनों श्रुतियोंका विषय भिन्न-भिन्न होनेसे कोई विरोध नहीं है ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—(विभागः) विद्वान्‌की कलाओंका ब्रह्मके साथ अत्यन्त अविभाग ही है। इसमें
नात्) क्योंकि 'भिद्यते तासां नामरूपे' इत्यादि श्रुति वचन है।

* स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति ? लयसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति—अविभागापत्तिरेवेति। कुतः ? वचनात्। हि—कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति—'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽ-भवति' (प्र० ६।५) इति। अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये साव-शेषोपपत्तिः। तस्मादविभाग एवेति ॥१६॥

(६ तदोकोऽधिकरणम्। सू० १७)

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च
हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

पदच्छेद—तदोकोग्रज्वलनम्, तत्प्रकाशितद्वारः, विद्यासामर्थ्यात्, तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्, हार्दानुगृहीतः, शताधिकया।

सूत्रार्थ—(तदोकोग्रज्वलनम्) इस शरीरसे उत्क्रमण करनेवाले विद्वान्‌के आयतनरूप हृदयके [illegible] प्रकाश हो जाता है। (तत्प्रकाशितद्वारः) उस प्रकाशसे प्रकाशित द्वारवाला वह विद्वान् [illegible] (विद्या]सामर्थ्यात्) सगुण ब्रह्मविद्याकी सामर्थ्यसे (तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च) विद्याके अङ्गभूत ब्रह्म-गमन विषयक स्मरण करता हुआ (हार्दानुगृहीतः) हृदयस्थ परमेश्वरसे अनुगृहीत होता हुआ [illegible] (शत]ाधिकया) एक सौ एकवीं मूर्धन्य नाड़ीसे निष्क्रमण करता है।

* समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता। संप्रति त्वपरविद्याविषयामेव चिन्ता-

क्या विद्वान्‌का वह कला प्रत्यय अन्योंके—अविद्वानोंके कला प्रत्ययके समान सावशेष होता है [illegible] निरवशेष ? ऐसा संशय होनेपर प्रलयके सादृश्यसे शक्ति अवशेष होती हैं ऐसा प्रसक्त होने [illegible] सिद्धान्ती—कहते हैं-अविभागसे ही प्राप्त होता है। क्योंकि ऐसा श्रुतिवचन है। जैसे कि [illegible] प्रलय कहकर 'भिद्येते तासां नामरूपे०' (उन कलाओंका नाम-रूप नष्ट हो जाता है और [illegible] तत्त्वको ब्रह्मवेत्ता 'पुरुष' ऐसा कहते हैं वह कलाहीन और अमृत हो जाता है) ऐसा कहती [illegible] अविद्या निमित्तिक कलाओंका विद्यानिमित्तिक प्रलय होनेपर उनकी सावशेषत्व उपपत्ति नहीं होती। [illegible] हुए अविभाग ही है ॥ १६ ॥

प्रसङ्ग प्राप्त परविद्यागत विचार समाप्त हुआ। अब तो सूत्रकार अपर विद्या विषयक विचारकी

सत्यानन्दी दीपिका

* उक्त लयको स्पष्ट करनेके लिए 'अविभागो वचनात्' इस सूत्रकी रचना है। सावशेष और [illegible] शेष इस भेदसे प्रलय दो प्रकारका होता है। कारणको छोड़कर केवल कार्यका लय वह सावशेष [illegible] कहा जाता है जैसे सुषुप्ति आदि अवस्थामें होता है। कारण सहित कार्यका लय वह निरवशेष लय [illegible] जाता है। जैसे रज्जु ज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर मिथ्या सर्प आदिकी निवृत्ति होती है। दोनों विकल्पोंके होनेपर संशय होता है। पूर्वपक्षी—प्रलयके सादृश्य होनेसे विद्वान्‌का कला [illegible] भी अविद्वान् कलाप्रलयके समान सावशेष होता है। इसलिए पूर्वपक्षमें विद्वान्‌की मुक्ति असिद्ध [illegible] सिद्धान्तमें निरवशेष कलाप्रलय होनेपर विद्वान्‌की मुक्ति सिद्ध है। सिद्धान्ती—'ब्रवीति' आदिसे [illegible] है ॥ १६ ॥

* इस अधिकरणमें सगुण उपासक और अनुपासकको उत्क्रान्ति आदि विषयक विचार किया [illegible] है। नाड़ी प्रवेशके नियमको कहनेके लिए सूत्र भागकी व्याख्या द्वारा 'तस्य' इत्यादिसे अधि-

मनुवर्तयति। समाना चासृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तं, तमिदानीं सृत्युपक्र दर्शयति, तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञानत्मनः, ओक आयतनं हृदयम ' सएतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः। तदग्रप्रज्वलनपूर्विका च रादिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते--'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आ निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति। सा किमनियमेने विद्वदविदुषोर्भवति, अथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेष दनियमप्राप्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्ध स्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे। ❀ कुतः? विद्यासामर्थ्यात्। यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत। तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च। विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसंबद्धा गतिरनुशीलयितव्या विद्या विशेषेषु विहिता, तामभ्यस्यंस्तयैव प्रतिष्ठत इति युक्तम्। तस्माद्धृदयालयेन ब्रह्मणा सूपासि तेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्य

अनुवृत्ति करते हैं। यह कहा जा चुका है कि अर्चिरादि मार्गके उपक्रम तक उपासक और अनुपासक उत्क्रान्ति समान होती है। अब उस मार्ग उपक्रमको दिखलाते हैं। उपसंहृत वागादि समूहवा उत्क्रमण करनेकी इच्छावाले उस जीवात्माका ओक-आयतन हृदय है, क्योंकि 'स एतास्तेजोमात्रा (वह जीवात्मा इस तेजके अवयव-चक्षु आदि इन्द्रियोंका उपसंहार करता हुआ हृदयमें प्राप्त होता है ऐसी श्रुति है। उस हृदयके अग्र भागका प्रज्वलन-प्रकाश होता है, उस हृदयाग्रभाग प्रज्वलन पूर्विका चक्षु आदि स्थानोंसे उसकी उत्क्रान्ति होती है, कारण कि 'तस्य हैतस्य० (उस इस हृदयके अग्रभाग प्रकाशित होता है, उसी प्रकाशसे यह आत्मा नेत्रसे, मूर्द्धासे अथवा शरीरके किसी अन भागसे बाहर निकलता है) ऐसी श्रुति है। क्या वह उत्क्रान्ति अनियमसे विद्वान् और अविद्वान् होती है अथवा विद्वान्के लिए कोई विशेष नियम है, ऐसा संशय होनेपर श्रुतिके अविशेषसे अनियम प्राप्त होनेपर कहते हैं--विद्वान् और अविद्वान्के हृदय नाड़ीमुखका प्रद्योतन और उससे प्रकाशि हुआ द्वार समान होनेपर भी विद्वान् मूर्धस्थानसे ही निष्क्रमण करता है और अन्य-अनुपासक अन् स्थानोंसे निष्क्रमण करते हैं। किससे ? विद्याकी सामर्थ्यसे। यदि विद्वान् भी अन्यके समान जिस किसी देहभागसे उत्क्रमण करे तो उत्कृष्ट लोक प्राप्त न करेगा, तो ऐसी परिस्थितिमें विद्या अनर्थक ही होगी, क्योंकि सगुण विद्याकी शेषभूत गतिकी अनुस्मृतिका सम्बन्ध है। विद्याकी शेषभूत और मूर्धन्य नाड़ीसे सम्बद्ध विद्या विशेषोंमें विहित गतिका अनुशीलन-ध्यान करना चाहिए। उस गतिका चिन्तन करता हुआ उसीसे प्रस्थान करता है, यह युक्त है। इससे हृदय स्थान स्थित और सम्यक् रूपसे उपासित ब्रह्मसे अनुगृहीत हुआ उसके भावको प्राप्त हुआ विद्वान् सौ से अतिरिक्त सौ से भिन्न एक सौ एकवीं मूर्धन्य नाड़ीसे निष्क्रमण करता है, अन्य-अनुपासक अन्य नाड़ियोंसे निष्क्रमण करते

सत्यानन्दी दीपिका

करणका विषय कहते हैं। 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा' (नेत्रसे अथवा मूर्धासे) इस प्रकारकी अनियमित श्रुति और 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (उस मूर्धन्य नाड़ी द्वारा निष्क्रमणकर अमृतत्वको प्राप्त होता है) इस विशेष श्रुतिके होनेसे संशय होता कि उपासक और अनुपासककी उत्क्रान्ति समान होती है अथवा विद्वान्के लिए कोई विशेष नियम है। पूर्वपक्षमें—उपासककी भी अनुपासकके समान अनियमसे उत्क्रान्ति होती है। सिद्धान्तमें--विद्वान्की उपासनाकी सामर्थ्यसे एक सौ एकवीं मूर्धन्य नाड़ीसे उत्क्रान्ति होती है।

❀ यद्यपि हृदयसे अनन्त नाड़ियाँ निकलती हैं, तो भी उनमें एक सौ एक मुख्य हैं, उनमें भी

निष्क्रामतीतराभिरितरे। तथा हि—हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—'शतं चैका च नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८।६।६) इति ॥१७॥

(१० रश्म्यधिकरणम्। सू० १८-१९)

रश्म्यनुसारी ॥१८॥

सूत्रार्थ—सुषुम्ना नाड़ी द्वारा देहसे उत्क्रमण किया हुआ उपासक नाड़ीसे सम्बद्ध सूर्य र्योंका अनुसारी होता हुआ ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।

* अस्ति हार्दविद्या—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) पक्रम्य विहिता। तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यः' (छा० ८।६।१) इत्युपक्रम्य नाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वोक्तम्—'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वं मते' (छा० ८।६।५) इति। पुनश्चोक्तम्—'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६) इति। च्छताधिकया नाड्या निष्क्रामन् रश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते। तत्किमविशेषेणा- नि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणा- शेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥१८॥

क्योंकि हार्द विद्याको प्रस्तुत कर 'शतं चैका० (हृदयकी एक सौ एक मुख्य नाड़ियाँ हैं। उनमें मूर्धाकी ओर निकल गई है, उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला जीव अमरत्वको प्राप्त होता है, नाड़ियाँ नाना गतिको देनेवाली केवल उत्क्रमणका कारण होती हैं) ऐसा कहते हैं ॥ १७ ॥

'अथ यदिदमस्मि० (अब इस ब्रह्मपुरके भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है) इस प्रकार क्रमकर हार्दविद्या विहित है। उसके प्रकरणमें 'अथ या एता०' (अब कमलाकार ब्रह्मोपासनाके न हृदयकी जो ये वक्ष्यमाण नाड़ियाँ हैं) इस प्रकार आरम्भकर सविस्तार नाडी और रश्मि- सम्बन्धको कहकर 'अथ यत्र० (पुनः जिस समय यह उपासक इस शरीरसे उत्क्रमण करता है उस इन किरणोंसे ही ऊर्ध्वको जाता है) ऐसा कहा गया है। और पुनः 'तयोर्ध्वमाय० (उसके ऊपरकी ओर जानेवाला जीव अमृतत्वको प्राप्त होता है) इस प्रकार कहा गया है। इसलिए सो एकवीं नाड़ीसे निष्क्रमण करता हुआ रश्मिके अनुसारी निष्क्रमण करता है, ऐसा ज्ञात होता तो क्या अविशेषसे ही दिन अथवा रात्रिमें वह म्रियमाण रश्मि अनुसारी होता है अथवा ने हो? ऐसा संशय होनेपर अविशेष श्रुतिसे अविशेषसे ही रश्मिका अनुसारी होता है, ऐसी ज्ञा की जाती है ॥ १८ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

सुषुम्ना नाड़ी मुख्य है, वह हृदयसे निकलकर दक्षिण नेत्र, तालु, कण्ठाध, स्तन, नासिका, मध्य- से ब्रह्मरन्ध्रको पहुँचकर सूर्य किरणोंसे एकरूप होकर आदित्यमण्डलमें प्रविष्ट होती है। इस प्रकार नाड़ीका ध्यान करनेवाला उपासक अन्तकालमें उसीसे उत्क्रमण करता है ॥ १७ ॥

* ब्रह्मनाड़ीसे निष्क्रान्त पुरुषका रश्मिके अनुसार ऊर्ध्व गमन रात्रिमें भी समान है। उस के लिए 'रश्म्यनुसारी' इस सूत्रकी रचना है। म्रियमाणके मरनेका समय निश्चित नहीं है, और में सूर्यके न होनेसे रश्मियोंका अभाव भी स्वाभाविक है, तब ऐसी परिस्थितिमें संशय होता है कि उत्क्रान्त उपासक दिन अथवा रातमें अविशेषरूपसे रश्मिका अनुसारी होता है अथवा केवल में? पूर्वपक्षमें—रात्रिमें मृतक उपासकको रश्मिकी प्राप्तिके लिए सूर्योदयकी प्रतीक्षा आवश्यक है। दिनमें उत्क्रान्त उपासक ही रश्मि अनुसारी होता है। सिद्धान्तमें—'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति'

निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥१९॥

पदच्छेद निशि, न, इति, चेत्, न, सम्बन्धस्य, यावद्देहभावित्वात्, दर्शयति, च।

सूत्रार्थ—दिनमें नाड़ी रश्मि सम्बन्ध होनेसे दिनमें ही उत्क्रान्त उपासक रश्मि अनुस होता है, (निशि) रात्रिमें नाड़ी रश्मि सम्बन्ध न होनेसे उत्क्रान्त उपासक (न) रश्मि अनुस नहीं होता (इति चेन्न) ऐसा यदि कहो तो यह युक्त नहीं है। (सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्) क्यों नाड़ी रश्मि सम्बन्ध यावद् देह भावी है, (दर्शयति) 'अमुष्मादादित्यात्' यह श्रुति दिखलाती है।

❀ अस्त्यहनि नाडीरश्मिसंबन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वम्, रात्रौ तु प्रेतस न स्यात्, नाडीरश्मिसंबन्धविच्छेदादिति चेन्न, नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वात् यावद्देहभावी हि शिराकिरणसंपर्कः। दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' (छा० ८।६।२) इति निदाघसमये च निशास्वपि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते. प्रतापादिकार्यदर्शनात्। स्तोकानुवृत्ते दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तररजनीषु, शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु। 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्श यति। यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत्, ह्येतद्विशिष्याधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते, यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफला विद्येत्यप्रवृत्तिरे तस्यां स्यात्, मृत्युकालानियमात्। अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत। अहरागमेऽप्यस्य कदाचिदरश्मिसंबन्धार्हं शरीरं स्यात्, पावकादिसंपर्कात्। 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावादित्य

दिनमें नाड़ी और रश्मिका सम्बन्ध है, अतः दिनमें मृत विद्वान् रश्मि अनुसारी हो सकता है किन्तु रात्रिमें मृतक रश्मि अनुसारी नहीं हो सकता, क्योंकि रात्रिमें नाड़ी और रश्मिका सम्बन्ध विच्छिन्न होता है। ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं है, कारण कि नाड़ी और रश्मि सम्बन्ध यावाद् देह भावी है, जब तक देह विद्यमान है तब तक नाड़ी और रश्मिका सम्बन्ध है। इस अर्थको 'अमुष्मादा दित्यात्प्रतायन्ते०' (वे रश्मियाँ निरन्तर उस आदित्य मण्डलसे फैलती हैं और इन नाड़ियोंमें प्रवेश करती हैं और इन नाड़ियोंसे फैलती हैं वे उस आदित्यमण्डलमें प्रवेश करती हैं) यह श्रुति दिखलाती है। ग्रीष्मकालमें रात्रियोंमें भी किरणोंकी अनुवृत्ति उपलब्ध होती है, क्योंकि ताप आदि कार्य देखनेमें आता है। शिशिर ऋतुके दुर्दिनोंके—मेघाच्छन्न दिनोंके समान अन्य ऋतुओंकी रात्रियोंमें किरणोंकी अल्प अनुवृत्ति होनेसे वे दुर्लक्ष्य हैं। 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' (सूर्य ही यह ताप रात्रिमें धारण करता है) यह श्रुति भी यही दिखलाती है। यदि रात्रिमें मृतक रश्मि अनुसारके विना ही ऊर्ध्व आक्रमण-गमन करे तो रश्मिका अनुसार अनर्थक होगा। श्रुति इस प्रकार यह विशेषकर अभिधान नहीं करती कि जो दिनमें मरता है वह रश्मिकी अपेक्षा कर ऊर्ध्व आक्रमण करता है जो रात्रिमें मरता है वह रश्मिकी अपेक्षा न कर ही ऊर्ध्व आक्रमण करता है। यदि विद्वान् भी रात्रि प्रयाणके अपराध मात्रसे ऊर्ध्वगमन—आक्रमण नहीं करे तो विद्या पाक्षिक फलवाली होगी, इससे उसमें प्रवृत्ति न होगी, क्यों, मृत्यु समयका अनियम है। यदि रात्रिमें मृतक दिन आगमनकी प्रतीक्षा करे तो दिनके आगमन होनेपर भी कदाचित् इसका शरीर अग्नि आदिके सम्पर्कसे रश्मि सम्बन्धके अयोग्य होगा, 'स यावत्क्षिप्येन्मनः०' (वह जितने समयमें मनकी प्रेरणा करता है उतने ही समयमें आदित्यमें पहुँचता है)

सत्यानन्दी दीपिका

इस प्रकारकी अविशेष श्रुतिके होनेसे दिन अथवा रात्रि किसी समय भी उत्क्रान्त उपासक रश्मि अनुसारी होता है ॥ १८ ॥

---

* विद्याका फल पाक्षिक—केवल दिनमें मृत उपासक रश्मि अनुसारी होता है। ऐसा नहीं है, किन्तु

(छा० ८।६।५) इति च श्रुतिरनुदीक्षां दर्शयति। तस्मात्तदविशेषेणैवेदं रात्रिंदिवं ुसारित्वम् ॥१९॥

(११ दक्षिणायनाधिकरणम् । सू० २०-२१)

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

पदच्छेद—अतः च, आयने, अपि, दक्षिणे।

सूत्रार्थ—(अतश्च) और प्रतीक्षाकी उपपत्ति न होनेसे (दक्षिणे-आयनेऽपि) दक्षिणायनमें भी पासकको विद्याका फल प्राप्त होता है।

* अत एव चोदीक्षानुपपत्तेः, अपाक्षिकफलत्वाच्च विद्यायाः, अनियतकालत्वाच्च दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान्प्राप्नोत्येव विद्याफलम्। उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धे- च प्रतीक्षादर्शनात्, 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्' (छा० ४।१५।५) इति तेः, अपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामाशङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति। प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्व- । भीष्मस्य प्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति—'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० ४।३।४) इति ॥ २० ॥

ननु च—'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि र्षभ' (गी० ८।२३) इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावनावृत्तये मितः, कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति-अत्रोच्यते—

प्रकार यह श्रुति अप्रतीक्षा दिखलाती है। इसलिए अविशेषसे ही यह रात्रि और दिनमें रश्मिका ुसरण होता है ॥ १९ ॥

अत एव प्रतीक्षाकी अनुपपत्ति. विद्यफलके अपाक्षिक और मृत्युके अनियमित काल होनेसे ायनमें भी म्रियमाण विद्वान् विद्याफलको प्राप्त होता ही है। उत्तरायणमें मरणकी प्रशस्ता द्ध होनेसे और भीष्मकी प्रतीक्षा दर्शनसे और 'आपूर्यमाणपक्षा० (शुक्ल पक्षाभिमानी देवतासे ायणके छः मासोंको प्राप्त होता है) इस श्रुतिसे भी उत्तरायण अपेक्षितव्य है, इस शंकाको इस दूर करते हैं। प्राशस्त्य प्रसिद्धि अविद्वद्विषयक है। भीष्मकी उत्तरायण प्रतीक्षा तो आचारके ालनके लिए और पिता शान्तनुके प्रसादसे प्राप्त स्वेच्छासे मृत्यु दिखलानेके लिए है। श्रुतिका तो,'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रमें कहेंगे ॥२०॥

परन्तु 'यत्र काले० (हे अर्जुन! जिस कालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन अनावृत्ति और आवृत्ति गतिको भी प्राप्त होते हैं, उस काल—मार्गको कहूँगा) इसप्रकार कालकी प्रधानतासे मकर अह (दिन) आदि काल विशेष अपुनरावृत्तिके लिए स्मृतिमें नियमित किया है, तो अथवा दक्षिणायनमें प्रयाण करनेवाला अनावृत्तिको किसप्रकार प्राप्त होगा? इसपर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

अथवा रातमें मृत उपासक भी विद्याकी सामर्थ्यसे रश्मि अनुसारी होकर ऊर्ध्व गमन करता है ॥१९॥

* विद्वान्का दक्षिणायनमें मरण इस अधिकरणका विषय है। अत्र इसपर विचार किया है दक्षिणायनमें म्रियमाण विद्वान् विद्याफल प्राप्त करता है कि नहीं? यह सन्देह इसलिए है कि विद्याका फल नित्यके समान श्रुत है और उत्तरायण मरण दक्षिणायन मरणसे प्रशस्त गया है। इसप्रकार सन्देह होनेपर पूर्वोक्त हेतुओंका 'अतश्च' इस सूत्रसे अतिदेश करते हैं। विद्वान् केवल उत्तरायणमरणसे विद्याका फल प्राप्त करता है और दक्षिणायन मरणसे नहीं, विद्याका फल पाक्षिक हुआ, इससे विद्यामें प्रवृत्ति नहीं होगी, इसलिए विद्याका फल नित्यके न पूर्व अधिकरणमें कहा गया है। यदि अज्ञानियोंका दैववश उत्तरायण मरण हो तो वह

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥२१॥

पदच्छेद—योगिनः, प्रति, च, स्मर्यते, स्मार्ते, च, एते ।

सूत्रार्थ—(योगिनः प्रति) योगीके प्रति अह आदि कालका विनियोग अनावृत्तिके लिए (स्मर्यते) स्मरण किया जाता है । (स्मार्तेचैते) और यह दोनों गति सांख्य और योगमें भी प्रतिपादित है ।

* योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते । स्मार्ते चैते योगसांख्ये, न श्रौते । अतो विषयभेदात्प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञाने-ष्ववतारः । ननु 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्' । 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्' (गी० ८।२४-२५) इति च श्रौतावेतौ देवयानपितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति । उच्यते—'तं कालं वक्ष्यामि' (गी० ८।२३) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः । यदा पुनः स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते, तदा न कश्चि-द्विरोध इति ॥२१॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

योगीके प्रति यह अह आदि कालका विनियोग अनावृत्तिके लिए है, ऐसी स्मृति है । और यह दोनों गति सांख्य और योगमें प्रतिपादित हैं न कि श्रुतिमें । इसलिए विषय भेदसे और प्रमाण विशेषसे इस स्मार्तकाल विनियोगका श्रौत उपासनाओंमें अवतरण नहीं है । परन्तु 'अग्निर्ज्योतिरह०' (अग्नि, ज्योति, अहः, शुक्लपक्ष, षड्मास, उत्तरायण, धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और षड्मास, दक्षिणायन) इसप्रकार ये श्रौत देवयान और पितृयान मार्ग स्मृतिमें भी प्रत्यभिज्ञात होते हैं । कहते हैं—'तं कालं वक्ष्यामि' (उस काल-मार्गको कहूँगा) इसप्रकार स्मृतिमें कालके प्रतिज्ञान होनेसे विरोधकी आशंका कर परिहार कहा गया है । परन्तु जब स्मृतिमें भी अग्नि आदि देवताओंका आतिवाहिकरूपसे ही ग्रहण किया जाय तो कोई विरोध नहीं है ॥२१॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्कर भाष्य-भाषानुवादके चतुर्थाध्यायका द्वितीय पाद समाप्त ॥

सत्यानन्दी दीपिका

दक्षिणायन मरणसे प्रशस्त है । 'आपूयमाणपक्षा०' यह जो श्रुति कही गई है वह काल विशेषका ज्ञान करानेके लिए नहीं है । किन्तु 'आतिवाहिका' देवताओंका प्रतिपादन करती है । इसलिए दक्षिणायन में मृत विद्वान् भी विद्याकी सामर्थ्यसे विद्याके फल ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥२०॥

* स्मृतिके आधारपर कालकी प्रधानताको लेकर 'ननु' इत्यादिसे शंका की गई है । अब स्मृतिमें काल वाचक 'अह' आदि शब्द अग्नि आदि आतिवाहिक देवता वाचक हैं, इस अर्थको 'योगिनः प्रति' इस सूत्रसे कहते हैं । यहांपर श्रौत और स्मार्त भेदसे विचार किया जाता है—दहर आदि श्रौत उपासकोंको फल प्राप्तिके लिए कालकी प्रतीक्षा नहीं है । स्मार्त योगियोंके लिए तो कालकी अपेक्षा स्मृतिमें कही गई है, क्योंकि स्मार्त योगी दहर आदि श्रौत उपासक नहीं होते, किन्तु 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ (गी० ६।१) (हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्मफलको न चाहता हुआ कर्तव्य कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है और केवल अग्निहोत्र आदि कर्मका त्याग करनेवाला संन्यासी और योगी नहीं है) इसप्रकार भगवद् आराधनके लिए अनुष्ठित कर्म योग है । धारणापूर्वक जो अकर्तृत्वानुभव है, उसे 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्' (गीता० ५।९) (चक्षु आदि इन्द्रियां अपने अपने रूप आदि विषयोंमें वर्त रही हैं इसप्रकार समझा हुआ निःसन्देह ऐसे मानें कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ) इत्यादिसे सांख्य कहते हैं । इसप्रकार योग और सांख्य दोनों स्मृति प्रतिपादित हैं श्रुति प्रतिपादित

चतुर्थेऽध्याये तृतीयः पादः ।

[अत्र पादे सगुणविद्यावतो मृतस्योत्तरमार्गाभिधानम्]

(इस पादमें सगुण विद्यावाले मृतोपासकके लिए उत्तर मार्गका अभिधान है)

(१ अर्चिराद्यधिकरणम् । सू० १)

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥१॥

पदच्छेद—अर्चिरादिना, तत्प्रथितेः ।

सूत्रार्थ—(अर्चिरादिना) ब्रह्मलोक प्राप्तिके अभिलाषी सब उपासक अर्चिरादि मार्गसे ही हैं, (तत्प्रथितेः) क्योंकि सब विद्वानोंमें यह मार्ग प्रसिद्ध है ।

* आसृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम्, सृतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते । डीरश्मिसंबन्धेनैका 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति । अर्चिरादिकैका र्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः' (बृ० ६।२।१५) इति । 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोक-च्छति' (कौ० १।३) इत्यन्या । 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) परा । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' (मुण्ड० १।२।११) इति चापरा । तत्र संशयः—परस्परं भिन्ना एताः सृतयः, किं वैकैवानेकविशेषणेति ? तत्र प्राप्तं तावत्—भिन्ना एताः य इति, भिन्नप्रकरणत्वात्, भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च । अपि च 'अथैतैरेव रश्मिभिः' ० ८।६।५) इत्यवधारणमर्चिराद्यपेक्षायामुपरुध्येत । त्वरावचनं च पीड्येत 'स यावत्क्षिप्ये-

---

यह कहा जा चुका है कि मार्गके उपक्रम तक उत्क्रान्ति समान है । परन्तु मार्ग तो अन्य तियोंमें अनेक प्रकारसे सुना जाता है । 'अथैतैरेव०' (मरणानन्तर इन रश्मियोंसे ही ऊर्ध्वको चढ़ता) इसप्रकार नाड़ी और रश्मि सम्बन्धसे एक मार्ग है । 'तेऽर्चिषमभि० (ये ज्योतिके अभिमानी वताको प्राप्त होते हैं, ज्योति अभिमानी देवतासे अह अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं ; इसप्रकार ह दूसरा अर्चिरादिमार्ग है । 'स एतं देवयानं०' (वह इस देवयान मार्गको प्राप्तकर अग्निलोकको त होता है) यह अन्य मार्ग है । 'यदा वै०' (जिस समय यह उपासक पुरुष इस लोकसे प्रयाण कर ता है उस समय वह वायुको प्राप्त होता है) यह दूसरा मार्ग है । 'सूर्यद्वारेण० (वे पाप रहित र सूर्य द्वार-उत्तरायण मार्गसे वहां जाते हैं) यह और अन्य मार्ग है । उसमें संशय होता है कि ा ये परस्पर भिन्न-भिन्न मार्ग हैं अथवा क्या अनेक विशेषण विशिष्ट एक ही मार्ग है ? पूर्वपक्षी—स संशयमें ऐसा प्राप्त होता है कि ये मार्ग तो भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि भिन्न प्रकरण हैं और भिन्न ासनाके अङ्ग हैं । और 'अथैतैरेव रश्मिभिः' (अनन्तर इन रश्मियोंसे ही) इस अवधारणका र्चिरादिकी अपेक्षा होनेपर बाध होगा । और 'स यावत्क्षिप्येन्मन० (वह जितने समयमें मनको

सत्यानन्दी दीपिका

ीं हैं । इस तरह श्रुति और स्मृतिका विषय भिन्न-भिन्न होनेसे कोई विरोध नहीं है । यदि यहां शब्द आतिवाहिक देवताके लिए मानें तो श्रुति और स्मृति दोनोंमें कोई विरोध नहीं है । अग्नि दि नामवाले देवता हैं जो सगुण उपासकोंको ऊर्ध्व लोकोंमें ले जाते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि ायनमें भी मृत सगुण उपासक विद्याकी सामर्थ्यसे फल-ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥२१॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के चतुर्थाध्यायका द्वितीयपाद समाप्त ॥

* उत्क्रान्तिका निरूपण कर अब उससे साध्य और गन्तव्य मार्गका निरूपण करनेके लिए स पादका आरम्भ किया जाता है । उसमें भी पहले गत अधिकरणमें जिस किसी समय मृत उपा-की फल प्राप्ति कही गई है, उसके समान जिस किसी मार्गसे गति भी होनी चाहिए । इसप्रकार

न्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति । तस्मादन्योन्यभिन्न एवैते पन्थान इति । एवं प्राप्तेऽभिदध्महे—अर्चिरादिनेति । सर्वो ब्रह्मप्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे । कुतः ? तत्प्रथितेः । प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम् । तथा हि—पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति विद्यान्तरशीलिनामप्यर्चिरादिका सृतिः श्राव्यते । स्यादेतत्—यासु विद्यासु न काचिद्गतिरुच्यते तास्वियमर्चिरादिकोपतिष्ठताम्, यासु त्वन्या श्राव्यते तासु किमित्यर्चिराद्याश्रयणमिति ? अत्रोच्यते—भवेदेतदेवम्—यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः सृतयः स्युः । एकैव त्वेषा सृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोकप्रपदनी क्वचित्केनचिद्विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः, सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः । प्रकरणभेदेऽपि हि विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्गतिविशेषणानामप्युपसंहारः । विद्याभेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव । तथा हि—'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५), 'तस्मिन्वसन्ति शाश्वतीः समाः' (बृ० ५।१०।१), 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां व्युष्टिं व्यश्नुते' (कौषी० १।४), 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० ८।४।३) इति च तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते । ❀ यत्त्वेतैरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति—नैष

प्रेरित करता है उतने ही समयमें आदित्यको प्राप्त हो जाता है) यह त्वरावचन बाधित होगा । इसलिए ये मार्ग परस्पर भिन्न हैं । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—'अर्चिरादिना' । ऐसी हम प्रतिज्ञा करते हैं कि ब्रह्मलोक प्राप्त करनेकी इच्छावाले सब उपासक अर्चिरादि मार्गसे ही जाते हैं । किससे ? इससे कि उसकी प्रसिद्धि है । यह मार्ग सब विद्वानोंमें प्रसिद्ध ही है । जैसे कि पञ्चाग्नि विद्याके प्रकरणमें 'ये चामी अरण्ये०' तथा जो संन्यासी अथवा वानप्रस्थ वनमें श्रद्धायुक्त होकर सत्य-हिरण्यगर्भकी उपासना करते हैं) इसप्रकार अन्य विद्याका परिशीलन करनेवालोंके लिए भी अर्चिरादि मार्ग सुनाया जाता है । 'ऐसा हो, परन्तु जिन विद्याओंमें कोई गति (मार्ग) नहीं कही जाती है उनमें तो यह अर्चिरादि गति स्थापित हो जिनमें अन्य गति सुनाई जाती है उनमें अर्चिरादि गतिका आश्रयण क्यों होना चाहिए ? इसपर कहते हैं—यदि ये मार्ग अत्यन्त भिन्न हों तो ऐसा ही हो । परन्तु यह तो ब्रह्मलोक प्राप्त करनेवाला अनेक विशेषणोंसे युक्त एक ही मार्ग है और वह कहीं पर किसी एक विशेषणसे उपलक्षित होता है, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि सर्वत्र एक देशका प्रत्यभिज्ञान होनेसे अन्योन्य विशेषण-विशेष्यभाव उपपन्न होता है । प्रकरणके भेद होनेपर भी विद्याके एक होनेपर अन्योन्य विशेषणके उपसंहारके समान मार्ग विशेषणोंका भी उपसंहार होता है । विद्याके भिन्न होनेपर भी तो गतिके एकदेशका प्रत्यभिज्ञान होनेसे और गन्तव्यका अभेद होनेसे गतिका अभेद ही है । क्योंकि 'तेषु ब्रह्मलोकेषु०' (वे उन ब्रह्मलोकोंमें दीर्घायु हिरण्यगर्भके अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहते हैं) 'तस्मिन्वसन्ति०'(उसमें ब्रह्माके अनेक कल्पोंतक निवास करते हैं) 'सा या ब्रह्मणो०' (वह जो हिरण्यगर्भका सर्वलोक जय है और जो व्याप्ति है उस जय और व्याप्तिको प्राप्त करता है) 'तद्य एवैतं० (वहां ऐसा होनेके कारण जो इस ब्रह्मलोकको ब्रह्मचर्यसे-शास्त्र और आचार्यके उपदेश अनुसार प्राप्त होते हैं) इसप्रकार उस श्रुतिमें वही ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप एक फल दिखाया जाता है ।

सत्यानन्दी दीपिका

दृष्टान्त संगतिसे पूर्वपक्ष होनेपर इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है । इस अधिकरणमें विचार का विषय मार्ग है ।

❀ 'अथैतैरेव रश्मिभिः' अवधारणात्मक यह 'एव' शब्द रातमें स्पष्टरूपसे किरणोंकी प्रतीति

…, रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य । न ह्येक एव शब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्यर्चिरादींश्च व्यावर्तम् । तस्माद्रश्मिसंबन्ध एवायमवधार्यत इति द्रष्टव्यम्, त्वरावचनं त्वर्चिराद्यपेक्षायामपि …व्यान्तरपेक्षया शैघ्र्यार्थत्वान्नोपरुध्यते--यथा निमिषमात्रेणात्रागम्यत इति । अपि च …थैतयोः पथोर्न कतरेणचन' (छा० ५।१०।८) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षाणा …तृयाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति । भूयांस्यर्चिरादिसृतौ …पर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र । भूयसां चानुगुण्येनाल्पीयसां नयनं न्याय्यमिति, अतोऽप्य…रादिना तत्प्रथितेः, इत्युक्तम् ॥१॥

(२ वाय्वधिकरणम् । सू० २)

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

पदच्छेद - वायुम्, अब्दात्, अविशेषविशेषाभ्याम् ।

सूत्रार्थ—(अब्दात्) संवत्सरके अनन्तर आदित्यके पूर्व (वायुम्) वायुलोकको प्राप्त होते (अविशेषविशेषाभ्याम्) क्योंकि 'स वायुलोकम्' सामान्य और 'यदावै पुरुषो०' विशेष श्रुति है ।

* केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषणानामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति ? …तत्सुहृद्भूत्वाऽऽचार्यो ग्रथयति । 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं …इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कौ० १।३) इति कौषीतकिनां देवयानः पन्थाः …ते । तत्रार्चिरग्निलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नात्र संनिवेशक्रमः कश्चि-

…यह कहा गया है कि अर्चिरादिके आश्रयण करनेपर 'एतैरेव' (इन रश्मियोंसे ही) यह अवधारण …होगा । यह दोष नहीं है, क्योंकि यह रश्मि प्राप्ति परक है । कारण कि एक ही 'एव' शब्द रश्मि …के लिए और अर्चिरादिकी व्यावृत्तिके लिए हो यह युक्त नहीं है । इससे यह रश्मि सम्बन्ध ही …धारित होता है, ऐसा जानना चाहिए । त्वरावचन तो अर्चिरादिकी अपेक्षामें भी अन्य गन्तव्यकी …क्षासे शीघ्रता अर्थके लिए होनेसे बाधित नहीं होता । 'जैसे निमिषमात्रमें यहां आ जाता है' …र 'अथैतयोः पथोर्न० (जब उपासना और इष्ट आदि कर्म इन दोनोंमेंसे एकका भी सेवन नहीं …ता तब अर्चिरादि मार्ग और धूम मार्ग दोनोंमेंसे किसी भी मार्गसे नहीं जाता) इन दो मार्गोंसे भ्रष्ट …के लिए कष्टप्रद तृतीय स्थान कहती हुई श्रुति पितृयाणसे पृथक् अर्चिरादि पर्ववाले एक ही देवयान …को प्रसिद्ध करती है । अर्चिरादि गतिमें बहुतसे मार्ग पर्व हैं और अन्यत्र थोड़ेसे पर्व हैं । बहुतोंके …रूपसे ही अल्पोंका ग्रहण न्याय है । इससे भी 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' ऐसा कहा गया है ॥ १ ॥

पुनः किस संनिवेश (सम्बन्ध) विशेषसे गति विशेषणोंका अन्योन्य (एक दूसरेका) विशेषण …ष्यभाव है ? आचार्य सुहृद् होकर इसका प्रतिपादन करते हैं । 'स एतं देवयानं०' (वह इस देवयान …को प्राप्तकर अग्निलोकको जाता है, अनन्तर वह वायुलोकमें, वह वरुणलोकमें, वह इन्द्रलोकमें, …प्रजापति लोकमें, वह ब्रह्मलोकमें जाता है) इस प्रकार कौषीतकी शाखावालोंकी उपनिषद्में …यान मार्ग पठित है । उसमें अर्चि और अग्निलोक शब्द तो एकार्थक हैं, क्योंकि वे अग्निवाचक

सत्यानन्दी दीपिका

…होनेपर रातमें मृतउपासकका किरणोंके साथ असम्बन्धकी शङ्कासे निवृत्तिके लिए है । किसी भी …मय मृत उपासकका किरणोंके साथ सम्बन्ध अवश्यंभावी है, इसको 'एव' शब्द सूचित करता है ।१।

* अर्चिरादि एक ही मार्ग है, इस आधारपर विशेषण-विशेष्यभावक्रम 'स एतं देवयानं०' …प्रकार पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तरका विशेषण और उत्तर-उत्तर विशेष्य समझना चाहिए । इस प्रकार …करणका तात्पर्य कहकर अब 'स एतं देवयानं'० इत्यादिसे विषय कहते हैं । इसमें अग्निके अनंतर

दन्वेष्यः । वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि न श्रुतः कतमस्मिन् स्थाने निवेशयितव्य इति ? उच्यते- 'तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्य संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५।१०।१,२) इत्यत्र संवत्सरात्पराञ्चमादित्यादर्वाञ्चं वायु मभिसंभवन्ति । कस्मात् ? अविशेषविशेषाभ्याम् । तथा हि—'स वायुलोकम्' (कौ० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति । एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषाद्वब्दादित्ययोरन्तराले वायु-र्निवेशयितव्यः । * कस्मात्पुनरग्नेः परत्वदर्शनाद्विशेषादर्चिषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते ? नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः । ननूदाहृता श्रुतिः—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमाग-च्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौषी० १।३) इति, उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणा-वस्थितो नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते—एतमेतं चाग-

---

हैं, इसलिए इसमें कहींपर संनिवेश क्रम अन्वेषणीय नहीं है । परन्तु वायु अर्चिरादि मार्गमें श्रुति नहीं है इससे उसका किसी स्थानमें निवेश होना चाहिए ? कहते हैं-तेऽर्चिषम०' (वे प्रयाणके अनन्तर अर्चि-अर्चि अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं, अर्चिसे अह-दिनको, अह-दिनसे शुक्लपक्षको, शुक्लपक्षसे जिन छः मासोंमें सूर्य उत्तरमें जाता है उन छः मासोंको, मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको प्राप्त होते हैं) इसमें संवत्सरके अनन्तर और आदित्यसे पूर्व वायुको प्राप्त होते हैं, क्योंकि सामान्य और विशेष श्रुति है । जैसे कि 'स वायुलोकम्' (वह वायुलोकको प्राप्त होता है) इस श्रुतिमें अविशेषरूपसे उपदिष्ट वायुका 'यदा वै०' (जिस समय यह उपासक इस शरीररूपी लोकसे प्रयाण कर जाता है उस समय वह वायुको प्राप्त होता है । वहां वह वायु उसके लिए छिद्र युक्त हो जाता है—मार्ग दे देता है, जैसा कि रथके पहिएका छिद्र होता है । उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है । वह सूर्यलोकमें पहुँच जाता है) इस प्रकार इस अन्य श्रुति द्वारा विशेषरूपसे उपदेश देखा जाता है, इस आदित्यसे वायुका पूर्व दर्शन है इस विशेषसे संवत्सर और आदित्यके बीचमें वायुका निवेश करना चाहिए। परन्तु अग्निके अनन्तर वायुका दर्शन है, इस विशेषसे अर्चिके अनन्तर वायुका निवेश क्यों नहीं किया जाता है ? यह विशेष नहीं है, ऐसा हम कहते हैं । परंतु 'स एतं देवयानम्'० (इस देवयान मार्गको प्राप्त कर वह अग्निलोकको प्राप्त होता है, वह वायुलोकको, वह वरुणलोकको प्राप्त होता है) यह श्रुति उदाहृत है ? कहते हैं—इसमें पौर्वापर्यसे केवल पाठ ही अवस्थित है किन्तु यहाँ क्रमवाची कोई शब्द नहीं है। 'वह इस इस स्थानको जाता है' इसप्रकार यहांपर केवल पदार्थका उपदर्शन मात्र किया जाता है।

सत्यानन्दी दीपिका

पठित वायु विषय है । क्या इस वायुका पाठ अर्चिरूप अग्निके अनन्तर है अथवा संवत्सरके ? यह संशय इसलिए होता है कि 'अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्' इस पाठक्रमसे तो अग्निके अनन्तर वायुका पाठ है और 'यदा वै पुरुषो०' इस विशेष श्रुतिमें आदित्यके पहले पाठ है, और 'तेऽर्चिषम्०' इस श्रुतिमें संवत्सरका आदित्यसे पूर्व पाठ है और वायुका पाठ ही नहीं है । तब वायुका कहाँ निवेश होना चाहिए ? सिद्धान्ती—पाठक्रम श्रुतिसे दुर्बल है, अतः 'यदा वै पुरुषो' इस विशेष श्रुतिसे वायुका संवत्सर और आदित्यके बीचमें निवेश होना चाहिए ।

* पाठक्रमके आधारपर पूर्वपक्षी कहता है कि 'स एतं देवयानम्' इस कौषीतकी श्रुतिमें अग्नि के अनन्तर वायुका पाठ है । तो 'तेऽर्चिषम्' इस छान्दोग्य श्रुतिमें भी अर्चिके अनन्तर वायुका संनि-वेश होना चाहिए ? सिद्धान्ती—'स एतं देवयानं' यह अग्निके पश्चात् वायुका पाठ विशेष नहीं है

छतीति । इतरत्र पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण च्छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यव- यते क्रमः । तस्मात्सूक्तम्—अविशेषविशेषाभ्यामिति । वाजसनेयिनस्तु ‘मासेभ्यो देवलोकं लोकादादित्यम्’ (बृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति । तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुम- संभवेयुः । ‘वायुमब्दात्’ इति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम् । छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र लोको न विद्यते, परत्र संवत्सरः । तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ । पि माससंबन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥२॥

(३ तडिदधिकरणम् । सू० ३)

तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् ॥३॥

पदच्छेद—तडितः, अधि, वरुणः, सम्बन्धात् ।

सूत्रार्थ—(तडितः) विद्युत् लोकसे (अधि) ऊपर (वरुणः) वरुण लोक है, (संबन्धात्) कि वरुणका विद्युत्के साथ सम्बन्ध है ।

* ‘आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्’ (छा० ४।१५।५) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात्स णलोकमित्ययं वरुणः संबध्यते । अस्ति हि संबन्धो विद्युद्वरुणयोः । ‘यदा हि विशाला

श्रुतिमें वायुके दिए हुए रथचक्र जैसे छिद्रसे ऊर्ध्व जाकर आदित्यको पहुँचता है, ऐसा क्रम गत होता है । इसलिए ‘अविशेष और विशेषसे’ यह ठीक कहा गया है । वाजसनेयी तो ‘मासेभ्यो०’ मासोंसे देवलोक और देवलोकसे आदित्यको जाता है) ऐसा कहते हैं । उसमें आदित्यके आन- र्यके लिए देवलोकसे वायुको प्राप्त होने चाहिएँ । ‘वायुमब्दात०’ (संवत्सरसे वायुको प्राप्त होता है) ह सूत्र पाठ छान्दोग्य श्रुतिकी अपेक्षासे कहा गया है । छान्दोग्य और वाजसनेयकमें तो एकमें देव- क नहीं है और अन्यमें संवत्सर नहीं है । उसमें दोनों श्रुतियोंके प्रत्यय होनेसे दोनोंका दोनों स्थलों संनिवेश होना चाहिए । उसमें भी मासके साथ सम्बन्ध होनेसे संवत्सरका पूर्व और देवलोकका त् संनिवेश है । ऐसा विवेक करना चाहिए ॥ २ ॥

‘आदित्याच्चन्द्रमसं०’ (आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युतको प्राप्त होता है) इस र इस विद्युत्से ऊपर वह वरुणलोकको जाता है, ऐसा इस वरुणका सम्बन्ध है । विद्युत् और णका सम्बन्ध है । जब तीव्र गर्जना निर्घोष करती हुई विशाल विद्युत् मेघोंके उदरमें नृत्य करती है

सत्यानन्दी दीपिका

क्रमशः पाठ मात्र है, क्योंकि इस श्रुतिमें क्रम वाची कोई शब्द नहीं है । और ‘तेन स ऊर्ध्व- क्रमते’ (वायुके दिए हुए रथचक्रके समान छिद्रसे वे उपासक ऊर्ध्व जाकर आदित्यको प्राप्त होते हैं) काण्व श्रुतिमें विशेष शब्द द्वारा क्रमका निश्चय होनेसे पाठक्रम बाधित है । और ‘मासेभ्यो- लोकम्’ इस बृहदारण्यक श्रुतिमें मासोंके अनन्तर देवलोकका पाठ युक्त नहीं है, क्योंकि मास देवलोकका कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिए छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार मासोंके अनन्तर मासोंके वी संवत्सरका पाठ युक्त है । इससे ‘संवत्सरसे देवलोक, देवलोकसे वायुलोक और वायुलोकसे त्यलोक’ इसप्रकार दोनों श्रुतियोंमें क्रम निष्पन्न होता है । इसलिए देवलोक और आदित्यके में वायुका निवेश युक्त है । ‘वायुमब्दाद्’ यह सूत्र छान्दोग्य श्रुतिकी अपेक्षासे है । बृहदारण्यक के अनुसार तो ‘देवलोकाद्वायुम्’ ऐसा सूत्र होना चाहिए । किन्तु दोनों श्रुतियोंमें वायुका स्थान लोक और आदित्यके बीचमें है ॥ २ ॥

* ‘स वायुलोकं स वरुणलोकम्’ इस कौशीतकी श्रुतिस्थ पाठक्रमसे वायुलोकके अनन्तर लोकका संनिवेश होना चाहिए । पूर्वपक्षमें–वरुणका किसी विशेष श्रुति द्वारा निर्धारित स्थान नेसे उसका पाठ अदृष्टार्थक है । सिद्धान्तमें–‘स वायुलोकं स वरुणलोकम्’ इत्यादि श्रुतिसे पाठ-

विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति । विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' (छा० ७।११।१) इति च ब्राह्मणम् । अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः । वरुणादधीन्द्रप्रजापती, स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च । आगन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेशौ वैशेषिकस्थानाभावाद्विद्युच्चान्त्याऽर्चिरादौ वर्त्मनि ॥३॥

(४ आतिवाहिकाधिकरणम् । सू० ४-६)

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४॥

पदच्छेद—आतिवाहिकाः, तल्लिङ्गात् ।

सूत्रार्थ—(आतिवाहिकाः) वे अर्चिरादि ब्रह्मलोकमें ले जानेके लिए आतिवाहिक हैं । (तल्लिङ्गात्) क्योंकि 'अमानवः स एतान्ब्रह्मगमयति' इसप्रकार उसका लिंग है ।

* तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तृणामिति ? तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादय इति तावत्प्राप्तम्, तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य । यथा हि लोके कश्चिद्ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते—गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह । अथवा—भोगभूमय इति प्राप्तम् । तथा हि—लोकशब्देनाग्न्यादीननुबध्नाति 'अग्निलोकमागच्छति' (कौषी० १।३) इत्यादि । लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते—'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० १।५।१६) इति च । तथा च ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु

तब जल गिरता है—'विद्योतते स्तनयति' (विद्युत् चमकती है, मेघ गर्जता है वृष्टि होगी ऐस लोग कहते हैं) यह ब्राह्मण श्रुति है । श्रुति और स्मृतिमें यह प्रसिद्ध है कि जलका अधिपति वरुण है । वरुणलोकके ऊपर इन्द्र और प्रजापति लोक हैं, क्योंकि उनके लिए अन्य स्थान नहीं है और पाठकी सामर्थ्य है । वरुण आदिका आगन्तुक होनेसे भी अन्तमें ही निवेश है । कारण कि विशेष स्थानके न होनेसे अर्चिरादि मार्गमें विद्युत् अन्तिम स्थान है ॥ ३ ॥

इन अर्चिरादिमें संशय होता है कि क्या ये मार्ग चिह्न हैं वा भोगस्थान हैं अथवा ब्रह्मलोकको जानेवालोंके नेता–ले जानेवाले हैं ? पूर्वपक्षी—ऐसा संशय होनेपर ये अर्चिरादि मार्गके चिह्नरूप हैं, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि उस मार्गके स्वरूपको कहनेवाला उपदेश है । जैसे लोकमें ग्राम अथवा नगरको प्रस्थानकी इच्छा करनेवाले किसीको यह उपदेश किया जाता है कि तुम वहांसे उस पर्वतकी ओर जाओ, वहांसे उस वटवृक्षकी ओर, वहांसे नदीको, उससे आगे ग्राम अथवा नगरको प्राप्त हो जाओगे, वैसे यहां भी अर्चिसे अहको, अहसे आपूर्यमाण पक्षको प्राप्त होता है, इत्यादि श्रुति कहती है । अथवा ये अर्चिरादि भोग स्थान हैं, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि 'अग्निलोकम्' (अग्निलोकको जाता है) इत्यादि श्रुति लोकशब्दके साथ अग्नि आदिका सम्बन्ध करती है । 'मनुष्यलोकः' (मनुष्य लोक, पितृलोक, देवलोक) इसप्रकार लोकशब्द प्राणियोंके भोग स्थानोंमें कहा जाता है । और इसीप्रकार 'अहोरात्रेषु' (उन अह और रात्रिलोकोंमें वे कर्मी और उपासक भोगका अनुभव

सत्यानन्दी दीपिका

क्रम तो है किन्तु उसका किसी विशेष श्रुतिसे स्थान निश्चित नहीं है, इसलिए आगन्तुक वरुण, इन्द्र और प्रजापति लोकोंका विद्युत्के अनन्तर ही अर्चिरादि मार्गमें स्थान युक्त है । इससे आदित्यसे चन्द्रलोक, चन्द्रसे विद्युत्, विद्युत्से वरुण, वरुणसे इन्द्रलोक, इन्द्रलोकसे प्रजापतिलोकको जाता है।३।

* उपासक उत्क्रान्तिके अनन्तर रश्मिद्वारा अर्चिको प्राप्त होता है, अर्चिसे अह, शुक्लपक्ष, षड्मास, उत्तरायण, संवत्सर, देवलोक, वायुलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युत्लोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक इस क्रमसे ब्रह्मलोकको जाता है । इसप्रकार अर्चिरादि क्रमका निरूपण किया

लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि । तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादयः । अचेतनत्वादप्येतेषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः । चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानतिवाहयन्तीति । वं प्राप्ते ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति । कुतः ? तल्लिङ्गात् । तथा हि 'चन्द्रमसो द्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति । द्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत्—न, प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य । यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति।४

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकम्, न्यायाभावात् । नैष दोषः,

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥५॥

पदच्छेद—उभयव्यामोहात्, तत्सिद्धेः ।

सूत्रार्थ—(उभयव्यामोहात्) मार्ग और गन्ता जड़ और अस्वतन्त्र होनेसे उपासककी अर्ध्वगति नहीं हो सकती, इसलिए 'स्वयं प्रयत्न शून्य अन्य चेतनसे ले जाया जाता है' इस न्यायसे अनुगृहीत लिङ्गसे (तत्सिद्धेः) नेतृत्वकी सिद्धि होती है ।

* ये तावदर्चिरादिमार्गगाम्ते देहवियोगात्संपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते । लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादयः संपिण्डितकरणाः परप्रयुक्तवर्त्मानो

करते हैं) इत्यादि ब्राह्मणवचन है । इसलिए अर्चिरादि आतिवाहिक नहीं हैं, अचेतन होनेसे भी ये आतिवाहिक नहीं हो सकते, क्योंकि लोकमें राजासे नियुक्त चेतन ही दुर्ग मार्गोंमें जानेवालोंको ले जाते हैं । सिद्धान्ती— ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—ये अर्चिरादि आतिवाहिक ही हो सकते हैं, किससे ? इससे कि उनका लिंग है । जैसे कि 'चन्द्रमसो विद्युतं' (वे उपासक चन्द्रलोकसे विद्युत्को प्राप्त होते हैं, वहांसे वह अमानव पुरुष इन्हें सत्यलोकस्थ ब्रह्माको प्राप्त करा देता है) यह श्रुति सिद्ध-सा गमयितृत्व दिखलाती है । यदि कहो कि वह वचन उसके विषयमें ही उपक्षीण होता है तो ऐसा नहीं, क्योंकि 'अमानव' यह विशेषण प्राप्त हुए मानवत्वकी निवृत्तिके लिए है । अर्चिरादिमें जो ले जानेवाले पुरुष प्राप्त हैं यदि वे मानव हों तो उनकी निवृत्तिके लिए 'अमानव' यह पुरुष विशेषण युक्त है ॥ ४ ॥

परन्तु वह लिङ्गमात्र उक्तार्थका बोधक नहीं है, क्योंकि न्याय नहीं है ? यह दोष नहीं है—

जो अर्चिरादि मार्गमें जानेवाले हैं वे देहके वियोगसे एकीभूत करण समुदायवाले अस्वतन्त्र होते हैं और अर्चिरादि भी अचेतन होनेसे अस्वतन्त्र हैं, इसलिए अर्चिरादि अभिमानी चेतन देवता विशेष अतियात्रामें नियुक्त हैं, ऐसा ज्ञात होता है । लोकमें भी एकीभूत इन्द्रिय समुदायवाले मत्त

सत्यानन्दी दीपिका

गया है । अब उनके स्वरूपका निरूपण किया जाता है । चिह्न निर्देशके साम्य, लोकशब्द और नेतृत्व योगसे संशय होता है । पूर्वपक्षी—ये अर्चिरादि वृक्ष, नदी आदिके समान मार्गके चिह्न अथवा भोगके स्थान हैं, क्योंकि दोनों प्रकार उपपन्न हो सकते हैं । अर्चिरादि जड़ हैं, अतः आतिवाहिक नहीं हो सकते ॥ ४ ॥

* यदि अर्चिरादि अनेता और अचेतन हैं, और ब्रह्मलोक जानेवाले भी देहके न होनेसे इंद्रिय व्यापार रहित हैं, तो मार्ग और गन्ता दोनोंके अज्ञानसे ऊर्ध्वगति नहीं होगी । इसलिए 'स्वयं प्रयत्नशून्यश्चेतनान्तरेण नेयः' स्वयं प्रयत्न शून्य पुरुष अन्य चेतनसे ले जाया जाना युक्त है इस लौकिक न्यायके अनुग्रहसे अर्चिरादिमें नेतृत्व सिद्ध होता है ।

भवन्ति । अनवस्थितत्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः । नहि रात्रौ प्रेतस्याह स्वरूपाभिसंभव उपपद्यते । नच प्रतिपालनमस्तीत्युक्तं पुरस्तात् । ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नाय दोषो भवति । अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते । 'अर्चिषोऽहः' (छा० ४।१५ ५,५।१०।१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते--अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसंभवति अह्ना हेतुना आपूर्यमाणपक्षमिति । तथा च लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते । गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्णगुप्तमिति । * अपि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति संबन्धमात्रमुक्तम् , न संबन्धविशेषः कश्चित् । उपसंहारे तु 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इति संबन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तः । तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते । संपिण्डितकरणत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसंभवः । लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते, अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात् । अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते वायुस्वामिकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम् ॥५॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्संभवः ? विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ताः, विद्युतस्त्वनन्तरमाब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति । अत उत्तरं पठति—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥६॥

और मूर्च्छित आदि अन्यसे प्रयुक्त हुए मार्गगामी होते हैं । अनवस्थित होनेसे भी अर्चिरादिमें मार्ग चिह्नत्व उपपन्न नहीं होता, क्योंकि रात्रिके मृतकमें दिनके स्वरूपका संभव उपपन्न नहीं होता, उसी प्रकार रात्रिके मृतकमें दिनकी प्रतीक्षा नहीं होती, यह पहले कहा जा चुका है । देवताओंके ध्रुव होनेसे यह दोष नहीं होता । अर्चिरादिके अभिमानसे इन देवताओंमें अर्चिरादि शब्द उपपन्न होता है। 'अर्चिषोऽहः' (अर्चिसे अहको प्राप्त होता है) इत्यादि निर्देश तो अर्चिरादिके आतिवाहिक होनेपर भी विरुद्ध नहीं होता । अर्चिरूप हेतु द्वारा अहको प्राप्त होते हैं, अह हेतुसे शुक्लपक्षको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार लोकमें प्रसिद्ध आतिवाहिकोंमें भी 'तू यहाँसे बलवर्माके पास जा, वहाँसे जयसिंहके पास, वहाँसे कृष्णगुप्तके पास जा' इस प्रकारका उपदेश देखा जाता है । और 'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' (वे ज्योतिके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं) इस उपक्रममें भी सम्बन्ध मात्र कहा गया है कोई सम्बन्ध विशेष नहीं कहा गया है । और 'स एतान्ब्रह्म गमयति' इस उपसंहारमें तो अतिवाह्य और अतिवाहकत्वरूप सम्बन्ध विशेष कहा गया है । एकीभूत हुए इन्द्रिय समग्रवाले होनेसे जानेवाले उपासकोंका वहाँ उपभोग संभव नहीं है । लोक शब्द तो उपभोग न करनेवाले गमन करनेवालोंमें जाना जा सकता है, क्योंकि अन्य उस लोकवासियोंकी वह भोग भूमि है, इसलिए अग्निस्वामीवाले लोकमें प्राप्त हुएको अग्नि ले जाता है । उसी प्रकार वायुस्वामी लोकमें प्राप्त हुएको वायु ले जाता है । ऐसी योजना करनी चाहिए ॥ ५ ॥

परन्तु आतिवाहिकत्व पक्षमें वरुण आदिमें आतिवाहिकत्व कैसे संभव होगा ? क्योंकि विद्युत् लोकके ऊपर ही वरुण आदि कहे गए हैं और विद्युत्के अनन्तर ब्रह्मलोक प्राप्ति पर्यन्त अमानव पुरुष ही गमयिता सुना गया है ? इसपर उत्तर कहते हैं—

सत्यानन्दी दीपिका

* 'स एतान्गमयति' इस वाक्यशेषसे यह सिद्ध होता है कि अर्चिरादि आतिवाहिक चेतन देवता हैं, मार्गके चिह्न नहीं हैं, वे उपासकको ऊर्ध्व ले जाते हैं, वे अपने-अपने लोकमें प्राप्त हुए उपासकको अपने-अपने लोकसे आगे-आगेके लोकमें पहुँचाते हैं ॥ ५ ॥

पदच्छेद—वैद्युतेन, एव, ततः, तच्छ्रुतेः ।

सूत्रार्थ—(वैद्युतेनैव) विद्युत् लोकमें स्थित हुए अमानव पुरुषसे ही (ततः) विद्युत् प्राप्तिसे नीयमान उपासक कार्य ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, (तच्छ्रुतेः) क्योंकि उसके विषयमें 'अमानवः स ब्रह्मलोकं गमयति' यह श्रुति है ।

ततो विद्युदभिसंभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्ववाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम् । 'तान्वैद्युतान्पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्व श्रुतेः । वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यम् । तस्मात्साधूक्तम्—आतिवाहिका देवतात्मानोऽर्चिरादय इति ॥६॥

(५ कार्याधिकरणम् । सू० ७-१४)

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥७॥

पदच्छेद—कार्यम् , बादरिः, अस्य, गत्युपपत्तेः ।

सूत्रार्थ—(कार्यम्) कार्य ब्रह्मका ही 'स एतान्ब्रह्म गमयति' इस श्रुतिमें गन्तव्यरूपसे ग्रहण क्योंकि (अस्य) कार्य ब्रह्ममें (गत्युपपत्तेः) गति उपपन्न होती है, (बादरिः) ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं ।

'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इत्यत्र विचिकित्स्यते—किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति । कुतः संशयः ? ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च । तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मैनान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः ? अस्य गत्युपपत्तेः । अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते, प्रदेशवत्त्वात् । नतु परस्मिन्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते । सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तॄणाम् ॥७॥

विशेषितत्वाच्च ॥८॥

पदच्छेद—विशेषितत्वात् , च ।

सूत्रार्थ—और 'ब्रह्मलोकान्गमयति' अन्य श्रुतिमें विशेषित होनेसे कार्य ब्रह्मविषयक ही गति अवगत होती है ।

वहाँसे विद्युत्लोकमें प्राप्त होनेके पश्चात् विद्युत्के अनन्तरवर्ती अमानव पुरुषसे ही वरुणलोक आदि अतिवाह्यमान ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि 'तान्वैद्युतात्पुरुषो०' (विद्युत्लोकमें पहुँचे हुए उन उपासक लोगोंको वह अमानव पुरुष आकर विद्युत् लोकसे ब्रह्मलोकमें ले जाता है) यह उस अमानव पुरुषकी गमयितृत्व श्रुति है । वरुण आदि तो उसके अप्रतिबन्धकरणसे अथवा किसी सहायताके अनुष्ठानसे अनुग्राहक होते हैं, ऐसा समझना चाहिए । इसलिए यह ठीक कहा गया है कि अर्चिरादि आतिवाहिक देवतात्मा हैं ॥ ६ ॥

'स एतान्ब्रह्मगमयति' (वह अमानव पुरुष इन उपासकोंको ब्रह्मके पास पहुँचता है) यहाँ सन्देह होता है कि क्या कार्य अपर ब्रह्मके पास पहुंचता है अथवा अविकृत मुख्य परब्रह्मके पास ले जाता है ? संशय किससे होता है ? इससे कि ब्रह्म शब्दका प्रयोग और गति श्रुति है । संशय होनेपर अमानव पुरुष इन उपासकोंको कार्य सगुण अपरब्रह्मके प्रति ही ले जाता है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं । किससे ? इससे कि उसमें गति उपपन्न होती है । इस कार्य ब्रह्ममें गन्तव्यत्व उपपन्न होता है, क्योंकि परिच्छिन्न है । परन्तु परब्रह्ममें गन्तृत्व, गन्तव्यत्व अथवा गति नहीं हो सकती, कारण कि वह सर्वगत है और गन्ताओंका प्रत्यक् आत्मा है ॥७॥

❀ 'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते। नहि बहुवचनेन विशेषणं प स्मिन्ब्रह्मण्यवकल्पते। कार्ये त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम्। लोकश्रुतिरपि विका गोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी—गौणी त्वन्यत्र 'ब्रह्मैव लोक एष सम्रा इत्यादिषु। अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्मण्यनाञ्जसः स्यात्। तस्मात्का विषयमेवेदं नयनम् ॥८॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते, समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादि कारणं ब्रह्मेति स्थापितमिति। अत्रोच्यते—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥९॥

पदच्छेद—सामीप्यात्, तु, तद्व्यपदेशः।

सूत्रार्थ—(सामीप्यात्) कार्य ब्रह्म कारण ब्रह्मकी संनिधिमें है, अतः (तद्व्यपदेशः) का ब्रह्ममें भी कारण ब्रह्मका शब्द प्रयोग होता है। (तु) शब्द शङ्का निवृत्त्यर्थ है।

❀ तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्द प्रयोगो न विरुध्यते। परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धं क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमय त्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥९॥

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते। नहि परस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यता संभावयन्ति। दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानामनावृत्तिम् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इ

'ब्रह्मलोकान्०' (एक अमानव पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकोंमें ले जाता है वे उन ब्रह्मलोकों में हिरण्यगर्भकी परमायु तक अनन्त संवत्सरों तक निवास करते हैं) इसप्रकार अन्य श्रुतिमें विशेषित होनेसे कार्य ब्रह्मविषयक ही गति है, ऐसा ज्ञात होता है। क्योंकि परब्रह्ममें बहुवचनसे विशेषण उपपन्न नहीं होता। कार्य ब्रह्ममें तो अवस्थाभेदकी उपपत्ति होनेसे बहुवचन संभव है। लोक श्रुति भी (लोकोंका श्रवण भी) विकार विषयक संनिवेश (सम्बन्ध) विशिष्ट भोग भूमिमें ही मुख्य है और अन्यत्र 'ब्रह्मैव लोक एष सम्राट्' (हे सम्राट्! यह ब्रह्म ही लोक है) इत्यादिमें तो गौणी है। अधिकरण और अधिकर्तव्य निर्देश भी परब्रह्ममें मुख्य नहीं होगा। इसलिए यह उपासकका नयन कार्य ब्रह्म विषयक ही है ॥ ८ ॥

परन्तु कार्य विषयक भी ब्रह्म शब्द उपपन्न नहीं होता, क्योंकि समन्वय अधिकरणमें समस्त जगत्के जन्म आदिका कारण ब्रह्म ही है, ऐसा प्रतिपादित किया गया है? इसपर कहते हैं—

'तु' शब्द शङ्काकी व्यावृत्तिके लिए है। अपर ब्रह्मको परब्रह्मके समीप होनेसे उसमें भी ब्रह्म शब्दका प्रयोग विरुद्ध नहीं है, क्योंकि विशुद्ध उपाधि विशिष्ट परब्रह्म ही कहींपर किन्हीं मनोमयत्व आदि विकार धर्मोंसे उपासनाके लिए उपदिष्ट हुआ अपर ब्रह्म होता है, ऐसी स्थिति है ॥ ९ ॥

परन्तु उपासकको कार्यब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर अनावृत्ति श्रुति नहीं घटती, क्योंकि परब्रह्ममें

सत्यानन्दी दीपिका

* कार्य ब्रह्म गन्तव्य है, अब इसमें 'विशेषितत्वाच्च' यह दूसरा हेतु कहते हैं। 'ब्रह्मलोकेषु' इस श्रुतिमें बहुवचन, लोक शब्द और आधारार्थक सप्तमी विभक्ति इन हेतुओंसे कार्य ब्रह्म ही गन्तव्य सिद्ध होता है, क्योंकि उपाधिसे कार्यब्रह्ममें बहुवचन आदि उपपन्न होते हैं ॥ ८ ॥

* यद्यपि ब्रह्म शब्द कार्यब्रह्ममें मुख्य-वृत्तिसे अनुपपन्न है, तो भी उसमें उपासनाके लिए गौणी वृत्तिसे ब्रह्मशब्दका प्रयोग हो सकता है, क्योंकि परब्रह्म ही विशुद्ध उपाधि विशिष्ट होकर कार्य ब्रह्म है।९

मावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।५) इति, तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्व-(छा० ८।६।६, क० ६।१६) इति चेत्। अत्र ब्रूमः—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

पदच्छेद—कार्यात्यये, तदध्यक्षेण, सह, अतः, परम, अभिधानात्।

सूत्रार्थ—(कार्यात्यये) कार्य ब्रह्मलोकका विनाश होनेपर उस लोकमें उत्पन्न आत्मसाक्षा- वाले तत्त्वज्ञानी (तदध्यक्षेण सह) उस लोकके अध्यक्ष-हिरण्यगर्भके साथ (अतः) कार्यब्रह्मसे म) परब्रह्मको प्राप्त होते हैं, (अभिधानात्) क्योंकि ऐसा श्रुतिमें अभिधान है।

* कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिर-गर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यन्त इति। इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्या-त्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या। न ह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम्।१०

स्मृतेश्च ॥११॥

पदच्छेद—स्मृतेः, च।

सूत्रार्थ—और 'ब्रह्मणा सह' इस स्मृतिसे भी कार्य ब्रह्म विषयक गति सुनी जाती है।

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृता-नः प्रविशन्ति परं पदम्' इति। तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयत इति सिद्धान्तः ॥११॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः? 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) त्यादिनेति। इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥

पदच्छेद—परम्, जैमिनिः, मुख्यत्वात्।

त्र कहीं भी नित्यताकी संभावना नहीं है। 'एतेन प्रतिपद्यमाना' (इस देवपथसे जानेवाले इस नव आवर्तमें नहीं लौटते) यह श्रुति देवयान मार्गसे प्रस्थान किये हुएके लिए अनावृत्ति दिख-ती है। उनकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' ऐसी श्रुति। ऐसा यदि न हो तो इसपर हम कहते हैं—

कार्य ब्रह्मलोकका प्रलय उपस्थित होनेपर वहांपर जिनको सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे न्न हुए सम्यग्दर्शनवाले तत्त्वदर्शीलोग उस लोकके अध्यक्ष-हिरण्यगर्भके साथ इससे पर परिशुद्ध ष्णुके परमपदको प्राप्त होते हैं। इसप्रकार क्रम मुक्तिका अनावृत्ति आदि श्रुतिमें अभिधान होनेसे से स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि परब्रह्मकी प्राप्ति गति पूर्वक मुख्य नहीं हो सकती, ऐसा हमने त्पत्ति' पदसे उपपादन किया है ॥ १० ॥

'ब्रह्मणा सह० (महाप्रलय प्राप्त होनेपर पर-हिरण्यगर्भ (समष्टि लिंग शरीररूप विकार) अन्त होनेपर ब्रह्मलोकवासी वे सब तत्त्वदर्शी ब्रह्माके साथ परब्रह्मको प्रविष्ट-प्राप्त होते हैं) यह स्मृति इस अर्थका अनुमोदन करती है। इसलिए कार्य ब्रह्मविषक गति श्रुति है, ऐसा सिद्धान्त है ॥११॥

परन्तु पुनः किस पूर्वपक्षकी शंका कर 'कार्यं बादरिः' इत्यादिसे यह सिद्धान्त प्रतिष्ठापित या गया है? अत्र वह सूत्रोंसे ही दिखलाया जाता है—

सत्यानन्दी दीपिका

* उत्क्रान्तिके अनन्तर अर्चिरादि गति पूर्वक परब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः छान्दोग्य आदिमें अनावृत्ति आदिका कथन क्रममुक्तिको लेकर है, इसलिए कोई विरोध नहीं है ॥ १० ॥

सूत्रार्थ—(जैमिनिः) जैमिनि आचार्यका मत है कि (परम्) गतिका विषय परब्रह्म है (मुख्यत्वात्) क्योंकि परब्रह्म ही ब्रह्म शब्दका मुख्य आलम्बन है।

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते। कुतः ? मुख्यत्वात्। परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं, गौणमपरम्, मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥१२॥

दर्शनाच्च ॥१३॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च।

सूत्रार्थ—और 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इत्यादि श्रुति भी गतिपूर्वक अमृतत्व दिखलाती है।

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, क० ६।१६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति। अमृतत्वं च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये, विनाशित्वात्कार्यस्य। 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७।२४।१) इति प्रवचनात् परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पठ्यते। नहि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात् ॥१३॥

न च कार्यें प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥१४॥

पदच्छेद—न, च, कार्यें, प्रतिपत्त्यभिसन्धिः।

सूत्रार्थ—(प्रतिपत्त्यभिसन्धिः) 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' यह गृह प्राप्तिरूप सङ्कल्प (च) भी (न कार्ये) कार्य ब्रह्मविषयक नहीं है, क्योंकि 'ते यदन्तरा' इससे कार्य ब्रह्मसे भिन्न परब्रह्म ही प्रकृत है। यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि वाक्य और श्रुति प्रमाणसे दुर्बल प्रकरण बाधित है, अतः गृहप्राप्तिरूप सङ्कल्प कार्यब्रह्म विषयक है इसलिए कार्य ब्रह्म ही गन्तव्य है।

* अपि च 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः, 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति कार्यविल-

जैमिनि आचार्य तो 'स एनान्ब्रह्म गमयति' यहां परब्रह्मको ही प्राप्त कराता है, ऐसा मानते हैं। किससे ? इससे कि वह मुख्य है। परब्रह्म ही ब्रह्मशब्दका मुख्य आलम्बन है और अपर गौण है। मुख्य और गौणमें मुख्यमें संप्रत्यय होता है ॥ १२ ॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (हृदय देशसे निकली हुई उस मुख्य सुषुम्ना नाड़ीसे ऊर्ध्व जाकर अमृतभावको प्राप्त होता है) यह श्रुति गतिपूर्वक अमृतत्व दिखलाती है, और अमृतत्व परब्रह्ममें उपपन्न होता है। कार्य ब्रह्ममें नहीं, क्योंकि कार्य ब्रह्म विनाशी है। 'अथ यत्रान्यत्० (अब जिस अविद्यावस्थामें अन्यको देखता है वह अल्प है वह मर्त्य है) इस प्रवचनसे परविषयक ही यह गति कठवल्लीमें पठित है। उसमें अन्य अपर-विद्याका प्रक्रम-प्रकरण नहीं है, क्योंकि 'अन्यत्र धर्माद' (धर्मसे भिन्न और अधर्मसे भिन्न है) इस प्रकार परब्रह्मका ही उपक्रम किया गया है ॥ १३ ॥

और 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (मैं प्रजापतिके सभागृहमें जाऊँ) यह प्राप्तिका सङ्कल्प कार्य ब्रह्म विषयक नहीं है। क्योंकि 'नामरुपयोर्निर्वहिता० (वह आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा अपनेमें स्थित जगद्बीजभूत नाम और रूपको अभिव्यक्त करनेवाला है, वे जिसके अन्तर हैं वह ब्रह्म है) इस

सत्यानन्दी दीपिका

* 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' इससे वेश्म प्राप्तिका संकल्प परब्रह्म विषयक कहा गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रजापति, सभा और वेश्म इन तीन शब्दात्मक श्रुतियोंसे और उनके संघातात्मक वाक्यसे प्रकरण बाधित है। कारण कि वे सर्वगत ब्रह्ममें संगत नहीं होते। श्रुति और

त्य परस्येव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्, 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८।१४।१) इति च त्मत्वेनोपक्रमणात्, 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' (श्वेता० ४।१९) इति च वैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः। सा चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता— पराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' (छा० ८।५।३) इत्यत्र। पदेरपि च गत्यर्थत्वा- र्गापेक्षाऽवसीयते। तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम्। तावेतौ द्वौ पक्षावा- र्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः। तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति ख्यत्वादीनाभासयितुं, नतु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातो तीयस्तु पूर्वपक्षः। न ह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदाज्ञापयिता विद्यते। विद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते—'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे न्ति' (छा० ८।६।६) इतिवत्। 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति तु पूर्व- र्वाविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते। सगुणेऽपि च ब्रह्मणि सर्वात्मत्व- र्तनं सर्वकर्मा सर्वकाम इत्यादिवदवकल्पते। तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः। केचि- त्तु—पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमानाः विषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति, तदनुपपन्नं, गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः — 'यत्सर्वगतं र्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म', 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।४।१),

---

र कार्य ब्रह्मसे विलक्षण परब्रह्म ही प्रकृत है। 'यशोऽहं० (मैं ब्राह्मणोंका यश-आत्मा होता हूँ) सर्वात्मरूपसे उपक्रम है, कारण कि 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति० (जिस ईश्वरका नाम महद्यश-सर्वत्र है ऐसे उस ब्रह्मकी कोई उपमा भी नहीं है) इस प्रकार परब्रह्म ही यश नामसे प्रसिद्ध है। और वेश्म प्राप्ति गति पूर्वक है, वह 'तदपराजिता० (वहाँ अपराजित नामवाली ब्रह्माकी पुरी है, प्रभु- हिरण्यगर्भसे विशेषरूपसे निर्मित और सुवर्णमय है) यहाँ हार्दविद्यामें कही गई है। पद् धातु भी र्थक होनेसे उसे मार्गकी अपेक्षा निश्चित होती है। इसलिए गति बोधक श्रुतियाँ परब्रह्म विषयक हैं, पक्षान्तर है। वे ये दोनों पक्ष आचार्यने सूत्रसे दिखलाए हैं। एक गतिकी उपपत्ति आदिसे और रा मुख्यत्व आदिसे। उनमें गतिकी उपपत्ति आदि मुख्यत्व आदिका आभासरूपसे प्रतिपादन करनेमें र्थ हैं, परन्तु मुख्यत्व आदि गतिकी उपपत्ति आदिका आभासरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं । इसलिए आद्य ही सिद्धान्त कहा गया है और द्वितीय पूर्वपक्ष। क्योंकि संभव न होनेपर भी मुख्य का ही ग्रहण हो, ऐसा कोई आज्ञा करनेवाला प्रमाण विद्यमान नहीं है। परविद्याके प्रकरणमें भी र विद्याके आश्रय गतिका अनुकीर्तन परविद्याकी स्तुतिके लिए 'विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' भिन्न-भिन्न गतिवाली नाड़ियाँ केवल उत्क्रान्तिके लिए हैं) इसके समान उपपन्न होता है। 'प्रजापतेः भां वेश्म प्रपद्ये' इसमें तो पूर्व वाक्यसे विच्छेदकर कार्य ब्रह्ममें भी प्राप्तिका सङ्कल्प विरुद्ध नहीं है। ण ब्रह्ममें सर्वात्मत्व संकीर्तन 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिके समान हो सकता है। इसलिए गति क श्रुतियाँ अपरब्रह्म विषयक ही हैं। पुनः कोई लोग पूर्व सूत्र पूर्वपक्ष सूत्र हैं और उत्तर सूत्र ांत सूत्र हैं, ऐसी व्यवस्थाको जानते हुए गति बोधक श्रुति परब्रह्म विषयक हो प्रतिष्ठापित ने हैं। परन्तु वह अयुक्त है, क्योंकि ब्रह्ममें गन्तव्यत्वकी उपपत्ति नहीं होती। 'यत्सर्वगतं०' जो सर्वगत, सर्वान्तर, सर्वात्मक और परब्रह्म है) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (आत्मा काशके समान सर्वगत और नित्य है) 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (जो साक्षात् अपरोक्ष

सत्यानन्दी दीपिका

सको अपेक्षा प्रकरण दुर्बल है। इसलिए गति बोधक श्रुतियाँ कार्य ब्रह्म विषयक ही हैं। इस प्रकार सिद्धान्त कहकर अब अन्य मतका 'केचित्' इत्यादिसे निराकरण करते हैं।

'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' (मु० २।२।११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषं, तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते नहि गतमेव गम्यते। अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्धं लोके। ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टा दृष्टा। यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छतीति। तथाऽनन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वार्धकं स्वात्मभूतमेव गन्तव्यं दृष्टं, तद्वद्ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात्कथंचिद्गन्तव्यता स्यादिति—न, प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद्ब्रह्मणः। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वेता० ६।१९) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८), 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ ४।४।२५), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते। येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात्। भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता। जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत्—न, विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्। उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत्—न, तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति। * कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषनिराकरण-

---

ब्रह्म है) 'य आत्मा' (जो आत्मा सबके अन्तर है) 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं०' (यह सम्पूर्ण जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुतियोंसे सर्वगत, सर्वान्तर, सर्वात्मक परब्रह्म जो विशेषरूपसे निर्धारित किया गया है, उसमें गन्तव्यता कदाचिद् भी उपपन्न नहीं होती, क्योंकि प्राप्त ही प्राप्य नहीं होता। लोकमें यह प्रसिद्ध है कि अन्य ही अन्यके प्रति जाता है। परन्तु लोकमें प्राप्तकी भी देशान्तर विशिष्टरूपसे गन्तव्यता देखी जाती है। जैसे पृथ्वीपर स्थित हुआ ही अन्य देश द्वारा पृथ्वीके प्रति जाता है। उसी प्रकार बालकके अनन्य होनेपर भी अन्यकालसे विशिष्ट स्वात्मभूत ही वार्धक्य गन्तव्यरूपसे देखा जाता है। वैसे ही सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त होनेके कारण ब्रह्ममें भी किसी प्रकार गन्तव्यता हो सकती है? नहीं, क्योंकि सर्वविशेषोंका ब्रह्ममें प्रतिषेध है, 'निष्कलं०' (ब्रह्म अवयव रहित, निष्क्रिय, शान्त, अनिंद्य, निर्लेप है) 'अस्थूलम०' (वह न स्थूल, न अणु, न ह्रस्व और न दीर्घ है) 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः०' (वह बाह्य और भीतर विद्यमान है, अज है) 'स वा एष० (वह यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अमृत, अभय ब्रह्म है) 'स एष० (जिसका मधुकाण्डमें 'यह नहीं, यह नहीं' ऐसा कहकर निरूपण किया गया है वह यह आत्मा है) इत्यादि श्रुति स्मृति और अनुकूल तर्कोंसे देश, काल आदि विशेष योगकी परमात्मामें कल्पना नहीं की जा सकती. जिससे कि भू-प्रदेश, वय-अवस्था न्यायसे इस ब्रह्ममें गन्तव्यता हो, पृथ्वी और वयमें तो प्रदेश और अवस्था आदि विशेषके योगसे देश काल विशिष्ट गन्तव्यता उपपन्न होती है। यदि कहो कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कारणत्व बोधक श्रुतिसे ब्रह्ममें अनेक शक्तित्व है? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि विशेष निराकरणाक श्रुतियाँ अनन्यार्थक हैं। यदि कहो तो उत्पत्ति आदि श्रुतियोंमें भी अनन्यार्थत्व समान है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि वे एकत्व प्रतिपादन परक हैं। मृत्तिका आदि दृष्टान्तोंसे सत् अद्वितीय ब्रह्ममें सत्यत्वका और विकारमें अनृतत्वका प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र उत्पत्ति आदि परक नहीं हो सकता। परन्तु यह कैसे जाना जाय कि उत्पत्ति आदि प्रतिपादक श्रुतियाँ विशेष निराकरण करनेवाली श्रुतियोंके

सत्यानन्दी दीपिका

* निर्विशेष श्रुतियाँ निराकांक्ष होनेसे स्वार्थमें फलवाली हैं, अतः अङ्गी हैं और विशेष श्रुतियाँ अफलवाली हैं, अतः निषेध्य विशेषके समर्पण आदि द्वारा अङ्गभूत हैं, क्योंकि 'फलवत्सन्निधावफलं

शेषत्वम्, पुनरित रशेषत्वमितरासामिति ? उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निरा-र्थत्वात्। न ह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते, पार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७), 'अभयं वै क प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४), 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। एतं ह वाव न तपति, किमहं साधु त्वं, किमहं पापमकरवम्' (तैत्ति० २।६।१), इत्यादिश्रुतिभ्यः, तथैव च विदुषां तुष्ट्यनु-ादिदर्शनात्। विकारानृताभिसंध्यपवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' । अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यम्। नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां राकाङ्क्षार्थप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति। प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते। तथा हि—तैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' (छा० ६।८।३) इत्युपन्यस्योदर्के सत एवै-य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति' (तै० ३।१।१) इति च। एवमुत्पत्त्यादि-तीनामैकात्म्यावगमपरत्वान्नानेकशक्तियोगो ब्रह्मणः। अतश्च गन्तव्यत्वानुपपत्तिः। 'न तस्य णा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति च परस्मिन्ब्रह्मणि गतिं निवारयति।

ङ्गभूत हैं और विशेष प्रतिषेधक श्रुतियाँ उत्पत्ति आदि प्रतिपादक श्रुतियोंके अंग नहीं हैं ? कहते हैं—शेष निराकरणक श्रुतियाँ निराकांक्षार्थक हैं, क्योंकि आत्मका एकत्व, नित्यत्व, शुद्धत्व आदि ज्ञान नेपर पुनः कोई भी आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती। कारण कि 'तत्र को मोहः०' (उस समय एकत्व-र्शी उस विद्वान्में क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता) 'अभयं वै०' हे जनक ! निश्चय तू अभयको प्राप्त हो गया है) 'विद्वान्न०' (उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला द्वान् किसीसे भी भयभीत नहीं होता उस विद्वान्को मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया, पाप कर्म क्यों या इसप्रकारकी चिन्ता सन्तप्त नहीं करती) इत्यादि श्रुतिसे पुरुषार्थ-पुरुषकी अभीष्ट वस्तुकी समाप्ति षयक बुद्धि उपपन्न होती है। उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता विद्वानोंमें सन्तुष्टि अनुभव आदि देखनेमें आता । और विकार एवं अनृतमें अभिसन्धि-आग्रहका भयवाद भी है, क्योंकि 'मृत्योः स' (जो अद्वितीय ह्ममें नाना-भेद देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है। इसलिए विशेष निरा-रण करनेवाली श्रुतियोंमें अन्य शेषत्व नहीं जाना जा सकता। इसीप्रकार उत्पत्ति आदि प्रतिपादक तियोंमें निराकांक्ष अर्थ प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि उनका तो अन्यार्थत्व प्रत्यक्ष नुगत है। जैसे कि 'तत्रैतच्छुङ्गम०' (हे सोम्य ! उस जलसे ही तू इस शरीररूप अंकुर-कार्यको त्पन्न हुआ समझ, क्योंकि यह निर्मूल-कारण रहित नहीं हो सकता) इसप्रकार उपक्रमकर अन्तमें गत्के मूलभूत एक ही सत्को विज्ञेयरूपसे दिखलाती है। और 'यतो वा०' (जिससे निश्चय ही ये सब उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रयसे ये जीवित रहते हैं और अन्तमें विनाशोन्मुख होकर समें लीन होते हैं, उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छाकर वही ब्रह्म है) यह श्रुति है। इसप्रकार त्पत्ति आदि प्रतिपादक श्रुतियाँ एकात्म्य अवगम परक होनेसे ब्रह्ममें अनेक शक्तिका योग नहीं हो कता। इसलिए ब्रह्ममें गन्तव्यत्वकी अनुपपत्ति है। 'न तस्य प्राणा०' (उस ब्रह्मवेत्ताके प्राण इस रीरसे उत्क्रमण नहीं करते, ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है) इसप्रकार श्रुति परब्रह्ममें गतिका नारण करती है। उसका 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' इस सूत्रमें व्याख्यान किया जा चुका है। गतिकी कल्पना

सत्यान्न्दी दीपिका

ङ्गम्' (फलवान्की सन्निधिमें अफलवान् उसका अङ्ग है) यह न्याय है। इससे निर्विशेष श्रुतियाँ विशेष श्रुतियोंके अङ्ग नहीं हो सकतीं। इसप्रकार न्यायसे सविशेष श्रुतियोंमें अंगत्वको कहकर अब सेसे भी 'प्रत्यक्षं तु' आदिसे कहते हैं।

तद्व्याख्यातम् – 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४।२।१३) इत्यत्र। ❀ गतिकल्पनायां च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारो वाऽन्यो वा ततः स्यात्। अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः। यद्येवं ततः किं स्यात्—उच्यते ? यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वान्न पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते, एकदेशित्वकल्पना च ब्रह्मण्यनुपपन्ना निरवयवत्वप्रसिद्धेः विकारपक्षेऽप्येतत्तुल्यम्, विकारेणापि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात्। नहि घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते, परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः। विकारावयवपक्षयोश्च तद्वतः स्थिरत्वाद्ब्रह्मणः संसारगमनमप्यनवक्लृप्तम्। अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः। सोऽणुर्व्यापी मध्यमपरिमाणो वा भवितुमर्हति। व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः, मध्यमपरिमाणत्वे चानित्यत्वप्रसङ्गः। अणुत्वे कृत्स्नशरीरवेदनानुपपत्तिः। प्रतिषिद्धे चाणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण पुरस्तात्। परस्माच्चान्यत्वे जीवस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः। विकारावयवपक्षयोरपि समानोऽयं दोषः। विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति चेत्—न, मुख्यैकत्वानुपपत्तेः। सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्मोक्षप्रसङ्गः। संसार्यात्मत्वानिवृत्तेः। निवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गः, ब्रह्मात्मत्वाभ्युपगमाच्च। ❀ यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते—नित्यानि नैमित्तिकानि कर्मा-

---

होनेपर वह गन्ता जीव गन्तव्य ब्रह्मका अवयव वा विकार अथवा उससे अन्य होना चाहिए ? क्योंकि अत्यन्त तादात्म्यमें गमन अनुपपन्न है। यदि ऐसा हो तो उससे क्या होगा ? कहते हैं—यदि जीव ब्रह्मका एक देश-भाग-अवयव हो तो उस एक देशी ब्रह्मके नित्य प्राप्त होनेसे पुनः ब्रह्म गमन उपपन्न नहीं होता। एक देश और एकदेशित्व कल्पना ब्रह्ममें अनुपपन्न है, क्योंकि वह निरवयवरूपसे प्रसिद्ध है। विकारपक्षमें भी यह अनुपपत्ति समान है। कारण कि विकारसे विकारी नित्य प्राप्त है। घट मृदात्मताका परित्याग कर अवस्थित नहीं होता, क्योंकि परित्याग करनेपर उसका अभाव प्राप्त होगा। विकारपक्ष और अवयवपक्षमें विकारी और अवयवी ब्रह्मके स्थिर होनेसे संसार गमन भी अनिश्चित है। यदि जीव ब्रह्मसे अन्य है तो वह अणु, व्यापी अथवा मध्यमपरिमाण वाला हो सकता है। व्यापी-व्यापक होनेपर तो गमनकी अनुपपत्ति है। मध्यपरिमाण वाला होनेपर अनित्यत्व प्रसंग है। अणुत्व होनेपर समस्त शरीर गत वेदना नहीं हो सकती। अणुत्व और मध्यम परिमाणत्वका तो विस्तारसे पूर्व प्रतिषेध किया गया है। जीवका परमात्मासे अन्य होनेपर 'तत्त्वमसि' इत्यादि एकत्व बोधक शास्त्रका बाध प्रसंग होगा। यह दोष तो विकार और अवयव पक्षमें भी समान है। यदि कहो कि विकार और अवयव तो विकारी और अवयवीसे अनन्य हैं, अतः उक्त दोष नहीं है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि मुख्य एकत्वकी अनुपपत्ति होती है, और इन सब पक्षोंमें अनिर्मोक्ष प्रसंग है, कारण कि संसार्यात्मत्वकी निवृत्ति नहीं होगी, अथवा निवृत्ति होनेपर उसके स्वरूपका नाश प्रसंग होगा, क्योंकि उसमें ब्रह्मात्मत्वका स्वीकार नहीं किया गया है। कुछ लोग तो यह कहते हैं – नित्य और नैमित्तिक

सत्यानन्दी दीपिका

❀ यदि गन्ता जीवकी गतिकी कल्पना की जाय तो यह प्रश्न उठता है कि गन्ता जीवका गन्तव्य ब्रह्मके साथ क्या सम्बन्ध है ? क्या वह गन्तव्य ब्रह्मका अवयव है, वा विकार है अथवा अन्य है ? प्रथम दो विकल्प भेद और अभेदसे हैं और तृतीय अत्यन्त भेदमें है। अत्यन्त अभेदमें तो गमन नहीं हो सकता। अतः 'उच्यते' आदिसे सब विकल्पोंका समाधान किया गया है।

❀ अब अन्य मतका 'यत्तु' इत्यादिसे उपन्यास कर खण्डन करते हैं। संसारका निमित्त कर्म हैं उनके अभावसे संसारका अभावरूप मोक्ष स्वतः सिद्ध है। इसलिए ब्रह्मज्ञानके बिना भी संसारके अभाव होनेसे मोक्ष होता है। जैसे रोग के निमित्त का अभाव होनेसे रोग निवृत्त हो जाता

ष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्पत्तये, काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये, तद्देहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षिप्यन्त इत्यतो वर्तमान देहपातादूर्ध्वं देहान्तर-संधानकारणाभावात्स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मतयैवंवृत्तस्य सेत्स्यतीति–त्, प्रमाणाभावात्। न ह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थं समाचरेदिति। तीषया त्वेतत्तर्कितं यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भविष्यतीति। न तर्कयितुमपि शक्यते, निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात्। बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसंचि-ष्टानिष्टविपाकान्येकैकस्य जन्तोः संभाव्यन्ते। तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासंभवा-निचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते, कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्य-षामवशिष्टानां सांप्रतेनोपभोगेन क्षपणासंभवान्न यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते न्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम्। कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च ‘तद्य इह रमणीयचरणाः’, ः शेषेण’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। * स्यादेतत् नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भवि-तीति, तन्न, विरोधाभावात्। सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति। नच जन्मान्त-चितानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः। शुद्धिरूपत्वाविशेषात्। दुरितानि

का अनुष्ठान प्रत्यवायकी अनुत्पत्तिके लिए किया जाता है। काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मोंका स्वर्ग र नरकको अप्राप्तिके लिए परिहार किया जाता है। वर्तमान देहके उपभोग योग्य कर्म उपभोगसे क्षय हो जाते हैं, अतः वर्तमान देहपातके अनन्तर अन्य देहके प्रतिसंधान कारणके अभाव होनेसे रूपावस्थानरूप कैवल्य ब्रह्मात्मताके विना भी एवंवृत्त पुरुषको सिद्ध होगा। वह ठीक नहीं है, योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। मोक्षार्थी इसप्रकार आचारण करे यह किसी भी शास्त्रसे प्रति-दित नहीं है। यह अपनी बुद्धिसे ही तर्क किया गया है, क्योंकि कर्म निमित्तिक संसार है, अतः मित्तके अभावसे संसार नहीं होगा। परन्तु यह तर्क भी नहीं किया जा सकता, कारण कि निमित्त अभाव दुर्ज्ञेय है। एक एक प्राणीके अन्य-अन्य जन्ममें संचित इष्ट, अनिष्ट फलवाले अनेक कर्म भावित हैं। अत्यन्त विरुद्ध फलवाले उन कर्मोंका युगपत् उपभोग संभव न होनेसे उनमें से फल का अवसर प्राप्त किए हुए कुछ कर्म इस जन्मका निर्माण करते हैं और देश, काल और निमित्त प्रतीक्षा करनेवाले कुछ कर्म रहते हैं। इसलिए उन अवशिष्ट कर्मोंका संप्राप्त उपभोगसे क्षपण संभव होनेसे यथावर्णित चरितवालेका भी वर्तमान देहके पात होनेपर अन्य देहके निमित्तका भाव निश्चित नहीं किया जा सकता है। ‘तद्य इह०’ (इसलिए जो यहां रमणीय चरणवाले हैं) तः शेषेण’ (पीछे शेषसे) इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे कर्मशेषके सद्भावकी सिद्धि होती है। न्तु यह शङ्का हो सकती है–नित्य और नैमित्तिक कर्म उन-अवशिष्ट कर्मोंके क्षेपक (नाशक) ो, वह युक्त नहीं है, क्योंकि उनमें विरोधका अभाव है। विरोध होनेपर ही नाश्य-नाशक भाव ता है। जन्मान्तर में सञ्चित सुकृत कर्मोंका वर्तमान नित्य-नैमित्तिकके साथ विरोध नहीं है, कारण दोनोंमें शुद्धरूपत्व समान है। दुरितोंका अशुद्धिरूप होनेसे विरोध होनेपर विनाश भले हो,

सत्यानन्दी दीपिका

और पुनः नहीं सोता। परन्तु यह कथन असङ्गत है, क्योंकि प्रमाणके विना केवल तर्कसे किसी द्धान्तकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कर्म तर्क अगम्य हैं। अतएव ‘गहना कर्मणो गतिः’ (गीता० ।१७) इत्यादि स्मृति और ‘तद्य इह’ इत्यादि श्रुतिसे अवशिष्ट कर्मोंका अस्तित्व सिद्ध होता है।

* अनारब्ध फलवाले पुण्य-पाप भले हों, परन्तु उनका नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे नाश होनेपर जन्मान्तर न होगा, इस आशयसे ‘स्यादेतत०’ इत्यादिसे शङ्का करते हैं। परन्तु यहाँ

त्वशुद्धिरूपत्वात्सति विरोधे भवतु क्षपणं, नतु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः, सुकृत निमित्तत्वोपपत्तेः, दुश्चरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात्। नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यव यानुत्पत्तिमात्रं, न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति, फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादि संभवात्। स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाम्रे फलार्थे निमिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर माणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इति। न चासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्म प्रायणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम्। सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्। संशयि तव्यं तु भवति, तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव। न चानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम्। अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभाव स्यापरिहार्यत्वात्। ❀ स्यादेतत्। कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्त्यव स्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति—तच्च न, शक्तिसद्भावे कार्यप्रसवस्य दुर्निवार त्वात्। अथापि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि, अत एका किनी सा स्थितापि नापराध्यतीति—तच्च न, निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन नित्य संबद्धत्वात्। तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां न

परन्तु इतनेसे देहान्तर निमित्तके अभावकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सुकृतोंमें निमित्तत्व उपपन्न है और दुरितका भी अशेष विनाश अवगत नहीं होता। इसीप्रकार नित्य-नैमित्तिकके अनुष्ठानसे प्रत्यवाय की अनुत्पत्तिमात्र होती है और अन्य फलकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा होनेमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि अन्य फलका भी उसके साथ निष्पन्न होना सम्भव है। 'तद्यथाम्रे०' (जैसे फलके लिए निर्मित आम्रवृक्षके पीछे छाया और गन्ध उत्पन्न होते हैं, वैसे धर्म अनुष्ठानके पीछे अर्थ उत्पन्न होते हैं) यह आपस्तम्ब स्मृति है। सम्यग्दर्शनके न होने तक जन्म-मरणके मध्यमें सर्वात्मना काम्य और प्रतिषिद्धके त्यागकी किसीसे भी प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती, क्योंकि कर्मकुशल पुरुषोंमें भी सूक्ष्म अपराध देखनेमें आता है। संशयका विषय तो हो सकता है तो भी निमित्तका अभाव दुर्विज्ञेय ही है। ज्ञानगम्य ब्रह्मात्मत्व स्वीकार न करनेपर तो कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाववाले आत्माके कैवल्यकी आकांक्षा नहीं की जा सकती, कारण कि अग्नि औष्ण्यके समान स्वभाव अपरिहार्य है। ऐसा हो, परन्तु कर्तृत्व, भोक्तृत्वरूप कार्य अनर्थक है उसकी शक्ति नहीं, इससे शक्तिके अवस्थित होनेपर भी कार्यके परिहारसे मोक्ष उपपन्न होता है? वह युक्त नहीं है, क्योंकि शक्तिके सद्भावमें कार्यका जन्म दुर्निवार है। और भी शङ्का होती है कि केवल शक्ति अन्य देश, काल आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न कर कार्यका आरम्भ नहीं करती, इससे वह एकाकी स्थित होती हुई भी अपराध नहीं करती? वह भी ठीक नहीं, क्योंकि निमित्त भी शक्तिरूप सम्बन्धसे नित्य सम्बद्ध हैं। इसलिए कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभावके विद्यमान होनेपर और आत्मामें विद्यागम्य ब्रह्मात्मत्व न होनेपर तो किसी प्रकार भी मोक्ष की आशा नहीं है। और 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (ज्ञानके विना मोक्षके लिए अन्य साधन

सत्यानन्दी दीपिका

यह प्रश्न उठता है कि कर्तृत्व आदि आत्माका स्वभाव है अथवा उसमें आरोपित है? प्रथमपक्षमें—क्या वह स्वभाव कार्य है अथवा शक्ति? कार्यपक्षमें—उस कार्यकी निवृत्तिमें मोक्ष है अथवा उसकी स्थितिमें? प्रथमपक्ष—अग्नि औष्ण्यके समान स्वभाव निवृत्त नहीं किया जा सकता। द्वितीय-स्थितिमें तो वदतोव्याघात है, क्योंकि जब कार्य विद्यमान है तो मोक्ष कैसे हो सकता है। अब स्वभाव शक्ति है, इस पक्षकी 'स्यादेत्' इत्यादि शङ्कासे करते हैं।

❀ यदि कर्तृत्व आदि आत्मामें आरोपित है, यह द्वितीय पक्ष कहो तो वह तत्त्वज्ञानसे ही निवृत्त हो जाता है, इस विषयमें 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि श्रुति

वत मोक्षं प्रत्याशास्ति । श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ज्ञाना- मोक्षमार्गं वारयति । परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः । प्रत्यक्षा- माणाप्रवृत्तेरिति चेन्—न, प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः । शास्त्रं च 'यत्र हि मिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४,४।५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्य- व्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४। ४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति । तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य तत्वान्न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या । किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतय इति ? उच्यते— णविद्याविषया भविष्यन्ति । तथा हि—क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते, क्वचि- ङ्कविद्यां, क्वचिद्वैश्वानरविद्याम् । यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते—'यथा प्राणो ब्रह्म कं खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति, 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' छा० ८।१।१) च, तत्रापि वामनीत्वादिभिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्संभवति । न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते, यथा गतिप्रतिषेधः श्रावितः—'न तस्य प्राणा मन्ति' (बृ० ४।४।६) इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) इत्यादिषु तु सत्यप्या- र्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसंभवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपित- रूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते—'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।७) इत्यादिवदिति द्रष्ट- म् । अपि च परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा ? तत्र

है) यह श्रुति ज्ञानसे अन्य मोक्षमार्गका वारण करती है । जीवका परमात्मासे अनन्य होनेपर व्यवहारका लोप प्रसङ्ग होगा, क्योंकि इस पक्षमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं है, ऐसा कहो तो नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञानके पूर्व स्वप्न व्यवहारके समान उसकी उपपत्ति होती है । 'यत्र हि०' हाँ द्वैत-सा होता है वहाँ अन्य-अन्यको देखता है) इत्यादिसे शास्त्र अप्रबुद्ध विषयमें प्रत्यक्ष आदि हार कहकर पुनः प्रबुद्ध विषयमें 'यत्र त्वस्य०' (जिस समय इस विद्वान्के लिए सब आत्मा ही हो तब किससे किसे देखे) इत्यादि शास्त्रसे उसका अभाव दिखलाते हैं । इसलिए परब्रह्मज्ञानीके व्य आदि विज्ञानका बाध होनेसे किसीप्रकार भी गतिका उपपादन नहीं किया जा सकता । गति प्रतिपादक श्रुतियाँ किसको विषय करती हैं ? कहते हैं—सगुण विद्या विषयक होंगी । जैसे कि पञ्चाग्नि विद्याको प्रस्तुतकर गति कही जाती है, तो कहींपर पर्यङ्कविद्या और कहींपर वैश्वानर- का उपक्रम कर कही जाती हैं । और जहाँ ब्रह्मको प्रस्तुतकर गति कही जाती है, जैसे 'प्राणो ०' (प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है ।) और 'अथ यदिदम०' (अब इस शरीररूपी रके भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार गृह है) यह श्रुति है । वहाँपर भी वामनीत्व आदि और कामत्व आदि गुणोंसे सगुण ब्रह्मके ही उपास्य होनेसे गति सम्भव है । जैसे 'न तस्य०' (उस तके शरीरसे प्राण उत्क्रमण नहीं करते) इसप्रकार गतिका प्रतिषेध सुनाया गया है, वैसे कहींपर विषयक गति नहीं सुनाई जाती । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' इत्यादि श्रुतिमें 'आप्' धातु गत्यर्थक र भी वर्णित न्याय (ब्रह्म सर्वगत सर्वान्तर और सर्वात्मा है) से देशान्तर प्राप्तिका असंभव होनेसे यासे अध्यारोपित नाम, रूपके विलयकी अपेक्षा 'ब्रह्म सन्ब्रह्माप्येति' इत्यादिके समान यह स्वरूप ही अभिहित है, ऐसा समझना चाहिए । और परब्रह्म विषयक होकर व्याख्यान की हुई गति नके लिए अथवा अनुचिन्तनके लिए होगी ? उसमें ब्रह्मतत्त्ववित् पुरुषमें तो गतिकी उक्तिसे

सत्यानन्दी दीपिका

है । इसप्रकार प्रासङ्गिकका परिहारकर अब प्रकृत परम तत्त्वका 'तदेवम्' इत्यादिसे उपसंहार है । इसलिए सर्वगत सर्वान्तरात्मा ब्रह्म गन्तव्य न होनेसे परब्रह्मवित्की गति नहीं हो सकती ।

प्ररोचनं तावद्ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते, स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पिते
स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः। नच नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचि
न्तने काचिदपेक्षोपपद्यते। तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः। तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेन
परस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते। * किं द्वे ब्रह्मणी—परमप
चेति? बाढं द्वे—'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात्
किं पुनः परं ब्रह्म—किमपरमिति? उच्यते—यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधाद
स्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते, तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपास
नायोपदिश्यते—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। नन्वे
मद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत—न, अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात्। तस्य चापर
ब्रह्मोपासनस्य संनिधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८।२।१) इत्यादि
जगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्तितत्वादविद्यायाः। तस्य च देश
विशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम्। सर्वगतत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादि
गमने, बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्म 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २।३।२९)
इत्यत्र। तस्मात् 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्येष एव स्थितः पक्षः। 'परं जैमिनिः'
(ब्र० सू० ४।३।१२) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम् ॥१४॥

प्ररोचन नहीं किया जाता, क्योंकि वह तो स्व संवेद्य विद्यासे समर्पित अव्यवहित स्वास्थ्यसे सिद्ध है
और नित्य सिद्ध निश्रेयस निवेदन विशिष्ट असाध्यफलवाले विज्ञानकी गतिके अनुचिन्तनमें कोई अपेक्ष
उपपन्न नहीं होती। इससे अपरब्रह्मविषयक गति है। उसमें पर और अपर ब्रह्मके विवेकका निश्चय न
होनेसे अपरब्रह्ममें वर्तमान गति बोधक श्रुतियाँ परब्रह्ममें अध्यारोपित की जाती हैं। क्या पर और अपर
दो ब्रह्म हैं? हाँ, ठीक, दो ब्रह्म हैं। क्योंकि 'एतद्वै सत्यकाम०' (पिप्पलादने कहा—हे सत्यकाम!
यह जो ओंकार है वही निश्चय पर और अपर ब्रह्म है) इत्यादि देखनेमें आता है। तो परब्रह्म क्या
है और अपर ब्रह्म क्या है? कहते हैं—जहाँ अविद्याकृत नाम-रूप आदि विशेषके प्रतिषेधसे अस्थूल
आदि शब्दोंसे ब्रह्म उपदिष्ट है वह परब्रह्म है, और वही जब नाम-रूप आदि किसी विशेषणसे विशिष्ट
होता हुआ उपासनाके लिए 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः०' (ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर भारूप है)
इत्यादि शब्दोंसे उपदिष्ट होता है वह अपर ब्रह्म है। परन्तु ऐसा होनेपर अद्वैत प्रतिपादक श्रुति बाधित
होगी? नहीं, क्योंकि अविद्याकृत नाम-रूप उपाधिसे युक्त होनेके कारण वह परिहृत है। और अपर
ब्रह्मकी उपासनाका उसके समीपमें 'स यदि०' (यदि वह पितृलोककी कामनावाला होता है) इत्यादि
जगत् ऐश्वर्यरूप संसार विषयक ही श्रूयमाण फल होता है, क्योंकि उसकी अभी तक अविद्या निवृत्त
नहीं हुई है। और वह देशविशेषसे अवबद्ध है, इसलिए उस देशकी प्राप्तिके लिए गमन विरुद्ध नहीं
है। आत्माके सर्वव्यापक होनेपर भी जैसे घट आदिके गमनसे आकाशका गमन होता है, वैसे ही
बुद्धि आदि उपाधिके गमन होनेपर आत्मामें गमन प्रसिद्ध है, ऐसा 'तद्गुणसारत्वात्' इस सूत्रमें कहा
गया है। इसलिए 'कार्यं बादरिः' (बादरि आचार्यके मतमें कार्य ब्रह्म ही गम्य है) यही सिद्धान्त
पक्ष है। 'परं जैमिनिः' (जैमिनि आचार्यके मतमें परब्रह्म ही गम्य है) इसप्रकार अन्यपक्षका प्रतिभान
मात्र प्रदर्शन तो केवल बुद्धिकी विशदताके लिए है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १४ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* माया उपाधि रहित शुद्ध ब्रह्म पर है और माया उपाधि युक्त वही ब्रह्म अपर है। 'अस्थूलमनणु' इत्यादि श्रुति अविद्याकृत नाम-रूप विशेषका प्रतिषेध करती हुई परब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इत्यादि श्रुति सोपाधिक अपर ब्रह्मका प्रतिपादन

(६ अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् । सू० १५-१६)

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ ५॥

पदच्छेद—अप्रतीकालम्बनात्, नयति, इति, बादरायणः, उभयथा, अदोषात्, तत्क्रतुः, च।

सूत्रार्थ (अप्रतीकालम्बनात्) अमानव पुरुष अप्रतीकोपासकोंको (नयति) ब्रह्मलोकमें ले जाता है, (बादरायणः) ऐसा आचार्य बादरायणका मत है। (उभयथाऽदोषात्) क्योंकि कुछ उपासकोंको ले जाता है और कुछको नहीं ले जाता, ऐसा होनेपर भी दोष नहीं है, कारण कि (तत्क्रतु) ब्रह्मक्रतु ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है।

* स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति। इदमिदानीं संदिह्यते-किं सर्वान्विकारालम्बनानविशेषेणैवामानवः पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकमुत कांश्चिदेवेति। किं तावत्प्राप्तम्? सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद्ब्रह्मणो गतिः स्यात्। तथा हि 'अनियमः सर्वासाम्०' (ब्र० सू० ३।३।३१) इत्यत्राविशेषेणैवैषा विद्यान्तरेष्ववतारितेति। एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति। प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वानन्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते। न ह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति, अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः। तत्क्रतुश्चास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः। यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते, 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः, नतु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति, प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य। नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते यथा पञ्चाग्निविद्यायाम्—'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति

कार्य ब्रह्म विषयक गति है और परब्रह्म विषयक गति नहीं है, यह सिद्ध हो चुका। अब यह सन्देह होता है कि क्या विकारका आलम्बन करनेवाले सब उपासकोंको अमानव पुरुष समानरूपसे ब्रह्मलोक प्राप्त कराता है अथवा किन्हींको ही? तब क्या प्राप्त होता है? पूर्वपक्षी–इन सभी उपासकोंकी परब्रह्मसे अन्यत्र-कार्यब्रह्ममें गति होनी चाहिए, क्योंकि 'अनियमः सर्वासाम्' इस सूत्रमें समानरूपसे ही इस गतिका अन्य उपासनाओंमें भी अवतरण किया गया है। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर निराकरण करते हैं–'अप्रतीकालम्बनान्' प्रतीकका आलम्बन करनेवालोंको छोड़कर अन्य विकारालम्बी सभी उपासकोंको अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमें ले जाता है, ऐसा बादरायण आचार्य मानते हैं। इस प्रकार उभयथाभाव (प्रतीकालम्बियोंको नहीं ले जाता और विकारालम्बियोंको ले जाता है) स्वीकार करनेपर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि अनियम न्याय प्रतीकसे व्यतिरिक्त उपासनाओंमें उपपन्न होता है। 'तत्क्रतुश्च' (कार्य ब्रह्मकी उपासना करनेवाला) इसे उभयथाभावका समर्थक हेतु समझना चाहिए। जो ब्रह्मक्रतु है वह ब्रह्मके ऐश्वर्यको प्राप्त होता है, क्योंकि 'तं यथा०' (जो उसकी जिस-जिस प्रकारसे उपासना करता है वही होता है) ऐसी श्रुति है। प्रतीकोंमें ब्रह्मक्रतुत्व नहीं है, कारण कि उपासना प्रतीक प्रधान होती है। परन्तु अब्रह्मक्रतु भी ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, ऐसी श्रुति है। जैसे कि 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (वह अमानव पुरुष इन उपासकोंको ब्रह्मलोकमें पहुँचाता है) इस प्रकार

सत्यानन्दी दीपिका

करती हैं। परन्तु 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियोंका औपाधिक अपर ब्रह्मके स्वीकार करनेपर भी बाध नहीं हो सकता है, क्योंकि वह कल्पित होनेसे ज्ञान-दृष्टिसे परिहृत है ॥१४॥

* 'स एनान्ब्रह्म गमयति' यह सामान्य श्रुति है। 'जो जिसकी उपासना करता है वही होता है, इस तत्क्रतु न्यायसे संशय होता है कि यावत् विकार उपासकोंको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है अथवा किन्हीं उपासकोंको? ऐसा संशय होनेपर 'सर्वेषाम०' आदिसे पूर्वपक्ष दिखलाकर सिद्धान्ती—'मनो

भवतु, यत्रैवमाहत्यवाद उपलभ्यते, तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति गम्यते ॥ ५॥

विशेषं च दर्शयति ॥१६॥

पदच्छेद विशेषम्, च, दर्शयति ।

सूत्रार्थ—(च) और (विशेषम्) नाम आदि प्रतीकोपासनाओंमें पूर्व-पूर्वसे उत्तरोत्तर उपासनाओंमें और अधिक फल (दर्शयति) श्रुति दिखलाती है, अतः प्रतीकोपासक ब्रह्मलोकमें नहीं जाते।

❀ नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (छा० ७।२।१) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।२।२), 'मनो वाव वाचो भूयः' (छा० ७।३।१) इत्यादिना । स चायं फलविशेषः प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते, ब्रह्मतन्त्रे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात् ? तस्मान्न प्रतीकालम्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥१६॥

इति श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

पञ्चाग्नि विद्यामें है । परन्तु जहाँपर इस प्रकार प्रत्यक्षवाद उपलब्ध हो वहाँपर भले ऐसा हो, किन्तु उसके अभावमें तो औत्सर्गिक तत्क्रतु न्यायसे ब्रह्मक्रतुओंको ही ब्रह्मलोक प्राप्ति है अन्योंको नहीं, ऐसा ज्ञात होता है ॥ १५ ॥

नाम आदि प्रतीकोपासनाओंमें पूर्व पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर उपासनाओंमें 'यावन्नाम्नोगतं०' (वह जो कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी जहाँ तक नामकी गति होती है वहाँ तक यथेच्छ गति हो जाती है) 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (वाक् ही नामसे बढ़कर है) 'यद्वाचो गतं० (वह जो वाणीकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी जहां तक वाणीकी गति होती है वहां तक स्वेच्छ गति हो जाती है) 'मनो वाव वाचो भूयः' (मन ही वाणीसे उत्कृष्ट है) इत्यादिसे श्रुति फल विशेष दिखलाती है । यह फल विशेष प्रतीकके अधीन होनेसे उपासनाओंमें उपपन्न होता है । उपासनाओंके ब्रह्म अधीन होनेपर तो फल विशेष कैसे होगा, क्योंकि ब्रह्म अविशिष्ट है । इससे प्रतीकालम्बियोंको अन्यके समान फल नहीं है ॥ १६ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य- भाषानुवादके चतुर्थाध्यायका तृतीय पाद समाप्त ॥

सत्यानन्दी दीपिका

ब्रह्मेत्युपासीत' (मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिए) यह प्रतीक आलम्बन है । इन प्रतीकका आलम्बन करनेवालोंको छोड़कर सब विकार आलम्बी उपासकोंको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है । प्रतीकोपासक अर्चिरादि मार्गसे विद्युत् लोक तक जाते हैं, ब्रह्मलोक तक नहीं, क्योंकि वे ब्रह्मोपासक नहीं है। प्रतीकोपासनामें नाम आदि प्रतीक प्रधान होता है और ब्रह्म गौण । किन्तु ब्रह्मोपासनाओंमें ब्रह्म प्रधान होता है । 'तं यथा०' यह तत्क्रतु न्याय श्रुति मूलक है । यद्यपि पञ्चाग्निविद्यामें उपासक ब्रह्मक्रतु नहीं है, तो भी वहां स्पष्टरूपसे उन पञ्चाग्निविद्या उपासकोंके लिए ब्रह्मलोक प्राप्ति कही गई है, अतः यहां तत्क्रतु न्यायका बाध है । इससे सिद्ध हुआ है कि अप्रतीक ब्रह्मोपासकोंके लिए ही ब्रह्मलोक प्राप्ति है ॥ १५ ॥

* इस वक्ष्यमाण हेतुसे भी प्रतीकोपासक ब्रह्मलोकमें नहीं जाते 'विशेषं च दर्शयति' इस सूत्रसे कहते हैं । 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' (नाम ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे) इस प्रकार ब्रह्म दृष्टिसे नाम आदि की उपासना प्रतीकोपासना कही जाती है । प्रतीकके तारतम्यसे फल तारतम्यकी श्रुति है । नाम आदि

चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ।

[अत्र पादे ब्रह्मप्राप्ति–ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणम्]

(इस पादमें ब्रह्म प्राप्ति और ब्रह्मलोककी स्थितिका निरूपण है)

(१ संपद्याविर्भावाधिकरणम् । सू० १-३)

संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥१॥

पदच्छेद—संपद्य, आविर्भावः, स्वेनशब्दात् ।

सूत्रार्थ—(संपद्य) प्रकाश रूप आत्माका साक्षात्कारकर उस आत्मरूपसे (आविर्भावः) विद्वान् आविर्भूत होता है, (स्वेनशब्दात्) क्योंकि 'स्वेन रूपेण' इस श्रुतिमें 'स्व' शब्द है ।

* एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति श्रूयते । तत्र संशयः—किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेणाभिनिष्पद्यते, आहोस्विदात्ममात्रेणेति । किं तावत्प्राप्तम् ? स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्, मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः, अभिनिष्पद्यत इति चोत्पत्तिपर्यायत्वात् स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपायाद्विभाव्येत । तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—केवलेनैवात्मनाऽऽविर्भवति, न धर्मान्तरेणेति । कुतः ? स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वशब्दात् । अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवक्लृप्तं स्यात् । नन्वात्मीयाभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति । न. तस्यावचनीयत्वात् ।

'एवमेवैष सम्प्रसादो०' (इसीप्रकार यह जीव इस शरीरसे समुत्थानकर-देहात्मभाव त्यागकर ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कारकर स्व-आत्मरूपसे आविर्भूत होता है) ऐसी श्रुति है । उसमें संशय होता है कि क्या देवलोक आदि उपभोग स्थानोंके समान किसी एक आगन्तुक स्वरूपविशेषसे अभिनिष्पन्न होता है अथवा आत्ममात्रसे ? तब क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्षी—अन्य स्थानोंके समान किसी एक आगन्तुकरूपसे अभिनिष्पन्न होना चाहिए, क्योंकि मोक्ष भी फलरूपसे प्रसिद्ध है, 'अभिनिष्पद्यते' (अभिनिष्पन्न होता है) यह उत्पत्तिका पर्यायवाची शब्द है । यदि स्वरूपमात्रसे अभिनिष्पत्ति हो तो पूर्व अवस्थाओंमें भी स्वरूपके अविनाश होनेसे ज्ञात होना चाहिए । इसलिए किसी एक विशेषरूपसे अभिनिष्पन्न होता है । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं–केवल आत्मरूपसे ही आविर्भूत होता है, अन्य धर्मसे नहीं । किससे ? इससे कि 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (अपने रूपसे अभिनिष्पन्न होता है) इसमें 'स्व' शब्द है । अन्यथा विशेषणीभूत 'स्वेन' स्वशब्द अनुपपन्न होगा । परन्तु आत्मीय अभिप्रायवाला 'स्व' शब्द होगा ? नहीं, क्योंकि यह स्वकीय कहने योग्य

सत्यानन्दी दीपिका

प्रतीकोंमें भेद होनेसे उपासनामें भेद उसके फलमें भेद स्वाभाविक है, अतः प्रतीकोपासक ब्रह्मलोकमें नहीं जाते । परन्तु ब्रह्म तो सर्वत्र समान है, अतः उसकी उपासनाका फल भी सम न है । इसलिए ब्रह्मोपासक ही ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ १६ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के चतुर्थाध्यायका तृतीयपाद समाप्त ॥

* गत पादमें सगुण ब्रह्मोपासकोंके लिए कार्य ब्रह्मकी प्राप्ति कही गई । अब उनके लिए ब्रह्मलोक सम्बन्धी ऐश्वर्य विशेषका विचार इस पादके उत्तरार्द्धसे किया जायगा । उससे पूर्व अभीष्ट परविद्यासे प्राप्य निर्विशेष ब्रह्मभावको कहते हैं–'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस निर्गुण विद्याके फलबोधक वाक्यमें स्वशब्दके सम्बन्धी आगन्तुकरूपवाची और स्वात्मरूपवाची होनेसे संशय होता है अर्थात् स्वशब्द आत्मीय और आत्माके लिए प्रयुक्त होता देखा जाता है, अतः किसका ग्रहण करना चाहिए ? पूर्वपक्षी–

येनैव हि केनचिद्रूपेणाभिनिष्पद्यते तस्यैवात्मीयत्वोपपत्तेः स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात्। आत्मवचनतायां त्वर्थवत्केवलेनैवात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते, नागन्तुकेनापररूपेणापीति ॥१॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वास्ववस्थास्विह च स्वरूपानपायसाम्ये सतीत्यत आह—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

पदच्छेद—मुक्तः, प्रतिज्ञानात्।

सूत्रार्थ—(मुक्तः) मुक्त पुरुष पूर्ण आनन्दरूपसे अवस्थित होता है, (प्रतिज्ञानात्) क्योंकि 'एतं त्वेव ते' इत्यादि श्रुतिमें सम्पूर्ण अनर्थसे मुक्त आनन्दस्वरूप आत्माकी व्याख्येयरूपसे प्रतिज्ञा की गई है।

योऽत्राभिनिष्पद्यत इत्युक्तः, स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते। पूर्वत्र त्वन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमेवापीतो भवतीति चावस्थात्रयकलुषितेनात्मनेत्ययं विशेषः। कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति? प्रतिज्ञानादित्याह। तथा हि—'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३,८।१०।४,८।११।३) इत्यवस्थात्रयदोषविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय, 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति चोपन्यस्य, 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इति चोपसंहरति।

नहीं है। जिस किसी रूपसे अभिनिष्पन्न होता है उसीमें आत्मीयत्वकी उपपत्ति होनेसे 'स्वेन' यह विशेषण अनर्थक होगा और आत्मवाची होनेपर तो सार्थक है। इसलिए केवल आत्मरूपसे ही आविर्भूत होता है किसी अन्य आगन्तुकरूपसे नहीं ॥ १ ॥

परन्तु स्वरूपका अविनाश समान होनेपर पूर्व अवस्थाओं और इस अवस्थामें क्या विशेष है? इसपर कहते हैं—

यहाँ 'अभिनिष्पद्यते' शब्दसे जो कहा गया है, वह सम्पूर्ण बन्धसे विनिर्मुक्त होकर शुद्ध आत्मरूपसे ही अवस्थित होता है। पूर्व अवस्थाओंमें 'अन्धो भवति' (जाग्रदवस्थामें वह अन्धा होता है) 'अपि रोदितीव०' (स्वप्नावस्थामें आहत होनेसे अथवा प्रिय वस्तुके विनाशसे मानो रोता है) 'विनाशमेवापीतो भवति०' (सुषुप्तिमें विशेष ज्ञानके न होनेसे मानो विनाशको प्राप्त होता है) इस प्रकार तीनों अवस्थाओंमें कलुषित आत्मरूपसे अवस्थित होता है यह [ज्ञानसे पूर्व तीन अवस्थाओं और इस अवस्थामें] विशेष है। परन्तु अब यह मुक्त होता है ऐसा कैसे अवगत हो? प्रतिज्ञासे, ऐसा कहते हैं। क्योंकि 'एतं त्वेव ते०' (मैं तुम्हारे प्रति इस आत्माका पुनः व्याख्यान करूँगा) इस प्रकार तीनों अवस्थाओंके दोषसे रहित आत्माकी व्याख्येयरूपसे प्रतिज्ञा कर 'अशरीरं वाव सन्तं० (उस अशरीरभूत आत्माको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते) इस प्रकार उपक्रमकर 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते०'

सत्यानन्दी दीपिका

'मोक्षः, आगन्तुकः, फलत्वात् स्वर्गवत्' (मोक्ष आगन्तुक है, क्योंकि फल है जैसे स्वर्ग) यदि स्वशब्दसे आत्मस्वरूप मात्रकी अभिनिष्पत्ति हो तो पूर्व अवस्थाओंमें अविनष्ट होनेसे उसका सर्वदा ज्ञान होना चाहिए। इससे ज्ञान आदि साधन व्यर्थ होंगे, अतः मोक्ष एक आगन्तुक फल विशेष है। पूर्वपक्षमें मोक्ष स्वर्गके समान है, सिद्धान्तमें मोक्ष स्वर्गसे विशेष है। सिद्धान्ती—आत्मसाक्षात्काररूप मोक्ष स्वर्ग आदि साध्यफलके समान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु विद्यासे केवल अविद्याकी निवृत्ति मात्र है, आत्मा तो स्वयं नित्य सिद्ध है। जैसे प्रकाश अन्धकारकी निवृत्ति द्वारा वस्तुकी अभिव्यक्तिमें हेतु है। किञ्च 'अभिनिष्पद्यते' शब्दका अर्थ केवल उत्पत्ति नहीं है आविर्भाव भी है। जैसे सेवालसे आवृत्त जल उसके हटाए जानेपर स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है, वैसे अविद्यासे आवृत्त आत्मस्वरूप विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त-अनुभूत होता है ॥ १ ॥

ाऽऽख्यायिकोपक्रमेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव ज्ञानम् । फलत्वप्रसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा । यदप्य- निष्पद्यत इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं, तदपि पूर्वावस्थापेक्षम्—यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यत ति तद्वत् । तस्माददोषः ॥२॥

आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

पदच्छेद—आत्मा, प्रकरणात् ।

सूत्रार्थ—(आत्मा) यहाँ आत्माका ही ज्योतिः शब्दसे प्रतिपादन है, (प्रकरणात्) क्योंकि आत्मा' इस प्रकार उसका प्रकरण है ।

* कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते ? यावतां 'परं ज्योतिरुपसंपद्यत' (छा० ८।१२।३) इति र्यगोचरमेवैनं श्रावयति, ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात् । न चानतिवृत्तो कारविषयात्कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति, विकारस्यार्तत्वप्रसिद्धेरिति । नैषः, यत आत्मैवात्र तिःशब्देनावेद्यते, प्रकरणात्, 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (छा० ८।७।१) इति प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम्, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिया- ङ्गात् । ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४।४।१६) इति । ञ्चितं चैतत्' (ब्र० सू० १।३।४०) इत्यत्र ॥३॥

नेरूपसे अभिनिष्पन्न होता है वह उत्तम पुरुष है) ऐसा उपसंहार करते हैं । इसीप्रकार आख्या- के उपक्रममें भी 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (यह आत्मा पाप रहित है) इत्यादि मुक्त आत्म- यक ही प्रतिज्ञान है । और मोक्षमें फलत्व सिद्धि भी बन्ध निवृत्तिमात्रकी अपेक्षासे है, अपूर्व उत्पत्ति अपेक्षासे नहीं है । यद्यपि 'अभिनिष्पद्यते' यह उत्पत्तिका पर्याय है तो भी वह पूर्वावस्थाकी क्षासे है । जैसे रोगकी निवृत्ति होनेपर अरोग अभिनिष्पन्न होता है, उसके समान यहाँ भी समझना हिए, इससे दोष नहीं है ॥ २ ॥

परन्तु 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (पर ज्योतिको प्राप्तकर स्वात्मरूपसे अवस्थित होता है) यह इसे कार्य विषयक श्रवण कराती है, तो मुक्त है, पुनः ऐसा क्यों कहा जाता है ? क्योंकि ज्योतिः- भौतिक ज्योतिमें रूढ है । कार्य विषयका अनतिक्रमणकर कोई मुक्त नहीं हो सकता । कारण कि र दुःखरूपसे प्रसिद्ध है । यह दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ आत्मा ही ज्योतिः शब्दसे कहा जाता है, कि उसका प्रकरण है, 'य आत्मा०' (यह आत्मा पाप रहित, जरा रहित और मृत्यु रहित है) इस परमात्मामें अकस्मात् भौतिक ज्योतिका ग्रहण नहीं किया जा सकता, कारण कि ऐसा होनेमें हानि और अप्रकृतप्रक्रियाका प्रसङ्ग होगा । ज्योतिः शब्द तो 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (उसकी लोग ज्योतिके भी ज्योतिरूपसे उपासना करते हैं) इस प्रकार आत्मामें भी देखा जाता है । 'ज्योतिर्दर्शनात्' इस सूत्रमें विस्तृत विचार किया गया है ॥ ३ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इस श्रुतिपर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वरूप अभि- से अतिरिक्त ज्योतिको प्राप्त होता है । क्योंकि 'सूर्यो ज्योतिः' 'अग्निर्ज्योतिः' इत्यादि भौतिक में ज्योतिःशब्द रूढ है । सिद्धान्ती—यद्यपि ज्योतिःशब्द सूर्य आदि भौतिक ज्योतिमें रूढ है आत्माका प्रकरण है, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' और 'परं ज्योतिः' इस प्रकार प्रकरण और आत्मामें भी ज्योतिः शब्द प्रयुक्त होता है । यहाँपर ज्योतिः पद तो मुख्यरूपसे ब्रह्ममें प्रयुक्त है केवल ज्योतिमें नहीं । यदि ज्योतिः शब्दसे सूर्य आदि भौतिक ज्योतिका ग्रहण करें, तो प्रकृत

(२ अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् । सू० ४)

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

पदच्छेद—अविभागेन, दृष्टत्वात् ।

सूत्रार्थ—(अविभागेन) मुक्त पुरुष परब्रह्मसे अविभक्त होकर अवस्थित होता है, (दृष्टत्वात्) क्योंकि 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इत्यादि श्रुतियोंमें अभेद ही देखा जाता है ।

❀ परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्युताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (८।१२।३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् 'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते । कुतः ? दृष्टत्वात् । तथा हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति । यथादर्शनमेव च फलं युक्तम् , तत्क्रतुन्यायात् । 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति । नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च । भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५।२) इति चैवमादिदर्शनात् ॥४॥

जो पर ज्योतिको प्राप्तकर आत्मरूपसे अभिनिष्पन्न होता है । क्या वह परमात्मासे पृथक् ही होता है अथवा अविभागसे-अभेदसे ही अवस्थित होता है ? इसप्रकार विचार होनेपर 'स तत्र पर्येति' (वह अपने आत्मामें स्थित हुआ सब ओर संचार करता है) इसमें अधिकरण और अधिकर्तव्य-आधाराधेयभावका निर्देश होनेसे और 'ज्योतिरुपसंपद्य' (ज्योतिको प्राप्तकर) इसमें कर्ता और कर्मका निर्देश होनेसे मुक्त पुरुष परमात्मासे भिन्न होकर ही अवस्थित होता है, ऐसी जिसकी बुद्धि हो उसको कहते हैं–मुक्त पुरुष परमात्मासे अविभक्त ही अवस्थित होता है, क्योंकि ऐसा देखा जाता है । जैसे कि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'यत्र नान्यत्पश्यति' (जहाँ अन्य नहीं देखता) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति' (उस समय उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं जिसे देखे) इत्यादि वाक्य अविभागसे ही परमात्माको दिखलाते हैं । और दर्शनके अनुसार ही तत्क्रतुन्यायसे फल युक्त है । 'यथोदकं शुद्धे॰' (जैसे शुद्ध जलमें डाला हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, वैसे ही हे गौतम ! विज्ञानी मुनिका आत्मा भी हो जाता है) इत्यादि मुक्ति स्वरूप निरूपण परक वाक्य और नदी समुद्र आदि दृष्टान्त अविभाग ही दिखलाते हैं । भेद निर्देश तो 'स भगव॰' (नारद–हे भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ? सनत्कुमार—अपनी महिमामें) और 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (इस प्रकार जाननेवाला आत्मरति और आत्मक्रीड है) इत्यादि दर्शनसे अभेदमें भी उपचरित होता है ॥ ४ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

आत्माका परित्याग अप्रकृत भौतिक ज्योतिका ग्रहण प्रसक्त होगा । इसलिए ज्योतिः स्वरूप आत्माका साक्षात्कारकर आत्मरूपसे अवस्थित होना ही मुक्त है ॥ ३ ॥

❀ यदि मुक्त पुरुष ब्रह्मसे अविभक्त होकर ही अवस्थित है तो 'स तत्र पर्येति' 'परं ज्योरुपसंपद्य' इत्यादि श्रुतियोंमें भेदका निर्देश क्यों किया गया है ? अभेदमें भी भेदोपचार होता है । जैसे 'पुरुषस्य चैतन्यम्' 'राहोः शिरः' इत्यादि स्थलोंमें है । अतः औपचारिक भेद निर्देश वास्तविक अभेदका बाधक नहीं होता । वस्तुतः जीव तो अज्ञानावस्थामें भी ब्रह्म स्वरूप है, किन्तु उपाधिसे भिन्न

(३ ब्राह्माधिकरणम् । सू० ५-७)

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

पदच्छेद—ब्राह्मेण, जैमिनिः, उपन्यासादिभ्यः ।

सूत्रार्थ—(ब्राह्मेण) मुक्त पुरुष ब्राह्मधर्म-सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व स्वरूपसे अवस्थित होता है । जैमिनिः) ऐसा आचार्य जैमिनिका मत है, (उपन्यासादिभ्यः) क्योंकि उपन्यास आदि हेतुओंसे ऐसा अवगत होता है ।

* स्थितमेतत्—'स्वेन रूपेण' (छा० ८।३।४) इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते, गन्तुकेनापररूपेणेति । अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधीयते—स्वमस्य रूपं ब्राह्मम-हतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत ति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः ? उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात् । तथा हि—'य त्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादिना 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।१) इत्येव-तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति । तथा 'स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः' ० ८।१२।३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति । 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२) ति च । 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥५॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

पदच्छेद—चितितन्मात्रेण, तदात्मकत्वात्, इति, औडुलोमिः ।

सूत्रार्थ—(तदात्मकत्वात्) जीवके चैतन्यरूप होनेसे (चितितन्मात्रेण) मुक्त पुरुष केवल न्यरूपसे अवस्थित होता है, (इति औडुलोमिः) ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं ।

'स्वेन रूपेण' (आत्मरूपसे अभिनिष्पन्न होता है) इस श्रुतिमें केवल आत्मरूपसे अभिनिष्पन्न ता है किसी अन्य आगन्तुकरूपसे नहीं, ऐसा सिद्ध हुआ । अब तो उसके विशेष जाननेकी इच्छा नेपर कहते हैं कि इसका अपना ब्राह्मरूप अपहतपाप्मत्व आदिसे लेकर सत्य संकल्पत्व पर्यन्त तथा ज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व है, उस स्वरूपसे अभिनिष्पन्न होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । किससे ? से कि उपन्यास आदि हेतुओंसे वैसा ही अवगम होता है । क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' आदिसे लेकर और 'सत्यकामः सत्पसङ्कल्पः' इत्यन्त उपन्याससे आत्माके ऐसे ही स्वरूपत्वका बोध ता है । इसी प्रकार 'स तत्र पर्येति० (वह संप्रसाद-जीव अपने आत्मरूपमें स्थित होता है, उस स्थामें कहीं भक्षण करता, हँसता, रमण करता हुआ विचरण करता है) इस प्रकार ऐश्वर्यरूपका वेदन (सूचना) करता है । 'तस्य सर्वेषु०' (सब लोकोंमें उसकी यथेच्छ गति होती है) ऐसी भी है। 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादि व्यपदेश भी इस प्रकार माननेपर उपपन्न होंगे ॥ ५ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

त होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि मुक्त पुरुष ब्रह्मसे अत्यन्त अविभक्त ही रहता है ॥ ४ ॥

* क्या वह मुक्त पुरुष सर्वज्ञत्व आदि धर्म युक्त होकर अवस्थित होता है अथवा धर्म आदि निर्विशेष चिन्मात्ररूपसे अवस्थित होता है, अथवा वस्तुतः चिन्मात्र होनेपर भी अन्य जीवके रकी दृष्टिसे कल्पित सर्वज्ञत्व आदि धर्म युक्त है ? इस प्रकार संशय होनेपर 'अधुना' आदिसे हैं । वह मुक्त पुरुष सर्वज्ञत्व आदि युक्त सविशेष ब्रह्मरूपसे अवस्थित होता है । इसमें उपन्यास हेतु विद्यमान हैं । 'सोऽन्वेष्टव्यः' (उसका अन्वेषण करना चाहिए) इत्यादि विधिके लिए त्माऽपहतपाप्मा' यह उपन्यास है । आदि पदसे विधि और व्यपदेशका ग्रहण है । अज्ञात ज्ञापक को विधि कहते हैं । 'स तत्र पर्येति' यह विधि है, और 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' यह व्यपदेश है ॥५॥

❀ यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयोभेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते, तथापि शब्दविकल्पजा एवैते। पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते। चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता। तथा च श्रुतिः—'एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इत्येवंजातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति। सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते - सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसंबन्धाधीनत्वात्तेषां चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः, अनेकाकारत्वप्रतिषेधात्। प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम्—'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यत्र। अतएव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत्। नहि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं, द्वितीयविषयत्वात्तेषाम्। तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥६॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥७॥

पदच्छेद—एवम्, अपि, उपन्यासात्, पूर्वभावात्, अविरोधम्, बादरायणः।

सूत्रार्थ—(एवमपि) ऐसा होनेपर भी (उपन्यासात्) पूर्वोक्त उपन्यास आदि हेतुओंसे (पूर्वभावात्) प्रथम ब्रह्मने सर्वज्ञत्व आदि व्यावहारिक होनेसे मुक्त आत्मामें (अविरोधः) विरोध नहीं है, (बादरायणः) ऐसा बादरायण आचार्यका मत है।

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ॥७॥

यद्यपि अपहतपाप्मत्व आदि धर्म भेदसे ही निर्दिष्ट हैं, तो भी वे धर्म शब्दविकल्पसे ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उनमें केवल पाप आदिकी निवृत्ति ज्ञात होती है। परंतु चैतन्य ही इस आत्माका स्वरूप है, इसलिए केवल उसी स्वरूपसे अभिनिष्पत्ति युक्त है। इस प्रकार 'एवं वा अरे० (याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर-बाह्य भेदसे शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है) इस प्रकारकी श्रुति अनुगृहीत होगी। परन्तु सत्यकाम है इसका वह सत्यकाम है, इस व्युत्पत्तिसे यद्यपि सत्यकामत्व आदि धर्म वस्तुस्वरूपसे ही कहे जाते हैं, तो भी उपाधि सम्बन्धके अधीन होनेसे उनमें चैतन्यके समान स्वरूपत्व संभव नहीं है, क्योंकि आत्मामें अनेकाकारत्वका प्रतिषेध है। 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' इस सूत्रमें ब्रह्ममें अनेकाकरत्वका प्रतिषेध किया गया है। अतएव भक्षण आदि संकीर्तन भी दुःख अभावमात्रके अभिप्रायसे है और वह आत्मरति आदिके समान स्तुत्यर्थक है। क्योंकि रति, क्रीडा, मिथुन आत्मामें मुख्यरूपसे वर्णन नहीं किए जा सकते, कारण कि वे द्वितीय-अन्य विषयक हैं इसलिए समस्त प्रपञ्चसे रहित प्रसन्न अव्यपदेश्य बोधरूपसे अभिनिष्पन्न होता है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं ॥ ६ ॥

ऐसा होनेपर भी-पारमार्थिक चैतन्यमात्र स्वरूप स्वीकार करनेपर भी व्यवहारकी अपेक्षासे उपन्यास आदिसे पूर्व अवगत ब्राह्म-ब्रह्मके ऐश्वर्यका प्रत्याख्यान न होनेके कारण अविरोध बादरायण आचार्य मानते हैं ॥ ७ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

❀ मुक्त पुरुष ईश्वरके सत्यकामत्व आदि धर्म विशिष्ट होकर अवस्थित होता है, इस प्रकार भेदाभेद अयुक्त है, इस बातको कहनेके लिए 'चितितन्मात्रेण' इत्यादिसे अन्य पूर्वपक्ष कहते हैं ॥६॥

❀ जैमिनि आचार्यने ब्रह्मके सत्यकामत्व आदि धर्मोंको पारमार्थिक सत्य कहा है और औडुलोमि आचार्यने इन धर्मोंको औपाधिक कहकर अत्यन्त असत् कहा है, अतः ये दोनों पक्ष

(४ संकल्पाधिकरणम् । सू० ८-९)

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥८॥

पदच्छेद—संकल्पात्, एव, तु, तच्छ्रुतेः ।

सूत्रार्थ—(संकल्पादेव) इस विद्वान्के केवल संकल्पसे ही पितर आदि उपस्थित होते हैं, (तच्छ्रुतेः) क्योंकि 'संकल्पादेवास्य' ऐसी श्रुति है ।

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादि । तत्र संशयः—किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहित इति । तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षता युक्ता । यथा लोकेऽस्मदादीनां संकल्पाद्गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि स्यात् । एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति । संकल्पादेवेति तु राज्ञइव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते । नच संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथाविजृम्भितवच्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—संकल्पादेव तु केवलात्पित्रादिसमुत्थानमिति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीड्येत । निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु नतु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमितीष्यते ।

हार्दविद्यामें 'स यदि पितृलोककामो०' (वह यदि पितृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही पितृगण वहां समुपस्थित होते हैं) इत्यादि श्रुति है । उसमें संशय होता है कि ्या केवल संकल्प ही पितृ आदिके समुत्थानमें हेतु है अथवा अन्य निमित्तके साथ संकल्प हेतु है ? ूर्वपक्षी—उस श्रुतिमें 'संकल्पसे ही' इसप्रकार श्रवण होनेपर भी लोकके समान अन्य निमित्तकी अपेक्षा युक्त है । जैसे लोकमें अस्मद् आदिके संकल्पसे और गमन आदि हेतुओंसे पितृ आदिकी ाप्ति होती है, वैसे मुक्तके लिए भी होनी चाहिए. ऐसा होनेसे दृष्टसे विपरीत कल्पित नहीं होगा । 'संकल्पसे ही' यह तो राजाके समान संकल्पित अर्थकी सिद्धि करनेवाली अन्य साधन सामग्रीकी ुलभताकी अपेक्षासे कहा जाता है । और संकल्पमात्रसे समुत्थान होनेवाले पितर आदि मनोरथसे ल्पितके समान चञ्चल होनेसे पुष्कल भोग समर्पण करनेमें समर्थ नहीं होंगे । सिद्धान्ती—ऐसा ाप्त होनेपर हम कहते हैं केवल संकल्पसे ही पितृ आदिका समुत्थान होता है, क्योंकि उसकी ुति है । 'संकल्पादेवास्य' (उस विद्वान्के संकल्पसे ही पितृगण समुपस्थित होते हैं) इत्यादि श्रुति न्य निमित्तकी अपेक्षा होनेपर बाधित हो जायगी । अन्य निमित्त भी यदि संकल्पके अनुविधायी अनुगामी) हो तो भले हो, परन्तु अन्य प्रयत्न साध्य अन्य निमित्त हमें इष्ट नहीं है, क्योंकि अन्य मित्तकी प्राप्तिके पूर्व संकल्पमें वन्ध्यत्व प्रसंग होगा । और श्रुति-अवगम्य अर्थमें 'लोकके समान'

सत्यानन्दी दीपिका

ुक्त हैं, क्योंकि ऐसा माननेपर अद्वैत श्रुति, सर्वज्ञत्व श्रुति और व्यवहारका बाध होता है । यद्यपि मार्थमें चैतन्यमात्र स्वरूप है, तो भी व्यवहारदृष्टिसे सत्यकामत्व, ऐश्वर्य आदि सत्य मानने चाहिएं, ोंकि उपन्यास आदि हेतुओंने सिद्ध होता है । इसलिए परमार्थदृष्टिसे और व्यवहारदृष्टिसे दोनों पक्ष क हैं अर्थात् परमार्थ दृष्टिसे केवल चैतन्यमात्र स्वरूप है उससे भिन्न सब कल्पित-मिथ्या-असत् है, औडुलोमि आचार्यका मत युक्त है और व्यवहारदृष्टिसे ब्रह्मके सत्यकामत्व आदि धर्म सत्य हैं, इस ार जैमिनि आचार्यका मत भी युक्त है । इस प्रकार परमार्थ दृष्टिसे और व्यवहारदृष्टिसे दोनोंमें ई विरोध नहीं है ॥ ७ ॥

प्राक्तत्संपत्तेर्वन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात् । नच श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतो दृष्टं क्रमते । संकल्पबलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः । प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य ।८।

अत एव चानन्याधिपतिः ।९॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, अनन्याधिपतिः ।

सूत्रार्थ—(अत एव च) और अवन्ध्य संकल्पसे ही विद्वान् (अनन्याधिपतिः) अनन्याधिपति होता है ।

अत एव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति—नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः । नहि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति । श्रुतिश्चैतद्दर्शयति 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ८।१।६) इति ।।९।।

(५ अभावाधिकरणम् । सू० १०-१४)

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥१०॥

पदच्छेद—अभावम्, बादरिः, आह, हि, एवम् ।

सूत्रार्थ—(बादरिः) बादरि आचार्य मानते हैं कि (अभावम्) विद्वान्के शरीरका वहाँ अभाव होता है, (हि) क्योंकि (एवम्) 'मनसैतान्' ऐसा श्रुति कहती है ।

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिश्रुतेर्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम् । शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति, न वा सन्तीति समीक्ष्यते । तत्र बादरिस्तावदाचार्यस्य शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते । कस्मात् ? एवं ह्याहाम्नायः 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' (छा० ८।१२।५) 'य एते ब्रह्मलोके' (छा० ८।१३।१) इति । यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात् । तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥१०॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥११॥

यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रवृत्त नहीं होता । संकल्पबलसे ही इन विद्वानोंका यावत् प्रयोजन स्थिरताको उत्पन्न होता है, कारणकि मुक्त पुरुषका संकल्प प्राकृत पुरुषोंके संकल्पसे विलक्षण है ।८।

और इसीसे—अवन्ध्य संकल्पसे ही विद्वान् अनन्याधिपति होता है, इसका अन्य अधिपति-स्वामी नहीं होता, ऐसा अर्थ है । संकल्प करता हुआ प्राकृत पुरुष भी गति होनेपर अपने ऊपर अन्य स्वामी होनेका संकल्प नहीं करता । 'अथ य०' (जो इस लोकमें आत्माको तथा सत्यकामनाओंको जानकर परलोकमें जाते हैं उनकी समस्त लोकोंमें यथेच्छ गति होती है) यह श्रुति भी इसको दिखलाती है ॥ ९ ॥

'संकल्पदेवास्य०' (उसके संकल्पसे ही पितृगण समुपस्थित होते हैं) इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है कि मन ही संकल्पका साधन है । प्राप्त ऐश्वर्य वाले विद्वान्के शरीर और इन्द्रियाँ होती हैं अथवा नहीं होती ? इस विषयपर विचार किया जाता है । इस परिस्थितिमें बादरि आचार्य तो ऐश्वर्य आदि महिमाको प्राप्त हुए विद्वान्के शरीर, इन्द्रियोंका अभाव मानते हैं । किससे ? इससे कि 'मनसैतान्' (यह आत्मा ब्रह्मलोकमें मनसे ही भोगोंको देखता हुआ रमण करता है) 'य एते ब्रह्मलोके' (ये जो ब्रह्मलोकमें संकल्पलभ्य भोग हैं) यह श्रुति ऐसा ही कहती है । यदि मन, शरीर और इन्द्रियोंसे विहार करेगा तो 'मनसा' (मनसे) यह विशेषण नहीं होना चाहिए, इससे मोक्षमें शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है ॥ १० ॥

पदच्छेद—भावम्, जैमिनिः, विकल्पामननात्।

सूत्रार्थ—(भावम्) मनके समान शरीर और इन्द्रियोंका मोक्षमें भाव (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य मानते हैं, (विकल्पामननात्) क्योंकि 'स एकधा भवति' इत्यादि श्रुति अनेकधाभावका विकल्प कहती है।

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते। यतः 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिनाऽनेकधाभाव विकल्पमामनन्ति। न ह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात्। यद्यपि निर्गुणायां भूमविद्यायामयमनेकधाभावविकल्पः पठ्यते, तथापि विद्यमानमेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यत इत्यतः सगुणविद्याफलभावेनोपतिष्ठत इति ॥११॥

उच्यते—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥

पदच्छेद—द्वादशाहवत्, उभयविधम्, बादरायणः, अतः।

सूत्रार्थ—(बादरायणः) बादरायणका मत है कि (अतः) उभय लिंगकी श्रुति देखनेसे (उभयविधम्) उभयविधत्व है। (द्वादशाहवत्) जैसे द्वादशाह उभयविध होता है।

❀ बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते, यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति, यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति, सत्यसंकल्पत्वात्, संकल्पवैचित्र्याच्च। द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च भवति। उभयलिङ्गश्रुति दर्शनादेवमिदमपीति ॥१२॥

जैमिनि आचार्य तो मनके समान इन्द्रिय सहित शरीरका भी भाव मुक्त पुरुषके प्रति मानते हैं, क्योंकि 'स एकधा भवति०' (वह एक प्रकारका होता है, तीन प्रकारका होता है) इत्यादिसे श्रुति अनेकधा भावका विकल्प कहती हैं। शरीर भेदके विना अनेक विधता मुख्य संगत नहीं होगी। यद्यपि निर्गुण भूमविद्यामें यह अनेकधा भाव विकल्प पढा जाता है, तो भी सगुण अवस्थामें इस विद्यमान ऐश्वर्यका भूमविद्याकी स्तुतिके लिए भूमविद्यामें संकीर्तन किया जाता है, इसलिए सगुण विद्याके फलरूपसे उपस्थित होता है ॥ ११ ॥

सिद्धान्ती—कहते हैं—

परन्तु बादरायण आचार्य इसीसे-उभय लिंगकी श्रुति देखनेसे उभयविधत्व उचित मानते हैं। जब उपासक सशरीरताका संकल्प करता है तब सशरीर होता है और जब अशरीरताका संकल्प करता है तब अशरीर होता है, क्योंकि सत्यसंकल्प है और संकल्प विचित्र है। द्वादशाहके समान। जैसे द्वादशाह सत्र और अहीन होता है, कारण कि उभयलिंगक श्रुति देखनेमें आती है, अतः यह भी इसीप्रकार है ॥ १२ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

* सिद्धान्ती—उपासकका संकल्प सत्य और विलक्षण होता है, अतः संकल्प और असंकल्पके भेदसे सशरीरत्व और अशरीरत्व उपपन्न होते हैं। इसमें द्वादशाह नामक सत्रका उदाहरण देते हैं—'द्वाशाहमृद्धिकामा उपेयुः' (समृद्धिकी कामनावाला द्वादशाह नामक सत्र करे) 'य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति' (जो विद्वान् इसप्रकार सत्रको प्राप्त होते हैं) 'त आसते' इसप्रकार आसन और उपयन विधिसे ज्ञापित बहुकर्तृक सत्र कहलाता है, और उस सत्रको 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' (प्रजाकी कामनावाला द्वादशाह नामक याग करे) यहां 'यज्' धातुका विधिमें प्रयोग होनेसे नियत एक कर्ता प्रतीत होता है। अतः द्विरात्रके समान अहीनत्व प्राप्त है। जैसे यहां उभय लिंगक श्रुतिसे दोनों

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥

पदच्छेद—तन्वभावे, सन्ध्यवद्, उपपत्तेः।

सूत्रार्थ—(तन्वभावे) ब्रह्मलोकमें इन्द्रिय युक्त शरीरका अभाव होनेपर भी (सन्ध्यवद्) स्वप्नके समान मानसिक विषय उपलब्धि मात्र होते हैं, (उपपत्तेः) क्योंकि ऐसी उपपत्ति होती है।

❀ यदा तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा संध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥१३॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

पदच्छेद—भावे, जाग्रद्वत्।

सूत्रार्थ—(भावे) ब्रह्मलोकमें इन्द्रिय सहित शरीरके सद्भावमें (जाग्रद्वत्) जाग्रत्के समान पितर आदि उपलब्ध होते हैं।

❀ भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येव मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥ १४ ॥

(६ प्रदीपाधिकरणम् । सू० १५-१६)

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥१५॥

पदच्छेद—प्रदीपवत्, आवेशः, तथा, हि, दर्शयति।

सूत्रार्थ विद्वान्के द्वारा निर्मित अनेक शरीरोंमें विद्वान् (प्रदीपवत्) प्रदीपके समान (आवेशः) प्रविष्ट होता है, (हि) क्योंकि (तथा) उसी प्रकार (दर्शयति) 'स एकधा भवति' इत्यादि श्रुति दिखलाती है।

*** 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४।४।११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम्। तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्राणीव सृज्यन्ते, किं**

जब तनुका—इन्द्रिय सहित शरीरका अभाव होता है, तब जैसे स्वप्नावस्थामें शरीर, इन्द्रिय और विषयके अविद्यमान होनेपर भी पितृ आदि पदार्थ उपलब्धि मात्र होते हैं, वैसे मोक्ष-ब्रह्मलोकमें भी उपलब्धि मात्र होंगे, इसप्रकार यह उपपन्न होता है ॥ १३ ॥

परन्तु शरीरके होनेपर जैसे जाग्रदवस्थामें विद्यमान ही पितर आदि पदार्थ होते हैं, वैसे मुक्तको भी उपपन्न होते हैं ॥ १४ ॥

'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' इस सूत्रमें मुक्त पुरुषको सशरीर कहा गया है। वहाँ त्रिधाभाव आदिमें अनेक शरीरकी सृष्टिमें दारुयन्त्रके समान क्या निरात्मक शरीर उत्पन्न किए जाते हैं

सत्यानन्दी दीपिका

प्रकार देखे जाते हैं, वैसे सगुण उपासकके लिए शरीर आदिके विषयमें समझना चाहिए ॥ १२ ॥

* शरीर, इन्द्रियके न होनेपर भी जैसे स्वप्नावस्थामें केवल मनसे पितर आदिका सूक्ष्म उपभोग होता है, वैसे विद्वान्को ब्रह्मलोकमें मानसिक सूक्ष्म उपभोग प्राप्त होता है। ऐसा माननेपर 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' यह श्रुति भी उपपन्न होती है। यदि सन्ध्यशब्दसे सुषुप्तिका ग्रहण करें तो उक्त श्रुति बाधित होगी, क्योंकि सुषुप्तिमें मनका अपने कारणमें लय होनेसे किसी प्रकारका भोग भी उपपन्न नहीं हो सकता। इसलिए सन्ध्य शब्दसे स्वप्नावस्थाका ग्रहण युक्त है ॥ १३ ॥

* यद्यपि ब्रह्मलोकमें मुक्त पुरुषके लिए मनसे ही सूक्ष्म भोग उपलब्ध होते हैं, तो भी शरीर आदिके सद्भावमें मुक्त पुरुषको पुष्कल भोगकी सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं ॥ १४ ॥

❀ परन्तु उभयलिङ्गक श्रुतिसे जो विद्वान्के अनेक शरीर माने गए हैं, वह व्यर्थ है, क्योंकि

सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा। तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरी-
योगादितराणि शरीराणि निरात्मकानीति। एवं प्राप्त प्रतिपद्यते—प्रदीपवदावेश इति।
ा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते, विकारशक्तियोगात्। एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्य-
ोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति। कुतः? तथा हि दर्शयति शास्त्रमेकस्या-
कभावम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' (छा० ७।२६।२) इत्यादि।
तद्दारुयन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते, नापि जीवान्तरावेशे। न च निरात्मकानां शरीराणां
प्रवृत्तिः संभवति। यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासंभव इति,—नैष दोषः,
कमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसंकल्पत्वात्स्रक्ष्यति। सृष्टेषु
तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते। एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामने-
शरीरप्रयोगप्रक्रिया॥ १५॥

कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते? यावता 'तत्केन कं

थवा क्या अस्मद् आदि शरीरके समान सात्मक उत्पन्न किए जाते हैं? इसप्रकार विचार होता है।
पक्षी–उसमें आत्मा और मनके भेदकी अनुपपत्तिसे एक शरीरके साथ योग–सम्बन्ध है, अतः अन्य
ीर निरात्मक हैं। सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर प्रतिपादन करते हैं—'प्रदीपवदावेशः'। जैसे एक
ीप विकारशक्तिके योगसे अनेक प्रदीपभावको प्राप्त होता है, वैसे विद्वान् एक होता हुआ भी ऐश्वर्य
ासे अनेकभाव प्राप्तकर सब शरीरोंमें प्रवेश करता है, क्योंकि उसी प्रकार 'स एकधा भवति'
ह एक रूप होता है, तीन रूप होता है, पञ्चधा, सप्तधा और नवधा होता है) इत्यादि शास्त्र एकका
नेकभाव दिखलाता है। यह दारुयन्त्र उपमाके स्वीकार करनेमें संभव नहीं है और न अन्य जीवके
शमें भी। और निरात्मक शरीरोंकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। और जो यह कहा गया है कि
त्मा और मनके भेदकी अनुपपत्ति होनेसे अनेक शरीरोंके साथ योग-सम्बन्ध असंभव है। यह दोष
हीं है, क्योंकि वह सत्यसङ्कल्पसे एक मनके अनुवर्त्ती मन सहित अन्य शरीरोंकी सृष्टि करेगा। उनकी
ष्टि होनेपर उपाधि भेदसे आत्माका भी भेद होनेसे अधिष्ठातृत्व युक्त होगा। योगियोंकी योगशास्त्रोंमें
नेक शरीरके साथ सम्बन्धकी यही प्रक्रिया है॥ १५॥

परन्तु मुक्तके अनेक शरीरोंमें आवेश आदि रूप ऐश्वर्य कैसे स्वीकार किया जाता है, जब कि
त्केन०' (मुक्तावास्थामें ज्ञानी किस करणसे किस विषयको जाने) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति' (उस

सत्यानन्दी दीपिका

 जड़ शरीरोंमें भोगका असंभव है। इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्षी—कहते हैं—मुक्त पुरुषके
यसंकल्पसे निर्मित अनेक शरीर दारुयन्त्रके समान जड़ हैं, क्योंकि आत्मा और मन एक-एए हैं,
का विभाग नहीं हो सकता। उन शरीरोंमें प्रवेशके लिए अन्य आत्माकी भी उत्पत्ति नहीं हो
ती, क्योंकि कर्म-कर्तृभावका विरोध है। अतः संकल्पित अन्य शरीर जड़ हैं। सिद्धान्ती–'स एकधा
ति' इत्यादि श्रुतिके बलसे विद्वान्का अनेकधाभाव कहा गया है। इस विषयमें योगशास्त्रकी सम्मति
–'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' (योग० सू० ४।४) (योगियोंके योग प्रभावसे उत्पादित शरीर
मतामात्र कारणसे-अहंकार पूर्वक संकल्पसे निर्मित मनोंसे युक्त होते हैं) इसप्रकार योगियोंसे निर्मित
क शरीर और अनेक मनोंकी प्रवृत्तिमें भेद दिखाई देता है। इस भेदका कारण—'प्रवृत्तिभेदे
जकं चित्तमेकमनेकेषाम्' (योग० सू० ४।५) (अनेक मनोंकी प्रवृत्ति भेदमें अनादि एक मन ही
जक है) इसलिए योगियोंके योग प्रभावसे नवनिर्मित देहोंमें अस्मितासे निर्मित चित्त होते हैं
 अनादि एक चित्त उन सबका नियामक होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सगुण उपासक
संकल्पसे अनेक सात्मक शरीरोंका निर्माण कर उनमें प्रविष्ट होता है॥ १५॥

विजानीयात्' (बृ० ४।५।१५), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ०४।३।३० 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (ब्र०४।३।३२) इति चैवंजातीयका श्रुतिर्विशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

पदच्छेद—स्वाप्ययसंपत्त्योः, अन्यतरापेक्षम्, आविष्कृतम्, हि।

सूत्रार्थ—(स्वाप्ययसम्पत्त्योः) सुषुप्ति और मुक्तिमें से (अन्यतरापेक्षम्) एककी अपेक्षासे विशेष ज्ञानका अभाव स्वीकार किया गया है, (हि) क्योंकि (आविष्कृतम्) सगुण विद्यामें शरीर आदिके स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है।

* स्वाप्ययः सुषुप्तम्, 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' (छा० ६।८।१) इति श्रुतेः। संपत्तिः कैवल्यम्, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) श्रुतेः। तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम्। क्वचित्सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते, क्वचित्कैवल्यावस्थाम् कथमंवगम्यते? यतस्तत्रैवैतदधिकारवशादाविष्कृतम्—'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (बृ० २।४।१२), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ० २।४।१४) 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४।३।१९, माण्डू० ५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सगुणविद्याविपाकस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरम् यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते, तस्माददोषः ॥१६॥

अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं होता जिसे वह विशेषरूपसे जाने) 'सलिल एको' (सलिल-सा शुद्ध एक द्रष्टा अद्वैत है) इस प्रकारकी श्रुतियाँ विशेष विज्ञानका वारण करती हैं इसके विषयमें उत्तर कहते हैं—

'स्वाप्ययः' सुषुप्ति, क्योंकि 'स्वमपीतो भवति' (यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है इसीसे इसे लोग 'स्वपिति' (सोता है) ऐसा कहते हैं) ऐसी श्रुति है। 'संपत्तिः—कैवल्य, क्योंकि 'ब्रह्मैवसन्ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्मको प्राप्त होता है) ऐसी श्रुति है। उन दोनोंमें से एक अवस्थाकी अपेक्षासे इस विशेष ज्ञानके अभावका बोधक वचन है। श्रुति कहींपर सुषुप्ति-अवस्थाकी अपेक्षासे [विशेष ज्ञानका अभाव] कहती है और कहींपर कैवल्य-अवस्थाकी अपेक्षासे। यह कैसे अवगत हो? क्योंकि 'एतेभ्यो भूतेभ्यः०' (यह इन सत्य शब्द वाच्य भूतोंसे प्रकट होकर उन्हींके साथ नाशको प्राप्त हो जाता है देहेन्द्रियभावसे मुक्त होनेपर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती है) 'यत्र त्वस्य०' (परन्तु जिस ज्ञानावस्थामें इसके लिए सब आत्मा ही हो गया है) 'यत्र सुप्तो०' (जहाँ सोया हुआ यह किसी भोगकी कामना नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है) इत्यादि श्रुतियोंसे उसमें ही उसके प्रकरणके बलसे स्पष्ट किया गया है। जिसमें इस ऐश्वर्यका वर्णन किया जाता है वह सगुण विद्याका विपाक (फल) स्थान स्वर्ग आदिके समान अन्य अवस्था है, इससे दोष नहीं है ॥१६॥

सत्यानन्दी दीपिका

'न तु तद्द्वितीयमस्ति' (परन्तु वह द्वितीय नहीं है) यहाँ सुषुप्तिको लेकर अन्यका निषेध है, और 'तत्केन कं पश्येत्' यहाँ मुक्तिको लेकर विशेष विज्ञानका अभाव कहा गया है। इसलिए विशेष ज्ञानके अभावका वचन सुषुप्ति और कैवल्य मुक्ति दोनोंमें से किसी एककी अपेक्षासे कहा गया है। यहाँ मुनि याज्ञवल्क्यने आभास वादको लेकर मैत्रेयीको उपदेश किया है। इसका रहस्य यह है कि जैसे उदक पूर्ण घटमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है और जल सहित घटके नाश होनेपर प्रतिबिम्बका भी नाश हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः उसका नाश उपाधिके नष्ट होनेपर बिम्बरूपसे अवस्थिति है। वैसे घट स्थानीय पाँच भौतिक शरीर और जल स्थानीय अन्तःकरणमें चन्द्रमा स्थानीय ब्रह्मका

(७ जगद्व्यापाराधिकरणम् । सू० १७-२२)

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥१७॥

पदच्छेद—जगद्व्यापारवर्जम्, प्रकरणात्, असंनिहितत्वाच्च ।

सूत्रार्थ—(जगद्व्यापारवर्जम्) जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापारको छोड़कर अन्य अणिमा
ादि ऐश्वर्य विद्वान्को प्राप्त होता है, (प्रकरणात्) क्योंकि जगत् सृष्टिमें ईश्वर प्रकृत है (असंनिहि-
वाच्च) और अन्य असंनिहित हैं ।

* ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनसेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति, किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं
वत्याहोस्वित्सावग्रहमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति,
प्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२), 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' (तै० १।५।३), 'तेषां सर्वेषु
केषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२,८।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति । एवं प्राप्ते पठति—
गद्व्यापारवर्जमिति । जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां
वितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य । कुतः ? तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहित-
च्चेतरेषाम् । पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात्,
त्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च । तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते ।
ासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे । समनस्कत्वादेव चैते तेषामनैकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः

जो सगुण ब्रह्मकी उपासनासे मनके साथ ही ईश्वर सायुज्यको प्राप्त होते हैं, उनका ऐश्वर्य
ा निरङ्कुश है अथवा साङ्कुश ? इस प्रकार संशय होता है, तब क्या प्राप्त हुआ ? पूर्वपक्षी—इनका
र्य निरङ्कुश ही होना चाहिए, क्योंकि 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (वह स्वाराज्यको प्राप्त होता है)
र्वेऽस्मै देवा० (समस्त देवगण उसे बलि (उपहार) समर्पण करते हैं) 'तेषां सर्वेषु' (उनकी
पूर्ण लोकोंमें यथेच्छ गति होती है) इत्यादि श्रुतियाँ हैं । सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—
गद्व्यापारवर्जम्' । जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापारको छोड़कर मुक्त पुरुषको अन्य अणिमा आदि
ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है । जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापार तो नित्य सिद्ध ईश्वरका ही है, क्योंकि
सृष्टिमें प्रकृत है और अन्य-जीव असंनिहित हैं । परमेश्वर ही जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापारमें
धिकृत है, कारण कि उसको प्रस्तुतकर उत्पत्ति आदिका उपदेश है और नित्यशब्दसे सम्बन्धित है ।
सके अन्वेषण विशेष जिज्ञासापूर्वक अन्योंका अणिमा आदि ऐश्वर्य सुना जाता है । इससे वे जगत्के
त्पत्ति आदि व्यापारमें असंनिहित-असम्बन्धित हैं । इनके मनस्वी होनेसे ही ऐकमत्यका संभव न होनेसे

सत्यानन्दी दीपिका

भास पड़ता है, वही लोकमें जीव नामसे कहा जाता है । जब तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति हो
ती है और भोगसे प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाता है, तब अन्तःकरण सहित शरीरके नाश होनेके
थ-साथ आभासका भी नाश हो जाता है । वस्तुतः उसका नाश अपने बिम्बरूप चेतनसे अवस्थिति
इस प्रकार उपाधिके नाश होनेसे प्रतिबिम्बका नाश होता है, इस अभिप्रायसे 'एतेभ्यो भूतेभ्यः'
श्रुति है । और 'यत्र त्वस्य' इस प्रकारकी श्रुतियाँ कैवल्य विषयक हैं, और 'यत्र सुप्तो न कंचन
कामयते' इत्यादि श्रुतियाँ सुषुप्ति विषयक हैं । इसलिए सगुणोपासकके लिए ऐश्वर्य प्राप्तिका
न दोष रहित है, क्योंकि उसका भिन्न विषय है अर्थात् फलोपभोगके लिए स्वर्ग आदिके समान
अवस्था विशेष है ॥ १६ ॥

* 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (इस उपासकके संकल्पसे ही पितर समुपस्थित
हैं) 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है कि ब्रह्मलोकमें गये हुए
णोपासकका ऐश्वर्य निरङ्कुश होता है अर्थात् जैसे वह उपभोगके लिए अपने संकल्पसे ही इष्ट देह

कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात्। अथ कस्यचित्संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत, ततः परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

पदच्छेद- प्रत्यक्षोपदेशात्, इति, चेत्, न, आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः।

सूत्रार्थ—(प्रत्यक्षोपदेशात्) 'आप्नोति स्वाराज्यम्' इत्यादि प्रत्यक्ष श्रुतिसे विद्वान्का ऐश्वर्य निरङ्कुश प्रतिपादित है। (इति चेन्न) तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि (आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः) आदित्य मण्डल स्थित आधिकारिक परमेश्वरके अधीन स्वाराज्य प्राप्ति विषयक यह वचन है।

* अथ यदुक्तम्—'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशान्निरवग्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम। अत्रोच्यते—नायं दोषः—आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः। अधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते। यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १।६।२) इत्याह। यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोतीत्येतदुक्तं भवति। तदनुसारेणैव चानन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' (तै० १।६।२) इत्याह। एवमन्यत्रापि यथासंभवं नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम ॥१८॥

किसीका जगत्की स्थितिमें अभिप्राय और किसीका उसके संहारमें अभिप्राय होगा, इस प्रकार कदाचित् विरोध भी होगा। यदि किसी एकके संकल्पके अनुसार अन्यका संकल्प हो, इसप्रकार अविरोधका समर्थन करे तो इससे भी परमेश्वरके अभिप्रायके अधीन ही अन्य जीव हैं, ऐसी व्यवस्था होती है ॥१७॥

यह जो कहा गया है कि 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (वह स्वाराज्यको प्राप्त होता है) इत्यादि प्रत्यक्ष श्रुतिसे उपासकोंका ऐश्वर्य निरङ्कुश युक्त है, उसका परिहार करना चाहिए। इसपर कहते हैं—यह दोष नहीं है, क्योंकि आधिकारिक मण्डल स्थितोंके लिए यह उक्ति-वचन है। आदित्य मण्डल आदि विशेष स्थानोंमें अवस्थित जो आधिकारिक परमेश्वर है उसके अधीन ही यह स्वाराज्य प्राप्ति कही जाती है, क्योंकि अनन्तर 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (वह मनके पति-ब्रह्मको प्राप्त होता है) ऐसा श्रुति कहती है। जो सब मनोंका पति पूर्व सिद्ध ईश्वर है उसको प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है। अनन्तर उसके अनुसार ही 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः०' (तथा वाणीका पति, चक्षुका पति, श्रोत्रका पति और विज्ञानका पति हो जाता है) इसप्रकार श्रुति कहती है। इसप्रकार अन्यत्र भी अन्य उपासकोंका ऐश्वर्य नित्य सिद्ध ईश्वरके अधीन ही है, ऐसी यथासम्भव योजना करनी चाहिए ॥ १८ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

आदिकी सृष्टिमें स्वतन्त्र हैं, वैसे आकाश आदि जगत्की उत्पत्ति आदि करनेमें भी स्वतन्त्र हैं। वे ईश्वरके समान स्वतन्त्र-निरङ्कुश ऐश्वर्यवान् होते हैं। इससे पूर्वपक्षमें अनेक ईश्वर सिद्ध होते हैं। सिद्धान्ती—सगुणोपासकका ऐश्वर्य अस्वतन्त्र है अर्थात् जगत्की उत्पत्ति आदि करनेमें वह असमर्थ है। जगत्की उत्पत्ति आदि तो वह कर सकता है जो जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व ही सिद्ध हो और पूर्वापर पर्यालोचन करनेमें समर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नित्यसिद्ध हो, वह तो ईश्वर ही हो सकता है। योगी लोग तो ईश्वरानुग्रहसे ब्रह्मलोकमें जाकर ऐश्वर्यवान् होते हैं, और महाप्रलयमें उन सबका अन्त हो जाता है, जगत्की उत्पत्तिके पूर्व वे अविद्यमान होनेके कारण उनसे जगत्की उत्पत्ति आदि असम्भव हैं। किञ्च 'स ईक्षाञ्चक्रे' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतियाँ प्रलयके अनन्तर सृष्टिके उत्पत्ति आदिमें ईश्वरको ही कारण कहती हैं, इसका विस्तृत वर्णन (ब्र० ०सू० १।१।२) इस सूत्रमें किया गया है ॥ १७ ॥

* 'आप्नोति स्वाराज्यम्' यह श्रुति वचन आदित्यमण्डल आदि विशेष स्थानोंमें स्थित

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

पदच्छेद—विकारावर्ति, च, तथा, हि, स्थितिम्, आह।

सूत्रार्थ—(विकारावर्ति च) विकारमें न रहनेवाला भी ब्रह्मका स्वरूप है, (हि) क्योंकि (तथा) वैसे (स्थितिम्) परमेश्वरके दो रूपोंकी स्थिति, (आह) 'तावानस्य महिमा' इत्यादि श्रुति कहती है।

॥ विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं, न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम्। तथा ह्यस्य द्विरूपां स्थितिमाहाम्नायः—'तावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्येवमादिः। नच तन्निर्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुम्, अतत्क्रतुत्वात्तेषाम्। अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्ते, एवं सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

पदच्छेद—दर्शयतः, च, एवम्, प्रत्यक्षानुमाने।

विकारमें न रहनेवाला भी परमेश्वरका नित्यरूप कहा गया है केवल विकारमात्र विषयक सवितृमण्डल आदि अधिष्ठानक रूप नहीं है, क्योंकि 'तावानस्य महिमा० (उतनी ही इस गायत्र्याख्य ब्रह्मकी महिमा है, तथा निर्विकार पुरुष इससे उत्कृष्ट है, तेज, जल और अन्न आदि सम्पूर्ण चराचर प्राणी इसका एक पाद हैं, और इसका पुरुष नामक त्रिपाद अमृत प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित है) इत्यादि श्रुति इसके दो रूपोंकी स्थिति कहती हैं। अन्य (विकारवर्तिरूप) का आलम्बन करनेवाले उपासक उसके निर्विकार रूपको प्राप्त होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे उस क्रतुवाले नहीं है। इसलिए जैसे दो रूपवाले परमेश्वरके होनेपर भी वे निर्गुण रूपको प्राप्त न कर सगुणरूपमें ही अवस्थित होते हैं, वैसे सगुणमें भी निरङ्कुश ऐश्वर्य प्राप्त किये विना उपासक सांकुश-अस्वतन्त्र ऐश्वर्यमें ही अवस्थित होते हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥ १९ ॥

सत्यानन्दी दीपिका

परमेश्वरके अधीन ही स्वाराज्य प्राप्तिके विषयमें है। यदि वह स्वाराज्य प्राप्तिमात्रसे निरङ्कुश ऐश्वर्यवान् होता तो उसके अनन्तर ही 'आप्नोति मनसस्पतिम्' इत्यादि श्रुति वचन असंगत होगा। आदित्य आदिको जो अधिकारमें नियुक्त करता है वह यहाँ आधिकारिक कहा गया है। इसलिए सगुण उपासकको अपने उपभोगमें भले स्वाराज्य-स्वातन्त्र्य हो, परन्तु जगत्के उत्पत्ति आदिमें नहीं। इस प्रकार 'सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यादि स्थलोंमें भी यही समझना चाहिए कि उपासकका ऐश्वर्य ईश्वरके अधीन है स्वतन्त्र नहीं ॥ १८ ॥

* शङ्का—जैसे उपास्य सगुण ब्रह्मगत सत्य सङ्कल्पत्व आदि उपासकमें आते हैं, वैसे उपास्य गत जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापारकी सामर्थ्य भी उसमें आनी चाहिए? समाधान—'तावानस्य महिमा' इस श्रुति वचनसे ब्रह्मका विकारवर्तिरूप और 'ज्यायांश्च पुरुषः' इस वचनसे ब्रह्मका निर्विकार रूप प्रतिपादित है। और 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इस श्रुति वचनसे ब्रह्मका विकारवर्तिरूप और 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस वचनसे ब्रह्मका निर्विकाररूप प्रतिपादित है। इसप्रकार जैसे ब्रह्मके दो रूप होनेपर भी निर्गुणरूप सगुण उपासकोंसे अप्राप्त है, क्योंकि उसको निर्विकार ब्रह्मका ज्ञान नहीं है, वैसे सगुण ब्रह्मगत जगत्के उत्पत्ति आदि व्यापारकी सामर्थ्य होनेपर भी उपासक उसे प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए उपासक केवल अणिमा आदि सातिशय ऐश्वर्यको ही प्राप्त कर सकता है ॥१९॥

सूत्रार्थ—(एवम्) इसप्रकार (प्रत्यक्षानुमाने च) श्रुति और स्मृति भी (दर्शयतः) परमेश्वरका निर्विकाररूप दिखलाती हैं।

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (कठ० ५।१५, श्वेता० ६।१४, मुण्ड० २।२।१०) इति 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गी० १५।६) इति च। तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

पदच्छेद—भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्, च।

सूत्रार्थ—और उपासकोंको ईश्वरके साथ भोगमात्रकी साम्य श्रुति होनेसे भी उनका निरंकुश ऐश्वर्य नहीं है।

इतश्च न निरङ्कुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति 'स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥२१॥

नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात, ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्बादरायण आचार्यः पठति—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

पदच्छेद—अनावृत्तिः, शब्दात्, अनावृत्तिः, शब्दात्।

सूत्रार्थ—(अनावृत्तिः) अर्चिरादि पर्व युक्त देवयान मार्गसे जो उपासक ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, (शब्दात्) क्योंकि 'न च पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुति है। सूत्रको आवृत्ति शास्त्र परिसमाप्तिद्योतक है।

'न तत्र सूर्यो भाति' (उस ज्योतिःस्वरूप परब्रह्ममें लोकावभासक सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र और न तारे प्रकाशित होते हैं और न विद्युत् ही चमकती हैं पुनः अस्मदादि गोचर यह भौतिक अग्नि तो कहां प्रकाशित हो सकता है ?) और 'न तद्भासयते० (उस स्वयं प्रकाशमय परब्रह्म को न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकते हैं) इसप्रकार श्रुति और स्मृति भी ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मका विकारावर्तित्व दिखलाती हैं। इसप्रकार पर ज्योतिमें विकारावर्तित्व प्रसिद्ध है, यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

और इस वक्ष्यमाण हेतुसे भी विकारका आलम्बन-उपासना करनेवाले उपासकोंका ऐश्वर्य निरंकुश नहीं है, क्योंकि इनका भोग मात्र ही अनादि सिद्ध ईश्वरके साथ समान है, 'तमाहापो०' (उस उपासकसे हिरण्यगर्भ सान्त्वना पूर्वक कहते हैं, मुझसे ये अमृतमय जल भोगे जाते हैं, तुमसे यह अमृतमय लोक भोग्य है तुम इसका यथेच्छ भोग करो) ऐसी श्रुति है, और 'स यथैतां०' (जैसे इस हिरण्यगर्भ देवताकी सब प्राणी पूजा करते हैं, वैसे ही ऐसा जाननेवालेकी सब भूत पूजा करते हैं) 'तेनो एतस्यै०' (उस प्राणात्मप्रतिरूप व्रतके योगसे उपासक इसी प्राणदेवताका सायुज्य-एकात्मता और समान लोकता-एक स्थानत्व प्राप्त करता है) इत्यादि भेदव्यपदेश लिङ्गोंसे भी प्रतीत होता है कि उपासनाका उपास्य ईश्वरके साथ भोगसाम्य है ॥ २१ ॥

परन्तु ऐसा होनेपर-उपासकोंका ऐश्वर्य सांकुश होनेपर सातिशय होनेसे उनका ऐश्वर्य विनाशी होगा, इससे इनको आवृत्ति (संसारागमन) प्रसक्त होगी ? इससे भगवान् बादरायण उत्तर कहते हैं—

* नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं च्छन्ति 'यस्मिन्नरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरंमदीयं सरो यस्मिन्न त्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते। कुतः ? तयोर्ध्वमायन्न तत्वमेति' (छा० ८।६।६, कठ० ६।१६), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६।२।१५), 'एतेन प्रति द्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।५), 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छा० ८।१५।१), न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१) इत्यादिशब्देभ्यः। अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्ति तथा वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातःपरम् (ब्र० सू० ४।३।१०) इत्यत्र। सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः तदाश्रयणेनैव हि सगुण-

---

जो उपासक नाड़ीरश्मि समन्वित अर्चिरादिपर्व युक्त देवयान मार्गसे शास्त्रोक्त विशेषण विशिष्ट ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं—इस पृथिवी नामक लोकसे तृतीय द्युलोकमें जो ब्रह्मलोक है, उस ब्रह्मलोकमें अर और एय नामके दो समुद्र-समुद्र तुल्य तालाब हैं, वहीं अन्नमय मण्डसे पूर्ण मदका हर्षोत्पादक सर है, वहीं अमृतका स्रोत बहानेवाला अश्वत्थ वृक्ष है, वहांपर ब्रह्माकी अपराजितापुरी है, वहीं ब्रह्मा द्वारा निर्मित सुवर्णमय गृह है, जिसका अनेक प्रकारसे मन्त्र, अर्थवाद आदि प्रदेशोंमें विस्तारसे वर्णन किया जाता है, वे उसे प्राप्तकर जैसे कर्मठ लोग भुक्त भोग होकर चन्द्रलोकसे लौटते हैं, वैसे नहीं लौटते। किससे ? इससे कि 'तयोर्ध्वमायन्न०' (उस मूर्धन्य नाड़ीसे ऊर्ध्वको जानेवाला अमृतत्वको प्राप्त होता है) 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती) 'एतेन प्रतिपद्यमाना०' (इस देव मार्गसे जानेवाले इस मानव मण्डलमें पुनः नहीं लौटते) 'न च पुनरावर्तते' (और पुनः नहीं लौटता) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। ऐश्वर्यके विनाशी होनेपर भी जैसे अनावृत्ति होती है, वैसे ही 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्' इस सूत्रमें वर्णित है। सम्यग्दर्शनसे विध्वस्त अज्ञान वाले नित्य सिद्ध निर्वाण परायण मुक्त पुरुषोंकी अनावृत्ति तो सिद्ध ही है। सगुण शरणवालोंकी भी

सत्यानन्दी दीपिका

* यहां 'बादरायण' शब्दसे बदरिकाश्रममें निवासका कथन होनेके कारण सदा सर्वज्ञ परम गुरु नारायणके प्रसादका द्योतक होनेसे तत्प्रणीत शास्त्रमें निर्दुष्टत्व सूचित होता है। यद्यपि सगुण विद्याका फल सातिशय होनेसे विनाशी है, तो भी ब्रह्मलोकमें ईश्वरके अचिन्त्य प्रसादसे ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान हो जाता है जिससे वह पुनः संसारमें लौटकर नहीं आता। जो सगुण उपासना-दहरविद्या आदिसे रहित केवल ब्रह्मचर्य, अश्वमेध आदि साधनों द्वारा ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वे वहां फल भोगकर मानव लोकमें लौट आते हैं, क्योंकि वे तत्त्वज्ञानसे रहित होते हैं। जैसे चन्द्रलोकमें गए हुए केवल कर्मठ लोग फल भोगकर लौट आते हैं। 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वेदान्त वाक्योंसे जिसका आत्मैकत्व ज्ञानसे अज्ञान निवृत्ति हो गया है उसका तो 'अत्रैव ब्रह्म समश्नुते' यहां जीवितावस्थामें ही ब्रह्म प्राप्तिरूप मोक्ष सिद्ध है। सगुण उपासक भी उसी आत्मज्ञानको पाकर ब्रह्माके साथ मुक्त हो जाता है, अतः उनकी पुनः आवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'न च पुनरावर्तते' (वह पुनः संसारमें नहीं आता) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। इसप्रकार सगुण उपासकोंकी क्रम मुक्ति होती है। इसप्रकार समन्वयके कथनसे ब्रह्मात्मैकत्वमें वेदान्त-उपनिषद् वाक्य प्रमाण हैं, ऐसा निश्चिय किया गया है। वाक्यार्थ ज्ञानमें स्मृति, तर्क आदि सर्वप्रकारके विरोधका परिहार किया गया है और साधन सम्पत्ति भी दिखलाई गई है। इससे विवेक आदि साधन सम्पन्न और वेदान्त वाक्योंके श्रवण आदिकी आवृत्तिसे समस्त प्रतिबन्धसे रहित

शरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति । अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥२२॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

समाप्तमिदं ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् ॥

उस ज्ञानके आश्रयसे अनावृत्ति सिद्ध होती है । 'अनावृत्ति शब्दसे, अनावृत्ति शब्दसे' इसप्रकार सूत्रकी पुनरुक्ति शास्त्रकी परिसमाप्ति सूचित करती है ॥२२॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत शाङ्करभाष्य-भाषानुवादके चतुर्थाध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त ॥

* * *

सत्यानन्दी दीपिका

पुरुषकी समूल बन्धकी निवृत्ति होनेपर आविर्भूत निष्कल, अनन्त, स्वप्रकाश, चिदानन्दरूपसे अवस्थिति होती है ॥२२॥

वेदान्तसूत्रभाष्यस्य शाङ्करस्य गरीयसः । अनुवादमविद्यान्धतमसद्वादशात्मनः ॥ १ ॥
तथा रत्नप्रभापञ्चपादिकान्यायनिर्णयभामतीप्रभृतिग्रन्थान् भाष्याभिप्रायवेदकान् ॥ २ ॥
आश्रित्य तेषां तात्पर्यमाकलय्य समन्ततः । सुखावगतये तस्य विवृण्वन् राष्ट्रभाषया ॥ ३ ॥
विद्यार्थिहितमालक्ष्य सत्यानन्द्याख्यदीपिकाम् । व्यधाद्व्याख्याञ्च सरलां सत्यानन्दसरस्वती ॥४॥
सेयं ज्ञानप्रदेशस्य महिते पुटभेदने । सर्वशास्त्ररहस्यज्ञैः संख्यावद्भिः समाकुले ॥ ५ ॥
करनेत्रवियच्चक्षुर्मिते वैक्रमवत्सरे । आश्विने मासि धवले दले सद्दशमीतिथौ ॥ ६ ॥
वासरे भूमिजातस्य गुरुदेवप्रसादतः । मतिमत्संमतिं प्राप्ता निर्विघ्नं पूर्णतामगात् ॥ ७ ॥
पदालिसुमनोजातगुम्फितेयं सुमालिका । प्रीतये शङ्करस्यास्तामर्पिता सच्चिदात्मनः ॥ ८ ॥

॥ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कृत 'सत्यानन्दी दीपिका' के चतुर्थाध्यायका चतुर्थ पाद समाप्त ॥

* * *

। इति शम् ।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमः ।

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा.	२	३	४३
अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि	२	४	११
अक्षरधियां त्वविरोधः सामा.	३	३	३३
अक्षरमम्बरान्तधृतेः	१	३	१०
अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव.	४	१	१६
अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न	३	१	४
अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि	३	३	५५
अङ्गित्वानुपपत्तेश्च	२	२	८
अङ्गेषु यथाश्रयभावः	३	३	६१
अचलत्वं चापेक्ष्य	४	१	९
अणवश्च	२	४	७
अणुश्च	२	४	१३
अत एव च नित्यत्वम्	१	३	२९
अत एव च सर्वाण्यनु	४	२	२
अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा	३	४	२५
अत एव चानन्याधिपति	४	४	९
अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्	३	२	१८
अत एव न देवता भूतं च	१	२	२७
अत एव प्राणः	१	१	२३
अतः प्रबोधोऽस्मात्	३	२	८
अतश्चायनेऽपि दक्षिणे	४	२	२०
अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च	३	४	३९
अतिदेशाच्च	३	३	४६
अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्	३	२	२६
अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः	४	१	१७
अत्ता चराचरग्रहणात्	१	२	९
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	१	१	१
अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः	१	२	२१
अदृष्टानियमात्	२	३	५१
अधिकं तु भेदनिर्देशात्	२	१	२२
अधिकोपदेशात्तु बादरायण.	३	४	८
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च	२	२	३९

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
अध्ययनमात्रवतः	३	४	१२
अनभिभवं च दर्शयति	३	४	३५
अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः	१	२	१७
अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे.	४	१	१५
अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्	३	४	५०
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः	४	४	२२
अनियमः सर्वासामविरोधः	३	३	३१
अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतं.	३	१	१२
अनुकृतेस्तस्य च	१	३	२२
अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धा.	२	३	४८
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः	१	२	३
अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृ.	३	३	५०
अनुष्ठेयं बादरायणः साम्य.	३	४	१९
अनुस्मृतेर्बादरिः	१	२	३०
अनुस्मृतेश्च	२	२	२५
अनेन सर्वगतत्वमायाम.	३	२	३७
अन्तर उपपत्तेः	१	२	१३
अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः	३	४	३६
अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः.	३	३	३५
अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण	२	३	१५
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्य.	१	२	१८
अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा	२	२	४१
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्.	१	१	२०
अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वा.	२	२	३६
अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्	२	२	५
अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्ना.	३	३	६
अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवि.	२	२	९
अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चे.	३	३	३६
अन्यभावव्यावृत्तेश्च	१	३	१२
अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिला.	३	१	२४
अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्न.	१	४	१८
अन्यार्थश्च परामर्शः	१	३	२०

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
अन्वयादिति चेत्स्यादवधार.	३	३	१७
अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा	२	२	१७
अपि च सप्त	३	१	१५
अपि च स्मर्यते	१	३	२३
,, ,,	२	३	४५
,, ,,	३	४	३०
,, ,,	३	४	३७
अपि चैवमेके	३	२	१३
अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमाना.	३	२	२४
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्	२	१	८
अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बा०	४	३	१५
अबाधाच्च	३	४	२९
अभावं बादरिराह ह्येवम्	४	४	१०
अभिध्योपदेशाच्च	१	४	२४
अभिमानिव्यपदेशस्तु विशे.	२	१	५
अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः	१	२	२९
अभिसंध्यादिष्वपि चैवम्	२	३	५२
अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्	२	२	६
अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्	३	२	१९
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्	३	२	१४
अर्चिरादिना तत्प्रथितेः	४	३	१
अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च	१	२	७
अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्	१	३	२१
अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्ना.	२	३	२४
अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः	१	४	२२
अविभागेन दृष्टत्वात्	४	४	४
अविभागो वचनात्	४	२	१६
अविरोधश्चन्दनवत्	२	३	२३
अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्	३	१	२५
अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः	२	१	२३
अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिका.	३	१	६
असति प्रतिज्ञोपरोधो यौग.	२	२	२१
असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्र.	२	१	७
असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मा.	२	१	१७
असंततेश्चाव्यतिकरः	२	३	४९
असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः	२	३	९
असार्वत्रिकी	३	४	१०
अस्ति तु	२	३	१२

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति	१	१	१९
अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा	४	२	११

आ.

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
आकाशस्तल्लिङ्गात्	१	१	२२
आकाशे चाविशेषात्	२	२	२४
आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदे.	१	३	४१
आचारदर्शनात्	३	४	३
आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्	४	३	४
आत्मकृतेः परिणामात्	१	४	२६
आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्	३	३	१६
आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि	२	१	२८
आत्मशब्दाच्च	३	३	१५
आत्मा प्रकरणात्	४	४	३
आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह.	४	१	३
आदरादलोपः	३	३	४०
आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः	४	१	६
आध्यानाय प्रयोजनाभावात्	३	३	१४
आनन्दमयोऽभ्यासात्	१	१	१२
आनन्दादयः प्रधानस्य	३	३	११
आनर्थक्यमिति चेन्न तदपे.	३	१	१०
आनुमानिकमप्येकेषामिति	१	४	१
आपः	२	३	११
आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्	४	१	१२
आभास एव च	२	३	५०
आमनन्ति चैनमस्मिन्	१	२	३२
आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि	३	४	४५
आवृत्तिरसकृदुपदेशात्	४	१	१
आसीनः संभवात्	४	१	७
आह च तन्मात्रम्	३	२	१६

इ.

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
इतरपरामर्शात्स इति चेन्ना.	१	३	१८
इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि.	२	१	२१
इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते	४	१	१४
इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नो.	२	२	१९
इतरे त्वर्थसामान्यात्	३	३	१३
इतरेषां चानुपलब्धेः	२	१	२
इयदामननात्	३	३	३४

ई.

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः	१	३	१३

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
क्षतेर्नाशब्दम्	१	१	५
उ.			
उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौ.	१	४	२१
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	२	३	१
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु	१	३	१९
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्	२	२	२०
उत्पत्त्यसंभवात्	२	२	४२
उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः	२	२	२७
उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभय.	१	१	२७
उपपत्तेश्च	३	२	३५
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च	२	१	३६
उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेः	३	३	३०
उपपूर्वमपि त्वेके भावमशन.	३	४	४२
उपमर्दं च	३	४	१६
उपलब्धिवदनियमः	२	३	३७
उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न	२	१	२४
उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेष.	३	३	५
उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्	३	३	४१
उपादानात्	२	३	३५
उभयथा च दोषात्	२	२	१६
” ”	२	२	२३
उभयथापि न कर्मातस्त.	२	२	१२
उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्.	३	२	२७
उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः	४	३	५
ऊ.			
ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि	३	४	१७
ए.			
एक आत्मनः शरीरे भावात्	३	३	५३
एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः	२	३	८
एतेन योगः प्रत्युक्तः	२	१	३
एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि	२	१	१२
एतेन सर्वे व्याख्याताः	१	४	२८
एवं चात्मा कार्त्स्न्यम्	२	२	३४
एवं मुक्तिफलानियमस्तदव.	३	४	५२
एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावाद.	४	४	७
ऐ.			
ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे त.	३	४	५१
क.			
कम्पनात्	१	३	३९

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः	२	२	४०
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्	२	३	३३
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च	१	२	४
कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवद	१	४	१०
कामकारेण चैके	३	४	१५
कामाच्च नानुमानापेक्षा	१	१	१८
कामादीतरत्र तत्र चायत.	३	३	३९
काम्यास्तु यथाकामं समुच्ची.	३	३	६०
कारणत्वेन चाकाशादिषु	१	४	१४
कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः	४	३	७
कार्याख्यानादपूर्वम्	३	३	१८
कार्यात्यये तदध्यक्षेण	४	३	१०
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित.	२	३	४२
कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृ	३	१	८
कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्द.	२	१	२६
कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः	३	४	४८
क्षणिकत्वाच्च	२	२	३१
क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्रर.	१	३	३५
ग.			
गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं	१	३	१५
गतिसामान्यात्	१	१	१०
गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि.	३	३	२९
गुणसाधारण्यश्रुतेश्च	३	३	६४
गुणाद्वा लोकवत्	२	३	२५
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि त.	१	२	११
गौणश्चेन्नात्मशब्दात्	१	१	६
गौण्यसंभवात्	२	३	३
” ”	२	४	४
च.			
चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्या	२	४	१०
चमसवदविशेषात्	१	४	८
चरणादिति चेन्नोपलक्षणा.	३	१	९
चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्य.	२	३	१६
चितितन्मात्रेण तदात्मक.	४	४	६
छ.			
छन्दत उभयाविरोधात्	३	३	१८
छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा	१	१	२५
ज.			
जगद्वाचित्वात्	१	४	१६

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसं.	४	४	१७
जन्माद्यस्य यतः	१	१	२
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चे.	१	१	३१
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चे.	१	४	१७
ज्ञेयत्वावचनाच्च	१	४	४
ज्ञोऽत एव	२	३	१८
ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदाम.	२	४	१४
ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीय.	१	४	९
ज्योतिर्दर्शनात्	१	३	४०
ज्योतिश्चरणाभिधानात्	१	१	२४
ज्योतिषि भावाच्च	१	३	३२
ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने	१	४	१३
त.			
त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्य.	२	४	१७
तच्छ्रुतेः	३	४	४
तडितोऽधि वरुणः संबन्धात्	४	३	३
तत्तु समन्वयात्	१	१	४
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः	२	४	४
तत्प्राक्श्रुतेश्च	२	४	३
तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः	३	१	१६
तथा च दर्शयति	२	३	२७
तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्	३	४	२४
तथाऽन्यप्रतिषेधात्	३	२	३६
तथा प्राणाः	२	४	१
तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोर.	४	१	१३
तदधीनत्वादर्थवत्	१	४	३
तदनन्यत्वमारम्भणशब्दा	२	१	१४
तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संप.	३	१	१
तदभावनिर्धारणे च	१	३	३७
तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरा.	३	३	७
तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः	२	३	१३
तदव्यक्तमाह हि	३	२	२३
तदाऽऽपीतेः संसारव्यपदेशात्	४	३	८
तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्	१	३	२६
तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशित.	४	२	१७
तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः	२	३	२९
तद्धेतुव्यपदेशाच्च	१	१	१४
तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिने.	३	४	४०
तद्वतो विधानात्	३	४	६
तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथ.	३	३	४२
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्	१	१	७
तन्मनः प्राण उत्तरात्	४	२	३
तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः	४	४	१३
तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेय.	२	१	११
तस्य च नित्यत्वात्	२	४	१६
तानि परे तथा ह्याह	४	२	१५
तुल्यं तु दर्शनम्	३	४	९
तृतीयशब्दावरोधः संशोक.	३	१	२१
तेजोऽतस्तथा ह्याह	२	३	१०
त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्र.	१	४	६
त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्	३	१	२
द.			
दर्शनाच्च	३	१	२०
,, ,,	३	२	२१
,, ,,	३	३	४८
,, ,,	३	३	६६
,, ,,	४	३	१३
दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने	४	४	२०
दर्शयति च	३	३	४
,, ,,	३	३	२२
दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते	३	२	१७
दहर उत्तरेभ्यः	१	३	१४
दृश्यते तु	२	१	६
देवादिवदपि लोके	२	१	२५
देहयोगाद्वा सोऽपि	३	२	६
द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्	१	३	१
द्वादशाहवदुभयविधं बादरा.	४	४	१२
ध.			
धर्मं जैमिनिरत एव	३	२	४०
धर्मोपपत्तेश्च	१	३	९
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपल.	१	३	१६
ध्यानाच्च	४	१	८
न.			
न कर्माविभागादिति चेन्नाना.	२	१	३५
न च कर्तुः करणम्	२	२	४३
न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः	४	३	१४

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
च पर्यायादप्यविरोधो वि.	२	२	३५
च स्मार्तमतद्धर्माभिलापा.	१	२	१९
चाधिकारिकमपि पतनानु.	३	४	४१
तु दृष्टान्तभावात्	२	१	९
तृतीये तथोपलब्धेः	३	१	१८
प्रतीकेन हि सः	४	१	४
प्रयोजनवत्त्वात्	२	१	३२
भावोऽनुपलब्धेः	२	२	३०
भेदादिति चेन्न प्रत्ये.	३	२	१२
वक्तुरात्मोपदेशादिति चेत् .	१	१	२९
वा तत्सहभावाश्रुतेः	३	३	६५
वा प्रकरणभेदात्परोवरीय.	३	३	७
वायुक्रिये पृथगुपदेशात्	२	४	९
वा विशेषात्	३	३	२१
वियदश्रुतेः	२	३	१
विलक्षणत्वादस्य तथात्वं.	२	१	४
संख्योपसंग्रहादपि नाना.	१	४	११
सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्यु.	३	३	५१
स्थानतोऽपि परस्योभयलि.	३	२	११
ाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतरा.	२	३	२१
ातिचिरेण विशेषात्	३	१	२३
ात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ता	२	३	१७
ाना शब्दादिभेदात्	३	३	५८
ानुमानमतच्छब्दात्	१	३	३
ाभाव उपलब्धेः	२	२	२८
ाविशेषात्	३	४	१३
ासतोऽदृष्टत्वात्	२	२	२६
नित्यमेव च भावात्	२	२	१४
नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो.	२	३	३२
नियमाच्च	३	४	७
र्मातारं चैके पुत्रादयश्च	३	२	२
शि नेति चेन्न संबन्धस्य.	४	२	१९
तरोऽनुपपत्तेः	१	१	१६
कस्मिन्दर्शयतो हि	४	२	६
कस्मिन्नसंभवात्	२	२	३३
ोपमर्दनातः	४	२	१०

प.

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
ञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते:	२	४	१२
पटवच्च	२	१	१९
पत्यादिशब्देभ्यः	१	३	४३
पत्युरसामञ्जस्यात्	२	२	३७
पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि	२	२	३
परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्	४	३	१२
परमतः सेतून्मानसंबन्धभे.	३	२	३१
परात्तु तच्छ्रुतेः	२	३	४१
पराभिध्यानात्तु तिरोहितं	३	२	५
परामर्शं जैमिनिरचोदना चा.	३	४	१८
परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं	३	३	५२
पारिप्लवार्था इति चेन्न	३	४	२३
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभि.	२	३	३१
पुरुषविद्यायामिव चेतरेषाम.	३	३	२४
पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बा.	३	४	१
पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि	२	२	७
पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यप.	३	२	४१
पूर्ववद्वा	३	२	२९
पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रि.	३	३	४५
पृथगुपदेशात्	२	३	२८
पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्त.	२	३	१२
प्रकरणाच्च	१	२	१०
प्रकरणात्	१	३	६
प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्	३	२	१५
प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं.	३	२	२५
प्रकाशादिवन्नैवं परः	२	३	४६
प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्	३	२	२८
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुप.	१	४	२३
प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति.	३	२	२२
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः	१	४	२०
प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छ.	२	३	६
प्रतिषेधाच्च	३	२	३०
प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्	४	२	१२
प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधा.	२	२	२२
प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधि.	४	४	१८
प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता ए.	३	१	५
प्रदानवदेव तदुक्तम्	३	३	४३
प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्श.	४	४	१५
प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्	२	३	५३

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
प्रवृत्तेश्च	२	२	२
प्रसिद्धेश्च	१	३	१७
प्राणगतेश्च	३	१	३
प्राणभृच्च	१	३	४
प्राणवता शब्दात्	२	४	१५
प्राणस्तथाऽनुगमात्	१	१	२८
प्राणादयो वाक्यशेषात्	१	४	१२
प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचया.	३	३	१२
फ.			
फलमत उपपत्तेः	३	२	३८
ब.			
बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेरा.	३	४	४३
बुद्ध्यर्थः पादवत्	३	२	३३
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्	४	१	५
ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादि.	४	४	५
भ.			
भाक्तं वा नात्मवित्त्वात्तथा	३	१	७
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्	४	४	११
भावं तु बादरायणोऽस्ति हि	१	३	३३
भावशब्दाच्च	३	४	२२
भावे चोपलब्धेः	२	१	१५
भावे जाग्रद्वत्	४	४	१४
भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चै.	१	१	२६
भूतेषु तच्छ्रुतेः	४	२	५
भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्	१	३	८
भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि	३	३	५७
भेदव्यपदेशाच्च	१	१	१७
भेदव्यपदेशाच्चान्यः	१	१	२१
भेदव्यपदेशात्	१	३	५
भेदश्रुतेः	२	४	१८
भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि	३	३	२
भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोक.	२	१	१३
भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च	४	४	२१
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सं.	४	१	१९
म.			
मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं.	१	३	३१
मन्त्रवर्णाच्च	२	३	४४
मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः	३	३	५६

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डला.	२	२	११
महद्वच्च	१	४	७
मांसादि भौमं यथाशब्दमित.	२	४	२
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते	१	१	१५
मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनान.	३	२	३
मुक्तः प्रतिज्ञानात्	४	४	२
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्	१	३	२
मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात्	३	२	१०
मौनवदितरेषामप्युपदेशात्	३	४	४९
य.			
यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्	४	१	११
यथा च तक्षोभयथा	२	३	४०
यथा च प्राणादि	२	१	२०
यदेव विद्ययेति हि	४	१	१८
यावदधिकारमवस्थितिराधि	३	३	३२
यावदात्मभावित्वाच्च न दो.	२	३	३०
यावद्विकारं तु विभागो लो.	२	३	७
युक्तेः शब्दान्तराच्च	२	१	१८
योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते.	४	२	२१
योनिश्च हि गीयते	१	४	२७
योनेः शरीरम्	३	२	२७
र.			
रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्	२	२	१
रश्म्यनुसारी	४	२	१८
रूपादिमत्त्वाच्च	२	२	१५
रूपोपन्यासाच्च	१	२	२३
रेतःसिग्योगोऽथ	३	१	२६
ल.			
लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तद.	३	३	४४
लिङ्गाच्च	४	१	२
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्	२	१	३३
व.			
वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रक.	१	४	५
वाक्यान्वयात्	१	४	१९
वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च	४	२	१
वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्यां	४	३	२
विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्	२	१	३१
विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्	३	३	५६

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचु.	१	१	१३
विकारावर्ति च तथा हि स्थि.	४	४	१९
विज्ञानादिभावे वा तदप्रति.	२	२	४४
विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वा.	३	१	१७
विद्यैव तु निर्धारणात्	३	३	४७
विधिर्वा धारणवत्	३	४	२०
विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपप.	२	३	१४
विप्रतिषेधाच्च	२	२	४५
विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्	२	२	१०
विभागः शतवत्	३	४	११
विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक.	१	३	२७
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च	१	२	२
विशेषं च दर्शयति	४	३	१६
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां.	१	२	२२
विशेषणाच्च	१	२	१२
विशेषानुग्रहश्च	३	४	३८
विशेषितत्वाच्च	४	३	८
विहारोपदेशात्	२	३	३४
विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि	३	४	३२
वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावा.	३	२	२०
वेद्याद्यर्थभेदात्	३	३	२५
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः	४	३	६
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्	२	२	२९
वैलक्षण्याच्च	२	४	१९
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः	२	४	२२
वैश्वानरः साधारणशब्दविशे.	१	२	२४
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्त.	२	१	३४
व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न.	३	३	५४
व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्ष.	२	२	४
व्यतिरेको गन्धवत्	२	३	२६
व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतर.	३	३	३७
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चे.	२	३	३६
व्याप्तेश्च समञ्जसम्	३	३	९
श.			
शक्तिविपर्ययात्	२	३	३८
शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्.	१	३	२८
शब्दविशेषात्	१	२	५
शब्दश्चातोऽकामकारे	२	४	३१

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
शब्दाच्च	२	३	४
शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च	१	२	२६
शब्दादेव प्रमितः	१	३	२४
शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि.	३	४	२७
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैन	१	२	२०
शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदे.	१	१	३०
शास्त्रयोनित्वात्	१	१	३
शिष्टेश्च	३	३	६२
शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदा.	१	३	३४
शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽ.	३	४	२
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृ.	१	३	३८
श्रुतत्वाच्च	१	१	११
”	३	२	३९
श्रुतेश्च	३	४	४६
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्	२	१	२७
श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च	१	२	१६
श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः	३	३	४९
श्रेष्ठश्च	२	४	८
स.			
संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः	४	४	८
संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तद.	३	३	८
संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत.	२	४	२०
संध्ये सृष्टिराह हि	३	२	१
संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि	१	२	३१
संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्	४	४	१
संबन्धादेवमन्यत्रापि	३	३	२०
संबन्धानुपपत्तेश्च	२	२	३८
संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः	३	३	२३
संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशे.	१	२	८
संयमने त्वनुभूयेतरेषामारो.	३	१	१३
संस्कारपरामर्शात्तदभावाभि.	१	३	३६
स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्द.	३	२	९
सत्त्वाच्चावरस्य	२	१	१६
सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च	२	४	५
समन्वारम्भणात्	३	४	५
समवायाभ्युपगमाच्च साम्या.	२	२	१३
समाकर्षात्	१	४	१५
समाध्यभावाच्च	२	३	३९

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
समान एवं चाभेदात्	३	३	१९
समाननामरूपत्वाच्चावृत्ताव.	१	३	३०
समाना चासृत्युपक्रमाद.	४	२	७
समाहारात्	३	३	६३
समुदाय उभयहेतुकेऽपि तद.	२	२	१८
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्	१	२	१
सर्वथानुपपत्तेश्च	२	२	३२
सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात्	३	४	३
सर्वधर्मोपपत्तेश्च	२	१	३७
सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्य.	३	३	१
सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये	३	४	२८
सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्व.	३	४	२६
सर्वाभेदादन्यत्रेमे	३	३	१०
सर्वोपेता च तद्दर्शनात्	२	१	३०
सहकारित्वेन च	३	४	३३
सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण	३	४	४७
साक्षाच्चोभयाम्नानात्	१	४	२५
साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः	१	२	२८
सा च प्रशासनात्	१	३	११
साभाव्यापत्तिरुपपत्ते	३	१	२२
सामान्यात्तु	३	२	३२
सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः	४	३	९
सांपराये तर्तव्याभावात्तथा.	३	३	२७
सुकृतदुष्कृते एवेति तु बाद.	३	१	११
सुखविशिष्टाभिधानादेव च	१	२	१५
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन	१	३	४२
सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्	१	४	२
सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः	४	२	९
सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च	३	२	४
सैव हि सत्यादयः	३	३	३८

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः	४	२	४
स्तुतयेऽनुमतिर्वा	३	४	१४
स्तुतिमात्रमुपादानादिति चे.	३	४	२१
स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्	३	२	३४
स्थानादिव्यपदेशाच्च	१	२	१४
स्थित्यदनाभ्यां च	१	३	२
स्पष्टो ह्येकेषाम्	४	२	१३
स्मरन्ति च	२	३	४७
स्मरन्ति च	३	१	१४
स्मरन्ति च	४	१	१९
स्मर्यते च	४	२	१४
स्मर्यतेऽपि च लोके	३	१	१९
स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति	१	२	२५
स्मृतेश्च	१	२	६
स्मृतेश्च	४	३	११
स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति	२	१	१
स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्	३	२	५
स्वपक्षदोषाच्च	२	१	१०
”	२	१	२९
स्वशब्दोन्मानाभ्यां च	२	३	२२
स्वात्मना चोत्तरयोः	२	३	२०
स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि	३	३	३
स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्ष.	४	४	१६
स्वाप्ययात्	१	१	९
स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः	३	४	४४

ह.

सूत्रम्	अ०	पा०	सं०
हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्	२	४	६
हानौ तूपायनशब्दशेषत्वा.	३	३	२६
ह्यपेक्षया तु मनुष्याधिका.	१	३	२५
हेयत्वावचनाच्च	१	१	८

समाप्तोऽयं बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमः।

—:o:—